आत्मसयमी होने पर ही प्राणायाम आदि का महत्त्व है। आत्मसयमी मनुष्य जीवन मे मौलिक परिवर्तन का अनुभव कर सकता है।[1] जो मोक्ष अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति अथवा परम गति के लिए निरन्तर यत्नशील हैं, वे मोक्ष-परायण हैं। जो परमात्मा की प्राप्ति के लिए गम्भीर मनन करते हैं, वे मुनि होते हैं।

जो पुरुष काम, भय और क्रोध का परित्याग कर देते हैं, जिनके मन को कामना, भय, क्रोध दूषित अथवा विकृत नही करते, उनके निर्मल चित्त मे[2] ज्ञान का उदय हो जाता है तथा वे परमात्मा के साथ एकात्मता की दिव्यानुभूति प्राप्त कर लेते हैं। वे जीवित अवस्था मे भी सदा मुक्त ही है। श्रीकृष्ण काम, भय और क्रोध के परित्याग पर अनेक प्रकार से बल देते हैं।

**भोक्तार यज्ञतपसा सर्वलोकमहेश्वरम्।**
**सुहृद सर्वभूताना ज्ञात्वा मा शान्तिमृच्छति ॥२९॥**

**शब्दार्थ : मा यज्ञतपसां भोक्तार सर्वलोकमहेश्वरम्** =मुझे यज्ञ और तपो का भोगनेवाला समस्त लोको का महेश्वर, **सर्वभूतानां सुहृद** =( तथा ) सब प्राणियो का सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित हितैषी, **ज्ञात्वा**=जानकर, **शान्ति ऋच्छति**=शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

**वचनामृत** · ( भक्तकर्मयोगी ) मुझे सब यज्ञो तथा तपो का भोगनेवाला, सब लोको का महेश्वर तथा समस्त प्राणियो का सुहृद् जानकर शान्ति प्राप्त कर लेता है।

**सन्दर्भ** इस श्लोक मे भक्तियोग की चर्चा है।

**रसामृत** · ज्ञानीजन जिस निर्गुण, निराकार, निरुपाधि ब्रह्म को मनन, निदिध्यासन आदि से प्राप्त करते हैं, भक्तजन उसके सगुण साकार एव सोपाधि रूप के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। सगुण ब्रह्म भक्तो के द्वारा समर्पित यज्ञ, तप, पूजा का भोक्ता है तथा सभी लोको का महान् ईश्वर है। वह सभी प्राणियो मे अन्तर्यामी के रूप मे स्थित होता है। प्राणीमात्र की सेवा भगवान् की ही सेवा है। भगवान् सभी प्राणियो का सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित हितैषी है। सर्वात्मा परमात्मा को जानकर, परमात्मा की शरण ग्रहण कर, मनुष्य शान्ति पा लेता है। परमात्मा कही दूर नही है, बल्कि अपने भीतर स्थित अपना घनिष्ठ मित्र है, जो हमारी पुकार सुनकर सदैव सहायता करता है तथा जिस पर हम पूरा भरोसा कर सकते हैं।[1] परमात्मा निराकार होकर भी साकार है, निर्गुण होकर भी सगुण है, निरुपाधि होकर भी सोपाधि है तथा न्यायशील होकर

---

१ महात्मा गाधी कहते हैं, "योगीन्द्र पतञ्जलि ने यम-नियम को प्रथम स्थान देकर उसके साधक के लिए ही मोक्ष-मार्ग में प्राणायाम आदि को सहायक माना है।" यम-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। नियम-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान। पातञ्जल योग के अष्टाङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना प्रत्याहार है, मन को वश मे करके उसे स्थिर करना धारणा है तथा बुद्धिसहित इन्हे स्थिर करना ध्यान है। समाधि सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात होती है।

२ महर्षि पतञ्जलि ने चित्त को आत्मा मे स्थिर करने के अभ्यास मे नौ प्रकार के अन्तराय अर्थात् विघ्नो की गणना की है। व्याधि ( रोग ), स्त्यान ( चित्त की अकर्मण्यता ), सशय, प्रमाद, आलस्य अविरति ( वैराग्य न होना ), भ्रान्ति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व ( समाधि-अवस्था प्राप्त न होना ), अनवस्थितत्व ( समाधि-अवस्था प्राप्त होने पर भी उसमें अचलता न होना )। चित्त की निर्मलता अथवा प्रसन्नता ( मुदिता ) ध्यान मे विशेष सहायक है। —गीता २ ६४, ६५।

१ सर्वप्राणिना प्रत्युपकारनिरपेक्षतया उपकारिणम् —शकराचार्य। अर्थात् वह सब प्राणियो के प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए उपकारी है।

येषामह प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरु सुहृदो दैवमिष्टम्—भागवत। अर्थात् जिनका मैं प्रिय हूँ, आत्मा हूँ, पुत्र हूँ, मित्र हूँ, गुरु हूँ, हितैषी हूँ, इष्टदेव हूँ।

भी करुणामय है। परमात्मा हमारा अपना स्वरूप है तथा हमारा मित्र भी। परमात्मा कुछ ग्रहण नही करता तथा प्रेमार्पित यज्ञ, तप, पूजा, सेवा आदि को ग्रहण भी करता है। भगवान् श्रीकृष्ण यह भी सकेत कर रहे हैं कि दलित, दुखी, दीन और पीड़ित प्राणियो की सेवा स्वय परमात्मा की सेवा है।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

ॐ तत् सत् श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् एव ब्रह्मविद्या मे, योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण-अर्जुन सवाद मे कर्मसन्यासयोगनामक पाँचवाँ अध्याय।

## सार-संचय

### पञ्चम अध्याय : कर्मसंन्यासयोग

इस अध्याय का नाम कर्मसन्यासयोग है। कर्म का सन्यास (त्याग) परमानन्दस्वरूप परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने का एक योग (उपाय) है। जगद्गुरु शकराचार्य ने इसी अध्याय को प्रकृतिगर्भ कहा है। (पाँचवे अध्याय के अन्तिम श्लोक का विषय सगुण ब्रह्म अथवा मायाशवलित ब्रह्म है अर्थात् प्रकृति (माया) ही है गर्भ अथवा उत्पत्ति-स्थान जिसका, ऐसा सगुण ब्रह्म है। परब्रह्म मायासहित होने पर सगुण ब्रह्म होता है तथा मायारहित होने पर शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्गुण ब्रह्म होता है।)

श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मसन्यास तथा कर्मयोग का लक्ष्य एक ही है। पूर्णावस्था मे दोनो एक ही होते है। अनेक लोग ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन करके ज्ञान के उदय से पूर्व ही कर्म-त्याग कर देते हैं तथा भटक जाते है। इस दृष्टि से कर्मयोग कर्म-सन्यास की अपेक्षा श्रेष्ठ है। कर्मयोग का अर्थ है निष्काम (रागरहित) होकर कर्म करना और कर्म को ईश्वरार्पण कर देना। कर्मयोग का अभ्यास करने से राग छूट जाता है और चित्त-शुद्धि हो जाती है तथा चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान का उदय स्वत हो जाता है, जो ज्ञानमार्गी को मनन, निदिध्यासन, वैराग्य आदि के द्वारा अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होता है। चित्त-शुद्धि के लिए निष्काम कर्म अथवा कर्मफल मे आसक्ति का त्याग श्रेष्ठ उपाय है। कर्मयोगी निष्काम कर्म द्वारा राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। अत निष्काम कर्म करनेवाला कर्मयोगी नित्यसन्यासी है। कर्मयोगी कर्म करते हुए बन्धनमुक्त हो जाता है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण अनेक बार ज्ञानयोग की महिमा का गान करते है, गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग ही है।

ज्ञानी का चिन्तन होता है कि परम ब्रह्म निर्लेप, निर्विकार, निष्क्रिय, शुद्ध चैतन्यस्वरूप सच्चिदानन्दघन है और आत्मा उसका अभिन्न अश है तथा देह, इन्द्रिय आदि के कर्म प्रकृति के कारण होते हैं, जिनसे आत्मा का कोई सम्बन्ध नही है। ज्ञानयोगी मनन, निदिध्यासन द्वारा अन्त मे आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानकर उसमे स्थित हो जाता है, आत्मसाक्षात्कार कर लेता है अथवा परमब्रह्म के साथ ऐक्य की दिव्य अनुभूति प्राप्त कर लेता है। ज्ञानयोगी जीवन-काल मे ही मुक्त हो जाता है तथा मृत्यु होने तक मुक्त भाव से सहज रूप मे कर्म करता रहता है एव अनायास ही लोकहितरत रहता है तथा देहपात होने पर ब्रह्मलीन हो जाता है।

ज्ञानी नवद्वारविशिष्ट देह मे विराजमान आनन्दस्वरूप दिव्य आत्मा के आनन्द अथवा निजानन्द की अनुभूति पाकर कृतार्थ हो जाता है।

ज्ञान का प्रकाश अज्ञान के अन्धकार को छिन्न कर देता है। ब्रह्म को जाननेवाला अथवा ब्रह्म को

# गीता-रसामृत

शिवानन्द

•

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

गीता-रसामृत

लेखक
शिवानन्द
३८, विजयनगर
जि० मेरठ (उ० प्र०)

प्रकाशक
सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन,
राजघाट,
वाराणसी-२२१००१

संस्करण
पहला

प्रतियाँ : ३,०००

दिसम्बर, १९८४

मुद्रक
न्यू दीपक प्रेस,
भगतपुरी, राजघाट,
वाराणसी

मूल्य
साधारण संस्करण रु० २१.००
पुस्तकालय संस्करण रु० ५० ००

GITA-RASAMRIT

●

SHIVANAND

Price Rs. 21.00
Lib. Ed. Rs. 50.00

# प्रकाशकीय

श्रीमद्भगवद्गीता एक अद्भुत ग्रन्थ है। वेद, उपनिषदों का सार उसमें आ गया है। यही कारण है कि अद्वैती और द्वैती, शुद्धाद्वैती और विशिष्टाद्वैती, सभी उस पर मुग्ध हैं। शंकराचार्य हों या रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य हों या निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य हों या अन्य कोई आचार्य—सबको गीता ने अपनी ओर आकृष्ट किया है। सबने अपने-अपने ढंग पर उसकी व्याख्या की है, टीका की है, भाष्य किया है। सन्त ज्ञानेश्वर हों या मधुसूदन आचार्य, तिलक, गांधी या विनोबा हों, अरविन्द या राधाकृष्णन् हों—सबको गीता ने प्रेरणा दी है। पौर्वात्य या पाश्चात्य—सभी गीता के कायल हैं। गीता में वह रसामृत भरा है कि उसकी ओर प्रत्येक विद्वान् की, कर्मवीर की, ज्ञानी की, भक्त की सहज ही दृष्टि जाती है और वह उसका पान किये बिना नहीं रहता। बाइबिल के बाद गीता को ही वह स्थान मिला है, जो विश्व की अगणित भाषाओं में अनूदित हुई है और यह क्रम आज भी जारी है।

आखिर बात क्या है? गीता इतनी लोकप्रिय क्यों है? इसका कारण यही है कि मानव-जीवन की प्रायः सभी समस्याओं का निदान और उपचार गीता में मिलता है। 'सर्वभूतहिते रताः' और निःस्पृहता का सिद्धान्त, जीवन की नश्वरता और उसको सार्थक बनाने का सिद्धान्त, मोह-निरसन और कामना-त्याग का सिद्धान्त, निष्काम कर्म और अनासक्त होकर कर्म करने का सिद्धान्त, स्थितप्रज्ञ और गुणातीत बनने का सिद्धान्त, सभी कुछ तो उसमें भरा पड़ा है। जिसे जो रुचे, उसे वह ग्रहण कर ले। साधना का सरल मार्ग गीता में दिखाया गया है। ध्यान और ज्ञान, कर्म और भक्ति, सभी का उसमें सार-सर्वस्व देखने को मिलता है। ईश्वर और जीव, प्रकृति और पुरुष, माया और पाप-पुण्य का भी विवेचन उसमें है और है सबके लिए सुलभ—ईश्वरार्पण। इसीसे गीता प्रत्येक स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध, धर्मात्मा और पापी, ब्रह्मचारी और सन्यासी, गृहस्थ और विरक्त, राजा और रंक—सभी के गले का हार बनी बैठी है। आजादी के दीवाने गीता को हाथ में लेकर फाँसी के तख्ते पर झूलते रहे हैं।

हमें सन्त विनोबा के 'गीता-प्रवचन' और उनके अनुज बालकोबा के 'गीता-तत्त्व-बोध' के प्रकाशन का सौभाग्य मिला है। अब उसी कड़ी में श्री शिवानन्द का यह 'गीता-रसामृत' प्रकाशित करने का हमें सुअवसर मिल रहा है। इसमें पहले गीता के श्लोक देकर शब्दार्थ, वचनामृत, सन्दर्भ और तब रसामृत दिया गया है। स्थान-स्थान पर प्रामाणिक ग्रन्थों से टिप्पणियाँ देकर अध्याय के अन्त में पूरे अध्याय का सार-संचय दिया गया है। कोई भी इसके पाठ से गीता को भलीभाँति समझ सकता है—ऐसी सरल, सुबोध, सरस, सुन्दर और चमत्कारी व्याख्या की गयी है। आध्यात्मिक साधना और सिद्ध पुरुषों की चर्चा से ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ा दी गयी है।

'गीता-रसामृत' के प्रणेता श्री शिवानन्द अनेक भाषाओं के विद्वान् हैं तथा हमारे द्वारा प्रकाशित उनकी रचनाएँ—'जीवन और युग' तथा 'जीवन और समय' हिन्दी-साहित्य में उत्तम स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। लेखक ने 'गीता-रसामृत' के प्रणयन द्वारा आध्यात्मिक साधना एवं जिज्ञासुजन के प्रति उपकार किया है और राष्ट्रभाषा की श्रीवृद्धि की है।

# गीता-रसामृत

लेखक
शिवानन्द
३८, विजयनगर
जि० मेरठ (उ० प्र०)

प्रकाशक
सर्व-सेवा-सघ-प्रकाशन,
राजघाट,
वाराणसी-२२१००१

संस्करण
पहला

प्रतियाँ . ३,०००

दिसम्बर, १९८४

मुद्रक
न्यू दीपक प्रेस,
भगतपुरी, राजघाट,
वाराणसी

GITA-RASAMRIT

●

SHIVANAND

मूल्य
साधारण संस्करण रु० २१ ००
पुस्तकालय संस्करण रु० ५०.००

Price Rs. 21.00
Lib. Ed. Rs. 50.00

# प्रकाशकीय

श्रीमद्भगवद्गीता एक अद्भुत ग्रन्थ है। वेद, उपनिषदो का सार उसमे आ गया है। यही कारण है कि अद्वैती और द्वैती, शुद्धाद्वैती और विशिष्टाद्वैती, सभी उस पर मुग्ध हैं। शकराचार्य हो या रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य हो या निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य हो या अन्य कोई आचार्य—सबको गीता ने अपनी ओर आकृष्ट किया है। सबने अपने-अपने ढंग पर उसकी व्याख्या की है, टीका की है, भाष्य किया है। सन्त ज्ञानेश्वर हो या मधुसूदन आचार्य, तिलक, गाधी या विनोबा हो, अरविन्द या राधाकृष्णन् हो—सबको गीता ने प्रेरणा दी है। पौर्वात्य या पाश्चात्य—सभी गीता के कायल हैं। गीता मे वह रसामृत भरा है कि उसकी ओर प्रत्येक विद्वान् की, कर्मवीर की, ज्ञानी की, भक्त की सहज ही दृष्टि जाती है और वह उसका पान किये विना नही रहता। बाइबिल के बाद गीता को ही वह स्थान मिला है, जो विश्व की अगणित भाषाओ मे अनूदित हुई है और यह क्रम आज भी जारी है।

आखिर बात क्या है? गीता इतनी लोकप्रिय क्यो है? इसका कारण यही है कि मानव-जीवन की प्राय सभी समस्याओ का निदान और उपचार गीता मे मिलता है। 'सर्वभूतहिते रताः' और नि.स्पृहता का सिद्धान्त, जीवन की नश्वरता और उसको सार्थक बनाने का सिद्धान्त, मोह-निरसन और कामना-त्याग का सिद्धान्त, निष्काम कर्म और अनासक्त होकर कर्म करने का सिद्धान्त, स्थितप्रज्ञ और गुणातीत बनने का सिद्धान्त, सभी कुछ तो उसमे भरा पडा है। जिसे जो रुचे, उसे वह ग्रहण कर ले। साधना का सरल मार्ग गीता मे दिखाया गया है। ध्यान और ज्ञान, कर्म और भक्ति, सभी का उसमें सार-सर्वस्व देखने को मिलता है। ईश्वर और जीव, प्रकृति और पुरुष, माया और पाप-पुण्य का भी विवेचन उसमे है और है सबके लिए सुलभ—ईश्वरार्पण। इसीसे गीता प्रत्येक स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध, धर्मात्मा और पापी, ब्रह्मचारी और संन्यासी, गृहस्थ और विरक्त, राजा और रंक—सभी के गले का हार बनी बैठी है। आजादी के दीवाने गीता को हाथ में लेकर फाँसी के तख्ते पर झूलते रहे हैं।

हमें सन्त विनोबा के 'गीता-प्रवचन' और उनके अनुज बालकोबा के 'गीता-तत्त्व-बोध' के प्रकाशन का सौभाग्य मिला है। अब उसी कडी मे श्री शिवानन्द का यह 'गीता-रसामृत' प्रकाशित करने का हमे सुअवसर मिल रहा है। इसमें पहले गीता के श्लोक देकर शब्दार्थ, वचनामृत, सन्दर्भ और तब रसामृत दिया गया है। स्थान-स्थान पर प्रामाणिक ग्रन्थो से टिप्पणियाँ देकर अध्याय के अन्त मे पूरे अध्याय का सार-संचय दिया गया है। कोई भी इसके पाठ से गीता को भलीभाँति समझ सकता है—ऐसी सरल, सुबोध, सरस, सुन्दर और समन्वयकारी व्याख्या की गयी है। आध्यात्मिक साधना और सिद्ध पुरुषों की चर्चा से ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ा दी गयी है।

'गीता-रसामृत' के प्रणेता श्री शिवानन्द अनेक भाषाओ के विद्वान् हैं तथा हमारे द्वारा प्रकाशित उनकी रचनाएँ—'जीवन और सुख' तथा 'जीवन और अभय' हिन्दी-साहित्य मे उत्तम स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। लेखक ने 'गीता-रसामृत' के प्रणयन द्वारा आध्यात्मिक साधना एवं जिज्ञासुजन के प्रति उपकार किया है और राष्ट्रभाषा की श्रीवृद्धि की है।

आध्यात्मिक साधना एवं चरित्र-निर्माण की दृष्टि से यह ग्रन्थ विचार-सम्पन्न, विद्वत्तापूर्ण, प्रौढ तथा आदर्श प्रेरक होने के कारण अत्यन्त उपादेय है। लेखक का विस्तृत वैदुष्य, गहन चिन्तन, अनवरत साधना और स्वाध्याय ग्रन्थ के साथ जुडा हुआ है। आपने गीता-रसामृत के विशेष प्रचार के लिए आर्थिक सहयोग भी उपलब्ध करा दिया है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ लागत से भी अतीव कम मूल्य में देना सम्भव हो सका है। इस निस्स्वार्थ सहयोग के लिए हम लेखक तथा दाताओ के हृदय से आभारी हैं। सत्य शिवं सुन्दरम् से सपृक्त 'गीता-रसामृत' का स्वागत सर्वत्र एक जीवनोपयोगी तथा कल्याणकारी ग्रन्थरत्न के रूप में होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

गीता पढ़ना है तभी सफल जब गीता जीवन में आये।
चेतन औ जड में सभी जगह जब रामहि राम नजर आये ॥

●

## अनुक्रम



●

# निवेदन

संसार मे कोई भी ऐसा दर्शन-ग्रन्थ अथवा धर्म-ग्रन्थ नही है, जिस पर गीता की भाँति अगणित टीकाएँ लिखी गयी हो। भारत के सन्तो, महात्माओ और आचार्यों के अतिरिक्त ससारभर के प्रख्यात विद्वानो ने गीता पर टीकाएँ लिखी हैं, जिससे इस छोटे-से महान् ग्रन्थ की लोकप्रियता एव इसका अद्वितीय प्रभाव सिद्ध होता है। कहाँ सन्त, महात्मा, आचार्य और विद्वान् और कहाँ एक साधारण सा व्यक्ति, जो न सन्त, महात्मा, आचार्य है और न विद्वान्। ऐसी स्थिति मे सभी के मन मे यह प्रश्न उठ सकता है कि उपयोग के लिए पुरानी टीकाएँ ही पर्याप्त हैं, एक और लिखकर संख्या बढाने से क्या लाभ? ऐसे ही प्रश्न का उत्तर महान् सन्त एव कविकुलगुरु गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के प्रारम्भ मे दिया है, जिसकी आड लेकर मैं आत्म-सन्तोष कर सकता हूँ तथा जिसे दूसरे लोग भी उदारतापूर्वक स्वीकार कर सकते हैं।

**कहँ रघुपति के चरित अपारा, कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥**

वे आगे कहते हैं—

**सब जानत प्रभु प्रभुता सोई, तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥**

पूर्ववर्ती रचयिताओ को धन्यवाद देते हुए सन्त तुलसी कहते हैं—

**मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई, तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई ॥**
**अति अपार जे सरितवर, जौं नृप सेतु कराहिं।**
**चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, बिनु श्रम पारहिं जाहिं ॥**

मेरी मौलिकता का तो प्रश्न ही नही उठता। जो कुछ पढा-सुना, उस पर चिन्तन, मनन करके उसे प्रभु-कृपा से शब्द दे दिये गये हैं। अतएव दोष मेरे हैं और ज्ञान दूसरो से लिया हुआ है। प्रभु-कृपा होने पर सरस्वती सहायता करती है—

**जेहि पर कृपा करहिं जनुजानी, कवि उर अजिर नचावहिं बानी ॥**

मानस-रचना के सुदुस्तर कार्य की कठिनाई को सोचकर सन्त तुलसीदास के हृदय मे दीनता का भाव उत्पन्न हुआ और उन्होने सन्त, असन्त, विविध देवगण और प्रभु से प्रार्थना करके साहस जुटा लिया। एक महान् व्यक्ति यदि ऐसी स्थिति मे दीनता का अनुभव कर सकता था तो इस अज्ञ के मन की क्या अवस्था होगी, यह कल्पना ही की जा सकती है। प्रभु-कृपा का एक सहारा ही जीर्ण-शीर्ण नौका को विशाल सागर के पार ले जा सकता है।

**सीय राममय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥**
**जानि कृपा कर किंकर मोहू, सब मिलि करहु छाडि छल छोहू ॥**
**निज बुधि बल भरोस मोहि नाही, ताते बिनय करउँ सब पाही ॥**
**करन चहउँ रघुपति गुन गाहा, लघु मति मोरि चरित अवगाहा ॥**

सूझ न एकउ अंग उपाऊ, मन मति रंक मनोरथ राऊ ॥
मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी, चहिअ अमिय जग जुरइ न छाछी ॥
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई, सुनिहहिं बालवचन मन लाई ॥
जौं बालक कह तोतरि बाता, सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता ॥
हँसिहहिं कूर कुटिल कुविचारी, जे पर-दूषन भूषनधारी ॥
निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होउ अथवा अति फीका ॥
जे पर भनिति सुनत हरषाहीं, ते वर पुरुस बहुत जग नाहीं ॥

सन्त तुलसीदास का यह आदर्श भी अनुपालनीय है कि ऐसे उत्तम प्रयास से अपनी वाणी पवित्र होती है, करहिं पुनीत सुफल निज बानी' तथा स्वान्त सुख-प्राप्ति होती है, स्वान्तस्तम दूर होता है।

गीता के अनेक स्थलो पर शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य आदि आचार्यो ने तो भिन्न-भिन्न अर्थ किये ही हैं, लोकमान्य तिलक, गाधीजी, डॉ० राधाकृष्णन आदि आधुनिक व्याख्याताओं के अर्थ भी भिन्न हैं। सभी ने अपने मत एव रुचि के अनुसार अर्थ किये हैं। वास्तव मे सभी अपने अपने स्थान पर ठीक हैं तथा किसीको सदोष सिद्ध नही किया जा सकता। मतभेद तो गीता की गूढ़ता के द्योतक हैं। ज्ञान, कर्म और उपासना के मार्गों मे कौन-सा प्रमुख है अथवा सब स्वतत्र हैं, संन्यास क्या है, ज्ञान, ज्ञानयोग और साख्य मे क्या अन्तर है, यज्ञ क्या है इत्यादि के सम्बन्ध मे विद्वानो के मतभेद स्पष्ट हैं। किसीने अनासक्ति पर बल दिया, किसीने कर्म पर, किसीने ज्ञान पर और किसीने भक्ति पर। सभी ठीक हैं, किन्तु गीता तो समग्रता एव पूर्णत्व की दृष्टि से सबका समन्वय करती है, क्योकि जीवन मे सभी का महत्त्व है। ऐसी स्थिति में कौन-सा अर्थ ग्राह्य माना जाय, यह एक जटिल समस्या है। प्रस्तुत टीका मे सभी का सार लेकर उन्हें आदर देने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु आचार्यों एव विद्वानो के नाम और मतभेद देकर इसे जटिल नही होने दिया गया है। सरल और स्पष्ट अर्थ ही सामान्य पाठक को रुचिकर प्रतीत होते हैं। इस टीका का एक उद्देश्य यह भी है कि यह जन-जन के हाथ में पहुँचे और गीता का प्रचुर प्रचार हो सके। गीता भारत का राष्ट्रीय ग्रन्थ है तथा मानवमात्र की गौरवपूर्ण निधि है तथा इसका सम्मान और प्रचार करना मानव-कल्याण की कामना करनेवाले प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

मेरा विश्वास है कि नियमित रूप से श्रद्धापूर्वक 'गीता-रसामृत' का पाठ करनेवाले सत्पुरुष निश्चय ही भगवत्कृपा प्राप्त करेंगे। 'गीता-रसामृत' के १२वें अध्याय को रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड की भाँति गीता का हृदय मानकर, उसका श्रद्धापूर्वक पाठ बहुधा किया जाना चाहिए।

मुरारिर्जनको यस्य जननी चैव ठाकुरी।
रुद्राणी भाति वामाङ्के सानन्दोऽहं सदा शिव. ॥

—शिवानन्द

●

( सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट; वाराणसी द्वारा प्रकाशित मेरी दोनों पुस्तकें 'जीवन और सुख' तथा 'जीवन और अभय' रामचरितमानस और भगवद्गीता की ही व्याख्या पर आधारित हैं। )

स्वयं श्रीकृष्ण ने गीता के उपसहार में कहा है कि गीता का प्रचार करना भी भगवद्भक्ति है और गीता का प्रचारक अन्त में भगवान् को ही प्राप्त होता है ( १८ ६८, ६९ ) तथा गीता का अध्ययन ज्ञानयज्ञ है ( १८ ७० )। प्रचार का अर्थ है—'गीता-सन्देश-प्रचार'।

# गीता-प्रवेश

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। वह जो कुछ भी देखता-सुनता है, उसी पर चिन्तन करने लगता है। चिन्तन करना, गहरे स्तर पर विचार करना और सत्य को जानने का प्रयत्न करना मनुष्य की विशेषता है। जो मनुष्य पशुओं की भाँति खाता-पीता-सोता रहकर जीवन बिता देता है, उसे पशु की ही संज्ञा दी जाती है, वह मनुष्य के रूप मे पशु ही है। मनुष्य ने बुद्धि द्वारा चिन्तन के आधार पर ज्ञान, विज्ञान, कला, धर्म और सस्कृति की रचना की है, जो मानव-जाति की एक महत्त्वपूर्ण निधि है।

भारतीय ऋषियो ने प्रकृति की गोद मे बैठकर, प्राकृतिक सौन्दर्य मे रसविभोर होकर, केवल बुद्धि के सहारे चिन्तन ही नही किया, बल्कि अपने भीतर गहरे पैठकर बुद्धि से परे जाकर, शाश्वत सत्य की अनुभूति की, उसे भीतर की आँखो से देखा, उसका दर्शन किया। अन्य देशो के महापुरुषो ने बुद्धि के द्वारा तर्क और कल्पना के सहारे बहुत-कुछ महत्त्वपूर्ण चिन्तन किया है, किन्तु वैदिक ऋषियो ने तो देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे जाकर किसी गहन स्तर पर सत्य की अनुभूति की, मानो सत्य का साक्षात्कार किया, जिसके उद्गार वैदिक मत्र है। वेदों के अन्तिम और महत्त्वपूर्ण भाग उपनिषद् है, जिनमे समस्त वेदों का सार सन्निहित है।

इस विशाल सृष्टि मे हम जो कुछ भी देखते है, उसमे एक हलचल है, निरन्तर गति है, एक जीवन है। उद्भव, विकास और विनाश एक क्रम है, जिसके द्वारा सृष्टि मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। वैज्ञानिक कहते है कि प्रकृति के अपने सुनिश्चित नियम हैं, जिनके अनुसार सृष्टि मे यह गतिशीलता सम्भव होती है। किन्तु प्रश्न यह है कि प्रकृति मे गति और उसके नियम कहाँ से आये? प्रकृति की गति के पीछे अथवा उसके भीतर एक अलौकिक शक्ति है, जो गति को जन्म देती है, उसे दिशा देती है, उस पर नियन्त्रण करती है तथा वही शक्ति उन नियमो की नियामक है, जो प्रकृति को एक विशेष प्रकार से गति देते हैं। मानव-बुद्धि की एक सीमा है, अतएव विज्ञान की भी एक सीमा है, जिससे परे वह नही जा सकता। वैदिक ऋषियो ने बुद्धि से परे जाकर अपने भीतर ही परमशक्ति अर्थात् परमसत्ता का दर्शन किया, जो शाश्वत है। उन्होंने अनुभव किया कि परमसूक्ष्म तत्त्व ही नामरूपात्मक जगत् मे व्यक्त हो रहा है, प्रतिभासित हो रहा है। सृष्टि के सभी जीवधारी और जड वस्तुएँ तो नश्वर हैं, मरणशील हैं, किन्तु इनके पीछे और इनके भीतर अनुस्यूत सत्ता न केवल शाश्वत अथवा नित्य है, अपितु चैतन्य भी है। वह शक्ति अनादि और अनन्त है। वह सर्वव्यापक है, सबमे व्याप्त है। समस्त सृष्टि उससे जन्म लेकर अन्त में उसीमें विलीन हो जाती है। ऋषियों ने उसे परम ब्रह्म कहा। जड वस्तुओ मे जड ब्रह्म और समस्त जीवधारियो में चेतन ब्रह्म के रूप में वही एक समाया हुआ है। केवल परमात्मा ही अनादि है, किन्तु जीव को उसका अंश होने के नाते और प्रकृति को उसकी एक शक्ति होने के नाते अनादि कह सकते हैं। जीव ईश्वर का अशभूत होने के कारण सत् है (अतएव जीव में अर्थात् मनुष्य के भीतर शाश्वत जीवन एव अमरत्व की गूढ इच्छा है), चित् है (अतएव उसमें अनन्त ज्ञान की अदम्य जिज्ञासा है),

आनन्द है (अतएव उसमें असीम और अखण्ड आनन्द की आकाक्षा है)। जीव में सर्वबन्धनमुक्त होकर स्वतन्त्र होने की उत्कट इच्छा है, मुमुक्षा है और व्यापक होकर सर्वत्र छा जाने की एव शासन करने की असीम इच्छा है, ऐश्वर्यभाव है। वह नारायण का अशभूत नर है तथा नारायणत्व से स्खलित होने के कारण दु ख भोगता है, किन्तु उसमे नारायणत्व-प्राप्ति की अर्थात् पूर्णत्व की सहज आकाक्षा है। (अव्यक्त चेतन ब्रह्म पेड-पौधो, जलचरो, पृथ्वी के जीवधारियो और आकाश मे उडनेवाले पक्षीगण मे विविध रूप से व्यक्त हुआ है। विकास के क्रम में मनुष्य सबसे आगे है, उसे बुद्धि प्राप्त हुई है।) मनुष्य बुद्धि से परे गहरे स्तर पर उस परमब्रह्म की अनुभूति की झलक बुद्धि मे देख सकता है, यद्यपि मात्र बुद्धि के सहारे वह उसे नही समझ सकता है, क्योंकि बुद्धि की तर्क-शक्ति सीमित है।

वैदिक धर्म वास्तव मे मानवमात्र के कल्याण के लिए है। वह सनातन है। उसका कोई एक प्रवर्तक नही है और न उसके प्रारम्भ होने का कोई निश्चित काल है। वेद असख्य ऋषियो की आत्मानुभूतियो के अलौकिक प्रवाह को मुखरित करते हैं। वैदिक ऋषियो को अनुभूति हुई कि जिस प्रकार समस्त सृष्टि मे व्याप्त तथा उसको चलानेवाला एक दिव्य तत्त्व है, उसी प्रकार जीवो के भीतर भी एक दिव्य तत्त्व है, जो उसी महान् तत्त्व का एक अश है। सृष्टि का सिरमौर मनुष्य अपने भीतर ही उसका दर्शन अथवा साक्षात्कार कर सकता है, उसके साथ तादात्म्य अनुभव कर सकता है और इस अनुभूति का अलौकिक आनन्द प्राप्त कर सकता है। (वास्तव मे मनुष्य की जीवन-यात्रा की सफलता और सार्थकता आत्मानुशासन अथवा साधना के द्वारा उसके साथ एकता की अनुभूति के फलस्वरूप परमानन्द प्राप्त करना है। आत्मसाक्षात्कार ही परमात्मा का दर्शन है, क्योंकि दोनो समान नही, बल्कि एक ही तत्त्व हैं। उपनिषदो मे इस अध्यातम-पथ का विशद वर्णन है।)

श्रीमद्भगवद्गीता सर्ववेदमयी है तथा उपनिषदो के मूलभूत तत्त्वो को गूँथकर उन्हें एक नये ही रूप में प्रस्तुत करती है। समस्त उपनिषद् गौएँ हैं, एक ग्वाला (गोपाल) श्रीकृष्ण दूध दुहनेवाला है, अर्जुन बछडा है, परम शुद्धबुद्धिवाला प्रत्येक मनुष्य दूध पीनेवाला (दूध पीने का पूर्ण अधिकारी) है और गीता का अमृत वह सुन्दर दूध है। वास्तव मे, गीता भी एक उपनिषद् है तथा साक्षात् भगवान् कृष्ण की वाणी है, उनका गाया हुआ मधुर गीत है, अतएव इसके चिन्तन, मनन और अनुशीलन करने पर वेदशास्त्र आदि ग्रन्थो के पढने की आवश्यकता नही रहती। गीता मानव के हित मे सत्य के अनेक द्वार खोल देती है। जिस प्रकार परमात्मा सभी मनुष्यो के लिए समानरूपेण सुलभ है, उसी प्रकार गीता का ज्ञान विश्व के समस्त मानवो के लिए समान रूप से प्राप्य है। नर, नारी, पुण्यात्मा, पापी, बडे, छोटे, राजा और रक—सभी के लिए गीता का अमृत समान रूप से कल्याणकारी है। गीता का द्वार सदैव सभी के लिए खुला है। गीता पढने और उससे लाभ उठाने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है, किन्तु मनुष्य श्रद्धा से ही कुछ प्राप्त कर सकता है और बिना श्रद्धा वह ज्ञानगगा से खाली हाथ ही लौट आता है। वास्तव मे, गीता की ज्ञानगगा उनके लिए विशेषत' प्रवाहित हुई है, जो मार्ग से भटक गये हैं, प्रभु से बिछुड गये हैं और दु खी एव अशान्त हैं। गीता का प्रचार, गीता के ज्ञान का प्रसार, गीता के अमृत का वितरण विशेषत ऐसे ही लोगो के लिए है। अर्जुन भटका हुआ था, दु खी था, अत उसके लिए गीता की ज्ञानगगा प्रवाहित की गयी। बुद्धिमान् लोगो का कर्तव्य है कि वे भटके हुए, भ्रान्त और तथाकथित पापीजनो के मन मे श्रद्धा जगायें और गीतामृत के पान द्वारा उन्हें सन्मार्ग का निर्देश करके सुख और

शान्ति की राह दिखायें, क्योकि गीता का मुख्य प्रयोजन ऐसे ही व्यक्तियों का मार्गदर्शन करना है। वास्तव मे, भगवान् भटके हुए तथा दीन-दुःखी जन को और तथाकथित पापियों को अधिक प्यार करते है और गीता के रूप मे भगवान् कृष्ण की अमृत-वाणी विशेषत. उन्हीके लिए प्रवाहित हुई है। हाँ, वे गीतामृत-पान के पूर्ण अधिकारी सात्त्विक होकर ही बन सकते हैं।

गीता का ज्ञान विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए नही है। प्राय. लोग गीता के बहाने अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन करके गीता के उद्देश्य को ही भूल जाते है। यदि कोई व्यक्ति एक सुन्दर उपवन मे जाकर फलो की गणना और फलो की विशेषता के विषय मे ही चर्चा करता रहे और फलो को चखकर तृप्त होना न सीखे, वह अज्ञ ही है, विवेकशून्य ही है। गीता-उपवन मे प्रवेश करके सारतत्त्व के ग्रहण द्वारा आत्मोन्नति के लिए साधना करना, सुख-शान्ति पाना, जीवन जीने की सच्ची राह पाकर उस पर चलने की प्रेरणा लेना ही गीताध्ययन की सार्थकता है।

सारी सृष्टि अखिलेश प्रभु का आवास है। समस्त चर अर्थात् गतिशील जीवधारी प्राणियों मे और अचर अर्थात् गतिहीन जड वस्तुओ मे ईश्वर का वास है। चेतन प्राणियों के जीवन का तथा जड (निष्प्राण) वस्तुओ के अस्तित्व का आधार वही एक ईश्वर है। पुण्यात्मा और पापात्मा के शरीर, पशु-पक्षियो और कीट-पतंगो के देह मे वही एक ईश्वर व्याप्त है। उसके बिना न जड वस्तुओ का अस्तित्व रह सकता है और न चेतन प्राणियो का जीवन ही ठहर सकता है। पुण्यात्मा और पापात्मा, राजा और रक, सभी के देह प्रभु के चलते-फिरते मन्दिर है, जिनमे ज्योतिस्वरूप उसीका अश विद्यमान है। जिस प्रकार परमात्मा स्थूल सृष्टि के कण-कण मे सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है तथा उसे गति देता है, उसी प्रकार परमात्मा का अशभूत आत्मा जीवो के स्थूल देहो मे व्याप्त रहकर उन्हे जीवन तथा गति देता है। जिस प्रकार तिल मे तेल, दुग्ध मे नवनीत सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है, उसी प्रकार देह मे आत्मतत्त्व, जो परमात्म-तत्त्व का ही एक अश है, सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है। स्थूल सृष्टि मे जो भी तत्त्व हैं, वे सभी (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि) प्राणियो के देह मे भी होते हैं—**यद् पिण्डे तद ब्रह्माण्डे**। प्रत्येक सूक्ष्म शक्ति का अस्तित्व स्थूल वस्तु के द्वारा प्रकट होता है, मानो सूक्ष्म भी अपने अस्तित्व के लिए स्थूल का सहारा लेता है। हमे बिजली की शक्ति नेत्रो से नही दीखती, किन्तु हम यह नही कह सकते कि बिजली की शक्ति नही होती। वह पखो और प्रकाश के बल्बो मे प्रकट होती है तथा अदृश्य होकर भी तार छूने पर झटका देकर अपने अस्तित्व को स्पष्ट कर देती है। परमात्मा समस्त शक्तियो की मूलभूत शक्ति है अथवा मूलभूत ऊर्जा है तथा सब शक्तियाँ उस परमशक्ति से जन्म लेकर उसीमे विलीन हो जाती हैं। वह बडी-से-बडी वस्तु से भी बडा है और छोटी-से-छोटी वस्तु से भी छोटा है, क्योकि वह सबमे व्याप्त है। **अणोरणीयान् महतो महीयान्**। जहाँ शक्ति है, वहाँ शक्ति का स्रोत दिव्य परमात्म-तत्त्व भी है। जैसे, जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि भी है। सृष्टि के नियम और उसकी व्यवस्था भी यह इगित करते है कि उनके पीछे कोई नियामक एव व्यवस्थापक-शक्ति है। जिस प्रकार किसी राज्य मे रहकर उसके प्रशासन और नियमो को न मानने से व्यक्ति की हानि और मानने से लाभ होता है, उसी प्रकार सृष्टि के नियामक और नियमो को न मानने से हानि तथा मानने से हित होता है। इस मगलमय सृष्टि का विधान मंगलमय है और उसे स्वीकार करना मंगलप्रद है। वास्तव मे परमात्मा का अस्तित्व बुद्धि से परे होने के कारण किसी तर्क से सिद्ध नही किया जा सकता है, वह अनुभव का विषय है। जिन्हे अनुभव हुआ है अथवा जिन्हे विश्वास है, उन्हे तर्क की आवश्यकता नही है और जिन्हे अनुभव नही हुआ है अथवा जिन्हें

विश्वास नही है उनके लिए सारे तर्क व्यर्थ हैं। तर्क मे अनवस्था दोष होता है तथा मात्र तर्क से सत्य की प्राप्ति एव तृप्ति नही होती। प्रख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने कहा, "विज्ञान की गभीर खोज मे सलग्न प्रत्येक व्यक्ति आश्वस्त हो जाता है कि विश्व के नियमो मे एक आत्मा सुस्पष्ट झलकता है, जो मानव की आत्मा की अपेक्षा अनन्तगुणा महान् है और वह ऐसा है कि उसके सामने हम अपनी तुच्छ शक्तियो सहित अवश्य विनीत हो जायेंगे।"[१] इसी प्रकार असख्य महान् वैज्ञानिको, दार्शनिको एव गभीर विचारको ने कहा है, जिनका यहां उल्लेख करना अनावश्यक है। वास्तव मे, जीव का परमात्मा के साथ एक ऐसा ही अश और अशी का सहज नाता है, जैसा लहर और बुद्बुद् का जलराशि के साथ अथवा चिनगारी का अग्नि के साथ है।

परमात्मा से ही जीव का उद्गम होता है तथा उसीमे जीव का विलय होता है। परमात्मा घट-घट-वासी है, अन्तर्यामी है, सभी की जीवन-ज्योति है। परमात्मा मेरा है, मैं उसका हूँ—यह नाता प्रत्येक मनुष्य के लिए परमात्मा को सुलभ बना देता है—वह ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा सन्यासी हो, स्त्री अथवा पुरुष हो, युवा अथवा वृद्ध हो, धर्मात्मा अथवा पापात्मा हो, राजा अथवा रक हो। देश, धर्म, जाति, सम्प्रदाय, भाषा आदि के भेद गीतामृत-प्राप्ति के लिए नितान्त अमान्य हैं।

गीता मानवमात्र के कल्याण के लिए श्रेष्ठ ग्रन्थ है। मानव-जीवन की ऐसी कोई समस्या नही है, जिसका समुचित समाधान गीता मे न सुझाया गया हो। ससार के घनघोर अन्धकार, विपत्ति, सकट, क्षोभ, भय और निराशा के मध्य मे यह एक ऐसा प्रकाश-पुज है, जो समस्याओ का साहसपूर्वक डटकर उत्तर देने के लिए, अपने पैरो पर खडा होकर जीने के लिए, विषाद की काली चादर उतारकर फेंकने और यथार्थ स्थिति का सामना करने के लिए प्रेरित करता है। जब भ्रान्ति और भटकन घेर रहे हो और मन को जकडकर दुर्बल और असहाय बना रहे हो, जब मन घबरा उठा हो और कोई मार्ग न दीखता हो, तब अधीर और सन्त्रस्त मन के व्यामोह को दूर करने के लिए गीता का प्रकाश मित्र और गुरु की भाँति परम सहायक सिद्ध होता है।

यदि गीता के कुछ स्थल समझ मे न आयें अथवा विवादास्पद प्रतीत होते हो, तो केवल इसी कारण से उसे तिरस्कृत करके फेंक देना अविवेक ही कहलायेगा। ससार मे नितान्त निर्दोष और पूर्ण तो केवल परमात्मा ही है। अतएव, जो कुछ भी सीखा जा सके, ग्रहण किया जा सके और पूर्णत्व-प्राप्ति की दिशा मे जो भी प्रयत्न किया जा सके, वही उत्तम है। यदि उद्यान मे कुछ कंटीली झाडी भी हो, तो उद्यान सर्वथा त्याज्य नही होता। काँटो और कूडे से बचकर, उद्यान के सुगधिमय वातावरण मे खिलकर हँसते-मुस्कराते हुए पुष्पो के सौरभ, पक्षियो के मधुर कलरव और पर्यावरण की शोभा का रसास्वादन करना विवेक का परिचायक है। सत्य का खोजी विनम्र तथा ग्रहणशील होता है। जो रुचिकर एव उपयोगी प्रतीत हो, उसे अगीकार कर लेना मानवोचित विवेक है। गीतामृत पान अमरत्व प्रदान कर देता है। श्रद्धा और विनम्रतासहित नमन करके गीतामाता की शरण मे जाने पर, वह हाथ पसारकर

---

१. "Everyone who is seriously involved in the pursuit of Science becomes convinced that a spirit is manifest in the laws of the universe—a spirit vastly superior to that of man and one in the face of which we with our modest powers must feel humble"

—**Albert Einstein**

हमें गोद में बैठा लेगी, कर्तव्य-पथ का बोध करा देगी, विवेक देकर मन के जजाल दूर कर देगी, सात्त्विक साहस भर देगी, जीवन के प्रति उत्तम आस्था जगा देगी तथा सुख और शान्ति से भरपूर कर देगी। हमे अपने मन मे गीता के दिव्यामृत द्वारा सुरक्षा एव सुस्थिरता तथा सुख एव शान्ति प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठा, लालसा और श्रद्धा जगानी चाहिए। दुर्गम और कठिन तत्त्व भी श्रद्धा होने पर सरल एवं मधुर बन जाता है। पूरी तरह समझ मे न आने पर भी गीता का पढना और सुनना प्रेरणा एवं प्रसन्नता देता है।

गीता तो 'सर्वभूतहिते रताः' के सिद्धान्त अर्थात् प्राणिमात्र के कल्याण का उद्‌घोष करती है। जो व्यक्ति देश, धर्म, जाति, वर्ण, लिंग आदि समस्त भेदो को छोड़कर जीवमात्र के कल्याण की कामना करता है, समस्त जीवो को सुख-शान्ति देने का प्रयत्न करता है, वही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। गीता न केवल आध्यात्मिक साधकों का मार्गदर्शन करती है, बल्कि इस लोक मे भी उत्तम जीवन जीने तथा सुख और शान्ति प्राप्त करने का मार्ग सुझाती है। इसमे थोड़े-से ही शब्दों मे मानव-जीवन के उच्चतम आदर्शों को प्रस्तुत किया गया है, जिनमे कही कट्टरता, कल्पना, हठधर्मिता, सम्प्रदायवाद या सकीर्णता का पुट नही है। गीता मे विविध विचारधाराओ का समन्वय यह सिद्ध करता है कि अनन्त भेद भी एक ही उद्देश्य, एक ही लक्ष्य की प्राप्ति करा सकते हैं। ज्यो-ज्यो मनुष्य आधुनिकता से चुँधियाता जा रहा है, त्यों-त्यो गीता की उपयोगिता और महत्त्व बढता जा रहा है। भौतिकता के घनघोर अन्धकार मे भटकती हुई मानव-जाति के त्राण के लिए गीता का आलोक ही एकमात्र उपाय है। इसका गभीर अध्ययन तथा इसके सन्देश का परिपालन व्यक्ति एव समाज, मानव एव मानवता की रक्षा करने मे समर्थ है। गीता विश्व-कल्याण का उद्‌घोष करते हुए व्यक्ति के आत्मोत्थान को उसका मूलाधार मानकर उस पर विशेष बल देती है। गीता मानवमात्र को एकता के सूत्र मे बाँधने, ज्ञान-विज्ञान को सत्य की ओर उन्मुख करने, मनुष्य मे नैतिकता एवं आध्यात्मिकता जगाने, ध्वस्त मूल्यो की पुनर्स्थापना तथा खण्डित आदर्शों का पुनर्निर्माण करने, जीवन मे नवचेतना और ओज भरकर जीवन को उदात्त बनाने तथा धराधाम पर स्वर्ग लाने के लिए सर्वांग-सुन्दर एवं सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है।

आज परिवर्तन और प्रगति के नाम पर मानव ने अपनी स्वर्णिम शान्ति खो दी है। पुराने ढाँचे टूट रहे हैं और मानव-जाति एक अनजाने अँधेरे मे खो रही है। यद्यपि विज्ञान और वाणिज्य ने पृथ्वी को एक छोटा-सा स्थल बना दिया है, व्यक्ति विश्व के विशाल एव विस्तृत सन्दर्भ मे तथा उत्तम आदर्शों की परिपूर्ति की दिशा मे भटक गया है तथा वह समाज का और अपना विध्वसक शत्रु बन रहा है। अहंकार, स्वार्थ, घृणा, विद्वेष तथा विषाद से अभिभूत होकर मानव और मानव-जाति आत्मघाती हो गये हैं। बुद्धिवाद के नाम पर तर्क कुतर्क बन गया है तथा मानव अपने चारो ओर सारे ढाँचे ध्वस्त करने में सुख मान रहा है। मशीन ने मानव को प्रकृति से दूर हटाकर मशीनी और विलासप्रिय, आलसी और दुर्बल बना दिया है। उसके शरीर और मन की प्रतिरोधात्मक शक्ति विलुप्त हो गयी है और वह छोटे-से झझावात मे घिरकर दयनीय हो गया है। विज्ञान के आधार पर सभ्यता मे परिवर्तन एवं प्रगति होने पर भी मानव के भय, क्रोध, प्रतिशोध इत्यादि उद्वेग ज्यो के त्यों ही हैं, यद्यपि उन्हें प्रकट करने के तरीके बदल गये हैं तथा कुटिल हो गये हैं। आज मनुष्य न्याय और सिद्धान्त की रक्षा के लिए नही, बल्कि अहकार और ईर्ष्या-द्वेष के कारण लड रहा है। मनुष्य अपने पड़ोसी के मकान, दूकान, स्त्री और बच्चो को सहयोगी के बदले शत्रु बना रहा है। विश्व के स्तर पर राष्ट्र भी यही कर रहे हैं। ऐसी

विस्फोटक दशा मे परमाणु-युग किस ओर सकेत कर रहा है ? व्यक्ति के जीवन मे स्वभाव की श
के अतिरिक्त कुछ अन्य विवशता भी कभी-कभी उसे घेरकर असहाय और दीन बना देती है, ज
किंकर्तव्यविमूढ होकर यह नही समझ पाता कि राह पाने के लिए उसे क्या करना चाहिए। भ्रान्ति,
चिन्ता और विषाद उसके मन को अधकार से भर देते हैं और उसे कही भागने का भी अवसर
मिलता है।

(हम अपने नियत्रण से बाहर की परिस्थितियो मे जीवन कैसे जी सकते हैं तथा अपने भीतर
एव सम कैसे रह सकते हैं, इसके लिए एक विचारधारा की आवश्यकता है, सोचने और कर्म करने
विधि की आवश्यकता है। मनुष्य अपनी प्रच्छन्न आन्तरिक शक्ति को पहचानकर, उसका महत्त्व
कर, स्वय ही साहसपूर्वक सीधा खड़ा होकर, अपनी दीनता को उतार-फेंककर, अपनी शक्ति
पयोग करके ही आत्मसन्तुष्ट एव कृतार्थ हो सकता है। गीता हमे उच्च आकाक्षा एव आशा के
जीने के लिए अन्तस्फूर्ति एव अन्तर्प्रेरणा देती है, जीवन की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करती है।)

परिवर्तनशील ससार मे परमात्मा की दिव्य शक्ति सदैव, प्रत्येक परिस्थिति मे मनुष्य
सहारा है। जब ससार मे सभी उसके विरुद्ध खड़े होते हो अथवा सहायता करने में असमर्थ हों,
अनन्त शक्ति उसे सरक्षण दे सकती है। प्रभु का द्वार सदैव, प्रत्येक परिस्थिति मे खुला रहता
जरा उसे खटखटाकर तो देखे। उसी परमात्मा का अशभूत आत्मा हमारे भीतर प्रकाश-पुञ्ज,
प्रत्येक स्थिति मे हमे राह सुझा सकता है तथा सुख और शान्ति दे सकता है। गीता अधकार
शक्तियो को ध्वस्त करने के लिए ऐसे ही दिव्य आलोक से परिपूर्ण है तथा ध्रुव एव शाश्वत
ओर इगित कर रही है।

तर्कवादिता पर आधारित बौद्धिकता विचार को दूर तक नही ले जा सकती।
विद्वानो की जन्मदात्री जर्मनी की महान् भूमि मे उत्पन्न महान् तर्कवादी हीगल ने कहा
सारतत्त्व तार्किकता है और जो तर्क साध्य है वही सत्य है। ब्रिटिश दार्शनिक जॉन
( इन्ट्यूशन ) को स्वीकार करके भी उसके तर्कसगत होने पर ही महत्त्व देते थे।
दार्शनिक कान्ट किसी सीमा तक डेविड ह्यूम के अनुभववाद को स्वीकार करते पर भी,
ढग से तर्क को महत्त्व देते थे। प्रख्यात भारतीय चिन्तक मानवेन्द्र राय घोर
कदाचित् वह कान्ट से प्रभावित थे। दर्शन के क्षेत्र में तर्कवादियो की कटु समालोचना है;
का अपना महत्त्व है, किन्तु सत्य को जानने के अन्य तरीके भी हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं
उन्नीसवी शती के अस्तित्ववादी दार्शनिक कीर्केगार्द तथा नीत्शे ने और उनके बाद
और कामू ने, जो कदाचित् फ्रेंच दार्शनिक बर्गसाँ से भी प्रभावित हैं, चिन्ता, मृत्यु,
वैज्ञानिक तथ्यो पर तात्त्विक विवेचन किया है, जिसका कारण यूरोप मे धर्म का पतन है।
एव दु ख की अनुभूतियो का दार्शनिक जगत् मे महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु यह
जा सकता कि मनुष्य की अखण्ड सुरक्षा और शान्ति आध्यात्मिकता में निहित है।
की आवश्यकता है। (पाश्चात्य दार्शनिको की चर्चा करते हुए हम जर्मनी के
चिन्तक कार्ल युग को नही भूल सकते, जिसने दर्शन मे आध्यात्मिकता का
स्वीकार्य सत्य मानते हुए कहा है कि "धार्मिक ( आध्यात्मिक )
... स्थिति रखता है, जिसने

और सौन्दर्य का स्रोत दे दिया है तथा ससार एव मानवता को भी एक नयी भव्यता प्रदान की है।"[1] दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति एव अखण्ड आनन्द की प्राप्ति लोक मे कर्म करते हुए भी सम्भव है। गीता इस तथ्य की स्पष्ट व्याख्या करती है।)

गीता की एक विशेषता यह है कि यह प्रमुख जीवन-दर्शन होते हुए भी काव्यात्मक है, गीत के रूप मे है। इसके अतिरिक्त इसका स्वरूप दो मित्रो का परस्पर सवाद है। सवाद होने के कारण यह मनोरजक है और इसमे सहज प्रवाह है तथा यह शुष्क तर्को का संग्रह नही है। इसकी शैली रोचक, सरस एव सरल है। इसमे किसी बात पर बल देकर समझाने के कारण कुछ बातो की पुनरावृत्ति अवश्य हुई है। संवाद होने के कारण कथ्य धारावाहिक अथवा क्रमिक नही है तथा अनेक स्थानो पर अत्यन्त सक्षेप अथवा परस्पर-विरोध दिखाई देता है। स्वय अर्जुन ने भी श्रीकृष्ण से यह शिकायत की है। (गीता मे विचार-सघर्ष कही नही है, विचार-विमर्श है, जो तत्त्व को समझाने के लिए आवश्यक है। व्यावहारिक पक्ष गीता की अन्य प्रमुख विशेषता है। गीतामात्र तत्त्वज्ञान नही है, व्यावहारिक दर्शन है। गीता मात्र उपदेश अथवा आदेश नही है, यद्यपि उसमे स्थान-स्थान पर उपदेश तथा आदेश भरे पड़े हैं।) दोनो मित्र क्षत्रिय हैं, जो सवाद प्रारम्भ होने पर मित्र होकर भी गुरु-शिष्य बन जाते हैं। अर्जुन ऋजु है, अर्थात् सीधा-सच्चा है। श्रीकृष्ण की महानता देखकर अर्जुन उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेता है। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण ने नारायण ऋषि के नारायणीय अथवा भागवत धर्म का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार निवृत्ति-मार्ग (ससार छोड़कर सन्यास ले लेना) की अपेक्षा प्रवृत्ति-मार्ग (अन्त तक कर्तव्य समझकर कर्म करते रहना) का महत्त्व अधिक है। पुरातन दो ऋषि नारायण और नर मानो श्रीकृष्ण और अर्जुन के रूप मे सवाद कर रहे है। अर्जुन की उत्सुकता देखकर योगिराज श्रीकृष्ण ने मित्र को दिव्य चक्षु अर्थात् दिव्य शक्ति देकर विराट् विश्वरूप के दर्शन करा दिये और अर्जुन ने श्रीकृष्ण मे सृष्टि के सूत्रधार का दर्शन किया, दिव्यात्मा मे परमात्मा के अस्तित्व की अनुभूति की। सिन्धु का अश तो बिन्दु होता ही है, किन्तु बिन्दु मे भी सिन्धु समाया रहता है। यह दिव्य तत्त्वज्ञान की एक झलक मात्र है।

वास्तव मे श्रीकृष्ण जगद्गुरु है और अध्यात्म-मार्ग का प्रत्येक साधक, तत्त्वज्ञान का प्रत्येक जिज्ञासु, सत्य का प्रत्येक खोजी, दैनिक जीवन के व्यवहार मे मार्गदर्शन की कामना करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति तथा सुख और शान्ति के रहस्य को खोजनेवाला प्रत्येक मानव अर्जुन ही है, जगद्गुरु श्रीकृष्ण का शिष्य है, सन्मित्र है। ('गुरु' शब्द का अर्थ है अन्धकार दूर करनेवाला, जीवन का मार्ग स्पष्ट, सरल और प्रशस्त करनेवाला मार्गदर्शक।) शासन अर्थात् उपदेश एव आदेश माननेवाला व्यक्ति शिष्य होता है। अर्जुन मानव-जीवन का महाप्रश्न है, श्रीकृष्ण उसका महासमाधान है। अर्जुन मानवमात्र का प्रतिनिधि है, श्रीकृष्ण मानवमात्र के गुरु हैं।

गीता मानवात्मा का सगीत है। वंशीविभूषित श्रीकृष्ण की वशी ऐसे दिव्य सगीत का प्रतीक है, जो शिष्य अर्जुन को परमप्रिय है। अर्जुन पूर्णता तक पहुँचने मे प्रयत्नशील आत्मा का प्रतिनिधि है।

---

१ "No matter what the world thinks about religious experience, the one who has it possesses the great treasure of a thing that has provided him with a source of life, meaning and beauty and that has given a new splendour to the world and mankind"

—Carl Jung.

विस्फोटक दशा मे परमाणु-युग किस ओर सकेत कर रहा है ? व्यक्ति के जीवन मे स्वभाव की शक्तियो के अतिरिक्त कुछ अन्य विवशता भी कभी-कभी उसे घेरकर असहाय और दीन वना देती है, जव वह किंकर्तव्यविमूढ होकर यह नही समझ पाता कि राह पाने के लिए उसे क्या करना चाहिए। भ्रान्ति, भय, चिन्ता और विषाद उसके मन को अधकार से भर देते हैं और उसे कही भागने का भी अवसर नही मिलता है।

(हम अपने नियत्रण से वाहर की परिस्थितियो मे जीवन कैसे जी सकते हैं तथा अपने भीतर शान्त एव सम कैसे रह सकते हैं, इसके लिए एक विचारधारा की आवश्यकता है, सोचने और कर्म करने की विधि की आवश्यकता है। मनुष्य अपनी प्रच्छन्न आन्तरिक शक्ति को पहचानकर, उसका महत्त्व समझकर, स्वय ही साहसपूर्वक सीधा खडा होकर, अपनी दीनता को उतार-फेंककर, अपनी शक्ति का सदुपयोग करके ही आत्मसन्तुष्ट एव कृतार्थ हो सकता है। गीता हमे उच्च आकाक्षा एव आशा के अनुरूप जीने के लिए अन्तस्फूर्ति एव अन्तर्प्रेरणा देती है, जीवन की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करती है।)

परिवर्तनशील ससार मे परमात्मा की दिव्य शक्ति सदैव, प्रत्येक परिस्थिति मे मनुष्य का सच्चा सहारा है। जव ससार मे सभी उसके विरुद्ध खड़े होते हो अथवा सहायता करने मे असमर्थ हो, प्रभु की अनन्त शक्ति उसे सरक्षण दे सकती है। प्रभु का द्वार सदैव, प्रत्येक परिस्थिति मे खुला रहता है। हम जरा उसे खटखटाकर तो देखें। उसी परमात्मा का अशभूत आत्मा हमारे भीतर प्रकाश-पुन्ज वनकर प्रत्येक स्थिति मे हमे राह सुझा सकता है तथा सुख और शान्ति दे सकता है। गीता अधकार और उसकी शक्तियो को ध्वस्त करने के लिए ऐसे ही दिव्य आलोक से परिपूर्ण है तथा ध्रुव एव शाश्वत सत्य की ओर इगित कर रही है।

तर्कवादिता पर आधारित वौद्धिकता विचार को दूर तक नही ले जा सकती। दार्शनिको एव विद्वानो की जन्मदात्री जर्मनी की महान् भूमि मे उत्पन्न महान् तर्कवादी हीगल ने कहा कि विश्व का सारतत्त्व तार्किकता है और जो तर्क साध्य है वही सत्य है। व्रिटिश दार्शनिक जॉन लॉक अन्तर्ज्ञान ( इन्ट्यूशन ) को स्वीकार करके भी उसके तर्कसगत होने पर ही महत्त्व देते थे। महान् जर्मन दार्शनिक कान्ट किसी सीमा तक डेविड ह्यूम के अनुभववाद को स्वीकार करने पर भी एक विशेष ढग से तर्क को महत्त्व देते थे। प्रख्यात भारतीय चिन्तक मानवेन्द्र राय घोर तर्कवादी थे और कदाचित् वह कान्ट से प्रभावित थे। दर्शन के क्षेत्र मे तर्कवादियो की कटु समालोचना हो चुकी है। तर्क का अपना महत्त्व है, किन्तु सत्य को जानने के अन्य तरीके भी हैं, जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती। उन्नीसवी शती के अस्तित्ववादी दार्शनिक कीर्केगार्द तथा नीत्शे ने और उनके वाद हेडगर, जेसपर्स, सार्त्र और कामू ने, जो कदाचित् फ्रेंच दार्शनिक वर्गसाँ से भी प्रभावित हैं, चिन्ता, मृत्यु, निराशा आदि मनोवैज्ञानिक तथ्यो पर तात्त्विक विवेचन किया है, जिसका कारण यूरोप मे धर्म का पतन है। तर्क की शक्ति एव दु ख की अनुभूतियो का दार्शनिक जगत् मे महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु यह सत्य भी झुठलाया नही जा सकता कि मनुष्य की अखण्ड सुरक्षा और शान्ति आध्यात्मिकता मे निहित है। अतएव समन्वय-दृष्टि की आवश्यकता है। (पाश्चात्य दार्शनिको की चर्चा करते हुए हम जर्मनी के महान् मनोवैज्ञानिक और चिन्तक कार्ल युग को नही भूल सकते, जिसने दर्शन मे आध्यात्मिकता का पुट दिया है। युग ने आध्यात्मिक अनुभवो को स्वीकार्य सत्य मानते हुए कहा है कि "धार्मिक ( आध्यात्मिक ) अनुभूति के विषय मे संसार चाहे जो सोचे, जिसे अनुभूति हुई है, वह एक ऐसी निधि रखता है, जिसने उसे जीवन, जीवन सार

प्रकाश है तथा साधारण मनुष्य की भाँति दु ख का पुट नही है। उनका परम शिष्य अर्जुन भी सघर्षमयता का प्रतीक है तथा अपने गुरु श्रीकृष्ण से सघर्ष करने का सही रास्ता पूछता और सीखता है। किसीकी दृष्टि में श्रीकृष्ण एक अवतार, किसीके मत में महापुरुष तथा किसीके विचार से काल्पनिक हो सकते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के उपदेशो की उपादेयता विवाद से परे है, असदिग्ध है।

जीवन एक सघर्ष है, जन्म से मृत्यु तक आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थितियो के साथ जूझने का उपक्रम है। ससार मे जीवन-सघर्ष का शिक्षण देने के लिए गीता सर्वोत्तम ग्रन्थ है। यदि कोई व्यक्ति नास्तिक है, ईश्वरवादी नही है, उसके लिए भी अभय, साहस, प्रसन्नता, निष्काम कर्म आदि की प्रेरणा देनेवाला गीता से बढ़कर कोई अन्य ग्रन्थ नही है। गीता आत्म-अनुशासन की साधना का उपदेश देकर मनुष्य को न केवल सघर्ष के लिए प्रेरित एव सन्नद्ध करती है, उसमे उत्साह और प्रसन्नता जगाकर संघर्ष को सहज, सुगम, उत्साहवर्धक और आनन्ददायक भी बना देती है।

श्रीकृष्ण और अर्जुन चिरकाल से परस्पर मित्र थे। श्रीकृष्ण ने उसके साथ ऐसे गूढ सवाद के लिए रणस्थल को ही क्यो चुना ? वे उसे कभी पहले भी यह सब समझा सकते थे। वास्तव मे, मनुष्य किसी उपदेश को तभी अगीकार करता है, जब वह अपनी मन स्थिति के द्वारा ग्रहणशील होकर उसके लिए तैयार हो जाता है तथा दूसरे की बात सुनने, समझने और अपनाने के मनोभाव ( मूड ) मे होता है। श्रीकृष्ण तो इस अवसर की प्रतीक्षा मे थे ही, किन्तु जब अर्जुन भ्रान्त होकर अपने भीतर ही विषाद के काले अँधियारे में डूबकर व्याकुल हो उठा, उसके हाथ से धनुष गिरने लगा और वह जल से बाहर निकली हुई मछली की भाँति तडपने और फडकने लगा, झझावात में आँधी के झोके से गिरते हुए वृक्ष की भाँति कम्पायमान होकर डगमगाने लगा तथा भीतर-ही-भीतर हार मानकर, किकर्तव्यविमूढ होकर दयनीय दशा मे कहने लगा, "हाय ! क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ?" उसने श्रीकृष्ण से सँभालने, दिशा देने और उसे भीतरी व्याकुलता से बचाने के लिए प्रार्थना की, भीख माँगी और मित्रता छोड़कर शिष्यता ग्रहण कर ली। वह कहने लगा, "हे कृष्ण, आप जैसा कहेगे, मैं करूँगा। मेरे भीतरी भावोद्रेक से मेरी रक्षा कीजिये, मैं आपकी शरण ग्रहण कर रहा हूँ।" श्रीकृष्ण अर्जुन की ग्रहणशीलता के इसी क्षण की प्रतीक्षा में थे। उन्होने हँसकर सकेत किया कि वह प्रकाश देकर उसको मानसिक व्यग्रता की स्थिति से बचा लेंगे, जो उसे दीन और कायर बना रही थी तथा उसके भीतर अपरिसीम आत्मग्लानि भर रही थी। पूर्णत भ्रान्त होकर भी अर्जुन जब प्रज्ञावान् की भाँति कुछ कहने लगा, श्रीकृष्ण ने उसके मिथ्या अहकार पर प्रहार करते हुए उसे उसकी अज्ञता तथा निस्सार प्रज्ञावाद पर डाँटा, जिसे वह अन्यथा कदापि सहन न करता तथा श्रीकृष्ण ने उसे उपदेश ही नही, आदेश भी दिये, क्योकि शिष्य को परिपक्व करने के लिए उपदेश और आदेश देने का यही समुचित अवसर था। मनीषियो द्वारा अज्ञ पुरुष की अबोधता दूर करने के लिए, उसे मार्ग दिखाने के लिए उपदेश दिया जाता है तथा भटकते हुए और हठी व्यक्ति को आदेश दिया जाता है। योगिराज श्रीकृष्ण के लिए यह कोई बड़ी बात न थी कि रणभूमि में कालगति अथवा काल व्यतीत होने के तथ्य का आभास किसीको न हो। बहुत-कुछ समझाने के बाद श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पूर्णत आश्वस्त करने के लिए दिव्यचक्षु अथवा दिव्यशक्ति देकर अपने विराट् रूप का ऐश्वर्य दिखा दिया।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, "अरे, ससार तो अनन्तकाल से चल रहा है, एक दिव्यशक्ति इसका संचालन कर रही है। जब तू नहीं था, तब भी ससार चल रहा था, जब तू नही रहेगा तब भी

ससार चलता रहेगा। आत्मा अमर है तथा सभी की मृत्यु निश्चित है। राग-द्वेष, हिंसा अहिंसा, कर्ता-भोक्ता, अपने-पराये, पाप-पुण्य, सुख दु ख, यश-अपयश, लाभ-हानि आदि के झझट छोडकर उठ, खडा हो। भाग मत, डर मत, उत्साह और उमग भरकर परिस्थिति का सामना कर, सहर्ष सघर्ष कर, स्वधर्मरूप कर्तव्य-कर्म कर। कर्म त्याज्य नही है। ईश्वर को भी कर्म करना पडता है, अन्यथा सृष्टि की गति ही अवरुद्ध हो जायगी। मेरी बात मान ले और भगवान् का स्मरण करते हुए युद्ध कर। इसीमे तेरा कल्याण है। तूने मुझे सारथी बनाकर रथ की बागडोर सौंप दी है। अपने मन, बुद्धि और अहकार की बागडोर भी सौंप दे, तभी तू भय और सशय से छूटेगा, क्लेशप्रद मलिनता और भ्रम से मुक्त होगा, अधीर और विचलित न होगा। तू स्वय ही अपना उद्धार कर—तू आत्मोद्धार करने मे समर्थ है। तेरा निष्काम कर्म करना भी भगवान् की भक्ति है। तू अप्रतिम शूर-वीर है। तू कौरवो से भूमि पाने के लिए नही लड रहा है, बल्कि अन्याय के विरुद्ध धर्मयुद्ध कर रहा है। अन्याय का प्रतिरोध करने से ही न्याय की पुष्टि होती है। तेरा उद्देश्य पवित्र है। व्यक्तियो और वस्तुओ का मोह छोडकर ही तू युद्ध कर सकेगा। तू ऋजु है, सीधा-सच्चा है। ऐसे ही व्यक्तियो के मन मे किंकर्तव्यविमूढता आती है। तू धन्य है।"

श्रीकृष्ण ने उत्तोलक की भांति व्यामोह के दलदल मे फँसे हुए अर्जुन के मन को ऊपर उठा दिया। निष्प्राण मे प्राण, निरुत्साह मे उत्साह का सचार करनेवाली, भीतर प्रसन्नता जगानेवाली, भटकते हुए किंकर्तव्यविमूढ व्यक्ति को राह दिखानेवाली, ओजस्वी, प्रकाशमयी एव दिव्यवाणी को सुनकर अर्जुन को अपने दायित्व एव कर्तव्य का बोध हो गया और उसने कहा—'करिष्ये वचन तव' – मैं आपके प्रसाद से मोहमुक्त एव सन्देहमुक्त होकर, आपकी बात मानकर, कर्तव्य पालन के लिए खडा हो गया हूँ।' श्रीकृष्ण की दिव्यवाणी ने अधकार मे प्रकाश जगा दिया, भय, चिन्ता और विषाद को दूर कर दिया तथा अर्जुन को नवचेतना द्वारा नवजीवन प्रदान कर दिया। अर्जुन श्रीकृष्ण की वाणी सुनकर कर्तव्य-पालन मे जुट गया और कृतार्थ हो गया।

गीता किसी धर्मसभा का प्रवचन अथवा परिचर्चा नही है, बल्कि दो मित्रो का उच्चस्तरीय सवाद है। श्रीकृष्ण ने उपयुक्त अवसर पर अपना प्रसाद केवल एक ही व्यक्ति को दिया। अतएव गीता का पूर्ण रसास्वादन करने के लिए मनुष्य को स्वय अपने को अर्जुन मानकर श्रीकृष्ण की वाणी को आत्मसात् करने का प्रयत्न करना चाहिए। वास्तव मे, हमारा मन भी तो अर्जुन है, जो समस्याओ से घिरा हुआ है, चचल है और सन्देह तथा सशय से पीडित है। हमारे भीतर बसा हुआ, हृद्देश मे विराजमान परमात्मा हमारा मित्र और गुरु श्रीकृष्ण है। गीता के श्रीकृष्ण की वाणी हमारे भीतर अवस्थित प्रभु की वाणी है, व्यक्तिगत रूप से हमारे प्रत्येक के लिए कही गयी है। गीता की वाणी को हम अपने भीतर भी सुन सकते हैं, यदि हम श्रद्धा से राग द्वेष को धोकर मन को निर्मल कर लें। गुरु श्रीकृष्ण कहते हैं कि हम स्वय ही अपने मित्र अथवा शत्रु हैं तथा स्वय ही अपनी उन्नति अथवा अवनति के लिए उत्तरदायी हैं। श्रीकृष्ण की वाणी, जो हमारी आत्मा की ही वाणी है, हमे विवेक देकर विषाद से बचा सकती है, हमारे भीतर कर्तव्य-पालन की प्रेरणा देकर तथा साहस जगाकर समस्या के समाधान के लिए तैयार कर सकती है। वही हमे दु ख-सुख, हानि-लाभ और निन्दा-स्तुति मे सम अर्थात् एक-सा शान्त रहकर, भीतर गहरे स्तर पर निरन्तर प्रसन्न रहकर, कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। गीता की वाणी इन्द्रियो, मन और बुद्धि को नियत्रण मे रखकर उन्हे सबल बनाने की विधि बताती है, जिससे हम बाहरी परिस्थितियो का दृढता

से सामना कर सके। हम बाह्य परिस्थिति को देखकर अविवेक के कारण अपने भीतर उसके संबंध मे एक मानसिक समस्या बनाकर खडी कर लेते हैं और हमें दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ती है—एक बाहर और एक भीतर। भीतर की लड़ाई हमे थका देती है, हरा देती है और फिर हम बाहर भी हार जाते हैं। जब अर्जुन भीतर की लडाई मे हार रहा था और रणक्षेत्र छोडकर भागने को तैयार था, श्रीकृष्ण ने उसे पहले भीतर की लडाई मे विजयी बना दिया जिससे बाद मे वह बाहर के महायुद्ध मे भी, विजयी हो सका। गीता मन और बुद्धि को ऐसा भयरहित एव चिन्तारहित बना देती है कि हमें अपने भीतर लड़ना नही पडता और हम सुगमता से बाहरी परिस्थिति से लडकर उस पर विजय पा सकते हैं। मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। गीता कहती है कि बाह्य परिस्थिति को मन की समस्या न बनाये और मन स्थिति को सदैव बाह्य स्थिति से ऊपर रखे। यह मोहत्याग एवं समता के अभ्यास से सम्भव हो सकता है। ईश्वर सच्चे मनुष्य की रक्षा अवश्य करता है, यह विश्वास मनुष्य के खोये हुए आत्मविश्वास को पुन लौटा लाता है। गीता हमे अन्तर्मुखी होकर आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने मन और बुद्धि को स्वच्छ और सबल करने की प्रेरणा देती है, क्योकि मन और बुद्धि ही हमारे साधन अथवा शस्त्र हैं, जिनसे हम जीवन-सघर्ष मे जूझ सकते हैं। सच तो यह है कि बाहरी हार का कोई विशेष महत्त्व नही है, भीतर की हार का ही वास्तविक महत्त्व है। भीतर की हार बाहर की हार से अधिक दुःखद होती है तथा भीतर की विजय होने पर बाहर की हार भी हार नही रहती।

वास्तव मे स्वस्थ एव सुखी जीवन के लिए विचार के द्वारा मानसिक उद्वेगो एव भावो को नियंत्रित करना नितान्त आवश्यक है। अनेक बार हम भावो मे बह जाते है तथा लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, प्रतिशोध से अभिभूत होकर ऐसा अशोभनीय एव अमानवीय कर्म कर बैठते हैं, जो मानव-प्रतिष्ठा के अनुरूप नही होता। ऊँचा उठने के लिए हमे अपने सोचने के तरीके बदलने पडेंगे और अपने व्यक्तित्व मे स्वस्थ परिवर्तन अथवा रूपान्तरण करना पड़ेगा। हम आत्मनिरीक्षण, चिन्तन-मनन और सकल्प-बल से अपने भीतर पवित्रता का समावेश करने पर ही ठीक प्रकार से कर्तव्य-कर्म कर सकेंगे। गीता हमें जीवन जीने की कला तथा जीवन की चुनौतियाँ स्वीकार करके सघर्ष करने की विधि सिखाती है। गीता का अनुयायी अन्तरात्मा की आवाज सुनकर अकेले ही चल पड़ता है और लोक उसके पीछे-पीछे चल देता है। गीता का उपासक कभी अपने मन मे अकेलेपन की भावना अथवा भीरुता से ग्रस्त एव त्रस्त नही होता। गीता जिजीविषा (जीने की इच्छा) को दृढ़ करती है और सद्विचार एव सत्कर्म के सम्पादन की प्रेरणा द्वारा साहसी, सम और प्रसन्न बनाकर मनुष्य को पूर्णत्व की ओर ले जाती है। सीमित शब्दो से गीता के महत्त्व की असीमता को कैसे बाँधा जा सकता है?

गीता का प्रयोजन केवल अनासक्ति अथवा समता अथवा कर्म-निष्ठा ही सिखाना नही है। गीता इनके अतिरिक्त भी अन्य बहुत-कुछ सिखाती है। गीता व्यक्तित्व के समग्र विकास, सागोपाग उत्थान अथवा सर्वांगपूर्णता की शिक्षा-दीक्षा देती है। गीता का उद्देश्य है नर में नारायणत्व जगाकर उसे नारायण बना देना, पूर्णता देना। इसे धर्मग्रन्थ अथवा दर्शन-ग्रन्थ की ही सज्ञा नही दी जा सकती। गीता व्यक्ति एव समाज के कल्याण के लिए कही हुई अमृतवाणी है, जो शाश्वत सिद्धान्तो पर आधारित है। गीता कालजयी है, गीता अमर ग्रन्थ है।

यह कोई आश्चर्य नही है कि केवल हिन्दू ही नही, अन्य धर्मावलम्बी भी तथा केवल भारतवासी ही नही, असख्य विदेशी भी, गीता-कल्पवृक्ष के मधुर फल का आस्वादन करके उसकी मुक्तकठ से सराहना

करते हैं। गीता मे मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्म तथा आध्यात्मिक ज्ञान के मूलभूत तत्वो का समावेश है। अतएव गीता की उपयोगिता एव उपादेयता सभी युगो के लिए तथा सभी देशों के मानवो के लिए है। गीता पर भारत के प्रमुख आचार्यो और विद्वानो के अतिरिक्त अनेक अन्य धर्माव-लम्बी तथा विदेशी विद्वानो ने टीकाएँ लिखी हैं, जिनकी विचार-भिन्नता वास्तव मे परस्पर-विरोधी नही, बल्कि परस्पर पूरक है तथा हमे उनका अवलोकन समन्वय-दृष्टि से करना चाहिए।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र ( अथवा वेदान्तसूत्र ) तथा गीतोपनिषद् अर्थात् गीता, जो एक समन्वयात्मक स्वतत्र उपनिषद् है ये तीनो भारत के प्रमुख दर्शन-ग्रन्थ हैं, जिन्हे 'प्रस्थानत्रयी' कहा जाता है। वैदिक आधार लेते हुए आचार्यों ने तीनो पर विभिन्न मत देकर टीकाएँ लिखी है। यह विभिन्नता इन ग्रन्थो की अथाह गूढता की परिचायक है। प्राय सभी आचार्यों ने गीतोपनिषद् से विशेष प्रेरणा ली और गीता की टीका लिखी है। शङ्कराचार्य ( सवत् ८४५– ८७७ ) ने, जो बत्तीस वर्ष की अल्पायु मे ही ब्रह्मलीन हो गये, अद्वैत का प्रचार किया अर्थात् ब्रह्म एक ही है और समस्त सृष्टि उससे ओतप्रोत है, उससे अभिन्न है तथा यह भासमान जगत् अविद्या अथवा अज्ञान के कारण सत्य अथवा यथार्थ प्रतीत होता है। ब्रह्म और जीवात्मा एक ही तत्त्व है। वास्तव मे ब्रह्म ही सत्य है अर्थात् सदा रहनेवाला शाश्वत तत्त्व है और जगत् मिथ्या है अर्थात् नश्वर है तथा ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसीमे विलीन हो जाता है। 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, जावो ब्रह्मैव नापर· ।' ज्ञान होने पर आत्मा और परमात्मा का मायाजन्य भेद मिट जाता है, सारी सृष्टि ब्रह्ममय भासने लगती है। ब्रह्म विशेषणो एव शब्दों से परे है। वह अनन्त और अखण्ड है, अनादि और अनश्वर है। शङ्कर ने यह स्पष्ट किया कि कर्म मन को शुद्ध करने के लिए आवश्यक है। वे स्वय भी कर्म मे जुटे रहे। शङ्कराचार्य का तात्पर्य केवल यह था कि स्थूल इन्द्रियो एव देह के स्तर पर स्थूल ससार अवश्य सत्य है, अतएव इन्द्रियो एव देह के स्तर पर कर्म करना ही चाहिए तथा कर्म चित्त को शुद्ध करनेवाला एक आध्यात्मिक साधन है। किन्तु ज्ञान होने पर अर्थात् स्थूल इन्द्रियो एव देह से परे सूक्ष्म स्तर पर स्थूल सृष्टि ब्रह्ममय भासेगी तथा जीव एव आनन्दस्वरूप परमात्मा का तादात्म्य होने पर परमानन्द की अनुभूति हो सकेगी। माया ब्रह्म की ही एक शक्ति है जो जीव और परमात्मा मे भेद की प्रतीति उत्पन्न कर देती है तथा स्थूल स्तर पर स्थूल जगत् को सत् की प्रतीति दे देती है। शङ्कराचार्य गीता को सम्पूर्ण वैदिक शिक्षाओ का ऐसा तात्पर्य या सार-सग्रह कहते हैं, जो समस्त मानवीय उच्चाकाक्षाओ को सिद्धि देने मे सक्षम है। 'समस्तवेदार्थसारसग्रहभूतम्', 'समस्तपुरुषार्थसिद्धिम्।'

शङ्कराचाय के मत का प्रतिपादन मधुसूदन आचार्य तथा भक्त ज्ञानेश्वर आदि ने किया। शङ्कराचार्य अथवा उनके समर्थको ने कर्म की निन्दा नही की। ज्ञान की उच्चावस्था मे कर्मो का लौकिक स्वरूप छूट जाता है एव वह अनावश्यक हो जाता है। रामानुजाचार्य ( जन्म सवत् १०७३ ) ने अपने विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त में स्पष्टीकरण के रूप मे सशोधन किया कि ब्रह्म परमसत्य तो है, किन्तु उसमे आत्मचेतना एव ज्ञान है तथा जीवमुक्ति की भी चेतना है। उन्होने जगत् को असत् न कहकर सत् कहा। जगत् परमात्मा का शरीर है। जीवात्मा और परमात्मा एक नही है तथा आत्मा मे परमात्मा बसा हुआ है। वास्तव मे विशिष्टाद्वैत अद्वैत की ही एक व्याख्या-सी है। रामानुजाचार्य ने ज्ञानमार्गी होकर भी भक्ति पर बल दिया है। रामानुज वैष्णव हैं। मध्वाचार्य ( सवत् १२५४—१३३३ ) द्वैतवादी तथा भक्तिमार्गी थे। वास्तव मे भक्ति-मार्ग मे द्वैत ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। निम्बार्काचार्य ( जन्म सवत् लगभग १२१६ ) ने अपने द्वैताद्वैत-सिद्धान्त में राधामाधव-भाव की चर्चा की, जो कुछ विशेष भिन्न

नही है। वल्लभाचार्य ( स० १५३५—१५८७ ) के शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त मे आत्मा ऐसे ही ईश्वर का अश है, जैसे स्फुलिंग ( चिनगारी ) अग्नि का। वल्लभाचार्य पुष्टिमार्गी अथवा शुद्धाद्वैतवादी थे तथा ज्ञानमार्गी होकर भी वे भक्ति-प्रधान थे। उन्होने मायावाद का खण्डन करते हुए ब्रह्मवाद का मण्डन किया। उनके समकालीन चैतन्य महाप्रभु ने अचिन्त्य भेदाभेद-सिद्धान्त में कहा कि भेद और अभेद विचार से परे हैं। चैतन्य महाप्रभु प्रख्यात भक्त हुए हैं। यदि इन सभी सिद्धान्तो को एक ही चित्र मे जडा जाय, एक साथ ही इन पर चिन्तन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि ये परस्पर-विरोधी नही हैं और अपनी अपनी व्याख्या के द्वारा परस्पर पूरक हैं। इनमें एक ही वृक्ष से निकली हुई शाखाओ की भाँति भेद तो हैं, किन्तु विरोध नही है। इन सभी महान् आचार्यों मे एक समानता यह है कि सभी ने भक्ति पर बल दिया है। स्वय शङ्कराचार्य ने भक्तिभाव मे ओतप्रोत होकर शिव, दुर्गा आदि की भक्ति में श्रेष्ठ स्तोत्रो की रचना की है। वेदो में भी ज्ञान और भक्ति का सम्मिश्रण अनेक स्थलो पर देखा जा सकता है। सन्त ज्ञानेश्वर की गीता की टीका में भी तत्त्वज्ञान के साथ भक्ति का पुट है। (सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने अग्रज सन्त निवृत्तिनाथ को गुरु मानकर ओवी छन्द में गीता का प्रवचन मात्र पन्द्रह वर्ष की आयु में किया तथा २१ वर्ष की आयु मे समाधि-अवस्था में प्राण-त्याग किया। 'ज्ञानेश्वरी' टीका में एक विचित्र उपमा-सागर है, जिसकी तुलना संसार के साहित्य मे कही भी करना सभव नही है। गीता की यह सरस और स्पष्ट व्याख्या अनुपम है।) जनश्रुति में उक्त सभी आचार्यों के विचार इतने मिल-जुल गये हैं कि उन्हे पृथक् नही किया जा सकता। कट्टर सम्प्रदायवादियों को छोड़कर विद्वान् लोग सभी आचार्यों की वातो को मिला जुलाकर तत्त्व चर्चा करते है। महान् समन्वयवादी सत तुलसीदास इसके उदाहरण है। परमात्मा का ग्रहण आत्मा, बुद्धि और इन्द्रिय आदि सभी स्तरो पर किया जाता है। यदि तत्त्व को जानना ज्ञान है तो उसे मानना भक्ति है। मानने का अर्थ है भावात्मक नाता स्थापित करना। ज्ञान बोध कराता है तथा भक्ति अनुभूति कराती है।

यद्यपि परमात्मा तो एक है, तत्त्वार्थ की विवेचना एव व्याख्या के लिए उसका अनेक प्रकार वर्णन किया जाता है—निरुपाधि, सोपाधि, निर्गुण, सगुण इत्यादि। वास्तव मे सूक्ष्म चित्त-वृत्ति से उसकी अनुभूति होती है, प्रवचन करने या समझने से नही। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। —कठ उप०। वह एक ही अनेक है तथा अनेक मे वह एक है। विभिन्नता मात्र प्रतीति है, वास्तविक नही है। अन्तिम सत्य तो केवल एक ही हो सकता है। त्रैत और द्वैत में भी वही अद्वैत है। साधना हमे त्रैत और द्वैत से अद्वैत तक ले जाती है। वाद तो विवाद उत्पन्न करते हैं, अनुभूति-पथ का गन्तव्य एक ही है। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है—यही तात्त्विक दृष्टि है। (ज्ञान की पूर्णता मे, ध्यान की गहनता मे, कर्म की विलीनता में अथवा भक्ति की प्रगाढता में त्रैत और द्वैत के विलुप्त होने पर अद्वैत सिद्ध हो जाता है। दर्पण के सामने आने पर बिम्ब तथा प्रतिबिम्बरूप द्वैत की प्रतीति होती है, किन्तु उसके हटाने पर प्रतिबिम्ब बिम्ब में समा जाता है और हमें अपने भीतर अपने स्वरूप का दर्शन, प्रतिबिम्ब का मिथ्यात्व और अद्वैत की सिद्धि स्पष्ट हो जाती है। विभिन्नता में एकता तो एक परमात्मा की ही है। 'कहियत भिन्न न भिन्न।' वह भिन्न भी है और अभिन्न भी।) सागर का जल मेघ बनकर बरसता है तथा सरिता बनकर सागर में जा मिलता है। व्यापक और व्याप्य, द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं। अन्त में बिम्ब भी वही, प्रतिबिम्ब भी वही, ज्ञाता भी वही, ज्ञेय भी वही। जलाशय में जल सूख जाने पर वृक्ष के प्रतिबिम्ब का लोप हो जाता है। दृष्टि-दोष होने पर एक ही चन्द्र दो प्रतीत होने लगता है तथा दृष्टि-दोष दूर होने पर वह एक ही रह

जाता है। द्वैत-त्रैत से परे आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति एक-सी होती है। त्रैतवादी और द्वैतवादी भीतर एक अद्वैत-तत्त्व की ही अनुभूति करते है। साधारण स्तर पर गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, मित्र-मित्र, पति-पत्नी भिन्न होते हुए भी प्रेम की चरमावस्था के क्षणो में भिन्नता से परे अभिन्नता, द्वैत से परे अद्वैत की अनुभूति अपने भीतर ही करते हैं। वही पूर्णता एव कृतार्थता होती है।

शङ्कराचार्य के मायावादात्मक अद्वैत, निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत, रामानुजाचार्य के जगत् को सत्य माननेवाले तथा भागवत-धर्म के प्रतिपादक विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य के द्वैत, वल्लभाचार्य के भक्तिपरक शुद्धाद्वैत आदि की विवेचना करते हुए तिलकजी कहते हैं—"इसमे सन्देह नही है कि भिन्न-भिन्न भाष्यो के आचार्य बड़े विद्वान्, धार्मिक और सुशील थे। यदि यह कहा जाय कि शङ्कराचार्य के समान महातत्त्व-ज्ञानी आज तक ससार मे कोई नही हुआ है तो भी अतिशयोक्ति न होगी।" तथा "तात्पर्य-निर्णय के लिए साम्प्रदायिक दृष्टि सदोष है।" वास्तव मे, हमे वादो के विवाद में न पड़कर सबका रस लेना चाहिए।

(गीता की वाणी ने अनेक भाषाओ के माध्यम से यात्रा करके विश्व के विद्वानो को प्रभावित किया है। गीता का प्रभाव बौद्धो के महायान ग्रन्थो मे भी झलकता है। बुखारा के अत्यन्त गुणग्राहक राजकुमार अलबेरूनी को बन्दी के रूप मे आक्रमण के समय महमूद गजनवी भारत मे लाया था। उसने आक्रमण-काल मे किसी प्रकार सस्कृत सीखकर अपनी पुस्तक मे गीता की अत्यधिक प्रशसा की। शेख अबुल रहमान चिश्ती ने गीता का अनुवाद फारसी मे किया। ज्ञान के पिपासु सम्राट् अकबर ने प्रकाण्ड विद्वान् अबुल फैजी से गीता का अनुवाद फारसी भाषा मे कराया तथा सम्राट् शाहजहाँ के विद्वान् पुत्र दाराशिकोह ने इस अनूदित ग्रन्थ की भूमिका लिखकर इसका शीर्षक 'सरे अकबर' किया और अपनी भूमिका मे गीता की अद्भुत प्रशसा करते हुए लिखा कि 'प्लेटो के गुरु पर भी गीता का अत्यधिक प्रभाव था तथा इससे व्यास की महानता का अनुमान किया जा सकता है।' धन्य है महान् दाराशिकोह की गुण-ग्राहकता और उदारता।)

(भारत मे ईस्ट इडिया कम्पनी के अग्रेजी प्रशासको ने अपनी न्यायिक एव प्रशासनिक सुविधा के लिए एक अग्रेज विद्वान् अधिकारी चार्ल्स विल्किन्स से गीता का अग्रेजी मे अनुवाद (सन् १७८५ मे) कराया। यह एक क्रातिकारी घटना थी, जिसने यूरोप के विचार-जगत् मे उथल पुथल मचा दी। विल्किन्स ने अत्यधिक कठिनाई से सस्कृत का अध्ययन किया था। विल्किन्स के अग्रेजी अनुवाद को पढकर तत्का-लीन गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने गीता की प्रशसा करते हुए कहा कि गीता का उपदेश किसी भी जाति को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने मे अद्वितीय है। इस अनुवाद से ही यूरोप मे गीता की अमर-वाणी का सर्वप्रथम परिचय हुआ। (विल्किन्स ने १७८७ मे हितोपदेश और १७९५ मे महाभारत के एक अश 'शाकुन्तलोपाख्यान' का अनुवाद करके उन्हे प्रकाशित किया तथा १८०८ मे स्वय देवनागरी टाइप तैयार करके देवनागरी लिपि मे सस्कृत व्याकरण प्रकाशित करके सस्कृत-प्रचार किया।) विल्किन्स के इस अनुवाद के आधार पर फ्रेंच विद्वान् डुपरो ने दो वर्ष बाद ही फ्रेच मे गीता का अनुवाद कर दिया। गीता तथा सस्कृत के वैभव के प्रचार मे अद्वितीय योगदान का श्रेय सर विलियम जोन्स को है, जो १७८३ मे कलकत्ता हाईकोर्ट के जज होकर आये। उन्होने कलकत्ता के विद्वान् पडित रामलोचन से उनके कठोर आदेश (गगाजल से कक्ष को धुलवाना इत्यादि) पालन करके सस्कृत सीखी, 'एशियाटिक सोसाइटी, बगाल' की स्थापना की, कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् का अनुवाद किया, जिसके जर्मन

कवि फोर्स्टर द्वारा किये हुए जर्मन रूपान्तर को पढकर जर्मनी का महाकवि गेटे झूम उठा था, मनुस्मृति का अग्रेजी अनुवाद करके १७९४ मे प्रकाशित किया, जिसका यूरोप की अनेक भाषाओ मे अनुवाद हुआ और प्रख्यात जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने उसकी असाधारण सराहना की। विलियम जोन्स ही भाषा-विज्ञान के जनक हैं, जिससे यह ज्ञात हुआ कि सस्कृत का ग्रीक और लैटिन, जर्मन, कैल्टिक और फारसी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विद्वान् के पश्चात् सर हेनरी टामस कोलब्रूक (१७६५–१८३७) ने सस्कृत का असाधारण प्रचार किया तथा वेदो पर अपने विद्वत्तापूर्ण लेख द्वारा यूरोप मे वेदो के प्रचार का आरम्भ किया। कोलब्रुक गीता का प्रशसक था। इसके पश्चात् गीता के अनेक यूरोपीय भाषाओ मे अनुवाद होने लगे और अनेक यूरोपीय तथा अमेरिकी विद्वानो ने गीता की महिमा मुक्तकण्ठ से गायी। जर्मनी के महाकवि आगस्ट विल्हेम श्लेगल ने सन् १८२३ मे गीता का जर्मन तथा लैटिन मे अनुवाद किया। जर्मन दार्शनिक कान्ट, उनके प्रशसक शॉपेनहावर तथा हीगल, गीता के प्रशसक थे। जर्मन विद्वान् हम्बोल्ट ने गीता पढकर अपना जीवन कृतार्थ समझा तथा इसे एकमात्र उत्तम दर्शन-काव्य की सज्ञा दी। जर्मन विद्वान् एफ० ए० श्रेडर ने भी गीता का अनुवाद किया। जर्मन विद्वान् विन्टरनित्स, पालडासन और मेक्समूलर ने वैदिक साहित्य तथा गीता आदि की महिमा के प्रचार मे असाधारण योगदान किया है। जर्मन विद्वान् वाल्टर शू ब्रिग ने गीता की विशेष प्रशसा की। अग्रेज कवि सर एडविन आरनोल्ड के गीता के प्रसिद्ध अनुवाद 'दिव्य सगीत' (सन् १८८५) को लन्दन मे पढकर ही गाधीजी को गीता का प्रथम परिचय हुआ था। अग्रेज कवि कार्लायल गीता के उपासक थे। प्रख्यात अमेरिकन सन्त लेखक थारो, जिनसे गाधीजी ने भी प्रेरणा ली, गीता के अनन्य उपासक थे तथा थारो के भक्त महान् अमेरिकन लेखक राल्फ वाल्डो एमरसन भी गीता के परम प्रशसक थे।[१] अमेरिकन न्यायाधीश लेखक विन्थ्रोप सार्जेन्ट ने, जो भारत भी आये थे, गीता का सरस अनुवाद किया है। आयरिश कवि जी० डब्लू० रसल ने गीता की बहुत प्रशसा की है। टी० एस० इलियट ने गीता को 'मानव-वाड्मय की मूल्यवान् निधि' कहा है। सस्कृतज्ञ सर जान वुडरफ गीता के भक्त थे। फरक्यूहर गीता को अनुपम कहते थे। श्री ब्रुक्स ने गीता-तत्त्व को मानव-जाति के उज्ज्वल भविष्य-निर्माता के रूप मे देखा। एल० डी० बार्नेट तथा एनी बीसेन्ट ने अपने-अपने अनुवाद १९०५ मे प्रकाशित किये तथा डब्लु० डगलस पी० हिल ने १९२८ मे और फ्रेंकलिन ऐडजर्टन ने १९४४ मे तथा क्रिस्टोफर ईशरवुड ने १९४५ मे गीता के अनुवाद प्रकाशित किये। केमेथ सेन्डर्स, जे० सी० टामसन इत्यादि के भी अनेक अनुवाद हो चुके है, जिनकी गणना करना कठिन है। प्रख्यात अग्रेज विद्वान् एल्डुअस हक्सले की गीता पर यह टिप्पणी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि "गीता शाश्वत दर्शन के सबसे अधिक स्पष्ट और

---

१ "In the morning I bathe my intellect in the stupendous & corsmogonal philosophy of the Bhagwad Gita, in comparison with which our modern world & its literature seem puny and trivial"

—Henry David Thoreau

"I owed a magnificent debt to the Bhagwad Gita It was the first of books, it was as if an empire spoke to us, nothing small or unworthy, but large, serene, consistent, the voice of an old intelligence which in another age & climate had pondered & thus disposed of the same questions which exercise us."

—Ralph Waldo Emerson.

विशद सक्षेपो मे से एक है गीता शाश्वत दर्शन का सर्वाधिक क्रमबद्ध आध्यात्मिक कथन है।"[1] फ्रेजर, मेकनिकल इत्यादि विदेशी विद्वानो ने गीता की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है।)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने महान् ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश' की भूमिका मे यह सकेत किया है कि उन्हे गीता से प्रेरणा मिली। वे कहते हैं, "यह बडा दृढ निश्चय है—**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्** ( अन्वय )। यह गीता का ( १८ ३७ ) वचन है। इसका अभिप्राय यह है कि जो-जो विद्या और धर्म-प्राप्ति के कर्म हैं वे प्रथम करने मे विष के तुल्य और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं। ऐसी बातो को चित्त मे धरकर मैंने इस ग्रन्थ को रचा है।"

(गीता की गूढता, समग्रता और व्यापक प्रभावोत्पादकता ऐसी है कि भारत के स्वतत्रता आन्दोलन मे एक ओर उग्रवादी महात्मा तिलक और ला० लाजपतराय तथा रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह इत्यादि क्रातिकारियो ने और तेजस्वी सुभाषचन्द्र बोस ने तथा दूसरी ओर अहिंसावादी महात्मा गाधी ने गीता से प्रेरणा ली है। श्री तिलक ने कारागार मे अद्वैतपरक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ 'गीता-रहस्य' लिखा। श्री अरविन्द अध्यात्मवाद से ऐसे प्रभावित थे कि मानसिक स्तर के उच्च होने पर तथा रुचि-परिष्कार होने पर उन्होने योग-साधना प्रारम्भ कर दी और अपने साधना-काल मे गीता पर अत्युत्तम टीका लिख दी। श्री जवाहरलाल नेहरू ने कारागार में लिखे हुए अपने ग्रन्थ 'भारत की खोज' मे गीता की प्रचुर प्रशसा की। सत विनोबा भावे ने कारागार मे ही गीता-प्रवचन का प्रणयन किया। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति, अद्भुत अध्येता एव प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० राधाकृष्णन् ने गीता की अद्वैतपरक, विद्वत्तापूर्ण एव समन्वयात्मक टीका लिखी है। श्री जयदयाल गोयन्दका की तत्त्वविवेचनी टीका विस्तारसहित तात्त्विक टीका है। राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने गीता के सम्बन्ध मे अधिकतर कारागार मे ही लिखा है। उन्होने गीता-माता, अनासक्तियोग, गीताबोध, गीता पदार्थ कोश, गीता की महिमा इत्यादि लिखे हैं।)

(महात्मा गाधी गीता के अनन्य उपासक थे। उन्होने विविध स्थलो पर विविध प्रकार से गीता की महिमा का गान किया है। 'यग इडिया' मे उन्होने कहा—"जब निराशा मेरे सामने आ खडी होती है और अकेला पडने पर मुझे आशा की एक भी किरण नही दिखाई देती, मैं भगवद्गीता के पास लौटकर जाता हूँ। मुझे कोई श्लोक यहाँ कोई वहाँ दीख जाता है और मैं तुरन्त घोर सकटो के बीच भी मुस्कराने लगता हूँ—मेरा जीवन बाह्य सकटो से भरा रहा है—और यदि उन सकटो ने मुझ पर कोई दृश्यमान, अमिट चिह्न नही छोडा है, तो इसका कारण भगवद्गीता की शिक्षाएँ ही हैं।" "वह हमारी सद्गुरुरूप है, मातारूप है और हमे विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोद मे सिर रखकर हम सही-सलामत पार हो जायेंगे। ऐसी एक भी धर्म की उलझन नही है, जिसे गीता न सुलझा सकती हो।" "आज गीता मेरी बाइबिल और कुरान ही नही है, बल्कि इससे बढकर भी कुछ और है—यह मेरी माता है।" शङ्कराचार्य ने भी गीता को माता ही कहा था, '**अम्ब ! त्वां अनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।**" गाधीजी ने यह भी कहा—"गीता मेरा आध्यात्मिक कोष है, क्योकि इसने मेरी विपत्ति मे कभी धोखा नही

---

१ 'The Gita is one of the clearest and most comprehensive summaries of the perennial philosophy ever to have been made Hence its enduring value, not only for Indians, but for all mankind The Bhagwad Gita is perhaps the most systematic spiritual statement of the Perennial Philosophy'

—**Aldous Huxley**

दिया।" गाधीजी रामायण और महाभारत को ऐतिहासिक ग्रन्थ नही, बल्कि उससे भी अधिक श्रद्धेय धार्मिक ग्रन्थ मानते थे। उन्होने लिखा है, "महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है, पर हमारे मत मे महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रन्थ नही हैं, बल्कि धर्मग्रन्थ हैं।" महात्मा गाधी उन्हे प्रतीकात्मक भी मानते थे तथा उनकी मान्यता थी कि महाभारत युद्ध का पाठ नही सिखाता, युद्ध के दोष बताकर शान्ति का पाठ सिखाता है। सस्कृत के महान् ग्रन्थ ध्वन्यालोक के प्रणेता आनन्दवर्धनाचार्य के मत मे भी महाभारत का प्रधान रस शान्त रस है और (महाभारत मे) चारो पुरुषार्थों मे मोक्षरूप पुरुषार्थ मुख्य है।)

महात्मा गाधी के मत मे गीता का सार अनासक्ति एवं अहिंसा है तथा अहिंसा से अनासक्ति और अनासक्ति से सत्य की प्राप्ति होती है। अहिंसा के सम्बन्ध मे उन्होने कहा, "अपने जीवन मे चालीस वर्ष गीता की शिक्षाओ को दृढतापूर्वक उतारने के प्रयत्न के बाद मैंने विनम्र भाव से अनुभव किया है कि प्रत्येक रूप मे अहिंसा के पूर्ण पालन के विना पूर्ण त्याग असम्भव है।" गाधीजी ने गीता से अनासक्ति और अहिंसा का पाठ पढा, सीखा, माना और उसे जीवन मे उतार लिया। गीता का ज्ञान तो अनेक टीकाकार, प्रवचनकर्ता विद्वानो को होता है, किन्तु किसी सिद्धान्त का जानना मनुष्य को महान् नही बनाता, बल्कि उसे मानना अर्थात् जीवन मे उतारना, दृढता से आचरण करना, मनुष्य को महान् बनाता है। गाधीजी की अनासक्ति केवल व्यक्तियो और वस्तुओ के प्रति ही नहीं थी, उन्हे अपने सुख-सुविधा तथा यश और कीर्ति मे भी आसक्ति नही थी। उन्हे अपमान, अपकीर्ति, तिरस्कार, कारागार, यातना एव यत्रणा का भी भय नही रहा। (लोग क्या कहेगे?—गाधीजी के लिए यह प्रश्न नही था, प्रश्न था—मेरा सिद्धान्त क्या कहता है?) इसीलिए उन्हे रवीन्द्रनाथ ठाकुर का गीत, एकला चलो रे प्रिय था तथा जब वह अकेले चलते थे, उनके पीछे युग चलता था। आन्तरिक दृढतासहित गीतोक्त सिद्धान्तो के मानने से गाधी राष्ट्र पुरुष हो गये।

डॉ० राधाकृष्णन् ने अपनी विद्वत्तापूर्ण गीता की टीका गांधीजी को समर्पण करके मानो यही सिद्ध किया है कि गाधीजी का जीवन गीता का एक सुन्दर भाष्य है, क्योकि गीता मात्र प्रवचन का विषय नही है, आचरण का विषय है।

इस सन्दर्भ मे यह बताना आवश्यक है कि गाधीजी हिंसा की अपेक्षा अहिंसा को और कायरता की अपेक्षा हिंसा को अधिक महत्त्व देते थे। जो व्यक्ति अपने जीवन मे पूर्ण अहिंसक हो चुका हो, उसे अपने विषय में प्रत्येक स्थिति में अहिंसा का पालन करना चाहिए, किन्तु जो अभी इतना ऊँचा न उठा हो, उसे हिंसा के वदले में कायरता की अपेक्षा वीरतापूर्ण हिंसा को अपनाना चाहिए। वास्तव में, हिंसा और अहिंसा से भी ऊपर स्वधर्म है, अपना कर्तव्य है। अन्याय के विरुद्ध युद्ध करना अर्जुन का स्वधर्म था, कर्तव्य था। कश्मीर में पाकिस्तानी आक्रामको के घुसकर आक्रमण करने पर गांधीजी ने सरकार को वीरतापूर्ण हिंसा अपनाने की सलाह दी। उन्होने दक्षिण अफ्रीका मे एक घर में भयकर सर्प देखकर उस घर में रहनेवालो के हित में तथा उनके विचार-स्तर के अनुरूप उसे मारने की सलाह दी तथा वे विचलित न हुए। जब मनुष्य आसक्तिरहित होकर निष्कामभाव से अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कर्म करता है, तब वह निर्दोष होता है।

(गाधीजी के आध्यात्मिक जीवन मे निरन्तर विकास होता रहा और विकास के साथ ही उनके विचार भी बदलते रहे। १५ अक्तूबर १९२५ को गाधीजी ने हिंसा की चर्चा करते हुए यह भी लिखा—

"किन्तु उस समय मुझे जीवस्फुरणा[1] नही हुई थी। इससे पूर्व मैं मासाहार कर चुका था। मैं मानता था कि सर्पादि का नाश करना धर्म है। मुझे याद आता है कि मैंने खटमल इत्यादि जीव मारे है। मुझे तो यह भी याद आता है कि मैंने एक विच्छू को भी मारा था। आज यह समझता हूँ कि ऐसे विषैले जीवो को भी न मारना चाहिए।"

इसी सन्दर्भ में यह कहना असगत नही है कि जब यह समझ मे न आ रहा हो कि क्या उचित है और क्या अनुचित तथा क्या कर्तव्य है, तब अन्तरात्मा की ध्वनि मार्गदर्शन करा देती है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल राग-द्वेपरहित निर्मल मन की ध्वनि ही दैवी ध्वनि होती है तथा जिसका मन राग द्वेप से दूषित है, जिसकी अन्तरात्मा पर मोह का पर्दा पडा हुआ है, जिसके मन में वस्तुओ और व्यक्तियो के प्रति आसक्ति है, जिसे मान-अपमान और सुख-दुख का भाव सताता है, जिसके मन में लोभ और घृणा व्याप्त है, उसे अन्तरात्मा की ध्वनि बहुत कठिनाई से सुनाई देती है तथा वह कुतर्क से ही अपने दोषमय आचरण को ठीक सिद्ध करता रहता है। गाधीजी बडी-बडी भूलें भी करते थे, किन्तु वह उन्हे डके की चोट से भूल के रूप मे स्वीकार भी करते थे। अनासक्त व्यक्ति ही तो निर्भय हो सकता है।

गीता मे ज्ञान की चर्चा है। परमतत्त्व क्या है? वास्तव मे जिस परमब्रह्म को वेद-उपनिषद, मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अवर्णनीय, अज, अविनाशी, अनादि, अनन्त, निरजन, तेजोमय, ज्योतिस्वरूप बताकर भी, 'नेति-नेति' कहकर उसके विषय मे कुछ निश्चित बताने मे स्पष्ट सकोच करते हो, उसका वर्णन कौन, कैसे करे? आत्मा और परमात्मा अनुभव का विषय है। तत् त्वं असि, अहं ब्रह्मास्मि—वह परमब्रह्म तू स्वय है, वह मैं ही हूँ—यह अनुभूति मनुष्य की आध्यात्मिक उपलब्धि पर निर्भर है। गीता मे उसे चराचर जगत् के बाहर और भीतर परिपूर्ण, सूक्ष्मता के कारण अविज्ञेय, न जाना जाने के योग्य, अन्तर्यामी होने के कारण निकट और अज्ञान के कारण दूर, अविभक्त, सब मे अवस्थित, सबका जन्मदाता, पालनकर्ता और सहर्ता, ज्योतियो की भी परमज्योति कहा गया है, किंतु वह बोधगम्य है, तत्त्वज्ञान से समझ मे आनेवाला है (गीता, १३ १५, १६, १७), साक्षीभूत उपद्रष्टा है। दृश्यमान जगत् माया का कार्य अथवा रचना होने के कारण नाशवान् अर्थात् असत् एव अनित्य है, परमात्मा नित्य, शाश्वत, सनातन है और जीवात्मा उसका अशभूत है (गीता, १५ ७)। ईश्वर सबके हृद्देश मे विराजमान है (गीता, १८ ६१)। परमात्मा का अशस्वरूप आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वगत, अचल, स्थिर, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य है (गीता, २ २४, २५) तथा समस्त द्वैत से परे है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमब्रह्म समस्त गति का कारण, समस्त कारणो का भी कारण है, सत्, चित्, आनन्द है, अकल्पनीय दिव्य शक्ति है। जो इस सृष्टि को उत्पन्न करता है, पोषण और सहार करता है, उसे ही ईश्वर अथवा भगवान् कहते हैं। ईश्वर की दैवी योजना है। उसकी दो शक्तियाँ हैं—परा, जो जगत् के चेतन-तत्त्व मे अन्तर्निहित है, अपरा, जो जड भौतिक पदार्थ की रचना करती है। अन्तिम अथवा वास्तविक अनादि, अनन्त शक्ति तो एक ही परब्रह्म है। सृष्टि के उत्पन्नकर्ता, पालनकर्ता, सहर्तास्वरूप ईश्वर की शक्ति प्रकृति को तथा उसके अशभूत जीवो को भी परमब्रह्म से उत्पन्न होने की दृष्टि से कही-कही अनादि कहा जाता है। यद्यपि परमब्रह्म अकर्ता है, कुछ नही करता, तथापि वही अपरिवर्तनीय शाश्वत परमब्रह्म समस्त विकास और विनाशरूपी परिवर्तन एव गतिमयता का मूलाधार है। यदि हम परमसूक्ष्म दृष्टि से अनुभव करें, तो जगत् असत् है, मिथ्या है और केवल परमब्रह्म ही सत् है। जब हम

---

[1] जीवस्फुरणा का अर्थ प्राणियो में जीवन का आभास अथवा जीवन की प्रतिष्ठा का आभास है।

शुद्ध परमब्रह्म की कल्पना सृष्टि के रचयिता, पालक, विनाशक के रूप में करते हैं, उसे सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहते हैं, जो अपनी मायारूपी शक्ति से सृष्टि का सचालन करता है। माया प्रकाश पर आवरण डाल देती है। हमारे भीतर परमब्रह्म का अशस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्व भी माया से लिपटकर ससार और देह के नाते जीव अथवा जीवात्मा कहलाता है, जो मोक्ष का प्रयत्न करता है। यह कर्ता-भोक्ता बन जाता है। शुद्ध जल धूल-मिट्टी से मिलकर मलिन ( गन्दा ) हो जाता है।

**भूमि परत भा ढाबर पानी, जनु जीवहि माया लपटानी।**

वास्तव में जीव के लिए परमात्मा भी माया के पर्दे मे लिपटा हुआ ही प्रतीत होता है। माया का पर्दा हटते ही आत्मा मे परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। माया जो ईश्वर की ही एक शक्ति है, भ्रम, भेद और अज्ञान एव मोह उत्पन्न करके जीवात्मा पर पर्दा डाल देती है। भौतिक जड पदार्थ प्रकृति के अन्तर्गत होते हैं। प्रकृति के अस्तित्व का आधार भी वही एक परमब्रह्म है। अस्तित्वमान जगत् मानो सत् और मायाजनित असत् का एक मिश्रण है, जिसके भीतर और पीछे परमसत् परमात्मा है। प्रकृति परमात्मा मे ही विलीनता द्वारा पूर्णता को प्राप्त होती है।

सोद्देश्य सृष्टि मे असत् जड पदार्थ का अपना महत्त्व है। निरन्तर गति एवं परिवर्तन से सृष्टि विकास-प्रक्रिया द्वारा किसी अज्ञेय पूर्णता की ओर बढ रही है। असत् का आधार सत् अर्थात् चैतन्य है तथा परमब्रह्म परमसत् है। अतएव अद्वैत, सर्वं इदं खलु ब्रह्म, सब कुछ अन्त मे ब्रह्म है, सिद्ध हो जाता है। गीता भी इसीकी समर्थक है। गीता मे सांख्य-दर्शन के प्रकृति और पुरुष के पीछे एक परमपुरुष है, परमब्रह्म है। इस प्रकार गीता महर्षि कपिल के साख्य मे सशोधन करती है तथा उनके द्वैतवाद को अद्वैतवाद के रूप मे स्वीकार करती है। असत् का अस्तित्व ही सत् की ओर ले जाता है। **असत्येन सत्यमीहते।** असत्य सत्य की ओर, अपूर्णता पूर्णता की ओर ले जा रही है—यही सृष्टि के विकास की प्रक्रिया है। प्रकृति एवं सारे जीव-जगत् का ईश्वर की मायारूपी सृजन-शक्ति के द्वारा क्रमिक विकास हो रहा है, जो अतिमन्द प्रतीत होकर भी सुस्पष्ट एव असदिग्ध है। मानव के स्वभाव और बुद्धि मे भी गति एवं परिवर्तन द्वारा विकास की अनन्त सभावनाएँ छिपी पड़ी हैं तथा गीता इस आशावाद की ओर इगित करती है। ऐसे विकास के लिए सघर्ष करने मे मानव-जीवन की सार्थकता है। माया एव उससे उत्पन्न मोह एव भेद-भ्रमरूपी आवरण के पीछे छिपा हुआ मानो समस्त शक्ति एवं विकास का स्रोत ही परम सत्, परम ब्रह्म है। यही तत्त्वज्ञान का सार है। अपने परम गन्तव्य, परम प्राप्तव्य, परम लक्ष्य की ओर आत्मचेतना मे बढते हुए हम समग्र विकास कर सकते हैं। हमें अपनी ओर सहज भाव से आकर्षित करनेवाला परम स्रोत, परम ब्रह्म 'कृष्ण' है। माया अत्यन्त प्रबल होती है, जिसे पार करना कठिन होता है। '**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।**' ( गीता, ७ १४ )। माया ही मनुष्य को मोह के द्वारा जजाल मे फाँस देती है।

**'ईश्वर अंस जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी।**
**सो माया बस भयउ गोसाइँ, बन्ध्यो कीर मरकट की नाइँ॥'**

ईश्वर अविनाशी और अजन्मा तथा सब जीवो के प्राण का आधार होने पर भी अपनी मायारूपी शक्ति से ही वस्तुओ और व्यक्तियो मे प्रकट होता है ( गीता, ४ ६ )। प्रकृति के विकास मे ईश्वर का ही प्रकटन अथवा प्रस्फुटन होता है। सृजन की प्रक्रिया मे प्रकृति अथवा भौतिक तत्त्व में **योगमाया** का निम्न रूप तथा जीवो की चेतना मे उसका उच्च रूप होता है। प्राय माया का अर्थ वह आवरण होता है, जो

जीवात्मा को ईश्वर से दूर कर देता है और योगमाया का अर्थ ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति होता है। मायामुक्त जीव ब्रह्म का अश होता है। **'नाहं देहो न मे देहो केवलोऽहं सनातनः'** अर्थात् न मैं देह हूँ और न मेरा शरीर से सम्बन्ध है, मैं तो सनातन ब्रह्म हूँ—**अहं ब्रह्मास्मि**। अज्ञ मनुष्य देह को 'मैं' मानकर कहता है—मैं देह हूँ—**देहोऽस्मि**। ब्रह्मवादी व्यक्ति सृष्टि के पीछे उसके सचालक परमब्रह्म को अन्तिम अथवा वास्तविक सत् मानता है, ससारी मनुष्य ससार को ही वास्तविक सत् मानता है। सत् और असत् का भेद करना ही विवेक है। जब सुग्रीव के आदेश पर हनुमान् वटुक के रूप मे सर्वप्रथम श्री रामचन्द्र के पास गये तो उन्होंने आत्म-परिचय मे कहा—देह की दृष्टि से तो मैं आपका ( तथा सुग्रीव का ) दास हूँ, जीवात्मा के रूप में मैं माया से लिपटा हुआ आपका ही अशभूत हूँ, किन्तु परमब्रह्म और विशुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि से तो मैं और आप एक ही हैं ( **अहं ब्रह्मास्मि, देहबुद्ध्या तु दासोऽहं, जीवबुद्ध्या त्वदंशक.। आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मेनिश्चिता मतिः॥** )—देह, मन और बुद्धि के आधार पर कहा हुआ 'मैं' आत्मा का प्रतिबिम्बित अथवा आत्मा से माँगा हुआ 'मैं' है, क्योंकि वास्तविक 'मैं' तो आत्मा है। बुद्धि आत्मा से माँगी हुई चेतना की सहायता से सचेतन होकर सोचती, तर्क करती है। **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**। उस दिव्य ज्योति के प्रकाश से ही यह सब चमकता है। बुद्धि मिथ्या अह का अनुभव करती है। बुद्धि के सात्त्विक होते ही मिथ्या अह नष्ट हो जाता है। बुद्धि के सात्त्विक हो जाने पर उसे आत्मतत्त्व का बोध हो जाता है, किन्तु आत्मा स्वय अपना साक्षात्कार करता है, जिसका दिव्य प्रभाव देह और बुद्धि पर भी होता है। वह मूकस्वादनवत् होता है। शरीरधारी का रूप तथा नाम होता है, किन्तु आत्मा का नाम और रूप नही होता।

(सृष्टि मे जड और चेतन, असत् और सत्, अज्ञान और ज्ञान, दोष और गुण, बुराई और भलाई, दु:ख और सुख का, अधकार और प्रकाश की भाँति, एक सन्तुलन बना रहता है। इनके सम्मिश्रण मे ही सघर्ष और प्रगति का रहस्य छिपा पडा है। दोष और दु ख होने के कारण ही आत्यन्तिक सुख, अखण्ड आनन्द की खोज की जाती है। उसके लिए प्रयत्न, साधना अथवा तप किया जाता है। विवेकशील मनुष्य नीर-क्षीर-विवेकी हस की भाँति सघर्ष द्वारा दोष छोडकर गुण ग्रहण करते हुए आन्तरिक प्रगति करता रहता है।)

**जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार।**
**सत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥**

विकास के क्रम मे मनुष्य अन्य जीवो से आगे है। अन्नमय कोष ( स्थूल शरीर, भौतिक पदार्थ, जो अन्न के रस से वृद्धि को प्राप्न होता है ), प्राणमय कोष ( पाँच वायुओ से मिलकर प्राण एव जीवन ), मनोमय कोष ( मन, अहकार तथा ज्ञानेन्द्रियाँ ) अन्य जीवो मे भी होते हैं। विज्ञानमय कोष ( बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर ) तथा आनन्दमय कोष ( कारण शरीर मे स्थित तथा प्रमोद प्रफुल्ल भावो से युक्त ) मनुष्य की विशेषता है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष से सूक्ष्म शरीर बनता है। स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर का कारण—मात्र कारण शरीर होता है। आत्मा इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनो शरीरो से परे अर्थात् पाँचो कोषो से परे होता है, जो सर्वाधार है, किन्तु अविद्या अथवा माया के आवरण अथवा माया के प्रभाव से जीवात्मा कहलाता है, जैसे सृष्टि के सन्दर्भ में परमब्रह्म माया से युक्त होने पर ईश्वर कहलाता है। आत्मा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का साक्षी होता है। स्वप्नरहित सुषुप्ति ( प्रगाढ निद्रा ) के बाद भी मनुष्य कहता है—मैं बहुत सोया। शून्य मानने पर यह प्रश्न अनुत्तरित

रहता है कि यह अनुभव किसे हुआ। बुद्धि मे आत्मा का प्रतिबिम्बित अथवा बुद्धि द्वारा आत्मा से माँगा हुआ मिथ्या 'मैं' ऐसा कहता है। आत्मा तो तटस्थ साक्षी रहता है। आत्मा ही मृतक और जीवित का विभेद करता है, वही समस्त चेतना, जीवन एवं गति का वास्तविक आधार होता है। ब्रह्म ही अन्तर्तम सत् है, ज्योति है, जो आत्मा के रूप मे मनुष्य के भीतर है।

मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ ( बहिर्जगत् को देखनेवाले नेत्र, ध्वनि सुननेवाले श्रोत्र, सूँघनेवाली नासिका, रस लेनेवाली जिह्वा और शीत-उष्ण का अनुभव करनेवाली त्वचा ) बहिर्मुखी हैं तथा ससार मे अपने आकर्षणो, अपने विषयो, की ओर प्रलुब्ध होकर मन को उनके अधीन कर देती हैं। मन के भाव बुद्धि के तर्क को दबा देते है और मनुष्य मायाजनित संसार के भौतिक पदार्थों से चकाचौंध होकर, उन्हे सुख का कारण समझकर भटक जाता है। कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियो के अधीन होती हैं। यदि कर्मेन्द्रियाँ अध है तो ज्ञानेन्द्रियाँ पगु हैं। इनका अध-पगु सयोग होता है।

(मात्र भौतिक सुखो के चक्र मे फँसकर, उनके संग्रह और सचय मे जीवन की अनन्त शक्तियो को विनष्ट कर, मनुष्य राग-द्वेष, भय, चिन्ता, तनाव और अशाति मे दु:खी ही रहकर जीता और मरता है। वास्तव मे भौतिक स्तर के दु ख और सुख, दोनो ही मिथ्या हैं, आते-जाते है, अस्थायी हैं। अन्तर्मुखी होने पर, धीरे-धीरे माया के प्रभाव से मुक्त होने पर, मन के अनासक्त और बुद्धि के निर्मल होने पर तथा बुद्धि मे आत्मबोध की झलक होने पर, आनन्दस्वरूप आत्मा को ही अपने दर्शन की दिव्यानुभूति होती हैं और इस प्रक्रिया द्वारा अखण्ड आनन्द प्राप्त होने पर मानव-जीवन कृतार्थ हो जाता है। एक क्षण मे भीतर विराट् के ऐश्वर्य का ऐसा आनन्द प्राप्त हो सकता है कि वह कह उठे—'**का सत कलप जिये ?**' मनुष्य ज्यो-ज्यो इस आन्तरिक साधना मे आगे वढता है, उसे अपने भीतर अनन्त शक्ति के भण्डार का आभास होने के कारण एक उच्चस्तरीय सुरक्षा और सबलता का अनुभव होने लगता है, उसके चिन्तन और व्यवहार मे सहजता और सरलता आ जाती है, उसे बाह्य प्रलोभन नहीं सताते और वह लोक के सामने आत्मप्रतिष्ठा बिना गिराये हुए ही निर्भयता से सीधा खड़ा रह सकता है। वास्तव मे बाह्य बन्धनो एव प्रलोभनो से मन का मुक्त होना ही सच्ची मुक्ति है तथा स्वानुशासन और स्वनियत्रण से प्राप्त स्वाधीनता ही सच्ची स्वाधीनता है। इन्द्रियो तथा मन के सयमित होने पर ही बुद्धि स्वाधीन एव सन्तुलित रहकर स्वतत्र कार्य कर सकती है तथा उच्च चेतना के प्रकाश का लाभ उठा सकती है। गीता इसकी विधि का निर्देश करती है।

स्वाधीनता की चर्चा करते हुए अनेक प्रश्न उठते है। क्या मनुष्य स्वतत्र है ? क्या वह नियति का एक खिलौना ही है ? क्या सृष्टि सोद्देश्य है ? यदि सोद्देश्य है तो मनुष्य को क्या करना चाहिए ? गीता का इस विषय मे क्या मत है ? यह तो एक तथ्य है कि मनुष्य किस देश मे, किस परिस्थिति में उत्पन्न हो, उसके साथ क्या घटना घटित हो, उसके कर्म का क्या फल हो—यह सब उसकी शक्ति से परे है। एक पर्याप्त सीमा में परिस्थिति मनुष्य को विवश कर देती है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह नियति के हाथ में एक असहाय खिलौना है। यदि पूर्णतः ऐसा है तो ज्ञान, विधिनिषेधात्मक उपदेश, और कर्म का क्या महत्त्व है ? कृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान और उपदेश देकर जैसा उसे ठीक प्रतीत हो वैसा कर्म करने के लिए कहा, "यथेच्छसि तथा कुरु" ( गीता, १८ ६३ )। (मनुष्य भलाई और बुराई चुनने मे स्वतत्र है। यदि शरीर भी परतत्र हो तो मन की क्रिया मे, अपनी भावना मे, मनुष्य पर्याप्त स्वतत्र है। पाणिनि ऋषि ने 'कर्ता' का अर्थ 'स्वतत्र' ही किया है। वास्तव मे, मनुष्य

साधना द्वारा अपने मन को राग-द्वेषरहित एव नितान्त निर्मल करके तथा अपने भीतर हृदयस्थ ईश्वर के साथ समस्वर होकर, प्रतिकूल परिस्थिति मे भी स्वतत्र भावना अथवा कर्म करने के लिए अपने भीतर ही प्रकाश प्राप्त कर सकता है तथा वह प्रकृति का खिलौना न बनकर उसकी सोद्देश्यता में सहायक उपकरण बन सकता है। सृष्टि को पूर्णता की ओर ले जाना ही उसकी सोद्देश्यता है। मनुष्य अपने दोष स्वीकार न करके भाग्य और नियति को दोष देने से मिथ्या आत्म-सतुष्टि कर लेता है। अनेक क्षेत्रो में मनुष्य असहाय है, किन्तु जहाँ वह स्वतत्र है, वहाँ भी अपने को असहाय समझकर निष्क्रिय हो जाता है। मनुष्य कर्म करने में एक पर्याप्त सीमा तक अवश्य स्वतत्र है, किन्तु फल प्राप्त करने में वह परतत्र है। फल तो ईश्वर के अधीन है। कर्म ऐसे करना चाहिए, जैसे सब-कुछ हमारे हाथ में है, किन्तु फल को ऐसे स्वीकार करना चाहिए, जैसे हमारे हाथ में कुछ भी नही है, सब-कुछ प्रभु के अधीन है। वास्तव में ईश्वर न्यायकर्ता है और वह एक विधान के अनुसार फल देता है। उसका न्याय कैसा है, उसका विधान क्या है, सत्पुरुषो को भी कष्ट क्यो होता है, हम अल्पज्ञ इसे नही जानते। सीमित असीम को कैसे समझे ? कदाचित् गीता में 'दैव' का अर्थ 'ईश्वर का अज्ञात विधान' है ( गीता १८ १४ )।

सृष्टि ईश्वर की एक लीला है, एक सुव्यवस्थित खेल है, एक नाटक है। इस लीला का क्या कारण है, यह हम नही जान सकते, किन्तु ईश्वरीय लीला सोद्देश्य है। यह निष्प्रयोजन नही है। मूर्ख भी विना प्रयोजन के कुछ नही करता। **प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते**। ईश्वर ने सकल्प-वल से ब्रह्माण्ड की रचना की। **'सोऽकामयत।'**

उस परमब्रह्म ने इच्छा की, सकल्प किया और सृष्टि का जन्म हो गया। वैज्ञानिको के अनुसार अपरिमित ऊर्जा के भण्डार 'अणोरणीयान्' अकल्पनीय लघु कण से महाविस्फोट ( बिग बैंग ) के फलस्वरूप विशाल ब्रह्माण्ड का जन्म और विस्तार हुआ, जो कभी पुन. सकुचित होकर उसी आकार में समा जायगा। त्रिगुणमयी प्रकृति मे अणुओ, परमाणुओ का खेल प्रारम्भ हो गया, चार मूलकणो से द्रव्य का निर्माण हो गया, चार बल —महासत्त्व बल ( स्ट्राग फोर्स ), विद्युत् चुम्बकीय बल ( इलेक्ट्रो-मेगनेटिक फोर्स ), अल्पसत्त्व बल ( वीक फोर्स ), गुरुत्व बल ( ग्रेविटी फोर्स ) सक्रिय हो गये, सर्वत्र गतिशीलता आ गयी, सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी। विकास के क्रम में जड द्रव्य, पौधे, कीट-पतग, पशु-पक्षी और मानव का आविर्भाव हो गया। मानव में बुद्धि का उदय हुआ और उसने सृष्टि तथा स्रष्टा के रहस्य को जानने का प्रयत्न किया। एक ही परमात्मा द्रव्य तथा अनन्त जीवो के रूपो में प्रकट हुआ—**एकोऽहं बहुस्याम्**। जीवात्मा को अनुभूति होती है कि वास्तव में वह स्वय परमात्मा है—**प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि**। वास्तव मे एक मुक्तात्मा सरलता से दिव्यानुभूति करा सकता है, जैसे एक प्रज्वलित दीपक दूसरे को प्रज्वलित कर सकता है—**अग्निना अग्नि समिध्यते**।

प्रकृति भी ईश्वर की एक शक्ति है, जिसके विकास के माध्यम से वह अपने को प्रकट करता है। परमब्रह्म से स्फुलिंगवत् नि सृत ( अग्नि से निकली हुई चिनगारी की तरह ) उसके अशभूत आत्माओं ( जीवात्माओ के रूप मे ) के प्रादुर्भूत होने पर वह स्वय ही व्यक्त होकर एक लीला कर रहा है। इस नाटक में हम सब पात्र हैं। नाटक की साज-सज्जा पूरी है—प्रकृति मे वैभव, दु ख, सुख इत्यादि सभी कुछ हैं। सूत्रधार परमपुरुष के निर्देश पर पुरुषो ( जीवो ) और प्रकृति का अभिनय हो रहा है। नाटक सुखान्त

है, दु.खान्त नही है। सृष्टि पूर्णता की ओर बढ रही है। पूर्णता द्वारा अखण्ड आनन्दस्वरूप परमात्मा की ओर हमारा बढना ही सृष्टि की सोद्देश्यता मे सहभागी होना है। यह तत्त्वज्ञान है।

(शरीर एक रथ है, आत्मा रथ मे बैठा हुआ रथी है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, जो अपने विषयो की ओर भागने का प्रयत्न करते रहते हैं। अखण्ड आनन्द की प्राप्ति जीवन-यात्रा का परम लक्ष्य है। जीवात्मा कर्ता-भोक्ता है। यह कठोपनिषद् ( १ ३ ३-४ ) का एक साग रूपक है।)

**आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु,**
**बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।**
**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्,**
**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥**

इन्द्रियो का असयम, उनका भौतिक भोगो मे फँसकर भटक जाना, रथ को पथभ्रष्ट करके, रथी के दु ख का कारण बन जाता है। इस यात्रा मे सफलता और विफलता सारथी पर ही निर्भर है। बुद्धि आत्मा से प्रकाश एव निर्देश लेकर तथा मन को नियत्रित रखकर ही इन्द्रियो को विषय-रस मे भटक जाने से बचा सकती है। यदि बुद्धि की चतुराई से मन और इन्द्रियाँ भी आत्मा के प्रकाश मे चलें, उसके ही अपने परमोच्च आनन्द मे रस लेते हुए आगे बढें तो यात्रा सुखद और सफल हो जायगी। प्रभु तो रस का भण्डार है, मधुराधिपति है, मधुरेश है—**रसो वैसः**। किन्तु इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होकर विषयो की ओर जाने और उन्हीमे फँसी रहने का प्रयत्न करती हैं, वे मन को भी लोभ-लालच मे डाल देती हैं और बुद्धि चैतन्य और प्रकाश देनेवाले आत्मा की ओर न देखकर, माया के आवरण से ग्रस्त होकर मन और इन्द्रियो से ठगी जाती है। वह स्वय नष्ट होकर दूसरो को भी नष्ट कर देती है। बुद्धि तो सेठजी का मुनीम है। उसका कर्तव्य है कि वह स्वामी की सौपी हुई धन-सम्पदा पर गर्व न करे, उसका दुरुपयोग न करे और उसका सदुपयोग कर स्वामी का प्रेम प्राप्त कर ले। सेवानिवृत्ति होने पर यह धन-सम्पदा उसके साथ नहीं जायगी। केवल इसके सदुपयोग का एक अवसर मिला है, जिसे खोना जीवन की बाजी हार जाना है। यदि वह अपने कर्मचारियो के साथ मिलकर भ्रष्ट हो जाय तो व्यवसाय ही विनष्ट हो जायगा। हमारे देह, जीवन आदि हमे कहाँ से मिले ? क्या हम इनका सदुपयोग कर रहे हैं ?

जीवन-रथ का सारथी तो ऐसा होना चाहिए, जो अपनी लगाम और घोडो को काबू मे रखकर उन्हे ठीक दिशा मे चला सके। स्वय बाण सहकर भी रथ के स्वामी को क्षति न होने दे। यदि चालक विश्वासपात्र एव कृपापात्र होता है तो मोटरकार का स्वामी चालक के स्थान पर बैठकर चालक को पीछे अपने स्थान पर बैठा देता है और भले-बुरे का उत्तरदायी स्वय ही हो जाता है। अर्जन सीधा-सच्चा और श्रीकृष्ण का मित्र था। उसका सीधा-सच्चापन ही उसकी परम चतुराई थी, जिसके कारण श्रीकृष्ण स्वय उसके रथ के सारथी बने। धन्य है अर्जुन, जिस पर प्रहार करनेवाले बाणो को श्रीकृष्ण स्वय सह लेते थे और अर्जुन को सुरक्षित रखते थे।

परमब्रह्म परमात्मा के प्रकाश मे बुद्धि को ज्योतित एवं सचेत करके परमब्रह्म को ही सभी देश और काल मे विद्यमान जानना, उसे सर्वव्यापक मानना, उससे भिन्न कुछ नही है—ऐसा समझना, अपने को कर्ता न मानना, यही ज्ञान है। उसी प्रकाश के सहारे मन और इन्द्रियो को सात्त्विक बनाकर, अपने भीतर स्थित प्रभु की वाणी सुनकर, सृष्टि की दिव्य योजना की पूर्ति मे निमित्तमात्र बनकर कर्म करना ही कर्मयोग है। कर्म के फल को प्रभु की कृपा मानकर उसमे ही अपना हित मानना, प्रभु-कृपा से ही

मेरे द्वारा कर्म हुआ तथा प्रभु ने ही कर्म करा दिया, ऐसा मानकर प्रभु को धन्यवाद करना तथा सब प्राणियो मे अपने प्रियतम प्रभु के रूप का ही दर्शन करना ( सीय राममय सब जग जानी ), मङ्गलमय हारी प्रभु की प्रसन्नता के लिए सबकी सेवा को प्रभु की ही सेवा समझकर प्रभु को अर्पण कर देना ही भक्तियोग है। यही गीता का कथ्य है, उपदेश है, आदेश है।

भगवान् को प्राप्त करने के लिए तीन मान्य पथ हैं—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग। मधुसूदन आचार्य आदि के मत मे गीता के प्रथम छह अध्याय कर्म की शिक्षा देते हैं, मध्य के छह अध्याय भक्ति का तथा अन्तिम छह अध्याय ज्ञान का उपदेश देते हैं। किन्तु समस्त गीता में तीनो की ही चर्चा है, अतएव ऐसा मत मानना कठिन है। श्रीकृष्ण ने गीता मे तीनो की विशद चर्चा करके भी केवल दो निष्ठाओ को अपने उपदेश का आधार बनाया—ज्ञाननिष्ठा अथवा ज्ञानयोग और कर्मनिष्ठा अथवा कर्मयोग। गीता मे भक्तियोग कर्मयोग का ही एक अग है अथवा उसका पूरक है।

गीता में ज्ञान का अर्थ केवल तत्त्वज्ञान नही है, यद्यपि उसकी भी अनेक स्थलो पर चर्चा है और उसके महत्त्व पर पर्याप्त बल दिया गया है। तत्त्वज्ञान द्वारा परमब्रह्म को जानने पर सब कुछ जाना जाता है—'येन ज्ञातेन सर्व विज्ञात भवति।' 'न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते'—ज्ञान के सदृश कुछ भी अन्य मनुष्य को पवित्र करनेवाला नही है ( गीता, ४ ३८ )। यह समस्त आध्यात्मिक ज्ञान प्रखर दिवाकर की भाँति प्रकाशप्रद होता है तथा साधारण बौद्धिक ज्ञान एव वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न होता है, यद्यपि लोक मे उसका भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीता के ज्ञानयोग मे उपनिषदो के तत्त्वज्ञान का समावेश है तथा महर्षि कपिल के साख्य शास्त्र का रूप सशोधित कर दिया गया है। ज्ञानयोग, साख्यनिष्ठा, कर्म-सन्यास, सन्यास इत्यादि नामो से व्यवहृत है। गीता मे वर्णित ईश्वर को कपिल का साख्य-दर्शन स्वीकार नही करता। गीता और साख्य-शास्त्र मे प्रकृति के वर्णन मे भी महान् अन्तर है। कपिल ने प्रकृति को अनादि और नित्य माना है, किन्तु गीता ने प्रकृति को नित्य स्वीकार नही किया है। साख्य-दर्शन में पुरुष भी अगणित हैं, किन्तु गीता एक परमपुरुष को ही स्वीकार करती है। गीता में साख्य के पुरुष ( आत्म ) और प्रकृति ( अनात्म ) दोनो को परमात्मा के अधीन कहा गया है। साख्य की मुक्ति मात्र दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति है, किन्तु गीता मे मुक्ति उससे भी आगे अखण्ड आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति है। गीता का साख्य वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत अथवा अधीन है और कपिल के साख्य-दर्शन से भिन्न है।

गीता में ज्ञानयोग का, जिसे साख्ययोग अथवा सन्यासयोग भी कहा गया है, अर्थ है कि ससार की सम्पूर्ण क्रियाओ में प्रकृति के गुण ही गुणो में बरत रहे हैं, अतएव अपने को कर्ता मानना भूल है तथा कर्तृत्वभाव से छूटकर, सर्वव्यापक सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा से अभिन्न रहकर, उसके साथ एकीभाव में रहना है।

(इसी प्रकार हमे यह भी स्पष्ट है कि गीता में योग का अर्थ पतञ्जलिप्रणीत योगशास्त्र का योग नही है, यद्यपि गीता में पातञ्जल योग की भी चर्चा है। गीता में योग का अर्थ प्राय कर्मयोग है। पतञ्जलि के योगशास्त्र में योग का अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध तथा यह योग अष्टाग है। पतञ्जलि के अनुसार योग-सिद्धि के आठ सोपान हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।)

योग का अर्थ है अपने को जोड़ने की प्रक्रिया। युज् धातु का अर्थ जोड़ना है। हम अपने जीवन मे ही अपने अन्तर्वासी उस सच्चिदानन्दघन, दिव्येश परमात्मा से ज्ञान, ध्यान, कर्म तथा उपासना अथवा

भक्ति के द्वारा एकता का नाता जोड़ सकते हैं। गीता मे ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और अष्टागयोग, सभी योग हैं। इनके साधक योगी हैं। गीता ने इन मार्गों की चर्चा तो की है, किन्तु दो निष्ठाओ मे ही सबका समावेश कर दिया है। एक साख्यनिष्ठा है, जिसे ज्ञानयोग कहा गया है तथा दूसरी कर्मनिष्ठा है, जिसे कर्मयोग तथा केवल योग कहा गया है।

गीता ने साख्ययोग की व्याख्या मे प्रकृति के तीन गुणो—सत्त्व, रजस् और तमस्—के आधार पर मानव-स्वभाव मे भलाई, उद्वेग अथवा आवेश तथा आलस्य, निष्क्रियता अथवा मूढता की चर्चा करते हुए त्रिगुणातीत होने, तीनो गुणो से ऊपर उठने का उपदेश दिया है, क्योकि गुणो मे फँसने से ही दोष उत्पन्न होते हैं। गुण तो गुणो मे बरतते हैं, ऐसा मानकर ही मनुष्य कर्तृत्व ( कर्ताभाव ) से छूट सकता है। सत्त्वगुण भी, जो भलाई का प्रेरक है, ज्ञानी के लिए बन्धन ही है। वह भी मानो स्वर्णमय बन्धन है। त्रिगुणातीत प्रशान्त अवस्था सिद्धावस्था है। श्रीकृष्ण मानो त्रिगुणातीत सिद्ध पुरुषो के भी सिद्धेश है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य मे तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं--जानना, महसूस करना और क्रिया करना। यद्यपि ये गुण सभी में होते हैं, तथापि इनके अनुसार कुछ मनुष्य विशेष चिन्तनशील, कुछ विशेष भावुक तथा कुछ विशेष कर्मशील होते हैं।

गीता ने इन्हीके आधार पर ज्ञान, भक्ति और कर्म के तीन मार्गों की व्याख्या करके सक्षेप मे दो ही निष्ठाएँ बतायी है--ज्ञान तथा कर्म। यद्यपि भक्ति की स्वतत्र चर्चा है, गीता मे वह कर्म का ही आधार एवं अग है अथवा कर्मयोग के अन्तर्गत है।

गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग है। श्रीकृष्ण ने अनेक बार कर्मयोग को ही योग कहकर तथा कर्मयोगी को ही योगी कहकर यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है। कर्मयोग मे निष्काम भाव होता है तथा उससे समत्वबुद्धि प्राप्त होती है, अतएव उसे निष्काम कर्मयोग, समत्वयोग तथा बुद्धियोग भी कहा गया है। इसमे भक्ति का समर्पण-भाव होने के कारण इसे तदर्थकर्म अथवा मदर्थकर्म ( प्रभु के लिए कर्म ) भी कहा जाता है।

श्रीकृष्ण ने रणक्षेत्र मे अर्जुन के हृदय मे स्वजन के मोह से उत्पन्न मिथ्या वैराग्य को देखकर ज्ञान द्वारा उसकी बुद्धि को निर्मल तथा भक्ति-भाव से उसके मन को रसमय बना दिया। इसका प्रयोजन उसे कर्म के लिए, युद्ध करने के लिए, तैयार करना था। श्रीकृष्ण ने कर्म का कोई विकल्प नही बताया। उन्होने अर्जुन से यह नही कहा कि वह केवल ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन लेकर पर्वत-कन्दराओ मे चला जाय अथवा भक्ति-मार्ग को अपनाकर भजन-कीर्तन करे। श्रीकृष्ण ने उसे ज्ञान एव भक्ति की सहायता से कर्म करने की विधि बतायी। गीता के प्रारम्भ और अन्त से यह स्पष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण ने कर्म-सन्यास का सिद्धान्त समझाकर भी कर्मत्याग का उपदेश नही दिया, बल्कि कर्म को योग बता दिया। मनुष्य को अपने जीवन मे अन्त तक इस प्रकार कर्मशील रहना चाहिए कि उसे कर्म के द्वारा भगवान् की प्राप्ति हो जाय। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के इस भ्रम का निवारण किया कि कर्म से बन्धन होता है। उन्होने उसे कर्म करने की ऐसी विधि बतायी कि कर्म बन्धन से मुक्ति दिला सकता है। यदि विचारशील मनुष्य कर्म को बन्धन मानकर कर्म करना छोड़ दे तो उनकी देखादेखी साधारण जन भी कर्म करना छोड़ देंगे और समाज की व्यवस्था ही भग हो जायगी।

श्रीकृष्ण ने कर्म को भी मुक्ति का मार्ग बताकर 'नारायणीय' अथवा 'भागवत' कहलानेवाले धर्म का समर्थन किया। किसी विषम परिस्थिति को देखकर कर्म न करना तथा कर्मकाण्ड, भजन आदि करना,

किन्तु उनके निराकरण का ठोस उपाय न करना निन्दनीय है। यदि निर्धन व्यक्ति अथवा समाज दरिद्रता दूर करने के लिए कर्म न करें और अपनी दरिद्रावस्था मे सन्तोष मानने लगें तो वह सन्तोष मिथ्या है और कर्म न करने पर वे पाप के भागी हैं। पुरुषार्थ करने पर कर्म के फल मे सन्तोष करना ही सच्चा सन्तोष है। ससार के कष्टो से डरकर कर्तव्य मार्ग का त्याग करके सन्यासी बन जाना वैराग्य नहीं है, कायरता है। इसके अतिरिक्त किसी भी दशा मे मनुष्य कर्म किये विना क्षणभर भी नही रह सकता है और उसे कुछ-न-कुछ कर्म करते ही रहना पड़ता है। कर्म का पूर्ण त्याग संभव नही है। कर्म का त्याग दायित्व से भागना है, अविवेक है।

प्रभु की समस्त सृष्टि मगलमय है। अचर ( जड पदार्थ ) तथा चर ( चेतन प्राणी ) सभी मगलप्रद है। सृष्टि मगलनिधान प्रभु का आवास है तथा परमब्रह्म विभक्त प्रतीत होता हुआ भी अविभक्त एव अविभाज्य है। मानव-देह समस्त गुणो से युक्त एक रम्य नगरी है, जिसे मूढजन अनन्त दु ख से और विवेकीजन अनन्त सुख एव अखण्ड आनन्द से भरपूर कर देते हैं। हम इस देहनगरी को आनन्दमयी देवनगरी बना सकते हैं।

**रम्येयं देहनगरी राम सर्वगुणान्विता,**
**अज्ञस्येयमनन्तानां दुःखानां कोशमालिका,**
**ज्ञस्यत्वियमनन्तानां सुखाना कोशमालिका।**

—योगवाशिष्ठ

शरीर तथा प्राप्त वस्तुओ का पूर्ण सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है। शरीर कर्म करने का उपकरण है, मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। **'साधनधाम मोच्छकर द्वारा।'** अतएव इसकी उपेक्षा, अवहेलना अथवा दुरुपयोग करना आत्मघात है। यदि शरीर स्वस्थ है और मन प्रसन्न है, तो ससार अमृत से भरा हुआ और सुखद प्रतीत होता है। यदि इसके विपरीत शरीर रोग का घर और मन पाप और अशान्ति का केन्द्र है तो यह ससार विषमय प्रतीत होता है—**सुस्थे हृदि सुधासिक्तं दुस्थे विषमयं जगत्।** इसके उत्तरदायी हम स्वय ही हैं कि अपने जीवन को स्वर्ग बनाते हैं अथवा नरक। मनुष्य कर्म द्वारा ही पूर्णता को प्राप्त करके कृतार्थ होता है तथा माया से उत्पन्न बाह्य विषयो के अस्थायी दु ख और सुख से ऊपर उठकर अपने भीतर अखण्ड आनन्दस्वरूप आत्मा का दर्शन कर सकता है।

श्रीकृष्ण समझाते हैं कि वैराग्य का अर्थ व्यक्तियो और वस्तुओ का त्याग नही, बल्कि मोह तथा उससे उत्पन्न वासना आदि सूक्ष्म वृत्तियो का त्याग है, जो मनुष्य को बन्धन मे डालती हैं। मनुष्य को स्वार्थ एव लोभ का त्याग करना चाहिए, जिसके कारण वह दुर्बल जन का शोषण करता है। वैराग्य एक स्वस्थ भाव है, जो हमे ससार के मिथ्या प्रलोभनों मे भटकने से बचाकर मानवमात्र के हित मे त्यागपूर्वक भोग करने का पाठ सिखाता है। ससार को छोडकर कहाँ भागेंगे? हमें जीवन की आवश्यकताएँ कर्म करने के लिए सदैव, सर्वत्र विवश करती रहेगी। हमे इच्छाओ का त्याग करना चाहिए, जो दु खदायी होती हैं। गीता प्रवृत्ति द्वारा निवृत्ति का अर्थात् कमल की तरह जल मे रहकर भी उससे ऊपर रहने का, ससार मे रहकर सासारिकता से ऊपर रहने का उपदेश करती है। व्यक्ति एव समाज की समस्त प्रगति और आध्यात्मिक उन्नति के लिए निष्काम कर्म का महत्त्व असदिग्ध है।

श्रीकृष्ण ने यज्ञ का अर्थ प्रभु के लिए किया हुआ आसक्तिरहित कर्म, समाज के हित मे किया हुआ निष्काम कर्म अथवा वलिदान बताया है। व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा एव स्वार्थ छोड़कर कर्तव्य पालन

की दृष्टि से, निष्कामभाव से) अर्थात् फल की इच्छा प्रभु पर छोड़कर कर्म करना कर्मनिष्ठा है। श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्म करने की ऐसी विधि बतायी है कि मनुष्य (कर्म करने पर भी अकर्ता बना रह सकता है, कर्म भी अकर्म हो सकता है तथा मुक्ति प्राप्त हो सकती है।) (कर्म करते समय अपनी इच्छा के कारण उसमे आसक्ति न रखना तथा फल की इच्छा छोड़ना कर्म को योग बनाकर) प्रभु से एकात्मता स्थापित करा देता है और (मुक्ति का साधन बन जाता है।)

(जो लोग अतिबुद्धिवाद के कारण ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, वे कर्मप्रधान कर्मयोग का अर्थात् व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा छोड़कर समाज-हित मे कर्म करने का अभ्यास कर सकते हैं।) किन्तु जो ईश्वरवादी हैं, वे कर्म मे भक्ति का पुट देकर उसे रसमय बना सकते हैं, वे भक्तिमिश्रित अथवा भक्तिप्रधान कर्मयोग की साधना कर सकते हैं। उनके लिए बोझ से कुचल डालनेवाला कर्म रसमय होकर आनन्दप्रद हो जाता है।

उत्तम प्रकार से कर्म करने के लिए मन ऐसा होना चाहिए, जो विचलित न हो, सम हो तथा परिस्थिति की विषमता भयभीत न कर दे। मनुष्य वस्तुओ और व्यक्तियो के प्रति अनासक्त होकर ही मृत्यु आदि समस्त भय छोड़कर अविचलित अथवा सम रह सकता है। वह फल-प्राप्ति की इच्छा छोड़कर ही फल मिलने पर अविचलित अथवा सम रह सकता है। इस प्रकार समत्व की प्राप्ति के लिए निष्काम होना, अनासक्त होना तथा फल की कामना का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक अवस्था मे सन्तुलित रहकर कर्म करनेवाला सम एव अविचलित मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है। स्थितप्रज्ञ-अवस्था समत्व की पराकाष्ठा है और कर्मयोग का लक्ष्य है। व्यक्तिगत इच्छा एव महत्त्वाकाक्षा के कारण आशा और निराशा के भँवर मे फँसा हुआ मन कभी सम नही रह सकता, कभी शान्त और सुखी नही रह सकता। यदि इच्छा के अनुरूप फल प्राप्त नही होता तो इच्छा और उपलब्धि का महदन्तर घोर निराशा का समावेश कर देता है। कर्मयोगी न परिस्थिति की विषमता से भयभीत होकर पलायन करता है और न इच्छा के प्रतिकूल फल मिलने पर निराशा के अन्धकार में डूबकर दु.खी होता है। कर्मयोगी सदैव सम रहता है।

जो मनुष्य प्रभु के भरोसे के बहाने से अथवा कर्म के विफल होने के भय से कर्म करना छोड़ देता है, वह पाप का भागी होता है। (जब नाविक भँवर मे फँसी नौका को यह सोचकर चलाना छोड़ देता है कि नौका तो अवश्य डूबेगी और नौका चलाने का परिश्रम करना व्यर्थ है, तो नौका के डूबने पर वह व्यक्तियो की हत्या का अपराधी होता है, किन्तु यदि वह अपने प्राणान्त तक नौका चलाता रहता है तो वह मुक्ति का पूर्ण अधिकारी होता है। अनेक बार प्रयत्न करते रहने से निराशाजनक स्थिति भी आशाजनक हो जाती है। अपने स्वधर्म, अपने कर्तव्य-कर्म का सम्पादन ही व्यक्ति एव समाज के जीवन को समुन्नत कर सकता है।)

अनासक्त होने का अर्थ निष्करुण होना नही है। निष्काम कर्मयोगी अत्यन्त सहृदय होता है और दूसरों के दु.ख को अपना दु ख मानकर उसके निराकरण का उपाय करने मे सुख मानता है। अनासक्ति का अर्थ है, व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा फल की इच्छा से कर्म मे आसक्त न होना। कर्मयोगी अनासक्त होने के कारण न यश की इच्छा करता है और न उसे अपयश का भय ही होता है। वह अपने दु:ख-सुख से ऊपर उठकर समर्पण-भाव से कर्म कर सकता है। वास्तव में, भगवान् को सबमे देखते हुए ( **वासुदेवः सर्वमिति** ) समस्त कर्म को प्रभु की अर्चना मानकर, प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर्म करना भक्तियुक्त कर्मयोग है।

श्रीकृष्ण कहते हैं—"योगः कर्मसु कौशलम्"—कर्म की कुशलता योग है। इसका अर्थ कर्म को दक्षता तथा सुचारु रूप से करने के अतिरिक्त यह भी है कि अनासक्त भाव से सम होकर कर्म करना कुशलता है और तब वह योग हो जाता है। सम व्यक्ति सुख-दु ख, लाभ-हानि और जय-पराजय से ऊपर उठ जाता है। सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। (गीता २ ३८) ऐसा व्यक्ति हारकर भी नही हारता। उसे यह गहरा सन्तोष होता है कि वह अवसर आने पर कर्म करने से नही चूका और उसने मानवीय प्रतिष्ठा के अनुरूप कर्म किया। वह पराजित होकर भी ग्लानि नही करता तथा लज्जित अथवा खिन्न नही होता।

कर्मयोग सिखाता है कि कोई कर्म छोटा, तुच्छ अथवा नीच नही होता। निजी स्वार्थ मे लिप्त होकर, भौतिक कामना से प्रेरित होकर, अपने पद, सत्ता और यश के लिए किया हुआ उत्तम कर्म भी हेय है, क्योकि ऐसा कर्म करनेवाले के मन मे कुसस्कार पड़ता है और वह कदापि उसे गहरी सुख-शाति नही दे सकता। वह लोक पर बुरा प्रभाव छोडता है, लोक के सामने निम्न आदर्श प्रस्तुत करता है तथा अन्ततोगत्वा समाज के लिए घातक सिद्ध होता है। छल-कपट से धन सम्पत्ति अथवा उच्चपद एव सत्ता पानेवाले मनुष्य न स्वय सुखी रहते, न समाज से सच्चा सम्मान पाते और न इतिहास मे कोई सम्मानित स्थान ही प्राप्त करते हैं। वे सफल होकर भी घोर मानसिक पीड़ा भोगते हैं तथा भौतिक कामना उन्हें नचाती ही रहती है। मानव-जाति ऐसे ही लोगो पर गौरव करती है, जो निष्कामभाव से घोर कष्ट उठाते हुए भी उत्तम एव प्रेरणादायक कर्म करते हैं।

कर्मयोगी कामना के कुचक्र मे नही फँसता, क्योकि पहले कामना अभीष्ट वस्तु प्राप्त करने के लिए व्याकुल करती है, कामना-पूर्ति होने पर प्राप्त वस्तु को सदा अधिकार मे रखने की कामना और उसके चले जाने का भय व्याकुल करता है। यदि एक कामना पूर्ण होती है तो उससे अन्य कामनाओं का जन्म होने लगता है और यदि अपूर्ण होती है तो वह दु ख और अशान्ति देती है। हमे कामना के स्थान पर कर्तव्य से प्रेरणा लेनी चाहिए। कामना ही क्रोध आदि उत्पन्न करती है। कामना त्याग के नाम पर कामना का बरबस दमन नही करना चाहिए, बल्कि विवेकपूर्वक उसका शमन करना चाहिए, अन्यथा वह कुण्ठा बनकर दु ख देती है। कामना का उदात्तीकरण ही कामना का त्याग है।

कर्मयोगी स्वान्त सुखाय, अपनी अन्तरात्मा की शुद्धि एव शान्ति के लिए, अपनी परम सन्तुष्टि के लिए कर्म करता है। ससार में आत्म-सन्तुष्टि से बढकर अन्य कोई पुरस्कार नही। साधारण मनुष्य सेवा आदि उत्तम कार्य करके सफलता के साथ यश की कामना करता है, किन्तु प्राय उसे श्रेय तथा यश मिलने के स्थान पर इतनी कृतघ्नता और वैमनस्य देखने को मिलते हैं कि वह सेवा आदि उत्तम कर्म करना ही छोड देता है तथा समाज को कोसने लगता हैं। 'भलाई करो और कुएँ मे डाल दो, भलाई करो और भूल जाओ, भलाई भगवान् की प्रसन्नता के लिए करो' का सिद्धान्त मनुष्य को कृतघ्नता से उत्पन्न खिन्नता एवं कटुता से बचा देता है। कर्म के पीछे क्या भावना है, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कर्मयोगी न अपनी व्यक्तिगत उन्नति और यश से अति हर्षित होता और न अपनी अवनति और अपयश से अति खिन्न होता। यदि भावना पवित्र है तो वह अवश्य शान्तिदायक होती है। अन्तप्रेरणा सुनकर उसके अनुसार स्वान्त सुखाय कर्म करने के कारण कर्मयोगी इस सोद्देश्य सृष्टि मे प्रभु की सोद्देश्यता में सहभागी बनकर प्रभु-कृपा का सत्पात्र हो जाता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को राग-द्वेष, अपना-पराया, हिंसा-अहिंसा, हार-जीत तथा यश-अपयश आदि से ऊपर उठकर और अन्याय का सामना करते हुए न्याय की रक्षा के लिए, उत्तम सिद्धान्त के लिए,

निष्काम भाव से युद्ध करने का उपदेश एव आदेश देते हैं। राग-द्वेष अथवा प्रतिशोध से प्रेरित होकर युद्ध करना हिंसात्मक एव दोषमय है, किन्तु न्याय की रक्षा के लिए सुधीर होकर युद्ध करना दण्डात्मक एव उचित है। वास्तव मे, पुण्य और पाप, सत्य और असत्य, उचित और अनुचित के निर्णय का आधार है कर्म के मूल मे निहित भावना। चिकित्सक का रोगी के असाध्य रोग को जानकर भी उसे स्वस्थता की आशा दिलाना अथवा सेनापति का सैनिको को विषम स्थिति में भी विजय की आशा दिलाना भावना की पवित्रता के कारण असत्य होकर भी सत्य होता है। युद्ध विनाशकारी एव निन्द्य होता है। किन्तु कभी-कभी शल्य-चिकित्सा की भाँति वह आवश्यक हो जाता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समाज के हित मे न्याय की स्थापना और अन्याय के उन्मूलन के लिए वीरतापूर्वक युद्ध करने का आदेश दिया। अर्जुन वीर क्षत्रिय था और उसके लिए युद्ध करना स्वधर्म था। निष्कामभाव से, निस्स्वार्थ होकर, अपने हानि-लाभ को भूलकर, फल के विषय मे तटस्थ होकर, स्वधर्मरूप कर्तव्य का पालन करते रहना कर्मयोग का सारतत्त्व है। अनीश्वरवादी व्यक्ति एव समाज के लिए भी पूर्णता पाने के लिए यह जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आदर्श है।

यद्यपि गीता का मुख्य विषय कर्मयोग अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति मे परिणाम का विचार छोड़कर अपनी शारीरिक और बौद्धिक सामर्थ्य के अनुसार पुरुषार्थ करना है, तथापि गीता का प्रधान रस भक्ति-रस है, जो प्रारम्भ से अन्त तक, उपक्रम से उपसहार तक, दृश्य तथा अदृश्य होकर, प्रवाहित हो रहा है। भक्ति भी एक योग है अर्थात् भक्ति भी प्रभु को प्राप्त करने का एक मार्ग है, यद्यपि गीता के अनुसार मनुष्य को सदैव कर्म का अवलम्बन लेते हुए ही भक्ति करनी चाहिए। वास्तव मे, यह विवाद निरर्थक है कि भक्तियोग और कर्मयोग मे कौनसा योग ऊँचा है, क्योकि गीता मे दोनो का पूर्ण सामञ्जस्य है।

मानव मिट्टी के प्रज्वलित दीपक के सदृश है। हमारे मिट्टी के देह मे दीपशिखा की भाँति एक दिव्य ज्योति है, जो सदैव ऊपर की ओर उठते हुए चारो ओर प्रकाश प्रसारित करती है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश वर्तिका जलने से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार त्याग-तपस्या तथा कष्ट उठाने से ही मनुष्य स्वय ऊँचा उठकर दूसरों को प्रकाश दे सकता है। शुद्ध घृत, तैल आदि द्रव्य से सिक्त होने पर ही वर्तिका अच्छी प्रकार से जलकर स्वच्छ प्रकाश देती है, अन्यथा उसमे धुआँ उठने लगता है तथा वह बिना प्रकाश दिये ही शीघ्र बुझ जाती है। प्रेमतत्त्व ही वह शुद्ध द्रव्य है, जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों को सिक्त करके मनुष्य को उत्तम त्याग-तपस्या के योग्य बना देता है, जिसके द्वारा वह ससार को प्रकाश प्रदान कर सकता है, सुख शान्ति दे सकता है। राग-द्वेष, सकीर्णता, स्वार्थ, घृणा, प्रतिशोध आदि प्रेम-द्रव्य को विकृत कर देते हैं, जिससे जीवन के दीपक मे धुआँ उठने लगता है। इनसे मुक्त होकर शुद्ध हो जाने पर, नितान्त निर्मल होने पर, प्रेम अमृतमय हो जाता है। प्रेम ही जीवन का प्राणाधार है, जो व्यापक होकर मनुष्य को ऊँचे धरातल तक ले जाता है। अपने भीतर स्थित प्रभु के प्रति उन्मुख होकर प्रेम ही भक्ति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। बहिर्जगत् मे प्राणिमात्र मे प्रभु का दर्शन करके प्राणिमात्र के साथ आत्मसात् होकर, प्राणिमात्र की सेवा करना भी भक्ति का ही स्वरूप है।

प्रेम-तत्त्व भक्ति का मूल स्रोत है। प्रेम धर्म का सार है। प्रेम का अर्थ है सेवा, त्याग, बलिदान और समर्पण। प्रेम से न केवल व्यक्तित्व का परिष्कार होता है, बल्कि उसमे आकर्षण भी उत्पन्न हो जाता है। मानव भौतिक धन, सम्पत्ति से सुख सुविधा की सामग्री उपलब्ध कर सकता है, किन्तु उनसे सच्चा सुख प्राप्त नही कर सकता। सुख का स्रोत मानव के भीतर सस्थित प्रेम-तत्त्व है, जो मनुष्य का

सहज स्वभाव है। घृणा स्वाभाविक नही होती, वह तो प्रतिक्रिया है। प्रेम मे आत्मीयता का सुख होता है। आत्मीयता से व्यापकता का प्रारम्भ होता है। यदि मनुष्य उदार होकर मानवमात्र के लिए ही नही, जीवमात्र के लिए प्रेम करना सीख ले, अपनी आत्मीयता को व्यापक कर ले, तो वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। यदि किसीकी दुष्टता का प्रतिरोध करना है अथवा किसीको दण्ड देना है तो व्यक्तिगत घृणा त्यागकर ही प्रतिरोध करना चाहिए अथवा दण्ड देना चाहिए। गाधीजी कहते थे, "पाप से घृणा करो, पापी से नही।" जीवमात्र से व्यापक प्रेम होना भक्ति का ही स्वरूप है। ऐसे उदार व्यक्ति में प्रतिद्वन्द्विता, द्वेष, दोष-दर्शन की प्रवृत्ति तथा तिरस्कार एव शोषण करने की भावना का उदय नही होता तथा वह निरभिमान, सहनशील, क्षमाशील एव विनम्र होता है।

अद्वैतवादी शङ्कराचार्य कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण के पादारविन्द की भक्ति के विना अन्तरात्मा शुद्ध नही होती —'**शुध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते।**' भक्ति से मन शुद्ध एव सरस हो जाता है। भक्ति स्वतन्त्र रूप मे भी अपने मे पूर्ण होती है। प्रभु के प्रति प्रगाढ भक्ति का उदय होने पर मनुष्य को स्वय ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है, भीतर ज्ञान प्रस्फुटित हो जाता है। श्री रामकृष्ण परमहस इसका उज्ज्वल उदाहरण हैं। श्रीकृष्ण स्वय कहते हैं कि भक्ति से मनुष्य को ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि ईश्वर कैसा है तथा वह उस तत्त्वज्ञान द्वारा ईश्वर को प्राप्त हो जाता है।

'**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत.।**
**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम॥**' —गीता, १८.५५

रामानुजाचार्य भक्ति द्वारा ज्ञान की प्राप्ति का प्रवल समर्थन करते हैं।

भक्ति ईश्वर से अन्तरतम नाता है। वह हमारा माता, पिता, वन्धु, गुरु और मित्र है। भगवान् रसस्वरूप है। भक्ति की रस-त्रिवेणी--वात्सल्य, सख्य, शृगार—मे अवगाहन करके भक्तगण ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करते हैं कि वे मोक्ष को भी तुच्छ गिनने लगते हैं। भक्ति का द्वार सभी के लिए खुला हुआ है। पिता की गोद मे पहुँचने के लिए केवल भाव की आवश्यकता है, न पुण्य की और न ज्ञान की। प्रार्थना भक्ति का मुख्य अग है। प्रभु आर्त, दीन, दुखी की प्रार्थना सुनते हैं और उस पर कृपा करते हैं। प्रकृति तो अपराधो का दण्ड देती है, किन्तु शरण मे जाने से परमपिता दया-द्रवित होकर रक्षा और सहायता ही करते हैं।

भक्त के लिए निर्गुण और निराकार परमब्रह्म सगुण और साकार होकर विविध रूपो मे प्रकट होते हैं। पुत्र के प्रतिकूल होने पर भी पिता अनुकूल ही रहता है तथा स्नेह करता है—'**पुत्रे विप्रतिकूलेऽपि पितरः पुत्रवत्सलाः।**' भक्त पाषाण की मूर्ति मे अपने प्रियतम प्रभु की कल्पना करके उसे सजीव मान लेते हैं। भक्तगण प्रतिमा को साक्षात् भगवान् मानकर अनन्त आनन्द प्राप्त कर लेते हैं। वे प्रतिमा मे प्रभु का दर्शन करके उनसे वार्ता कर लेते हैं, उनकी वाणी अपने अन्तर्मन मे सुन लेते हैं और ससार के अपमान, दुःख और क्लेश को भूलकर असीम शान्ति प्राप्त कर लेते हैं। भक्ति-रस को वेदो में सोमरस की सज्ञा दी गयी है। सोमरस-पान अखण्ड आनन्द एव अमरता प्रदान कर देता है। वेद-मत्र है, '**एह्यश्मानमातिष्ठ अश्मा भवतु ते तनुः**'—'हे ईश्वर, आओ, इस पाषाण की प्रतिमा मे स्थित हो जाओ, यह पाषाण की मूर्ति आपका शरीर हो जाय।' सर्वव्यापक भगवान् सर्वत्र हैं, पत्थर की प्रतिमा मे भी। भक्त के लिए प्रतिमा प्रतीकात्मक ही नही, साक्षात् भगवान् का स्वरूप होती है और उसकी अर्चना उसे पूर्ण आनन्द

प्रदान करती है, यद्यपि मूर्तिभजक, चोर और अविश्वासी के लिए मात्र पत्थर है। भक्त कहता है कि सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ और दयामय भगवान् मूर्ति मे प्रकट होने की अनुकम्पा कर देगे। **'यो वै भूमा तत्सुखम्'**—प्रभु तो सर्वत्र व्याप्त आनन्दस्वरूप है। भावना होने पर वह पत्थर मे भी प्रकट हो जाता है।

भक्ति से अनासक्ति सहज हो जाती है, भक्ति मे अहकार का समर्पण होता है, भक्ति भागवत-चेतना भर देती है, विश्वात्मा के साथ सुमधुर नाता स्थापित कर देती है, जीवन मे मस्ती का संचार कर उसे सरस बना देती है तथा कृतार्थता का भाव जगा देती है। भक्त की भावपूर्ण प्रार्थना उसे दिव्य सत्ता के साथ आत्मीयता की उत्तरोत्तर प्रवर्धमान अनुभूति करा देती है तथा उसे आप्तकाम, पूर्णकाम बना देती है।

भक्ति मन की समस्त कुण्ठाओ का शमन कर देती है। विषाद, क्लेश और दुःख को दूर करती है तथा तनाव, चिन्ता और भय को भगाकर मन को शान्ति प्रदान कर देती है। भक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद आदि विकारो को धोकर मन को निर्मल कर देती है तथा दिव्यता की अनुभूति से उसे उदात्त बना देती है। मानसिक क्लेश को दूर करने तथा मन को सबल बनाने के लिए भक्ति दिव्य औषधि है। भक्तिपूर्ण प्रार्थना मनुष्य मे आत्म-विश्वास जगाकर उसे विषम परिस्थिति का सामना करने मे सक्षम बना देती है। ससार के क्लेशो का उपाय आत्मविस्मृति है, जो भक्त को सहज सुलभ हो जाती है। कीर्तन, भजन और प्रभु-गणगान मन को निष्कलुष बनाकर सद्गुणो की स्थापना द्वारा उसे उच्च-स्तर पर स्थापित कर देते हैं। भगवान् की भक्ति मगलदायक है तथा अखण्ड आनन्द की प्राप्ति कराने में पूर्णतः सक्षम है।

भक्तगण श्रीकृष्ण को साक्षात् परमब्रह्म मानकर उनकी नानाविध लीला का रसास्वादन करते हैं। **'कृष्णात् पर किमपि तत्त्वमहं न जाने'**--श्रीकृष्ण से परे कोई तत्त्व नही है। श्रीकृष्ण के रूप मे भागवत-सौन्दर्य का सागर ही उमड गया है। सौन्दर्यमाधुर्यसारसर्वस्व श्रीकृष्ण अचिन्त्य अनन्त हैं, सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। भक्तगण उनके साथ भावात्मक तादात्म्य स्थापित करते हैं। राधा, जो श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है, प्रतीकात्मक रूप मे श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं। गोप-गोपिकाएँ देह में श्रीकृष्णरूप आत्मा के प्रति आकृष्ट इन्द्रियो की प्रतीक हैं, अथवा ससार मे श्रीकृष्णरूप परमात्मा के प्रति आकृष्ट आत्माओ की प्रतीक है। आकर्षण सहज और परस्पर है। ईश्वर-भक्ति भक्तो के अन्तर्मन के इस गूढ आकर्षण को परिपूर्णता देकर उन्हे परितृप्त कर देती है। अतीन्द्रिय भागवत-चेतना के भण्डार योगिराज श्रीकृष्ण की मधुर मुरली की टेर आकर्षण की प्रतीक है। योगेश्वर श्रीकृष्ण का सुदर्शन चक्र निरन्तर गतिमयता एवं कर्म का प्रतीक है। श्रीकृष्ण की लीला ने कोटि-कोटि मानवो के अन्तरस्थित असीम तत्त्व को छूकर तथा उनके भीतर भागवत-चेतना को जागरित कर आनन्द के उत्कर्ष की अनुभूति करा दी है। दिव्य प्रेम अर्थात् प्रभु-भक्ति से ही मानव को आन्तरिक तृप्ति प्राप्त होती है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि दिव्य प्रेम के अनिर्वचनीय रस मे प्लावित होकर दिव्यता के चरमोत्कर्ष को प्राप्त करती हैं तथा अलौकिक रसविभोरता एव आनन्दमग्नता द्वारा कृतार्थ होती है। दिव्यता के स्तर पर लौकिक सीमाएँ टूट जाती हैं तथा लोक-मर्यादा का सम्बन्ध छूट जाता है। भक्त मीरा, महात्मा रैदास ( रविदास ), रसखान, देवी ताज, सत नामदेव, संत तुकाराम, रामकृष्ण परमहस इत्यादि इसके प्रोज्ज्वल उदाहरण हैं। अगणित भक्तो के लिए श्रीकृष्ण साक्षात् परमेश्वर हैं। भक्तो के लिए भगवान् ऐसा कठोर अथवा जड नही है, जो

दीन-दु:खी की आर्तवाणी से दया-द्रवित होकर सहायता न करता हो। भक्तगण प्रभु पर ऐसा अटूट विश्वास ही नही करते, वल्कि सकट मे इसका अनुभव भी करते हैं। भगवान् सकटग्रस्त एव असहाय द्रौपदी की दु खकातर पुकार सुनकर करुणार्द्र हो जाते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। दु:ख मनुष्य को सत्य का सदर्शन करा देता है, प्रभु के समीप ले जाता है, तथा प्रच्छन्न वरदान होता है। दु ख मूढ व्यक्ति को कुचल देता है तथा विवेकी को उदात्त बना देता है। दु ख को प्रभु की कृपा एव प्रभु का प्रसाद मानकर सहर्ष स्वीकार करना घोर कष्ट को सुखप्रद तप बना देता है। प्रभु को अपना सर्वस्व मानकर सर्वत्र, सर्वदा, सब घटनाओ मे उसका दर्शन करना, उसकी दयामयता का अनुभव करना तथा उसके साथ आत्मीयता का नाता स्थापित करना ही भक्ति है। प्रभु के साथ सकाम नाता स्थापित करना भी श्रेयस्कर है। सकामता से निष्कामता एव विशुद्ध प्रेम का आविर्भाव होता है। भक्तगण भक्तिरस को सर्वोच्च मान मोक्ष का भी निरादर कर देते हैं— **'जन्म-जन्म रति राम पद, यह वरदान न आन।'**

भक्ति का ही एक स्वरूप प्रपत्ति है, जिसका अर्थ है—परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण। भक्त अपने देह, मन, बुद्धि और अहकार को प्रभु को समर्पित करके तद्रूप हो जाता है, स्वय ईश्वरमय हो जाता है। वह अपने भीतर अन्तप्रेरणा के रूप मे प्रभु के आदेश को सुनता है, उसका पालन करके अपना कर्म प्रभु को ही समर्पित कर देता है। वह प्रभु के लिए ही जीता और मरता है। दु ख उसे प्रभु का प्रसाद प्रतीत होता है और वह कष्ट-भोग में भी उसकी कृपा का अनुभव करता है। वह अपनी इच्छाओ से रिक्त होकर ईश्वर की इच्छा को ही अपनी इच्छा मान लेता है। वह पाप और पुण्य से ऊपर उठ जाता है तथा उसका प्रत्येक कर्म भागवत-कर्म हो जाता है। आत्म-समर्पित भक्त का प्रत्येक कर्म पूजा हो जाता है। **'यद् यद् कर्म करोमि तद् तद् अखिल शम्भो तवाराधनम्'** (शकराचार्य)। प्रभु का परतत्र होकर मनुष्य परमस्वतत्र हो जाता है। वह प्रभु से केवल उसकी कृपा एव उसकी भक्ति की ही याचना करता है। उसके लिए प्रभु-कृपा ही पर्याप्त है।

भक्ति भेदोपासना के कारण भक्त और भगवान् का द्वैत स्वीकार करती है। वास्तव मे, भक्त और भगवान् के तादात्म्य के कारण भेद अभेद हो जाता है, द्वैत अद्वैत हो जाता है। अलौकिक आनन्द के रूप मे सगुण-साकार उपासना की आन्तरिक अनुभूति वही होती है, जो निर्गुण-निराकार के भाव की दिव्य आनन्द के रूप मे आन्तरिक अनुभूति। परमात्मा शक्तियो की मूल शक्ति, ज्योतियो की परमज्योति होने के कारण निराकार होकर भी भक्त के लिए सगुण और साकार है। द्वैत केवल बाह्य है। निर्गुण-निराकार परमात्मा की आन्तरिक अनुभूति के लिए सगुण साकार उपासना एक व्यावहारिक एव उत्कृष्ट विधि है। भक्त के लिए द्वैत अद्वैत से भी अधिक सुन्दर है तथा उपासना के लिए उपयोगी है—**'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।'** यद्यपि सत्य और उसकी अनुभूति अद्वैत है, द्वैत का उपासना के लिए विशेष महत्त्व है और भक्ति साधन होने के कारण साध्य मुक्ति की अपेक्षा भी अधिक बडा है—**'पारमार्थिकमद्वैतं द्वैत भजनहेतवे। तादृशी यदि भक्ति स्यात्, सा तु मुक्ति शताधिका।'**

गीता मे ज्ञान मार्ग के पुरुष तथा प्रकृति के द्वैत को अमान्य करके अन्त मे परमपुरुष का प्रतिपादन किया गया है। अन्ततोगत्वा भक्त ज्ञानी हो जाता है तथा ज्ञानी भक्त हो जाता है। यद्यपि एक ही काल मे ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के दो विभिन्न मार्गों पर चलना सम्भव नही है, तथापि कदाचित् एक मार्ग पर चलते हुए कुछ अश तक दूसरे मार्ग का सहारा लेना अवश्य लाभकारी हो सकता है। यद्यपि कर्मयोग गीता का प्रतिपाद्य है, तथापि वह भक्ति के बिना नीरस और अधूरा ही है। अतएव भक्तिसहित कर्मयोग ही कर्मयोग का उत्तम स्वरूप है।

प्रत्येक साधना में हम स्थूल से सूक्ष्म, मूर्त से अमूर्त, प्रत्यक्ष वस्तुबोध से प्रत्यय, सापेक्ष से निरपेक्ष, सरल से जटिल तथा अपरिष्कृत से परिष्कृत की ओर बढ़ते हैं। भाषा-ज्ञान के प्रारम्भ मे अक्षर को कोई रूप देकर उसे एक नाम दिया जाता है तथा निराकार अक्षर का बोध नाम और रूप द्वारा किया जाता है। समस्त ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने पर ही कोई वस्तु पूर्णत बुद्धिगम्य होती है। आध्यात्मिक मार्ग मे भी निर्गुण-निराकार ब्रह्म के साथ तादात्म्य होने के लिए सगुण-साकार उपासना तथा प्रतीकात्मक मूर्ति-पूजा का अत्यधिक महत्त्व है। प्रतीक अनिर्वचनीय एव असीम के ग्रहण करने मे अत्यधिक सहायक होते हैं। निर्गुण-निराकार उपासना की अपेक्षा सगुण-साकार उपासना तथा मूर्ति-पूजा ने असख्य लोगो को धार्मिक भावना से भरकर कही अधिक सुख-शान्ति-प्रदान की है। वास्तव में पाषाणखण्ड की उपासना नही, बल्कि उसमे सन्निहित परमात्म-भाव की ही उपासना है। सूक्ष्म अनुभव सिद्ध करता है कि निर्गुण-निराकार परमात्मा सगुण-साकाररूप मे पग-पग पर हमारी सहायता और रक्षा करता है। धार्मिक भावनाओ के प्रेरक मन्दिर के महत्त्व को भी स्वीकार करना पड़ता है।

(एक ही ईश्वर अनेक देवी-देवताओ के रूप मे पूजा जाता है—'**एक सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।**' विविध पात्रो मे रखा हुआ जल वास्तव मे एक ही तो है। अपने स्वभाव और रुचि के अनुरूप किसी देवी-देवता को इष्ट मानकर पूजा करना उसी एक परमात्मा की पूजा है। पूजारूपी सब नदियाँ एक ही परमात्मा को पहुँच जाती हैं—**आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्। सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।** अपने इष्टदेव मे परमात्मा का ही भाव होना चाहिए। परमात्मा तो मनुष्य के भाव को देखता और स्वीकार करता है—'**माधवो हि भावप्रिय।**' श्रीकृष्ण ने महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व अर्जुन से शक्ति प्राप्त करने के लिए दुर्गा की भक्तिपूर्ण स्तुति करने का उपदेश दिया था।

परमपिता की दृष्टि मे मानव और मानव मे कोई भेद नही है, उसे सभी समान रूप से प्रिय है। गीता अनेक स्थलो पर जात-पाँत, पापी-पुण्यात्मा आदि की रूढिवादिता से ऊपर उठने का उपदेश करती है। पण्डित तो समदर्शी होते हैं और वे उत्तम ब्राह्मण और चाण्डाल इत्यादि सबमे उसी एक परमात्मा का दर्शन करते हैं—'**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।**' (गीता, ५ १८ तथा ६ ३०, ९.२९, १३ २७)। लोकोक्ति है कि '**हरि को भजै सो हरि का होई।**' गीता कहती है कि तथाकथित दुष्ट भी ईश्वर का सच्चा भक्त होने पर साधु हो जाता है—'**अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि स.** (गीता, ९.३०)। गीता ने सर्वत्र मानवमात्र के कल्याण के लिए उपदेश किया है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मनुष्य जैसे भी ईश्वर को मानता है, वह उसे वैसे ही स्वीकार कर लेता है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता, ४.११)। बुद्धिमान् को चाहिए कि वह अबोध और अल्पज्ञ जन को मूर्ख सिद्ध करके उनके मन मे भ्रम उत्पन्न न करे, उन्हे विचलित न करे तथा अपना आदर्श प्रस्तुत करके प्रेरणा दे। (गीता, ३ २६, ३ २९, ३ २१)।

(किसी भी मार्ग की साधना करते-करते मनुष्य ऐसी उच्चावस्था को प्राप्त हो सकता है, जब उसके पूर्णत ईश्वरीय हो जाने पर सामान्य अर्थ मे कर्म उससे छूटने लगते है—'**तस्यकार्यं न विद्यते।**' उसे कुछ करना शेष नही रहता है। वह जीवित रहते हुए भी मुक्त, 'जीवन्मुक्त' हो जाता है। उसके सकल्प मे ऐसी शक्ति होती है कि उसके सोचने मात्र से अन्य जन मे प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है तथा वे उसके

सकल्प को पूरा करने के लिए कर्म करने लगते हैं– **क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।** परिपक्व सिद्धावस्था मे वह सामान्य कर्मशीलता से छूटकर पूर्ण सन्यासी के रूप मे शुकदेव, सनकादि, रामकृष्ण परमहस, स्वामी रामतीर्थ और महर्षि रमण की भाँति नितान्त निवृत्त होकर केवल ईश्वरीय चेतना मे लीन रह सकता है अथवा यदि वह चाहे तो देह-यात्रा के पूर्ण होने तक लोकसग्रह अथवा लोक के उपकार के लिए जनक, लोकमान्य तिलक आदि की भाँति स्वय भी सहज भाव से कर्म करते हुए प्रवृत्ति मे भी निवृत्ति अपनाकर अन्यजन के लिए आदर्श प्रेरक बन सकता है। मुक्तात्मा कर्म करते हुए भी कुछ नही करता। किन्तु वह दैवी विधान की पूर्ति मे एक उत्तम उपकरण ( निमित्तमात्र ) बन जाता है। दिव्यता का समावेश होने के कारण उसमे चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो जाती है तथा वह दिव्यता का विकरण करता रहता है।

गीता का उपदेश हमारे दैनिक जीवन मे पग-पग पर, विशेषत सकटमय परिस्थिति तथा निराशा एव भ्रान्ति की मानसिक अवस्था मे, सन्मित्र की भाँति सच्चा सहारा देता है। गीता का एक-एक वाक्य हमे आत्मसजग बनाकर जीवन मे क्रातिकारी परिवर्तन ला सकता है। हम जितना भी उसका अनुशीलन करेंगे, उतना ही हमारा कल्याण हो सकेगा। भागवत-चेतना, दैवी द्युति एव सहज प्रसन्नता से अन्तर्मन को भरकर अपने अहकार का निराकरण अर्थात् उसका निर्मलीकरण अथवा उदात्तीकरण करने के लिए तथा प्रभु का यत्र बनकर सृष्टि की सोद्देश्यता की पूर्ति मे सहयोगी उपकरण बनकर कृतार्थ होने के लिए हमे गीता का आश्रय लेना चाहिए। गीता व्यक्तित्व को सर्वांग-सुन्दर बनाकर जीवन मे सत्य, शिव और सुन्दरम् का बोध एव समावेश कर देती है।

प्राचार्य निवास,
देवनागरी इन्टर कॉलेज,
मेरठ ( उ० प्र० )

—शिवानन्द

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

# कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

श्री गुरु चरण सरोज रज, निज मस्तक लपटाय,
मांगौं हौं श्रीकृष्ण से, हृदय बसहु प्रभु आय।
रसामृत की रचना करौं, जनम सफल हो जाय,
गागर में सागर भरै, अमर ग्रन्थ हो जाय॥
पाठक को तृप्ति मिलै, श्रोता सुनि न अघाय,
मनोभावना सिद्ध हो, मुक्ति सुलभ हो जाय।
जो नित पारायण करै, सब बन्धन मिट जाय,
सुख - समृद्धि - शान्ति मिलै, कृष्ण प्रकट हो जाय॥

—शिवानन्द
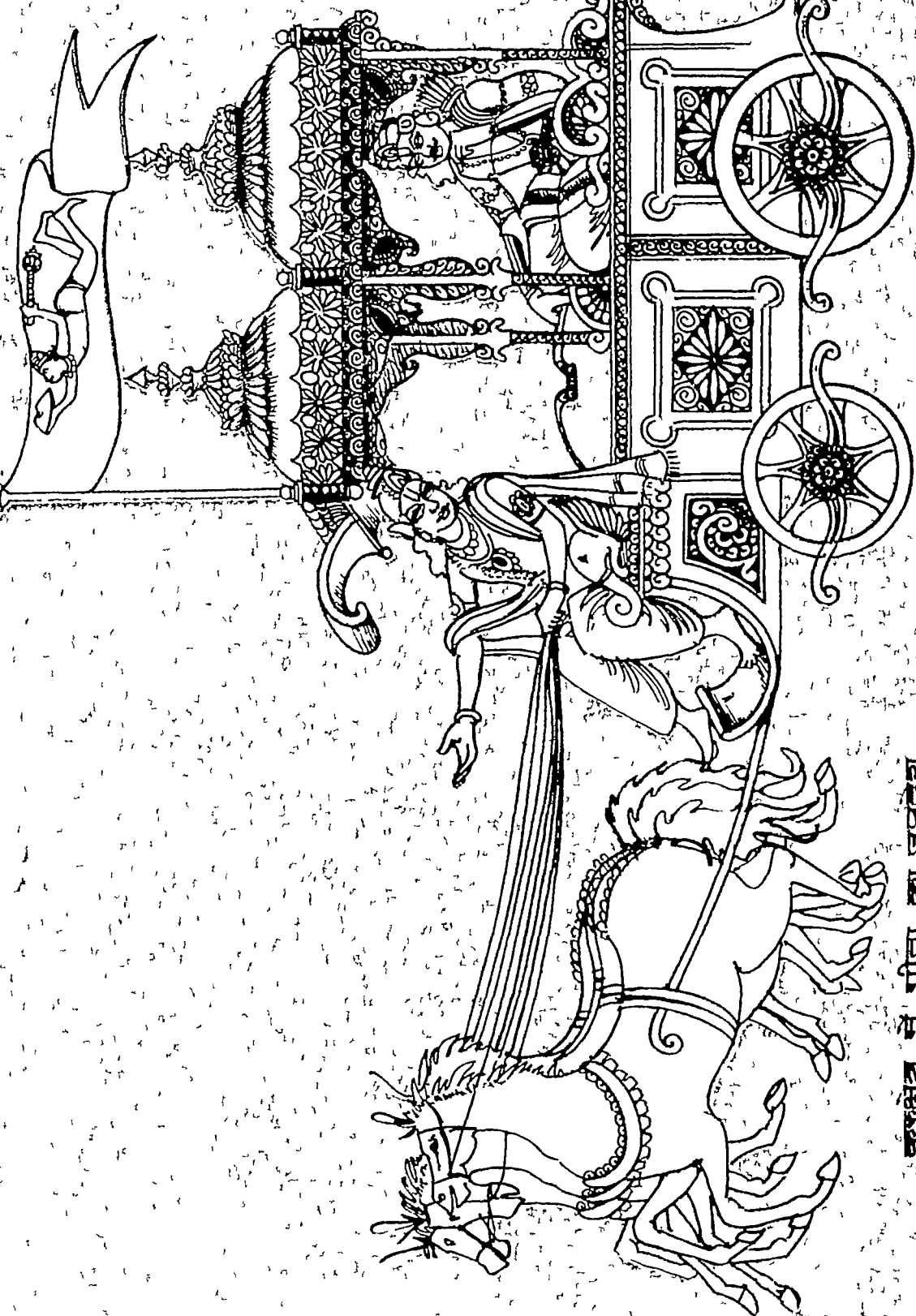
कुरुक्षेत्र में गीता का उपदेश

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम. ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

# गीता-रसामृत

## अथ प्रथमोऽध्यायः

### अर्जुन-विषादयोग

धृतराष्ट्र उवाच

**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।**
**मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥**

**शब्दार्थ**[1] **:** धृतराष्ट्र उवाच = धृतराष्ट्र ने कहा, सञ्जय = हे सञ्जय, धर्मक्षेत्रे = धर्मभूमि मे, कुरुक्षेत्रे = कुरुक्षेत्र मे, समवेता = एकत्रित, युयुत्सव = युद्ध की इच्छावाले, मामका: = मेरे, च एव = तथा पाण्डवा: = पाण्डवो ने, किम् = क्या, अकुर्वत = किया ।

**वचनामृत :** धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र मे एकत्रित होकर युद्ध की कामनावाले मेरे पुत्रो और पाण्डवो ने क्या किया ?

**सन्दर्भ :** परस्पर निर्णय के अनुसार पाण्डवो ने जब दुर्योधन से अपना राज्य लौटा देने के लिए निवेदन किया, उसने अस्वीकार कर दिया तथा कहा—मैं तुम्हे सूई की नोक के समान भी भूमि नही दूँगा। ज्ञानी जन के समझाने पर भी वह अन्याय के पक्ष मे अडिग रहा। सयोगवश दुर्योधन तथा अर्जुन एक ही दिन श्रीकृष्ण को रण-निमन्त्रण देने द्वारका गये। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कह दिया कि एक ओर उनकी बलशाली नारायणी सेना रहेगी तथा दूसरी ओर वह अकेले रहेगे तथा युद्ध नही करेंगे। दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से उनकी सेना माँग ली तथा अर्जुन ने अकेले श्रीकृष्ण को ही अपनी ओर लेना सहर्ष स्वीकार किया। अर्जुन की इच्छानुसार श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी बने और युद्ध के प्रारम्भ मे उन्होने समरभूमि मे अपने वचनामृत द्वारा गीता का दिव्य उपदेश दिया।

युद्ध की तैयारी होने पर व्यासजी ने धृतराष्ट्र के पास जाकर कहा—राजन्, यदि आप सग्राम देखना चाहे तो मैं आपको दिव्य चक्षु दे दूँगा। धृतराष्ट्र के मन मे दुर्योधन के पक्ष की पराजय होने का विश्वास था। किन्तु वह मोहवश उसकी विजय-कामना कर रहा था। अतएव उसने कहा—मैं अपने परिवार के हत्याकाण्ड को स्वय देखना नही चाहता, केवल वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। व्यासजी ने एतदर्थ सञ्जय को 'दिव्य दृष्टि'[1] प्रदान कर दी। युद्ध प्रारम्भ होने पर दसवे दिन भीष्म पितामह रथ से गिरा दिये गये। सञ्जय ने यह समाचार जब धृतराष्ट्र को सुनाया, धृतराष्ट्र ने सञ्जय को युद्ध का प्रारम्भ से ही विस्तारपूर्वक

---

१ पारायण करनेवाले के लिए शब्दार्थ पढना आवश्यक नहीं है। शब्दार्थ समझने मे सुविधा होने के लिए दिये गये हैं।

१. दिव्य दृष्टि-अतीन्द्रिय बोध (extra sensory perception)। भ्रूमध्य मे स्थित आज्ञाचक्र के जगाने से इन्द्रियेतर बोध हो जाता है।

वर्णन करने का आदेश दिया। धृतराष्ट्र ने पूछा—युद्धक्षेत्र मे एकत्रित कौरवो तथा पाण्डवो की सेना ने क्या किया ? ( कालान्तर मे दिव्य दृष्टिसम्पन्न महर्षि व्यास ने महाभारत के अन्तर्गत गीतावचनामृत का यथावत् वर्णन किया। )

रसामृत ( तत्त्वार्थ ) गीता का प्रारभ 'धर्म' शब्द से होता है। गीता मे धर्म के सारसर्वस्व को, वास्तविक तत्त्व को, सरल एव सुबोध रूप मे प्रस्तुत किया गया है। गीता के अनुसार, धर्म के सबध मे विवादो तथा मत-मतान्तरो के वाग्जाल मे न फँसते हुए ज्ञान अथवा भक्ति से ओतप्रोत होकर परमात्मा के साथ एक नाता स्थापित करना, निष्काम भाव से स्वधर्मरूप कर्तव्य पालन करते रहना, सब कुछ प्रभु को अर्पण करते हुए निश्चिन्त और निर्बन्ध होकर मोक्ष प्राप्त करना अथवा प्रभु को प्राप्त हो जाना—यही धर्म का तात्पर्य है।

आचार्यों ने धर्म की विविध व्याख्याएँ की हैं तथा उसके अनेक लक्षण बताये हैं। धर्म केवल सिद्धान्त नही है, आचरण है।[1] धर्म आचरण से प्रकट होता है।[2] धारण करने से धर्म होता है, मात्र कहने और व्याख्या करने से नही।[3] धर्म मानव-मात्र को धारण करता है। ज्ञानशून्य पशुओ की अपेक्षा बुद्धिजीवी मनुष्य मे धर्म ही एक विशेष अधिक गुण है।[4] मानव-कल्याण के लिए प्रकल्पित चारो पदार्थों ( धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ) मे सर्वप्रथम धर्म की ही गणना है।[5] धर्म के चार पाद हैं—सत्य, दया, शाति और अहिसा। मनु महाराज ने धर्म के दश लक्षण ( धैर्य, क्षमा, मन का सयम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियो का सयम, शुद्ध बुद्धि, उत्तम विद्या, सत्य, अक्रोध ) निर्धारित किये है तथा जिस व्यक्ति मे वे लक्षण होते हैं, वही सच्चा धार्मिक व्यक्ति है।[1]

जहाँ धर्म होता है, वहाँ विजय होती है, सफलता होती है।[2] धर्म मनुष्य को विवेक देकर दु ख में सबल एव सान्त्वना देता है, सुख मे सद्बुद्धि एव सात्त्विक स्फूर्ति देता है, प्रसन्नता, साहस, उत्साह, आत्मनियन्त्रण, सहानुभूति, परोपकार, सेवा, त्याग इत्यादि उच्च मानवीय गुणो की प्रतिष्ठा कर देता है तथा मनुष्य का आन्तरिक परिष्कार करके उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर देता है। धर्माचरण द्वारा मानव के अन्तस्तल मे दिव्य आलोक जगमगा उठता है।

वास्तव मे, धर्म का निर्णायक एव निर्देशक सात्त्विक तत्त्व हमारे भीतर ही होता है। धर्म हृदय मे स्थित हमारे घनिष्ठ सखा परमेश्वर के साथ सचेतन एव सजीव नाता स्थापित करने की प्रेरणा देता है तथा मार्गदर्शन करके अन्तर्मन को उदात्त एव उज्ज्वल बना देता है। धर्म आध्यात्मिक विकास का उत्तम साधन होता है।

धर्म की गति सूक्ष्म है[3] तथा अत्यन्त गूढ़ है। युधिष्ठिर कहते है कि तर्क धर्म को समझने और समझाने मे असमर्थ है, श्रुतियो के मत भिन्न हैं, किसी एक भी ऋषि का वाक्य प्रमाण अथवा अन्तिम निर्णय नही है तथा ऐसा प्रतीत होता है मानो कि धर्म का तत्त्व गुफा मे छिपा हुआ है। अतएव, महापुरुष जिस मार्ग पर चले, उसे हम प्रशस्त पथरूप मे स्वीकार कर सकते है[4]। आदर्श

---

१. आचार परमो धर्म ।
२ आचारप्रभवो धर्म ।
३ धारणाद् धर्म । धर्मो धारयति प्रजा ।
४ धर्मो हि तेषामधिको विशेषो ।
धर्मेण हीना पशुभि समाना ॥
५ धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म कि न सेव्यते ।

---

१ धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोध दशक धर्मलक्षणम् ॥
२ यतो धर्मस्ततो जय ।
३ सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य ।
४ तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना·
नैको ऋषिर्यस्य वच प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहाया
महाजनो येन गत स पन्था ॥ —महाभारत

शिष्य अर्जुन के लिए अपने गुरु श्रीकृष्ण से बढकर कोई अन्य महाजन नही है।

आप्तकाम पूर्णकाम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ससार के महारण्य मे जीवन-यात्रा सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए सर्वश्रेष्ठ राजपथ का दर्शन कराया है। वास्तव मे, गीता कोई रहस्यमय एव गूढ सिद्धान्त-ग्रन्थ अथवा रूढिमय धर्मग्रन्थ नही है। गीता जीवन-यापन के लिए एक व्यावहारिक शैली प्रस्तुत करती है, जो कर्तव्यशास्त्र अथवा आचरणशास्त्र के रूप मे मानवमात्र के लिए परम कल्याणकारी है। गीतोक्त धर्म व्यवहारपरक एव सदाचारप्रेरक है। गीता 'धर्म' से प्रारम्भ होकर 'कुरु' ( कर्म करो ) की प्रेरणा देते हुए, साधक को श्री, विजय और भूति[१] तक पहुँचा देती है।

कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है। धर्म का कर्म के साथ गहन सम्बन्ध है। 'कुरुक्षेत्र' मे 'कुरु' की ध्वनि है—कर्म करो। ससार एक विशाल कुरुक्षेत्र है। यदि हम उसे धर्मक्षेत्र बनाये रखे तो हमारा और समाज का विकास, अभ्युदय एव कल्याण होना अवश्यभावी है, किन्तु उसे अधर्म-क्षेत्र बनाने पर हम भय, चिन्ता, शोक, क्लेश और विनाश का आवाहन करते है। धर्मयुक्त कर्म करो, धर्म के साथ कर्म को जोड़ो। धर्म विना कर्म दूषित है, धर्म से कर्म विभूषित है। ससार मे धर्म और अधर्म अर्थात् सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय अथवा दैवी और आसुरी शक्तियो का युद्ध निरन्तर चलता रहता है तथा अन्त मे धर्म की विजय होती है। मनुष्य को सत्य की शक्तियो के पक्ष मे रहना चाहिए।

मनुष्य का शरीर भी धर्मक्षेत्र एव कुरुक्षेत्र है। मानव-देह धर्मभूमि तथा कर्मभूमि दोनो ही है। अन्य सभी योनियाँ तो केवल भोगयोनि हैं, किन्तु मनुष्ययोनि कर्मयोनि तथा भोगयोनि दोनो ही है। शरीर के क्षेत्र मे जो जैसा बोता है, वैसा ही काटता है तथा मनुष्य अपने सुख और दु ख का उत्तरदायी

१ तत्र श्रीर्विजयो भूतिः। —गीता, १८ ७८

स्वय ही है। जीवन-यात्रा को सुसम्पन्न करने के लिए धर्म तथा कर्म अथवा धर्ममय कर्म की परम आवश्यकता होती है। वास्तव मे, हमे यह शरीर भोग के लिए नही, बल्कि योग के लिए तथा उत्तम कर्म द्वारा परमात्मा तक पहुँचने के लिए मिला है।

मानव देह देवालय है, एक पवित्र मन्दिर है, जिसमे अन्तर्यामी परमेश्वर शुद्ध-बुद्ध आत्मा के रूप मे स्वय प्रतिष्ठित है। मिट्टी के इस दीपक के भीतर एक दिव्य ज्योति जगमगा रही है, जो इसे चेतना और जीवन देकर इसमे गति उत्पन्न कर रही है। अपने विचारो एव कर्मो द्वारा हम इसीमे स्वर्ग के सुख का दर्शन अथवा नरक-यातना के दु ख का अनुभव करते है। यह शरीर ही धर्म का प्रथम साधन है[१] तथा साधना द्वारा मोक्ष का द्वार खोल सकता है, **'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा'**। इसे विषयानुरागी अथवा प्रमादी बनाकर हम स्वय दु ख के बीज बोते है तथा भगवदनुरागी अथवा पुरुषार्थी बनाकर परमपद को प्राप्त कर सकते है। अतएव श्रुति का उपदेश है—जो करने योग्य उत्तम कार्य हैं, उन्हे करे तथा दोष एव दु ख उत्पन्न करनेवाले निन्दित कर्म न करे।[२]

मानव-देह एक सुदृढ दुर्ग है, जिसमे आठ[३] चक्र तथा नौ द्वार है और जो पूर्णत अजेय है। नौ द्वारो ( द्वाररूप इन्द्रियो ) वाले देह के भीतर परमात्मा स्वय विराजमान है, जो न केवल इसका बल्कि सारे विश्व का सचालक अधिपति है तथा चर और अचर को वश मे किये हुए है।[४] वास्तव

१ शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

२ यानि यानि अनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यानि अस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। —तैत्तिरीय उपनिषद्, १.११.२

३ अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या। —अथर्ववेद, १० २ ३१

४ नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते वहि.।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥
—श्वेताश्वतर उप०, ३ १८

मे यह देह सहज पवित्र है तथा नव द्वारो से भीतर का मल बाहर फेकता रहता है। मनुष्य अविवेक के कारण वहिर्मुखी होकर तथा माया के कुचक्र मे फँसकर अपने मन पर मल का ऐसा आवरण चढा लेता है, जो भीतर स्थित दिव्य तत्त्व को उसकी बुद्धि से ओझल कर देता है। जैसे कि कालिख दीप-ज्योति को अथवा राख अग्नि को ढँककर निस्तेज बना देती है। यह शरीर धर्मक्षेत्र एव कुरु क्षेत्र है, जिसमे धर्ममय कर्म का महत्त्व असदिग्ध है।[1] विवेकशील पुरुष गीतोक्त मार्ग पर चलकर शरीर के माध्यम से प्रारब्ध भोगते हुए तथा सत्कर्म करते हुए सच्चिदानन्द परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। समस्त सुख सच्चे साधक की शरण ग्रहण कर लेते हैं।

देहपिण्ड मे समग्र ब्रह्माण्ड का दर्शन हो सकता है। जो कुछ ब्रह्माण्ड मे है, देह मे भी है।[2] देह मे समस्त तीर्थ हैं, सारे लोक है तथा प्रभु का आवास है। यदि देह तीर्थ मे आन्तरिक साधना नही होगी तो बहिर्जगत् से भी कुछ प्राप्ति नही हो सकती। यदि भीतर अन्धकार है तो बाहर का प्रकाश भी उपयोगी नही हो सकता। अपने भीतर जागरण होने पर ही हम ससार का लाभ उठा सकते हैं। अन्तर्मुखी होकर भीतर ज्योति का दर्शन करने पर ही जीवन को ऊँचे धरातल पर ले जा सकते है तथा सच्चे ऐश्वर्य-माधुर्य का रसास्वादन कर सकते हैं। श्वास के हिलने-डुलनेवाले इस विचित्र पिंजरे मे एक अद्भुत पक्षी बैठा है, जिसका मधुर कूजन योगियो के मन को मुग्ध कर देता है। विरल पुरुष भीतर अनहद नाद सुनकर कृतकृत्य होने का सौभाग्य पाते हैं। अतएव शरीर मनुष्य के लिए एक सोपान है, जिसके द्वारा वह उच्चतम स्तर तक उठ सकता है तथा अपना एव लोक का कल्याण कर सकता है।

हमारा अन्तर्जगत् बहिर्जगत् की अपेक्षा कही अधिक रमणीक एव मनोरम है। मानव-देह मे क्षिति है, जल है, पावक है, समीर है, गगन है, सरोवर है, तरग हैं, पुष्पो की-सी सुगधि है, समुद्रो की अतल गहराई है, उत्तुग शिखरो की ऊँचाई है, आकाश की अनन्तता है, चित् का असीम विस्तार है, आनद का अबाध प्रवाह है, अमृतमय जीवन का स्वर्णिम दर्शन है तथा दिव्यत्व का सुरदुर्लभ साक्षात्कार है। भीतर की भव्यता का आस्वादन करने पर बाह्य जगत् की वैभवलिप्सा तुच्छ प्रतीत होने लगती है, भय, चिन्ता और क्लेश निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं तथा चित्त मे समता एव शान्ति स्वत प्रस्फुटित हो जाते हैं। भीतर मगलमयता का उदय होने पर प्रभु की सृष्टि मगलमय हो जाती है।

महाभारत का युद्ध प्रतीकात्मक भी है। अज्ञेय तथा अपरिमेय (परिभाषा से परे) तत्त्व को समझाने के लिए प्रतीको का उपयोग करना ऐसा उपाय है, जो गूढ तत्त्व को सरल और सुगम बना देता है। प्रतीक सत्य के रहस्यपूर्ण आयामो को स्पष्ट कर देते हैं।

महाभारत का युद्ध हमारे भीतर सद् और असद् शक्तियो का सग्राम भी है। इस युद्ध मे अनेक व्यूह रचे हुए हैं। राजा धृतराष्ट्र आँखो का ही नही, बल्कि बुद्धि का भी अन्धा है। उसे मोह ने अन्धा बना दिया है। अन्धे व्यक्ति प्राय असाधारण सन्त या असाधारण क्रूर और निर्लज्ज होते हैं। धृतराष्ट्र बहुत वृद्ध हो गया है, किन्तु मोहवश राष्ट्र को अन्याय से धृत किये हुए है तथा अत्यन्त आसक्त है, मोहान्ध है। मोहान्ध व्यक्ति स्वय तो नष्ट होता ही है, दूसरो को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। वह विनाश करने पर आरूढ है। 'अन्ध बल जड' अर्थात् विवेकरहित भौतिक बल प्रमाद और पाप का प्रेरक होता है। धृतराष्ट्र अन्याय का पक्षधर है तथा आततायियो का पोषण कर

---

१ इद शरीर कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

—गीता, १३ १

'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' —मानस।

२ यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।

रहा है। उसकी दुर्भावना स्पष्ट है। धृतराष्ट्र की इच्छापूर्ण कल्पना यह भी थी कि यदि युद्ध पुण्य-क्षेत्र[1] कुरुक्षेत्र मे हो तो कदाचित् वहाँ धर्मराज युधिष्ठिर युद्ध करने के लिए न जायेंगे। मोहमय धृतराष्ट्र कौरवो के लिए कहता है—'मामका' ( मेरे पुत्र ) तथा अपने भाई की सन्तान को मात्र 'पाण्डव' कहता है। 'मामका' मे ममत्व एव मोह की ध्वनि है। धृतराष्ट्र मोहान्धता का प्रतीक है।

सञ्जय से गीता का उपदेश सुनने पर भी दुराग्रही धृतराष्ट्र पर कोई प्रभाव नही होता जैसे पानी मे पड़े हुए पत्थर के भीतर जल प्रवेश नही कर पाता। **'मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलै विरंचिसम।'** उसका पुत्र दुर्योधन जिसने दु शासन के द्वारा सभामण्डप मे अबला द्रौपदी को निर्वसना कराने का कुत्सित प्रयास किया तथा जिसका दूषित अन्न खाकर गुरु और आचार्य मौन बैठे देखते रहे, असद् वृत्तियो के सेनापति होने का प्रतीक है। पापी धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रो पर दूषित सस्कार डालकर उन्हे भी भ्रष्ट कर दिया। भ्रष्ट माता-पिता सन्तान को भी दूषित कर देते है तथा कोई सौभाग्यशाली प्रारब्धवान् व्यक्ति माता-पिता के दोषो के प्रभाव से मुक्त रह पाता है।

युधिष्ठिर धर्मराज है। धर्म और उसके चार पाद मानो पाँच पाण्डव हैं। अथवा, पाँचो पाण्डव पञ्च ज्ञानेन्द्रियो के प्रतीक हैं, जो बुद्धि से परे स्थित दिव्य आत्मा के आलोक मे अपनी सद्वृत्तियो की सेना के सहारे असद्वृत्तियो की विशाल सेना के साथ युद्ध कर रहे है। श्रीकृष्ण दिव्य आत्मा के प्रतीक हैं, जिनके कुशल निर्देशन मे युद्ध करके वे विजय प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण न्याय और धर्मनीति के पक्षधर है। पञ्च पाण्डव न्याय के लिए ही धर्म-युद्ध कर रहे है।

अर्जुन श्रीकृष्ण का प्रिय सखा है। दिव्य पुरुष श्रीकृष्ण सभी सत्पुरुषो को अपनी ओर आकृष्ट करते है।[1] उनके मुखमण्डल से तेज की स्वर्णिम आभा प्रस्फुटित होती है। अर्जुन ( ऋजु साधक ) दिव्य पुरुष श्रीकृष्ण के प्रति सहज ही आकृष्ट है तथा वह श्रीकृष्ण को अपने रथ का सारथी अर्थात् मार्गदर्शक बनाकर विजयश्री प्राप्त करता है। भक्तगण अपने जीवनरथ की बागडोर प्रभु को सौंप-कर निश्चिन्त हो जाते हैं। अर्जुन ऋजुता के कारण गीतारसामृतपान का सर्वोत्कृष्ट अधिकारी है। गीता मे श्रीकृष्ण गुरुरूप मे सरल बुद्धिवाले शिष्य अर्जुन को उपदेश करते है। श्रीकृष्ण जगद्गुरु है।

गीता के प्रथम अध्याय का प्रथम श्लोक दिव्य गीता मन्दिर का भव्य प्रवेश-द्वार है। गीता का समस्त तात्पर्य इसीमे सन्निहित है। यह एक वाता-यन है, जिसमे गीता-प्रासाद की रमणीय झाँकी का मनोरम दर्शन सुलभ हो जाता है।

सञ्जय उवाच

**दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।**
**आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥**

**शब्दार्थ :** सञ्जय उवाच = सञ्जय ने कहा, **तदा** = तब, **राजा** = राजा, **दुर्योधन.** = दुर्योधन ने, **व्यूढं** = व्यूह-रचनायुक्त, **पाण्डव अनीकं** = पाण्डवो की सेना को, **दृष्ट्वा** = देखकर, **तु** = और, **आचार्यं उपसङ्गम्य** = आचार्य के पास जाकर, **वचनं अब्रवीत्** = ( यह ) वचन कहा।

**वचनामृत :** तब राजा दुर्योधन पाण्डवो की सेना को व्यूह-रचना मे स्थित देखकर आचार्य के पास पहुँचा और बोला।

---

१ धर्मशास्त्रो मे कुरुक्षेत्र का पुण्यक्षेत्र के रूप मे विशेष महत्त्व है। कुरुक्षेत्र मे अनेक ऋषिगण ने तप किया था तथा वहाँ खेती भी नही की जाती थी।

कुरुक्षेत्रे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे।
यद्दानं दीयते शक्त्या तदनन्ताय कल्पते ॥

अर्थात् कुरुक्षेत्र, प्रयाग तथा गगासागर पर शक्ति के अनु-सार दिया हुआ दान अनत हो जाता है।

१. **कर्षति सर्वं कृष्ण।**

यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद् मे 'कृष्ण' की चर्चा है, महाभारत के श्रीकृष्ण उससे भिन्न हैं।

**सन्दर्भ** दोनो सेनाओ को युद्ध के लिए रणक्षेत्र मे सस्थित देखकर सञ्जय ने निवेदन किया।

**रसामृत :** यद्यपि भीष्मपितामह कौरव-दल के सेनापति थे, दुर्योधन ने व्यूह-रचना आदि के सम्बन्ध मे अनुभवी द्रोणाचार्य से परामर्श करना उचित समझा। अपने मन मे वह पाण्डवो की व्यूह-रचना से भयभीत था तथा कूटनीति के कारण शिष्टाचार दिखाते हुए वह स्वय ही आचार्य के पास गया। यद्यपि शिष्टाचार सदैव उत्तम होता है, राजनीति-कुशल लोग कूटनीति के अधीन स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरो के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं। वह द्रोणाचार्य के मन मे पाण्डवो के प्रति द्वेप भी जगाना चाहता था। युद्ध मे प्रतिदिन नये व्यूह की रचना होती थी। प्रथम दिन पाण्डव-सेना की वज्रव्यूह के अनुसार रचना हुई थी। व्यूह-रचना के अनुसार ही सेना खडी की जाती थी।

**पश्यैता पाण्डपुत्राणामाचार्य महर्ती चमूम्।**
**व्यूढा द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥**

**शब्दार्थ** आचार्य=हे आचार्य, तव=आपके, **धीमता शिष्येण द्रुपदपुत्रेण**=बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र अर्थात् धृष्टद्युम्न द्वारा, **व्यूढा**= व्यूह-रचना की हुई, व्यूह के आकार मे खडी हुई, **पाण्डुपुत्राणा**=पाण्डु के पुत्रो अर्थात् पाण्डवों की, **एता महर्ती चमूम्**=इस विशाल सेना को, **पश्य**=देखिये।

**वचनामृत** हे आचार्य, पाण्डवो की इस विशाल सेना को देखिये, जिसकी व्यूह-रचना आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र ( धृष्टद्युम्न ) ने की है।

**सन्दर्भ** दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से अपने अन्त-र्भाव को प्रकाशित करना प्रारम्भ किया है।

**रसामृत** पाण्डवो की सेना केवल सात अक्षौ-हिणी थी तथा कौरवो की सेना ग्यारह अक्षौहिणी थी, किन्तु दुर्योधन मन मे भयभीत था। अतएव वह कूटनीति से द्रोणाचार्य के मन मे द्वेष जगाकर उसे उत्तेजित करना चाहता था। 'आपके बुद्धिमान् शिष्य और राजा द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न' कहकर दुर्योधन उन्हे यह स्मरण दिला रहा है कि ''हे आचार्य, पाचाल का राजा द्रुपद आपका शत्रु है, जिसने यज्ञ किया था कि उसे ऐसे पुत्र की प्राप्ति हो, जो आपको नष्ट कर दे तथा आपने उदार होकर उसके ही पुत्र धृष्टद्युम्न को शस्त्र-शिक्षा-विशारद बना दिया और उसी धृष्टद्युम्न ने पाण्डवो की सेना की व्यूह-रचना की।'' दुर्योधन के शब्द 'आपके बुद्धिमान् शिष्य और द्रुपद के पुत्र' व्यग्य से पूर्ण है। दुर्योधन वीर है तथा बुद्धिमान् है, किंतु कुटिल होने के कारण अन्याय का पक्षधर है। पाप ने उसके मनोबल को धराशायी कर दिया तथा उसे पाण्डवो की सेना, जो उसकी सेना से कम है, विशाल ( महती चमूम् ) दिखाई पडती है। वह द्रोणा-चार्य को विशेप सतर्क करने का प्रयत्न कर रहा है।

**अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।**
**युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथ ॥४॥**
**धृष्टकेतुश्चेकितान काशिराजश्च वीर्यवान्।**
**पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गव ॥५॥**
**युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।**
**सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥**

**शब्दार्थ :** अत्र=यहां ( पाण्डवो की सेना मे ), **महेष्वासा**=महान् धनुर्धारी, **युधि**=युद्ध मे, **भीमार्जुनसमा**=भीम और अर्जुन के समान, **शूरा**=बहुत शूर-वीर, ( **सन्ति**=हैं ), **युयुधान**=सात्यकि, **च**=और, **विराट**=विराट, **च**=और, **महारथ**=महारथी, **द्रुपद**=राजा द्रुपद, **च**=और, **धृष्टकेतु**=धृष्टकेतु, **चेकितान**=चेकितान, **च**=और, **वीर्यवान्**=बलवान्, **काशिराज**=काशिराज, **पुरुजित्**=पुरुजित्, **कुन्तिभोज**=कुन्तिभोज, **च**=और, **नरपुङ्गव**=नरश्रेष्ठ, **शैव्य**=शैव्य, **च**=और, **विक्रान्त**=पराक्रमी, **युधामन्यु**=युधामन्यु ( जिसका क्रोध युद्ध में भडकता है ), **च**=और, **वीर्यवान्**=बलवान्, **उत्तमौजा**=उत्तमौजा, **सौभद्र**=सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु, **च**=और, **द्रौपदेया**=द्रौपदी के पाँचो पुत्र, **सर्वे**=सभी, **एव**=ही, **महारथा**=महारथी, ( **सन्ति**=हैं )

**वचनामृत** यहाँ बडे धनुर्धर, जो भीम और अर्जुन के समान हैं, खड़े है—युयुधान, विराट, महा-

रथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान और वीर काशि-राज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और नरश्रेष्ठ शैव्य, पराक्रमी युधामन्यु और वीर उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र, द्रौपदी के पुत्र। ये सभी महारथी है।

**सन्दर्भ :** व्यूह-रचना दिखाकर दुर्योधन पाण्डव-सेना के प्रमुख महारथियो के नाम गिना रहे है।

**रसामृत :** दुर्योधन भीम और अर्जुन से विशेष भयभीत था, किन्तु शत्रुपक्ष मे तो उनके समान अनेक महारथी थे। वास्तव मे, पाण्डव-सेना के सेनापति भीम थे, यद्यपि नाममात्र के लिए धृष्ट-द्युम्न थे। युयुधान अर्जुन के शिष्य सात्यकि का दूसरा नाम है। ये यदुवशी थे। विराट मत्स्यदेश के राजा थे, जिनके यहाँ पाण्डवो ने एक वर्ष अज्ञात-वास किया था। अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा विराट की पुत्री थी। द्रुपद पाचाल देश के राजा थे, जो द्रोणाचार्य के शत्रु थे। द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न थे तथा पुत्री द्रौपदी (कृष्णा, याज्ञसेनी) थी। धृष्टकेतु चेदि देश के राजा शिशुपाल के पुत्र थे। चेकितान प्रख्यात यादव महारथी थे। काशिराज काशी के राजा थे, जिनके अनेक नाम थे। पुरुजित् और कुन्तिभोज कुन्ती के भाई तथा पाण्डवो के मामा थे। शैव्य युधिष्ठिर के श्वशुर थे, इनकी पुत्री (जो युधिष्ठिर की पत्नी थी) का नाम देविका था। वे परमचरित्रवान् थे, अत उन्हे नरपुङ्गव कहा गया है। युधामन्यु और उत्तमौजा भाई थे तथा अत्यन्त पराक्रमी थे। इन्हे अर्जुन के रथ के पहियो की रक्षा के लिए भी नियुक्त किया गया था। अभिमन्यु अर्जुन के पुत्र थे। उनकी माता सुभद्रा श्रीकृष्ण की बहन थी। अभिमन्यु ने अपने पिता अर्जुन से और प्रद्युम्न से युद्ध-कला सीखी थी तथा वह असाधारण वीर थे। द्रौपदी के पाँच पुत्र थे। दस हजार धनुर्धारी योद्धाओ का सचालक अथवा अकेले ही दस हजार धनुर्धारियो से युद्ध करनेवाला महारथी होता है। दुर्योधन (जिससे युद्ध करना कठिन हो) को ये सब महारथी मानो भयभीत कर रहे हैं। उसकी यह मानसिक पराजय युद्ध मे आगामी पराजय की सूचक है।



**अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।**
**नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥**
**भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।**
**अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥**
**अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।**
**नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥**

**शब्दार्थ :** **द्विजोत्तम**=हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, **अस्माकं**=हमारे, **तु**=भी, **ये**=जो, **विशिष्टाः**=विशेष अथवा प्रमुख, **तान्**=उनको, **निबोध**=जान ले, **ते**=आपके, **संज्ञार्थं**=जानने के लिए, **मम सैन्यस्य**=मेरी सेना के, **नायकाः**=(जो) सेनापति (हैं), **तान् ब्रवीमि**=उन्हे कहता हूँ। **भवान्**=आप, **च**=और, **भीष्मः**=भीष्म पितामह, **च**=और, **कर्णः**=कर्ण, **च**=और, **समितिञ्जय कृप**=सग्राम-विजयी कृपाचार्य, **च**=तथा, **तथैव**=तथा एव अर्थात् वैसे ही, **अश्वत्थामा**=अश्वत्थामा, **विकर्णः**=विकर्ण, **च**=और, **सौमदत्तिः**=सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा। **अन्ये च**=अन्य भी, **बहवः**=बहुत से, **शूरा**=शूरवीर, **नानाशस्त्रप्रहरणाः**=अनेक प्रकार के शस्त्रो से युक्त, **मदर्थे**=मेरे लिए, **त्यक्तजीविताः**=प्राण देनेवाले अथवा जीवन की आशा को त्याग देनेवाले, **सर्वे**=सभी, **युद्धविशारदाः**=युद्ध मे प्रवीण हैं।

**वचनामृत :** हे द्विजश्रेष्ठ, हमारी सेना मे जो प्रमुख हैं, उनको भी जान लीजिये। आपके जानने के लिए मैं उनको बताता हूँ। आप भीष्म और कर्ण और युद्ध-विजेता कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा। अनेक अन्य योद्धा है, जो मेरे लिए प्राण दे सकते है। वे अनेक शस्त्रो से सुसज्जित है और युद्ध-कला मे दक्ष है।

**सन्दर्भ :** दुर्योधन अपने पक्ष के वीरो का नाम लेकर उनकी प्रशसा कर रहा है।

**रसामृत :** द्रोणाचार्य महर्षि भरद्वाज के पुत्र थे तथा इन्होने परशुराम से युद्ध-कला सीखी थी। द्रोणाचार्य विद्वान्, तपस्वी और सन्तोषी थे, किन्तु साहसी वीर भी थे। भीष्म पितामह राजा शान्तनु के पुत्र थे। इनका नाम देवव्रत था तथा पिता के हित मे आजन्म ब्रह्मचारी रहने की भीष्म-प्रतिज्ञा

करने के कारण भीष्म कहलाये। भीष्म ज्ञानी, तेजस्वी, युद्ध-कला मे निपुण तथा परमवीर थे। कर्ण कुन्ती के पुत्र थे, जो सूर्य के प्रसाद से उन्हें प्राप्त हुए थे। इन्होने परशुराम तथा द्रोणाचार्य से युद्ध-कला सीखी थी तथा ये अर्जुन के समान वीर थे। कर्ण दानवीर थे। कृपाचार्य धर्मात्मा थे, किन्तु युद्ध मे विजय प्राप्त करने मे निपुण थे। अश्वत्थामा द्रोणाचार्य के पुत्र थे। ये भी युद्ध-कला मे दक्ष तथा अत्यन्त वीर थे। विकर्ण दुर्योधन के एक पराक्रमी छोटे भाई थे। सौमदत्ति ( भूरिश्रवा ) राजा सोमदत्त के पुत्र थे। ये प्रख्यात शूर-वीर थे। अन्य वीर शल्य, जयद्रथ, कृतवर्मा इत्यादि भी थे, जिनके नामो की गणना नही की गयी। दुर्योधन द्रोणाचार्य को यह कहकर प्रोत्साहित कर रहे हैं कि उनके स्वामीभक्त वीर प्राणो को तुच्छ समझकर युद्ध करेंगे। सेनापति के मनोबल को ऊँचा करना राजा का धर्म होता है।

**अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।**
**पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥**

**शब्दार्थ :** **भीष्माभिरक्षित**=भीष्म द्वारा रक्षित, **अस्माकं**=हमारी, **तत्**=वह, **बल**=सेना, **अपर्याप्तं**=अपार, अपरिमित अथवा अजेय ( है ) **तु**=और, **भीमाभिरक्षितं**=भीम द्वारा रक्षित, **एतेषां**=इनकी, **इद**=यह, **बलं**=सेना, **पर्याप्त**=सीमित, परिमित अथवा जीतने में सुगम ( है )।

**वचनामृत**　भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी यह सेना ( सब प्रकार से ) अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इन लोगो की यह सेना जीतने मे सुगम है।

**सन्दर्भ**　दुर्योधन अपनी सेना को अजेय कह रहे है।[1]

[1] दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से भी अपनी सेना की प्रशसा तथा पाण्डवो की सेना की निन्दा की थी।

गुणहीन परेषाञ्च बहु पश्यामि भारत।
गुणोदय बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते॥
—उद्योगपर्व, ५५ ५७

**रसामृत**　चतुर दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के मनोबल को दृढ करने के लिए अपनी सेना की अपेक्षा पाण्डवो की सेना को तुच्छ और जीतने मे सुगम सिद्ध करने का प्रयत्न किया। कहाँ महान् तेजस्वी तथा शूर-वीर भीष्म और कहाँ उद्धत भीम! भीष्म सर्वश्रेष्ठ, दृढनिश्चयी और अजेय माने जाते थे।

**अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिता।**
**भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्त सर्व एव हि ॥११॥**

**शब्दार्थ :** **च**=और, **सर्वेषु अयनेषु**=सभी मोर्चों पर, **यथाभागम् अवस्थिता**=अपने-अपने स्थान पर अवस्थित, **भवन्त सर्वे एव**=आप सब ही, **हि**=निस्सन्देह, **भीष्मम् एव अभिरक्षन्तु**=भीष्म की ही सब ओर से रक्षा करें।

**वचनामृत**　और, सब मोर्चो पर अपने-अपने स्थान पर अवस्थित होकर आप लोग सभी नि सन्देह भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करे।

**सन्दर्भ**　दुर्योधन, भीष्म के महत्त्व को जानते हुए, भीष्म की ही रक्षा के लिए अनुरोध करते हैं।

**रसामृत**　भीष्म पितामह को समर्थ एव सर्वोत्तम योद्धा समझते हुए भी, दुर्योधन मन मे आशकित है और गुरु द्रोणाचार्य से अनुरोध कर रहा है कि भीष्म को पूर्ण सहयोग मिलना चाहिए। जब सभा मे द्रौपदी को निर्वस्त्रा करने का प्रयास किया गया था, उसने भीष्म पितामह तथा गुरु द्रोणाचार्य से व्यर्थ ही रक्षा की याचना की थी। वास्तव मे पापी का अन्न खाकर बुद्धिमान् और तेजस्वी पुरुषो की बुद्धि मलिन और निस्तेज हो जाती है। ऐसे पुरुष अपने सरक्षक पापी के साथ ही कुत्ते की मौत मरते हैं। पितामह और आचार्य दोनो ही धर्मज्ञ तथा परमवीर थे तथा मन मे अन्यायी दुर्योधन से घृणा करते थे और पाण्डवो के प्रति उनके हृदय मे सहानुभूति थी। द्रोणाचार्य अर्जुन को अपना सर्वोत्तम शिष्य मानते थे तथा भीष्म श्रीकृष्ण का असीम आदर करते थे। वे आततायी दुर्योधन के हठ-दुराग्रह को भली प्रकार जानते थे। पापी नेता अथवा शासक अपने दुराग्रह

के कारण समूचे राष्ट्र को ही विनाश के कगार पर खडा कर देता है। युद्ध-क्षेत्र मे सकट समुपस्थित होने पर कुटिल दुर्योधन विनम्र बनकर भीष्म और द्रोणाचार्य का महत्त्व समझते हुए उनसे अनुनय-विनय कर रहा है।

**तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।**
**सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥**

**शब्दार्थ :** कुरुवृद्धः=कौरवो मे वृद्ध, प्रतापवान्=प्रतापी, पितामहः=भीष्म पितामह ने, तस्य हर्षं संजनयन्=उसका हर्ष अथवा उत्साह उत्पन्न करते हुए, उच्चैः सिंहनादं विनद्य=जोर से सिंहनाद करके, शङ्खं दध्मौ=शङ्ख बजाया।

**वचनामृत ·** कौरवो मे वृद्ध भीष्म पितामह ने उस दुर्योधन के हृदय मे हर्ष का सचार करते हुए उच्च स्वर मे सिंह के समान गरजकर शङ्ख बजाया।

**सन्दर्भ :** भीष्म पितामह युद्ध के प्रारम्भ मे सिंह-गर्जन के सदृश भीषण शङ्खनाद करते है। यह युद्ध-प्रारम्भ की घोषणा है।

**रसामृत :** भीष्म पितामह दुर्योधन के मनोभाव को जानते थे। अत उन्होने सिंहनाद के समान शङ्खनाद करके उसके मन मे हर्ष तथा सेना मे उत्साह का सचार किया। वास्तव मे भीष्म केवल विवश होकर युद्ध का सचालन कर रहे थे, किन्तु उनके मन मे श्रीकृष्ण और अर्जुन के पक्ष के लिए विशेष सम्मान था। भीष्म प्रतापी वीर थे। उनमे असाधारण तेज, वल, पराक्रम और शूरता थी तथा वे धर्मज्ञ भी थे। भीष्म का शङ्खघोष शार्दूल के गर्जन के सदृश भीषण था। भीष्म ने शङ्खनाद से कौरवो की ओर से युद्ध के प्रारभ की घोषणा कर दी। यह तुमुलनाद पाण्डव-सेना के लिए युद्ध की चुनौती थी।

**ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।**
**सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥**

**शब्दार्थ .** ततः=उसके बाद, शङ्खा च भेर्यः=बहुत शङ्ख और भेरी ( नगारे ), च=और, पणव आनक गोमुखाः=ढोल, मृदङ्ग और नृसिंह आदि बाजे, सहसा एव=एक साथ ही, अभ्यहन्यन्त=बजे, स शब्द=( उनका ) वह शब्द, तुमुलः अभवत्=बहुत भीषण हुआ।

**वचनामृत :** इसके उपरान्त शङ्ख, नगारे, ढोल, मृदङ्ग, नृसिंह आदि बाजे सहसा बज उठे और वह नाद भयकर हुआ।

**सन्दर्भ :** भीष्म के द्वारा शङ्खनाद होने पर कौरव-सेना ने भी युद्ध के बाजे बजाकर युद्ध-घोषणा की।

**रसामृत :** भीष्म के द्वारा सिंहनाद होने पर कौरवो की सेना मे उत्साह का सचार हो गया और सेना ने भी युद्ध के वाद्य ( बाजे ) बजाकर युद्ध का वातावरण उत्पन्न कर दिया। यह भयकर नाद नभमण्डल मे गूँज उठा। पृथ्वी और आकाश मे भीषण प्रतिध्वनि व्याप्त हो गयी।

युद्ध मे वाद्यो के बजाने की शैली लोक से भिन्न होती है तथा उसके प्रभाव से सेना मे उत्साह का संचार होता है। सेना मे तेजस्विता, आक्रामकता, मरने-मारने का साहस तथा निर्भयता का सचार करने के लिए सेना के साथ विशेष वाद्य की व्यवस्था की जाती है।

**ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।**
**माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥**

**शब्दार्थ :** ततः=इसके पश्चात्, श्वेतैः हयैः युक्ते=श्वेत घोडो से युक्त, महति स्यन्दने=महान् ( उत्तम ) रथ मे, स्थितौ=स्थित, माधवः च पाण्डवः एव=श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी, दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः=दिव्य शङ्ख बजाये।

**वचनामृत :** इसके उपरान्त श्वेत घोड़ो से युक्त महिमामय रथ मे बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने अपने-अपने दिव्य शङ्खो का वादन किया।

**सन्दर्भ :** सञ्जय अब पाण्डवों की प्रतिक्रिया बता रहे हैं।

**रसामृत :** पाण्डवो को दिव्य शक्ति का समाश्रय प्राप्त है। दिव्य शक्ति सदैव न्याय-पक्ष का समपोषण करती है। दिव्य शक्ति सत्य की प्रतिष्ठा और असत्य के विनाश के लिए सदैव सक्रिय रहती है।

जिसके साथ श्रीकृष्ण है उसकी विजय निश्चित होती है।[1] अर्जुन के रथ मे चार श्वेत घोडे है, मानो धर्म के चार पाद हो अथवा चारो पुरुषार्थ हो। श्वेत वर्ण निर्मल और पवित्र आचरण का सूचक होता है। अग्निदेव ने खाण्डववन-दाह के समय अर्जुन को यह तेजोमय रथ दिया था। सत्य और न्याय का रथ तेजोमय अर्थात् अजेय होता है। सत्कर्म तेजोमय रथ के घोडे बनकर उसे विजय के द्वार तक पहुँचा देते हैं। अर्जुन के रथ की ध्वजा पर दैवी शक्ति के प्रतीक हनुमान् विराज रहे हैं। सत्यवादी, सरल व्यक्ति जो अपने जीवन-रथ[2] की बागडोर परमात्मा को सौंप देता है तथा सत्कर्म करता रहता है, उसकी सुरक्षा दैवी शक्तियाँ करती हैं। (अर्जुन का सारथी होने से कृष्ण को पार्थ-सारथी कहते हैं।)

**पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जय ।**
**पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदर ॥१५॥**
**अनन्तविजय राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।**
**नकुल सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥**
**काश्यश्च परमेष्वास शिखण्डी च महारथ ।**
**धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजित ॥१७॥**
**द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वश पृथिवीपते ।**
**सौभद्रश्च महाबाहु शङ्खान्दध्मु पृथक् पृथक् ॥१८॥**

**शब्दार्थ** . **हृषीकेश पाञ्चजन्य** = श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्यनामक शङ्ख को, **धनञ्जय देवदत्त** = अर्जुन ने देवदत्त-नामक शङ्ख को, **भीमकर्मा वृकोदर पौण्ड्र महाशङ्ख** = भयानक कर्म करनेवाले तथा अतिभोजी भीम ने पौण्ड्र-नामक महाशङ्ख को, **दध्मौ** = बजाया। **कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर अनन्तविजय** = कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजयनामक शङ्ख को, **नकुल च सहदेव सुघोष-मणिपुष्पकौ** = नकुल और सहदेव ने सुघोष तथा मणिपुष्पक नामवाले शङ्खो को (बजाया)। **परमेष्वास काश्य च** = और श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज ने, **महारथ शिखण्डी च** = और महारथी शिखण्डी ने, **धृष्टद्युम्न. च विराट** = धृष्टद्युम्न और विराट ने, **च अपराजित सात्यकि** = और अजेय सात्यकि ने, **द्रुपदो च द्रौपदेया** = राजा द्रुपद और द्रौपदी के पाँचो पुत्रो ने, **च महाबाहु सौभद्र.** = और विशाल भुजावाले अभिमन्यु ने, **सर्वश** = सभी ने, **पृथिवीपते** = हे राजन्, **पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मु** = अलग-अलग शङ्ख बजाये।

**वचनामृत** . श्रीकृष्ण ने अपने पाञ्चजन्य को, अर्जुन ने अपने देवदत्त और भयकर कार्य करनेवाले तथा अतिभोजी भीम ने अपने पौण्ड्र को बजाया। कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अपने अनन्त-विजय को, नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणि-पुष्पक को बजाया और महान् धनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न और विराट तथा अजेय सात्यकि ने भी शङ्ख बजाया। हे राजन्, द्रुपद और द्रौपदी के पुत्रो ने तथा महाबाहु अभिमन्यु ने सब ओर अपने-अपने शङ्ख बजाये।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण और अर्जुन के बाद पाण्डवो ने तथा उनके सेना-नायको ने भी शङ्ख बजाये।

**रसामृत** सर्वप्रथम हृषीकेश (श्रीकृष्ण) ने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया। 'हृषीकेश' का अर्थ है इन्द्रियो का स्वामी, इन्द्रियो को वश मे रखने-वाला। हर्ष, सुख और सुखमय ऐश्वर्य का परम निधान होने के कारण भी श्रीकृष्ण को हृषीकेश कहते हैं। 'पाञ्चजन्य' मे पञ्च परमेश्वर अथवा पञ्चजन की ध्वनि है। धनञ्जय (अर्जुन) ने 'देवदत्त' शङ्ख बजाया। 'धनञ्जय' का अर्थ है धन को जीतनेवाला। 'धनञ्जय' मे यह ध्वनि है कि अर्जुन अपार धन-राशि को जीतने पर भी धन के लोभ और मोह से मुक्त था। धन से कभी किसी मनुष्य को तृप्ति नही मिल सकती।[1] सुख-शान्ति चाहनेवाला मनुष्य धन का त्यागपूर्वक भोग करता है, मोहपूर्वक सचय नही करता। 'देवदत्त' मे ध्वनि

---

१ जयस्तु पाण्डुपुत्राणां येषा पक्षे जनार्दन ।

२ कठोपनिषद् मे शरीर-रथ का वर्णन है, जिसमे घोडे इन्द्रियाँ हैं, मन बागडोर है, बुद्धि सारथी और आत्मा रथ का स्वामी है। —कठ उप० २ ३

---

१ न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य । —कठ उप० १ १ २७ अर्थात् धन से मनुष्य को शान्ति नही मिलती।

है कि अर्जुन का नाद दिव्य था, देव-प्रेरित था। अर्जुन के जीवन मे भौतिक वल के साथ दिव्यता का समन्वय था। इसी कारण वह श्रीकृष्ण का कृपापात्र वन गया था। भीम परम वलवान् था, भीपण कार्य कर सकता था तथा वहुत अधिक भोजन करके उसे पचाने की क्षमता होने के कारण उसे भीमकर्मा तथा वृकोदर ( भेड़िये के पेटवाला ) कहते थे। 'भीमकर्मा' का अर्थ अतिमानवीय एव कठिन कार्य करनेवाला है, न कि पापकर्म करनेवाला। उनके सव कार्य महान् थे, उनका शङ्ख भी महाशङ्ख था। सत्यनिष्ठ युधिष्ठिर के शङ्ख का नाम 'अनन्तविजय' था। सत्य की सदैव अनन्त विजय होती है। नकुल वीर होकर भी मधुर थे। उनकी वाणी भी मधुर थी, उनके शङ्ख-घोष मे माधुर्य था। उनके शङ्ख का नाम 'सुघोष' था। सहदेव वुद्धिमान् थे, उनकी वाणी शालीनतापूर्ण होती थी। उनके शङ्ख का नाम 'मणिपुष्पक' था। इन शङ्खो के नाम प्रतीकात्मक भी हैं।

शिखण्डी और धृष्टद्युम्न राजा द्रुपद के पुत्र थे, शिखण्डी वडे पुत्र थे, जो कन्या के रूप मे उत्पन्न हुए तथा यौन-परिवर्तन होने पर पुरुष हो गये थे। भीष्म पितामह को यह ज्ञात था, अतएव वे शिखण्डी पर आक्रमण नही करते थे। यह शिखण्डी ही भीष्म पितामह की मृत्यु का कारण वना।

इन शङ्खों के नामो से पाण्डवो की विजय की पूर्वसूचना मिलती है।

स घोषो धार्तराष्ट्राणा हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

शब्दार्थ : च = और, स = वह, तुमुलः = भयानक, घोष· = शब्द ( ने ), नभ च पृथिवीं एव = आकाश और पृथ्वी को भी, व्यनुनादयन् = शब्दायमान करते हुए, धार्तराष्ट्राणां = धृतराष्ट्र के पुत्रो के, हृदयानि = हृदयो को, व्यदारयत् = विदीर्ण कर दिया।

वचनामृत : ( शङ्खो के ) उस घोप ने आकाश और पृथ्वी को शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रो के हृदय को विदीर्ण कर दिया।

सन्दर्भ : पाण्डवो के शङ्ख-घोष का कौरवो पर भीपण प्रभाव हुआ।

रसामृत : कौरवो के शङ्ख-घोष की ध्वनि तथा प्रतिध्वनि से पाण्डव भयभीत नही हुए, वल्कि उन्होने उत्तेजित होकर ऐसा शङ्ख-वादन किया कि कौरवो के हृदय काँपने लगे तथा वे मन मे भीति त्रस्त, व्याकुल एव निराश हो गये। सत्यवादी की गर्जना से पापी का हृदय फटता ही है। भौतिक वल कितना भी प्रचुर क्यो न हो, वह सात्त्विक वल के सामने देर तक ठहर नही सकता। आततायी दुर्योधन की पराजय और धर्मात्मा पाण्डवो की विजय के लक्षण युद्ध के प्रारम्भ मे ही स्पष्ट होने लगे है। यह एक सनातन सत्य है कि पराक्रम की विजय तभी होती है, जब उसके साथ स्वार्थ जुड़ा हुआ न हो तथा जब वह धर्मप्रेरित हो। सत्य के घोष ने असत्य के घोष को परास्त कर दिया। सत्य के पक्षधर का मनोवल ऊँचा तथा असत्य के पक्षधर का मनोवल नीचा होता है।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

शब्दार्थ : महीपते = हे राजन्, अथ = इसके पश्चात्, कपिध्वजः पाण्डव· = कपि की ध्वजावाले अर्जुन ने, व्यवस्थितान् धार्तराष्ट्रान् = व्यवस्था मे खड़े हुए धृतराष्ट्र के पुत्रो को, दृष्ट्वा = देखकर, तदा शस्त्रसपाते प्रवृत्ते = तव शस्त्र चलाने की तैयारी के समय, धनुः उद्यम्य = धनुप उठाकर। हृषीकेशं इदं वाक्यं आह = श्रीकृष्ण से यह वचन कहा। अर्जुन उवाच = अर्जुन ने कहा, अच्युत = हे कृष्ण, मे रथं उभयो सेनयो मध्ये स्थापय = मेरे रथ को दोनो सेनाओ के मध्य मे खड़ा कर दीजिये। यावत् = जव

तक अथवा जिससे, अह=मैं, एतान्=इन, अवस्थितान् योद्धुकामान् निरीक्षे=खडे हुए युद्ध की कामनावालो का निरीक्षण कर लूं, अस्मिन् रणसमुद्यमे=इस रण के काम मे, मया कै सह योद्धव्यम्=मेरे द्वारा किनसे युद्ध होना है। दुर्बुद्धे धार्तराष्ट्रस्य युद्धे प्रियचिकीर्षव = दुर्मति दुर्योधन का युद्ध मे प्रिय ( हित, कल्याण ) चाहनेवाले, ये एते अत्र समागता =जो ये यहाँ आये हैं, ( तान्= उनको ), योत्स्यमानान्=युद्ध करनेवालो को, अह अवेक्षे =मैं देखूंगा।

**वचनामृत** हे राजन्, उस समय कपि ( हनुमान् ) के चिह्न से युक्त ध्वजावाले अर्जुन ने व्यूह-रचना मे स्थित धृतराष्ट्र के पुत्रो को देखा और जब शस्त्रास्त्र चलनेवाले थे, उसने अपना धनुष उठाकर, श्रीकृष्ण से यह कहा—हे श्रीकृष्ण, मेरे रथ को दोनो सेनाओ के मध्य मे लाकर खडा कर दो, जिससे मैं उन लोगो को देख लूं, जो युद्ध के लिए उत्सुक खड़े हैं, मुझे किनसे इस रण मे युद्ध करना है। तथा, दुर्मति दुर्योधन का रण मे कल्याण चाहनेवाले जो ये यहाँ आये है, मैं उन युद्ध करनेवालो को देखूंगा।

**सन्दर्भ** अर्जुन युद्ध करने के विचार से कौरव-सेना के नायको को देखना चाहते हैं।

**रसामृत** · हनुमान् सात्त्विक शक्ति की विजय के प्रतीक है। अर्जुन के धर्म-युद्ध मे उनकी ध्वजा पर हनुमान् का चित्र अंकित था।[1] सञ्जय श्रीकृष्ण को 'हृषीकेश' ( इन्द्रियो को स्ववश मे रखनेवाला ) कहकर उनके प्रति आदर प्रकट करता है। अर्जुन श्रीकृष्ण को 'अच्युत ( अर्थात् अविचल, दृढ, कभी स्खलित न होनेवाला ) कहकर उनमे अपने विश्वास की सूचना देता है। अर्जुन श्रीकृष्ण से निवेदन करता है कि वह उसके रथ को ऐसे उपयुक्त स्थान पर खडा कर दे, जहाँ वह कौरवो का सैन्य-बल देख सके। श्रीकृष्ण सारथी हैं, रथवान् अर्जुन के निर्देश का पालन करते हैं, उसकी प्राण-रक्षा के लिए यत्न करते हैं तथा आवश्यकता होने पर उपदेश और आदेश भी देते हैं। अर्जुन के मन मे कौरवो को शस्त्र-प्रहार के लिए उद्यत देखकर वीर रस तो जाग गया, किन्तु उसने गाण्डीव धनुष उठाकर भी युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व सेनाओ का निरीक्षण करना चाहा। अर्जुन दुर्योधन को 'दुर्बुद्धि' कहता है, क्योकि उसकी हठवादिता के कारण पाण्डवो को युद्ध करने के लिए बाध्य होना पडा। स्वय श्रीकृष्ण ने भी युद्ध को टालने का प्रयत्न किया था, किन्तु दुर्योधन युद्ध करने पर दृढ था। अर्जुन अन्याय के पक्ष मे लडनेवालो को भी देख लेना चाहता है। ससार मे सत्यवादी को अपने थोडे से भी समर्थक एकत्रित करने मे कठिनाई होती है, यद्यपि अन्त मे उसकी विजय होती है, किन्तु पापी के अनेक समर्थक शीघ्र ही एकत्रित होकर उसके पक्ष मे खडे हो जाते है, यद्यपि अन्त मे वे सब परास्त हो जाते हैं। सत्यवादी को आदि से अन्त तक धैर्यपूर्वक न्याय की रक्षा के लिए दृढ रहना चाहिए। शङ्ख-ध्वनि से युद्ध प्रारभ होने की घोषणा के पश्चात् कौरव-पक्ष के सेनानायको एव दुर्योधन के समर्थको को देखने की इच्छा के मूल में कदाचित् अर्जुन के मन की यह गुप्त भावना थी कि उसे विवश होकर ही रणक्षेत्र मे आना पडा और वह केवल राज्य-प्राप्ति के लिए स्वजन के साथ लडना नही चाहता था।

१ एक पूर्वकथा के अनुसार रथ के शिखर पर स्वय हनुमान् सूक्ष्मरूप मे विराजमान थे।

सञ्जय उवाच

**एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।**
**सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥**
**भीष्मद्रोणप्रमुखत सर्वेषा च महीक्षिताम्।**
**उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥**

**शब्दार्थ** · सञ्जय उवाच=सञ्जय ने कहा, भारत=हे धृतराष्ट्र, गुडाकेशेन एव उक्त =अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे हुए, हृषीकेश =श्रीकृष्ण ने, उभयो सेनयो मध्ये= दोनो सेनाओ के मध्य मे, भीष्मद्रोणप्रमुखत =भीष्म और द्रोण के सामने, च सर्वेषा महीक्षिताम्=और सभी राजाओ के ( सामने ), रथोत्तम स्थापयित्वा=श्रेष्ठ रथ को

स्थापित करके, इति=ऐसे, उवाच=कहा, पार्थ एतान् समवेतान् कुरून् पश्य=हे पार्थ, इन एकत्रित हुए कौरवो को देख ले।

**वचनामृत :** सञ्जय ने कहा—हे भारतवशी धृतराष्ट्र, अर्जुन द्वारा इस प्रकार सबोधन किया जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनो सेनाओ के मध्य मे भीष्म, द्रोणाचार्य और सभी राजाओ के सामने उत्तम रथ को खड़ा करके इस प्रकार कहा—हे पार्थ, एकत्रित इन कौरवो को देख। अथवा, इस प्रकार कहे जाने पर श्रीकृष्ण ने दोनो सेनाओ के मध्य मे उत्तम रथ को स्थापित कर दिया तथा भीष्म, द्रोण और सभी राजाओ के सामने यह कहा—हे पार्थ, एकत्रित हुए इन कौरवो को देख।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ को सेनाओ के मध्य मे खडा कर दिया।

**रसामृत :** अर्जुन ने गुडाका अर्थात् निद्रा पर विजय प्राप्त की थी, अतएव उसे गुडाकेश कहा जाता था।[1] उन्हे आलस्य नही सताता था। जितेन्द्रिय पुरुष स्वेच्छा से जब चाहे सो सकते है और जब चाहे जाग सकते है। गुडाकेश का अर्थ है—आत्मवशी तथा अत्यन्त सजग। यद्यपि युद्ध की घोषणा होने पर पाण्डवो को युद्ध प्रारम्भ कर देना चाहिए था, श्रीकृष्ण ने सारथी होने के नाते अर्जुन के निर्देश को स्वीकार करके उसके रथ को दोनो सेनाओ के मध्य मे स्थापित कर दिया। वास्तव मे गीता के उपदेश का बीजारोपण यही होनेवाला था। श्रीकृष्ण इस रहस्य को जान रहे थे।

**तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।**
**आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।२६।**
**श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।**
**तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥**
**कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।**

**अर्जुन उवाच**

**दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥**

१ 'गुडाकेश' का एक अन्य अर्थ है—गेंद की भाँति बँधे हुए केशवाला।

**सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।**
**वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥**
**गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।**
**न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥**

**शब्दार्थ :** अथ=इसके पश्चात्, पार्थ तत्र उभयोः अपि सेनयोः स्थितान्=अर्जुन ने उन दोनो सेनाओ मे स्थित हुए, पितॄन् पितामहान् आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् तथा सखीन् श्वशुरान् च सुहृद एव अपश्यत्=पिता के भाइयो को, पितामहो को, आचार्यों को, मामाओ को, भाइयो को, पुत्रो को, पौत्रो को तथा मित्रो के ससुरो को और सुहृदो को भी देखा। तान् अवस्थितान् सर्वान् बन्धून् समीक्ष्य=उन खडे हुए सभी बन्धुओ को देखकर, सः परया कृपया आविष्ट कौन्तेयः=वह अत्यन्त कृपा (करुणाभाव) से युक्त हुआ अर्जुन, विषीदन् इदं अब्रवीत्=विषाद (शोक) करता हुआ यह बोला। अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, कृष्ण=हे कृष्ण, इमं युयुत्सु समुपस्थितं स्वजनं दृष्ट्वा मम गात्राणि सीदन्ति=इस युद्ध की इच्छावाले खडे हुए स्वजन-समुदाय को देखकर मेरे गात्र (अङ्ग) शिथिल हो रहे हैं, च मुख परिशुष्यति=और मुख सूख रहा है, च मे शरीरे वेपथु. च रोमहर्ष. जायते=और मेरे शरीर मे कम्पन और रोमाञ्च हो रहा है। हस्तात् गाण्डीवं स्रंसते=हाथ से गाण्डीव धनुष छूट रहा है, च त्वक् एव परिदह्यते=और त्वचा बहुत जल रही है, च मे मन. भ्रमति इव=और मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, अवस्थातुं न शक्नोमि=(अब मैं) खडा होने मे भी समर्थ नही हूँ।

**वचनामृत** वहाँ अर्जुन ने उन दोनो सेनाओ के मध्य मे अपने पितृगण (चाचा-ताऊ), पितामहगण (दादा-परदादाओ), गुरुजन, मामाओ, भ्रातृगण, पुत्र-पौत्रगण, मित्रगण को, ससुरो और सुहृदो को, खड़े हुए देखा। उन उपस्थित सभी सम्बन्धियों को देखकर वह कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणा से युक्त होकर विषाद (शोक) करते हुए यह बोला—हे कृष्ण, युद्ध के अभिलाषी इस स्वजन-समुदाय को देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर मे कम्प और रोमाञ्च हो रहा है। हाथ से गाण्डीव धनुष छूटा जा रहा है और त्वचा भी

बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा ( चकराया-सा ) हो रहा है और मैं खडा रहने मे भी समर्थ नही हूँ ।

**सन्दर्भ** अर्जुन के मन मे विषाद उत्पन्न हो रहा है।

**रसामृत :** दोनो सेनाओ के मध्य मे खडे होने पर अर्जुन ने दोनो ओर अपने स्वजन-समुदाय को देखा। भूरिश्रवा आदि पिता के तुल्य थे, भीष्म और सोमदत्त इत्यादि पितामह एव प्रपितामह ( बाबा, परबाबा ) थे, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदि गुरुजन थे, पुरुजित्, कुन्तिभोज, शल्य आदि मामा थे, अभिमन्यु, घटोत्कच आदि पुत्र और भतीजे थे, कुछ पौत्रो के समान थे, अश्वत्थामा आदि कुछ सखा थे, द्रुपद और शैब्य आदि ससुर थे, अनेक सुहृद् ( हितैषी ) थे। धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, जयद्रथ आदि सम्बन्धी भी थे। उसके मन मे उन्हे देखकर केवल स्वाभाविक करुणाभाव ही नही जागा, असाधारण करुणाभाव ( कृपया परयाविष्टो ) जाग गया। यह एक दोष था तथा रणक्षेत्र मे वीर क्षत्रिय के लिए कदापि उचित नही था।

युद्ध के लिए खडे हुए स्वजन-समुदाय को देखकर असीम करुणाभाव ने उसके मन को ग्रस्त कर लिया तथा उसके मन मे ग्लानि और खिन्नता छा गयी। विषाद की मन स्थिति को अर्जुन श्रीकृष्ण से छिपा न सके। भ्रमित मन के कारण उनके शरीर की दशा भी शोचनीय हो गयी। शरीर की अवस्था मानसिक अवस्था पर निर्भर रहती है, क्योकि देह मन का अनुगामी होता है। यदि मन स्वस्थ और शान्त है तो शरीर नियन्त्रण मे रहकर स्वस्थ और शान्त ही रहता है, किन्तु यदि मन नियन्त्रण मे न रह सके तथा व्याकुल और अशात हो जाता है तो शरीर मे भी व्याकुलता छा जाती है। अनुचित दया के कारण उत्पन्न विषाद ने अर्जुन को व्याकुल बना दिया और वह अपने ऊपर नियन्त्रण न रख सका। वह अपनी मानसिक अवस्था को न नियन्त्रित कर सका और न छिपा सका। वीर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अपनी मानसिक एव शारीरिक दशा का वर्णन करते हुए स्पष्टत. स्वीकार किया कि उसके अग शिथिल हो गये, मुख सूख गया, शरीर काँपने लगा, रोमाञ्च होने लगा, धनुष हाथो से छूटने लगा, त्वचा मे दाह-सा होने लगा, वह खडा रहने मे भी समर्थ न रह सका और मन चकराने लगा। करुणाजनित विषाद के कारण वीर अर्जुन के मन तथा शरीर मे कायरता के लक्षण प्रकट हो गये। असीम मानसिक पीडा ने उसे दयनीय बना दिया। वास्तव मे यह अर्जुन की करुणा नही थी, विवेकरहित क्षणिक भावुकता थी। अर्जुन अनेक बडे युद्ध कर चुका था और उसके मन मे कभी दयार्द्रता न आयी थी, किन्तु यह स्वजन के साथ युद्ध था, अतएव उसके मन मे मोह के कारण अपरिसीम करुणा के रूप मे विवेकरहित भावुकता जाग गयी थी। उसका व्यवहार भावुकतापूर्ण था, वीरोचित नही। सहृदय एव सरल मनुष्य प्राय भावुकता के प्रवाह मे बह जाते हैं तथा विवेक ही उन्हे भावुकता के भँवर से पार करता है। विवेक का अर्थ होता है उचित दिशा मे विचार करना, मोहादि से ऊपर उठकर कर्तव्य का निश्चय करना।

**निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।**
**न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥**

**शब्दार्थ .** केशव = हे कृष्ण, ( अह = मै ) **निमित्तानि च विपरीतानि पश्यामि** = लक्षणो को विपरीत ( प्रतिकूल, अशुभ ) ही देखता हूँ, **आहवे** = युद्ध में, **स्वजन हत्वा श्रेय च न अनुपश्यामि** = अपने ही कुल को मारकर कल्याण भी नही देखता हूँ।

**वचनामृत** हे कृष्ण, मैं लक्षणो को प्रतिकूल देख रहा हूँ तथा युद्ध मे स्वजन समुदाय को मारकर कल्याण भी नही देखता हूँ।

**सन्दर्भ** विषाद की अवस्था मे प्रलाप प्रारम्भ हो रहा है।

**रसामृत .** जब मन मे कायरता और निराशा का भाव छा जाता है, मनुष्य की चिन्तन-शैली भी दोषमय हो जाती है। मन मे उत्साह और आशा का भाव आने पर चिन्तन-शैली मे भी उत्साह और

आशा आ जाते हैं। ऐसे लोग विरले ही होते है, जो बुद्धि को सदैव मन से ऊपर रखते है। जब बुद्धि मन के भाव से परास्त हो जाती है, वह मन का खिलौना ही बन जाती है। मन के निकृष्ट भाव (भय, निराशा, स्वार्थ इत्यादि) मनुष्य को अन्धविश्वास की ओर धकेल देते हैं। कर्मयोगी अपने कर्तव्य का निर्णय करके अवसर के अनुसार उचित कर्म करता है तथा वह शकुनो के चक्र मे नही फँसता।[1] युद्ध मे जाने के समय अपशकुन का बहाना लेकर युद्ध से रुक जाना वीर को शोभा नही देता। कायरता आने पर मनुष्य अपशकुन का बहाना लेकर निष्क्रिय हो जाना चाहता है। ऐसे समय मे विवेक (तर्कपूर्ण विचार) का सहारा लेकर अपनी बुद्धि को निम्न मनोभावो से पराजित न होने देना चाहिए। श्रीकृष्ण अर्जुन के विषाद-जन्य प्रलाप को धैर्यपूर्वक सुनकर उसकी बुद्धि को विवेक का प्रकाश देकर जगायेंगे।

एक ओर अर्जुन प्रौढ ज्ञानियो की भाँति श्रेय और प्रेय की बातें कर रहा है तथा दूसरी ओर मोह से उत्पन्न मानसिक दुर्बलता के कारण वह अपशकुनो की ओर देख रहा है। दुर्बल लोग शकुनो से और कर्मयोगी कर्तव्यनिष्ठा से प्रेरणा लेते है।

**न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।**
**किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥**

**शब्दार्थ :** कृष्ण=हे कृष्ण, विजयं न काङ्क्षे=विजय नही चाहता, च राज्यं च सुखानि न=और राज्य तथा सुख को (भी) नही (चाहता हूँ), गोविन्द=हे गोविन्द, नः राज्येन किं वा भोगैः जीवितेन किं=हमे राज्य से क्या अथवा भोगो से क्या (और) जीवन से (भी) क्या (प्रयोजन है)?

**वचनामृत :** हे कृष्ण, मैं विजय नही चाहता और राज्य तथा सुखो को भी नही चाहता। हे गोविन्द, हमे राज्य से क्या प्रयोजन है? अथवा, भोगो से और जीवन से ही क्या प्रयोजन है?

**सन्दर्भ :** यह अर्जुन का विषादजनित प्रलाप है।

**रसामृत :** अपशकुनो की ओर ध्यान जाने से अर्जुन के मन की अस्थिरता प्रकट हो गयी। अर्जुन को हिंसा करने मे सकोच नही था, किन्तु मोह के कारण स्वजन की हत्या करने मे पूर्ण सङ्कोच था। मोह से उत्पन्न विषाद ने उसे भ्रमित कर दिया और उसके मन मे मिथ्या वैराग्य जागने लगा। शोक और निराशा के क्षणो मे मनुष्य ससार के सुखो को ही नही, बल्कि जीवन को भी निस्सार एवं निरर्थक समझने लगता है। अर्जुन के मन मे विजय की ओर उदासीनता, राज्य-सुख अथवा भोगैश्वर्य की ओर अरुचि तथा जीवन की ओर उपेक्षाभाव का उदय स्वस्थ वैराग्यभाव नही था, जो विचार और विवेक से उत्पन्न होता है, बल्कि उसकी रोगी मानसिकता का सूचक था। इस प्रकार का त्याग क्षणिक भावुकता के प्रभाव का फल होता है। मानसिक पतन होने से शरीर शक्तिहीन हो जाता है तथा सारा चिन्तन ही दूषित हो जाता है। ससार न अच्छा है, न बुरा है, बल्कि हमे अपने चिन्तन के अनुरूप अच्छा और बुरा प्रतीत होता है। वही ससार और राज्य जो पहले अर्जुन को अच्छा लगता था अब विषाद के कारण बुरा लग रहा है। ससार का आकर्षण तथा जीवन का महत्त्व उसके लिए समाप्त हो गया है। यह दोषमय चिंतन का प्रभाव है तथा परिस्थिति का दोष नही है।

**येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।**
**त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥**
**आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।**
**मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ३४**

---

१. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते। —कठ उप० १ २ २

श्रेय (कल्याणकारी एव उचित) और प्रेय (मन को प्रिय) मनुष्य के सामने आते है। धीर एव विचार-शील व्यक्ति सब ओर से उनकी जाँच करता है और उनमे विवेक करता है। विवेकी पुरुष प्रेय के सामने श्रेय का ही वरण करता है, किन्तु मूढ व्यक्ति योगक्षेम के लिए प्रेय का वरण करता है।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतो किं नु महीकृते ॥३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्न का प्रीति. स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिन. ॥३६॥
तस्मान्नार्हा वय हन्तु धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजन हि कथं हत्वा सुखिन स्याम माधव ॥३७॥

**शब्दार्थ** · न·=हमे, येषाम्=जिनके, अर्थे=लिए, राज्य भोगा च सुखानि काङ्क्षितम्=राज्य, भोग और सुख इच्छित है, ते इमे धनानि च प्राणान् त्यक्त्वा युद्धे अवस्थिता =वे ये सब धन और जीवन ( की इच्छा और आशा को ) छोडकर युद्ध मे खडे है। आचार्या पितर पुत्रा च तथाएव पितामहा =गुरुजन, ताऊ-चाचा, पुत्रगण और वैसे ही दादा, मातुला श्वशुरा पौत्रा श्याला. तथा सम्बन्धिन =मामा लोग, ससुरादि, पौत्रगण, साले और सम्बन्धी लोग ( हैं )। मधुसूदन=हे मधुसूदन, घ्नत अपि=मार दिया जाने पर भी, त्रैलोक्यराज्यस्य हेतो अपि एतान् हन्तु न इच्छामि=तीनो लोको के राज्य के लिए भी इन्हे मारना नही चाहता हूँ, महीकृते नु किं= पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या ? जनार्दन=हे जनार्दन, धार्तराष्ट्रान् निहत्य=धृतराष्ट्र के पुत्रो को मारकर, न का प्रीति स्यात्=हमे क्या प्रसन्नता होगी, एतान् आततायिन· हत्वा=इन आततायियो को मारकर, अस्मान् पाप एव आश्रयेत्=हमे पाप ही लगेगा। तस्मात्=अत-एव, माधव=हे कृष्ण, स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तु वयं न अर्हा =अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रो को मारने के लिए हम योग्य नही हैं, हि=क्योंकि, स्वजन हत्वा= अपने कुल के लोगो को मारकर, कथ सुखिन स्याम= ( हम ) कैसे सुखी हो सकते हैं ?

**वचनामृत** हमे जिनके लिए राज्य, भोग और सुख अभीष्ट हैं, वे ही सब धन और प्राण ( की इच्छा और आशा को ) छोडकर युद्ध मे खडे हैं। आचार्य, ताऊ-चाचा, पुत्रगण, उसी प्रकार दादा, मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा सम्बन्धीगण ( खडे ) हैं। हे मधुसूदन, मुझे मार देने पर भी अथवा तीनो लोको के राज्य के लिए भी मैं इन्हे मारना नही चाहता, पृथ्वी के लिए तो बात ही क्या है ? हे जनार्दन, धृतराष्ट्र के पुत्रो को मारकर हमे क्या प्रसन्नता मिलेगी ? इन आततायी लोगो को मार-कर तो हमे पाप ही लगेगा। अत. हे माधव, हम अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रो को मारने के लिए योग्य नही हैं, क्योकि अपने ही कुल को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?

**सन्दर्भ** अर्जुन किसी भी दशा मे स्वजन के साथ युद्ध करने के लिए तैयार नही है तथा अपनी इस स्थिति को उचित सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क देता है।

**रसामृत** · अर्जुन को युद्ध करने तथा मारने मे कोई सकोच नही है, किन्तु उसे स्वजन के साथ युद्ध करने मे तथा उन्हे मारने मे सकोच है। उसे 'अपना और पराया' का भाव अथवा ममत्व सता रहा है। वह मोहग्रस्त है तथा मोहान्धता के कारण स्वजन से मार दिया जाने की स्थिति मे भी उन्हे मारना नही चाहता। वह यह भूल गया है कि पाण्डवो के लिए युद्ध धर्म और अधर्म का प्रश्न है तथा उसका उद्देश्य न्याय की रक्षा है। इन आत-तायियो ने द्रौपदी को सभा मे नग्न करने का प्रयत्न किया था तथा वचन देकर भी भूमि देना अस्वीकार कर दिया, किन्तु स्वजन को देखकर अर्जुन क्षत्रिय का कर्तव्य ही भूल गया। युद्ध करने अथवा हत्या करने को वह पाप नही समझता, किन्तु पापी स्वजन के साथ युद्ध करने अथवा उन्हे मारने मे उसे पाप दीखता है। यह स्वजनासक्ति अथवा सकीर्ण मोह का प्रभाव है। स्वजन को मार-कर कैसे प्रसन्नता होगी ? अर्जुन के भाई-भतीजे जिन्हे राज्य चाहिए तथा विपक्ष मे स्थित धृतराष्ट्र के पुत्रादि सभी उसे समान रूप से स्वजन प्रतीत हो रहे हैं। कुछ समय पूर्व वह दुर्योधन को दुर्बुद्धि और आत-तायी कह रहा था। अर्जुन मोहजन्य विषाद से ग्रस्त होने पर प्रलाप कर रहा है तथा वह विवेक खोकर दयनीय अवस्था को प्राप्त हो गया है। व्यथित होकर अर्जुन श्रीकृष्ण को जनार्दन अर्थात् 'मनुष्यो को स्वतन्त्र करानेवाला' कहता है। अर्जुन कर्मभीरु हो गया है तथा कर्तव्य को टालने के लिए अनेक

तर्क प्रस्तुत करता है। वह युद्ध-क्षेत्र से भागना चाहता है, किन्तु भ्रान्त है। दुष्टता करने पर कटिबद्ध मनुष्य पापी होता है तथा क्षमा का पात्र नही होता। आततायी[1] और दुष्ट को मोहवश अथवा भावुकतावश दण्ड न देना समाज मे पाप को प्रोत्साहन देना है। आग लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र हाथ मे लेकर मारने को तैयार, धन छीननेवाला, भूमि छीननेवाला, स्त्री का अपहरण करनेवाला—ये छह आततायी होते हैं। कौरव पाण्डवो के प्रति ये छहो कुकृत्य कर चुके थे ( लाक्षागृह मे अग्नि लगाकर पाण्डवो को जलाने का प्रयत्न किया, भीम को भोजन मे विष दिया इत्यादि )। यदि दुर्योधन द्रौपदी को नग्न करने के प्रयत्न इत्यादि कुकृत्यो पर लज्जित होकर पश्चात्ताप करता और पाण्डवो की भूमि सत्कारपूर्वक लौटा देता तो क्षमा का पात्र था। क्षमा-दान के लिए पात्र-कुपात्र का विचार न करना मूढ़ता है। इसके अतिरिक्त यह केवल अर्जुन का व्यक्तिगत मामला नही था। कोई राष्ट्रनेता अथवा राज्य-प्रशासक सन्त-वृत्ति का होते हुए भी देश पर आक्रमण करनेवाले अथवा भूमि छीननेवाले को स्वेच्छा से क्षमा नही दे सकता। दुष्टो को दण्ड न दिये जाने पर समाज की व्यवस्था ही बिगड़ जाती है। अहिंसा और क्षमा का प्राधान्य व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना मे होना उचित है। किन्तु शासक का धर्म है कि वह जनजीवन को सुरक्षित करने के लिए उच्छृखलता और दुष्टता का दृढतापूर्वक दमन करे। प्रश्न अपने-पराये अथवा स्वजन-परजन का नही, बल्कि उचित-अनुचित अथवा धर्म-अधर्म का होना चाहिए। अपने को क्षमा करना तथा पराये को दण्ड देना समुचित सिद्धान्त-पालन नही है। दैवी शक्तियो का अवतार व्यवस्था के हित मे तथा सन्तो की रक्षा और दुष्टो के दमन के लिए होता है।

---

[1] वसिष्ठस्मृति मे आततायी छह प्रकार के बताये हैं

**अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।**
**क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥**

**यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।**
**कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥३८॥**
**कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।**
**कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥३९॥**
**कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।**
**धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥४०॥**
**अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।**
**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥४१॥**
**सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।**
**पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया॥४२॥**
**दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।**
**उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥**
**उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।**
**नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥४४॥**

**शब्दार्थ : यद्यपि लोभोपहतचेतसः एते**=यद्यपि लोभ से ग्रस्त ये ( लोभ से विनष्ट चित्तवाले ये ), **कुलक्षयकृतं दोषं च मित्रद्रोहे पातकं न पश्यन्ति**=कुल के विनाश से उत्पन्न दोष को और मित्र-द्रोह मे पाप को नही देखते है, **जनार्दन**=हे जनार्दन, **कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः**=कुल के नाश से उत्पन्न दोष को देखनेवाले हम लोगो के द्वारा, **अस्मात् पापात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयं**=इस पाप से हटने के लिए क्यो नही विचार किया जाना चाहिए? **कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति**=कुल का नाश होने पर सनातन कुल-धर्म भी नष्ट हो जाते हैं, **धर्मे नष्टे कृत्स्नं कुलं अधर्मः उत अभिभवति**=कुल-धर्म के नष्ट होने पर सारे कुल को अधर्म भी दबा देता है। **कृष्ण**=हे कृष्ण, **अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति**=अधर्म के अधिक बढ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, **वार्ष्णेय**=हे वार्ष्णेय कृष्ण, **स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसङ्करः जायते**=स्त्रियो के दूषित होने पर वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है। **सङ्करः कुलघ्नानां च कुलस्य नरकाय एव**=वर्णसङ्कर कुलघातियो के और कुल के ( लिए ) नरक ( मे ले जाने ) के लिए ही ( होता है ), **लुप्तपिण्डोदकक्रिया. एषां पितरः हि पतन्ति**=लुप्त हो गयी पिण्ड और जल की क्रिया जिनकी वे ( पिण्ड-उदक-क्रिया-विहीन ), ऐसे इन लोगो के पितर भी गिर जाते हैं।

**एतै वर्णसङ्करकारकै दोषै कुलघ्नाना शाश्वता कुलधर्मा च जातिधर्मा उत्साद्यन्ते**=इन वर्णसङ्करकारक दोषो से कुलघातियो के सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं। **जनार्दन**=हे जनार्दन ( मनुष्यो को स्वतन्त्र करानेवाले कृष्ण ) **उत्सन्नकुलधर्माणा मनुष्याणा अनियतं नरके वास भवति**=नष्ट हुए कुल-धर्मवाले मनुष्यो का अनिश्चित काल तक नरक मे वास होता है, **इति अनुशुश्रुम**=ऐसा ( हमने ) सुना है।

**वचनामृत** यद्यपि लोभ से विनष्ट ( दूषित ) चित्तवाले ये लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोष को और मित्रद्रोह के पाप को नही देखते, तो भी, हे जनार्दन, कुलक्षय से उत्पन्न दोष को जाननेवाले हमारे द्वारा इस पाप से हटने के लिए क्यो न विचार किया जाना चाहिए ? कुलनाश से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म के नाश होने पर सारे कुल मे पाप छा जाता है। हे कृष्ण, पाप के अधिक बढ जाने से कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और, हे वार्ष्णेय, स्त्रियो के दूषित होने पर वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है। वर्णसङ्कर कुलघातियो को और कुल को नरक मे ले जाता है। लुप्त हुई पिण्ड-उदक-क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पण आदि से वचित इनके पितरगण भी अधोगति को प्राप्त हो जाते हैं। इन वर्णसङ्करकारक दोषो से कुलघातियो के सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं। हे जनार्दन, विनष्ट कुल-धर्मवाले मनुष्यो का अनिश्चित काल तक नरक मे वास होता है, ऐसा हम सुनते आये है।

**सन्दर्भ** अर्जुन को अपने कुल के नाश होने का तथा उसके दुष्परिणाम का भय सता रहा है।

**रसामृत** अर्जुन कहता है कि लोभ ने दुर्योधन आदि की बुद्धि का अपहरण कर लिया है, अतएव वे कुल के क्षय से उत्पन्न दोप एव मित्रद्रोह के पातक को देख नही रहे हैं तथा कौरवो को अनर्थ और अन्याय के दुष्परिणाम नही दीख रहे हैं, किन्तु हम पाण्डवो को उनकी भाँति कुलनाश के पाप मे प्रवृत्त नही होना चाहिए। अर्जुन कर्तव्यबुद्धि छोड चुका है तथा कुल के मोह मे फँस गया है। यदि कोई 'अन्य अन्याय और अत्याचार करने के कारण दण्डनीय है तो अपने कुल का ही व्यक्ति व्यभिचार आदि पाप करने पर क्षम्य कैसे हो सकता है ? 'मेरे-अपने', 'भाई-भतीजे' का पाप भी समान रूप से पाप है तथा दण्डनीय है। समाज मे प्राय भाई-भतीजावाद ही पाप के पनपने का एक मुख्य कारण होता है। हम अपने कुल के व्यक्ति के महान् पाप को भी छिपा देना अथवा दबा देना चाहते हैं तथा दूसरो के छोटे से दोष को भी घोर पाप के रूप मे चित्रित कर देते हैं। धर्म और अधर्म के निर्णय मे कुल का मोह छोड देना चाहिए। हमे प्रत्येक स्थिति मे दैवी गुणो का समर्थन और आसुरी प्रवृत्तियो का विरोध करना चाहिए।

अर्जुन को कुल-रक्षा का मोह सता रहा है और वह कुल-क्षय के दुष्परिणामो की व्याख्या कर रहा है। यह सत्य है कि परम्परा, मर्यादा और धर्म के विनष्ट होने पर सामाजिक सन्तुलन बिगडता है, किन्तु कुलघाती दुर्योधनादि तो स्वय कुल-परम्परा, कुल-मर्यादा और कुल-धर्म को नष्ट कर चुके हैं। मनुष्य को केवल कुल आदि के सकीर्ण स्वार्थों के लिए नही, बल्कि उच्च आदर्शों की स्थापना और उनके परिपालन के लिए जीना चाहिए। उत्तम कुल-धर्म तथा समाज-धर्म परस्पर विरोधी नही होते। कुल-धर्म समाज-धर्म के मार्ग मे साधक होता है, बाधक नही। समाज के हित के लिए हमे अन्याय और अधर्म के विरोध मे तथा न्याय और धर्म के पक्ष मे अपना स्वर ऊँचा करना चाहिए। केवल कुल के लोगो तक ही बन्धुत्व को सीमित रखने के कारण उनके प्रति मोह उत्पन्न होता है। यदि व्यापक दृष्टि से सभी को अपना बन्धु-बान्धव मान लें तो मनुष्य सकीर्णता से ऊपर उठकर समस्त समाज के हित मे कर्म कर सकता है, पाप से युद्ध कर सकता है, वह चाहे जहाँ भी हो।

**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।**
**यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यता ॥४५॥**

**यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणय. ।**
**धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥**

**शब्दार्थ :** अहो=अरे, वत=खेद है, वयं महत्पापं कर्तुं व्यवसिता.=हम वडे पाप को करने के लिए तैयार हैं, यत्=कि, राज्यसुखलोभेन स्वजन हन्तुं उद्यताः=राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिए तैयार हुए हैं। यदि माम् अशस्त्र अप्रतीकार=यदि मुझे शस्त्ररहित और सामना न करनेवाले को, शस्त्रपाणय धार्तराष्ट्राः रणे हन्यु =शस्त्रो को हाथ मे लिये हुए धृतराष्ट्र के पुत्र रण मे मार दे, तत् मे क्षेमतरं भवेत्=वह मेरे लिए कल्याणकारी होगा।

**वचनामृत :** अर्जुन कहने लगा—हा, खेद है कि हम (बुद्धिमान् होकर भी) महान् पाप को करने के लिए तैयार है कि राज्य और सुख के लोभ से स्वजनो की हत्या करने के लिए उद्यत हैं। यदि शस्त्ररहित और विरोध न करनेवाले मुझे शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध मे मार भी दें तो वह भी मेरे लिए कल्याणकारी होगा।

**सन्दर्भ :** अर्जुन के विषाद की चरम सीमा आ गयी है।

**रसामृत :** विपादजन्य आत्मग्लानि की मानसिकता विचित्र होती है। मनुष्य ऐसी दशा मे अपने को दोषी और पापी मानकर अपने-आपको ही ताड़ना और पीडा देने मे सुख का अनुभव करने लगता है। वास्तव मे दुर्योधन के मन मे पश्चात्ताप जागना चाहिए था तथा उसे अपने पापो को देखकर यह सव कहना चाहिए था, जो अर्जुन विपादजन्य आत्मग्लानि से ग्रस्त होकर अपने लिए कह रहा है। राज्य और सुख के लोभ के कारण दुर्योधनादि युद्ध कर रहे हैं, पाण्डव नही। आत्मग्लानि की मानसिकता मे भावुकता वढ जाती है, जो वुद्धि के सन्तुलन को बिगाड देती है तथा मनुष्य तर्कपूर्ण युक्तियो से विवेकहीन वातो को पुष्ट करने लगता है। अर्जुन को स्वजन के मोह का ज्वर चढा है तथा वह मोहज्वर के उन्माद मे प्रलाप कर रहा है। वह धर्म और अधर्म को भूल चुका है तथा अपने-पराये के झगड़े मे पड गया है। वह अत्याचारी का डटकर सामना न करके उसके हाथ से विना लडे हुए ही मारा जाने मे अपना कल्याण देख रहा है। यदि राष्ट्र के सरक्षक, प्रशासक, सेनानायक आदि इस भावुकता मे वह जायँ और उच्चस्तरीय आध्यात्मिक प्रज्ञावान् साधको की तरह व्यवहार करे तो वे स्वधर्म-निर्वाह न करने से सारे राष्ट्र के विनाश का कारण बन जायेगे। अर्जुन का स्वजन-मोह, अपने कुल का मोह उसे भ्रमित कर रहा है। वह युद्ध मे खडे होकर आततायीजन को स्ववान्धव कहकर मोहजनित कायरता का ही परिचय दे रहा है।

**सञ्जय उवाच**

**एवमुक्त्वार्जनः सख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।**
**विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥**

**शब्दार्थ :** सञ्जय उवाच=सञ्जय ने कहा, संख्ये=रणक्षेत्र मे, शोकसंविग्नमानसः अर्जुन· एवम् उक्त्वा=शोक से उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर, सशरं चापं विसृज्य=वाणसहित धनुष को छोडकर, रथोपस्थे उपाविशत्=रथ के पिछले भाग में वैठ गया।[1]

**वचनामृत :** रणभूमि मे शोकग्रस्त अर्जुन (श्रीकृष्ण से) इस प्रकार वचन कहकर धनुष-वाण को छोड़कर रथ के पिछले भाग मे वैठ गया।

**सन्दर्भ :** विषाद के कारण अर्जुन ने धनुष-वाण त्यागकर, युद्ध न करने की सूचना दे दी।

**रसामृत :** अर्जुन को मोहजन्य विषाद ने ऐसा ग्रस्त किया कि उसने रणक्षेत्र मे युद्ध प्रारम्भ होने के समय धनुष-वाण को ही छोड़ दिया। वह विषाद की प्रतिमा बन गया। उससे खड़ा नही रहा गया। उसका शरीर काँप रहा था और उसका मन भ्रमित हो रहा था। उसे कुछ उपाय सूझ नही रहा था। उसके मन मे व्याकुलता थी, घनीभूत पीड़ा थी। वह आत्मग्लानि के कारण

---

१. विषादो दोषवत्तरः, विषादो हन्ति पुरुषम्।
—वाल्मीकि

अर्थात् विपाद भारी दोष (पाप) है, विषाद मनुष्य को नष्ट कर देता है।

सिकुडकर रथ के पीछे के भाग मे बैठ गया। उसके मन मे उच्चाटन था, पलायन की प्रबल इच्छा, भाग खडे होने की इच्छा, थी। महावीर अर्जुन महाभीरु बनकर दयनीय हो गया। वह यह भूल गया कि युद्ध भी एक कर्तव्य-कर्म है, जिसका सम्पादन अत्याचार और अन्याय के विरोध मे करना व्यक्ति और समाज दोनो के हित मे होता है। उसे स्वजन के मोह का ज्वर चढा हुआ था और ज्वराभिभूत होकर उसने प्रलाप भी किया। विषाद की चरमावस्था आने पर वह धनुष-बाण को छोड बैठा। वह क्लेश के अथाह सागर मे डूबने लगा। नेत्रो के सामने सेनाएँ उपस्थित होते हुए भी उसे कुछ दिखाई न पडा, रण मे घोडो की हिनहिनाहट और हाथियो की चिघाड उसे सुनाई नही दी। वह अपने भीतर ही डूबकर खो गया। धनुष-बाण को छोडकर उसने स्पष्ट घोषणा कर दी कि वह अब युद्ध नही करेगा। चारो ओर सेनाएँ युद्ध-प्रारम्भ के लिए उत्सुक हैं। सारथी श्रीकृष्ण के सामने अर्जुन एक समस्या बन गया।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय ।

यह महाभारतीय भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् मे, जो कि ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र तथा श्रीकृष्ण-अर्जुन सवाद है, अर्जुन का विषादयोग नामक प्रथम अध्याय है। (ब्रह्मविद्या–ब्रह्म का ज्ञान, योगशास्त्र— भगवान् के साथ योग का शास्त्र, कृष्णार्जुन-सवाद–गुरु शिष्य के रूप मे श्रीकृष्ण और अर्जुन का परस्पर सवाद। गीता का उपदेश सवाद-शैली मे दिया गया है। विषादयोग—ऋजु (सरल) बुद्धिवाले अर्जुन का विषाद, जो श्रीकृष्ण की शरण मे जाने पर योग बन गया।)

## सार-सचय

### प्रथम अध्याय · अर्जुन-विषादयोग

अर्जुन का यह गहन विषाद (उदासी) गीता मे एक योग के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। विषाद भी एक योग है– प्रभु से मिलानेवाला, जीवन को सफल करानेवाला साधन। महापुरुषो का विषाद भी एक योग बन जाता है, क्योकि उनके विषाद के पीछे एक महान् चरित्र होता है। यद्यपि अर्जुन वीर है, वह बहुत सवेदनशील है, उसका हृदय कोमल है। अर्जुन सात्त्विक है, सीधा-सच्चा है, निश्छल और पवित्र है, किन्तु वह धर्मज्ञ नही है। उसके विषाद ने उसे योगारूढ कर दिया। सत्पुरुष के विषाद की महिमा यह है कि विषाद के कारण उसके मन मे भौतिक सुख-भोग का आकर्षण विलुप्त हो जाता है तथा वह विचार-भूमि के ऊँचे स्तर पर पहुँचकर सत्य के प्रति ग्रहणशील हो जाता है। सत्पुरुष के मन का अधकार ही सोपान बनकर उसे आध्यात्मिक प्रकाश की ओर ले जाता है। वह तम से ज्योति की ओर चल पड़ता है। ऐसे लोग विरले ही होते हैं, जो भौतिक अथवा मानसिक सकट के समुपस्थित होने पर जीवन के मुख्य एव मूलभूत प्रश्नो के उत्तर ढूँढ लेना चाहते हैं और जीवन के उद्देश्य को समझ लेना चाहते हैं। अधिकाश लोग तो खाने-पीने और मौज उडाने मे ही समय खोकर जीवन गँवा देते हैं तथा जीवन के मर्म को समझने की चेष्टा भी नही करते।

अर्जुन सौभाग्यशाली था कि गहरे विषाद के क्षणो मे उसे श्रीकृष्ण के रूप मे सारथी अर्थात् जीवन-सारथी एव गुरु मिल गये।[1]

विषाद जागरण का द्वार खोल देता है, सद्गुरु विषाद के समय जीवन को उत्तम दिशा दे देता

---

१ किसी ऐसे ही गहरे विषाद के गहन अन्धकार ने सिद्धार्थ को अन्तर्बोध के आलोक तक पहुँचा दिया था। ज्ञानबोध से पूर्व विषाद होता ही है।

है। विषाद मनुष्य के अन्तर्तम मे तूफान उठाकर उसे राह खोजने के लिए विवश कर देता है तथा सत्य के द्वार तक पहुँचानेवाला योग बन जाता है। विषाद से अनासक्ति का प्रारभ हो जाता है, जो अन्त मे प्रसादयोग अर्थात् गहरी प्रसन्नता अथवा अविचल प्रसन्नता बन जाता है। अर्जुन के विषाद-योग ने उसे श्रीकृष्ण की शरण मे भेज दिया तथा कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी बहाकर उसके जीवन को रसपूर्ण कर दिया।

महापुरुषो के जीवन मे विषाद भी गहन होते हैं तथा उनके जीवन मे परिवर्तन लाकर एक नयी दिशा दे देते है। उनके लिए विषाद वरदान बन जाता है। सद्गुरु की कृपा से अशुभ मे शुभ का उदय हो जाता है, जैसे काले बादल मे सूर्य की किरण का स्पर्श होने से एक स्वर्णिम रेखा उदित होकर उसे चमका देती है।

विषाद प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे आता है। विषाद क्या होता है? विषाद एक मानसिक आघात की अवस्था है, जो धन-हानि, जन-हानि अथवा मान-हानि होने पर बुद्धि तथा मन (विचार तथा भाव) के परस्पर सन्तुलन बिगड जाने से उत्पन्न होती है। बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है और मनुष्य को अन्धकार के क्षेत्र से बाहर निकलने की कोई राह नही सूझती। भ्रम और निराशा तथा भय और चिन्ता मन को घेर लेते है। मनुष्य की ऊर्जा मे झझावात (तूफान) खड़ा हो जाता है, जिसे दिशा नही मिलती। खिन्नता, क्लेश, व्याकुलता, उच्चाटन, अनिद्रा आदि विषाद के लक्षण होते हैं। खिन्न होने पर तत्त्वज्ञ ज्ञानी की भी बुद्धि ठीक दिशा मे कार्य नही करती।[1] विचारो मे सन्देह, अस्थिरता और अस्पष्टता आ जाते है तथा बुद्धि कुछ निश्चय नही कर पाती। 'कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? क्या प्राण खो दूँ?' वन मे जाकर तप करने अथवा भीख माँगकर जीने की भी इच्छा होती है। **'नारी मुई गृह संपति नासी, मूँड मुँड़ाये भये संन्यासी।'** यह झूठा वैराग्य होता है। विषाद से उत्पन्न अकेलेपन (मै ससार में अकेला ही रह गया हूँ) के कारण कुछ लोग धूम्र-पान, मदिरापान इत्यादि से अल्पकालीन शान्ति पाने का प्रयत्न करते है, किन्तु यह अन्य दोष उत्पन्न कर देता है। वास्तव मे विचार के प्रभाव का अभाव भावुकता उत्पन्न करता है तथा विचार का प्रभाव ही भावुकता पर विजय देकर मनुष्य को पुन स्वस्थ कर सकता है। विषाद अनियन्त्रित होने पर मनुष्य का घोर पतन कर सकता है तथा सद्गुरु, सद्ग्रन्थ अथवा प्रभु की शरण मे जाने पर महान् परिवर्तन एव उत्थान का कारण बन सकता है। विषाद का उपयोग अपने हित मे किया जाने पर यह योग बन जाता है। वही मन, जो अन्धकार का घर था, प्रकाश-पुञ्ज बन जाता है, जो दुख से भरपूर था, आनन्द का अक्षय स्रोत हो जाता है, जो दुर्बलता से काँप रहा था, दृढ होकर अविचल हो जाता है। विषाद मे करुणरस की प्रधानता होती है। करुणरस का उद्रेक भक्तिरस के रूप मे प्रवाहित हो जाता है।

गीता का सन्देश अर्जुन के विषादयोग का ही सुफल है। गोपाल श्रीकृष्ण ने सारे उपनिषदो को गौएँ मानकर उनका दोहन किया और अर्जुनरूपी वत्स (बछडे) को दुग्धामृत पिलाया तथा शेष दुग्धामृत को सारी मानवता के कल्याण के लिए अर्पित कर दिया। वास्तव मे गीता का प्रारम्भ कठोपनिषद् के उपदेश से होता है--**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** अर्थात् उठो, मोह-निद्रा से जागो और श्रेष्ठ पुरुषो के समीप जाकर बोध प्राप्त करो, जीवन मे जागरण करो। जागरण ही जीवन का प्रमुख लक्षण है। ●

---

१ खिन्नस्य हि विपर्यति तत्त्वज्ञस्यापि शेमुषी।
—कल्हण

# अथ द्वितीयोऽध्यायः

## सांख्ययोग

सञ्जय उवाच

**तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।**
**विषीदन्तमिद वाक्यमुवाच मधुसूदन· ॥१॥**

**शब्दार्थ : सञ्जय उवाच**=सञ्जय ने कहा, **तथा कृपया आविष्टम् अश्रुपूर्ण आकुल ईक्षण**=उस प्रकार करुणा से व्याप्त (और) अश्रुपूर्ण (तथा) व्याकुल नेत्रवाले, **विषीदन्त त**=विषाद करते हुए उसे (अर्जुन को), **मधुसूदन इद वाक्य उवाच**=श्रीकृष्ण ने यह कहा ।

**वचनामृत :** सञ्जय ने कहा, उस प्रकार करुणा-भाव से व्याप्त तथा अश्रुओ से भरे हुए व्याकुल नेत्रवाले उस अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कहा ।

**सन्दर्भ ·** सञ्जय अर्जुन के विषाद का वर्णन करते हैं ।

**रसामृत ·** अर्जुन शोकनिमग्न है तथा मानसिक व्याकुलता के कारण उसके नेत्रो मे अश्रु भर गये हैं । अर्जुन के विषाद का कारण मोहजनित करुणा है, अति करुणाभाव अथवा अपरिसीम दयाभाव है । उसे अपने सगे-सम्बन्धियो के मरने का भय सता रहा है । यह मोह से उत्पन्न उद्विग्नता एव पलायन की मानसिकता है । अत्यन्त उद्विग्न और अशान्त होने के कारण वीर अर्जुन के नेत्रो मे आँसू आ गये । वह मानसिक अन्धकार मे भटक रहा है तथा उसे राह नही सूझ रही है ।

विषाद प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे आता है । विषाद की अवस्था मे मनुष्य को एकान्त मे जाकर तथा आँसू बहाकर मन हलका करना चाहिए और विवेक तथा साहस को जगाकर आत्मनिरीक्षण एव आत्मविश्लेषण करना चाहिए । तभी मनुष्य कर्तव्य-पथ का निश्चय करके समस्या का समाधान करने के लिए कर्म मे जुट सकता है । सद्‌गुरु की शरण मे जाकर आत्मनिवेदन करना एक उत्तम उपाय है तथा किसी सद्‌ग्रन्थ का स्वाध्याय करना भी अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है । सच्चे भाव से सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समर्पण करते हुए प्रभु की शरण ग्रहण करके, अपने भीतर प्रभु की वाणी सुनना तथा उसीके अनुसार कर्म करना सर्वोत्तम उपाय है । ससार मे मनुष्य का सबसे बडा सहायक परमात्मा ही है, किन्तु उसके साथ श्रद्धा और विश्वास का नाता होना आवश्यक है । मनुष्य का विश्वास जितना दृढ होता है, वह उतना ही सबल एव धैर्यवान् होता है ।

श्रीभगवानुवाच

**कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।**
**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥**
**क्लैब्यं मा स्म गम· पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।**
**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्य त्यक्त्वोत्तिष्ठ परतप ॥३॥**

**शब्दार्थ : श्रीभगवानुवाच** = श्रीकृष्ण ने कहा, **अर्जुन** =हे अर्जुन, **त्वा विषमे इदं कश्मल कुत समुपस्थितं**=तुझे विषम स्थल (रण-भूमि) में यह अज्ञान कहाँ से आ गया ? **अनार्यजुष्ट अस्वर्ग्य अकीर्तिकरम्**=(यह अज्ञान तो) श्रेष्ठ पुरुषो से आचरित नही किया गया है, न स्वर्ग (उत्तम गति) को देनेवाला है, न कीर्ति देनेवाला है । **पार्थ**=हे अर्जुन, **क्लैब्य**=नपुसकता को, **मा स्म गम·**=मत प्राप्त हो, **एतत्**=यह, **त्वयि**=तेरे मे अथवा तुझमे, **न उपपद्यते**=योग्य अथवा शोभनीय नही है । **परंतप**=हे

शत्रुओ के लिए कठोर अर्जुन, क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ = तुच्छ मन की दुर्बलता को छोडकर उठ खडा हो।

**वचनामृत** श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—तुझे इस रणस्थल मे यह मूढता कैसे आ गयी ? यह न तो उत्तम पुरुषो द्वारा आचरित है, न स्वर्ग देनेवाली है और न कीर्ति देनेवाली है। हे अर्जुन, तू इस नपुसकता को प्राप्त मत हो, तुझे यह शोभा नही देती। हे तेजस्वी, मन की तुच्छ दुर्बलता को छोडकर उठ खडा हो।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण अर्जुन को अशोभनीय मानसिक दौर्बल्य को त्याग देने का आदेश देते है।

**रसामृत** सरल बुद्धिवाला अर्जुन मोह से उत्पन्न अपरिसीम करुणा के कारण इतना असन्तुलित हो गया कि वह रणक्षेत्र मे युद्ध के प्रारम्भ होने पर धनुष-बाण छोडकर बैठ गया और बच्चो की भाँति अश्रुविमोचन करने लगा। श्रीकृष्ण ने पहले उसे बच्चो की भाँति ही मानकर कठोर शब्दो मे भर्त्सना द्वारा उद्वेलित कर दिया। जिस प्रकार गहरी नीद सोनेवाले को बहुत जोर से हिला-डुलाकर जगाया जाता है अथवा रोगी को बहुत कडवी औषधि देकर भयानक रोग से उबारा जाता है, उसी प्रकार उत्तम शिष्य को पाठ भूलने पर ताडना द्वारा सतर्क और सावधान किया जाता है। श्रीकृष्ण ने प्रारम्भ मे अर्जुन को कठोर शब्द कहकर उसकी चेतना को झकझोर दिया तथा इस उपचार से उसे सचेतन करके सहृदयतापूर्वक गूढ तत्त्वो को समझाया। श्रीकृष्ण बोले—"अर्जुन, तू कैसी मूर्खता करता है ? तेरी बुद्धि को क्या हो गया है ? यहाँ रणप्रागण मे वीरो के सामने नपुसको जैसी कायरता दिखाते हुए तुझे लज्जा नही आती ? क्या तेरा यह व्यवहार आप्त पुरुषो, उत्तम पुरुषो जैसा है ? क्या इस व्यवहार से तुझे स्वर्गलाभ होगा ? क्या इस निकृष्ट व्यवहार से तुझे इस लोक मे सुयश प्राप्त हो जायगा ? हे अर्जुन, जरा विचार तो करके देख। इस कायरता को छोड दे, क्योकि वीर क्षत्रिय के लिए यह अशोभनीय है। यह तेरे मन की दुर्बलता है, जिसे तू करुणा समझे बैठा है। इस प्रकार की करुणा करने से तू सन्त-महात्मा नही हो गया है। इससे तो तू निन्दनीय हो गया है। छोड दे मन की इस निकृष्ट दुर्बलता को। तू वीर है, वीरोचित आचरण कर। युद्ध करने के लिए उठ खडा हो, अर्जुन।" श्रीकृष्ण ने युक्तिपूर्वक अर्जुन के मनोबल को थोडे से मार्मिक शब्दो द्वारा ही ऊपर उठा दिया तथा उसे पूरी तरह सचेत कर दिया।

युद्ध से पूर्व श्रीकृष्ण स्वय युद्ध टालने के प्रयत्न मे युधिष्ठिर की ओर से शान्ति-दूत बनकर धृतराष्ट्र के दरबार मे गये थे तथा उन्होने सारे दरबार के सामने अनेक प्रस्ताव रखे थे, जिनकी अवहेलना कर दी गयी थी। दुर्योधन युद्ध करने का दुराग्रह कर रहा था तथा उसने एक भी प्रस्ताव स्वीकार नही किया। न्याय की रक्षा तथा अन्याय के दमन के लिए युद्ध आवश्यक कर्तव्य बन गया था, किन्तु अब अर्जुन बिना शर्त के ही रण छोडकर भ्रान्ति के भँवर मे अथवा कायरता के कीचड़ मे फँसा पडा था। श्रीकृष्ण अर्जुन के मन मे स्वजन के मोह से उत्पन्न तथा करुणा के रूप मे छायी हुई मानसिक दुर्बलता को दूर कर देना चाहते थे। पापी मनुष्य क्रूर होते है तथा यदि अर्जुन के युद्ध-क्षेत्र छोड देने पर युद्ध समाप्त हो जाता तो दुर्योधनादि पाण्डवो की स्त्रियो का अपमान करते तथा और भी अधिक अत्याचार करते, जिससे विवश होकर अर्जुन को पुन. युद्ध करना पडता। श्रीकृष्ण यह सब जानते थे तथा वे यह भी जानते थे कि अर्जुन के हृदय को मोहजनित दुर्बलता से मुक्त करना आवश्यक है। मानसिक दुर्बलता मनुष्य को निकम्मा बना देती है। दुर्बल व्यक्ति जीवन मे कुछ भी महान् उपलब्धि नही कर सकता। शरीर और मन से सबल होकर ही मनुष्य जीवन मे कुछ प्राप्त कर सकता है। दुर्बल मनुष्य आत्मा का साक्षात्कार भी

नही कर सकता ।[1] हमारा कर्तव्य है कि हम सब प्रकार के बल को अर्जित करें, उसका सरक्षण करे तथा आत्मकल्याण एव जनकल्याण के लिए उसका सदुपयोग करें। जीवन मे किसी भी विषम परिस्थिति को देखकर उसका विवेकपूर्वक सामना करना चाहिए, पलायन कोई उपाय नही है।

अर्जुन उवाच

**कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।**
**इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥**

**गुरूनहत्वा हि महानुभावान्**
**श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।**
**हत्वार्थकामास्तु गुरूनिहैव**
**भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥**

**न चैतद्विद्म· कतरन्नो गरीयो**
**यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।**
**यानेव हत्वा न जिजीविषाम-**
**स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्रा· ॥६॥**

**शब्दार्थ :** **अर्जुन उवाच**=अर्जुन ने कहा, **मधुसूदन**=हे मधुसूदन श्रीकृष्ण, **अह सख्ये भीष्म च द्रोण प्रति**=मैं रणभूमि मे भीष्म तथा द्रोण के प्रति, **कथ इषुभि. योत्स्यामि**=कैसे बाणो से युद्ध करूँगा, **अरिसूदन**=हे शत्रुमर्दन श्रीकृष्ण, **पूजार्हौ**=( वे दोनो तो ) पूजा के योग्य हैं। **महानुभावान् गुरून् अहत्वा इह लोके भैक्ष्य अपि भोक्तु श्रेय** =महानुभाव गुरुओ को न मारकर इस लोक मे भिक्षा का अन्न भी भोगना ( खाना ) कल्याणकारक है, **हि**=क्योकि, **गुरून् हत्वा इह रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् एव तु भुञ्जीय**=गुरुजन को मारकर इस लोक मे रक्तरजित अथवा रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगो को ही तो भोगूंगा। **एतत् च न विद्म·**= यह भी नही जानते, ( कि ) **न कतरत् गरीय** =हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है, **यद्वा**=अथवा ( यह भी नहीं जानते कि ), **जयेम यदि वा**=हम जीतेंगे अथवा, **न. जयेयु** = हमे वे जीतेंगे, **यान् हत्वा न जिजीविषाम** =जिन्हें मारकर ( हम ) जीना भी नही चाहते, **ते एव धार्तराष्ट्रा प्रमुखे अवस्थिताः**=वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र सामने खडे हैं।

**वचनामृत** . हे मधुसूदन ( श्रीकृष्ण ), मैं रणक्षेत्र मे भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य के प्रति कैसे बाणो से युद्ध करूँगा। हे अरिसूदन, ये दोनो तो ( मेरे ) पूज्य हैं। महानुभाव गुरुजन को न मारकर इस लोक मे भिक्षा भी भोगना ( भिक्षा से जीवन-निर्वाह करना ) कल्याणप्रद है, क्योकि गुरुजन को मारकर इस लोक मे रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगो को ही तो भोगूंगा। हम यह भी नही जानते कि हमारे लिए क्या ( करना ) श्रेष्ठ है अथवा हम यह भी नही जानते कि हम जीतेंगे या हमे ही ये जीतेंगे। जिन्हे मारकर हम जीवित रहना भी नही चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खडे ह।

**सन्दर्भ** · अर्जुन सशय और भ्रम मे फँसा हुआ है।

**रसामृत** श्रीकृष्ण के कठोर शब्द सुनने पर अर्जुन ने कुछ सँभलकर कहा—"पूज्य गुरुजन पर बाणो से आक्रमण करना दुस्साहस है तथा इनकी हत्या करने की अपेक्षा भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करना अधिक अच्छा है। गुरुजन को मारकर चार पुरुषार्थों ( धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ) मे से धर्म और मोक्ष को छोडकर केवल अर्थ और काम को ही भोगते हुए मौज उड़ाना मानो रक्त से सने हुए भोग्य पदार्थों को भोगना है। पाप-कर्म से प्राप्त भोगो मे सच्चा सुख कहाँ ?" यह कहकर अर्जुन ने पुन कहा—"हे श्रीकृष्ण, इसके अतिरिक्त हमे यह निश्चय नही है कि कौन जीतेंगे।" अर्जुन के लिए यह भी एक समस्या थी कि उसे धृतराष्ट्र के पुत्र, जो बान्धव ही थे, सामने खडे दीख रहे थे।

वास्तव मे, अर्जुन मोह से उत्पन्न भ्रम और सशय से ग्रस्त है तथा उसके विचारो मे स्पष्टता नही है। यह सत्य है कि युद्ध विनाशकारी एव हिंसात्मक होता है तथा युद्ध को यथासम्भव टाला

---

[1] नायमात्मा बलहीनेन लभ्य. ।
—मुण्डक उप० ३ २.४

जाना चाहिए। श्रीकृष्ण ने शान्ति-दूत बनकर युद्ध टालने का बहुत प्रयत्न किया था तथा उन्होने अनेक सन्धि-प्रस्ताव भी रखे थे, किन्तु दुर्योधन न केवल सूई की नोक ( सूच्यग्र ) के बराबर भी भूमि नही दे रहा था, बल्कि भविष्य मे भी उसी प्रकार अत्याचार करते रहने के लिए कटिबद्ध दीख रहा था। अतएव पाण्डवो के लिए युद्ध एक धर्म, एक आवश्यक कर्तव्य, बन गया था। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मोहपङ्क से उबारने के लिए सामान्य शिष्टाचार का त्याग करके उसे कठोर शब्दो मे फटकारा। उन्होने उसे स्वजन के मोह को छोडकर स्वधर्म ( क्षात्रधर्म ) का पालन करने का आदेश दिया।[1] भीष्म पितामह ने अपने इस दोष को स्वीकार करते हुए कहा था—'मनुष्य धन का दास है, धन किसीका दास नही है' यह सत्य है। हे महाराज, मैं धन के कारण कौरवो के साथ आबद्ध हो गया हूँ।[2] श्रीकृष्ण अर्जुन के रुष्ट होने से भयभीत नही होते, क्योकि स्पष्ट कहनेवाला वचक[3] नही होता है। सच्चे हितैषी को आवश्यकता पडने पर भय त्याग करके हित की बात अवश्य कहनी चाहिए।[1] श्रीकृष्ण अर्जुन को यो ही युद्ध मे धकेल नही देते हैं। वे उसे जीवन के परम सत्य का बोध करा देते है और धर्म के स्वरूप की व्यावहारिक व्याख्या करते हैं। श्रीकृष्ण उसे जीवन की समस्त समस्याओ के साथ सघर्ष करने की विधि भी बताते हैं। राग-द्वेष छोडकर, शत्रु से भी घृणा न करते हुए तथा सम और शान्त रहते हुए, कर्तव्य मानकर उचित कर्म करते रहना चाहिए। समस्याओ से डरने से तो समस्याएँ और भी अधिक विषम एव भीषण हो जाती है। फल की इच्छा का त्याग करके, प्रभु के सहारे कर्म करते रहना ही धर्म का मर्म है। यद्यपि श्रीकृष्ण अनेक बार अर्जुन से युद्ध करने का आदेश देते हैं, वे अन्त मे अर्जुन को कोई आदेश नही देते तथा कहते है—हे अर्जुन, मैंने तो तेरा मार्ग-दर्शन कर दिया, अब तू विचार करके जैसा चाहे वैसा कर।[2]

**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**
**पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।**
**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**
**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥**

**शब्दार्थ : कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः** = कायरतारूप दोष ( दैन्य ) से उपहत ( दूषित ) स्वभाववाला, **धर्मसम्मूढचेता.** = धर्म के विषय मे भ्रमित चित्तवाला ( मैं ), **त्वा** = आपको, **पृच्छामि** = पूछता हूँ, **यत्** = कि जो, **निश्चित** = निश्चित किया हुआ, **श्रेयः स्यात्** = कल्याणकारी साधन हो, **तत्** = वह, **मे ब्रूहि** = मेरे लिए कहिये ( क्योकि ), **अहं ते शिष्य.** = मैं आपका शिष्य हूँ, **त्वां**

---

१. सन्त तुलसीदास ने यह स्पष्ट किया है कि सत्य एव धर्म का त्याग करनेवाले सभी त्याज्य हैं, क्योकि सत्य एव धर्म सर्वोपरि हैं। विभीषण ने भाई का, प्रह्लाद ने पिता का त्याग किया। 'जाके प्रिय न राम वैदेही, **तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।' रामो विग्रहवान् धर्म.।** राम स्वय धर्म की मूर्ति हैं, अतएव राम के विरोधी अर्थात् धर्म-विरोधी का त्याग कर देना चाहिए, यदि वह समझाने से भी कर्तव्य को न समझ सके। पाप मे सने हुए गुरु को भी, जो कर्तव्य और अकर्तव्य न जानता हो, त्याग देना चाहिए। **गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥**
—महाभारत

२. अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवै ॥

३. **स्पष्टवक्ता न वंचक.** अर्थात् स्पष्ट कहनेवाला धोखेबाज नही होता।

१. सचिव वैद गुरु तीन जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीन कर होई बेगहि नास ॥
—तुलसीदास

२ विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।
—गीता १८ ६३

नही कर सकता।[1] हमारा कर्तव्य है कि हम सब प्रकार के बल को अर्जित करें, उसका सरक्षण करें तथा आत्मकल्याण एव जनकल्याण के लिए उसका सदुपयोग करें। जीवन मे किसी भी विषम परिस्थिति को देखकर उसका विवेकपूर्वक सामना करना चाहिए, पलायन कोई उपाय नही है।

अर्जुन उवाच

**कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।**
**इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥**
**गुरूनहत्वा हि महानुभावान्**
**श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।**
**हत्वार्थकामास्तु गुरूनिहैव**
**भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥**
**न चैतद्विद्म कतरन्नो गरीयो**
**यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।**
**यानेव हत्वा न जिजीविषाम-**
**स्तेऽवस्थिता. प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, मधुसूदन=हे मधुसूदन श्रीकृष्ण, अहं सख्ये भीष्म च द्रोण प्रति=मैं रणभूमि मे भीष्म तथा द्रोण के प्रति, कथ इषुभि. योत्स्यामि=कैसे वाणो से युद्ध करूँगा, अरिसूदन=हे शत्रुमर्दन श्रीकृष्ण, पूजार्हौ=( वे दोनो तो ) पूजा के योग्य हैं। महानुभावान् गुरून् अहत्वा इह लोके भैक्ष्य अपि भोक्तु श्रेय =महानुभाव गुरुओ को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भी भोगना ( खाना ) कल्याणकारक है, हि=क्योकि, गुरून् हत्वा इह रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् एव तु भुञ्जीय=गुरुजन को मारकर इस लोक मे रक्तरजित अथवा रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगो को ही तो भोगूंगा। एतत् च न विद्म = यह भी नही जानते, ( कि ) न कतरत् गरीय =हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है, यद्वा=अथवा ( यह भी नही जानते कि ), जयेम यदि वा=हम जीतेंगे अथवा, न जयेयु = हमे वे जीतेंगे, यान् हत्वा न जिजीविषाम =जिन्हें मारकर ( हम ) जीना भी नही चाहते, ते एव धार्तराष्ट्रा प्रमुखे अवस्थिता =वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र सामने खडे हैं।

**वचनामृत** · हे मधुसूदन ( श्रीकृष्ण ), मैं रणक्षेत्र मे भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य के प्रति कैसे वाणो से युद्ध करूँगा। हे अरिसूदन, ये दोनो तो ( मेरे ) पूज्य हैं। महानुभाव गुरुजन को न मारकर इस लोक मे भिक्षा भी भोगना ( भिक्षा से जीवन-निर्वाह करना ) कल्याणप्रद है, क्योकि गुरुजन को मारकर इस लोक मे रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगो को ही तो भोगूंगा। हम यह भी नही जानते कि हमारे लिए क्या ( करना ) श्रेष्ठ है अथवा हम यह भी नही जानते कि हम जीतेंगे या हमे ही ये जीतेंगे। जिन्हे मारकर हम जीवित रहना भी नही चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खडे हैं।

**सन्दर्भ** अर्जुन सशय और भ्रम मे फँसा हुआ है।

**रसामृत** श्रीकृष्ण के कठोर शब्द सुनने पर अर्जुन ने कुछ सँभलकर कहा—"पूज्य गुरुजन पर वाणो से आक्रमण करना दुस्साहस है तथा इनकी हत्या करने की अपेक्षा भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करना अधिक अच्छा है। गुरुजन को मारकर चार पुरुषार्थों ( धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ) मे से धर्म और मोक्ष को छोडकर केवल अर्थ और काम को ही भोगते हुए मौज उड़ाना मानो रक्त से सने हुए भोग्य पदार्थों को भोगना है। पाप-कर्म से प्राप्त भोगो मे सच्चा सुख कहाँ ?" यह कहकर अर्जुन ने पुन कहा—"हे श्रीकृष्ण, इसके अतिरिक्त हमे यह निश्चय नही है कि कौन जीतेंगे।" अर्जुन के लिए यह भी एक समस्या थी कि उसे धृतराष्ट्र के पुत्र, जो बान्धव ही थे, सामने खडे दीख रहे थे।

वास्तव मे, अर्जुन मोह से उत्पन्न भ्रम और सशय से ग्रस्त है तथा उसके विचारो मे स्पष्टता नही है। यह सत्य है कि युद्ध विनाशकारी एव हिंसात्मक होता है तथा युद्ध को यथासम्भव टाला

---

१. नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।
—मुण्डक उप० ३ २.४

**न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्**
**यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।**
**अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं**
**राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥**

**शब्दार्थ :** हि = क्योकि, भूमौ = भूमि मे, असपत्न ऋद्धं राज्य = निष्कण्टक समृद्ध ( धनधान्यसम्पन्न ) राज्य को, च सुराणा आधिपत्यं अवाप्य अपि = तथा देवताओ के स्वामित्व ( देवताओ पर शासन ) को प्राप्त करके भी, न प्रपश्यामि = ( ऐसे उपाय को ) नही देखता हूँ, यत् = जो कि, मम इन्द्रियाणा उच्छोषणम् शोकं अपनुद्यात् = मेरी इन्द्रियो को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके ।

**वचनामृत :** अर्जुन ने कहा—हे श्रीकृष्ण, पृथ्वी पर निष्कण्टक और समृद्धिपूर्ण राज्य को तथा देवताओ पर शासन को प्राप्त करके भी मैं उस उपाय को नही देख रहा हूँ, जो मेरी इन्द्रियो को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके ।

**सन्दर्भ :** अर्जुन अपने सन्ताप की चर्चा करता है ।

**रसामृत :** शरणागति के बाद भी अर्जुन के मन की तीव्र वेदना उसे व्याकुल कर रही है तथा ये शब्द उसके मुख से सहसा निकल पडे—"हे कृष्ण, मेरा सन्ताप इतना गहन है कि वह मेरी इन्द्रियो को भी सुखाये दे रहा है। निष्कण्टक समृद्धिपूर्ण राज्य पर शासन करने से अथवा देवताओ पर भी शासन करने से मुझे सुख-शान्ति नही मिल सकेगी ।" वास्तव मे, वह परोक्षरूप मे यह सूचना दे रहा है कि उसका रोग भीषण है तथा उसकी तत्काल चिकित्सा होनी चाहिए। गहरी मानसिक पीडा को दूर करने के लिए पुस्तकीय ज्ञान, सत्ता, उच्च पद, धन-धान्य, यश-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान तथा भोग्य सामग्री की प्राप्ति करना भी कोई सक्षम उपाय नही होता। भवरोग का उपाय सद्गुरु एवं परमात्मा की सच्ची शरण मे जाने से ही होता है। सद्गुरु पृथ्वी पर परमात्मा का प्रतिनिधि होता है ।

सञ्जय उवाच

**एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।**
**न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥**

**शब्दार्थ :** सञ्जय उवाच = सञ्जय ने कहा, परंतपः[1] गुडाकेशः हृषीकेश एवं उक्त्वा = तेजस्वी अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण के प्रति इस प्रकार कहकर, गोविन्दं न योत्स्ये इति ह उक्त्वा तूष्णी बभूव = ( फिर ) श्रीकृष्ण से 'युद्ध नही करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गया ।

**वचनामृत :** सञ्जय ने कहा—शत्रु-सतापी अर्जुन श्रीकृष्ण से यह सब कहकर तथा फिर 'हे गोविन्द, मै नही लडूँगा', ऐसा कहकर चुप हो गया ।

**सन्दर्भ :** अर्जुन श्रीकृष्ण से युद्ध न करने का अपना विचार बताकर तथा चुप होकर उनके आदेश की प्रतीक्षा करने लगा ।

**रसामृत :** अर्जुन का मन इतना अधिक संतप्त था कि शिष्य के रूप मे शरण ग्रहण करने पर भी उसने अपनी युद्ध न करने की इच्छा प्रकट कर दी तथा बिलकुल चुप हो गया। वास्तव मे उसके चुप होने का आशय यह था कि यद्यपि उसने न लड़ने की अपनी इच्छा को स्पष्ट कर दिया तथापि वह श्रीकृष्ण से आदेश प्राप्त कर उसका पालन करने के लिए तैयार था। वह शिष्य अर्थात् शासन माननेवाला तथा शरणागत अर्थात् स्वेच्छा का त्याग करके आदेश-पालन करनेवाला भक्त बन चुका था और कर्तव्य-निर्णय के सम्बन्ध मे निश्चिन्त हो चुका था कि उसके कर्तव्य का निर्धारण श्रीकृष्ण करेगे ।

**तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।**
**सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥**

**शब्दार्थ :** भारत = हे भरतवशी धृतराष्ट्र, हृषीकेशः उभयो. सेनयोः मध्ये = जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण ने दोनो सेनाओ के मध्य मे, तं विषीदन्त प्रहसन् इव इद वचः उवाच = उस विषादग्रस्त अर्जुन को हँसते हुए-से यह वचन कहा ।

---

१ कुछ टीकाकार इस श्लोक मे 'परतप' को अर्जुन का विशेषण न मानकर 'हे परतप, हे राजन्, हे धृतराष्ट्र' ऐसा सम्बोधन मानते हैं ।

**वचनामृत** · सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजन्, अन्तर्यामी श्रीकृष्ण दोनो सेनाओ के मध्य मे विषाद करते हुए उस अर्जुन से हँसते हुए से बोले।

**सन्दर्भ** · अर्जुन अब श्रीकृष्ण का उपदेश ग्रहण करने के लिए तैयार है।

**रसामृत** श्रीकृष्ण को अपना परम हितैषी तथा सक्षम मार्गदर्शक मानकर अर्जुन ने अपने मन की व्यथा उनसे निवेदित करके अपना बोझ हलका कर दिया। अपने हितैषी एव सरक्षक से सकोच त्यागकर अपनी व्यथा कह देने से मन को पर्याप्त विश्राम मिल जाता है। किन्तु यहाँ अर्जुन मात्र विश्राम नही चाहता, उसे तो परम शान्ति, आत्यन्तिक शान्ति की खोज है, क्योकि उसके मन मे पापी की अपराध-भावना अथवा व्यथा नही है, बल्कि सच्चे जिज्ञासु की मर्म-वेदना है। वह आत्मिक शोक को पार करना चाहता है, शोक से आत्यन्तिक निवृत्ति चाहता है तथा तत्त्वज्ञान का सच्चा अधिकारी है। उसने इसीलिए पूर्ण तत्त्व-ज्ञानी की शरण ग्रहण की है। आचार्यवान् पुरुष ही परमतत्त्व को जान सकता है।[1] अर्जुन गुडाकेश ( नीद एव आलस्य को जीतनेवाला ) है तथा श्रीकृष्ण हृषीकेश ( जितेन्द्रिय अथवा इन्द्रियो के प्रवर्तक परम चेतन अन्तर्यामी ) तथा गोविन्द ( वेदरूपा गो अर्थात् वाणी से युक्त, अथवा इन्द्रियो के स्वामी ) हैं। कैसा दैवी सयोग है।

श्रीकृष्ण हँसते हुए-से क्यो बोल रहे थे? श्रीकृष्ण यह प्रसन्नता व्यक्त कर रहे थे कि अर्जुन ने शिष्य बनकर आदेश मानना शिरोधार्य कर लिया। इसके अतिरिक्त उन्होने हँसकर अर्जुन को यह आश्वासन दे दिया कि वे उसकी समस्या का समाधान करने मे पूर्णत समर्थ है।

श्रीकृष्ण उत्तम गुरु है। उन्होने अर्जुन को सखा बना रखा था और उसे सत्पात्र मानकर तत्त्वज्ञान देना चाहते थे, किन्तु वे उस समय की प्रतीक्षा मे थे, जब वह ग्रहणशील हो। विषाद ने अर्जुन को ग्रहणशील बना दिया तथा श्रीकृष्ण ने उसे धीरे-धीरे तत्त्वज्ञान देना प्रारम्भ कर दिया। उनके योगबल एव दिव्यशक्ति के कारण रणक्षेत्र मे किसी अन्य को समय बीतने का भान ही नही हो सका। जगद्गुरु साक्षात् नारायण ने शिष्य नर को युक्तिपूर्वक गीतामृत प्रदान करके मानवमात्र को कृतार्थ कर दिया।

श्रीभगवानुवाच

**अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादाश्च भाषसे।**
**गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, त्वं=तू, **अशोच्यान् अन्वशोच च प्रज्ञावादान् भाषसे**=न शोक करने योग्यो के लिए शोक करता है तथा प्रज्ञावादो ( पण्डितो के-से वचनो ) को कहता है। **पण्डिता गतासून् च अगतासून् न अनुशोचन्ति**=पण्डित लोग गतासु अर्थात् जिनके प्राण चले गये उनके लिए तथा अगतासु अर्थात् जिनके प्राण नही गये हैं उनके लिए ( भी ) शोक नही करते हैं। ( पण्डित मृतक के लिए शोक नहीं करते तथा जीवित के वियोग का भय नही करते )।

**वचनामृत :** श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन, तू शोक न करने योग्य ( भीष्म, द्रोण आदि ) लोगो के लिए शोक करता है तथा पण्डितो जैसे वचन कहता है। किन्तु पण्डित तो न उनके लिए शोक करते, जिनके प्राण चले गये हैं और न उनके लिए, जिनके प्राण नही गये हैं।

**सन्दर्भ** · श्रीकृष्ण द्वारा गीता-उपदेश के प्रारम्भ होने की भूमिका है।

**रसामृत** · श्रीकृष्ण उत्तम गुरु की भाँति युक्तिपूर्वक अर्जुन की चेतना को सँभालकर उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं। श्रीकृष्ण पहले अर्जुन को पूर्णत निरभिमान, नम्र तथा ग्रहणशील बना देने के लिए उसे फटकारते है—"हे अर्जुन, तू पण्डितो की तरह पाप पुण्य आदि की बडी-बडी बातें कर रहा है, किन्तु तू कोई तत्त्वज्ञानी पण्डित नही है। जिनका शोक नही करना चाहिए उनका शोक तू कर रहा है। किसीके प्राण रहें या जायँ, ज्ञानी इस विषय

1 आचार्यवान् पुरुषो वेद।

मे शोक नही करते, क्योकि मरना-जीना तो शरीर का सामान्य धर्म है तथा केवल आत्मा ही नित्य है। शोक करना अज्ञान का लक्षण है। तू अपने भीतर के छिपे हुए अहकार को छोड़कर तत्त्वज्ञान समझने का प्रयत्न कर। मै मुझे तत्त्वज्ञान दे रहा हूँ, किन्तु तू ग्रहणशील होकर मेरे वचनो को ध्यान देकर सुन।" अर्जुन ने दत्तचित्त होकर श्रवण करना प्रारम्भ कर दिया।

श्रीकृष्ण ने उचित समय पर उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए गुरुपद ग्रहण कर लिया तथा गुरु की भाँति ही व्यवहार करने लगे। अर्जुन न तो अज्ञ ( मूर्ख ) है और न पण्डित ही। वह अल्पज्ञ है। अल्पज्ञ को समझाना बहुत कठिन होता है। कभी-कभी उसे डाँटना और उपहास करना भी आवश्यक हो जाता है।

गुरु की महिमा अकथनीय है। गुरु का प्रथम दायित्व होता है कि वह चिकित्सक की भाँति शिष्य मे उत्साह और आशा का सचार कर दे तथा अपने अपरिसीम प्रेम से शिष्य को तरल एवं तन्मय कर दे। गुरु एक जीवन-शिल्पी एव कुशल कलाकार होता है। गुरु ताडना देते समय भी उसे सँभालता रहता है।[1] यदि ऐसा आडम्बररहित सरल और सात्त्विक गुरु मिल जाय जिसे यश की भी कामना न हो और जो पूर्णत निस्स्वार्थ होकर माता की भाँति शिष्य का कल्याण करने मे रत रहता हो तो परम सौभाग्य है।[2] सद्-गुरु आत्यन्तिक सत्य की अनुभूति कराने मे समर्थ होता है।[1] मात्र पैर छूने या 'गुरुजी' कहने से गुरु-शिष्य का नाता नही हो जाता। शिष्य गहरी श्रद्धा के द्वारा ही गुरु के साथ नाता स्थापित करता है। यदि शिष्य श्रद्धाविहीन है तो गुरु उसका उपकार नही कर सकता। जब गुरु-शिष्य दोनो चालाक हो अथवा मूढ हो तो दोनो विनष्ट हो जाते है, जैसे यदि अन्धा अन्धे को राह दिखाये तो दोनो कुएँ मे गिर पडते है।[2] पुण्यवान् व्यक्ति को उत्तम, पुण्यवान् गुरु अवश्य सुलभ हो जाता है। वास्तव मे, परस्पर तारतम्य होने पर गुरु-शिष्य एक हो जाते है तथा गुरु दिव्यानुभूति का साधन बन जाता है। मात्र ज्ञान नहीं, अनुभूति प्राप्त करना उद्देश्य होना चाहिए तथा अनुभूतिसम्पन्न गुरु ही शिष्य को अनुभूति करा सकता है।[3] श्रीकृष्ण की अद्भुत महिमा है कि उन्होने शिष्य के साथ सखाभाव रखकर तथा उसके स्तर तक नीचे उतरकर उसे ऊपर उठाया। सद्गुरु शिष्य को अपने भावजगत् के तरङ्ग दैर्घ्य पर लाकर परमात्मा का साक्षात्कार करा देता है, गोविन्द से मिला देता है।[4]

**न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।**
**न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥**

---

१ गुरु कुम्हार सिष कुंभ है, गढि-गढि काढै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर मारै चोट ॥ —कबीर

—गुरु कुम्हार है, जो शिष्यरूपी घडे को ठोक पीट-कर उसमें दोष दूर करता है। वह बाहर चोट मारते समय भीतर हाथ का सहारा देता रहता है।

२. यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिलै तो भी सस्ता जान ॥
—कबीर

—यदि अपना सिर देने पर ( आत्मसमर्पण करने पर ) भी सद्गुरु मिल जाय तो भी सस्ता ही है।

---

१ गुरु तो ऐसा चाहिए जस सिकलीगर होय।
सबद मस्कला फेरकर देह दर्पण करै सोय ॥
—कबीर

—उत्तम गुरु सिकलीगर ( चाकू पर धार रखने-वाला ) की भाँति मस्कला ( साण पत्थर ) पर घिसकर शिष्य को पारदर्शक, निर्मल दर्पण बना देता है।

२ जाका गुरु भी आंधला चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया दोनो कूप पडन्त ॥
—कबीर

३. तू कहता कागद देखी, मैं कहता आंखन की देखी।
—कबीर

४. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पाय।
बलिहारी वा गुरु की, गोविन्द दियो मिलाय ॥
—कबीर

**शब्दार्थ :** न तु ( एव ) एव ( यत् ) अहं जातु न आसम् त्वं न ( आसी ) इमे जनाधिपा न ( आसन् ) = न तो ( ऐसा ) ही ( है कि ) मैं किसी काल मे नही था ( अथवा ) तू नही ( था ) ( अथवा ) ये राजा लोग नही ( थे ), च न ( एव ) एव = और न ( ऐसा ) ही ( है कि ), अतः पर वय सर्वे न भविष्याम = इससे आगे हम सब नही रहेंगे।

**वचनामृत :** न तो ऐसा ही है कि मैं कभी नही था अथवा तू नही था अथवा ये राजागण नही थे, और न ऐसा ही है कि भविष्य मे हम सब नही होंगे।

**सन्दर्भ** · आत्मा नित्य है, अत मृत्यु के सम्बन्ध मे शोक करना व्यर्थ है।

**रसामृत** श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सर्वप्रथम यह समझाया कि मृत्यु के सम्बन्ध मे शोक करना निरर्थक है, क्योकि उसके मन मे मृत्यु का आतक था। देह नाशवान् है अत वह नष्ट होगा ही। भीतर देही अर्थात् जीवात्मा नित्य ( अमर ) है। आत्मा वास्तविक तत्त्व है। उसके नाश की आशका ही नही है। जीवात्मा वर्तमान देहो से पूर्व भी थे तथा आगे भविष्य मे भी होगे। केवल देहो के रूप बदलते रहते है। घट ( घडा ) टूट जाने पर घटाकाश ( घडे के भीतर स्थित आकाश ) विद्यमान रहता है, देह की उत्पत्ति और विनाश होने पर भी परब्रह्म सर्वत्र विद्यमान रहता है। जन्म-मृत्यु आत्मा मे प्रतीत होते हैं, वह औपाधिक ( उपाधिसहित वर्णन ) है। निरुपाधिक ( उपाधिरहित ) आत्मा का जन्म-मरण नही होता। आत्मा अविकारी है तथा त्रिकाल मे विद्यमान है। सभी मे एक ही अजर-अमर-अविकारी, नित्य, शुद्ध, चित्स्वरूप, आनन्दस्वरूप आत्मा विराजमान है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, बाल्य, कौमार, वृद्धता इत्यादि के साक्षी-स्वरूप आत्मा की नित्य सत्ता रहती है। आत्मा ही कर्ता-भोक्ता के रूप मे प्रतीत होता है। वास्तव मे, एक सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा सर्वजीव मे विद्यमान है। देह मे चेतन सत्ता परमात्मा का अशभूत आत्मा है। वही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है।

**देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।**
**तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥**

**शब्दार्थ :** यथा देहिन अस्मिन् देहे कौमार यौवन जरा = जिस प्रकार देही ( जीवात्मा ) की इस देह में कुमार, युवा ( तथा ) वृद्ध अवस्था ( होती है ), तथा देहान्तरप्राप्ति = उसी प्रकार अन्य शरीर की प्राप्ति ( होती है ), तत्र धीर न मुह्यति = इस विषय में धीर पुरुष मोह नही करता है।

**वचनामृत** जैसे जीवात्मा की इस देह मे बालकपन, यौवन और वृद्धावस्था होती है वैसे ही अन्य देह की प्राप्ति हो जाती है। इस विषय मे धीर ( विवेकी ) पुरुष मोह नही करता है।

**सन्दर्भ** · श्रीकृष्ण आत्मा की नित्यता पर बल दे रहे हैं।

**रसामृत** · सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही सत् ( नित्य ) है तथा उसका अश आत्मा भी सत् ( नित्य ) है। शरीर का सयोग-वियोग होता रहता है, क्योकि वह नश्वर है। जैसे बाल्यावस्था, यौवन और वृद्धावस्था स्थूल शरीर की भिन्न-भिन्न तीन अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार चौथी अवस्था मृत्यु है। जीवात्मा अनेक शरीर धारण करता रहता है तथा विकाररहित रहता है। ( तात्त्विक दृष्टि से तो वास्तव मे परिवर्तन स्थूल शरीर का होता है, किन्तु जीवात्मा मे उसका आरोप किया जाता है तथा उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर का आवागमन होता है, किन्तु जीवात्मा मे उसका आरोप किया जाता है। ) जीवात्मा एक देह को छोडकर दूसरे देह मे प्रवेश करता है तथा बाल्य, यौवन, वृद्धता और मृत्यु शरीर के विषय है, जिनका साक्षी जीवात्मा रहता है, जो कर्ता-भोक्ता प्रतीत होते हुए भी वास्तव में तटस्थ साक्षी ही रहता है। बुद्धिमान् पुरुष नित्य आत्म और नश्वर अनात्म ( देह ) का भेद जानने के कारण मृत्यु के सम्बन्ध मे शोक नही करता है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

**शब्दार्थ :** कौन्तेय = हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, शीतोष्ण-सुखदुःखदा मात्रास्पर्शाः तु आगमापायिन = सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख देनेवाले इन्द्रिय और विषयो के सयोग तो क्षण-भगुर, ( तथा ) अनित्या = अनित्य ( नश्वर ) है। मात्रा—त्वक् कर्ण इत्यादि इन्द्रिय-समूह, जिनके द्वारा बाह्य सृष्टि के पदार्थ ( अर्थात् शब्दादि विषय ) ज्ञान-गोचर ( ज्ञान का विषय ) होते है, स्पर्श—शब्दादि विषय के साथ इन्द्रियो के सयोग। मात्रास्पर्श—मात्रा ( इन्द्रिय-समूह ) का बाह्य पदार्थो ( विषयो ) के साथ सयोग ( मात्रास्पर्श जो शीत-उष्ण—सुख-दुःख देते है )। आगम-उत्पत्ति, अपाय—विनाश, आगमापायी—उत्पत्ति और विनाश-वाला। भारत—हे भरतवंशी अर्जुन, तान् तितिक्षस्व = उनको सहन कर।

**वचनामृत :** श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देनेवाले इन्द्रियो तथा विषयो के सयोग तो क्षण-भगुर और नश्वर होते है। अत, हे अर्जुन, तू उनको सहन कर।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण सुख-दुःख से ऊपर उठने के लिए सहनशीलता का महत्त्व बताते है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण अर्जुन को 'कौन्तेय' तथा 'भारत' कहकर उसे यह स्मरण दिला रहे है कि उसके मातृकुल और पितृकुल दोनो महान् है। अर्जुन को महान् कहकर श्रीकृष्ण उसे जीवन मे सफलता का सूत्र बताते है, "हे अर्जुन, जीवन की किसी भी दिशा मे कुछ उपलब्धि करने के लिए सहनशीलता का पाठ सीखना। शीत और उष्ण तथा सुख और दुःख अस्थायी होते है। इनको सहन करना सीखो।"

और उष्ण सहन करने का अभ्यास करना चाहिए। शीतकाल मे शीत और ग्रीष्मकाल मे उष्ण का यथाशक्ति सहन करने से शारीरिक स्वास्थ्य के लाभ के अतिरिक्त इच्छा-शक्ति की भी वृद्धि होती है। शीत और उष्ण के सहन का अभ्यास करने से सुख और दुःख सहन करने की भी क्षमता बढ जाती है। मनुष्य नेत्रो से प्रिय व्यक्तियो और वस्तुओ को देखने, कानो से सुन्दर ध्वनि सुनने, नासिका से सुगन्धिमय वस्तुएँ सूंघने, जिह्वा से मधुर पदार्थ चखने और त्वचा से मृदु स्पर्श करने मे सुख मानता है। मन के प्रबल होने पर विषयो का प्रभाव न्यून हो जाता है। मन को नियन्त्रित करने से सुन्दर भोजन इत्यादि के प्रति आकर्षण नियन्त्रित हो जाता है। यह मन की महिमा है। शीत और उष्ण सुख और दुःख होते तो है, किन्तु वे सापेक्ष होते हैं तथा उन्हे मन मे महत्त्व देने से, उन्हे मानने से, उनका प्रभाव बढ जाता है तथा महत्त्व न देने से उनका प्रभाव घट जाता है। शीत और उष्ण तथा सुख और दुःख के अधीन अथवा उनके चक्र मे फँसा रहनेवाला मनुष्य जीवन मे कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नही कर पाता तथा उसका मनोबल भी गिरता चला जाता है। सुख-दुःख से विचलित होनेवाला मनुष्य स्वाधीन नही रह सकता तथा भौतिकता का दास हो जाता है।

वास्तव मे, विवेकशील पुरुष के लिए सांसारिक सुख-दुःख का कोई महत्त्व नही होता। भौतिक सुख मे वास्तविक सुख ( आनन्द ) का लेश भी नही होता तथा भौतिक सुख से ऊपर उठकर ही जीवन मे आत्यन्तिक एव स्थायी सुख ( परम आनन्द ) की प्राप्ति हो सकती है। शीत-उष्ण तथा सुख-दुःख मे सम होने पर मनुष्य धीरे-धीरे द्वन्द्वातीत होकर आनन्दानुभूति के लिए सक्षम हो जाता है। विवेकशील व्यक्ति सांसारिक सुख मे हर्ष और दुःख मे शोक नही मानता। वह भौतिक सुख मे फूलता नही और दुःख मे घबराता नही।

सहनशीलता को स्वभाव बना लेना चाहिए। सहनशीलता होने पर ही क्षमा सार्थक होती है। सहनशीलता के बिना क्षमा मात्र पाखण्ड रह जाती है। शीत-उष्ण तथा सुख-दु ख मे समभाव से रहनेवाला मनुष्य ही पुरुषार्थ कर सकता है। सहनशील स्वभाववाला मनुष्य समाज मे प्रेम और आदर पा लेता है। सहनशील व्यक्ति ही प्रेम का निर्वाह कर सकता है। असहनशील व्यक्ति छोटी-छोटी बातो को आत्म-सम्मान और आत्म-प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर दूसरो से लडता ही रहता है और अपनी तथा दूसरो की शान्ति भग कर देता है। विवेकशील व्यक्ति व्यक्तिगत मान-अपमान मे रुचि नही लेता है तथा हँसकर अपमान सहन कर लेता है। मनुष्य को व्यक्तिगत मामलो मे अत्यन्त सहनशील होना चाहिए तथा केवल सार्वजनिक हित मे तथा न्याय की रक्षा के लिए ही, राग-द्वेष छोडकर, सघर्ष करना चाहिए। सहनशील व्यक्ति ही उदारचेता हो सकता है।

श्रीकृष्ण आनन्दस्वरूप हैं[1] तथा अर्जुन को सासारिक सुख-दु ख से ऊपर उठकर धीरे-धीरे अन्य समस्त द्वन्द्वो ( राग-द्वेष आदि ) से मुक्त होने की प्रेरणा देते हैं। सहनशीलता से समता का प्रारम्भ होता है, जो कर्मयोगी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सहनशीलता समता-प्राप्ति का प्रथम सोपान है।[2] सहनशीलता महानता का प्रमुख लक्षण है। श्रीकृष्ण का आदेश 'तितिक्षस्व' ( सहन करो ) साधक को पग-पग पर स्मरण रखना चाहिए। सहनशीलता एक तप है। किसी भी प्रकार का सकट आने पर पुरुषार्थ करते समय तथा फल-भोग के समय श्रीकृष्ण का यह मन्त्र सदैव स्मरण रखें—'तितिक्षस्व'—सहन करो, सहन करो।

**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुष पुरुषर्षभ।**
**समदु खसुख धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥**

**शब्दार्थ :** हि=क्योकि, पुरुषर्षभ=हे पुरुषश्रेष्ठ, ऋषभश्रेष्ठ, समदु खसुख य धीर पुरुष एते न व्यथयन्ति=दु ख-सुख मे सम रहनेवाले जिस धीर पुरुष को ये ( मात्रास्पर्श, इन्द्रियो के विषय ) व्यथित नहीं करते, स अमृतत्वाय कल्पते=वह अमृतपद ( मोक्ष, परमपद ) के लिए योग्य अथवा सक्षम होता है।

**वचनामृत .** हे श्रेष्ठपुरुष अर्जुन, दु ख सुख मे समान रहनेवाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रियाँ और उनके विषयो के सयोग व्याकुल नही करते, वह मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी होता है।

**सन्दर्भ** सहनशील एव सम रहनेवाला मोक्ष-गामी होता है।

**रसामृत** श्रीकृष्ण कुशल जीवनशिल्पी हैं। प्रारम्भ मे सामान्य शिष्टाचार को त्यागकर तथा कठोर शब्द कहकर अर्जुन को उपदेश-श्रवण के लिए सन्नद्ध कर देने पर श्रीकृष्ण पुरुषश्रेष्ठ इत्यादि विशेषणो के प्रयोग से न केवल उसका प्रोत्साहन कर रहे है, वल्कि एक भावात्मक नाता अथवा तारतम्य स्थापित करके उसे अपने समीप ला रहे है, उसे ग्रहणशील बना रहे हैं। यद्यपि माता बालक को रुलाना नही चाहती, वह बालक के रोने पर भूख के लक्षण देख लेती है तथा उसे दूध पिलाने का उचित अवसर समझ लेती है। सद्‌गुरु श्रीकृष्ण ने अर्जुन का विषाद देखकर उसे ग्रहणशील बना लिया और उसे प्रेमपूर्वक सदुपदेश देना प्रारम्भ किया। 'हे श्रेष्ठ पुरुष' कहकर श्रीकृष्ण सकेत कर

---

१ 'कृष्ण' की व्याख्या—कृष्=सत्, ण=आनन्द, कृष्ण=नित्य आनन्दस्वरूप। आकर्षण करनेवाला कृष्ण।

**कृषिर्भूवाचक शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचक।**
**विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति शाश्वत ॥**

—महाभारत

२ 'शान्त दान्त उपरतस्तितिक्षु समाहितो भूत्वा आत्मनि एव आत्मान पश्यति, सर्वमात्मान पश्यति।'—श्रुति

—शान्त, दान्त, उपरत और तितिक्षु एव समाहित होकर आत्मा मे आत्मा को देखते हैं—सबको आत्मा के रूप मे देखते हैं। तितिक्षा ( सहनशीलता ) आत्मसाक्षात्कार की साधना का भी प्रमुख अङ्ग है।

रहे है कि वह श्रेष्ठ ज्ञान एवं धीरता के योग्य है। 'धीर' दु ख मे शोक न करनेवाले तथा सुख मे हर्ष से उन्मत्त न होनेवाले, सदा सम रहनेवाले मनुष्य को कहते है। दु ख-सुख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वो से परे द्वन्द्वातीतावस्था अथवा अद्वैतावस्था होती है। धीर व्यक्ति द्वन्द्वातीत होता है। भौतिक पदार्थो के सयोग-वियोग मे सुख-दु ख न मानकर अविचलित रहनेवाला धीर पुरुष मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी होता है। धीर पुरुष ही मिथ्या ज्ञान से निवृत्त होकर चिदात्मा के स्वरूप को समझ पाता है। **'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'**-ब्रह्म का सच्चा ज्ञान होने पर मनुष्य ब्रह्म ही हो जाता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि तो भास्य है, भासक चैतन्यस्वरूप स्वयप्रकाश आत्मा है। सहनशील और धीर पुरुष जो सदा सम रहता है ज्ञान-प्राप्ति का सत्पात्र होता है तथा मोक्ष का अधिकारी होता है।

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**
**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥**

**शब्दार्थ :** असतः भाव न विद्यते=असत् का तो अस्तित्व ही नही है, तु=और, सतः अभाव. न विद्यते=सत् का अभाव नही है, अनयोः उभयोः अपि अन्तः तत्त्वदर्शिभि॰ दृष्ट.=इन दोनो का ही वास्तविक स्वरूप ( अन्त ) तत्त्वज्ञो द्वारा देखा गया है।

**वचनामृत :** असत् की तो सत्ता नही है और सत् का अभाव नही है। इस प्रकार तत्त्वज्ञो ने सत् और असत् के स्वरूप का निर्णय किया है।

**सन्दर्भ .** श्रीकृष्ण नित्य और अनित्य ( आत्म और अनात्म तत्त्व ) का विवेचन करते है।

**रसामृत :** वह वस्तु, जो वास्तव मे स्वरूपत है ही नही तथा जिसकी केवल प्रतीति होती है जैसे स्वप्न के दृश्य, असत् अर्थात् सत्ताहीन अथवा मिथ्या है। समस्त परिवर्तनशील पदार्थ ( ससार के जड़ पदार्थ ) असत् है, क्योकि उनकी स्थिर सत्ता नही है। समस्त नश्वर पदार्थ नित्य सत्तावान् न होने के कारण असत् हैं। नश्वर होने के कारण मनुष्यो के देह भी असत् हैं। अतएव मृत्यु होने पर शरीर के लिए शोक करना अज्ञान है। वह तत्त्व जो सदा विद्यमान है, नित्य एव शाश्वत है, सत् है। परमात्म-तत्त्व सत् है। वह सर्वव्यापी, निर्विकार, एकरस है। मृत्यु होने पर आत्मा नष्ट नही होता, अतएव उसके लिए शोक करना अज्ञान है। असत् का भाव अर्थात् अस्तित्व नही होता और सत् का अभाव अर्थात् नाश नही होता। सत् और असत् का भेद समझना ही तत्त्वज्ञान है। जो विकारशील अथवा विनाशवान् है, वह असत् है तथा जो विकाररहित अथवा विनाशरहित है, वह सत् है। शाश्वत तत्त्व सत्तावान् अथवा सत् होता है और नश्वर सत्ताहीन अथवा असत् होता है। केवल आत्मतत्त्व सत् है। असत् वस्तु की व्यावहारिक सत्ता तो होती है तथा उसकी प्रतीति भी होती है, किन्तु पारमार्थिक सत्ता नही होती। पारमार्थिक ज्ञान होने पर असत् का मिथ्यापन प्रकट हो जाता है। मिथ्या वस्तु का अस्तित्व अज्ञान के कारण प्रतीत होता है। ज्ञान का उदय होने पर असत् का लोप हो जाता है। विचार करने पर अन्त मे एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा ही सत् सिद्ध होता है। परमात्मा की सच्चिदानन्द सत्ता समस्त असत् वस्तुओ मे अनुस्यूत अथवा व्याप्त है। यह पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा।[1] मनुष्य का आत्मा उसी सच्चिदानन्द परमात्मा का अश है।[2] पारमार्थिक दृष्टि से परमात्मा ( एव आत्मा ) सत् है तथा ससार असत् ( नश्वर अर्थात् मिथ्या ) है।

**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।**
**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥**

---

१ **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'**
—छान्दोग्य उप०, ६.२.१

२. वैष्णव आचार्य आत्मा को परमात्मा का अश तो मानते हैं, किन्तु उसे भिन्न अश मानते हैं। अद्वैतवादी आत्मा को परमात्मा का भिन्न अश नही मानते तथा दोनो को अग्नि और स्फुलिंग ( आग और चिनगारी ) की भाँति सदैव एक ( अभिन्न ) ही मानते हैं।

**शब्दार्थ .** अविनाशि = नाशरहित, तु = तो, तत् विद्धि = उसे जान, येन इद सर्व ततम् = जिससे यह सम्पूर्ण ( जगत् ) व्याप्त है, अस्य अव्ययस्य विनाश कर्तु कश्चित् न अर्हति = इस अविनाशी का विनाश करने के लिए कोई भी समर्थ नही है।

**वचनामृत .** हे अर्जुन, नाशरहित तो तू उसे जान, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है। इस अविनाशी ( तत्त्व ) का विनाश करने मे कोई भी समर्थ नही है।

**सन्दर्भ :** सत् तत्त्व परमात्मा ही है, अन्य कुछ नही।

**रसामृत** सारे जगत् मे जो भी कुछ जड पदार्थ दीख रहा है, वह सभी परिवर्तनशील एव नश्वर है तथा इसके पृष्ठ मे एक दिव्य सत्ता है, जो चैतन्यस्वरूप है तथा सारे जगत् मे व्याप्त है। वह परमात्म-तत्त्व अविनाशी है, सत् है अर्थात् नित्य है और कभी नष्ट नही होता। परमात्मा ( एव उसका अशभूत आत्मा ) अजन्मा, नित्य और सनातन है। जगत् नश्वर होने के कारण मिथ्या कहलाता है तथा इसमे अनुस्यूत अथवा व्याप्त परम ब्रह्म परमात्मा अविनाशी होने के कारण सत् कहलाता है। पारमार्थिक दृष्टि से तो केवल ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा आत्मा स्वरूपत परमात्मा ही है।[1] इस प्रकार सवत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है तथा ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नही है। जड विश्व-प्रपञ्च दृश्य है, चित् से भिन्न है तथा परिच्छिन्न ( सीमित ) है और पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या ( असत् ) है। जड प्रकाश्य है और दिव्य परमात्म-तत्त्व प्रकाशक है। जड पदार्थ चैतन्य से ओतप्रोत है तथा उसके सहारे टिका हुआ है। वह सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी एव सर्वव्यापी है। वह सत्य-स्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है।[1] पुरुष ( आत्मा ) कभी विनष्ट नही होता तथा स्वय-प्रकाश है। सुषुप्ति ( गहरी नीद ) मे भी आत्मा का अभाव नही होता, नित्य द्रष्टा चैतन्यस्वरूप आत्मा का सद्भाव ( होना, अस्तित्व ) सदा रहता है। आत्मा अविकारी एव अविनाशी है। परमात्मा सत् है तथा कार्यरूप असत् का कारण होता है। असत् पदार्थ सत् परमात्मा के अन्तर्भूत होता है। सत्स्वरूप परमात्मा नित्य तथा असत् विश्व प्रपञ्च नश्वर है। परमात्मा ही देह मे आत्मा के रूप मे विराजमान है। यह ज्ञान है।

१ ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर ॥

—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीवात्मा ब्रह्म ( परमात्मा ) ही है।

**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिण.।**
**अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥**

**शब्दार्थ ·** अनाशिन अप्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिण इमे देहा अन्तवन्त उक्ता = अविनाशी अप्रमेय ( प्रमाणातीत, प्रमाण से परे ) नित्यस्वरूप शरीरधारी आत्मा के ये समस्त शरीर विनाशवान् कहे गये हैं। तस्मात् युध्यस्व भारत = अत हे भरतवशी अर्जुन, तू युद्ध कर।

**वचनामृत ·** विनाशरहित, प्रमाणातीत नित्य ( चैतन्यस्वरूप ) आत्मा के ये सब शरीर विनाशशील कहे गये हैं। अत हे भरतवशी अर्जुन, तू युद्ध कर।

**सन्दर्भ .** श्रीकृष्ण आत्मा को अविनाशी कहकर युद्ध करने का आदेश देते हैं।

**रसामृत** श्रीकृष्ण आत्मा को अविनाशी एव नित्य चैतन्यस्वरूप बताकर अर्जुन को मृत्यु के भय से मुक्त कर रहे हैं। किसी प्रियजन की अथवा शत्रुगण की अथवा अपनी मृत्यु होना तो निश्चित है, किन्तु मृत्यु होने पर भी आत्मा अमर ही रहती है तथा केवल शरीर नष्ट होते हैं। अतएव कर्तव्य के नाते युद्ध करते समय किसीकी मृत्यु होना चिन्ता अथवा शोक का विषय नही होना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, आत्मा तो अमर है, शरीर नश्वर हैं तथा मृत्यु के विषय मे शोक

१ सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म। —तैत्तिरीय उप०, २.१

और चिन्ता करना व्यर्थ है। अतएव मृत्यु का भय त्यागकर कर्तव्य-पालन के लिए युद्ध कर।"

जीवात्मा के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तीनो ही सत् नही हैं, नाशवान् हैं तथा उनकी पारमार्थिक सत्ता (सदैव अस्तित्व) नही है। ज्ञानवान् के लिए वे इसी प्रकार मिथ्या (असत्) है, जैसे जागने पर स्वप्न की सृष्टि मिथ्या होती है। वास्तव मे, समस्त शरीरो मे एक ही दिव्य तत्त्व व्याप्त है, यद्यपि अज्ञान के कारण शरीरो के भेद से वह पृथक् प्रतीत होता है। शरीर जड है, आत्मा चैतन्यस्वरूप है। व्यावहारिक रूप मे भिन्न-भिन्न देहो के सम्बन्ध मे आत्मा भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से उनमे एक ही चैतन्यस्वरूप परमात्मा व्याप्त है। जगत् मे जो दृष्ट है वह तो नष्ट हे अर्थात् जो उत्पन्न होता है, वह विनष्ट होता है तथा जो दृष्ट नही है वह शाश्वत है।

परमात्मा अथवा आत्मा अप्रमेय है अर्थात् उसके अस्तित्व को तर्क अथवा अन्य प्रमाणो (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इत्यादि) से सिद्ध नही किया जा सकता, क्योकि वह बुद्धि से परे अनुभूति का विषय है। आत्मा स्वत सिद्ध है। श्रुति कहती है कि जो सबका ज्ञाता है उसे कैसे जानेगे ?[1] ब्रह्म क्या है ? जो अन्य सहारे के बिना ही प्रकाशमान है तथा प्रत्येक सत्तावान् वस्तु के भीतर विराजमान है, वह ब्रह्म है।[2] ज्ञान का उदय होने पर अथवा अनुभूति होने पर (तुरीयावस्था में) स्वयवेद भी अवेद (व्यर्थ, मिथ्या) हो जाता है।[3] वास्तव मे वही एक देव (स्वयसिद्ध, स्वयप्रकाश, परम ब्रह्म, परम पुरुष) सभी प्राणियो के भीतर गुप्त एव अदृश्य रूप से विद्यमान है, वह सर्वव्यापक है, सभी प्राणियो का अन्तरात्मा है।

१. विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

२ यत्साक्षादपरोक्ष ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर ।

—बृहदारण्यक उप०

३ अत्र वेदा अवेदा. भवन्ति

—बृहदारण्यक उप०

वह कर्मो का अधिष्ठाता एव सबके भीतर अवस्थित साक्षी, चेतन तत्त्व है, किन्तु सब उपाधियो से रहित तथा निर्गुण है।[1] वह स्फुरणरूप (प्रकाशरूप) है, निर्विशेष, चैतन्य, अद्वय, अखण्ड, अजर, अमर है। उस आत्मा को कोई प्रकाश नही दे सकता। वहाँ न सूर्य है, न चन्द्रमा और तारे है, न विद्युत् का प्रकाश है, अग्नि की तो बात ही क्या ? वह स्वयप्रकाश है तथा उसके प्रकाश से ही सूर्य आदि प्रकाशित होते है।[2] वह एक है, अद्वितीय है।[3] वह सत्य है, ज्ञानस्वरूप है तथा अनन्त है।[4]

'युद्ध कर' का अर्थ है 'अन्याय के विरुद्ध युद्ध कर' तथा 'अपने अज्ञान के विरुद्ध युद्ध कर।'

**य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।**
**उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥**

**शब्दार्थ :** य एनं हन्तारं वेत्ति च य. एनं हत मन्यते=जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है तथा जो इसे मार दिया गया मानता है, तौ उभौ न विजानीत·=वे दोनो नही जानते हैं, अयं न हन्ति न हन्यते=यह आत्मा न मरता है, न मारा जाता है।

**वचनामृत :** जो मनुष्य इस आत्मा को मारनेवाला हत्यारा मानता है या मार दिया गया मानता

१ एको देवः सर्वभूतेषु गूढ.
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास.
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

—श्वेताश्वतर उप०, ६ ११

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा य. करोति। —कठ उप०, २ ५ १२

२ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि.। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ —कठ उप०, २.५ १५

'जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू' —तुलसी

३ एकमेवाद्वितीयम् ॥ —छान्दोग्य उप०, ६ २ १

४ सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म। —तैत्तिरीय उप०, २ १

है वे दोनो इसे नही जानते ( क्योकि ) यह आत्मा न तो मारता है और न मारा जाता है।

सन्दर्भ आत्मा को मारने या मरनेवाला मानना अज्ञान है।

रसामृत मृत्यु का सम्बन्ध देह से है, देही ( आत्मा ) से नही है। जिस प्रकार आकाश मे स्थित बादल आते और जाते रहते हैं, किन्तु आकाश यथावत् रहता है, शरीर भी आते और जाते रहते है किन्तु आत्मा यथावत् रहता है। आत्मा का वध अथवा हनन नही होता। देहाभिमानी ( देह को ही सब कुछ समझनेवाले मनुष्य ) विकाररहित एव नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा के यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण अज्ञान की भाषा बोलते हैं। आत्मा तो कर्ता-भोक्ता भी नही है, यद्यपि औपचारिक रूप से उस पर यह आरोप किया जाता है। आत्मा उपाधिरहित तथा आकाश की भाँति असग और सर्वत्र विराजमान है। वह निष्कल, निष्क्रिय और और शान्त है[1] तथा शाश्वत साक्षी है। वह नित्य आनन्दस्वरूप है। आत्मा का यथार्थ ज्ञान मनुष्य को शोक-सागर से पार कर देता है।[2]

इसका आशय यह नही है कि हिंसा करना पाप नही है। हिंसापूर्ण कर्म निन्दनीय एव त्याज्य है।[3] किन्तु धर्मयुद्ध मे स्वधर्म के रूप मे हिंसा हिंसा नही रहती तथा कर्तव्य बन जाती है। कुछ अविवेकी लोग धर्म के नाम पर पशु-वध करके देवताओ को बलि देते हैं, जो नितान्त पापकृत्य है। चीटी से हाथी तक सभी जीवो मे परमात्मा विराजमान है तथा सभी परमात्मा की सन्तान हैं। अतएव पशु-वध अथवा पशुओ को सताना परमपिता की दृष्टि मे पाप है। वेदादि ग्रन्थो मे पशु वध की चर्चा है, किन्तु 'पशु' का अर्थ है मनुष्य के भीतर बैठा हुआ वासनारूप पशु। मनुष्य का अपने भीतर के पशु का वध अर्थात् पशु-वृत्तियो का नियन्त्रण करना चाहिए। पशु-वृत्तियो पर सयम करने के कारण योगेश्वर शिव को 'पशुपति' कहते हैं तथा पशु-वृत्तिरूपी सर्प साथ रहकर भी उनको विचलित नही कर पाते हैं। देवी-देवताओ के नाम पर अबोध एव निरीह पशुओ का वध करना घोर पाप है। यदि पशु-पक्षी बोल पाते तो वे अत्याचारपूर्ण बर्बरता के विरोध मे अवश्य विद्रोह करते तथा अपनी व्यथा की कथा सुनाते। भगवान् ने उदर-पूर्ति के लिए विशाल पृथ्वी पर प्रचुर मात्रा मे अन्न, फल, वनस्पति को उत्पन्न किया है। अपने पेट को पशुओ की श्मशान-भूमि बनाना अमानवीय है। सामान्य नेत्रो से प्रत्यक्ष दीखनेवाले जीव अवध्य हैं। मनुष्य स्वाद के लिए खेलते-उडते पक्षी अथवा खेलते-भागते पशुओ की हत्या करके पाप करता है। धर्म के नाम पर पशु-पक्षियो का वध धर्म को निन्दित करता है। जीव-रक्षा धर्म है, जीव-हत्या अधर्म है। पशु-जगत् मे जीव जीव का भोजन है[1]—यह पशु-न्याय है। बडी मछली छोटी मछली को खा लेती है—यह मत्स्य-न्याय है। किन्तु परमात्मा ने मनुष्य को जीव-जगत् का शिरोमणि बनाया है, जीवो का रक्षक बनाया है, भक्षक नही। परमात्मा ने उसे विचार-शक्ति, करुणाभाव, नैतिकता और आध्यात्मिक सम्प्रेरण से युक्त किया है। जीवमात्र मे प्रभु का दर्शन करना और जीव-रक्षा करना प्रभु-भक्ति का उत्तम स्वरूप है।

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूय.।
अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

**शब्दार्थ** . अय कदाचित् न जायते वा न म्रियते = यह आत्मा कभी न उत्पन्न होता है या न मरता है, वा न भूत्वा भूय भविता ( अय भूत्वा न अभविता ) = अथवा

---

१ 'निष्कल निष्क्रिय शान्तम्।'
२ तरति शोक आत्मवित्।
३ मा हिंस्यात् सर्वभूतानि।

१ जीवो जीवस्य भोजनम्।

न होकर फिर होनेवाला ही है, **अयं अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः शरीरे हन्यमाने न हन्यते**=यह अजन्मा नित्य शाश्वत पुरातन है ( तथा ) शरीर के हनन होने पर हत नही होता है ( मारा जाने पर मारा नही जाता है )।

**वचनामृत :** यह आत्मा न तो कभी जन्म लेता है और न मरता ही है। न यह जन्म लेकर पुन होनेवाला ही है, क्योकि यह जन्मरहित, नित्य, सनातन और परम पुरातन है। देह का हनन होने पर भी इसका हनन नही होता।

**सन्दर्भ :** आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है।

**रसामृत :** शरीर के छह विकार होते हैं (१) जायते–उत्पन्न होना, (२) अस्ति–होना, (३) वर्धते–विकास होना, (४) विपरिणमते–परिणाम को प्राप्त होना अर्थात् बालक, युवा, वृद्ध होना, (५) अपक्षीयते–क्षीण होना, (६) नश्यति–नष्ट होना। आत्मा विकारहित, नित्य शुद्ध बुद्ध है, चैतन्यस्वरूप है। शरीर को मार देने पर भी इसको नही मारा जा सकता, क्योकि यह अविनाशी है।[१]

इसका आशय यह नही है कि शरीर की उपेक्षा की जाय। शरीर धर्मपालन का साधन है। अस्वस्थ शरीर से धर्माचरण सम्भव नही हो सकता। धर्म शरीर से सहज रूप से ऐसे प्रवाहित होता है, जैसे पर्वत से जल।[२] शरीर समस्त प्रगति का सोपान है। शरीर आत्मा का रथ है, जो उसे मोक्ष प्राप्त करा देता है।

**वेदाविनाशिनं नित्यं य एनजमव्ययम्।**
**कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥**

**शब्दार्थ :** पार्थ य एनं अविनाशिनं नित्य अजं अव्ययं वेद=हे पृथा ( कुन्ती ) के पुत्र अर्जुन, जो मनुष्य इस आत्मा को नाशरहित, नित्य अजन्मा, अव्यय ( अक्षय ) जानता है, **स. पुरुषः कथं कं घातयति**=वह पुरुष कैसे किसे मरवाता है, **क हन्ति**=( तथा कैसे ) किसीको मारता है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवा देता है और कैसे किसीको मारता है ?

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण आत्मा के नाशरहित होने पर बल देते है।

**रसामृत :** यथार्थ ज्ञान होने पर मनुष्य को मरने, मारने और मरवाने की निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। आत्मा को अजन्मा, अक्षय ( कभी क्षीण न होनेवाला ), नित्य ( सदा एकरूप ), विनाशरहित जानना यथार्थज्ञान है। आत्मा विकाररहित, सर्वप्रकाशक, बोधस्वरूप एव सच्चिदानन्दस्वरूप है। पारदर्शी एव पवित्र होने पर मन और बुद्धि आत्मसाक्षात्कार का साधन हो जाते है।[१] आत्मा स्वय अपना विज्ञाता है।[२] आत्मा ही अपना साक्षात्कार करता है। पारमार्थिक दृष्टि से यह आत्मा ही ब्रह्म है[३] तथा योगी को ब्रह्म के साथ आत्मा के ऐक्य की अनुभूति होती है।

**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय**
**नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-**
**न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥**

**शब्दार्थ :** यथा नरः जीर्णानि वासासि विहाय= जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रो को छोडकर, **अपराणि नवानि गृह्णाति**=दूसरे नये वस्त्र ग्रहण कर लेता है, **तथा**=वैसे ही, **देही**=यह जीवात्मा, **जीर्णानि शरीराणि**

---

१ अविनाशी वा अरे अयमात्मा–अरे मैत्रेयी, यह आत्मा विनाशरहित है।

२ शरीरात् स्रवते धर्मः पर्वतात् सलिलं यथा ॥ —शङ्खस्मृति

१ मनसैवानुद्रष्टव्यम्।—बृहदारण्यक उप०,४ ४ १९

२. नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता।–इसके अतिरिक्त और कोई विज्ञाता नही है।

३ अयमात्मा ब्रह्म।

विहाय अन्यानि नवानि संयाति = पुराने शरीरो को छोडकर अन्य नये शरीरो को प्राप्त होता है।

**वचनामृत** . जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रो को छोडकर अन्य नये वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीरो को त्यागकर दूसरे नये शरीरो को धारण कर लेता है।

**सन्दर्भ** जीव के द्वारा देह वस्त्रो की भाँति ही त्याग दिये जाते हैं।

**रसामृत** देह और देही ( जीवात्मा ) का भेद समझने पर विवेकशील मनुष्य को देह के विनाश का शोक नही होता। प्रारब्ध-भोग की अवधि पूर्ण होने पर अथवा आयु समाप्त होने पर शरीर जीर्ण हो जाता है। जीवात्मा ने असख्य जीर्ण शरीरो का परित्याग कर असख्य नये शरीरो को धारण किया है। जीवात्मा के नये शरीर मे प्रवेश करने पर मनुष्य के तीनो शरीर ( स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर ) भी त्याग दिये जाते हैं। ( तत्त्वदृष्टि से आत्मा अचल और क्रियारहित होता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर के आने-जाने पर जीवात्मा मे आने-जाने की प्रतीति होती है तथा औपचारिक रूप मे समझाने के लिए यही कहा जाता है कि आत्मा का आना-जाना होता है। ) यद्यपि शरीर फटे हुए वस्त्रो की भाँति त्याग दिये जाते हैं, अविवेकी मनुष्य शरीर को ही सब कुछ समझने के कारण जीवनकाल मे अनेक प्रकार के दु ख उठाते हैं तथा मृत्यु का भय एव शोक करते हैं। श्रीकृष्ण शरीर की नश्वरता पर बल देकर उसका मोह त्याग देने का उपदेश कर रहे हैं।

मृत्यु एक नदी की भाँति है, जिसमे थका हुआ जीवात्मा नहाकर शरीररूपी पुराने वस्त्र बहा देता है तथा नये धारण कर लेता है।[१] शरीर परिवर्तनशील एव मरणशील तथा आत्मा परिवर्तन का द्रष्टा एव नित्य है। देह मे आसक्ति होना कष्टदायक अज्ञान है। देहासक्ति का त्याग करने पर ही मनुष्य कुछ महान् कार्य कर सकता है तथा देहासक्ति का त्याग करने पर ही मनुष्य आध्यात्मिक पथ पर चल सकता है। देहासक्ति का बन्धन मनुष्य के सारे विकास को अवरुद्ध कर देता है। आत्मा की नित्यता एव अखण्डता तथा देह की नश्वरता समझना परमानन्द एव मोक्ष का द्वार खोल देता है।

**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक ।**
**न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत. ॥२३॥**
**अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।**
**नित्य सर्वगतः स्थाणुरचलोऽय सनातन ॥२४॥**
**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।**
**तस्मादेव विदित्वैन नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥**

**शब्दार्थ** · एन शस्त्राणि न छिन्दन्ति एन पावक न दहति = इस आत्मा को शस्त्र नही काटते, इसे अग्नि नही जलाती। एन आप न क्लेदयन्ति = इसे जल गीला नही करते, च = और, मारुत न शोषयति = और वायु सुखाते नही हैं। अय अच्छेद्य अय अदाह्य. अक्लेद्य च अशोष्य· = ( इस प्रकार ) यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य और अशोष्य है ( न काटे जाने के योग्य, न जलाने के योग्य और न सुखाने के योग्य ), अय एव नित्य सर्वगत अचल स्थाणु सनातन = यह आत्मा निस्सन्देह नित्य ( सदा एक-सा रहनेवाला ) सर्वगत ( सर्वव्यापी ) अचल ( और ) स्थाणु ( स्थिर ) ( तथा ) सनातन ( सदा से चला आता हुआ ) है। अय अव्यक्त अय अचिन्त्य अय अविकार्य उच्यते = यह आत्मा अव्यक्त ( इन्द्रियो का विषय नही है, अप्रकट है ) यह अचिन्त्य ( चिन्तन-मनन से भी परे ) यह अविकार्य ( विकारहित, परिवर्तनरहित ) कहा जाता है, तस्मात् = इसलिए, एन एव विदित्वा ( त्व ) अनुशोचितु न अर्हसि = इसे इस प्रकार जानकर ( तू ) शोक करने के योग्य नही है अर्थात् तुझे शोक नहीं करना चाहिए।

**वचनामृत :** इस आत्मा को शस्त्र काट नही सकते, इसे अग्नि जला नही सकती, इसे पानी गला

---

१ "मृत्यु एक सरिता है, जिसमे
श्रम से कातर जीव नहाकर।
फिर नूतन धारण करता है,
कायारूपी वस्त्र बहाकर ॥"

नही सकता और वायु सुखा नही सकता। यह आत्मा अच्छेद्य (जो काटा नही जा सकता), यह आत्मा अदाह्य (जिसे जलाया नही जा सकता), अक्लेद्य (जिसे गीला नही किया जा सकता अथवा गलाया नही जा सकता) और निश्चय ही अशोष्य (जिसे सुखाया नही जा सकता) है तथा यह आत्मा नित्य, अचल, स्थिर और सनातन है। यह आत्मा अव्यक्त (अप्रकट होने के कारण इन्द्रियो के लिए अगम्य) है, यह आत्मा अचिन्त्य है (मन का विषय नही है) और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इसलिए हे अर्जुन, इस आत्मा को इस प्रकार जानकर तुझे शोक नही करना चाहिए।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण आत्मा के स्वरूप का वर्णन करके अर्जुन को शोक त्याग देने का उपदेश करते हैं।

**रसामृत :** मनुष्य के देह को शस्त्रो से काटा जा सकता है अग्नि से दग्ध किया जा सकता है, जल से गीला किया जा सकता है अथवा गलाया जा सकता है, वायु से शुष्क किया जा सकता है, किन्तु आत्मा को न खण्डित किया जा सकता, न दग्ध किया जा सकता, न आर्द्र किया जा सकता, न शुष्क किया जा सकता, क्योकि वह विकार-रहित एव अविनाशी है तथा उसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता। वह अखण्ड एव एकरस है तथा नित्य, सर्वव्यापक, स्थिर (गतिहीन), अचल और सनातन है। आत्मा इन्द्रियो का विषय नही है। हम उसे इन्द्रियो के व्यापार से, मन के चिन्तन से अथवा बुद्धि के तर्क से नही जान सकते। विवेक द्वारा आत्मा को अजन्मा, नित्य, और सनातन जानने पर एव अनुभूति द्वारा उसका चिन्मय स्वरूप समझने पर मनुष्य मृत्यु के विषय मे शोक-ग्रस्त नही हो सकता। आत्मज्ञानी शोक को पार कर लेता है, क्योकि वह आत्मा की अमरता तथा देह की नश्वरता को जान लेता है।

**अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।**
**तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥**



**शब्दार्थ :** **अथ च**=और यदि, **त्वं एनं नित्यजातं वा नित्यं मृतं मन्यसे**=तू इसे सदा जन्म लेनेवाला या सदा मरनेवाला मानता है, **तथापि**=तो भी, **महाबाहो**=हे महान् बाहुवाले अर्जुन, **एवं शोचितुं न अर्हसि**=इस प्रकार शोक करने के योग्य नही है अर्थात् शोक करना उचित नही है।

**वचनामृत :** श्रीकृष्ण बोले—हे विशाल भुजा-वाले वीर अर्जुन, यदि तू इस आत्मा को सदा जन्म लेनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता है तो भी तुझे मृत्यु के विषय मे शोक नही करना चाहिए।

**सन्दर्भ :** आत्मा को अमर न मानने पर भी शोक करना अविवेक है।

**रसामृत :** आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध है तथा अजर-अमर है, अत मृत्यु होने पर शोक करना अविवेक है। किन्तु यदि हम आत्मा को मरणधर्मा मान ले तो भी मृत्यु होने पर शोक करना अविवेक है, क्योकि नाशवान् वस्तु के नाश होने पर आश्चर्य ही क्या है? श्रीकृष्ण कहते है—हे अर्जुन, तेरी विशाल भुजाएँ सूचित करती है कि तू पराक्रमी महावीर है। महावीर के लिए किसी भी अवस्था मे शोक करना शोभा नही देता। विचारशील पुरुष मृत्यु का भय छोडकर तथा जीवन-सम्पदा का सदुपयोग करके उत्तम लक्ष्यो की प्राप्ति द्वारा जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करते है। आत्मीयता का विस्तार करना तथा क्षुद्रता से महानता और स्वार्थ से परमार्थ की ओर बढना जीवन को सार्थक बनाना है।

**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।**
**तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥**

**शब्दार्थ :** **हि**=क्योकि, **जातस्य ध्रुव मृत्यु च मृतस्य ध्रुव जन्म (अस्ति)**=जन्म लेनेवाले की निश्चित मृत्यु और मरनेवाले का निश्चित जन्म होता है। **तस्मात्**=इससे अथवा इसलिए, **त्वं अपरिहार्ये अर्थे शोचितुं न अर्हसि**=तुझे विवशता के विषय मे शोक करना शोभा

नही देता। ( अपरिहार्य—जिसका परिहार या प्रविरोध न हो। )

**वचनामृत :** क्योकि जन्म लेनेवाले की मृत्यु निश्चित है, अतएव जब जन्म तथा मृत्यु के विषय मे मनुष्य की विवशता हो, मनुष्य को शोक नही करना चाहिए।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण मृत्यु के विषय मे शोक करने को युक्तिपूर्वक अविवेक सिद्ध कर रहे हैं।

**रसामृत** जिस वस्तु का प्रारम्भ है, उसका अन्त निश्चित है। जहाँ सयोग है वहाँ वियोग भी है।[1] जिस देह का जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु होना भी अवश्यभावी है। जीवन मे किये हुए कर्मों के फलभोग के लिए मनुष्य को मृत्यु के बाद पुन शरीर की प्राप्ति होती है। मनुष्य के लिए मोक्ष-प्राप्ति तक जन्म-मरण का चक्र अपरिहार्य (एक विवशता) है। जिसके विषय मे मनुष्य विवश (लाचार) है वहाँ शोक करने से क्या लाभ? मनुष्य के जीवन मे अनेक प्रकार की विवशताएँ हैं, जिनका कोई उपाय सम्भव नही है। विवेकशील मनुष्य विवशता को सहर्ष स्वीकार करके शान्त हो जाता है। विवशता के विषय मे परिस्थिति के साथ समझौता करके उसे स्वीकार करना ही एकमात्र उपाय है। विवशता को परमात्मा का विधान अथवा प्रभु-इच्छा मानकर सन्तोष कर लेना विवेक है। मृत्यु भी मनुष्य की एक विवशता[2] ही है, जिसे स्वीकार कर लेने पर मनुष्य भयमुक्त हो जाता है।

जीवन्मुक्त मनुष्य जीवन-मरण एव सयोग-वियोग के चक्र से मुक्त हो जाता है, क्योकि उसके कर्मसस्कार ज्ञानाग्नि से नष्ट हो जाते हैं। महापुरुष ज्ञान द्वारा मृत्यु के भय का त्याग कर देते हैं तथा ऊँचे लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए जुटकर जीवन को समृद्ध एव सार्थक बना देते हैं। ज्ञानी पुरुष जानता है कि वह आत्मा है, देह नही है, अतएव मरने का क्या भय है?[1] महापुरुष मृत्यु के भय से मुक्त होने के कारण देहान्त के समय सहर्ष देह त्याग कर देते हैं तथा सामान्यजन की भाँति मोह-ग्रस्त होकर नही मरते।

श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रारम्भ मे ही आत्मा का स्वरूप समझाकर उसे मृत्युविषयक मरने-मारने की भ्रान्ति तथा भय से मुक्त करते हैं और उत्तम उद्देश्यो के लिए कर्म करते हुए जीने की प्रेरणा देते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन को स्वस्थ एव ज्ञानयुक्त वैराग्य की शिक्षा देते हैं। मिथ्या आकर्षणो एव पलोभनो से विमुक्त वैराग्यवान् पुरुष ही ज्ञान का सच्चा अधिकारी होता है।

**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।**
**अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥**

**शब्दार्थ** · भारत=हे अर्जुन, भूतानि अव्यक्तादीनि अव्यक्तनिधनानि एव=समस्त प्राणी जन्म से पूर्व अप्रकट शरीरवाले (शरीर-रहित) मृत्यु के पश्चात् (पुन) अप्रकट शरीरवाले (शरीर-रहित) ही होते हैं। व्यक्तमध्यानि=(केवल) मध्य मे प्रकट शरीरवाले (शरीर-सहित) होते हैं। तत्र का परिदेवना=इस विषय मे क्या शोक (करें)?

**वचनामृत :** हे भरतवशी अर्जुन, समस्त प्राणियो के देह जन्म से पूर्व और मृत्यु के बाद

---

१ सयोगा विप्रयोगान्ता—अर्थात् सयोग का अन्त वियोग होता है।

२ मृत्युर्जन्मवता वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुव ॥
—भागवत

१ हम न मरैं, मरिहै ससारा,
हम कू मिल्या जियावन हारा।
अब न मरौं, मरनै मन मानां,
तेई मुएँ जिन राम न जाना।
साकत मरै सतजन जीवैं,
भरि-भरि राम रसाइन पीवैं।
हरि मरिहैं तो हमहू मरिहैं,
हरि न मरै हम काहे कु मरिहै।
कहै कबीर मन मनहि मिलावा,
अमर भये सुख सागर पावा।

अप्रकट होते हैं तथा केवल जन्म से मृत्यु तक उनके देह प्रकट होते हैं। अत इसमे शोकमय प्रलाप की क्या वात है ?

**सन्दर्भ :** सभी को शरीर अल्प काल के लिए ही मिलता है।

**रसामृत :** संसार मे मनुष्य का जीवन इसी प्रकार है। जिस प्रकार एक पक्षी रात्रि के अनन्त अन्धकार से आकर एक विशाल प्रकाशमय कक्ष मे वातायन द्वारा प्रवेश करके, उड़ता हुआ दूसरे वातायन द्वारा पुन बाहर चला जाय तथा उसी अनन्त के विस्तार मे सदा के लिए विलुप्त हो जाय, जिससे वह आया था। मनुष्य ससार मे कहाँ से आया और फिर कहाँ चला जायगा—यह एक रहस्य ही है। मनुष्य का जीवन-काल भी अत्यन्त अल्प होता है। इस शरीर का दर्शन न जन्म से पूर्व था और न मृत्यु के वाद रहेगा। शरीर का रूप शरीर के साथ ही मिट जाता है। इसके अतिरिक्त, जन्म के पश्चात् शरीर किस आयु मे जीर्ण-शीर्ण होकर छूट जाय तथा कहाँ और कैसे छूट जाय, यह भी ज्ञात नही होता। मनुष्य ससार मे खाली हाथ आता है तथा खाली हाथ ही यहाँ से जाता है। वह जो कुछ यहाँ एकत्रित करता है उस सवको यही छोडना पडता है। यहाँ से जाने के कुछ समय पश्चात् मनुष्य को कोई याद नही करता और यदि कोई याद भी करता है तो बहुत अल्प।

ससार चलाचल का मेला है, जहाँ निरन्तर मिलना और विछुड़ना होता रहता है तथा दूसरो को आता-जाता देखनेवाले सभी को एक-एक करके विना पूर्वसूचना के ही काल द्वारा धकेलकर वाहर निकाल दिया जाता है। मृत्यु अवश्यभावी है तथा हर समय सिर पर मँडराती रहती है। यद्यपि सव कुछ यही छूट जाता है, मनुष्य भोग-सामग्री को एकत्रित करते रहने मे और धन-सम्पत्ति के ऊँचे अम्बार लगाने मे जीवनभर भटकता ही रहता है तथा अन्त मे विदा होने के समय पश्चात्ताप करता है कि हाय, मैं अकेला ही जा रहा हूँ तथा मेरे सुत, वित्त, दारा, भवन, परिवार सभी मुझसे छूट रहे है। मनुष्य की तृष्णा, वासना और अहता की परितृप्ति कभी नही होती तथा वह उसमे मृग-मरीचिका की भाँति फँसा हुआ निरन्तर भटकता ही रहता है। जीवन-निर्वाह के लिए तो थोडा ही चाहिए, किन्तु फिर यह हाय-हाय किसके लिए ? मनुष्य स्वजन के मोह मे फँसकर अपने परिवार के लिए धन-सम्पत्ति बटोरता है और जब वे उसके जीवन-काल मे ही व्यसनो मे फँसकर उसे नष्ट करते हैं तथा उसका अपमान करते है तव वह दु ख तो मानता है, किन्तु फिर भी मायामोह के कुचक्र से छूटना नही चाहता। मृत्यु एक विवेक-दायी गुरु है, जो मनुष्य को त्यागपूर्वक भोग करने[1] का, मोह छोड़कर आत्मीयता का विस्तार करने का तथा धन-सम्पत्ति और सत्ता के सदुपयोग द्वारा विशाल जनसमाज की सेवा करने का पाठ सिखाता है।

मृत्यु से भयभीत होने के वजाय मनुष्य को उसे सहजभाव मे स्वीकार कर लेना चाहिए। श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि मृत्यु फटे हुए वस्त्र की भाँति जीर्ण देह को छोड़कर नया देह धारण करने के समान एक साधारण घटना है, अतएव देह का तथा उसके नाते से परिवार और धन-सम्पत्ति आदि का मोह छोड़कर वन्धन-रहित हो जाना चाहिए।[2] श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे यह भी समझाते

---

१ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा। —ईशावास्य उप०

२ अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिवेदना॥

—महाभारत

ससार से पूर्व और पश्चात् अदर्शन है। यह ससार तुम्हारा नही है, तुम भी इसके नही हो। अत संसार से मोह का नाता मानना व्यर्थ है और शोक-प्रलाप करना भी व्यर्थ है।

हैं कि ससार मे आत्म-बल से बडी सामर्थ्य किसी अन्य वस्तु की नही है। अतएव भौतिक जगत् की वस्तुओ और सत्ता की चकाचौंध मे भ्रमित न होकर उत्तम लक्ष्यो की प्राप्ति मे जुटे रहना चाहिए। यही मनुष्य के लिए सुख और शान्ति का उपाय है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य ।
आश्चर्यवच्चैनमन्य शृणोति
श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

**शब्दार्थ** . कश्चित् एन आश्चर्यवत् पश्यति = कोई तो इस आत्मा को आश्चयचकित-सा देखता है, च तथा एव अन्य आश्चर्यवत् वदति = और वैसे ही दूसरा कोई आश्चर्य-चकित-सा ( इसके सम्बन्ध मे कुछ ) कहता है, च अन्य एन आश्चर्यवत् शृणोति = और दूसरा कोई इसे ( इसके सम्बन्ध मे ) आश्चर्यचकित-सा सुनता है, च कश्चित् श्रुत्वा अपि एन न एव वेद = और कोई सुनकर भी इसे नही जानता।

**वचनामृत** · कोई इस आत्मा को आश्चर्य-पूर्वक देखता है, कोई इसका आश्चर्यपूर्ण वर्णन करता है, कोई इसके सम्बन्ध मे आश्चर्यपूर्वक सुनता है और कोई सुनकर भी इसे नही जान पाता।

**सन्दर्भ** आत्मतत्त्व मन और बुद्धि से ग्राह्य नही है।

**रसामृत** : आत्मा का स्वरूप मनुष्य को आश्चर्यचकित कर देता है। आत्मतत्त्व अद्भुत, अलौकिक एव दिव्य है। आत्मा इतना दुर्विज्ञेय है कि प्रवचनो से उसका ग्रहण सम्भव नही होता है।[1] आत्मतत्त्व इतना सूक्ष्म और विचित्र है कि साधना करने पर आत्मदर्शन अथवा आत्म-साक्षात्कार करना भी एक अनुपम आश्चर्य अथवा विस्मय ही है।[1] आत्मा के सम्बन्ध मे 'इदमित्थ' ( यह इस प्रकार है ) कहना कठिन है।

आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करनेवाला ब्रह्मनिष्ठ आत्मद्रष्टा, आत्मज्ञान देनेवाला वक्ता अथवा उपदेष्टा, आत्मज्ञान का सच्चा जिज्ञासु श्रोता—तीनो परम दुर्लभ एव विलक्षण होते हैं। आत्म-ज्ञान सहजसाध्य नही है। यह समस्त मार्ग विस्मयकारी है।

कोई विरला साधक ही निषिद्ध पापकर्म से दूर हटकर, निष्काम रूप से स्वधर्म का पालन करता हुआ निर्मल वैराग्यभाव को प्राप्त करता है तथा आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से प्रेरित होकर श्रद्धापूर्वक ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण मे जाता है और महावाक्यो पर मनन एव निदिध्यासन करता है।[2] महावाक्यो के मनन द्वारा प्राप्त ज्ञान अज्ञान को ध्वस्त कर देता है। 'तत्त्वमसि' ( तू ही ब्रह्म है ), 'नेह नास्ति किंचन' ( ब्रह्म के अतिरिक्त कही कुछ नही है ) इत्यादि का आशय स्पष्ट होने पर 'अह ब्रह्मास्मि' ( मैं ब्रह्म हूँ, देह नही हूँ ) का बोध हो जाता है अर्थात् शुद्ध चित्त मे ब्रह्माकारा अथवा आत्माकारा वृत्ति ( ब्रह्म अथवा आत्मा के आकारवाली दिव्य वृत्ति ) का उदय हो जाता है तथा निर्विकल्प समाधि की अवस्था मे ब्रह्म एव

---

१ 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य ।'
—कठ उप० १.२.२२

---

१ श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य
शृण्वन्तोऽपि बहवो य न विद्यु ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट ॥
—कठ उप०, १.२.७

जो आत्मतत्त्व बहुत लोगो को सुनने के लिए भी नहीं मिलता, बहुत से सुननेवाले जिसे जान नही पाते, उसका वक्ता आश्चर्यमय होता है। उसे प्राप्त करनेवाला आश्चय-मय तथा आचार्य द्वारा उपदिष्ट ज्ञाता भी आश्चर्यमय होता है।

२ 'नितान्त निर्मल स्वान्तः प्रमाता अधिकारी।'

आत्मा के अभिन्नत्व ( एकता ) की अनुभूति हो जाती है, जिसे स्वप्रकाश आत्मा द्वारा आत्मा का दर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। आत्मा शुद्ध चैतन्य, अखण्ड एव आनन्दघन है। आत्म-दर्शन होने पर अविद्याग्रन्थि का भेदन हो जाता है। सब सशय मिट जाते है और सब कर्म क्षीण हो जाते है।[1] वास्तव मे ब्रह्माकारा वृत्ति ( अथवा आत्माकारा वृत्ति ) आत्मा के ऊपर अविद्या-आवरण को दूर करने मे सहायक होती है। आत्मा तो स्वप्रकाश है। आत्मदर्शन, जिसमे द्रष्टा, दृश्य और दर्शन एक हो जाते है, अत्यन्त आश्चर्यमय होता है।

आत्मतत्त्ववेत्ता ( आत्मतत्त्व को जाननेवाला ) व्यक्ति द्वारा आत्मतत्त्व का व्याख्यात्मक विवेचन भी आश्चर्यमय ही होता है, क्योकि आत्मतत्त्व के जाननेवाले प्राय समाधिमग्न अथवा समाहितचित्त रहते हैं तथा दिव्य प्रेरणावश ही व्युत्थान-अवस्था मे ( जब समाधिमग्न न हो ) उपदेश देते है। इसके अतिरिक्त अनिर्वचनीय तत्त्व की व्याख्या कैसे करे ? सर्वविशेषणरहित निर्विशेष अखण्डैकरस ज्योतिस्वरूप आत्मा का वर्णन कैसे सम्भव हो ? उसके वर्णन मे वाणी असमर्थ होकर लौट आती है।[2] वह वाणी का विषय ही नही है।

आत्मज्ञान के वक्ता और श्रोता दोनो दुर्लभ है। आत्मज्ञान का वर्णन और श्रवण आश्चर्यमय है। कोई मन की मलिनता के कारण अनेक बार सुनकर भी आत्मतत्त्व को नही समझ पाता है।

परमब्रह्म का दर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार होने पर मनुष्य अबोध बालक की भाँति सरल हो जाता है तथा खिले हुए पुष्प की भाँति सहज आनन्दावस्था मे रहता है। ज्ञानोदय होने पर भी आत्मज्ञानी अपने प्रारब्ध कर्म के क्षय होने तक क्रियाशील रहता है, जिस प्रकार कुम्हार का चक्र घड़ा बनने पर भी वेग समाप्त होने तक ( निष्प्र-योजन भी ) घूमता ही रहता है। जीवनकाल मे उसकी आत्मानन्दमग्नता आश्चर्यमय होती है तथा अन्त मे उसका महानिर्वाण भी आश्चर्यमय होता है।

**देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।**
**तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥**

**शब्दार्थ :** भारत = हे भरतवशी अर्जुन, **अयं देही सर्वस्य देहे नित्यं अवध्य. ( अस्ति )** = यह आत्मा सभी के देह मे सदा ही अवध्य ( जिसका वध नही हो सकता ) है, **तस्मात् सर्वाणि भूतानि त्वं शोचितु न अर्हसि** = अतएव ( मृत्यु के विषय मे ) सम्पूर्ण प्राणियो के लिए तू शोक करने के योग्य नही है अर्थात् तुझे शोक नही करना चाहिए।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, सभी के देहो मे आत्मा का वध होना सभव नही है। अतएव सभी प्राणियो के लिए देहान्त होने पर तुम्हे शोक नही करना चाहिए।

**सन्दर्भ :** आत्मा नित्य और सर्वथा अवध्य है।

**रसामृत :** आत्मा तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अखण्ड, आनन्दैकरस है, चैतन्यस्वरूप है, स्वप्रकाश है। देह के वध होने पर भी देही अर्थात् आत्मा का वध नही हो सकता है। आत्मतत्त्व का विवेचन एव निरूपण करने के बाद श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है—'उत्तम कुल मे उत्पन्न हुए भरतवशी अर्जुन, धर्मयुद्ध के समुपस्थित होने पर मरने-मारने के मिथ्यात्व को समझ ले, क्योकि देह विनश्वर है, किन्तु आत्मा अमर है। अत किसीके मरने के विषय मे शोक नही करना चाहिए।'

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया.।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
—मुण्डक उप० २ २.८

२ यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।
—तैत्तिरीय उप०, २.९

तात्त्विक दृष्टि से समस्त प्राणियो के शरीरो मे एक ही परम आत्मा है, यद्यपि शरीर-भेद से आत्मा मे भेद प्रतीत होता है।[1]

'भारत' का अर्थ भा ( अर्थात् आत्मज्योति ) मे रत भी है। आत्मा समरस एव चित्स्वरूप है तथा अविनाशी है। जैसे अनेक घटो ( घडो ) के फूट जाने पर भी उनमे स्थित आकाश नष्ट नही होता, वैसे ही अनेक देह नष्ट होने पर उनका अन्तर्व्यापी आत्मा नष्ट नही होता है।

---

१ मनुष्य के शरीर के तीन रूप हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग शरीर और कारण शरीर। स्थूल देह तो प्रत्यक्ष दीखता है, जो चलता-फिरता, खाता-पीता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। स्थूल शरीर के स्तर पर देहाभिमानी चैतन्य जीवात्मा को वैश्वानर कहते हैं। यह भौतिक स्तर है। सूक्ष्म शरीर ( अथवा लिंग शरीर ) मे पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्त-करण ( मन, बुद्धि, चित्त, अहकार ) होते हैं। यह सूक्ष्म शरीर स्वप्नावस्था मे भी सक्रिय रहता है, जब स्थूल देह निष्क्रिय होता है। यह सूक्ष्म शरीर ही मृत्यु होने पर स्थूल देह को छोडकर पुराने कर्मसस्कार तथा वासना को लेकर अन्य स्थूल देह मे चला जाता है। इस प्रकार वास्तव मे सूक्ष्म शरीर का आवागमन होता है तथा स्थूल देह तो नष्ट होकर मिट्टी आदि पाँच तत्त्वो मे मिल जाता है। सूक्ष्म देह के स्तर पर देहाभिमानी चैतन्य तत्त्व को तैजस कहते हैं। कारण शरीर वास्तव मे अविद्या या अज्ञान है, जिसमे कर्मसस्कार तथा वासना अव्यक्त रूप से रहते हैं। कारण शरीर के स्तर पर चैतन्य तत्त्व को प्राज्ञ कहा जाता है। ये तो व्यष्टि देह ( व्यक्ति का देह ) के स्तर पर चैतन्य तत्त्व के तीन नाम हैं। समष्टि देहो ( विश्व के समस्त देह मिलकर ) के तीनो स्तरो पर चैतन्य तत्त्व को यथाक्रम विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर कहते हैं। शुद्ध-बुद्ध, निराकार, चैतन्यस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, आनन्द-स्वरूप परमात्मा ब्रह्म कहलाता है तथा देह मे स्थित उसका अश शुद्ध, बुद्ध, निराकार, चैतन्यस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, आनन्दस्वरूप आत्मा कहलाता है। वेदान्ती परमात्मा और आत्मा को तत्त्वत एक ( अभिन्न ) मानते हैं, जैसे घटाकाश ( घडे के भीतर आकाश ) और महाकाश ( विशाल आकाश ) एक है तथा अनेक वैष्णव आचार्य आत्मा को परमात्मा का भिन्न अश मानते है। आत्मा के सम्बन्ध मे कणाद ( वैशेपिक ), कपिल ( साख्य ), व्यास ( वेदान्त ) ने गम्भीर विचार किया है। वेदान्त मे शकर ( अद्वैत ), रामानुज ( विशिष्टाद्वैत ), मध्व ( द्वैत ), निम्बार्क ( द्वैताद्वैत ), वल्लभ ( शुद्धाद्वैत ), चैतन्य ( चिन्त्याचित्य ) प्रमुख विचारक हैं। ये सभी वन्दनीय हैं। शुद्ध-बुद्ध, निराकार, चैतन्यस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, आनन्दस्वरूप आत्मा मनुष्य के देह मे अवस्थित होकर तथा माया के आवरण से युक्त होकर कर्म करता है तथा फल भोगता है। (आवरणयुक्त होने पर आत्मा ही जीव या जीवात्मा कहलाता है, किन्तु आवरणमुक्त होने पर वह वास्तव मे शुद्ध-बुद्ध, निराकार, चैतन्यस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, आनन्दस्वरूप ही है तथा केवल साक्षी ( निष्क्रिय ) ही है और कर्ता भोक्ता नही होता।) परम ज्ञानी आत्मा और परमात्मा का अभेद ( अद्वैत ) मानकर आत्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्म-दर्शन को साध्य मानकर विविध प्रकार से साधना करते हैं।

**स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।**
**धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥३१॥**

**शब्दार्थ** . च स्वधर्म अवेक्ष्य अपि विकम्पितुं न अर्हसि=और स्वधर्म को देखकर ( विचार कर ) भी तू भय करने के योग्य नही है। हि धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् श्रेयः क्षत्रियस्य न विद्यते=क्योकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर अन्य कोई कल्याणकारी कर्म क्षत्रिय के लिए नही है।

**वचनामृत** . स्वधर्म का विचार करके भी तुझे भय मानने की अथवा विचलित होने की आवश्यकता नही है, क्योकि क्षत्रिय के लिए युद्ध से

[ ११वें श्लोक से ३०वें श्लोक तक साख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोग ( आत्मतत्त्व का ज्ञान ) की चर्चा है। ३१वें श्लोक से ३७वें श्लोक तक स्वधर्म एव क्षात्रधर्म की चर्चा है। ११ से ३७वें श्लोक अथवा ३८वें श्लोक तक साख्य और स्वधर्म की चर्चा है तथा ३९वें श्लोक से कर्मयोग का प्रारम्भ है। ]

बढकर कुछ और कल्याणकारक कर्तव्य नही होता है।

**सन्दर्भ :** ३१ से ३८वे श्लोक तक स्वधर्म एव क्षात्रधर्म की चर्चा है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण अर्जुन को यह स्पष्ट कर देते है कि यह युद्ध धर्मयुद्ध है। हिंसात्मक युद्ध, जो किसी स्वार्थ-पूर्ति के लिए अथवा लोभादि से ग्रस्त होकर राज्य को हडपने अथवा अधिकार छीनने के लिए किया जाता है, वह पापयुद्ध होता है। यदि पाण्डव स्वार्थ-पूर्ति के उद्देश्य से युद्ध करते तो श्रीकृष्ण उनका साथ न देते। श्रीकृष्ण युद्धोन्माद के कारण अनीतिपूर्ण युद्ध करने का भी विरोध करते है, क्योकि ऐसे युद्ध मानवीय मूल्यो को ध्वस्त कर देते है। किन्तु जब आततायियो के अत्याचार के विरोध मे न्यायपक्ष की रक्षा के लिए युद्ध करना अनिवार्य हो जाय तो युद्ध करना एक कर्तव्य हो जाता है। वीर योद्धा क्षत्रिय के लिए युद्ध करना स्वधर्म होता है। अन्याय के विरुद्ध युद्ध करना धर्म है, युद्ध मे चाहे जितनी मारकाट हो तथा अन्त मे हार हो या जीत हो। अतएव कौन मारेगा अथवा कौन मरेगा तथा विजय होगी अथवा पराजय—इस विषय मे भय, चिन्ता और शोक छोडकर पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहसपूर्वक युद्ध करना वीर क्षत्रिय का स्वधर्म है, परम धर्म है। श्रीकृष्ण धर्मयुद्ध से बच भागने की निन्दा करते हुए अर्जुन को वीर की भाँति युद्ध हेतु उठ खडा होने के लिए अनेक युक्तियो द्वारा प्रेरित करते है। क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध की अपेक्षा अन्य कोई कल्याणकारक साधन नही है।

जीवन मे पग-पग पर विषम परिस्थिति उपस्थित होती रहती है। कायर व्यक्ति भयभीत होकर अनेक प्रज्ञावादो ( झूठे तर्कों ) को प्रस्तुत करते हैं तथा स्थिति का सामना करने से पलायन करके काम बिगाड़ लेते हैं। यदि मनुष्य सत्य और न्याय की राह पर है तो उसे भय, चिन्ता और शोक छोडकर पुरुषार्थ करना चाहिए। हार-जीत तो ईश्वराधीन होती है। मनुष्य का कर्तव्य तो डटकर पुरुषार्थ करना है।

समाज मे, परिवार मे अथवा किसी सस्था मे, प्रत्येक मनुष्य का अपना एक स्थान होता है तथा उसके अनुरूप ही उसका दायित्व होता है। अपने दायित्व का पालन करना स्वधर्म होता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म-पालन करे तथा दूसरो के पद, स्थान और कर्म से द्वेष न करे तो सफलता और शान्ति की उपलब्धि होती है। वास्तव मे स्वधर्म-पालन व्यक्ति तथा समाज दोनो के हित मे होता है, दोनो के लिए कल्याणकारी होता है। अपने पद पर रहकर, अपनी पूरी शक्ति से पुरुषार्थ करना स्वधर्म-पालन है। मनुष्य का सहज धर्म अथवा स्वाभाविक धर्म स्वधर्म होता है। अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए कर्तव्य-पालन अथवा स्वधर्म-पालन करना ईश्वर-पूजा है। स्वधर्म-पालन अर्थात् कर्तव्य पर डटा रहना कर्मयोग का आधारभूत स्तम्भ है।

**यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।**
**सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥**

**शब्दार्थ :** **पार्थ**=हे पृथा ( कुन्ती ) के पुत्र पार्थ ( अर्जुन ), **यदृच्छया उपपन्न**=स्वय ही प्राप्त हुए, **च अपावृतं स्वर्गद्वारं ईदृश युद्ध**=तथा खुले हुए स्वर्ग-द्वार की भाँति इस प्रकार के युद्ध को, **सुखिन क्षत्रियाः लभन्ते**=भाग्यशाली क्षत्रिय लोग ( वीर पुरुष ) पाते हैं।

**वचनामृत** हे अर्जुन, स्वय ही सामने आये हुए तथा खुले हुए स्वर्गद्वार की भाँति इस प्रकार के युद्ध को भाग्यशाली वीर लोग ही पाते है।

**सन्दर्भ** यह युद्ध तो अनिवार्य होकर सामने आया है।

**रसामृत** श्रीकृष्ण अर्जुन को इस युद्ध की धर्म्यता पर तथा स्वधर्म मानकर युद्ध करने के कर्तव्य पर अनेक प्रकार से बल दे रहे हैं। यह युद्ध एक अनिवार्य विवशता है तथा टालने का प्रयत्न

होने पर भी सिर पर आ खडा हुआ है। आततायी कौरवो ने आग लगाने, विष देने, छलपूर्वक अधिकार छीनने आदि कुकृत्यो के अतिरिक्त भरे दरवार मे द्रौपदी की लाज उतारने का प्रयत्न किया तथा शान्ति-दूतो के सन्धि-प्रस्तावो को अनसुना कर दिया। स्वय श्रीकृष्ण भी सन्धि-हेतु शान्ति-दूत बनकर गये, किन्तु दुराग्रही दुर्योधन अपनी दुर्नीति पर डटा रहा। उसने धरोहर के रूप मे रखे हुए राज्य मे से सूई की नोक के बराबर भूमि देना भी स्वीकार न किया।[१] श्रीकृष्ण ने कहा—"इस प्रकार तेरे ऊपर थोपा हुआ युद्ध तो खुले हुए द्वारवाले स्वर्ग के सदृश है। यदि पराजय भी होती है और तुझे तथा तेरे पक्षधरो को वीरगति (युद्ध मे लडते हुए मृत्यु) प्राप्त होती है तो स्वर्ग के द्वार खुले मिलेगे। ऐसा धर्मयुद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियो को प्राप्त होता है, क्योकि प्राय युद्ध तो निकृष्ट स्वार्थों की पूर्ति के लिए किये जाते हैं। हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन, कैसा सौभाग्य का अवसर है कि एक परमवीर के सामने कल्याणप्रद युद्ध स्वय प्रस्तुत हो गया है।"

श्रीकृष्ण 'पार्थ' (कुन्तीपुत्र) कहकर अर्जुन को कुन्ती के शब्दो की याद दिला रहे हैं। कुन्ती ने श्रीकृष्ण से कहा था—"धनञ्जय अर्जुन से तथा युद्ध के लिए सदा कटिबद्ध रहनेवाले भीम से बता देना कि जिस प्रयोजन से क्षत्रिय-माता पुत्र को जन्म देती है, वह समय अब आ गया है।"[२]

**अथ चेत्त्वमिम धर्म्यं सग्राम न करिष्यसि।**
**तत स्वधर्मं कीर्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥**

**शब्दार्थ** . अथ चेद्=और यदि, त्व=तू, **इम धर्म्यं सग्राम न करिष्यसि**=इस धर्मयुक्त युद्ध को नही करेगा, **तत**=तो, **स्वधर्मं च कीर्ति हित्वा**=अपने कर्तव्य-पालन और यश को खोकर, **पापं अवाप्स्यसि**=पाप को प्राप्त होगा।

**वचनामृत** · हे अर्जुन, यदि तू इस धर्मयुद्ध को नही करेगा तो स्वधर्म तथा सुयश को खोकर पाप का भागी होगा।

**सन्दर्भ** पुण्य का अवसर छोड देना भी एक पाप है।

**रसामृत** · श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, तेरे सामने धर्मयुद्ध उपस्थित हो गया है, जो तेरे मन को कर्तव्य-पालन का गहन सन्तोष देने के अतिरिक्त लोक मे तेरी यशोपताका को ऊँचा कर देगा। यदि तू ऐसा स्वर्णावसर खो देगा तो न तुझे कर्तव्य-पालन का सन्तोष मिलेगा और न लोक मे कीर्ति ही मिलेगी, जो एक वीर की शोभा होती है।" वीर पुरुष के लिए उत्तम यश एक उपलब्धि होता है, भले ही वह अपने उत्तम चरित्र के कारण यश से गर्वित न हो तथा उसका दर्प न करे। लोक मे शुभ कर्म करने से सुयश तथा अशुभ कर्म करने से अपयश मिलना स्वाभाविक है। समाज मनुष्य को यश के रूप मे पुरस्कार तथा अपयश के रूप मे दण्ड देता है। यश मनुष्य के पुण्य का तथा अपयश पाप का सूचक होता है। वरपुरुष के लिए अपयश त्याज्य तथा यश प्राप्य होता है, किन्तु कर्मयोगी धीरे-धीरे यश और अपयश से ऊपर उठकर तथा समत्व मे स्थित होकर कर्मरत रहता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को अनेक दृष्टिकोणो से युद्ध करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। धर्मयुद्ध करना वीर योद्धा के लिए स्वधर्म होता है।

**अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।**
**संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥**
**भयाद्रणादुपरत मस्यन्ते त्वा महारथा।**
**येषा च त्व बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥**
**अवाच्यवादाश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिता।**
**निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दु खतर नु किम् ॥३६॥**

---

१ यावद् हि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्न पाण्डवान्प्रति ॥

२ एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदर।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागत ॥

—महाभारत

**शब्दार्थ : च भूतानि ते अव्ययां अकीर्ति अपि कथयिष्यन्ति**=और लोग तेरी बहुत समय तक चलनेवाली अपकीर्ति ( बदनामी ) को भी कहेगे, **च अकीर्तिः सम्भावितस्य मरणात् अतिरिच्यते**=और अपकीर्ति प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए उसके मरण से भी बढकर दु खद होती है। **च येषां त्वं बहुमतः भूत्वा लाघवं यास्यसि**=और जिनके लिए तू बहुत माननीय होकर भी लघुता को प्राप्त हो जायगा, **महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते**= वे महारथी लोग तुझे भय के कारण रण से भागा हुआ मान लेंगे। **च तव अहिताः तव सामर्थ्यं निन्दन्तः बहून् अवाच्यवादान् वदिष्यन्ति**=और तेरे शत्रु तेरे बल की निन्दा करते हुए न कहने योग्य वचनो ( अपशब्दो ) को कहेगे, **नु ततः दुःखतरं किम्**=फिर उससे बढकर दु खद क्या हो सकता है ?

**वचनामृत :** श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—यदि तू धर्मयुद्ध से पलायन करेगा तो सब लोग तेरी बहुत समय तक चलती रहनेवाली अपकीर्ति का भी कथन करेगे और प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए अपयश मृत्यु से भी बढकर होता है। जिनकी दृष्टि मे तू पहले माननीय होकर अब लघुता को प्राप्त होगा ( जो अब तुझे तुच्छ समझेगे ) वे महारथी लोग तुझे भय के कारण रण से भागा हुआ समझेगे। तेरे शत्रु लोग तेरे बल की निन्दा करते हुए तुझे अनेक अपशब्द भी कहेगे। इससे बढकर और क्या दु ख होगा ?

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अर्जुन का वीरभाव जगाकर उसे यशप्रद उत्तम कर्म करने की प्रेरणा देते है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"हे अर्जुन, तू अद्‌भुत शूर-वीर है तथा तेरी प्रतिष्ठा अप्रतिम है। शूर-वीर का यशोमय प्रताप उसका सर्वोच्च धन होता है। यदि तू युद्ध नही करेगा तो परिश्रम से अर्जित किया हुआ तेरा यश कलंकित हो जायगा। प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए प्रतिष्ठा की हानि मृत्यु से भी अधिक दु खद होती है। जो महारथी तेरा मान करते है वे यह तो नही समझेंगे कि तूने करुणा के कारण युद्ध-स्थल छोड़ दिया, बल्कि यही समझेंगे कि तू धर्मयुद्ध में भीष्म, द्रोण आदि वीरो को देखकर भयभीत हो गया और कायरता से रण छोड़कर भाग गया। तू उनकी दृष्टि मे गिर जायगा। तेरे शत्रुओ को तेरी निन्दा करने का अवसर मिल जायगा तथा वे तेरे बल को तुच्छ बताकर और अनेक अपशब्द कहते हुए सर्वत्र तेरी निन्दा करते फिरेंगे। वीर क्षत्रिय के लिए इससे बढकर दु खदायक और क्या हो सकता है ?"

श्रीकृष्ण जानते है कि अर्जुन शूर-वीर है तथा क्षणिक आवेश मे आकर धनुष फेक रहा है, किन्तु भविष्य मे जब लोग उसकी निन्दा करेंगे और उसे कायर कहेगे तो उसे पश्चात्ताप होगा और वह क्लेश मे डूबकर व्याकुल हो जायगा। अवसर पर चूकनेवाले लोग बाद मे सदा पछताया करते है, किन्तु अवसर बीतने पर पछताने से क्या होता है ?

वास्तव मे, श्रीकृष्ण अर्जुन को निन्दा का भय नही दिखा रहे है, किन्तु उसे यह स्पष्ट कर रहे हैं कि उचित निन्दा पर ध्यान देकर सँभलना विवेक होता है। मनुष्य को सत्कर्म करते हुए निन्दा-स्तुति से प्रभावित नही होना चाहिए, किन्तु यदि निन्दा सार्थक और उचित हो[1] तो उसे सुनकर आत्मसुधार अवश्य करना चाहिए तथा निन्दनीय कर्म नही करना चाहिए। कर्तव्य-पालन न करने की निन्दा तो आँखें खोलनेवाली होती है। श्रीकृष्ण उसे धर्मयुद्ध से पलायन की यथार्थ निन्दा के प्रति जागरूक कर रहे हैं तथा उसे चेतावनी दे रहे हैं कि अपयश का काम करने पर जब उसे अपयश मिलेगा तो वह बहुत दु खी होगा। वीर पुरुष की यह प्रकृति होती है कि वह सब निन्दा तो सह लेता है, किन्तु अपनी वीरता

---

१ आवाज ए खलक को नक्कारा ए खुदा समझो।
संभावित कहँ अपजस लाहू।
मरन कोटि सम दारुन दाहू॥

महाभारत के उद्योगपर्व ( ७२ २४ ) मे कुलीन की सार्वजनिक निन्दा को मृत्यु से अधिक कष्टप्रद कहा गया है।

की निन्दा नही सह सकता। श्रीकृष्ण युक्तिपूर्वक उसका शौर्यभाव जगा रहे हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रत्येक अवस्था मे स्वधर्म-पालन करने के लिए अनेक युक्तियो द्वारा प्रेरित एव प्रवृत्त कर रहे हैं तथा लौकिक दृष्टि से भी स्वधर्म-पालन के लाभ बता रहे हैं।

**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।**
**तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥**

**शब्दार्थ :** वा हत. स्वर्गं प्राप्स्यसि वा जित्वा महीं **भोक्ष्यसे**=तू या तो मार दिया जाने पर स्वर्ग को प्राप्त करेगा या विजय पाकर पृथ्वी पर राज्यभोग करेगा, **तस्मात् कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय उत्तिष्ठ**=अत हे अर्जुन, युद्ध के लिए निश्चययुक्त होकर उठ खडा हो।[1]

**वचनामृत** हे अर्जुन, यदि तू मारा जायगा तो स्वर्ग को प्राप्त कर लेगा और यदि तू विजयी होगा तो पृथ्वी पर राज्यभोग करेगा, अतएव तू युद्ध करने के लिए निश्चय करके उठ खडा हो।

**सन्दर्भ :** ३१वे श्लोक से ३७वें श्लोक तक स्वधर्मरूप क्षत्रिय-धर्म का विवेचन है।

**रसामृत** अर्जुन ने अनेक प्रश्न किये थे—क्या हम जीतेंगे या हारेंगे ? क्या हमारे लिए युद्ध करना श्रेयस्कर होगा ? स्वजन को, विशेषत गुरुजन को, कैसे मार दूं ? श्रीकृष्ण कहते हैं कि धर्मयुद्ध मे स्वजन अथवा गुरुजन का प्रश्न उठाना अविवेक है। न्याय के पक्ष मे खडे होकर स्वजन आदि का विचार छोडकर सुजन की रक्षा के लिए युद्ध करना चाहिए। क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध मे मारे जाने पर उसके स्वागत मे स्वर्ग के द्वार खुले हुए हैं तथा विजयी होने पर धर्मोपार्जित राज्य का भोग सामने प्रस्तुत है। वीर क्षत्रिय के लिए न्याय-पक्ष के समर्थन मे युद्ध करना स्वधर्म है।[2] अति-क्षमा अथवा अतिकरुणा भी एक दोष है।[1] वीर क्षत्रिय के लिए सामाजिक व्यवस्था की रक्षा हेतु धर्म-युद्ध करना स्वधर्म है। परोक्षरूप मे श्रीकृष्ण यह भी आदेश दे रहे है कि जीवन मे विषम परि-स्थिति को देखकर पलायन न करना चाहिए, बल्कि निश्चय करके डटकर उसका सामना करना चाहिए।

**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।**
**ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥**

**शब्दार्थ :** सुखदु खे लाभालाभौ जयाजयौ समे कृत्वा तत युद्धाय युज्यस्व=सुख-दु ख को, लाभ-हानि को, जय-पराजय को समान समझकर उसके उपरान्त युद्ध के लिए तैयार हो जा, **एव पाप न अवाप्स्यसि**=इस प्रकार ( तू ) पाप को नही प्राप्त होगा।

**वचनामृत :** जय पराजय, लाभ-हानि और सुख-दु ख मे समभाव करके युद्ध के लिए डट जा। इस प्रकार समभाव से युद्ध करने पर तुझे पाप नही लगेगा।

**सन्दर्भ :** समता के उपदेश का प्रारम्भ है।

**रसामृत .** श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम आत्मा की अमरता पर बल देकर अर्जुन के मन से मृत्यु-सम्बन्धी भय और भ्रम का निराकरण कर दिया, तदुपरान्त स्वधर्म एव क्षत्रिय-धर्म की विवेचना करके उसे युद्ध करने की प्रेरणा दी। स्वधर्मपालन का रहस्य समता मे सन्निहित है। समभाव मे स्थित रहनेवाला मनुष्य ही ठीक प्रकार से स्वधर्म-पालन कर सकता है। जो सुख दु ख, लाभ-हानि

---

१ 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय'—यह एक मन्त्र है।

२ स्वधर्मो तु पर तप ।
—स्वधर्म का पालन परम तप है।—शुक्रनीति।

१ न श्रेयो सतत तेजो न नित्य श्रेयसी क्षमा।
—राजा बलि कहते हैं कि सदा वीरता दिखाना या सदा क्षमा करना कल्याणप्रद नही है।

तस्मान्नित्य क्षमा तात पण्डितैरपवादिता।
—राजा बलि कहते हैं कि पण्डित लोग सदा ही क्षमा करने का अपवाद करते हैं।

अथवा जय-पराजय से विचलित हो जाता है, वह निर्भीकता से कर्म नही कर सकता ।

श्रीकृष्ण कहते है कि जो मनुष्य सुख-दुख, लाभ-हानि और जय-पराजय से विचलित न होकर कर्तव्य-पालन करता है, उसे किसी प्रकार का पाप नही होता । अर्जुन को युद्ध मे स्वजन का वध करने पर पाप होने की आशका थी,[1] जिसका निवारण श्रीकृष्ण ने किया । जो मनुष्य किसी कर्म को कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर तथा स्वार्थ-रहित होकर करता है, उसमे शुभाशुभ का विचार नही करना चाहिए तथा उसमे कोई पाप नही होता । सफलता और विफलता मे समबुद्धि रहना अथवा सिद्धि और असिद्धि मे समान रहना महानता का लक्षण है । जो मनुष्य सदैव सम रहता है, वही सन्तुलित रह सकता है । ऐसा व्यक्ति सुख मे अतिहर्षित नही होता और दुख मे करुण क्रन्दन नही करता । प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे दुख और निराशा के अनेक अवसर आते हैं, किन्तु उनसे विचलित न होने पर ही मनुष्य शोक एव आत्म-ग्लानि से बच सकता है तथा प्रगति कर सकता है । महापुरुष कभी अधीर नही होते तथा सुख-दुख, लाभ-हानि और सिद्धि-असिद्धि मे समरस एवं दृढ रहकर उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते है । समत्वभाव एव सकल्प की दृढता होने पर ही मनुष्य कर्ममार्ग पर डटा रह सकता है ।

**एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।**
**बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥**

**शब्दार्थ :** पार्थ = हे पृथा (कुन्ती) के पुत्र, वीरमाता के वीरपुत्र अर्जुन, एषा बुद्धि. ते सांख्ये अभिहिता = यह बुद्धि तेरे लिए सांख्य ( ज्ञान ) के विषय मे कही गयी, तु इमां योगे शृणु यया बुद्ध्या युक्त. कर्मबन्ध प्रहास्यसि = और इसे ( अब ) कर्मयोग के विषय मे सुन जिस बुद्धि से युक्त होकर तू कर्मबन्धन को अच्छी प्रकार से नष्ट करेगा ।

**वचनामृत :** हे पार्थ, ज्ञानयोग ( आत्मतत्त्व ) के विषय मे तेरे लिए बुद्धि ( ज्ञान ) बतायी गयी है, जिससे युक्त होकर तू कर्मबन्धन को तोड़ सकेगा । अब तू कर्मयोग के सम्बन्ध मे भी बुद्धि का श्रवण कर ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण ने यहाँ तक साख्ययोग ( ज्ञान-योग ) की दृष्टि से तथा क्षत्रिय-धर्म की दृष्टि से युद्ध करने के लिए प्रेरित किया और अब कर्मयोग की दृष्टि से युद्ध करने के लिए उपदेश का प्रारम्भ करेंगे ।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मतत्त्व समझाकर समत्व ( प्रत्येक परिस्थिति मे, प्रत्येक अवस्था में, समभाव रखना, सदा एक-सा रहना ) का उपदेश दिया । यही ज्ञानयोग से समत्व-बुद्धि का साधन करना है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझने पर तथा आत्मा को परमात्मा का ही अश मान लेने पर साधक को संसार के सुख-दुख निस्सार प्रतीत होने लगते हैं और वह सुख की परिस्थिति मे अति हर्षित नही होता तथा दु.ख की परिस्थिति मे व्याकुल नही होता । ज्ञानी सद् और असद् ( आत्म और अनात्म, दिव्य और भौतिक, नित्य और नश्वर ) का भेद समझने पर समता प्राप्त कर लेता है । इसी समत्व-बुद्धि को कर्मयोगी भी कर्मयोग की साधना से प्राप्त कर लेता है तथा कर्म करके भी कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है । ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनो से समता की प्राप्ति हो जाती है। श्रीकृष्ण ज्ञानयोग की चर्चा ( ११वें श्लोक से ३०वे श्लोक तक ) कर चुके हैं तथा आगे ( ३९ से ५३ तक तथा ५५ से ७२ तक ) कर्मयोग द्वारा प्राप्य बुद्धि का उपदेश करते हैं । श्रीकृष्ण ने इनके मध्य मे सात-आठ श्लोको मे ( ३१ से ३७ या ३८ तक ) स्वधर्म तथा वीर धर्म की भी युक्तिपूर्ण प्रस्थापना की है ।

---

[1] अध्याय १ श्लोक ३९ 'पापं न शेयमस्माभिः पापात्स्मान्निवर्तितुम् ।'

कर्मयोग का अर्थ है ममत्व, आसक्ति और फल की इच्छा का त्याग करके सफलता और विफलता मे, सिद्धि और असिद्धि मे, लाभ और हानि मे अथवा जय और पराजय मे सम ( एक-सा ) रहना। समभाव से कर्तव्य-कर्म करनेवाले मनुष्य के शुभ और अशुभ कर्म-बन्धन समाप्त हो जाते हैं, कर्म उसके लिए बन्धन नही होते। मनुष्य के कर्म बीज बनकर फल देते हैं और उसे फलभोग ( प्रारब्ध ) के लिए पुन जन्म लेना पडता है, किन्तु कर्मयोगी के कर्म भुने हुए बीज की भाँति होते हैं, जिनका अकुर ही नही फूटता तथा फल-भोग के लिए पुनर्जन्म का प्रश्न नही होता। वास्तव मे, बन्धन और मोक्ष मनुष्य की बुद्धि के अनुसार ही होते हैं। आत्मा की चेतना से प्रकाशित एव प्रेरित बुद्धि कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है।

अर्जुन युद्ध को छोडकर वैराग्य लेना चाहता था। श्रीकृष्ण उसे शान्त और सम होकर युद्ध करने अथवा कर्म करने ( कर्मयोग ) का उपदेश करते हैं। अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति मे समान रहकर कर्तव्य-कर्म करते रहना मनुष्य के चित्त को निर्मल कर देता है तथा चित्त के निर्मल होने पर तत्त्वज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस प्रकार कर्म से चित्त-शुद्धि होती है और चित्त-शुद्धि से ज्ञान का उदय एव मोक्ष की प्राप्ति होती है।*

**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।**
**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥**

**शब्दार्थ** . इह अभिक्रमनाश न अस्ति प्रत्यवाय न विद्यते = इस ( कर्मयोग ) मे अभिक्रम ( आरम्भ, बीज ) का नाश नही है, विपरीत फल ( अथवा पाप ) भी नहीं होता है। अस्य धर्मस्य स्वल्प अपि महत भयात् त्रायते = इस धर्म का थोडा सा भी ( साधन, प्रयत्न ) महान् भय से बचा देता है।

**वचनामृत** ( मोक्ष के साधनरूप ) इस ( कर्म-योग ) का प्रारम्भ कर देने पर ( यदि यह पूर्ण भी न हो सके ) इसका बीज नाश नही होता ( यह निरर्थक नही होता )। इससे अनहित तो होता ही नही है। इस ( कर्मयोग ) का अल्प आचरण भी मनुष्य को जन्म-मरण आदि महान् भय से बचा देता है।

**सन्दर्भ** : श्रीकृष्ण कर्मयोग के साधन का महत्त्व बताते हैं।

**रसामृत** . श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मयोग की यह विशेषता है कि यदि एक बार इसका प्रारम्भ हो जाय तो इसके सस्कार कदापि नष्ट नही होते और अपूर्ण रह जाने पर भी इसका प्रभाव सुदूर-गामी एव चिरस्थायी होता है। इसके अतिरिक्त कर्मयोग का अभ्यास छूट जाने पर भी कोई विप-रीत परिणाम नही होता। कर्मयोग के अभ्यास मे एक पग बढाना भी व्यर्थ नही जाता।

समस्त भय, चिन्ता एव क्लेश के मूल मे आसक्ति होती है। कर्मयोग फल की आसक्ति का त्याग कर देने अर्थात् निष्काम होकर कर्म करने पर बल देता है। कर्मयोग चित्त को शुद्ध एव भय-मुक्त कर देता है। फल की आसक्ति मनुष्य को अधीर एव व्याकुल कर देती है तथा उसे सन्मार्ग से भी विचलित कर देती है।

गीता कर्मशास्त्र है तथा गीतोक्त कर्मयोग मनुष्य की चित्त-शुद्धि द्वारा मोक्ष का द्वार खोल देता है। निष्काम कर्म का थोडा-सा भी अभ्यास मनुष्य को मृत्यु के महान् भय से मुक्त कर देता है। मृत्यु का भय भयराज है तथा जो मनुष्य मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है वह ससार के समस्त भयो से मुक्त हो जाता है। वास्तव मे, भयमुक्त

---

* गीता में 'साख्य' का अर्थ आत्मासम्बन्धी ज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान है तथा इसका सम्बन्ध कपिल के साख्य-दर्शन से नही है। यद्यपि गीता मे कही-कहीं कपिल के साख्य-दर्शन के अशो की चर्चा है, गीताकार को सम्पूर्ण साँख्य-दर्शन अमान्य है। गीता मे योग का अर्थ पतञ्जलि का योगदर्शन भी नही है। गीता मे 'योग' तथा 'योगी' के विभिन्न स्थलों पर विभिन्न अर्थ हैं।

होकर ही मनुष्य जीवन को आनन्दमय बना सकता है। भययुक्त होने पर ससार की समस्त सम्पदा, सत्ता, पद और सुख के साधन विषमय प्रतीत होते हैं तथा भयमुक्त मनुष्य सासारिक सुख-साधन के अभाव मे भी आनन्दमय हो सकता है।

**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।**
**बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥**

**शब्दार्थ :** **कुरुनन्दन इह व्यवसायात्मिका बुद्धि. एका हि**=हे अर्जुन, इस कर्मयोग-मार्ग मे निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है। **च**=और, **अव्यवसायिनाम् बुद्धय. बहुशाखा. अनन्ता.**=अनिश्चयी ( अज्ञानी अथवा सकामी ) मनुष्यो की बुद्धियाँ अनेक भेदवाली तथा अनन्त होती हैं। ( व्यवसाय-निश्चय )।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, इस कर्मयोग मे निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है, किन्तु सकाम अथवा विवेकहीन व्यक्तियो की बुद्धियाँ अनेक भेदसहित तथा अनन्त होती हैं।

**सन्दर्भ :** कर्मयोगी की बुद्धि स्थिर होती है।

**रसामृत :** कर्मयोगी की बुद्धि निश्चल, स्थिर एव सम होती है। कामनारहित होकर अथवा फल की इच्छा छोडकर कर्म करनेवाले की बुद्धि मे समत्व के कारण स्थिरता होती है तथा वह किसी भी अवस्था मे विचलित नही होता। फलासक्ति से प्रेरित होकर ( फल की इच्छा से प्रवृत्त होकर ) कर्म करनेवाला व्यक्ति मन मे कभी स्थिर एव शान्त नही रह सकता। फल की इच्छा से कर्म करनेवाला मनुष्य चचलता के कारण कभी सम, स्थिर अथवा शान्त नही रह सकता। ऐसे लोगो की बुद्धियाँ अस्पष्टता के कारण अनेक भेदवाली तथा अनन्त भटकनेवाली होती हैं। दृढ सकल्पयुक्त कर्मयोगी की बुद्धि मे एकाग्रता के कारण दृढता होती है तथा दृढ सकल्परहित व्यक्ति की बुद्धि मे अस्थिरता होती है। एकाग्र बुद्धिवाले मनुष्य ही जीवन मे कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कर पाते है। निष्काम और निरहकार मनुष्य शान्त रहता है तथा उसे निर्णय लेने मे कठिनाई नही होती। कामना और अहकार मनुष्य की बुद्धि को अस्थिर एव चचल बना देते है तथा कामना के विफल होने पर अथवा अहकार को ठेस लगने पर मनुष्य व्याकुल हो जाता है।

**यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।**
**वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥**
**कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।**
**क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥**
**भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।**
**व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥**

**शब्दार्थ :** **पार्थ**=हे अर्जुन, **कामात्मानः वेदवादरताः स्वर्गपरा अन्यत् न अस्ति इति वादिनः**=जो मनुष्य सकाम कर्म करनेवाले हैं, जो केवल उन वेदवाक्यो मे रुचि लेते है, जिनमे कर्मफल की चर्चा है, जो स्वर्ग को परम प्राप्य मानते हैं, जो यह कहते हैं कि स्वर्ग से बढकर अन्य कुछ नही है, **अविपश्चितः जन्मकर्मफलप्रदा भोगैश्वर्यगति प्रति क्रियाविशेषबहुला इमा या पुष्पिता वाचं प्रवदन्ति**= वे अविवेकी मनुष्य ऐसी जिस पुष्पित वाणी को कहते हैं, जो कि जन्मरूप कर्मफल देनेवाली है तथा भोग एव ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत-सी क्रियाओ का वर्णन करती है। **तया अपहृतचेतसा भोगैश्वर्यप्रसक्ताना समाधौ व्यवसायात्मिका बुद्धिः न विधीयते**=उस वाणी द्वारा हरण किये हुए चित्तवाले ( तथा ) भोगैश्वर्य मे आसक्तिवाले पुरुषो की परमात्मा मे ( अथवा परमात्मा के अभिमुखी होकर चित्त की एकाग्रता मे ) निश्चयात्मिका बुद्धि नही होती है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, जो लोग कामपरायण है तथा वेद के ( केवल ) उन अर्थवाद वाक्यो मे रत हैं, जिनमे कर्मफल की चर्चा है तथा जो स्वर्ग से बढकर कुछ अन्य नही मानते, ऐसे अल्पबुद्धि-मनुष्य जन्मरूप कर्मफल देनेवाली तथा भोगैश्वर्य के लिए यज्ञादि अनेक क्रियाओ को बतानेवाली आकर्षक बातें कहते है। भोग तथा ऐश्वर्य मे आसक्त तथा उन आकर्षक बातो से मोहित चित्त-वाले पुरुषो की परमात्मा मे ( अथवा अन्त करण

मे ) निश्चयात्मिका बुद्धि नही होती ( स्थिर बुद्धि नही होती )।[1]

**सन्दर्भ :** कामपरायण मनुष्यो मे निश्चयात्मिका बुद्धि नही होती।

**रसामृत** . कर्मयोगी उत्तम लक्ष्य का निर्धारण करके तथा फल की इच्छा छोडकर पूरी शक्ति से उसे प्राप्त करने मे जुट जाता है। वह एकाग्रचित्त होकर कर्म करता है तथा निन्दको एव आलोचको की उपेक्षा कर देता है, जो उमे अल्पज्ञान अथवा द्वेष के कारण मूर्ख, अयोग्य, दुष्ट अथवा पाखण्डी सिद्ध करते हुए कुत्सित प्रचार करने मे लगे रहते हैं। वह सीधा देखता है नथा इधर-उधर या पीछे मुडकर नही देखता। उसकी बुद्धि निश्चयात्मिका होती है तथा वह अनेक बाधाओ मे भी अविचल रहता है। कर्मफल में अनासक्त होने पर ही मनुष्य अविचल रह सकता है। अविवेकी एव सकाम मनुष्यो की बुद्धि स्थिर नही होती। जिस मनुष्य की बुद्धि स्थिर एव एकाग्र है वही लक्ष्य-पूर्ति की साधना मे अविचल रह सकता है। यदि वह अकेला भी रह जाय तो भी वह सत्य पर दृढ रहने के कारण हताश नही होता।

वास्तव में जिन मनुष्यो को सासारिक भोग और ऐश्वर्य का ही आकर्षण होता है वे वेदादि ग्रन्थो के उन अशो मे ही रुचि रखते है, जिनके पाठ आदि से उन्हे उनके जीवनकाल मे पुत्र, धन, सम्पदा आदि की प्राप्ति हो सके और अन्त मे स्वर्ग की प्राप्ति हो मके। उनकी दृष्टि मे वेदादि ग्रन्थो का तात्पर्य भोगैश्वर्य की प्राप्ति कराना ही है। वे धर्मग्रन्थो अथवा सन्तो से परमात्मा के स्वरूप को जानने और उसकी प्राप्ति के लिए साधना करने मे रुचि नही लेते। वे तीर्थादि का सेवन भी आध्यात्मिक लाभ के लिए नही, वल्कि भौतिक सुख एव मनोरजन के लिए करते हैं। उन्हे वेदो के अर्थवाद (स्वर्गादि फल की प्रशसा) और कर्मकाण्ड मे ही रुचि होती है। उन्हें प्रत्येक वह पूजा, उपासना, यज्ञ और कर्मकाण्ड प्रिय होता है, जिससे भोगैश्वर्य की प्राप्ति हो सके। इन्द्रियो के सुखभोग और ऐश्वर्य की मृगमरीचिका मे फँसकर भोग्य-सामग्री की प्राप्ति और सचय के लिए जीवनभर भटकनेवाले मनुष्यो की बुद्धि कभी स्थिर, एकाग्र और शान्त नही हो सकती। वे भटकते हुए जीते हैं और भटकते हुए ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते है। विद्वत्ता, धन, सत्ता, सम्मान आदि पाकर भी कामपरायण एव स्वार्थी मनुष्य सासारिक भोगैश्वर्य मे ऐसे ही आसक्त रहते हैं, जैसे गृद्ध आकाश मे ऊँचे उडकर भी अथवा मन्दिर के शिखर पर बैठकर भी नीचे भूमि पर पडे हुए किसी मृतक पशु के ककाल पर ही दृष्टि रखता है। प्राय मनुष्य भोग्य पदार्थो मे आसक्त होकर सदैव उनके सचय एव सरक्षण मे ही अपनी सारी शक्तियो का क्षय कर देते हैं।

**त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जन।**
**निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥**

**शब्दार्थ : अर्जुन**=हे अर्जुन, **वेदा त्रैगुण्यविषया** = वेद त्रैगुण्यविषय हैं ( तीनो गुणो के कार्यरूप ससार को अथवा भोग्य पदार्थों को अपना विषय बनानेवाले अर्थात् उनका प्रतिपादन करनेवाले हैं )। **निस्त्रैगुण्य. निर्द्वन्द्व नित्यसत्त्वस्थ निर्योगक्षेम आत्मवान् भव**=तू निस्त्रैगुण्य ( भोगो मे आसक्तिरहित, भौतिकता से दूर, निष्काम ), निर्द्वन्द्व ( सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो से मुक्त ), नित्यसत्त्वस्थ ( परमात्मा मे स्थित अथवा दृढता से सत्त्वभाव मे स्थित, शुद्ध सत्त्वगुण मे स्थित ), योगक्षेम की इच्छा से मुक्त ( और ) आत्मपरायण ( स्वाधीन अन्त करणवाला ) हो जा।

**वचनामृत** वेदो का मुख्य विषय प्रकृति के तीनो गुणो की क्रिया के सम्बन्ध मे है। ( अथवा, वेद का कर्मकाण्ड-भाग त्रिगुण से उत्पन्न विषयो अर्थात् सासारिक भोगो को प्रदान करने के सम्बन्ध मे है )। किन्तु, हे अर्जुन, तू त्रिगुणात्मक ( भौतिक )

---

१ इन तीनो श्लोको मे एक ही वाक्य है तथा विद्वानो द्वारा उसका अन्वय अनेक प्रकार से किया गया है।

जगत् के मोहवन्धन से स्वतन्त्र हो जा अर्थात् निष्काम हो जा। तू सब द्वन्द्वो (दुःख-सुख इत्यादि) से मुक्त हो जा और नित्य (दृढता-पूर्वक) सत्त्व[1] भाव मे स्थिर हो जा। योग (अप्राप्त वस्तुओ का प्राप्त करना, अर्जन) तथा क्षेम (प्राप्त वस्तुओ की सुरक्षा करना, सरक्षण) को छोड दे तथा आत्मसाधना करके आत्मा को प्राप्त कर।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण निस्त्रैगुण्य होने का आदेश देते हैं।

**रसामृत :** सत्त्व, रज और तम—इन तीनो गुणो के समाहार (समुच्चय) को त्रैगुण्य कहा जाता है। प्रकृति के इन तीन गुणो की क्रिया से ही कर्म तथा कर्मफल होते है तथा ससार की सृष्टि होती है। ('त्रैगुण्य' ससार अथवा भौतिकता का भी वाचक है।) वेद के अधिकाश भाग कर्मकाण्ड का विपय कर्म, कर्मफल और ससार है। अत वेद को त्रैगुण्यविपयवाला कहा गया है। वेद के कर्म-काण्ड-भाग मे अर्थवाद (स्वर्गादि की प्रशसा) है। सासारिक पदार्थों के भोग मे आसक्ति रखने-वाले सकाम मनुष्य कर्मकाण्ड मे बहुत रुचि लेते है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कामना के सर्वथा त्याग की शिक्षा देते है। निस्त्रैगुण्य अर्थात् निष्काम होकर ही मनुष्य आत्मनिष्ठ हो सकता है। कर्म के मूल मे कामना अथवा वासना न होने पर ही वह कल्याणप्रद होता है। मोक्षगामी मनुष्य के लिए निस्त्रैगुण्य अर्थात् निष्काम होना आवश्यक है। वास्तव मे वेदो का तात्पर्य स्वर्गादि की प्राप्ति कराना नही है। वेदो के अन्तिम भाग (उप-निपदो) मे आध्यात्मिकता का ही प्रतिपादन है तथा वही वेदो का वास्तविक तात्पर्य है। कर्म-काण्ड मे सकाम कर्म एव उसके फलभोग की प्राप्ति की चर्चा है तथा उपनिपदो मे निष्काम होकर परमात्मा की प्राप्ति का विवेचन है। इस प्रकार वेद मनुष्य को सकामता से निष्कामता की ओर उन्मुख करते हैं, भौतिक उपलब्धियो के द्वारा आध्यात्मिकता की साधना की ओर प्रेरित करते है अथवा भोग से त्याग की ओर ले जाते हैं। श्रीकृष्ण स्वरूप से समस्त कर्मत्याग का उपदेश नही करते। कर्म करने मे ममता, आसक्ति और कामना का त्याग करना निस्त्रैगुण्य होना है। ससारविपयक कामना (भोग्य पदार्थो के भोग की कामना) को छोड़कर अर्थात् निस्त्रैगुण्य अथवा निष्काम होकर कर्म करने से चित्त-शुद्धि होती है तथा चित्त-शुद्धि से आत्मज्ञान एव आत्म-साक्षात्कार सुलभ हो जाता है। श्रीकृष्ण वेद की निन्दा नही कर रहे हैं, बल्कि उसके कर्मकाण्ड से ऊपर उठकर उसके सारतत्त्व (उपनिषदो) के अनुसार निष्काम होने का आदेश देते हैं। निष्काम व्यक्ति ही आत्मनिष्ठ हो सकता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को द्वन्द्वरहित होने का भी उपदेश देते हैं। द्वन्द्वरहित होकर ही मनुष्य सम-बुद्धि अथवा स्थिरबुद्धि रह सकता है। द्वन्द्वरहित मनुष्य ही शान्त रह सकता है। द्वन्द्वरहित मनुष्य ही आत्मसाक्षात्कार का अधिकारी है। निर्द्वन्द्व होकर जीवनयापन करनेवाला मनुष्य दर्शनीय एव वन्दनीय होता है।

सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-हानि, राग-द्वेष, शत्रु-मित्र इत्यादि परस्पर विरोधी युग्म (द्वन्द्व) हैं। आसक्ति, कामना और ममत्व छोडकर ही तथा आध्यात्मिक स्तर पर जीने से ही मनुष्य द्वन्द्वातीत अर्थात् सुख-दुःख आदि मे सम (एक-सा) रह सकता है। कर्मयोगी द्वन्द्वातीत होता है तथा वह सुख-दुःख, जय-पराजय, लाभ-हानि की परवाह नही करता। वह किसी भी स्थिति मे विचलित नहीं होता।

व्यक्तियो और वस्तुओ के नाम तथा रूप होते हैं, किन्तु आत्मा का नाम और रूप नही होता। अपने को देह मानने पर मनुष्य नाम और रूप के

---

[1] 'सत्त्व' का एक अन्य अर्थ धैर्य भी होता है। नित्यसत्त्वस्थ—स्थिर होकर धैर्य मे स्थित। इस श्लोक का अर्थ अनेक प्रकार से किया गया है।

द्वन्द्व से ग्रस्त होता है, किन्तु आत्मा के स्तर पर अपने को आत्मा माननेवाला मनुष्य इस द्वन्द्व से भी ऊपर उठ जाता है। निर्द्वन्द्व व्यक्ति ही आत्म-निष्ठ हो सकता है।

प्रकृति के सत्त्व, रज, तम तीन गुण हैं। सत्त्व गुण मनुष्य को सात्त्विक ( सीधा-सच्चा ) बना देता है। सात्त्विक गुण मे दृढता से निरन्तर स्थित अथवा नित्यसत्त्वस्थ मनुष्य ही विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत आत्मनिष्ठ हो सकता है, क्योकि वह ससार मे भौतिक पदार्थों, भोग्य पदार्थों एव भोगो से मुग्ध होकर विचलित नही होता।[1]

श्रीकृष्ण अर्जुन को योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होने का भी उपदेश देते है। अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की कामना ( योग ) तथा प्राप्त वस्तु के सरक्षण की इच्छा, चिन्ता और प्रयत्न ( क्षेम )—ये दोनो मनुष्य को भटकाते रहते हैं। भौतिक वस्तुओ का प्रलोभन एव मोह छोडकर, सात्त्विक जीवन-यापन करनेवाला मनुष्य अनावश्यक परिग्रह ( धन-सम्पत्ति एकत्रित करना ) के कुचक्र मे नही फँसता। वह तो आत्मनिष्ठ होने का प्रयत्न करता है। कर्म करते हुए आत्मनिष्ठ होना कर्मयोग का साध्य है। आत्मा के प्रति प्रमाद न करते हुए आत्मतत्त्वविज्ञानविशारद अथवा आत्मतत्त्वज्ञ होना परम पुरुषार्थ है।

**यावानर्थ उदपाने सर्वत· सम्प्लुतोदके।**
**तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत ॥४६॥**

**शब्दार्थ : सर्वत सम्प्लुतोदके उदपाने यावान् अर्थ.** ( अस्ति )=सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के ( प्राप्त होने पर ) छोटे जलाशय मे ( मनुष्य का ) जितना प्रयोजन ( होता है ), **विजानत ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु तावान्**=ब्रह्मतत्त्व को जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी का ( भी ) सब वेदो में उतना ही ( प्रयोजन रहता है )।

**वचनामृत ·** सब ओर से परिपूर्ण विशाल जलाशय के प्राप्त होने पर छोटे-से जलाशय मे मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्म को जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी का समस्त वेदो मे उतना ही प्रयोजन रह जाता है।

**सन्दर्भ ·** आत्मनिष्ठ होने पर मनुष्य को वेदो मे प्रयोजन नही रहता। ( ४२, ४३, ४४वें श्लोको मे सकाम कर्म छोड़ने की तथा ४५वें श्लोक मे निष्काम कर्म करने की प्रशसा की गयी है। )

**रसामृत** छोटे-से जलाशय का अपना एक महत्त्व है, क्योकि वह छोटी छोटी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। किन्तु विशाल और सुन्दर जलाशय प्राप्त होने पर उसकी आवश्यकता नही रहती। इसी प्रकार वेदोक्त ( कर्मकाण्ड के अन्तर्गत ) सकाम कर्मों से परिच्छिन्न ( सीमित ) सुख मिलता है, किन्तु आत्मज्ञान द्वारा वेदो के प्रतिपाद्य ( उपनिषदो के अन्तर्गत ) परम ब्रह्म की अनुभूति होने पर अपरिच्छिन्न ( असीम ) आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। आत्मा के अपरिसीम दिव्य आनन्द मे शरीर के ससीम विषय-सुख विलीन ( अन्तर्भूत ) हो जाते हैं। ब्रह्मज्ञानी को वैदिक कर्मकाण्ड की ( अथवा उसके अन्तर्गत क्षुद्र वैदिक कर्मफल की ) आवश्यकता एव महत्ता नही रहती। निष्काम कर्मयोग द्वारा उपलब्ध चित्त-शुद्धि मनुष्य को अनन्त और अखण्ड ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करा देती है। आत्मकाम, पूर्णकाम एव नित्यतृप्त होने पर मनुष्य को वेदोक्त सकाम कर्म से प्रयोजन नही रहता। वेद ( कर्मकाण्ड ) त्रैगुण्यविषयक है और मुमुक्षु निस्त्रैगुण्य होकर मोक्ष की प्राप्ति ( ब्रह्मानन्द-प्राप्ति ) करता है। ब्रह्मवित् नित्यानन्द मे मग्न रहता है तथा उसे भौतिक सुख के प्रति लुब्धता नही रहती।[1] ब्रह्मानुभूति मे अवस्थित

---

१ नित्यसत्त्वस्थ होने का आशय ब्रह्मस्वरूप मे स्थित होना भी है, क्योकि सत् के भाव को सत्त्व अर्थात् ब्रह्मस्वरूप भी कहते हैं।

१ 'स मोदते मोदनीय हि लब्ध्वा।'—वह मोदनीय आनन्दस्वरूप को प्राप्त कर आनन्दमग्न हो जाता है।

होना जीवन की परम उपलब्धि है।[1] आत्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञानी को वेदो मे भी प्रयोजन नही रहता।

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
**मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥**

**शब्दार्थ :** ते कर्मणि एव अधिकार. फलेषु कदाचन मा=तेरा कर्म करने मात्र मे ही अधिकार ( है ), फल मे कदापि नही ( है )। कर्मफलहेतु· मा भूः=तू कर्मो के फल की वासनावाला मत हो। ते अकर्मणि सङ्गः मा अस्तु=तेरी कर्म न करने मे प्रीति न हो अर्थात् तू कर्म करना न छोड दे।

**वचनामृत :** तेरा अधिकार केवलमात्र कर्म करने में है। कर्म के फल मे तेरा अधिकार कदापि नही है। तू कर्मों के फल की वासनावाला न हो। कर्म न करने मे तेरी प्रीति न हो।

**सन्दर्भ :** कर्मयोग का समस्त सार यहाँ वर्णित है। ४७, ४८वे श्लोक मे श्रीकृष्ण कर्मयोग के स्वरूप का वर्णन करते है। अर्जुन कर्मयोग का अधिकारी है।

**रसामृत :** प्रत्येक मनुष्य कुछ विशेष परिस्थितियो मे कार्य करता है तथा सभी के कार्यक्षेत्र और परिस्थिति पृथक्-पृथक् होते है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य की शक्ति और सामर्थ्य सीमित होते है तथा मनुष्य को यह ज्ञान भी नही होता कि कब उसकी शक्ति क्षीण हो जाय अथवा कब क्या परिस्थिति हो जाय। मनुष्य केवल कर्म कर सकता है और वह फल के विषय मे निश्चित नही हो सकता, क्योकि फल कदापि मनुष्य के अधीन नही होता। मनुष्य भाग्य के सहारे भी निष्क्रिय होकर नही बैठ सकता, क्योकि भाग्य का ज्ञान सम्भव नही होता। जो मनुष्य कर्म करने से बचता है वह निश्चय ही अधम है। श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रत्येक परिस्थिनि मे कर्म करते हुए जीवनयापन करने का उपदेश देते है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म-सिद्धान्त का सार समझाते हैं। मनुष्य को सदैव कर्मरत रहना चाहिए। कर्तव्य-पालन के अवसर पर किसी बहाने से पलायन कर जाना निकृष्टता है। मनुष्य को सफलता और विफलता, जय और पराजय, लाभ और हानि तथा मान और अपमान की चिन्ता छोडकर कर्तव्य-पालन करना चाहिए। फल की कामना एव चिन्ता से ग्रस्त होकर मनुष्य दृढता से कर्म नही कर सकता। मनुष्य को कर्म करने पर ही अधिकार है तथा फल पर उसका कोई अधिकार नही है। फल सदैव ईश्वराधीन है। मनुष्य कर्म से पूर्व लक्ष्य निर्धारित करते हुए योजना बनाता है, किन्तु उसे अपनी योजना के अनुसार लक्ष्य-पूर्ति के लिए कर्म करते हुए भी फल-प्राप्ति को मुख्य उद्देश्य नही बनाना चाहिए, अर्थात् मनुष्य को फल-प्राप्ति की कामना नही करनी चाहिए। फल-प्राप्ति की कामना ( फलासक्ति ) से प्रेरित होकर कर्म करनेवाला मनुष्य कामना के अनुकूल फल-प्राप्ति होने पर अतिहर्षित तथा प्रतिकूल फल-प्राप्ति होने पर अतिव्याकुल हो जाता है। अतएव कर्म-फल को हेतु अथवा उद्देश्य नही बनाना चाहिए तथा कर्तव्य-पालन के लिए कर्म करना चाहिए। मनुष्य को कर्म करने की प्रेरणा फल-प्राप्ति की कामना से नही, बल्कि कर्तव्य-बोध से लेनी चाहिए। कर्तव्य-पालन के लिए ही कर्म करना श्रेयस्कर है तथा कर्म-फल को हेतु ( कारण ) बनाकर अर्थात् फल-प्राप्ति की वासना से कर्म करना श्रेयस्कर नही है।

फल-प्राप्ति की कामना छोडने पर यह आशका हो सकती है कि कर्म करने की प्रवृत्ति कैसी होगी ? यदि फल की इच्छा न रहेगी तो मनुष्य कर्म क्यो करेगा ? साधारण मनुष्य तो फल की इच्छा से ही कर्म मे प्रवृत्त होते हैं तथा दु ख-सुख आदि के चक्र मे फँस जाते है, किन्तु कर्मयोगी कर्तव्य-पालन एव चित्त-शुद्धि की दृष्टि से ही कर्म करता है। फल की इच्छा न होने पर वह कर्म को छोड़ नही बैठता

---

१ 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' ( धर्मसूत्र )—आत्मलाभ से बढकर कुछ नही है।

द्वन्द्व से ग्रस्त होता है, किन्तु आत्मा के स्तर पर अपने को आत्मा माननेवाला मनुष्य इन द्वन्द्व से भी ऊपर उठ जाता है। निर्द्वन्द्व व्यक्ति ही आत्मनिष्ठ हो सकता है।

प्रकृति के सत्त्व, रज, तम तीन गुण है। सत्त्व गुण मनुष्य को सात्त्विक (सीधा-सच्चा) बना देता है। सात्त्विक गुण मे दृढता से निरन्तर स्थित अथवा नित्यसत्त्वस्थ मनुष्य ही विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत आत्मनिष्ठ हो सकता है, क्योकि वह ससार मे भौतिक पदार्थो, भोग्य पदार्थो एव भोगो मे मुग्ध होकर विचलित नही होता।[1]

श्रीकृष्ण अर्जुन को योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होने का भी उपदेश देते है। अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की कामना (योग) तथा प्राप्त वस्तु के सरक्षण की इच्छा, चिन्ता और प्रयत्न (क्षेम)—ये दोनो मनुष्य को भटकाते रहते है। भौतिक वस्तुओ का प्रलोभन एव मोह छोडकर, सात्त्विक जीवन-यापन करनेवाला मनुष्य अनावश्यक परिग्रह (धन-सम्पत्ति एकत्रित करना) के कुचक्र मे नही फँसता। वह तो आत्मनिष्ठ होने का प्रयत्न करता है। कर्म करते हुए आत्मनिष्ठ होना कर्मयोग का साध्य है। आत्मा के प्रति प्रमाद न करते हुए आत्मतत्त्वविज्ञानविशारद अथवा आत्मतत्त्वज्ञ होना परम पुरुषार्थ है।

**यावानर्थ उदपाने सर्वत. सम्प्लुतोदके।**
**तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत ॥४६॥**

**शब्दार्थ** • **सर्वत सम्प्लुतोदके उदपाने यावान् अर्थ. (अस्ति)**=सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के (प्राप्त होने पर) छोटे जलाशय मे (मनुष्य का) जितना प्रयोजन (होता है), **विजानत ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु तावान्**=ब्रह्मतत्त्व को जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी का (भी) सब वेदो मे उतना ही (प्रयोजन रहता है)।

**वचनामृत** • सब ओर से परिपूर्ण विशाल जलाशय के प्राप्त होने पर छोटे-से जलाशय मे मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्म को जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी का समस्त वेदो मे उतना ही प्रयोजन रह जाता है।

**सन्दर्भ** आत्मनिष्ठ होने पर मनुष्य को वेदो मे प्रयोजन नही रहता। (४२, ४३, ४४वें श्लोको मे सकाम कर्म छोडने की तथा ४५वें श्लोक मे निष्काम कर्म करने की प्रशसा की गयी है।)

**रसामृत** छोटे-से जलाशय का अपना एक महत्त्व है, क्योकि वह छोटी छोटी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। किन्तु विशाल और सुन्दर जलाशय प्राप्त होने पर उसकी आवश्यकता नही रहती। इसी प्रकार वेदोक्त (कर्मकाण्ड के अन्तर्गत) सकाम कर्मो से परिच्छिन्न (सीमित) सुख मिलता है, किन्तु आत्मज्ञान द्वारा वेदो के प्रतिपाद्य (उपनिषदो के अन्तर्गत) परम ब्रह्म की अनुभूति होने पर अपरिच्छिन्न (असीम) आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। आत्मा के अपरिसीम दिव्य आनन्द मे शरीर के ससीम विषय-सुख विलीन (अन्तर्भूत) हो जाते हैं। ब्रह्मज्ञानी को वैदिक कर्मकाण्ड की (अथवा उसके अन्तर्गत क्षुद्र वैदिक कर्मफल की) आवश्यकता एव महत्ता नही रहती। निष्काम कर्मयोग द्वारा उपलब्ध चित्त-शुद्धि मनुष्य को अनन्त और अखण्ड ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करा देती है। आत्मकाम, पूर्णकाम एव नित्यतृप्त होने पर मनुष्य को वेदोक्त सकाम कर्म से प्रयोजन नही रहता। वेद (कर्मकाण्ड) त्रैगुण्यविषयक है और मुमुक्षु निस्त्रैगुण्य होकर मोक्ष की प्राप्ति (ब्रह्मानन्द-प्राप्ति) करता है। ब्रह्मवित् नित्यानन्द मे मग्न रहता है तथा उसे भौतिक सुख के प्रति लुब्धता नही रहती।[1] ब्रह्मानुभूति मे अवस्थित

---

१ नित्यसत्त्वस्थ होने का आशय ब्रह्मस्वरूप मे स्थित होना भी है, क्योकि सत् के भाव को सत्त्व अर्थात् ब्रह्मस्वरूप भी कहते हैं।

१ 'स मोदते मोदनीय हि लब्ध्वा।'—वह मोदनीय आनन्दस्वरूप को प्राप्त कर आनन्दमग्न हो जाता है।

तथा उसकी प्रवृत्ति अकर्मता ( अकर्मण्यता ) की ओर नही हो जाती। कर्मयोगी अकर्मता मे प्रीति नही करता। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"हे अर्जुन, फल की इच्छा तो छोड दे, किन्तु सावधान रहना कि फल की इच्छा छोड़ने पर तेरी प्रीति अकर्मता मे न हो जाय। तुझे प्रत्येक परिस्थिति मे कर्तव्यभाव से प्रेरित होकर कर्म करते रहना चाहिए तथा कर्म करना कदापि नही छोडना चाहिए।" वास्तव मे, फल की आसक्ति होने पर मनुष्य कर्म की ओर स्वार्थ-दृष्टि से देखता है। फलासक्तिरहित अर्थात् निष्काम कर्म मनुष्य का अपना कल्याण तथा जगत् का हित करता है।[1] कामना पर विजय पानेवाला कर्मयोगी फल की चिन्ता नही करता तथा कर्म मे ही पूर्ण सन्तुष्टि मानकर, कर्म करने मे ही अपनी कृतार्थता मान लेता है। वह कर्म-फल को प्रभु-इच्छा मानकर स्वीकार कर लेता है, क्योकि पूर्ण प्रयत्न करने पर भी हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश प्रभु के हाथ मे हैं।[2] अनुकूल या प्रतिकूल फल-प्राप्ति के समय वह कहता है—"जो कुछ प्रभु कर रहे हैं, इसीमे मेरा कल्याण है।" कर्म को सच्चे भाव से कर लेना अपने मे एक गहरा सुख होता है तथा अपने कर्म मे निरत रहना धर्म है।[3]

**योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।**
**सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥**

**शब्दार्थ :** धनञ्जय=हे अर्जुन, सङ्ग त्यक्त्वा सिद्धि-असिद्ध्यो सम भूत्वा योगस्थ कर्माणि कुरु= आसक्ति छोडकर सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग मे स्थित हुआ कर्मों को कर। समत्व योग उच्यते=समभाव रखना ही योग है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, तू आसक्ति छोडकर कर्म की सफलता ( पूर्णता ) और विफलता ( अपूर्णता ) मे समबुद्धि रहकर, योग द्वारा परमात्मा में स्थित हुआ, कर्मों को कर। समत्व ही योग कहलाता है।

**सन्दर्भ.** कर्म कैसे करें? श्रीकृष्ण कर्मयोगी के लिए कर्म करने की विधि बताते हैं।

**रसामृत** कर्मयोग की साधना मे मनुष्य के लिए कर्मफल की आसक्ति के त्याग का अभ्यास करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य को भौतिक वस्तुओ और व्यक्तियो को नश्वर समझकर उनके प्रति मोह का त्याग कर देना चाहिए। केवल परमात्मा ही सत् है। भौतिक वस्तुओ को मेरा-तेरा कहना अज्ञान है। सभी कुछ परमात्मा का है तथा सभी कुछ धरती पर छूट जाता है। मनुष्य एक तिनका भी अपने साथ नही ले जाता। जिन व्यक्तियो के लिए मनुष्य मोहग्रस्त होकर धन-सम्पत्ति सचित करता है, उनके साथ सभी नाते जीवन-काल मे ही अथवा मृत्यु होने पर टूट जाते हैं। मनुष्य नश्वर वस्तुओ और व्यक्तियो के साथ ममत्व का मिथ्या नाता मानकर भटकता रहता है। जो कुछ परिश्रमपूर्वक तथा सचाई के साथ प्राप्त हो जाय, उसे परमात्मा का प्रसाद समझकर, उसका सदुपयोग करना ही श्रेयस्कर है। भौतिक पदार्थों का मोह छूटने पर उनका आकर्षण एव प्रलोभन समाप्त हो जाता है तथा मनुष्य अप्राप्त को प्राप्त करने और प्राप्त का सरक्षण करने की चिन्ता नही करता। "आत्मा सत् है तथा नाम और रूपवाला यह देह असत् है, मैं देह नही हूँ, मैं आत्मा हूँ, यह देह तो वस्त्र की भाँति नष्ट होने पर यही छूट जायगा, केवल कर्मों के सस्कार ही मेरे साथ चलेंगे और आगामी जीवन मे दुख-सुख का कारण बनेंगे, मुझे सात्त्विक रहकर केवल सत्कर्म

---

१ आत्मानो मोक्षार्थं जगद् हिताय च ॥
स्वान्त सुखाय परहिताय च ॥

२ हानि लाभ जीवन-मरण यश-अपयश विधि हाथ।
—तुलसीदास

३ स्वकर्मत्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते।
स्वकर्मनिरतो यस्तु स धर्म इति निश्चय ॥
—महाभारत

अर्थात् अपने कर्म का परित्याग अधर्म तथा अपने कर्म मे निरत रहना धर्म है—यह निश्चय है।

करना चाहिए, जिससे जीवन मे स्थायी शान्ति प्राप्त हो सके तथा मै धीरे-धीरे परमात्मा को प्राप्त कर सकूँ"- हमे ऐसा विचार कर आचरण करना चाहिए। मनुष्य को वस्तुओ और व्यक्तियो का मोह छोडकर वस्तुओ का सदुपयोग तथा व्यक्तियो के प्रति प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। मोह अज्ञान है, बुद्धि का अन्धकार है, जिससे ग्रस्त होने पर मनुष्य वस्तुओ को नष्ट होते हुए तथा व्यक्तियो को मरते हुए देखकर भी पाप की राह से नही हटता। मोह[1]-त्याग करने से मनुष्य कर्म करते समय फल की आसक्ति छोड सकता है। कर्मफल की आसक्ति छोडना अथवा निष्काम होना कर्मयोग की साधना का मूलाधार है। अतएव श्रीकृष्ण कहते है—हे अर्जुन, तू आसक्ति छोडकर कर्म कर।

कर्मफल मे आसक्ति छोड़ने पर मनुष्य आत्म-कल्याण एव समाज हित के लिए कर्म करते हुए सदा समरस रह सकता है। अनासक्त मनुष्य सिद्धि और असिद्धि, सफलता और विफलता, जय और पराजय, लाभ और हानि तथा मान और अपमान मे सम अर्थात् एकरस रह सकता है। कर्मयोगी कर्म करने के लिए कर्म करता है अर्थात् कर्तव्य-पालन को धर्म मानकर उत्तम कर्म करता है तथा कर्म करने मे ही आनन्द का अनुभव करता हुआ अपनी कृतार्थता मानता है। वह जानता है कि फल तो प्रभु के अधीन है, अतएव उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है। प्रभु जैसा फल देंगे वही उसे स्वीकार होगा, क्योकि ईश्वर का विधान ही उसके तथा समाज के हित मे है।

मनुष्य योग मे स्थित होकर अर्थात् उच्च आध्यात्मिक चेतना अथवा चित्त की सम एव शान्त अवस्था मे स्थित होकर, कर्म उत्साहपूर्वक कर सकता है, कर्म मे अनासक्त रह सकता है तथा अन्त मे फल-प्राप्ति के समय सफलता अथवा विफलता मे समरस रह सकता है। समत्व (आन्तरिक एकरसता, शान्ति एव सन्तुलन) की प्राप्ति एक योग है तथा समत्व की प्राप्ति होने पर मनुष्य को कर्मयोगी कहा जाता है अर्थात् समत्व-बुद्धि कर्मयोगी को प्रभु के साथ जोड़ देती है। समत्व होने पर चित्त परमात्मा मे समाहित हो जाता है।

कर्मयोगी एकाग्रता से लक्ष्य के प्रति समर्पित होकर कर्म करने मे ऐसा रस लेता है कि वह लाभ-हानि अथवा निन्दा-स्तुति की ओर ध्यान ही नही देता तथा सदा अविचल रहता है। वह अपने भीतर जगत् को और जगत् मे अपने को देखकर, आध्यात्मिक चेतना मे स्थित होकर, सिद्धि-असिद्धि से ऊपर उठ जाता है।

**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।**
**बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥**

**शब्दार्थ :** **बुद्धियोगाद् कर्म दूरेण अवरम्**=बुद्धियोग से (सकाम) कर्म अत्यधिक तुच्छ है। **धनञ्जय**=हे अर्जुन, **बुद्धौ शरणं अन्विच्छ**=तू समत्व-बुद्धि का आश्रय ग्रहण कर, **हि**=क्योकि, **फलहेतवः कृपणाः**=फल को हेतु मानकर (फल की तृष्णा से प्रेरित होकर) कर्म करनेवाले कृपण (निकृष्ट) होते हैं।

**वचनामृत :** इस समत्वरूप बुद्धियोग (कर्म-योग) की अपेक्षा (सकाम) कर्म अत्यन्त तुच्छ है। अतएव, हे अर्जुन, तू समत्व-बुद्धि का ही आश्रय ग्रहण कर, क्योकि फल को हेतु मानकर कर्म करनेवाले (फल की वासना से प्रेरित होकर कर्म करनेवाले) निकृष्ट होते है।

**सन्दर्भ :** समत्व-बुद्धि कर्मयोग का सार है। ३९वे श्लोक से इस बुद्धियोग का प्रारम्भ है—**'बुद्धियोगे त्विमां शृणु।'**

**रसामृत :** कर्मयोग बुद्धि का ऐसा अनुशासन है, जो मनुष्य को कर्म करते हुए न केवल सन्तोष

---

१ मोह का त्याग गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य है। गीता के अन्त मे श्रीकृष्ण के पूछने पर अर्जुन कहता है—'नष्टो मोहः' अर्थात् गीता-रसामृत सुनकर मेरा मोह नष्ट हो गया। 'योगस्थ' का अर्थ परमात्मा के साथ एकीभाव मे स्थित अथवा कर्मयोग मे स्थित है।

तथा उसकी प्रवृत्ति अकर्मता ( अकर्मण्यता ) की ओर नही हो जाती। कर्मयोगी अकर्मता मे प्रीति नही करता। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"हे अर्जुन, फल की इच्छा तो छोड दे, किन्तु सावधान रहना कि फल की इच्छा छोडने पर तेरी प्रीति अकर्मता मे न हो जाय। तुझे प्रत्येक परिस्थिति मे कर्तव्यभाव से प्रेरित होकर कर्म करते रहना चाहिए तथा कर्म करना कदापि नही छोडना चाहिए।" वास्तव मे, फल की आसक्ति होने पर मनुष्य कर्म की ओर स्वार्थ-दृष्टि से देखता है। फलासक्तिरहित अर्थात् निष्काम कर्म मनुष्य का अपना कल्याण तथा जगत् का हित करता है।[1] कामना पर विजय पानेवाला कर्मयोगी फल की चिन्ता नही करता तथा कर्म मे ही पूर्ण सन्तुष्टि मानकर, कर्म करने मे ही अपनी कृतार्थता मान लेता है। वह कर्म-फल को प्रभु-इच्छा मानकर स्वीकार कर लेता है, क्योकि पूर्ण प्रयत्न करने पर भी हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश प्रभु के हाथ मे हैं।[2] अनुकूल या प्रतिकूल फल-प्राप्ति के समय वह कहता है—"जो कुछ प्रभु कर रहे हैं, इसीमे मेरा कल्याण है।" कर्म को सच्चे भाव से कर लेना अपने मे एक गहरा सुख होता है तथा अपने कर्म मे निरत रहना धर्म है।[3]

**योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।**
**सिद्ध्यसिद्ध्यो. समो भूत्वा समत्व योग उच्यते ॥४८॥**

**शब्दार्थ :** धनञ्जय=हे अर्जुन, सङ्ग त्यक्त्वा सिद्धि-असिद्ध्यो सम भूत्वा योगस्थ कर्माणि कुरु= आसक्ति छोडकर सिद्धि और असिद्धि मे समान बुद्धिवाला होकर योग मे स्थित हुआ कर्मो को कर। समत्व योग उच्यते=समभाव रखना ही योग है।

**वचनामृत** हे अर्जुन, तू आसक्ति छोड़कर कर्म की सफलता ( पूर्णता ) और विफलता ( अपूर्णता ) मे समबुद्धि रहकर, योग द्वारा परमात्मा मे स्थित हुआ, कर्मो को कर। समत्व ही योग कहलाता है।

**सन्दर्भ.** कर्म कैसे करें ? श्रीकृष्ण कर्मयोगी के लिए कर्म करने की विधि बताते हैं।

**रसामृत :** कर्मयोग की साधना मे मनुष्य के लिए कर्मफल की आसक्ति के त्याग का अभ्यास करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य को भौतिक वस्तुओ और व्यक्तियो को नश्वर समझकर उनके प्रति मोह का त्याग कर देना चाहिए। केवल परमात्मा ही सत् है। भौतिक वस्तुओ को मेरा-तेरा कहना अज्ञान है। सभी कुछ परमात्मा का है तथा सभी कुछ धरती पर छूट जाता है। मनुष्य एक तिनका भी अपने साथ नही ले जाता। जिन व्यक्तियो के लिए मनुष्य मोहग्रस्त होकर धन-सम्पत्ति सचित करता है, उनके साथ सभी नाते जीवन-काल मे ही अथवा मृत्यु होने पर टूट जाते हैं। मनुष्य नश्वर वस्तुओ और व्यक्तियो के साथ ममत्व का मिथ्या नाता मानकर भटकता रहता है। जो कुछ परिश्रमपूर्वक तथा सचाई के साथ प्राप्त हो जाय, उसे परमात्मा का प्रसाद समझकर, उसका सदुपयोग करना ही श्रेयस्कर है। भौतिक पदार्थों का मोह छूटने पर उनका आकर्षण एव प्रलोभन समाप्त हो जाता है तथा मनुष्य अप्राप्त को प्राप्त करने और प्राप्त का सरक्षण करने की चिन्ता नही करता। "आत्मा सत् है तथा नाम और रूपवाला यह देह असत् है, मैं देह नही हूँ, मैं आत्मा हूँ, यह देह तो वस्त्र की भाँति नष्ट होने पर यही छूट जायगा, केवल कर्मो के सस्कार ही मेरे साथ चलेंगे और आगामी जीवन मे दु ख-सुख का कारण बनेंगे, मुझे सात्त्विक रहकर केवल सत्कर्म

---

१ आत्मानो मोक्षार्थं जगत् हिताय च ॥
स्वान्त सुखाय परहिताय च ॥

२ हानि लाभ जीवन-मरण यश-अपयश विधि हाथ।
—तुलसीदास

३ स्वकर्मत्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते।
स्वकर्मनिरतो यस्तु स धर्म इति निश्चय ॥
—महाभारत

अर्थात् अपने कर्म का परित्याग अधर्म तथा अपने कर्म मे निरत रहना धर्म है—यह निश्चय है।

**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।**
**तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥**

**शब्दार्थ :** बुद्धियुक्त· सुकृतदुष्कृते उभे इह जहाति = समत्व-बुद्धिवाला पुरुष अथवा जो समत्व-बुद्धि द्वारा परमात्मा से जुड गया है अथवा जो स्थिर एव शान्त बुद्धि मे स्थित है, पुण्य-पाप दोनो को ( ही ) इसी लोक मे त्याग देता है ( वह उनमे लिपायमान नही होता ), **तस्मात्** = इसी कारण से, **योगाय युज्यस्व** = समत्वरूप योग ( बुद्धि-योग ) के लिए प्रयत्न कर। **योगः कर्मसु कौशलम्** = समत्व योग ही कर्मों मे कुशलता है।

**वचनामृत :** समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य तथा पाप दोनो को ही यहाँ छोड देता है। ( अर्थात् उनसे मुक्त अथवा निवृत्त हो जाता है )। अतएव तू समत्वरूप योग मे लग जा। यह समत्वरूप योग ही कर्मों की कुशलता ( दक्षता ) है ( अर्थात् कर्म-बन्धन से छूटने का उपाय है )।

**सन्दर्भ :** समत्वबुद्धियुक्त होने के अनन्त लाभ हैं।

**रसामृत :** निष्काम कर्म करनेवाला कर्मयोगी समत्वबुद्धि ( लाभ-हानि, जय-पराजय आदि मे समभाव रखनेवाली बुद्धि ) से युक्त होता है। वह कर्तव्य-पालन की दृष्टि से कर्म करता है तथा किसी क्षुद्र स्वार्थ-पूर्ति के लिए अथवा कोई विशेष फल पाने के लिए कर्म नही करता। निष्काम होने पर अर्थात् फल की कामना छोडकर कर्म करने से उसके चित्त की शुद्धि हो जाती है तथा वह पुण्य-पाप से ऊपर उठ जाता है। श्रीकृष्ण अर्जुन की शका का समाधान कर रहे हैं कि स्वजन से युद्ध करना महान् पाप है।[1] निश्चय ही पाप की अपेक्षा पुण्य अच्छा होता है तथा मनुष्य को पाप से निवृत्त होकर पुण्य करना चाहिए। किन्तु प्रश्न उठता है कि यह निर्णय कैसे करे कि क्या पुण्य है तथा क्या पाप है। वास्तव मे पुण्य और पाप का निर्णय कर्म के पीछे मनुष्य की भावना के आधार पर होता है। यदि सद्भावनापूर्वक चिकित्सा करने पर भी रोगी कालकवलित हो जाता है तो चिकित्सक को पाप नही होता। युद्ध मे कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर वध करने पर भी वीर सैनिक को पाप नही लगता। शिष्य के हित मे उचित दण्ड देने पर गुरु को दोप नही होता। राग-द्वेष अथवा दुर्भावना से प्रेरित होने पर दण्ड देने से पाप हो जाता है। किन्तु नैतिक स्तर से ऊपर उठकर, आध्यात्मिक स्तर को प्राप्त होने पर, मनुष्य पुण्य-पाप के चक्र से छूट जाता है।[1] वास्तव मे पुण्य-पाप दोनो बन्धनकारक हैं। दोनो से भला-बुरा प्रारब्ध बनता है। प्रायश्चित्त द्वारा पाप से मुक्त हो सकते है, किन्तु पुण्य से मुक्त कैसे हो ? यदि पाप लोहे की बेडी है तो पुण्य स्वर्ण की बेडी है। दोनो बन्धन है। आध्यात्मिक व्यक्ति साव-धान होकर अपने भीतर अपनी अन्तरात्मा की ध्वनि को सुनकर तथा उसे परमात्मा का आदेश मानकर उस पर आचरण करता है और पुण्य-पाप के झगडे मे नही पड़ता। कर्मयोगी उचित प्रतीत होनेवाले कर्तव्य का पालन पुण्य-प्राप्ति के लिए नही, बल्कि कर्तव्य-दृष्टि से करता है। इस प्रकार उसके लिए पुण्य-पाप होते ही नही हैं। कर्मयोगी पुण्य-पाप के नैतिक स्तर से ऊपर उठकर उनसे मुक्त हो जाता है।

समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोगी अन्त मे जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है। वह सुख-दु ख से भी ऊपर उठकर अचेतन या जड एव निष्क्रिय नही हो जाता, बल्कि भीतर गहरे आध्यात्मिक स्तर पर निरन्तर परमानन्द ( स्थायी एव आत्यन्तिक सुख ) एव परम शान्ति की अनुभूति करता हुआ

---

१ अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
—गीता, १.४५

१ 'नैनं पुण्यपापे स्पृशत ।'
अर्थात् ज्ञानी को पुण्य और पाप नही छूते।
'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय ।'
—मुण्डक उप०, ३ १.३
—तब ज्ञानी पुण्य और पाप को दूर करके।

समरस रहता है। कर्मयोगी संसार के प्रति संवेदनारहित अथवा कठोर नही हो जाता, वल्कि अधिक सहृदय हो जाता है, किन्तु उसकी सहृदयता संकीर्ण 'मेरा-तेरा' को छोडकर व्यापक हो जाती है तथा वह परमात्मा के समीप स्थित हो जाता है। निरन्तर अभ्यास कर्मयोगी को परमात्मा का साक्षात्कार करा देता है। निष्काम होकर अर्थात् क्षुद्र स्वार्थ को छोडकर तथा निरभिमान होकर उच्चादर्शों के लिए समर्पित कर्मयोगी के समत्व (सुख-दु ख, जय-पराजय, लाभ-हानि आदि मे सम रहना) की प्रशंसा करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से (गुरु अपने प्रिय शिष्य से) कहते हैं—"हे अर्जुन, तू समत्वरूप योग के लिए प्रयत्न कर, अभ्यास कर। समबुद्धि से युक्त होकर कर्म करनेवाला मनुष्य कर्म के वन्धन मे नही पडता। कर्म करते हुए भी कर्मवन्धन मे न पडना तथा जय-पराजय मे सम रहना कर्म की कुशलता है। योग (कर्मयोग) का अर्थ ऐसी कुशलता प्राप्त करना है।"

श्रीकृष्ण का उपदेश है कि विपम परिस्थिति से न घवरायें तथा डटकर संघर्ष करें। संघर्ष से वचनेवाला मनुष्य अधम होता है। किन्तु राग-द्वेप और अहकार छोडकर, सात्त्विक भाव से संघर्प करना चाहिए तथा विघ्न-वाधाओ से कदापि भयभीत नही होना चाहिए, क्योकि मनुष्य का अधिकार केवल कर्म (प्रयत्न) करना है और फल सदैव ईश्वराधीन है। निष्काम होकर अर्थात् फल की आसक्ति छोडकर समभाव से कर्तव्य-कर्म करना एक योग है, जो मनुष्य को परमात्मा का साक्षात्कार करा देता है तथा मोक्ष का द्वार खोल देता है।

**कर्मजं वुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिण ।**
**जन्मवन्धविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥**

**शब्दार्थ** : हि=क्योकि, वुद्धियुक्ता मनीषिण कर्मजं फलं त्यक्त्वा=वुद्धियोगवाले मनीषी (ज्ञानी पुरुष) कर्मों से उत्पन्न होनेवाले फल को त्यागकर, जन्मबन्धविनिर्मुक्ता अनामयं पदं गच्छन्ति=जन्मरूप बन्धन से मुक्त निर्विकार परमपद को प्राप्त होते हैं।

वचनामृत समत्वबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन (विचारशील पुरुष) कर्मों से उत्पन्न होनेवाले फल को त्यागकर जन्मवन्धन से विमुक्त हुए अमृतमय परमपद को प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ : फलत्याग से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

रसामृत : सदैव समरस (सम अथवा समभावयुक्त) रहते हुए कर्मों के फल का त्याग करनेवाले कर्मयोगी वास्तव मे मनीषी हैं, क्योकि उन्होने मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग ग्रहण कर लिया है। जो मनुष्य भोगैश्वर्य के लिए सकाम कर्म करते हैं तथा कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त भोगैश्वर्य में डूबे हुए हैं, वे तत्त्वज्ञान के अधिकारी नहीं होते तथा उन्हे कभी दिव्य चेतना की आनन्दानुभूति प्राप्त नहीं होती। केवलमात्र अपने कर्मों के फल की तृष्णा छोड देने से ही आनन्दमय परमपद अर्थात् परमात्मा की आनन्दानुभूति प्राप्त हो जाती है।

कर्मयोग का मार्ग ऐसा सुगम है कि संसार मे अपने निर्धारित स्थान पर समभावयुक्त एवं निस्वार्थ होकर स्वधर्म-पालन करने से अर्थात् फल की इच्छा छोडकर अपना कर्तव्य करने से तथा सदैव सम रहने से मनुष्य को परमपद प्राप्त हो जाता है। वास्तव मे, फल की इच्छा कर्म को दूपित कर देती है और मन के वन्धन का कारण वन जाती है। फलासक्ति त्यागकर कर्म करने से अर्थात् निष्काम कर्म से चित्त-शुद्धि हो जाती है, जिससे आत्मज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है तथा परमपद अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार सुलभ हो जाता है।

वास्तव मे, परमात्मा से नाता जोडकर, परमात्मा की वाणी अपने भीतर सुनकर तथा उस वाणी के अनुसार प्रभु की प्रसन्नता के लिए समस्त क्रियाएँ करनेवाला मनुष्य निष्काम कर्म कर

सकता है तथा समभाव मे स्थित रह सकता है और अन्ततोगत्वा सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

**यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।**
**तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥**
**श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।**
**समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥**

**शब्दार्थ : यदा ते बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति**=जब तेरी बुद्धि मोह की दलदल को पूरी तरह तर जायगी ( पार कर जायगी ), **तदा श्रोतव्यस्य च श्रुतस्य निर्वेदं गन्तासि**=तब ( तू ) सुनने मे आनेवाले तथा सुने हुए के ( सभी भोगो के ) वैराग्य को प्राप्त हो जायगा।

**यदा ते श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धिः समाधौ अचला निश्चला स्थास्यति**=जब तेरी अनेक श्रुतिवाक्यो एव सिद्धान्तो के सुनने से विचलित हुई बुद्धि समाधि मे ( परमात्मा के स्वरूप मे ) अचल और स्थिर होकर स्थित हो जायगी ( ठहर जायगी ), **तदा योगं अवाप्स्यसि**= तब ( तू ) योग को प्राप्त हो जायगा अर्थात् परमात्मा से दृढ सयोग हो जायगा।

**वचनामृत :** जब तेरी बुद्धि मोह की दलदल को पार कर जायगी तब तू उस सबके प्रति उदासीन हो जायगा, जो कुछ तूने सुना है अथवा तुझे आगे सुनना है। जब तेरी बुद्धि जो विविध सिद्धान्तो एव वादो को सुनकर विचलित हो गयी है, समाधि मे ( परमात्मा के स्वरूप मे अथवा आत्मा मे ) दृढत स्थित हो जायगी, तब तू योग को प्राप्त करेगा।

**सन्दर्भ :** ५१वे श्लोक मे वर्णित अनामय पद ( अमृतमय पद ) के प्राप्त होने की प्रक्रिया की विवेचना है।

**रसामृत :** मनुष्य आत्मतत्त्व को न पहचानकर तथा अपने को देह मानकर देहाभिमान के कारण असत् एव मिथ्या वस्तुओं के प्रति मोह करने लगता है। मोह बुद्धि का अज्ञान है, जो आवरण की भाँति उसे ढँके रखता है तथा यथार्थ निर्णय एव निश्चय मे बाधक हो जाता है। 'मैं ब्रह्म हूँ, जड देह नही हूँ तथा देह के सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं'—यह ज्ञान है। देह आत्मा का वाहन है तथा आत्म-साक्षात्कार का साधन है, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की दिव्यानुभूति के प्राप्त होने का सोपान है। आत्मतत्त्व नित्य है, दिव्य है तथा भौतिक तत्त्व ( देह तथा समस्त भोग्य पदार्थ, जो इन्द्रियो के विषय है ) नश्वर है, मिथ्या है। आत्मा सत् है, भौतिक पदार्थ असत् है। आत्मसाक्षात्कार अथवा सत् चित् आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति जीवन का परम साध्य है तथा भौतिक प्रपच मे न फँसते हुए आत्मसाधना करना विवेक है। सत् और असत् अथवा नित्य और अनित्य का भेद समझने पर भोगैश्वर्य नीरस एव आकर्षणहीन हो जाते है—यही बुद्धि का मोहकलिल पार करना है। मोह त्याग देने पर अर्थात् भौतिक वस्तुओ का आकर्षण समाप्त हो जाने पर, बुद्धि मे निर्वेद ( वैराग्य ) उत्पन्न हो जाता है। चैतन्यस्वरूप आत्मा ( जो परमात्मा का अभिन्न अश है, जैसे चिनगारी अग्नि का अभिन्न अश है ) ही सत् है, शेष सब असत् है तथा मै देह नही हूँ, देही ( आत्मा ) हूँ—यह तत्त्वज्ञान चिन्तन, मनन, अभ्यास और अनुभूति का विषय है। देहेन्द्रियादि मे आत्मबोध करने पर अथवा देहात्मबुद्धि होने पर अर्थात् अपने को देह मानकर, मनुष्य कहता है—'यह मेरा है, वह तेरा है।' सत् और असत् का विवेक होने पर तथा मोह का लोप होने पर मनुष्य को उन सब वस्तुओ के प्रति वैराग्यभाव ( वैराग्य, वितृष्णा ) हो जाता है, जो उसने अब तक सुना या देखा है अथवा जो भविष्य मे सुना या देखा जायगा। यथार्थ ज्ञान द्वारा बुद्धि के शुद्ध होने पर इष्ट और अनिष्ट, अनुकूल और प्रतिकूल के प्रति समता का भाव उत्पन्न हो जाता है। यथार्थ ज्ञान से ही बुद्धि निश्चयात्मिका होती है। मोहत्याग से यथार्थ ज्ञान का आविर्भाव होता है तथा यथार्थ ज्ञान होने पर मोह का त्याग हो जाता

है। मोह-त्याग तथा यथार्थ ज्ञान का परस्पर सम्बन्ध है।

श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, अनेक प्रकार के श्रुति-वाक्यो को सुनकर तेरी बुद्धि विप्रतिपन्न (अस्थिर) हो गयी है, क्योकि तूने गम्भीरतापूर्वक तात्पर्य की विवेचना नही की है। अपनी बुद्धि को तत्त्वज्ञान द्वारा परमात्मा के स्वरूप मे अचल और दृढ कर ले। परमात्मा के स्वरूप मे बुद्धि के अवस्थित होने पर (स्थितप्रज्ञ होने पर) तेरा परमात्मा के साथ योग हो जायगा।" सकल्प-विकल्पशून्य शुद्ध चेतना अर्थात् परमोच्चचेतना को प्राप्त होना समाधि की अवस्था है अथवा परमात्मा के साथ योग है। श्रीकृष्ण यहाँ कर्मयोगी की जाग्रत अवस्था मे निरन्तर दिव्यत्व की अनुभूति को समाधि कह रहे हैं।[1]

अर्जुन उवाच

**स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।**
**स्थितधी. किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, केशव=हे कृष्ण, **समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा**=समाधि मे स्थित स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य का क्या लक्षण है? **स्थितधी किं प्रभाषेत किं आसीत किं व्रजेत**=स्थिर बुद्धिवाला पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है?

**वचनामृत .** अर्जुन ने कहा—हे श्रीकृष्ण, समाधि (बुद्धि की शान्त एव दिव्य अवस्था) मे स्थित स्थिर बुद्धिवाले पुरुष का क्या लक्षण है? स्थिर बुद्धिवाला पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है?

**सन्दर्भ :** गीता मे सौ श्लोक (पहले अध्याय के ४७ तथा दूसरे अध्याय के ५३) पूरे होने पर स्थितप्रज्ञ का वर्णन प्रारम्भ होता है, जो समस्त गीता का सार है। स्थितप्रज्ञ-दर्शन मे १९ श्लोक हैं जिनमे से एक (५४) मे अर्जुन का प्रश्न है तथा १८ मे श्रीकृष्ण का उत्तर है। ये १८ श्लोक १८ अध्यायो का सारतत्त्व हैं।[1]

**रसामृत ·** मोह का दुर्ग अज्ञान से विनिर्मित होता है तथा ज्ञान द्वारा उसका ध्वस होता है। मोह के परिसमाप्त होने पर बुद्धि शुद्ध हो जाती है और उसमे आध्यात्मिक वैराग्यभाव उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर बुद्धि अचल होकर आत्मसंस्थित अथवा आत्मनिष्ठ हो जाती है, अथवा परमात्मा मे अचल होकर स्थित हो जाती है तथा परमात्मा के साथ योग हो जाता है।

कर्मयोग का अवलम्बन करने मे मनुष्य ज्ञान-निष्ठा को प्राप्त कर लेता है। कर्मयोगी के निष्काम कर्म एव समत्व बुद्धि की महिमा को सुनकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जिज्ञासा प्रकट की कि ऐसे स्थितप्रज्ञ महात्मा के क्या लक्षण होते है? परमात्मा को प्राप्त सिद्ध पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है अर्थात् लोक मे उसका व्यवहार कैसा होता है? दिव्य चेतना (समाधि) मे स्थित पुरुष कैसे व्यवहार करता है?

श्रीभगवानुवाच

**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।**
**आत्मन्येवात्मना तुष्ट' स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच=श्री भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **पार्थ**=हे पृथा (कुन्ती) के पुत्र अर्जुन, **यदा मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति**=जब (मनुष्य) मन मे रहनेवाली समस्त कामनाओ का त्याग कर देता है, तब **आत्मना एव आत्मनि तुष्ट. स्थितप्रज्ञ उच्यते**=तब

---

[1] पतञ्जलिप्रणीत योगसूत्र मे वर्णित 'समाधि' इससे भिन्न है।

[1] महाभारत का युद्ध १८ दिन तक हुआ था तथा युद्ध मे १८ अक्षौहिणी सेना थी।

कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ के लक्षण २ ५४–७२, भक्तियोगी के लक्षण १२ १३–२०, ज्ञानयोगी के लक्षण १३ ७–१२, त्रिगुणातीत ज्ञानयोगी के लक्षण १४ २२–२६ लगभग एक-से हैं तथा नित्य पठनीय हैं।

आत्मा से ही आत्मा मे ( अपने भीतर ही ) सन्तुष्ट हुआ स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, जब मनुष्य अपने मन मे स्थित सभी इच्छाओ का पूर्णत त्याग कर देता है तथा आत्मा से ही आत्मा मे सन्तुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

**सन्दर्भ :** स्थितप्रज्ञ-दर्शन ( ५५ से ७२ श्लोक तक ) का प्रारम्भ है।

**रसामृत :** श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम तीन अध्याय गीता का मुखारविन्द ही हैं तथा दूसरा अध्याय मानो मस्तक है। भगवान् श्रीकृष्ण कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए अर्जुन को समझाते हैं कि कर्मयोग का साधन करने से मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो सकता है, परमात्मा मे अविचल रूप से अवस्थित हो सकता है। कर्मयोग का रहस्य है समभाव मे स्थित होकर निष्काम कर्म करना अर्थात् फल की कामना का पूर्ण त्याग करते हुए कर्म करना। कामना ही मनुष्य के समस्त दु ख का कारण है। किन्तु कामना का जन्म तो मोह अथवा राग से होता है। हम मोह के कारण ही अनेक कामना करते हैं। मोह का निवारण होने पर कामना का समूल निवारण हो सकता है। मोहान्धकार को केवल ज्ञान से ही दूर करना सम्भव है। इसीलिए जगद्गुरु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सर्वप्रथम साख्य ( तत्त्वज्ञान ) का उपदेश किया तथा उसके मोह-बन्धन पर प्रहार किया। अरे, शरीर तो आत्मा का वस्त्र है, जो जीर्ण होने पर त्याग दिया जाता है। वास्तव में, शरीर जीवात्मा का वाहन है, जो उसे परमात्मा तक पहुँचा सकता है। आत्मा नित्य है और देह नश्वर है। प्रश्न है—मै कौन हूँ ? तत्त्वज्ञान होने पर बुद्धि द्वारा निश्चय होता है कि मैं आत्मा हूँ तथा नाम एव रूपवाला देह नही हूँ। आत्मा परमात्मा का अभिन्न अश है तथा सत् है। सारी भौतिक सृष्टि ( देह भी ) नश्वर है, असत् है अथवा मिथ्या है। देहबुद्धि के कारण ( अर्थात् अपने को देह मानकर मनुष्य कुछ व्यक्तियो और वस्तुओं को अपना मान लेता है तथा उनसे मोह करता है। सारी सृष्टि को तथा समस्त प्राणियो को प्रभु का मानते हुए अपना मानना अथवा सबमें प्रभु का दर्शन करना ज्ञान है, किन्तु देह के कारण सकीर्ण नाते से बँधना अथवा मोहग्रस्त होना अज्ञान है। नाते के व्यापक होने पर सात्त्विकता ( शुद्ध प्रेम ) का आविर्भाव होता है तथा सकीर्ण होने पर मोह का। ज्ञानी सभी को अपना मानकर प्रेम करता है तथा कुटुम्ब के प्रति प्रेमपूर्वक दायित्व का निर्वाह करता है। मोह की सकीर्णता मे फँसकर मनुष्य किसीको पराया मानकर शोषण करता है और किसीको अपना मानकर उसके लिए धन-सम्पत्ति का सचय करता है।

अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की कामना और प्राप्त वस्तु को सुरक्षित रखने की कामना मनुष्य को सताती है। कामना से चिन्ता और भय का जन्म होता है। किसी प्रकार अमुक वस्तु प्राप्त हो जाय—यह चिन्ता मनुष्य को सताने लगती है तथा किसी प्रकार यह प्रिय वस्तु छूट न जाय—यह भय सताने लगता है। मनुष्य चाह, चिन्ता और भय के कारण असत् तत्त्व मे भटकता रहता है और सत् तत्त्व को भूल जाता है तथा वास्तविक सुख ( अचल आनन्द ) से दूर हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को ज्ञान का प्रकाश देकर मोहत्याग का उपदेश करते है, तत्पश्चात् कामनारहित होकर कर्म करने का अर्थात् निष्काम कर्म का उपदेश करते है। निष्काम कर्म करनेवाला कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त होने पर सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा मे आत्म-बोध करते हुए आनन्दानुभूति करता है। मन की समस्त कामनाओं एवं वृत्तियो का नाश होने पर आत्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। आत्मा मे आत्मा के द्वारा सन्तुष्ट होना साधारण सन्तोष-वृत्ति का सूचक नही है, बल्कि आत्माराम-अवस्था का सूचक है। स्वयप्रकाश चैतन्यस्वरूप आत्मा के साक्षात्कार

का आनन्द अनिर्वचनीय होता है।[1] चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वय आत्मा से ही प्रकाशित होता है। आत्मानुभूति अथवा अमृतत्वानुभूति होने पर ससार के विषय-सुख नीरस प्रतीत होने लगते है तथा मोह एव कामना स्वत छूट जाते हैं। यही सच्चा वैराग्य है। वैराग्य का अर्थ ससार से पलायन करना नही है, बल्कि मोह और कामना का त्याग करना है। वास्तव मे, मनुष्य वैराग्य द्वारा ससार के साथ स्वस्थ नाता स्थापित करता है।

श्रीकृष्ण गीता मे वारम्बार कामना-परित्याग का उपदेश करते हैं।[2] कामना की पूर्ति कभी नही होती तथा वह भोग द्वारा अग्नि की भाँति वढती ही रहती है। मनुष्य वूढा हो जाता है, किन्तु तृष्णा बूढी नही होती।[3] कामना कामनाओ को जन्म देती रहती है तथा कामनाओ का अन्त कभी नही होता।

श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म करने के लिए कामना से प्रेरित न होकर कर्तव्य-भावना से प्रेरित होने का उपदेश करते है, क्योकि कामनाग्रस्त मनुष्य को उचित-अनुचित का विवेक नही रहता।

मनुष्य को तामसिक और राजसिक कामना छोडकर सात्त्विक कामना का आश्रय लेना चाहिए, तत्पश्चात् उससे भी ऊपर उठकर पूर्णत निष्काम हो जाना चाहिए। पूर्णत निष्काम व्यक्ति अपनी अन्तर्प्रेरणा के अनुसार कर्म करता है। उसकी कर्तव्यनिष्ठा अन्त प्रकाश से आलोकित हो जाती है तथा उसका कर्म सहज हो जाता है। कर्मयोगी की निष्काम वुद्धि भागवत चेतना का केन्द्र वनकर भागवत इच्छा का उपकरण वन जाती है। स्थित-प्रज्ञ-अवस्था कर्मयोग की चरमावस्था है।

दु खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

**शब्दार्थ :** दु खेपु अनुद्विग्नमना. सुखेपु विगतस्पृह. = दु खो में उद्वेगरहित ( व्याकुलता-रहित ) सुखो मे स्पृहा-रहित ( सुख की तृष्णा से रहित ), वीतरागभयक्रोध = विगत हो गये हैं राग, भय और क्रोध जिसके ( ऐसा पुरुष ), मुनि स्थितधी उच्यते = मुनि ( मननशील पुरुष ) स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

**वचनामृत :** जिस पुरुष का मन दु खो मे व्याकुल नही होता तथा सुखो मे लालसा ( यह तृष्णा कि सुख सदा मिलता ही रहे ) से रहित होता है, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त है, ऐसा मुनि ( मननशील महापुरुष ) स्थितप्रज्ञ कहलाता है। वह प्रत्येक अवस्था मे अपने भीतर परमशान्त अथवा आनन्दमग्न रहता है तथा दु ख और सुख उसे विचलित नही करते।

**सन्दर्भ :** यह श्लोक गीता के श्रेष्ठ श्लोको मे से एक है। इसमे स्थितप्रज्ञ के लक्षणो का सार दिया गया है।

**रसामृत** दु ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति मानवमात्र का ध्येय है। प्रत्येक मानव दु ख का निवारण और सुख की उपलब्धि चाहता है तथा उसकी समस्त क्रियाएँ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती हैं। कौन दु खी होना चाहता है ? अथवा, कौन सुखी होना नही चाहता ? राजा हो या रक, विद्वान् हो या मूर्ख, बड़ा हो या छोटा, पुरुष हो अथवा नारी, सभी दु ख-निवारण और सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु स्थायी सुख ( अथवा अखण्ड आनन्द ) प्राप्त नही करते। श्रीकृष्ण अर्जुन को स्थायी सुख प्राप्त करने की विधि का उपदेश करते हैं।

---

१. रसो वै स रस ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दी भवति।
—तैत्तिरीय उप०

—परमात्मा रसस्वरूप ( आनन्दस्वरूप ) है। परमानन्द-स्वरूप आत्मा को प्राप्त कर ब्रह्मवित् मनुष्य आनन्दमय हो जाता है।

२ काम महाशन, महापापी है ( ३ ३७ ), दुष्पूर अनल है ( ३ ३९ ), महापापी है ( ३ ४१ ), दुरासद शत्रु है ( ३ ४३ ), दुष्पूर है ( १६ १० ) इत्यादि।—गीता

३ तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा. ॥

ससार परिवर्तनशील है तथा प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता रहता है। सभी कुछ निरन्तर बदलता रहता है। किसीकी स्थिति सदैव एक-सी नही रहती। प्रात काल सूर्य का उदय होता है, मध्याह्न मे वह प्रचण्ड एव प्रखर हो जाता है और सायकाल वह अस्त हो जाता है तथा प्रकाश के स्थान पर रात्रि का अन्धकार छा जाता है। किन्तु अन्धकार भी स्थायी नही होता तथा उसका भी लोप हो जाता है। इसी प्रकार ऋतुओ का परिवर्तन-चक्र चलता है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। मनुष्य का देह भी बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक निरन्तर बदलता ही रहता है और अन्त मे विनष्ट हो जाता है। मनुष्य एव समाज की परिस्थितियाँ भी सदैव बदलती रहती हैं।

दु ख और सुख का एक चक्र है, जो प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे चलता है तथा इसका कभी अन्त नही होता। दु ख और सुख जल और पक की भाँति सदा साथ-साथ रहते हैं।[1] यदि दु ख आया है तो यह सदा नही रहेगा तथा दु ख के बाद सुख अवश्य आयेगा। यदि सुख आया है तो यह भी सदा नही रहेगा तथा सुख के बाद दु ख का आना निश्चित है। यह एक नियम है। किन्तु मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि वह सुख आने पर तो अतिहर्षित हो जाता है तथा उसमे ऐंठ और अकड आ जाती है तथा दु ख आने पर वह दीन होकर रो पड़ता है। एक ही मनुष्य के दो रूप होते है। दु ख आने पर वह सोचता है कि दु ख कैसे दूर किया जाय और वह भविष्य मे शुभ कर्म करने के अनेक प्रण करता है, किन्तु सुख आते ही फिर उन्मत्त होकर यह सब भूल जाता है। यह एक विचित्र विडम्बना है।

१. सुखमध्ये स्थितं दु खं दुःखमध्ये स्थितं सुखम्।
द्वयमन्योन्यसंयुक्तं प्रोच्यते जलपङ्कवत्॥
—अध्यातम रामायण

अर्थात् सुख मे दु ख और दु ख मे सुख स्थित हैं। दोनो जल और पक की भाँति सयुक्त हैं।

श्रीकृष्ण कहते है कि जो मनुष्य दु ख और सुख से ऊपर उठकर प्रत्येक परिस्थिति मे सम रहता है, वही उनके प्रभाव से मुक्त हो सकता है। मनुष्य के जीवन मे दु ख और सुख तो अवश्य आयेंगे, किन्तु यदि दु ख मे वह बौखला न जाय और सुख मे बौरा न जाय तो वह सचमुच महान् है। ऐसा मननशील पुरुष ( मुनि ) वन्दनीय होता है।

जो मनुष्य समस्त मनोगत कामनाओ को समूल नष्ट कर देता है तथा आत्मा द्वारा आत्मा मे ही मग्न रहता है, वह स्थितप्रज्ञ होता है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति दु ख मे उद्विग्न नही होता, सुख मे स्पृहा ( सुख की स्पृहा ) नही करता। स्पृहा ( तृष्णा ) कामना का सूक्ष्म रूप होता है। सुख की स्पृहा से मुक्त होकर मनुष्य राग-द्वेष, भय और क्रोध से सदैव विमुक्त रहता है। कर्मयोगी सदा शान्त और धैर्यवान् रहता है। ब्रह्म को सत्, संसार को असत् ( मिथ्या ) मानने पर भौतिक दु ख-सुख मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं। आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि एव अनुभूति होने पर सासारिक विषयों के सुख नीरस एव निस्सार प्रतीत होने लगते हैं तथा दु ख कठिन एव क्लेशप्रद नही रहते। कर्मयोगी सदैव समबुद्धि अथवा समरस रहता है।[1] दु खों का वास्तविक एव आत्यन्तिक उपाय तो केवल आध्यात्मिक ही है।

मनुष्य लौकिक स्तर पर अनेक प्रकार के दु.खो के निराकरण के लिए अनेक उपाय करता है। प्रमुखत दु खो की तीन श्रेणी हैं—( १ ) ज्वर इत्यादि दैहिक व्याधि तथा काम, क्रोध, चिन्ता, शोक इत्यादि से उत्पन्न मानसिक पीड़ा—दोनो आध्यात्मिक दु ख कहलाते हैं। इस श्रेणी के दु खो का कारण दैहिक अथवा मानसिक होता है। ( २ ) दैवी कारणो से ( अतिवृष्टि, भूकम्प इत्यादि से ) उत्पन्न आधिदैविक दु ख होते हैं। ( ३ ) प्राणियो से ( चोर, व्याघ्र, सर्प इत्यादि से ) उत्पन्न आधि-

१. शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।
—गीता, १२.१८

भौतिक दु ख होते हैं। किन्तु कर्मयोगी अपने कर्तव्य-कर्म को सम्पन्न करने मे सुख-दु ख की परवाह नही करता।[1]

अधम पुरुष द्वेष के कारण अन्य व्यक्तियो को दु ख देने मे सुख मानते है तथा दूसरो के सुख को देखकर दु खी रहते हैं।[2] अविवेकी पुरुष तुच्छ-सी बात पर अत्यधिक दु ख मानते हैं और विवेकी पुरुष बडी बात पर भी हँस देते हैं। अविवेकी पुरुष सदैव दु खी होकर ही बाते सुनाते है और विवेकी पुरुष सदैव हँसते हुए बाते करते है।

ईश्वर-भक्त दु ख मे प्रभु-कृपा की अनुभूति करते हैं और दु ख को कल्याणकारी मानकर उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं। दु ख का सदुपयोग मनुष्य के मन को निर्मल बना देता है तथा बुद्धि को अनुभव से समृद्ध कर देता है। दु ख मनुष्य मे सुख के राग को मिटा देता है तथा अहकार को विगलित कर देता है। विवेकशील मनुष्य दु ख आने पर सुखभोग की तृष्णा का त्याग कर देता है तथा सुख-दु ख से ऊपर उठकर समरस हो जाता है। दु ख मनुष्य की चेतना को ऊँचे धरातल पर ला देता है तथा सत्य के समीप ला देता है। विवेकशील मनुष्य दु ख का भी सदुपयोग करता है। मनुष्य के विकास के लिए दु ख का विशेष महत्त्व होता है। ईश्वर-विश्वास, साहस, धैर्य और विवेक दु ख को वरदान बना देते हैं।

कर्मयोग की साधना मनुष्य को दु ख और सुख से ऊपर उठाकर समरस बना देती है। वह सदैव सम और शान्त तथा धैर्यवान् और आशावान् रहता है।

**'यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।**
**नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥**

---

१ मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दु ख न च सुखम्।

२ परहित घृत जिन्ह के मन माखी।—दूसरों के हितरूपी घृत मे दुष्टो का मन मक्खी की भाँति गिर जाता है।

**शब्दार्थ : य. सर्वत्र अनभिस्नेह तत् तत् शुभाशुभ प्राप्य न अभिनन्दति न द्वेष्टि**=जो सर्वत्र अनासक्त हुआ उस (अनेक, भिन्न-भिन्न) शुभ या अशुभ को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है न द्वेष (अर्थात् दु ख) करता है, **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**=उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठित (स्थिर) है, वह स्थितप्रज्ञ है।

**वचनामृत :** जो मनुष्य सर्वत्र अनासक्त हुआ अनेक शुभ तथा अशुभ (वस्तुओ) को प्राप्त होकर न हर्षित होता है और न उदास होता है, वह स्थितप्रज्ञ है।

**सन्दर्भ :** शुभ और अशुभ परिस्थितियो मे समत्वभाव का वर्णन है।

**रसामृत :** स्थितप्रज्ञ महापुरुष के लक्षणो की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि उस व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ अथवा स्थिरबुद्धि कहा जाता है, जो प्रिय अथवा अप्रिय, अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति मे अनासक्ति के कारण सर्वदा समान रहता है। सामान्य जन ससार मे इतने अधिक आसक्त रहते है कि बहिर्जगत् मे थोडी-सी अनुकूलता होने पर अतिहर्षित तथा थोडी-सी प्रतिकूलता होने पर अति खिन्न हो जाते हैं। वास्तव मे, जो मनुष्य आध्यात्मिक मूल्यो मे प्रगाढ विश्वास रखते हैं और उनकी अपेक्षा भौतिक सम्पदा को तुच्छ समझते हैं, वे बाह्य घटनाओ के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने पर, सुखद या दु खद परिस्थिति प्राप्त होने पर, विचलित नही होते।

भगवान् मे आस्था रखनेवाले मनुष्य को सब कुछ मगलमय प्रतीत होता है तथा वह सुख और दु ख मे प्रभु के कल्याणकारी अनुग्रह का दर्शन करता है। वह सुमधुर पुष्प-वाटिका मे तथा कण्टकाकीर्ण पथ मे प्रभु का हाथ पकडे रहता है। उसे दृढ विश्वास रहता है कि प्रभु उसे कदापि नही छोडेंगे। वह सर्वत्र प्रभु का दर्शन करके मन मे आनन्दमग्न रहता है।

वास्तव मे, जो लोग बहिर्मुखी होकर बाहर की दुनिया को ही सब कुछ समझकर उसीसे प्रेरणा लेते हैं तथा उसीमे लिप्त रहते है, वे जीवनभर भय, चिन्ता और विषाद से घिरे हुए तथा अशान्त होकर भटकते रहते है। इसके विपरीत जो लोग अन्त-र्मुखी होकर अपने भीतर सुन्दर विचारो एव उत्तम आदर्शों की सुमनवल्लरी से अनुप्राणित होते है तथा उसीमे रमे रहते है, वे जीवनभर निर्भय, निश्चिन्त और सुप्रसन्न होकर, शान्त और सम रहते है। मनुष्य कर्म की प्रेरणा बाहर के भौतिक स्वार्थों से लेने पर दु खी और भीतर के आदर्शों से लेने पर सुखी रहता है। अत आवश्यकता है अपने भीतर श्रेष्ठ विचारो के सुगन्धिमय ससार की सृष्टि कर लेने की तथा उसीके अनुसार आचरण और व्यवहार ( कर्म ) करने की। उत्तम विचारो के कारण भीतर सुखी एव शान्त होने पर ससार सुखप्रद और जीवन सुन्दर प्रतीत होता है तथा निकृष्ट विचारो के कारण भीतर दु खी एव अशान्त होने पर ससार क्लेशप्रद प्रतीत होता है और जीवन शोचनीय हो जाता है।

गम्भीर विचार करने पर यह निष्कर्ष निक-लता है कि मनुष्य अपने सुख-दु ख के लिए स्वय ही उत्तरदायी है तथा वह दूसरो को व्यर्थ ही दोष देता है।[1] मनुष्य अपने ही विचारो एव कर्मों से सुख-दु ख पाता है। सुख-दु ख मन की अनुभूतियाँ हैं तथा वे बहिर्जगत् की घटनाओ पर आधारित नही होती, बल्कि अपनी विचार-शैली और कर्म पर आधारित होती है। बहिर्जगत् की घटनाओ से अप्रभावित रहकर ही मनुष्य समरस रह सकता है तथा सन्मार्ग पर दृढ रह सकता है। वास्तव मे बाहरी घटनाओ से विचलित न होकर अर्थात् समत्वभाव मे स्थित होकर कर्म करते रहना एक कला है, जिसमे कुशलता प्राप्त करना कर्मयोगी का साध्य होता है।

---

१ 'कोउ न काहु सुखदुःख कर दाता,
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।' —तुलसीदास

स्थितप्रज्ञ महात्मा सुख-दु ख से ऊपर उठकर सदा एकरस रहता है।

**यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।**
**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥**

**शब्दार्थ :** च कूर्मः अङ्गानि इव अयं यदा सर्वशः इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः संहरते=और कूर्म ( कछुआ ) अगो को जैसे ( समेट लेता है, वैसे ही ) यह जब सब ओर से इन्द्रियो को इन्द्रियो के विषयो से समेट लेता है, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता=उसकी बुद्धि स्थिर होती है, वह स्थितप्रज्ञ होता है।

**वचनामृत :** जिस प्रकार कच्छप ( कछुआ ) अपने अगो को सब ओर से अपने भीतर समेट लेता है, उसी प्रकार मनुष्य जब अपनी इन्द्रियो को इन्द्रियो के विषयो से अपने भीतर ही समेट लेता है, वह स्थितप्रज्ञ होता है।

**सन्दर्भ :** यहाँ इन्द्रिय-सयम के महत्त्व पर बल दिया गया है।

**रसामृत :** ससार मे इन्द्रियो के विषय ( भोग्य पदार्थ ) सर्वत्र विद्यमान है। जब मनुष्य का मन राग अथवा आसक्ति से भरा हुआ होता है, वह इन्द्रियो को उनके विषयो की ओर दौड़ने देता है तथा इन्द्रियो के स्वेच्छाचार के कारण मनुष्य की बुद्धि भटक जाती है। जिस मनुष्य के वश मे उसका मन एव इन्द्रियाँ नही हैं, उसकी बुद्धि कभी स्थिर नही हो सकती। जो मनुष्य विचार और विवेक द्वारा सासारिक भोगो की निस्सारता समझ चुका है वह अपने मन एव इन्द्रियो को वश मे रखता है तथा उन्हे अपने उच्चादर्शों की पूर्ति का साधन बना लेता है। इन्द्रियो को वश में रखना ही इन्द्रिय-संयम कहलाता है तथा इन्द्रियो को उनके विषयो के आकर्षण एव प्रलोभन से रोककर भीतर समेट लेना प्रत्याहार कहलाता है। स्पष्ट है कि बहिर्मुखी मनुष्य ( जो सदा अपने बाहर को ही देखता है ) कभी संयम और प्रत्याहार का अभ्यास नही कर सकता तथा अन्तर्मुखी मनुष्य ही

सयम और प्रत्याहार का साधन एव अभ्यास कर सकता है। सयमी मनुष्य इन्द्रियो को भोग्य पदार्थों की ओर दौडते हुए देखकर उन्हे अपने भीतर ऐसे ही सरलतापूर्वक समेट लेता है, जैसे कछुआ बाहर बाधा देखकर अपने अगो को अपने भीतर समेट लेता है। उसे अपने ऊपर नियन्त्रण होता है तथा वह इन्द्रियो को उचित दिशा मे व्यापार करने देता है, किन्तु उन्हे स्वेच्छाचार नही करने देता। यह विवेक ( उचित दिशा मे विचार ), दृढ निश्चय एव अभ्यास द्वारा सम्भव है।

जो कर्मयोगी अपने मन को कामनारहित अर्थात् आसक्तिरहित कर लेता है, वह अपनी इन्द्रियो को ऐसे ही अपने वश मे रख सकता है, जैसे सँपेरा विषधर सर्पो को वश मे रखता है। वह इन्द्रियो को अपने विषयो की ओर भटकने नही देता[1] तथा अपने जीवन का निर्वाह करने के लिए उन्हे उचित सीमा तक जाने देता है। कछुआ भीतर कोमल होकर भी बाहर कठोर होता है। इसी प्रकार कर्मयोगी भीतर कोमल होकर भी बाह्य प्रलोभनो के प्रति कठोर होता है।

स्थितप्रज्ञ महात्मा भीतर आत्ममग्न रहता है तथा व्युत्थान-अवस्था मे ( अर्थात् लोक व्यवहार के समय ) कच्छप की भाँति सयमी होता है।

**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥**

**शब्दार्थ :** निराहारस्य देहिन विषया विनिवर्तन्ते=विषयो को ग्रहण करनेवाले मनुष्य के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, रसवर्जं=( किन्तु ) राग ( आसक्ति, रुचि ) निवृत्त नही होता, अस्य रस अपि परं दृष्ट्वा निवर्तते=इस पुरुष ( स्थितप्रज्ञ ) का राग भी परमात्मा को देखकर ( प्राप्त करके ) निवृत्त हो जाता है।

**वचनामृत** : साधारण पुरुष के ( रोग, वृद्धता आदि के कारण ) निराहारी होने पर अर्थात् विषयो के न भोगने पर विषय तो समाप्त हो जाते हैं, किन्तु उनकी ओर उसकी आसक्ति ( तृष्णा, प्रलोभन ) समाप्त नही होती। स्थितप्रज्ञ महात्मा के परमात्मा को प्राप्त होने पर उसका विषयानुराग ही समाप्त हो जाता है।

**सन्दर्भ :** परमात्मा के साक्षात्कार से ही विषयासक्ति पूर्णत समाप्त होती है।

**रसामृत :** मनुष्य की निम्न प्रकृति उसे भोगोन्मुखी करके ससार के नानाविध भोगो की ओर ले जाती है तथा वह अपनी इन्द्रियो के द्वारा भोग्य पदार्थो के सेवन ( भोग ) को ही जीवन की उपलब्धि समझ लेता है। मनुष्य अनुचित मार्गों से धन कमाकर अपने लिए तथा अपने कुटुम्ब के लिए इन्द्रियो की भोग्य-सामग्री सचित एव सरक्षित करने मे ही जुटा रहकर जीवन व्यतीत कर देता है और मृत्युकाल तक भी उसकी तृष्णा समाप्त नही होती। नश्वर पदार्थों की प्राप्ति के कुचक्र मे फँसकर वह न केवल जीवन के ऊँचे स्तर को नही छू पाता, वल्कि अपना स्वास्थ्य और शान्ति भी खो वैठता है। रोग अथवा वृद्धता के कारण शक्ति क्षीण होने पर वह इन्द्रियो के विषयो का भोग नही कर पाता, किन्तु तृष्णा के कारण उनकी ओर ललचाकर देखता है तथा निराश एव उद्विग्न हो जाता है। भोग नही भोगे जाते, मनुष्य ही भोगो द्वारा भोगा जाता है।[1]

इन्द्रियो पर विजय ( अर्थात् इन्द्रियो को उनके विषयो मे स्वेच्छाचारी वनकर भटकने से रोकना ) प्राप्त करने के लिए इन्द्रियो को उनके आहार ( विषय, भोग्य पदार्थ ) से दूर रखकर उन्हे भूखा मारना इन्द्रिय-दमन है, किन्तु यह कोई उचित अथवा आत्यन्तिक उपाय नही है, क्योकि वासना शेष होने के कारण मन विषयो का स्मरण करके निराश एव कुण्ठित हो जाता है। हठपूर्वक निग्रह से वासना की जडें प्रबल हो जाती हैं तथा विवेक-

---

१ नेत्र रूप की ओर, नासिका गन्ध की ओर, कर्ण शब्द की ओर, रसना ( जिह्वा ) रस की ओर, त्वचा स्पर्श की ओर मन की अनुकूल दिशा मे दौडते हैं।

१ भोगा. न भुक्ता. वयमेव भुक्ता.।

पूर्वक शमन से मन और इन्द्रियाँ शान्त हो जाते हैं। विवेक के सहारे इन्द्रियो को अभ्यास द्वारा अपने वश मे करना इन्द्रिय-सयम अथवा शमन कहलाता है। मन एव इन्द्रियो द्वारा भोग्य पदार्थों के आवश्यक सेवन की प्रक्रिया से विवेक के सहारे उन्हे तृप्ति देना तथा उनसे ऊपर उठना, न कि हठपूर्वक उनसे विमुख हो जाना सयम का उत्तम उपाय है। हठपूर्वक विषय-विमुख होने से कुण्ठाएँ उत्पन्न हो जाती है, किन्तु विचार के सहारे आन्तरिक तृप्ति द्वारा इन्द्रियो का निरोध सम्भव हो जाता है। विचारपूर्वक तृप्ति द्वारा इन्द्रियो पर विजय पाने के लिए गृहस्थाश्रम का विधान है। गृहस्थाश्रम धन्य है[1], जो मनुष्य को भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है तथा अन्य तीनो आश्रमो ( ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, सन्यास ) का पोषण करता है। विरले महापुरुष ऐसे भी होते है, जो भगवत्कृपा से भोगो मे गुजरने के बिना भी वैराग्य को प्राप्त हो जाते है।[2]

वास्तव मे, इन्द्रियो के विषयानुराग का पूर्ण उच्छेद करने के लिए मन के राग अथवा आसक्ति के सूक्ष्म सस्कारो ( सूक्ष्म जड़ो ) का उच्छेद करना आवश्यक होता है। उसका एकमात्र तथा आत्यन्तिक उपाय परमात्मा का सहारा लेकर अपने भीतर गहन एव गूढ आनन्दानुभूति प्राप्त करना है। आत्मानन्द की अनुभूति होने पर अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होने पर ( पर दृष्ट्वा )[3] विषयो के प्रति भोगत्वभावना एव राग की निवृत्ति ( समाप्ति ) हो जाती है, क्योकि विषयो का रस आध्यात्मिक रस की अपेक्षा तुच्छ एव हेय है। भोगबुद्धि होने के कारण मनुष्य भौतिक वस्तुओ के सचय को सौभाग्यसूचक एव महत्त्वपूर्ण मानता है तथा कामना-त्याग होने पर वे निस्सार प्रतीत होने लगती है। आध्यात्मिक बुद्धि होने पर ही मन सम, सन्तुलित एव स्वस्थ रहकर आन्तरिक तृप्ति का अनुभव करके शान्त और स्थिर रह सकता है।

**यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।**
**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥**
**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।**
**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥**

**शब्दार्थ :** **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, **हि**=निश्चय ही, **यततः विपश्चितः पुरुषस्य अपि मनः प्रमाथीनि इन्द्रियाणि प्रसभं हरन्ति**=प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के भी मन को ये प्रमथन करनेवाली इन्द्रियाँ बलपूर्वक हर लेती हैं। **तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः मत्परः[1] आसीत**=उन सब इन्द्रियो को सयमित करके युक्त होकर ( परमात्मा के साथ जुडकर, समाहित चित्त होकर ) मेरे परायण स्थित हो जाय, **हि**=क्योकि, **यस्य इन्द्रियाणि वशे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**=जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश मे होती हैं उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है, वह स्थितप्रज्ञ होता है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, इन्द्रियाँ इतनी बलवती होती हैं कि वे साधनारत ( प्रयत्नशील ) बुद्धिमान् मनुष्य के भी मन का बलपूर्वक अपहरण कर लेती है। उन सभी को वश मे करके समाहित चित्त होकर ( परमात्मा से युक्त होकर ) परमात्मा-परायण हो जाना चाहिए, क्योकि जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ वश मे होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है ( वह स्थितप्रज्ञ होता है )।

**सन्दर्भ :** साधक को इन्द्रिय-सयम का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। एक ही इन्द्रिय वश मे न

१ **'धन्यो गृहस्थाश्रम.'**

२ आदि शकराचार्य, ज्ञानेश्वर, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, विनोबा, आनन्दमयी माता इत्यादि अनेक उदाहरण हैं।

३ **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥**
—मुण्डक उप०, २ २ ८

—अर्थात् सर्वव्यापी सर्वात्मा परम ब्रह्म का दर्शन करने पर इस जीवन्मुक्त योगी की हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, सभी सशय मिट जाते हैं तथा कर्मबन्धन नष्ट हो जाते हैं।

१ मत्परः के स्थान पर तत्पर. पाठान्तर है। तत्परः का अर्थ ब्रह्मपरायण है।

सयम और प्रत्याहार का साधन एव अभ्यास कर सकना है। सयमी मनुष्य इन्द्रियो को भोग्य पदार्थों की ओर दौडते हुए देखकर उन्हे अपने भीतर ऐसे ही सरलतापूर्वक समेट लेता है, जैसे कछुआ बाहर बाधा देखकर अपने अगो को अपने भीतर समेट लेता है। उसे अपने ऊपर नियन्त्रण होता है तथा वह इन्द्रियो को उचित दिशा मे व्यापार करने देता है, किन्तु उन्हें स्वेच्छाचार नही करने देता। यह विवेक (उचित दिशा मे विचार), दृढ निश्चय एव अभ्यास द्वारा सम्भव है।

जो कर्मयोगी अपने मन को कामनारहित अर्थात् आसक्तिरहित कर लेता है, वह अपनी इन्द्रियो को ऐसे ही अपने वश मे रख सकता है, जैसे सँपेरा विषधर सर्पो को वश मे रखता है। वह इन्द्रियो को अपने विपयो की ओर भटकने नही देता' तथा अपने जीवन का निर्वाह करने के लिए उन्हे उचित सीमा तक जाने देता है। कछुआ भीतर कोमल होकर भी बाहर कठोर होता है। इसी प्रकार कर्मयोगी भीतर कोमल होकर भी वाह्य प्रलोभनो के प्रति कठोर होता है।

स्थितप्रज्ञ महात्मा भीतर आत्ममग्न रहता है तथा व्युत्थान-अवस्था मे (अर्थात् लोक-व्यवहार के समय) कच्छप की भाँति सयमी होता है।

**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥**

**शब्दार्थ :** निराहारस्य देहिन विषया. विनिवर्तन्ते=विषयो को ग्रहण करनेवाले मनुष्य के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, **रसवर्जं**=(किन्तु) राग (आसक्ति, रुचि) निवृत्त नहीं होता, **अस्य रस अपि परं दृष्ट्वा निवर्तते**=इस पुरुष (स्थितप्रज्ञ) का राग भी परमात्मा को देखकर (प्राप्त करके) निवृत्त हो जाता है।

**वचनामृत :** साधारण पुरुष के (रोग, वृद्धता आदि के कारण) निराहारी होने पर अर्थात् विपयो के न भोगने पर विपय तो समाप्त हो जाते हैं, किन्तु उनकी ओर उसकी आसक्ति (तृष्णा, प्रलोभन) समाप्त नही होती। स्थितप्रज्ञ महात्मा के परमात्मा को प्राप्त होने पर उसका विपयानुराग ही समाप्त हो जाता है।

**सन्दर्भ :** परमात्मा के साक्षात्कार से ही विपयासक्ति पूर्णत समाप्त होती है।

**रसामृत .** मनुष्य की निम्न प्रकृति उसे भोगोन्मुखी करके ससार के नानाविध भोगो की ओर ले जाती है तथा वह अपनी इन्द्रियो के द्वारा भोग्य पदार्थों के सेवन (भोग) को ही जीवन की उपलब्धि समझ लेता है। मनुष्य अनुचित मार्गों से धन कमाकर अपने लिए तथा अपने कुटुम्व के लिए इन्द्रियो की भोग्य-सामग्री सचित एव सरक्षित करने मे ही जुटा रहकर जीवन व्यतीत कर देता है और मृत्युकाल तक भी उसकी तृष्णा समाप्त नही होती। नश्वर पदार्थों की प्राप्ति के कुचक्र मे फँसकर वह न केवल जीवन के ऊँचे स्तर को नही छू पाता, वल्कि अपना स्वास्थ्य और शान्ति भी खो वैठता है। रोग अथवा वृद्धता के कारण शक्ति क्षीण होने पर वह इन्द्रियो के विषयो का भोग नही कर पाता, किन्तु तृष्णा के कारण उनकी ओर ललचाकर देखता है तथा निराश एव उद्विग्न हो जाता है। भोग नही भोगे जाते, मनुष्य ही भोगो द्वारा भोगा जाता है।[1]

इन्द्रियो पर विजय (अर्थात् इन्द्रियो को उनके विषयो मे स्वेच्छाचारी वनकर भटकने से रोकना) प्राप्त करने के लिए इन्द्रियो को उनके आहार (विषय, भोग्य पदार्थ) से दूर रखकर उन्हे भूखा मारना इन्द्रिय-दमन है, किन्तु यह कोई उचित अथवा आत्यन्तिक उपाय नही है, क्योकि वासना शेष होने के कारण मन विषयो का स्मरण करके निराश एव कुण्ठित हो जाता है। हठपूर्वक निग्रह से वासना की जडें प्रबल हो जाती हैं तथा विवेक-

१ नेत्र रूप की ओर, नासिका गन्ध की ओर, कर्ण शब्द की ओर, रसना (जिह्वा) रस की ओर, त्वचा स्पर्श की ओर मन की अनुकूल दिशा मे दौडते हैं।

१ भोगा. न भुक्ताः वयमेव भुक्ता।

पूर्वक शमन से मन और इन्द्रियाँ शान्त हो जाते हैं। विवेक के सहारे इन्द्रियो को अभ्यास द्वारा अपने वश मे करना इन्द्रिय-सयम अथवा शमन कहलाता है। मन एव इन्द्रियो द्वारा भोग्य पदार्थों के आवश्यक सेवन की प्रक्रिया से विवेक के सहारे उन्हे तृप्ति देना तथा उनसे ऊपर उठना, न कि हठपूर्वक उनसे विमुख हो जाना सयम का उत्तम उपाय है। हठपूर्वक विषय-विमुख होने से कुण्ठाएँ उत्पन्न हो जाती है, किन्तु विचार के सहारे आन्तरिक तृप्ति द्वारा इन्द्रियो का निरोध सम्भव हो जाता है। विचारपूर्वक तृप्ति द्वारा इन्द्रियो पर विजय पाने के लिए गृहस्थाश्रम का विधान है। गृहस्थाश्रम धन्य है[१], जो मनुष्य को भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है तथा अन्य तीनो आश्रमो ( ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, सन्यास ) का पोषण करता है। विरले महापुरुष ऐसे भी होते है, जो भगवत्कृपा से भोगो मे गुजरने के बिना भी वैराग्य को प्राप्त हो जाते है।[२]

वास्तव मे, इन्द्रियो के विषयानुराग का पूर्ण उच्छेद करने के लिए मन के राग अथवा आसक्ति के सूक्ष्म सस्कारो ( सूक्ष्म जड़ो ) का उच्छेद करना आवश्यक होता है। उसका एकमात्र तथा आत्यन्तिक उपाय परमात्मा का सहारा लेकर अपने भीतर गहन एव गूढ आनन्दानुभूति प्राप्त करना है। आत्मानन्द की अनुभूति होने पर अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होने पर ( पर दृष्ट्वा )[३] विषयो के प्रति भोगत्वभावना एवं राग की निवृत्ति ( समाप्ति ) हो जाती है, क्योकि विषयो का रस आध्यात्मिक रस की अपेक्षा तुच्छ एव हेय है। भोगबुद्धि होने के कारण मनुष्य भौतिक वस्तुओ के सचय को सौभाग्यसूचक एव महत्त्वपूर्ण मानता है तथा कामना-त्याग होने पर वे निस्सार प्रतीत होने लगती है। आध्यात्मिक बुद्धि होने पर ही मन सम, सन्तुलित एव स्वस्थ रहकर आन्तरिक तृप्ति का अनुभव करके शान्त और स्थिर रह सकता है।

**यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।**
**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥**
**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।**
**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥**

**शब्दार्थ :** **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, **हि**=निश्चय ही, **यतत· विपश्चितः पुरुषस्य अपि मनः प्रमाथीनि इन्द्रियाणि प्रसभं हरन्ति**=प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के भी मन को ये प्रमथन करनेवाली इन्द्रियाँ बलपूर्वक हर लेती हैं। **तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः मत्परः**[१] **आसीत**=उन सब इन्द्रियो को सयमित करके युक्त होकर ( परमात्मा के साथ जुडकर, समाहित चित्त होकर ) मेरे परायण स्थित हो जाय, **हि**=क्योकि, **यस्य इन्द्रियाणि वशे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**=जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश मे होती हैं उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है, वह स्थितप्रज्ञ होता है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, इन्द्रियाँ इतनी बलवती होती है कि वे साधनारत ( प्रयत्नशील ) बुद्धिमान् मनुष्य के भी मन का बलपूर्वक अपहरण कर लेती है। उन सभी को वश मे करके समाहित चित्त होकर ( परमात्मा से युक्त होकर ) परमात्मा-परायण हो जाना चाहिए, क्योकि जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ वश मे होती है उसकी बुद्धि स्थिर होती है ( वह स्थितप्रज्ञ होता है )।

**सन्दर्भ :** साधक को इन्द्रिय-सयम का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। एक ही इन्द्रिय वश मे न

---

१ 'धन्यो गृहस्थाश्रम.'

२ आदि शकराचार्य, ज्ञानेश्वर, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, विनोबा, आनन्दमयी माता इत्यादि अनेक उदाहरण है।

३ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
—मुण्डक उप०, २ २ ८

—अर्थात् सर्वव्यापी सर्वात्मा परम ब्रह्म का दर्शन करने पर इस जीवन्मुक्त योगी की हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, सभी सशय मिट जाते हैं तथा कर्मबन्धन नष्ट हो जाते हैं।

१ मत्परः के स्थान पर तत्पर. पाठान्तर है। तत्पर. का अर्थ ब्रह्मपरायण है।

होने से मनुष्य को पथभ्रष्ट कर देती है। अत सभी इन्द्रियो को वश मे करना चाहिए।

**रसामृत** · इन्द्रियाँ इतनी शक्तिशालिनी होती हैं कि वे अपने विषयो ( भोग्य पदार्थों ) के सामने आते ही उनकी ओर दौडने लगती है तथा इस प्रकार बलपूर्वक मन का अपहरण कर लेती हैं, जैसे दस्यु ( डाकू ) बलपूर्वक धन का अपहरण कर लेते हैं। इन्द्रियो पर सयम न होने के कारण मन अस-हाय एव परवश होकर क्लेश को प्राप्त हो जाता है।

कठोपनिषद् मे एक सुन्दर रूपक है[1], जिसका महत्त्व अनेक पुनरावृत्ति करने पर भी कम नही होता। "तू आत्मा को रथी समझ, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथी समझ और मन को प्रग्रह ( लगाम ) समझ। मनीषीजन द्वारा इन्द्रियो को घोडे, विषयो ( भोग्य पदार्थ ) को उनके मार्ग तथा देह-इन्द्रिय-मनसहित आत्मा को भोक्ता कहा गया है।" यदि घोडे अनियन्त्रित होकर अपने खाद्य पदार्थ की ओर दौडने लगें तथा प्रग्रह ( लगाम ) शिथिल हो जाय तो वे रथ को कुमार्ग मे फँसाकर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे, सारथी की दुर्गति कर देंगे तथा रथ के स्वामी को क्लेश पहुँचा देंगे। असयम होने पर घोडे रथ और रथी को मार्ग-भ्रष्ट कर देते हैं। रथ द्वारा रथी तभी अपने गतव्य को प्राप्त कर सकता है, जब कि प्रग्रह ( लगाम ) घोड़ो को वश मे रख सके, उन्हे अपने भोग्य पदार्थो के प्रलोभन मे इधर-उधर भटकने न दे, प्रग्रह भी समझदार सारथी के हाथ मे हो तथा सारथी रथ के स्वामी के निर्देशन पर निर्दिष्ट दिशा मे प्रग्रह द्वारा घोडो को कुशलतापूर्वक चलाता हो। शरीर के रथ पर आरूढ जीवात्मा का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है।[1] यदि बुद्धि आत्मा के प्रकाश से प्रका-शित हो तो वह मन को वश मे रखकर इन्द्रियो को भी वश मे रख सकती है। किन्तु यदि बुद्धि अन्ध-कार मे भटककर मन को शिथिल कर दे और मन इन्द्रियो को उनके विषय-पदार्थों की ओर दौडने दे तो जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। अतएव नियम-सयम की आवश्यकता है। सोने-जागने, खाने-पीने, बोलने इत्यादि के सम्बन्ध मे नियम बनाकर सयम का अभ्यास करना चाहिए। सृष्टि मे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी आदि क्षणभर के लिए भी नियम-सयम का त्याग नही करते।

हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि मन और इन्द्रियो पर बलपूर्वक अकुश लगाकर उनका दमन करने से विषमय कुण्ठाएँ उत्पन्न होती हैं तथा अवसर पाते ही कुण्ठाओ का विस्फोट हो जाता है। बरबस बन्दी किया हुआ मिष्टभाषी शुक ( तोता ) पिंजरा खुलते ही स्वतन्त्र होकर उड जाता है। कुण्ठाग्रस्त मन भी अवसर पाते ही मर्यादा तोडकर स्वेच्छाचारी एव विनाशकारी हो जाता है। जैसे बाढ आने पर क्षुद्र नदी भी तटवर्ती वृक्षो को उखाड़ देती है तथा झोपडियो को बहा देती है। अतएव बुद्धि ( अर्थात् विचार एव विवेक ) के द्वारा पग-पग पर प्रलोभन मे भटकनेवाली इन्द्रियो तथा उनके सहचर मन का सयमपूर्वक शमन करना चाहिए। सावधान होकर दृढ निश्चय के साथ अभ्यास करने से सफलता प्राप्त हो सकती है। दृढ सकल्प से सफलता सुलभ हो जाती है।

वास्तव मे, मन ही आसक्ति के कारण इन्द्रियो को शिथिल कर देता है तथा मन का सयम ही इन्द्रियो का सयम है। इन्द्रियो को उनके विषयो की ओर

---

१ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण.॥
—कठ उप०, १ ३ ३, ४

१ यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ॥
—कठ उप०, १ ३ ६

—अर्थात् जो ( बुद्धिरूप सारथी ) कुशल और सदा समाहितचित्त से युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ ऐसे रहती हैं, जैसे सारथी के अधीन अच्छे घोड़े।

दौडने से रोकने का आशय मन को ही विषयो की आसक्ति से निवृत्त करना है। आत्मा के प्रकाश मे अविद्या[1] के नाश द्वारा बुद्धि का जागरण होने पर, बुद्धि सरलतापूर्वक मन और इन्द्रियो पर सयम कर लेती है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्मा की भक्ति[2] करने से अर्थात् मन मे भक्ति रस उत्पन्न होने से अथवा परमात्मा की कृपा से विषय-परायण वासना परमात्मा-परायण हो जाती है। भोग्य विषय-पदार्थों के प्रति आसक्ति ( अथवा सूक्ष्म वासना ) के ईश्वरोन्मुखी होने पर उसका उदात्तीकरण हो जाता है अर्थात् वह सात्विक एव आनन्ददायक वन जाती है। भक्ति रस इतना मधुर एव दिव्य होता है कि उसके सामने विषय-रस फीका प्रतीत होने लगता है। भक्तिभाव का पूर्ण उदय होने पर विषयानुराग स्वय ही समाप्त हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते है—"हे अर्जुन, तू सावधान होकर 'मत्पर:' ( मुझमे परायण अथवा अनुरक्त ) हो जा अर्थात् भक्तिभाव का आश्रय ग्रहण कर ले। भक्तिभाव से मन और इन्द्रियाँ पवित्र होकर शान्त हो जायेंगे तथा जिसकी इन्द्रियाँ वश मे है ( शान्त है ), वह स्थितप्रज्ञ होता है।"

१. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा·।

—योग०, २ ३

अर्थात् अविद्या ( अज्ञान ), अस्मिता ( चिद् जड ग्रन्थि अर्थात् चेतन तथा जड की एकता प्रतीत होना ), राग ( आसक्ति ), द्वेष तथा मृत्युभय—इन पाँच को क्लेश अथवा क्लेश का कारण कहते हैं। इन पाँचो मे भी अविद्या ( अज्ञान ) प्रमुख है, क्योकि शेष चार भी इसीसे उत्पन्न होते हैं।

२ इस श्लोक का अर्थ करते हुए गाधीजी कहते है—"भक्ति के बिना, ईश्वर की सहायता के बिना, मनुष्य का प्रयत्न मिथ्या है।" वैष्णव आचार्य कहते हैं कि कृष्णभावनाभावित हुए बिना मन और इन्द्रियो को वश मे करना सम्भव नही है।

भक्तिभावयुक्त साधक भगवान् के सगुण साकारस्वरूप को अपने मन-मन्दिर मे विराजमान कर लेते है तथा अपने भीतर मनोरम एव दिव्य भावजगत् का सृजन कर लेते है। वे बहिर्जगत् की समस्याओ से जूझने के लिए भीतर से प्रेरणा, सवल और उत्साह प्राप्त करते है। प्रभु-कृपा मे अखण्ड विश्वास उनकी शक्ति का स्रोत होता है। भक्त सुख और दु ख को अपने प्रिय प्रभु का विधान मानकर सहर्ष स्वीकार करते है। धन-सम्पत्ति, सत्ता और यश उन्हे मदान्ध नही करते, वल्कि विनम्र एव परोपकारी वना देते है। दु ख उन्हे प्रभु के समीप ला देता है तथा वे घोर कष्ट मे भी व्याकुल नही होते। भक्त सदैव अपने भीतर निरन्तर सुप्रसन्न रहते है। मूर्ति-पूजा भी भक्ति-साधना का प्रमुख अग है। भक्त मूर्ति को साक्षात् परमात्मा का स्वरूप मानकर उसके सान्निध्य मे परमानन्द की अनुभूति करके कृतकृत्य हो जाते हैं। जप, कीर्तन, भजन, अर्चना और उपासना उन्हे अनिर्वचनीय आनन्द देते हैं। कर्मयोगी 'मत्पर'[1]

१ श्रीकृष्ण को भगवान् का अवतार माना जाता है। एक ही परमात्मा के तीन स्वरूप हैं—सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, पालनकर्ता विष्णु और सहारकर्ता शिव ( शङ्कर )। राम और कृष्ण विष्णु के अवतार हैं। शैवगण शिव को तथा वैष्णवगण राम और कृष्ण को साक्षात् परमब्रह्म का अवतार अथवा परमपुरुष मानते हैं, जिसका ( कृष्ण का ) स्वय विष्णु भी अश ही है। शाक्तगण अथवा शक्ति ( देवी ) के उपासक शक्ति को परम ब्रह्म का स्वरूप मानते हैं। अपने इष्टदेव को परमब्रह्म मानकर भक्ति करना श्रेयस्कर होता है। अनेक वैष्णव आचार्य आत्मा को परमात्मा का भिन्न अश मानते हैं, किन्तु शकराचार्य अभिन्न अश मानते हैं तथा दोनो को तत्त्वत. एक ही ( अद्वैत ) मानते हैं। अवतारवाद मे विश्वास न करने-वाले श्रीकृष्ण को एक महापुरुष मानते हैं तथा गीता मे जहाँ श्रीकृष्ण परमात्मा के रूप मे कुछ कहते हैं, उनके अनुसार वे परमात्मा को प्राप्त एक सिद्धयोगी के रूप मे वोलते है।

अर्थात् प्रभुपरायण रहते हुए, प्रत्येक अवस्था मे सम होकर, स्थितप्रज्ञ-अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

**ध्यायतो विषयान्पुंस॰ सङ्गस्तेषूपजायते।**
**सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥**
**क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रम॰।**
**स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥**

**शब्दार्थ :** **विषयान् ध्यायत पुस तेपु सङ्गः उपजायते**=विषयो का चिन्तन करनेवाले पुरुप की उन विषयो मे आसक्ति हो जाती है, **सङ्गात् काम संजायते**=आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है, **कामात् क्रोध अभिजायते**=कामना से (कामना-पूर्ति मे विघ्न होने पर) क्रोध उत्पन्न होता है। **क्रोधात् संमोह भवति**=क्रोध से समोह (मूढता) उत्पन्न होता है, **संमोहात् स्मृतिविभ्रम॰**=समोह से स्मरण-शक्ति मे विभ्रम हो जाता है। **स्मृतिभ्रशात् बुद्धिनाश**=स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश हो जाता है, **बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**=बुद्धिनाश होने से (वह) नष्ट हो जाता है।

**वचनामृत॰** विषयो का चिन्तन करनेवाले पुरुष की विषयो मे आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से (उन विषयो की) कामना उत्पन्न हो जाती है, कामना के पूर्ण न होने पर अथवा कामना-पूर्ति मे विघ्न पडने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध से मूढता (अविवेक) उत्पन्न होती है, मूढता से स्मृति भ्रमित हो जाती है तथा स्मृतिभ्रम होने पर बुद्धि (विचार-शक्ति) का नाश हो जाता है तथा बुद्धिनाश होने से विनष्ट हो जाता है।

**सन्दर्भ॰** श्रीकृष्ण द्वारा बताये हुए सयम-मार्ग से विपरीत दिशा मे चलने पर अर्थात् मन और इन्द्रियो को वश मे न रखकर तथा ईश्वरपरायण न होने पर विषयो की आसक्ति मनुष्य को नष्ट कर देती है।

**रसामृत** स्थितप्रज्ञ की उच्चावस्था को प्राप्त करने के लिए सजग एव सावधान होकर निरन्तर साधना करने की आवश्यकता होती है। ऊँचा चढने मे अत्यधिक प्रयत्न एव परिश्रम करना पड़ता है तथा दीर्घ समय लगता है, किन्तु बहुत ऊँचे चढकर भी नीचे गिरने मे कोई देर नही लगती। थोडी-सी असावधानता से ही क्षणभर मे महान् पतन हो जाता है। कर्म-योग की साधना मे आसक्ति का त्याग उत्थान के लिए प्रथम सोपान होता है तथा पतन की दिशा मे आसक्ति का ग्रहण प्रमुख कारण होता है।

मनुष्य की बुद्धि जब मन और इन्द्रियो को वश मे रखकर आत्मा के दिव्य आलोक मे कार्य करती है तो जीवन मे आत्यन्तिक सुख एव शान्ति की प्रस्थापना हो जाती है, किन्तु जब वह इसके विपरीत, आत्मा के आलोक से दूर हटकर विषयो का ध्यान (चिन्तन) करती है और मन एव इन्द्रियो को भी विषयो की ओर जाने देती है तो मनुष्य का विनाश हो जाता है।

विषयो (भोग्य पदार्थों) का चिन्तन करने से उनके प्रति आसक्ति (या प्रीति) उत्पन्न हो जाती है तथा आसक्ति होने पर उन्हे प्राप्त करने की कामना उत्पन्न हो जाती है। वास्तव मे, आसक्ति ही उद्रिक्त अथवा तीव्र होने पर काम (प्रबल मनोवेग) बन जाती है तथा काम ही कामना का रूप ले लेता है। एक कामना (अर्थात् भोग की इच्छा) अनन्त प्रकार की कामनाओ को उत्पन्न कर देती है तथा कामनाओ की पूर्ति के कुचक्र मे फँसकर मनुष्य स्वभाव से चिडचिडा और क्रोधी हो जाता है। कामनाओ की पूर्ति मे विघ्न होने पर अथवा सयोगवश कामनाओ की पूर्ति न होने पर मनुष्य मे क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। क्रोध का आवेश बुद्धि को असतुलित एव विकृत कर देता है तथा शरीर मे अनेक व्याधियाँ उत्पन्न कर देता है। क्रोध मनुष्य को पिशाच बना देता है तथा वह अन्य जन का निरादर करने लगता है और अन्त में अपना सब कुछ खो बैठता है। क्रोध की अग्नि मन और शरीर मे दाह उत्पन्न करके उन्हे जर्जर कर देती है। क्रोध मे विवेक नष्ट हो जाता है तथा मूढता उत्पन्न हो जाती है। उसे

उचित एव अनुचित अथवा कार्य एव अकार्य का विवेक नही रहता । इस मूढता से स्मृतिविभ्रम हो जाता है तथा मनुष्य को उत्तम विचारो एव श्रुत उपदेश का स्मरण नही रहता । यही बुद्धिनाश है । बुद्धिनाश मनुष्य को शोचनीय एव दयनीय अवस्था मे ला देता है । यह स्थिति स्थितप्रज्ञ की साधना के विपरीत दिशा मे चलने से उत्पन्न होती है । श्रीकृष्ण अर्जुन को चेतावनी देकर सावधान करते हैं कि वह विपरीत दिशा मे कदापि न चले ।

कामना के कुचक्र मे फँसकर मनुष्य आशका, चिन्ता, भय, घृणा और क्रोध से ग्रस्त होकर व्याकुल रहने लगता है तथा शरीर रोगालय बन जाता है । कामान्धता मनुष्य को पाप मे प्रवृत्त कर देती है । भौतिक कामनाएँ व्यक्ति एव समाज के जीवन मे असन्तोष एव अशान्ति उत्पन्न करती है । भोग-परायण समाज का वातावरण पाशविक हो जाता है तथा भोग-वृत्ति की होड वैमनस्य एव संघर्ष उत्पन्न कर देती है । जहाँ जीवन-स्तर को अथवा जीवन की सफलता को धन एव भोगैश्वर्य के सचय से नापा जाता हो तथा जहाँ बच्चो और तरुणो का पालन-पोषण भोगैश्वर्य के भौतिक वातावरण मे होता हो, वह समाज पतनोन्मुख हो जाता है ।

आसक्ति के तीव्र होने पर काम ( इन्द्रियो द्वारा भोग की तीव्र इच्छा ) की उत्पत्ति होती है तथा काम ही चिन्ता, व्यथा, भय, क्रोध आदि अनेक विकारो का कारण होता है । चिन्ता मनुष्य को भीतर ही भीतर घुला देती है । चिन्ता होना स्वाभाविक है । किन्तु चिन्ता करने से दु ख बढता है, घटता नही है तथा मनुष्य भ्रान्त एव व्याकुल होकर थक जाता है । सक्रिय होकर चिन्ता के निवारण का उपाय करने से ही मन शान्त हो सकता है । चिन्ता के समाधान के लिए कमर कस-कर पुरुषार्थ करना चाहिए । चिन्ता प्राय आर्थिक स्थिति, परिवार की प्रतिकूलता, रोग, मुकदमा तथा प्रतिष्ठा के सम्बन्ध मे होती है, किन्तु अनेक बार मनुष्य विना कारण ही भविष्य के सम्बन्ध मे आशंकित होकर निरर्थक चिन्ता करने लगता है । भय और चिन्ता परस्पर जुडे हुए है तथा एक के होने पर दूसरा भी प्रकट हो जाता है । कामना-पूर्ति मे बाधा होने पर क्रोध का विस्फोट होता है, जो मानसिक सन्तुलन को बिगाड देता है । क्रोध से कभी कोई सुधार नही होता ।

वास्तव मे, काम एक ऊर्जा है, एक शक्ति-स्रोत है । उसका दमन करने से जीवन का रस ही सूख जाता है । काम ही निखर जाने पर, उदात्त होने पर, प्रेम का स्वरूप ग्रहण कर लेता है तथा व्यापक होकर पवित्र हो जाता है । काम निम्नस्तर पर सकीर्ण वासना एव तृष्णा बनकर दु खदायक होता है तथा मनुष्य को पशु बना देता है, किन्तु उच्चस्तर पर वह व्यापक प्रेम एवं मैत्री बनकर सुखदायक हो जाता है तथा मनुष्य को देवता बना देता है । विवेकशील व्यक्ति हठपूर्वक काम का दमन नही करता, बल्कि विचारपूर्वक उसका शमन करता है तथा उसे उत्तम दिशा मे प्रवाहित कर देता है ।

ईश्वर की भक्ति कर्मयोगी को कामना पर विजय पाने मे अर्थात् कामना का उदात्तीकरण करने मे अत्यन्त सहायक होती है । भक्ति द्वारा दिव्य आनन्द का रसपान करनेवाला मनुष्य विषय-भोगो से ऊपर उठ जाता है । भक्ति से बुद्धि, मन एवं इन्द्रियो की आत्यन्तिक तृप्ति हो जाती है । भक्ति-मय कर्मयोगी कामना, चिन्ता और भय से ऊपर उठकर प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर्तव्यकर्म करता है तथा फल प्रभु पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाता है । अहैतुकी कृपा करनेवाले करुणावरुणालय पर-मात्मा की शरण मे जाकर कुशलता, सुरक्षा और शान्ति सुलभ हो जाते हैं । विषयभोगी विषयो का ध्यान तथा कर्मयोगी परमात्मा का ध्यान करता है ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

**शब्दार्थ :** तु विधेयात्मा रागद्वेषवियुक्तै आत्मवश्यै इन्द्रियै विषयान् चरन् = परन्तु स्वाधीन अन्तःकरणवाला मनुष्य राग-द्वेष से वियुक्त अपने वश मे की हुई इन्द्रियो से विषयो को भोगता हुआ, प्रसाद अधिगच्छति = प्रसन्नता एव निर्मलता को प्राप्त होता है। प्रसादे अस्य सर्वदु खाना हानि उपजायते = प्रसन्नता एव निर्मलता होने पर इसके सारे दु खो का अभाव हो जाता है, प्रसन्नचेतस बुद्धि आशु हि पर्यवतिष्ठते = प्रसन्न एव निर्मल चित्तवाले मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार से स्थिर हो जाती है।

**वचनामृत** राग और द्वेष से विमुक्त तथा अपने वश मे की हुई इन्द्रियो ( तथा मन ) के द्वारा विषयो का उपभोग करते हुए आत्मसयमी मनुष्य प्रसाद ( निर्मलता एव प्रसन्नता ) को प्राप्त कर लेता है। प्रसाद ( निर्मलता एव प्रसन्नता ) प्राप्त करने से उसके समस्त दु खो की समाप्ति हो जाती है, प्रसन्न एव निर्मल चित्तवाले मनुष्य की बुद्धि अतिशीघ्र स्थिर हो जाती है अर्थात् मनुष्य स्थित-प्रज्ञ हो जाता है।

**सन्दर्भ :** राग-द्वेष मनुष्य के विनाश का मूल है तथा राग-द्वेष से विमुक्ति समस्त विकास का आधार है। राग-द्वेष से विमुक्त होने पर साधक स्थितप्रज्ञ हो जाता है। कर्मयोगी राग-द्वेप से विमुक्त होकर विषयो का सेवन करता है।

**रसामृत** . प्रत्येक व्यक्ति जीवन और जगत् के प्रति अपना एक दृष्टिकोण बनाता है तथा मनुष्य अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही दु ख और सुख का अनुभव करता है। समस्त ज्ञान, धर्म और उपदेश का तात्पर्य जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण का निर्माण करना है। हम जीवन की घटनाओ को और संसार को किस रूप मे स्वीकार करते है, इस पर ही हमारे दु ख और सुख आधारित होते हैं। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि—हमारी दृष्टि जैसी होती है, हमे सृष्टि वैसी ही प्रतीत होती है। भगवान् श्रीकृष्ण मानवता के प्रतिनिधि अर्जुन को जीवन के प्रति अत्यन्त स्वस्थ एव व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रदान करते है। गुरु श्रीकृष्ण शिष्य अर्जुन को उपदेश करते है कि वह अपने जीवन को कामना, भय और चिन्ता से विमुक्त करके सहज बना ले। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि वह कर्म करने की कल्याणकारी विधि सीख ले, क्योकि बिना कर्म किये हुए जीवन नही चल सकता तथा विषयो के सेवन की भी विधि सीख ले, क्योकि बिना विषय-सेवन के भी जीवन का निर्वाह नही हो सकता। मनुष्य न कर्म से बचकर भाग सकता है और न विषय-सेवन से ही विमुक्त हो सकता है। कर्तव्य-कर्म मे पलायन करनेवाले कायर होते हैं तथा विषयो से घृणा करनेवाले पाखण्डी ( अथवा कुण्ठित ) होते हैं।

भोगपरायण मनुष्य आसक्ति के कारण इन्द्रियो के विषयो मे फँसकर स्वय ही भुक्त हो जाता है, नष्ट हो जाता है, क्योकि भोगो से कभी तृप्ति नही मिलती तथा भोग की वासना अधिक-ही-अधिक तीव्र होकर मनुष्य को दु ख देने लगती है। विवेक-हीन भोग द्वारा कामना अथवा वासना की शान्ति नही होती, बल्कि वह तीव्र हो जाती है।[1]

इसके विपरीत, योगपरायण मनुष्य जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक विषयो का सेवन करता है। भोगी विषयासक्त होकर विषय-वस्तुओ का भोग करता है तथा नष्ट हो जाता है, योगी अनासक्त होकर विषय-वस्तुओ का सेवन करता है तथा प्रसन्न होकर परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है। योगी जागरण की अवस्था मे रहता है, उसका विवेक आत्मा के आलोक से प्रकाशित रहता है। भोगी भोगता है, योगी सेवन करता है। भोगी के लिए विषय-वस्तु का भोग विनाश का कारण बन

---

१ न जातु काम कामाना उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
—महाभारत

अर्थात् कामनाओ के उपभोग से काम कभी शान्त नही होता तथा उपभोग से विषय-वासना बढती ही है, जैसे अग्नि की ज्वाला हवन-पदार्थों से बढ़ती है।

जाता है[1] तथा योगी के लिए विषय-वस्तु का सेवन विकास का साधन हो जाता है। भोगी अतृप्त होने के कारण सदैव अशान्त रहता है, योगी आत्मतृप्त होने के कारण सदैव शान्त रहता है। भोगी के लिए भोग विष है तथा योगी के लिए आवश्यक आहार। अतएव भोगी निर्मर्याद होता है तथा योगी मर्यादामय। इन्द्रियो के लिए उनके विषय आहार होते हैं। भोगी लिप्त होकर उनका उपभोग करता है तथा योगी अनासक्त होकर उपयोग करता है। भोगी का मन विषयासक्त होता है, योगी का मन निर्विषय होता है। भोगी असयम के कारण पराधीन ( विपयो के अधीन ) रहता है, योगी विवेक द्वारा सयम रखता है तथा स्वाधीन रहता है। भोगी नेत्र मूँदकर 'अति' कर देता है, योगी नेत्र खोलकर ( **इन्द्रियैः विषयान् चरन्** ) विषयो मे से गुजरता है। भोगी विषय-सागर मे डूब जाता है, योगी पार उत्तर जाता है। भोगी विषयो के भोग मे चचल एव उत्तेजनाग्रस्त हो जाता है, योगी शान्त रहता है। जिस प्रकार मछलियो की हलचल से समुद्र मे क्षोभ उत्पन्न नही होता, उसी प्रकार योगी के मन मे विषयो के सेवन से उत्तेजना नही होती। भोगी विषयो मे आसक्ति के कारण चिन्तित रहता है, योगी अनासक्त होने के कारण मस्त रहता है।

विषयो से निवृत्ति विषय-सेवन द्वारा ही होती है, क्योकि विष से ही विष-शमन होता है।[2] काँटे को काँटे से ही निकाला जाता है, मल को मल से ही धोया जाता है। इन्द्रियो को निराहार अथवा भूखा रखने पर मन की रुचि समाप्त नही हो सकती। विवेकपूर्वक आहार-सेवन से ही रुचि की तृप्ति तथा विषयो से निवृत्ति होती है। भगवद्-भक्ति के रसपान द्वारा गहन तृप्ति तथा विषयो से पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। कर्मयोगी विषयो का सेवन करते हुए उनका उपयोग करता है तथा वह प्रभु का चिन्तन करता है, विषयो का नही। उसकी वृत्ति भगवदाकार हो जाती है, विषयाकार नही रहती। विषय उसमे पतनकारक प्रमाद अथवा उन्माद उत्पन्न नही करते। कर्मयोगी विवेक के सहारे भुक्ति से मुक्ति, रति से विरति, राग से वैराग्य को प्राप्त कर लेता है। वह सकीर्ण एव स्वार्थमय ममत्व को घटाता है तथा आत्मीयता का विस्तार कर लेता है। कर्मयोगी के लिए गृहस्थाश्रम साधनाश्रम होता है, जिसके द्वारा वह विषय-सागर को कुशलतापूर्वक तैर करके पार कर सकता है तथा परमात्मा को प्राप्त हो सकता है।

वास्तव मे, राग का शमन होना आवश्यक है। राग अथवा आसक्ति मे कामना ( वस्तु को प्राप्त करने तथा सदा ग्रहण किये रखने की इच्छा ) उत्पन्न होती है। वन मे रहकर भी राग के कारण दोष उत्पन्न हो सकते हैं तथा गृहस्थाश्रम मे रहकर राग छोड़ने पर पाँच ज्ञानेन्द्रियो का तप ( अर्थात् इन्द्रियो का निरोध अथवा सयम ) हो सकता है।[1]

इन्द्रियो का विपयो की ओर दौड़ना स्वाभाविक है। इन्द्रियो की प्रवृत्ति मन मे सस्थित राग-द्वेष के अधीन होती है। यदि कर्मयोगी अपने मन को राग-द्वेष से विमुक्त कर ले तो इन्द्रियाँ भी राग-द्वेष-विमुक्त हो जाती हैं। आत्म-सयमी कर्मयोगी राग-द्वेष-रहित अर्थात् अनासक्त इन्द्रियो द्वारा विषयो मे विचरण करके मन की निर्मलता एव आन्तरिक प्रसन्नता को प्राप्त कर लेता है।

---

१ 'विषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना'

—सुग्रीव की उक्ति

'नाथ विषय सम मद कछु नाहीं,
मुनि मन मोह करइ छन माहीं'

—सुग्रीव की उक्ति

'विषय वश्य सुर नर मुनि स्वामी'

—सुग्रीव की उक्ति

२. **विषस्य विषमौषधम्**—विष का औषध विष है। **कण्टकं कण्टकेन**—काँटे को काँटे से ही निकाला जाता है।

१ वनेऽपि दोषा. प्रभवन्ति रागिणाम्।
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः॥

निर्मलता एव आन्तरिक प्रसन्नता के आते ही साधक के सारे दु ख मिट जाते हैं[१] तथा प्रसन्न चेतनावाले कर्मयोगी की बुद्धि स्थिर हो जाती है। वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है।

'प्रसाद' मे प्रभु-कृपा की ध्वनि है। 'प्रसाद' का अर्थ है सहज प्रसन्नता।[२] कर्मयोगी को प्रभु-कृपा से निरन्तर गहन आन्तरिक प्रसन्नता प्राप्त होती रहती है, जो सासारिक दु ख-सुख से परे होती है। दैवी प्रसन्नता निर्झर की भांति अवाध गति से उसके भीतर वहती रहती है। भक्त इस दैवी प्रसन्नता के कारण घोर दु ख एव कष्ट मे भी भीतर मस्त रहता है तथा विचलित नही होता।

**नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।**
**न चाभावयत शान्तिरशान्तस्य कुत· सुखम्॥६६॥**

**शब्दार्थ : अयुक्तस्य बुद्धि न अस्ति च अयुक्तस्य भावना न**—जिस मनुष्य के अन्त करण मे कर्मयोग की निष्ठा नही है तथा जिसका मन समाहित ( सयत ) नही है, ऐसे अयुक्त मनुष्य की कोई स्थिर अथवा निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती है और अयुक्त मनुष्य के ( अन्त करण मे ) भावना ( आत्मज्ञान मे भावना, भगवद्-भावना, उच्च एव उत्तम भावना ) भी नही होती है, **अभावयत शान्ति च न**—भावनारहित मनुष्य को शान्ति भी नही ( होती ), **अशान्तस्य सुख कुत**—अशान्त मनुष्य को सुख कहाँ ?

**वचनामृत** · कर्मयोग निष्ठारहित एव असयत मनवाले मनुष्य की बुद्धि स्थिर अथवा निश्चयात्मिका नही होती और उसके अन्त करण मे ( उच्च एव उत्तम ) भावना भी नही होती। ( उच्च एव उत्तम ) भावना न होने से मनुष्य को कदापि शान्ति नही मिलती और विना शान्ति के सुख कहाँ ?

सन्दर्भ : मन तथा इन्द्रियो के असयत होने पर शान्ति नही मिलती।

रसामृत . जो मनुष्य अयुक्त है ( 'मत्पर' नहीं है[१], कर्मयोग के अभ्यास द्वारा परमात्मा से युक्त नही है ) तथा विपयासक्त रहता है, उसकी बुद्धि कर्तव्य के सम्बन्ध मे कुछ निश्चय नही कर पाती। जिसके मन मे भोगो के प्रति आसक्ति भरी हुई है तथा जिसकी इन्द्रियाँ मन के असयत होने के कारण विपयो के पीछे-पीछे दौडती हैं, उसकी बुद्धि भी इधर-उधर भटकती रहती है तथा वह कोई निश्चय नही कर पाता। जहाँ मन और इन्द्रियो पर नियन्त्रण ही नही है, वहाँ बुद्धि भी चचल होती है। इसके अतिरिक्त, मन के असयत होने पर कोई उच्च एव उत्तम भावना ( परमात्मा की प्राप्ति आदि की भावना, भक्ति-भावना ) भी नही रह सकती। और, यदि उच्च एव उत्तम भावना ही न रहेगी तो चित्त को कदापि शान्ति नही मिल सकती। जिस मनुष्य के मन मे शान्ति नही होती अर्थात् जिसके मन मे व्याकुलता होती है, उसे ससार मे कही सुख का अनुभव नही हो सकता। मन और इन्द्रियो का असंयत होना समस्त दु खो का कारण है तथा उनका नियन्त्रण स्थायी सुख का सर्वोत्तम मार्ग है।

मन के नियन्त्रित होने से इन्द्रियो का नियन्त्रण होता है तथा मन एव इन्द्रियो के अनियन्त्रित होने पर तीव्र बुद्धि भी उनका खिलौना बनकर रह जाती है। परम बुद्धिमान् और विद्वान् मनुष्य भी मन के असयम के कारण भीषण कुकर्म कर बैठते हैं। बिखरे हुए मनवाले मनुष्य बुद्धिमान् होकर भी

---

१ तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातुप्रसादात् महिमानं ईशम्। —श्वेताश्वतर उप०, ३ २०
अर्थात् उस अक्रतु ( विषय-भोग-रहित ) आत्मा का अपने से अभिन्न रूप मे साक्षात्कार करनेवाले शोकरहित हो जाते हैं, इन्द्रियरूप धातुओ के प्रसाद ( निर्मलता, प्रसन्नता ) के कारण साक्षात्कार सम्भव होता है।

'संत हृदय जस निर्मल वारी'—सत का हृदय निर्मल जल के समान निर्मल होता है।

२. पतञ्जलि ऋषि योगसूत्र मे मुदिता का वर्णन करते हैं, जो प्रसाद ही का एक अन्य नाम है।

१ तानि सर्वाणि सयम्य युक्त आसीत मत्पर.। —गीता, २ ६१

जीवन मे कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नही कर पाते। अतएव मन को सयत करके इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना कर्मयोग के साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

पतनकारक विषयासक्ति एव भोग-वृत्ति को त्यागकर मन मे आध्यात्मिक भावना को प्रतिष्ठित करने से अर्थात् मन को ज्ञान, ध्यान और भक्ति द्वारा परमात्मा की ओर उन्मुख करने से, मन की वृत्तियो का प्रवाह परमात्मा की प्राप्ति की ओर हो जाता है तथा मन स्थिर एव सशक्त होकर इन्द्रियो पर नियन्त्रण कर लेता है। मन और इन्द्रियो के सयत होने पर बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। इस प्रकार मन और इन्द्रियो के सयत होने पर ही शान्ति एव आत्यन्तिक सुख ( गहरे सुख ) की अनुभूति होती है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ब्रह्मानन्द-रस अथवा चिदानन्द-रस की प्राप्ति करके कृतकृत्य हो जाता है।

वास्तव मे, शान्ति का उद्गम अपने भीतर ही है। जब मनुष्य विषय-वासना से मुक्त तथा उत्तम भावना ( सन्तोष-भावना, परमार्थ-भावना, परोपकार-भावना, आदर्श प्रेरक भावना, आध्यात्मिक भावना, भगवद्-भावना ) से युक्त होता है, मन मे शान्ति की अनुभूति होने लगती है, बुद्धि स्थिर हो जाती है और मनुष्य अपने को सुखी मानने लगता है। स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुष को सहज ही परम शान्ति उपलब्ध हो जाती है तथा वह आत्यन्तिक सुख ( परमानन्द ) मे स्थित हो जाता है।

**इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।**
**तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥**
**तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।**
**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥**

**शब्दार्थ :** हि अम्भसि वायुः नाव इव चरता इन्द्रियाणा यत् अनु मनः विधीयते=क्योकि जल मे वायु नौका को जैसे ( हर लेता है, वैसे ही विषयो में ) विचरण करती हुई इन्द्रियो के ( मध्य मे ) जिस ( इन्द्रिय ) के साथ ( पीछे ) मन होता है, तत् अस्य प्रज्ञा हरति=वह ( एक ही इन्द्रिय ) इस ( साधक ) की विवेक-बुद्धि को हर लेती है। तस्मात्=अतएव, महाबाहो=हे महान् भुजावाले अर्जुन, यस्य इन्द्रियाणि सर्वशः इन्द्रियार्थेभ्यः निगृहीतानि=जिस पुरुष की इन्द्रियाँ सब प्रकार से इन्द्रियो के विषयो से निगृहीत हैं ( वश मे हैं ) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता=उसकी बुद्धि स्थिर होती है, वह स्थितप्रज्ञ होता है।

**वचनामृत :** जिस प्रकार वायु जल मे चलनेवाली नाव का हरण कर लेती है, उसी प्रकार विषयो मे विचरण करनेवाली इन्द्रियो मे से वह एक ही इन्द्रिय, जिसके पीछे मन भी हो, मनुष्य की बुद्धि का हरण कर लेती है।[1] अतएव, हे महाबाहो, जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियो के विषयो से सब प्रकार निगृहीत हैं ( वश मे की हुई हैं ), उसकी बुद्धि स्थिर है अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ है।

**सन्दर्भ :** इन्द्रिय-सयम स्थितप्रज्ञ का प्रमुख लक्षण है तथा कर्मयोग के साधक के लिए आवश्यक सोपान है।

**रसामृत :** जब कोई इन्द्रिय सहचर मन के साथ अपने विषय के पीछे दौडती है तो वह मनुष्य की प्रज्ञा ( विवेक-बुद्धि ) का बलपूर्वक हरण कर लेती है तथा उसे भटकाकर उसकी दुर्गति कर देती है, जैसे प्रबल वायु जल मे नौका का हरण करके

१. कुछ टीकाकारो ने यह अर्थ किया है कि वायु की भाँति मन ही बुद्धि का हरण करता है। वास्तव मे श्रीकृष्ण इस तथ्य पर बल दे रहे हैं कि एक ही इन्द्रिय मन के साथ होने पर बुद्धि को भटका देती है और यदि सभी इन्द्रियाँ मन के साथ विषयासक्त हो तो बुद्धि की दुर्दशा हो सकती है। इन्द्रियो के संयम का उपदेश देने का आशय भी यही है कि मन को उनके विषयो से दूर हटा देना चाहिए, उन विषयो के प्रति अनासक्त कर देना चाहिए। हमे यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण जब किसी एक इन्द्रिय अथवा समस्त इन्द्रियो के सयम होने का उपदेश करते हैं तो उनका तात्पर्य उस इन्द्रिय अथवा इन्द्रियों के सम्बन्ध मे मन का सयम करना ही है, क्योकि इन्द्रियाँ मन के अनुसार ही कार्य करती हैं।

उसे कही दूर ले जाकर पटक देती है। अतएव जो मनुष्य अपनी इन्द्रियो को वश मे रख सकता है, वह विषयो के मध्य मे रहकर भी अविचलित रह सकता है तथा उसे स्थिरबुद्धि अथवा स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

ससार एक विशाल विषय-महासागर है। विषयानुगामी अथवा विषयलोलुप मनुष्य उसे पार नही कर पाता तथा अन्त मे, थककर एव हताश और दु खी होकर विलुप्त हो जाता है। विषय-रस मे अलिप्त रहनेवाला मनुष्य अविचल बुद्धि के सहारे विषयो के सागर को सरलतापूर्वक पार करके तट के दूसरी ओर दिव्यत्व का दर्शन कर सकता है। इन्द्रियो का सयम प्रज्ञा-लाभ की प्राप्ति के लिए उत्तम साधन है तथा इन्द्रियो का असयम अनर्थ का कारण होता है। विषयलिप्त मनुष्य की बुद्धि चचल एव भ्रमित रहती है तथा वह किसी उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति नही कर सकता। अनासक्त मनुष्य विषयो का आवश्यकतानुसार सेवन एव उपयोग करता है तथा उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

मनुष्य विषयानुराग का त्याग करके इन्द्रिय-निग्रह करने मे समर्थ होता है, क्योकि विषयानुराग से मुक्त बुद्धि अविचल एव स्थिर रहकर मन एव इन्द्रियो पर नियन्त्रण कर सकती है। अतएव स्वाध्याय, सत्सग, चिन्तन, ध्यान, प्रार्थना आदि के द्वारा विषयो के सुख की नश्वरता एव निस्सारता तथा आध्यात्मिक आनन्द की नित्यता एव सारमयता को समझने का प्रयास करना इन्द्रिय-निग्रह एव मनोनिग्रह के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को 'महाबाहु' कहकर यह सकेत कर रहे हैं कि वह सकल्प-शक्ति द्वारा आसक्ति छोडकर इन्द्रिय एव मन का सयम करने मे समर्थ है।

कर्मयोग का साधक सवेदनशील एव रसज्ञ होकर भी विषयो मे अलिप्त रहता है, जिस प्रकार जल मे रहते हुए भी कमल जल मे अलिप्त रहता है। विवेक द्वारा विषयासक्ति को परिममाप्त किया जा सकता है। 'मैं शरीर हूँ'—इस पशुभाव मे विषयासक्ति सन्निहित है। अपने को शरीर से अलग पहचानना, अपने को आत्मा मानना—यह ज्ञानमय पशुपतिभाव अथवा शिवभाव है, जिसमे असीम आनन्द सन्निहित है।

वास्तव मे रागादि भावो की उत्पत्ति का स्रोत हमारे भीतर ही है तथा बाह्य कारण केवल उनका उद्दीपन कर सकते हैं। इन्द्रियो के साथ मन के अनुगामी होने पर, बहिर्जगत् के पदार्थ इन्द्रियो की सवेदनशीलता के कारण ही मन को प्रिय-अप्रिय अथवा अनुकूल-प्रतिकूल प्रतीत होते हैं तथा मन ही रूप को सुन्दर अथवा असुन्दर, शब्द को मधुर अथवा कर्कश, गन्ध को प्रिय अथवा अप्रिय, रस को स्वादिष्ट अथवा अस्वादिष्ट, स्पर्श को मृदु अथवा कठोर मानकर स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है। भोग्य पदार्थों से इन्द्रियो के द्वारा मन के उद्दीप्त होने पर, मस्तिष्क एव देह मे प्रतिक्रिया होती है तथा फलस्वरूप अनेक रसायन और स्राव उत्पन्न होते हैं तथा ऊर्जा की विभिन्न तरगो का चक्र गतिशील हो जाता है, जिससे सुख दु ख की अनुभूति होना सम्भव हो जाता है। इन्द्रियो के भोग्य पदार्थों मे लिप्त होकर उपभोग करने से अतृप्ति एव उनका लोभ बढ जाते हैं, जैसे खुजलाने से खाज बढती ही चली जाती है। विषयरसानुरागी मन को भगवद्रसानुरागी[1] बनाने पर अथवा मन को उदात्त बनाकर, मानसिक शक्तियो को उत्तम दिशाओ मे प्रवाहित करने से आन्तरिक तृप्ति हो जाती है तथा ससार मनोज्ञ एव सुखद प्रतीत होने लगता है।

**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**
**यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥**

---

१ राम चरण पकज प्रिय जिन्हही,
विषय भोग वश करहि कि तिन्हही।

**शब्दार्थ : सर्वभूतानां या निशा तस्यां संयमी जागर्ति**—सारे प्राणियो के लिए जो रात्रि ( है ) उसमे योगी जागता है, **यस्यां भूतानि जाग्रति पश्यत· मुनेः सा निशा**—जिसमे सब प्राणी जागते है, ( तत्त्व को ) देखनेवाले मुनि के लिए वह रात्रि है ।

**वचनामृत :** सम्पूर्ण प्राणियो के लिए जो रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द के भाव मे स्थितप्रज्ञ योगी जागता है । जिस नश्वर ( क्षणभगुर ) सासारिक सुख-भोग मे सब प्राणी जागते है, आत्मतत्त्व को जाननेवाले मुनि ( स्थितप्रज्ञ ) के लिए वह रात्रि के समान है ।

**सन्दर्भ :** विषयासक्त भोगी तथा अनासक्त योगी का अन्तर स्पष्ट किया है। जागने और सोने का आलङ्कारिक अर्थ है ।

**रसामृत :** सामान्य मनुष्य पशु-स्तर पर जीवनयापन करता है तथा वह पशुओ की भाँति सोता-जागता है और भोग्य-पदार्थों के पीछे दौडते हुए जीवन-यात्रा को समाप्त कर देता है। सामान्य मनुष्य रात्रि का अन्धकार होने पर सो जाता है तथा सूर्योदय होने पर जाग जाता है । किन्तु योगी की दृष्टि मे देह का सोना-जागना महत्त्वपूर्ण नही है। योगी ज्ञान के प्रकाश को जागरण तथा अज्ञान के अन्धकार को सोना मानता है ।

स्थितप्रज्ञ योगी नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्द-अवस्था मे रहता है । वही उसकी बुद्धि का निरन्तर जागरण है ।[1] ससार के प्राणी जिस नश्वर सासारिक सुख मे जागते है वह कोई जागना नही है तथा वह आत्मतत्त्व के ज्ञानी अथवा स्थितप्रज्ञ महात्मा के लिए रात्रि के समान है, जिसमे वह सोता है। अनासक्त कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ-अवस्था को प्राप्त होकर निरन्तर अपने भीतर दिव्यता के आनन्द मे लीन रहता है तथा व्युत्थान की स्थिति मे उत्कृष्ट आचरण करता है। विषयानुरागी भोगलिप्त मनुष्य क्षणभगुर सासारिक सुखो के पीछे दौडता हुआ अपने स्वत्व एव सुख-शान्ति को भी खो बैठता है । जीवन मे जागरण ( विवेक की आँखो को खोले रखना, सत् और असत् का भेद समझकर सत् का ग्रहण एव असत् का त्याग करना, दिव्य चेतना से प्रचेतित होकर लोक मे व्यवहार करना ) योगी के जीवन का लक्षण है । विवेक का जागरण ज्ञान के प्रकाश मे जागना है, विवेक का अनुपयोग अथवा दुरुपयोग अज्ञान के अन्धकार मे सो जाना है । मनुष्य जब भी मोहनिशा के अन्धकार से जाग जाय तभी उसका सुप्रभात होता है—'जब जागे तभी सवेरा' । मनुष्य के लिए आत्म-जागरण ही प्रभात होता है। आत्म-जागरण का अर्थ है आत्मा के प्रकाश का सदुपयोग करना । आत्मा का प्रकाश मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर देता है । अपने भीतर स्थित दिव्य तत्त्व की अनुभूति मनुष्य के जीवन-स्तर को ऊंचे धरातल पर ला देती है तथा उसे सारी सृष्टि मगलमय प्रतीत होने लगती है। विषयलोलुप मनुष्य उलूक की भाँति होता है । जिस प्रकार उलूक दिन के प्रकाश मे सोता है तथा रात्रि के अन्धकार मे जागकर सक्रिय होता है, उसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य ज्ञान के प्रकाश मे सोता है तथा अज्ञान के अन्धकार मे जागकर सक्रिय होता है । विषय-लोलुपता के कारण वह अमगल की आशका, चिन्ता और भय से ग्रस्त रहता है। विषयासक्त मनुष्य विषयो के प्रति जागरूक रहता है तथा अनासक्त कर्मयोगी परम तत्त्व के प्रति जागरूक रहता है ।[1]

---

१ यो जागार तमृच. कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यान्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह—
तवाहमस्मि सख्ये न्योका । —ऋग्वेद

अर्थात् जो जाग गया है उसे वेद की ऋचाएँ चाहती हैं, जो जाग गया है उसे साम प्राप्त होते हैं । जो जाग गया है उसे सोम ( अमृतमय आनन्द ) कहता है—मैं तुम्हारा सखा हूँ ।

१ जर्मन महाकवि गेटे कहता है—शान्ति और सत्य का परस्पर सम्बन्ध ऐसा ही है, जैसा निद्रा और जागरण का ।

आत्मबुद्धिसम्पन्न तत्त्वद्रष्टा भौतिक पदार्थों की चकाचौंध से आकृष्ट अथवा प्रभावित नही होता तथा उनके ग्रहण, सचय एव सरक्षण की लालसा से मुक्त रहता है। तत्त्वज्ञान का उदय होने पर मनुष्य विषय-सुख की निस्सारता को समझकर भौतिक प्रपञ्च मे नही फँसता तथा आत्म-साक्षात्कार के दिव्य रसास्वादन को प्राप्त करने के लिए सजग एव सक्रिय रहता है। 'उठो, अज्ञान-निद्रा से जागो और उत्तम पुरुषो के पास जाकर बोध प्राप्त करो।'[1]

**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठ**
**समुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत्।**
**तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे**
**स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥**

**शब्दार्थ** . यद्वत् आपूर्यमाण अचलप्रतिष्ठ समुद्र आप प्रविशन्ति=जिस प्रकार सब ओर से पूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र के प्रति अनेक (नदियो के) जल (उसे चलायमान न करते हुए उसमे) समा जाते हैं, तद्वत् य सर्वे कामा प्रविशन्ति[2]=उसी प्रकार जिस (स्थिर बुद्धिवाले पुरुष के प्रति) समस्त भोग अथवा कामनाएँ (उसे बिना चलायमान किये हुए, उसमे बिना विकार उत्पन्न किये हुए) समा जाते हैं, स शान्ति आप्नोति कामकामी न=वह शान्ति को प्राप्त होता है, कामकामी (भोगो की इच्छावाला मनुष्य) नही।

**वचनामृत** · जैसे आपूर्यमाण (सब ओर से परिपूर्ण) होकर भी अचल रूप से अवस्थित समुद्र के भीतर (नदियो के) जलसमूह प्रवेश कर जाते है (उसमे समा जाते हैं तथा उसे चलायमान नही कर पाते), वैसे ही जिस मनुष्य मे सभी काम्य भोग (अथवा कामनाएँ) प्रवेश कर जाते हैं (अर्थात् उसमे समा जाते हैं तथा उसे विक्षुब्ध नही करते), वह परम शान्ति प्राप्त कर लेता है। कामासक्त (भोगो की इच्छावाला) मनुष्य कभी परम शान्ति प्राप्त नही कर सकता।

**सन्दर्भ** इस श्लोक मे तथा आगामी श्लोक मे (७०, ७१वे श्लोको मे) शान्ति प्राप्त करने का श्रेष्ठ सूत्र दिया गया है।

**रसामृत** . भगवान् श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ महात्मा की गहनता, पूर्णता एव समता को समुद्र की उपमा के द्वारा लक्षित किया है। जिस प्रकार समुद्र अथाह जल से भरा हुआ है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष भी अनन्त आनन्द-रस से परिपूर्ण होता है। वह समुद्र की भाँति अचल रहता है। क्षुद्र नदियो मे वर्षा ऋतु आने पर बाढ आ जाती है[1], झझावात आदि के कारण उनके जल मे उथल-पुथल हो जाती है तथा ग्रीष्म ऋतु मे नदियो का जल सूख जाता है। किन्तु प्रचुर जल आने पर समुद्र मे कोई बाढ नही आती तथा ग्रीष्म ऋतु मे जल सूख जाने के कारण वह क्षीण नही होता।[2] समुद्र सदैव अविचल रहता है। इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष भी प्रत्येक परिस्थिति मे अविचल रहता है। मान-सम्मान आदि के आने पर उसे हर्ष नही होता तथा उनके चले जाने पर उसे शोक नही होता। जिस वस्तु की कामना नही होती, उसके

---

१ उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
—कठ उप०, १ ३ १४

२ अनेक टीकाकारो ने इस श्लोक मे 'काम' का अर्थ 'कामना' नही किया, बल्कि भोग अथवा काम्य पदार्थ (विषय-सामग्री) किया है तथा 'कामकामी' का अर्थ 'काम्य पदार्थों की इच्छा करनेवाला' किया है। वास्तव मे दोनो अर्थ भिन्न नही हैं, क्योकि उनका तात्पर्य एक ही है।

१ क्षुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहु धन खल इतराई॥

२ रत्नैरापूरितस्यापि मदलेशोऽस्ति नाम्बुधे।
मुक्ता कतिपय प्राप्य मातगा मदविह्वला॥
—रत्नो से भरा रहने पर भी समुद्र मदोन्मत्त नही होता, किन्तु एक-दो मोती पाकर ही हाथी मदमत्त हो जाता है। क्षुद्र मनुष्य थोडा-सा कुछ भी पाकर इतराने लगता है।

छूट जाने पर मनुष्य को शोक भी नही होता। वह अनुकूल परिस्थिति मे बौराता नही है तथा प्रतिकूल परिस्थिति मे बौखलाता नही है। कोई परिस्थिति उसमे विकार अथवा विक्षोभ उत्पन्न नही कर सकती तथा वह सदैव एकरस रहता है। समुद्र की भाँति उसकी प्रतिष्ठा ( स्थिति ) अचल होती है तथा वह कभी अपनी मर्यादा का त्याग नही करता। वह सयोग-वियोग, लाभ-हानि, जीवन-मरण, यश-अपयश आदि से परे होता है तथा सदैव निर्द्वन्द्व एव सम रहता है।

यह निर्विवाद है कि सुख और दुःख का मूल कारण बाहर नही होता है। बाहर के पदार्थ सुख और दुःख को उत्पन्न नही कर सकते तथा केवल उद्दीपन कर सकते है। सुख और दुःख मनुष्य के भीतर की अनुभूतियाँ है। यदि बाहरी कारणो मे अर्थात् धन, सत्ता आदि बाहरी भोग्य पदार्थों मे सुख देने की क्षमता होती तो धनवान् तथा सत्तावान् मनुष्य सदैव सुखी रहते। भौतिक पदार्थ केवल क्षणिक सुख देते हैं तथा उनके साथ चिन्ता और भय तथा निराशा और क्रोध जुडे रहते है। भोग्य पदार्थों का मोहमय अर्जन, सचय और सरक्षण मनुष्य को भटका देता है। अतएव विवेकशील पुरुष सावधान होकर उनका उचित मात्रा मे सेवन अथवा उपयोग करते है, किन्तु उनके भोग मे आसक्त अथवा लिप्त नही होते। भोग्य पदार्थों की लोलुपता मनुष्य को स्वार्थी और सकीर्ण बना देती है तथा उनका अतिभोग मनुष्य को क्षीण बना देता है, किन्तु तृप्ति नही देता। विवेकहीन भोग वासना एव लिप्सा को बढाकर मनुष्य को व्याकुल कर देता है। विवेक मनुष्य की मनोवृत्ति एव दृष्टिकोण को स्वस्थ एव परिष्कृत बनाकर उसे पथभ्रष्ट होने से बचा देता है। सरल एव सात्त्विक होने पर तथा परमात्मा के साथ जुडकर अनासक्त भाव से कर्तव्य-कर्म करने पर, मनुष्य के भीतर ही अक्षय सुख उत्पन्न हो जाता है। सुख एक अन्तर्जनित अनुभूति होती है तथा उसे बाहर से लाकर थोपा नही जा सकता। गहन आत्यन्तिक एव स्थायी सुख, जिसे आनन्द कहते हैं, परमात्मा के साथ योग होने पर ही प्राप्त होता है।

विवेकशील मनुष्य स्वाध्याय, सत्सग, चिन्तन-मनन के द्वारा अपनी बुद्धि को जागरित कर लेता है तथा ज्ञान एव भक्ति के सहारे सुतृप्त, आत्मकाम एव पूर्णकाम हो जाता है। स्थितप्रज्ञ महात्मा समुद्र की भाँति रसपरिपूर्ण होता है, जिसे आत्म-तृप्ति के लिए बाहर के भोगो की आवश्यकता नही होती। वह भोगो के पीछे नही दौड़ता, वल्कि भोग ही उसके पीछे दौडते है तथा उसके भीतर बिना विकार एव विक्षोभ उत्पन्न किये हुए ऐसे समा जाते हैं, जैसे अनेक नदियो के जल समुद्र मे बिना उसे चलायमान किये हुए समा जाते हैं।[1] वास्तव मे कामना-त्याग करने पर मनुष्य अचल शान्ति प्राप्त कर लेता है। काम्य वस्तुओ अर्थात् इन्द्रियो को क्षणिक सुख देनेवाले भोग्य पदार्थों ( अथवा विषय-समूह ) के पीछे भागनेवाले मनुष्य को जीवन

---

१ **'सरिता जल जलनिधि महुँ जाई,**
**होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।'**

—नदी का जल समुद्र मे जाकर अचल हो जाता है, जैसे जीव परमात्मा को पाकर।

**'जिमि हरि जन हिय उपज न कामा'**

—भगवान् के भक्त के हृदय मे काम उत्पन्न नही होता।

**'जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना,**
**जिमि इन्द्रिय गन उपजे ग्याना'**

—इन्द्रियाँ आत्मज्ञान के उत्पन्न होने पर शान्त हो जाती हैं।

**'जिमि सरिता सागर महँ जाही,**
**जदपि ताहि कामना नाही।**
**तिमि सुख सम्पति बिनहिं बोलाए,**
**धरमसील पहिं जाहिं सुभाए॥'**

—नदियाँ सागर में जाती हैं, यद्यपि उन्हे कामना नही होती। अनासक्त होने पर मनुष्य के पास भी सुख-सम्पत्ति इसी प्रकार स्वय चले जाते हैं तथा उसके मन मे विक्षोभ ( गर्व इत्यादि ) उत्पन्न नही करते।

मे कदापि शान्ति प्राप्त नही होती। कामना-त्याग करना अथवा अनासक्त होना शान्ति का मार्ग है तथा काम्यविषयो के पीछे भागना अशान्ति का मार्ग है।

**विहाय कामान्य. सर्वान्पुमाश्चरति नि.स्पृह ।**
**निर्ममो निरहंकार· स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥**

**शब्दार्थ .** य पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निर्मम निरहंकार नि.स्पृह चरति=जो मनुष्य समस्त कामनाओ को त्यागकर ममता रहित, अहकार-रहित, स्पृहा-रहित ( होकर ) कार्य अथवा आचरण करता है, स शान्ति अधिगच्छति=वह शान्ति को प्राप्त होता है।

**वचनामृत :** जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओ को त्यागकर तथा ममता-रहित, अहकार-रहित और स्पृहा-रहित ( लालसा-रहित ) होकर व्यवहार करता है, वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

**सन्दर्भ .** श्रीकृष्ण अर्जुन को शान्ति प्राप्त करने का मार्ग बताते हैं।

**रसामृत :** ससार मे सभी मनुष्य शान्ति चाहते हैं, किन्तु विरले लोग ही शान्ति प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन को शान्ति प्राप्त करने का अमोघ उपाय बताते हैं, जिसका अनुसरण करने पर मनुष्य अविचल शान्ति प्राप्त कर सकता है। मन को कामनाओ से विमुक्त करना शान्ति का मार्ग है तथा मन को कामनाओ से ग्रस्त करना अशान्ति का मार्ग है। कामना का शमन ही शान्ति है। कामनाएँ मन और इन्द्रियो को विषयो ( भोग्य पदार्थों, भौतिक वस्तुओ ) के पीछे दौडाकर मनुष्य को भटका देती है। कामनाओ के शान्त होने पर मन और इन्द्रियो पर सरलता से सयम हो जाता है तथा मनुष्य को शान्ति प्राप्त हो जाती है। सम्पूर्ण कामनाओ का त्याग परम शान्ति प्रदान कर देता है।

कामना बन्धन का कारण है तथा कामनामुक्त मनुष्य स्वाधीन एव मुक्त होता है। क्या मनुष्य को जीवन की कामना भी छोड देनी चाहिए ? जीवन की इच्छा होने पर मृत्यु का भय उत्पन्न हो जाता है तथा जीवन की इच्छा का भी त्याग कर देना कर्मयोगी की साधना मे सहायक सिद्ध होता है। जीवन की इच्छा और उसके साथ सयुक्त मृत्यु का भय मनुष्य को निर्भय एव समरस नही रहने देते। कर्मयोगी जीवन को परमात्मा की देन मानकर उसका सदुपयोग करता है तथा वह जीवन का मोह नही करता, किन्तु वह जीवन का महत्त्व अवश्य समझता है। वास्तव मे, जीवन की इच्छा का भी त्याग करने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को काम्य पदार्थों के भोग के लिए जीवन की इच्छा नही करनी चाहिए, वल्कि उच्चादर्शों के पालन के लिए तथा कर्तव्य-कर्म करते रहने के लिए जीवन का सदुपयोग करना चाहिए। 'हम स्वस्थ रहकर सौ वर्ष जीने की कामना करें' का तात्पर्य है कि हम जीवन का महत्त्व समझकर वृद्धावस्था तक उसका पूर्ण सदुपयोग करें।'

वास्तव मे, भौतिक पदार्थों के सचय और उनके भोग की स्वार्थमय कामना दु खदायक एव त्याज्य है। स्वार्थमय एव पापमय इच्छाओ की अपेक्षा परमार्थमय एव पुण्यमय कामना करना कही

---

१ 'शत च जीव शरद पुरूची रायस्पोषमभि सव्ययस्व' —वेद

अर्थात् सौ वर्ष तक जियो और ऐश्वर्यपूर्ण एव स्वास्थ्यपूर्ण जीवन का उपभोग करो।

पश्येम शरद शत जीवेम शरद शत
श्रृणुयाम शरद शतम् ।
प्रब्रवाम शरद शत शतमदीना स्याम शरद शत
भूयश्च शरद शतात् ॥

—यजुर्वेद, ३६ २४

—हे प्रभो, हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वष तक जीयें, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक प्रवचनशील बने रहे, सौ वर्ष तक कभी किसीके सामने दीन न हो।

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शत समा**

—ईशावास्य उप०

अर्थात् कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करें।

अधिक श्रेयस्कर है तथा उत्तम कार्य के लिए जीवन की कामना करना भी श्रेयस्कर है, किन्तु कर्मयोग के साधक को धीरे-धीरे जीवन की कामना का भी त्याग कर देना चाहिए। कर्मयोगी को जीवन की भी इच्छा छोडकर तब तक कर्म करते रहना चाहिए, जब तक प्रभु जीवन दे। कर्मयोगी जीवन का महत्त्व समझकर उसका पूर्ण सदुपयोग करता है, किन्तु उसका मोह नही करता।

कामनाएँ कभी क्षीण नही होती तथा वे भोग से तरुण होती रहती है।[1] विवेकशील मनुष्य कामनाओ का बरबस दमन नही करता, बल्कि उनका प्रवाह-परिवर्तन करके उन्हे उदात्त बना देता है। कामना का नाश सम्भव नही होता तथा मन एव इन्द्रियो का भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़ना स्वाभाविक है। कामना का उदात्तीकरण ही कामना का विनाश है। विवेकशील व्यक्ति सन्तोष द्वारा कामनाओ का शमन करके आध्यात्मिक साधना द्वारा उन्हे ऊँचे धरातल पर ला देता है।[2] ज्ञान एव भक्ति द्वारा कामना का उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण हो जाता है। 'मैं आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ, देह नही हूँ'[3]—यह ज्ञान है, तथा 'मैं प्रभु का दास हूँ ( यन्त्र हूँ ) तथा सब कुछ प्रभु का ही है'—यह भक्ति है।

कामनाएँ मुख्यत इन्द्रियो की तृप्ति, ममत्व तथा अहकार पर आधारित होती है। स्वादिष्ट भोजन, सुन्दर रूप, मधुर शब्द, सुगन्धि, मृदुस्पर्श इत्यादि के सुख की लालसा इन्द्रियो की तृप्ति की कामना के कारण होती है। धन-सम्पदा आदि बटोरने की लालसा ममत्व अथवा स्वामित्व की कामना के कारण होती है। सत्ता, सम्मान तथा यश की लालसा अहकार की तृप्ति की कामना के कारण होती है। मनुष्य विवेकपूर्वक सन्तोष धारण करके इन्द्रियो के सुख की कामना से मुक्त हो सकता है। विवेकरहित उपभोग से काम की तृप्ति नही होती, बल्कि वृद्धि हो जाती है, जैसे घृत डालने से हवन की अग्नि शान्त नही होती, बल्कि उद्दीप्त हो जाती है।[1] मनुष्य सब कुछ प्रभु का ही मानकर, ममत्व से उत्पन्न कामना से मुक्त हो सकता है। **'इदं न मम'** ( यह मेरा नही है, परमात्मा का है ), इस भावना से मनुष्य ममत्व ( यह मेरा है ) से मुक्त हो जाता है। देहाभिमान छोडने पर मनुष्य अहकार से उत्पन्न कामना से मुक्त हो सकता है। ममत्व और अहकार का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। ममत्व से अहकार की वृद्धि होती है। अहकार मनुष्य के विकास को अवरुद्ध कर देता है। अहकारयुक्त मनुष्य श्रद्धारहित होता है तथा ग्रहणशील नही रहता। अहकार के कारण मनुष्य प्रतिष्ठा और सम्मान पाने के कुचक्र मे फँस जाता है तथा अपमान होने पर उसे पीडा और व्यथा का अनुभव होता है। अहकार मनुष्य को लोक एव परमात्मा से दूर कर देता है। 'मैं बुद्धिमान् हूँ, मैं रूपवान् हूँ, मैं गुणवान् हूँ, मैं सत्ताधारी हूँ', यह

---

१ **तृष्णैका तरुणायते**—तृष्णा तरुण होती रहती है।

**अन्तो नास्ति पिपासाया सन्तोष. परमं सुखम्।**
**तस्मात् सन्तोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिता:॥**
—व्यास

अर्थात् तृष्णा का कोई अन्त नही होता। सन्तोष ही परम सुख है। अत विवेकीजन सन्तोष को ही इस लोक मे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

**सन्तोषादनुत्तमसुखलाभ.**।—सन्तोष से बढकर कोई सुख नही है।

२ **'बिनु सन्तोष न काम नसाहीं'**।—सन्तोष के बिना काम का नाश नही होता।

३ **चिदानन्दरूप. शिवोऽहं शिवोऽहम्**।—मैं चित्स्वरूप आनन्दस्वरूप शिव हूँ।

---

१. **बुझै न काम अगनि तुलसी कहुँ विषयभोग बहु घी ते॥**

**न जातु कामः कामाना उपभोगेन शाम्यति।**
**हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥**

अर्थात् काम्य पदार्थों के उपभोग से विषय वासना बढ़ती है, जैसे अग्नि की ज्वाला हवन-पदार्थों से बढ़ती है।

अहकार मनुष्य को क्रूर एव कठोर बनाकर सत्करणीय नही होने देता तथा मन को विकृत कर देता है। अहकारी मनुष्य दानादि पुण्यकर्म द्वारा भी अपने अहकार की ही तुष्टि करता है। अहकार स्वाभिमान से सर्वथा भिन्न होता है।[1] निरहकार मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

योगी नि स्पृह होता है। स्पृहा कामना का सूक्ष्म रूप होता है। स्थितप्रज्ञ महात्मा सम्पूर्ण भोग-वासना का परित्याग कर देता है तथा वह स्पृहारहित, ममत्वरहित और अहकाररहित होता है। स्थितप्रज्ञ महात्मा परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

**एषा ब्राह्मी स्थिति· पार्थ नैना प्राप्य विमुह्यति।**
**स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२॥**

**शब्दार्थ** **पार्थ एषा ब्राह्मी स्थिति** =हे अर्जुन, यह ब्रह्म को प्राप्त स्थिति है, **एना प्राप्य न विमुह्यति**=इसे प्राप्त करके मोहित नही होता है, **अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाण ऋच्छति**=अन्तकाल मे भी इसमे स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण ( अखण्ड ब्रह्मानन्द ) को प्राप्त हो जाता है।

**वचनामृत** हे अर्जुन, यह ब्रह्म को प्राप्त होनेवाले स्थितप्रज्ञ पुरुष की स्थिति है। इसे प्राप्त होकर वह मोहित नही होता तथा अन्तकाल मे भी इसमे स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण ( ब्रह्मानन्द अथवा मोक्ष ) को प्राप्त हो जाता है।

**सन्दर्भ** · स्थितप्रज्ञ के जीवनकाल तथा उसके अन्तकाल की अवस्था का वर्णन है।

**रसामृत** · स्थितप्रज्ञ महात्मा अहता-ममता( 'मैं और मेरा' का अहकार ), आसक्ति, कामना आदि के बन्धन को तोडकर निर्बन्ध हो जाता है, लाभ-हानि, जीवन-मरण, यश-अपयश, सुख-दु ख आदि के द्वन्द्वो से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व हो जाता है तथा सच्चिदानन्द परमात्मा के योग मे निरन्तर निमग्न होकर परम शान्ति से परिपूर्ण रहता है। यह परमब्रह्म को प्राप्त अथवा परमब्रह्म मे निरन्तर अवस्थित जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ महात्मा की ब्राह्मी स्थिति है। ससार की घटनाएँ उसके मन की अविचल शान्ति को भग नही कर सकती। वह मोह ( अज्ञान ) के चक्र मे नही फँसता। जीवन के अन्त मे शरीर का त्याग करने पर वह परमात्मा के चैतन्य स्वरूप मे स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त हो जाता है।[1] कर्मयोग का साधक साधना द्वारा स्थितप्रज्ञ की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

**ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे साख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्याय।**

इस प्रकार महाभारतीय भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् मे ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सवाद मे साख्ययोगनामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

---

१ मानो हि महता धनम्।
—स्वाभिमान ( शुद्धाचरण द्वारा चरित्र की रक्षा करना ) महापुरुषो का धन होता है।

१ अनेक वैष्णव आचार्यों के अनुसार ब्रह्मनिर्वाण का अर्थ भगवद्धाम ( गोलोक इत्यादि ) को प्राप्त होना है। गीता मे एक ही आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति को अनेक प्रकार से कहा गया है

ब्रह्मनिर्वाण–२ ७२, ब्रह्मनिर्वाण–५ २४, निर्वाण परमाशान्ति–६ १५, परमगति–८ १३, अमृत–१३ १२, अव्ययपद–१५ ५, परमधाम–१५ ६, समिद्धि–१८ ४५, पराशान्ति, शाश्वत स्थान–१८ ६२।

## सार-संचय

### द्वितीय अध्याय : सांख्ययोग

दूसरे अध्याय का नाम 'साख्ययोग' 'अर्थात् ज्ञानयोग है। वास्तव मे, इस अध्याय का मुख्य विषय कर्मयोग है। श्रीकृष्ण ने कर्मयोग की स्थापना ज्ञानयोग के प्रकाश में की है। अतएव इस अध्याय के प्रारम्भ मे आत्मा के स्वरूप की विवेचना की गयी है। श्रीकृष्ण ने अनेक युक्तियो से निष्काम भाव से स्वधर्म-पालन करने पर बल दिया है। निष्काम भाव से अर्थात् अनासक्त होकर अथवा फल मे आसक्ति छोडकर कर्म करने से चित्त-शुद्धि हो जाती है तथा चित्त-शुद्धि होने पर आत्मज्ञान का उदय हो जाता है। कर्मयोगी निष्काम कर्म के अभ्यास से स्थितप्रज्ञ-अवस्था को प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो जाना है। श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय मे प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त के इसी सूत्र का विस्तार शेष अध्यायो मे किया है। पाँचवें अध्याय मे जीवन्मुक्त का, छठे मे आत्मसयमी योगी का, बारहवे में भक्त का, चौदहवे मे गुणातीत का, अठारहवे मे ज्ञाननिष्ठ का वर्णन भी स्थितप्रज्ञ महापुरुष के वर्णन के सदृश ही है। स्थितप्रज्ञ मनुष्य गीता का आदर्शपुरुष है। अतएव इसका विशेष महत्त्व है। जो सिद्ध स्थितप्रज्ञ महात्मा के लक्षण है, वे ही कर्मयोग के साधक के लिए साध्य अथवा प्राप्य हैं।

जीवन सीधी रेखा के समान सरल अथवा समतल नही है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे उतार-चढाव, दु ख-सुख, हानि लाभ और निन्दा-स्तुति आते हैं। किन्तु यह एक विडम्बना है कि प्रत्येक मनुष्य समझता है कि ससार मे उससे बढकर दु खी अन्य कोई व्यक्ति नही है। अविवेकी मनुष्य विषम परिस्थिति अथवा सकट आने पर व्याकुल होकर उसके सामने घुटने टेक देता है तथा परास्त होकर कर्तव्य-कर्म से पलायन कर देता है। अविवेकी मनुष्य समुचित पुरुषार्थ न करने के कारण दुर्दशा को प्राप्त हो जाता है। वह न केवल शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो जाता है, वल्कि अपनी तथा लोक की दृष्टि मे भी अपमानित होकर नीचे गिर जाता है। विवेकी मनुष्य साहसपूर्वक उठ खडा होकर चुनौती को स्वीकार कर लेता है तथा पूरी शक्ति से परिस्थिति का सामना करता है। कर्मवीर के लिए हार भी जीत होती है। मनुष्य के लिए कर्म करना परमात्मा की आज्ञा पालन करना है। कर्म से बचकर भागनेवाला कायर परमात्मा के कोप का तथा डटकर कर्म करनेवाला कर्मवीर परमात्मा की कृपा का भाजन होता है। जो परमात्मा की प्रसन्नता के लिए कर्म करते है, वे मानो परमात्मा का काम करते है तथा परमात्मा उनके हित की रक्षा स्वय करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि कर्मयोगी का धर्म है कि वह परिस्थिति से कदापि पलायन न करे और डटकर उसका सामना करे।[1] निस्तेज होकर भूमि पर पडे हुए शार्दूल तथा गजराज को काक और शृगाल सताने लगते हैं, विषधर भुजग को चीटी खीचने लगती है तथा निस्तेज अग्नि को बच्चे भी पैर से रौद देते है।

श्रीकृष्ण अर्जुन से कर्म करने की विधि का विवेचन करते हुए कहते हैं कि फल की इच्छा छोडकर अनासक्त भाव से कर्तव्य-कर्म करनेवाला

---

१ अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्।
—अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएँ थी (१) दीन होकर न गिडगिडाना और (२) विषम परिस्थिति के सामने से न भागना, वल्कि डटकर सामना करना।

मनुष्य सदैव अपना सन्तुलन बनाये रख सकता है अर्थात् समबुद्धि रह सकता है। कर्मयोगी विवेक, साहस, धैर्य और दृढता से युक्त होकर स्वधर्म का पालन करता है। वह फल के सम्बन्ध मे चिन्ता नही करता, क्योकि फल सदैव ईश्वराधीन होता है। कर्मयोगी प्रभु के विश्वास एव भक्ति मे दृढ रहता है तथा कभी निराश नही होता। वह कर्म के फल को ईश्वर का विधान मानकर स्वीकार करते हुए सन्तोष धारण कर लेता है। कर्मयोगी आत्मज्ञान का सहारा लेकर तथा सत् और असत् का भेद करके, इन्द्रियो के भोग्य पदार्थों के प्रति अनासक्त हो जाता है। वह विषयो का सेवन एव उपयोग करता है, किन्तु उनमे लिप्त नही होता। वह ज्ञान और भक्ति के सहारे विवेक द्वारा मन एव इन्द्रियो का सयम कर लेता है। ससार के समस्त भोग बिना विचलित किये हुए उसमे समा जाते हैं। कर्मयोगी अपने भीतर निरन्तर गहरी शान्ति का अनुभव करता है। उसे कामनाएँ नही सताती। वह लोकप्रियता एव यश की कामना भी नही करता। लोकप्रियता एव यश की कामना मनुष्य को न केवल कर्तव्य-कर्म से विचलित कर देती है, वल्कि अशान्त भी कर देती है। कर्मयोगी भोग से त्याग की ओर, स्वार्थ से परमार्थ की ओर, सकीर्णता से उदारता की ओर, कुटिलता से सरलता की ओर तथा मोह से व्यापक प्रेम की ओर बढता रहता है।

कर्मयोग की साधना का प्रारम्भ परिवार तथा पडोस से होता है। मनुष्य परिवार मे प्रेम, उदारता, सेवा और त्याग का पाठ सीखकर व्यक्तित्व का विकास करता है तथा समाज के लिए उपयोगी वनता है। एक-दूसरे के स्वभाव एव विचार को समझकर तथा एक-दूसरे के प्रति प्रेम तथा आदर करते हुए परिवार मे मधुरता का वातावरण वनाना चाहिए। सुखी परिवार धरती का स्वर्ग होता है। सकीर्णता एव वैमनस्य के कारण 'मेरा-तेरा' के झगड़े घरेलू वातावरण को विषाक्त कर देते हैं। परस्पर कलह परिवार को नरक बना देता है। परस्पर कलह परिवार के वातावरण को तनावपूर्ण बना देता है। कलह का सबसे बुरा प्रभाव बच्चो पर पडता है। एक-दूसरे के गुणो की सराहना न करके तथा गुणो की उपेक्षा करके, एक-दूसरे के दोषो पर ही दृष्टि रखना तथा एक-दूसरे को मूर्ख अथवा बुरा सिद्ध करने का प्रयास करना परिवार को पतनोन्मुख करके उसकी शान्ति भग कर देता है। सहनशीलता, क्षमा, सेवा और त्याग परिवार के वातावरण को सुखद बना देते है। मनुष्य परिवार मे ही नियम, सयम, मर्यादा तथा ईमानदारी का महत्त्व सीखता है तथा परिवार के लिए उपयोगी होकर समाज के लिए उपयोगी बन जाता है। परिवार व्यक्ति को कर्तव्य के प्रति जागरूक वना देता है। परिवार समाज की प्रमुख इकाई होता है तथा व्यक्ति और समाज के बीच की महत्त्वपूर्ण कडी है।

कर्मयोग की साधना मनुष्य को परमात्मा के चिन्मय एव आनन्दमय स्वरूप मे स्थित कर देती है। कर्मयोग गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है तथा ज्ञान एव भक्ति स्वतन्त्र होकर भी इसके पोषक हैं। ज्ञान एक दिव्य प्रकाश है तथा भक्ति दिव्य रस-धारा है। ज्ञान के आलोक तथा भक्ति के रस के बिना कर्मयोग की साधना पूर्ण नही होती। ●

---

अशान्ति के समय स्थितप्रज्ञ-दर्शन के अन्तर्गत १९ श्लोको को (यथासम्भव अर्थसहित) पढने से शान्ति प्राप्त होती है।

किसी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने से पूर्व स्थितप्रज्ञ-दर्शन के अन्तर्गत सभी श्लोको को (यथासम्भव अर्थ-सहित) पढना लाभकारी होता है।

# अथ तृतीयोऽध्यायः

## कर्मयोग

अर्जुन उवाच

**ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।**
**तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥**
**व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।**
**तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच = अर्जुन ने कहा, **जनार्दन** = हे श्रीकृष्ण, **चेत् कर्मण बुद्धिः ते ज्यायसी मता** = यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान आपके ( विचार से ) श्रेष्ठ मान्य ( है ), **तत् केशव मा घोरे कर्मणि किं नियोजयसि** = तो हे श्रीकृष्ण, मुझे भयकर कर्म मे क्यो लगाते हैं ? **व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसि इव** = आप मिले हुए-से वचन से मेरी बुद्धि को विभ्रान्त-सा कर रहे है, **तत् एक निश्चित्य वद** = ( अतएव ) उस एक ( सिद्धान्त ) को निश्चित करके कहिये, **येन अहं श्रेयः आप्नुयाम्** = जिससे मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूँ ।

**वचनामृत :** अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—हे जनार्दन, यदि आपके विचार से कर्मों की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर, हे केशव, आप मुझे भयकर कर्म मे क्यो लगाते हैं ? आप मिश्रित ( अस्पष्ट ) वचन से मेरी बुद्धि को भ्रमित-सा कर रहे है । अतएव, उस एक सिद्धान्त को निश्चित करके कहिये, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूँ ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण के उपदेश को अर्जुन ने स्पष्टत नही समझा तथा वह स्पष्ट आदेश चाहता है ।

**रसामृत :** अर्जुन एक सच्चा जिज्ञासु है । वह तथ्य को वास्तव मे ग्रहण करना चाहता है तथा वह अपनी शका को श्रीकृष्ण के सामने प्रस्तुत कर देता है । उत्तम शिष्य का कर्तव्य है कि यदि कोई बात स्पष्ट समझ मे न आती हो तो वह शका का समाधान होने तक प्रश्न पूछता रहे । उपदेश एव आदेश को पूर्णरूपेण समझने पर ही उसका पालन हो सकता है ।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया तथा उसने ज्ञान का आशय कर्म से निवृत्ति समझा । श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अनेक बार कर्म करने का भी उपदेश दिया, जिसे उसने कर्म मे प्रवृत्ति का सकेत समझा । अतएव वह भ्रान्त हो गया कि उसे कर्म से निवृत्त हो जाना चाहिए अथवा कर्म मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए ।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"कर्म करने मे तेरा अधिकार है,"[1] किन्तु पुन कहा—"बुद्धियोग की अपेक्षा ( सकाम ) कर्म अत्यन्त तुच्छ है, तू बुद्धि की शरण ग्रहण कर ।"[2] अर्जुन ने बुद्धियोग तथा बुद्धि का अर्थ तत्त्वज्ञान समझा तथा उसने इसे कर्म से निवृत्ति अर्थात् कर्म छोडकर ज्ञान की शरण लेना समझा । वास्तव मे, 'बुद्धियोग' तथा 'बुद्धि' का अर्थ 'समत्वबुद्धि' अर्थात् समभाव मे स्थित होकर कर्म करना था । 'बुद्धि' का अर्थ

१ कर्मण्येवाधिकारस्ते । —गीता, २ ४७

२ दूरेण ह्यवर कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
—गीता, २ ४९

अनेक टीकाकार बुद्धियोग एव बुद्धि का अर्थ 'ज्ञान' ही करते हैं । वास्तव मे बुद्धियोग ( अथवा बुद्धि ) कर्मयोग का ही वाचक है ।

'ज्ञान' समझ लेने पर उसे यह भ्रान्ति हो गयी थी। उसे यह भ्रम हो गया कि श्रीकृष्ण ज्ञान को उत्तम तथा कर्म को तुच्छ कह रहे है एव कर्म की निन्दा कर रहे हैं। अतएव उसने स्पष्टत कहा—"हे श्रीकृष्ण, आप परस्पर विरोधी, भ्रामक तथा मिले-जुले वचन कहकर मेरी बुद्धि को भ्रमित कर रहे हैं। मैं अल्पबुद्धि हूँ। हे दयामय, मेरे लिए आप यह निश्चित करके बताये कि मेरा कल्याण किस प्रकार होगा, कर्म छोडकर ज्ञान का आश्रय लेने से या कर्म का अवलम्बन करने से।"

अर्जुन के मन मे युद्ध करने के प्रति अब भी अरुचि है। वह श्रीकृष्ण से कहता है—"हे श्रीकृष्ण, यदि आत्मज्ञान के मार्ग का अवलम्बन करने से मेरा कल्याण होना सम्भव हो तो आप मुझे भयकर हिंसात्मक युद्ध के लिए क्यो प्रेरित कर रहे है ?" सशयग्रस्त अर्जुन युद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण का अभिमत एव आदेश स्पष्टत लेना चाहता है। अर्जुन उत्तम कोटि का जिज्ञासु एव शिष्य है।

श्रीभगवानुवाच

**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।**
**ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥**

शब्दार्थ . श्रीभगवानुवाच=श्री भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, अनघ=हे निष्पाप ( अर्जुन ), अस्मिन् लोके द्विविधा निष्ठा मया पुरा प्रोक्ता=इस लोक मे दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले ही ( दूसरे अध्याय मे ) कही गयी है, सांख्यानां ज्ञानयोगेन योगिनां कर्मयोगेन=ज्ञानियो की ज्ञानयोग से ( तथा ) योगियो की कर्मयोग से।

वचनामृत : हे निष्पाप ( पवित्रात्मा ) अर्जुन, इस लोक मे मेरे द्वारा दो प्रकार की निष्ठा पहले कही गयी है—ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और योगियो की कर्मयोग से।

सन्दर्भ : दो प्रकार की निष्ठाओ का कथन है।

रसामृत : उपदेष्टा गुरु अपने शिष्य की प्रशंसा करके न केवल उसके सद्गुणो को प्रोत्साहन देता है, बल्कि उसे अपने सन्निकट ले आता है। श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ सवाद करते हैं तथा यह प्रतीत नही होने देते कि वे उसे उपदेश कर रहे है। श्रीकृष्ण उसे अनेक उपाधियाँ देकर उसके मन मे यह विश्वास उत्पन्न कर रहे है कि वह सद्गुणो से परिपूर्ण है तथा महान् उपलब्धियाँ करने मे पूर्णत सक्षम एव समर्थ है। सम्मान का आदान-प्रदान परस्पर सौहार्द एव सन्निकटता की प्रस्थापना कर देता है। अर्जुन अपने गुरु श्रीकृष्ण को तथा श्रीकृष्ण अपने शिष्य अर्जुन को अनेक सम्मानप्रद उपाधियो से विभूषित करते है। श्रीकृष्ण अर्जुन को अनघ अर्थात् पापरहित अथवा पवित्र कहकर ऊँचे मानसिक धरातल पर ले आते है तथा अधिक ग्रहणशील बना देते है।

श्रीकृष्ण कहते है कि जीवन का परम लक्ष्य तो परमात्मा की प्राप्ति ही है तथा साधक का प्राप्तव्य एक ही परमनिष्ठा ( अथवा ब्राह्मी स्थिति ) होती है, किन्तु उसके दो स्वरूप है—ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा। 'निष्ठा' का अर्थ है—'निरन्तर अविचल स्थिति'। यद्यपि साधन दो हैं तथा पृथक्-पृथक् हैं, उनका प्राप्तव्य अथवा लक्ष्य एक है। मनुष्य अपनी रुचि एव स्वभाव के अनुसार इनमे से एक निष्ठा ( ज्ञाननिष्ठा अथवा कर्मनिष्ठा ) को लक्ष्य बनाकर उसके साधन का अवलम्बन कर सकता है।

प्राय अन्तर्मुखी मनुष्य, जो स्वभावत चिन्तनशील एव मननशील होते है, ज्ञान-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त होते है तथा बहिर्मुखी मनुष्य, जो स्वभावत कर्मशील एव पुरुषार्थी होते है, कर्म करने की ओर प्रवृत्त होते है। यद्यपि सभी मनुष्य कुछ सीमा तक अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी होते है, तथापि प्रत्येक मनुष्य प्रधानत अन्तर्मुखी होता है अथवा बहिर्मुखी ही। इसी कारण से दोनो का समुच्चय अर्थात् दोनों निष्ठाओ का एक साथ अवलम्बन सम्भव नही होता। ज्ञान का अवलम्बन करना ज्ञानयोग, कर्म का अवलम्बन करना कर्मयोग होता है। दोनों निष्ठाओं के स्वरूप सर्वथा भिन्न होते है तथापि उनके

साधन भी भिन्न होते हैं। गुरु अधिकारी भेद देखकर शिष्य को सब कुछ समझाकर भी उसके उपयुक्त निष्ठा के अवलम्बन का उपदेश करता है। श्रीकृष्ण अर्जुन के समक्ष साख्ययोग ( ज्ञानयोग ) तथा कर्मयोग की विवेचना तो करते है, किन्तु श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग का अधिकारी मानकर उसे कर्मयोग की दीक्षा देते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है, "कर्म मे ही तेरा अधिकार है।"[1] श्रीकृष्ण उत्तम गुरु है तथा गीतोपदेश के अन्त मे वे उसे स्पष्ट कहते है—"सम्पूर्णता से गम्भीर विचार करके जैसा उपयुक्त समझा हो वैसा कर।"[2]

मानव-स्वभाव के तीन प्रमुख पक्ष है ( १ ) जानना अथवा ज्ञानोपार्जन करना ( बुद्धिपक्ष ), ( २ ) भावो अथवा उद्वेगो का अनुभव करना ( हृदयपक्ष ) और ( ३ ) क्रियाशील होना ( कर्मपक्ष )।[3] यद्यपि ये तीनो प्रत्येक मानव के स्वभाव के अन्तर्गत है, तथापि सभी के स्वभाव मात्राभेद के कारण भिन्न-भिन्न होते है। इसके अनुरूप गीता मे भी परमात्मा की प्राप्ति के तीन मार्गो का निर्देश है—ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग, कर्म-मार्ग। किन्तु भक्ति एक दिव्य रस है तथा स्वतन्त्र होकर भी कर्मयोग का प्राणभूत अथवा अनिवार्य तत्त्व है तथा कर्मयोग के अन्तर्गत है। यद्यपि भक्तिरहित उत्तम कर्म भी उत्तम है, भक्ति से विहीन वह नीरस एव निष्प्राण होता है। अतएव दो ही निष्ठाएँ है—ज्ञाननिष्ठा ज्ञानप्रधान साधको के लिए तथा कर्मनिष्ठा कर्मप्रधान साधको के लिए। प्राय अन्तर्मुखी मनुष्य जिज्ञासु होते है तथा अधिक चिन्तनशील एव मननशील होते है तथा उन्हे ज्ञानयोग अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। प्राय वहिर्मुखी मनुष्य अधिक सक्रिय एव कर्मशील होते हैं तथा उन्हे कर्मयोग अधिक रुचिकर प्रतीत होता है।

ज्ञानयोगी आत्म और अनात्म तत्त्व का भेद करके अपने को आत्मा मानकर ब्रह्म के साथ अभिन्न अथवा एकाकार होने के लिए साधना करता है। प्रकृति के समुत्पन्न गुण गुणो मे बरत रहे है तथा सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणो के द्वारा हो रहे हैं, अतएव कर्ता होने का अहकार करना तथा कामना करना अथवा आसक्त होना अज्ञान है। देह मे आत्मबुद्धि ( यह विचार कि मै देह हूँ ) होने के कारण कर्तृत्व ( मैं कर्ता हूँ ) का अभिमान होता है तथा कर्म मे आसक्ति और फल की इच्छा होते है। ज्ञानी का यथार्थ ज्ञान द्वारा आत्मबोध होना ( अपने को आत्मा मानना ) तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दस्वरूप परमब्रह्म परमात्मा के स्वरूप मे स्थित होकर ब्रह्मभूत ( ब्रह्मस्वरूप ) हो जाना ज्ञाननिष्ठा है। ज्ञानयोगी तत्त्वज्ञान द्वारा ज्ञानभूमि मे आरूढ होकर ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। 'साख्य' का अर्थ है निर्विशेष ब्रह्म एव उसका ज्ञान। ज्ञान द्वारा ब्रह्म के साथ योग हो जाता है, अतएव ज्ञान एक योग है ( जिसे साख्ययोग अथवा सन्यास भी कहा गया है )। ज्ञानी ब्रह्माकारावृत्ति के द्वारा निष्ठा अर्थात् निश्चल स्थिति को प्राप्त कर लेता है, अथवा प्रज्ञा ( ब्रह्मबुद्धि ) को प्राप्त करके स्थितप्रज्ञ हो जाता है।

कर्मयोगी भी निष्काम कर्म करते हुए प्रज्ञा ( ब्रह्मबुद्धि ) को प्राप्त करके स्थितप्रज्ञ हो जाता है। सकाम कर्म तो अधोगतिकारक होता है तथा चित्त-शुद्धि नही कर सकता है। सकाम कर्म करनेवाले कृपण अर्थात् अविवेकी होते है, क्योकि वे दूरदर्शी नही होते। निष्काम कर्म चित्त-शुद्धि कर देता है और शुद्ध चित्त मे यथार्थ ज्ञान का उदय हो जाता है तथा कर्म एक योग बन जाता है। कर्मयोग ( जिसे समत्वयोग अथवा बुद्धियोग भी कहते है तथा जिसे मदर्थकर्म एव तदर्थकर्म अर्थात् परमात्मा के लिए अर्पित कर्म भी कहते है ) का अर्थ है ममत्व, आसक्ति एव फल की कामना छोडकर तथा

---

१ कर्मण्येवाधिकारस्ते। —गीता, २ ४७

२ विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु। —गीता, १८ ६३

३. Cognition ( knowing ), feeling, conation ( willing )

समत्वबुद्धि से युक्त होकर ( अर्थात् सिद्धि-असिद्धि, सफलता-विफलता, लाभ-हानि, यश-अपयश, सुख-दु ख से ऊपर उठकर ) निष्काम कर्म करना ( स्वधर्म अथवा कर्तव्यकर्म करना ) ।

दोनो निष्ठाओ का साध्य एक ही है—परमात्मा को प्राप्त करना अथवा ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करना । अधिकारी-भेद के कारण उनका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। ज्ञान की परिपक्वता अथवा प्रज्ञा निष्काम कर्म द्वारा भी प्राप्त होती है।

भगवद्-भक्ति का सहारा लेकर निष्काम कर्म करना अत्यन्त सरल होता हे । भक्त प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर्म करने मे तथा कर्म को ईश्वरार्पण करने मे परम सुख मानता है। भगवान् का प्रिय ( मित्र, पुत्र, दास इत्यादि ) बनकर भक्त अपने कर्तृत्व ( मैं कर्म का करनेवाला हूँ ) की भावना बनाकर भी उससे मुक्त हो जाता है। वह दिव्य भक्ति-रस के द्वारा आनन्दानुभूति कर लेता है तथा उसे विषय-रस नीरस प्रतीत होने लगते है।[1] भगवद्-भक्त का मन और इन्द्रियाँ भक्ति-रस से सिक्त हो जाते हैं तथा वह उनकी दासता से मुक्त होकर अनायास ही जितेन्द्रिय हो जाता है। वह कहता है कि सब-कुछ प्रभु का है तथा मेरा शरीर और जीवन भी उसीका है। वह प्रभु को सर्वशक्तिमान्, दयामय, पुण्यप्रेरक एव सरक्षक मानकर तथा भक्ति द्वारा प्रभु के साथ युक्त होकर प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर्म करता है और प्रभु को समस्त कर्म अर्पण कर देता है। वह सर्वत्र प्रभु का दर्शन करता है। भगवद्-भावना से भावित अथवा प्रभु-प्रेरित होकर, प्रभु-प्रीत्यर्थ कर्म करनेवाला कर्मयोगी प्रभु का एक यत्र बनकर कृतकृत्य हो जाता है। कर्म भक्ति-प्रधान होकर सुगमता से कर्मनिष्ठा बन जाता है।

१ रमा विलास राम अनुरागी,
तजत वमन जिमि नर बड़भागी।

श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, मैं पहले भी ( प्राचीन काल मे अथवा दूसरे अध्याय के ३९वें श्लोक मे ) इन दो प्रमुख मार्गो अथवा निष्ठाओ की चर्चा कर चुका हूँ ।"[1]

दोनो निष्ठाएँ स्वतन्त्र एव पृथक्-पृथक् हैं तथा इनका समुच्चय ( एक साथ होना अथवा ग्रहण ) सम्भव नही प्रतीत होता। प्राय यति, सन्यासी ज्ञानयोग का तथा गृहस्थजन कर्मयोग का अवलम्बन करते हैं।[2] वास्तव मे, एक मे ज्ञान पर तथा दूसरे मे कर्म पर बल दिया गया है तथा दोनो मार्ग पृथक् होते हुए भी परस्पर विरोधी नही है। वे एक सीमा तक एक-दूसरे के पोषक हैं तथा दोनो का साध्य तो एक है ही।

**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।**
**न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥**

**शब्दार्थ : पुरुष न कर्मणां अनारम्भात् नैष्कर्म्यं अश्नुते**=मनुष्य न तो कर्मो के अनारम्भ से ( न करने से ) निष्कर्मता को प्राप्त होता है, **च न सन्यसनात् एव सिद्धिं समधिगच्छति**=और न कर्मों को त्याग देने से सिद्धि ( मोक्ष अथवा परमात्मा की प्राप्ति ) को प्राप्त करता है।

१ दूसरे अध्याय मे ११ से ३० श्लोको मे आत्मा के स्वरूप अथवा साख्य ( ज्ञान ) की चर्चा है तथा ४० से ५३ श्लोको मे कर्मयोग, ५५ से ७२ स्थितप्रज्ञ की चर्चा है। भक्तिप्रधान कर्मयोग की ( निष्ठा की ) चर्चा १०, १२, १८वें अध्याय मे है।

२ 'विरक्त प्रव्रजेत् धीमान्' ( विरक्त को सन्यास लेना चाहिए ) तथा 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' ( ब्रह्मचर्य से ही सन्यास ले लेना चाहिए ) इत्यादि का उल्लेख ज्ञानयोगियो के लिए किया गया है। किन्तु अनेक विद्वानो का मत है कि जो मनुष्य दोनो निष्ठाओ से युक्त होता है वह पूर्ण पुरुष होता है। डॉ० राधाकृष्णन का मत है कि दोनो निष्ठाएँ परस्पर पूरक हैं। दोनो मार्ग ( कर्मयोग तथा ज्ञानयोग ) पृथक् तो हैं, किन्तु परस्पर विरोधी नही हैं, वल्कि परस्पर पूरक हैं।

**वचनामृत :** मनुष्य कर्मों का प्रारम्भ न करने से ही निष्कर्मता को ( अर्थात् योगनिष्ठा को ) प्राप्त नही हो जाता तथा कर्मो का परित्याग कर देने से सिद्धता ( अर्थात् ज्ञाननिष्ठा अथवा मोक्ष को ) प्राप्त नही होता है।

**सन्दर्भ :** कर्तव्य-कर्मों को न करने या छोड देने से कोई उपलब्धि नही होती है।

रसामृत : कर्मों का आरम्भ न करने पर अर्थात् कर्म न करने पर निष्कर्मता प्राप्त नही होती। कर्मो का आरम्भ करने पर अर्थात् कर्म करने पर ही निष्कर्मता प्राप्त होती है। कर्मयोगी कर्म करके भी निष्कर्म हो जाता है अर्थात् कर्मवन्धन से मुक्त हो जाता है। निष्काम कर्म करने से अर्थात् आसक्ति एव फल की कामना छोडकर कर्म करने से निष्कर्मता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। निष्काम होकर कर्म करने से मनुष्य का चित्त निर्विकार एव निर्मल हो जाता है तथा शुद्ध चित्त मे ज्ञान का प्रादुर्भाव स्वय हो जाता है। इस प्रकार कर्मयोगी को कर्मनिष्ठा के साथ ही ज्ञानीजन की ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो जाती है।

ज्ञानयोगी भी कर्म का त्याग करके ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त नही कर सकता। प्राय ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन करनेवाले मनुष्य ज्ञान-प्राप्ति के अधिकारी हुए विना ही सर्वकर्म का त्याग कर देते है तथा उन्हे ज्ञान-निष्ठा अथवा कैवल्य की प्राप्ति नही होती। परिवार आदि छोडकर वन मे निवास करने से सिद्धि प्राप्त नही हो जाती। कैवल्य की प्राप्ति कर्म का परित्याग करने से नही होती, वल्कि ज्ञान-प्राप्ति से होती हे। ज्ञान के उपासक को आत्म तथा अनात्म अथवा सत् तथा असत् की पृथक्ता का विवेक होना चाहिए। तत्त्वज्ञान के विना ही कर्म का सन्यास अर्थात् कर्म-त्याग करनेवाले मनुष्य पतित हो जाते है। ज्ञानमार्गी आत्म-स्वरूप के चिन्तन द्वारा परमात्मा के स्वरूप मे सन्थित होकर ही ज्ञाननिष्ठा अर्थात् ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

भक्तिभाव से परिपूर्ण कर्मयोगी समस्त कर्म परमात्मा की प्रसन्नता के लिए करता है तथा समस्त कर्म परमात्मा को अपण कर देता है। भक्त समस्त कर्म परमात्मा को अर्पण करके निष्कर्म भाव को प्राप्त कर लेता है।

कर्म न करने से अथवा कर्म का त्याग कर देने से पूर्णता की प्राप्ति नही हो जाती। निष्क्रियता निष्कर्मता नही होती। निष्क्रियता अर्थात् अकर्मण्यता सदेव पतनकारक होती है। निष्काम होकर एव कर्म के फल मे आसक्ति छोडकर पूर्णता की प्राप्ति होती है। भक्ति का सहारा लेने पर कर्मयोगी सहज ही निष्कर्मता को प्राप्त हो जाता है।

**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।**
**कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥**

**शब्दार्थ :** हि कश्चित् जातु क्षण अपि अकर्मकृत् न तिष्ठति=क्योकि कोई किसी काल मे क्षणमात्र भी विना कर्म किये स्थित नही रह सकता। **हि सर्वः प्रकृतिजैः गुणै· अवशः कर्म कार्यते**=निश्चय ही सव प्रकृति से उत्पन्न गुणो से विवश होकर कर्म करते हैं।

**वचनामृत :** ( कर्मों का स्वरूप मे सर्वथा त्याग करना सम्भव नही हे ) क्योकि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र के लिए भी विना कर्म किये स्थित नही रह सकता। निश्चय ही सभी मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न गुणो द्वारा विवश होकर कर्म करते है।

**सन्दर्भ :** कर्म का सर्वथा त्याग सम्भव नही है।

**रसामृत :** 'कर्म वन्धन है', ऐसा कहकर अनेक मनुष्य ज्ञान की आड मे कर्तव्य-कर्म करना छोड देते हैं तथा निष्क्रिय हो जाते हैं। किन्तु वास्तव मे कर्म का सर्वथा त्याग करना सम्भव नही है। प्रकृति निरन्तर गतिशील रहती है तथा मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न ( सत्त्व, रज, तम ) गुणो के कारण विवश होकर निरन्तर क्रियाशील रहता है। प्रकृति का पुतला मनुष्य कर्म करने के लिए वाध्य होता है। श्वास लेना, भोजन करना, मल-मूत्र का

विसर्जन करना, उठना, बैठना, चलना, ध्यान करना, समाधि मे स्थित होना—सभी कर्म है। मनुष्य की इन्द्रियाँ सदैव सक्रिय रहती है तथा मनुष्य का मन जाग्रत-अवस्था मे तथा स्वप्न-अवस्था मे निरन्तर गतिमय रहता है। अतएव कर्म का स्वरूप से सर्वथा त्याग करना कदापि सम्भव नही है। कर्म का स्वरूप से त्याग करनेवाला मनुष्य व्यर्थ चिन्तन करके व्याकुल हो जाता है।

वास्तव मे गुणातीत होकर अर्थात् प्रकृति के गुणो के प्रभाव से ऊपर उठकर तथा कर्ता होने का अभिमान छोडकर मनुष्य कर्म करते हुए भी निष्कर्म हो सकता है। अज्ञ मनुष्य देहात्मबुद्धि के कारण (अर्थात् अपने को देह मानने के कारण) अपने को कर्ता मान लेता है तथा ज्ञानी पुरुष आत्म-बोध के कारण (अपने को आत्मा मानने के कारण) तथा समस्त क्रियाओ को प्रकृति का खेल मानकर अपने को अकर्ता एव निष्क्रिय मानता है। कर्मयोगी अनासक्त एव निष्काम होकर अर्थात् आसक्ति तथा फल की इच्छा छोडकर कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है तथा निष्कर्म-भाव को प्राप्त हो जाता है। भक्त ईश्वर-प्रेरणा से कर्म करने तथा कर्म को ईश्वरार्पण करने के कारण निष्कर्म हो जाता है। ज्ञानयोगी ज्ञान द्वारा, कर्मयोगी अनासक्ति द्वारा तथा भक्त ईश्वरार्पण द्वारा कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धन से मुक्त रहता है।[1] कर्मयोगी बाह्य कर्म द्वारा प्रवृत्ति-मार्गी होकर भी आन्तरिक अनासक्ति के कारण निवृत्तिमार्गी ही होता है।

**कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।**
**इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥६॥**
**यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।**
**कर्मेन्द्रियै कर्मयोगमसक्त स विशिष्यते ॥७॥**

१ वास्तव मे भक्त भी कर्मयोगी होता है, किन्तु वह भक्ति पर बल देता है। सामान्यत कर्मयोगी अनासक्ति पर तथा भक्त ईश्वरार्पण पर बल देता है। भक्ति स्वतत्र मार्ग होते हुए भी कर्मनिष्ठा के अन्तर्गत होती है।

**शब्दार्थ : य विमूढात्मा कर्मेन्द्रियाणि सयम्य इन्द्रियार्थान् मनसा स्मरन् आस्ते**=जो मूढ मनुष्य कर्मेन्द्रियों को (हठपूर्वक, बरबस) रोककर इन्द्रियो के विषयो को मन से स्मरण करता रहता है, **स मिथ्याचार उच्यते**= वह मिथ्याचारी (दम्भी) कहलाता है। **तु**=और, **अर्जुन**=हे अर्जुन, **य मनसा इन्द्रियाणि नियम्य असक्त कर्मेन्द्रियै कर्मयोग आरभते**=जो मन से इन्द्रियो को वश मे करके अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, **स विशिष्यते**=वह विशेष होता है, श्रेष्ठ होता है।

**वचनामृत** जो मूढ मनुष्य कर्मेन्द्रियो को हठपूर्वक इन्द्रियो के भोगो से रोककर इन्द्रियो के भोगो का मन से चिन्तन करता है वह मिथ्याचारी अथवा दम्भी कहलाता है। और, हे अर्जुन, जो मनुष्य मन से इन्द्रियो का सयम करके (विवेक द्वारा वश मे करके), अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियो से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ होता है।

**सन्दर्भ** . इन्द्रियो पर सयम विवेक द्वारा मन से होना चाहिए।

**रसामृत** . कर्मयोग की साधना मे इन्द्रियो का सयम आधारशिला के सदृश है। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियो को वश मे नही रख सकता, वह कर्मयोग का आचरण नही कर सकता। कर्मयोग के आचरण के लिए आत्म-सयम अर्थात् बुद्धि (विवेक) के सहारे मन द्वारा इन्द्रियो पर नियन्त्रण होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हठपूर्वक इन्द्रियो का दमन कर दिया जाय और मन मे इन्द्रियो के भोगो का चिन्तन होता रहे तो मन मे कुण्ठाएँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा उनका सहसा विस्फोट होने पर निराहारी (भूखी) इन्द्रियाँ अपने भोगो पर झपटकर टूट पडती हैं।[1] जो मनुष्य विवेक के प्रकाश मे मन द्वारा इन्द्रियो पर सयम नही करता और बरबस इन्द्रियो को उनके विषयो से रोक देता है, वह मन मे विषयो का स्मरण, चिन्तन और ध्यान करता रहता है। ऐसा मनुष्य मिथ्याचारी

१ अध्याय २ के श्लोक ५९ मे यह भाव सन्निहित है।

अथवा दम्भी होता है, सच्चा नही होता। वह स्वय को तथा ससार को धोखा ही देता है। विषयो का चिन्तन करने से पतन प्रारम्भ हो जाता है।[1] दम्भी मनुष्य कर्मयोग की साधना मे कभी सफल नही हो सकता तथा जीवन मे कोई उत्तम उपलब्धि नही कर सकता। मनसहित इन्द्रियो पर सयम करना ही सच्चा सयम है। वास्तव मे मन का सयम ही इन्द्रियो का सयम है, क्योकि इन्द्रियो के भोग्य पदार्थ उनके सामने आने पर प्रतिक्रिया तो मन मे ही उत्पन्न होती है।[2] अत मन का असयम होने पर इन्द्रियो का सयम नही हो सकता। विवेक का सहारा लेकर आत्मानुशासन एव अभ्यास द्वारा मन का सयम करना कर्मयोग की सिद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यदि मनुष्य इन्द्रियो के भोगो का बाहर से परित्याग कर देता है और भोगो की वासना के कारण मन मे उनका स्मरण करता रहता है तो यह आत्म-प्रवचना है। श्रीकृष्ण आन्तरिक शुद्धि पर बल दे रहे हैं। मनुष्य अनासक्ति द्वारा वासनाओ से विमुक्त होकर अपने मन को शुद्ध कर सकता है। अनासक्ति से ही वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य का अर्थ ससार की वस्तुओ का त्याग करना नही है, बल्कि उनके प्रति वासना का त्याग अथवा स्वार्थपूर्ण ममत्व का त्याग करना है। श्रीकृष्ण का उपदेश है कि ससार को न छोडे, सासारिकता को छोडे अर्थात् भौतिक आकर्षणो से मुक्त हो, क्योकि वासना से विमुक्त एव ममत्व से विमुक्त होकर ही मनुष्य अपने तथा समाज के लिए वस्तुओ का सदुपयोग कर सकता है। वास्तव मे भोग्य पदार्थो का विवेकपूर्वक अर्थात् सहज भाव से भोग करना चाहिए तथा आन्तरिक तृप्ति द्वारा भोग-लिप्सा से विमुक्त हो जाना चाहिए। भोग-लिप्सा के कारण ही भोगोन्माद और अशान्ति होते है तथा मनुष्य अस्थिर होकर भटक जाता है।

आध्यात्मिक साधना द्वारा दिव्यरसानुभूति होने पर मनुष्य भोगवृत्ति से विरक्त हो जाता है। जीवो की सेवा को परमात्मा की अर्चना मानकर सच्चे भाव से सेवा-कार्य मे सलग्न होकर भी मनुष्य निश्चय ही आसक्ति, सकीर्णता, स्वार्थ, ममत्व तथा भोग-कामना से छूटकर शान्त एव सुखी हो जाता है। जो मनुष्य ईश्वरपरायण होकर ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करता है, उसका मन भोग-लिप्सा से सहज ही विमुक्त हो जाता है।

**नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।**
**शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥**

**शब्दार्थ :** त्वं नियत कर्म कुरु=तू नियत कर्म (शास्त्रो से नियत किया हुआ उत्तम कर्म) कर, हि अकर्मण कर्म ज्याय=क्योकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, च अकर्मणः ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिद्ध्येत्=और कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी न हो सकेगा।

**वचनामृत :** तू शास्त्रसम्मत कर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म कर, क्योकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नही हो सकता।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण कर्म करने की अनिवार्यता पर बल देते है।

**रसामृत .** मनुष्य के लिए कर्म करना अनिवार्य है, क्योकि कर्म करने के विना मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा भी नही चला सकता। शरीर का निर्वाह करने के लिए नित्यकर्म (चलना, फिरना, भोजन करना इत्यादि) करना तो अनिवार्य होता है। मनुष्य के लिए कर्मो का स्वरूप से परित्याग करना सम्भव ही नही है। कर्महीन होने की अपेक्षा कर्मशील होना निश्चित रूप से श्रेष्ठ है। कर्म करने से

---

१ अध्याय २ के श्लोक ६२, ६३ मे यह भाव सन्निहित है।

२ ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा) अपने विषयो (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) की ओर दौडती हैं तथा कर्मेन्द्रियो (वाक्, पाणि, पाद, मल-इन्द्रिय तथा मूत्रेन्द्रिय) का सहारा लेती हैं।

चित्त-शुद्धि होती है तथा चित्त-शुद्धि होने पर मोक्ष-प्रद ज्ञान का उदय हो जाता है।[१] किन्तु कौनसे कर्म किये जायँ ? कर्म कैसे किये जायँ ? धर्मशास्त्रो एव उत्तम पुरुषो द्वारा निश्चित किये हुए तथा करने योग्य उत्तम कर्मों को करना चाहिए।[२] अपनी परिस्थिति, शक्ति तथा अपने दायित्व को देखकर, अन्तरात्मासम्मत कर्तव्य-कर्म करना चाहिए। अपने शरीर की रक्षा करते हुए जीवन चलाने के लिए, अपनी परिस्थिति मे अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए अर्थात् अपना कर्तव्य-पालन करने के लिए, आत्मकल्याण एव जगत्-हित के लिए, उचित एव उत्तम कर्म करना चाहिए, जिसका अनुमोदन उत्तम धर्मशास्त्र, महापुरुष तथा अपनी अन्तरात्मा करते हो। भ्रम की स्थिति मे अन्तरात्मा की ध्वनि सर्वोपरि होती है।[३] अपनी सकीर्ण स्वार्थ-पूर्ति के लिए, अपनी भोग-वृत्ति की तुष्टि के लिए अथवा अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए कर्म करना तो पशुता है। अनासक्त होकर तथा निष्काम भाव से सदैव आचरणीय उत्तम कर्म

१ 'कर्मणा शुद्धि'—कर्म से चित्त-शुद्धि होती है।

२ **यानि यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि त्वया सेवितव्यानि नो इतराणि। यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि।**

—तैत्तिरीय उप०

अर्थात् ऐसे कर्म करो, जो निन्दनीय न हो, जो उत्तम हो।

३ सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु **प्रमाणमन्त करण-प्रवृत्तय।** —कालिदास

अर्थात् सन्देह के अवसर पर अन्त करण की वाणी प्रमाण होती है।

**यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मन।**
**तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीत तु वर्जयेत्॥**

—मनुस्मृति, ४ १६१

अर्थात् जिस कर्म के करने से अन्तरात्मा को परितोष मिलता हो, उसे प्रयत्न से करना चाहिए और विपरीत को त्याग देना चाहिए।

करना चाहिए। भक्ति-भावना से भावित मनुष्य ईश्वरार्पण-बुद्धि से निष्काम कर्म करता है। निष्काम भाव से कर्म करना कल्याणकारक एव शान्तिदायक होता है तथा परमात्मा की प्राप्ति करा देता है।

**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन।**
**तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग: समाचर॥९॥**

**शब्दार्थ** यज्ञार्थात् कर्मण अन्यत्र अय लोक कर्म-बन्धन = यज्ञ (अर्थात् ईश्वर के निमित्त अथवा यज्ञ-भावना से निष्काम किये हुए कर्मों) के अतिरिक्त अन्य कर्मों मे (लगा हुआ ही) यह लोक कर्मो द्वारा बँधता है। कौन्तेय = हे अर्जुन, मुक्तसङ्ग तदर्थं कर्म समाचर = आसक्ति से मुक्त होकर यज्ञ के निमित्त अथवा ईश्वर के निमित्त (प्रभुप्रीत्यर्थ) कर्म का भली प्रकार आचरण कर।

**वचनामृत** यज्ञ के निमित्त किये जानेवाले कर्मो के अतिरिक्त अन्य कर्मों मे सलग्न यह लोक कर्मों मे बँध जाता है। हे अर्जुन, तू आसक्ति से मुक्त होकर यज्ञ के निमित्त भली प्रकार कर्तव्य कर्म कर।

**सन्दर्भ** श्लोक ९ से प्रारम्भ होकर श्लोक १६ तक आठ श्लोको मे 'यज्ञ' की चर्चा है। यद्यपि कर्मकाण्ड मे 'यज्ञ' का अर्थ हवन आदि है, गीता के इन श्लोको मे 'यज्ञ' का अर्थ निष्काम कर्म, स्वधर्म-पालन, जन-कल्याण को आत्म-कल्याण का साधन मानकर परोपकार के लिए किया हुआ त्यागमय उत्तम कर्म, परमात्मा की प्रसन्नता के लिए किया हुआ कर्म है। इन आठ श्लोको मे अनासक्त होकर कर्तव्य-कर्म करने पर बल दिया गया है।

**रसामृत** वेद मे यज्ञ को परमात्मा का स्वरूप एव परमात्मा को प्राप्त करने का परम साधन कहा गया है। श्रुति-वाक्य है, **'यज्ञो वै विष्णु'** (यज्ञ स्वय विष्णु है)। श्रुति मे परमात्मा को यज्ञ-पुरुष भी कहा गया है। (अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध यज्ञ तक सभी यज्ञ तथा द्रव्यो का दान द्रव्ययज्ञ हैं, जो कर्मयज्ञ से भिन्न हैं।) 'यज्ञार्थ कर्म' का अर्थ है यज्ञ के लिए किया हुआ कर्म अर्थात् स्वार्थ छोडकर परमात्मा की प्रसन्नता के

लिए किया हुआ कर्म, जनतारूपी जनार्दन की सेवा के लिए पवित्र भावना से किया हुआ उत्तम कर्म। वास्तव मे यज्ञ की भावना का अर्थ है आत्मसमर्पण, परमार्थ, त्याग एव बलिदान की भावना तथा 'यज्ञ' का अर्थ है उदात्त भावना से परमार्थ हेतु किया हुआ कर्म। मनुष्य जब परमात्मा को अपना जीवन, अपना तन, मन, धन, अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है तथा वह प्राणिमात्र मे उसी परमपिता परमात्मा का दर्शन करता है, उसका प्रत्येक कर्म परमात्मा की प्रसन्नता तथा प्राणिमात्र की सेवा के लिए ही होता है। समस्त सृष्टि के साथ समरस व्यक्ति अपने सकीर्ण 'मैं' और 'मेरा' ( अह तथा मम ) का विस्तार करके प्राणिमात्र के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। कौन मित्र, कौन शत्रु ? सभी मे मैं हूँ और सभी मुझमे हैं। सर्वत्र परमात्मा व्याप्त है, सबके भीतर वही अन्तर्यामी परमात्मा है, सर्वत्र वही तो है। द्वैत ( पृथक् दो होने का भेद ) कही नही है, सर्वत्र अद्वैत ( दो मे एक ही ) है। यह परमोच्च भावना है। ऐसी अवस्था मे मनुष्य जन-कल्याण को आत्म-कल्याण का साधन मानता है, परोपकार को अपना ही उपकार मानता है तथा परमार्थ को स्वार्थ मानता है।

यज्ञ की भावना से भावित होकर अथवा प्रभु-भावना-भावित होकर किया हुआ कर्म पवित्र होता है तथा कदापि बन्धनकारक नही होता, क्योकि यज्ञार्थ कर्म निष्काम होकर अनासक्त भाव से ही किया जाता है। यज्ञ-भावना के अतिरिक्त अन्य भावना से किया हुआ कर्म बन्धनकारक होता है।[१] यद्यपि पुण्यकर्म पापकर्म की अपेक्षा उत्तम होता है, दोनो बन्धनकारक होते है। कर्मयोगी दोनो से ऊपर उठकर निर्बन्ध हो जाता है। उसके समस्त कर्म सहज पवित्र होते है। भगवान् के साथ तन्मयता होने के कारण उसका प्रत्येक कर्म प्रभु की पूजा हो जाता है।[१] वह प्रभु का यत्र ( उपकरण ) अथवा दास होता है।

यज्ञ की भावना से भावित कर्मयोगी का जीवन एक यज्ञ हो जाता है तथा उसका प्रत्येक कर्म यज्ञ मे आहुति होता है। वह यज्ञ-भावना से ही स्वधर्म-पालन करता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को आदेश करते हैं—"हे अर्जुन, सकीर्ण ममता और मोह छोडकर, स्वार्थ छोडकर, अनासक्ति मे स्थित होकर, जन-कल्याण के द्वारा आत्मकल्याण के लिए भली प्रकार कर्म कर, कर्म मे पूर्ण रुचि एव रस लेकर कर्म कर।"

**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**
**अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥**
**देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।**
**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥**

**शब्दार्थ :** **प्रजापति पुरा सहयज्ञा. प्रजा. सृष्ट्वा उवाच**=प्रजापति ब्रह्मा ने पहले ( प्रारम्भ मे ही, कल्प के आदि मे ) यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा, **अनेन प्रसविष्यध्वम्**=इस यज्ञ से वृद्धि को प्राप्त हो अर्थात् फलो-फूलो, **एष व. इष्टकामधुक् अस्तु**=यह ( यज्ञ ) तुम लोगो को अभीष्टप्रद हो, इच्छा पूर्ण करनेवाला हो। **अनेन देवान् भावयत ते देवाः वः भावयन्तु**=इस यज्ञ द्वारा देवताओ को उन्नत करो, वे देवता तुम लोगो को उन्नत करें। **परस्परं भावयन्तः पर श्रेयः अवाप्स्यथ**=परस्पर उन्नत करते हुए, परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे। ([१]यहाँ भावना का अर्थ 'सवर्द्धन', 'वृद्धि' है। )

**वचनामृत :** प्रजापति ब्रह्मा ने पहले ( कल्प के प्रारम्भ मे ) यज्ञसहित प्रजाओ की रचना करके कहा—आप लोग इस यज्ञ के द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो ( फलो-फूलो ), यह ( यज्ञ ) आप लोगो को अभीष्ट का प्रदाता ( अभीप्सित काम्य फल अथवा भोग को देनेवाला ) हो। आप लोग इस यज्ञ से देवताओ को उन्नति दे और वे ( देवता )

१ **'कर्मणा वध्यते जन्तुः'**—मनुष्य कर्म से बँधता है।

१. **यद् यद् कर्म करोमि तद् तदखिल शम्भो तवाराधनम्।**—हे प्रभो, जो भी कर्म मैं करता हूँ वह सब तेरी पूजा ही है।

आपको उन्नति दे। ( इस प्रकार ) परस्पर उन्नति देते हुए आप लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण इन दो श्लोको मे प्रजापति के उपदेश एव आदेश की चर्चा कर रहे है।

**रसामृत** सृष्टि के प्रारम्भ मे ही प्रजापति ब्रह्मा ने मनुष्य के व्यक्तिगत एव सामूहिक हित के लिए मानव-रचना के साथ ही यज्ञ अर्थात् कर्तव्य-कर्म करने का विधान भी निश्चित कर दिया। मानव-जीवन के साथ कर्म सलग्न ( जुडा हुआ ) है। मानव के व्यक्तिगत एव समाजगत कल्याण के लिए उत्तम कर्म करना परम आवश्यक है। यदि सभी मनुष्य सकीर्ण होकर स्वार्थ-पूर्ति के लिए तथा मात्र इन्द्रिय-भोग के लिए कर्म करे तो समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। परिवार मे भी माता-पिता त्यागमय होकर बच्चो का लालन-पालन करते हैं। परोपकार, दान और सेवा के द्वारा समाज के निर्बल-वर्ग का सरक्षण एव पोषण होता है। अपने-अपने स्थान पर सकीर्णता छोडकर दायित्व का निर्वाह करते हुए स्वधर्म ( कर्तव्य ) का पालन करना तथा जन-हित के लिए उदारतापूर्वक त्याग और बलिदान करना यज्ञ-कर्म है, जो व्यक्ति एव समाज को सुख, समृद्धि और शान्ति देता है। प्रजापति ब्रह्मा के आशीर्वाद, 'यज्ञ द्वारा आप अभिवृद्धि को प्राप्त हो, यज्ञ आपको अभिलषित काम्य पदार्थ प्रदान करें', मे सकाम कर्म करने की ध्वनि नही है, बल्कि उत्तम मार्ग पर चलकर फलने-फूलने की शुभकामना सन्निहित है।

प्रजापति ब्रह्मा ने मनुष्यो को यह भी उपदेश एव आदेश किया कि वे यज्ञ द्वारा देवताओ को समुन्नत करें तथा देवता मनुष्यो को समुन्नत करें। देवता परमात्मा की दिव्य शक्तियाँ हैं, जो जल-वृष्टि आदि करती हैं।[1] मनुष्य उत्तम कर्म द्वारा देवो को प्रसन्न करे और वे तृप्त होकर मानवो को सुख-समृद्धि दे।

ईश्वर ने समस्त प्रकृति मे कर्म द्वारा परस्पर सहयोग की व्यवस्था की है। सूर्य, चन्द्र इत्यादि प्रकाश एव ऊर्जा देते है, पर्वतो से नदियाँ प्रवाहित करते है तथा सागर से वाष्प उठाते हैं, उस वाष्प द्वारा वृष्टि होती है, वृष्टि से वनस्पति एव अन्न का जन्म होता है, जिससे जीवन चलता है। इस प्रकार प्रकृति ने एक चक्र प्रवर्तित किया है, जो परस्पर सहयोग पर आधारित है। प्रतिद्वन्द्विता से द्वेष और सघर्ष का जन्म होता है तथा समाज मे अशाति व्याप्त हो जाती है। परस्पर सहयोग से समृद्धि होती है तथा समाज मे शान्ति व्याप्त हो जाती है। व्यक्ति तथा समाज की सुरक्षा एव शाति एक-दूसरे पर आश्रित है। व्यक्ति को समाज की उन्नति के लिए तथा समाज को व्यक्ति की उन्नति के लिए सहयोग करना चाहिए। दूसरो के साथ प्रतिद्वन्द्विता करना पाशविक है, परस्पर सहयोग करना मानवीय गुण है तथा दूसरो के हित के लिए आत्म-बलिदान करना दैवी गुण है। स्वार्थ त्यागकर लोक-कल्याण के लिए कर्म करना यज्ञ है। उत्तम पुरुष यज्ञ-भावना ( अर्थात् त्याग-भावना ) से प्रेरित होकर कर्तव्य-कर्म करते हैं।

उत्तम पुरुष श्रेष्ठ आचरण द्वारा दैवी शक्तियो को प्रसन्न करते हैं तथा अधम मनुष्य दैवी शक्तियो को प्रसन्न करने के बहाने से पशुओ की हत्या कर देते है। अपने भीतर पशुवृत्ति ( घृणा, द्वेष, हिंसा ) का दमन करना पशु-बलि है तथा धर्म के नाम पर अबोध पशुओं की हिंसा करना महापाप है। मनुष्य को उत्तम कर्म करना ही शोभा देता है तथा उत्तम कर्म ( यज्ञ ) करने से ही उसे सुख-समृद्धि और शान्ति प्राप्त हो सकते हैं।

**इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता ।**
**तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स. ॥१२॥**
**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।**
**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥**

---

१ माता-पिता, गुरुजन और सन्तगण भी देवता कहलाते हैं। **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव** —तैत्तिरीय उप०

**शब्दार्थ : यज्ञभाविता. देवाः वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते**=यज्ञ द्वारा भावित ( उन्नत एव तृप्त ) देवगण तुम्हारे लिए अभिलषित ( प्रिय ) भोगो को देंगे, **तैः दत्तान् यः एभ्यः अप्रदाय हि भुङ्क्ते**=उनके द्वारा दिये हुए भोगो को जो मनुष्य इनके लिए बिना दिये हुए ही भोगता है, **सः एव स्तेन.**=वह निश्चय ही चोर है, **यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः सर्वकिल्विषैः मुच्यन्ते**=यज्ञ से शेष बचे हुए ( अन्न को ) खानेवाले उत्तमजन समस्त पापो से छूट जाते हैं, **ये पापा· आत्मकारणात् पचन्ति ते तु अघ भुञ्जते** =जो पापी लोग अपने कारण से ही ( भोजन ) पकाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं।

**वचनामृत :** यज्ञ के द्वारा भावित ( समुन्नत, सम्मानित एव प्रसन्न ) देवता आप लोगो को ( बिना माँगे ही ) इच्छित भोग निश्चित रूप से देंगे। उन देवताओ के द्वारा दिये हुए भोगो को जो मनुष्य उनको बिना समर्पित किये हुए ही भोगता है, वह चोर ही है। यज्ञ से बचे हुए ( अन्न को ) खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापो से विमुक्त हो जाते है ( तथा ) जो पापी लोग केवल अपने लिए ही भोजन बनाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।

**सन्दर्भ :** अब श्रीकृष्ण प्रजापति ब्रह्मा के आदेश ( श्लोक १० तथा ११ ) की व्याख्या कर रहे हैं। ( कुछ विद्वान् १२, १३ श्लोको को भी प्रजापति ब्रह्मा का ही आदेश कहते है, किन्तु यह ठीक नही प्रतीत होता। )

**रसामृत :** कर्म ससार-चक्र के प्रवर्तन का प्रमुख कारण है। मनुष्यो के द्वारा यज्ञ-भावना से किये हुए कर्म देवगण को परिवर्द्धित एव परितुष्ट कर देते हैं तथा वे प्रसन्न होकर मनुष्यो को अन्नादि भोग्य पदार्थ प्रदान करते हैं। मनुष्यो का कर्तव्य है कि वे देवताओ से प्राप्त देवधन ( अर्थात् भोग्य पदार्थों ) को देवताओ को समर्पित करके उसका भोग करें। देवो को समर्पित बिना किये हुए भोग्य पदार्थों का भोग करनेवाला चोर है। गृहस्थजन का यह भी कर्तव्य है कि वे पञ्चमहायज्ञ द्वारा देव-ऋण इत्यादि पञ्चऋण से मुक्त होकर पदार्थों का भोग करे। पञ्चयज्ञ मनुष्यो के लिए निर्धारित नित्यकर्म है। गृहस्थजन से प्राय पाँच प्रकार की हिंसा होती है तथा वे देवऋण इत्यादि पाँच ऋणो को चुकाकर उन पाँच प्रकार के पापो से भी मुक्त हो जाते हैं।[1] कूटने, पीसने, अग्नि जलाने, जल भरने तथा मार्जन करने ( बुहारी लगाने ) से चीटी आदि की हिंसा होना स्वाभाविक है। पञ्चयज्ञ द्वारा इन अनजाने पापो का प्रायश्चित्त हो जाता है। यदि गृहस्थ से जीवन-निर्वाह करने मे कुछ पाप हो जाते है तो वह देवताओ की अग्निहोत्र से, ऋषियो की वेदादि के प्रचार से, मृतक पितरो की तर्पण से तथा जीवित माता-पिता आदि बड़ो की परिचर्या से, मनुष्यो की अन्न, वस्त्रादि के दान से तथा समस्त प्राणियो की बलि वैश्वदेव को बलि देने से अर्थात् अन्नादि से, सेवा द्वारा उनसे मुक्त हो जाता है। मनुष्यो तथा अन्य प्राणियो को यथाशक्ति अन्नादि देने से शेष बचे हुए भक्ष्य पदार्थ ( भोजन-सामग्री ) को अमृत तथा उसका उपभोग करनेवाले को अमृताशी कहा जाता है। गृहस्थजन का कर्तव्य है कि भोजन-सामग्री को बाँटने से अवशिष्ट अमृत-पदार्थ ( शेष सामग्री ) का सेवन करें।

---

१ **पंचसूनाकृतं पापं पञ्च यज्ञैर्व्यपोहति** अर्थात् पचसूनाकृत नामक पाँच पापो से पाँच महायज्ञ द्वारा मुक्ति हो जाती है।

**अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।**
**होमो दैवोबलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥**

—गरुडपुराण

अर्थात् वेदादि सद्ग्रन्थो का पठन-पाठन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण करना पितृयज्ञ है, अग्निहोत्र, होम करना देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव आदि के लिए अर्थात् प्राणियो के लिए अन्न आदि देना भूतयज्ञ है, अतिथियो की सेवा नरयज्ञ है। ब्रह्मयज्ञ ही ऋषियज्ञ होता है।

**ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।**
**नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥**

—मनुस्मृति, ४ २१

आहार-शुद्धि के लिए पञ्चयज्ञ करना आवश्यक है। आहार-शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि होती है अर्थात् अन्त-करण शुद्ध हो जाता है तथा मनुष्य सात्त्विक हो जाता है।[1] जो मनुष्य अन्य प्राणियो की उपेक्षा करके केवल अपने लिए ही भोजन बनाता है अर्थात् जो मनुष्य समाज तथा पशु-पक्षियो आदि को कुछ न देकर समस्त भोग्य सामग्री पर एकाधिकार कर लेता है वह पापी होता है।[2] मनुष्य अपने अस्तित्व की रक्षा एव जीवन के निर्वाह के लिए समस्त सृष्टि का ऋणी होता है, मानव-समाज तथा पशु-पक्षियो का ऋणी होता है, अतएव उनकी सेवा करना उसका पुनीत कर्तव्य होता है। मनुष्य को उपार्जित भोगो का उपभोग सबका न्यायोचित भाग देकर करना चाहिए।

पञ्च महायज्ञो की व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'यज्ञ' का अर्थ त्यागपूर्वक भोग करना है,[3] दूसरो को खिलाकर खाना है अर्थात् मनुष्य को समाज एव पशु-जगत् की सेवा करते हुए अपने जीवन का निर्वाह करना चाहिए। सेवा-धर्म स्वधर्म का अग है। द्रव्ययज्ञ यज्ञ का एक अग है तथा केवल द्रव्ययज्ञ को ही यज्ञ नही कहा जाता। यज्ञ-भावना सर्वोच्च भावना होती है। यज्ञ-भावना से कर्म करना श्रेयस्कर होता है।

---

१ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि ।

२ मोघमन्न विन्दतेऽप्रचेता. सत्य ब्रवीमि वध इत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥—ऋग्वेद, १० ११९ ५। अर्थात् यह अप्रचेता ( मूर्ख ) मनुष्य विफल अन्न खाता है, मैं सत्य कहता हूँ कि यह उसके वध ( विनाश ) का स्वरूप है। वह अग्नि-तत्त्व का पोषण नही करता तथा अपने सखा ( अन्य प्राणियो ) का भी पोषण नही करता। वह केवल अपना ही पेट भरता है। अपना ही पेट भरनेवाला पापी होता है।

३ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा । —ईशावास्य उप० अर्थात् त्यागपूर्वक भोग करो।

**अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।**
**यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भवः ॥१४॥**
**कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।**
**तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥**
**एवं प्रवर्तित चक्र नानुवर्तयतीह य।**
**अघायुरिन्द्रियारामो मोघ पार्थ स जीवति ॥१६॥**

**शब्दार्थ :** भूतानि अन्नात् भवन्ति अन्नसम्भव पर्जन्यात् पर्जन्य यज्ञात् भवति यज्ञ कर्मसमुद्भव =सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति मेघ ( वृष्टि ) से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है, **कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् तस्मात् सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम्**=कर्म को ब्रह्म ( वेद ) से उत्पन्न हुआ समझ, ब्रह्म ( वेद ) अविनाशी ( परमात्मा ) से उत्पन्न हुआ है, इस कारण से सर्वव्यापी ब्रह्म ( अक्षर, अविनाशी परमात्मा ) सदा ही यज्ञ मे प्रतिष्ठित है, **पार्थ य इह एव प्रवर्तित चक्र न अनुवर्तयति स इन्द्रियाराम अघायु मोघ जीवति**=हे अर्जुन, जो मनुष्य इस ससार मे इस प्रकार चलाये हुए सृष्टि-चक्र का अनुपालन नही करता, वह इन्द्रियो के सुख को भोगनेवाला पाप-आयु व्यर्थ ही जीवित है।

**वचनामृत** सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते है, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान और वेद को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान। इस कारण से सर्व-व्यापी ( परम अक्षर ) परमात्मा नित्य ही यज्ञ मे प्रतिष्ठित है। हे पार्थ, जो मनुष्य इस लोक मे इस प्रकार प्रवर्तित सृष्टि-चक्र के अनुसार नही चलता, वह इन्द्रियो के भोगो मे लिप्त पापायु मनुष्य व्यर्थ ही जीवित है।

**सन्दर्भ :** सृष्टि-चक्र को प्रवर्तित रखने के लिए यज्ञ की आवश्यकता है। सृष्टि-चक्र यज्ञ पर निर्भर है। कर्म अर्थात् स्वधर्म-पालन ही यज्ञ है, जो सृष्टि-प्रवर्तन के मूल पर है।

**रसामृत :** यह सृष्टि-चक्र परम ब्रह्म द्वारा प्रवर्तित एव सचालित ब्रह्म-चक्र है, जिसके मूल मे ज्ञानस्वरूप एव आनन्दस्वरूप परम ब्रह्म विराजमान है। यह परमात्मा का महायज्ञ है। परमात्मा का अशस्वरूप आत्मा मनुष्यो मे विराजमान है। मनुष्यो का यह पुनीत कर्तव्य है कि यज्ञ-भावना अर्थात् श्रेष्ठ भावना ( आत्मबलिदान की परमोच्च भावना ) से ओतप्रोत होकर नियत कर्म ( स्वधर्म-पालन ) द्वारा इस सृष्टि-चक्र का अनुवर्तन करते रहे। वास्तव मे परमात्मा द्वारा प्रवृत्त जगत्-चक्र का आधार कर्म है। इस दृष्टि से जगत्-चक्र कर्म-चक्र ही है। सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथ्वी आदि सभी अपने-अपने स्थान पर अपना नियत कर्म कर रहे हैं। मनुष्य के लिए वे प्राकृत देव है। मनुष्य का व्यक्तिगत एव समूहगत कल्याण कर्म पर ही आधारित है। व्यक्ति का हित तथा लोक-हित परस्पराश्रित है। मनुष्य का कल्याण तथा ससार का कल्याण एक ही तथ्य के दो पहलू है। व्यक्ति से समष्टि तथा समष्टि से व्यक्ति का हित होता है। व्यक्ति समष्टि के लिए तथा समष्टि व्यक्ति के कल्याण का हेतु है। मनुष्य और समाज के हित कदापि परस्पर विरोधी नही होते, बल्कि परस्पर पूरक होते हैं। व्यक्ति अपने स्वार्थ एव अधिकार को छोडकर तथा आत्मबलिदान एव कर्तव्य-पालन पर बल देकर परिवार को समुन्नत, समृद्ध और सुखी कर सकता है तथा इसी प्रकार परिवार राष्ट्र को और राष्ट्र विश्व को समुन्नत, समृद्ध और सुखी कर सकता है। **नान्यः पन्थाः।** अर्थात्, अन्य कोई मार्ग अथवा उपाय नही है।

अतएव, जन-कल्याण को निज कल्याण, परोपकार को अपना उपकार, परसेवा को अपनी सेवा तथा दूसरो के सुख को अपना सुख मानकर तथा आत्मबलिदान की भावना से युक्त होकर नियत कर्म, कर्तव्य-कर्म अथवा स्वधर्म करना ही यज्ञ-भावना से कर्म करना है अथवा यज्ञ करना है। परमोच्च भावना से कर्तव्य-कर्म करना अर्थात् स्वधर्म-पालन करना यज्ञ है तथा ऐसे कर्मयोगी का जीवन एक महायज्ञ होता है। श्रीकृष्ण व्यक्ति के त्यागमय कर्म को विश्व-कल्याण का महासूत्र बता रहे है। मनुष्य ईश्वर की सोद्देश्य सृष्टि मे यज्ञ-भावना से कर्म करके सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति का उपकरण एव यन्त्र बनकर कृतार्थ हो जाता है। प्रत्येक परिस्थिति मे कर्मरत रहकर आत्मसन्तुष्ट कर्मयोगी का जीवन धन्य होता है।

इस जगत्-चक्र मे प्राणियो की उत्पत्ति एव पोषण अन्नादि भोज्य पदार्थ से होता है। अन्न ही शरीर मे रक्ताणु, जीवाणु आदि बनकर जन्म का कारण होता है तथा अन्न से ही शरीर का पोषण होता है।[1] अन्न उत्पन्न होने का कारण वृष्टि होती है।[2] वृष्टि का कारण यज्ञ होता है। यज्ञ का अर्थ है परमोच्चभावना ( आत्मबलिदान की भावना, लोक-कल्याण की भावना, परमार्थ-भावना ) से युक्त होकर नियत कर्म ( अपना कर्तव्य-कर्म, स्वधर्म-पालन ) करना। नियत कर्म के अन्तर्गत ही नियत कर्म के रूप मे अग्निहोत्र आदि द्रव्ययज्ञ भी हैं तथा अग्निहोत्र आदि भी वाष्प-निर्माण मे सहायक होते

---

१. **अन्नादेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति।** —तैत्तिरीय उप०, ३ २
अर्थात् अन्न से ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही प्राणी जीते हैं।

२ **अग्नौ प्रास्ताहुति सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।**
**आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं तत प्रजाः॥**
—मनुस्मृति, ३ ७६

—अग्नि मे सम्यक् प्रकार से दी गयी आहुति रश्मि के द्वारा सूर्य मे जाकर स्थित हो जाती है। सूर्य से वृष्टि और वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है तथा अन्न से प्रजा का जन्म होता है। ( सूर्य समुद्र-जल को वाष्प बनानेवाला वृष्टि का अपर हेतु होता है। )

हैं।[१] द्रव्ययज्ञ भी एक यज्ञ है, किन्तु वह समस्त यज्ञ का पर्याय नही हैं।

लोक-कल्याण के लिए किये हुए सत्कर्म यज्ञ होते हैं तथा मनुष्यो के सत्कर्मरूप यज्ञ से वृष्टि होती है— ऐसा कहने तात्पर्य यह भी है कि प्रकृति मानव-समाज के कर्मों के अनुसार फल देती है। यदि अधिकाश मनुष्य स्वार्थी, लोभी और दुष्ट हैं तो अनावृष्टि या अतिवृष्टि आदि दैवी प्रकोप होते हैं तथा यदि अधिकाश मनुष्य उदार, अच्छे और सच्चे हैं तो यथासमय पर्याप्त वर्षा आदि दैवी सहायता होती है। मानव-समाज के क्रिया-कलाप और भावनाओ का प्रभाव प्रकृति पर होता है। मनुष्यो मे परस्पर प्रेम एव सद्भावना होने पर दैवी सहयोग मिलता है तथा प्रकृति अनुकूल फल देती है। प्रकृति व्यष्टि और समष्टि को उनकी भावना एव कर्म के अनुसार फल देती है। मनुष्यो की उन्नति के लिए दैवी सहयोग की आवश्यकता होती है। सद्भावना एव सत्कर्म होने पर दिव्य शक्तियाँ ( देवता ) मनुष्य की उन्नति मे सहयोग करती है।

मनुष्य विज्ञान की शक्ति से प्रकृति पर विजय पाने का मिथ्या दम्भ करता है। मनुष्य अपनी सद्भावना एव सत्कर्म द्वारा प्रकृति को अनुकूल वना सकता है तथा वुद्धि के अहकार से प्रकृति पर कदापि विजय नही पा सकता, बल्कि प्रकृति के नियमो के साथ व्यर्थ छेडछाड करके प्रकृति के प्रकोप का भाजन हो जाता है। प्रकृति के नियमों एव रहस्यो को जानकर लोक-कल्याण के लिए उनका सदुपयोग करना चाहिए।

यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है—ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि क्रियाशील होकर उच्च भावना से शास्त्रो द्वारा विहित कर्म अथवा नियत कर्म करना अथवा लोकोपकार-भावना से स्वधर्म-पालन करना यज्ञ है। कर्म से यज्ञ की उत्पत्ति होती है अर्थात् कर्म करना ही यज्ञ करना है। परमोच्च कर्म ज्ञानमय वेद से उत्पन्न होता है अर्थात् समस्त उत्तम कर्म वेदो मे सन्निहित दिव्य ज्ञान से प्रेरित होता है। वेद कर्म का कारण ( प्रेरक ) एव प्रमाण है। ज्ञानमय वेद ज्ञानस्वरूप परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं।[१] इस प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा स्वय यज्ञ ( लोकोपकारक उत्तम कर्म ) मे विराजमान है तथा यज्ञ साक्षात् परमात्मा का स्वरूप है।

इस प्रकार परमात्मा द्वारा प्रवर्तित एव सचालित ससार-चक्र का स्वधर्मरूप कर्म से अनुवर्तन करना ( उसे चलाना ) मनुष्य का परम कर्तव्य है तथा जो मनुष्य इन्द्रियो की तृप्ति मे रत रहकर इसका उल्लघन करता है, वह पापी है और समाज के लिए भारभूत है। मनुष्य आसक्ति एव कामना अथवा स्वार्थ एव सकीर्णता का परित्याग करके ससार-चक्र के सन्तुलन एव सुव्यवस्था की रक्षा कर सकता है। विषयलोलुप मनुष्य जो वृहद् समाज के लिए कुछ भी उपयोगी नही होता तथा केवल 'खाओ और मौज उडाओ' के स्वार्थपूर्ण सिद्धान्त का आचरण करते हुए समाज द्वारा दिये हुए सुखो का उपभोग करता है, वह न सुयश प्राप्त करता है, न शान्ति ही। परोपकार प्रकृति का नियम है। सूर्य और चन्द्र अपने प्रकाश को, मेघ एव नदी अपने जल को तथा वृक्ष अपने फल को

१ अग्निहोत्र आदि से 'अपूर्व' नामक धर्म की उत्पत्ति होती है, जिससे वृष्टि होती है, ऐसा उल्लेख है।

१ अस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्या उपनिषद श्लोका सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि नि श्वसितानि।—बृहदारण्यक उप०, २ ४ १०

अर्थात् चारो वेद और उनके अन्तर्गत उपनिषद् आदि परमात्मा का नि श्वास हैं। वेद मनुष्य के श्वास की भाँति परमात्मा से अनायास आविर्भूत हुए। वेद अतीन्द्रिय, अलौकिक अर्थात् दिव्य ज्ञान के अथवा प्रमिति ( यथार्थ तत्त्वज्ञान ) के भण्डार हैं। वेद अपौरुषेय हैं।

जगत्-हित के लिए धारण करते है।[1] उत्तम पुरुष भी यज्ञार्थ ( लोककल्याणार्थ ) जीवन-यापन करते है तथा वे आत्मतृप्त रहते हैं। उत्तम पुरुष 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्त को तुच्छ मानते है तथा त्याग और वलिदान की भावना से युक्त होकर लोक-कल्याण के लिए जीवन धारण करने मे कृतार्थता का अनुभव करते हैं।

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
**आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥**
**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।**
**न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥**

**शब्दार्थ :** तु य मानव. आत्मरति. एव च आत्मतृप्तः च आत्मनि एव सन्तुष्ट. स्यात्=किन्तु जो मनुष्य आत्मा मे रमण करनेवाला तथा आत्मा मे ही तृप्त तथा आत्मा मे ही सन्तुष्ट हो, तस्य कार्यं न विद्यते=उसके लिए कुछ कर्तव्य नही है, इह तस्य कृतेन एव अर्थ न अकृतेन कश्चन न=इस लोक मे उस ( आत्मज्ञ ) का ( कर्म ) किये जाने से भी ( कोई ) प्रयोजन नही है ( तथा ) न किये जाने से भी कोई ( प्रयोजन ) नही है, च अस्य सर्वभूतेषु कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः न=और इस ( आत्मज्ञ पुरुष ) का समस्त प्राणियो मे कुछ भी स्वार्थ का नाता नही है।

**वचनामृत :** किन्तु जो मनुष्य आत्मा मे ही रमण करनेवाला और आत्मा मे ही तृप्त तथा आत्मा मे ही सन्तुष्ट है, उसके लिए कुछ भी कर्तव्य नही होता। उस ( आत्मनिष्ठ महापुरुष ) का इस ससार मे न कर्म करने मे प्रयोजन होता है और न कर्म न करने से कोई प्रयोजन होता है तथा सम्पूर्ण प्राणियो में भी इसका कुछ भी स्वार्थ का सम्बन्ध नही रहता।

**सन्दर्भ :** सृष्टि-चक्र का अनुवर्तन करना सभी का कर्तव्य है, किन्तु आत्मनिष्ठ महापुरुष का कोई भी कार्य नही रहता।

**रसामृत :** जगत्-चक्र का कर्म द्वारा अनुवर्तन करते रहना कर्मयोगी का पुनीत कर्तव्य है। किन्तु कर्म द्वारा पूर्ण चित्त-शुद्धि होने पर तथा यथार्थ ज्ञान के उदय द्वारा आत्मसाक्षात्कार होने पर कर्मयोगी के कर्मचक्र की गति भी पूर्ण हो जाती है अर्थात् सिद्धावस्था प्राप्त होने पर उसे कर्तव्य के रूप मे कोई कर्म करना शेष नही रहता। वह परमात्मा को प्राप्त होकर इस प्रकार अचल एव शान्त हो जाता है, जिस प्रकार नदी का जल अपने गन्तव्य समुद्र को प्राप्त होकर तादात्म्य द्वारा अचल एव शान्त हो जाता है।

देहाभिमानी ( देह को ही सब कुछ माननेवाला भौतिकवादी ) इन्द्रिय-स्तर पर विषयो मे रति ( विषयासक्ति ) रखता है, मन के स्तर पर भोगो के द्वारा तृप्ति की चेष्टा करता है और बुद्धि के स्तर पर भोगो के सचय और सरक्षण मे तुष्टि का प्रयत्न करता है। रति, तृप्ति और तुष्टि वृत्तियाँ ही है। किन्तु मनुष्य विषयभोगो के पीछे दौडकर कभी न रस प्राप्त करता है और न तृप्त एव तुष्ट होता है। आत्मा के स्तर पर बोध ( आत्मबोध ) एव आनन्दानुभूति होने पर मनुष्य विषय-भोगो से विरत हो जाता है तथा अपने भीतर आत्मा मे ही रत रहकर ( आत्मरत होकर ) आत्मा मे ही रमण एव विहार ( आत्मरमण एव आत्मविहार ) करता

---

१ नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।—ऋग्वेद, ११.११७.६
—जो देवो और सखाजन का पोषण नही करता तथा केवल अकेला सुखभोग करता है, वह पापी होता है।

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगा ॥
पिबन्ति नद्य. स्वयमेव नाम्भ.
स्वय न खादन्ति फलानि वृक्षा।
नादन्ति सस्य खलु वारिवाहा
परोपकाराय सता विभूतय ॥

—सूर्य, चन्द्र, मेघ, नदी, वृक्ष आदि की भाँति सत्पुरुषो की विभूति परोपकार के लिए होती है।

है।[1] आत्मनिष्ठ ज्ञानी अपने वाहर और भीतर निरन्तर ब्रह्म की दिव्यानुभूति का रसास्वादन करता है।[2] वह अपने भीतर ही गहन तृप्ति का अनुभव करके आत्मतृप्त रहता है। आत्मलाभ से बढकर अन्य कोई लाभ नही होता तथा मनुष्य आत्मलाभ पाकर परम तृप्त हो जाता है।[3] वहि जंगत् की समस्त तृष्णाओ से मुक्त होकर वह आत्मा मे ही तुष्ट रहता है। आत्मविद् महात्मा को समाधि से व्युत्थान होने पर जाग्रत अवस्था मे भी द्वैत की प्रतीति होते हुए सर्वत्र परम ब्रह्म की ही अद्वैतानुभूति होनी है। द्वैतमात्र प्रतीति है तथा अद्वैत अनुभूति है। सर्वत्र एकत्व की अनुभूति होने से द्वैत का भ्रम मिट जाता है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'—सब कुछ ब्रह्म ही तो है। आत्मरत, आत्मतृप्त एव आत्मसन्तुष्ट ब्रह्मज्ञानी को अपने आनन्द के लिए आत्मा से वाहर किसी पदार्थ की आवश्यकता नही रहती।

ऐसे आत्मकाम, पूर्णकाम एव आत्माराम महात्मा के लिए ससार मे कोई कर्तव्य-कर्म करना शेष नही रहता, क्योकि वह आत्मानन्द की निमग्नता द्वारा कृतकृत्य हो जाता है तथा वह ससार अथवा शास्त्र के नियमो से परे हो जाता है। वह जीवन्मुक्त होता है तथा परमात्मा का ही स्वरूप हो जाता है। कोटि-कोटि मनुष्यो मे कोई एक

१ 'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द' अर्थात् आत्मज्ञानी आत्मा मे ही रति, क्रीडा, विहार करता है।

२ 'वहिरन्तश्च सर्वत्र ब्रह्मं व मापयति ग्राहयति मान प्रत्यग्दर्शन तदेव सर्वदा वापि भजतीति मानवो ब्रह्मविद् यति.' अर्थात् वाहर और भीतर सर्वत्र ब्रह्म का ग्रहण करता है वह 'मान' अथवा प्रत्यग् दर्शन होता है। जो मान अर्थात् प्रत्यग् दर्शन को सर्वदा भजता है, वह मानव अथवा ब्रह्मविद यति होता है।

३ 'आत्मलाभान्न पर विद्यते' अर्थात् आत्मलाभ से परे कोई अन्य लाभ नही है।

दिव्यानुभूति द्वारा परमपद को प्राप्त करता है। पूर्णता को प्राप्त ब्रह्मनिष्ठ महात्मा के लिए लोकसग्रह का भी प्रश्न नही होता, क्योकि उसका दर्शनमात्र ही लोक-कल्याणकारक होता है। निर्वन्ध एव विमुक्त ब्रह्मविद्वरिष्ठ सिद्ध महात्मा की दृष्टि मे सभी विमुक्त होते हैं। शौच, आचमन, स्नान, भोजन आदि के लिए भी वह विधि से विमुक्त होता है। परमात्मा के स्वरूप मे स्थित पुरुष कर्तृत्व के अहकार से सर्वथा विमुक्त होता है तथा परमानन्द की दिव्यानुभूति मे निरत रहता है।

ज्ञानी मनुष्य के ज्ञाननिष्ठ होने पर कर्म करने और न करने मे कोई प्रयोजन नही रहता तथा वह जीवन्मुक्त हो जाता है। कर्मयोगी भी कर्मयोग की सिद्धता होने पर तथा ज्ञानोदय हो जाने पर स्वत जीवन्मुक्त हो जाता है। यथार्थ ज्ञान के द्वारा अज्ञान का आवरण दूर होने पर परमात्मा का स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। परमात्मा का दर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार कर्मसाध्य नही होता।[1] ज्ञानी कर्म का परित्याग नही करता, उसका कर्मपरित्याग स्वय हो जाता है। उसके स्वत स्फूर्त कर्म भी कर्म नही माने जाते। कोई प्रयोजन अथवा स्वार्थ शेष न रहने के कारण वह किसी व्यक्ति अथवा वस्तु पर निर्भर एव आश्रित नही रहता। प्राय मनुष्य को पुत्रैषणा ( पुत्र की इच्छा ), वित्तैषणा ( धन और सत्ता की इच्छा ) तथा लोकैषणा ( यश एव प्रतिष्ठा की इच्छा ) बन्धन मे डाल देते हैं। भौतिक इच्छाओ से विमुक्त, नितान्त निष्काम, अत्यन्त अनासक्त ज्ञाननिष्ठ मनुष्य स्वाधीन रहता है। वह पाप-पुण्य के बन्धन से भी विमुक्त होता है।[2]

१ 'नास्त्यकृत कृतेन।' —मुण्डकोपनिषद अर्थात् अकृत ( मोक्ष ) कृतकर्म द्वारा नही प्राप्त होता। ( कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान के उदय द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। )

२. उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते—ये पाप-पुण्य दोनो को अपनी आत्मा में ही मानते हैं।

दिव्य रसामृत से सुतृप्त मानव कृतकृत्य हो जाता है तथा उसके लिए कुछ कर्तव्य अकर्तव्य नही होता। वह निष्क्रिय होकर भी पाषाणवत् जड नही होता, बल्कि चैतन्य-शक्ति का महान् केन्द्रक बनकर अनायास ही लोक को प्रकाश, प्रेरणा, सात्त्विकता एव सबल प्रदान करता है। वह एक खिले हुए पुष्प की भाँति चारो ओर वातावरण को सुगन्धित करता रहता है।

**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।**
**असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥**

**शब्दार्थ : तस्मात् असक्तः सतत कार्यं कर्म समाचर**=अतएव (तू श्लोक १७-१८ मे वर्णित अवस्था को प्राप्त करने के लिए) अनासक्त होकर निरन्तर कर्तव्य-कम का भली प्रकार आचरण कर, **हि असक्त. पूरुष. कर्म आचरन् पर आप्नोति**=क्योकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमपद (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है।

**वचनामृत :** अतएव तू अनासक्त होकर (फलासक्ति छोडकर) निरन्तर कर्तव्य-कर्म कर, क्योकि मनुष्य अनासक्त होकर कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

**सन्दर्भ :** कर्मयोग की साधना मे अनासक्त होकर कर्म करना आवश्यक है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग की साधना मे रत होने का उपदेश करते हुए उसे अनासक्त होकर कर्म करने का आदेश देते है। अर्जुन कोई ज्ञाननिष्ठ सिद्धपुरुष नही है, जिसके लिए शास्त्रविहित कर्म करना निष्प्रयोजन हो जाता है। उसे एक साधक के रूप मे अनासक्ति का अभ्यास करना चाहिए। आसक्ति से कामना का जन्म होता है। अत फल मे आसक्ति छोड़कर कर्म करने का आशय निष्काम कर्म करना ही है। अनासक्त होकर कर्म करने से मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है तथा परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। कर्तव्य-कर्म करने से पाप का क्षय होता है तथा ज्ञान का उदय हो जाता है। ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।[1] अतएव मनुष्य को फल की इच्छा छोड़कर सदैव विहित कर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म (करने के योग्य कर्म) अच्छी प्रकार करने चाहिए। भक्तियुक्त कर्मयोगी अपने कर्मो को ईश्वरार्पण कर देता है तथा फल की इच्छा से मुक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण के आदेश—**'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर'** को स्मरण रखना चाहिए। ('कार्यं कर्म' का अर्थ है कर्तव्यकर्म अथवा स्वधर्म)

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।**
**लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥**

**शब्दार्थ : जनकादयः कर्मणा एव ससिद्धिं आस्थिताः**=जनक आदि (ज्ञानी जन) कर्म से ही सिद्धता को प्राप्त हुए, **हि लोकसंग्रह संपश्यन् अपि कर्तुं एव अर्हसि**= इसीलिए लोकसग्रह को देखता हुआ भी (तू) कर्म करने के योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना चाहिए। (लोक-सग्रह—लोक का सग्रह, लोक को सँभालना, समाज-व्यवस्था की रक्षा करना)

**वचनामृत :** जनक आदि ज्ञानी पुरुष भी (आसक्तिरहित) कर्म द्वारा परम सिद्धता को प्राप्त हुए। अतएव, लोक-सग्रह को दृष्टि में रखते हुए भी तुझे कर्म करना ही चाहिए।

**सन्दर्भ :** लोक-सग्रह के लिए कर्म करना भी महत्त्वपूर्ण होता है।

---

१ **ज्ञानमुत्पद्यते पुसा क्षयात् पापस्य कर्मण.** अर्थात् पाम-कर्मों का क्षय होने से ज्ञान का उदय हो जाता है। **ज्ञानादेव तु कैवल्य**—ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

महात्मा गाधी अनासक्ति पर बल डालते थे तथा उन्होने अपनी गीता-टीका का नाम 'अनासक्तियोग' रखा है। कर्मयोगी वाह्यकर्म द्वारा प्रवृत्तिमार्गी होकर भी अनासक्ति के कारण निवृत्तिमार्गी होता है।

**रसामृत :** जनक आदि अनेक ज्ञानी पुरुष आसक्ति का त्याग करके कर्मयोग की साधना के द्वारा परमात्मा को प्राप्त हो गये। आसक्ति का त्याग करके कर्म करने से अन्त करण शुद्ध हो जाता है तथा स्वच्छ अन्त करण मे स्वत ही यथार्थ ज्ञान का आविर्भाव हो जाता है। यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर परमात्मा का सदर्शन हो जाता है। (आत्म-साक्षात्कार, परमपद-प्राप्ति, परमात्मा की प्राप्ति तथा मोक्ष एक ही तथ्य के अनेक वर्णन है।)

आसक्ति से कामना का जन्म होता है अथवा आसक्ति ही कामना का रूप धारण कर लेती है। अनासक्त एव निष्काम होकर कर्तव्य करने मे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। राजर्षि जनक, अश्वपति इत्यादि अनेक आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त होकर भी लोक-सग्रह की दृष्टि से अर्थात् लोक-कल्याण के लिए अन्त तक कर्म करते रहे तथा उन्होने ज्ञान का उदय होने पर भी कर्म का परित्याग नही किया। अपने आचरण का आदर्श प्रस्तुत करके दूसरो को उत्तम कर्म के लिए प्रेरित करना, दूसरो को उत्तम कर्म मे सलग्न रखना लोक-सग्रह अथवा लोकोपकार होता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि उसे लोक-सग्रह की दृष्टि से भी कर्म करना चाहिए, क्योकि उसके द्वारा कर्म का परित्याग करने पर, युद्ध का परित्याग करने पर, अन्य वीर लोग भी वैसा ही करेंगे और सारी व्यवस्था ही विगड जायगी। तत्त्वज्ञानी सहज भाव से ही लोकोपकारक कर्म करता है तथा उसमे लिप्त नही होता।

जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी विलक्षण होते है तथा वे किसी नियम अथवा परम्परा से वाध्य नही होते। कुछ जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी पुरुष राजर्षि जनक, अश्वपति इत्यादि की भाँति लोक-सग्रह को दृष्टि मे रखकर, अन्त तक प्रत्यक्ष रूप मे सक्रिय रहकर कर्म करते रहते हैं तथा (शुकदेव इत्यादि) कुछ अन्य का कर्म उनसे विलकुल छूट जाता है और वे जनकादि की भाँति समाज मे सक्रिय नही रहते। जव तक कर्म करने की अन्तर्प्रेरणा रहे तव तक कर्म करते रहना चाहिए।[1] जिन ज्ञाननिष्ठ महात्माओ का सक्रिय कर्म पूर्णत उनसे छूट जाता है, वे निष्क्रिय रहकर भी खिले हुए पुष्प की भाँति सात्त्विकता की सुगन्ध का प्रसार करते रहते हैं। इस प्रकार वे भी परोक्ष रूप से लोक-सग्रह करते है।

श्रीकृष्ण अर्जुन के राजसी स्वभाव को जानकर उसे अन्त तक कर्म करते रहने का आदेश देते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन को ज्ञान का उपदेश देकर भी कर्मयोग का ही आदेश देते हैं।

**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन'।**
**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥**

**शब्दार्थ :** श्रेष्ठ. यत् यत् आचरति इतर जन तत् तत् एव = उत्तम पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस-उसको ही (आचरण करते हैं), स यत् प्रमाणं कुरुते लोक तत् अनुवर्तते = वह पुरुष जो कुछ प्रमाण (प्रमाणस्वरूप) कर देता है, लोक (भी) उसीका अनुसरण करते हैं।

**वचनामृत ·** श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस-उसका ही आचरण करते है। वह जो कुछ प्रमाण मानकर आचरण करता है, ससार के लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं।

**सन्दर्भ** श्रेष्ठ पुरुष को लोक-सग्रह का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

---

१ 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' —श्रुति अर्थात् जब भी पूर्ण वैराग्य हो जाय तभी प्रव्रज्या (सम्पूर्ण लौकिक कर्म का त्याग, सन्यास) ग्रहण करना चाहिए। वर्तमान युग मे स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहस, रामतीर्थ, रमण महर्षि इसके उदाहरण हैं।

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः ।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥

—योगवासिष्ठ, ६ १९९४

—आत्मज्ञानी के लिए कर्मत्याग करने से या कर्मत्याग से कोई प्रयोजन नही होता। अत वह जैसा अवसर होता है वैसा करता रहता है।

**रसामृत :** ससार-चक्र परमात्मा द्वारा प्रवर्तित किया गया है। जो उत्तम मनुष्य अपने विचार, वचन और व्यवहार से इसके चलने मे (अनुवर्तन मे) सहयोग देते है, वे परमात्मा की पूजा ही करते है तथा उन्हे जनसमाज मे देवता कहा जाता है। इसके विपरीत जो अधम मनुष्य मन, वाणी और कर्म से जगच्चक्र के अनुवर्तन मे अवरोध उत्पन्न करते हैं, वे पापमय होते हैं तथा उन्हे दानव कहा जाता है।

जीवमात्र के कल्याण मे रत होकर, अपने चिन्तन-मनन एव कर्म द्वारा ससार के मनुष्यो के लिए एक आदर्श स्थापित करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ होता है। जनसमाज के हित मे अपना सर्वस्व होम करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषो का जीवन एक महायज्ञ होता है। वे समाज मे व्याप्त दोष, पापाचार, भ्रष्टाचार और अन्याय के प्रतिरोध मे, व्यक्तिगत राग-द्वेष एव प्रतिशोध की भावना से विमुक्त होकर, अपना स्वर ऊँचा करके जन-जागरण करते है तथा अनेक कष्ट सहन करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष सकीर्ण स्वार्थों तथा अपने भोगैश्वर्य का परित्याग करके दूसरो के जीवन को सुखमय बनाते है। वे परार्थ एव परमार्थ के लिए जीते है, इन्द्रिय-भोग के लिए नही। सकीर्ण एव स्वार्थरत मनुष्य कभी महान् नही हो सकता, क्योकि वह त्याग करना नही जानता। त्याग का मार्ग कष्टदायक, कठिन और दुर्गम होता है। शिव ने समुद्र-मन्थन मे गरल पान करके देवो और दानवो के जीवन की रक्षा की।[1]

१ **'तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजाना स्वस्तिरस्तु मे'**— मैं विषपान कर लेता हूँ, जिससे प्रजाओ की रक्षा हो सके। विषपान के कारण शिव के गले मे नीला चिह्न है, जो साधुस्वरूप नीलकण्ठ शिव का विभूषण है। **'यच्च-कार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम्।'**

महात्मा ईसा, सुकरात, गाधी, लिंकन, कापरनिकस, गैलीलियो, गुरु गोविन्दसिंह, स्वामी दयानन्द आदि महा-पुरुषो ने अपने-अपने क्षेत्र मे सत्य एव न्याय के लिए आत्मबलिदान करके कोटि-कोटि मानवो का हित किया। महात्मा ईसा ने आत्मबलिदानी महापुरुषो को समाज का 'नमक' अर्थात् श्रेष्ठ तत्त्व कहा है।

परहित के लिए स्वार्थ त्यागकर कष्ट सहन करना महानता का लक्षण है। वास्तव मे, परहित करना पुण्य है और परपीडा करना पाप है। पाप पुण्य, भला-बुरा तथा उत्कृष्ट-निकृष्ट का प्रमाण श्रेष्ठ जन अपने उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते है। श्रेष्ठ पुरुषो का जीवन धर्मशास्त्रो एव नीतिशास्त्रो की सटीक व्याख्या होती हैं। भोगवादी सम्राट् भी मरकर सदा के लिए मिट जाते है, किन्तु लोकसग्रह (लोकहित) मे रत आत्मबलिदानी मरकर भी अमर रहते है तथा इतिहास मे उनके नाम तथा जीवनवृत्त का उल्लेख स्वर्णाक्षरो मे होता है।

जिस समाज मे सात्त्विक पुरुष आलोचना के भय से सत्य कहने और सत्याचरण करने मे सकोच करते है, वहाँ दुष्टजन आगे बढकर नेतृत्व ले लेते हैं तथा सत्ता का अधिग्रहण कर लेते है। दुष्ट जन झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करके स्वार्थ-पूर्ति द्वारा समाज मे भ्रष्टता का प्रचार एव प्रसार करते हैं। दुष्ट व्यक्ति अध समाज को पतन एव विनाश की ओर ले जाता है। सात्त्विक वृत्ति से युक्त तथा सकीर्ण राग-द्वेष से विमुक्त श्रेष्ठ पुरुषो का दायित्व होता है कि वे समाज के हित मे आलो-चना और निन्दा तथा कष्ट और यातना का भय छोड़कर समाज का साहसपूर्वक मार्गदर्शन करे। साधारण मनुष्य तो पीछे चलनेवाले होते है[1] तथा उत्तम जन का नेतृत्व न मिलने पर वे कुटिल नेताओ के पीछे चल देते है।

मनुष्य नैसर्गिक प्रवृत्तियो के अतिरिक्त बुद्धि के द्वारा भी सीखता है, किन्तु विवेक, अनुभव एव साहस के अभाव मे अधिकाश मनुष्य बालको तथा पशुओ की भाँति दूसरो के अनुसरण द्वारा जीवन-यापन करना सीखते हैं। मनुष्य उस व्यक्ति के रूप को अपने मन मे गहरे स्तर पर अकित कर लेते है, जो उन्हे प्रभावित कर देता है तथा उसे ही अपना

१ **गतानुगतिको लोकः** अर्थात् साधारण मनुष्य पीछे चलनेवाले, भेडाचालवाले, होते हैं।

प्रामाणिक पथ-प्रदर्शक मानकर उसका अनुसरण करते है। महापुरुष अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष अपने आचरण द्वारा दूसरो के चलने के लिए मार्ग का निर्माण करते हैं तथा राह वही होती है, जिस पर महापुरुष चले हो।[1]

साधारण लोग तर्क-वितर्क एव विवाद मे नही पडते तथा उस मनुष्य का उदाहरण दे देते हैं, जिससे वे प्रभावित होते है। वे जिसे भी श्रेष्ठ मानते हैं, उसके आचरण को अनुकरणीय मानकर, उसके समान ही व्यवहार करने लगते हैं। समाज श्रेष्ठ पुरुष के आचरण को मानदण्ड अथवा आदर्श मानकर उसका अनुसरण करता है। राम का चरित्र सारे ससार के सामने उज्ज्वल चरित्र का एक उदाहरण है। अतएव यह उक्ति है कि राम की भाँति व्यवहार करना चाहिए, रावण की भाँति नही।[2] श्रेष्ठ पुरुष को परहित करना स्वान्त सुख प्रदान करता है[3] तथा वही उसका पुरस्कार होता है।

श्रेष्ठ पुरुप जीवन-यापन की कला का मर्मज्ञ होता है तथा समाज के सामने अपने उज्ज्वल चरित्र का एक आदर्श प्रस्तुत करता है। उसका चरित्र युगो तक मानव-समाज के लिए प्रकाश-स्तम्भ बनकर जीवन-पथ को प्रशस्त करता है तथा उदाहरण बनकर अमर प्रेरक बन जाता है। साधारण जन उससे प्रकाश एव प्रेरणा प्राप्त करते हैं। श्रेष्ठ पुरुप राग-द्वेप-विमुक्त होकर अपनी अन्तरात्मा मे स्थित परमात्मा की ध्वनि से प्रकाश एव प्रेरणा प्राप्त करता है। अपनी अन्तरात्मा की ध्वनि का अनुसरण करने के कारण उसे अनेक बार अकेला चलना पडता है।[1] वह लोकप्रियता के दुश्चक्र मे नही पडता, क्योकि लोक मे स्वभाव, रुचि और मत की विभिन्नता होती है। मनुष्य अन्तरात्मा की ध्वनि को सुनकर तथा सत्य के मार्ग पर चलकर ही लोकमान्य होता है, लोक का अनुसरण करके नही। लोकप्रियता का लोभ मनुष्य को सत्य की राह से भटका देता है। श्रेष्ठ पुरुष यज्ञ-भावना से स्वधर्म-पालन करके अपने दृष्टान्त द्वारा लोगो मे कर्तव्य-भावना को जगा देता है। वास्तव मे लोगो को कर्तव्य के प्रति जागरूक करना, लोगो को जीवन मे ऊँचा उठने के लिए उत्साहित करना तथा लोगो को उत्तम कर्म के लिए सप्रेरित करना श्रेष्ठता का लक्षण होता है।

परिवार मे माता-पिता श्रेष्ठ होते हैं। माता-पिता का आचरण सन्तान के मन पर गहरे सस्कार डालता है, जो उनके भविष्य का निर्माण करते हैं। माता-पिता ही बच्चो को वास्तविक शिक्षा देते हैं, जो उन्हे जीवन मे सुख-समृद्धि दे सकती हैं। माता-पिता जो भी बडे और छोटे, अच्छे और बुरे तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष, विचार, कथन और कर्म करते है, बच्चे उन्हे देख लेते हैं और उन पर उनका सस्कार पड जाता है। माता-पिता परस्पर प्रेम करते हुए परिवार के सामने अपने व्यवहार का उत्तम आदर्श रखकर ही अर्चनीय हो सकते हैं। माता-पिता के उत्तम आचरण का अनुसरण करना चाहिए, दोषपूर्ण आचरण का नही। सतान का कर्तव्य है कि वे माता-पिता के दोषो पर ध्यान न दें तथा उन्हे पूज्य मानकर उनका सम्मान करें। माता पृथ्वी से भी भारी और पिता आकाश से भी

१ महाजनो येन गत स पन्था अर्थात् महापुरुष जिस राह से चले हो, वही राह सुरक्षित होती है।

२ रामादिवत् व्यवहर्तव्यं न रावणादिवत्।

३ स्वान्त.सुखाय परहिताय च।

१ गाधीजी को रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह पद प्रिय था—एकला चलो रे।

सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय।

—कालिदास

अर्थात् सन्देह होने पर अन्त करण की ध्वनि प्रमाण होती है।

ऊँचा होता है।' माता-पिता सदैव सन्तान को अपने से बडा तथा सुखी देखना चाहते है। मेरा-तेरा की सकीर्ण भावना परिवारो को कलह और क्लेश द्वारा साक्षात् नरक बना देती है। परिवार मे सबको एक-दूसरे की भावनाओ का आदर करना चाहिए तथा प्रेम, सहनशीलता, क्षमा और सहयोग द्वारा परिवार के वातावरण को मधुर बनाना चाहिए। परस्पर वार्तालाप मे किसी बात पर तर्क-वितर्क को इतनी दूर न ले जाना चाहिए कि कलह प्रारम्भ हो जाय तथा उत्तेजना प्रारम्भ होते ही मुस्कराकर वार्ता का विषय ही बदल देना चाहिए। यदि कलह हो जाय तो अहकार छोडकर उसे शीघ्र ही प्रेम से धो देना चाहिए। परस्पर प्रेम तथा सहयोग द्वारा परिवार की सुख-समृद्धि मे योगदान करना परिवार के प्रत्येक सदस्य का पुनीत कर्तव्य होता है। जो मनुष्य परिवार के प्रति उदार है वही समाज का उपकार कर सकता है। परिवार समाज की प्रथम तथा प्रमुख इकाई होती है।

१ मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव—माता, पिता और गुरु को देवता समझो। —श्रुति

'माता गुरुतरा भूमे'—माता पृथ्वी से भी भारी है। —महाभारत

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी—माँ और जन्म-भूमि स्वर्ग से भी बढकर होती हैं।

पाति रक्षति अपत्यं स पिता—सन्तान की रक्षा करनेवाला पिता होता है।

यच्च पुत्र पुन्नामनरकमनेकशततार तस्मात् त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्—पिता को नरक से भी बचा देनेवाला पुत्र होता है।

प्रीणाति सुचरितै. य. पितर स पुत्र —अपने उत्तम आचरण से प्रसन्न करनेवाला पुत्र कहलाता है।

'धन्य जनम जगतीतल तासू,
पितहि प्रमोद चरित सुन जासू।
चारि पदारथ करतल ताके,
प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके।'

इसी प्रकार विद्यालय मे श्रेष्ठजन ( गुरुजन ) का कर्तव्य है कि वे छात्रो के सामने उत्तम व्यवहार का आदर्श प्रस्तुत करके पूज्य बने। छात्रो का भी कर्तव्य है कि वे गुरुओ को देवतुल्य मानकर उनका आदर करें।

यदि श्रेष्ठजन परिवारो और विद्यालयो के नेतृत्व मे चारित्रिक महानता का आदर्श प्रस्तुत करे तो सारा राष्ट्र ही स्वर्ग बन सकता है। सभी को अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए, दूसरो के साथ श्रेष्ठता का व्यवहार करना चाहिए। श्रीकृष्ण ने गीता के इस श्लोक द्वारा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है। श्रीकृष्ण अर्जुन को समझा रहे है कि उसके द्वारा सेनानायक के कर्तव्य का परित्याग करने से सारी व्यवस्था ही बिगड़ जायगी, अतएव उसे अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिए।

**न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।**
**नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥**
**यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।**
**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥**
**उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।**
**संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥**

**शब्दार्थ :** पार्थ=हे अर्जुन, मे त्रिषु लोकेषु किंचन कर्तव्य न अस्ति=मेरे लिए तीनो लोको मे कुछ भी कर्तव्य नही है, च अवाप्तव्य अनवाप्तं न=और ( मुझे ) प्राप्त करने योग्य अप्राप्त नही है, कर्मणि एव वर्ते=( फिर भी मैं ) कर्म मे ही वर्तता हूँ, कर्म करता हूँ, हि=क्योकि, यदि अह अतन्द्रित. जातु कर्मणि न वर्तेय पार्थ सर्वश. मनुष्या. मम वर्त्म अनुवर्तन्ते=यदि मैं सावधान होकर कदाचित् कर्म मे न बरतूँ ( कर्म न करूँ ) तो हे अर्जुन, सब प्रकार से मनुष्य मेरे पथ ( व्यवहार ) के अनुसार व्यवहार करे ( व्यवहार करने लगेंगे ), चेत् अहं कर्म न कुर्या इमे लोका. उत्सीदेयु च सकरस्य कर्ता स्याम्=यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायें और मैं सकर ( अव्यवस्था ) का करनेवाला हो जाऊँ, इमाः प्रजा. उपहन्याम्=( और ) इस समस्त प्रजा को मारनेवाला बन जाऊँ।

वचनामृत हे अर्जुन, मुझे इन तीनों लोकों में न कुछ कर्तव्य करना है और न कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, ( तथापि ) मैं कर्म करता हूँ। क्योंकि, हे अर्जुन, यदि कदाचित् मैं सजग होकर कर्म न करूँ तो मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का ही अनुसरण करने लग जायेंगे ( और निष्क्रिय हो जायेंगे )। यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सब संसार नष्ट-भ्रष्ट हो जाय और मैं अव्यवस्था करनेवाला हो जाऊँगा और इस समस्त प्रजा का विनाशक हो जाऊँगा।

सन्दर्भ कुछ कर्तव्य करना शेष न रहने पर भी लोकसंग्रह करते रहना चाहिए।

रसामृत परमात्मा की सृष्टि में प्रकृति का प्रत्येक अंग निरन्तर कर्मरत है। सूर्य, चन्द्रमा, वायु इत्यादि नियम में बंधकर अनवरत यन्त्रवत् गतिशील रहते हैं। यद्यपि ईश्वर के लिए कोई कर्तव्य निर्धारित नहीं है तथा कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उसके लिए आवश्यक, काम्य अथवा प्राप्य हो तथापि षडैश्वर्यगुणसम्पन्न पूर्णकाम ईश्वर निरन्तर कर्मशील रहकर सृष्टि का संचालन करता है। सर्वेश्वर लोकसंग्रहरूप कर्म में प्रवृत्त रहता है।[1]

योगिराज श्रीकृष्ण पूर्णकाम, आप्तकाम होकर भी महाभारत के युद्ध में पाण्डवों के पक्ष में सक्रिय रहे, यद्यपि उन्हें युद्ध से कुछ लेना-देना नहीं था। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "हे अर्जुन, यदि मैं तटस्थ होकर निष्क्रिय हो जाऊँ तथा न्याय का समर्थन एवं अन्याय का प्रतिरोध न करूँ तो अन्य मनुष्य भी मेरा अनुसरण करके निष्क्रिय हो जायेंगे। यदि मैं कर्म का परित्याग कर दूँ तो लोग भी मेरा अनुसरण करके कर्म का परित्याग कर देंगे और सारी व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जायगी तथा मैं ही अव्यवस्था का दोषी हूँगा।"

श्रीकृष्ण अर्जुन को निरालस्य होकर स्वधर्म-पालन करते रहने का उपदेश करते हैं। श्रेष्ठ मनुष्य को लोकसंग्रह की दृष्टि से भी कर्म करना चाहिए।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

शब्दार्थ : भारत कर्मणि सक्ताः अविद्वांसः यथा कुर्वन्ति तथा असक्तः विद्वान् लोकसंग्रहं चिकीर्षुः कुर्यात् = हे भारत ( अर्जुन ), कर्म में सक्त ( आसक्त ) अज्ञानी लोग जैसे ( कर्म ) करते हैं वैसे ही ज्ञानी लोकसंग्रह को चाहते हुए ( कर्म ) करें, विद्वान् कर्मसङ्गिनां अज्ञानां बुद्धि-भेदं न जनयेत् = ज्ञानी मनुष्य कर्म में आसक्त अज्ञानियों का बुद्धिभेद ( बुद्धि में भ्रम ) उत्पन्न न करें, युक्तः सर्व-कर्माणि समाचरन् जोषयेत्[1] = परमात्मा से युक्त ( मनुष्य ) सब कर्मों को भली प्रकार करता हुआ ( उन्हें कर्म में ) लगा दे।

वचनामृत : हे अर्जुन, कर्म में आसक्त अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त ज्ञानी मनुष्य को भी लोकसंग्रह की दृष्टि से कर्म करना चाहिए। ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म में आसक्तिवाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे। परमात्मा के स्वरूप में स्थित मनुष्य को चाहिए कि वह समस्त कर्म उत्तम प्रकार से करता हुआ अज्ञानी लोगों से भी कराये।

सन्दर्भ श्रीकृष्ण लोकसंग्रह के महत्त्व का वर्णन करते हैं।

रसामृत परमात्मा को प्राप्त आत्मज्ञ ( विद्वान् ) पुरुष विरले ही होते हैं। वे अनासक्त होकर भी लोकसंग्रह की दृष्टि से उसी प्रकार दिन-रात उत्साह और लगन के साथ कर्म करते हैं, जैसे

---

१ निर्गुण निराकार परम ब्रह्म ही माया के आवरण से युक्त होकर सृष्टि रचने पर सगुण ईश्वर कहलाता है।

१ पाठान्तर 'योजयेत्' है।

भोगो मे आसक्त मनुष्य इन्द्रिय-तृप्ति के लिए स्वार्थमय कर्म करते है। दूर से देखने पर अनासक्त आत्मवित् महात्मा और भोगासक्त साधारण मनुष्य—दोनो ही उत्साह की समानता के कारण समान प्रतीत होते हैं, किन्तु भीतर दोनो मे बहुत अन्तर होता है। ब्रह्मवित् ( आत्मज्ञ, तत्त्वज्ञ ) मनुष्य मे कर्तृत्व का अभिमान नही होता तथा वह तत्त्वज्ञान के कारण कर्म करते हुए भी कर्म करने का ( कर्ता होने का ) अहकार नही करता। ज्ञानी कहता है, "मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ तथा कर्म का मात्र द्रष्टा हूँ। ईश्वर के सकल्प से प्रकृति के गुणो द्वारा कर्म हो रहा है। मै न कर्ता हूँ, न कर्म अथवा कर्मफल से मेरा सम्बन्ध है।" उसका नितान्त आसक्तिरहित कर्म बन्धनकारक नही होता।

यद्यपि परमात्मा को प्राप्त सिद्ध पुरुष के लिए कुछ करना आवश्यक नही रहता तथा उसका कोई कर्तव्य शेष नही रहता, तथापि प्रभु-प्रेरणा एव स्फुरणा से वह समाज-व्यवस्था की दृष्टि से अनासक्त होकर लोक-शिक्षा के लिए सहज भाव से कर्म करता है, जिसका अनुसरण करके साधारण जन भी उत्तम कर्म के मार्ग का ग्रहण कर लेते है। परमात्मा को प्राप्त कोई आत्मज्ञानी ऐसे भी होते हैं, जो लौकिक कर्म का सर्वथा परित्याग कर देते है तथा आत्मसस्थित रहते हैं। ऐसे आत्मसस्थित एव आत्मदर्शी तेजोपुञ्ज पुरुष तेजस्वी सूर्य की भाँति अपने आध्यात्मिक तेज से ससार मे सात्त्विकता का प्रकाश फैलाते है तथा परोक्ष मे लोक-कल्याण करते हैं। ऐसे ब्रह्मवित् महात्मा अन्य लोकसग्रह की दैवी इच्छा से स्फुरित एव सप्रेरित ( लोकसग्रह-चिकीर्षु ) होनेवाले आत्मज्ञ सिद्ध पुरुषो की भाँति पथ-प्रदर्शन का प्रत्यक्ष कर्म नही करते।

लोकसग्रहचिकीर्षु ( लोकसग्रह करने की दैवी इच्छा से युक्त, स्फुरित एव प्रेरित ) आत्मनिष्ठ महापुरुष लोक-शिक्षा का कार्य अत्यन्त सावधान होकर करते हैं। वे अल्पज्ञ मनुष्यो को अपने ज्ञान से भ्रमित नही करते तथा इच्छारहित होकर भी लोक कल्याण के लिए स्वय कर्मरत रहकर एक आदर्श प्रस्तुत करते है, जिसका अनुसरण करके साधारण जन भी भवसागर से सुखपूर्वक उत्तीर्ण हो जाते है। वे अज्ञजन का तिरस्कार नही करते तथा उन्हे धीरे-धीरे सोपान द्वारा ऊँचे तक ले जाते है। सफल शिक्षक छात्रो मे पहले अपनी पाठ्य-सामग्री के प्रति रुचि उत्पन्न करता है और फिर उन्हे धीरे-धीरे सरल से जटिल तथा सुगम से दुर्गम की ओर ले चलता है। बालक और प्रौढ समान नही होते। चिकित्सक भी रोगी को पहले सुपाच्य पदार्थ देता है तथा उसके स्वस्थ होने पर उसे गरिष्ठ भोजन दिया जाता है। उत्तम शिक्षक शिक्षार्थी की रुचि एव क्षमता के अनुसार ही उसे शिक्षा देता है।

अज्ञजन आत्म और अनात्म, दिव्य और भौतिक अथवा शाश्वत और नश्वर का भेद नही करते तथा भोग्य पदार्थो मे आसक्त होकर उनके सचय आदि मे अपनी समस्त शक्ति लगा देते हैं। विषयी लोगो को गूढ तत्त्वोपदेश देकर विचलित करना अविवेक ही है। आत्मज्ञानी अपने उदात्त आचरण द्वारा उनका पथ-प्रदर्शन करते हुए उन्हे परोपकार, सेवा, दान आदि उत्तम कर्म करने की प्रेरणा दे सकता है। किसी मनुष्य को अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन से प्रभावित करने के स्थान पर श्रेष्ठ आचरण द्वारा उत्तम कर्म के लिए प्रेरित करना चाहिए। जो तत्त्वज्ञ साधारण मनुष्यो को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देकर उनसे कर्म का परित्याग करा देते हैं, वे अनिष्ट करते हैं।[1] अनासक्ति की आड़ लेकर

---

१ अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥

अर्थात् जो अज्ञ या अर्द्धप्रबुद्ध मनुष्य को 'सब ब्रह्म है' ऐसा उपदेश करता है वह उसे महानिरय ( महानरक ) समूहो मे गिरा देता है।

लोग अकर्मण्य हो जाते है। अत आत्मज्ञानी को विना इच्छा अथवा प्रयोजन ही लोक-व्यवस्था के हित मे स्वय कर्म करते हुए दूसरो को भी कर्म मे लगाना चाहिए।

**प्रकृते. क्रियमाणानि गुणै. कर्माणि सर्वशः।**
**अहकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥**
**तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयो.।**
**गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥**
**प्रकृतेर्गुणसमूढा सज्जन्ते गुणकर्मसु।**
**तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।२९।**

**शब्दार्थ** सर्वश कर्माणि प्रकृते गुणै क्रियमाणानि=सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणो से किये जाते है, **अहंकारविमूढात्मा अह कर्ता इति मन्यते**=अहकार से विमूढ अन्त करणवाला मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है, तु **महाबाहो गुणकर्मविभागयो तत्त्ववित् गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते**=परन्तु हे महाबाहो ( अर्जुन ), गुण विभाग और कर्म-विभाग के तत्त्व को जाननेवाला पुरुष 'सम्पूर्ण गुण गुणो मे वरत रहे है,' ऐसा मानकर ( उनमे ) आसक्त नही होता, **प्रकृते गुणसंमूढा गुणकर्मसु सज्जन्ते**=प्रकृति के गुणो से समूढ मनुष्य गुण और कर्मों मे आसक्त होते हैं, **तान् अकृत्स्नविद मन्दान् कृत्स्नवित् न विचालयेत्**=उन पूर्णता से न जाननेवाले मन्दपुरुषो को पूर्णता से जाननेवाला ( ज्ञानी ) विचलित न करे।

**वचनामृत** सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणो द्वारा किये जाते हैं ( किन्तु ) अहकार के कारण विमूढ अन्त करणवाला मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। परन्तु, हे विशाल भुजावाले अर्जुन, गुण-विभाग और कर्म-विभाग के तत्त्व को जाननेवाला ( ज्ञानयोगी ) सम्पूर्ण गुण ही गुणो मे बरत रहे है, ऐसा समझकर उनमे आसक्त नही होता। प्रकृति के गुणो से विमूढ हुए मनुष्य गुणो मे और कर्मों मे आसक्त रहते हैं। उन अल्पज्ञ मन्दपुरुषो को पूर्णतया जाननेवाला ( ज्ञानयोगी ) विचलित न करे।

**सन्दर्भ** . इन तीनो श्लोको में प्रकृति का वर्णन करते हुए ज्ञानयोगी के दृष्टिकोण की चर्चा की गयी है।

**रसामृत** · श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म मे अनासक्त होने का उपदेश देते हुए ज्ञानयोगी के दृष्टिकोण की व्याख्या कर रहे है। मनुष्य के भीतर स्थित आत्मा शुद्ध, नित्यमुक्त और चैतन्यस्वरूप परमात्मा का अश होने के कारण शुद्ध, नित्यमुक्त और चैतन्य-स्वरूप आत्मा है। ससार मे जो कुछ कर्म हो रहा है, वह प्रकृति के गुणो का खेल है।[1] मनुष्य के द्वारा होनेवाला समस्त कर्म भी प्रकृति के गुणो का कार्य है तथा मनुष्य मे सस्थित निर्लेप आत्मा उससे मुक्त है, किन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपने को कर्मों का कर्ता मान लेता है। मनुष्य की चेतना के अनेक स्तर है। मनुष्य अन्तिम स्तर ( आत्मा के स्तर ) पर देह, इन्द्रिय, मन इत्यादि द्वारा किये गये कर्मों का कर्ता नही है। मनुष्य अपने को अज्ञान ( विमूढता ) के कारण कर्ता मानकर सुखी-दु खी होता है। आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व का भेद करना ज्ञान है, अनात्मतत्त्व ( देह ) को आत्मतत्त्व 'मैं' मानना दु खदायक अज्ञान है तथा जीवात्मा और परमात्मा की एकता का बोध मुक्ति है।[2]

माया अथवा प्रकृति परमात्मा की शक्ति है, जिसके द्वारा ससार-चक्र चलता है। प्रकृति के गुण

---

१ **प्रकृतिप्रधानं सत्त्वरजस्तमसां गुणाना साम्यावस्था**—शकराचार्य। अर्थात् प्रकृतिप्रधान सत्त्व-रज-तम गुणो की साम्य अवस्था होती है। **'प्रधानशब्देन मायाशक्तिरुच्यते'**—आनन्दगिरि। 'प्रधान' का अर्थ माया की शक्ति है। 'प्रधान' कपिल के साख्य का पारिभाषिक शब्द है। **प्रकृतिर्माया सत्त्वरजस्तमोगुणमयी मिथ्याज्ञानात्मिका परमेश्वरी शक्ति**—मधुसूदनाचार्य। अर्थात् प्रकृति सत्त्व-रज-तम गुणो से युक्त माया है, जो परमेश्वर की मिथ्या अज्ञानात्मिका शक्ति है।

२ **'अनात्मनि आत्माभिमानी'** अर्थात् अनात्मतत्त्व मे आत्मा का अभिमान करनेवाला विमूढ है।

ही कर्ता, कर्म, कार्य, करण के रूप में खेल को चला रहे है। तत्त्वदृष्टि से माया मिथ्या है तथा मनुष्य का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व ( कर्ता और भोक्ता होने ) का अभिमान भी मिथ्या है। नदी मे नौका के चलने पर नौका मे स्थित यात्री को तटवर्ती वृक्ष विपरीत दिशा मे जाते हुए तथा अपनी नौका स्थिर प्रतीत होती है। यह मिथ्या अनुभव का उदाहरण है।

जो मनुष्य प्रकृति के गुणो और उसके कार्यो[1] के वास्तविक रूप को जानता है तथा यह जानता है कि गुण ही परस्पर क्रिया, प्रतिक्रिया कर रहे है, वह कर्म मे आसक्त नही होता। तत्त्ववेत्ता ज्ञानी जानता है कि प्रकृति के तीन गुण और उनके कर्म चित्स्वरूप, अचल, सर्वगत एव सनातन आत्मा को स्पर्श नही करते। मनुष्य अपने को देह, इन्द्रिय आदि मानकर अज्ञानवश गुणो के कार्य को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। वह प्रकृति के वशीभूत होकर मिथ्या अहकार का पोषण कर लेता है। वास्तविक अह ( आत्मा ) दिव्य, नित्य और चेतन है तथा तटस्थ, साक्षीभूत है।

अनासक्त आत्मज्ञानी का कर्तव्य है कि वह कर्म मे आसक्त अल्पज्ञ लोगो को तिरस्कृत न करे तथा उन्हे अपाच्य उपदेश देकर विचलित न करे। मन्दबुद्धि लोग अनासक्ति सीखने की आड मे अकर्मण्य हो जाते हैं। अतएव आत्मज्ञ को लोकसग्रह की दृष्टि से अपनी कर्मठता का उदाहरण प्रस्तुत करके अन्य जन को कर्म के लिए सप्रेरित करना चाहिए तथा धीरे-धीरे तत्त्वज्ञान का ग्रहण कराना चाहिए।

**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।**
**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥**

**शब्दार्थ :** अध्यात्मचेतसा -सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य निराशीः निर्ममः भूत्वा विगतज्वरः युध्यस्व = अध्यात्म-चेतना से समस्त कर्मों को मुझमे समर्पण करके आशारहित ( और ) ममतारहित होकर, सन्तापरहित होकर युद्ध कर। ( सन्यासपूर्ण त्याग )।

**वचनामृत :** अध्यात्म-चेतना से मुझमे ( अन्तर्यामी परमात्मा मे ) सम्पूर्ण कर्मों को समर्पित करके, आशा, ममता और सन्ताप छोडकर, युद्ध कर।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण कर्म-समर्पण द्वारा कर्तव्य-कर्म करने का उपदेश करते है। यह गीता के श्रेष्ठ मन्त्र-श्लोको मे से एक है।

**रसामृत :** यह तो सत्य है कि प्रकाश और जल का मिश्रण नही किया जा सकता तथा दोनो पृथक्-पृथक् होते है, किन्तु दोनो का उपयोग एक ही काल मे हो सकता है। ज्ञान एक प्रकाश है तथा भक्ति एक रस है। दोनो पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु दोनो मानव-जीवन के लिए आवश्यक हैं। ज्ञान विचार है तथा भक्ति भावना है, ज्ञान का उद्गम बुद्धि से है तथा भक्ति का उद्गम हृदय से है। पृथक्-पृथक् होते हुए भी ज्ञान और भक्ति परस्पर विरोधी नही है, बल्कि परस्पर सहायक हैं। दोनो पृथक्-पृथक् होकर भी कुछ सीमा तक परस्पर पूरक है तथा दोनो का लक्ष्य तो एक है ही। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अध्यात्म-बुद्धि से कर्म-समर्पण करने का उपदेश इसको सिद्ध करता है।

आध्यात्मिक चेतना मनुष्य मे विवेक का निर्माण करने मे विशेष सहायक होती है। कदाचित् आध्यात्मिक चेतना से विवेक का उद्भव एव पोषण होता है। आध्यात्मिक चेतना से अनासक्ति का उदय होता है। आध्यात्मिक चेतना का अर्थ यह बोध होना है कि परमात्मा सत् है और जगत् के पदार्थ नश्वर है तथा आत्मा जो मानव का

१. प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रज, तम। इनमे तेईस तत्त्व बनते हैं अर्थात् तेईस तत्त्व प्रकृति के कार्य हैं—मन, बुद्धि, अहकार तथा पाँच सूक्ष्म महाभूत ( पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ) तथा पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियो के विषय ( शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श )। इन तेईस तत्त्वो के समुदाय को गुण-विभाग कहते हैं तथा इनके सघात के आधार पर मनुष्य अहंता अर्थात् अहकार बना लेता है। अन्त करण ( अर्थात् मन, बुद्धि और अहकार ) तथा दस इन्द्रियो ( पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ ) के कर्म से ही यहाँ कर्म-विभाग का तात्पर्य है।

वास्तविक 'अह' है, परमात्मा का अश है। परमात्मा सर्वेश्वर है, नित्य, शुद्ध-बुद्ध एव चैतन्य है। परमात्मा ही सृष्टि के मूल मे स्थित है तथा सृष्टि मे ओतप्रोत है। वह ज्ञान, ध्यान, कर्म और भक्ति द्वारा हमारा प्राप्तव्य है। केवल परमात्मा ही सत् है। समस्त भौतिक पदार्थ असत् अर्थात् नश्वर है। मनुष्य मोह, ममता और वासना छोडकर अर्थात् अनासक्त होकर ही सत्य पर दृढ रह सकता है तथा शान्त एव सुखी रह सकता है। अतएव मनुष्य को कर्म तथा कर्मफल के प्रति अनासक्त ( आसक्ति-रहित ) रहना चाहिए।

मनुष्य को आध्यात्मिक चेतना के उच्च स्तर पर चित्तवृत्ति को परमात्मा के स्वरूप मे लीन करते हुए अपने समस्त कर्मों का समर्पण कर देना चाहिए। मनुष्य भौतिक पदार्थों के प्रति अनासक्त होकर ही कर्म और कर्मफल के प्रति अनासक्त हो सकता है तथा अनासक्त एव भक्तिपूर्ण होने पर वह समस्त कर्म परमात्मा को समर्पण ( पूरी तरह से अर्पण ) कर सकता है। कर्मों का समर्पण ही ( न कि कर्मों का त्याग ) कर्मों का सन्यास ( पूर्ण परित्याग ) है। मनुष्य को ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा परमात्मा के भाव मे ( अध्यात्म-चेतना मे ) स्थित होकर अपने भले-बुरे सभी कर्मों ( पुण्य और पाप ) को परमात्मा के प्रति समर्पित कर देना चाहिए। वास्तव मे सम्पूर्ण कर्म-समर्पण का अर्थ है सम्पूर्ण आत्मसमर्पण।[1]

परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समर्पण ( देह, मन, बुद्धि और अहकार आदि का समर्पण ) परमात्मा के साथ मनुष्य का पूर्ण योग स्थापित कर देता है। भगवद्-शरण ग्रहण करना भव-रोग का श्रेष्ठ उपाय होता है। परमात्मा को सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वसमर्थ तथा अपना परम रक्षक मानकर, भावपूर्ण प्रार्थना द्वारा आत्मसमर्पण करना मनुष्य को निर्भय, निश्चिन्त, सबल और साहसी ही नही, बल्कि परम शान्त एव सम भी बना देता है।

एकान्त स्थल मे जाकर भावपूर्ण प्रार्थना करते हुए अश्रुविमोचन करना मन को निर्मल बना देता है। अपनी हृदय-तन्त्री को झकृत करके मनुष्य अपने भीतर स्थित अन्तर्यामी विश्वात्मा का स्पर्श कर देता है।[1] मनुष्य अपने भीतर चेतना के सागर मे भाव-तरग जगाकर विश्वात्मा की महाचेतना मे तरग उत्पन्न कर देता है तथा घट-घटवासी परमात्मा प्रतिकूल को अनुकूल, अमित्र को मित्र तथा अपरिचित को सहायक बना देता है। प्रभु-कृपा से गरल सुधा हो जाती है, रिपु मित्र हो जाता है, सिन्धु गोपद हो जाता है और अग्नि शीतल हो जाती है।[2] परमात्मा की अनन्तशक्ति एव अनन्त-कृपा का सहारा लेनेवाला मनुष्य कभी नही डूबता तथा भवसागर को पार कर जाता है। अन्तर्यामी तो भीतर ही है तथा उसे खोजने के लिए कही दूर जाने की आवश्यकता नही होती। श्रद्धा और

---

१ आत्मसमर्पण का उपदेश गीता मे अन्य स्थलो पर भी है ( १२.६, १८ ६६ )। एक प्रतीकात्मक कथा है कि राधा और मुरली मे विवाद हुआ। श्रीकृष्ण के लिए राधा प्राणवल्लभा थी, किन्तु मुरली मधुर ओष्ठो पर विराजमान रहती थी। मुरली ने कहा—"मैं अपनी अस्मिता को मिटाकर खोखली हो गयी हूँ तथा श्रीकृष्ण जिस स्वर में बोलते हैं, मैं उसी स्वर मे गाती हूँ।" भक्त आत्मसमर्पण द्वारा परमात्मा का उपकरण अथवा यत्र बन जाता है। कर्मयोगी भक्त कर्म को भक्तिपूर्वक भगवदर्पण करता है, ज्ञानी ज्ञानपूर्वक ब्रह्मार्पण करता है।

१ दुर्योधन की सभा मे दु शासन द्वारा अपमानित द्रौपदी ने भावपूर्ण प्रार्थना की तथा क्षणभर मे भगवान् अनन्त वस्त्र के रूप मे प्रकट होकर उसके सहायक हो गये ( मानो वह वस्त्रावतार था )।

२ गरल सुधा रिपु करै मिताई, गोपद सिंधु अनल सितलाई।—मीरा को विष दिया गया, जो अमृत बन गयातथा उनके अनेक शत्रु मित्र हो गये। हनुमान् के लिए समुद्र गोपद हो गया, प्रह्लाद के लिए अग्नि शीतल हो गयी।

विश्वास की दो आँखो को खोलकर देखने से पग-पग पर परमात्मा की कृपा का दर्शन (अनुभव) हो जाता है।

श्रीकृष्ण कहते है कि मनुष्य को वस्तुओ और व्यक्तियो के आधार पर ससार से आशा नही बाँधनी चाहिए, क्योकि जो आशा का दास है वह सारे ससार का दास है।[१] आशा के साथ निराशा जुड़ी हुई है तथा मनुष्य आशा-निराशा के झूले मे झूलकर अस्थिर हो जाता है। यद्यपि आशा निराशा की अपेक्षा अच्छी है, मनुष्य को भौतिक आशा और निराशा से ऊपर उठ जाना चाहिए तथा निराश नही, बल्कि निराशी अर्थात् नित्य आशा-वान् हो जाना चाहिए। जो सत्य के आचरण पर दृढ है, वह परमात्मा की आज्ञा का पालन करता है तथा उसे कोई शक्ति पराजित एव ध्वस्त नही कर सकती तथा उसे सदैव परमात्मा की सहायता के प्रति पूर्ण आशावान् रहना चाहिए।

जो मनुष्य ममता अथवा 'मेरा-तेरा' के सकीर्ण भौतिक बन्धनो मे बँधा हुआ है, वह कामना से ग्रस्त होता है तथा कभी समस्त कर्मो का समर्पण नही कर सकता। अत मनुष्य को अपनी शान्ति के लिए निर्मम (मेरा-तेरा की सकीर्णता से मुक्त) होना आवश्यक होता है। वास्तव मे, मनुष्य अह-कार एव अभिमान का त्याग करके तथा उदार होकर ही निर्मम (मोहरहित) हो सकता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को समस्त आशंका, चिन्ता, भय, उद्वेग आदि का सन्ताप-ज्वर दूर करके युद्ध करने का स्पष्ट आदेश देते हैं।

अर्जुन एक आदर्श शिष्य है तथा उसने अपना दायित्व गुरु को सौपकर उनसे स्पष्ट आदेश देने की प्रार्थना की।[१] अतएव श्रीकृष्ण भी अनेक युक्तियो से कर्म करने का महत्व बताकर उसे स्वधर्म-पालन के रूप मे युद्ध करने का स्पष्ट आदेश देते है।

श्रीकृष्ण अर्जुन के माध्यम द्वारा मानवमात्र को पवित्रभाव से ईश्वर को समस्त कर्मों का समर्पण करते हुए और आशा की दासता एव ममत्व का बन्धन तोडकर तथा उद्वेगरहित होकर कर्म मे जुट जाने का उपदेश एव आदेश देते हैं।

**ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।**
**श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥**
**ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।**
**सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥**

**शब्दार्थ : ये अपि मानवाः अनसूयन्तः श्रद्धावन्तः नित्य मे इदं मतं अनुतिष्ठन्ति**—जो भी मनुष्य दोष-बुद्धि से रहित (तथा) श्रद्धावान् (होकर) सदा मेरे इस मत के अनुसार आचरण करते हैं, **ते कर्मभिः मुच्यन्ते**—वे कर्मों से (कर्मों के बन्धन से) मुक्त हो जाते हैं। **तु ये अभ्यसूयन्तः अचेतसः एतद् मे मतं न अनुतिष्ठन्ति**—परन्तु जो दोष-बुद्धिवाले अज्ञानी मेरे इस मत के अनुसार आचरण नही करते, **तान् सर्वज्ञानविमूढान् नष्टान् विद्धि**—उन सर्वज्ञानविमूढ लोगो को नष्ट समझ।

**वचनामृत :** जो भी मनुष्य दोष-दृष्टि से रहित (तथा) श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सभी कर्मों से (कर्मों के बन्धन से) मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जो दोष-दृष्टि से युक्त अज्ञानी मेरे इस मत का अनुसरण नही करते हैं, तू उन सर्वविधज्ञान मे विमूढ लोगो को नष्ट समझ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण कर्ममार्ग की श्रेष्ठता पर बल दे रहे हैं।

---

१. **आशायाः ये दासाः ते दासाः सर्वलोकस्य**—जो आशा के दास हैं, ससार की आशा से बँधे हुए हैं, वे सारे ससार के दास हैं। अपेक्षा करना स्वाभाविक है, किन्तु आसक्ति से उत्पन्न आशा सदोष होती है।

१ दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक मे अर्जुन कहता है—"हे श्रीकृष्ण, मुझे निश्चय करके ही अपना आदेश दें। इसी प्रकार तीसरे अध्याय के दूसरे श्लोक मे भी अर्जुन श्रीकृष्ण से स्पष्ट आदेश देने की माँग करता है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि निष्काम कर्मयोग का मार्ग मनुष्य के लिए सब प्रकार से कल्याणप्रद है। जो लोग असूया ( गुण मे भी दोष देखने की वृत्ति ) से रहित होकर गुणो का श्रद्धापूर्वक ग्रहण एव अनुसरण करते है, वे कर्मवन्धन से छूट जाते हैं। इसके विपरीत जो असूया से युक्त और सर्व प्रकार के ज्ञान मे विमूढ होनेवाले है, वे अविवेकी जन इस निष्काम कर्मयोग के उत्तम मार्ग का अनुसरण नही करते और नष्ट-भ्रष्ट हो जाते है। गुरु श्रीकृष्ण निष्काम कर्मयोग का उपदेश देकर चेतावनी दे रहे है कि इसके विपरीत आचरण करनेवाले कभी सुख-शान्ति प्राप्त नही करते। श्रीकृष्ण यह भी स्पष्ट कर रहे है कि बिना श्रद्धा किसी भी उत्तम मत का ग्रहण करना सम्भव नही होता। श्रद्धा होने पर ही ज्ञान का सम्यक् ग्रहण हो सकना है। श्रद्धा और विश्वास का एक युग्म है, जिसके द्वारा ज्ञान सुलभ हो जाता है।[1]

**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।**
**प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥**
**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।**
**तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥**

**शब्दार्थ :** भूतानि प्रकृतिं यान्ति ज्ञानवान् अपि स्वस्या. प्रकृते सदृश चेष्टते=सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् स्वभाव के वश कर्म करते हैं, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है, निग्रह किम् करिष्यति=निग्रह क्या करेगा? इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे व्यवस्थितौ रागद्वेषौ=इन्द्रिय इन्द्रिय के अर्थ में ( समस्त इन्द्रियो के भोग मे ) स्थित राग और द्वेष हैं, तयोः वश न आगच्छेत्=उन दोनो के वश मे नहीं आना चाहिए, हि अस्य तौ परिपन्थिनौ=क्योकि इसके ( मनुष्य के ) वे दोनो विघ्नदायक शत्रु हैं।

**वचनामृत :** सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं ( अपने स्वभाव के वश कर्म करते हैं ), ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। इसमे दमन ( हठ ) क्या करेगा? प्रत्येक इन्द्रिय के विषय मे राग-द्वेष ( राग-द्वेष के हेतु ) छिपे हुए स्थित है। मनुष्य को उन दोनो के वश मे नही होना चाहिए, क्योकि वे दोनो ही मनुष्य के कल्याण-मार्ग मे विघ्न करनेवाले शत्रु हैं।

**सन्दर्भ :** इन्द्रियो का ( तथा मन का ) हठपूर्वक दमन नही हो सकता। राग-द्वेष को वश मे करने से इन्द्रिय-दमन हो जाता है।

**रसामृत .** मनुष्य मे उसकी प्रकृति ( स्वभाव ) अत्यन्त बलवती होती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार ही व्यवहार करता है। ज्ञान प्राप्त करने पर भी मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार ही व्यवहार करता है। ज्ञानवान् जानता है कि क्या भला है तथा क्या बुरा है, क्या गुण है तथा क्या दोष है। ज्ञानवान् बाहर चाहे जो दिखावा करता हो, उसके भीतर उसकी प्रकृति उसे विवश करती रहती है, उस पर दबाव डालती है तथा वह सब कुछ समझते हुए भी प्रकृति के अनुसार व्यवहार करने मे परवश रहता है।[1] स्वभाव को छोडना कठिन होता है। स्वभाव का परिवर्तन

---

१ भवानीशङ्करौ वन्दे
श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति
सिद्धा स्वान्तस्थमीश्वरम्।

सन्त तुलसीदास रामचरित मानस के प्रारम्भ मे श्रद्धा और विश्वासरूपी भवानी-शङ्कर की वन्दना करते हुए कहते हैं कि उनके विना सिद्ध पुरुष भी अपने भीतर स्थित ईश्वर को नही देख सकते।

महात्मा ईसा ने भी पर्वत-शिखर पर अपने उपदेश के अन्त मे इन श्लोको के अन्तर्गत चेतावनी के सदृश ही चेतावनी दी है।

---

१ कार्यते हि अवशः कर्म सर्व. प्रकृतिजै गुणै।
—गीता, ३ ५

—प्रत्येक मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न गुणो के द्वारा वशीभूत होकर कार्य करता है।

कठिन होता है।[1] सन्त जल मे डूबते हुए डाकू की प्राण रक्षा करता है और डाकू उसके वस्त्र ही चुराकर भाग जाता है। दोनो अपने स्वभाव के वश मे कार्य करते है।

मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार कामना करता है तथा बुद्धि के अनुसार विचार करता है। कामना और विचार का भेद होने पर अन्तर्द्वन्द्व (सघर्ष) उत्पन्न हो जाता है। दुर्बल मनुष्य की कामना विचार को परास्त कर देती है। परास्त बुद्धि न केवल कामना की दास होकर कार्य करने लगती है एव कामना-पूर्ति का माध्यम वन जाती है, बल्कि कामना-पूर्ति के लिए किये हुए कुकृत्य को न्यायपूर्ण सिद्ध करने लगती है। किन्तु अन्त-करण सदैव सत्य का उद्घोष करता रहता है। अन्त करण को दबाने से अपराध-भावना उत्पन्न हो जाती है, जो कुण्ठा बनकर मनुष्य की शान्ति को ध्वस्त कर देती है। अन्त करण की वाणी ईश्वर की वाणी होती है तथा उसके अनुसार विचार, वचन और व्यवहार करना ईश्वर का यत्र वनना है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा विचार करता है, वैसा कहता है तथा वैसा ही कर्म करता है। मन, वाणी और कर्म की एकरूपता ही मनुष्य के व्यक्तित्व को सुग्रथित कर देती है एव सबल, सुख और शान्ति प्रदान करती है तथा मनुष्य मे आत्मविश्वास को उत्पन्न कर सफलता का मार्ग प्रशस्त कर देती है।

वास्तव मे, प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव अन्त-करण के प्रकाश मे पूर्णता की प्राप्ति की ओर वढता रहता है तथा विकास-प्रक्रिया की दौड मे कुछ मनुष्य आगे निकल जाते हैं तथा कुछ पीछे पड़े रह जाते है। संसार मे कुछ भी स्थिर नही है। असत्य भी अन्ततोगत्वा मनुष्य को सत्य की ओर ले जाता है।[2] मनुष्य के भीतर स्थित निष्क्रिय चेतन-तत्त्व ही उसे पूर्णता की ओर ले जाने मे परोक्ष रूप से प्रेरक रहता है।

जगद्गुरु श्रीकृष्ण का उपदेश है कि अपने स्वभाव के साथ हिसा नही करनी चाहिए। वल-पूर्वक स्वभाव को दबाने मे उसमे शक्ति बढ जाती है तथा सहसा उसका भयानक विस्फोट हो जाता है। अतएव हमे विवेक के सहारे धीरे-धीरे स्वभाव का विकास करना चाहिए तथा उसे उदात्त वनाने मे सचेष्ट रहना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते है कि इन्द्रियो का निग्रह अर्थात् हठपूर्वक दमन करना हानिकारक होता है तथा विकास-प्रक्रिया मे अव-रोध उत्पन्न करता है।

यदि स्वभाव ऐसा बलवान् है कि वह ज्ञानवान् को भी विचलित कर देता है तो ज्ञान, उपदेश और विधिनिषेध (यह करो, वह मत करो) का क्या लाभ? क्या मनोवेगो के नियन्त्रण का कोई उपाय है? जगद्गुरु श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय के राग-द्वेष (प्रिय-अप्रिय) नियत है तथा वे ही मनुष्य की उन्नति के मार्ग मे बाधक होते हैं, अतएव विवेक द्वारा धीरे-धीरे उनको वश मे कर लेना चाहिए। यदि हम कामना से उत्पन्न मनोवेगो के अनुसार आचरण करेंगे तो पशुतुल्य हो जायेंगे। जीवन को सोद्देश्य एव सार्थक बनाने के लिए हमे स्वधर्मरूप कर्तव्य का निश्चय करके उसके पालन मे सचेष्ट होना चाहिए।

प्रकृति परमात्मा की एक शक्ति है, जो वास्तव मे मनुष्य को कुचलती नही है, बल्कि उसे पर-मात्मा की ओर उन्मुख कर सकती है। सिही (शेरनी) अपने शावको (बच्चो) को दाँतो से पकडकर सुरक्षित स्थान मे ले जाती है तथा हरिण की हिंसा कर देती है। माया परमात्मा से युक्त सात्त्विक मनुष्य की रक्षा करती है तथा तामसी मनुष्य को ध्वस्त कर देती है। प्रकृति को शत्रु मानकर उस पर विजय पाने की अथवा उसे दास वनाने की भावना ही अनुचित है। प्रकृति के नियम अपरिवर्तनीय होते हैं। मनुष्य प्रकृति के नियम जानकर उनका सदुपयोग कर सकता है, प्रकृति से सहयोग लेकर उन्नति कर सकता है।

---

१ 'स्वभावो हि दुस्त्यज'।' 'स्वभावो हि दुरतिक्रम'।'

२. 'असत्येन सत्यमीहते।'

मनुष्य राग-द्वेष तथा दुर्गुणो से मुक्त होने और परमात्मा की ओर बढने मे स्वतन्त्र है। विषयो ( भोगो ) के अनुकूल होने पर उनके प्रति राग तथा प्रतिकूल होने पर द्वेष उत्पन्न हो जाता है। रुचि और अरुचि भी राग-द्वेष के ही रूप हैं। मनुष्य राग-द्वेष के वशीभूत होकर इन्द्रियो का दास हो जाता है, क्योकि राग-द्वेष के कारण इन्द्रियो की प्रवृत्ति होती है। मनुष्य को कर्म मे राग-द्वेष से प्रवृत्त नही होना चाहिए तथा कर्तव्य-बोध ( कर्तव्य-भावना ) से कर्म मे प्रवृत्त होना चाहिए। राग-द्वेष के वश मे रहकर मनुष्य विषयो मे फँस जाता है तथा वह सम नही रह सकता और विचलित होकर भटकता ही रहता है। राग-द्वेष से विमुक्त होकर ही मनुष्य परस्पर सहयोग द्वारा समाज के लिए भी उपयोगी हो सकता है। परमात्मा से युक्त होकर तथा कृतनिश्चय होकर कर्तव्य-पालन करते रहने से कर्मयोगी राग-द्वेष से मुक्त हो सकता है। वास्तव मे मनुष्य का मूलभूत स्वभाव ऊर्ध्वगमन है तथा राग-द्वेष उसके परिपन्थी ( बाधक शत्रु ) हैं। राग-द्वेष का विवेकपूर्वक नियन्त्रण करके मनुष्य स्वभाव की ऊर्ध्वगति कर सकता है तथा परमात्मा को प्राप्त हो सकता है। कर्मयोगी अन्तर्मुखी होकर राग-द्वेष का त्याग कर देता है तथा ऊर्ध्वगामी हो जाता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन से यह सकेत कर रहे है कि यद्यपि वह मोहवश युद्धकर्म से पलायन करना चाहता है, उसे स्वभाववश उसमे प्रवृत्त होना पडेगा तथा उसे राग-द्वेष छोडकर अपना कर्तव्य-कर्म करना चाहिए।

**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**
**स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह ॥३५॥**

**शब्दार्थ** स्वनुष्ठितात् परधर्मात् विगुण स्वधर्म श्रेयान्=अच्छी प्रकार से अनुष्ठित ( किये हुए ) दूसरे के धर्म से गुणरहित स्वधर्म उत्तम है, स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयाव =स्वधर्म-पालन मे मृत्यु ( भी ) कल्याणप्रद है ( तथा ) दूसरे का धर्म भय देनेवाला है।

**वचनामृत** अच्छी प्रकार से किये हुए परधर्म ( दूसरे के धर्म ) से गुणरहित भी स्वधर्म ( अपना धर्म ) उत्तम है। स्वधर्म मे मृत्यु भी कल्याणप्रद है, परधर्म भयानक होता है।[1]

**सन्दर्भ** मनुष्य को अन्त तक स्वधर्म-पालन करते रहना चाहिए।

**रसामृत** मानव-समाज एक शरीर की भाँति होता है, जिसमे प्रत्येक अग का पृथक्-पृथक् एक कर्म है। बुद्धि, हृदय, यकृत, हाथ पैर इत्यादि सब अगो के द्वारा अपना-अपना कर्म किये जाने से देह का सचालन होता है। यदि पैर यह कहे कि उन्हे सदा सारे शरीर का भार वहन करना पडता है और पुष्पहार कण्ठ मे डाल दिया जाता है तथा जिह्वा को स्वादिष्ट पदार्थ खाने के लिए दे दिये जाते हैं अथवा कान यह कहे कि नेत्र को सुन्दर दृश्य देखने का सौभाग्य प्राप्त होता है, जिससे वह वचित है तथा इस प्रकार अगो का परस्पर सघर्ष हो जाय तो शरीर का सचालन अवरुद्ध हो जायगा। इसी प्रकार यदि रणस्थल मे सेना के विभिन्न अग अपने कार्य के सम्बन्ध मे परस्पर सघर्ष करने लगे तो सेना शत्रु द्वारा परास्त हो जायगी। यदि सिद्धहस्त चिकित्सक वाणिज्य में कुशल धनपति के वैभव को देखकर चिकित्सा-कार्य छोड और व्यापार करने लगे तो वह न अपना हित कर सकता है और न समाज का ही। ईश्वर की दृष्टि मे कोई कार्य छोटा या बडा नही है। स्वच्छता कर्मचारी के कार्य का उतना ही महत्त्व है, जितना राष्ट्र-नेता के कार्य का। समाज मे अपने नियत स्थान पर कर्तव्य का पालन करना, स्वधर्म-पालन करना, व्यक्ति के तथा समाज के हित में होता है। वीर क्षत्रिय अर्जुन क्षणिक आवेश मे स्थित होकर अपने हिंसात्मक कर्म को निकृष्ट तथा ब्राह्मण के अहिंसक जीवन को उत्कृष्ट मान-

---

१ वर स्वधर्मो विगुणो न पारक्य स्वनुष्ठित।
परधर्मेण जीवन् हि सद्य पतति जातित.॥
—मनुस्मृति, १० ९७

—गुणरहित स्वधर्म श्रेष्ठ है, भली प्रकार अनुष्ठित परधर्म नही। परधर्म से जीने पर जाति से पतित हो जाता है।

कर युद्ध से भागने लगा। वीर क्षत्रिय के लिए युद्ध मे कर्तव्य-पालन की दृष्टि से हिंसा करना पुण्य-कारक है, श्रेयस्कर है। मनुष्य को अपनी प्रकृति के अनुसार अपने कर्तव्य का निर्धारण करके स्वधर्म-पालन करते रहना चाहिए। जो कार्य जिसे सौंपा गया है अथवा जिस कार्य का दायित्व जिसने अपने ऊपर लिया है, वह तुच्छ प्रतीत होता हो अथवा महान्, उसे लगन के साथ करना चाहिए। यदि अपना कर्म करने मे दोष भी रह जाय तो भी अपना सदोष कर्म दूसरे के भली प्रकार किये हुए कर्म की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है। स्वधर्म-पालन करने मे मृत्यु भी हो जाय तो धन्य है। स्वधर्म छोडकर दूसरो का धर्म (कार्य) करना कभी कल्याणप्रद नही हो सकता। श्रीकृष्ण अनेक प्रकार से स्वधर्म-पालन पर बल दे रहे है। वीर अर्जुन के लिए सदोष प्रतीत होनेवाला स्वधर्मरूप हिंसात्मक कर्म ब्राह्मण के निर्दोष अहिंसात्मक कर्म से अधिक उत्तम है, क्योकि युद्ध करना उसका स्वधर्म है।

अर्जुन उवाच

**अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।**
**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच = अर्जुन ने कहा, वार्ष्णेय अथ अयं पूरुष. बलात् नियोजित. इव अनिच्छन् अपि = हे वार्ष्णेय[1] (श्रीकृष्ण) तो फिर यह पुरुष बलपूर्वक लगा दिये हुए जैसा न चाहता हुआ भी, केन प्रयुक्त. पापं चरति = किससे प्रेरित होकर पापमय आचरण करता है? (पूरुष—कार्य कारण सघातरूप अर्थात् देहेन्द्रिय का ही समष्टिरूप अर्थात् पुरुष)

१ 'वार्ष्णेय' का अन्य अर्थ इस प्रकार किया गया है ब्रह्मविदा ब्रह्मानन्दामृतं वर्षतीति वृष्णि· सम्यग् बोध तेन अवगम्यते इति वार्ष्णेय. परमात्मा श्रीभगवान् तस्य सम्बुद्धिः। —शकरानन्द
अर्थात् ब्रह्मज्ञानियो का ब्रह्मानन्द अमृत-वर्षण करनेवाला सम्यक् बोध या ज्ञान ही वृष्णि है तथा इस वृष्णि के द्वारा जाना जानेवाला अथवा इस वृष्णि को जाननेवाला परमात्मा।

**वचनामृत :** अर्जुन ने कहा, हे वृष्णिवशसभूत श्रीकृष्ण, तो फिर यह मनुष्य न चाहते हुए भी बल-पूर्वक लगा दिये हुए की भाँति किससे प्रेरित होकर पापमय आचरण करता है?

**सन्दर्भ :** सब कुछ समझने पर भी मनुष्य अनुचित कर्म क्यो कर बैठता है?

**रसामृत :** अर्जुन एक सच्चा जिज्ञासु है तथा अपनी शका-निवृत्ति के लिए गुरु श्रीकृष्ण से आदर-पूर्वक प्रश्न करता है। अर्जुन श्रीकृष्ण को वार्ष्णेय कहकर उनके साथ अपने नाते की ओर सकेत कर रहा है। श्रीकृष्ण अर्जुन की माता के वृष्णि-वंश मे अवतीर्ण हुए थे। अर्जुन के मन में वही प्रश्न जाग रहा था, जो प्रत्येक अच्छे मनुष्य के मन मे उठा करता है। सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते हुए भी मनुष्य क्यो पाप कर बैठता है? भले और बुरे का ज्ञान होने पर भी तथा पाप न करने का विचार होते हुए भी मनुष्य को पाप करने के लिए कौन प्रेरित एव प्रवृत्त कर देता है? यह एक मनोवैज्ञानिक एव दार्शनिक प्रश्न है।

श्रीभगवानुवाच

**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**
**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच = श्री भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, रजोगुणसमुद्भव. एष. काम. क्रोधः एष. महाशनः महापाप्मा = रजोगुण से उत्पन्न यह प्रत्यक्ष काम (ही) क्रोध है यह ही महाअशन (बहुत खानेवाला) (तथा) महापापी है, इह एनं वैरिण विद्धि = यहाँ (इस विषय मे) इसे वैरी जान। (महापाप्मा—उग्रपाप, महान् दोप अथवा महापापी)

**वचनामृत :** श्रीकृष्ण ने कहा, रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खानेवाला (अर्थात् अग्नि की भाँति बहुत खाकर भी शान्त न होनेवाला) है तथा महापापी है (पाप-प्रेरक है)। इस विषय मे तू काम को ही अपना शत्रु समझ।

**सन्दर्भ** : अर्जुन के प्रश्न ( श्लोक ३६ ) का सक्षिप्त उत्तर इस श्लोक ( ३७वाँ श्लोक ) मे है तथा शेष छह श्लोको मे इसका विस्तार है।

**रसामृत :** प्रकृति के तीन गुण हैं सत्त्व, रज और तम। मनुष्य के स्वभाव मे ये तीनो गुण रहते हैं। सत्त्वप्रधान होने पर मनुष्य सात्त्विक ( सीधा-सच्चा ), रजोगुणप्रधान होने पर राजसी अथवा राजसिक ( क्रियाशील ) और तमोगुणप्रधान होने पर तामसी अथवा तामसिक ( आलसी, प्रमादी ) हो जाता है। रजोगुण से राग ( ससार के पदार्थों अथवा मनुष्यो के अनुकूल प्रतीत होने पर उनके प्रति लगाव अथवा अनुकूल भाव होना ) तथा द्वेष ( ससार के पदार्थों अथवा मनुष्यो के प्रतिकूल प्रतीत होने पर उनके प्रति अलगाव अथवा प्रतिकूल भाव होना ) की वृद्धि होती है।[1] मनुष्य मे रजोगुण से राग की और राग होने से रजोगुण की वृद्धि हो जाती है तथा दोनो की वृद्धि परस्पर क्रिया द्वारा एक साथ होती चली जाती है। मन के किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के अनुकूल होने पर रजोगुण ( एवं राग ) से काम ( उस वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति तीव्र मनोवेग ) तथा कामना ( उसे प्राप्त करने की इच्छा ) उत्पन्न हो जाते हैं। तृष्णा, वासना आदि कामना के सूक्ष्म रूप होते हैं। आशा भी प्राय कामना से उत्पन्न होती है तथा कामना का ही मिश्रित रूप है। रजोगुण अथवा राग से उत्पन्न काम ही मनुष्य का परम वैरी है।

काम ( अथवा कामना ) की पूर्ति मे विघ्न-बाधा उपस्थित होने पर काम ही क्रोध के रूप मे प्रकट हो जाता है। मनुष्य ससार मे अनेक वस्तुओ की कामना करता है तथा उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। हम दूसरे से सत्कार की कामना एव आशा करते हैं तथा सत्कार न मिलने पर क्रुद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य कामनाओ के विफल होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है।

१. गीता के तीसरे अध्याय के ३४वें श्लोक मे राग-द्वेष की चर्चा है।

अपेक्षा करना स्वाभाविक है, किन्तु आसक्ति के कारण आशा करना सदोष होता है। क्रोध करने-वाला तथा क्रोध करके शाप देनेवाला दरिद्री एव दु खी हो जाता है। काम अन्धा और असहनशील होता है तथा विघ्न-बाधा को सहन नही कर सकता। प्रतिहत होने पर काम से क्रोध की ज्वाला उत्पन्न होती है। काम के शान्त होने पर क्रोध स्वय ही शान्त हो जाता है। क्रोध की शान्ति का सच्चा उपाय तो काम को शान्त करना होता है।

काम की पूर्ति होना असम्भव होता है। अग्नि की भाँति उसकी क्षुधा ( भूख ) कभी शान्त नही होती। जिस प्रकार अग्नि मे ईधन तथा घृत डालने से वह शान्त होने के स्थान पर उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार भोगो द्वारा काम शान्त होने के स्थान पर उद्दीप्त होता है। भोग करने से भोगो की तृष्णा बढती रहती है।[1]

काम समस्त पापो एव अनर्थों का मूल है तथा पाप का प्रबल प्रेरक है। धन, सत्ता, प्रतिष्ठा इत्यादि की कामना के प्रभाव से मनुष्य क्रूर होकर शोषण एव हिंसा तथा अन्याय एव अत्याचार करता है।

काम मनुष्य का प्रथम एव प्रमुख वैरी है। काम मनुष्य की बुद्धि का अपहरण करके उसे बल-पूर्वक पाप मे प्रवृत्त कर देता है। काम के वशीभूत होने पर मनुष्य का अध पतन होने लगता है। मनुष्य काम के कारण भोगपरायण होकर सकीर्ण, स्वार्थी और कठोर हो जाता है तथा वह न केवल यश ही, बल्कि शक्ति एव शान्ति भी खो बैठता है।[2] कामना से चिन्ता और भय उत्पन्न होते हैं।

१ न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।
—विषयो के उपभोग से काम कभी शान्त नही होता।

२ यत् पृथिव्यां व्रीहियव हिरण्य पशव स्त्रिय ।
नालमेतस्य तद् सर्वमिति मत्वा शम व्रजेत् ॥
—मनुस्मृति

अर्थात् पृथ्वी के समस्त व्रीहि, यव आदि अन्न, स्वर्ण, पशु, धन, रमणियाँ कामनामय एक मनुष्य के लिए भी पर्याप्त ( सन्तोषप्रद ) नहीं हैं।

'चाह गयी, चिन्ता मिटी, मनवा बेपरवाह', एक पुरानी उक्ति है।

नीति के अनुसार वैरी का दमन साम, दान, दण्ड और भेद के द्वारा किया जाता है, किन्तु इनसे काम पर विजय प्राप्त नही की जा सकती है। दण्ड ( हठपूर्वक दमन ) से काम प्रबल हो जाता है तथा उसका विस्फोट भयकर होता है। वास्तव मे काम ऊर्जा है, जो मनुष्य को कर्मण्य बना सकती है।[१] अतएव दिशा-परिवर्तन द्वारा उसे उच्च आदर्शों की ओर उन्मुख करने पर ( आध्यात्मिक उत्थान, परोपकार, सेवा आदि सामाजिक एव नैतिक कार्य, ज्ञानोपार्जन इत्यादि बौद्धिक कार्य मे लगाने पर ) काम एव कामना का उदात्तीकरण हो जाता है। ईश्वरभक्त परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पण द्वारा काम को कल्याणकारक बना देता है। भक्ति के रूप मे प्रकट होकर काम दिव्य हो जाता है अथवा दिव्य होने पर काम ही भक्ति का रूप धारण कर लेता है।

**धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।**
**यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥**

**शब्दार्थ :** यथा धूमेन वह्नि. च मलेन आदर्शः आव्रियते = जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढँका जाता है, यथा उल्बेन गर्भ. आवृतः तथा तेन इदं आवृतम् = जैसे उल्ब ( जेर ) से गर्भ ढँका हुआ है वैसे ही उस ( काम ) के द्वारा यह ( ज्ञान ) भी ढँका हुआ है।

**वचनामृत :** जिस प्रकार धुएँ से अग्नि और धूल से दर्पण ढँका जाता है और जिस प्रकार जेर से गर्भस्थ ( कुक्षिस्थ ) शिशु ढँका रहता है, उसी प्रकार उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढँका रहता है।

**सन्दर्भ :** काम ज्ञान को ढँक देता है।

**रसामृत :** धुएँ की उत्पत्ति अग्नि के साथ ही होती है, किन्तु वह अग्नि को आच्छादित कर देता है तथा उसकी प्रकाशकता और दाहकता के गुणो को तिरोहित कर देता है। धूल दर्पण के साथ उत्पन्न नही होती, किन्तु वह उसे आच्छादित करके छाया ( प्रतिबिम्ब ) को प्रकाशित करने की उसकी क्षमता को क्षीण कर देती है। अचेतन जरायु ( जेर ) गर्भ में स्थित चेतन शिशु को आवेष्टित कर लेता है ( लपेटकर ढँक देता है ) तथा उसे प्रकट नही होने देता है।

धुएँ को हटाने पर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है तथा उसके ( प्रकाशकता एव दाहकता ) गुण स्फुट हो जाते है, मल को हटाने पर दर्पण छाया को प्रतिबिम्बित कर देता है तथा जरायु को हटाने पर शिशु निर्बन्ध एव सक्रिय हो जाता है। काम धुएँ, मल और जरायु की भाँति मनुष्य के ज्ञान को आच्छादित कर देता है ( ढँक देता है ) तथा काम की निवृत्ति होने पर ज्ञान अग्नि की भाँति प्रकाशक, दर्पण की भाँति यथार्थ दर्शक और शिशु की भाँति सचेतन होकर प्रकट हो जाता है।

धुएँ की अपेक्षा मल अधिक सघन होता है तथा धुएँ और मल की अपेक्षा जरायु अधिक सघन होता है। इसी प्रकार ज्ञान पर काम का आच्छादन कठिन, कठिनतर और कठिनतम ( साधारण, मध्यम और जटिल ) होता है। प्रयत्न एव प्रार्थना द्वारा ज्ञान के इस आच्छादन ( काम ) की निवृत्ति की जा सकती है।

**आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।**
**कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥**

**शब्दार्थ :** च कौन्तेय एतेन अनलेन दुष्पूरेण = और हे अर्जुन, इस अग्नि ( के सदृश ) कभी पूरा न होनेवाले, कामरूपेण ज्ञानिनः नित्यवैरिणा = काम के रूप मे ज्ञानियो के नित्य वैरी से, ज्ञानं आवृत = ज्ञान ढँका हुआ है।

**वचनामृत :** और हे अर्जुन, इस अग्नितुल्य दुष्पूर ( अग्नि के समान कभी पूर्ण अर्थात् तृप्त न

---

१ अकामतः क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कस्यचित्।
यद् यद् हि कुरुते जन्तुः तत्तद् कामस्य चेष्टितम् ॥
अर्थात् कामना से ही मनुष्य कर्म मे प्रवृत्त होता है। ( कामना रजोगुण से उत्पन्न होती है तथा मनुष्य को कर्म मे प्रवृत्त कर देती है। )

होनेवाले ) काम के रूप में स्थित ज्ञानियो के नित्य वैरी के द्वारा ( मनुष्य का ) ज्ञान ढँका हुआ है ।

**सन्दर्भ** . काम अग्नि की भाँति दुष्पूर है ।

**रसामृत** · मनुष्य मे ज्ञान काम के द्वारा धुएँ, मल और जरायु की भाँति आच्छादित रहता है, किन्तु काम स्वय अग्नि की भाँति दुष्पूर है अर्थात् जिस प्रकार अग्नि घृत और ईंधन से बढती है और शान्त नही होती उसी प्रकार काम भोगो से बढ जाता है और शान्त नही होता ।[1] काम मनुष्य के हृदय मे अग्नि की भाँति धधकता है । कामान्ध मनुष्य को ससार मे सर्वत्र विषय-भोग ही दृष्टि-गोचर होते हैं तथा उसे लोक-सेवा, ज्ञान-प्राप्ति, भगवद्-प्राप्ति आदि नही सूझते । भोगो द्वारा काम की तृप्ति नही होती । काम आध्यात्मिक साधको एव ज्ञानियो के लिए परम वैरी के सदृश है, क्योकि यह मन मे विवेक तथा वैराग्य को स्थिर नही होने देता तथा अनासक्त होकर निष्काम कर्म नही करने देता । काम मन को भौतिक पदार्थों के प्रलोभन मे श्वान की भाँति भटकाता रहता है तथा शान्त नही होने देता । ज्ञान एव शान्ति खोजनेवाले मनुष्य के लिए काम सबसे बड़ा बाधक है, सुखदायक मित्र प्रतीत होनेवाला छद्मवेषी वैरी है अथवा परम वैरी है ।[2] काम सभी का वैरी है, किन्तु ज्ञानी इसका विशेष अनुभव करते है । भगवद्-भाव मे स्थित होकर तथा आत्मा के दिव्य प्रकाश से स्फुरण, सबल और सहारा लेकर मनुष्य आन्तरिक सन्तोष ( शम ) द्वारा काम का शमन कर सकता है । मनुष्य निस्स्वार्थ लोक-सेवा मे सलग्न होकर काम का उदात्तीकरण कर सकता है तथा ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा चित्त-वृत्ति को भगवदाकार करके काम का दिव्यीकरण कर सकता है । मनुष्य मन को उदात्त एव दिव्य बनाकर काम से निवृत्त हो सकता है ।[1] कामना ही एकमात्र बन्धन है । अन्य कोई बन्धन नही है । जो कामना के बन्धन से मुक्त हो जाता है, वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।[2]

*श्रीकृष्ण अर्जुन को* 'कौन्तेय' अथवा 'पार्थ' कहकर उसके प्रति अपना स्नेह व्यक्त करते हैं । अर्जुन की माता कुन्ती श्रीकृष्ण के पिता की बहन थी । अर्जुन को 'भारत' कहकर श्रीकृष्ण उसकी महान् वश-परम्परा का स्मरण कराते हैं । गुरु शिष्य को अपने निकट लाकर ही उसका हृदय-परिवर्तन कर सकता है, क्योकि मात्र उपदेश नीरस एव शुष्क होता है ।

**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।**
**एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥**
**तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।**
**पाप्मान प्रजहि ह्येन ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥**

---

१ राजा ययाति ने कहा था कि काम भोगों के भोगने से बढ जाता है, जैसे हवि से यज्ञ की अग्नि बढ जाती है ।

न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
—श्रीमद्भागवत

'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घीते ।'

२ गीता मे श्रीकृष्ण अनेक स्थानों पर काम के शमन की आवश्यकता पर बल देते हैं ( दूसरे अध्याय मे श्लोक ७, ७१, सोलहवें अध्याय मे श्लोक २१ इत्यादि ) । राग, सङ्ग, आसक्ति भी काम के ही वाचक हैं । राग की निवृत्ति का अर्थ काम की निवृत्ति है । क्रोध की निवृत्ति के लिए भी काम की निवृत्ति की आवश्यकता है ।

---

१ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि संश्रिता । अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ।—जब हृदय मे सस्थित काम छूट जाते हैं, मरणशील मनुष्य अमर हो जाता है । वह ब्रह्म की दिव्यानुभूति का आनन्द लेता है ।

२ कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् ।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, २५१ ७

—काम बन्धन ही एक बन्धन है, अन्य कोई बन्धन नहीं है । काम के बन्धन से मुक्त होकर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

**शब्दार्थ :** इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानं उच्यते=इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इसके निवास-स्थान कहे जाते हैं, एषः एतैः ज्ञानं आवृत्य देहिनं विमोहयति=यह (काम) इन (मन, बुद्धि, इन्द्रियो) से ज्ञान को आच्छादित करके देही (देह मे विराजमान जीवात्मा) को मोहित कर देता है। तस्मात्=इसलिए भरतर्षभ=हे अर्जुन, त्वं आदौ इन्द्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञाननाशनं एनं पाप्मानं हि प्रजहि=तू पहले इन्द्रियो को वश मे करके ज्ञान और विज्ञान के नाशक इस पापी को निश्चयपूर्वक मार दे (नष्ट कर दे)।

**वचनामृत :** इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस (काम) के निवास-स्थान कहे जाते है। यह (काम) इनके द्वारा ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित कर देता है। अतएव, हे अर्जुन, पहले तू इन्द्रियो को वश मे करके ज्ञान और विज्ञान का विनाश करनेवाले महान् पापी काम को निश्चय करके नष्ट कर दे।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण काम को नष्ट करने का आदेश देते हैं।

**रसामृत :** काम मनुष्य की इन्द्रियो, मन और बुद्धि मे प्रविष्ट होकर उन्हे विमोहित करके अपने वश मे कर लेता है तथा विवेक को क्षीण कर देता है। काम उन्हे विषय-भोगो की ओर प्रवृत्त कर देता है तथा मार्ग-भ्रष्ट कर देता है। काम विवेकसहित ज्ञान को आच्छादित कर देता है तथा जीवात्मा को विमोहित कर देता है। जीव कर्ता-भोक्ता बनकर 'यह मेरा भोग्य है, यह प्रिय है, यह अप्रिय है, यह सुख है, यह दु ख है' इत्यादि विषय-बन्धन मे फँस जाता है। देहात्म अभिमानी (देह को आत्मा माननेवाला) अज्ञानी मनुष्य भोगलिप्त होकर भोग्य पदार्थो के सचय को परम पुरुषार्थ मान लेता है। आत्मा के प्रकाश के (काम द्वारा) आच्छादित होने पर, काम के वशीभूत इन्द्रियाँ अपने साथ मन और बुद्धि को भी भोगलिप्सा मे सलग्न कर देती है। काम ज्ञान और विज्ञान को नष्ट कर देता है।[1] शकराचार्य के अनुसार ज्ञान का अर्थ आत्मासम्बन्धी परोक्ष ज्ञान अथवा यथार्थ ज्ञान है तथा विज्ञान का अर्थ ज्ञान के फलस्वरूप अपरोक्ष ज्ञान अथवा आत्मा का अनुभव, आत्म-साक्षात्कार, अनुभूतियुक्त विशेष ज्ञान है। ज्ञान और विज्ञान का अर्थ है—तत्त्वज्ञान और उसकी अनुभूति।

इन्द्रियो का विषय-पदार्थों से सीधा सम्पर्क है। अतएव सर्वप्रथम इन्द्रियो के सयम का प्रयत्न करना चाहिए। वास्तव मे इन्द्रियो के सयम का अर्थ मनसहित इन्द्रियो का सयम होता है। मन-सहित इन्द्रियो का सयम करने पर बुद्धि का सयम सुगम हो जाता है। जिस प्रकार मछली मारने-वाला पहले अति चचल मीन को पकड़ता है, उसी प्रकार योगी पहले मन (इन्द्रियसहित मन) को वशीभूत करता है।[2]

वास्तव मे मनसहित इन्द्रियो को वशीभूत करने के लिए वैराग्यभाव के अभ्यास की नितान्त आवश्यकता है। नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा मे स्थितिलाभ के लिए परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन, मनन, ध्यान द्वारा अभ्यास करना, ससार के विषयो (भोगो) की निस्सारता पर

---

१ 'ज्ञान' और 'विज्ञान' के अनेक अर्थ किये जाते हैं। निर्गुण निराकार परमात्मा के ज्ञान को ज्ञान तथा सगुण निराकार और सगुण साकार परमात्मा के ज्ञान को भी विज्ञान कहते हैं। विज्ञान का एक अन्य अर्थ तार्किक ज्ञान भी है। 'विज्ञान' का अर्थ यहाँ आत्मानुभूति है।

अस्ति ब्रह्मेति चेद् ज्ञानं परोक्षज्ञानमुच्यते।
अहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानमपरोक्षज्ञानमुच्यते॥

—पञ्चदशी

अर्थात् ब्रह्म का शास्त्रीय ज्ञान परोक्ष ज्ञान है तथा उसकी अनुभूति अपरोक्ष ज्ञान है। —शङ्कराचार्य

'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत।' —श्रुति

अर्थात् धीर परमात्मा को जानकर विशेष ज्ञान के लिए प्रयत्न करे।

२. मनस्तु पूर्वमादद्यात् कुमीनमिव मत्स्यहा।

विचार करना, देहाभिमान ( मैं शरीर हूँ ) के स्थान पर धीरे-धीरे आत्मबोध करना ( मैं ब्रह्म हूं, ऐसा भाव करना ) मनुष्य की विषयासक्ति को क्षीण करके काम को विनष्ट कर देता है। आध्यात्मिक साधक मौन, जप और ध्यान का भी सहारा लेता है। मत्र अथवा नाम का जप करने से थकने पर ध्यान करना चाहिए और ध्यान करने से थकने पर पुन जप करना चाहिए तथा जप और ध्यान से थकने पर आत्मचिन्तन करना चाहिए।[1] भगवद्भक्त भौतिक पदार्थो की कामना को ईश्वराभिमुख कर देता है।[2] कर्मयोगी विषयानुरागी मन को ईश्वरानुरागी बना देता है तथा काम का उदात्तीकरण एवं दिव्यीकरण कर देता है।

**इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य' पर मन ।**
**मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे· परतस्तु स' ॥४२॥**

**शब्दार्थ** . इन्द्रियाणि पराणि आहु =इन्द्रियो को ( स्थूल शरीर से ) परे ( सूक्ष्म, अधिक बलवान्, श्रेष्ठ ) कहते हैं, इन्द्रियेभ्य. पर मन =इन्द्रियो से परे मन है, तु=और, मनस परा बुद्धि =मन से परे बुद्धि है, तु य बुद्धे परत स =और जो बुद्धि से अत्यन्त परे है वह ( आत्मा ) है।

**वचनामृत** इन्द्रियो को स्थूल शरीर से परे ( सूक्ष्म, अधिक बलवान्, श्रेष्ठ ) कहते हैं, इन्द्रियो से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण आत्मा की श्रेष्ठता का सकेत कर रहे हैं।

**रसामृत** मानव का यह देह अत्यन्त रहस्यमय है। इस देह मे ससार को देखने के लिए इन्द्रियो के विचित्र झरोखे हैं तथा उसे समझने के लिए परम विचित्र बुद्धितत्त्व है। किन्तु इन्द्रियो, मन और बुद्धि का समस्त व्यापार देह में व्याप्त चैतन्य आत्मा पर आश्रित होता है। जिस तत्त्व के बाहर निकल जाने पर देह को निर्जीव तथा मनुष्य को मृतक घोषित कर दिया जाता है अथवा अकस्मात् पुन लौट आने पर पुन जीवित घोषित कर दिया जाता है, वह नित्य चैतन्य व्यष्टिगत आत्मा है, जो समष्टिगत परमात्मा का दिव्याश है। वास्तव मे आत्मा ही 'देही' अथवा जीवात्मा' के रूप मे देह का सचालक एव स्वामी है। देही की जीवन-यात्रा का प्रयोजन अथवा उद्देश्य है। जीवन-यात्रा निष्प्रयोजन अथवा निरुद्देश्य नही, बल्कि सप्रयोजन अथवा सोद्देश्य है। मनुष्य सकीर्ण भौतिक स्तर से ऊपर उठकर, नैतिक एव आध्यात्मिक स्तर पर इन्द्रिय और मन, बुद्धि का व्यापार करते हुए आत्मसाक्षात्कार की दिव्यानुभूति ( ब्रह्मानन्द-स्थिति ) प्राप्त कर सकता है। कठोपनिषद् मे एक अत्यन्त सुन्दर रूपक द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है। इन्द्रियाँ घोडे हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है और जीवात्मा ( देही ) रथी अर्थात् जीवन-रथ का स्वामी है। परमात्मा की प्राप्ति जीवन-यात्रा का गन्तव्य एव लक्ष्य है। काम मनुष्य के बुद्धि, मन और इन्द्रियो को विमोहित करके अर्थात् विषय-लोलुप बनाकर, उन्हे पथ-भ्रष्ट कर देता है। यदि बुद्धिरूपी सारथी सावधान होकर रथी के निर्देशानुसार प्रग्रह ( लगाम ) द्वारा घोडो को मार्ग पर चलाता रहे तथा उन्हे मार्गभ्रष्ट न होने दे तो परम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। आत्म साक्षात्कार ( परमात्मा की प्राप्ति ) जीवन का परम पुरुषार्थ एव परम लक्ष्य होता है।

स्थूल देह की अपेक्षा इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, इन्द्रियो की अपेक्षा सकल्प-विकल्प करनेवाला मन अधिक सूक्ष्म है तथा मन की अपेक्षा तर्क द्वारा निश्चय करनेवाली बुद्धि अधिक सूक्ष्म है तथा इन सबसे परे आभ्यन्तर एव अन्त स्थ सर्वसाक्षी आत्मा परम

---

१ जपात् श्रान्त पुनर्ध्यायेत् ध्यानात् श्रान्त पुनर्जपेत्।
जपध्यानपरिश्रान्त आत्मान च विचारयेत् ॥

२ कामिहि नारि पियारि जिमि
लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर
प्रिय लागहु मोहि राम ॥ —तुलसी

सूक्ष्म है।[1] स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्मतत्त्व अधिक बलवान्, आभ्यन्तर एवं श्रेष्ठ होता है। यह चेतना के विभिन्न स्तरों का क्रम है तथा मनुष्य आत्म-विकास के इस क्रम के द्वारा धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठता हुआ अधिक सशक्त, सम एवं शान्त होता चला जाता है। आत्मा इन सबका कारण, आधार एवं प्रकाशक होता है तथा इनमें व्याप्त रहता है। आत्मा नित्य, अविकारी, शुद्ध-बुद्ध, अनन्त एवं चैतन्यस्वरूप है। विवेकशील मनुष्य अपने भीतर स्थित आत्मा की प्रकाशपूर्ण प्रेरणा का अनुसरण करता है तथा बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों को विषयानुरागी के स्थान पर परोपकाररत एवं भगवदानुरागी बना देता है। रसस्वरूप परमात्मा के प्राप्त होने पर विषय का रस निवृत्त हो जाता है तथा मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।[2]

**एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।**
**जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥**

**शब्दार्थ :** एवं बुद्धे. परं बुद्ध्वा आत्मना आत्मानं संस्तभ्य=इस प्रकार बुद्धि से परे (अर्थात् अधिक सूक्ष्म और बलवान्) अपनी आत्मा को जानकर अपने द्वारा अपने को वश में करके (बुद्धि के द्वारा मन तथा इन्द्रियों को स्थिर करके अर्थात् वश में करके), महाबाहो=हे महान् बाहुवाले बलवान् अर्जुन, दुरासदं कामरूपम् शत्रुं जहि=दुर्धर्ष (दुर्जय) कामरूपी शत्रु को मार दे।

**वचनामृत :** इस प्रकार बुद्धि से परे (अर्थात् अधिक सूक्ष्म और बलशाली) आत्मा को जानकर अपनी (निश्चयात्मिका) बुद्धि के द्वारा अपने मन को वशीभूत करके, हे महान् भुजावाले वीर अर्जुन, कामरूपी दुर्जय शत्रु को मार दे।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अर्जुन को परम वैरी काम को नष्ट करने की आज्ञा देते हैं।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण अर्जुन को महान् भुजाओं-वाला अर्थात् परमवीर कहकर तथा कामरूपी दुर्जय शत्रु को मार देने का आदेश देकर उसे यह विश्वास दिला रहे हैं कि वह अवश्य ही इस वैरी को मार सकता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को विविध प्रकार से प्रशंसात्मक उपाधियाँ देकर उसका प्रोत्साहन करते हैं।

मन स्वभाव से चंचल होता है तथा उसे वश में करके ही उसकी अपार शक्ति का सदुपयोग किया जा सकता है। विषयों के अनुराग अर्थात् विषय-भोगों की कामना के कारण मन उनके पीछे दौड़ता रहता है। अतएव उसे स्थिर एवं शान्त करने के लिए उसे विषयों की आसक्ति अर्थात् कामना से मुक्त करना नितान्त आवश्यक है। विषयों के प्रलोभन से अर्थात् काम से मुक्त होकर ही मन स्थिर एवं शान्त हो सकता है। मनुष्य भौतिक पदार्थों की नश्वरता और आत्मा के स्वरूप में स्थित होने के परम लाभ का चिन्तन करके तथा निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा मन को विषयानुराग से मुक्त करके, मन को वश में कर सकता है। मनुष्य विवेक तथा दृढ़ संकल्प के द्वारा मन को काम से मुक्त कर सकता है अर्थात् काम को नष्ट कर सकता है।

वास्तव में, बुद्धि से परे परम सूक्ष्म एवं परम-शक्तिशाली आत्मा के स्वरूप को जानकर अर्थात् विलक्षण, नित्य, शुद्ध-बुद्ध, चैतन्यस्वरूप, अखण्ड, आनन्दैकरस (रसस्वरूप) आत्मा को जानकर एवं उसकी दिव्यानुभूति के द्वारा मनुष्य काम को उदात्त एवं दिव्य बना सकता है। काम का उदात्ती-करण एवं दिव्यीकरण करना ही काम को मार देना है। मनुष्य काम पर विजय प्राप्त करके सम, सन्तुलित एवं शान्त हो जाता है।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्-गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।

---

१. 'इन्द्रियेभ्य. परा ह्यर्थाः अर्थेभ्य परं मन.।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।
महत परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति.॥'
—आत्मा से परे कुछ नहीं है। वह परम गति अथवा परमसीमा है।

२. रसोऽपि अस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।
—गीता, २.५९

## सार-संचय

### तृतीय अध्याय : कर्मयोग

तृतीय अध्याय कर्मयोग है। प्रथम अध्याय मे अर्जुन के विषादयोग की चर्चा है तथा दूसरे अध्याय मे साख्ययोग का वर्णन है। साख्ययोग का अर्थ है यथार्थ ज्ञान द्वारा सच्चिदानन्दघन परमात्मा मे एकीभाव से स्थित रहना। यही ब्राह्मी स्थिति है, जिसे कर्मयोगी निष्काम कर्म द्वारा प्राप्त हो जाता है। तीसरे अध्याय मे श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि काम मनुष्य की इन्द्रिय, मन और बुद्धि को भोगासक्त करके उन्हे विषयाभिमुख एव विषयानुरागी बना देता है। काम मनुष्य की बुद्धि का अपहरण करके उसे मन और इन्द्रियोसहित विषयो मे भटका देता है। काम ज्ञान को ढँक देता है। वास्तव मे काम ज्ञानस्वरूप आत्मा को ढँककर बुद्धि, मन और इन्द्रियो को विषयभोग मे रत कर देता है। काम मनुष्य का प्रधान वैरी है तथा मनुष्य को मार्गभ्रष्ट करके उसकी शान्ति भी नष्ट कर देता है। काम का नाश होने पर मनुष्य निष्काम कर्म का अभ्यास कर सकता है तथा उसका कर्म कर्मयोग बन जाता है। निष्काम कर्म से चित्त-शुद्धि हो जाती है तथा ज्ञान का उदय हो जाता है। कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठा बन जाती है और कर्मयोगी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लेता है। वास्तव मे प्रथम तीन अध्याय परस्पर सम्बद्ध हैं तथा इनका एक त्रिक है।

इस अध्याय मे श्रीकृष्ण अर्जुन को अनासक्त अथवा मुक्तसङ्ग होकर कर्म करने का आदेश करते है। कर्मयोगी अध्यात्म-चेतना से युक्त होकर एव परमात्मा मे स्थित होकर समस्त सृष्टि के साथ समरस हो जाता है। वह ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होकर भी लोक-सग्रह के लिए कर्म करता है तथा अपने उदाहरण से दूसरो को कर्म करने की प्रेरणा देता है। कर्मयोगी भक्तिभाव से परिपूर्ण होकर अपने समस्त कर्म ईश्वरार्पण कर देता है।

श्रीकृष्ण प्रत्येक स्थिति मे अपना कर्तव्य-पालन ( स्वधर्म-पालन ) करने पर तथा मानवीय चेतना के ऊर्ध्वगमन-प्रक्रिया द्वारा निरन्तर विकास पर बल देते हैं। विषय-भोगो मे आसक्त होकर इन्द्रिय-तृप्ति के निम्नस्तर पर जीनेवाला मनुष्य कभी जीवन के ऊँचे स्तर को प्राप्त नही हो सकता।

स्वार्थभाव एव सकीर्णता से ऊपर उठकर परमार्थभाव एव उदारता से निष्काम कर्म करना यज्ञ करना है। कर्म करने से कार्यदक्षता आती है तथा आत्मविश्वास बढता है।

अहकार से प्रेरित होकर तथा अहकार की सन्तुष्टि के लिए दानादि शुभ कर्म करना भी दोष उत्पन्न करता है। दूसरो को प्रसन्न करने के लिए अथवा लोकप्रियता के प्रलोभन से उत्तम कर्म करना भी मनुष्य का अध पतन कर देता है। अहकारयुक्त मनुष्य दूसरो के प्रति कभी सच्ची सद्भावना नही कर सकता तथा उसे कभी शान्ति प्राप्त नही हो सकती। अहकार से कर्म मे प्रवृत्त होने पर कर्म दूषित हो जाता है। लोकप्रियता एव सम्मान की कामना द्वारा विकृत अहकार से घृणा उत्पन्न होती है तथा कामना-तृप्ति मे विघ्न होने से घृणा का क्रोध के रूप मे विस्फोट हो जाता है। घृणा तथा ईर्ष्या-द्वेष मन को विषाक्त बनाकर मनुष्य का पतन कर देते हैं। घृणा तथा ईर्ष्या-द्वेष मनुष्य को असहनशील बना देते है। घृणाशील मनुष्य सकीर्ण होता है तथा लोग उससे वैर करने लगते हैं। घृणा मनुष्य को जनसमाज से दूर कर देती है।

हमे सब लोग जाने और हमे आदर दे, यह कामना क्लेशप्रद होती है। सबको प्रसन्न रखने तथा सबसे आदर पाने की कामना मनुष्य को सन्मार्ग से विचलित कर देती है। लोकप्रियता की कामना कर्मयोगी के मार्ग मे बाधक होती है। ससार मे कोई सबको सदैव प्रसन्न नही कर सकता। ससार मे किसीकी प्रतिष्ठा सदैव सुरक्षित नही रहती तथा सत्कर्म करने पर भी ईर्ष्यालु जन उसे धूमिल करने मे सचेष्ट रहते है। कर्मयोगी अह-कारवश कदापि किसीका विरोध नही करता है। कर्मयोगी मान-अपमान के कुचक्र मे नही फँसता तथा व्यक्तिगत अपमान सहकर भी उत्तम लक्ष्य की पूर्ति मे जुटा रहता है। कर्मयोगी सरल, सात्त्विक और सहनशील होता है। अन्ततोगत्वा सत्य की जय होती है और ससार की निन्दा एव कटु आलोचना ही सत्यवादी कर्मयोगी के ध्रुव यश का आधार एव हेतु बन जाती है।

यह विचार छोडकर कि दूसरे अपना कर्तव्य कर रहे हैं अथवा नही, मनुष्य को सदैव अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए, क्योकि स्वधर्म-पालन मे ही अपना कल्याण सन्निहित होता है। उत्तम पुरुष कर्तव्य-पालन के अपने उदाहरण से दूसरो को कर्तव्य-पालन की प्रेरणा देते हैं। अपने उदाहरण से दूसरो को स्वधर्म के लिए प्रेरित करना परम पुण्य होता है।

संघर्ष जीवन का अग है। पौधो, पशुओ तथा पक्षियो को भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सघर्ष करना पडता है। मनुष्य को केवल अपने अस्तित्व के लिए ही नही, बल्कि जीवन-मूल्यो के लिए भी सघर्ष करना होता है। मनुष्य अपने भीतर दैवी वृत्तियो से आसुरी वृत्तियो के साथ सघर्ष करके आत्मानुशासन एव आत्मविकास की प्रक्रिया मे तीव्र प्रगति कर सकता है। आत्मानुशासन होने पर ही वह बहिर्जगत् के देवासुर-सग्राम मे आसुरी शक्तियो के साथ युद्ध कर सकता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को महाभारत के युद्ध मे आसुरी शक्तियो के साथ सग्राम करने के लिए आत्मानुशासन की शिक्षा देते है, जिसके द्वारा वह लोक का तथा अपना कल्याण कर सके।

कर्मयोगी अपनी जीवन-यात्रा के समस्त सघर्ष मे अपने भीतर से प्रेरणा एव शक्ति प्राप्त करता है। उसके लिए सत्य के मार्ग मे दृढ रहना ईश्वर का उपकरण बनने के समान होता है। कर्मयोगी अपने भीतर विराजमान अन्तर्यामी परमात्मा की वाणी को अन्तरात्मा की ध्वनि के माध्यम से सुन-कर उसका अनुसरण करने मे अपनी कृतार्थता मान लेता है। अन्तरात्मा की वाणी उसके लिए परम सत्य होती है तथा वही उसके लिए शक्ति, सबल एव शान्ति का अक्षय स्रोत होती है। सत्याचरण करने से मनुष्य परमात्मा की कृपा का भाजन हो जाता है तथा वह परमात्मा के भरोसे से निश्चिन्त एव निरन्तर प्रसन्न रहता है।

कर्मयोगी दुष्प्रकृतिवाले लोगो की द्वेषपूर्ण आलोचना से विचलित नही होता। दुष्टजन अपने ईर्ष्यालु स्वभाव के कारण सत्यवादी मनुष्य पर निराधार आरोप लगाकर उसे निन्दित करने मे सक्रिय रहते हैं, किन्तु वह ईर्ष्याजनित निन्दा से विक्षुब्ध नही होता तथा शान्त एव सम बना रहता है। यद्यपि वह आरोपो का समयोचित उत्तर दे देता है तथा सावधान भी रहता है, तथापि वह दोषो का प्रत्यारोपण नही करता तथा अपने मन को प्रतिशोध एव घृणा से मुक्त रखता है। वह अपार सहनशील एव क्षमाशील होता है तथा भलाई का रास्ता कभी नही छोड़ता। वह सिद्धान्त के आधार पर विरोध एव सघर्ष करता है, किन्तु मन को द्वेष-विमुक्त रखता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है —हे अर्जुन, तू जीवन मे विषम परिस्थिति से कभी पलायन मत कर। समस्त चुनौतियो को स्वीकार करके डटकर उनका सामना कर और जय-पराजय, लाभ-हानि तथा

यश-अपयश की चिन्ता परमात्मा पर छोड दे। किसी भी परिस्थिति मे अपने दायित्व को मत भूल तथा हँसते-मुस्कराते हुए अपने कर्तव्य (स्वधर्म) का पालन कर। कर्तव्य-पालन के मार्ग से भागनेवाला मनुष्य अधम होता है। जीवन मे उतार-चढाव तो आया ही करते है। तू सर्वदा सम रहकर अपना कर्तव्य कर। हे अर्जुन, मोह मनुष्य को भावुक बनाकर कर्तव्य-मार्ग से विचलित कर देता है। तू सहृदय बन, किन्तु भावुक कदापि मत हो। तू इच्छाओ का दास मत बन। इच्छाएँ मनुष्य को भटका देती हैं। आत्मसयमी होकर साहसपूर्वक पुरुषार्थ कर, किन्तु पुरुषार्थ की एक सीमा होती है तथा फल सदैव परमात्मा के अधीन होता है। तू अध्यात्म-चेतना से युक्त होकर पुरुषार्थ कर तथा परमात्मा की प्राप्ति को परम पुरुषार्थ समझ। परमात्मा की कृपा से प्रतिकूल प्रतीत होनेवाला घटना-चक्र तेरे लिए अनुकूल हो जायगा। तू सन्मार्ग पर चलते हुए क्षण-क्षण अपने साथ परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव कर तथा पग-पग पर उसकी कृपा की अनुभूति कर। राग-द्वेष छोडकर निर्भय हो जा तथा स्वधर्म-पालन द्वारा परमात्मा को प्राप्त हो जा। ●

# अथ चतुर्थोऽध्यायः

## ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

श्रीभगवानुवाच

**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।**
**विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥**
**एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।**
**स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥**
**स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।**
**भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥**

**शब्दार्थ :** **श्रीभगवानुवाच**=श्री भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **अहं इस अव्यय योगं विवस्वते प्रोक्तवान्**=मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य के प्रति कहा था, **विवस्वान् मनवे प्राह मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत्**=सूर्य ने मनु के प्रति कहा, मनु ने इक्ष्वाकु के प्रति कहा, **एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयः विदु**=इस प्रकार परम्परा द्वारा प्राप्त इसे राजर्षियो ने जाना, **परंतप**=हे अर्जुन, **स योगः महता कालेन इह नष्टः**=वह योग वहुत काल से इस लोक मे लुप्त हो गया था । **स एव अयं पुरातन. योगः अद्य मया ते प्रोक्तः**=वह ही यह पुरातन योग आज मेरे द्वारा तेरे प्रति कहा गया है, **हि मे भक्तः च सखा असि**=क्योकि तू मेरा भक्त और मित्र है, **इति एतत् उत्तम रहस्यम्**=अत यह उत्तम रहस्य ( है ) । ( परतप—शत्रुओ को तपाने-वाला, शत्रु-तापन । इसका दूसरा अर्थ 'जितेन्द्रिय' भी है । )

**वचनामृत** · श्रीकृष्ण ने कहा—मैंने इस अविनाशी योग को विवस्वान् ( सूर्य ) से कहा था, सूर्य ने इसे ( अपने पुत्र ) मनु ( वैवस्वत मनु ) से कहा और मनु ने ( अपने पुत्र ) इक्ष्वाकु से कहा । हे अर्जुन, इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियो ने जाना ( किन्तु ) वह वहुत समय से इस लोक से लुप्त हो गया है । वह ही यह पुरातन योग आज मैंने तुझसे कहा है, क्योकि तू मेरा भक्त और मित्र है, यह उत्तम रहस्य ( मर्मयुक्त विषय ) है ।

**सन्दर्भ :** चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है 'ज्ञान-कर्मसन्यासयोग' । 'ज्ञान' का अर्थ है तत्त्वज्ञान, यथार्थ ज्ञान, परमार्थ ज्ञान अथवा आत्म-अनात्म-सम्बन्धी आध्यात्मिक ज्ञान । 'कर्म' का अर्थ कर्म-योग है तथा 'सन्यास' का अर्थ कर्मसन्यासयोग अर्थात् गीतोक्त ज्ञानयोग ( अथवा साख्ययोग ) है । श्रीकृष्ण ने कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा ( कर्म-योग तथा ज्ञानयोग ) इन दो मार्गों का निर्देश किया है ( अध्याय ३ श्लोक ३ ) । कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर यथार्थ ज्ञान का उदय हो जाता है । अतएव कर्मयोग का तथा ज्ञानयोग का लक्ष्य एक यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति है । मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रत्येक को ज्ञान के मुख्य द्वार से निकलना पडता है । कर्मयोग भी मोक्ष का साधक होता है । चतुर्थ अध्याय मे श्रीकृष्ण कर्मयोग की परम्परा की चर्चा करते हुए उसकी प्राचीनता बता रहे हैं तथा कर्मयोग मे डटे रहने का उपदेश करते हैं । कर्मयोग की साधना मे बुद्धि के द्वारा इन्द्रिय-सयम तथा निष्कामभाव होना ( काम का शमन ) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि कर्म-योग का मार्ग अत्यन्त प्राचीन है । आदिकाल मे श्रीकृष्ण ने विवस्वान् ( सूर्यदेव ) को कर्मयोग का उपदेश किया तथा विवस्वान् ने अपने पुत्र राजर्षि मनु ( श्राद्धदेवनामक मनु, वैवस्वत मनु ) को इसका उपदेश किया । राजर्षि मनु ने इसका उपदेश अपने

पुत्र इक्ष्वाकु ( सूर्य-वश के प्रवर्तक ) को किया। यह योग अव्यय अर्थात् अविनाशी है तथा इसका पूर्ण लोप कभी नही होता। गुरु-शिष्य-परम्परा से प्राप्त इस योग का अवलम्बन एव परिपालन राजर्षियो द्वारा होता रहा, किन्तु कुछ काल के लिए यह लुप्तप्राय हो गया। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश द्वारा इस योग को पुनरुज्जीवित कर दिया।

गुरु-शिष्य-परम्परा के निर्वाह के लिए गुरु तथा शिष्य मे एकात्मता का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। गुरु स्वय योग मे पारगत होकर शिष्य को भी उत्तीर्ण कर देता है।[1] गुरु शिष्य के अधिकारी होने पर ही रहस्य का उद्घाटन करता है।[2] श्रीकृष्ण अर्जुन को भक्त और मित्र जानकर उत्तम योग ( कर्मयोग ) का उपदेश करते हैं। अर्जुन कर्मयोग की दीक्षा प्राप्त करने के लिए अधिकारी है तथा कर्मयोग की साधना ही उसके लिए सुगम एव समुचित है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को यह सकेत कर रहे है कि भूतकाल मे अनेक प्रख्यात राजा ऋषि हो गये, जिन्होने कर्मयोग का अवलम्वन करके सिद्धता प्राप्त कर ली, अतएव उसे भी उनका अनुसरण करके कर्मयोग का अवलम्बन करना चाहिए। श्रीकृष्ण श्रद्धा-विश्वास की आवश्यकता पर विशेष वल देते हैं। श्रद्धा और विश्वास से युक्त होकर ही शिष्य उपदेश-ग्रहण के लिए सुपात्र होता है। अर्जुन श्रीकृष्ण का मित्र ही नही है, वल्कि भक्त ( सच्चा प्रशसक एव अनुयायी ) भी है। श्रद्धा और भक्ति होने पर ही शिष्य पर गुरु की वाणी का प्रभाव होता है। प्राय अतिपरिचय से अवज्ञा होने लगती है, किन्तु जहाँ भक्ति का नाता है, वहाँ सम्बन्ध प्रगाढ हो जाता है। महान् उपदेश के लिए सखा होना पर्याप्त नही है। भक्त होने के कारण ही अर्जुन दिव्य उपदेश का अधिकारी हो सका।

श्रेष्ठ गुरुजन का कर्तव्य है कि वे पुरातन सिद्धान्तो की व्याख्या अपने युग की विशेषताओ के परिप्रेक्ष्य मे करें तथा उनके नवीनीकरण द्वारा उन्हे युग के अनुरूप उपादेय एव उपयोगीरूप मे प्रस्तुत करे।

अर्जुन उवाच

**अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वत.।**
**कथमेतद्विजानीया त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, **भवत जन्म अपर विवस्वत जन्म परम्**=आपका जन्म इसी काल मे हुआ है, विवस्वान् का जन्म पुराना है, **एतत् आदौ त्व प्रोक्तवान्**=इसे ( कर्मयोग को ) आदिकाल मे आपने कहा था, **इति कथ विजानीयाम्**=यह कैसे जानूँ ?

**वचनामृत** · अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, आपका जन्म तो इसी काल का है तथा विवस्वान् का जन्म पुराना है, आपने इस योग को आदि मे कहा था, यह मैं कैसे समझूं ?

**सन्दर्भ :** अर्जुन श्रीकृष्ण के कथन की विलक्षणता से चकित है।

**रसामृत :** अर्जुन को श्रीकृष्ण से यह सुनकर आश्चर्य लगा कि उन्होंने आदि मे विवस्वान् ( सूर्य-

---

१ **स्वय तीर्णोऽपरान् तारयति**—स्वय पार होकर दूसरो को पार कर देता है।

**स्वय नष्ट परान् नाशयति**—स्वय नष्ट होकर दूसरो को नष्ट कर देता है।

**स्वय मूढोऽन्यान् व्यामोहयति**—स्वय मूढ होकर दूसरो को मूढ वना देता है।

२ **विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽनृताय मा मा ब्रूया वीर्यवती च तथा स्याम।** —श्रुति

—विद्या ब्राह्मण के पास गयी और उसने कहा—अधिकारी पुरुष को मेरा उपदेश देकर गुप्त रखो। दोष-दर्शन करनेवाले, मिथ्यावादी से इसे न कहो। तब मेरा प्रभाव रहेगा।

**स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्।** —जिज्ञासु साधक को समित्पाणि होकर गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए। **'तद्विद्धि प्रणिपातेन'**—गीता, ४ ३४

देव ) को भी कर्मयोग का उपदेश किया था। अर्जुन श्रीकृष्ण की अलौकिकता के सम्बन्ध मे राजसूय यज्ञ के समय भीष्म पितामह से सुन चुके थे तथा उसने शिशुपाल-वध आदि के समय उनकी अद्‌भुत शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव किया था, किन्तु अर्जुन शिष्य के रूप मे अब स्वय श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से उनकी अलौकिकता का रहस्य जानना चाहते थे।

अर्जुन एक आदर्श शिष्य है। वह गुरु श्रीकृष्ण के प्रति सच्ची श्रद्धा-भक्ति से परिपूर्ण है, किन्तु साहसपूर्वक अपनी जिज्ञासा भी प्रस्तुत करता है तथा प्रत्येक शका का समाधान चाहता है। महान् गुरु श्रीकृष्ण भी उसकी निश्छलता देखकर उसके प्रश्नो का विस्तारपूर्वक उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।**
**तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥**

**शब्दार्थ : श्रीभगवानुवाच**=श्री भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **अर्जुन मे च तव बहूनि जन्मानि व्यतीतानि**=हे अर्जुन, मेरे तथा तेरे बहुत जन्म हो चुके हैं, **परंतप तानि सर्वाणि त्वं न वेत्थ अहं वेद**=हे परतप, ( अर्जुन ) उन सबको तू नही जानता, मैं जानता हूँ।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, मेरे तथा तेरे बहुत जन्म हो चुके हैं। हे परतप, उन सबको तू नही जानता, किन्तु मैं जानता हूँ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अपनी अलौकिकता का वर्णन कर रहे है।

**रसामृत :** अर्जुन को स्नेहपूर्ण सखा तथा श्रद्धापूर्ण भक्त जानकर श्रीकृष्ण अपने मुखारविन्द से अपनी अलौकिकता के रहस्य का उद्‌घाटन कर देते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन, तेरे असख्य जन्म हो चुके हैं तथा मैं भी अनेक बार पृथ्वी पर अवतरित होता रहता हूँ, किन्तु तू ज्ञानशक्ति के ( अज्ञान द्वारा ) आच्छादित होने के कारण इस रहस्य को नही जानता तथा मैं दिव्यत्व के कारण जानता हूँ।

**अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।**
**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥**

**शब्दार्थ : अव्ययात्मा अजः सन् अपि भूतानां ईश्वरः सन् अपि**=अविनाशी अजन्मा होकर भी, प्राणियो का ईश्वर होकर भी, **स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय आत्ममायया संभवामि**=अपनी प्रकृति को अधिष्ठित करके अपनी माया ( योगमाया ) से प्रकट होता हूँ।

**वचनामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है—मैं अविनाशी और अजन्मा होकर भी तथा समस्त प्राणियो का ईश्वर होकर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने अवतरण का रहस्य बताते है।

**रसामृत :** इस सृष्टि की रचना सोद्देश्य है। बिना प्रयोजन मन्दबुद्धि मनुष्य भी कुछ नही करता। सृष्टि ईश्वर की लीला है, किन्तु कोई निष्प्रयोजन विलास नही है। परमब्रह्म परमात्मा माया ( ईश्वरीय शक्ति ) से युक्त होकर सृष्टि का सृजन करता है तथा 'ईश्वर' कहलाता है। परम ब्रह्म परमात्मा का अश आत्मा ही माया से आवृत होकर 'जीवात्मा' के रूप मे मनुष्य के भीतर विराजमान है। जीवात्मा मायाजनित अज्ञान से मुक्त होकर परमब्रह्म के साथ एकात्मता की दिव्यानुभूति करता है। परमात्मा के साथ एकात्मता की अनुभूति ही मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। चेतना जीवात्मा का लक्षण है तथा चेतना ही जीवन के मूल मे सस्थित होती है। जहाँ जीवन है वहाँ न्यून अथवा अधिक अश मे चेतना अवश्य विद्यमान है। चेतना के क्रमिक विकास द्वारा जीवात्मा उन्मुक्त होता है। चेतना का विकास कर्मयोग की साधना द्वारा हो सकता है। कालान्तर मे कर्मयोग ज्ञानयोग मे परिणत हो जाता है।

चेतना के आरोहण द्वारा योगी मे अकल्पनीय ईश्वरीय शक्ति का उदय हो जाता है तथा अलौकिक शक्ति का अभ्युदय होने पर योगी ईश्वर की

भाँति सहज रूप मे चमत्कारपूर्ण कार्य करने लगता है। योगी ईश्वर का सशक्त यत्र बनकर जीवमात्र के कल्याण मे रत रहता है। आध्यात्मिक चेतना के आरोहण द्वारा मनुष्य ईश्वरीय शक्ति का भण्डार होकर ईश्वर के सदृश दिव्य हो जाता है तथा ईश्वर के सदृश अलौकिक आचरण करने लगता है। इसे ईश्वरीय शक्ति का आरोहण कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक युग मे आवश्यकता होने पर ईश्वर स्वय किसी अश मे अवतरित होकर समाज मे उत्तम मूल्यो का पुनरुज्जीवन करता है तथा वह ईश्वर के अवतार के रूप मे उपास्य हो जाता है। इसे ईश्वरीय शक्ति का अवतरण अथवा ईश्वर का अवतार कहा जाता है।[1]

१ कुछ लोग श्रीकृष्ण को ब्रह्मस्थ सिद्ध योगी मानते हैं, जिनके अनुसार श्रीकृष्ण योगेश्वर होने के कारण ईश्वर की भाषा बोलते हैं। योगी परमात्मा के साथ तादात्म्य अथवा एकात्मता होने पर तात्स्थ्य अवस्था में ईश्वर ही हो जाता है, जैसे लोहा अग्नि मे रहकर अग्निरूप हो जाता है। किन्तु योगी की यह दैवी अवस्था निरन्तर नही रहती, यद्यपि वह महान् तो सदैव होता है। वह जितने समय ब्रह्मस्थ अवस्था मे रहता है उतने समय मे वह ईश्वरीय आचरण करता है, किन्तु जब वह मानवीय अवस्था मे होता है तब वह मानवीय वाणी बोलता है। ब्राह्मी स्थिति मे दिव्य होकर वह दिव्य शक्ति से युक्त होता है तथा कहता है—मैं सृष्टि की रचना करता हूँ। कुछ लोगो की मान्यता है कि बद्ध जीव पुनर्जन्म लेते हैं तथा मुक्त जीव लोक कल्याण के लिए जन्म लेते हैं तथा अवतार कहलाते हैं। किन्तु असख्य लोग श्रीकृष्ण को ईश्वर का पूर्ण अवतार मानते हैं। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यास की दृष्टि मे श्रीकृष्ण साक्षात् परमेश्वर के अवतार है तथा श्रीकृष्ण के समकालीन पितामह भीष्म इत्यादि महाभारत मे श्रीकृष्ण की अद्भुत महिमा का वर्णन करते हैं। श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं तथा ईश्वरावतार भी। गीता के ग्यारहवे अध्याय मे श्रीकृष्ण दिव्य विश्वरूप मे भी प्रकट होते हैं।

भगवान् धराधाम पर अवतीर्ण होकर (पृथ्वी पर उतरकर) साधारण व्यक्ति ही प्रतीत होते हैं तथा वास्तव मे उनका न जन्म होता है और न मरण ही। भगवान् का प्राकट्य होता है तथा उनका समस्त आचरण दिव्यलीला होती है। लीला के अन्त मे भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं। साधारण जीवो का जन्म और मरण कर्मानुसार होता है, किन्तु परमात्मा प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका शक्ति को अधिष्ठित (अधीन) करके अपनी योगमाया शक्ति से अनेक रूपो मे अवतार लेता है।[1] परमात्मा का अवतरण स्वतन्त्र एव विलक्षण होता है तथा उसका आविर्भाव एव तिरोभाव (प्रकट होना तथा लुप्त होना) रहस्यमय होता है। परमात्मा देह-धारण न करके भी देहवान् प्रतीत होता है।

परमात्मा चित्स्वरूप है तथा सर्वप्रकाशक है। परमात्मा अविनाशी है। उसकी ज्ञान-शक्ति

१ इस श्लोक मे 'प्रकृति' का अर्थ मूल प्रकृति है, जिसका वर्णन गीता में (९ ७, ८ तथा १४ ३, ४) किया गया है तथा मूल प्रकृति सृष्टि का कारण होती है। माया का अर्थ यहाँ ईश्वर की ऐश्वर्यमयी शक्ति एव स्वतन्त्र इच्छा, योगमाया है, जिसकी चर्चा गीता के सातवें अध्याय (७ २५) मे है। परमात्मा योगमाया द्वारा अवतार के रूप मे प्रकट होता है। प्रकृति भी माया ही अथवा माया की एक शक्ति होती है तथा माया का उच्चस्तर योगमाया होता है। कुछ आचार्य आत्मा, परमात्मा और प्रकृति तीनो को अज (अजन्मा, नित्य, शाश्वत) मानते हैं, किन्तु वेदान्त के अनुसार अद्वैत परमात्मा ही अजर-अमर है तथा आत्मा परमात्मा का अभिन्न अश है और प्रकृति परमात्मा की एक शक्ति है। माया असत् है तथा उसका पारमार्थिक अस्तित्व नही है। **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'**—श्रुति अर्थात् माया को ही प्रकृति समझना चाहिए (प्रकृति माया की ही एक शक्ति है, माया का ही एक रूप है)। माया परमात्मा की ऐसी ही अभिन्न शक्ति है, जैसे अग्नि से अभिन्न उसकी दाहिका शक्ति होती है। अभिन्नता से अद्वैत सिद्ध होता है।

( स्वभाव ) कभी क्षीण नही होती। परमात्मा आकाशवत् सर्वगत और नित्य है। वह सर्वदा कूटस्थ है। चिन्मयस्वरूप परमात्मा समस्त प्राणियो का ईशन ( शासन ) करनेवाला ईश्वर है। माया परमात्मा की अनिर्वचनीय कल्पना-शक्ति है। प्रकृति माया की त्रिगुणात्मिका शक्ति है अथवा माया के अन्तर्गत एव अधीन है।

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥**
**परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।**
**धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥**

**शब्दार्थ :** भारत यदा यदा धर्मस्य ग्लानि भवति अधर्मस्य अभ्युत्थानं भवति—हे भारत ( भरतवंशी अर्जुन ) जब-जब धर्म की हानि, अधर्म की अभिवृद्धि होती है, तदा हि अह आत्मान सृजामि—तब ही मैं अपने को सृजित करता हूँ। साधूना परित्राणाय च दुष्कृता विनाशाय धर्मसंस्थापनार्थाय युगे युगे संभवामि—सत्पुरुषो की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिए, धर्म की संस्थापना के लिए युग-युग मे प्रकट होता हूँ।

**वचनामृत :** श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—हे भरतवशी अर्जुन, जब-जब धर्म ( सत्य ) की हानि और अधर्म ( असत्य ) की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने दिव्य देहमय स्वरूप की रचना कर देता हूँ। सज्जनो की रक्षा के लिए तथा दुष्टजन के दमन के लिए तथा सत्य की स्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग मे अवतीर्ण होता हूँ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण का प्राकट्य साधारण पुरुषो के समान नही होता।

**रसामृत :** समाज मे सदैव देवासुर-सगाम चलता रहता है। समाज की सुख-समृद्धि, शान्ति और सुरक्षा के हित मे आसुरी शक्तियो पर नियन्त्रण होना अत्यन्त आवश्यक होता है। दुराचार एवं दुर्गुणो का दमन होने से तथा सदाचार एव सद्गुणो की रक्षा होने से समाज की व्यवस्था सुदृढ रह सकती है। जब समाज मे दुष्टजन सशक्त होकर सत्पुरुषो को सताने लगते है, असत्य और अन्याय सत्य और न्याय को उत्पीडित कर देते है तथा अधर्म धर्म को कवलित कर लेता है, तब सत्पुरुषो, सत्य और न्याय की रक्षा तथा धर्म की सस्थापना के लिए परमात्मा स्वय प्रकट होता है। परमात्मा प्रत्यक्ष होकर समाज के जीवन-स्तर को ऊँचा उठा देता है तथा अपने उपदेश, आदेश एव आचरण से सत्य की शक्तियो को प्रतिष्ठित कर देता है। इसके अतिरिक्त जो उत्तम परम्पराएँ कालान्तर मे विकृत एव लुप्तप्राय हो जाती है, उनको सशोधित एव पुनरुज्जीवित करने के लिए भी दैवीशक्ति का अवतीर्ण होना आवश्यक हो जाता है।[1] कर्मयोगियो के लिए भगवान् का मानुषी आचरण कर्मप्रेरक उदाहरण बन जाता है। भगवान् की नरलीला रसिक भक्तजन के लिए आनन्दप्रद हो जाती है। परमात्मा अवतीर्ण होकर धर्म के शाश्वत रूप को वचन और व्यवहार द्वारा प्रस्तुत करता है तथा उसे दोष एव विकार से मुक्त करके प्रेरणात्मक रूप मे प्रतिष्ठित कर देता है। जो मनुष्य अपनी वाणी एव आचरण द्वारा समाज मे प्रेम, क्षमा, सेवा, त्याग, बलिदान आदि सात्त्विक गुणो की प्रस्थापना करते हैं, वे परमात्मा के कार्य मे सहयोग देते है तथा परमात्मा की कृपा को प्राप्त कर लेते है।

---

१ यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मन.।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरि.॥
—श्रीमद्भागवत, ९ २४ ५६

तुलसीदास इसे ही इस प्रकार कहते हैं—
जब जब होइ धरम कै हानी,
बाढहि असुर अधम अभिमानी।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा,
हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा॥

भगवान् श्रीकृष्ण को सोलह कलाओ से युक्त पूर्ण अवतार कहा जाता है।[1]

**जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वत ।**
**त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन मे जन्म च कर्म दिव्य=हे अर्जुन, मेरा जन्म तथा कर्म दिव्य ( है ), एव य तत्त्वत. वेत्ति स देहं त्यक्त्वा पुन जन्म न एति=इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसहित जानता है वह शरीर को त्यागकर पुन जन्म को नही प्राप्त होता, माम् एति=मुझे प्राप्त करता है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, मेरे जन्म और कर्म दिव्य ( अलौकिक ) है—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसहित ( पूर्णत ) जान लेता है वह शरीर-त्याग करने पर पुन जन्म नही लेता तथा मुझे प्राप्त हो जाता है।

**सन्दर्भ .** श्रीकृष्ण अवतार की दिव्यता जानने के महत्त्व का कथन कर रहे हैं।

**रसामृत :** परमात्मा को प्राप्त होने पर मनुष्य मे दिव्य शक्तियो का उदय हो जाता है तथा उसकी वाणी और आचरण दिव्य हो जाते हैं। साधारण मनुष्य दिव्य पुरुष की दिव्यता के रहस्य को नही समझ पाते। स्वयप्रकाश चिदेकरस, परमब्रह्म परमात्मा का मानवी अवतार होने पर भी साधारण मनुष्य ईश्वर के मानववत् आचरण को देखकर उसकी दिव्यता को नही समझते। श्रीकृष्ण के युग मे भीष्म पितामह इत्यादि कुछ ही मनुष्य श्रीकृष्ण की महिमा को जान पाये। ईश्वर का सगुण रूप अवतार मनुष्यो के कल्याण का सर्वोत्तम मार्ग-निर्देशक होता है।

जो मनुष्य आध्यात्मिक दिव्यता के रहस्य को जान लेते है तथा पशु-स्तर के भोगमय जीवन को त्यागकर उच्च आध्यात्मिक धरातल को प्राप्त कर लेते हैं, वे परमात्मा को ( ब्रह्मस्वरूपता को ) ही प्राप्त हो जाते हैं तथा उनको मोक्ष प्राप्त हो जाता है।[1] श्रीकृष्ण मनुष्य के जीवन मे क्रमिक विकास एव दिव्यता की आरोहण-प्रक्रिया पर बल दे रहे हैं। जीवन के उच्चतम स्तर को प्राप्त करके पूर्णता की उपलब्धि एव अनुभूति करना मानव-जीवन की कृतार्थता है।

**वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।**
**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता. ॥१०॥**

---

१ कला का अर्थ है चन्द्रमा की कला। चन्द्रमा कला के विकास से पूर्ण तथा ह्रास से क्षीण होता है। कला एक अश अथवा माप है। चन्द्रमा की प्रथम कला और सोलह कलाओ की पूर्णता—इन दो का विशेष महत्त्व होता है। तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी द्वारा चन्द्रमा पूर्णता को प्राप्त होता है तथा अमृता, मानदा, पूषा, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अगदा तथा पूर्णा, पूर्णामृता चन्द्रमा की अन्य कलाएँ हैं। कलानिधि ( पूर्ण ) चन्द्र की भाँति सोलह कलाओ से युक्त कृष्णचन्द्र हैं। विशाखा मध्यवर्ती नक्षत्र है, जिसे राधा भी कहते हैं तथा उसका समीपवर्ती नक्षत्र अनुराधा है। जब पूर्ण चन्द्रमा विशाखा पर होता है, सूर्य कृत्तिका नक्षत्र पर होता है। कृत्तिका नक्षत्र वृष राशि का होता है, अतएव राधा को वृषभानुजा भी कहते हैं। पाँच महाभूत ( आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी ), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन मिलकर भी सोलह निर्माता-तत्त्व निरुक्त कृष्ण की सोलह कलाएँ हैं ( श्रीमद्भागवत )। कृष्ण प्रेमरस एव आनन्दामृत से परिपूर्ण हैं। श्रीकृष्ण की जीवन-लीला मे पञ्चकोशो का क्रमिक विकास भी उपलक्षित है तथा इनसे परे उनकी छठी कला विभूति तथा सातवी कला धर्म है। ( श्रीकृष्ण धर्म की सस्थापना करते हैं। ) श्रीकृष्ण की शेष कलाएँ ज्ञान, ऐश्वर्य, यश ( सामर्थ्य ), योग ( वैराग्य ), सर्वज्ञता, इच्छा ( इच्छा-शक्ति ), स्वतन्त्रता, व्यापकता और सर्वसिद्धि है। प्रश्नोपनिषद् मे सूर्य, चन्द्र, कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष, वायु आदि की तात्त्विक व्याख्या की गयी है। श्रीकृष्ण सोलह कलाओ से युक्त पूर्ण अवतार हैं।

---

१ गीता मे श्रीकृष्ण ने अन्य स्थलो पर भी परम-गति की चर्चा की है। य प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम ( ८ २१ ), १२ ८, १८ ५५, ५६, ६२ इत्यादि।

**शब्दार्थ :** वीतरागभयक्रोधाः मन्मयाः मा उपाश्रिताः बहवः ( पुरुषा )=राग, भय और क्रोध से अतीत ( मुक्त ) मुझमे स्थित मेरे शरणागत बहुत से पुरुष, ज्ञान-तपसा पूता· मद्भावं आगताः=ज्ञान के तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो गये ।

**वचनामृत :** राग, भय और क्रोध से मुक्त होकर तथा मुझमे स्थित होकर, मेरा आश्रय लेकर, बहुत मनुष्य ज्ञान, रूप, तप से पवित्र होने पर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके है ।

**सन्दर्भ :** बहुत लोगो ने परमात्मा को इस प्रकार प्राप्त किया है ।

**रसामृत :** परमात्मा की प्राप्ति के लिए आवश्यक सोपानो की परिगणना करते हुए श्रीकृष्ण कहते है कि ( १ ) राग, भय और क्रोध से मुक्त होना, ( २ ) परमात्मा मे अनन्यभाव से स्थित होना, ( ३ ) परमात्मा का आश्रय ग्रहण करना तथा ( ४ ) ज्ञानरूप, तप से पवित्र होना परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त होने के लिए परम आवश्यक है ।

इन्द्रियो के विषयो ( भोग्य पदार्थो ) के प्रति राग होना मनुष्य को नीचे भौतिक अथवा पाशविक स्तर पर ला देता है[1] तथा उसके कर्म बन्धनकारक हो जाते हैं । राग ही आसक्ति बन जाता है तथा आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है । भौतिक सुख-भोग की कामना मनुष्य को जीवन मे भटका देती है । कामना भोगो से शान्त नही होती तथा उनसे उद्दीप्त हो जाती है, जैसे अग्नि घृत के डालने से शान्त नही होती, बल्कि उद्दीप्त हो जाती है । वासना एव तृष्णा कामना के सूक्ष्म रूप है तथा मनुष्य के मन को अशान्त और उद्विग्न बना देते हैं । राग मनुष्य को सकीर्ण एव स्वार्थमय बना देता है । राग से उत्पन्न कामना के कारण ही भय और क्रोध होते हैं । कामना की पूर्ति के मार्ग मे विघ्न अथवा सकट न हो जाय, यह भय मनुष्य को सताने लगता है । कामना ( तथा कामना के अन्तर्गत आशा ) की पूर्ति के मार्ग मे विघ्न आने पर तथा कामना ( तथा कामना के अन्तर्गत आशा ) की पूर्ति न होने पर उत्तेजना की उग्रता के कारण क्रोध का विस्फोट होता है । क्रोध का प्रारम्भ मूर्खता से होता है और अन्त पश्चात्ताप एव ग्लानि मे होता है । मन के प्रमुख विकार राग, भय और क्रोध ही हैं । राग की पूर्ति न होने पर द्वेष उत्पन्न हो जाता है । राग समस्त विकारो के मूल पर स्थित है । निश्चय ही मानसिक अनुशासन द्वारा रागादि विकारो पर नियन्त्रण किया जा सकता है । राग के विशेष रूप से निर्गत होने पर मनुष्य वीतराग हो जाता है । राग, भय और क्रोध से विमुक्त ( अथवा अतीत ) होकर मनुष्य वीतरागभयक्रोध हो जाता है तथा उसका अन्त करण निर्मल हो जाता है । राग, भय और क्रोध चित्तविक्षेप एव अशान्ति के प्रमुख हेतु हैं तथा इनसे मुक्त होने पर वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, जो ज्ञानोदय का हेतु होता है । दृढ सकल्प एव निरन्तर अभ्यास द्वारा मनुष्य निश्चय ही रागादि से अतीत हो सकता है ।

परमात्मा को प्राप्त होने के लिए दूसरा उपाय 'मन्मय' अर्थात् प्रभुमय होना है । जो ज्ञानी '**तत् त्वं असि**' ( वह ब्रह्म तू है ) तथा '**अह ब्रह्म अस्मि**' ( मैं ब्रह्म हूँ ) महावाक्यो के अनुसार 'तत्' ( परमात्मा और अह ( आत्मा ) को एक ( अभिन्न ) मानकर एकत्व की अनुभूति करता है वह प्रभुमय हो जाता है । ज्ञानी परम ब्रह्म मे चित्त को समाहित करके ( चित्त-वृत्ति को ब्रह्माकारा करके ) अभिन्नता की अनुभूति कर लेता है । कर्मयोगी भक्त भक्तिभाव द्वारा प्रभु मे अन्यभाव से स्थित हो जाता है अर्थात् प्रभु को ही अपना सर्वस्व मानकर भक्तिभाव द्वारा प्रभु के साथ एकता का नाता स्थापित कर लेता है । भक्तिभाव द्वारा प्रभु के साथ तन्मय होकर भक्त सर्वत्र प्रभु का दर्शन करता है ।

---

१ **नास्ति अपिशाच ऐश्वर्यम्**—ऐश्वर्य ( भोगवृत्ति ) पिशाचता ( पाप, पतन ) के बिना नही होता ।

परमात्मा को प्राप्त होने का तीसरा उपाय परमात्मा का पूर्ण आश्रय लेना है। ज्ञानी 'सर्व खलु इद ब्रह्म' ( सब ब्रह्म ही है ) महावाक्य के अनुसार परमब्रह्म के ही उपाश्रित होते हैं तथा सर्वत्र एकत्व का अनुभव करते है। कर्मयोगी भक्त आत्मसमर्पण द्वारा प्रभु की शरणागति ग्रहण कर लेता है और निश्चिन्त, शान्त एव सुखी हो जाता है।

परमात्मा को प्राप्त होने का चतुर्थ उपाय ज्ञानरूप तप से पवित्र एव निर्मल होकर परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त होना है। परमात्मा के ज्ञान द्वारा अखण्ड ब्रह्माकारावृत्ति ( मैं ब्रह्म हूँ, सब कुछ ब्रह्म है ऐसी चित्त-वृत्ति ) का उदय हो जाता है। ज्ञानी के लिए ज्ञान ही परम तप होता है।[१] ज्ञान-निष्ठा द्वारा मनुष्य के समस्त पापो का क्षय हो जाता है। ज्ञानाग्नि से समस्त पाप दग्ध हो जाते हैं तथा मनुष्य पवित्र हो जाता है। अज्ञान से मुक्त जीव शुद्ध चैतन्य आत्मा होता है। ब्रह्म का ज्ञान होने पर ज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है।[२] ज्ञानी ज्ञान-मार्ग द्वारा जिस ज्ञान-निष्ठा ( ज्ञानपूर्ण अवस्था ) को प्राप्त होता है, कर्मयोगी कर्म द्वारा उसे प्राप्त कर लेता है। कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर स्वत ज्ञान का उदय हो जाता है। श्रीकृष्ण कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनो की साधना मे राग, भय तथा क्रोध की निवृत्ति पर बल दे रहे हैं।[३] दोनो मार्गों मे विभेद हैं, किन्तु लक्ष्य एक ही है।

**ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।**
**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वश ॥११॥**

**शब्दार्थ : पार्थ ये मा यथा प्रपद्यन्ते अहं तान् तथा एव भजामि**=हे अर्जुन, जो मुझे जैसा भजते हैं, मैं उन्हें वैसे ही भजता हूँ।[१] **मनुष्या सर्वश मम वर्त्म अनुवर्तन्ते**=मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं।

**वचनामृत** हे अर्जुन, जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उन्हे उमी प्रकार अपनाता हूँ। सभी मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।

**सन्दर्भ** . परमात्मा सबके लिए समान उपलब्ध है। यह श्लोक अत्यन्त प्रख्यात है तथा सर्वधर्म-समादर का सूत्र है।

**रसामृत** परमात्मा सबके लिए समान रूप से सुलभ है। परमात्मा एक अमृत सरोवर है, जिसका उपयोग सभी समान रूप से कर सकते हैं। उसे प्राप्त करने के लिए विभिन्न मार्ग हैं तथा मनुष्य अपनी रुचि एव क्षमता के अनुसार किसी भी मार्ग का अवलम्बन कर सकता है। इस अमृत सरोवर के अनेक तट है तथा किसी तट पर जल गहरा है और कही उथला है। मनुष्य किसी भी तट द्वारा इस दिव्य सरोवर का लाभ उठा सकता है। कोई तट पर स्थित होकर शीतल वायु के सेवन से, कोई आचमन से और कोई अवगाहन से तृप्ति पा लेता है। सरोवर सभी का स्वागत करता है। अथवा, परमात्मा एक कामधेनु है, जिससे मनुष्य को उसकी याचना के अनुसार सब कुछ प्राप्त हो जाता है। परमात्मा के द्वार सदैव, सर्वत्र और सबके लिए समान रूप से खुले हुए हैं तथा मनुष्य अपनी रुचि एव क्षमता के अनुसार उसके साथ सम्पर्क स्थापित कर सकता है। अविवेकी जन हीरो की खान मे पहुँचकर भी कोयले की ही

---

१ मनसश्चेन्द्रियाणा च ह्यैकाग्र्य परमं तप अर्थात् मन और इन्द्रियो की एकाग्रता होना परम तप है।

२ ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति —मुण्डक उप०, ३ २ ९

३ वीतरागभयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते —गीता, २ ५६

—वीतरागभयक्रोध पुरुष स्थितप्रज्ञ मुनि होता है। गीता मे अन्यत्र ( ३ ३४, २ ६४ इत्यादि मे ) भी राग पर विजय करने का उपदेश दिया गया है।

---

१ त यथा यथा उपासते तथैव भवति —जो भगवान् की जैसी उपासना करते हैं वैसा ही फल होता है।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।—जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि होती है।

**जिनकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत तिन्ह देखी तैसी।**

मांग करते हैं तथा विवेकीजन हीरा प्राप्त करके कृतार्थ हो जाते हैं।

मनुष्य परमात्मा को ज्ञान, ध्यान, कर्म और भक्ति द्वारा प्राप्त हो सकता है। यद्यपि निष्काम-भाव से परमात्मा को प्राप्त होना परम पुरुषार्थ है, स्वार्थभाव एवं सकामभाव से भी परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निष्फल नहीं होता। संकट में फँसकर मनुष्य कहता है, "हे प्रभो, मैं ज्ञानी नहीं हूं तथा मुझे संसार मिथ्या प्रतीत नहीं होता, मैं ज्ञान-ध्यान नहीं जानता। हे प्रभो, मैं थक चुका हूँ और पुरुषार्थ भी नहीं कर सकता। मैं ऐसा भक्त भी नहीं हूँ, जिसे केवल आपकी भक्ति ही पर्याप्त होती है तथा जिसे कभी कुछ नहीं चाहिए। मैं सन्तों और महापुरुषों से आपकी अनन्त सामर्थ्य और अपार करुणा की कथाओं को सुनकर आपकी शरण में आया हूँ। मैं इससे अधिक कुछ नहीं जानता। हे प्रभो, मेरा संकट से उद्धार करो।" यह सकाम अथवा स्वार्थपूर्ण याचना है तथा सच्चे भगवद्भक्त के लिए अशोभनीय है, किन्तु सकाम प्रार्थना भी मनुष्य को परमात्मा के समीप ले जाती है तथा मनुष्य धीरे-धीरे सकाम भक्ति से निष्काम भक्ति की ओर चल पड़ता है। वास्तव में, प्रत्येक जीव विकास-प्रक्रिया द्वारा परमात्मा की ओर अग्रसर हो रहा है। असत्य भी मनुष्य को सत्य की ओर ले जाता है।[1] असत् से सत्, मृत्यु से अमृतत्व (अमरता), दुःख से अक्षय सुख (आनन्द) की ओर बढ़ना विकास-प्रक्रिया का स्वरूप है। परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा मार्ग चुनने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इच्छा ही मार्ग प्रशस्त कर देती है।

सभी अपनी-अपनी भावना के अनुसार परमात्मा को प्राप्त होते हैं तथा परमात्मा सभी को उनकी भावना के अनुसार स्वीकार कर लेता है। परमात्मा को निर्गुण अथवा सगुण, निराकार अथवा साकार, ब्रह्म अथवा राम, देवी अथवा देवता, अवतार अथवा महापुरुष, पिता अथवा पुत्र, बन्धु अथवा मित्र, किसी भी रूप में मानकर चिन्तन करने से वह मनुष्य का मार्ग-दर्शन एवं उद्धार करता है। वही शिव है, वही विष्णु है तथा वही देवी और देवता है। सब देवताओं को प्रणाम उसी एक को पहुँचता है, जैसे सभी नदियाँ सागर में जाती हैं।[1] अतएव यद्यपि अपने मार्ग के प्रति सच्चा विश्वास रखना श्रेयस्कर है, तथापि कट्टरता के कारण दूसरों के मार्ग की निन्दा करना अविवेक है। परमात्मा सौहार्द, प्रेम और दया का अनन्त सागर है तथा उसके साथ किसी भी प्रकार सम्पर्क एवं सम्बन्ध स्थापित करना मनुष्य के लिए कल्याण-कारक होता है।[2] परमात्मा मनुष्य की आवश्यकता के अनुसार उसे सहायता देने की कृपा करता है तथा सभी उसकी ओर आकृष्ट हो रहे हैं। तथा-कथित नास्तिक और पापी भी उसकी ओर जाने-अनजाने बढ़ रहे हैं। परमात्मा और जीवात्मा का एक आन्तरिक सम्बन्ध है तथा प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा की ओर सहज ही आकृष्ट होता रहता है, जैसे लौहखण्ड चुम्बक की ओर स्वतः आकृष्ट होता है तथा मार्ग की बाधा उसकी प्रगति को कुछ समय के लिए ही अवरुद्ध कर सकती है,

---

१. सत्येन सत्यमीहते।

१ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः—अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि वही एक परमात्मा है। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—एक ही परमात्मा को विद्वान् लोग अनेक प्रकार से कहते हैं। सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति—अर्थात् सब प्रकार की पूजा उसी एक परमात्मा को प्राप्त हो जाती है। वेद, उपनिषद् और गीता एकेश्वरवाद के पोषक हैं।

२. अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
—श्रीमद्भागवत, २.३.१०

—मनुष्य निष्काम हो अथवा सकाम अथवा मोक्ष की कामना करता हो, उसे तीव्र उत्कण्ठा से परमात्मा के प्रति प्रेमभाव रखना चाहिए। प्रेमभाव सहज सम्बन्ध स्थापित कर देता है।

अनन्त काल तक नही। मनुष्य भौतिक स्तर से ऊपर उठकर परमात्मा की पुकार को अपने भीतर सुन सकता है तथा दिव्य जीवन का अनुसरण करने मे ही उसका कल्याण सन्निहित है।

**काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।**
**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥**

**शब्दार्थ :** इह मानुषे लोके कर्मणा सिद्धि काङ्क्षन्त देवता यजन्ते = इस मनुष्य-लोक में कर्मों की सफलता की इच्छा करते हुए लोग देवताओ की पूजा करते हैं, कर्मजा सिद्धि· क्षिप्र हि भवति = कर्मों से उत्पन्न हुई सिद्धि शीघ्र ही हो जाती है।

**वचनामृत** · इस मनुष्य-लोक मे कर्मों के फल की इच्छा करनेवाले लोग देवताओ की पूजा करते हैं, क्योकि उन्हे कर्मों की सफलता शीघ्र ही हो जाती है।

**सन्दर्भ** · प्राय· देवोपासना स्वार्थ-पूर्ति के लिए की जाती है।

**रसामृत** · मनुष्य प्राय· अनेक तुच्छ कामनाओ के वशीभूत रहते हैं और उनकी पूर्ति के लिए विभिन्न देवताओ की शरण ग्रहण करते हैं। सबकी मान्यता यह रहती है कि देवता शीघ्र प्रसन्न होकर इच्छित वरदान दे देते हैं। देवता एक ही परमात्मा की विविध शक्तियाँ होते हैं।[1] बहुधा मनुष्य नाशवान् वस्तुओ की प्राप्ति के लिए देवताओ के लिए यज्ञ और पूजा करते हैं और चेतना के विकास एव आरोहण के लिए प्रयत्न नही करते। मनुष्य स्वार्थ-पूर्ति के लिए केवल देवताओ की पूजा ही नही करते, बल्कि दुष्टजन के पास जाकर उनकी दुष्टता का भी सहारा लेते हैं और अनेक अन्धविश्वास से ग्रस्त होकर कुचक्र मे फँस जाते हैं। भौतिक कामना मनुष्य को अनेक प्रकार से भटकाती रहती है। मानव-जीवन का लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त होना होता है। स्वार्थप्रेरित होकर देवताओ की उपासना करना कार्य-सिद्धि दे सकती है, किन्तु परमात्मा की प्राप्ति नही करा सकती।

**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**
**तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥**

**शब्दार्थ :** गुणकर्मविभागश· चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट = गुण और कर्मों के विभाग से चारो वर्ण मेरे द्वारा रचे गये ह, तस्य कर्तार अपि मां अव्यय अकर्तार विद्धि = उस (चातुर्वर्ण्य) के कर्ता को भी मुझ अविनाशी परमात्मा को अकर्ता (ही) जान ले।

**वचनामृत** · चातुर्वर्ण्य (चार वर्णों का समुच्चय) गुण और कर्मों के विभाग के अनुसार मेरे द्वारा रचा गया। उसका कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमात्मा को अकर्ता ही जान।

**सन्दर्भ :** सृष्टि की रचना करने पर भी परमात्मा अकर्ता है।

**रसामृत :** परमात्मा ने सत्त्व, रज और तम गुणो के आधार पर सृष्टि की रचना की तथा इन तीन गुणो के आधार पर ही मनुष्यो के स्वभाव की रचना भी की। प्रत्येक मनुष्य मे तीनो गुणो का सम्मिश्रण होता है, किन्तु कुछ मनुष्य सत्त्वप्रधान होते हैं तथा अन्य रजोगुणप्रधान अथवा तमोगुणप्रधान होते हैं। चारो वर्ण विराट् पुरुष ब्रह्म के अग हैं।[1]

ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान होते हैं तथा उनमे रजोगुण गौण होता है। शम, दम, तप इत्यादि उनके कर्म हैं। क्षत्रिय रजोगुणप्रधान होते हैं तथा उनमे सत्त्वगुण गौण होता है और शौर्य, तेज, धृति इत्यादि उनके कर्म होते हैं। वैश्य रजोगुणप्रधान

---

१ रुचीना वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥
—शिवमहिम्न स्तोत्रम्

—पुष्पदन्त ने शिव की स्तुति करते हुए कहा कि लोगो की रुचि पृथक्-पृथक् होती है और जैसे सीधे-टेढे रास्ते पर चलनेवाली नदियों का गम्य समुद्र होता है, वैसे ही परमात्मा सबका प्रासव्य होता है। मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार देवताओ को छाँटकर उनकी उपासना करते हैं। वेद एकेश्वरवादी हैं, बहुदेववादी नहीं हैं, क्योकि देवताओ की पृथक् सत्ता नहीं है।

१ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्य कृत·।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। —ऋग्वेद

होते है तथा उनमे तमोगुण गौण होता है। कृषि, वाणिज्य इत्यादि उनके कर्म होते हैं। शूद्र तमोगुणप्रधान होते हैं तथा उनमे रजोगुण गौण होता है। श्रम इत्यादि उनके कर्म होते हैं। गुणो के अनुसार ही कर्म निर्धारित होते हैं। परमात्मा ने मानवमात्र के चातुर्वर्ण्य की रचना गुण और कर्म के विभाग द्वारा की है। चारो वर्णों मे गुण और कर्म का विभेद स्पष्ट है। अति सात्त्विक लोग ज्ञानोपार्जन, ज्ञान-प्रचार एव आध्यात्मिक उत्थान मे, सत्त्वमिश्रित रज प्रधान (राजसी) लोग प्रशासन एव शौर्य सम्बन्धी कार्य मे तथा तमोमिश्रित रजोगुण से युक्त लोग कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य मे रुचि लेते हैं। रजोमिश्रित तम प्रधान लोग इन सब कार्यों मे शारीरिक श्रम द्वारा सहयोग एव सहायता करते हैं। वर्ण गुण, स्वभाव एव कर्म के आधार पर निर्धारित हुए, किन्तु जातियाँ और उपजातियाँ वर्णो के समानान्तर (समाज द्वारा) उत्पन्न एव पोषित होकर रूढ हो गयी। त्याग-वृत्ति, सग्रह-वृत्ति, शौर्य, बौद्धिकता, शालीनता, कुलीनता इत्यादि के सम्बन्ध मे आनुवशिक एव पारिवारिक वातावरण का महत्त्व अवश्य होता है, किन्तु जातियाँ मात्र एक परम्परागत सामाजिक प्रथा हैं। प्राचीन ऋषियो ने जन्म की अपेक्षा आचरण को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा।[1]

समाज एक सावयव देह की भाँति है तथा सभी अवयवो को परस्पर सहयोग देना चाहिए। चारो वर्ण परस्पर सहयोग देकर ही समाज का अभ्युदय कर सकते हैं, प्रतिद्वन्द्वी होकर नही।

परमात्मा ने गुणो द्वारा चारो वर्णों की रचना की, किन्तु वह सृष्टि का कर्ता होकर भी अकर्ता है।

**न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।**
**इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥**

**शब्दार्थ :** कर्मफले मे स्पृहा न, मा कर्माणि न लिम्पन्ति=कर्मों के फल मे मेरी स्पृहा (तृष्णा) नही है, मुझे कर्म लिप्त नही करते, इति यः मा अभिजानाति स कर्मभिः न बध्यते=इस प्रकार जो मुझे जानता है वह कर्मों से नही बँधता।

**वचनामृत :** मेरी कर्मों के फल मे स्पृहा नही है तथा मुझे कर्म लिप्त नही करते। जो मनुष्य मुझे इस प्रकार (अलिप्त) जानता है वह कर्मों से नही बँधता।

**सन्दर्भ :** कर्मों के बन्धन से मुक्त रहने का उपाय परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना है।

**रसामृत :** कर्म बन्धनकारक नही होता, अज्ञान बन्धनकारक होता है। मनुष्य भौतिक धरातल पर स्थित होकर भोग्य पदार्थों की आसक्ति एव भोगो की कामना से प्रेरित होकर कर्म करता है तथा कर्मों के फल की कामना करता है। आसक्ति और कामना ही बन्धन का कारण होती है। अनासक्त होकर निष्काम भाव से किया हुआ कर्म बन्धनकारक नही होता।

परमात्मा सृष्टि की सरचना करता है तथा उसका सचालन करता है, किन्तु सृजन एव सचालन द्वारा स्वय लिप्त नही होता। परमात्मा को कर्ता होकर भी अकर्ता जानने से मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है अर्थात् मनुष्य परमात्मा की भाँति कर्म करते हुए निर्लिप्त रहकर मुक्त रह सकता है। जो निर्लिप्त है, वह निर्बन्ध है। कर्मयोगी

---

१. **अन्त्यजो विप्रजातिश्च एक एव सहोदराः।**
**एकयोनिप्रसूतश्च एकशाखेन जायते ॥**

—अन्त्यज और विप्र सहोदर (सगे भाई) हैं, एक ही के द्वारा उत्पन्न हुए हैं, एक शाख से उत्पन्न हुए हैं। सत्त्वगुण का श्वेत, रजोगुण का लाल, तम प्रधान रजोगुण का पीला तथा तमोगुण का काला रग माना गया है।

**न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्।**
**ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥**

—महाभारत, शान्तिपर्व

—अर्थात् वर्णों मे कोई ऊँच-नीच का भेद नही है, क्योकि यह समस्त जगत् ब्रह्ममय है। ब्रह्म के द्वारा सृष्टि-रचना हुई और कर्मों के अनुसार वर्ण हो गये। मनुष्य को अस्पृश्य कहना धर्मविरुद्ध है।

कर्तृत्व का अभिमान नही करता तथा वह वस्तुओ एव व्यक्तियो के प्रति आसक्ति नही रखता और निष्काम होकर अर्थात् फल की कामना छोडकर कर्म करता है। कर्मयोगी परमात्मा की भाँति कर्म करते हुए भी उसमे लिप्त नही होता। अर्थात् अकर्ता ही रहता है तथा कर्मो से नही बँधता। निष्काम होकर मनुष्य अकर्ता हो जाता है। परमात्मा निष्कल, निष्क्रिय और अविकारी है तथा आकाश की भाँति सर्वगत एव साक्षी है।

आध्यात्मिक चेतना को आच्छादित करनेवाले अथवा आध्यात्मिक चेतना के विकास को अवरुद्ध करनेवाले काम (और क्रोध) को बिना निर्मूल किये हुए मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नही होती। अतएव कर्मयोग के साधक को कामना एव उसके सूक्ष्म रूप स्पृहा से मुक्त होने के लिए सदैव सचेष्ट रहना चाहिए। ज्ञान का प्रकाश होने पर तथा भक्ति-भावना से तृप्त होने पर अन्त करण स्पृहा से मुक्त हो जाता है।[1]

**एवं ज्ञात्वा कृत कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभि ।**
**कुरु कर्मैव तस्मात्त्व पूर्वै. पूर्वतर कृतम् ॥१५॥**

**शब्दार्थ : पूर्वै मुमुक्षुभि अपि एवं ज्ञात्वा कर्म कृत**=पूर्ववर्ती मुमुक्षुओ (मोक्ष की कामनावाले पुरुषो) द्वारा भी इस प्रकार जानकर कर्म किया गया है। **तस्मात् त्व पूर्वै पूर्वतर कृत कर्म एव कुरु**=इस कारण से तू पूर्वपुरुषो द्वारा किये हुए कर्मो को ही कर।

**वचनामृत** . पूर्वकाल मे मुमुक्षुओ (मोक्ष की इच्छा करनेवाले पुरुषो) द्वारा भी इस प्रकार जानकर कर्म किया गया है। अत तू भी पूर्वपुरुषो द्वारा किये हुए कर्म को कर।

**सन्दर्भ** · श्रीकृष्ण पूर्वकालिक मुमुक्षुओ का उदाहरण देते हैं।

**रसामृत** . श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि पूर्वकाल मे मोक्ष की इच्छावाले अनेक पुरुषो ने कर्मयोग का महत्त्व समझा और निष्काम कर्म करते हुए ज्ञान एव मोक्ष प्राप्त कर लिया। कर्म के फल मे आसक्ति त्यागकर निष्काम भाव से कर्तव्य-कर्म करना मोक्ष का द्वार खोल देता है।

श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन को कर्म करने का स्पष्ट आदेश देते हैं—**कुरु कर्मैव तस्मात् त्व** अर्थात् इस कारण से तू कर्म ही कर। हमे इसे मन्त्र मानकर इसका सदैव स्मरण रखना चाहिए। मनुष्य जब भी किसी विषम परिस्थिति से ग्रस्त होकर भयभीत एव उद्विग्न हो तथा उसके मन मे कर्म से पलायन करने की इच्छा उत्पन्न हो उसे भगवान् श्रीकृष्ण के इस उपदेश एव आदेश का स्मरण करके दृढता-पूर्वक कर्म करने का निश्चय करना चाहिए तथा फल की चिन्ता भगवान् पर छोडते हुए डटकर कर्म करना चाहिए। भगवान् का सहारा लेकर कर्तव्य-कर्म करते रहने से मनुष्य सुख और शान्ति प्राप्त कर लेता है। परिस्थितियो को तथा मनुष्यो को दोष देते हुए मन को खिन्न और अशान्त करने से हानि ही होती है तथा विषम परिस्थिति का सामना करते हुए निष्काम कर्म करना ही एकमात्र उपाय है। श्रीकृष्ण कहते हैं, 'कर्म ही कर, डटकर कर्म ही कर, अन्त तक कर्म ही कर। यही मनुष्य की गरिमा एव प्रतिष्ठा के अनुरूप एकमात्र उचित मार्ग है। भय मनुष्य को निकृष्ट एव दयनीय बना देता है। सारे ससार के सचालक सर्व-समर्थ परमात्मा का सहारा लेकर, समस्त भय को त्यागकर, सत्य के मार्ग पर दृढता से चलते रहने मे मनुष्य का कल्याण सन्निहित है। दीनता छोडकर कर्म करते रहने मे ही मनुष्य की शोभा है। कायरता से पलायन करना तो मनुष्य के माथे पर कलक है। ईश्वरवादी मनुष्य प्रतिकूल एव विषम परिस्थिति की चुनौती को सहर्ष स्वीकार करके उसका साहस-पूर्वक सामना करता है। ईश्वरवादी मनुष्य सत्य और प्रेम के मार्ग का अनुसरण करता है तथा पग-पग पर ईश्वर की सत्ता एव सहायता का अनुभव करता है।

---

[1] आप्तकामस्य का स्पृहा अर्थात् जो अपने भीतर पूर्णकाम है, उसकी कोई स्पृहा शेष नही रहती।

**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।**
**तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१६।।**
**कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण ।**
**अकर्मणश्च बोद्धव्य गहना कर्मणो गति ।।१७।।**
**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।**
**स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।१८।।**

**शब्दार्थ :** **कर्म किं अकर्म किं इति अत्र कवय. अपि मोहिता. ( सन्ति )**=कर्म क्या है अकर्म क्या है ऐसे इस विषय मे कवि ( बुद्धिमान् पुरुष ) भी मोहग्रस्त है, **तत् कर्म ते प्रवक्ष्यामि**=उस कर्म को तेरे लिए अच्छी प्रकार कहूँगा, **यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे**=जिसे जानकर तू अशुभ ( पाप अथवा बन्धन ) से मुक्त हो जायगा। **कर्मण अपि बोद्धव्य च अकर्मण बोद्धव्यं च विकर्मण. बोद्धव्य**=कर्म का ( स्वरूप ) भी जानना चाहिए और अकर्म का ( स्वरूप ) भी जानना चाहिए और विकर्म का ( स्वरूप ) भी जानना चाहिए, **हि कर्मण गति गहना**=क्योंकि कर्म की गति गहन है। **य कर्मणि अकर्म पश्येत्**=जो कर्म मे अकर्म देखता हो, **च य. अकर्मणि कर्म स. मनुष्येषु बुद्धिमान्**=और जो अकर्म मे कर्म ( देखता हो ) वह मनुष्यो मे बुद्धिमान् ( है ), **स युक्त कृत्स्नकर्मकृत्**=वह योगी सब कर्मों का करनेवाला ( है ) ।

**वचनामृत :** कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस प्रकार इस विषय मे बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। मै उस कर्मतत्त्व को तेरे प्रति भलीभाँति कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ ( पाप अथवा कर्म-बन्धन ) से मुक्त हो जायगा। कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन ( गूढ ) होती है। जो पुरुष अकर्म मे कर्म देखता है वह मनुष्यो मे बुद्धिमान् है, वह परमात्मा के साथ युक्त ( योगी ) समस्त कार्यो का करनेवाला है।

**सन्दर्भ :** इन श्लोको मे कर्म, अकर्म और विकर्म की चर्चा है।[1]

**रसामृत :** कर्म क्या है तथा अकर्म क्या है, इसका निर्णय करने मे बुद्धिमान् मनुष्य भी भ्रमित हो जाते है। कर्म-तत्त्व का रहस्य गूढ है तथा इसे समझ लेने पर मनुष्य बन्धन-मुक्त हो जाता है। वास्तव मे विहित कर्म अर्थात् करने योग्य कर्म ही कर्म है। साधारणत कर्म को स्वरूप से त्याग देना अकर्म है तथा निषिद्ध कर्म ( असत्य, कपट, हिंसा आदि अनुचित कर्म ) विकर्म है। एक ही कर्म किसीके लिए कर्तव्य-कर्म है तथा दूसरे के लिए विकर्म ( निषिद्ध कर्म ) है। हिंसा करना विकर्म है, किन्तु युद्ध मे क्षत्रिय के लिए कर्तव्य-कर्म है। अनेक बार यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि क्या कर्म है और क्या विकर्म है।

अज्ञानी मनुष्य के लिए कर्म बन्धनकारक होता है।[1] किन्तु परमात्मा का ज्ञान होने पर मनुष्य कर्म मे लिप्त नही होता तथा कर्म बन्धनकारक नही रहता।[2] वास्तव मे कर्तृत्व-अभिमान तथा कर्मफल मे आसक्ति मनुष्य के लिए बन्धनकारक होते हैं, कर्म बन्धनकारक नही होता। कर्मयोगी के लिए तो कर्म चित्त-शुद्धि द्वारा मोक्ष का प्रदाता होता है।

---

१ कर्म, अकर्म और विकर्म के अनेक अर्थ किये गये हैं। अकर्म का अर्थ कुकर्म तथा विकर्म का अर्थ विशेष कर्म तथा कर्म तत्त्व का विशेष ज्ञान भी किया गया है। सन्त विनोबाजी ने विकर्म का अर्थ 'आन्तरिक भावना' किया है, महात्मा गाधी ने 'निषिद्ध कर्म' किया है। शकराचार्य, शाकरमतावलम्बी आचार्यों और वैष्णव आचार्यों ने इनका विभिन्न प्रकार से दार्शनिक विवेचन किया है। परमार्थ-दृष्टि से 'कर्म' का अर्थ जगत्प्रपञ्च तथा 'अकर्म' का अर्थ ब्रह्म अथवा आत्मतत्त्व भी किया गया है।

१ **कर्मणा बध्यते जन्तुः** अर्थात् कर्म से मनुष्य बन्धन मे पड जाता है।

२ **'तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन'** अर्थात् मनुष्य परमात्मा को जानकर पापकर्म द्वारा लिप्त नही होता। **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'** अर्थात् परमात्मा का ज्ञान होने पर मृत्यु को पार कर लेता है, मुक्त हो जाता है। **'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय'**—तब ज्ञानवान् पुरुष पुण्य और पाप से ऊपर उठकर ( मोक्ष पा लेता है ) ।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि बुद्धिमान् पुरुष कर्म मे अकर्म देखता है अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष कर्म को अकर्म बना देता है। मनुष्य जब कर्म करते हुए कर्ता होने के अहकार को छोड देता है तथा निष्काम भाव से अर्थात् फल की इच्छा छोडकर कर्म करता है तो कर्म अकर्म हो जाता है अर्थात् कर्म भस्म हो जाता है अथवा बन्धनकारक नही रहता। कर्म का मन पर सस्कार अथवा प्रभाव न रहने पर वह अकर्म हो जाता है। यह कर्म करने की कुशलता है तथा कर्मयोग की सिद्धि का लक्षण है। 'अकर्म' का अर्थ 'नैष्कर्म्य की अवस्था' है, जब मनुष्य कर्म करके भी कुछ नही करता।

श्रीकृष्ण कहते है कि बुद्धिमान् मनुष्य अकर्म मे कर्म को देखता है। यहाँ 'अकर्म' का अर्थ 'कर्म छोड देना' अथवा 'कर्म न करना' है। श्रीकृष्ण कह चुके हैं कि कर्म का छोडना सम्भव नही है[1] तथा जब मनुष्य कोई बाह्य कर्म नही करता तब भी वह कुछ करता रहता है तथा सचेष्ट रहता है। जो मनुष्य दुराग्रह के कारण 'कर्मत्याग' करने का अहकार करता है, वह भी एक कर्म होता है। बद्धमुष्टि होने पर (मुट्ठी बन्द करने पर) अँगुलियो की बाह्य क्रिया नही होती, किन्तु इस निष्क्रियता मे निरोध (उन्हे रोके रखना) की क्रिया सन्निहित होती है। वास्तव मे मनुष्य अकर्मण्य होकर भी कर्मण्य ही रहता है, कुछ करता ही रहता है। इस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अकर्मण्यता अथवा कर्म के अभाव मे भी कर्म को देखता है।

पण्डितजन कर्म मे अकर्म (नैष्कर्म्य) तथा अकर्म (अकर्मण्यता, निठल्लापन, कर्म का त्याग) मे कर्म (क्रिया होना) देखता है। कर्मयोगी परमात्मा के साथ युक्त होने पर पूर्णत्व को प्राप्त हो जाता है तथा उसके लिए कोई कर्तव्य-कर्म करना शेष नही रहता और वह परमात्मा की भाँति समस्त कर्म का कर्ता हो जाता है। वह समस्त कर्म करता हुआ पूर्णकाम रहता है।

१ न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
—गीता, ३ ५

**यस्य सर्वे समारम्भा. कामसकल्पवर्जिताः।**
**ज्ञानाग्निदग्धकर्माण तमाहु· पण्डित बुधाः॥१९॥**

**शब्दार्थ : यस्य सर्वे समारम्भा. कामसकल्पवर्जिता** =जिसके समस्त कार्य काम और सकल्प से रहित हैं त **ज्ञानाग्निदग्धकर्माण बुधा पण्डित आहु** =उस ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्मवाले मनुष्य को बुधजन पण्डित कहते हैं। (आरम्भ–क्रिया, समारम्भ–सम्यक् प्रकार से आरम्भ क्रिया, कर्तव्य कर्म, विहित कर्म)

**वचनामृत :** जिस मनुष्य के समस्त कर्म काम और सकल्प से रहित हैं उस ज्ञानरूप अग्नि से भस्म कर्मवाले मनुष्य को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण १९, २०, २१, २२ और २३ श्लोको मे कर्म-दर्शन अथवा कर्म-तत्त्व की व्याख्या करते है तथा यह स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार कर्मयोगी का कर्म अकर्म हो जाता है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण पण्डित[1] की परिभाषा करते हुए कहते है कि जिस मनुष्य के समस्त कर्म काम (कामना का वेग) और सकल्प से रहित हैं तथा जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो गये हैं वह ज्ञानी पुरुषो की दृष्टि मे पण्डित होता है। साधक को कर्म करने मे कामना (इच्छा) और सकल्प को परिसमाप्त करने का तथा ज्ञान द्वारा कर्म-बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। 'सकल्प' का अर्थ दृढ निश्चय भी होता है, किन्तु यहाँ 'सकल्प' का अर्थ भोग्य पदार्थ अथवा विषय का स्वार्थपूर्ण रागात्मक स्मरण करना है। मनुष्य कामना करने

१ अखण्डचैतन्याकारा अथवा ब्रह्माकारा चित्त-वृत्ति होने पर समदर्शन (सर्वत्र परमात्मा का दर्शन) करनेवाली बुद्धि को पण्डा कहते हैं तथा पण्डायुक्त पुरुष को पण्डित कहते हैं।

के साथ ही संकल्प ( स्वार्थपूर्ण रागात्मक स्मरण अथवा 'यह कामना ठीक है' ऐसी बुद्धि ) करता है। सकल्प के साथ आसक्ति एव कामना सलग्न ( साथ जुडी हुई ) होती है। वास्तव मे सकल्प कामना का सहचर अथवा अग है।

ज्ञान अग्नि के सदृश दाहक एव प्रकाशक होता है। भला-बुरा, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ आदि द्वन्द्व बन्धनकारक होते हैं। ज्ञान द्वन्द्वरूप भ्रम को दूर कर देता है। ज्ञानाग्नि कर्म-बन्धनो को भस्म कर देती है तथा ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए भी निष्कर्म अर्थात् कर्मरहित अथवा कर्ममुक्त हो जाता है। जिस प्रकार भस्म किया हुआ बीज अकुरित नही होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष के कर्म भी बन्धन-कारक नही रहते। जिस प्रकार दग्ध होकर रस्सी बाँध नही सकती, यद्यपि उसका स्वरूप नष्ट नही होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष के दग्ध कर्म भी बन्धनकारक नही होते। ज्ञान का प्रकाश भ्रमरूप अन्धकार को दूर कर देता है तथा मनुष्य आत्म-सस्थित हो जाता है तथा उसके कर्म लोककल्याण-कारक हो जाते है। ज्ञान मनुष्य को भवबन्धन से मुक्त करके उसके मन और बुद्धि को दिव्य प्रकाश से आलोकित कर देता है। बुधजन ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष को तत्त्वज्ञानी अथवा सम्यग्दर्शी अथवा ब्रह्मवित् पण्डित कहते हैं। ब्रह्मज्ञानी पण्डित कभी आत्मस्थिति से विचलित नही होता तथा चैतन्य-स्वरूप परमात्मा के साथ एकरूप हो जाता है।

**त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।**
**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥**

**शब्दार्थ :** निराश्रयः नित्यतृप्तः सः कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि = ससार के आश्रय से रहित, सदैव आत्मतृप्त वह कर्मों के फल और आसङ्ग को छोडकर कर्म मे अच्छी प्रकार प्रवृत्त हुआ भी, **किञ्चित् एव न करोति** = कुछ भी नही करता।

**वचनामृत :** सासारिक आश्रय से रहित, नित्य-तृप्त वह कर्मों के फल और आसक्ति को त्यागकर कर्म मे अच्छी प्रकार जुटकर कुछ भी नही करता।

**सन्दर्भ :** ज्ञानाग्नि से भस्म होने पर ज्ञानी पुरुष के समस्त कर्म अकर्म हो जाते हैं।

**रसामृत :** मनुष्य मे सासारिक सुखभोग के प्रति आसक्ति स्वाभाविक होती है। मनुष्य आसक्ति के कारण भोग्य पदार्थों की प्राप्ति ( योग ) और सरक्षा ( क्षेम ) मे ही सारी शक्तियो का क्षय कर देता है। एक कामना अन्य कामनाओ को उत्पन्न कर देती है तथा कामनाओ का कभी अन्त नही होता। सारे जीवन भोग्य पदार्थों के पीछे दौडते रहने पर भी उसे कभी आन्तरिक तृप्ति नही होती, क्योकि भोग से कामनाओ की पूर्ति नही होती, जैसे घृत डालने से अग्नि की शान्ति नही होती। भोगी मनुष्य आसक्ति के कारण व्यक्तियो और वस्तुओ का आश्रय लेता है तथा सदैव अतृप्त एव अशान्त रहता है। कामना से प्रवृत्त होने के कारण उसके कर्म बन्धनकारक होते हैं तथा उसके कर्म और कर्मफल के चक्र का कभी अन्त नही होता।

ज्ञानी आसक्ति एव कामना से मुक्त होने के कारण सासारिक वस्तुओ व व्यक्तियो के पीछे नही दौड़ता। वह भोगेच्छा से कर्म मे प्रवृत्त नही होता तथा उसे कर्मों के फल मे आसक्ति नही होती। कर्मों के फल तो प्रत्येक मनुष्य को अवश्य प्राप्त होते है, किन्तु ज्ञानी कर्मफल के प्रति आसक्त एव चिन्तित नही रहता। निजस्वरूपानन्द के अतिरिक्त उसका किसी वस्तु के योग ( प्राप्ति ) अथवा क्षेम ( सरक्षा ) से प्रयोजन नही होता। वह कर्म तो करता है, किन्तु उसके कर्म के मूल मे व्यक्तिगत कामना नही होती। वह भोगेच्छो से कर्म मे प्रवृत्त नही होता तथा वह किसी वस्तु अथवा व्यक्ति पर आश्रित एव निर्भर नही होता। जब तक मनुष्य का देह रहता है, कर्म का पूर्ण त्याग न तो सम्भव है और न उचित ही। ज्ञानी भौतिक आकर्षणो ,एव सासारिक स्वार्थों से मुक्त होकर ,सहज भाव से लोककल्याण के लिए कर्म करता है तथा उसका कोई कर्तव्यकर्म शेष नही रहता। तत्त्वज्ञानी जानता है कि आत्मा असङ्ग,

निर्लेप एव निष्क्रिय है। वह अनासक्त एव निष्काम होकर कर्म करता है तथा कर्म करते हुए कर्मबन्धन से मुक्त रहता है। अनासक्त ज्ञानी के कर्म अकर्म हो जाते हैं। 'मैं देह हूँ' ऐसा माननेवाले ( देहात्म-बुद्धि ) मनुष्य को कर्तृत्व का अभिमान ( मैं कर्म का कर्ता तथा फल का भोक्ता हूँ ऐसा अभिमान ) होता है, किन्तु अपने को आत्मा माननेवाला मनुष्य कर्तृत्व के अभिमान ( कर्ता होने के अभिमान ) से मुक्त होता है। आत्मा निष्क्रिय एव निर्लेप होता है तथा मात्र द्रष्टा होता है, कर्ता अथवा भोक्ता नही होता। ज्ञानी दूसरो की दृष्टि मे कर्म करता है, किन्तु अपनी ज्ञान-दृष्टि मे कर्म नही करता है।

ज्ञानी आत्मतृप्त होता है। वह अपने भीतर नित्य ( सदा ही ) सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा मे मग्न एव तृप्त रहता है। आनन्दैकरस ब्रह्म के साक्षात्कार की अनुभूति उसे आनन्दमग्न एव पूर्ण तृप्त कर देती है।

भगवद्भक्त भक्ति द्वारा परमात्मा के साथ युक्त हो जाता है तथा वह भक्ति-रस से तृप्त होने के कारण भौतिक भोगो के आकर्षण मे नही फँसता। यद्यपि भक्तिभाव मे द्वैतभेद ( भगवान् और भक्त का द्वैतभेद ) रहता है तथा यद्यपि भक्तिभाव मे कर्ताभाव ( मैं यह कर्म कर रहा हूँ, ऐसा भाव ) रहता है, तथापि भक्त आत्म-समर्पण एव कर्म-समर्पण करने के कारण कर्ता अथवा भोक्ता नही रहता। वह समस्त कर्मो को प्रभु की प्रसन्नता के लिए करता है तथा कर्मो को प्रभु के अर्पण कर देने के कारण कर्मबन्धन से भी मुक्त रहता है। जो ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा परमात्मा के साथ नित्य-युक्त है, वह नित्यमुक्त है।

**निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह·।**
**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥**

**शब्दार्थ :** यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह निराशी.—अपने चित्त और आत्मा अर्थात् अन्त करण और देह को जीत लिया है जिसने, त्याग दी है समस्त भोग-सामग्री जिसने तथा सासारिक आशाओ से मुक्त जो पुरुष, **केवलं शारीरं कर्म कुर्वन्**—केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म को करता हुआ, **किल्विषम् न आप्नोति**—पाप को नहीं प्राप्त होता है।

**वचनामृत ·** जिस मनुष्य ने अन्त करण और शरीर को जीत लिया है और जिसने सम्पूर्ण भोग-साधनो के स्वामित्व का परित्याग कर दिया है तथा जो आशाओ से मुक्त है, वह केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नही होता।

**सन्दर्भ ·** श्रीकृष्ण इस श्लोक मे ज्ञानी पुरुष की सिद्धावस्था का वर्णन करते हैं। श्रीकृष्ण १९, २०, २१, २२, २३ पाँच श्लोको मे ( तथा कदाचित् २४ मे भी ) यह स्पष्ट कर रहे हैं कि किस प्रकार कर्म अकर्म हो जाता है।

**रसामृत** मनुष्य के लिए देह और जीवन की रक्षा करना तथा प्राण-धारण करना समस्त लौकिक एव आध्यात्मिक विकास का मूलाधार है। देह एक यन्त्र है जिसके पोषण, नियन्त्रण एव उपयोग द्वारा मनुष्य अनेक सिद्धि प्राप्त कर सकता है। देह तथा अन्त करण पर नियन्त्रण करनेवाले जितेन्द्रिय महापुरुष को यतचित्तात्मा कहा गया है।

जितेन्द्रिय पुरुष सासारिक आशाओ से मुक्त अथवा निराशी होता है।[1] कामना और उसके सूक्ष्म रूप ( वासना, तृष्णा और आशा ) का सर्वथा त्याग करनेवाला मनुष्य निराशी होता है। आशा का त्याग करने का अर्थ निराश होना नही है, वल्कि नश्वर जगत् की आशा और निराशा से ऊपर उठकर दिव्य स्तर पर अखण्ड आशा मे सस्थित हो जाना है।

---

१ गीता मे 'निराशी' होने की चर्चा ३ ३०, ६ १० मे भी की गयी है। श्री रामचन्द्र कहते हैं—'**वैर न विग्रह आस न त्रासा, सुखमय ताहि सदा सब आसा।**' अर्थात् भक्त वैर-विग्रह नही करता तथा किसीसे आशा नहीं करता। उसके लिए समस्त दिशाएँ मगलमय होती हैं।

मन और इन्द्रियो पर संयम करनेवाला मनुष्य ही भौतिक आकर्षणो से मुक्त होकर भोग्य वस्तुओ के परिग्रह ( सग्रह ) का मोह छोड़ सकता है। भोग्य पदार्थों के परिग्रह की वृत्ति मनुष्य को उद्विग्न और अशान्त कर देती है। मनुष्य परिग्रह-वृत्ति का त्याग करके सम एव शान्त रह सकता है। वास्तव मे परिग्रह के मूल मे कामना तथा कामना से उत्पन्न योग ( भोगो को प्राप्त करना ) एव क्षेम ( उन्हे सचित एव सुरक्षित करना ) की चिन्ता होती है, जो मनुष्य को भटकाकर उद्विग्न तथा अशान्त करती रहती है। अतृप्त कामनाएँ प्रसुप्त चेतना ( अव-चेतन ) मे प्रविष्ट होकर मन को उद्वेलित कर देती हैं तथा मनुष्य के चिन्तन एव व्यवहार को क्षुब्ध कर देती हैं। नश्वर वस्तुओं का परिग्रह करके मनुष्य स्वय को उनका स्वामी होने के दभ से ग्रस्त हो जाता है। शरीर-यात्रा, प्राण-रक्षा अथवा जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओ का परि-ग्रह 'परिग्रह' नही कहलाता, किन्तु लोभ-वृत्ति से परिग्रह करना दोषपूर्ण होता है।

बुद्धिमान् मनुष्य केवल उतने परिग्रह से सम्बन्ध रखता है, जिससे जीवन-रक्षा करना सम्भव हो सके तथा वह शेष अर्जित सपदा का सदुपयोग अन्यजन की सेवा मे करता है।[1] वास्तव मे धन-सपदा को अर्जित करना तथा सचित करना दोष नही है, बल्कि धन-सपदा एव भोग्य वस्तुओ के प्रति आसक्ति रखना और स्वामित्व अथवा एका-धिकार मानना दोष है। सारी सपदा प्रभु की है[2] तथा उसका अधिकतम सदुपयोग प्राणीमात्र की सेवा के लिए होना चाहिए। सम्पत्ति मनुष्य के पास

१ यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिक योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
—जितने मात्र से पेट की अग्नि शान्त हो केवल उतने पर ही मनुष्यो का वास्तविक अधिकार होता है। जो अधिक को अपना मानता है, वह समाज का चोर है तथा दण्ड का अधिकारी है।

२ सम्पति सब रघुपति कै आही।



प्रभु की धरोहर अथवा अमानत होती है तथा उसे परमात्मा की ही मानकर त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए[1] और धन पर गृद्ध-दृष्टि ( लोभ-दृष्टि ) नही रखनी चाहिए। श्रीकृष्ण मोह एव आसक्ति पर प्रहार करते है, जो अनर्थ और क्लेश का मूल है।

परमात्मा मे निरन्तर अवस्थित रहकर सिद्ध-अवस्था को प्राप्त होनेवाले ज्ञानयोगी की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि सिद्ध ज्ञानयोगी के कर्म उससे छूट जाते हैं तथा वह केवल शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी कर्म करते हुए भी पाप का भाजन नही होता।[2] ब्रह्मानन्द की दिव्यानुभूति मे निरन्तर अवस्थित ब्रह्मविद् ब्रह्म ही हो जाता है।

**यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।**
**समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥**

**शब्दार्थ :** यदृच्छालाभसन्तुष्टः द्वन्द्वातीत. विमत्सरः =जो कुछ भी सहज रूप मे प्राप्त हो जाय, उसीमे सन्तुष्ट रहनेवाला, शीत-उष्ण, सुख-दु ख, हर्ष-शोक, मान-अपमान, लाभ-हानि, राग-द्वेष इत्यादि द्वन्द्वो से अतीत ( मुक्त ), मत्सरभाव ( ईर्ष्या ) से रहित, **सिद्धौ च असिद्धौ**=सफ-लता और विफलता मे, **समः**=एक-सा रहनेवाला मनुष्य, **कृत्वा अपि न निबध्यते**=कर्म करके भी नही बँधता।

**वचनामृत :** जो कुछ सहज रूप मे बिना कामना ही प्राप्त हो जाय उसीमे सन्तुष्ट हो जाने-वाला, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वो से पूर्णत. मुक्त, वैर-भाव ( ईर्ष्याभाव ) से सर्वथा मुक्त तथा सिद्धि और असिद्धि मे सम रहनेवाला मनुष्य कर्म करके भी कर्म-बन्धन मे आबद्ध नही होता।

**सन्दभ :** इस श्लोक मे कर्म मे अकर्म का दर्शन करनेवाले कर्मयोगी की अवस्था का वर्णन है। इस श्लोक की गणना गीता के श्रेष्ठ श्लोको मे होती है।

१. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।
—ईशावास्य उप०

२ तिलक महोदय कहते हैं कि ज्ञानयोगी केवल शरीर से कर्म करता है तथा उसकी बुद्धि अनासक्त रहती है। अनासक्त पुरुष समस्त कर्म करते हुए भी पापमुक्त रहता है।

**रसामृत :** मनुष्य ससार मे वस्तुओ और व्यक्तियो के प्रति प्रियता अथवा आसक्ति के कारण तथा आसक्ति से उत्पन्न कामना से प्रेरित होकर कर्म करता है तथा उसके प्रत्येक कर्म का मन पर गहरा प्रभाव अथवा सस्कार छूट जाता है, जो उसके दु ख और सुख का कारण बन जाता है। कर्मों का मन पर सस्कार छूट जाना ही कर्म-बन्धन है। मनुष्य आसक्ति एव कामना के कारण कर्मों के बन्धन मे आबद्ध हो जाता है। बुद्धिमान् मनुष्य कर्म करने के महत्त्व को तो समझता है, किन्तु वह निष्काम कर्म करके कर्मबन्धन मे नही बँधता। उसका कर्म अकर्म हो जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मनुष्य उसमे सन्तुष्ट हो जाय, जो कुछ उसे प्राप्त हो, द्वन्द्वो से अतीत हो, ईर्ष्यारहित हो और सफलता-असफलता मे सम रहता हो, वह कर्म करके भी नही बँधता तथा उसके कर्म अकर्म हो जाते हैं। अतएव कर्मयोग के साधक को ऐसी अवस्था प्राप्त होने के लिए प्रयत्न एव अभ्यास करना चाहिए। जो सिद्ध पुरुष के लक्षण होते हैं, साधक के लिए वे ही अभ्यास का विषय होते हैं।

कर्मयोग का साधक प्रत्येक परिस्थिति मे सर्वथा सन्तुष्ट रहता है तथा किसी घटना से प्रभावित नही होता। वह अपने मन के विक्षोभ अथवा खिन्नता के लिए किसी अन्य व्यक्ति अथवा परिस्थिति को दोष नही देता तथा सर्वदा सन्तुष्ट, शान्त एव सम रहता है। वह उद्वेगरहित होकर सब कुछ स्वीकार कर लेता है। वह कदापि विचलित नही होता। कर्मयोगी यथासामर्थ्य उद्यम करता है तथा जो कुछ भी पवित्र भाव से प्राप्त हो जाय उसीमे सन्तुष्ट रहता है। कर्मयोगी यथालाभ सन्तुष्ट होता है।[1] कामना ही लोभ का रूप लेकर मनुष्य को असन्तुष्ट एव अशान्त रखती है। जिस प्रकार घृत डालने से अग्नि उद्दीप्त हो जाती है, उसी प्रकार लाभ होने से लोभ विवर्द्धित हो जाता है।[1] कामना और लोभ का शमन भी सन्तोष धारण करने से होता है। आत्मसन्तुष्ट व्यक्ति किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए आतुर नही होता। जो मनुष्य सन्तोष धारण करना नही सीखता उसे कभी सुख और शान्ति प्राप्त नही होते। वास्तव मे मनुष्य को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सन्तोष धारण करना चाहिए। मनुष्य कामना से प्रेरित कल्पना के पखो पर ऊँचा उडता है तथा यथार्थ के धरातल से दूर होकर निराशा से ग्रस्त हो जाता है। अपरिवर्तनीय परिस्थिति मे अथवा अनिवार्य विवशता होने पर सन्तोष धारण करना ही शान्ति का एकमात्र उपाय होता है। किसीके पारिवारिक सदस्य कैसे हैं, किसकी प्रकृति कैसी है, उसकी शारीरिक आकृति कैसी है अथवा क्षमता कितनी है इत्यादि के सम्बन्ध मे सन्तोष करना मनुष्य के हित मे होता है। सन्तोष को जीवन मे व्यापक रूप से ग्रहण करना चाहिए। मनुष्य को कर्म करने के लिए उच्च आदर्शों से प्रेरणा लेनी चाहिए, न कि कामना की अपूर्ति से उत्पन्न असन्तोष से। विवेकशील मनुष्य पुरुषार्थ और सन्तोष का समन्वय करता रहता है।[2]

सिद्धावस्था को प्राप्त ( योग मे आरूढ ) कर्मयोगी, अथवा सिद्ध ज्ञानयोगी के सन्दर्भ मे 'यदृच्छालाभसन्तुष्ट' का अर्थ 'जो कुछ बिना याचना अथवा प्रयत्न किये हुए प्राप्त हो जाय उसीमे सन्तुष्ट' है[3]

---

१ श्री रामचन्द्र कहते हैं—**सरल सुभाव न मन कुटिलाई, यथा लाभ सन्तोष सदाई।**

—रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड

१ **जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।**—प्रत्येक लाभ से लोभ बढ़ जाता है।

२ **बिनु सन्तोष न काम नसाई।**—सन्तोष के बिना काम का शमन नही होता।

**जिमि लोभहि सोषइ सन्तोषा।**—सन्तोष लोभ का शोषण कर लेता है।

३ जीवन्मुक्त सिद्ध यति के लिए यह उचित है—

**'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।**
**दास मलूका कह गये, सबके दाता राम॥'**

किन्तु कर्मयोगी के लिए कर्म न करना पाप है।

तथा कर्मयोग के साधक ( आरुरुक्षु ) के सम्बन्ध मे इसका अर्थ 'बिना कामना किये हुए पुरुषार्थ करने से प्राप्त हो जाय, उसे पर्याप्त मानकर उसी-मे सन्तुष्ट' है।

कर्मयोगी द्वन्द्वो से ऊपर उठ जाता है। वह शीत-उष्ण, सुख-दु ख, मान-अपमान, लाभ-हानि, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वो से अतीत रहता है तथा प्रत्येक परिस्थिति मे सम अथवा एकरस रहता है।[1] वह प्रतिकूल परिस्थिति मे उद्विग्न नही होता तथा अनुकूल परिस्थिति मे प्रफुल्लित नही होता। कर्म-योग की साधना करनेवाले मनुष्य को सदैव एक-रस रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

श्रीकृष्ण विमत्सर ( अर्थात् ईर्ष्या-द्वेष से रहित ) होने पर विशेष बल देते हैं। प्राय मनुष्य अपनी सुख-सम्पन्नता को न देखकर दूसरो के उत्कर्ष ( उन्नति ) से ईर्ष्या करने के कारण अपने भीतर जलते रहते हैं। ईर्ष्या की वृत्ति मनुष्य को इतना असहनशील बना देती है कि वह अपने परिवार मे भी दूसरो ( अपने भाई-बहन इत्यादि ) के उत्कर्ष को सहन नही करता। विमत्सर अथवा निर्वैर होना आध्यात्मिक विकास एव शान्ति के लिए नितान्त आवश्यक होता है।

मनुष्य प्रत्येक प्रयत्न मे सफल होना चाहता है तथा छोटी-सी विफलता भी मनुष्य को विचलित कर देती है। ससार मे किसीके भी सभी मनोरथ पूर्ण नही होते। मनुष्य केवल प्रयत्न एव पुरुषार्थ कर सकता है तथा फल सदैव ईश्वर के अधीन होता है। कर्मयोगी कर्मों के फल को ईश्वर का विधान मानकर उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है तथा सिद्धि और असिद्धि अथवा सफलता और विफलता मे समरस रहता है।

---

१. नाहि राग न लोभ न मान मदा,
तिन्ह के सम वैभव वा विपदा। —मानस
सम मानि निरादर आदरही,
सब संत सुखी बिचरंत मही। —मानस

'सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा मेरा यथार्थ स्वरूप है', ऐसी बुद्धि होने पर ( अथवा चित्त-वृत्ति के ब्रह्माकारा होने पर ) ज्ञानी पुरुष आत्मसन्तुष्ट, आत्मतृप्त, द्वन्द्वातीत, निर्वैर एव सम हो जाता है तथा वह कर्म करते हुए भी कर्मबन्धन मे नही फँसता। उसका कर्म अकर्म हो जाता है। वास्तव मे कर्म कभी बन्धन नही होता, कामना एव स्वार्थ-वृत्ति बन्धनकारक होती है। मनुष्य अपनी इच्छा से मुक्त होकर दैवी इच्छा का उपकरण हो जाता है। ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति मनुष्य के स्व को निर्मल एव उदात्त बनाकर उसे परमात्मा के साथ एकाकार कर देते है।

**गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।**
**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥**

**शब्दार्थ : गतसङ्गस्य ज्ञानावस्थितचेतसः** = आसक्ति से रहित ( तथा ) ज्ञान मे स्थित हुए चित्तवाले, **यज्ञाय आचरतः मुक्तस्य** = यज्ञ के लिए आचरण करते हुए बन्धन-मुक्त पुरुष के, **समग्रं कर्म प्रविलीयते** = समस्त कर्म विलीन ( नष्ट ) हो जाते हैं।

**वचनामृत :** ऐसे मनुष्य के जिसकी आसक्ति विनष्ट हो चुकी है और चित्त ज्ञान मे स्थित हो चुका है, तथा जो यज्ञ के लिए कर्म करता है, समस्त कर्म अच्छी प्रकार विलीन हो जाते हैं अर्थात् कर्म अकर्म हो जाते हैं।

**सन्दर्भ :** कर्म का अकर्म हो जाने के सूत्र का वर्णन है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धन मे न पड़ने की अथवा समस्त कर्म के अकर्म हो जाने की विधि का वर्णन करते है। श्रीकृष्ण इस विधि के सम्पादन मे कुशल कर्मयोगी अथवा सिद्ध महापुरुष के लक्षण बताकर साधक को उस दिशा में प्रयत्न करने का सकेत करते हैं।

कर्म करने पर मनुष्य के अन्त करण मे उनके सस्कार पड़ जाते है। पुराने कर्मों के सस्कार भीतर सचित हो जाते हैं और नये ( क्रियमाण )

कर्मों के सस्कार पडते रहते हैं। ये सस्कार मनुष्य के मन को जकड लेते हैं तथा उसके स्वभाव का निर्माण करते हैं और मन को सक्रिय रखते हैं। साधक का कर्तव्य है कि वह पापकर्म छोडकर पुण्य-कर्म करे तथा धीरे-धीरे पाप-पुण्य के भाव से ऊपर उठकर सहज भाव से कर्तव्य-कर्म ( करने के योग्य कर्म ) करे। कर्मयोग के साधक को कर्म तथा कर्म-फल के प्रति आसक्ति का त्याग कर देना चाहिए तथा कर्तव्य मानकर कर्म करना चाहिए। अना-सक्त मनुष्य सहज भाव से कर्म कर सकता है। श्रीकृष्ण गीता मे आदि से अन्त तक आसक्ति त्याग करने अथवा अनासक्त होने का उपदेश विविध प्रकार से तथा बार-बार करते है, क्योकि यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आसक्ति का त्याग करके ही मनुष्य सम्यक् प्रकार से कर्तव्य-पालन कर सकता है, निर्मल हो सकता है तथा शान्त एव सुखी रह सकता है। प्रबल भौतिक आकर्षणो के मध्य मे रहकर आसक्ति का त्याग करना सरल नही है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कभी ज्ञान का दीपक दिखाते है, कभी कर्म करने की विधि बताते हैं और कभी भक्ति का अमृत प्रस्तुत करते है। इस सबका उद्देश्य एक है—भीतर अनासक्त और निर्मल होकर दिव्यानुभूति करना, जीवन को उच्चतम धरातल पर ले जाना, व्यष्टिगत चेतना को समष्टि के साथ सयुक्त करना तथा मनुष्य को परमात्मा के साथ एक कर देना। पूर्णता कैसी सुन्दर अवस्था है! कैसा उज्ज्वल लक्ष्य है! आसक्ति के कारण भौतिक प्रपञ्च मे फँसे रहने से मनुष्य को कभी स्थिर शान्ति और सुख का अनुभव नही होता तथा वह कोई महान् उपलब्धि नही कर सकता। अतएव महानता एव दिव्यत्व की प्राप्ति के लिए प्रथम तथा प्रमुख सोपान आसक्ति ( सग ) का सर्वथा त्याग करके अनासक्त ( गतसग ) होना है।

जो मनुष्य अपने भीतर बन्धनो से मुक्त है, वही मुक्त है। मनुष्य आसक्ति, स्वार्थ, लोभ, राग-द्वेष, घृणा, चिन्ता, भय इत्यादि बन्धनो से बँधा रहता है तो मुक्त होकर चिन्तन-एव व्यवहार नही करता। मनुष्य की बुद्धि, पख कटे हुए तथा पिंजरे मे पडे हुए पक्षी की भाँति बद्ध होकर विकृत हो जाती है। 'मैं परमानन्दस्वरूप परमात्मा का दिव्य अश आत्मा हूँ, कर्ता-भोक्ता नही हूँ तथा मात्र द्रष्टा हूँ', ऐसा चिन्तन करने पर मनुष्य का 'अह' कर्तृत्व के अभिमान से मुक्त होकर दिव्य हो जाता है तथा अपने 'अह' का देह के साथ तादात्म्य करना अथवा देहाभिमान होना ( देह को अपना स्वरूप मानना ) परम बन्धन है। 'मैं' और 'मेरा' सकीर्णता का बन्धन है तथा 'सब कुछ प्रभु का है' व्यापकता है। 'सब कुछ ब्रह्म है तथा मनुष्यो मे ही नही, बल्कि प्राणिमात्र मे ब्रह्म का निवास है', ऐसा मानकर सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करना ज्ञान मे अवस्थित होना है। यद्यपि मुक्त होना तथा चित्त को ज्ञान मे अवस्थित करना ज्ञानयोग का अवलम्बन लेना है, यह कर्म-योग के साधक के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। कर्मयोगी भक्तिभाव मे स्थित होकर दास्य, सख्य आदि भाव की प्रगाढता से प्रभु के साथ एकत्व स्थापित कर लेता है तथा आसक्ति, स्वार्थ, लोभ, राग-द्वेष, घृणा, चिन्ता, भय आदि विकारो से मुक्त होकर निर्मल हो जाता है तथा सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करता है।[1]

कर्मयोगी समस्त बन्धन से मुक्त होकर तथा परमात्मा के भाव मे स्थित होकर यज्ञभावना से अर्थात् लोक-हित अथवा लोक-कल्याण के लिए ( स्वार्थरहित ) कर्म करता है। 'यज्ञ' का अर्थ 'विष्णु' ( भगवान् ) है। निष्काम कर्म भी एक यज्ञ है। कर्मयोगी निष्काम कर्म करके उसे भगवदर्पण कर देता है, जैसे यज्ञ मे हवि को अग्नि के अर्पण किया जाता है। ज्ञानयोग का लक्ष्य ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मयोग का लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति—दोनो वास्तव मे एक ही हैं। दोनो से मनुष्य के 'अह' का उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण हो जाता है।

---

१ सिया राम मय सब जग जानी,
करउं प्रणाम जोरि जुग पानी।

यद्यपि कर्म का क्षय कर्मफल के भोग द्वारा होता है,[1] मनुष्य के अनासक्त, मुक्त और ज्ञानावस्थित होने पर तथा यज्ञ-भावना से कर्तव्य-कर्म करने पर समस्त कर्म अकर्म हो जाते हैं।

**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।**
**ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥**

**शब्दार्थ :** अर्पणं ब्रह्म हवि. ब्रह्म = अर्पण ( अर्थात् स्रुवादिक भी ) ब्रह्म है, हवि ( हवन के योग्य घृत इत्यादि द्रव्य ) ब्रह्म है, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुत ( ब्रह्म ) = ब्रह्मरूप अग्नि मे ब्रह्म के द्वारा हवन किया जाता है ( हवन-क्रिया भी ब्रह्म है ), ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन गन्तव्यं = ब्रह्मरूप कर्म मे समाधिस्थित मनुष्य द्वारा प्राप्त होने के योग्य है, ब्रह्म एव = ( वह भी ) ब्रह्म ही है।

**वचनामृत :** यज्ञ मे अर्पण ( स्रुवा आदि भी ) ब्रह्म है, हवन के योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूप यज्ञ-कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि मे आहुति देना ( हवन करना ) भी ब्रह्म है। इस ब्रह्मरूप कर्म मे स्थित रहनेवाले योगी द्वारा प्राप्त होनेवाला फल भी ब्रह्म है।

**सन्दर्भ :** २३वे श्लोक मे यज्ञ के लिए होनेवाले आचरण की चर्चा है। यज्ञ के लिए किस-किस भाव से आचरण किया जाता है उसका वर्णन प्रारम्भ होता है। २४ से ३० श्लोको मे ब्रह्मयज्ञ, दैवयज्ञ, अभेददर्शनयज्ञ आदि यज्ञो का वर्णन है तथा सभी प्रकार के यज्ञो की प्रशसा की गयी है। वास्तव मे इन सात श्लोको का एक तारतम्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि २४, २५वें श्लोक ज्ञानयोगी के लिए तथा शेष पाँच दोनो ( कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी ) के लिए हैं।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण कहते है कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के समस्त कर्म भी ब्रह्मदृष्टि होने के कारण अकर्म ही हो जाते हैं। ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की दृष्टि मे द्रव्य-यज्ञ भी ब्रह्मयज्ञ ही होता है। ज्ञानयोग की सिद्धावस्था प्राप्त होने पर ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी के लिए ब्रह्म की सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता नही होती। भौतिक वस्तुओ का नाम और रूप होता है, किन्तु यथार्थ दृष्टि ( तात्त्विक दृष्टि ) मे वे नश्वर अर्थात् मिथ्या एव असत् होती हैं।[1]

ब्रह्मविद् स्रुव इत्यादि यज्ञ की उपयोगी वस्तुओ ( अर्पण ) को, हवनीय सामग्री ( हवि ) को, अग्नि को यज्ञकर्ता को, हवन करने की क्रिया को ब्रह्म-बुद्धि से ग्रहण करता है। ब्रह्मरूप कर्म मे सस्थित रहनेवाले ज्ञानयोगी द्वारा प्राप्त होनेवाला फल भी ब्रह्म ही है। समस्त कर्म ( दर्शन, स्पर्श आदि समस्त कर्म ) मे भी ब्रह्म ही है, ऐसी दृष्टि होने पर समस्त कर्म ब्रह्मरूप होता है। ब्रह्मकर्म ( समस्त कर्म मे ब्रह्म की सत्ता का दर्शन ) जिस पुरुष की समाधि ( चित्त की एकाग्रता ) होती है, उस पुरुष को ब्रह्मकर्म समाधि अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ कहते है। वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है तथा 'सब ब्रह्म है',[2] ऐसी दिव्यानुभूति करता है। ब्रह्म तो सदैव सत् है, किन्तु ज्ञान होने पर अर्थात् अज्ञान का आवरण दूर होने पर वह प्रकाशित हो जाता है। मिथ्या अहकार दूर होने पर मनुष्य परमात्मा के साथ अभिन्नता की अनुभूति कर लेता है, परमानन्द को प्राप्त हो जाता है।

प्रधानत यज्ञ दो प्रकार के होते हैं—द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ।[3] द्रव्ययज्ञ मे भेदबुद्धि होती है,

---

१ नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि—अर्थात् कर्मों के भोग अवश्य भोगने पड़ते हैं तथा कर्म बिना भोगे हुए नष्ट नही होते।

---

१. अज्ञान के कारण शुक्ति ( सीप ) मे रजत ( चाँदी ) की प्रतीति होती है, किन्तु यथार्थ निर्णय होने पर वह भ्रान्ति ( दर्शनदोष ) ही सिद्ध होती है। भौतिक जगत् मिथ्या है, सर्वत्र ब्रह्म ही है। सभी आत्मा लहरो की भाँति ब्रह्मरूप महासमुद्र का अश है। 'मिथ्या' का अर्थ अनित्य अथवा नश्वर है।

२ सर्वं खलु इदं ब्रह्म—सब ब्रह्म ही है।

—छान्दोग्य उप०

३ द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ होता है।

—गीता, ४.३३

किन्तु ज्ञानयज्ञ मे सर्वत्र अभेद अथवा अद्वैत भाव रहता है, अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन होता है। प्राय द्रव्ययज्ञ किसी कामना की पूर्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं, किन्तु ज्ञानयोगी द्रव्ययज्ञ को ब्रह्म-दृष्टि से ही करता है। यह ज्ञानयोगी की उच्चावस्था अथवा सिद्धावस्था के स्वरूप का वर्णन है।[1]

**दैवमेवापरे यज्ञ योगिन पर्युपासते।**
**ब्रह्माग्नावपरे यज्ञ यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥**

**शब्दार्थ :** **अपरे योगिन दैव यज्ञ एव पर्युपासते**=अन्य योगीजन दैवयज्ञ (देवताओ के पूजारूप यज्ञ) को ही अच्छी प्रकार करते हैं, **अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञेन एव यज्ञ उपजुह्वति**=अन्य (ज्ञानीजन) ब्रह्माग्नि मे यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ को हवन करते हैं। (यज्ञ=जीवात्मा। 'यज्ञ' को होम करना अर्थात् स्व को ही होम करना।)

**वचनामृत** . अन्य योगीजन देवताओ के पूजनरूप यज्ञ को ही भली प्रकार सम्पन्न करते हैं, अन्य योगी (ज्ञानीजन) ब्रह्मरूप अग्नि मे यज्ञ (जीवात्मा) द्वारा ही यज्ञ को (अपने स्व अथवा जीवात्मा को) होम करते हैं (ज्ञानयोगी अपने जीवात्मा को ब्रह्म मे होम करते हैं, तादात्म्य करते हैं)।

**सन्दर्भ** यहाँ देवपूजनरूप यज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ का वर्णन करते हैं। इस श्लोक का अनेक प्रकार से अर्थ किया गया है।

**रसामृत :** परमात्मा के साथ आत्मीयता का नाता स्थापित करना योग है तथा नाता स्थापित करनेवाले योगी होते है। योग तथा योगी अनेक प्रकार के होते हैं। देवोपासक विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश इत्यादि देवताओ को प्रसन्न करने के लिए उपवास, हवन, जप इत्यादि करते हैं। देवता एक ही परमेश्वर की विविध शक्तियाँ होते हैं। देवोपासना के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ दैवयज्ञ कहलाते हैं।[1]

परमब्रह्म निरुपाधि (विशेषणरहित) शुद्ध चैतन्य है तथा आत्मा उसीका अश है, किन्तु उपाधियुक्त होने के कारण (माया से आवृत्त होकर) आत्मा जीव अथवा जीवात्मा कहलाता है। जीवात्मा का एक नाम 'यज्ञ' भी है। ज्ञानयोगी परमात्मा के साथ अभिन्नता (अद्वैतावस्था) की प्राप्ति के लिए ब्रह्मरूप अग्नि मे अपने स्व (जीवात्मा) की ही आहुति दे देता है अथवा जीव ब्रह्माग्नि मे अपनी आहुति देकर ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है, जैसे अग्नि मे आहुति देने पर हवि अग्नि ही हो जाती है।

परमब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्तस्वरूप है, परमब्रह्म विज्ञान तथा आनन्द है, परमब्रह्म साक्षात् प्रत्यक्ष है, परमब्रह्म सबके भीतर स्थित आत्मा

---

१ सन्त कबीर निरन्तर समाधि (ब्रह्मनिष्ठा अथवा ब्रह्म मे चित्त की स्थापना) का अटपटी वाणी मे वर्णन करते हैं।

**सन्तो सहज समाधि भली,**
**गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन-दिन अधिक चली**
**जहँ जहँ डोलूँ सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।**
**जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजौं और देवा ॥१॥**
**कहौं सो नाम सुनौं सो सिमरन, खाऊँ पिऊँ सो पूजा।**
**गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा ॥२॥**
**आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहि धारौं।**
**खुले नयन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं ॥३॥**

शकराचार्य कहते हैं—यद् यद् कर्म करोमि, तद् तद् अखिल शम्भो तवाराधनम्—अर्थात् हे शिव, मैं जो-जो कर्म करता हूँ, वह-वह सब तेरी पूजा है। यह भक्ति-भाव है।

१ कुछ लोग स्वार्थ मे अंधे होकर मनौती (मनोरथ-पूर्ति) माँगते हैं तथा देवोपासना के बहाने से अन्धविश्वास में फँस जाते हैं। वे देवोपासना को विकृत कर देते हैं तथा पशु-बलि इत्यादि कुकृत्य कर देते हैं। विवेक तथा मानवता (दया, प्रेम, सेवा) को छोड़ने पर मनुष्य धर्म को अधर्म बना देता है। समस्त उपासना का उद्देश्य मनुष्य का कल्याण है। सकाम उपासना भी वर्जित नही है, किन्तु सकामता का अर्थ निर्दयता, हिंसा और पाप नहीं है।

है ।[1] ज्ञानयोगी अपने 'स्व' को यज्ञरूप से हवन करते हैं तथा परमात्मा के साथ अभेद अर्थात् एकरूपता (ब्रह्मरूपता) की अनुभूति प्राप्त करते हैं ।[2]

**श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।**
**शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥**

**शब्दार्थ : अन्ये श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति**=अन्य योगीजन श्रोत्र (कान) आदि इन्द्रियो को सयमरूप अग्नि मे हवन करते हैं, **अन्ये शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियाग्निषु जुह्वति**=अन्य योगीजन शब्द इत्यादि विषयो को इन्द्रियरूप अग्नि मे हवन करते हैं । (होम करना अर्थात् भस्म कर देना ।)

**वचनामृत :** अन्य योगीजन श्रोत्र (कान) इत्यादि सम्पूर्ण इन्द्रियो को सयमरूप अग्नि मे हवन करते हैं (अर्थात् इन्द्रियो को उनके विषयो से रोक-कर उन्हे वश मे कर लेते हैं) तथा अन्य योगीजन शब्द आदि सम्पूर्ण विषयो (इन्द्रियो के विषयो) को इन्द्रियरूप अग्नियो मे हवन करते हैं। (अर्थात् विषयो को शुद्ध इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करके समाप्त कर देते हैं ।)

**सन्दर्भ :** श्लोक २४ से ३० तक सात श्लोको मे परमात्मा को प्राप्त होने के लिए विविध प्रकार के योगियो और उनके योग अथवा यज्ञो का वर्णन है ।

---

१ 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' —तैत्तिरीय उप०, २ १
'विज्ञान आनन्दं ब्रह्म'
—बृहदारण्यक उप०, ३ ९ २८
'यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म'
'य आत्मा सर्वान्तर:'
'एष त आत्मा सर्वान्तर.'
—बृहदारण्यक उप०, ३ ४ १

२ २४वें श्लोक मे सर्वत्र ब्रह्मदर्शन की चर्चा है तथा इस श्लोक मे परमात्मा के साथ अभेद (अद्वैत) की साधना की चर्चा है। वास्तव मे दोनो का तात्पर्य एक ही है। सर्वत्र ब्रह्मदर्शन तथा अभेद-उपासना एक ही तथ्य के दो स्वरूप हैं ।

**रसामृत :** इन्द्रियो का सयम करना भी एक यज्ञ है । इन्द्रियो की भोगवृत्ति को सयमरूप अग्नि में हवन करना चेतना के विकास एव ऊर्ध्वारोहण के लिए नितान्त आवश्यक है ।

श्रोत्र (कान), त्वक् (त्वचा), चक्षु, रसना (जिह्वा) और नासिका ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध उनके विषय है । ज्ञाने-न्द्रियो का अपने विषयो से प्रत्याहार (रोकना) होना ही पर्याप्त नही है, बल्कि उन पर पूर्ण नियन्त्रण अथवा सयम होना भी आवश्यक है। इन्द्रियो को विषयो से निवृत्त करके अर्थात् इन्द्रियो को वश मे करके ही मनुष्य आनन्दस्वरूप आत्मा के अभिमुख होता है ।

पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र मे योग के आठ अङ्गो का वर्णन किया है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। पतञ्जलि ने धारणा, ध्यान और समाधि के एकत्र होने को भी 'सयम' कहा है ।[1] चित्त को मूलाधार, स्वाधिष्ठान इत्यादि चक्रो मे कुछ समय तक स्थिर (चचलता-शून्य) रखना धारणा कहलाता है। धारणा ध्यान का पूर्वरूप है । चित्त-वृत्ति को निरन्तर अथवा अविच्छिन्न रूप से (भगवत्-चिन्तन इत्यादि मे) प्रवाहित रखना ध्यान होता है। चित्त-वृत्ति का तैलधारावत् प्रवाह ध्यान होता है । जब ध्याता और ध्यान का लोप हो जाता है तथा केवल ध्येय का प्रकाश ही शेष रह जाता है, वह अवस्था समाधि होती है । समाधि भी दो प्रकार की होती है । सम्प्रज्ञात समाधि मे ध्येय का प्रकाश रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि (अथवा निर्जीव समाधि) मे ध्येय का प्रकाश भी नही रहता । पतञ्जलि ने धर्ममेघसमाधि (मोक्षरूप धर्म की वर्षा करनेवाला) का वर्णन किया है, जो असम्प्रज्ञात समाधि की दृढ भूमि होने पर सम्भव

---

१. त्रयमेकत्र संयम. । —योगदर्शन

होती है। धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा ज्ञानेन्द्रियो का सयम करना एक यज्ञ है।

अन्य योगी इन्द्रियाग्नि मे विषयो (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) की आहुति देते हैं अर्थात् वासनारहित अथवा अनासक्त होकर यथा-प्राप्त विषयो का विवेकपूर्वक सेवन करते हैं। वास्तव मे विषयो मे आसक्ति न रहने पर अथवा उनसे निवृत्त होने पर ही मनुष्य सम और शान्त हो सकता है। मनुष्य भौतिक भोगैश्वर्य के प्रलोभन को त्यागकर तथा निम्न स्तर के मनोवेगो पर सयम करके उच्चतम आनन्द की ओर उन्मुख हो सकता है।

**सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।**
**आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥**

**शब्दार्थ :** अपरे सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि च प्राण-कर्माणि = अन्य योगीजन समस्त इन्द्रियकर्मों (इन्द्रियो की चेष्टाओ) को तथा प्राणो के कर्मों (व्यापार) को, **ज्ञानदीपिते आत्मसयमयोगाग्नौ जुह्वति** = ज्ञान से प्रकाशित आत्मसयमरूप योग की अग्नि मे हवन करते हैं।

**वचनामृत** अन्य योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियो के कर्मों (चेष्टाओ) को तथा प्राणो की क्रियाओ को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसयमरूप योगाग्नि मे हवन करते हैं (अर्थात् विलीन करते हैं)।

**सन्दर्भ .** श्लोक २४ से ३० तक सात श्लोको मे परमात्मा को प्राप्त होने के लिए विभिन्न प्रकार के योगियो तथा उनके योगो अथवा यज्ञो का वर्णन करते हैं। 'यज्ञ' को रूढि अर्थ से मुक्त कर विस्तृत अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है।

**रसामृत** आत्मा मनुष्य का अपना यथार्थ स्वरूप है। धारणा, ध्यान और समाधि (जिनके एकत्र रूप को पतञ्जलि ने योगसूत्र मे 'सयम' कहा है) के द्वारा मनुष्य का चित्त चिदानन्द आत्मा के स्वरूप में स्थिर हो जाता है। कुछ योगीजन आत्म-सयमरूप योगाग्नि मे ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो के कर्मसमूह को तथा प्राण (वायु) के समस्त कर्मों को (अर्थात् लिंग-शरीर के समस्त कर्मों को) होम कर देते हैं।

इन्द्रियो एव प्राण के कर्मों[1] को आत्मसयम (धारणा, ध्यान तथा सम्प्रज्ञात समाधि) रूप अग्नि मे होम करने पर निर्बीज असम्प्रज्ञात समाधि[2] की अवस्था आती है। यह आत्मसयम

---

१ समस्त इन्द्रियो के कर्म से तात्पर्य है पाँच ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका) के कर्म (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ग्रहण), पाँच कर्मेन्द्रियो (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) के कर्म (बोलना, आदान, विहरण अर्थात् चलना-फिरना, उत्सर्ग अर्थात् मल-त्याग तथा मूत्र-त्याग) तथा पाँच प्राणों (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान वायुओ) के कर्म (१) वायु को बाहर-भीतर लाना, उच्छ्वास (२) नीचे की ओर ले जाना, अधोनयन (३) समस्त शरीर मे व्याप्त होना, व्यानयन, आकुञ्चन एव प्रसारण, (४) खाये अथवा पिये हुए पदार्थों को पचाकर यथायोग्य स्थापित करना, (५) ऊपर उठा देना, ऊर्ध्वनयन। प्राण वायु के पाँच अन्य रूपो, नाग, कूर्म, कृकट, क्षुत्कार, देवदत्त, धनञ्जय के कर्म (उद्गार, उन्मीलन, क्षुत्कार अथवा छीकना, विजृम्भण अथवा जँभाई तथा सारे देह मे व्याप्त होना)। वास्तव मे यहाँ इन्द्रियो तथा प्राणों के कर्मों का अभिप्राय पाँच ज्ञानेन्द्रियो, पाँच कर्मेन्द्रियो, पाँच प्राणो तथा मन और बुद्धि के (अर्थात् सत्रह तत्त्वो से युक्त लिंगशरीर) के कर्मो से है। यह योगी लिंगशरीर के समस्त कर्मों (व्यापारो) का होम कर देता है।

२ ज्ञान के प्रकाश द्वारा अविद्या के नष्ट होने पर जगत्-प्रपञ्च की प्रतीति नही होती अथवा ज्ञान द्वारा जगत्-प्रपञ्च का बाध हो जाता है। बाधपूर्वक समाधि को निर्बीज समाधि कहते हैं अर्थात् उसमें जन्म मरण का कर्मसस्काररूप बीज (हेतु) नष्ट हो जाता है। ध्यान, धारणा तथा (सम्प्रज्ञात) समाधि के पश्चात् निर्बीज असम्प्रज्ञात समाधिरूप योग होता है। वह अग्नि के सदृश है, जिसमें योगी इन्द्रियो और प्राणों के समस्त कर्मों की आहुति देते हैं।

योग है, जिसके द्वारा मनुष्य परमात्मा के साथ एकता का अनुभव कर लेता है। प्रत्येक योग का लक्ष्य परमात्मा के स्वरूप मे स्थिर होना अथवा परमात्मा मे तन्मय हो जाना है।

**द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।**
**स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥**

**शब्दार्थ :** अपरे द्रव्ययज्ञा. तथा तपोयज्ञाः = अन्य योगी द्रव्ययज्ञ तथा तपोयज्ञ करनेवाले हैं, **योगयज्ञाः** = ( अन्य ) योगयज्ञ ( अष्टागयोगरूप यज्ञ ) के करनेवाले हैं, **च संशितव्रता यतयः स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः** = तथा ( अन्य योगी ) तीक्ष्ण व्रतो का पालन करनेवाले यति ( यत्नशील अथवा सयमी पुरुष ) स्वाध्याय ज्ञानयज्ञवाले ( स्वाध्याय-रूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले अथवा स्वाध्याय तथा ज्ञानयज्ञ करनेवाले ) हैं।

**वचनामृत :** अनेक पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, अनेक तपरूप यज्ञ करनेवाले है तथा अनेक योगरूप यज्ञ ( अष्टागयोगरूप यज्ञ ) करनेवाले है तथा अन्य ( अहिंसा आदि ) कठिन व्रतो से युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं।

**सन्दर्भ :** विभिन्न प्रकार के योगियो और उनके योगरूप यज्ञो का वर्णन है। सभी योगरूप यज्ञ गीता मे कर्मयोग एव ज्ञानयोग के अन्तर्गत हैं।[1]

**रसामृत :** किसी श्रेष्ठ कर्म को यज्ञ-भावना अर्थात् श्रेष्ठ भावना से परमात्मा को समर्पित करना यज्ञ करना है तथा अनेक प्रकार के साधक अपनी रुचि एव सामर्थ्य के अनुसार अनेक प्रकार के यज्ञ करते हैं—द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, यौगिक क्रिया-यज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ इत्यादि। ये सभी यज्ञ आत्मविकास मे सहायक तथा परमात्मा की ओर उन्मुख करनेवाले है।

१. इस श्लोक के विभिन्न प्रकार से अर्थ किये गये हैं। सशितव्रता अर्थात् कठोर व्रत करनेवाले ये समस्त योगी अथवा केवल स्वाध्यायज्ञानयोगी हो सकते हैं। स्वाध्याय और ज्ञान पृथक्-पृथक् भी हो सकते हैं। द्रव्य-यज्ञ के अनेक अर्थ हो सकते हैं।



मनुष्य लोक-हित के लिए अपने द्रव्यो ( वस्तुओ ) का त्याग करके दानयज्ञ करता है। मेघ अपने जल को तथा वृक्ष अपने फल-फूल और छाया को परोपकार के लिए धारण करते है तथा सत्पुरुषो की भी समस्त विभूति परोपकार के लिए होती है।[1] यदि नौका मे आये हुए जल को दोनो हाथो से उलीचा न जाय अथवा एक सीमा से अधिक भार लाद दिया जाय तो वह नौका को ही डुबो देता है।[2] शरीर मे रक्त, मज्जा, अस्थि इत्यादि के अति मात्रा मे होने पर वह कष्टदायक हो जाता है। वेद का निर्देश है कि सौ हाथो से कमाये और हजार हाथो से दान दे अर्थात् दान-वृत्ति होने पर ही धन की सार्थकता है।[3] श्रेष्ठ मनुष्य यथा-सामर्थ्य दान देकर जन-हित के लिए धर्मशाला, अन्न-क्षेत्र, वृद्धगृह, अनाथालय, चिकित्सालय, विद्यालय, वापी, कूप, तड़ाग, उपवन, देवालय इत्यादि का निर्माण करते हैं, वृक्षारोपण करते है तथा देश, काल और पात्र के अनुसार अन्न, वस्त्र, औषध, धन देकर द्रव्यदान करते है। शरणागत मनुष्य की रक्षा करना भी दान के अन्तर्गत है। उत्तम पुरुष दान को व्यापार नही मानते तथा दान के सम्बन्ध मे लाभ-हानि पर विचार नही करते।[4] उत्तम पुरुष दान देकर यश, प्रतिष्ठा, सम्मान, धन्यवाद इत्यादि की कामना नही करते। दान गुप्त रखने पर तथा श्रद्धापूर्वक देने पर यज्ञ हो जाता है।

१ **परोपकाराय सता विभूतयः।**

२ **दोऊ हाथ उलीचिये,, यह सज्जन को काम।**

३ **शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।** —वेद

४ महात्मा गाधी से एक दानी पुरुष ने शिकायत की कि कुछ लोगो ने उसके दान द्वारा स्थापित ट्रस्ट से उसे ही निकाल दिया। गाधीजी ने उससे कहा कि उसने दान की दृष्टि से दान नही दिया था, बल्कि मान-प्रतिष्ठा पाने के लिए व्यापार किया था और व्यापार मे लाभ-हानि दोनो ही होते हैं, अतएव उसे हानि होने पर खेद नही करना चाहिए।

पुरानी उक्ति है कि दाहिने हाथ का दिया हुआ दान बायें हाथ को भी ज्ञात नही होना चाहिए।

वास्तव मे सारा धन परमात्मा का ही है तथा मनुष्य को अपनी आवश्यकता पूरी होने पर शेष समस्त धन का यज्ञ-भावना से लोक-हित मे सदुपयोग करना चाहिए। दिया हुआ दान वास्तव मे किसी अन्य उत्तम रूप मे मनुष्य के पास ही लौट आता है तथा कभी विनष्ट नही होता।[1]

कुछ मनुष्य यज्ञ-बुद्धि से तप करते हैं अर्थात् तप को ही यज्ञ मानते है। चान्द्रायण व्रत इत्यादि तपोयज्ञ कहलाते हैं। क्षुधा ( भूख ), पिपासा ( प्यास ), शीत, उष्ण, अनादर-अपमान तथा कष्टासन ( कष्ट का एक आसन ), अल्प वस्त्रो का धारण इत्यादि कष्टो को सहन करना तप होता है। तप करने से मनुष्य के मानसिक कष्ट दूर होते हैं तथा सहन-शक्ति ( तितिक्षा ) एव इच्छा-शक्ति बढती है, किन्तु गृहस्थजन को यथासामर्थ्य तप करना चाहिए। सामर्थ्य से परे कष्ट उठाना हिंसा का ही एक रूप होता है, जिससे अनेक हानियाँ होती हैं।

कुछ मनुष्य अष्टाङ्गयोग का अनुष्ठान यज्ञबुद्धि से करते हैं अर्थात् अष्टाङ्गयोग के अनुष्ठान को यज्ञ मानते है। प्राय पतञ्जलि द्वारा प्रणीत 'योग-सूत्र' मे वर्णित अष्टाङ्गयोग को ही योग कहा जाता है, यद्यपि श्रीकृष्ण ने कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के प्रचलित योगो की चर्चा करते हुए कर्मयोग की प्रस्थापना की है। पतञ्जलि ने चित्त-वृत्ति के निरोध ( नियन्त्रण ) को योग कहा है।[2] चित्त-वृत्ति-निरोध के लिए योगसूत्र मे आठ सोपानो का वर्णन है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। यम और नियम मनुष्य के मानसिक एव बौद्धिक अनुशासन के लिए तथा आसन एव प्राणायाम शारीरिक नियन्त्रण के लिए उपादेय है। प्राणायाम तथा प्रत्याहार चित्त-वृत्ति-निरोध के लिए सहायक है तथा धारणा, ध्यान और समाधि चित्त के दिव्यीकरण के लिए उद्दिष्ट हैं। धारणा, ध्यान और समाधि को अष्टाङ्गयोग की परिभाषा मे 'सयम' भी कहा गया है। 'समाधि' का अर्थ चित्त की पूर्ण स्थिरता द्वारा परमात्मा के साथ योग होना है।

श्रीकृष्ण ने श्रोत्र आदि इन्द्रियो के यज्ञ द्वारा प्रत्याहार की ( श्लोक ४ २६ ), धारणा, ध्यान और समाधिरूप सयम यज्ञ की ( श्लोक ४ २७ ) तथा प्राणायाम की ( ४ २९ ) चर्चा पृथक्-पृथक् भी की है। कदाचित् यहाँ केवल यम, नियम और आसन के अभ्यास की ओर निर्देश किया गया है।

**यम** के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह है। किसी प्राणी की हिंसा न करना तथा मलिन भावना से कष्ट न देना अहिंसा है। जैसा देखा, सुना और ग्रहण किया वैसा ही पवित्र भाव से यथार्थ कथन सत्य है। व्यवहार मे सत्य का निरूपण कपटपूर्ण अथवा कष्टदायक होने पर हिंसामय हो जाता है। दूसरो की वस्तु की चोरी न करना, अधिकार न छीनना तथा लोभ न रखना अस्तेय ( अचौर्य ) है। ब्रह्म-प्राप्ति की साधना के हेतु चित्त को विषय-भोग से ऊपर उठाना ब्रह्मचर्य है। जीवन-निर्वाह के अतिरिक्त अन्य द्रव्य का अपने लिए सग्रह न करना तथा स्वामित्व की भावना से वस्तुओ पर अपना अधिकार न मानना अपरिग्रह है।

**नियम** के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान हैं। शरीर को स्नानादि से स्वच्छ रखना बाह्य शौच है तथा राग-द्वेष से मुक्त रखना आन्तरिक शौच है। मैत्री, करुणा, मुदिता

---

१ रितु वसन्त जाचक भया, हरखि दिये द्रुम पात।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात॥
—कबीर

अर्थात् ऋतु वसन्त याचक बनकर आया, वृक्षो ने हर्षित होकर अपने पत्ते दे दिये, जिससे उनमे नये-नये पत्ते आ गये। दिया हुआ कभी दूर नहीं जाता।

२ योग चित्तवृत्तिनिरोध —पातञ्जल योगसूत्र
गीता के छठे अध्याय में अष्टाङ्गयोग की चर्चा है।

इत्यादि द्वारा आन्तरिक शौच होता है। सद्भावनापूर्वक पुरुषार्थ करने पर जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसे पर्याप्त समझकर तृप्त रहना सन्तोष है। क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, अपमान आदि का सहर्ष सहन करना तथा मौन, व्रत आदि करना तप के अन्तर्गत है। आध्यात्मिक उन्नति मे सहायक ग्रन्थो का अध्ययन तथा ईश्वर के नाम और गुणो का कीर्तन स्वाध्याय है। चित्त को ईश्वर की ओर उन्मुख करना ईश-प्रणिधान है।

आसन शारीरिक स्वस्थता के लिए अत्यन्त उपयोगी होते है। स्थिर होकर सुखपूर्वक बैठना ही आसन है।[1] आसन की सुखमय स्थिरता होने पर प्राणायाम अर्थात् श्वास और प्रश्वास की गति को रोकने तथा नियन्त्रित करने का अभ्यास करना लाभदायक है।[2] प्राणायाम का अभ्यास मनुष्य के रक्तसचार आदि को स्वस्थ बना देता है। दीर्घ तथा सूक्ष्म प्राणायाम मे रेचक (श्वास निकालना), कुम्भक (श्वास रोकना) और पूरक (श्वास भरना) करने मे समय एव मात्रा की गणना अपने भीतर ॐ के उच्चारण द्वारा करनी चाहिए। ॐ का वाचिक एव मानसिक उच्चारण मनुष्य के भीतर समस्त ऊर्जा को जाग्रत कर देता है।

अपने विषयो के सम्प्रयोग (सयोग) से छूटने पर इन्द्रियो का चित्त के स्वरूप मे स्थित होना प्रत्याहार होता है। चित्त को (अपने भीतर या बाहर) किसी स्थूल अथवा सूक्ष्म वस्तु पर स्थिर करना धारणा होती है, जो ध्यान की पूर्वावस्था है। ध्येय वस्तु में चित्त-वृत्ति के धारावत् प्रवाह का एकाग्र होना (प्रत्यय का एकतान होना) ध्यान होता है। ध्यान की चरम अवस्था मे चित्त का ध्येय मे तन्मय अथवा विलीन होना समाधि कहलाती है। समाधि मे ध्याता, ध्यान और ध्येय एक हो जाते हैं। समाधि के सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात और धर्ममेघ विविध सोपान हैं।

अहिसा इत्यादि तीक्ष्ण व्रत धारण करनेवाले[1] अनेक यत्नशील पुरुष स्वाध्यायज्ञानयज्ञ करते हैं।

---

१. 'स्थिरसुखमासनम्' सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि आसन योग-अभ्यास के लिए विशेष उपयोगी है। यद्यपि सर्वांगासन, भुजङ्गासन, उत्तानपाद आदि आसन भी लाभदायक है। गृहस्थजन को शीर्षासन का अभ्यास सिद्धगुरु से सीखकर ही करना चाहिए, अन्यथा वह हानिकर हो जाता है। एक, डेढ़ या दो मिनट शीर्षासन करना पर्याप्त होता है। आसन केवल उतने समय तक करना चाहिए, जितने समय तक वह सुखपूर्वक हो सके। बैठने के आसनो मे मेरुदण्ड और ग्रीवा (रीढ़ तथा गर्दन) को सीधा रखना अत्यन्त उपयोगी होता है। मनुष्य को साधारणत भी बैठने और चलने मे सीधा ही रहना चाहिए। सीधा लेटने के लिए तख्त आदि का उपयोग करना तथा सिर के नीचे तकिया न लगाना अत्यन्त लाभप्रद है। बैठने के आसन मे दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर रखना चाहिए। सिद्धयोगी मानसिक अथवा आन्तरिक दृष्टि को प्राय भृकुटि के मध्य (आज्ञाचक्र) मे स्थापित करते हैं। अधिक समय तक बैठने मे सदैव नेत्र मूँद लिये जाते हैं।

२. प्राणायाम के तीन प्रकार हैं—बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भ। आठ ॐ से रेचक करके सोलह ॐ से बाहर श्वास रोकना (कुम्भक) और चार ॐ से श्वास भरना (पूरक) बाह्य प्राणायाम है। इसके विपरीत चार ॐ से पूरक करना, सोलह ॐ से भीतर श्वास रोकना (कुम्भक) और आठ ॐ से रेचक करना आभ्यन्तर प्राणायाम है। बाहर या भीतर श्वास को रोकना स्तम्भ प्राणायाम है।

पतञ्जलि ने चौथे प्राणायाम की भी चर्चा की है, जो आध्यात्मिक है। इन्द्रियो के विषयों का चिन्तन त्याग देने से प्राणों की गति का प्रयत्न के बिना अवरोध होना चतुर्थ (आध्यात्मिक) प्राणायाम है। 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः'। —पतञ्जलि

१. 'ते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्'—महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र (२.३३) मे स्पष्ट किया है कि जाति, देश, काल की सीमा का अतिक्रमण करने पर अहिंसा आदि व्रत महाव्रत हो जाते हैं।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञ[1] का अर्थ आध्यात्मिक उन्नति मे सहायक सद्ग्रन्थो का सुगूढ अध्ययन, श्रवण, मनन और चिन्तन द्वारा ज्ञान प्राप्त करना है। यह ज्ञानयज्ञ है।

**अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपान तथापरे।**
**प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा ॥२९॥**
**अपरे नियताहारा प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।**
**सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा: ॥३०॥**

**शब्दार्थ :** अपाने प्राण जुह्वति तथा प्राणे अपानं (जुह्वति)=अपान वायु मे प्राणवायु को हवन करते हैं तथा (अन्य) प्राणवायु मे अपान वायु को हवन करते हैं, अपरे प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा =अन्य प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम करते हैं। अपरे नियताहारा प्राणान् प्राणेषु जुह्वति=अन्य नियमित आहार करनेवाले (योगीजन) प्राणो को प्राणो मे ही हवन करते हैं। यज्ञक्षपितकल्मषा एते सर्वे अपि यज्ञविद =यज्ञो द्वारा विनष्ट पापवाले ये सभी (योगी) यज्ञ जाननेवाले हैं।

**वचनामृत :** अन्य योगीजन अपान वायु मे प्राणवायु को हवन करते हैं। ऐसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु मे अपान वायु को हवन करते हैं तथा अन्य प्राणायाम की गति को रोककर प्राणायाम-परायण रहते हैं। अन्य योगीजन नियमित आहार-वाले प्राणो को प्राणो मे ही हवन करते हैं। (अथवा, अनेक योगी नियमित आहारवाले, प्राणायाम मे तत्पर रहनेवाले, प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणो को प्राणो मे ही हवन करते हैं।) ये सभी (योगी) यज्ञो द्वारा विनष्ट पापवाले यज्ञ जानते हैं।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण विविध प्रकार के योगियों और उनके योगस्वरूप यज्ञो का वर्णन करते हुए सबकी प्रशसा करते हैं। विद्वानो द्वारा इन दो श्लोको का अनेक प्रकार से अन्वय और अर्थ किया गया है।

**रसामृत :** कुछ साधक प्राणायाम को अपनी साधना का मुख्य आधार बना लेते हैं तथा प्राणायाम को यज्ञ का स्वरूप मान लेते हैं। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान को पञ्चप्राण कहते हैं तथा इनके स्थान क्रमश हृदय, मूलाधार, नाभि, कण्ठ और सम्पूर्ण देह हैं। प्राण और अपान इनमे प्रमुख हैं। पूरक, कुम्भक और रेचक—प्राणायाम के तीन सोपान है। प्राणवायु को अपानवायु मे पूरक द्वारा तथा अपानवायु को प्राण मे रेचक द्वारा विलीन करना तथा प्राण और अपान की गति को कुम्भक द्वारा अवरुद्ध करना प्राणायाम-यज्ञ का एक स्वरूप है। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाङ्गयोग के साधको को नियमित आहार करने का निर्देश दिया है। भोजन-त्याग करनेवाले तथा अत्यधिक भोजन करनेवाले मनुष्य योगाभ्यास नही कर सकते। प्राणायाम द्वारा मनुष्य शरीर एव मन को सयमित कर सकता है। अष्टाङ्गयोग मे प्राणायाम का विशेष महत्त्व है।[1]

---

अहिंसा (एव प्रेम) से क्रोध का, सत्य से मोह का, अस्तेय तथा अपरिग्रह से लोभ का, ब्रह्मचर्य से काम का परिहार हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह पर विजय पाने के लिए अहिंसा इत्यादि पञ्चव्रत सहायक होते हैं।

१. स्वाध्याययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ को पृथक् भी कहा जा सकता है।

१ प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राणशक्ति का नियमन होता है। शरीर-विज्ञान के अनुसार शरीर के छह प्रमुख तन्त्र है—स्नायुतन्त्र (मस्तिष्क, मेरुदण्ड इत्यादि), ग्रन्थितन्त्र, श्वसनतन्त्र (फुफ्फुस इत्यादि), रक्तवहतन्त्र (हृदय, रक्त, रक्तवाहिका इत्यादि), पाचनतन्त्र (यकृत, आन्त्र इत्यादि), उत्सर्जनतन्त्र (गुर्दे इत्यादि)। प्राणायाम न केवल श्वसनतन्त्र को, बल्कि समस्त तन्त्रो को शुद्ध करता है। जाबाल उपनिषद् मे प्राणायाम की विशद चर्चा है। अनुभवी गुरु से ही प्राणायाम सीखना चाहिए। कष्टकारक होने पर प्राणायाम हानिकारक होता है। प्राणायाम का अभ्यास धीरे-धीरे तथा सरलतापूर्वक होना चाहिए।

उपर्युक्त ( श्लोक २४ से ३० तक ) वर्णित साधनो को यज्ञ-भावना से ( यज्ञ मानकर ) अपनानेवाले सभी योगी है तथा उनके समस्त पापो का क्षय हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने 'यज्ञ' को रूढि अर्थ से मुक्त करके व्यापक रूप दिया है।

**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम।**
**नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥**
**एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।**
**कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥**

**शब्दार्थ : कुरुसत्तम**=हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, **यज्ञशिष्टामृतभुज. सनातन ब्रह्म यान्ति**=यज्ञो के शेष ( बचे हुए ) अमृत को भोगनेवाले योगीजन सनातन ब्रह्म ( परमात्मा ) को प्राप्त होते हैं। **अयज्ञस्य अयं लोकः न अस्ति अन्यः कुतः**=यज्ञ न करनेवाले मनुष्य का यह लोक ( भी सुखदायक ) नही है, परलोक कैसे ( सुखदायक होगा ), **एवं बहुविधाः यज्ञाः ब्रह्मणः मुखे वितताः**=इस प्रकार अनेक प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी मे विस्तृत किये गये हैं, **तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि**=उन सबको क्रिया से उत्पन्न ( सम्पन्न होनेवाले ) जान, **एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे**=ऐसा जानकर मुक्त हो जायगा।

**वचनामृत :** हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, यज्ञ से बचे हुए अमृत को भोगनेवाले योगीजन सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करनेवाले मनुष्य का यह लोक भी सुखदायक नही है, परलोक तो कैसे सुखदायक होगा ? इसी प्रकार अन्य भी अनेक प्रकार के यज्ञ वेद-वाणी मे विस्तारसहित कहे गये हैं। तू उन सबको ( देह की ) क्रिया द्वारा सम्पन्न होनेवाला जान, यह समझकर तू बन्धनमुक्त हो जायगा।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण विविध प्रकार के यज्ञो के लाभ का वर्णन करते हुए उपसहार करते हैं। ३१वें श्लोक मे विशेषत द्रव्ययज्ञो की चर्चा है।

**रसामृत :** उत्तम पुरुष अपनी अपेक्षा दूसरो के जीवन-निर्वाह एव सुख को अधिक महत्त्व देते हैं। वास्तव मे स्वार्थी, सकीर्ण एव अहवादी मनुष्य को कभी सम्मान और शान्ति प्राप्त नही होते। समाज-हित मे अपने धन आदि का त्याग करने से उदात्त होकर मनुष्य सम्मान और शान्ति प्राप्त कर लेता है। यज्ञ के उपरान्त शेष बचा हुआ पदार्थ अमृततुल्य हो जाता है। जो मनुष्य दूसरो को खिलाकर शेष बचे हुए मे ही सन्तुष्ट हो जाता है, वह अमृतभुक् ( अमृत खानेवाला ) होता है। जो मनुष्य अपने स्वार्थ को भूलकर दूसरो के सुख के लिए ही जीवित रहता है वह निर्मल हो जाता है तथा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ से अवशिष्ट अन्न ( हविष्यान्न ) को खानेवाला अमृतभोजी होता है तथा वह सनातन ब्रह्मपद को प्राप्त करता है। यज्ञशेषरूप अमृत-भोजन करने से चित्त-शुद्धि होती है, चित्त-शुद्धि से आत्मज्ञान का उदय हो जाता है तथा आत्मज्ञान होने से सच्चिदानन्दस्वरूप चिरन्तन ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। भोजन द्रव्य ( धन-सम्पत्ति ) का प्रतीक है। उत्तम पुरुष को केवल भोजन ही नही, बल्कि धन भी समाज-हित मे बाँटकर ग्रहण करना चाहिए।[1] जो मनुष्य अपने विचार एव कर्म द्वारा

---

योग की भाषा मे प्राणायाम के समय अन्दर से बाहर निकलनेवाली श्वास को प्राण कहते है तथा बाहर से अन्दर आनेवाले प्रश्वास को अपान कहते हैं। कुछ ज्ञानीजन पूरक द्वारा 'हस' तथा रेचक द्वारा 'सोऽह' अनुलोम और प्रतिलोम क्रम से सिद्ध करते है।

जैन-दर्शन मे प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत श्वास के सयम पर विशेष बल दिया गया है। अभ्यास द्वारा श्वास के मन्द, सूक्ष्म ( स्थूल के विपरीत सूक्ष्म ) तथा दीर्घ होने पर वह स्वास्थ्य एव दीर्घायु प्रदान करता है।

१. **मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः**
**सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।**
**नार्यमणं पुष्यति नो सखायं**
**केवलाघो भवति केवलादी ॥**

—ऋग्वेद, १०.११७ ६

अर्थात् अकेला खानेवाला स्वार्थी मनुष्य पाप खाता है।

इस लोक मे सुख प्राप्त नही कर सकता, उसे परलोक मे ही क्या सुख प्राप्त हो सकता है ?

योगियो द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने के विविध साधनो को यज्ञ का रूप दिया गया है। वेद मे अनेक साधनो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। ये सभी यज्ञ कर्म द्वारा ( कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया द्वारा ) सम्पन्न होते हैं तथा यज्ञ करना लक्ष्य अथवा साध्य नही है। सभी यज्ञ ज्ञानस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति के साधनमात्र हैं। यह तथ्य जानने से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

**श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ परतप।**
**सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥**

**शब्दार्थ** · परतप=हे अर्जुन, द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञ श्रेयान्=द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, पार्थ =हे अर्जुन, सर्वं अखिल कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते= सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म ( जितना भी कर्म है ) ज्ञान मे परिसमाप्त हो जाता है, ज्ञान उसकी पराकाष्ठा है।

**वचनामृत** · हे परतप अर्जुन, द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानरूप यज्ञ श्रेष्ठ है। हे पार्थ, सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञान मे समाप्त हो जाता है। ( ज्ञानकर्म की पराकाष्ठा है। )

**सन्दर्भ :** ज्ञानयज्ञ समस्त यज्ञो मे श्रेष्ठ है।

**रसामृत** . द्रव्यो अर्थात् सासारिक वस्तुओ के उपयोग से सिद्ध होनेवाले यज्ञ द्रव्ययज्ञ होते हैं। अग्नि मे घृत इत्यादि हवि के होम द्वारा देवयज्ञ करना, अन्नादि दान देना, कूप, मन्दिर आदि का निर्माण करना सभी द्रव्ययज्ञ है। आध्यात्मिक ज्ञान के सम्बन्ध मे तत्त्वविचार, चिन्तन, मनन करना ज्ञान यज्ञ के अन्तर्गत है। द्रव्ययज्ञ मे क्रिया तथा ज्ञानयज्ञ मे विचार की प्रधानता होती है। द्रव्ययज्ञादि कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि हो जाती है तथा चित्तशुद्धि होने पर ज्ञान का उदय हो जाता है। द्रव्ययज्ञ का अन्तिम साध्य भी ज्ञान की प्राप्ति है। ज्ञानयज्ञ अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति की साधना द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर द्रव्ययज्ञ अनावश्यक हो जाते हैं। ज्ञान कर्म को भस्मसात् कर देता है तथा ज्ञान द्वारा अखण्ड अद्वय चैतन्यस्वरूप ब्रह्म की अनुभूति हो जाती है। वास्तव मे बुद्धि ज्ञान से ही पवित्र एव कृतार्थ होती है।[1] यद्यपि द्रव्ययज्ञ भी उत्तम होते हैं तथा मनुष्यो के जीवन को सुखमय बना देते हैं, द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ होता है। अग्निहोत्र मे हवि के हवन करने की अपेक्षा बुद्धि को ज्ञान से आलोकित करना अधिक श्रेष्ठ है।

तत्त्वज्ञान का उदय होने पर सब कर्म परिसमाप्त हो जाते हैं। ज्ञानप्राप्ति होने पर कर्मों का प्रयोजन पूरा हो जाता है। यथार्थज्ञान समस्त साधनो का साध्य है तथा समस्त कर्मो की पराकाष्ठा है। यावन्मात्र कर्म ( जितने भी कर्म हैं ) सम्पूर्ण रूप से ज्ञानाग्नि मे भस्म हो जाते हैं। तत्त्वज्ञान द्वारा नित्यस्वरूप परमब्रह्म के साथ तादात्म्य होने पर कुछ कर्तव्य शेष नही रहता।

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥**

**शब्दार्थ :** प्रणिपातेन=अच्छी प्रकार से साष्टाङ्ग प्रणाम आदि से, सेवया=सेवा से, परिप्रश्नेन=पवित्र भाव से युक्त होकर प्रश्न से, तद्=उसे ( ज्ञान को ), विद्धि=जान, ते=वे, तत्त्वदर्शिन ज्ञानिन =तत्त्व को देखनेवाले ज्ञानीजन, ज्ञान उपदेक्ष्यन्ति=ज्ञान का उपदेश करेंगे।

**वचनामृत :** तू ( तत्त्वज्ञानी महात्माओ के पास जाकर ) भलीभाँति ( श्रद्धापूर्वक ) प्रणाम करने से, सेवा करने से और शुद्ध भाव से युक्त होकर प्रश्न पूछने से ज्ञान को समझ। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुझे ज्ञान का उपदेश देंगे।

---

१ अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मन सत्येन शुद्धयति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति॥
—मनुस्मृति, ५ १०९

अर्थात् जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से अन्त.करण तथा ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होते हैं।

**सन्दभ :** समस्त कर्म ज्ञान मे परिसमाप्त हो जाते है। ऐसे तत्त्वज्ञान को किस प्रकार प्राप्त कर सकते है ? यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध एव महत्त्व-पूर्ण है।

**रसामृत :** ज्ञान अग्नि है, जिसमे हुत होने पर समस्त कर्म भस्मसात् हो जाते है तथा मनुष्य निर्बन्ध हो जाता है। ज्ञान प्रकाश-पुञ्ज है, जिसके आलोक मे सत् और असत् का भेद स्पष्ट हो जाता है और मनुष्य का जीवन-पथ प्रशस्त हो जाता है। ज्ञान अमृत है, जिसका आस्वादन मनुष्य को शोक, मोह, चिन्ता, भय इत्यादि विकारो से मुक्त कर देता है तथा अखण्ड आनन्द सुलभ कर देता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक स्थलो पर ज्ञान की महिमा का वर्णन किया है। कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान मे सम्पूर्ण कर्म परिसमाप्त हो जाते हैं तथा ज्ञानोदय होने पर मनुष्य पूर्णकाम एव परितृप्त हो जाता है। ज्ञान द्वारा जीवात्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य होने पर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।

ज्ञान केवलमात्र सद्ग्रन्थो के अध्ययन से प्राप्त नही होता। ज्ञान उन महापुरुषो के सान्निध्य मे आने पर प्राप्त होता है, जो स्वय ज्ञान से परिपूर्ण हो। किन्तु किसी भी उत्तम उपलब्धि के लिए प्रदाता तथा प्रापक ( देनेवाले तथा प्राप्त करने-वाले ) व्यक्तियो के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध अथवा घनिष्ठ सम्पर्क होना नितान्त आवश्यक होता है। एक ओर अखण्ड विश्वास एव अटूट श्रद्धा शिष्य को सत्पात्र ( उत्तम गृहीता ) तथा दूसरी ओर परमात्मा मे अपार तन्मयता एव असीम करुणार्द्रता गुरु को उत्तम प्रदाता बना देते है।

जिज्ञासा ( सत्य को जानने की इच्छा ) की तीव्रता मनुष्य को ज्ञान का अनवरत अनुसन्धान करने के लिए प्रेरित कर देती है। सत्य की खोज मे अज्ञात के ज्ञात होने पर जिज्ञासा की तृप्ति द्वारा अनिर्वचनीय लाभ होता है। जिज्ञासा होने पर उत्तम गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए।[1] शिष्य विनीत होकर ही कुछ ग्रहण कर सकता है। श्रद्धा-भक्तिशून्य मनुष्य मे ग्रहणशीलता नही होती।

ज्ञान भौतिक वस्तुओ की भाँति क्रय-विक्रय की वस्तु नही होता। धन, सत्ता, पद, कुल आदि के गर्व मे मत्त पुरुष को अध्यात्म के क्षेत्र मे कभी कोई उपलब्धि नही हो सकती। उत्तम शिष्य उद्दण्ड नही होता तथा विनीत एव निष्कपट होता है। शकाओ का समाधान होना सदैव आवश्यक होता है, क्योकि शका ज्ञान के ग्रहण मे बाधक होती है। जिज्ञासा के अनेक रूप होते है—मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है, आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, उसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? इत्यादि।[2] सद्गुरु शिष्य की जिज्ञासा का दमन कदापि नही करता तथा अनुभवादि के आलोक द्वारा उसका शमन कर देता है। कुतर्क एव वितण्डा तथा पूर्वा-ग्रह एव दुराग्रह ज्ञान के आदान-प्रदान मे बाधक होते हैं। पात्र यदि रिक्त हो तथा नीचे स्तर पर सम्यक् प्रकार से स्थित हो तो जल स्रोत से नीचे की ओर प्रवाहित होनेवाले जल का ग्रहण सम्भव होता है। इसी प्रकार यदि शिष्य अहकारशून्य ( रिक्त ) हो तथा विनीतभावयुक्त हो तो वह उपदेश ग्रहण कर सकता है। गुरु अधिकारी शिष्य की पात्रता को देखकर दयाद्रवित हो जाता है तथा उसके ज्ञान का सागर उमड़कर बहने लगता है,

---

१. **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि. श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** —मुण्डक उप०, १.२.१२
अर्थात् उस तत्त्वज्ञान के लिए वह ( जिज्ञासु ) समिधा ( पुष्प, फल इत्यादि भेंट ) हाथ मे लिये हुए वेदज्ञाता ब्रह्मनिष्ठ ( तत्त्वदर्शी ) महात्मा के समीप जाय। पुष्पादि सात्त्विक श्रद्धा के सूचक होते हैं।

२. मनुष्य मे आत्मा तथा परमात्मा के लिए जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। ब्रह्मसूत्र का प्रारम्भिक सूत्र है—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**। अर्थात् ब्रह्म के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करनी चाहिए।

जैसे अपने वत्स को देखकर गौ का दुग्ध प्रवाहित हो जाता है।

श्रीकृष्ण 'परिप्रश्न' के द्वारा यह स्पष्ट कर देते हैं कि सत्य के अनुसन्धान एव अनुसरण मे विचार एव विवेक का त्याग कदापि नही करना चाहिए तथा मनुष्य को सत्य के ग्रहण एव असत्य के त्याग के लिए सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए। ज्ञान अन्ध-विश्वास की वस्तु नही है, बल्कि एक प्रज्वलित दीपक के प्रकाश की भाँति स्पष्ट दीखता है तथा अनुभवगम्य होता है। किन्तु शिष्य मे श्रद्धा, स्वाध्याय, साधना, अभ्यास, तत्परता, सयम, तितिक्षा, सेवाभाव इत्यादि गुणो का होना नितान्त आवश्यक होता है। सेवा के लिए साधन की महत्ता नही होती, भाव की महत्ता होती है। गुरु के सान्निध्य मे रहकर सेवा-कार्य करना शिष्य को निरभिमान एव विनम्र बना देता है तथा गुरु की तरङ्गदीर्घता पर होने से शिष्य सम्यक् प्रकार से ज्ञान को ग्रहण कर लेता है।

केवल सत्सग करना तथा उपदेश का श्रवण करना पर्याप्त नही होता। प्रबोध के लिए चिन्तन, मनन तथा अनुभूति होना भी आवश्यक होता है। 'जिसे व्यक्तिगत प्रबोध न हो तथा केवल बहुत कुछ श्रवण ही किया हो, वह ग्रन्थो के तात्पर्य को नही समझ सकता, जैसे चमचे को दाल के स्वाद का भान नही होता।'[1] सद्गुरु शिष्य की बुद्धि को तिरस्कृत नही करता, बल्कि धैर्यपूर्वक उसे ऊँचे धरातल पर स्थित कर देता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि सद्गुरु केवल ज्ञान-सामग्री से युक्त ही नही होता, बल्कि तत्त्वदर्शी भी होता है। तत्त्व का दर्शन ही ज्ञान का लक्ष्य है।[2] सिद्ध गुरु शिष्य को सत्पात्र बनाकर उसे स्पर्श आदि के द्वारा सूक्ष्म परमतत्त्व की दिव्यानुभूति हस्तान्तरित कर देता है। वह शिष्य के समग्र व्यक्तित्व को रूपान्तरित एव महिमान्वित कर देता है। गुरु की महिमा अनन्त है। शिष्य के लिए गुरु और गोविन्द मे भेद नही रहता। परम तत्त्व का ग्रहण ज्ञान-चर्चा के द्वारा नही होता, बल्कि उसके दर्शन अर्थात् दिव्यानुभूति द्वारा होता है। अपने भीतर प्रकाश होना ही ज्ञान का सच्चा प्रमाण है।

गुरु का वरण सोच-विचारकर करना चाहिए, अन्यथा सन्ताप हो सकता है।[1] आध्यात्मिक क्षेत्र मे ज्ञान-सामग्री के भण्डार ( तथा चमत्कारो ) का विशेष महत्त्व नही है तथा केवल तत्त्वदर्शन ( आन्तरिक अनुभूति ) का ही महत्त्व है। गुरु के लिए शास्त्रज्ञ होना पर्याप्त नही है, बल्कि उसे तत्त्वदर्शी होना चाहिए। ( कुछ विद्वान् लोग पाण्डित्य-प्रदर्शन द्वारा, कुछ चतुर लोग जादूगरी के-से चमत्कारो द्वारा तथा कुछ सयाने लोग वाग्जाल फैलाकर तथा अटपटे शब्द कहकर, साधारण जन को, भ्रमित कर देते हैं। शिष्य गुरु को 'भगवान्' के तुल्य मानकर अपनी श्रद्धा प्रकट करता है, किन्तु गुरु का अपने को भगवान् घोषित करना मिथ्या अहंकार की ही तुष्टि होती है। ब्रह्मज्ञानी की 'अह ब्रह्मास्मि' की विलक्षण अवस्था भिन्न होती है। )

---

१ यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा केवल तु बहुश्रुतः।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥

—महाभारत, २ ५५ १

२ दर्शन का अर्थ प्रत्यक्षानुभूति है। इसका अग्रेजी अनुवाद 'फिलॉसफी' ( अर्थात् ज्ञान का प्रेम ) उपयुक्त नही है। विदेशो मे कुछ प्रबुद्ध व्यक्तियो ने बुद्धि एव कल्पना के आधार पर 'फिलॉसफी' का सृजन किया है, किन्तु भारतीय ऋषियो ने अनुभव द्वारा परम तत्त्व का दर्शन किया।

१ अपरीक्ष्य न कर्तव्यं कर्तव्य सुपरीक्षितम्।

—बिना परीक्षा गुरु न बनायें, भली प्रकार सोच-विचारकर गुरु बनायें।

'गुरु कीजिये जानकर।'

'उपसीदेत् एकमेव सद्गुरुं ब्रह्मवित्तमम्'

—ब्रह्मविद् एक ही सद्गुरु के पास जाना चाहिए। सद्गुरु एक ही होता है, यद्यपि सभी विद्वज्जन और सन्त होते हैं।

यदि साधक को कोई उपयुक्त गुरु न मिल सके तो जगद्गुरु श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।**
**येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥**

**शब्दार्थ :** यत्=जिसे, ज्ञात्वा=जानकर, पुनः एवं मोहं न यास्यसि=फिर इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा, पाण्डव=हे अर्जुन, येन=जिससे ( जिस ज्ञान से ), आत्मनि अशेषेण भूतानि द्रक्ष्यसि=अपने भीतर सम्पूर्ण प्राणियों को देखेगा ( तथा ) अथो मयि=इसके अनन्तर मुझमें देखेगा।

**वचनामृत :** जिस ज्ञान को जानकर तू फिर इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा तथा हे अर्जुन, जिस ज्ञान से तू सम्पूर्ण प्राणियों को पूरी तरह से अपने भीतर देखेगा और फिर शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा में देखेगा।

**सन्दर्भ :** गुरु से तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर सर्वत्र परमात्मा का दर्शन होता है।

**रसामृत :** ज्ञान मोह के अन्धकार को विदीर्ण कर देता है। ज्ञान प्राप्त होने पर समस्त प्राणी आत्मस्वरूप हो जाते हैं तथा मोह और शोक का नाश हो जाता है।[1]

ज्ञानी पुरुष समस्त प्राणियों को अपने स्वरूप में देखता है। उसे मित्र, पुत्र, बन्धु इत्यादि सभी अपने में स्थित प्रतीत होने लगते हैं। ज्ञानी को 'ये सब मैं ही हूँ, ये सब मुझसे अभिन्न हैं', ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। सर्वत्र आत्मभाव होने पर उसे समस्त प्राणियों में 'अहं' ( आत्मा ) ही विराजमान दीखने लगता है। वह समस्त प्राणियों को अपने अन्तर्गत ही देखता है। मैं ही सारा जगत् हूँ—यह सर्वत्र आत्मदर्शन है।

निज आत्मा को परमात्मा में अभेदभाव से देखने पर सर्वत्र आत्मदर्शन करनेवाला ज्ञानी समस्त प्राणियों को परमात्मा में अभिन्न रूप से देखता है। ज्ञानी अपने आत्मा एवं परमब्रह्म के एकत्व का प्रत्यक्ष अनुभव करता है—यही 'तत् त्वं असि' ( वह परम ब्रह्म तू है ) का अनुभव है।

पहले ज्ञानी सम्पूर्ण प्राणियों को अपने में स्थित देखता है और फिर परमात्मा के साथ एकत्व की अनुभूति होने पर सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में स्थित देखता है। उसका 'अहं' परमात्मा में विलीन हो जाता है तथा केवल एक परमब्रह्म ही रह जाता है। वह अपने को तथा प्राणिमात्र को सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा में देखता है। उसे ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं दीखता। सारा जगत् परमात्मा ही है, यह सर्वत्र ब्रह्मदर्शन है। सर्वत्र आत्मदर्शन ज्ञानी की प्रथम स्थिति तथा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन दूसरी स्थिति है। यह दर्शन ( देखना ) ही ज्ञान का प्रमाण है।[1]

**अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।**
**सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥**

**शब्दार्थ :** चेत्=यदि, सर्वेभ्यः पापेभ्यः अपि पापकृत्तमः असि=सभी पापियों से भी बढ़कर पाप करनेवाला है, ज्ञानप्लवेन एव सर्वं वृजिनं संतरिष्यसि=ज्ञानरूपी नौका से निश्चय ही सम्पूर्ण पापों को भली प्रकार पार कर लेगा।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, यद्यपि तू पापी नहीं है, तथापि यदि तू सारे पापियों से भी बढ़कर पाप करनेवाला है तो भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा निश्चय ही सब पापों को भलीभाँति पार कर लेगा।

---

१ यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
—ईशावास्य उप०, ७

—अर्थात् जब ज्ञानी की दृष्टि में सभी प्राणी आत्म-स्वरूप हो जाते हैं, तब एकत्व का दर्शन करनेवाले के लिए क्या मोह, क्या शोक?

१. आत्मीय दर्शन प्रत्यक्ष अनुभूति है, केवल कल्पना की उड़ान नहीं है।

**सन्दर्भ :** अर्जुन धर्मात्मा है तथा पापी नही है, किन्तु उसे पाप के भय ने ग्रस्त किया। उसने श्रीकृष्ण से कहा—"धृतराष्ट्र के आततायी पुत्रो को मारकर हमे पाप लगेगा",[1] तथा "हम स्वजन को मारकर महान् पाप करने के लिए उद्यत है।" श्रीकृष्ण अर्जुन को अनेक प्रकार से कर्तव्य-पालन हेतु युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हुए ज्ञान की महिमा का वर्णन करते है। ज्ञान के आलोक में महापातक भी मिट जाते हैं।

**रसामृत :** मनुष्य से भूल होना अत्यन्त स्वाभाविक है। इस ससार मे कौन ऐसा मनुष्य है, जिससे कभी कोई भूल नही हुई ? किन्तु किसी विगत भूल से चिपके रहना अथवा उसमे उलझे रहना भूल को भयकर बना देता है। किसी भूल को अपने साथ गहरा जोडकर मानसिक कोष मे रखे रहने से उसके सस्कार दृढ हो जाते हैं। पुरानी भूल का यदाकदा स्मरण होना तो स्वाभाविक है, किन्तु भूल को अपने साथ जोडकर उसका स्मरण करने से वह एक दु खदायक वन्धन हो जाती है। पश्चात्ताप करना एक प्रायश्चित्त होता है, जिसके द्वारा मनुष्य दोष-मुक्त होकर आत्मसुधार के लिए प्रवृत्त होता है, किन्तु निरन्तर पश्चात्ताप करना मनुष्य की शक्ति का क्षय करता है तथा हानिकारक सिद्ध होता है। भूल करना उतना वुरा नही है, जितना उसे स्वीकार न करके उसकी पुनरावृत्ति करना। वास्तव मे भूल और भलाई अथवा पाप और पुण्य दोनो के सस्कार ही विवेकशील पुरुष के लिए अवाछनीय होते है। पाप से सम्बद्ध अपराध-भावना तथा पुण्य से सम्बद्ध अहकार-भावना दोनो ही बन्धनकारक होते हैं।

पाप का स्मरण करने से मन मे पाप वृत्ति प्रबल हो जाती है। 'मैं तो पापी हूँ', ऐसी भावना मनुष्य को एक ओर पाप मे प्रवृत्त कर देती है तथा दूसरी ओर मनुष्य को अपनी ही दृष्टि मे नीचे गिराकर उसमे आत्मग्लानि की अग्नि धधका देती है। ऐसा मनुष्य जान-बूझकर तथा अनजाने आत्म-धिक्कार तथा आत्मताडना के द्वारा अपने को दु ख-मय करते रहने मे प्रयत्नशील हो जाता है। यह एक शोचनीय स्थिति होती है, जव मनुष्य अपने को निरन्तर दण्डित करने लगता है।

जीवन मे आगे वढने के लिए तथा सुख एव शान्ति प्राप्त करने के लिए पाप-वन्धन से मुक्त होना नितान्त आवश्यक होता है। भगवान् श्रीकृष्ण घोषणा करते है कि घोर पापी के कल्याण के लिए भी ज्ञान का मार्ग सदैव खुला हुआ है। ज्ञान-मार्ग द्वारा पापी का भी उद्धार होना अवश्य सम्भव है। ज्ञान मनुष्य को पाप से मुक्त करके उसे शुद्ध वुद्ध वना देता है। ज्ञान की शक्ति तथा प्रभाव अनन्त हैं। मनुष्य ज्ञान द्वारा अपने पापो को प्रनष्ट करके मन को ऐसे ही परिष्कृत कर लेता है, जैसे पक्षी अपने धूलि-धूसरित पखो को झाडकर उन्हे धूल से मुक्त कर देता है। ज्ञान के प्रकाश मे पाप-पुण्य का भ्रम मिट जाता है तथा अज्ञान का अन्धकार हटने पर मोह और शोक लुप्त हो जाते है।[1] दृश्य पदार्थ जड है तथा आत्मा चेतन द्रष्टा है। मनुष्य अज्ञानवश देह तथा इन्द्रिय आदि मे आत्मवुद्धि होने के कारण (अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि को ही अपना स्वरूप मानने के कारण अथवा मैं देह, इन्द्रिय आदि हूँ, ऐसा मानने के कारण) पाप-पुण्य आदि के वन्धन में पड जाता है, किन्तु तत्त्व-ज्ञानी आत्मा को निष्क्रिय, अकर्ता एव तटस्थ द्रष्टा के रूप में देखता है। आत्मा तो नित्यमुक्त है। ज्ञानदृष्टि होने पर मनुष्य पाप-पुण्य के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

मनुष्य भक्ति द्वारा भी पापमुक्त होकर पवित्र हो जाता है। भक्ति द्वारा असख्य पापियो का उद्धार हुआ है। जिस प्रकार माता बच्चे के रोने

---

१ गीता, अध्याय १, श्लोक ३६ तथा ४५।

१ 'अशरीरं सन्त नैन पुण्यपापे स्पृशत'—अर्थात् अशरीरी आत्मा को पाप-पुण्य स्पर्श नहीं करते।

'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय'—मुण्डक उप०, ३ १ ३

पर उसे अविलम्ब गोद मे लेकर हृदय से लगा लेती है, उसी प्रकार भगवान् घोर पापी के पुकारने पर उसे तत्काल हृदय से लगा लेते हैं।[1] भगवान् का द्वार सबके लिए समान रूप से खुला है तथा जिस प्रकार एक ग्वाला गौओ के समूह ( गोवृन्द ) को छोडकर भटकी हुई एक गौ की पुन प्राप्ति के लिए उद्विग्न हो जाता है, उसी प्रकार करुणानिधान परमपिता भी पथभ्रष्ट ( तथाकथित पापी ) के स्वागत के लिए उत्सुक रहता है।

**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।**
**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥**
**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**
**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥**

**शब्दार्थ :** **अर्जुन यथा समिद्ध अग्नि. एधासि भस्मसात् कुरुते**=हे अर्जुन, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधनो को भस्म कर देती है, **तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते**=उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। **इह ज्ञानेन सदृशं पवित्रं हि न विद्यते**=इस लोक मे ज्ञान के तुल्य पवित्र निस्सन्देह ( अन्य कुछ भी ) नही है, **तत् कालेन स्वयं योगसंसिद्ध. आत्मनि विन्दति**=उसे ( ज्ञान को ) काल बीतने से स्वय योगससिद्ध पुरुष आत्मा मे प्राप्त कर लेता है अर्थात् अपने भीतर अनुभव करता है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधनो को भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्मीभूत कर देती है। इस ससार मे ज्ञान के सदृश पवित्र करनेवाला निश्चय ही अन्य कुछ नही है। उस ज्ञान को ( कर्म करते हुए ) काल बीतने पर कर्मयोग के द्वारा शुद्ध अन्त करणवाला मनुष्य स्वय ही आत्मा मे ( अपने भीतर ) पा लेता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ज्ञान कर्मयोगी को कर्मयोग द्वारा ही सुलभ हो जाता है।

१ श्रीकृष्ण कहते हैं कि भक्ति द्वारा घोर पापी का भी उद्धार हो जाता है।—गीता, ९ ३०

**रसामृत :** श्रीकृष्ण ने अर्जुन से द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ कहकर, ज्ञान को प्राप्त करने के उपायो की चर्चा करते हुए ज्ञान की महिमा और प्रभाव का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि तत्त्वदर्शी गुरु के शरणापन्न होने से तथा श्रद्धापूर्वक सेवा करते हुए विनम्रतासहित प्रश्न पूछने से ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है।[1] सद्गुरु के सान्निध्य मे सशयमोचन द्वारा ज्ञानलाभ होने पर फिर कभी भ्रम उत्पन्न नही होता तथा मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियो को अपने आत्मा मे और उसके उपरान्त परमात्मा मे देखता है।[2] ज्ञानरूपी नौका के द्वारा घोर पापी भी पापसागर ( एव पाप-पुण्य का द्वन्द्व ) पार कर जाता है तथा पापमुक्त हो जाता है।[3] ज्ञान अग्नि के सदृश समस्त कर्मों को भस्मीभूत कर देता है।[4] तथा ज्ञान के सदृश पवित्र करनेवाला अन्य कुछ भी नही है।[5] यह तत्त्वज्ञान ( आत्मज्ञान अथवा यथार्थज्ञान ) कर्मयोगी को कालान्तर मे अनायास ही प्राप्त हो जाता है।[6]

ज्ञान की अनन्त महिमा का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते है कि यदि एक बार आत्मज्ञान मनुष्य के चिन्तन, विचार और आचरण को प्रकाशित एव प्रभावित कर दे तो वह सदा के लिए कर्मबन्धन से मुक्त हो जाय। आत्मज्ञान होने पर मनुष्य के समस्त कर्म ( सचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण ) ऐसे ही भस्मीभूत हो जाते हैं, जैसे अग्नि से काष्ठादि का समूह भस्मीभूत हो जाता है। ज्ञान द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार होने पर चिद्-जड ग्रन्थि खुल जाती है और देहादि मे आत्माभिमान ( मैं देह, इन्द्रिय आदि हूँ, ऐसा विचार ) नष्ट हो

१ गीता, ४ ३४
२. वही, ४ ३५
३. वही, ४ ३६
४ वही, ४ ३७
५ वही, ४.३८
६. वही, ४ ३८

जाता है तथा समस्त जगत् ब्रह्ममय भासने लगता है।[1]

ज्ञान का उदय होने पर मनुष्य के सचित कर्म (जन्म-जन्मान्तर के तथा इस जन्म के पूर्वकृत कर्म, जो अन्त करण मे एकत्रित रहते हैं तथा जिनका फल मिलना शेष होता है) नष्ट हो जाते है अर्थात् उनके सस्कार ही नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानवान् पुरुष को प्रारब्ध कर्म (सचित कर्मों मे से ही वर्तमान जन्म मे फल देनेवाले कुछ कर्म) का फलभोग रहने पर भी उनके दु ख-सुख प्रभाव का अनुभव नही होता, क्योकि उसकी देहात्मबुद्धि (मैं देह हूँ, यह विचार) न रहने के कारण वह सर्वत्र आत्मदर्शन अथवा परमात्मदर्शन करता है। वह भोक्ता नही रहता, मात्र द्रष्टा रहता है। प्रारब्ध कर्म का फल होते रहने पर भी ज्ञानी उसमे लिप्त नही होता, अतएव उसकी दृष्टि मे प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाता है। ज्ञानी के क्रियमाण (जो किये जा रहे हैं) कर्म निर्बीज हो जाते हैं, क्योकि वह लिप्त होकर कर्म नही करता तथा अलिप्त रहता है। ज्ञानोदय के कारण क्रियमाण कर्म भस्म होते रहते हैं। ज्ञान के आलोक मे पापकर्म होना सम्भव नही होता, अतएव ज्ञानी उत्तम कर्म ही करता है, यद्यपि वह पाप-पुण्य के स्तर से ऊपर उठकर कर्मबन्धन से मुक्त रहता है। प्रारब्ध कर्म के फलभोग (जिसे अवश्य भोगना पडता है) की अवधि समाप्त होने पर ज्ञानी शरीर त्याग देता है (वह मरता नही है) तथा शरीर का उच्छेद होने पर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[1]

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ससार मे आत्मज्ञान से बढकर निस्सन्देह पवित्र करनेवाला कुछ अन्य नही है तथा आत्मबल से बढकर निश्चय ही बल देनेवाला अन्य कुछ नही है। ज्ञान के सदृश यज्ञ, तप, दान इत्यादि भी अन्त करण को शुद्ध करने मे समर्थ नही है।[2] प्रायश्चित्त आदि से पाप तो क्षीण हो जाते हैं, किन्तु ज्ञान से पाप और पुण्य दोनो के बन्धन समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान का अर्थ है दिव्य प्रकाश।

भगवान् श्रीकृष्ण यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि कर्मयोग का अभ्यास करने से कालान्तर मे इस दुर्लभ ज्ञान का उदय स्वय ही हो जाता है। कर्मयोगी को ज्ञान-प्राप्ति के लिए कोई साधन नही

---

१ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
—मुण्डक उप०, २ २ ८

—अर्थात् उस पर और अवर (ब्रह्म एवं जीवात्मा-स्वरूप) परमब्रह्म परमात्मा का दर्शन होने पर मनुष्य की हृदय-ग्रन्थि का भेदन हो जाता है (चेतन और जड की गाँठ खुल जाती है और मनुष्य जड देहादि वस्तुओ मे आत्माभिमान नही करता) तथा उसके समस्त सशय मिट जाते हैं और कर्म क्षीण (नष्ट) हो जाते हैं। (हृदय-ग्रन्थि अज्ञान के कारण होती है तथा ज्ञान से खुल जाती है।) हृदय-ग्रन्थि जीवभाव अथवा लिङ्ग-शरीर का भी वाचक है।

सन्त तुलसीदास कहते हैं—

तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा,
उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा।
छोरन ग्रंथि पाव जौ सोई,
तब यह जीव कृतारथ होई॥

---

१ तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति। —छान्दोग्य उप०, ६ १४ २

—ज्ञानी व्यक्ति का तभी तक मोक्ष-प्राप्ति मे विलम्ब होता है, जब तक उसका शरीरपात होता है।

'यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिणाम्।'
—ब्रह्मसूत्र, ३ ३ ३२

—अर्थात् अधिकारी पुरुषो का तब तक (प्रारब्ध कर्म के फलभोग का) अधिकार रहता है, जब तक अवस्थिति (शरीर की स्थिति) रहती है।

२ 'न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते', भगवान् श्रीकृष्ण की अत्यन्त प्रसिद्ध उक्ति है।

करना पडता। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का ज्ञान-प्राप्तिरूप एक ही परिणाम होता है।

**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**
**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥**

**शब्दार्थ :** श्रद्धावान् तत्परः सयतेन्द्रियः ( सन् ) ज्ञान लभते=श्रद्धावान् पुरुष प्रयत्न मे तत्पर तथा जितेन्द्रिय होकर ज्ञान को प्राप्त होता है, **ज्ञान लब्ध्वा अचिरेण परा शान्ति अधिगच्छति**=ज्ञान को प्राप्त करके अविलम्ब परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

**वचनामृत :** श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान-प्राप्ति के साधन मे तत्पर ( निष्ठावान् ) एव जितेन्द्रिय होकर ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञान प्राप्त करने पर वह तत्काल ही परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण श्रद्धा का महत्त्व वता रहे हैं। यह श्लोक अत्यन्त प्रख्यात है।

**रसामृत :** ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग मे श्रद्धा का विशेष महत्त्व है। महान् ग्रन्थो एव शास्त्रो के पाण्डित्य का अभिमान मनुष्य को तत्त्वानुभूति से दूर कर देता है। अगणित सरलचित्त सन्तगण बौद्धिक ज्ञान के बिना ही आत्मबोध प्राप्त करके दिव्यानुभूति कर लेते हैं। ससिद्ध महापुरुष के सान्निध्य मे श्रद्धापूर्वक शरणापन्न होने से आत्म-बोध सहज ही सुलभ हो जाता है। श्रद्धा होने पर सद्गुरु एव सद्ग्रन्थ प्रभावी होते है तथा श्रद्धा-शून्य होने पर वे निष्प्रभाव हो जाते हैं। श्रद्धा अर्थात् विनम्र आदर-भावना होने पर ही ज्ञान का ग्रहण सम्भव होता है। श्रद्धालु मनुष्य विनीत एव ग्रहणशील होता है। श्रद्धा और विश्वास होने पर मनुष्य साधना-क्षेत्र मे लक्ष्य-प्राप्ति के लिए तत्पर हो जाता है। श्रद्धा समस्त साधना के मूल मे सस्थित होती है। श्रद्धारहित मनुष्य दम्भी एव मिथ्याभिमानी होता है तथा वह कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नही कर सकता। सरस्वती के द्वार मे श्रद्धापूर्वक नीचे झुकने से ही प्रवेश सम्भव होता है तथा अभिमानी पुरुष वहाँ से खाली हाथ ही लौट जाता है। श्रद्धावान् मनुष्य का प्रत्येक कर्म अनन्त फल देता है,[१] श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है तथा वसु ( धन, समृद्धि, सौभाग्य ) प्राप्त होता है।[२] श्रद्धा से ज्ञानरूप अग्नि प्रज्वलित होती है।[३] श्रद्धा और विश्वास होने पर ही परमात्मा की प्राप्ति होती है, तर्क से नही होती।[४] तर्क की एक सीमा होती है तथा बुद्धि मनुष्य को तर्क द्वारा परमात्मा तक नही पहुँचा सकती। परमात्मा तर्कातीत एव बुद्धि से परे है। दिव्यानुभूतिसम्पन्न महात्माओ के सान्निध्य एव सस्पर्श द्वारा श्रद्धालु व्यक्ति सूक्ष्म स्तर पर दिव्य अनुभूति प्राप्त कर लेता है। महात्मा पुरुष का आसाधारण तेज, उसकी अलौकिक शक्ति, उसकी अविचल शान्ति, उसका विलक्षण प्रभाव, उसका निष्कपट व्यवहार और उसकी बालसुलभ सरलता उसकी दिव्यता को प्रमाणित कर देते हैं।

---

१. **श्रद्धाविधिसमायुक्तं कर्म यत् क्रियते नृभिः।**
**सुविशुद्धेन भावेन तदनन्ताय कल्पते ॥**

—याज्ञवल्क्य

—अर्थात् श्रद्धायुक्त कर्म का फल अनन्त होता है।

२ **श्रद्धया सत्यमाप्यते श्रद्धया विन्दते वसु.।**

३ **श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः।**

—श्रद्धा से अग्नि जलती है, श्रद्धा से हवि डाली जाती है। श्रद्धा ही प्रधान है।

४. **भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।**
**याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥**

—रामचरित मानस

—भवानी और शकर श्रद्धा और विश्वास के रूप हैं, जिनके विना सिद्ध पुरुष भी अपने भीतर स्थित परमात्मा को नही देख पाते।

**श्रद्धा बिनु धर्म नहि होई,**
**बिनु महि गंध कि पावइ कोई।**

ऋग्वेद मे श्रद्धादेवी का आवाहन किया गया है—

**श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।**
**श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।**

—ऋग्वेद, १० १५१ ५

श्रद्धावान् पुरुष सद्‌गुरु के वचन मे विश्वास करके साधना के लिए तत्पर हो जाता है। आध्यात्मिक साधना की सफलता के लिए आत्मानुशासन होना अर्थात् मनुष्य का जितेन्द्रिय होना अत्यन्त आवश्यक होता है। श्रद्धावान् पुरुष को जितेन्द्रिय होने मे कठिनाई नही होती, क्योकि वह सरलतापूर्वक भौतिक विषयो के प्रति वैराग्यवान् होकर मन तथा इन्द्रियो को सयत कर लेता है। श्रद्धावान् पुरुष सयतेन्द्रिय एव सावधान होकर आध्यात्मिक साधना मे तत्पर रहता है तथा तत्त्वज्ञान द्वारा परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है। परमात्मा ही शान्ति का परम धाम है तथा श्रद्धावान् पुरुष परमात्मा के साथ सयुक्त होकर परम शान्ति प्राप्त कर लेता है।

श्रद्धावान् पुरुष परमात्मा को प्राप्त होकर जीवनकाल मे जीवन्मुक्त-अवस्था मे रहता है तथा शरीरपात होने पर कैवल्य अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। श्रद्धा समस्त सुख, समृद्धि एव शान्ति का मूलाधार है।

**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च सशयात्मा विनश्यति।**
**नाय लोकोऽस्ति न परो न सुख सशयात्मन. ॥४०॥**

**शब्दार्थ** अज्ञ च अश्रद्दधान. च सशयात्मा विनश्यति = ज्ञानरहित तथा श्रद्धारहित तथा सशययुक्त मनुष्य नष्ट हो जाता है, सशयात्मन न सुख न अयं लोक. न पर. अस्ति = सशययुक्त मनुष्य का न सुख, न यह लोक, न परलोक है।[1]

**वचनामृत** . ज्ञानरहित, श्रद्धारहित तथा सशययुक्त मनुष्य नष्ट हो जाता है। सशययुक्त मनुष्य को सुख नही प्राप्त होता। उसे न यह लोक सुखदायक रहता है और न परलोक ही।

**सन्दर्भ :** गुरुजन इत्यादि के प्रति श्रद्धा न करना तथा सदैव सशय करते रहना मनुष्य को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।

१ शङ्कराचार्य आस्तिक्य बुद्धि को श्रद्धा कहते हैं। 'आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा।'

**रसामृत** : श्रद्धा मनुष्य को ज्ञान-ग्रहण के लिए सुपात्र बना देती है। श्रद्धावान् मनुष्य विनीत होता है तथा सदा प्रसन्न रहता है। श्रद्धा का अर्थ विवेक का त्याग अथवा अन्धविश्वास नही है, बल्कि उत्तम पुरुषो के प्रति आदरभाव रखकर उनसे जीवन को समुन्नत, सफल, सार्थक एव सुखमय बनाने का मार्ग पूछना तथा उसे भली प्रकार समझकर उसका अनुसरण करने की प्रेरणा लेना है। गुरु श्रीकृष्ण शिष्य अर्जुन से श्रद्धा और परिप्रश्न का समन्वय करने का उपदेश करते हैं। अर्जुन एक आदर्श शिष्य है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश का श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है तथा विचार की स्पष्टता के लिए अनेक प्रश्न पूछता है।

मनुष्य अपनी अपेक्षा अधिक ज्ञानी और अनुभवी व्यक्ति के प्रति श्रद्धावान् होकर ही कुछ सीख सकता है अथवा ग्रहण कर सकता है। श्रद्धावान् पुरुष साधनारत एव सयतेन्द्रिय होकर परमशान्ति प्राप्त कर लेता है। श्रद्धा समस्त कर्तव्यो के निर्वाह मे हितकारिणी होती है तथा श्रद्धा से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यदि शिष्य निष्कपट है तथा उसकी श्रद्धा सच्ची है तो परमात्मा स्वय मूर्ख गुरु के भी माध्यम से शिष्य का मार्गदर्शन कर देता है। श्रद्धा से उद्धार होता है। श्रद्धा शिष्य को ससार-सागर से पार कर देती है। श्रद्धारहित सत्कर्म, पुण्यदान आदि निष्फल होता है।[1]

१. श्रद्धैव सर्वधर्माणा मातेव हितकारिणी।
श्रद्धयैव नृणा सिद्धिर्जायते लोकयोर्द्वयो: ॥
श्रद्धया भजत पुस शिलापि फलदायिनी।
मूर्खोऽपि पूजितो भक्त्या गुरुर्भवति ज्ञानद ॥
श्रद्धया भजतो मन्त्रस्त्वसद्योऽपि फलप्रद ।
श्रद्धया पूजितो देवो नीचस्यापि वरप्रद ॥
अश्रद्धया कृता पूजा दान यज्ञस्तपो व्रतम्।
सर्वं निष्फलता याति पुष्प बन्धुतरोरिव ॥
—हरिवश पुराण, ३ १५-१९

अर्थात् श्रद्धा सब धर्मों ( कर्तव्यो ) की माता के सदृश हितकारिणी है। श्रद्धा से दोनो लोको मे मनुष्यो की सिद्धि

इसके विपरीत जो मनुष्य ज्ञानशून्य है तथा अपने को सभी दूसरो से अधिक ज्ञानवान् और चतुर समझने के कारण न किसीके प्रति श्रद्धा करता तथा न किसीमे विश्वास करता है अर्थात् सदा सशय ही करता रहता है, वह जीवन मे न कुछ सीखता है और न कुछ ग्रहण करता है तथा सदा व्याकुल रहकर अन्त मे नष्ट हो जाता है।

गुणवान् पुरुष का आदर करते हुए उससे सीखकर अपने कल्याण का उपाय करना मनुष्य के लिए परम हितकर होता है। इसके विपरीत मिथ्याभिमान के कारण कही नतमस्तक होकर न सीखना विनाश का लक्षण होता है। सभी मनुष्य किसी न किसी मात्रा मे अपूर्ण है, किन्तु अपनी अपेक्षा अधिक गुणवान् के समक्ष नतमस्तक होना न केवल उत्तम शील का परिचायक है, अपितु कल्याण एव परम शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर देता है। यदि कोई अज्ञ है, किन्तु श्रद्धापूर्ण है वह साधनपरायण हो सकता है तथा उसका कल्याण होना सम्भव है, किन्तु यदि कोई अज्ञ होते हुए अश्रद्दाधान (श्रद्धाविहीन) भी है तथा मिथ्या अभिमान के कारण किसी पर भी विश्वास नही करता एव सर्वत्र सशययुक्त है, वह आध्यात्मिक अथवा जागतिक किसी क्षेत्र मे सफल नही होता तथा उसका नष्ट-भ्रष्ट होना निश्चित है। सशयात्मा को ससार मे कोई मनुष्य अथवा कोई पदार्थ सुख नही दे सकता। सर्वत्र सशय की दृष्टि रखनेवाला मनुष्य कुछ समझने का प्रयत्न नही करता तथा केवल आलोचना करता है। वह अन्त मे अपने प्रति भी सशययुक्त होकर व्याकुल हो जाता है तथा उसे इस लोक मे अथवा परलोक मे कही भी सुख प्राप्त नही होता।

होती है। श्रद्धा से भजने पर पत्थर की मूर्ति भी फल दे देती है, मूर्ख भी ज्ञानप्रद गुरु वन जाता है। श्रद्धा से भजनेवाले असद् पुरुष का भी मत्र फलप्रद हो जाता है। श्रद्धा से पूजित देव निष्कृष्ट मनुष्य को भी वर दे देता है। अश्रद्धा से किया हुआ पूजा-दान, यज्ञ-तप, व्रत आदि सव निष्फल हो जाते हैं।

**'संशयात्मा विनश्यति'** (सर्वत्र सशय करनेवाला मनुष्य नष्ट हो जाता है)—यह स्मरण रखना चाहिए।

श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान का अधिकारी और सशयात्मा उसका अनधिकारी होता है। ज्ञान की महिमा अनन्त है। ज्ञान से मनुष्य सब बन्धनो से मुक्त हो जाता है, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है, ज्ञान से शोक दूर होता है, ज्ञान से मनुष्य दिव्य हो जाता है, ज्ञान से परम पद एव परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है तथा सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के साथ एकीभाव प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है। अतएव ज्ञान एव ज्ञानी जन के प्रति श्रद्धा करना अपने ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है। श्रद्धा से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।[1]

---

१ **अश्रद्धामनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापति.**—यजु० १९ ७७—परमेश्वर ने अश्रद्धा को असत्य मे तथा श्रद्धा को सत्य मे रखा है।

**यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति।**—छान्दोग्य उप० ७ १९.१—जव मनुष्य श्रद्धा करता है तब वह मनन करता है। विना श्रद्धा कोई मनन नही करता। श्रद्धा करनेवाला ही मनन करता है। अत श्रद्धा की विशेप रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।

**'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'** अर्थात् परमात्मा को जानकर सव वन्धनो से मुक्त हो जाता है।

**'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु विमुच्यते'** अर्थात् मनुष्य कर्म से बँधता है तथा ज्ञान से मुक्त होता है।

**'ज्ञानादेव तु कैवल्यं'** अर्थात् ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

**'तरति शोकं आत्मवित्'** अर्थात् आत्मा के ज्ञान से युक्त मनुष्य शोक को पार कर लेता है।

**'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति'** अर्थात् परमात्मा को जानकर मृत्यु को पार कर लेता है।

**'ब्रह्मविद् मुक्तो भवति'** अर्थात् परमात्मा को जाननेवाला मुक्त हो जाता है।

**योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।**
**आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥**
**तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।**
**छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥**

**शब्दार्थ :** धनञ्जय = हे अर्जुन, **योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयं आत्मवन्तं** = योग (कर्मयोग, समत्वबुद्धियोग) द्वारा कर्मों को भगवदर्पण करनेवाले, ज्ञान (अर्थात् विवेक) द्वारा संशयों को नष्ट करनेवाले आत्मवान् पुरुष को (सावधान अथवा अन्तःकरण को वश में रखनेवाले पुरुष को) **कर्माणि न निबध्नन्ति** = कर्म बन्धन में नहीं डालते। **तस्मात्** = इस कारण से, **भारत** = हे भरतवंशी अर्जुन, **अज्ञानसंभूतं हृत्स्थं एनं आत्मनः संशयं** = अज्ञान में उत्पन्न हृदय में स्थित इस अपने संशय को, **ज्ञानासिना छित्त्वा** = ज्ञानरूप असि (तलवार) से काटकर, **योगं आतिष्ठ उत्तिष्ठ** = कर्मयोग में स्थित हो जा और उठ खड़ा हो।[1]

**वचनामृत :** हे अर्जुन, जिसने योग से (कर्मयोग की विधि से) कर्मों का त्याग (भगवदर्पण) कर दिया है, जिसने विवेक द्वारा संशयों को नष्ट कर दिया है तथा जिसने अपने अन्तःकरण को वश में किया है, ऐसे पुरुष को कर्म नहीं बाँधते। अतः हे अर्जुन, तू अज्ञान से उत्पन्न तथा हृदय में स्थित इस अपने संशय को ज्ञानरूप तलवार से काटकर कर्मयोग में स्थित हो जा और उठ खड़ा हो।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण संशयवृत्ति पर प्रहार करते हैं। इन श्लोकों में ज्ञानयोग एवं कर्मयोग का समन्वय स्पष्ट दिखाई देता है।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म उन पुरुषों के लिए बन्धनकारक नहीं होता, जिन्होंने समस्त कर्मों का संन्यास (त्याग) कर दिया और विवेक अथवा श्रुत ज्ञान द्वारा समस्त संशयों को निर्मूल कर दिया तथा अपने को वश में कर लिया है। कर्म करते हुए भी कर्म से ऊपर उठे रहना अथवा कर्म से सम्बन्ध न करना कर्म का त्याग है।

ज्ञानयोगी अपने आत्मा को अपना स्वरूप मानता है तथा देह, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि को अपना स्वरूप नहीं मानता। वह आत्मा को मात्र द्रष्टा मानता है तथा कर्ता-भोक्ता नहीं मानता। सर्वत्र परम ब्रह्म परमात्मा ही वास्तविक सत्ता के रूप में व्याप्त है तथा मनुष्य की आत्मा उसका अंश है। दिव्य तत्त्व का अंश भी दिव्य है। ज्ञानयोग के मार्ग पर चलते हुए ज्ञाननिष्ठा होने पर (अर्थात् परमब्रह्म के साथ एकात्मता होने पर) योगी के समस्त कर्म संन्यस्त हो जाते हैं अर्थात् छूट जाते हैं तथा वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त अवस्था में वह सहजभाव से लोककल्याण के लिए कर्म करता है तथा कर्म करते हुए भी वह कर्मबन्धन में नहीं पड़ता।

कर्मयोगी समत्वबुद्धिरूप योग (सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, सफलता-विफलता इत्यादि में सम रहते हुए कर्म करना) में स्थित होकर अपने समस्त कर्म भगवान् को अर्पण कर देता है। कर्मयोगी के लिए कर्मसमर्पण ही कर्मत्याग है। वह परमेश्वर में सम्पूर्ण कर्मों को संन्यस्त अर्थात् अर्पित कर देता है। सद्गुरु श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग का अधिकारी मानकर उसे कर्मयोग में ही स्थित होकर कर्म करने का उपदेश करते हैं।

श्रीकृष्ण अर्जुन को ज्ञानरूप खड्ग (तलवार) द्वारा संशय का छेदन करके कर्मयोग में डट जाने का (अनासक्त होकर निष्काम कर्म करने का) आदेश देते हैं।[1] संशय मनुष्य को किसी भी क्षेत्र में

---

'ये एतद् विदुः अमृतास्ते भवन्ति' अर्थात् जो परमात्मा को जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं।

**'ये विदुः यान्ति ते परम्'**—जो परमात्मा को जानते हैं वे परमपद को प्राप्त होते हैं।

**'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति'**—शिव को अर्थात् कल्याणस्वरूप आत्मा को जानकर अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है। (शंकरानन्द ने अपनी टीका में अनेक उक्ति एवं युक्ति प्रस्तुत की हैं।)

१ विभिन्न विद्वानों ने इन श्लोकों के अन्तर्गत 'योग' तथा 'ज्ञान' के विभिन्न अर्थ किये हैं।

१ 'ज्ञान' का अर्थ गीता में अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से किया गया है। ४१, ४२ श्लोकों में 'ज्ञान' का

आगे बढने नही देता तथा स्थिरबुद्धि होने के लिए इसका छेदन करना आवश्यक होता है। सशय होने पर मनुष्य अपने कर्तव्य का निश्चय एव कर्म का निर्धारण नही कर सकता। मनुष्य विचार एव विवेक द्वारा सशय से अवश्य ही मुक्त हो सकता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग मे आरूढ होकर कर्म करने का अर्थात् कर्मयोगी की भाँति आसक्ति एव कामना को छोडकर निष्काम भाव से कर्म करने तथा कर्म को भगवदर्पण करने का उपदेश करते हैं तथा वर्तमान परिस्थिति में समस्त सशय त्यागकर, युद्ध के लिए कृतनिश्चय होकर उठ खडा होने का आदेश देते हैं।

जगद्गुरु श्रीकृष्ण मानवमात्र को समस्त सशय त्यागकर अपने कर्तव्य का निश्चय करने तथा विषम परिस्थिति का डटकर सामना करने का उपदेश करते है।

**ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।**

ॐ तत् सत् ( वह परमब्रह्म सत् है )। महाभारत मे, भीष्मपर्व मे, भगवद्गीतारूप उपनिषद् मे, ब्रह्मविद्या योगशास्त्र मे, श्रीकृष्ण-अर्जुन सवाद मे ज्ञानकर्मसन्यासयोगनामक चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ। ( श्रीमत् शङ्कराचार्य ने इस अध्याय का नाम 'ब्रह्मयज्ञ-प्रशसा' रखा है। )

अर्थ 'विवेक' प्रतीत होता है, तत्त्वज्ञान नही। 'आत्मा' का अर्थ भी अनेक प्रकार से हुआ है तथा 'योग' का अर्थ भी विभिन्न प्रकार से किया गया है। 'योग' का अर्थ भी इन दोनो श्लोको मे 'कर्मयोग' ही है, क्योकि श्रीकृष्ण उपसहार करते हुए अर्जुन को कर्मयोग मे प्रतिष्ठित होने का उपदेश करते हैं।

## सार-संचय

### चतुर्थ अध्याय : ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

चतुर्थ अध्याय का नाम ज्ञानकर्मसन्यासयोग है। 'ज्ञान' का अर्थ तत्त्वज्ञान ( आध्यात्मिक ज्ञान, यथार्थ ज्ञान, परमार्थ ज्ञान ) है तथा 'कर्म' का अर्थ कर्मयोग, 'सन्यास' का अर्थ साख्ययोग अथवा ज्ञानयोग है। 'कर्मसन्यास' का अर्थ कर्म का त्याग अथवा कर्म करते हुए कर्म से सम्बन्ध न रखना एव कर्म से ऊपर उठना है।

प्रारम्भ मे श्रीकृष्ण कर्मयोग की परम्परा का वर्णन करते है तथा अवतार के रहस्य का निरूपण करते हैं। भगवान् स्वय अवतार लेकर धर्म की स्थापना एव अधर्म के उच्छेद द्वारा समाज की व्यवस्था का पुनर्निर्माण करते है तथा अपने आचरण के उदाहरण द्वारा मानवीय मूल्यो एव आदर्शो को पुनरुज्जीवित करते हैं। भगवान् जन-कल्याण के लिए सदाचार की रक्षा तथा दुराचार एव दुष्टता का दमन करते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि एक ही परमब्रह्म परमात्मा की उपासना अनेक देवी-देवताओ के रूप मे भी होती है तथा जो परमात्मा को जैसे भी भजता है, परमात्मा उसे वैसे ही स्वीकार कर लेता है।[1] ब्रह्मज्ञानी सर्वत्र परमब्रह्म का दर्शन करता है। सब कुछ तथा मैं स्वय ब्रह्म ही हैं।[2] परमब्रह्म सर्वगत

१ परिव्राजकशिरोमणि शङ्कराचार्य ने निर्गुण निराकार परमात्मा की उपासना के अतिरिक्त पञ्चदेव ( शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु और सूर्य ) के रूप मे सगुण साकार उपासना का समर्थन किया है। अतएव उन्हें षण्मतसस्थापनाचार्य कहा गया है। शिव, शक्ति और गणेश विशेषत योग-साधना के उपास्य देव हैं, विष्णु विशेषत भक्ति-साधना के उपास्य देव तथा सूर्य प्रत्यक्ष देव हैं। श्रीराम तथा श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार हैं।

२. **सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव**—यह सब और मैं ब्रह्म ही है।

एव सर्वव्यापक है। इसी प्रकार भक्त भी सर्वत्र हरि-दर्शन करता है। वह कही अकेला नही रहता तथा उसे समस्त प्रकृति (वृक्ष, पर्वत, नदी, नद, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, ग्रह इत्यादि) सजीव एव देवमय प्रतीत होती है।[1] कर्मयोगी कर्तव्य-कर्म करता है, किन्तु अलिप्त रहने से उसका कर्म अकर्म हो जाता है अर्थात् उसके अन्त करण मे कर्म का सस्कार नही रहता। वह विकर्म (निषिद्ध कर्म, कुकर्म) तो कदापि करता ही नही है।

भगवान् को प्राप्त होने के लिए अनेक यज्ञ किये जाते हैं तथा सभी प्रशसनीय होते है। द्रव्य-यज्ञो मे द्रव्य की अपेक्षा उत्तम भावना (यज्ञ-भावना, सेवा-भावना, श्रद्धा-भावना) का अत्यधिक महत्त्व होता है तथा द्रव्ययज्ञो की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक कठिन, किन्तु श्रेयस्कर होता है। श्रीकृष्ण ज्ञान की महिमा का वर्णन विस्तारपूर्वक करते हुए कहते हैं कि मनुष्य श्रद्धायुक्त तथा जितेन्द्रिय होकर ज्ञान प्राप्त कर सकता है तथा सशयग्रस्त मनुष्य विनष्ट हो जाता है। अन्त मे, श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग का अधिकारी मानकर कर्म करने का उपदेश एव आदेश देते हैं।

कर्मयोगी के जीवन मे मानसिक अनुशासन का विशेष महत्त्व है। मन तथा शरीर का परस्पर सम्बन्ध है। मन के चिन्तन का शरीर पर तथा शरीर के स्वास्थ्य का मन पर प्रभाव होता है। मन के सुखी अथवा दु खी होने पर शरीर स्वस्थ अथवा शिथिल हो जाता है तथा शरीर के स्वस्थ अथवा अस्वस्थ होने पर मन प्रसन्न अथवा उदास हो जाता है। किन्तु वास्तव मे, मन शरीर पर शासन करता है तथा शरीर पर मन का ही प्रभुत्व होता है। मानसिक अनुशासन से अर्थात् मन को सयत एव नियन्त्रित करने से शरीर को नियन्त्रित करना सम्भव होता है। कर्मयोगी अपने मन और इन्द्रियो को सयत एव नियन्त्रित रखकर ही प्रलोभनो पर विजय पा सकता है तथा कर्तव्य-मार्ग मे दृढ रह सकता है। सासारिक पदार्थो की आसक्ति चित्त को चञ्चल एव अशान्त कर देती है तथा आसक्तिग्रस्त मनुष्य न कोई उत्तम उपलब्धि कर सकता है, न शान्त ही रह सकता है। आसक्ति ही मोह का रूप धारण करके मनुष्य के विवेक का हरण कर लेती है तथा बुद्धि को असन्तुलित कर देती है। मोह के कारण मनुष्य भावुक होकर कर्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। कर्मयोगी सहृदय एव करुणाशील तो होता है, किन्तु भावुकता के प्रवाह मे नही बहता। उत्तम भावना विकृत होकर भावुकता बन जाती है। भावुक मनुष्य दृढता से परिस्थिति का सामना नही कर सकता, बल्कि शोक, क्रोध अथवा निराशा से ग्रस्त होकर दयनीय अवस्था को प्राप्त हो जाता है। मोह के कारण ही मनुष्य वस्तुओ के आवश्यकता से अधिक परिग्रह की कामना से ग्रस्त हो जाता है। कर्मयोगी भोग से त्याग की ओर बढता रहता है तथा त्यागपूर्वक भोग करता है। त्याग की महिमा अपार है। त्याग से ही शान्ति प्राप्त होती है। त्याग-वृत्ति मनुष्य के मन को ऊँचा उठा देती है, भोग-वृत्ति मन को नीचे की ओर ले जाती है। दूसरो के हित मे अथवा समाज के हित मे त्याग करना व्यक्ति तथा समाज दोनो के लिए श्रेयस्कर होता है। अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर जन-समाज के हित को दृष्टि

---

१. खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरे शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्य ॥
—श्रीमद्भागवत, ११ २ ४१

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाऐं, वृक्षादि, नदियाँ, समुद्र इत्यादि सब कुछ हरि का शरीर है तथा सबको अनन्यभाव से प्रणाम करना चाहिए। (यह मानव-जीवन की उपयोगी वस्तुओ एव वनस्पतियो तथा प्राणियों के प्रति आत्मीयता का विस्तार है। गौ, तुलसी, मातृभूमि आदि को मातासदृश मानना मातृभावना का विस्तार है। भगवान् का भक्त कही अकेला नही रहता।)

# अथ पञ्चमोऽध्यायः

## कर्मसंन्यासयोग

अर्जुन उवाच

**संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।**
**यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, कृष्ण=हे कृष्ण, कर्मणा संन्यासं च पुनः योगं शंससि=आप कर्मों के सन्यास की और फिर कर्मयोग की प्रशसा करते हैं, एतयोः एकं यत् सुनिश्चितं श्रेयः=इन दोनो मे एक जो निश्चित रूप से कल्याणकारक हो, तत् मे ब्रूहि=उसे मुझे बतायें ।

**वचनामृत :** अर्जुन ने कहा, हे श्रीकृष्ण, आप कर्मों के सन्यास की और फिर कर्मयोग की प्रशसा करते हैं । अत दोनो मे से जो भी एक निश्चित रूप से कल्याणकारी है, उसे कहिये ।

**सन्दर्भ :** अर्जुन यह स्पष्ट करना चाहता है कि कर्मसन्यास तथा कर्मयोग मे कौनसा उपयुक्त है ।

**रसामृत :** अर्जुन श्रीकृष्ण से दार्शनिक तत्त्वो की स्पष्ट व्याख्या चाहता है और भ्रम मे स्थित नही रहना चाहता । श्रीकृष्ण[1] एक आदर्श गुरु है तथा परिप्रश्नो को प्रोत्साहित करते है और विस्तारपूर्वक सभी तथ्यो का विवेचन करते है, यद्यपि उन्हे अनेक बार पुनरुक्ति भी करनी पडती है ।

श्रीकृष्ण से कर्मसन्यास के उपदेश के साथ ही कर्मयोग का भी उपदेश[1] सुनकर अर्जुन सद्गुरु से दोनो के स्पष्टीकरण के लिए निवेदन करता है तथा उनसे यह बताने का भी अनुरोध करता है कि दोनो मे उसके लिए कौन-सा कल्याणकारी है । कर्म-सन्यास का अर्थ साख्ययोग अथवा ज्ञानयोग है तथा पूर्ण ज्ञान होने पर कर्मों का सन्यास ( न कि मात्र कर्मों का त्याग ) है, किन्तु अर्जुन श्रीकृष्ण से इसकी स्पष्ट व्याख्या के लिए निवेदन करता है तथा यह निर्णय भी गुरु से ही माँगता है कि उसके लिए इनमे से कौन-सा अधिक कल्याणकारी है । उसे एक ही समय मे चक्षु उन्मीलन ( खोलना ) तथा निमीलन ( बन्द करना ) के सदृश कर्मसन्यास तथा कर्मयोग परस्पर विरुद्ध तथा असङ्गत प्रतीत होते हैं । अतएव वह सद्गुरु से शङ्का के समाधान के लिए निवेदन करता है ।

प्रकाश के प्रसारण के लिए दो ही मार्ग है—प्रकाशपुञ्ज होना अथवा प्रकाशपुञ्ज के प्रकाश का परावर्तन करना । जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण

---

१. कृष्ण के अनेक अर्थ है—

ॐ कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचक. ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् कृषि भू ( सत् ) का तथा ण निर्वृति ( आनन्द ) का वाचक है और 'कृष्ण' का अर्थ सत् आनन्द है । ( विष्णुपुराण )

कृष्णाति निवारयति अज्ञानदोषानिति कृष्ण. अर्थात् भक्त के अज्ञान दोषो का निवारण करनेवाला कृष्ण ।

कर्षति आकर्षति इति कृष्णः अर्थात् आकर्षित करने-वाला कृष्ण ।

१. अध्याय ४ के श्लोक ४१ मे श्रीकृष्ण ने कहा कि कर्मों का सन्यास करनेवाले पुरुष को कर्म नही बाँधते तथा श्लोक ४२ मे उससे कहा कि तू कर्मयोग मे स्थित हो जा । इससे उसके मन मे भ्रम उत्पन्न हो गया ।

परस्पर द्वेष से वातावरण विषाक्त हो जाता है। सबके सोचने तथा कार्य करने की शैली अलग-अलग होती है, अतएव एक-दूसरे की आलोचना करने के स्थान पर एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझना तथा सहयोग करना परिवार के उत्थान के लिए परम आवश्यक होता है। जो मनुष्य दूसरो मे दोष देखता रहता है, वह अपने दोष नही देख पाता तथा अपना सुधार नही कर पाता। व्यक्ति तथा परिवार के जीवन मे आदर्श पालन से ही सौन्दर्य का समावेश होता है। कर्मयोगी का कर्म-क्षेत्र धीरे-धीरे विस्तृत एव व्यापक होता चला जाता है। कर्मयोगी का स्वभाव भी उत्तरोत्तर राग द्वेषरहित, सहनशील, क्षमाशील और उदार होता रहता है। परिवार के सगठन और समृद्धि का सदुपयोग जन-समाज के कल्याण के लिए होने पर ही परिवार की कृतार्थता होती है। जहाँ अतिथि, दीन-दुखी जन, पशुओ और पक्षियो की सेवा होती है, वह गृहस्थ धन्य होता है। श्रीकृष्ण का अर्जुन को आदेश—पुरुषार्थ, प्रार्थना और सन्तोष, स्वार्थ त्याग दो, त्याग दो रोष।' •

---

१ मराठी भाषा का प्रख्यात अभग है—

काम क्रोध आड पडिले पर्वत।

राहिला अनन्त पैलीकडे॥

अर्थात् काम-क्रोधरूप पर्वत राह में खडे हैं, भगवान् उनके परे है।

ज्योतिस्वरूप हैं तथा आदर्श शिष्य अर्जुन निर्मल दर्पण की भाँति सम्यक् प्रकार से उनसे दिव्यज्योति ग्रहण कर उसे परावर्तित कर देता है।

श्रीभगवानुवाच

**सन्यास कर्मयोगश्च नि.श्रेयसकरावुभौ।**
**तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच = श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, सन्यास. च कर्मयोग उभौ नि श्रेयसकरौ = कर्मों का सन्यास तथा कर्मयोग ये दोनो कल्याणकारक हैं, ( श्रेय = कल्याण, नि श्रेयस = परम कल्याण, मुक्ति, नि श्रेयस-करौ = नि श्रेयस करनेवाले दो ), तु तयो. कर्मसन्यासात् कर्मयोग विशिष्यते = किन्तु उन दोनो मे कर्मसन्यास ( ज्ञानपूर्वक कर्म-परित्याग ) से कर्मयोग ( निष्काम कर्म करना अर्थात् फल की इच्छा छोडकर कर्म करना तथा सुख-दु ख आदि मे सम रहकर परमात्मा को कर्मों का समर्पण करना ) विशेष ( अधिक अच्छा ) है।

**वचनामृत .** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, सन्यास एव कर्मयोग दोनो ही कल्याणकारक ( मोक्ष के साधन ) है, किन्तु इन दोनो मे कर्मसन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट अर्थात् प्रशस्यतर है।

**सन्दर्भ** 'कर्मसन्यास'[1] तथा कर्मयोग दोनो कल्याण के साधन है, किन्तु अर्जुन के लिए कर्मयोग अधिक उपयुक्त है।

**रसामृत :** कर्मसन्यास तथा निष्काम रूप से कर्मों का अनुष्ठान दोनो ही कल्याणकारक एव मोक्षप्रद हैं। कर्मसन्यास साख्यमार्ग ( ज्ञानमार्ग ) का वाचक है। एक ही लक्ष्य को प्राप्त होने के लिए दो विभिन्न मार्ग है तथा दोनो कल्याणकारक हैं। यद्यपि दोनो उत्तम हैं, मनुष्य अपनी रुचि एव स्वभाव के अनुसार इनमे से एक का वरण कर सकता है। मोह-भ्रम एव सशय से ग्रस्त अर्जुन के लिए कर्मयोग का अधिकार है।[1] वास्तव मे प्राय सभी मनुष्य अर्जुन की भाँति मोह एव सशय से ग्रस्त होते है तथा प्राय सभी के लिए कर्मयोग अधिक सुगम, सहज और सरल है। दोनो मार्ग भिन्न हैं, किन्तु परस्पर विरोधी नही है। साख्य ( ज्ञान ) मे विचार, चिन्तन, मनन, अन्तर्दृष्टि एव आत्मज्ञान पर तथा कर्मयोग मे कर्मशीलता, समत्व-बुद्धि एव ईश्वरार्पण पर बल दिया गया है। अर्जुन की अवस्था को देखकर श्रीकृष्ण ने कर्मयोग को अधिक उत्तम कहा है।

कर्मपरित्याग ज्ञान-मार्ग का अग है। वास्तव मे ज्ञान मे परिपक्व होने पर मनुष्य से कर्म छूट जाता है। [ सन्यास प्राय दो प्रकार का होता है– एक ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य तथा वानप्रस्थ आश्रमो मे कर्म करते हुए तथा राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि को क्षीण करके विविदिषा ( आत्मज्ञान की इच्छा ) तीव्र होने पर चौथे आश्रम मे सन्यास ( क्रम सन्यास ) तथा दूसरा प्रथमाश्रम मे ही वैराग्य का उदय होने के कारण सन्यास ( अक्रम सन्यास ) ग्रहण करना।[2] दोनो मे कर्म-परित्याग अगभूत हैं। गृहस्थ पुरुष के लिए कर्मयोग की साधना करना ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। ]

---

१ 'सन्यास' तथा 'सन्यासी' शब्द गीता मे अनेक स्थलों पर अनेक अर्थों मे प्रयुक्त हुए हैं। गीता मे 'सन्यास' का अर्थ प्राय साख्ययोग अथवा ज्ञानयोग है।

१ देशकालवयोऽवस्था बुद्धिशक्त्यनुरूपत ।
धर्मोपदेशो भेषज्यं वक्तव्यं धर्मपारगै· ॥

अर्थात् देश, काल, आयु, अवस्था, बुद्धि, शक्ति के अनुरूप औषधरूप धर्मोपदेश धर्मपारग ( धर्मज्ञ ) पुरुषों द्वारा दिया जाना चाहिए।

२ कषाय पाचयित्वा च श्रेणी स्थानेषु च त्रिषु।
प्रव्रजेत् च पर स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥
भावितै कारणैश्चाय बहुससारयोनिषु।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्ष वै प्रथमाश्रमे ॥
तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चित ।
त्रिष्वाश्रमेषु कोऽन्वर्थो भवेत् परमभीप्सित. ॥

तीनों आश्रमो में कषाय ( राग-द्वेष आदि ) को क्षीण कर उत्तम स्थान मे जाना चाहिए। जन्म-जन्मान्तर की साधना

कर्मानुष्ठान ( कर्म करना ) तथा कर्मसंन्यास ( कर्मत्याग ) का सम्पादन एक ही समय में सम्भव नहीं होता है। वास्तव में निष्काम कर्म करते रहने पर चित्त-शुद्धि होने पर कर्मयोगी में उसी आत्म-ज्ञान का उदय स्वयं हो जाता है, जिसे ज्ञानयोगी चिन्तन, मनन, वैराग्य आदि द्वारा प्राप्त करता है तथा तत्त्वज्ञान होने पर कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी में भेद नहीं रहता। तत्त्व-दर्शन की अवस्था में कोई कर्म अथवा कर्तव्य-पालन शेष नहीं रहता तथा कर्म-परित्याग हो जाता है। ज्ञानयोग ज्ञान-प्राप्ति का अन्तरङ्ग साधन है तथा कर्मयोग बहिरङ्ग साधन है।

ज्ञानयोगी इन्द्रियों और शरीर द्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओं को प्रकृति के गुणों का खेल मानकर तथा उनमें कर्तापन के अभिमान से रहित होकर केवल सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में ही अभिन्न भाव से रहता है। कर्मयोगी अपने को कर्मों का कर्ता मानकर उन्हें ईश्वर को अर्पण करके उनसे मुक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग की साधना का अधिकारी मानकर उसे कर्मयोग में डट जाने का उपदेश करते हैं।

**ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।**
**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥**

**शब्दार्थ :** महाबाहो=हे विशाल बाहुवाले वीर अर्जुन, यः न द्वेष्टि न काङ्क्षति स नित्यसंन्यासी ज्ञेयः=जो न द्वेष करता है, न इच्छा करता है वह सदा संन्यासी समझा जाने योग्य है, हि=क्योंकि, निर्द्वन्द्वः सुखं बन्धात् प्रमुच्यते=द्वन्द्वातीत पुरुष सुखपूर्वक संसाररूप बन्धन से मुक्त हो जाता है।

**वचनामृत :** हे वीर अर्जुन, जो पुरुष न किसी-से द्वेष करता है तथा न कोई कामना करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझा जाने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित मनुष्य सुखपूर्वक संसार-बन्धन ( कर्म-बन्धन ) से मुक्त हो जाता है।

**सन्दर्भ :** कर्मयोगी नित्यसंन्यासी है। यह एक प्रख्यात श्लोक है।

**रसामृत :** 'संन्यासी' शब्द मनुष्य की मानसिक एवं आध्यात्मिक उच्चावस्था का द्योतक होता है। संन्यासी लौकिक कर्म त्यागकर चिन्तन, मनन, ध्यान आदि द्वारा परमात्मा की प्राप्ति में संलग्न रहने के कारण सभी के लिए पूज्य होता है। किन्तु वह कर्मयोगी, जो किसीसे द्वेष अथवा घृणा नहीं करता तथा स्वार्थमय कामना नहीं करता और द्वन्द्वमुक्त रहता है, नित्यसंन्यासी है तथा उसका महत्त्व किसी अन्य संन्यासी से कम नहीं है। निष्काम भाव से कर्म करनेवाला तथा हर्ष-शोक, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, मान-अपमान, सफलता-विफलता में समबुद्धि रहनेवाला कर्मयोगी समस्त कर्म करते हुए भी सदा संन्यासी है। उसे संन्यास ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। अनेक पुरुष कर्म त्यागकर संन्यास तो ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु उनमें भौतिक पदार्थों का मोह तथा अपने-पराये का भेद बना रहता है। वे संन्यास ग्रहण करके भी अनधिकारी होने के कारण संन्यासी नहीं होते।

कर्मयोग ज्ञानयोग की अपेक्षा साधन में अधिक स्वाभाविक होने के कारण सुगम होता है। अपने देह को परमात्मा का यन्त्र मानकर प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर्म करनेवाला तथा प्रभु को समस्त कर्म अर्पण कर देनेवाला कर्मयोगी नित्यसंन्यासी है।

---

के कारण [illegible] वर्णित [illegible] से [illegible] में प्रवेश करते हैं।

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्। —जाबाल उप० [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

वास्तव मे राग-द्वेष ही चित्त को दूषित करते हैं तथा राग-द्वेष से विमुक्त होने पर मनुष्य का चित्त निर्मल हो जाता है। चित्त के निर्मल होने पर मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। जो राग द्वेष से मुक्त है अर्थात् जिसके मन मे भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति नही है तथा जो किसीसे घृणा नही करता, वह कर्म करते हुए भी प्रकृष्ट रूप से मुक्त है। राग-द्वेष से मुक्त मनुष्य निर्वन्ध (सर्वबन्धनरहित) होता है। अकर्मण्यता के कारण कुछ मनुष्य वैराग्य की आड लेकर सन्यास ग्रहण कर लेते हैं तथा कर्म छोड बैठते हैं। मात्र सन्यास ग्रहण कर लेने से चित्त निर्विकार नही हो जाता। निष्काम भाव से कर्म करने से चित्त निर्विकार एव निर्मल होकर स्थिर हो जाता है। राग-द्वेप-युक्त होने पर मनुष्य का अहङ्कार विकृत हो जाता है तथा राग-द्वेपमुक्त होने पर अहङ्कार का उदात्ती-करण एव दिव्यीकरण हो जाता है। राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकारो से ग्रस्त अहङ्कार ही परमात्मा की प्राप्ति मे बाधक होता है तथा अह-ङ्कार से मुक्त होने पर अर्थात् अहङ्कार के उदात्त एव दिव्य होने पर परमात्मा के साथ एकरूपता हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोगी को नित्यसन्यासी कहकर कर्मयोग की महिमा को प्रतिष्ठित किया है। कर्मयोग द्वारा मनुष्य सुख-पूर्वक बन्धनमुक्त हो जाता है, क्योंकि कर्मयोग सरल, सुगम एव स्वाभाविक है। प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर्म करना और प्रभु को ही समस्त कर्म समर्पित कर देना ज्ञान-मार्ग के कठिन अभ्यास की अपेक्षा अधिक सुगम है। श्रीकृष्ण अर्जुन को महा-बाहु अर्थात् पराक्रमी वीर कहकर यह सकेत कर रहे हैं कि उसने भीषण युद्धो में विजय प्राप्त की है, अतएव उसे कर्मयोग के पालन मे पूर्ण आशावान् होना चाहिए। गुरु श्रीकृष्ण पुन पुन अर्जुन की प्रशसा करके उसे आश्वस्त कर रहे हैं कि वह उनके उपदेश एव आदेश के पालन मे सक्षम है।

**साख्ययोगौ पृथग्बाला॰ प्रवदन्ति न पण्डिताः।**
**एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥**
**यत्साख्यैः प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते।**
**एकं साख्य च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥**

**शब्दार्थ :** साख्ययोगौ बाला॰ पृथक् प्रवदन्ति = साख्य (कर्मसन्याससहित ज्ञान) तथा कर्मयोग को अज्ञजन (मूर्खजन) पृथक् लक्ष्यवाले कहते हैं, न पण्डिता. = पण्डितजन ऐसा नही कहते, एक अपि सम्यक् आस्थित उभयो फलं विन्दते = (इनमे से) एक मे भी अच्छी प्रकार स्थित पुरुप दोनो के लक्ष्य अर्थात् परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। साख्यै. यत् स्थान प्राप्यते = ज्ञान-योगियो द्वारा जो परमपद प्राप्त होता है, योगै अपि तत् गम्यते = निष्काम कर्मयोगियो द्वारा भी वह प्राप्त हो जाता है, य साख्यं च योगं एक पश्यति सः च पश्यति = जो ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग को (लक्ष्य की दृष्टि से) एक देखता है, वह ही (वास्तव मे, ठीक प्रकार से, यथार्थरूप मे) देखता है।

**वचनामृत :** अविवेकी पुरुष साख्य (कर्म-परित्याग, कर्मसन्याससहित ज्ञान) तथा कर्मयोग को पृथक् लक्ष्यवाले कहते हैं, किन्तु पण्डितजन ऐसा नही कहते। इनमे से किसी एक मे अवस्थित होकर मनुष्य दोनो के लक्ष्य अर्थात् परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानयोगियो द्वारा जो परम-पद प्राप्त होता है, कर्मयोगियो द्वारा भी वह प्राप्त हो जाता है। जो ज्ञानयोग तथा कर्मयोग को (लक्ष्य की दृष्टि से) एक ही समझता है, वह ठीक समझता है।

**सन्दर्भ** ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का लक्ष्य एक ही है।

**रसामृत :** साख्ययोग (कर्मों के त्यागसहित ज्ञान अथवा ज्ञानयोग) परमार्थ तत्त्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान, परमात्मा का ज्ञान) का साधन है। साख्य-योग अथवा ज्ञानयोग से प्राप्त निष्ठा (स्थिति, अवस्था) तथा कर्मयोग से प्राप्त निष्ठा (स्थिति, अवस्था) दोनो मार्ग-भेद होने पर भी परमात्मा को प्राप्त करा देती हैं। ये दोनो निष्ठाएँ वास्तव

मे एक ही निष्ठा के दो स्वरूप हैं। साख्ययोग तथा कर्मयोग दोनो मे से किसी भी एक मार्ग का अनुसरण करने पर परमपद अथवा परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। जो मनुष्य इस तथ्य को जानता है वह विवेकशील है। गज तथा अश्व दोनो ही यात्रा के साधन हैं तथा दोनो का समान महत्त्व है। मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार किसी भी एक मार्ग को ग्रहण करके उसका अवलम्बन करना चाहिए।

**संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।**
**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥**
**योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।**
**सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥**

**शब्दार्थ :** तु=परन्तु, महाबाहो=हे वीर अर्जुन, अयोगत संन्यास. आप्तु दु खम्=निष्काम कर्मयोग के बिना सन्यास ( अर्थात् ज्ञाननिष्ठा एव कर्मों का त्याग ) प्राप्त होना कठिन है, **मुनिः योगयुक्तः ब्रह्म न चिरेण अधिगच्छति**=मुनि ( मननशील मनुष्य ) निष्काम कर्मयोग से युक्त होकर परमब्रह्म[1] परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। **विजितात्मा** ( अपने को वश मे किये हुए ) **जितेन्द्रियः विशुद्धात्मा**=जितेन्द्रिय विशुद्ध अन्त.करणवाला, **सर्वभूतात्मभूतात्मा**=समस्त प्राणियो के आत्मरूप परमात्मा मे एकीभाव हुआ, **योगयुक्तः कुर्वन् अपि न लिप्यते**=निष्काम कर्मयोगी कर्म करते हुए भी लिप्त नही होता।

**वचनामृत :** हे महाबाहो अर्जुन, कर्मयोग के बिना सन्यास ( ज्ञाननिष्ठा एव कर्मत्याग ) दुष्प्राप्य ( प्राप्त होना कठिन ) होता है। मननशील कर्मयोगी शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। जो विजितात्मा है ( जिसका मन वश मे है ), जो जितेन्द्रिय है ( जिसकी इन्द्रियाँ वश मे हैं ), जो पवित्र अन्त करणवाला है, जो समस्त प्राणियो के

१ ब्रह्म का अर्थ 'सन्यास' भी किया गया है। ( कर्मयोगयुक्त कर्मसन्यास को प्राप्त कर लेता है। )



आत्मरूप परमात्मा के साथ एकीभाव मे स्थित है, वह कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी ( कर्मों मे ) लिप्त नही होता।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण कर्मयोग की सुगमता का वर्णन करते हैं।

**रसामृत :** अर्जुन ने प्रश्न किया था कि कर्मसन्यास अर्थात् कर्मों के त्याग तथा कर्मयोग में से कौनसा श्रेयस्कर है।[1] श्रीकृष्ण इसके उत्तर मे स्पष्ट कह देते हैं कि कर्मयोग के अभ्यास द्वारा चित्त-शुद्धि एव ज्ञान होने पर कर्मत्याग होना सम्भव होता है। कर्मयोग के अभ्यास बिना कर्मसन्यास की स्थिति प्राप्त होना सम्भव नही होता।[2] कर्मयोग द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञाननिष्ठा एव कर्मसन्यास अर्थात् कर्मपरित्याग होना सम्भव होता है। कर्मयोग चित्त-शुद्धि द्वारा ज्ञान के उदय एव कर्मसन्यास ( कर्म-परित्याग ) मे परिणत होता है। श्रीकृष्ण इस पर बल देते हैं कि बिना चित्तशुद्धि के कर्म का परित्याग करना अविवेक है तथा एकमात्र चित्त-शुद्धि द्वारा ही ज्ञाननिष्ठा एव कर्मसन्यास सार्थक होता है। कर्मयोग से युक्त गृहस्थ चित्त का प्रसाद ( शुद्धि ) होने पर तथा मननशील होने पर परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।

ज्ञानमार्ग मे चिन्तन, मनन, ध्यान, वैराग्य इत्यादि पर विशेष बल दिया जाता है तथा वह प्राय· शुष्क एव नीरस प्रतीत होता है। समस्त जगत्प्रपञ्च मायामय एव मिथ्या है, केवल ब्रह्म सत्य है। सारा भेद अथवा द्वैत मायामात्र है।[3]

१ इस अध्याय के प्रथम श्लोक मे यही प्रश्न है।

२. जो ज्ञानयोगी ब्रह्मचर्याश्रम से ही ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करते हैं, उन्होंने पूर्वजन्म मे कर्मयोग के अभ्यास द्वारा चित्त-शुद्धि-लाभ किया है।

३ **मायामात्रमिदं द्वैतम्**—यह सारा द्वैत मायामात्र है, माया का भ्रम है अर्थात् असत् है। केवल ब्रह्म ही सत् है, जो सर्वत्र व्याप्त है। अनित्य एव नश्वर पदार्थों को सत् अर्थात् नित्य एव अनश्वर मानना भ्रम है।

ब्रह्म सत् है अर्थात् ब्रह्म नित्य, शाश्वत, अजर, अमर, कूटस्थ ( स्थिर, स्थायी ) एव दिव्य है तथा यह दीखनेवाला जगत् असत् है अर्थात् नश्वर है। भौतिक पदार्थ नश्वर तथा अस्थायी होने के कारण असत् होता है, ब्रह्म शाश्वत एव स्थायी होने के कारण सत् होता है। सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करनेवाली तथा उसका पोषण, सचालन एव सहार करनेवाली परमसत्ता परमब्रह्म परमात्मा है, जो इसके कण-कण मे व्याप्त है। जीवमात्र के जड देह का सचालन एव पोषण करनेवाली तथा उसमे व्याप्त रहनेवाली परम सत्ता परमात्मा ही है। मनुष्य के जड देह मे व्याप्त तथा उसका सचालन करनेवाला तत्त्व आत्मा होता है, जिसके निकल जाने पर देह की मृत्यु हो जाती है। आत्मा देह मे ऐसे ही व्याप्त रहता है, जैसे तिल मे तेल अथवा दूध मे मक्खन व्याप्त रहता है। यह आत्मा परम ब्रह्म परमात्मा का अभिन्न अश है। आत्मा तथा परमात्मा की एकता की अनुभूति करना, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी अनुभूति करना, ज्ञानयोग का लक्ष्य है। ज्ञानयोगी समस्त क्रिया-कलाप को प्रकृति का खेल मानता है तथा मनन, ध्यान इत्यादि द्वारा परमात्मा के साथ अपनी एकता की अनुभूति करता है। वह कर्म करते हुए भी कर्ता और भोक्ता नही होता तथा सिद्ध अवस्था होने पर उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नही रहता। ज्ञाननिष्ठा होने पर ज्ञानयोगी जीवन्मुक्त होकर लौकिक कर्म का सन्यास ( परित्याग ) कर देता है अथवा कर्म उससे छूट जाते हैं तथा वह सहज भाव से केवल लोक-सग्रह के लिए ही कर्म करता है।

कर्मयोग ज्ञानमार्ग की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक, सरल एव सुगम है। निष्काम भाव से कर्तव्य का पालन करके समस्त कर्म ईश्वर को अर्पण करके मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। गृहस्थजन के लिए कर्मयोग मोक्ष का मार्ग खोल देता है। निष्काम कर्म का अभ्यास करते रहने से कालान्तर मे कर्मयोगी की चित्त-शुद्धि हो जाती है तथा चित्त-शुद्धि होने पर बिना प्रयत्न ही उसके अन्त करण मे तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है, जो ज्ञानयोगी को मनन, चिन्तन, ध्यान आदि द्वारा प्राप्त होता है। ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होने पर कर्मयोगी भी कर्म का सन्यास ( परित्याग ) कर देता है अथवा कर्म उससे छूट जाता है। वास्तव मे निष्काम कर्म करने तथा समस्त कर्म को भगवदर्पण करने से ही कर्मयोगी एक प्रकार से नित्य सन्यासी हो जाता है तथा परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

कर्म करने पर मनुष्य अपने मन के वास्तविक स्वरूप को अथवा अपने गुण एव दोषो को देख पाता है तथा उसे उत्तरोत्तर चित्त-शुद्धि ( निर्मल होने ) का अवसर मिलता है। जिस मनुष्य के मन मे कर्म करते हुए अथवा फल-प्राप्ति के समय निराशा एव क्रोध उत्पन्न हो जाते हैं उसके मन मे आसक्ति, कामना एव मोह भरे हुए हैं तथा उसका कर्म निर्मल नही हो सकता। कर्मयोग की साधना मे मानसिक अनुशासन का अत्यधिक महत्त्व होता है। आसक्ति त्याग देने पर ही मनुष्य का कर्म सहज हो सकता है तथा वह कर्म करते हुए भी उसमे अलिप्त रह सकता है। वह पुरुष, जो राग-द्वेष तथा उनसे उत्पन्न विकारो ( आसक्ति, कामना, प्रलोभन, क्रोध आदि ) से मुक्त होकर निर्मलचित्त हो जाता है तथा मानसिक अनुशासन के पालन द्वारा आत्मजयी हो जाता है ( अर्थात् जिसके मन और इन्द्रिय वश मे होते है ) और जो समस्त प्राणियो के अन्तर्वासी परमात्मा के साथ एकात्मता का अनुभव करता है ( अर्थात् परमात्मा मे लीन रहता है ), वह पूर्ण कर्मयोगी होता है तथा वह कर्म करते हुए भी अलिप्त रहने के कारण कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होता है।

**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।**
**पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ८**
**प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।**
**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥**

**शब्दार्थ :** तत्त्ववित्=आत्मतत्त्व एव परमतत्त्व को जाननेवाला, ब्रह्मविद् अथवा ज्ञानी, युक्त=योगी जो साख्य ( ज्ञान ) द्वारा भगवान् के साथ युक्त ( जुडा हुआ है ) ज्ञानयोगी, पश्यन्=देखता हुआ, शृण्वन्=सुनता हुआ, स्पृशन्=स्पर्श करता हुआ, जिघ्रन्=सूँघता हुआ, अश्नन्=भोजन करता हुआ, गच्छन्=जाता हुआ, स्वपन्=सोता हुआ, श्वसन्=श्वास लेता हुआ, प्रलपन्=बोलता हुआ, विसृजन्=( मल ) त्याग करता हुआ, गृह्णन्=ग्रहण करता हुआ, उन्मिषन्=आँखें खोलता हुआ, निमिषन्=आँखें बन्द करता हुआ, अपि=भी, इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते=समस्त इन्द्रियाँ इन्द्रियो के विषयो मे व्यापार कर रही हैं, इति धारयन् एव इति मन्येत=ऐसा समझते हुए ही ऐसा मान ले, किञ्चित् न करोमि=( मैं ) कुछ नही करता।

**वचनामृत :** तत्त्व को जाननेवाला साख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, विसर्जन करता हुआ, ग्रहण करता हुआ और नेत्र खोलता, मूँदता हुआ भी, 'सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थो मे वरत रही है', यह मानकर निस्सन्देह ऐसा मान लें कि मैं स्वय कुछ नही कर रहा हूँ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण छठे तथा सातवे श्लोको मे कर्मयोगी का वर्णन करने पर आठवे तथा नौवे श्लोको मे साख्ययोगी की ज्ञाननिष्ठ अवस्था का वर्णन करते हैं।[1]

**रसामृत :** साख्ययोगी चिन्तन, मनन, ध्यान, वैराग्य आदि के अभ्यास द्वारा ब्रह्मविद् होकर ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त कर लेता है। वह आत्मा के यथार्थ तत्त्व को जान लेता है तथा कूटस्थ ( शाश्वत एव स्थिर ) परमात्मा के साथ युक्त हो जाता है। कर्मयोगी भी निष्काम कर्म के अभ्यास द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर स्वत तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा परमात्मा के स्वरूप को जानकर उसके साथ युक्त हो जाता है, क्योकि निष्काम कर्म अन्ततोगत्वा क्रमशः तत्त्वज्ञान द्वारा ज्ञाननिष्ठा का साधन होता है।

पूर्ण ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुष के लिए कोई कर्त्तव्यकर्म शेष नही रहता तथा कर्तृत्व के अभिमान ( मैं कर्मो का कर्ता हूँ, ऐसा भाव ) से मुक्त होने के कारण वह दूसरो की दृष्टि मे कर्म करते हुए भी अकर्ता अर्थात् कर्म मे अलिप्त रहता है। वह देह, इन्द्रिय आदि मे अह अथवा मम ( मैं अथवा मेरा ) का अभिमान नही करता। उसका चित्त चैतन्यस्वरूप परमात्मा मे स्थित रहता है। जिस प्रकार मृगतृष्णिका मे जल का भ्रम होने पर मनुष्य पिपासा-शान्ति के लिए जल-ग्रहण के लिए उस ओर प्रवृत्त होता है, किन्तु भ्रान्ति दूर होने पर तथा जल का अभाव स्पष्ट होने पर वह पुन प्रवृत्त नही होता, उसी प्रकार ससार मे आनन्द का भ्रम होने पर मनुष्य आनन्द-प्राप्ति के प्रयोजन से भौतिकता की ओर प्रवृत्त होता है, किन्तु उसका मिथ्यात्व निश्चित होने पर तथा उसमे आनन्द का अभाव स्पष्ट होने पर वह पुन उस ओर प्रवृत्त नही होता। तत्त्वज्ञानी समस्त कर्म करते हुए भी जानता है कि इन्द्रियाँ इन्द्रियो के विषयो मे अथवा प्रकृति के गुण गुणो मे ही परस्पर व्यापार ( कार्य ) करते हैं।[1]

---

१ इन श्लोको के उत्तरवर्ती श्लोको मे पुन कर्मयोगी का वर्णन स्पष्ट है।

१ दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, स्वाद, ज्ञानेन्द्रियो के व्यापार हैं, शयन बुद्धि का व्यापार है, श्वास प्राण का व्यापार है, बोलना वाक् इन्द्रिय का व्यापार है, विसर्जन ( मल-मूत्र-त्याग ) पायु एवं उपस्थ का व्यापार है, गमन पैर का व्यापार है, ग्रहण हाथ का व्यापार है, उन्मेष और निमेष ( नेत्र खोलना बन्द करना ), कूर्मनामक प्राण का व्यापार है। यहाँ इन्द्रियों से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, दस प्राण तथा अन्तःकरणचतुष्टय ( मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त ) का तात्पर्य है। इनकी समष्टि को लिंग शरीर ( अथवा जीव भी ) कहते हैं। यहाँ लिंग शरीर से समस्त कर्मों की गणना की गयी है।

तत्त्वज्ञानी की दृष्टि मे केवल सच्चिदानन्द-स्वरूप (सत् चित् आनन्दस्वरूप) परमात्मा ही सत्य है तथा वह मनुष्य मे अभिन्नरूप से अवस्थित रहता है। तत्त्वज्ञानी के चित्त, बुद्धि, अहकार आदि का उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण हो जाता है तथा वह अनेक कर्म करते हुए भी उनसे ऊपर उठकर निरन्तर आनन्दावस्था मे रहता है।[1]

**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति य.।**
**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।१०।**

**शब्दार्थ**. य कर्माणि ब्रह्मणि आधाय सङ्ग त्यक्त्वा करोति=जो कर्मों को परमात्मा मे अर्पित करके (तथा) आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, स = वह, **अम्भसा पद्मपत्र इव**=जल से कमल के पत्ते की भाँति, **पापेन न लिप्यते**=पाप से लिप्त नहीं होता।

**वचनामृत :** जो मनुष्य कर्मों को परमात्मा के प्रति अर्पण करके तथा आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह जल से कमल के पत्ते की भाँति पाप (अर्थात् समस्त कर्मफल) से लिप्त नही होता।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण कर्मयोग की सुगमता का वर्णन करते है।

**रसामृत** ज्ञान मनुष्य को परमात्मा के रूप मे अवस्थित कर देता है, किन्तु वह अत्यन्त दुर्गम है। 'यह सब ब्रह्म है तथा ससार मिथ्या है', ऐसी वैराग्यपूर्ण धारणा एव अनुभूति अत्यन्त कठिन होती है। कर्मयोग का मार्ग सरल, स्वाभाविक एव सुगम है। कर्म करते समय कर्म मे आसक्ति का त्याग करना एव फल की कामना न करना तथा कर्म को भगवदर्पण करना कर्मयोग का अवलम्बन लेना है, जिससे मनुष्य कर्म करते हुए भी पाप एव पुण्य आदि कर्म-बन्धन से इसी प्रकार मुक्त रहता है, जैसे कमल जल मे स्थित रहकर भी जल से आर्द्र (गीला) नही होता।

परम गुरु श्रीकृष्ण कहते है कि केवल अनासक्त होकर कर्म करना और कर्म के फल की इच्छा का त्याग करना पर्याप्त नही है, समस्त कर्मों का भगवान् (सगुण ब्रह्म, परमेश्वर) को समर्पण करना भी आवश्यक है। भगवान् के साथ वात्सल्य-भाव, सखाभाव, दासभाव इत्यादि (मै पुत्र हूँ, मैं सखा हूँ, मैं दास हूँ इत्यादि भाव) द्वारा आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़कर भगवान् को कर्मों का समर्पण कर देना भगवान् की पूजा ही होती है। जो मनुष्य अपने भीतर विराजमान अन्तर्यामी परमेश्वर की प्रेरणा से कर्म करता है तथा उसे ही समर्पित (भेट) कर देता है, वह पाप-पुण्य आदि के बन्धन से मुक्त रहता है। यद्यपि पुण्य पाप की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है, पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य भी बन्धन ही है। राग-द्वेष से ग्रस्त सकीर्ण 'अह' की सन्तुष्टि के लिए कर्म करनेवाला मनुष्य उत्तम कर्म करके भी सुख एव शान्ति प्राप्त नही कर सकता तथा वह कभी कोई उत्तम उपलब्धि भी प्राप्त नही कर पाता। परमेश्वर के साथ सयुक्त होने पर मनुष्य का 'अह' निर्मल, उदात्त एव दिव्य हो जाता है तथा उसके समस्त कर्म पवित्र होते हैं। भगवान् के साथ आत्मीयता का नाता जोड़कर, अन्तरात्मा मे उसकी ध्वनि सुनकर उसके अनुसार कर्म करने पर, अर्थात् भगवान् का कार्य मानकर कर्म करने पर मनुष्य बिना प्रयत्न ही अनासक्त हो जाता है तथा समस्त कर्म भगवदर्पण करने से मनुष्य नित्यमुक्त रहता है। प्रभु की वाणी सुनकर प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर्म सम्पादन करने तथा प्रभु को समर्पित कर देने से तुच्छ कर्म भी कर्मयोग हो जाता है अर्थात् मनुष्य को भगवान् के साथ जोड़ देता है। कमल जल मे उत्पन्न होता है, जल

---

१ इन श्लोको की टीका करते हुए गाधीजी कहते हैं, "जब तक अभिमान है, अलिप्त स्थिति नही आती। अत विषयासक्त मनुष्य यह कहकर छूट नही सकता कि मैं विषयो को नही भोगता, इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं। ऐसा अनर्थ करनेवाला न गीता को समझता है और न धर्म को जानता है। यह बात अगला श्लोक स्पष्ट करता है।" तिलकजी भी ऐसा ही कहते हैं।

से पोषण प्राप्त करता है तथा जल मे ही रहता है, किन्तु वह जल से आर्द्र ( गीला ) नही होता। कर्मयोगी कर्मरूप जल से पोपण एव अवलम्बन पाकर तथा निरन्तर कर्म करते हुए भी भगवान् के साथ सयुक्त होने के कारण कर्म तथा पापपुण्यरूप कर्मफल से लिप्त नही होता। कर्मयोगी मान, प्रशसा और प्रतिष्ठा की भी कामना नही करता, क्योकि प्रशसा की कामना कर्म को सदोष एव बन्धनकारक बना देती है। कर्मयोगी कर्म की सफलता और विफलता मे समबुद्धि रहता है तथा कभी विचलित नही होता।

अर्जुन को युद्ध मे हिंसा के कारण पाप से ग्रस्त होने का भय था।[1] अतएव श्रीकृष्ण सकेत करते है कि अनासक्त होकर कर्तव्य-पालन की दृष्टि से युद्ध मे हिंसा करना पापमय नही है। निष्काम होकर कर्तव्य-कर्म करना भगवद्-प्राप्ति का साधन है।

**कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।**
**योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥**

**शब्दार्थ :** योगिनः सङ्ग त्यक्त्वा = कर्मयोगी आसक्ति त्यागकर, कायेन मनसा बुद्धया केवलै. इन्द्रियै. अपि = शरीर से, मन से, बुद्धि से, केवल इन्द्रियो से भी, ( अथवा केवल शरीर से, केवल मन से, केवल बुद्धि से, केवल इन्द्रियो से भी ) आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति = आत्म-शुद्धि ( अपनी शुद्धि, चित्त-शुद्धि, अपने अन्तःकरण की शुद्धि ) के लिए कर्म करते है।[2]

**वचनामृत :** कर्मयोगी जन केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियो द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अपनी शुद्धि ( आन्तरिक शुद्धि ) के लिए कर्म करते हैं।

**सन्दर्भ :** कर्मयोगी के कर्म का फल चित्त-शुद्धि होता है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण कहते है कि निष्काम कर्म करने से एक महान् लाभ प्राप्त होता है कि मनुष्य के अन्त करण की शुद्धि हो जाती है। फल की इच्छा त्यागकर ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करने से मनुष्य की निम्न प्रकृति का शोधन हो जाता है अर्थात् मनुष्य का आन्तरिक रूपान्तरण हो जाता हैं। जो मनुष्य लौकिक स्वार्थ से ऊपर उठकर प्रभु-प्रेरणा के अनुसार केवल शरीर से अथवा केवल मन या बुद्धि या इन्द्रियो से अथवा सबके योग से कर्म करता है तथा मन, बुद्धि, इन्द्रियादि की समस्त क्रियाएँ प्रभु को अर्पण कर देता है, वह पवित्र हो जाता है। विषयो के प्रति आसक्त तथा स्वार्थ मे लिप्त पुरुष कभी सुख-शान्ति प्राप्त नही कर सकता। चित्त-शुद्धि प्राप्त होने पर कर्मयोगी के अन्त करण मे ज्ञान का उदय हो जाता है तथा कर्म के समस्त बीज ( सस्कार ) नष्ट हो जाते हैं। परमात्मा की प्रेरणा के अनुसार कर्म करके उन्हे ईश्वर के अर्पण करने से मनुष्य का ममत्व ( मैं कर्ता हूँ, यह मेरा कर्म है इत्यादि ममत्व ) छूट जाता है तथा मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।**
**अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥**

**शब्दार्थ :** युक्त· कर्मफलं त्यक्त्वा = कर्मयोगी ( निष्काम कर्म द्वारा परमात्मा से युक्त ) कर्म के फल को त्यागकर ( परमेश्वर को अर्पण करके ), नैष्ठिकीं

---

१ 'अहो बत महत्पाप कर्तुं व्यवसिता वयम्।'
—गीता, १ ४५ इत्यादि।

२ इस श्लोक का अन्वय अनेक प्रकार से किया गया है। शरीर से, मन से, बुद्धि से, केवल इन्द्रियो से अथवा ( केवल ) शरीर से, ( केवल ) मन से, ( केवल ) बुद्धि से, ( केवल ) इन्द्रियो से—ये दोनो अर्थ उपयुक्त हैं। 'केवल' का अर्थ 'केवलमात्र' अथवा 'ममत्वरहित, अहकाररहित एव शुद्ध' होता है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोक है तथा निष्काम कर्म के फल को स्पष्ट कर देता है। शकराचार्य ने इस सिद्धान्त पर बल दिया है कि कर्म करने से चित्त-शुद्धि होती है तथा चित्त शुद्धि होने पर ज्ञान का उदय स्वत हो जाता है।

शान्तिम्=कर्मनिष्ठा से पूर्ण अथवा उत्तम शान्ति को (आत्यन्तिकी शान्ति, नैष्ठिकी शान्ति को) आप्नोति=प्राप्त कर लेता है, अयुक्त फले सक्त कामकारेण निबध्यते=अयुक्त पुरुष (अर्थात् सकाम पुरुष, जिसका निष्काम कर्म द्वारा परमात्मा से योग नहीं हुआ है, जो निष्काम कर्म नहीं करता तथा सकाम कर्म करता है) अधिक कर्म के फल मे आसक्त होकर काम की प्रेरणा (कामना) के द्वारा बँध जाता है।

वचनामृत : कर्मयोगी कर्मफल को छोड़कर कर्मनिष्ठा से उत्पन्न होनेवाली (नैष्ठिकी) शान्ति को प्राप्त कर लेता है। सकाम पुरुष कर्मफल मे आसक्त होकर कामना द्वारा बन्धन को प्राप्त हो जाता है।

सन्दर्भ : श्रीकृष्ण निष्काम एव सकाम कर्म का अन्तर कहते है।

रसामृत : कर्म करने से मनुष्य को अपने मन के समस्त मल का परिचय मिल जाता है, जो उसे कभी शान्ति प्राप्त नही होने देता। कर्म करने से ही मन का समस्त मल धुल जाता है। व्यक्तिगत लाभ के लिए सकाम कर्म करने से अभीष्ट फल तो मिल सकता है, किन्तु मन का मल नही धुलता तथा मल होने के कारण सकाम कर्म करनेवाले मनुष्य को शान्ति नही मिलती। निष्काम कर्म मनुष्य को परमात्मा के साथ जोड देता है तथा सकाम कर्म मनुष्य को ससार के बन्धन मे बाँध देता है। कर्मफल मे आसक्ति अथवा कर्मफल की कामना उत्तम कर्म को भी दूषित कर देती है। आसक्ति का त्याग कर्म को उदात्त बना देता है। सकाम कर्म स्वार्थमय अर्थात् सदोष होता है तथा निष्काम कर्म पवित्र होता है। आसक्ति एव कामना का त्याग मनुष्य को रूपान्तरित कर देता है तथा परम शान्ति प्रदान कर देता है। निष्काम कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तथा आत्यन्तिकी एव अविचल शान्ति सुलभ हो जाती है।

कर्मयोगी परमात्मा को प्रसन्न करने के उद्देश्य से कर्म करता है तथा प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण करने से उसके सभी कर्म ईश्वर की पूजा हो जाते है। उसे दैवी शान्ति सुलभ हो जाती है। कामना से प्रेरित होकर कर्म करनेवाला मनुष्य सफल होकर भी कामना, चिन्ता, भय, उद्वेग, घृणा, क्रोध आदि के जाल मे फँसकर अशान्त ही रहता है। निष्काम कर्म मनुष्य को परमात्मा के सम्मुख तथा सकाम कर्म परमात्मा से विमुख कर देता है।[1]

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

शब्दार्थ : वशी=अन्तःकरण को वश मे रखनेवाला, देही=पुरुष, परमार्थदर्शी, मनसा सर्वकर्माणि सन्यस्य=मन से (आन्तरिक रूप से) समस्त कर्म त्यागकर एव=निश्चय ही, न कुर्वन् न कारयन्=न कर्म करता हुआ, न करवाता हुआ, नवद्वारे पुरे=नौ द्वारवाले शरीररूप घर मे, सुखं आस्ते=आनन्दपूर्वक परमात्मा के स्वरूप मे स्थित (समाहित) रहता है।

वचनामृत : अपने अन्तःकरण को वश मे रखनेवाला (तत्त्वदर्शी) पुरुष मन से समस्त कर्म त्यागकर कुछ न करता हुआ और न किसीसे कुछ करवाता हुआ ही नवद्वारवाले शरीररूप पुर मे आनन्दपूर्वक (परमात्मा के स्वरूप मे समाहित होकर) स्थित रहता है।

---

१ भगवान् विष्णु शान्ताकार हैं तथा भुजग पर शान्तिपूर्वक शयन करते हैं। लक्ष्मी उनके चरण दबाती है। भक्त भी निरन्तर शान्त रहता है तथा उसे तृष्णा-सर्प नही डसता। सच्चा भक्त धन-सम्पदा के पीछे नहीं दौडता, बल्कि धन सम्पदा ही भक्त के पीछे दौडती है।

हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि 'योगी' शब्द गीता मे अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, गीता का मुख्य योगी भगवान् के साथ युक्त रहकर कर्म को भगवान् का कार्य मानकर तथा भगवान् की प्रसन्नता के लिए करता है तथा कर्म को भगवान् के अर्पण करके पापपुण्य-रूप कर्मफल के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

**सन्दर्भ :** श्लोक १३ से २१ तक साख्ययोगी ( ज्ञानी ) की विशेष चर्चा है।

**रसामृत :** मनुष्य का देह एक सुरपुर है, जिसमे अखण्ड, अद्वय, चिदानन्दैकरस परमात्मा स्वय आत्मा के रूप मे बसता है। इस दिव्य धाम के नौ द्वार हैं।[1]

मानव-देह परमात्मा का पवित्र मन्दिर है, जिसकी रचना अत्यन्त अद्भुत है। देह को स्वस्थ एव सुरक्षित रखकर ही मनुष्य लौकिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। देह मनुष्य का प्रथम एव सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मित्र है तथा समस्त साधना का प्रथम सोपान है। देह मे अवस्थित आत्मा के दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार करना परम पुरुषार्थ है। मनुष्य अपने दिव्य स्वरूप को विस्मृत करके तथा अपने को मात्र देह मानकर दु ख का अनुभव करता है तथा अपने यथार्थ स्वरूप मे स्थित होकर परमानन्द की अनुभूति कर लेता है। अविवेकी पुरुष देह के साथ तादात्म्य स्थापित करके तथा देह को ही साध्य मानकर उसे सुन्दर एव आकर्षक बनाने मे सलग्न रहता है तथा जीवन के परम उद्देश्य को विस्मृत करके भटक जाता है। देह साधन होता है, साध्य नही। ज्ञानवान् पुरुष आत्मा को देह से भिन्न रूप मे देखता है तथा देहाभिमान नही करता। ज्ञानवान् पुरुष इन्द्रियो को अपने वश मे रखता है अर्थात् जितेन्द्रिय होता है। वह आत्मतत्त्व मे चित्त का लय कर देता है तथा उसका लक्ष्य आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति करके परमानन्द-प्राप्ति करना होता है। वह जानता है कि देह के समस्त व्यापार ( कर्म ) प्रकृति का कार्य अथवा सत्त्व, रज, तम गुणो की परस्पर क्रिया होते हैं तथा आत्मा कूटस्थ, असग, अकर्ता, निर्लेप, निष्क्रिय एव चैतन्यस्वरूप होता है। जड प्रकृति चैतन्यस्वरूप आत्मा के सान्निध्य मे सक्रिय होकर कार्य करती है तथा आत्मा प्रकृति के कार्य का मात्र द्रष्टा होता है, जैसे दीपक के सन्निधिवश वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, किन्तु दीपक कर्ता अथवा कारयिता नही होता। ज्ञान के परिणामस्वरूप वह सभी कर्मों को विवेक द्वारा मन से ( आन्तरिक रूप से ) त्याग देता है तथा नवद्वारयुक्त पुर मे भीतर ही न कर्म करता हुआ और न कर्म करवाता हुआ पुर के राजा की भाँति आत्मरमण के आनन्द मे लीन रहता है। ऐसा सिद्ध पुरुष जीवन्मुक्त होता है।

**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।**
**न कर्मफलसयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥**

**शब्दार्थ :** प्रभुः लोकस्य न कर्तृत्वं न कर्माणि न कर्मफलसयोगं सृजति = परमात्मा प्राणियो के न कर्तापन को, न कर्मों को, न कर्मों के फलसयोग को रचता है, तु स्वभाव. प्रवर्तते = किन्तु प्रकृति ही व्यापार करती है।

**वचनामृत :** ( वास्तव मे ) परमात्मा लोगो के कर्तृत्व ( कर्तापन ) अथवा कर्मसमूहो अथवा कर्म-

---

१ दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाछिद्र, एक मुख, दो मल-मूत्र-विसर्जन-स्थान—ये नौ द्वार हैं। कठोपनिषद् ( २ २ १ ) मे ब्रह्मरन्ध्र तथा नाभिसहित एकादश द्वारो की चर्चा है—

**पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।**
**अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥**

अर्थात् ग्यारह द्वारोवाले पुर मे स्थित परमात्मा है, जिसका ध्यान करने से शोक-विमुक्ति तथा पूर्ण मुक्ति हो जाती है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ( ३ १८ ) मे कहा गया है—

**नवद्वारे पुरे देही हसो लेलायते बहि.।**
**वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥**

अथर्ववेद ( १० १ २.३१ ) कहता है—अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या।

वेदव्यास का कथन है—

**नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूल पञ्चसाक्षिकम्।**
**क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स पर. कवि ॥**

—अर्थात् जो विद्वान् नौ द्वारवाले, तीन खभोवाले, पाँच साक्षीवाले, आत्मा के निवास-स्थान देह को जानता है, वह बड़ा ज्ञानी है।

फलो के साथ सयोग की रचना नही करता। स्वभाव ( अपना भाव, प्रकृति, माया ) ही सब कुछ रहता है।

**सन्दर्भ :** वास्तव मे आत्मा कर्ता नही है, स्वभाव ही कर्ता आदि है।

**रसामृत :** परमात्मा एव उसका अश आत्मा निर्लेप हैं, शुद्ध चैतन्यस्वरूप हैं। आत्मा कर्ता होकर कोई कर्म नही करता तथा उसका कर्म-समूहो से कोई सम्बन्ध नही रहता। प्रकृति जड होती है तथा चैतन्यस्वरूप आत्मा के सान्निध्य मे चेतनवत् कर्म करती है। प्रकृति मनुष्य मे स्वभावरूप से स्थित रहती है। आत्मा साक्षीभूत, निर्विकार एव निष्क्रिय होता है। ज्ञान का उदय होने पर स्वभाव निर्मूल हो जाता है तथा जीवात्मा ( आवरणयुक्त अथवा स्वभावयुक्त आत्मा ) विमुक्त होने पर ( स्वभाव-मुक्त अथवा आवरणमुक्त होने पर ) शुद्ध चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म के साथ ऐक्य की परमानन्दमय अनुभूति कर लेता है। ज्ञानी कर्तापन तथा सुख-दु खरूप कर्मफल के साथ सयोग आदि का अनुभव नही करता है। प्रकृति के आवरण से युक्त होने पर जीवात्मा मे कर्ता अथवा भोक्ता होने की प्रतीति होती है तथा अज्ञानी पुरुष अहकारवश अपने को कर्ता मान लेता है। आवरण से मुक्त आत्मा तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा सर्वथा निर्लेप है। आवरण से युक्त आत्मा ( जिसे जीवात्मा अथवा जीव कहते हैं ) लिप्त एव बद्ध होता है।

**नादत्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृतं विभुः।**
**अज्ञानेनावृतं ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव ॥१५॥**

**शब्दार्थ :** विभु न कस्यचित् पाप न च सुकृतं एव आदत्ते=सर्वव्यापक परमात्मा न किसीके पापकर्म को और न पुण्यकर्म को ही ग्रहण करता है, अज्ञानेन ज्ञानं आवृतं=अज्ञान ज्ञान से ढँका हुआ है, तेन जन्तव मुह्यन्ति=उससे सब मनुष्य मोहित हो रहे हैं।

**वचनामृत :** परमात्मा किसीके पाप-पुण्य को ग्रहण नही करता। ज्ञान अज्ञान के द्वारा ढँका रहता है तथा मनुष्य मोह को प्राप्त होते हैं।

**सन्दर्भ .** ज्ञाननिष्ठ योगी की दृष्टि मे परमात्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, निर्लेप है।

**रसामृत :** सर्वव्यापक परमात्मा निर्विकार एव निष्क्रिय, कूटस्थ एव निर्लेप है। तात्त्विक दृष्टि से परम ब्रह्म परमात्मा किसीके पाप-पुण्य को ग्रहण नही करता। मनुष्य की आत्मा भी चिद्रूप परमात्मा का अभिन्न अश होने के कारण सर्वथा निर्लेप है तथा मनुष्य अज्ञान के कारण मोहग्रस्त होकर सुख-दु ख आदि के भ्रमजाल मे पडा रहता है। ज्ञानी पुरुष अपने भीनर आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की आनन्दानुभूति करता है तथा समस्त कर्म करते हुए भी पाप पुण्य से ऊपर रहता है।

परम-ब्रह्म परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। मायासहित होकर वह परम-ब्रह्म ही परमेश्वर, ईश्वर अथवा भगवान् कहलाता है तथा मायाशक्ति से सृष्टि की सरचना करता है। वह भक्तो के द्वारा समर्पित कर्म, पाप-पुण्य स्वीकार करता है तथा भक्तो की पुकार सुनकर सहायता करता है।

निष्काम कर्म के अभ्यास से चित्त-शुद्धि होने पर कर्मयोगी के अन्त करण मे ज्ञान का उदय स्वत हो जाता है। ज्ञानयोगी मनन, निदिध्यासन, वैराग्य, विवेक द्वारा ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान का प्रकाश होने पर उसके अज्ञान का अधकार विच्छिन्न हो जाता है। अज्ञान से ज्ञान आवृत ( आच्छन्न, ढँका हुआ ) रहता है। ज्ञानी के लिए केवल ब्रह्म सत्य है तथा जगत् मिथ्या है। जीव, जगत् और ईश्वर मिथ्या है[1] तथा अद्वय परमतत्त्व सत् पदार्थ है।

---

१ 'मिथ्या' दर्शनशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका प्राय दुरुपयोग भी किया गया है। 'मिथ्या' का अर्थ नश्वर एव असत् है।

ब्रह्मज्ञान होने पर, ब्रह्म के साथ तादात्म्य ( एकात्मता, ऐक्य ) की अनुभूति होने पर, ब्रह्मस्वरूप हो जाने पर, ईश्वर, जीव और जगत् मिथ्या हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञानी होने पर उनका कोई अर्थ नही रहता तथा उसके लिए उनका अस्तित्व नहीं रहता, किन्तु जिसे ज्ञान की

कर्म-मार्ग मे भक्तिभाव से ओतप्रोत होने पर भगवान् भक्त को पापमुक्त कर देता है।[1] प्रार्थना, कीर्तन, भजन आदि से भक्तगण भगवान् की कृपा प्राप्त करके पापमुक्त हो जाते हैं।

भक्तवत्सल भगवान् शरणागति ग्रहण करने पर भक्त की रक्षा करते हैं तथा भक्त का भार स्वय वहन करते हैं। जो ज्ञानी के लिए निर्गुण, निराकार परमब्रह्म है वही भक्त के लिए सगुण साकार भगवान् है। प्रभु आप्तकाम, पूर्णकाम होकर भी भक्त के पत्र-पुष्प ग्रहण कर लेते है।[2] भक्तगण भक्ति द्वारा सगुण साकार परमेश्वर का साक्षात्कार करते हैं तथा सविकल्प समाधि द्वारा सोपाधि परमेश्वर के साथ एकता द्वारा अद्वैत का अनुभव करते है। ज्ञानीजन ध्यान द्वारा निर्गुण निराकार परमब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं तथा निरुपाधि (सर्वोपाधिशून्य) चिद्रूप परमात्मा की अद्वैत अनुभूति निर्विकल्प समाधि द्वारा करते हैं। वास्तव मे, अद्वैत तत्त्व के ज्ञान एव अनुभूति के लिए सगुणोपासना आवश्यक सोपान है। मायातीत सर्वव्यापक, चित्स्वरूप अखण्डानन्दैकरस आनन्दस्वरूप परमात्मा कर्ता होकर भी अकर्ता है, भोक्ता होकर भी अभोक्ता है, साकार होकर भी निराकार है, सगुण होकर भी निर्गुण है, सोपाधि होकर भी निरुपाधि है, व्यक्त होकर भी अव्यक्त है, अनेक होकर भी एक है। वह अनिर्वचनीय दिव्य तत्त्व सभी मार्गो से ग्राह्य है। भक्त तथा ज्ञानी दोनो को अन्त मे सर्वत्र उसीका दर्शन होता है।

**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।**
**तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥**

**शब्दार्थ :** तु येषा तत् आत्मनः अज्ञानं ज्ञानेन नाशित=किन्तु जिनका वह अन्त करण का अज्ञान तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है, तेषा ज्ञानं आदित्यवत् तत्परं प्रकाशयति=उनका ज्ञान आदित्य की भाँति उस पर को (परात्पर परमब्रह्म को) प्रकाशित कर देता है। (अथवा अज्ञान आत्मन. ज्ञानेन नाशितं=अज्ञान आत्मा के ज्ञान से नष्ट हो गया है।)

**वचनामृत :** किन्तु जिनका अपना (अन्त करण का) अज्ञान तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है उनका ज्ञान सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा को (परमात्मा के स्वरूप को) प्रकाशित कर देता है।

---

परिपक्व अवस्था प्राप्त नही हुई उसके लिए ईश्वर, जीव, जगत् यथार्थ हैं तथा उसे उन्हे यथार्थ स्वीकार करके कर्म-मार्ग पर दृढ रहना चाहिए। निष्काम करने पर अन्त मे कर्मयोगी को परमार्थ-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। 'जीवेशौ माया करोति' अर्थात् जीव और ईश्वर दोनो माया की सृष्टि हैं, माया के कारण प्रतीत होते हैं। मायारहित होने पर ब्रह्म तथा मायासहित होने पर ईश्वर कहलाता है।

१ हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृत अर्थात् दुष्ट चित्तवाले मनुष्यो द्वारा भी सच्चे भाव से स्मरण किये जाने पर हरि पापो को हर लेते हैं। 'अनेकजन्मार्जितपापसञ्चयं हरत्यशेषं स्मृतमात्र एव' अर्थात् सच्चे भाव से स्मरण करने पर हरि अनेक जन्मो मे अर्जित पापो को पूरी तरह से हर लेते हैं। धर्मावहं पापनुदं भगेश वरद देवमीड्यं अर्थात् मैं धर्मप्रदाता, पापनाशक, ऐश्वर्यो के स्वामी, वरदानदाता पूज्य ईश्वर का भजन करता हूँ। तस्मात् सकीर्त्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम्। महतामपि कौरव्य निर्घ्यैपान्तिकनिष्कृतिम्॥ अर्थात् हे कौरव्य, इसीलिए जगत् के मगलस्वरूप विष्णु के सकीर्त्तन को महापापो की भी एकमात्र निष्कृति (नाश) जानो। एका विनिष्कृति शम्भो. सकृदेव हि कीर्तनम्—अर्थात् शम्भु का एक बार भी कीर्तन पापो का एकमात्र नाश है। ज्ञानी की दृष्टि मे परमात्मा पापग्रहण नही करता तथा भजन-कीर्तन, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, शरणागति आदि से चित्त-शुद्धि होती है तथा चित्त-शुद्धि द्वारा पाप-विमोचन होता है।

२. पत्रं पुष्पं फल तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
—गीता, ९.२६

---

एष उह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्योलोकेभ्य उन्निनीषते (वेद)—परमात्मा जनकल्याण के लिए सन्मार्ग मे प्रवृत्त करता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अज्ञान तथा तत्त्वज्ञान के प्रभाव का वर्णन करते हैं।

**रसामृत :** परमात्मा इस समस्त सृष्टि का स्रष्टा है तथा कण-कण मे व्याप्त है। आत्मा अखण्ड, अनन्त, नित्य चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप परमात्मा का अभिन्न अश है। परमब्रह्म परमात्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है तथा तटस्थ साक्षी है, किन्तु मायायुक्त होने पर ईश्वर के रूप मे अपनी माया-शक्ति से सृष्टि की सरचना, सपोषण आदि करता है। माया के आवरण से आच्छादित आत्मा ही जीव ( जीवात्मा ) कहलाता है। मायामुक्त जीव शुद्ध आत्मस्वरूप होकर परमात्मा के साथ एकत्व-अभिन्नत्व एव एकत्व की आनन्दानुभूति करता है। मनुष्य तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञानमुक्त होकर अर्थात् मायामुक्त होकर जीव एव ईश्वर अथवा आत्मा एव परमात्मा के अभेद की आनन्दानुभूति करके कृतार्थ हो जाता है।

ज्ञान-मार्ग का साधक **'तत्त्वमसि'** ( वह ईश्वर तू है, वह परमात्मा तू है ), **'अहं ब्रह्मास्मि'** ( मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ ), **'अयमात्मा ब्रह्म'** ( यह आत्मा ब्रह्म है ) इत्यादि महावाक्यो का श्रवण कर मनन एव निदिध्यासन करता है तथा अन्त करण के निर्मल एव शुद्ध होने पर अन्त करण मे अखण्डाकार चित्त-वृत्ति-प्रवाह चलता रहने पर निर्विकल्प समाधि के द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्म का ( अपनी आत्मा के अभिन्न रूप मे ) साक्षात्कार करके कृत-कृत्य हो जाता है। ज्ञान द्वारा अज्ञान निर्मूल हो जाता है। परमात्मा स्वयप्रकाश है, किन्तु ज्ञान का उदय होने पर परमात्मा का ग्रहण हो जाता है, जैसे सूर्य का उदय होने पर भ्रान्ति दूर हो जाती है तथा वस्तु का दर्शन हो जाता है।

वास्तव मे परमात्मा स्वय ही सत्स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप तथा अनन्तस्वरूप है।[1] परमात्मा को बुद्धि से नही जाना जा सकता। अज्ञान दूर होने पर पर-मात्मा का साक्षात्कार स्वत हो जाता है।[1]

कर्मयोग का साधक निष्काम भाव से कर्म करते हुए समस्त कर्म को ईश्वरार्पण कर देता है तथा निष्काम कर्म एव ईश्वरार्पण बुद्धि द्वारा चित्त-शुद्धि प्राप्त कर लेता है और चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान का उदय स्वत हो जाता है। ज्ञानयोग से प्राप्त होनेवाला ज्ञान कर्मयोगी को भी प्राप्त हो जाता है।

**तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणा. ।**
**गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषा. ॥१७॥**

**शब्दार्थ :** तद्बुद्धय तदात्मान. तन्निष्ठा तत्परायणा·=तद्रूप है बुद्धि जिनकी, तद्रूप है मन जिनका, तद्रूप है निष्ठा जिनकी, तद्परायण पुरुष, ज्ञाननिर्धूत-कल्मषा=ज्ञान के द्वारा दूर हो गये कल्मष ( पाप ) जिनके, अपुनरावृत्ति गच्छन्ति=अपुनरावृत्ति को अर्थात् परमगति को प्राप्त होते हैं।

**वचनामृत :** जिनकी बुद्धि उस परमब्रह्म के साथ तद्रूप है, जिनका मन तद्रूप है, जो परमब्रह्म मे निष्ठावान् हैं, जो परमब्रह्म को परमगति अथवा प्राप्तव्य मानते हैं, जिनके पाप ( दोष ) ज्ञान के द्वारा दूर हो गये हैं, वे अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं, उनका पुनर्जन्म नही होता।

**सन्दर्भ :** ज्ञानीजन अन्त मे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

**रसामृत :** जो ज्ञानीजन मन और बुद्धि से परम-ब्रह्म मे सलग्न अथवा स्थित है, परमब्रह्म के प्रति निष्ठावान् हैं तथा परमब्रह्म को ही चरम लक्ष्य मानकर उसीमे तन्मय रहते हैं, वे पापमुक्त हो जाते है तथा अन्त मे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। ब्रह्म-सस्थित पुरुष पुण्य से वृद्धि को तथा पाप से पतन

---

१ सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म—तैत्तिरीय उप०।—ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त है।

१ विज्ञातारमेव केन विजानीयात्—विज्ञाता को किस प्रकार जाना जा सकता है ? अर्थात् विज्ञाता पर-मात्मा को बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता है, वह अनुभूतिगम्य है।

को प्राप्त नही होते ।[1] अज्ञान की निवृत्ति होने पर पाप-पुण्य की भी निवृत्ति हो जाती है । ज्ञानी का भी देहाध्यास ( देह के साथ तादात्म्य ) छूट जाता है तथा वह पाप-पुण्य मे ऊपर उठ जाता है । वह सर्वकर्मपरित्याग कर देता है अर्थात् अहकार से प्रेरित होकर कर्म नही करता । ज्ञाननिष्ठ पुरुष जीवन-काल मे निरन्तर ब्रह्मस्थित होने के कारण जीवन्मुक्त ( जीते हुए ही मुक्त ) रहता है तथा देहपात होने पर मोक्ष ( अथवा निर्वाण ) प्राप्त कर लेता है, ब्रह्मलीन हो जाता है ।[2] सच्चिदानन्दैकरस परमब्रह्म परमात्मा मे एकाग्रभाव से सस्थित ज्ञानी की चित्त वृत्ति ब्रह्माकारा हो जाती है तथा वह सर्वत्र ब्रह्मदर्शन अथवा आत्मदर्शन करता है । वह निरन्तर ब्रह्मस्वरूप मे स्थित ( ब्राह्मी स्थिति मे अवस्थित ) होकर ब्रह्म एव अपनी आत्मा की एकरूपता की अनुभूति करके कृतार्थ हो जाता है । मनन, निदिध्यासन और ध्यान आदि के द्वारा मन तथा बुद्धि का सच्चिदानन्दघन परमात्मा मे अभिन्नभाव से निश्चल होना ही तद्रूप होना है । मनुष्यत्व से ऊपर उठकर परात्पर ब्रह्म हो जाना मानव-जीवन की परम उपलब्धि है ।

**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।**
**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥**

**शब्दार्थ :** पण्डिता = ज्ञानीजन, विवेकीजन, विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे = विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण मे, च = तथा, गवि हस्तिनि शुनि च श्वपाके = गो, हाथी, श्वान ( कुत्ता ) और चाण्डाल मे, समदर्शिनः एव = समभाव से देखनेवाले ही होते है ।

**वचनामृत :** ज्ञानीजन ( आत्मतत्त्व को जाननेवाले) विद्या तथा विनय से युक्त ब्राह्मण, गो, हाथी, श्वान तथा चाण्डाल मे समदर्शी ( समदृष्टि से युक्त ) होते हैं ।

**सन्दर्भ :** यह अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक है । इसमे ज्ञानी की समदृष्टि का वर्णन किया गया है ।

**रसामृत :** तत्त्वज्ञानी पुरुष की दृष्टि मे सच्चिदानन्दघन परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नही होती तथा वह जीवमात्र मे परम ब्रह्म परमात्मा का ही दर्शन करता है । परमार्थदर्शी ज्ञानयोग का लक्षण समदर्शित्व ( समान दृष्टि ) होता है । पूर्ण ज्ञानी राग-द्वेष से सर्वथा विमुक्त होने के कारण सर्वत्र समदृष्टि से युक्त होता है । विषम प्राणियो मे भी समता का दर्शन करना सच्चा पाण्डित्य है । समदर्शन यथार्थ ज्ञानी ( पण्डित ) का परम लक्षण है । ब्रह्मज्ञ पुरुष विद्या, विनय आदि गुणो से सम्पन्न ब्राह्मण अथवा श्वान का भी मांस पकाकर खानेवाले निकृष्ट चाण्डाल मे तथा पोषक दुग्ध देनेवाली गोमाता अथवा सर्वभक्षणकारी श्वान एव राजसम्मानित हाथी मे तथा स्वर्ण अथवा मृत्तिका ( मिट्टी ) मे समान रूप से ब्रह्म-दर्शन करता है । जिस प्रकार सूर्य गगाजल अथवा मल-मूत्रादि मे प्रतिबिम्बित होकर भी उनके गुण अथवा दोषो का संस्पर्श नही करता, उसी प्रकार ब्रह्म विषम प्राणियो ( विद्वान् ब्राह्मण तथा श्वपाक ) मे संस्थित होकर भी उनसे प्रभावित नही होता । राग-द्वेषरहित होकर समस्त प्राणियो मे समभाव से परमात्मा का दर्शन करना ज्ञानी पण्डित की विशेषता होती है । वह किसीके प्रति घृणा नही करता तथा किसीको अस्पृश्य अथवा नीच नही मानता । वह प्रत्येक प्राणी मे उस दिव्य आत्मज्योति का दर्शन करता है, जो उन्हें जीवन और चेतना देती है । भक्तगण भी ऊँच-नीच के विषम व्यवहार को सर्वथा अनुचित मानकर सबसे समान रूप से प्रेम करते हैं । वे प्रत्येक प्राणी में

---

१ न पुण्येन वर्धीयान् न पापेन कनीयान् ।

—बृहदारण्यक उप॰

—ज्ञाननिष्ठ पुरुष न पुण्य से वृद्धि को और न पाप से ह्रास को प्राप्त होते है । ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति सदा उत्तम कर्म ही करता है ।

२ ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति—ब्रह्मनिष्ठ मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

हरि-दर्शन करते हैं।[1] सभी सन्तगण समदर्शन का उपदेश करते हैं। सन्तगण सभी का उपकार करने मे रत रहते हैं। सबकी उन्नति (सर्वोदय) तथा सबके कल्याण के लिए सहजभाव से त्यागपूर्वक सेवा करना साम्यभाव का सच्चा स्वरूप है। जब सेवा मे सहजता, सरलता और विनयशीलता होती है तथा समभावना होती है, वह प्रभु की सर्वोत्कृष्ट उपासना होती है।

**इहैव तैर्जित· सर्गो येषा साम्ये स्थितं मन ।**
**निर्दोषं हि सम ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता· ॥१९॥**

**शब्दार्थ** . येषा मन साम्ये स्थित = जिनका मन समभाव मे स्थित है, तै इह एव सर्ग जित = उनके द्वारा यही (जीवनकाल मे) सम्पूर्ण ससार जीत लिया गया, हि ब्रह्म निर्दोष सम = क्योकि ब्रह्म निर्दोष (और) सम है, तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिता = इस कारण से वे ब्रह्म मे स्थित हैं। (सर्ग-सृष्टि, ससार अथवा जीवन-मरण का प्रवाह, पुनर्जन्म।)

**वचनामृत** · जिनका मन समभाव मे स्थित है उनके द्वारा जीवित अवस्था मे ही सम्पूर्ण ससार जीत लिया गया है, क्योकि परमब्रह्म निर्दोष एव सम है। इसी कारण से वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा मे ही स्थित हैं।

**सन्दर्भ** परमात्मा मे स्थिति कब होती है?

**रसामृत** परम ब्रह्म परमात्मा स्थावर तथा जगम मे, अचेतन पदार्थो तथा चेतन प्राणियो मे सर्वदा वर्तमान है। परमब्रह्म परमात्मा विषम वस्तुओ मे समरूप से व्याप्त है। जिनका मन सर्वत्र समरूप से व्याप्त सच्चिदानन्दघन परमब्रह्म मे निश्चल रूप से स्थित है, वे समदर्शी पण्डित जीवित अवस्था मे ही अर्थात् वर्तमान देह के नाश से पूर्व ही सम्पूर्ण ससार पर विजय पा लेते हैं।[1] वे जीवन-मुक्त (जीते हुए भी समस्त बन्धनो से मुक्त) हो जाते हैं। ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण ससार असत् प्रतीत होने के कारण निरस्त हो जाता है। ज्ञानयोगी इस जीवनकाल मे ही जन्ममरणरूप ससार को पार कर लेते हैं तथा देहपात होने पर उनका पुनर्जन्म नही होता। परम ब्रह्म सदा सम एव आनन्दैकरस तथा दोषरहित होता है।[2] दोषमय वस्तुओ एव पापमय प्राणियो मे व्याप्त रहकर भी परम ब्रह्म उनके

---

१ सीय राममय सब जग जानी,
करऊँ प्रणाम जोरि जुग पानी।
—रामचरित मानस

डॉ० राधाकृष्णन कहते हैं, "अधिक-से-अधिक विनय आती है। ज्यो-ज्यो हमारा ज्ञान बढ़ता है, त्यो-त्यो हम चारो ओर से आवृत करनेवाले अन्धकार को अधिक और अधिक अनुभव करने लगते हैं। जब हम दीपक जलाते है तभी हमे पता लगता है कि सब ओर कितना अँधेरा है। जो कुछ हम जानते हैं वह उसकी तुलना मे लगभग कुछ भी नही है, जो कुछ हम नहीं जानते। थोडा सा ज्ञान हमे कट्टर सिद्धान्तवाद की ओर ले जाता है। थोडा सा और ज्ञान हमे प्रश्नात्मकता की ओर तथा थोडा सा और अधिक ज्ञान हमे प्रार्थना की ओर ले जाता है। इसके अतिरिक्त विनय इस ज्ञान द्वारा उत्पन्न होती है कि परमात्मा के प्रेम द्वारा ही अस्तित्वमय बने हुए हैं। सब युगो के महान् विचारक परम धार्मिक व्यक्ति थे। सच्चे विद्वान् लोग विनम्र होते हैं।'

विनयशील मनुष्य ही सबकी सेवा में रुचि ले सकता है। रन्तिदेव की उक्ति है—

न त्वह कामये राज्य न सुख नापुनर्भवम्।
कामये दु खतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्॥

अथवा मैं राज्य, सुख तथा मोक्ष की कामना नही करता। मैं सन्तप्त प्राणियो का कष्ट-निवारण चाहता हूँ।

---

१ यदा न कुरुते भाव सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।
समदृष्टेस्तदा पुसः सर्वा· सुखमया· दिशः॥
—वेदव्यास

अर्थात् जब मनुष्य प्राणिमात्र के प्रति अमगल की भावना नही करता तथा समदर्शी हो जाता है, तब उसके लिए सारी दिशाएँ मगलमय हो जाती हैं।

२ 'सद्घनोऽय चिद्घनआनन्दघनं एकरस·'-परमात्मा सद्घन, चिद्घन आनन्दघन, एकरस है।

दोषों से असंपृक्त ( अलिप्त ) रहता है। जो ज्ञानी सम एवं निर्दोष परम ब्रह्म में निश्चल रूप से स्थित रहते हैं, वे भी ब्रह्म के समान निर्दोष ( त्रिगुणातीत ) होते हैं। जीवन्मुक्त ज्ञानी के लिए कोई अनुशासन नहीं होता तथा वह देहवान् होकर भी चित्स्वरूप परब्रह्म ही हो जाता है। वह मानव-जाति का सर्वश्रेष्ठ प्रसून होता है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

**शब्दार्थ :** प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत् = प्रिय को प्राप्त करके न हर्षित होता हो, च अप्रियं प्राप्य न उद्विजेत् = और अप्रिय को प्राप्त करके न उद्वेगयुक्त होता हो, स्थिरबुद्धिः असम्मूढः ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः = ऐसा स्थिरमति मोहरहित ( संशयरहित ) ब्रह्मज्ञानी पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मा में निश्चल भाव से स्थित है।

**वचनामृत :** जो मनुष्य प्रिय वस्तु को प्राप्त करके हर्षित नहीं होता तथा अप्रिय वस्तु को प्राप्त करके उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परमब्रह्म परमात्मा में निश्चल रूप से स्थित है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण ब्रह्म में एकीभाव से संस्थित तत्त्वज्ञानी के लक्षणों का वर्णन करते हैं।

**रसामृत :** तत्त्वज्ञानी सदा समचित्त रहता है तथा वह कभी विचलित नहीं होता। जो मनुष्य देहाभिमान करते हैं तथा विषयासक्त होते हैं, वे इष्ट वस्तु को प्राप्त करके हर्षित होते हैं तथा अनिष्ट वस्तु को प्राप्त करके उद्विग्न हो जाते हैं। ब्रह्मज्ञानी संसार की वस्तुओं से हर्षित अथवा उद्विग्न नहीं होता। वह सर्वत्र एकमात्र परब्रह्म का दर्शन करने से शान्त मग्न रहता है।

तत्त्वज्ञानी की बुद्धि अचंचल एवं स्थिर होती है। वह मोहातीत एवं संशयरहित होता है। अन्तरात्मा आनन्दमग्न सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म में निश्चल रूप से स्थित पुरुष जो संसार के भौतिक सुख-दुःख तथा भौतिक दुःख निस्सार प्रतीत होते हैं। विषयों में अनासक्त पुरुष मानसिक सुख-दुःख से विचलित नहीं होता तथा संशय, भय इत्यादि दोषों से सर्वथा मुक्त होता है। कर्मयोगी भी निष्काम कर्म द्वारा इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है तथा यही स्थितप्रज्ञ महात्मा का भी लक्षण है।[1] समत्व-बुद्धियुक्त पुरुष पाषाण की भाँति निर्जीव एवं निष्क्रिय नहीं होता है। वह स्थिरबुद्धि होने के कारण सक्रिय रहता हुआ भी अपने भीतर आनन्दमग्न एवं परम शान्त रहता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

**शब्दार्थ :** बाह्यस्पर्शेषु = बाहर के विषयों में ( बाह्य भौतिक विषयों में ) असक्तात्मा = आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला मनुष्य, आत्मनि = अपने भीतर, यत् सुखं = जो आत्मसुख अर्थात् आनन्द है, विन्दति = उसे प्राप्त कर लेता है, स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा = वह ब्रह्मयोग में युक्त अर्थात् ब्रह्म में एकीभाव से स्थित पुरुष, अक्षयं सुखं अश्नुते = अक्षय सुख अर्थात् परम आनन्द को प्राप्त कर लेता है। ( स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः शब्दादयः विषयाः अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जिनका स्पर्श ग्रहण किया जाता है, वे शब्द, रूप आदि विषय पदार्थ या विषय 'स्पर्श' कहलाते हैं। स्पर्श अर्थात् शब्दादि विषय बाह्य होते हैं। ब्रह्मयोगयुक्तात्मा का अर्थ है ब्रह्म में जिनकी आत्मा अथवा अन्तःकरण योग अर्थात् ध्यान, समाधि द्वारा समाहित हुआ है। )

**वचनामृत :** बाह्यविषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष उस दिव्य आनन्द को प्राप्त कर लेता है, जो अपने भीतर स्थित होता है। वह परमात्मा के योग से युक्त आत्मावाला ( अर्थात् परमात्मा के योग में एकीभाव से स्थित ) पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अनष्ट आनन्द प्राप्त करने का उपाय कहते हैं।

**रसामृत :** विवेकी पुरुष विषयों की तुच्छता को समझकर वैराग्यवान् हो जाता है तथा अन्तर्मुखी

---

१. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
गीता, २.५६

होकर आत्मसुख ( निजानन्द ) को प्राप्त करने मे प्रयत्नशील हो जाता है। आत्मानन्द का अनुभव होने पर मनुष्य को विषय-सुख नीरस प्रतीत होने लगते हैं।[१] अन्तर्मुखी मनुष्य को विषयो के प्रति आसक्ति छूटने पर आत्मा के स्वरूपभूत आनन्द की दिव्यानुभूति अनायास ही हो जाती है। वासनामुक्त अन्त करण का लय आत्मा मे ही हो जाता है तथा साधक को आत्मा के स्वरूपभूत आनन्द की अनुभूति हो जाती है। विषयो की तृष्णा आत्मानुभूति के मार्ग मे विघ्न उपस्थित कर देती है। विषयो के सुख क्षणिक एव दु खमिश्रित होते हैं तथा विषयो का अनुगामी न केवल जीवन-पथ मे भटक जाता है, वल्कि अनिर्वचनीय आत्मस्वरूपानन्द की अनुभूति से भी वचित रह जाता है। निजस्वरूपानन्द की अपेक्षा विषय-सुख तुच्छ एव हेय होता है। जिसकी अन्तरात्मा आसक्तिरहित है और विषयो के आकर्षण से मुक्त है, वह निजस्वरूप भूत अक्षय, अविच्छिन्न, अनन्त और अखण्ड आनन्द को प्राप्त कर लेता है तथा सच्चिदानन्दघन परम ब्रह्म मे समाहित होकर आनन्दस्वरूप हो जाता है।[२] भीतर चैतन्य तत्त्व ही अखण्ड आनन्द का स्रोत है तथा वाह्य जड पदार्थो मे आत्यन्तिक शान्ति अथवा अक्षय सुख प्रदान करने की क्षमता नही होती। मनुष्य परमात्मा मे स्थित होकर ही नित्य आनन्द की अनुभूति कर सकता है।

---

१ यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हत. षोडशीं कलाम्॥
—महाभारत

—इस लोक में समस्त कामना-पूर्ति का जो सुख है, स्वर्गादि का जो दिव्य विपुल सुख है, उसे एकत्रित करने पर जो सुख है, वह उस आत्मसुख के सोलहवें भाग के बराबर नही है, जो तृष्णाक्षय होने से प्राप्त होता है।

२ 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' अर्थात् आनन्दैकरस परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करके ब्रह्मनिष्ठ पुरुष शाश्वत आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

सिद्ध पुरुष चिदाकार वृत्ति के निरन्तर प्रवाह द्वारा सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन करता है तथा समाधि ( चेतना को समेटकर भीतर केन्द्रित करना ) एव व्युत्थान ( समाधि के पूर्व अथवा पश्चात् ) अवस्था मे ब्रह्ममय अथवा आनन्दमय रहता है। यह ब्रह्मयोगयुक्त ज्ञानी का लक्षण है तथा साधक के लिए साधना द्वारा प्राप्तव्य ( लक्ष्य ) है।

ये हि सस्पर्शजा भोगा दु खयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त. कौन्तेय न तेषु रमते बुध.॥२२॥

**शब्दार्थ** . ये सस्पर्शजा भोगा ते हि दु.खयोनय एव आद्यन्तवन्त'=जो सस्पर्श से जन्म लेनेवाले ( इन्द्रिय तथा विषयो के सयोग से उत्पन्न होनेवाले ) भोग हैं वे निश्चय ही दु ख के कारण ही हैं, कौन्तेय=हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन, बुध तेषु न रमते=बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता ( फँस नही जाता )।

**वचनामृत** · जो इन्द्रिय और विषयो ( विषय-पदार्थो ) के सयोग से उत्पन्न होनेवाले भोग हैं, वे ( सुखद प्रतीत होते हुए भी ) नि सन्देह दु ख के ही हेतु हैं तथा आदि-अन्तवाले ( अर्थात् अनित्य एव क्षणिक ) हैं। हे अर्जुन, बुद्धिमान् पुरुष उनमे नहीं रमता।

**सन्दर्भ** : श्रीकृष्ण विषय-सुखो की तुच्छता वता रहे हैं।

**रसामृत** : विवेकशील मनुष्य इन्द्रियो के क्षणिक सुखो की निस्सारता को समझकर आत्मा के शाश्वत आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। इन्द्रियो के विषय-सुख क्षणिक होते हैं तथा उनसे कभी तृप्ति नही होती, वल्कि तृष्णा की वृद्धि होती है। मनुष्य विषय-सुखो के आकर्षण मे बँधकर उनके पीछे दौड़ने से मार्गभ्रष्ट हो जाता है तथा वह न तो कोई जीवन मे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि ही करता है और न शान्ति ही प्राप्त कर सकता है। भौतिक पदार्थों के मोह के कारण ही मनुष्य ईर्ष्या, द्वेष, कपट, हिंसा आदि करते हैं। भोग-वृत्ति मनुष्य को पशुतुल्य बना देती है। भोगा-

सक्ति मनुष्य के जीवन को दु खमय बना देती है। विषय-भोग भोग-कामना को उद्दीप्त कर देते है तथा समस्त शक्तियो का क्षय कर देते है। विवेकशील मनुष्य भोग से त्याग, सकीर्णता से उदारता, स्वार्थ से परमार्थ तथा पशुत्व से देवत्व की ओर बढता रहता है[1] तथा आध्यात्मिक स्तर पर गहन आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है।

**शक्नोतीहैव यः सोढु प्राक्शरीरविमोक्षणात्।**
**कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥**

**शब्दार्थ :** **यः शरीरविमोक्षणात् प्राक् एव कामक्रोधोद्भव.वेगं सोढुं शक्नोति**—जो मनुष्य शरीरपात (मृत्यु) से पूर्व ही काम-क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन कर सकता है, **स नरः इह युक्त**—वह मनुष्य यहाँ (इस लोक में) योगी (परमात्मा के साथ योगवाला) है। **स सुखी**—वह सुखी है। (अथवा, **स युक्त**, **स सुखी (स) नर**—वह योगी है, वह सुखी है, वह नर है।)

**वचनामृत :** जो मनुष्य मृत्यु से पूर्व ही काम-क्रोध से उत्पन्न मनोवेग को सहन करने मे समर्थ हो जाता है, वही योगी (अर्थात् परमात्मा के साथ एकीभाव से युक्त) है और वही सुखी है (अथवा वह योगी है, वह सुखी है, वह नर है)।

**सन्दर्भ :** यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कौन योगी है ? कौन सुखी है ? श्रीकृष्ण योगी तथा सुखी का लक्षण बता रहे हैं।

**रसामृत :** प्रत्येक मनुष्य सुख और शान्ति चाहता है, किन्तु अविवेक के कारण सुख और शान्ति अत्यन्त दुर्लभ रहते हैं। मनुष्य विषयलोलुपता के कारण अनेक कामनाओ से ग्रस्त रहता है तथा कामना के कुचक्र से विमुक्त होना कठिन हो जाता है। कामना मनुष्य के मन मे असन्तोष, चिन्ता, भय, उद्वेग, तनाव आदि को उत्पन्न करके उसकी शान्ति का अपहरण कर लेती है तथा समस्त शक्तियो को क्षीण करके उसे दयनीय बना देती है। कामना दुष्पूर होती है तथा जिस प्रकार घृत डालने से अग्नि और अधिक प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार भोगो से कामाग्नि बढ जाती है। काम की क्षुधा (भूख) भोगो से सन्तुष्ट नही होती। एक कामना अनेक कामनाओ को जन्म दे देती है तथा कामनाओ का जाल फैलता चला जाता है। मनुष्य मकडी की भाँति अपने ही कामना-जाल का बन्दी हो जाता है। कामना पूर्ण न होने पर अतृप्ति के कारण मन मे कुण्ठा उत्पन्न हो जाती है तथा उसका विस्फोट क्रोध के रूप मे हो जाता है। काम और क्रोध का अविभाज्य युग्म है। जहाँ काम होता है, वहाँ क्रोध भी अन्तर्निहित होता है।

काम एक मनोवेग है, जो बुद्धिरूपी नौका को यत्र-तत्र प्रवाहित करके भटका देता है। वर्षाकाल मे नदी का प्रबल वेग नौका को भँवर मे प्रक्षिप्त करके जलनिमग्न कर देता है। कामवेग से चालित बुद्धि पथभ्रष्ट हो जाती है तथा मनुष्य उचित-अनुचित का विवेक त्याग देता है। कामान्ध व्यक्ति मनुष्य के रूप मे पशु ही होता है। जो काममुक्त है, वही योगी है, वही सुखी है, वही सच्चा नर है। कामयुक्त मनुष्य ससार-बन्धन मे बँध जाता है तथा काममुक्त मनुष्य परमात्मा से योग स्थापित कर लेता है। कामयुक्त मनुष्य दु खी रहता है तथा काममुक्त मनुष्य सुखी रहता है। कामयुक्त मनुष्य पशु होता है तथा काममुक्त मनुष्य समर्थ नर होता है। काममुक्त मनुष्य अपने जीवन-काल मे ही मुक्त (जीवन्मुक्त) होकर इसी लोक मे मुक्ति के आनन्द की अनुभूति कर लेता है।

विषय-पदार्थ को प्राप्त करने की कामना के प्रतिहत (बाधित) होने पर अर्थात् प्रतिकूलता होने पर द्वेष एव घृणा का विष उत्पन्न हो जाता है, जो क्रोधाग्नि के रूप मे प्रकट हो जाता है।

---

१. **'परिणामतापसंस्कारदु खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्चदु खमेव सर्वं विवेकिन'**—पातञ्जल योगसूत्र। अर्थात् परिणामदु ख, तापदुःख तथा सस्कारदु ख के साथ सयोग होने के कारण तथा गुणवृत्तियो में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी पुरुष की दृष्टि में सब ससार दुःखरूप ही है।

क्रोधाग्नि उत्पन्न होने पर मनुष्य का विवेक भ्रष्ट हो जाता है तथा मनुष्य असन्तुलित हो जाता है। क्रोधाग्नि उत्पन्न होने पर नेत्र रक्तिम हो जाते हैं, हृदय धडकने लगता है, भ्रू एव ओष्ठ फडकने लगते हैं तथा सारा देह कांप उठता है, मानो विनाशकारी भूचाल आया हो। क्रोध से उत्तेजित मनुष्य का वाणी पर सयम तथा व्यवहार पर नियन्त्रण नही रहता। क्रोध के आवेश मे मनुष्य यह भूल जाता है कि क्या शब्द कहने के योग्य हैं और क्या नही तथा क्या व्यवहार उचित है और क्या अनुचित है। अशोभनीय शब्द एव व्यवहार सदैव क्लेशकारक होते हैं। क्रोधी पुरुष अपने तथा दूसरो के लिए एक अभिशाप होता है। क्रोधी पुरुष अपने चारो तरफ शत्रु उत्पन्न कर लेता है, जो उसके लिए समस्या वन जाते हैं। क्रोधी पुरुष किसीसे सहयोग नही ले पाता तथा अकेला पडकर दु खी हो जाता है।

कामना के कारण मनुष्य अनेक आशाएँ करता है तथा कामना पूर्ण न होने पर वह निराश हो जाता है। निराश मनुष्य का उत्साह भग हो जाता है तथा वह आत्मग्लानि से ग्रसित होकर शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो जाता है। लाभ, सफलता, विजय, आदर-सम्मान आदि की आशाएँ भग होने पर विकराल हो जाती हैं तथा मनुष्य को अनेक प्रकार मे दु खमय एव दयनीय बना देती है।

काम-क्रोध के वश मे होने पर मनुष्य को असन्तोष, चिन्ता, भय, शोक, निराशा, अपमान, अपयश, रोग उच्चरक्तचाप, स्नायुदौर्बल्य, उद्वेग, अशान्ति, आत्मग्लानि, पश्चात्ताप इत्यादि अनेक प्रकार के मानसिक एव शारीरिक कष्ट भोगने पडते हैं।

वास्तव मे काम तथा क्रोध व्यक्तित्व के दोष होते हैं तथा उनसे अनेक हानियाँ होती हैं। मनुष्य को व्यक्तिगत कामना एव स्वार्थ से प्रेरित होकर कर्म नही करना चाहिए, वल्कि कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर कर्म करना चाहिए। जब मनुष्य कर्तव्य का पालन करना सीख लेता है, उसकी सर्वतोमुखी उन्नति के नये-नये द्वार स्वत खुलते चले जाते हैं। कामना को कर्तव्य-भावना से सयत करना विवेक होता है। कामना से प्रेरित होने पर मनुष्य अनेक कुकर्म कर बैठता है, जो व्यक्ति एव समाज के लिए अहितकर होते हैं। काम का नाश होने पर मनुष्य का कर्म कर्मयोग ( अर्थात् कर्म द्वारा परमात्मा के साथ योग ) हो जाता है। निष्काम कर्म से क्रमश चित्त-शुद्धि, तत्त्वज्ञान, ज्ञाननिष्ठा ( ब्राह्मी स्थिति ) तथा ब्रह्म-निर्वाण ( परमानन्द, मोक्ष ) प्राप्त हो जाते हैं।

मनुष्य को विवेक द्वारा घृणा, द्वेष एव क्रोध का परित्याग कर देना चाहिए। क्रोध का कारण कुछ भी हो, क्रोध एक त्याज्य मनोविकार है। कभी-कभी कृतघ्न व्यक्ति अथवा दुष्ट व्यक्ति के कुत्सित व्यवहार को देखकर क्रोध उत्पन्न हो जाता है, किन्तु क्रोध मनुष्य का परम शत्रु होता है। क्रोध मनुष्यो के मध्य दूरी वढा देता है तथा उससे अपना या दूसरो का कोई हित नही होता। मनुष्य को अपनी सद्भावना का परित्याग कदापि नही करना चाहिए और क्रोध को निष्प्रयोजन मानकर छोड देना चाहिए। कर्तव्य-पालन मे कभी-कभी कठोरता की आवश्यकता होती है तथा सबको प्रसन्न रखना सम्भव भी नही होता, तथापि किसीको सताने अथवा हानि पहुँचाने की दुर्भावना मन को दूषित, पतित एव शक्तिहीन कर देती है। सन्मार्ग पर दृढ रहकर कर्तव्य-पालन करनेवाले मनुष्य की अन्ततोगत्वा कोई हानि नही हो सकती। क्रोध मे विद्वान् और यति भी पशुतुल्य होकर अधर्म कर बैठते हैं।[1]

---

१ क्रोधो हि धर्मं हरति यतीना दु खसञ्चितम्।
ततो धर्मविहीनाना गतिरिष्टा न विद्यते॥
—वेदव्यास

—क्रोध यतियों के कठिनता से प्राप्त धर्म एव पुण्य का हरण कर लेता है। धर्मविहीन लोगो की इष्ट गति नहीं होती।

अत क्रोध सर्वथा त्याज्य है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता मे अनेक स्थलो पर काम और क्रोध को परम वैरी मानकर उनका त्याग करने तथा निरन्तर सम तथा शान्त रहकर निष्काम कर्म करने का उपदेश देते हैं।[1] काम-क्रोध के कषाय को त्यागकर मनुष्य शान्त और दान्त हो जाता है। आत्मा के महत्त्व को समझकर तथा वैराग्य के अभ्यास द्वारा काम और क्रोध के वेग को सहन[2] करनेवाला मनुष्य योगी होता है तथा सुखी रहता है। विवेकशील मनुष्य काम और क्रोध के वेग का बरबस दमन नही करता, बल्कि उनके उदात्तीकरण ( जन-सेवा, प्रभु-भक्ति, ज्ञान-साधन आदि मे लगाकर उन्हे दिशा देना, ऊँचे उठाना ) द्वारा उनका शमन कर देता है। काम तथा क्रोध पर विजय पाकर मनुष्य अचल शान्ति प्राप्त कर सकता है।

**योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।**
**स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥**

**शब्दार्थ : यः एव अन्तःसुखः अन्तराराम** = जो निश्चय-सहित अपने भीतर ही ( आत्मा मे ) सुख मानता है, अपने भीतर ही ( आत्मा मे ) आराम अर्थात् रमण करता है, **तथा य. अन्तर्ज्योति·** = और जो अपने भीतर ही ( आत्मा मे ) ज्योति अर्थात् आत्म-प्रकाश अथवा ज्ञान-प्रकाश देखता है, **स ब्रह्मभूतः योगी ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति** = वह ब्रह्म-भूत ( परमब्रह्म के साथ एकीभाव अथवा ब्रह्मरूप भाव-वाला ) ज्ञानयोगी ब्रह्मनिर्वाण ( मोक्ष, लय, परमगति, परमशान्ति, परमानन्द ) पा लेता है। ( **अन्तर्ज्योति. एव,** इस प्रकार अन्वय करने पर अर्थ यह है—ऐसे ही जो अपने भीतर ज्योति देखता है। )

**वचनामृत :** जो मनुष्य अपने भीतर ही सुख मानता है, अपने भीतर ही ( आत्मा मे ) रमण करता है तथा जो अपने भीतर ही ज्योति देखता है, वह सच्चिदानन्दघन परम ब्रह्म परमात्मा के साथ ऐक्य को प्राप्त ज्ञानयोगी ब्रह्मनिर्वाण ( ब्रह्म मे लय होना अथवा परमानन्द को प्राप्त करना ) पा लेता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण पूर्ण ज्ञानयोगी की सिद्ध अवस्था का वर्णन करते हैं।

**रसामृत :** ज्ञानयोगी सिद्धावस्था प्राप्त होने पर अपने भीतर आत्मा के जगत् मे ही सब कुछ पा लेता है तथा उसे बाह्य जगत् की अपेक्षा नही रहती। वह अपनी आत्मा मे सुख का अनुभव करता है, बाह्य विषयो मे रमण नही करता। वह अनित्य विषयो के सुख की क्षणिकता एव निस्सारता को समझता है। बाह्य विषयो मे सुख देने की क्षमता नही होती तथा अखण्ड चिदैकरस आत्मा ही आनद का अक्षय स्रोत है। ज्ञानयोगी का चित्त आत्मा मे समाहित रहता है। वह जगत् के विषय-भोगो मे रमण नही करता तथा आत्मा मे ही रमण करता है। वह परमात्मा के साथ ऐक्य मे मग्न रहता है। ज्ञानयोगी अपने भीतर आत्मा मे ही प्रकाश प्राप्त करता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानयोगी अह-कार का परित्याग करके परमब्रह्म परमात्मा का चिन्तन करता है तथा अन्त मे ज्ञानस्वरूप एव ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है।[1] ज्ञानयोगी सिद्धावस्था को प्राप्त होकर निर्गुण निराकार परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाता है तथा जीवन-काल मे जीवन्मुक्त रहकर देहपात होने पर मोक्ष ( परमगति अथवा ब्रह्मनिर्वाण ) को प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्म मे लीन हो जाता है। कर्मयोगी निष्काम कर्म के अभ्यास द्वारा स्थितप्रज्ञ-अवस्था को एव ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर लेता है तथा पूर्ण ज्ञानयोगी एव स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी के लक्षण एक ही होते हैं। अन्ततोगत्वा ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी एक ही अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

---

१ गीता मे अन्यत्र भी काम तथा क्रोध के परित्याग का उपदेश है—३ ४३, ४ १०, ४ १९ इत्यादि।

२. श्रीकृष्ण तितिक्षा का उपदेश दूसरे अध्याय मे भी देते हैं ( २.१४ )।

१ ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति—बृहदारण्यक उप० ४ ४. ६ अर्थात् ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय. क्षीणकल्मषा·।
छिन्नद्वैधा यतात्मान· सर्वभूतहिते रता·॥२५॥

**शब्दार्थ :** क्षीणकल्मषाः छिन्नद्वैधा सर्वभूतहिते रता·=नष्ट हो गये हैं कल्मष ( दोष, पाप ) जिनके, नष्ट हो गया है सशय ( अज्ञान ) जिनका, सम्पूर्ण प्राणियो के हित मे रत, यतात्मान ऋषय.=मन ( अथवा अन्त-करण ) को जीत लिया है जिन्होने ऐसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष ( एकाग्रचित्त ब्रह्मज्ञानी ), ब्रह्मनिर्वाण लभन्ते=ब्रह्म-निर्वाण को ( परमानन्द-प्राप्तिरूप परब्रह्म को ) प्राप्त करते हैं।

**वचनामृत** . जिनके सब दोष नष्ट हो गये हैं, जिनके सब सशय छिन्न हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियो के हित मे सलग्न हैं और जिन्होने मन जीत लिया है ( तथा परमात्मा के साथ एकीभाव मे स्थित है ), ऐसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करते हैं। ( जीवन-काल मे जीवन्मुक्त रहकर देहपात होने पर मोक्ष को प्राप्त होते है। )

**सन्दर्भ** यह श्लोक अत्यन्त प्रख्यात है। दो ( २५, २६ ) श्लोको मे परमात्मा को प्राप्त ब्रह्म-वेत्ता पुरुषो के लक्षणो की चर्चा की गयी है।

**रसामृत** . सच्चिदानन्दघन परमब्रह्म पर-मात्मा के साथ एकात्मता होना ज्ञान की पराकाष्ठा तथा ज्ञानी की परमोच्च अवस्था है। ज्ञान-साधना द्वारा सिद्ध ज्ञानीजन इसे प्राप्त करनेवाले ऋषि होते हैं।

मन एव इन्द्रियो पर विजय पानेवाले ऋषि[1] सशयरहित होते है। ज्ञान के प्रकाश से समस्त अज्ञान का निराकरण हो जाता है तथा मनुष्य पाप-पुण्य से ऊपर उठकर पाप-पुण्य के चक्र से छूट जाता है। वह विषयासक्त नही होता तथा वासना-मुक्त होता है। ज्ञानाग्नि समस्त कर्मो को ( समस्त पापो और पुण्यो को ) भस्मसात् कर देती है। मनुष्य जीवित अवस्था मे ही मुक्त होकर आनन्द-मय हो जाता है तथा सृष्टि की चैतन्य एव दिव्य परम सत्ता के साथ ऐक्य स्थापित करके दिव्य एव सर्व-समर्थ वन जाता है।

ज्ञानी मनन, निदिध्यासन, वैराग्य, ध्यान इत्यादि की प्रक्रिया से जिस परमोच्च अवस्था को प्राप्त करता है, कर्मयोगी उसे निष्काम कर्म एव ईश्वरार्पण-बुद्धि ( कर्मों को ईश्वर के अर्पण करना ) द्वारा प्राप्त करता है।[1]

ज्ञानयोगी को भी ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न के साथ चित्त-शुद्धि के लिए कर्म करना आवश्यक होता है। श्रीकृष्ण कहते है कि भगवान् को प्राप्त सिद्ध पुरुष क्रियाशून्य, भावशून्य अथवा पाषाण खण्ड की भाँति निर्जीव नही होता, वल्कि वह उदात्त होकर जीवमात्र के हित मे रत रहता है। दिव्य चेतना मे स्थित होकर तथा प्राणिमात्र के लिए प्रेम से परिपूर्ण होकर वह सबका सुहृद् होता है, सबके कल्याण का चिन्तन करता है, सबको शरण एव शान्ति प्रदान करता है। वह मानुषी चेतना को पार कर दिव्य ब्राह्मी चेतना मे अव-स्थित रहता है। ऐसा सिद्ध पुरुष मात्र सकल्प, शुभकामना और आशीर्वाद द्वारा लोक-कल्याण करता रहता है।

वास्तव मे, परमात्मा को प्राप्त पुरुष लोक-कल्याण का अहकार एव दम्भ नही करता, क्योकि वह नितान्त अहकारशून्य होता है तथा लोक-कल्याण मे रत होना, जीवमात्र के कल्याण मे रत होना उसका सहज स्वभाव होता है। जिस

---

१ ऋषयो मन्त्रद्रष्टार· अर्थात् मन्त्रो के गूढ़ार्थ का दर्शन ( अनुभूति ) करनेवाले तत्त्वार्थद्रष्टा ऋषि होते हैं। साक्षात्कृतधर्माण ऋषय अर्थात् धर्म के तत्त्व का साक्षा-त्कार ( दर्शन, अनुभूति ) करनेवाले ऋषि होते हैं। ऋषि तत्त्वार्थदर्शने अर्थात् सम्यक् दर्शन करनेवाला ऋषि है। ऋषि. दर्शनात्—दर्शन से ऋषि कहलाता है।

१ ज्ञानी सद्योमुक्ति ( मननादि द्वारा तुरन्त मुक्ति ) तथा कर्मयोगी क्रममुक्ति ( अर्थात् निष्काम कर्म, चित्त-शुद्धि, ज्ञानोदय द्वारा मुक्ति ) प्राप्त करता है। ज्ञानयोग दुर्गम है, कर्मयोग सुगम है।

प्रकार अज्ञानी मनुष्य अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए रत रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सहज भाव से सर्वभूतहितरत रहता है, किन्तु वह निरन्तर अहकाररहित होता है। ज्ञानी पुरुष अपने भीतर परम शान्ति की अनुभूति करता है तथा समस्त प्राणियो मे अपना दर्शन एव अपने मे समस्त प्राणियो का दर्शन अथवा समभाव से सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करता है। वह तथाकथित पापी एव दुष्टजन मे भी भगवान् का ही दर्शन करता है तथा उसके सम्पर्क मे आकर पापी भी पवित्रचेता हो जाता है। भगवान् प्राणिमात्र के हितैषी हैं। भगवान् को प्राप्त मनुष्य भी प्राणिमात्र को आत्मीयता अथवा आत्मभाव से देखता है। यही सच्चे धार्मिक व्यक्ति का लक्षण है। भगवान् श्रीकृष्ण 'सर्वभूतहिते रताः' कहकर गीता को व्यक्तिगत चेतना के अभ्युदय के साथ ही सामाजिक चेतना के समुत्थान की आवश्यकता पर भी बल देते है तथा ऊँचे उठकर दिव्यत्व प्राप्त करने पर ही नही, वलिक जीवन के निम्न स्तर पर पशु-पक्षियो के प्रति भी सवेदनायुक्त होने का उपदेश करते है।

**कामक्रोधवियुक्तानां यतीना यतचेतसाम्।**
**अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥**

**शब्दार्थ :** कामक्रोधवियुक्ताना यतचेतसा विदितात्मना यतीनां अभित.=काम और क्रोध से रहित, जीत लिया है चित्त जिन्होने, आत्मा को जान लिया है जिन्होंने, ऐसे यति पुरुषो ( ज्ञानीजन ) के सब ओर, ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते=परम ब्रह्म ही है।

**वचनामृत :** काम और क्रोध से रहित, अपने चित्त को जीतनेवाले, आत्मवित् ( अर्थात् आत्म-साक्षात्कार अथवा परमात्मा का दर्शन करनेवाले ) यतिगण ( ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मज्ञानी ) के लिए सब ओर परमब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है।

**सन्दर्भ :** ज्ञानयोगी की सिद्धावस्था का वर्णन है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण पुन पुन वलपूर्वक यह कह रहे हैं कि काम और क्रोध परमानन्द-प्राप्ति के मार्ग मे सर्वाधिक प्रवल अवरोधक होते है तथा जब तक मनुष्य इन पर विजय नही प्राप्त करता, वह कदापि लौकिक सुख अथवा आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति नही कर सकता। अनेक मनुष्य जो तीर्थयात्रा, तप, उपवास, दान, भजन, कीर्तन, पूजा-पाठ आदि करते हैं, किन्तु काम और क्रोध का त्याग नही करते, वे सदैव दु खी रहते है तथा लौकिक सुख अथवा आध्यात्मिक आनन्द से वचित ही रहते हैं। अनेक मनुष्य जो ईमानदारी, सचाई और परिश्रम से कर्तव्य-पालन करते है, किन्तु काम और क्रोध के वशीभूत रहते हैं, वे भी लौकिक सुख अथवा निजस्वरूपानन्द से वचित रहते है। वास्तव मे काम और क्रोध ऐसे मनोविकार हैं, जो समस्त साधना को विफल कर देते है तथा पूजा-पाठ एव पुण्य-कर्म को सात्त्विक नही रहने देते। काम और क्रोध से विमुक्त ( रहित ) होने पर मनुष्य आत्मज्ञानी यति हो जाता है। कामना-पूर्ति के मार्ग मे अवरोध अथवा प्रतिकूलता उत्पन्न होने पर क्रोध प्रकट हो जाता है। क्रोध का आविर्भाव कामना से होता है। अतएव कामना पर विजय प्राप्त करके निष्काम होना ही सयतचित्तता अथवा मनोविजय का उपाय है तथा आत्मज्ञान का प्रथम सोपान है। ब्रह्मनिर्वाण आत्मज्ञानी के सब ओर होता है अर्थात् उसे पूर्णत सुलभ होता है। वह जीवितावस्था मे ब्रह्मस्वरूप परमानन्द को प्राप्त कर लेता है तथा शरीरपात होने पर उसीमे लीन हो जाता है।

**स्पर्शान्कृत्वा वहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।**
**प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥**
**यतेन्द्रियमनोवुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।**
**विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव स. ॥२८॥**

**शब्दार्थ :** वाह्यान् स्पर्शान् वहिः एव कृत्वा=वाह्य स्पर्शों को ( विषय-भोगो को ) वाहर ही करके ( उनका

चिन्तन न करते हुए ) **च**=और, **चक्षुः भ्रुवो. अन्तरे**= नेत्र को अर्थात् नेत्रो की दृष्टि को भौंहो के बीच मे अर्थात् भृकुटी के मध्य मे ( स्थित करके ), **नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा**=नासिका मे विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायु को सम ( एक-सा ) करके, **यतेन्द्रियमनोबुद्धि** =इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जीतनेवाला, **यः मोक्षपरायण मुनि. विगतेच्छाभयक्रोध** =जो मोक्षपरायण मुनि ( मननशील ज्ञानी ) इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, **स सदा मुक्त एव**=वह सदा मुक्त ही है।

**वचनामृत** बाहर के स्पर्शों ( बाह्य जगत् के विषयो ) को बाहर ही रखकर ( अर्थात् उनका चिन्तन न करते हुए ) और दृष्टि को भृकुटी के मध्य मे स्थित करके तथा नासिका मे विचरनेवाले प्राण और अपान वायु को सम करके इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जीतनेवाला जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय, क्रोधशून्य है, वह सदा मुक्त ही है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण ध्यानयोग के साधन का महत्त्व कहते हैं, जो कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी दोनो के लिए आवश्यक है। ये दोनो श्लोक आगामी छठे अध्याय के मूलाधार हैं।

**रसामृत** . मानव के आनन्द का अक्षय स्रोत भीतर ही है। मानव की अशान्ति के कारण भी भीतर ही हैं। मनुष्य को आनन्द की उपलब्धि तथा अशान्ति की निवृत्ति के लिए भीतर ही प्रयत्न करना चाहिए। भीतर ही जीवन के मूलस्रोत है तथा भीतर ही ऊर्जा के केन्द्र हैं। समस्त चेतना को समेटकर भीतर गहरे स्तर पर जीवन के मूलस्रोत अथवा आत्मचेतना मे केन्द्रीभूत करना एक साधना है, जिसे ध्यानसाधना कहते है। इन्द्रियो के झरोखो से बहिर्जगत् की ओर जानेवाले चिन्तन के प्रवाह को विपरीत दिशा मे ( बाहर से भीतर की ओर ) ले जाकर भीतर आत्मा के दिव्य प्रकाश मे केन्द्रीभूत कर देना ध्यानयोग है। भीतर एक दिव्य अन्तर्जगत् है, जिसकी मनोरमता अनिर्वचनीय है। मनुष्य अपने 'स्व' को भीतर खोजकर ध्यान द्वारा अपने स्वरूप का दर्शन करके कृतार्थ हो जाता है। मनुष्य अपने भीतर रिक्तता अथवा शून्य का अनुभव नही करता, बल्कि सत्, चित्, आनन्द के स्वरूप आत्मा के दिव्यत्व की अनुभूति करता है। मनुष्य ध्यान द्वारा बहिर्जगत् के मिथ्यात्व तथा आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता की दिव्यानुभूति करता है। ध्यान दु ख के निराकरण और आनन्द की उपलब्धि का श्रेष्ठ साधन है। शान्ति और आनन्द की खोज ध्यानसाधना द्वारा सफल होती है। एक प्रत्यय का निरन्तर प्रवाह ध्यान होता है, जो समाधि मे परिणत हो जाता है।[1] ध्यान का अभ्यास जीवन को अन्तर्प्रकाशित करके रस का सचार कर देता है तथा जीवन को उच्चतम धरातल पर सस्थित कर देता है। ध्यान ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी दोनो के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव मे ध्यान ( अथवा ध्यानयोग ) ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनो का समान रूप से अग है। भगवान् श्रीकृष्ण ध्यान की विधि का वर्णन करते हुए कहते है कि मनुष्य को ध्यान से पूर्व बहिर्जगत् के विषय-भोगो के चिन्तन को बाहर ही निकाल देना चाहिए। मनुष्य विषयो को सुखप्रद एव रमणीय मानकर उनका चिन्तन करता है तथा मन मे विषय-भोगो के पूर्वसचित सस्कार उनके प्रति आसक्ति को उद्दीप्त कर देते हैं। विषयो से आकृष्ट होकर विषयो मे सुख माननेवाला मनुष्य विषयो का चिन्तन और ध्यान करता रहता है तथा परमात्मा के ध्यान मे एकाग्र

---

१ 'ध्यानाच्च' का भाष्य करते हुए शकराचार्य कहते हैं कि एक प्रत्यय का प्रवाह ध्यान होता है।

**मोक्ष कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत् ।**
**ध्यानसाध्य मत तच्च तद्ध्यानं हितमात्मन ॥**

अर्थात् मोक्ष कर्मक्षय होने से, कर्मक्षय आत्मज्ञान से, आत्मज्ञान ध्यान से प्राप्त होता है। अत ध्यान ही आत्मा का हितकारी है।

नही होता ।[1] मनुष्य विवेक द्वारा विषयो की क्षण-भगुरता एव निस्सारता को समझकर जितना वैराग्य की ओर बढता है, उतना ही वह ध्यान मे एकाग्र हो जाता है । योगी को ध्यान के समय दोनो भौहो के मध्य मे ( भृकुटी मे ) दृष्टि को ऊपर की ओर उठाकर उसकी स्थापना करनी चाहिए तथा दोनो नेत्र अर्धनिमीलित ( आधे बन्द ) रखने चाहिए । नेत्रो के पूर्णतया निमीलित होने पर निद्रा की तथा उन्मीलित होने पर चारो ओर वस्तुओ द्वारा विक्षेप होने की सभावना रहती है । इसके अतिरिक्त, दृष्टि को ऊँचा करने से मानसिक चिन्तन से भी ऊपर उठने मे सहायता मिलती है, किन्तु दृष्टि को अधिक ऊँचा उठाने से नेत्र-दोष होने की सभावना हो जाती है । भ्रूमध्य मे दृष्टि की स्थापना की अपेक्षा उसे नीचा करके नासाग्र अर्थात् नाक के अगले भाग पर स्थापना करना अधिक सुगम होता है । वास्तव मे दृष्टि को ऊपर उठाकर भ्रूमध्य मे स्थापित करना न केवल दुष्कर है, बल्कि अत्यन्त हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है । अतएव ध्यान के प्रारम्भ मे अर्धनिमीलित नेत्रो से नासिकाग्र पर स्थूल दृष्टि स्थापित करनी चाहिए तथा थोड़ी देर वाद नेत्र मूँदकर भृकुटी पर अर्थात् भृकुटी-क्षेत्र के सामने कल्पित प्रकाश पर मानसिक दृष्टि स्थिर करनी चाहिए । भृकुटी मे दो दलवाला कमल 'आज्ञाचक्र' सस्थित होता है तथा इसके समीप सप्तकोश होता है । भृकुटी मे मानसिक ध्यान करने से ज्योति फूट जाती है ।[2] आज्ञाचक्र का क्षेत्र ही शिव का तीसरा नेत्र है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान का केन्द्र है । आज्ञाचक्र जगाकर मनुष्य दूसरो को मानसिक सन्देश दे सकता है तथा उनकी मानसिक शक्ति को जाग्रत कर सकता है । सारा मस्तक आज्ञाचक्र से प्रभावित होता है । इसी कारण मस्तक पर, विशेषत भृकुटी पर, शीतल एव सुगन्धित चन्दन लगाया जाता है । आज्ञाचक्र मस्तिष्क के मध्य मे सस्थित सहस्रार चक्र से जुडा हुआ है । सहस्रार चक्र का ब्रह्माण्ड के साथ सम्बन्ध है तथा यह विद्युत्-तरगो का केन्द्र हे । ध्यान मे प्राणायाम ( श्वास-नियन्त्रण ) का विशेष महत्त्व है । प्राण-वायु ( नासिका से बाहर निकलनेवाली ) तथा अपान वायु ( नासिका मे भीतर जानेवाली ) की गति को धीरे-धीरे समान करने पर ध्यान की एकाग्रता होने मे विशेष सहायता मिलती है । ध्यान मे जितनी एकाग्रता होती जाती है, श्वास उतना ही सम, सूक्ष्म, सहज, शान्त और मृदु होता जाता है ।[1] इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि का नियन्त्रण एव सयम ध्यान की एकाग्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है । जो मनुष्य जितेन्द्रिय हे, वही ध्यानयोग को सिद्ध कर सकता है । जितेन्द्रिय एव

---

१ **'ध्यायतो विषयान् पुंस' सङ्गस्तेषूपजायते'**—गीता, २ ६२, ६३

श्रोत्र ( कान ), त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण ( नासिका ) पञ्चेन्द्रियो के क्रमश शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषय हैं । विषयो को स्पर्श कहते हैं । **स्पृश्यन्ते गृह्यन्ते इति स्पर्शाः ।**

२ विद्वानो का कथन है कि भृकुटी से 'लेज़र' प्रकाश-किरण फूटकर निकलती है । बौद्ध ध्यानयोगी भौंहो के मध्य ज्योति का ध्यान करते समय यह मत्र जपते हैं—ॐ ह्री मणिपद्मे हुम । आज्ञाचक्र जगाने के लिए केवल ॐ अथवा ॐ नम शिवाय अथवा ॐ नमो भगवते वासुदेवाय को विना माला लिये हुए धीरे-धीरे ध्यानस्थ होने तक जपना सहायक होता है । यह ज्योति अन्तर्चक्षु है ।

१ प्राण तथा अपानवायु की गति विषम होती है । प्राण तथा अपान दोनो कभी वाम नासिका में तथा कभी दक्षिण नासिका मे विचरण करती हैं । वाम नासिका मे विचरण करने पर पिङ्गला नाडी ( रजोगुणी ) मे सञ्चरण कहलाता है तथा दोनो मे सम होने पर सुषुम्ना नाडी ( सतोगुणी ) मे सञ्चरण कहलाता है । इडा तथा पिङ्गला मे सञ्चरण करने पर मन चचल रहता है तथा सुषुम्ना मे विचरण करने पर अर्थात् प्राण और अपान के सम होने पर मन प्रशान्त हो जाता है । सूक्ष्म, मन्द तथा दीर्घ श्वास उत्तम होता है ।

आत्मसयमी होने पर ही प्राणायाम आदि का महत्त्व है। आत्मसयमी मनुष्य जीवन मे मौलिक परिवर्तन का अनुभव कर सकता है।[1] जो मोक्ष अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति अथवा परम गति के लिए निरन्तर यत्नशील है, वे मोक्षपरायण है। जो परमात्मा की प्राप्ति के लिए गम्भीर मनन करते हैं, वे मुनि होते हैं।

जो पुरुष काम, भय और क्रोध का परित्याग कर देते है, जिनके मन को कामना, भय, क्रोध दूषित अथवा विकृत नही करते, उनके निर्मल चित्त मे[2] ज्ञान का उदय हो जाता है तथा वे परमात्मा के साथ एकात्मता की दिव्यानुभूति प्राप्त कर लेते हैं। वे जीवित अवस्था मे भी सदा मुक्त ही है। श्रीकृष्ण काम, भय और क्रोध के परित्याग पर अनेक प्रकार से बल देते हैं।

**भोक्तार यज्ञतपसा सर्वलोकमहेश्वरम्।**
**सुहृद सर्वभूताना ज्ञात्वा मा शान्तिमृच्छति ॥२९॥**

शब्दार्थ · मा यज्ञतपसां भोक्तार सर्वलोकमहेश्वरम् = मुझे यज्ञ और तपो का भोगनेवाला समस्त लोको का महेश्वर, सर्वभूतानां सुहृद = ( तथा ) सब प्राणियो का सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित हितैषी, ज्ञात्वा = जानकर, शान्ति ऋच्छति = शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

वचनामृत · ( भक्तकर्मयोगी ) मुझे सब यज्ञो तथा तपो का भोगनेवाला, सब लोको का महेश्वर तथा समस्त प्राणियो का सुहृद् जानकर शान्ति प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ इस श्लोक मे भक्तियोग की चर्चा है।

रसामृत ज्ञानीजन जिस निर्गुण, निराकार, निरुपाधि ब्रह्म को मनन, निदिध्यासन आदि से प्राप्त करते हैं, भक्तजन उसके सगुण साकार एव सोपाधि रूप के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। सगुण ब्रह्म भक्तो के द्वारा समर्पित यज्ञ, तप, पूजा का भोक्ता है तथा सभी लोको का महान् ईश्वर है। वह सभी प्राणियो मे अन्तर्यामी के रूप मे स्थित होता है। प्राणीमात्र की सेवा भगवान् की ही सेवा है। भगवान् सभी प्राणियो का सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित हितैषी है।[1] सर्वात्मा परमात्मा को जानकर, परमात्मा की शरण ग्रहण कर, मनुष्य शान्ति पा लेता है। परमात्मा कही दूर नही है, बल्कि अपने भीतर स्थित अपना घनिष्ठ मित्र है, जो हमारी पुकार सुनकर सदैव सहायता करता है तथा जिस पर हम पूरा भरोसा कर सकते हैं।[2] परमात्मा निराकार होकर भी साकार है, निर्गुण होकर भी सगुण है, निरुपाधि होकर भी सोपाधि है तथा न्यायशील होकर

---

१ महात्मा गाधी कहते हैं, "योगीन्द्र पतञ्जलि ने यम-नियम को प्रथम स्थान देकर उसके साधक के लिए ही मोक्ष-मार्ग मे प्राणायाम आदि को सहायक माना है।" यम-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। नियम-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान। पातञ्जल योग के अष्टाङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना प्रत्याहार है, मन को वश मे करके उसे स्थिर करना धारणा है तथा बुद्धिसहित इन्हे स्थिर करना ध्यान है। समाधि सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात होती है।

२ महर्षि पतञ्जलि ने चित्त को आत्मा मे स्थिर करने के अभ्यास मे नौ प्रकार के अन्तराय अर्थात् विघ्नो की गणना की है। व्याधि ( रोग ), स्त्यान ( चित्त की अकर्मण्यता ), सशय, प्रमाद, आलस्य अविरति ( वैराग्य न होना ), भ्रान्ति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व ( समाधि-अवस्था प्राप्त न होना ), अनवस्थितत्व ( समाधि-अवस्था प्राप्त होने पर भी उसमे अचलता न होना )। चित्त की निर्मलता अथवा प्रसन्नता ( मुदिता ) ध्यान मे विशेष सहायक है। —गीता २ ६४, ६५।

१ सर्वप्राणिनां प्रत्युपकारनिरपेक्षतया उपकारिणम् —शकराचार्य। अर्थात् वह सब प्राणियो के प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए उपकारी है।

२ येषामह प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरु सुहृदो दैवमिष्टम्—भागवत। अर्थात् जिनका मैं प्रिय हूँ, आत्मा हूँ, पुत्र हूँ, मित्र हूँ, गुरु हूँ, हितैषी हूँ, इष्टदेव हूँ।

भी करुणामय है। परमात्मा हमारा अपना स्वरूप है तथा हमारा मित्र भी। परमात्मा कुछ ग्रहण नही करता तथा प्रेमार्पित यज्ञ, तप, पूजा, सेवा आदि को ग्रहण भी करता है। भगवान् श्रीकृष्ण यह भी सकेत कर रहे हैं कि दलित, दुखी, दीन और पीडित प्राणियो की सेवा स्वय परमात्मा की सेवा है।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

ॐ तत् सत् श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् एव ब्रह्मविद्या मे, योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण-अर्जुन सवाद मे कर्मसन्यासयोगनामक पाँचवाँ अध्याय।

## सार-संचय

### पञ्चम अध्याय : कर्मसंन्यासयोग

इस अध्याय का नाम कर्मसन्यासयोग है। कर्म का सन्यास (त्याग) परमानन्दस्वरूप परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने का एक योग (उपाय) है। जगद्गुरु शकराचार्य ने इसी अध्याय को प्रकृतिगर्भ कहा है। (पाँचवे अध्याय के अन्तिम श्लोक का विषय सगुण ब्रह्म अथवा मायाशवलित ब्रह्म है अर्थात् प्रकृति (माया) ही है गर्भ अथवा उत्पत्ति-स्थान जिसका, ऐसा सगुण ब्रह्म है। परब्रह्म मायासहित होने पर सगुण ब्रह्म होता है तथा मायारहित होने पर शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्गुण ब्रह्म होता है।)

श्रीकृष्ण कहते है कि कर्मसन्यास तथा कर्मयोग का लक्ष्य एक ही है। पूर्णावस्था मे दोनो एक ही होते हैं। अनेक लोग ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन करके ज्ञान के उदय से पूर्व ही कर्म-त्याग कर देते हैं तथा भटक जाते हैं। इस दृष्टि से कर्मयोग कर्म-सन्यास की अपेक्षा श्रेष्ठ है। कर्मयोग का अर्थ है निष्काम (रागरहित) होकर कर्म करना और कर्म को ईश्वरार्पण कर देना। कर्मयोग का अभ्यास करने से राग छूट जाता है और चित्त-शुद्धि हो जाती है तथा चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान का उदय स्वत हो जाता है, जो ज्ञानमार्गी को मनन, निदिध्यासन, वैराग्य आदि के द्वारा अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होता है। चित्त-शुद्धि के लिए निष्काम कर्म अथवा कर्मफल मे आसक्ति का त्याग श्रेष्ठ उपाय है। कर्मयोगी निष्काम कर्म द्वारा राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। अत निष्काम कर्म करनेवाला कर्मयोगी नित्यसन्यासी है। कर्मयोगी कर्म करते हुए वन्धनमुक्त हो जाता है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण अनेक वार ज्ञानयोग की महिमा का गान करते है, गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग ही है।

ज्ञानी का चिन्तन होता है कि परम ब्रह्म निर्लेप, निर्विकार, निष्क्रिय, शुद्ध चैतन्यस्वरूप सच्चिदानन्दघन है और आत्मा उसका अभिन्न अश है तथा देह, इन्द्रिय आदि के कर्म प्रकृति के कारण होते हैं, जिनसे आत्मा का कोई सम्बन्ध नही है। ज्ञानयोगी मनन, निदिध्यासन द्वारा अन्त मे आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानकर उसमे स्थित हो जाता है, आत्मसाक्षात्कार कर लेता है अथवा परमब्रह्म के साथ ऐक्य की दिव्य अनुभूति प्राप्त कर लेता है। ज्ञानयोगी जीवन-काल मे ही मुक्त हो जाता है तथा मृत्यु होने तक मुक्त भाव से सहज रूप मे कर्म करता रहता है एव अनायास ही लोकहितरत रहता है तथा देहपात होने पर ब्रह्मलीन हो जाता है।

ज्ञानी नवद्वारविशिष्ट देह मे विराजमान आनन्दस्वरूप दिव्य आत्मा के आनन्द अथवा निजानन्द की अनुभूति पाकर कृतार्थ हो जाता है।

ज्ञान का प्रकाश अज्ञान के अन्धकार को छिन्न कर देता है। ब्रह्म को जाननेवाला अथवा ब्रह्म को

प्राप्त होनेवाला ज्ञानी ब्रह्मरूप हो जाता है तथा उसे सृष्टि ब्रह्ममय भासती है। भीतर और बाहर सर्वत्र ब्रह्म ही है। ज्ञानी की दृष्टि मे विद्याविनय-सम्पन्न विद्वान् तथा श्वपाक मे अथवा कुत्ते और गौ मे एक समान ब्रह्म सर्वभूतात्मा दीखता है। ज्ञानी समदर्शी होता है। वह सबमे अपनी आत्मा का तथा अपने मे सबका दर्शन करता है। ससार के भौतिक सुख (विषय-सुख) क्षणभगुर तथा दु खमिश्रित होते हैं तथा ब्रह्मानन्द की अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ एव हेय होते हैं। ब्रह्मानन्द अक्षय, स्थायी एव दिव्य होता है।

कर्मयोगी निष्काम कर्म करते हुए कर्मनिष्ठा द्वारा स्थितप्रज्ञता अथवा ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लेता है। स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी तथा ज्ञाननिष्ठ ज्ञानयोगी के लक्षण एक ही होते हैं। कर्मयोगी कामना-त्याग पर विशेष बल देता है। कामना त्यागकर कर्म क्यो करें? चित्त-शुद्धि के लिए। कर्म की प्रेरणा किससे लें? कर्तव्य-भावना से। कर्म का त्याग कैसे करें? ईश्वरार्पण करने से। ज्ञानयोगी को समस्त जगत् ब्रह्ममय दीखता है तथा कर्मयोगी को प्रभुमय अथवा हरिमय। ज्ञानयोगी के लिए जो परमात्मा निर्गुण, निराकार है, वही कर्मयोगी भक्त के लिए सगुण साकार है, परम घनिष्ठ सुहृद् है, सहायक है, कृपालु है तथा सच्ची पुकार सुनकर अनुग्रह करने के लिए आतुर रहता है। कर्मयोगी की दृष्टि मे दीन, दु खी तथा पीड़ित प्राणियो की सेवा परमात्मा की सेवा होती है। कर्मयोगी भी ज्ञानी की भाँति सर्वभूतहितरत रहता है। वही एक परमात्मा निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार, अव्यक्त-व्यक्त तथा ध्येय एव उपास्य है। भगवान् भक्तो का प्राणप्रिय सर्वस्व होता है तथा पग-पग पर सहायता करता है। वह सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् एव परमपिता परमेश्वर की शरण ग्रहण करके निर्भय एव निश्चिन्त हो जाता है।

निर्गुण अथवा सगुण परमात्मा के ध्यान का अभ्यास मनुष्य को शक्ति एव शान्ति प्रदान करता है। ध्यान मानसिक तनाव, भय, चिन्ता, अनिद्रा, राग, द्वेष आदि को दूर करता है तथा मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए अमोघ उपाय है। ध्यान आध्यात्मिक साधको के लिए नितान्त अनिवार्य है। ध्यान द्वारा जीवन की भव्यता एव दिव्यता की सुखानुभूति होती है। आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि के लिए ससार छोडकर वन अथवा पर्वत की कन्दराओ मे जाना आवश्यक नही है। आध्यात्मिक भाव के जागने पर भौतिक जीवन मे दिव्यता का पुट आ जाता है और भौतिक एव आध्यात्मिक जीवन मे कोई अन्तर नही रहता। ज्ञानयोग तथा कर्मयोग पृथक्-पृथक् होकर भी एक-दूसरे के पूरक हैं तथा दोनो का लक्ष्य एक ही है।

कर्मयोगी का धर्म निस्स्वार्थ भाव से निरन्तर कर्म करते रहना है। कर्मयोगी का जीवन एक ऐसी यात्रा है, जिसमे चलना ही चलना है। कर्मयोगी को जो भी जिस क्षण जहाँ मिल जाय, वह उसे ही जीवन सँवारने मे सहयोग देता है, वह सबके प्रति सद्भावना रखता है तथा दुष्ट के प्रति भी दुर्भावना नही करता। कर्म का प्रमुख उद्देश्य चित्त-शुद्धि है। उद्देश्य जानने पर कर्म रसमय हो जाता है। पूरे मनोयोग एव शक्ति से कर्म करना उसका सहज स्वभाव हो जाता है। अनुकूल व्यक्ति एव वस्तु के प्रति राग तथा प्रतिकूल व्यक्ति एव वस्तु के प्रति द्वेष उत्पन्न होने से चित्त दूषित हो जाता है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, घृणा, क्रोध इत्यादि विकार से मुक्त होकर ही चित्त सम एव स्वस्थ रह सकता है। राग-द्वेष का अतिरेक शारीरिक एव मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न करता है। राग-द्वेष से न केवल वातावरण विषाक्त होता है तथा कार्यसम्पन्नता में बाधा होती है, वल्कि अशान्ति एव उद्वेग भी उत्पन्न हो जाते हैं। कर्मयोगी के कर्तव्य-पालन की दृढता से अनेक लोग, विशेषत अकारणद्वेषी दुष्टजन, उस पर दोषारोपण करते हुए उसके विरुद्ध मिथ्या प्रचार करते हैं। दुष्टजन के अपशब्दो से भी हतोत्साह न होकर उत्साहपूर्वक कर्मरत रहना तथा मन को राग-द्वेष से विमुक्त रखना कर्म-

कुशलता है। कर्मयोगी सद्भावना, सहानुभूति एव क्षमाभाव से परिपूर्ण रहता है तथा आवश्यकता होने पर दण्ड भी राग-द्वेष-विमुक्त एव सद्भावना-पूर्ण होकर ही देता है। कर्मयोगी यह चिन्ता नही करता कि उसके सम्बन्ध मे कौन क्या कह अथवा कर रहा है तथा वह जानता है कि सन्मार्ग पर चलनेवाले कर्मनिष्ठ मनुष्य के हितो की रक्षा न्यायकारी एव दयामय परमेश्वर स्वय करता है। वह प्रशसा एव निन्दा से विचलित नही होता। वह प्रभु की प्रसन्नता एव अपनी चित्त-शुद्धि के लिए कर्म करता है। सभी मनुष्यो को सदा प्रसन्न रखना असम्भव होता है तथा दूसरो की प्रसन्नता के लिए कर्म करनेवाला मनुष्य न केवल पथभ्रष्ट हो जाता है, बल्कि सदा अशान्त एव उद्विग्न भी रहता है। कर्मयोगी को महत्त्वाकाक्षा नही सताती। वह जानता है कि कर्तव्य-पालन करते रहने से नये और उत्तम द्वार अनायास ही खुलते रहते है तथा उसके कार्यक्षेत्र का विस्तार स्वत होता रहता है। कर्मयोगी प्रतिक्रियात्मक शक्तियो के साथ सघर्ष मे अविचल रहता है तथा सत्यविरोधी शक्तियाँ सत्य की शक्ति से टकराकर चूर्णित हो जाती है। कर्मयोगी धैर्य का धनी होता है। विजय होने पर भी वह गर्वोन्मत्त नही होता। वह सफलता का श्रेय दूसरे लोगो को दे देता है तथा अपने भीतर अहकार को पनपने नही देता। अहकार मनुष्य का मित्र प्रतीत होनेवाला तथा निकट बैठा हुआ घोर शत्रु होता है। कर्मयोगी विफल होकर निराश नही होता तथा पुन उत्साहपूर्वक कर्म करने मे डट जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अनेक स्थलो पर अनेक बार इस महान् तथ्य पर बल देते है कि कर्मयोगी को काम और क्रोध का परित्याग कर देना चाहिए। जो काम और क्रोध के वेग को सहन कर लेता है, वह योगी है तथा जीवित अवस्था मे ही मुक्त है। काम का नाश होने पर कर्म कर्मयोग हो जाता है तथा मनुष्य का अन्त करण शुचि हो जाता है। कामना की पूर्ति मे बाधा उपस्थित होने से तथा अहकार के कारण क्रोधाग्नि भडक जाती है। क्रोध अपनी तथा दूसरो की हानि करता है तथा भेदभाव बढाकर सुधार के अवसर को क्षीण कर देता है। क्रोध मानसिक शान्ति एव सन्तुलन को ध्वस्त करके मनुष्य के शरीर मे भूकम्प उत्पन्न कर देता है तथा हृदय आदि को जर्जर कर देता है। काम और क्रोध का सन्तोष एव विवेक द्वारा शमन करके मनुष्य अपना महान् उपकार करता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जीवमात्र के हित मे रत रहना योगी का लक्षण है। योगी अपना स्वार्थ त्यागकर प्राणिमात्र के कल्याण मे सलग्न रहता है। व्यक्ति तथा समाज का कल्याण अन्योन्याश्रित होता है। कर्मयोग की साधना के प्रमुख पाठ परिवार मे सीखे जाते हैं। दूसरो के विचार, दूसरो की रुचि तथा दूसरो के हित का चिन्तन करना परिवार के अनुशासन का आवश्यक अग होता है। परस्पर प्रेम, त्याग तथा न्याय परिवार के सगठन को सुदृढ करते हैं तथा स्वार्थ, कपट और न्याय-रहित तुष्टीकरण उसे ध्वस्त कर देते हैं। परिवार की उन्नति मे सहयोग देना और परिवार की मान-मर्यादा एव सुयश को सुरक्षित रखना सभी सदस्यो के हित मे होता है। विनम्रता, सादगी, सेवा-भावना तथा सन्तोष-वृत्ति होने पर ही पुरुषार्थ सुशोभित होता है। भौतिक समृद्धि एव दुर्व्यसनो को उच्च जीवन-स्तर अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक मानने से जीवन भ्रष्ट मार्गो मे भटककर महान् दु ख का कारण बन जाता है। मनुष्य सकल्प-शक्ति से दुर्व्यसनो का त्याग कर सकता है। सन्तोप सच्चा धन होता है तथा सन्तोप न होने पर मनुष्य अनन्त धन पाकर भी भिखारी ही रहता है। परिवार के वातावरण को कपट एव कटु वाक्यो से कदापि दूषित नही करना चाहिए। वाणी मे पोषक अमृत होता है तथा विध्वसक विष भी। अनर्गल अथवा अनर्थकारी वचन कहने की अपेक्षा मौन धारण करना अधिक अच्छा है।

जो मनुष्य सच्चरित्रता एव पवित्रता को परिवार की प्रतिष्ठा का आधार वना लेते हैं तथा आध्यात्मिक मूल्यो को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, वे सुदृढ एव भव्य समाज का निर्माण करते हैं। जहाँ शुचिता है, वहाँ सुखमयता है, सम्पन्नता है। जहाँ जीवन पर प्रेम का आधिपत्य है, वहाँ माधुर्य है। सत्यनिष्ठ एव कर्मनिष्ठ सत्पुरुष का नित्य अभिनन्दन होता है तथा उसे सर्वत्र स्नेह और सहयोग मिलता है। सत्यनिष्ठ एव कर्मनिष्ठ पुरुष अग्नि-परीक्षा मे भी अडिग रहते हैं तथा उनके सुयश की सुगन्धि परिवार आदि की सीमाओ मे वँधी हुई नही रह सकती। कर्मयोगी का जीवन मगलमय होता है तथा वह मगलमयता का चतुर्दिक् प्रसार करता है।

# अथ षष्ठोऽध्यायः

## आत्मसंयमयोग

श्रीभगवानुवाच

**अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।**
**स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच=श्री भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, यः कर्मफलं अनाश्रित. कार्यं कर्म करोति=जो कर्मफल का आश्रय न लेकर ( कर्मफल न चाहते हुए ) करने के योग्य ( उत्तम ) कर्म करता है, स संन्यासी च योगी =वह सन्यासी और योगी है, च निरग्नि. न च अक्रियः न =और अग्नि त्याग देनेवाला ( सन्यासी ) नही है तथा क्रियाओ को त्याग देनेवाला ( सन्यासी, योगी ) नही है।

**वचनामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—जो ( कर्मयोगी ) पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म ( उचित अथवा उत्तम कर्म ) करता है, वह सन्यासी तथा योगी है तथा केवल अग्नि का त्याग करनेवाला और केवल क्रियाओ का त्याग करनेवाला सन्यासी या योगी नही है।[1]

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण कर्मयोग की प्रशसा करते हैं।

**रसामृत :** कर्मयोग का अर्थ है फल की इच्छा छोडकर तथा ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्तव्य-कर्मों का मनोयोगपूर्वक सम्पादन करना। कर्मयोगी सन्यासी तथा योगी ही है। सन्यासी अग्निहोत्र इत्यादि का परित्याग करके निरग्नि तथा तप, दान इत्यादि का परित्याग करके अक्रिय कहलाते हैं। गृहस्थ कर्मयोगी अग्निहोत्र इत्यादि तथा तप, दान इत्यादि करते हुए भी अर्थात् निरग्नि एव अक्रिय न होकर भी सन्यासी एव योगी ही है। कर्मयोगी सब प्राणियो की अन्तरात्मा तथा सब प्राणियो के सुहृद् परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए ( एव चित्त-शुद्धि के लिए ) विहित ( उत्तम ) कर्म करता है। वह कर्मफल की तृष्णा एव वासना का सन्यास (त्याग) कर देता है और साग्नि एव सक्रिय होकर भी राग-द्वेष-मुक्त होने के कारण तथा चित्त समाहित एव शान्त ( विक्षेपरहित अथवा चचलतारहित ) होने के कारण वह योगी ही होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कर्मयोग की श्रेष्ठता को बारम्बार प्रतिपादित करते हैं। सामान्यजन कर्मफल का आश्रय लेकर कर्म करते हैं। कर्मयोगी कर्मफल के आश्रय का त्याग कर देता है अर्थात् वह आसक्तिरहित अथवा निष्काम होकर कर्म करता है तथा फल की इच्छा नही करता। कर्मयोगी कर्म करता है तथा फल की चिन्ता नही करता। वह कर्म को ईश्वरार्पण करके कर्मबन्धन से ही मुक्त हो जाता है। ससार की विषम परिस्थितियो से पलायन करके तथा सन्यासी का वेश धारण करके, अग्निहोत्र इत्यादि का त्याग करना तथा बाहरी क्रियाओ का भी त्याग करना, किन्तु आसक्ति, अहकार, राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि का त्याग न करना मिथ्याचार है। वास्तव में, भगवान् श्रीकृष्ण सन्यासी की निन्दा नही कर रहे हैं, बल्कि कर्मयोगी को सन्यासी एव योगी कहकर कर्मयोग की प्रशसा कर रहे है। निष्काम कर्म करने तथा ईश्वरार्पण-बुद्धि होने पर मनुष्य योगी

---

१ इस अध्याय मे अष्टागयोग का वर्णन है। ध्यानयोग स्वतन्त्र होकर भी ज्ञान एव भक्तियोग के अन्तर्गत है।

( कर्मयोगी ) हो जाता है तथा सन्यासी के सदृश होता है ।[१]

**यं संन्यासमिति प्राहुर्योग तं विद्धि पाण्डव ।**
**न ह्यसन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥**

**शब्दार्थ : पाण्डव**=हे शुद्धबुद्धे अर्जुन, **य सन्यासं इति प्राहु तं योग विद्धि**=जिसे सन्यास कहते हैं उसे योग जान, **हि**=क्योकि, **असन्यस्तसंकल्पः कश्चन योगी न भवति**=सकल्पो ( इन्द्रियो की तृप्ति के लिए भौतिक पदार्थों का चिन्तन ) को न त्याग देनेवाला कोई भी योगी नही होता । ( राग-द्वेपयुक्त अन्त करण की भौतिक पदार्थों के चिन्तन की वृत्ति को सकल्प कहते हैं । )

**वचनामृत :** हे अर्जुन, जिसे सन्यास कहते हैं उसे ही तू योग जान, क्योकि सकल्पो का त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नही होता ।[२]

**सन्दर्भ :** वास्तव मे, सन्यास और योग एक ही है ।

**रसामृत** . श्रीकृष्ण कर्मयोग की महिमा का गान करते हुए अर्जुन के मन से यह भ्रम निकाल रहे हैं कि सन्यास कर्मयोग की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है अथवा उसे कर्ममार्ग त्यागकर सन्यास लेना चाहिए । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानीगण जिसे सन्यास कहते हैं, वह योग ही है । सकल्पो ( अथवा भौतिक पदार्थों की भोगेच्छा ) का सन्यास ( त्याग ) ही वास्तविक योग अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय है । सकल्प कामना का सूक्ष्म रूप होता है तथा मन की चचलता उत्पन्न करता है । सकल्प दु ख और अशान्ति का कारण बन जाता है । सकल्प अथवा कामना का त्याग करने पर कर्मयोगी सन्यासी के सदृश हो जाता है । कर्मफल की वासना का त्याग करने पर चित्त समाहित, स्थिर एव शान्त हो जाता है तथा कर्म ही एक योग ( परमात्मा के साथ ऐक्य ) हो जाता है ।

कर्मफल के सम्बन्ध मे स्वार्थपूर्ण वासना से प्रेरित विविध कल्पनाएँ करना सकल्प है, जो चित्त मे विक्षेप उत्पन्न करके चित्त की शक्तियो को बिखेर देता है तथा चित्त को स्थिर नही होने देता । जो मनुष्य अन्त करण की सकल्प-वृत्ति पर नियन्त्रण कर लेता है, उसके लिए सकल्प एक पवित्र शक्ति बन जाती है, जो मनोजगत् मे असम्भव को सम्भव कर सकती है । सकल्परहित अथवा वासनारहित होने पर अन्त करण अपनी सहज शान्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है ।

**आरुरुक्षोर्मुनेर्योग कर्म कारणमुच्यते ।**
**योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥**

**शब्दार्थ : योगं आरुरुक्षो· मुने कर्म कारण उच्यते**=योग में आरूढ होने की इच्छावाले मननशील पुरुष के लिए कर्म ( निष्काम कर्म ) कारण ( योग की प्राप्ति में हेतु ) कहा गया है, **तस्य योगारूढस्य शम एव कारण उच्यते**=( योगारूढ़ होने पर ) उस योगारूढ़ पुरुष का शम ( सकल्पो का शमन अथवा अभाव ) ही ( कल्याण का ) हेतु कहा गया है ।

---

१ शकराचार्य कहते हैं कि ज्ञानयोग के साधक को भी चित्त-शुद्धि होने तक चिन्तन, मनन, निदिध्यासन इत्यादि के अभ्यास के साथ कर्म करते रहना चाहिए तथा वह चित्त-शुद्धि होने पर ही कर्मसन्यास कर सकता है ( सन्यास ले सकता है ) । कर्मयोगी को निष्काम कर्म पर बल देना चाहिए तथा निष्काम कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर उसके भीतर स्वत उसी तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है, जिसे ज्ञानयोगी चिन्तन, मनन इत्यादि द्वारा प्राप्त करता है । ध्यानयोग कर्मयोगी के लिए विशेष सहायक होता है ।

**यद् विधीयते तद् स्तूयते** अर्थात् जिसका विधान किया जाता है उसकी प्रशसा भी की जाती है । श्रीकृष्ण कर्मयोग की प्रस्थापना कर रहे हैं और उसे सन्यास कह रहे हैं ।

२ सकल्प का अर्थ दृढ़ निश्चय भी होता है; किन्तु यहाँ सकल्प का अर्थ इच्छा है । कामना से युक्त सकल्प एक दोष होता है तथा कामना से मुक्त सकल्प एक बल होता है ।

**वचनामृत :** कर्मयोग मे आरूढ होने की इच्छा-वाले मननशील पुरुष के लिए निष्काम कर्म ही हेतु ( साधन ) कहा जाता है तथा योगारूढ पुरुष के लिए शम ( सकल्पो का शमन ) कल्याण का हेतु कहा जाता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण कर्मयोग की सिद्धता प्राप्त करने का उपाय कहते है।

**रसामृत** . परमात्मा के साथ योग ( ऐक्य ) की प्राप्ति के लिए सचेष्ट पुरुप को मननशील होना चाहिए तथा ईश्वरार्पण-बुद्धिसहित कर्म करने का अभ्यास करना चाहिए। आसक्ति को त्यागकर कर्तव्य-कर्म करने से चित्त-शुद्धि द्वारा मनुष्य योगारूढ हो जाता है। कर्म ही योगारूढ होने के लिए सर्वोत्तम साधन है। योगारूढ होने पर बाह्य विषयो से उपराम ही जीवन्मुक्त-अवस्था ( विदेह-मुक्ति ) की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम साधन है। परिपक्वावस्था होने पर अथवा योगारूढ होने पर कर्म साधन नही रहता तथा समस्त कर्म स्वय ही परित्यक्त हो जाते है ( छूट जाते हैं )। पूर्ण-ज्ञानी के लिए कोई कर्म करना ( कोई कर्तव्य ) शेष नही रहता। ज्ञान का उदय होने पर ( योगा-रूढ होने पर ) मनुष्य कर्म से विरत अथवा निवृत्त हो जाता है। योगारूढ ( ज्ञानी ) की कर्म से निवृत्ति अथवा कर्मसन्यास ( कम छोडना अर्थात् कर्म छूटना ) का अर्थ है कर्तृत्वभाव ( मैं कर्ता हूँ, यह भाव ) छूटने पर सहज भाव से कर्म करना अथवा द्रष्टाभाव होना। कर्मयोग का साधक निष्काम कर्म द्वारा उच्चस्तर तक उठता है तथा शम ( शान्तभाव ) द्वारा उस पर टिका रहता है। कर्मयोगी कर्म द्वारा प्रवृत्ति की ओर बढकर भी अनासक्ति के कारण निवृत्ति की ओर ही अग्रसर होता है तथा उसके बाहर कर्म, किन्तु भीतर भक्ति होती है।

**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।**
**सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥**

**शब्दार्थ :** यदा न इन्द्रियार्थेषु ( अनुषज्जते ) न कर्मसु हि अनुषज्जते = जब न इन्द्रियो के अर्थों ( अर्थात् विषय-भोगो ) मे ( आसक्त होता है ) न कर्मों मे ही आसक्त होता है, **तदा सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढ उच्यते** = तब समस्त सङ्कल्पो का त्याग करनेवाला पुरुष योगा-रूढ कहा जाता है।

**वचनामृत :** जब न तो इन्द्रियो के भोगो मे तथा न ही कर्मों मे ही आसक्त होता है, तब सर्व-सङ्कल्पत्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।

**सन्दर्भ :** भगवान् श्रीकृष्ण योगारूढ पुरुष का लक्षण कहते हैं।

**रसामृत :** योगारूढ अर्थात् पूर्णयोगी अथवा सिद्ध कर्मयोगी का मुख्य लक्षण सर्वसङ्कल्पत्याग है। राग द्वेष से युक्त मन द्वारा सासारिक विषयो का चिन्तन ही सङ्कल्प का प्रवाह कहलाता है। जिस पुरुष के कर्म कामना और सङ्कल्प से मुक्त होते हैं वह पण्डित होता है।[1] सङ्कल्परहित होने से मनुष्य निष्क्रिय नही हो जाता, बल्कि उसके कर्म बन्धन-कारक नही रहते तथा सहजभाव से अनुष्ठित होते है। सङ्कल्प कामनाओ ( वासनाओ ) के मूल मे होते है तथा सङ्कल्पवृत्ति ( अथवा विषय-चिन्तन-प्रवाह ) चित्त को चचल रखती है।[2] विपय-भोग-वासना के मूल मे सस्थित सूक्ष्म सङ्कल्पो का प्रवाह नियन्त्रित होने पर चित्त स्थिर एव शान्त हो जाता है। सङ्कल्प का सन्यास ( त्याग ) ही कर्मयोगी का सन्यास है और शान्ति एव शक्ति का अमोघ उपाय है। सङ्कल्पो को उत्तम दिशा देने पर अथवा सङ्कल्पो के उदात्त होने पर सङ्कल्प-शक्ति का अभ्युदय हो जाता है। जो पुरुष विषय के सङ्कल्पो का त्याग कर देता है तथा इन्द्रियो के भोगो और कर्मों मे आसक्त नही होता, वह आनन्दस्वरूप

---

१. गीता, ४ १९।

२ संकल्पमूलाः कामा —मनुस्मृति। काम सकल्पमूल होते हैं अर्थात् काम के मूल मे संकल्प होता है। सकल्प कामना से सयुक्त होकर एक दोप होता है तथा वही आध्यात्मिक चेतना से जुड जाने पर एक शक्ति हो जाता है।

परमात्मा के योग मे प्रतिष्ठित हो जाता है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है तथा कामना का सूक्ष्मरूप वासना होती है। सङ्कल्प कामना अथवा वासना का सूक्ष्म चिन्तन-प्रवाह होता है। वास्तव मे विषय-पदार्थों के प्रति आसक्ति होने पर उनकी प्राप्ति के लिए कामना एव वासना तथा सूक्ष्म चिन्तन-प्रवाह का आविर्भाव हो जाता है। आसक्ति, कामना, वासना, सङ्कल्प इत्यादि राग के ही अनेक स्वरूप होते हैं, जो मन को अस्थिर तथा क्षीण कर देते हैं। मनोविजय होने पर तथा परमात्मा की ओर उन्मुख होने पर इनका उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण हो जाता है। सङ्कल्प दिव्य होकर शिव सङ्कल्प बन जाता है।

**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।**
**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥५॥**

**शब्दार्थ :** आत्मना आत्मानं उद्धरेत् = अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिए, आत्मान न अवसादयेत् = अपने को कभी अधोगति (अथवा पीडा) न पहुँचाये, हि आत्मा एव आत्मन बन्धु = क्योकि मनुष्य आप ही अपना मित्र है, आत्मा एव आत्मन रिपु = आप ही अपना शत्रु है।

**वचनामृत :** अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिए तथा अपने को नीचे नही गिराना चाहिए, क्योकि मनुष्य आप ही अपना मित्र है तथा आप ही अपना शत्रु है।

**सन्दर्भ :** आत्मनिर्भरता उन्नति का मत्र है। यह गीता के श्रेष्ठ श्लोको मे से एक है।

**रसामृत :** प्रत्येक जीवधारी की यह सहज प्रकृति एव प्रवृत्ति होती है कि वह स्वस्थ और सुखी रहकर फलना-फूलना चाहता है। यह वनस्पति-जगत् और पशु-पक्षी-जगत् तथा मानव-जगत् की समान विशेषता है। वास्तव मे प्राणिमात्र मे स्वस्थ एव सुखी रहने की क्षमता ईश्वर-प्रदत्त है। परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि देकर प्रकृति (वनस्पति-जगत् एव पशु-पक्षी-जगत्) के सहयोग द्वारा पूर्ण स्वस्थ एव सुखी होने की क्षमता प्रदान की है। वह प्रकृति के नियमो के अनुसार जीवनयापन करके सुखी एव स्वस्थ रह सकता है तथा उनका उल्लघन करके अस्वस्थ एव दु खी हो सकता है। रोग और शोक अस्वाभाविक जीवन-पद्धति का परिणाम होते हैं। मनुष्य के भीतर ऐसी जीवनी शक्ति का भण्डार है, जो अस्वस्थता एव शोक का निराकरण कर सकती है। मनुष्य सृष्टि की एक पूर्ण इकाई है, जो ब्रह्माण्ड का एक सूक्ष्म स्वरूप होता है। प्रकृति के नियमो का पालन करके मनुष्य अपने स्वास्थ्य एव सुख की दृष्टि से स्वाधीन रह सकता है। मनुष्य वनस्पति-जगत् एव प्राणि-जगत् से कार्य-सिद्धि के लिए आवश्यक मात्रा मे सहायता एव सहयोग ले सकता है, किन्तु उसे दीन-हीन, गौण अथवा तुच्छ बनकर दूसरो पर निर्भर नही होना चाहिए।

दूसरो से उचित सहायता एव सहयोग लेना निर्भरता नही होती, बल्कि व्यावहारिकता होती है। सहायता एव सहयोग का आदान-प्रदान जीवन-जगत् के चक्र को चलाता रहता है। निर्भरता की भावना पतनकारक होती है। अपनी उन्नति अथवा सफलता के लिए दूसरो की सहायता एव सहयोग लेकर भी मनुष्य को आत्मनिर्भर रहना चाहिए। अपना महत्त्व पहचानकर तथा कभी हीन अथवा हेय न बनकर मनुष्य जीवन-पथ मे आगे बढ सकता है। सहजभाव से परस्पर सहायता एव सहयोग देना तथा लेना मानव-धर्म है।

मनुष्य अपने सुख तथा दु ख का अथवा उन्नति तथा अवनति का स्वय ही उत्तरदायी है। अपने दु ख अथवा अवनति के लिए दूसरो को दोष देना अपनी मूर्खता का परिचय देना है। अपने कष्टो के लिए भाग्य अथवा ईश्वर को दोष देना अविवेक है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वय ही है। मनुष्य को अपना मूल्य और महत्त्व समझकर आत्मनिर्भर एव स्वाधीन रहना चाहिए। अपनी शक्ति पर विश्वास करना आत्मविश्वास होता है

तथा वह अहकार से भिन्न होता है। आत्मविश्वास मनुष्य को शान्ति, समता एव दृढता देता है तथा अहकार मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है। मनुष्य भगवान् अथवा सद्गुरु की कृपा द्वारा अपने खोये हुए आत्मविश्वास को जगाकर आत्मोद्धार कर सकता है। वास्तव मे मनुष्य स्वय ही अपना उद्धार कर सकता है। मनुष्य सन्मार्गगामी होकर एव सुख और शान्ति प्राप्त करके स्वय ही अपना मित्र तथा कुमार्गगामी होकर एव दु ख और अशान्ति प्राप्त करके अपना शत्रु बन जाता है। दूसरो को दोष देनेवाला मनुष्य अपने दोष देखना बन्द कर देता है तथा वह कभी आत्मसुधार नही कर सकता। सद्गुणो का विकास तथा दुर्गुणो का निराकरण करना अर्थात् उत्तम प्रकृति के उत्थान द्वारा निम्न प्रकृति पर विजय पाना आत्मोद्धार का मार्ग है। आत्मोद्धार करना ही अपने साथ मित्रता करना है तथा आत्म-अवसाद ( आत्मपतन एव आत्मपीडन ) करना अपने साथ शत्रुता करना है। आत्मोद्धार (अर्थात् आत्मशुद्धता अथवा अन्त करण की स्वच्छता आन्तरिक स्वच्छता ) द्वारा आत्मदर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार करना मनुष्य का परम पुरुषार्थ होता है।

उत्तम ग्रन्थ, महापुरुषो के वचन तथा गुरु के उपदेश प्रेरणा के स्रोत होते हैं, किन्तु वे तभी सार्थक एव प्रभावी होते है, जब मनुष्य स्वय अपने-आपको दोषो से उठाने का प्रयत्न करता है। विवेकशील मनुष्य उनसे श्रद्धापूर्वक प्रेरणा लेकर उन्हे जीवन मे चरितार्थ करके आत्मोद्धार कर लेता है। जो मनुष्य रोग मे, शोक मे, निराशा मे, चिन्ता मे, किसी मानसिक क्लेश मे अथवा आलस्य और अकर्मण्यता मे स्वय को उससे बाहर निकल आने का प्रयत्न करता है, वह अपना मित्र है तथा जो अपने को गिराते ही रहता है, वह अपना शत्रु है।

अनेक बार बाह्य परिस्थिति मनुष्य के नियन्त्रण से परे होती है तथा मनुष्य विवशता का अनुभव करता है, किन्तु विवेक एव दृढ सकल्प द्वारा अपने मन को नियन्त्रित रखकर सम तथा शान्त रखना सदैव मनुष्य के अधीन होता है। जिसका मन नियन्त्रित एव शान्त है, वह धीरे-धीरे विषम परिस्थिति पर भी विजय पा लेता है। ईश्वर के विधान को स्वीकार करते हुए तथा ईश्वर के न्याय पर भरोसा करते हुए ईश्वर के नियमो ( सत्य, प्रेम ) के अनुसार आचरण करते रहना ही श्रेयस्कर होता है।

विवेकीजन परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि विषम परिस्थिति मे भी सद्बुद्धि उनके विचार और कर्म को आलोकित करती रहे। यदि सद्बुद्धि है तो कल्याण होना भी अवश्यम्भावी है। आत्मोद्धार के इच्छुक मनुष्य को परमात्मा से सद्बुद्धि के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। "हम सवितादेव के उस श्रेष्ठ भर्ग ( तेज ) का ध्यान करें, जो हमारी बुद्धि को सत्कर्मों मे प्रेरित करे।"[1] सद्बुद्धि की पतवार विषम परिस्थितियो के झझावात मे फँसी हुई जीवन-नौका को सुरक्षित रखकर पार ले जाती है।

**बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।**
**अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्ततात्मैव शत्रुवत् ॥६॥**

**शब्दार्थ :** तस्य आत्मनः आत्मा एव बन्धुः येन आत्मना· आत्मा जितः = उस मनुष्य का अपना-आप ही बन्धु है, जिसके द्वारा अपना-आप जीत लिया गया है, तु = तथा, अनात्मनः आत्मा एव शत्रुवत् शत्रुत्वे वर्तत = अनात्मा का ( जिसने स्वय को नही जीता उस मनुष्य का ) अपना-आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता मे वर्तता है।

**वचनामृत :** उस मनुष्य का अपना-आप ही बन्धु है, जिसके द्वारा अपना-आप जीत लिया गया है तथा उस मनुष्य का जिसने स्वय को नही जीता है अपना-आप ही शत्रु की भाँति शत्रुता मे बर्तता है। ( अपने-आपको जीतनेवाला मनुष्य अपना

---

१ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

—ऋग्वेद, ३.६२ १०, यजुर्वेद, ३.३५, सामवेद, १४६२

मित्र होता है तथा इसके विपरीत अपने को न जीतनेवाला मनुष्य अपना शत्रु हो जाता है।)

**सन्दर्भ :** मनुष्य अपना मित्र अथवा शत्रु कैसे वनता है ?

**रसामृत** उत्तम कुल मे जन्म लेने से अथवा मात्र उत्तम ग्रन्थो के पठन से कोई मनुष्य उत्तम नही हो जाता। श्रेष्ठ जन भी मात्र मार्ग-निर्देशन ही कर सकते हैं, किन्तु मनुष्य स्वय प्रयत्नशील होने पर ही आगे वढ सकता है। मनुष्य का प्रयत्न ही उसे ऊपर उठा सकता है। जो मनुष्य अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियो पर विजय पाकर उत्तम दिशा में आगे बढता ही रहता है, वह अपना मित्र है तथा इसके विपरीत जो मनुष्य आत्मविजयी न होने के कारण जीवन मे भटक जाता है, वह निश्चय ही अपना शत्रु है एव अपने साथ शत्रुता कर रहा है। जो मनुष्य अपनी उच्च अथवा दैवी प्रकृति से निम्न अथवा पाशविक प्रकृति को जीत लेता है, वह अपना मित्र होता है तथा वह दिव्याति‌दिव्य जीवन को पा लेता है। आत्मविजय सवसे बडी विजय है। अपने मन को जीतना ही अपने ऊपर शासन करना है। अपने राग-द्वेष, घृणा-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकारो का शमन करके तथा बाह्य पदार्थों के प्रलोभन से मुक्त होना निर्बन्ध होना है। निर्बन्ध मनुष्य अपने सुख के लिए पर-मुखापेक्षी नही होता अर्थात् बाह्य पदार्थों एव व्यक्तियो पर निर्भर नही होता। वह नितान्त स्वाधीन होता है। मन को वश मे न रखनेवाला (अर्थात् कामी, क्रोधी और लोभी) निरन्तर अपने साथ शत्रुता करता रहता है तथा जीवन को नष्ट कर लेता है। जिसने मनोराज्य पर विजय पा ली उसने विश्व-विजय पा ली।

प्रत्येक मनुष्य के भीतर अपना एक राज्य होता है। यदि मनुष्य इस राज्य पर शासन करने मे सफल हो जाता है तो वह आत्मकल्याण सम्पादन कर लेंता है। आत्मजयी मनुष्य के जीवन मे अनुशासन होता है तथा वह मन, वचन और कर्म मे अथवा विचार, वाणी और व्यवहार मे सात्त्विक एव शान्त होना है। वह स्वय सुखी होकर अन्यजन को भी सुखमय कर देता है। इसके विपरीत, मनुष्य आत्मनियन्त्रण खोकर, अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रियो के अनियन्त्रित होने पर पथभ्रष्ट होकर, विनष्ट हो जाता है। आत्मसयम आत्म कल्याण का मूल मन्त्र है।

जैसा मन होता है वैसा मनुष्य होता है। मनुष्य अपने मन के लिए स्वय उत्तरदायी होता है। यदि मनुष्य दु खी है, दीन है, व्याकुल है तो वह स्वय उसके लिए उत्तरदायी है। हम जैसा चिन्तन करते रहते है वैसा ही मन वन जाता है। मनुष्य का सुख अथवा दु ख उसके (विचारो) चिन्तन पर निर्भर होता है। मनुष्य निरन्तर चिन्तन द्वारा निरन्तर अपने मन का निर्माण करता रहता है। वास्तव मे, मनुष्य निरन्तर अपने भविष्य का निर्माण करता रहता है।

मनुष्य के भीतर परमानन्दस्वरूप परब्रह्म का अभिन्न अश आत्मा सस्थित है। मनुष्य मन, बुद्धि और इन्द्रियो पर सयम करके साधना द्वारा आत्म-दर्शन कर सकता है, जो मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। मनुष्य का आत्मा ही प्राप्तव्य अथवा गन्तव्य है तथा वही मनुष्य का बन्धु, गुरु और प्रभु है। आत्मा का स्वर्णिम सस्पर्श होने पर ही मनुष्य दिव्यजीवन की अनुभूति प्राप्त कर सकता है तथा अन्तर्जगत् एव वहिर्जगत् मे आनन्द उपलब्ध कर सकता है।

**जितात्मन. प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित॰।**
**शीतोष्णसुखदु खेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥**

**शब्दार्थ :** **शीतोष्णसुखदु खेषु तथा मानापमानयो.**=शीत-उष्ण, सुख-दु खो में तथा मान-अपमान में, **प्रशान्तस्य जितात्मन** =अत्यन्त शान्त तथा जितेन्द्रिय पुरुष का (पुरुष के लिए), **परमात्मा समाहित॰**=परमात्मा समाहित है (सम्यक् प्रकार से स्थित है)। (पर आत्मा का अर्थ 'उस साधक का आत्मा' भी किया गया है। इस श्लोक के अर्थ अनेक प्रकार से किये गये हैं।)

**वचनामृत :** शीत-उष्ण, सुख-दु ख, मान-अपमान मे पूर्णत शान्त तथा आत्मविजयी पुरुष के लिए परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है। ( उसकी दृष्टि मे परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है तथा उसे परमात्मा नित्य प्राप्त है। )

**सन्दर्भ :** आत्मजयी एव प्रशान्त पुरुष महिमावान् होता है।

**रसामृत :** सत्यनिष्ठ व्यक्ति तपस्वी एव त्यागपूर्ण होता है। जो मनुष्य भौतिक सुख सुविधाओ के प्रलोभन मे फँसा रहता है तथा सुख एव मान की कामना से ग्रस्त होता है, वह सत्य के आचरण मे दृढ नही रह सकता। सत्यनिष्ठ व्यक्ति शीत-उष्ण, सुख-दु ख, हर्ष-शोक आदि मे अत्यधिक सहनशील होता है। शीत और उष्ण का सम्बन्ध शरीर से तथा सुख और दु ख का सम्बन्ध मन से होता है। शीत और उष्ण का प्रभाव तथा सुख और दु ख का अनुभव होता तो है, किन्तु उन्हे महत्त्व देने से वे उग्ररूप धारण कर लेते है। सहनशीलता एव समता का प्रारम्भ शीत और उष्ण के प्रति सहनशील एव सम होने के अभ्यास से होता है। शीत और उष्ण के प्रति ( सावधान रहकर भी ) सहनशील होने से मनोबल मे वृद्धि होती है।

सुख और दु ख अथवा हर्ष और शोक की परिस्थिति मे सहनशील एव सम होकर मनुष्य सन्तुलित रह सकता है। जो मनुष्य सुख मे बौरा जाता है तथा दु ख मे बौखला जाता है, वह कर्मनिष्ठा मे दृढ नही रह सकता। जिस पुरुष को दु ख और अपमान उद्विग्न एव विचलित नही कर सकते, वह सत्यनिष्ठा मे दृढ रह सकता है। वास्तव मे स्वार्थ एव अहकार का त्याग करने पर ही मनुष्य दु ख एव अपमान को सहन करते हुए सम और शान्त रह सकता है। मनुष्य अहकार की तृप्ति के लिए मान एव पुरस्कार की कामना करता है तथा अहकार के कारण ही अपमान एव तिरस्कार के प्रति असहनशील हो जाता है। मान की कामना से अपमान का भय उत्पन्न होता है। कर्मयोगी सुख और दु ख तथा मान और अपमान मे सदैव सम और शान्त रहता है। शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को अपने वश मे रखनेवाला जितात्मा पुरुष समस्त परिस्थितियो मे अनुद्विग्न एव शान्त रहता है। कर्मयोगी इच्छाओ का दास नही होता तथा वह निराशा और क्रोध से ग्रस्त भी नही होता। जो मनुष्य आत्म-नियन्त्रण कर लेता है वही अन्यजन को आदेश एव उपदेश देने का अधिकारी होता है। आत्मनियन्त्रण होने पर मन स्थिर हो जाता है तथा मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। मनुष्य सुख-दु ख, हर्ष-शोक, मान-अपमान, पुरस्कार-तिरस्कार, यश-अपयश के द्वन्द्वो से ऊपर उठकर ही कर्मयोग की साधना द्वारा ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर सकता है।



**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।**
**युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥**
**सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।**
**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥**

**शब्दार्थ :** ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थः विजितेन्द्रियः समलोष्टाश्मकाञ्चनः योगी = ज्ञान-विज्ञान से तृप्त अन्त -करणवाला, विकाररहित स्थितिवाला, जितेन्द्रिय तथा मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण को समान समझनेवाला योगी, युक्तः इति उच्यते = परमात्मा के साथ युक्त ( जुडा हुआ ) ऐसा कहा जाता है। ( ज्ञान–गुरु के उपदेश अथवा ग्रन्थो से प्राप्त आत्मा-परमात्मा का परोक्ष ज्ञान। विज्ञान–विशेष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति, सगुण साकार तत्त्व का ज्ञान। कूटस्थ–आत्मा मे निरन्तर स्थित, विकाररहित तथा अविचलित, प्रशान्त। लोष्ट–मिट्टी का ढेला। सम–समदृष्टि ) सुहृद् मित्र अरि उदासीन मध्यस्थ द्वेष्य बन्धुषु = सुहृद ( निस्स्वार्थ हितैषी ) मित्र वैरी उदासीन ( तटस्थ अथवा निष्पक्ष ) मध्यस्थ ( दोनो विरोधी पक्षो का हितचिन्तक ) द्वेष्य और बन्धुगण मे, साधुषु च पापेषु अपि = सत्पुरुषो और दुष्टो मे भी, समबुद्धिः विशिष्यते[1] = समभाव रखनेवाला पुरुष विशेष है ( श्रेष्ठ है )।

---

१. 'विमुच्यते' पाठान्तर है।

( अरि–शत्रुता करनेवाला, द्वेष्य–जिससे हम द्वेष करते हैं, समबुद्धि—समान रूप से हितैषी तथा भेदभावरहित । )

**वचनामृत :** जिस मनुष्य का अन्त करण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जो जितेन्द्रिय है, जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण समान है, वह योगी परमात्मा के साथ युक्त है, ऐसा कहा जाता है । सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य ( द्वेष के योग्य ) और बन्धुगण मे तथा सत्पुरुषो एव दुष्टो मे भी समान भाव रखनेवाला योगी श्रेष्ठ होता है ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण भगवत्प्राप्त पुरुष के लक्षणो का वर्णन करते हैं ।

**रसामृत** परमात्मा को प्राप्त हुए योगी के लक्षणो की चर्चा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि योगारूढ पुरुष न केवल परमात्मा के परोक्ष ज्ञान से युक्त होता है, वल्कि अपरोक्ष ( प्रत्यक्ष ) अनुभूति से भी परितृप्त होता है।[1] वह अविचल रूप से परमात्मा के भाव मे स्थित रहता है तथा कोई भी परिस्थिति उसे विचलित नहीं कर सकती । उसकी इन्द्रियाँ, मन और वुद्धि उसके वश मे रहती हैं । वह भौतिक प्रलोभन से मुक्त होने के कारण मिट्टी के ढेले, पत्थर तथा स्वर्ण को समान रूप से तुच्छ समझता है तथा उनका उपयोग विना मोह करता है । उसकी सर्वत्र व्रह्म-दृष्टि होती है । आत्मनिष्ठ योगी मृत्यु के रूप को जानकर किसीसे भी नही डरता ।[2] ( आत्मा अमर है तथा देह नाशवान् है—यह मृत्यु के रूप को जानना है । )

जो योगी अकारण हितैषी, स्नेहपूर्ण मित्र, अपकारी शत्रु, तटस्थ, दोनो विवादकारी पक्षो के हितैषी, द्वेषयोग्य पुरुष, उपकारक वन्धु, साधु-पुरुष और अपकारी दुष्टो के प्रति समवुद्धि होता है अर्थात् सवके प्रति समान रूप से प्रेमपूर्ण होता है, वह विशिष्ट होता है । ऐसे जीवन्मुक्त योगी को ससार की घटनाएँ क्षुब्ध नही करती तथा वह सदा आनन्द अवस्था मे स्थित रहता है ।

**योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित· ।**
**एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥**

**शब्दार्थ .** यतचित्तात्मा निराशी अपरिग्रह योगी =जिसने चित्त आदि सहित अपने को जीता हुआ है, जो निराशी ( वासनारहित, कामनारहित, आशारहित ) है, जो सग्रहरहित है ऐसा योगी, एकाकी रहसि स्थित सततं आत्मानं युञ्जीत=अकेला ही एकान्त स्थान मे स्थित हुआ निरन्तर अपने को परमात्मा के साथ ( ध्यान द्वारा ) युक्त कर दे ।[1]

**वचनामृत :** मन तथा इन्द्रियोसहित अपने को वश मे रखनेवाला, कामना से मुक्त और अपरिग्रही, योगी ( ध्यानयोगी ) अकेला ही एकान्त ( जनहीन ) स्थान मे स्थित होकर अपने मन को निरन्तर ( ध्यान द्वारा ) परमात्मा मे एकाग्र करे । ( चित्त को आत्मा मे समाहित करने का अभ्यास करे । )

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण ध्यानयोग के प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं ।

**रसामृत** ध्यानयोग प्रत्येक साधना का आवश्यक अग है । किसी भी मार्ग ( कर्म, भक्ति अथवा ज्ञान ) की सफलता के लिए ध्यानयोग का अवलम्वन नितान्त आवश्यक होता है । भौतिक जगत् के क्षणिक विषयसुखो से मन को गहरी तृप्ति नही होती तथा मनुष्य शाश्वत आनन्द को खोज करता रहता है । मनुष्य ध्यान-साधना के द्वारा आत्मानन्द के अतुलनीय दिव्यरस का आस्वादन करके

---

१. सर्वं खल्विद ब्रह्म ( दृश्यमात्र सव ब्रह्म है ), अयमात्मा ब्रह्म ( यह आत्मा ब्रह्म है ), ब्रह्मैवेदं सर्वं ( यह सव कुछ ब्रह्म है ), तत्त्वमसि ( वह ब्रह्म तू है ) इत्यादि ज्ञान-वाक्य हैं ।

२ मृत्योः रूपाणि विदित्वा न विभेति कुतश्चनेति— मृत्यु के रूपो को जानकर किसीसे भी भय नही मानता ।

१ 'निराशी' का गीता मे अन्यत्र प्रयोग ३ ३० तथा ४ २१ । 'निराशी' का अर्थ वीततृष्ण ( तृष्णा-रहित ) होता है ।

परितृप्त हो जाता है तथा विषयो से निवृत्त हो जाता है। भीतर आत्मतत्त्व के दिव्य रूप, रस, शब्द, गन्ध, स्पर्श का भान होने पर जगत्प्रपच के रूप, रस आदि फीके प्रतीत होने लगते है तथा उनका प्रलोभन छूट जाता है। वास्तविक सुख इन्द्रियातीत होता है। ध्यान द्वारा मनुष्य अपने स्वरूप को खोजकर सुखी जीवन का रहस्य जान लेता है। इन्द्रियो के बाह्य स्पर्शो से ऊपर उठकर अपने भीतर ब्रह्म-सस्पर्श करना ध्यान का चरम लक्ष्य है।

प्रारम्भ मे ध्यान का अभ्यास एकान्त[1] ( जन-हीन ) स्थान मे तथा अकेले ही करना उचित होता है। आध्यात्मिक साधना के लिए एकान्त का असाधारण महत्त्व है। एकान्त मे बाह्य वस्तुओ का विघ्न न्यून हो जाता है तथा मनुष्य अपने भीतर झाँककर देख सकता है। एकान्त मे आत्म-निरीक्षण द्वारा मनुष्य अपने आन्तरिक विकारो को जान सकता है, जो चित्त की एकाग्रता मे बाधक होते हैं तथा उनके निराकरण का उपाय कर सकता है। मनुष्य सारा समय दूसरो के साथ व्यतीत करता है तथा वह दूसरो की ही बाते सुनता है। मनुष्य को एकान्त मे अकेले ही कुछ समय अपने साथ भी व्यतीत करना चाहिए तथा अपनी बात भी सुननी चाहिए। वास्तव मे मनुष्य को ध्यानादि आध्यात्मिक साधना एकान्त स्थान मे गुप्त रूप से ही करनी चाहिए। गृहस्थजन घर मे रहकर ही एकान्त मे ध्यान का अभ्यास कर सकते है, यद्यपि प्राकृतिक शान्त पर्यावरण अधिक अनुकूल होता है। श्रीकृष्ण इस तथ्य पर भी बल देते हैं कि ध्यान का अभ्यास नियमित रूप से तथा निरन्तर होना चाहिए।

ध्यानयोग की सफलता के लिए अन्त करण तथा देह का सयत नियन्त्रित एव ( स्वाधीन ) होना आवश्यक है। अन्त करण ( मन, बुद्धि, चित्त और अहकार ) का सयम ध्यान की सफलता मे अत्यन्त आवश्यक होता है। धारणा, ध्यान और समाधि योग के अन्तरग साधन होते हैं, जिनके द्वारा अन्त करण को ( विशेषत चित्त को ) आत्मा मे स्थिर किया जाता है। मनुष्य अन्तर्मुखी होकर ध्यान के दिव्य सागर मे प्रविष्ट हो जाता है।

कामना से उत्पन्न वासनापूर्ण आशाएँ ध्यान-साधना मे बाधक होती है। ध्यानयोग का साधक मन को विचलित करनेवाली भौतिक कामनाओ का परित्याग कर देता है। कामना तथा उससे उत्पन्न होनेवाली भौतिक आशाएँ मन को स्थिर नही होने देती। ध्यानयोगी के लिए कामनाओ पर नियन्त्रण होना अत्यन्त आवश्यक होता है।

भौतिक पदार्थों के प्रति ममता और उनके सग्रह करने का लोभ मन को चलायमान कर देता है। वास्तव मे वस्तुओ मे दोष नही होता, बल्कि उनका ममतापूर्वक सग्रह करना अथवा उनके प्रति लोभ-दृष्टि होना दोषमय होता है। अपरिग्रह का वास्तविक अर्थ अनासक्ति अर्थात् निर्लोभता एव अधिकार की लालसा से मुक्त होना है। ध्यानयोग का गृहस्थ साधक वस्तुओ का त्याग नही करता, बल्कि उनके प्रति ममत्व एव लोभ का त्याग कर देता है तथा अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ न्यून-तम कर देता है। वास्तव मे वस्तुओ के मर्यादित भोग मे दोष नही है, बल्कि भोग-वृत्ति अथवा भोग-वासना सदोष एव त्याज्य है।

मनुष्य मन और देह के अनुशासन एव सयम द्वारा चेतना को समेटकर परमात्मा मे समाहित करके दिव्यता का आनन्द प्राप्त कर सकता है।

---

१ **सुखमेकान्तसेविनः** अर्थात् एकान्तसेवी सच्चे सुख का अनुभव करता है। **एकस्तपो द्विरध्यायी**—तप करने के लिए एक तथा अध्ययन के लिए दो होने चाहिए। **एकान्तवासो लघुभोजनादि मौनं निराशा करणावरोधः। मुनेरसो सयमनं षडेते चित्तप्रसादं जनयन्ति शीघ्रम्॥** —एकान्तवास, अल्पभोजन, मौन, तृष्णा-शून्यता, इन्द्रिय-सयम, प्राण का सयम—ये छह मुनि के चित्त की प्रसन्नता उत्पन्न करते हैं।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन.।
नात्युच्छ्रितं नातिनीच चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मन. कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीव धारयन्नचलं स्थिरः।
सप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्व दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मन. संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर. ॥१४॥
युञ्जन्नेव सदात्मान योगी नियतमानसः।
शान्ति निर्वाणपरमा मत्सस्थामधिगच्छति ॥१५॥

**शब्दार्थ :** **शुचौ देशे**=शुद्ध स्थान पर, **चैलाजिन-कुशोत्तर आत्मन. आसन न अति उच्छ्रितं न अतिनीच स्थिर प्रतिष्ठाप्य**=कुशा, मृगछाला और वस्त्र एक के ऊपर एक रखकर अपने आसन को न अति ऊँचा न अति नीचा स्थिर स्थापित करके। **तत्र आसने उपविश्य**= वहाँ आसन पर बैठकर ( जिस पर बैठा जाता है वह आसन होता है ), **मन एकाग्र कृत्वा**=मन को एकाग्र करके, **यतचित्तेन्द्रियक्रिय आत्मविशुद्धये योगं युञ्ज्यात्**= चित्त और इन्द्रियो की क्रियाओ को वश मे रखकर अपने अन्त करण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे। **कायशिरोग्रीव समं च अचलं धारयन् स्थिर.**=काया अर्थात् देह का मध्य भाग, शिर और ग्रीवा ( गर्दन ) को समान और अचल धारण करते हुए स्थिर होकर, **स्वं नासिकाग्रं सप्रेक्ष्य दिश अनवलोकयन्**=अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर दिशाओ को न देखते हुए। **ब्रह्मचारिव्रते स्थित विगतभी प्रशान्तात्मा युक्त** =ब्रह्मचर्य के व्रत मे स्थित होकर, भयरहित, शान्त अन्त करणवाला, युक्त ( सावधान अथवा परमेश्वर से युक्त ), **मन. सयम्य मच्चित्त मत्पर. आसीत**=मन को सयम मे रखकर मेरे मे चित्तवाला मेरे परायण होकर स्थित हो। **एवं आत्मानं सदा युञ्जन्**=इस प्रकार आत्मा को निरन्तर ( परमात्मा में ) लगाते हुए, **नियतमानस योगी**=नियन्त्रित मनवाला योगी ( ध्यानयोगी ) **मत्सस्थां निर्वाणपरमां शान्ति अधिगच्छति**=मेरे मे स्थित निर्वाण-परमा शान्ति को ( निर्वाण अथवा परमानन्द है पराकाष्ठा जिसकी ऐसी शान्ति को ) प्राप्त कर लेता है।

**वचनामृत :** शुद्ध भूमि पर क्रमश कुशा, मृग-छाला और वस्त्र एक के ऊपर एक रखकर, न अधिक ऊँचे और न अति नीचे अपने आसन को स्थिर स्थापित करके, उस आसन पर बैठकर, चित्त और इन्द्रियो की क्रियाओ को वश मे रखते हुए, मन को एकाग्र करके अपनी शुद्धि ( अन्त करण की शुद्धि ) के लिए योग का अभ्यास करे। काया ( अर्थात् देह का मध्य भाग ), शिर और ग्रीवा को समान और निश्चल धारण करके स्थिर होकर, अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर ( दृष्टि जमाकर ) अन्य दिशाओ को न देखता हुआ, ब्रह्म-चर्य-व्रत मे स्थित होकर भयरहित तथा भली प्रकार शान्त अन्त करणवाला, सावधान ( अथवा मुझ परमेश्वर से युक्त ) योगी मन को रोककर मुझमे चित्तवाला तथा मेरे परायण होकर स्थित हो जाय। इस प्रकार नियन्त्रित मनवाला योगी आत्मा को निरन्तर मुझ परमेश्वर मे लगाते हुए मुझमे रहने-वाली, परमानन्द पराकाष्ठावाली, शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

**सन्दर्भ .** श्रीकृष्ण ध्यानयोग की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं।

**रसामृत** · ध्यानयोग के पचश्लोको का प्रारम्भ 'शुचि' से होता है तथा इनके अन्त मे 'परमशान्ति' की चर्चा है। शुचिता से शान्ति प्राप्त होती है, शुचिता शान्ति का प्रथम सोपान है—स्थान की शुचिता, भाव की शुचिता, अर्थ की शुचिता, व्यव-हार की शुचिता, जीवनव्यापिनी शुचिता। मन मे शुचिता अथवा निर्मलता होने पर सहज प्रसन्नता एव शान्ति का आविर्भाव हो जाता है। ध्यान का उद्देश्य भी शुचिता ( आत्मशुद्धि ) है। शुचि ही सुन्दर होता है।

ध्यान की साधना मे सर्वप्रथम अनुकूल शुचि-देश ( शुद्ध भूमि ) की आवश्यकता है। पर्यावरण का मन पर गहन प्रभाव पडता है। स्थान की स्वच्छता ध्यान मे सहायक होती है। देह-मन्दिर मे परमात्मा को प्रतिष्ठित करने के लिए शरीर

और वस्त्रो का स्वच्छ होना भी आवश्यक है। दुर्गन्धयुक्त स्थान, वस्त्र आदि मन पर तामसिक प्रभाव करते हैं।

आसन स्थिर, सम तथा अनुकूल होना चाहिए।[1] अति उच्च आसन पर गिर जाने की आशका रहती है तथा अति नीचा आसन होने पर भूमि की निकटता से वातरोग, अग्निमन्दता तथा कीटो का विघ्न होने की सम्भावना रहती है। बैठने के स्थान पर पहले दर्भ ( कुशा ), उस पर मृगचर्म तथा उसके ऊपर कोमल वस्त्र बिछाना चाहिए। ध्यान का अभ्यास बैठकर ही होना है तथा खडे होकर अथवा लेटकर नही।[2]

स्थिर एव सुखद आसन पर बैठकर चित्त तथा इन्द्रिय का सयम तथा मन की एकाग्रता करके ध्यानयोग का अभ्यास करना चाहिए। इन्द्रियाँ विषयो की ओर प्रवृत्त होती हैं तथा चित्त विषयो का स्मरण करता है, जिस कारण मन एकाग्र नही होता। मन एकाग्र होकर आत्मानन्द के अप्रतिम रस की अनुभूति कर सकता है। चित्त की बहिर्मुखी वृत्ति के अन्तर्मुखी होने पर तथा उसका परमानन्द-स्वरूप परमात्मा के साथ योग होने पर ज्ञानयोगी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी दिव्यानुभूति कर लेता है। अभ्यास करने से ही दृढता आती है। श्रद्धासहित निरन्तर अभ्यास से सिद्धि प्राप्त होती है। अन्तर्मुखी होकर ज्ञानयोगी जीवात्मा तथा परमात्मा के एकतारूप योग का आनन्द प्राप्त करते है तथा 'मै शुद्ध चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म हूँ' के साक्षात्कार द्वारा द्रष्टाभाव का अनुभव करते है। अष्टागयोग-मार्ग का अवलम्बन करनेवाले योगी निर्विकल्प समाधि मे स्थित हो जाते है। कदाचित् अष्टागयोग का अन्तिम भाग राजयोग ( प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ) विशेपत ज्ञानयोगी के लिए ही है। पद्मासन आदि किसी सुखद आसन पर बैठकर ध्यानयोग के अभ्यास का उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही होना चाहिए ( कोई तान्त्रिक सिद्धि नही )। भक्तजन भगवान् के किसी सगुण साकार रूप का ध्यान करते है तथा वे मोक्ष को महत्त्व नही देते।

ध्यानयोगी देह के मध्य भाग, मस्तक और ग्रीवा को सम एव निश्चल करके नासिकाग्र पर दृष्टि जमाते हैं तथा बाह्य विषयो को बाहर ही रखते हुए तथा भीतर विषयो का चिन्तन न करते हुए, प्रशान्त, निर्भय तथा ब्रह्मरत होकर, मन को निरुद्ध करके एव भगवत्परायण होकर, परमेश्वर के साथ युक्त हो जाते हैं। देह की चचलता ध्यान-प्रक्रिया मे बाधक होती है। स्थाणुवत् ( वृक्ष के ठूँठ की भाँति ) सम और दृढ होकर इधर-उधर न देखते हुए नासिकाग्र ( नाक की नोक ) पर अर्धनिमीलित नेत्रो से दृष्टि जमाने से कुछ देर मे मन प्रत्याहार ( विषयो से रोकना ) द्वारा एकाग्र हो जाता है तथा नासिकाग्र को देखते हुए मन आत्मसस्थ हो जाता है, क्योकि साधक का उद्देश्य नासिकाग्र को देखते रहना नही है, बल्कि आत्मसस्थित होना है।[1] ध्येय आत्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मदर्शन होता है।

---

१ कुछ विद्वानो के मत मे काष्ठ अथवा पापाण को आसन के रूप मे उपयोग करना सुविधाजनक होता है तथा उस पर ही कुशा, मृगचर्म और वस्त्र बिछाना चाहिए। गृहस्थ के लिए केवल वस्त्र, केवल काष्ठ अथवा केवल पाषाण के आसन का निषेध है। **वस्त्रं दारिद्र्यदु खाय दारुरोगाय चोपलः**—अर्थात् केवल वस्त्र का आसन होने से दरिद्रता और दु ख होते हैं तथा केवल काष्ठ या उपल को आसन बनाने से रोग उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त ध्यान के अभ्यास के लिए अपना ही आसन होना उपयुक्त होता है।

२. **आसीनः सम्भवादिति न्यायात्**—ब्रह्मसूत्र। अर्थात् बैठकर ही ध्यान का अभ्यास सम्भव है। इसके अतिरिक्त, मृगचर्म—स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त मृग का चर्म होना चाहिए, क्योकि अष्टागयोग के प्रथम सोपान यम का प्रथम सिद्धान्तअहिंसा है। मृगचर्म के स्थान पर ऊनी वस्त्र अथवा कम्बल रख सकते हैं।

१ **आत्मसस्थं मन· कृत्वा**—गीता, ६ २५। अर्धनिमीलित दृष्टि योगी के निदिध्यासन मे सहायक होती है। **आत्मावलोकने यत्नः कर्त्तव्यो भूतिमिच्छता**—कल्याण

भगवान् श्रीकृष्ण ने इससे पहले ( ५ २७ ) भृकुटी ( भ्रूमध्य ) मे दृष्टि रखने का उपदेश किया है। प्रारम्भ मे नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर करनी चाहिए तथा फिर नेत्र मूँदकर अथवा खोलकर भृकुटी पर मानसिक अथवा आन्तरिक दृष्टि स्थिर कर सकते हैं। *वास्तव मे नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर* करने से भृकुटी पर प्रभाव पडता है तथा भृकुटी-स्थित आज्ञाचक्र ( जो नाडियो द्वारा शीर्षस्थ ब्रह्म-रन्ध्र से जुडा हुआ है ) का जागरण हो जाता है। भृकुटी पर मानसिक दृष्टि स्थापित करते हुए स्थूल दृष्टि नासिकाग्र पर रख सकते हैं। अभ्यास के परिपक्व होने पर साधक नेत्र मूँदकर अपने भीतर ही दिव्य प्रकाश के स्फुरण का एव दिव्य नाद के श्रवण का अनुभव करते है। अगुष्ठमात्र हृदयाकाश मे दिव्य आत्मज्योति जगमगाती है। ॐ भीतर प्रतिध्वनित होता है। राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर अन्त करण प्रशान्त ( प्रकृष्ट रूप से अथवा विशेष रूप से शान्त ) हो जाता है। राग-द्वेष ही मनुष्य के मन मे भय और चिन्ता, घृणा और क्रोध तथा तनाव और व्याकुलता उत्पन्न कर देते हैं। भौतिक पदार्थों एव भोग्य विषयो को महत्त्व देनेवाले मनुष्य अमानवीय हो जाते हैं तथा नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यो की अवमानना करने से स्वय दु खमय होकर समाज को भी दु खी कर देते है। स्वार्थबुद्धि, भोगबुद्धि तथा सग्रहबुद्धि मनुष्य को भौतिक महानता दे सकती है, किन्तु सुयश और शान्ति कदापि नही दे सकती। अपने ही राग-द्वेष के कारण मनुष्य किसीको अपना प्रिय तथा किसीको शत्रु मानकर व्यवहार करता है। राग-द्वेषरहित पुरुष शत्रु के प्रति भी प्रेमपूर्ण, सम तथा न्यायकारी होता है।

योगमार्ग का पथिक नितान्त निर्भय होता है। सत्य पर आरूढ रहनेवाला मनुष्य भयरहित होता है। सत्यनिष्ठ पुरुष के मन मे लोकनिन्दा अथवा मृत्यु का भय नही होता। सर्वत्र परमेश्वर का दर्शन करनेवाला किसीसे भयभीत नही होता।[1] वह किससे भय माने ? क्यो भय माने ? भयभीत मनुष्य विपुल भौतिक पदार्थों का अधिपति होकर भी सुख एव शान्ति का अनुभव नही कर सकता। भयाक्रान्त व्यक्ति असन्तुलित एव व्याकुल रहता है तथा परम दयनीय एव शोचनीय होता है। निर्भय होकर भी शालीन एव विनम्र होना महानता का लक्षण है। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सर्वव्यापक है, सर्वत्र है तथा उसके साथ योग ( नाता ) स्थापित करनेवाला नितान्त निर्भय रहता है।

परब्रह्म में निरन्तर विचरण करना ब्रह्मचर्य है। भौतिक विषयो के अस्थायी एव तुच्छ सुखो मे रमण करनेवाला मनुष्य योगी नही हो सकता तथा मन को सयत रखनेवाला मनुष्य ही योगी हो सकता है। ध्यानयोग की सार्थकता मच्चित्त' तथा 'मत्परायण' अर्थात् अनन्यभाव से चित्त को परमेश्वर मे लगाने से तथा परमेश्वर को परम आश्रय, परम गति एव सर्वस्व मानकर उसके प्रति परायण होने से ही होती है। परमात्मा ही आत्मा का ध्येय है तथा मन के द्वारा परमात्मा का दर्शन हो सकता है।[2]

की इच्छा करनेवाले मनुष्य को आत्मदर्शन का प्रयत्न करना चाहिए।

गाधीजी लिखते हैं, 'नासिकाग्र से मतलब है भृकुटी का भाग।'

**ओमित्येव ध्यायेथ आत्मानम्**—ॐ इस प्रकार से आत्मा का ध्यान करें। ध्यान के साधनो को ध्यानयोग कहते हैं। ज्ञानयोगी तथा भक्त कर्मयोगी ध्यानयोग ( ध्यान के साधनो ) का सहारा लेते हैं।

१ **द्वितीयाद्वै भयम्**—द्वैतबुद्धि से भय होता है।

२ **'मच्चित्त सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'**—गीता, १८ ५८। अर्थात् मुझे निरन्तर चित्त में धारण करते हुए मेरी कृपा से तू समस्त कठिनाइयो को पार कर लेगा।

**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**—मन के द्वारा ही आत्मा का दर्शन करना चाहिए।

**आत्मसस्थ मनः कृत्वा**—गीता, ६ २५।—मन को आत्मा में स्थित करके।

परमात्मा रहस्यमय है तथा निर्गुण और सगुण एव निराकार और साकार है। भक्तियोगी अपने स्वभाव एव रुचि के अनुसार भगवान् के सगुण साकार रूप का ध्यान करके दिव्यानन्द की अनुभूति प्राप्त करते है। ध्यानावस्था मे चित्त-वृत्ति ब्रह्माकारा अथवा भगवदाकारा होकर धारावाहिक रूप से प्रवाहित होती है तथा इसे योग अथवा युक्त होना कहा जाता है।

इस प्रकार मन का विषयो से प्रत्याहार ( रोकना ) करने पर अथवा मन के सयत होने पर योगी मन को आनन्दस्वरूप परमात्मा के साथ युक्त कर देता है तथा आनन्दस्वरूप हो जाता है।[1] ध्यान की परिपक्व अवस्था मे आत्मा का आनन्दमय स्वरूप प्रस्फुटित हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण यह स्पष्ट कर रहे हैं कि परमशान्ति ( अथवा परमानन्द ) मनुष्य के भीतर आत्मा मे ही सस्थित है तथा उसे बहिर्जगत् से प्राप्त नही किया जाता। शान्ति कोई शून्यावस्था नही है। महाशून्य से परे महाशान्ति स्थित है, जिसको अनेक नाम दिये गये है।[2] शान्ति केवल मन मे व्याकुलता का निराकरण ही नही होती, बल्कि एक आनन्दपूर्ण अवस्था होती है। यही देहत्याग करने पर ब्रह्म मे लीनता अथवा मोक्ष भी हैं।

---

१. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति—ब्रह्म का वेत्ता ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

रसो वै स.। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति—तैत्तिरीय उप०।—वह रसस्वरूप है, रसस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर आनन्दी ( आनन्दस्वरूप ) हो जाता है।

२ शान्ति ( २७०, ७१ ), ( ४ ३९ ), नैष्ठिकी शान्ति ( ५ १२ ), ( ५ २९ ), ( ६ १५ ), शाश्वती शान्ति ( ९ ३१ ), पराशान्ति ( १८ ६२ )। वास्तव मे इसे ही निर्वाण ( ५ २५ ) आदि भी कहा गया है। परमशान्ति परमानन्दस्वरूपा होती है।

**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।**
**न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥**
**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
**युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन=हे अर्जुन, **योगः न तु अति अश्नतः अस्ति च न एकान्तं अनश्नत.**=योग न तो बहुत खानेवाले का ( सिद्ध ) होता है और न बिलकुल न खानेवाले का ( सिद्ध ) होता है, **च न अति स्वप्नशीलस्य च न जाग्रतः एव**=और न अति स्वप्नशील का और न अत्यन्त जागनेवाले का ही ( सिद्ध होता है )। ( एकान्त-अत्यन्त )। **युक्ताहारविहारस्य कर्मसु युक्तचेष्टस्य युक्तस्वप्नावबोधस्य योगः दु खहा भवति**=दु खो का नाशक योग युक्त ( उचित ) आहार और विहार करनेवाले का तथा कर्मों मे युक्त ( समुचित ) चेष्टा करनेवाले का और युक्त ( समुचित ) शयन करनेवाले तथा जागनेवाले का होता है ( सिद्ध होता है )।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, ध्यानयोग न तो बहुत खानेवाले का सिद्ध होता है और न बिलकुल न खानेवाले का ही सिद्ध होता है, न बहुत सोनेवाले का सिद्ध होता है और न सदा जागते रहनेवाले का ही सिद्ध होता है। समुचित आहार-विहार करनेवाले का, कर्मो में समुचित चेष्टा करनेवाले का और समुचित सोने और जागनेवाले का योग दु खनाशक होता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण ध्यानयोग की सफलता के लिए आहार, निद्रा आदि के नियमो का वर्णन करते है।

**रसामृत :** ध्यानयोगी शरीर तथा मन को सयत रखता है तथा वह खाने-पीने मे, सोने-जागने मे, कर्म की चेष्टाओ मे, बोलने मे तथा व्यवहार मे सावधान एव सतर्क रहता है, क्योकि शरीर और मन के सम्बन्ध मे थोड़ी-सी भी लापरवाही ध्यान-साधना मे बाधक हो जाती है। शरीर को स्वस्थ तथा मन को सन्तुलित रखने पर ही ध्यान-साधना मे सफलता प्राप्त हो सकती है। यद्यपि यति को भी अपनी क्षमता से परे तप ( भोजन-त्याग, निद्रा-

त्याग इत्यादि ) नही करना चाहिए, गृहस्थ जन को कदापि सीमा का उल्लघन नही करना चाहिए। भोजन प्राण-रक्षा के लिए आवश्यक है, किन्तु आवश्यक मात्रा से अधिक भोजन करने से मनुष्य आलसी तथा रोगी हो जाता है। इसी प्रकार भोजन का सर्वथा त्याग शरीर को दुर्बल एव क्षीण तथा मन को अस्थिर कर देता है।[1] हमे जीने के लिए भोजन ग्रहण करना चाहिए, भोजन के लिए नही जीना चाहिए। शरीर के लिए आवश्यक पौष्टिक तत्त्वो से युक्त, किन्तु सरल और सात्त्विक भोजन करना युक्तियुक्त होता है। मनुष्य के लिए भोजन की भाँति उचित मात्रा मे निद्रा की भी आवश्यकता होती है। निद्रा की अवधि प्रत्येक व्यक्ति के लिए शरीर तथा मन की स्थिति तथा आयु के अनुसार भिन्न होती है। निद्रा की अवधि का अनुमान मनुष्य को स्वय हो जाता है। निद्रा-सेवन से शरीर की थकान तथा मन की व्याकुलता दूर होती है, मनुष्य शरीर तथा मन मे ताजगी, स्फूर्ति एव ओज का अनुभव करता है। श्रम के अनुरूप विश्राम करना श्रम के समान महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि भोजन तथा शयन करने का समय यथासम्भव नियमित एव निश्चित होना चाहिए, रोगी इस नियम-पालन से मुक्त होता है। सामान्यत आहार, विहार तथा निद्रा परिमित होनी चाहिए। समुचित मात्रा मे भोजन रक्षा करता है तथा अनुचित मात्रा मे पीडा देता है।[1] मात्रा से अधिक सोनेवाला मनुष्य प्रगाढ निद्रा का अनुभव नही करता तथा स्वप्नो के जाल मे फँसा रहता है तथा मात्रा से कम सोनेवाला मनुष्य शरीर से अस्वस्थ तथा मन मे उद्विग्न हो जाता है। अति तथा अल्प दोनो का निषेध है।

जिस मनुष्य का आहार और विहार सयत और परिमित है तथा जिसकी कर्मों मे ( जप, पूजादि मे भी ) चेष्टा सयत और परिमित है तथा जिसकी निद्रा और जागरण भी सयत और परिमित है, उस योगी ( ध्यानयोगी ) का योग समस्त दु खो का विनाशक हो जाता है। ध्यानयोग का साधक अनावश्यक कर्मों मे समय और शक्ति का क्षय नही करता तथा व्यर्थ वाद-विवाद, वाणी की चपलता आदि का परित्याग कर देता है। उसके भीतर दिव्य आन्तरिक प्रसन्नता होती है, जो उसे सजीव बनाये रखती है। ध्यान द्वारा योगी दिव्य सार्वभौम चेतना मे अवस्थित हो जाता है। वह ध्यानयोग के सिद्ध होने पर परमशान्ति प्राप्त कर लेता है तथा उसके दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

**यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।**
**नि स्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥**

**शब्दार्थ :** यदा विनियतं चित्त आत्मनि एव अवतिष्ठते=जब विशेष रूप से सयत ( नियन्त्रित ) चित्त ( केवल ) आत्मा मे ही स्थित हो जाता है, तदा=तब,

---

१ महात्मा बुद्ध ने भोजन त्यागकर तप किया और अन्त में कष्ट उठाकर यह अनुभव किया कि स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर मे ही रह सकता है तथा उन्होने सहमा उपवास छोडकर लोक निन्दा को साहसपूर्वक सहन किया। दो बार भारी भोजन के स्थान पर तीन या चार वार हल्का भोजन करना उपयुक्त होता है। मादक वस्तुओ का प्रयोग शरीर तथा मन के लिए हानिकारक होता है। चाय तथा कॉफी भी उपविष हैं, भोजन नहीं है। इनसे स्नायुओं मे प्रकम्प और अनिद्रा होते हैं। यथासम्भव बायी करवट से सोना चाहिए, किन्तु यह नियम हृदय-रोगी के लिए नही है।

१ यदात्मसंमितमन्नं तदवति न हिनस्ति यद् भूयो हिनस्ति तद् यत् कनीयो न तदवति—अपने उदर के परिमाण के अनुसार तथा अनुकूल अन्न रक्षा करता है तथा इसके विपरीत हानि करता है।

पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु। वायो सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्—उदर का आधा भाग भोजन से, तृतीय जल से भरना चाहिए और चतुथ को वायु सचार के लिए रिक्त छोडना चाहिए। योगी को एक गव्यूति ( लगभग चार मील) से अधिक विहार ( भ्रमण ) नही करना चाहिए। विहार हृदय को स्वस्थता तथा मस्तिष्क को विश्राम प्रदान करता है। योगी की निद्रा योगनिद्रा हो जाती है।

**सर्वकामेभ्यः निःस्पृहः**=सब प्रकार के कामो ( विषयो ) से स्पृहारहित हुआ पुरुष, **युक्तः इति उच्यते**=योगयुक्त ऐसा कहा जाता है।

**वचनामृत :** जब अत्यन्त वशीभूत चित्त[1] आत्मा मे ( परमात्मा मे ) ही अच्छी प्रकार से सस्थित हो जाता है, तब सम्पूर्ण कामनाओ से ( अथवा विषयो से ) स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त कहा जाता है।

**सन्दर्भ :** १० से १७ श्लोको तक ध्यानयोग के साधक ( आरुरुक्षु ) के लिए साधन करने का उल्लेख किया गया है। तथा प्रस्तुत १८वें श्लोक मे सिद्ध योगी ( आरूढ ) के लक्षण का उल्लेख है।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण पुन -पुन चित्त को सयत करने, मन को वश मे करने, अथवा जितेन्द्रिय होने पर बल देते है। चित्त राग अर्थात् समस्त कामनाओ से विमुक्त होकर सयत एव निश्चल हो सकता है तथा ध्यान-साधना द्वारा परमात्मा मे सुस्थिर हो सकता है। परमात्मा के साथ युक्त होना ही योग होता है।

विषयो की निस्सारता का अनुभव होने पर ( अर्थात् विवेकपूर्ण वैराग्य होने पर ) उनके प्रति स्पृहा ( तृष्णा ) निवृत्त हो जाती है तथा सब ओर से निरुद्ध चित्त दृष्ट तथा अदृष्ट समस्त विषयो के प्रति स्पृहाशून्य होकर आत्मा मे स्थिर रूप से समाहित अथवा लय हो जाता है। कामना ही चित्त को चचल करती है। कामनारहित चित्त शुद्ध एव शान्त होता है तथा परमात्मा के प्रकाश से जगमगा उठता है।

**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।**
**योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन.॥१९॥**

१ वास्तव मे चित्त तथा मन बुद्धि की ही शक्तियाँ अथवा बुद्धि के ही पक्ष हैं। चित्त का सम्बन्ध चेतना एवं चिन्तन से तथा मन का सङ्कल्प-विकल्प से माना जाता है। बुद्धि तर्क-वितर्क करती है तथा मुख्य होती है।



**शब्दार्थ : यथा निवातस्थ दीप. न इङ्गते**=जिस प्रकार वायुरहित स्थान मे स्थित दीपक चलायमान नही होता,[1] **सा उपमा**—वही (वैसी ही) उपमा ( उदाहरण ), **आत्मनः योगं युञ्जतः योगिनः यतचित्तस्य स्मृता**=परमात्मा के ध्यान मे लगे हुए योगी के जीत लिये हुए चित्त की कही गयी है।

**वचनामृत :** जिस प्रकार वायुरहित स्थान मे स्थित दीप ( दीपशिखा ) मे चचलता नही होती, परमात्मा के ध्यान मे लगे हुए योगी के संयत चित्त की वही उपमा कही गयी है।

**सन्दर्भ :** यह श्लोक अत्यन्त प्रख्यात है। इसमे योगी की ध्यानावस्था का वर्णन है।

**रसामृत :** वायुरहित स्थल मे दीप की शिखा निष्कम्प होने के कारण सहज रूप मे स्थित होती है। सब ओर से ( बाह्य विषय-पदार्थो से ) समेटकर केन्द्रीभूत हुई चित्त की शक्तियाँ सत्त्वगुण मे स्थित हो जाती है तथा सर्ववृत्तिशून्य एव शान्तचित्त दीपशिखा की भाँति सहज ही ऊर्ध्वगामी हो जाता है। दीपशिखा की भाँति ध्यानरत चित्त धारावाहिक होने के कारण प्रतिक्षण नवीन होता रहता है। मानव की चेतना सार्वभौम चेतना के साथ एकाकार हो जाती है तथा चैतन्यस्वरूप परमात्मा मे चित्त के लय होने के कारण योगी को समाधि की आनन्दावस्था प्राप्त हो जाती है।[2] योगी ध्यानावस्थित होकर इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अतीत, अगोचर एव अचिन्त्य परमात्मा का दर्शन करते है तथा जीवन सफल कर लेते है।[3]

१ दीपशिखा वायु न रहने पर तथा तीव्र होने पर भी बुझ जाती है। यहाँ वायुरहित स्थान का अर्थ स्थिर वायुवाला स्थान है।

२. **मनसो वृत्तिशून्यस्य निर्विकारात्मना स्थिति।**
**असम्प्रज्ञातनामासो समाधिर्योगिना प्रिय॰॥**

—वृत्तिशून्य मन की निर्विकारास्वरूप स्थिति असम्प्रज्ञातनामक समाधि योगियो की प्रिय है।

३ **ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन**, शिवोपासक शिव को परब्रह्म का स्वरूप मानते

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

**शब्दार्थ :** यत्र योगसेवया निरुद्ध चित्त उपरमते=जहाँ ( जिस अवस्था मे ) योगाभ्यास से सयत किया हुआ चित्त उपराम हो जाता है, च यत्र आत्मना आत्मान पश्यन् आत्मनि एव तुष्यति=तथा जहाँ ( योगी ) अपने द्वारा आत्मा को अर्थात् परमात्मा को देखता हुआ आत्मा में ( अपने मे ) ही सन्तुष्ट होता है ( तुष्टि-लाभ करता है ), यत्र अतीन्द्रिय बुद्धिग्राह्यं आत्यन्तिक यत् सुख तत् वेत्ति =जहाँ ( योगी ) इन्द्रियो से अतीत, केवल शुद्ध एव सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण होने योग्य, अनन्त जो आनन्द है उसे जान लेता है ( अनुभव कर लेता है ); ( यत्र ) च स्थित अय तत्त्वत न एव चलति=और जहाँ स्थित होकर यह ( योगी ) परमतत्त्व से ( परमात्मा के स्वरूप से ) विचलित नही होता है, यं लब्ध्वा तत अधिकं अपर लाभ न मन्यते=जिसे ( परमात्मा की प्राप्ति को ) प्राप्त करके इससे अधिक अन्य ( कुछ ) लाभ नही मानता है, च=और, यस्मिन् स्थित गुरुणा दु खेन अपि न विचाल्यते=जिस ( अवस्था मे ) स्थित होकर बडे भारी दु ख से भी विचलित नही होता, त दु खसंयोगवियोगं योगसंज्ञित विद्यात् =उस दु खरूप सयोग के वियोग को ( अर्थात् दु ख के सयोग का वियोग करनेवाले को ) तथा जिसका नाम योग है जानना चाहिए, स. योग अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्य·=वह योग अनुद्विग्न चित्त से ( अर्थात् तत्परचित्त से ) निश्चयपूर्वक करना चाहिए ।

**वचनामृत :** जिस अवस्था मे योगाभ्यास द्वारा निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है और जिस अवस्था मे योगी अपने द्वारा ( ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ) परमात्मा का दर्शन करता हुआ अपने भीतर ही सन्तुष्ट होता है, जिस अवस्था मे योगी इन्द्रियो से अतीत ( अर्थात् परे ) तथा ( केवल शुद्ध तथा सूक्ष्म ) बुद्धि से ग्रहण होने योग्य अनन्त आनन्द का अनुभव करता है तथा जिस अवस्था मे स्थित होकर योगी परमात्मा के स्वरूप से विचलित नही होता तथा परमात्मा के प्राप्तिरूप लाभ को पाकर अन्य किसी लाभ को उससे बडा नही मानता और जिस अवस्था मे स्थित होकर योगी भारी दुःख से भी चलायमान नही होता, जो दु खो के साथ सयोग से रहित है तथा जिसे योग कहते हैं, उसे जानना चाहिए । इस योग का अभ्यास निश्चय तथा अनुद्विग्न चित्त से करना चाहिए ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण २०, २१, २२वें श्लोको मे ध्यानयोग से परमात्मा को प्राप्त होनेवाले योगी की स्थिति का वर्णन करके २३वें श्लोक मे उसका नाम ( योग ) कहते हैं तो उसका अभ्यास करने के लिए प्रेरणा देते हैं ।

**रसामृत** परमात्मा को प्राप्त होने की अवस्था को योग कहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ध्यानयोग का विशद वर्णन करते हुए ध्यान-प्रक्रिया के अभ्यास की आवश्यकता पर विशेष वल देते है । ध्यानयोग-साधना द्वारा निरुद्ध चित्त चचलता का त्याग करके स्थिर एव शान्त हो जाता है । सयतचित्त विषयो की ओर नही दौडता तथा ध्येय के प्रति एकाग्र हो जाता है । पतञ्जलि चित्त-वृत्ति के निरोध को योग

---

हैं तथा ज्योतिर्लिङ्ग को योगी के ऊर्ध्वगामी यत्तचित्त का प्रतीक मानते हैं, जो दीपशिखा की भाँति स्तम्भवद्, प्रकाशमय एव ऊर्ध्वगामी होकर चिन्मय एव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । यही त्र्यम्बकेश्वर के तीसरे नेत्र का प्रतीक है । शिवलिङ्ग अन्तरिक्ष का भी प्रतीक है । अन्तरिक्ष शिवलिङ्ग है, पृथ्वी इसकी पीठिका है । यह देवो का आलय है तथा इसमें सवका लय होने के कारण इसे लिङ्ग कहते हैं । आकाशलिङ्गमित्याहु पृथिवी तस्य पीठिका । आलय सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते ॥—स्कन्दपुराण

कहते हैं।[१] ध्यान की अवस्था में चित्त परमात्मा मे लय होकर ब्रह्ममय एव दिव्य हो जाता है, जैसे प्रज्वलित अग्नि मे ईंधन अग्नि हो जाता है।

जब ध्यानावस्था मे योगी शुद्धचित्त द्वारा ज्योति स्वरूप परमात्मा का दर्शन करता है तथा आत्मा और परमात्मा की एकता की अनुभूति करता है, उसे परमानन्दरूप परम तृप्ति प्राप्त हो जाती है।[२] सबके विज्ञाता आत्मा को किसी अन्य वस्तु से नही जान सकते।[३] आत्मा स्वयवेद्य ( स्वय अपने अनुभव का विषय ) है तथा अतीन्द्रिय है अर्थात् इद्रियो से दर्शन योग्य नही है। बुद्धि आत्मा का दर्शन नही करती, बल्कि आत्मसाक्षात्कार की ( अथवा परमात्म-दर्शन की ) आनन्दानुभूति का ग्रहण करती है।

शुद्धचैतन्यस्वरूप, ज्योतिर्मय परमात्मा का दर्शन ऐसा विलक्षण आनन्द है, जो अकल्पनीय, अन्तरहित, अगाध और अखण्ड है। आत्मसाक्षात्कार एव सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के साथ एकता ( आत्मा और परमात्मा की एकता ) की आनन्दानुभूति होने पर योगी विचलित नही होता। योगी की अनुभूति होती है कि आत्मा ही परमात्मा है एव मैं ब्रह्म हूँ ( **अहं ब्रह्मास्मि** )। दिव्य आनन्दानुभूति होने पर बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ परमतृप्त हो जाते है तथा ससार के समस्त सुख रसहीन, तुच्छ और हेय प्रतीत होने लगते हैं। ऐसे नित्यानन्द को पाकर मनुष्य भौतिक दु ख-सुख से ऊपर उठ जाता है तथा जय-पराजय से विचलित नही होता। घोरनिन्दा, विनाश और मृत्यु जैसे घोर दु ख उसे चलायमान नही करते तथा वह निरन्तर परमात्मा के स्वरूप मे स्थित रहता है। दिव्य आत्मलाभ से वढकर अन्य कोई लाभ नही होता।[१]

श्रीकृष्ण कहते हैं कि दु ख के साथ सयोग का वियोग होना अर्थात् दु ख के सयोग से अलग होना ही योग है। चित्तवृत्ति के कारण दु ख का सयोग होता है तथा चित्तवृत्ति शून्य होने पर दु ख के सयोग का वियोग ( अभाव ) हो जाता है। योग आत्मानुभूति की वह आनन्दावस्था है, जो दु ख के सयोग का अभाव कर देती है। योग दु ख का आत्यन्तिक उपाय है। विवेकशील पुरुष के लिए सासारिक भोग दु खरूप है।[२] परमात्मा के साथ योग होना आनन्दप्रद योग है। मनुष्य को सशय और शिथिलता तथा निराशा और अधीरता को त्यागकर उत्साहपूर्वक एव धैर्यपूर्वक इस योग का अभ्यास करना चाहिए। निश्चयबुद्धि से श्रद्धापूर्वक तथा विश्वाससहित योगाभ्यास करने से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

---

१ **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**—पतञ्जलि।—चित्तवृत्तियो का निरोध योग होता है।

२ **स मोदते मोदनीय हि लब्ध्वा**—वह आनन्दस्वरूप आत्मा को पाकर आनन्दित हो जाता है। सम्प्रज्ञात ( सविकल्प ) समाधि मे ध्येय और ध्याता का भेद रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञात ( निर्विकल्प ) समाधि मे ध्यान, ध्याता, ध्येय एक हो जाते हैं।

३ **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**—सब वस्तुओ के ज्ञाता को किससे जाने ? आनन्दमय आत्मा की आत्मप्रतीति होती है।

---

१. **आत्मलाभान्न परं विद्यते**—आपस्तम्ब धर्मसूत्र।—आत्मलाभ से वढकर कुछ अन्य लाभ नही होगा।

२ **परिणामतापसंस्कारदुःखैः गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**—पातञ्जल योगसूत्र।—परिणाम-दु ख, ताप-दु ख, सस्कार-दु ख के कारण तथा सत्त्व, रज और तम से उत्पन्न सुख, दु ख, मोह-वृत्तियो के परस्पर विरोध के कारण विवेकी के लिए सब दुःखरूप है।

**यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्**—छान्दोग्य उप०।—अर्थात् ब्रह्मसुख ही परम सुख है, शेष सुख तुच्छ हैं। ( भूमा—पूर्ण सुख )

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

**शब्दार्थ :** सकल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषत. त्यक्त्वा=सकल्प से उत्पन्न समस्त कामनाओ को पूर्णत त्यागकर, मनसा इन्द्रियग्राम समन्तत एव विनियम्य= मन के द्वारा इन्द्रियो के समूह को सब ओर से वश मे करके, शनै शनै उपरमेत्=धीरे-धीरे ( अभ्यास द्वारा ) उपरत हो ( प्रशान्त हो ), धृतिगृहीतया बुद्धया मन. आत्मसस्थ कृत्वा=सात्त्विक धृति ( धैर्य ) से गृहीत बुद्धि द्वारा मन को आत्मा ( परमात्मा ) मे स्थित करके, किञ्चिद् अपि न चिन्तयेत्=कुछ भी चिन्तन न करे।

**वचनामृत** सकल्प से उत्पन्न समस्त कामनाओ को नि शेषरूप से त्यागकर तथा मन के द्वारा इन्द्रियो के समूह को सब ओर से निरुद्ध कर शनै-शनै अभ्यास द्वारा उपरत हो जाय अर्थात् प्रशान्त हो जाय तथा धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा मे स्थित कर अन्य कुछ भी ( परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ) चिन्तन न करे।

**सन्दर्भ** परमात्मा के साथ ध्यान द्वारा आनन्दावस्थारूप योग को लक्ष्य बताकर श्रीकृष्ण यहाँ ध्यानयोग का साधन कहते हैं।

**रसामृत** . कामनाओ के मूल मे आसक्ति तथा सकल्प होते हैं। सकल्प सूक्ष्म होने के कारण आसक्ति के भी मूल मे होते हैं। कामना स्थूल तथा सूक्ष्म रूपो मे मनुष्य को उद्विग्न करती है। इच्छा, स्पृहा, तृष्णा, वासना, आशा, उत्कण्ठा, लालसा इत्यादि कामना के ही रूप है। मनुष्य विवेक एव स्वस्थ वैराग्य द्वारा कामना से मुक्त हो सकता है तथा मन के द्वारा इन्द्रियो को बाह्य विषयो से सर्वथा हटा सकता है। मनुष्य क्षणमात्र मे ही सहसा पुराने सस्कारो और वृत्तियो का परित्याग नही कर सकता तथा सत्सग-सेवन, स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, प्रयत्न और अभ्यास द्वारा मन एव इन्द्रियो को भौतिक विषयो से निगृहीत कर सकता है। वास्तव मे, विषयो के पीछे दौडने की अपेक्षा उनका मानसिक चिन्तन अधिक क्लेशप्रद होता है। साधक के जीवन मे धैर्य का असाधारण महत्त्व होता है। अधीरता सदैव पतनकारक होती है। अधीर पुरुष जीवन मे कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नही कर सकता। मनुष्य धैर्यपूर्ण बुद्धि से ही मन एव इन्द्रियो पर विजय पा सकता है।

मन विषयो के समीप विषयाकार तथा चित्तत्त्व के समीप चिदाकार हो जाता है। मन को परमात्मा के चिन्तन द्वारा परमात्माकार करने तथा परमात्मा मे स्थित करने से वह स्थिर हो जाता है। मन को आत्मा मे स्थित करके साधक को परमात्मा के अतिरिक्त कुछ अन्य चिन्तन नही करना चाहिए। सूक्ष्मदर्शी पुरुष सूक्ष्मबुद्धि द्वारा परमतत्त्व ( परमात्मा ) का दर्शन कर लेते हैं।[1]

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

**शब्दार्थ :** एतद् अस्थिर चञ्चल मन यतः यत निश्चरति=यह अस्थिर ( तथा ) चचल मन जहाँ-जहाँ से (जिस-जिस कारण से) भौतिक पदार्थों मे विचरण करता है, तत तत नियम्य=वहाँ-वहाँ से ( उस-उससे ) रोककर, आत्मनि एव वश नयेत्=आत्मा मे ही वश में कर ले अर्थात् आत्मा ( परमात्मा ) मे ही निरुद्ध कर दे।

**वचनामृत :** यह स्थिर न रहनेवाला तथा चचल मन जिस-जिस कारण ( विषय ) से भौतिक पदार्थो मे विचरण करता है, उस-उस विषय से रोककर इसे ( पुन पुन ) परमात्मा मे ही निरुद्ध कर दे।

---

१ दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि — कठ उप०, १ ३ १२।—सूक्ष्मदर्शी तीव्र तथा सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा उस परमतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं।

धैर्य कटु होता है, किन्तु उसके फल मधुर होते हैं।
—रूसो

**सन्दर्भ :** अभ्यास-काल मे मन को पुन -पुन परमात्मा मे लगाना चाहिए।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से बार-बार कहा है कि मनुष्य मन के सयम बिना कुछ भी उपलब्धि नही कर सकता। मन का सयम ही इन्द्रियो के सयम का साधन है। मन का सयम होने पर मनुष्य दृढ, धैर्यवान् और स्थिर होकर उज्ज्वल भविष्य का मार्ग प्रशस्त कर लेता है। मन का सयम योग-साधना के लिए प्रथम और प्रमुख आवश्यकता है। मन को नियन्त्रण मे रखकर ही उसे एकाग्र किया जा सकता है।

मन चचल है और अस्थिर है तथा इधर उधर दौडता है। योगी विवेक एव वैराग्य द्वारा मन को विषयो की ओर दौडने से निरुद्ध करने का अभ्यास करता है। ध्यान के समय योगी छूटकर भागनेवाले मन को वार-वार पकडकर एकाग्र करने का प्रयत्न करता है तथा उसे परमात्मा मे लगाने का अभ्यास करता है। स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप आत्मा मे ही यथार्थ एव स्थायी सुख है, विषयो मे नही—यह विचार दृढ होने पर मन की एकाग्रता सहज ही हो जाती है। विपयो की वासना मन को चचल एव अस्थिर कर देती है तथा कामना पर विजय पाकर ही अर्थात् भौतिक विषयो के प्रलोभन पर विजय पाकर ही मनुष्य मन को स्थिर कर सकता है। ज्ञानयोगी निर्गुण निराकार ब्रह्म का ध्यान करता है। भक्त भगवान् के सगुण साकार रूप का ध्यान करता है तथा सरलता से मन को भगवान् मे एकाग्र कर लेता है। भक्त भगवान् के साथ आत्मीयता का एक व्यक्तिगत एव सजीव नाता स्थापित कर लेता है तथा पूजा एव ध्यान को रसमय बना लेता है।[1]

---

1. अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
   एकस्य ध्यानयोगस्य कला नार्हन्ति षोडशीम्॥
—एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ तथा एक सौ वाजपेय यज्ञ ध्यानयोग की एक कला के भी समान नही है। ध्यानयोग मनुष्य को परमात्मा के साथ युक्त (एकीभाव में स्थित) कर देता है।

**प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।**
**उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥२७॥**

**शब्दार्थ** हि=क्योकि, प्रशान्तमनस अकल्मषं शान्तरजस एनम्=अच्छी प्रकार शान्त मनवाले, दोषरहित (तथा) शान्त रजोगुणवाले इस, ब्रह्मभूतं योगिन=ब्रह्म के साथ एकीभूत हुए योगी को, उत्तमं सुखं उपैति=उत्तम (दिव्य) आनन्द आश्रय करता है अर्थात् प्राप्त होता है। (रजोगुण का अर्थ उपलक्षण से रजोगुण तथा तमोगुण है।)

**वचनामृत** जिसका चित्त प्रशान्त हुआ है, जो दोषरहित है, जिसकी रजोवृत्ति शान्त हुई है ऐसे ब्रह्मभूत योगी को परम आनन्द आश्रय करता है अर्थात् परम आनन्द प्राप्त होता है।

**सन्दर्भ :** योगी के चित्त के आत्मसस्थित होने पर आत्मलाभ (परमानन्द-प्राप्ति) होता है।

**रसामृत** मन स्वाभाविक रूप से अस्थिर तथा चचल होता है तथा विषयो की ओर दौडता है, किन्तु वृत्तिरहित होकर तथा आत्मा (अथवा परमात्मा) मे सस्थित होकर परमशान्त हो जाता है। स्वाध्याय, विवेक, विचार, चिन्तन, मनन तथा ध्यानयोग के अभ्यास द्वारा मनुष्य के मन की मोह आदि रजोवृत्ति शान्त हो जाती है तथा रजोगुणसम्भूत भौतिक कामनाएँ निर्मूल हो जाती है। रजोगुण के शान्त होने पर चित्त प्रशान्त हो जाता है। ध्यानयोगी धर्म और अधर्म तथा पुण्य और पाप से ऊपर उठकर अकल्मष अर्थात् दोषरहित हो जाता है। वह आत्मा तथा परमात्मा की एकता के अनुभव द्वारा ब्रह्मभूत होकर जीवनकाल मे ही समस्त बन्धन-मुक्त अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है।

ऐसा ब्रह्मज्ञानी, जो परमात्मा मे सस्थित होकर ब्रह्मभूत हो जाता है, अनन्त, अखण्ड, अविच्छिन्न, अक्षय एव दिव्य आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

**युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।**
**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥२८॥**

**शब्दार्थ :** विगतकल्मष. योगी एव सदा आत्मानं युञ्जन्=पापरहित (दोषरहित) योगी इस प्रकार सदा

आत्मा को ( परमात्मा में ) लगाता हुआ, सुखेन ब्रह्मसंस्पर्श अत्यन्त सुख अश्नुते = सुखपूर्वक ब्रह्मसस्पर्शरूप ( ब्रह्मात्मक ) अत्यन्त आनन्द को ( जिसका ब्रह्म के साथ सस्पर्श है तथा जो अत्यन्त है, ऐसे आनन्द को ) अनुभव करता है।

**वचनामृत :** सर्वदोषरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्मा को परमात्मा मे समाहित करता हुआ ( अर्थात् मन को परमात्मा मे लगाता हुआ ) सुखपूर्वक ( अनायास ही ) परब्रह्म परमात्मा के साथ सस्पर्श ( सम्बन्ध ) युक्त तथा अत्यन्त ( अनन्त ) आनन्द को अनुभव करता है।

**सन्दर्भ :** ब्रह्मभूत योगी सरलता से विलक्षण आनन्द प्राप्त कर लेता है।

**रसामृत :** पूर्ण योगी सर्वदोषरहित एव निष्पाप होता है। वह धर्म-अधर्म तथा पुण्य-पाप की सीमाओ से ऊपर उठकर परब्रह्म परमात्मा मे मन को समाहित करके आत्मा एव परमात्मा के एकत्व की अनुभूति कर लेता है। योगी को ऐसे दिव्य, नित्य, अलौकिक, अक्षय एव अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है, जो अतुलनीय होता है।[1] यह आनन्द, जिसका परब्रह्म के साथ सस्पर्श ( सम्बन्ध ) है, आत्यन्तिक ( अनन्त ) होता है। योगी की ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अवस्था ब्रह्मसस्पर्श की अचिन्त्य, विलक्षण आनन्दावस्था होती है। अक्षय आनन्द का एकमात्र स्रोत परमात्मा ही है।

**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।**
**ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन. ॥२९॥**
**यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
**तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥**
**सर्वभतस्थित यो मा भजत्येकत्वमास्थित.।**
**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥**
**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**
**सुख वा यदि वा दुःख स योगी परमो मतः ॥३२॥**

**शब्दार्थ : योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः** = योग ( परमात्मा के साथ एकीभाव होना ) से युक्त आत्मावाला, सर्वत्र समभाव से देखनेवाला ( योगी ), **आत्मान सर्वभूतस्थं च सर्वभूतानि आत्मनि ईक्षते** = अपने आत्मा को सम्पूर्ण भूतो में ( प्राणियों में ) तथा सम्पूर्ण भूतो को आत्मा मे देखता है। **य सर्वत्र मा पश्यति च सर्वं मयि पश्यति** = जो पुरुष सर्वत्र ( सम्पूर्ण भूतो मे ) मुझ परमेश्वर को देखता है, और सम्पूर्ण भूतो को मुझ परमेश्वर मे देखता है, **तस्य अहं न प्रणश्यामि** = उसके ( लिए ) मैं नष्ट अर्थात् अदृश्य नही होता हूँ, **च स मे न प्रणश्यति** = और वह मेरे ( लिए ) नष्ट अर्थात् अदृश्य नही होता है। **य. एकत्वं आस्थित सर्वभूतस्थित मा भजति** = जो ( परमात्मा के साथ ) एकत्व मे स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतों मे स्थित मुझ परमेश्वर को भजता है, **स योगी सर्वथा वर्तमान अपि मयि वर्तते** = वह योगी सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझ परमेश्वर मे बरतता है। **अर्जुन** = हे अर्जुन, **य. आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति** = जो अपने सदृश सम्पूर्ण भूतो को समभाव से देखता है, **वा** = अथवा, **सुखं यदि वा दु.खं** = सुख को अथवा दु ख को भी ( सम ) देखता है, **स योगी परम· मत** = वह योगी परमश्रेष्ठ माना गया है।

**वचनामृत :** परमात्मा के साथ योग से युक्त ( सर्वव्यापी परमात्मा मे एकीभाव से स्थितिरूप-योग से युक्त ) आत्मावाला तथा सर्वत्र ( समस्त प्राणियो मे ) समभाव से देखनेवाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतो ( प्राणियो ) मे तथा सम्पूर्ण भूतो ( प्राणियो ) को आत्मा मे देखता है। जो ( योगी ) सम्पूर्ण भूतो मे मुझ परमेश्वर को व्यापक देखता है तथा सम्पूर्ण भूतो को मुझ परमेश्वर मे व्याप्त ( अन्तर्गत ) देखता है, उसके लिए मैं विनष्ट ( अदृश्य ) नही होता हूँ तथा वह मेरे लिए विनष्ट ( अदृश्य ) नही होता। जो पुरुष परमात्मा के साथ सम्पूर्ण भूतो मे एकीभाव मे स्थित होकर सम्पूर्ण भूतो मे स्थित मुझ परमेश्वर को भजता है वह योगी सब प्रकार से व्यवहार करता हुआ भी मुझ परमेश्वर मे वर्तमान होता ( निवास करता ) है। हे अर्जुन, जो योगी अपने सदृश सम्पूर्ण भूतो

---

१ एषोऽस्य परमानन्द —यह योगी का परमानन्द है।

को सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सबमे सम देखता है, वह योगी परमश्रेष्ठ माना गया है।

**सन्दर्भ :** इन श्लोको मे योगारूढ अथवा भगवान् को प्राप्त योगी का वर्णन किया गया है।

**रसामृत :** सर्वत्र चित्स्वरूप ब्रह्म को ही समभाव से दर्शन करनेवाले योगी समदर्शन होते है। जीव तथा जगत् ब्रह्म मे ही अधिष्ठित हैं। जो सबमे ब्रह्म का दर्शन करता है, वह सम देखता है, विषम नही। परमात्मा के साथ आत्मा की एकता का अनुभव करनेवाला योगी योगयुक्तात्मा होता है। योगी का मन ( अथवा अन्त करण ) परमात्मा मे समाहित ( स्थित ) होता है। समदर्शी योगयुक्तात्मा अपनी आत्मा को समस्त प्राणियो मे स्थित देखता है तथा समस्त प्राणियो को अपने आत्मा मे ही देखता है। जिस प्रकार व्यक्ति विविध स्वर्णाभूषणो मे स्वर्ण को अथवा मृत्तिका-पात्रो ( घट आदि ) मे मृत्तिका को एकत्व से देखता है, परम योगी सर्वत्र ( स्थावर और जगम मे ) ब्रह्म का ही दर्शन करता है। एक ही चेतनतत्त्व समस्त प्राणियो के जीवन का आधार है, सारे जगत् का एकमात्र आधार है तथा सर्वत्र समान रूप से व्यापक है। ऊँच-नीच, बड़े-छोटे, पुरुष-स्त्री, वृद्ध-बाल, सभी मे एक परमात्मा व्याप्त है। योगी समस्त प्राणियो मे अपना तथा अपने मे समस्त प्राणियो का स्वरूप देखता है।[1]

जो सम्पूर्ण प्राणियो मे सभी के आत्मस्वरूप परमात्मा को अपनी आत्मा से अभिन्न देखता है तथा सभी के आत्मस्वरूप परमात्मा मे सम्पूर्ण प्राणियो को देखता है अर्थात् सर्वत्र परमात्मा को आकाश की भाँति व्याप्त देखता है, उसके लिए परमात्मा अदृश्य अथवा दूर नही होता तथा वह भी परमात्मा के लिए अदृश्य अथवा दूर नही होता। योगी अपने भीतर आत्मा का सर्वत्र अन्तर्यामी परमात्मा के साथ एकत्व अनुभव करके सम्पूर्ण चेतना के साथ एक हो जाता है। ज्ञानी की भाँति भक्त भी भगवान् के साथ एकत्व का भावात्मक नाता स्थापित करके आनन्दमय हो जाता है। भक्त अपने चारो ओर भगवान् की उपस्थिति एव करुणामय दृष्टि का अनुभव करता है तथा वह कभी भगवान् से दूर नही होता।

जो पुरुष परमात्मा के साथ एकीभाव मे स्थित होकर समस्त प्राणियो मे स्थित परमात्मा को भजता है अर्थात् समस्त प्राणियो मे परमात्मा का दर्शन करता है, उसको सासारिक व्यवहार मे भी परमात्मा का ही अनुभव होता है। उसका उठना-बैठना, चलना-फिरना, खाना-पीना, सभी व्यवहार दैवी कर्म हो जाता है। वह सहज ही सबके कल्याण मे रत रहता है तथा वह समस्त व्यवहार करते हुए परमात्मा मे ही निवास करता है। ऐसे महात्मा के लिए विधि-निषेध ( यह करो, यह न करो ) का कोई नियम नही होता, क्योकि उसे पाप-पुण्य स्पर्श नही करते।[1]

धन्य है वह योगी, जो सबमे परमात्मा का दर्शन करते हुए अपनी उपमा ( समानता ) देखता है और सम्पूर्ण प्राणियो मे समभाव से व्यवहार करता है तथा सबमे सुख और दुःख को भी समभाव से ( अपने समान ही ) देखता है। परमात्मा मे ही जड-चेतन को तथा जड-चेतन को परमात्मा

---

१. **अभिध्येयं परं साम्यं** अर्थात् मानव-जीवन का श्रेष्ठ ध्येय परम साम्य है। आध्यात्मिक साम्य से बढकर अन्य कोई साम्य नही है।

१. **'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरता को विधिः को निषेधः'** अर्थात् गुणातीत अवस्था मे विचरण करनेवाले योगियो के लिए क्या विधि तथा क्या निषेध ? उनका समस्त व्यवहार दैवी होता है।

**'नैनं पुण्यपापे स्पृशत.'**—बृहदारण्यक उप०।—अर्थात् इसे पुण्य और पाप नही छूते।

**'न पुण्येन वर्धीयान् न पापेन कनीयान्'**—बृहदारण्यक उप०। अर्थात् न पुण्य से वृद्धि होती है न पाप से हानि होती है।

मे देखनेवाला मनुष्य समदर्शी होता है तथा वह प्रत्येक प्राणी मे परमात्मा का निवास मानकर सबका आदर करता है, किसीसे घृणा नही करता। उसकी चेतना देह तक सीमित न रहकर विश्व-व्यापी हो जाती है तथा वह ज्ञान द्वारा देहभाव से मुक्त होकर भी अन्य प्राणियो के दु ख-सुख का अनुभव कर लेता है। वह सहजभाव से दूसरो के दु ख दूर करके उन्हे सुखी बनाने का प्रयत्न करता है तथा यह भी उसका भगवद्-भजन होता है। महान् योगी सब प्राणियो के हित मे रत होता है। वह पाषाणखण्ड की भाँति निर्जीव एव निष्करुण नही होता, वलिक परमेश्वर की भाँति सहज दयार्द्र एव करुणार्द्र होता है। राग-द्वेष से मुक्त योगी सहज पवित्र होते हैं और आत्मौपम्य (सादृश्य, समानता) द्वारा परदु ख का अनुभव करके दु ख-निवारण मे तत्पर रहते हैं।[1] परमयोगी परम सवेदनशील एव परमसहृदय होता है तथा प्रेममूर्ति एव करुणामूर्ति होता है। परमेश्वर के हृदय मे अधिष्ठित होने का लक्षण सहज प्रेम होता है। योगी प्राणिमात्र को दिव्य जीवन के लिए सम्प्रेरित करता है तथा दिव्यता के सहज प्रवाह से वातावरण को देदीप्य-मान कर देता है। योगियो के परम गुरु श्रीकृष्ण ऐसे ही योगी को उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) कहते हैं।

---

१ यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्नेवानुपश्यति। सर्व-भूतेषु चात्मान ततो न वि चिकित्सति।—यजुर्वेद, ४० ६ अर्थात् जो सबको परमात्मा मे तथा परमात्मा मे सबको देखता है, वह किसीसे घृणा-द्वेष नही करता।

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति साधव॰॥

—साधुपुरुप आतमभाव से प्राणिमात्र पर दया करते हैं।

आत्मन. प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्—अपने को प्रतिकूल प्रतीत होनेवाला व्यवहार दूसरो के साथ न करें। हमें दूसरो के साथ वैसा व्यवहार करना चाहिए, जैसा हम दूसरों से चाहते हैं।

अर्जुन उवाच

**योऽय योगस्त्वया प्रोक्त. साम्येन मधुसूदन।**
**एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥३३**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच = अर्जुन ने कहा, मधुसुदन = हे मधुसूदन (मधुराक्षस के नाशक) श्रीकृष्ण, य अय योग त्वया साम्येन प्रोक्त = जो यह ध्यानयोग आपके द्वारा समत्व से कहा गया है, अह एतस्य चञ्चलत्वात् स्थिरा स्थितिं न पश्यामि = मैं इस योग की (मन की) चचलता होने से, स्थिर (टिकाऊ, दृढ) स्थिति को नही देखता हूँ। ('साम्येन' का एक अर्थ 'साधारणतया' भी है।)

**वचनामृत :** अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन, आपने जो समत्वदर्शनरूप यह योग कहा है, मैं मन के चचल होने से इसकी नित्य स्थिति नही देखता हूँ।

**सन्दर्भ :** मन की चचलता के कारण समत्व-दर्शन मे स्थिति कठिन है।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने ध्यानयोग का वर्णन करते हुए स्पष्ट कहा कि उत्तम योगी सम-दर्शी होता है। अर्जुन के मन मे सन्देह उत्पन्न हुआ कि मन के दुर्निग्रह (वश करने मे अत्यन्त कठिन) होने के कारण समदर्शन सम्भव नही हो सकता। मन की चचलता समत्व मे बाधक होती है। यदि सागर मे लहरें उठते रहना स्वाभाविक है तो उसे शान्त करने की कल्पना कैसे की जाय ? अर्जुन को मन की समता अव्यावहारिक प्रतीत हुई। आदर्श शिष्य सत्यबोध की अवस्था प्राप्त होने के लिए समस्त शकाओ का समाधान चाहता है और सद्-गुरु धैर्यपूर्वक सभी शकाओ का उत्तर देता है। मन को निश्चल करना अर्जुन के लिए एक समस्या है।

**चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम्।**
**तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥**

**शब्दार्थ :** हि = क्योंकि, कृष्ण = हे श्रीकृष्ण, मन चञ्चलं प्रमाथि दृढम् वलवद् = मन चचल, प्रमथनशील (प्रमथन स्वभाववाला), दृढ तथा बलवान् है, अह तस्य

निग्रहं वायोः इव सुदुष्करं मन्ये = मैं उसके नियन्त्रण को वायु की भाँति अत्यन्त कठिन मानता हूँ।

**वचनामृत :** ( मैं मन की नित्यस्थिति को व्यावहारिक नही मानता ) क्योकि, हे श्रीकृष्ण, यह मन बडा चचल, प्रमथनशील, दृढ तथा बलवान् है। मैं मन के नियन्त्रण को वायु रोकने की भाँति अत्यन्त कठिन मानता हूँ।

**सन्दर्भ :** अर्जुन मन के निग्रह को अत्यन्त कठिन मानता है।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण गीता के प्रारम्भ से विविध प्रकार से मनोविजय के महत्त्व पर बल दे रहे हैं, किन्तु अर्जुन को मनोनिग्रह अव्यावहारिक एव दुष्कर प्रतीत होता है। अर्जुन स्पष्ट रूप से कह देता है कि मन दीपशिखा की भाँति चचल है तथा प्रमथनशील है। जिस प्रकार मथानी दधि को मथ देती है, उसी प्रकार मन भी देह एव इन्द्रियो को क्षुब्ध कर देता है। मन बलवान् होता है तथा विवेक को तिरस्कृत कर देता है। जिस प्रकार मत्त गजराज अकुश-प्रहार से भी नियन्त्रित नही होता, मन भी विचार के अकुश से नियन्त्रित नही होता। जिस प्रकार हट्टी अश्व दृढ होता है, मन भी दुर्दम्य, दुर्धर्ष तथा दृढ होता है। मन पारद ( पारा ) की भाँति चलायमान रहता है। ध्यान के अभ्यास मे लय ( निद्रा ) तथा विक्षेप बाधा उत्पन्न करते है। मन का निग्रह आँधी को रोकने अथवा वायु को पकडने की भाँति सुदुष्कर होता है।[1] मनोनिग्रह अर्जुन को अव्यावहारिक प्रतीत होता है।

श्रीभगवानुवाच

**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।**
**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥**
**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।**
**वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच = श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, महाबाहो = हे महान् बाहुवाले वीर अर्जुन असंशयं = निश्चय ही, मनः चलं दुर्निग्रहं = मन चचल और कठिनता से वश मे आनेवाला है, तु = परन्तु, कौन्तेय = हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, अभ्यासेन च वैराग्येण गृह्यते = अभ्यास ( बारम्बार प्रयत्न ) और वैराग्य से वश मे होता है। असंयतात्मना योगः दुष्प्राप = मन को संयत न करनेवाले पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है, तु = और, वश्यात्मना यतता उपायतः अवाप्तुं शक्य = स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा उपाय करने से प्राप्त होना सम्भव है, इति मे मतिः = यह मेरा मत है।

**वचनामृत :** हे महाबाहो, वीर अर्जुन, निस्सदेह मन चचल तथा कठिनाई से वशीभूत होनेवाला है, किन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, यह अभ्यास तथा वैराग्य से वश मे हो जाता है। ऐसे पुरुष द्वारा योग सिद्ध नही होता, जिसका मन वश मे नही होता तथा यह ऐसे पुरुष द्वारा सिद्ध होना सम्भव है, जिसका मन वश मे हो तथा जो प्रयत्नशील होकर उपाय करता हो—यह मेरा मत है।

**सन्दर्भ :** मन को वश मे करना सम्भव है तथा मन को वश मे करने पर ही योग मे सफलता हो सकती है।

**रसामृत** सद्गुरु श्रीकृष्ण अपने शिष्य अर्जुन के सशयज्ञापन से रुष्ट नही होते तथा उसे हतोत्साह नही करते हैं। श्रीकृष्ण जानते हैं कि अर्जुन शकाओ के समाधान द्वारा अपनी जिज्ञासा को शान्त करना चाहता है तथा सत्य को पूर्ण रूप से जानना चाहता है। सद्गुरु अपने शिष्य को पूछताछ का पूर्ण अवसर देते है तथा उसे अन्धविश्वास मे धकेलते नही हैं। जिज्ञासु अर्जुन साहसपूर्वक कह देता है कि मन को सयत करना सम्भव नही है। श्रीकृष्ण सहर्ष उसके साथ सहमति प्रकट कर देते हैं और अत्यन्त धैर्यपूर्वक उसे मन को सयत करने का मार्ग बताते हैं। श्रीकृष्ण के उपदेश मे आशा-

---

१ अप्यब्धिपानाद् महतः सुमेरून्मूलनादपि।
अपि वह्न्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः॥

—हे साधो, समुद्र के पान से, महान् सुमेरु के उन्मूलन से भी, अग्नि के भक्षण से भी, चित्तनिग्रह विषम है।

वाद एव व्यावहारिकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मन को सयत एव शान्त किये बिना जीवन मे कोई भी उपलब्धि सम्भव नही होती। असयत एव अशान्त मन एकाग्र नही होता। मन को उसकी चचलता के कारण सयत करना कठिन है, किन्तु असम्भव नही। अभ्यास अर्थात् धैर्यपूर्वक निरन्तर प्रयत्न करते रहने से तथा वैराग्य से अर्थात् विवेक जगाने से मन पर नियन्त्रण पाना अवश्य सम्भव है। श्रीकृष्ण उसे न मन्दबुद्धि कहकर धिक्कारते हैं और न अयोग्य कहकर निरुत्साहित करते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन को महाबाहु अर्थात् अतुलनीय पराक्रमशाली बाहुयुगलधारी वीर कहकर उत्साहित करते है तथा कुन्तीपुत्र कहकर उसकी माता की महानता का स्मरण कराते हैं। श्रीकृष्ण उसे विश्वास दिलाते हैं कि वह मनोनिग्रह करने मे पूर्ण समर्थ है। आदर्श गुरु अपने शिष्य को केवल सदुपदेश ही नही देते, बल्कि उसे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा भी देते हैं।

श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि मन को हठपूर्वक सहसा वश मे नही किया जा सकता है। अभ्यास अर्थात् निरन्तर प्रयत्न करना समस्त सिद्धि का प्रदायक है।[1] यदि दीर्घकाल तक, निरन्तर तथा श्रद्धाविश्वासपूर्वक प्रयत्न किया जाता है तो मनुष्य सफल हो जाता है। मन को शनै शनै युक्तिपूर्वक प्रयत्न से निगृहीत किया जाता है, जैसे अकुश से मत्त गजराज को वशीभूत किया जाता है। अध्यात्मविद्या का अधिगम ( लाभ, प्राप्ति ), सत्सग, वासना-त्याग तथा प्राणस्पन्द का निरोध ( प्राणायाम द्वारा प्राणस्पन्द को रोकना ) मन को वश मे करने के उपाय हैं, जिन्हे त्यागकर हठपूर्वक मन को वशीभूत करने का प्रयत्न करना दीपक को त्यागकर अञ्जन ( कज्जल ) से अन्धकार को नष्ट करने की मूर्खता के समान है।[1]

अभ्यास के अतिरिक्त वैराग्य का उदय भी मन को वशीभूत करने मे अत्यन्त सहायक है। पतञ्जलि ने भी अपने योगशास्त्र मे अभ्यास तथा वैराग्य की महत्ता की चर्चा की है।[2] जिस प्रकार सेतुबन्ध नदी की धारा के वेग को रोककर नहरो द्वारा जल प्रवाहित करके वेग को शान्त करना सम्भव है, उसी प्रकार वैराग्य से चित्तरूपी नदी के विषयाभिमुखी प्रवाह को निरुद्ध करके तथा उसे आत्माभिमुखी करके शान्त करना सम्भव है।[3] अभ्यास चित्त की बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी करके शान्त करता है। चित्तरूप नदी की धारा को वैराग्य से विषयाभिमुख होने से हटाकर कैवल्याभिमुख ( कल्याण की ओर ) कर सकते हैं। विवेक द्वारा विषयो मे तृष्णा का शमन करना वैराग्य है। वैराग्य द्वारा चित्त प्रशान्त एव स्थिर हो जाता है। युक्तिपूर्वक चित्त-वृत्ति का निरोध (नियन्त्रण)

---

१ अभ्यासात् सर्वसिद्धि. स्यादिति वेदानुशासनम् —योगवाशिष्ठ। अर्थात् अभ्यास से सर्वसिद्धि होती है, ऐसा वेद का अनुशासन ( आदेश ) है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमि. —पातञ्जल योग०,। १ १४अर्थात् अभ्यास दीर्घकाल तक, निरन्तर तथा श्रद्धा से सेवित होने से दृढ़भूमि को प्राप्त होता है। मन का अधिष्ठान हृदय-कमल मे है तथा उसका बलपूर्वक दमन करना सम्भव नही है। विवेक द्वारा उस पर सयम करना सम्भव है।

१ सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमन्ति ये। चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनै॥—योगवाशिष्ठ। अर्थात् जो इन उपायो के होते हुए भी हठात् चित्त को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, वे मानो दीपक को छोड़कर अञ्जन से तम का नाश करते हैं।

२ अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध —पातञ्जल योग०, १।१२। अभ्यास तथा वैराग्य से चित्त के विचरण की प्रवृत्ति का निरोध ( निग्रह ) हो जाता है।

३ यह उदाहरण आनन्दगिरि द्वारा अपनी टीका में दिया गया है। चित्त की वृत्तियाँ तो अनन्त हैं, किन्तु पतञ्जलि ने उन्हें पाँच भागो मे विभक्त किया है-प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

करना योग का ही एक स्वरूप है[1] भगवान् श्रीकृष्ण बलपूर्वक कहते हैं कि मन को सयत किये बिना योग दुष्प्राप्य ( कठिनता से प्राप्त ) होता है, किन्तु अभ्यास तथा वैराग्य का साधन करने से योग मे स्थित होना सम्भव होता है। विक्षेपरहित होकर चित्त एकाग्र हो जाता है तथा परमात्मा मे सस्थित हो जाता है। भगवद्-भक्त भक्ति ( प्रार्थना, भजन इत्यादि ) द्वारा वैराग्य प्राप्त कर लेता है। वैराग्य का अर्थ जीवन मे नीरसता अथवा शुष्कता अथवा सवेदनहीनता नही है, बल्कि विषयासक्ति से ऊपर उठना है। वैराग्य-वान् व्यक्ति विषयासक्ति का परित्याग कर प्रेम के सच्चे स्वरूप को पा लेता है।

अर्जुन उवाच

**अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।**
**अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥**
**कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।**
**अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥**
**एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।**
**त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥**

**शब्दार्थ :** **अर्जुन उवाच**=अर्जुन ने कहा, **कृष्ण**=हे कृष्ण, **योगात् चलितमानसः अयतिः श्रद्धया उपेतः योग-संसिद्धिं अप्राप्य**=योग से चलायमान मनवाला तथा असयमी अथवा अल्प प्रयत्नशील अथवा मन्द यत्नवाला श्रद्धायुक्त पुरुष योग की सिद्धि को प्राप्त न करके, **कां गतिं गच्छति**=किस गति को प्राप्त होता है। **महाबाहो**=हे पराक्रम-शाली बाहुयुगलधारी, **कच्चित्**=क्या, **ब्रह्मणः पथि विमूढ अप्रतिष्ठ. छिन्नाभ्रं इव**=ब्रह्म के मार्ग मे ( भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे ) विमूढ हुआ, प्रतिष्ठारहित ( आश्रय-रहित, अस्थिर ) पुरुष छिन्नभिन्न मेघ की भाँति, **उभय-विभ्रष्टः न नश्यति**=दोनो ओर से भ्रष्ट हुआ नष्ट नही होता है। **कृष्ण**=हे कृष्ण, **मे एतत् संशय अशेषतः छेत्तुं अर्हसि**=मेरे इस सशय को पूर्णत छिन्न करने के लिए ( आप ) योग्य ( समर्थ ) हैं, **हि**=क्योकि, **त्वद् अन्यः अस्य संशयस्य छेत्ता न उपपद्यते**=आपके अतिरिक्त अन्य कोई इस सशय का छेदन करनेवाला सम्भव नही है।

**वचनामृत :** अर्जुन ने कहा—हे श्रीकृष्ण, जो मनुष्य ( योग के प्रति ) श्रद्धावान् है, किन्तु मन्द प्रयत्नवाला ( अथवा असयमी ) है और योग से विचलित हो जाता है, वह योग मे सिद्धि प्राप्त न करके किस गति को प्राप्त करता है ? हे महाबाहो, क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे विमूढ हुआ और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न मेघ की भाँति दोनो ( ससार तथा भगवान् ) ओर से भ्रष्ट होकर विनष्ट हो जाता है ? हे श्रीकृष्ण, मेरे इस सशय को पूर्णत दूर करने के लिए आप ही समर्थ हैं, क्योकि आपके अतिरिक्त अन्य कोई इस सशय को दूर करनेवाला नही है।

**सन्दर्भ :** अर्जुन अपनी शका प्रस्तुत करके उसके निवारण के लिए प्रार्थना करता है।

**रसामृत :** शिष्य अर्जुन अपनी शका के निवारण-हेतु सद्गुरु श्रीकृष्ण से निवेदन करता है। वह प्रश्न करता है कि यदि कोई मनुष्य श्रद्धापरिपूरित होकर योग-साधना के मार्ग पर आरूढ होता है, किन्तु अल्प प्रयत्न अथवा असयम के कारण योग-साधना मे स्थिर नही रहता एव विचलित हो जाता है तो उसे क्या गति प्राप्त होगी ? क्या उसे साधना-पथ पर आरूढ होने मात्र से अल्प प्रयत्न होने पर भी ऊर्ध्वगति प्राप्त होगी ? अथवा, क्या अल्प प्रयत्न अथवा असयम होने के कारण उसे

---

१. **योग चित्तवृत्तिनिरोधः**—पातञ्जल योग०।—चित्तवृत्तियो का निरोध ही योग होता है। चित्त की पाँच अवस्थाएँ होती हैं–क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र व निरोध। विक्षेपरहित होकर चित्त शान्त एवं एकाग्र हो जाता है तथा पहले सम्प्रज्ञात और फिर असम्प्रज्ञात समाधि सम्भव हो जाती है। योग के अन्तराय ( विघ्न ) पतञ्जलि द्वारा गिनाये गये हैं—व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य इत्यादि—पातञ्जल योग०, १.३०,३१। **दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्**—पातञ्जल योग०, १ १५। अर्थात् तृष्णारहित चित्त की अवस्था वैराग्य है।

अधोगति मिलेगी ? देहावसान के पश्चात् उसकी क्या गति होगी ?

श्रद्धा ( सद्गुरु एव सद्ग्रन्थ के प्रति विश्वास तथा आदर ), शम ( मन की शान्ति ), दम ( वाह्य इन्द्रियो का दमन ), उपरति ( विषयो से उपरति ), तितिक्षा ( सहनशीलता ) होने पर आत्मदर्शन होता है[१] किन्तु महापुरुषो को भी उत्तम कार्यों मे अनेक विघ्न होते हैं।[२] समस्त आध्यात्मिक साधना मे श्रद्धा का विशेष महत्त्व है।[3] अर्जुन के मन मे सन्देह होने पर वह दोनो ओर से भ्रष्ट ( माया मिली न राम ) हो जायगा। मेघ का एक अश उससे पृथक् होकर पुन उसके साथ सयुक्त नही होता तथा वह भ्रष्ट होकर विलुप्त हो जाता है। क्या योगभ्रष्ट साधक इसी प्रकार नष्ट हो जाता है ?

१ 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु श्रद्धान्वितो भूत्वा आत्मन्येव आत्मान पश्यति' अर्थात् शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, श्रद्धान्वित होकर आत्मा मे ही आत्मा का दर्शन करता है।

२ श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि। अर्थात् महापुरुषो को भी श्रेय कार्य मे बाधाएँ होती हैं।

३ तस्मिन् श्रद्धा अविवेश—उस ( साधक ) मे श्रद्धा का प्रवेश हुआ।

सन्त तुलसीदास श्रद्धा और विश्वास के महत्त्व का वर्णन करते हैं :

रामकृपा नासहिं सब रोगा, जो एहि भाँति बनै सयोगा ॥
सद्गुर बैद बचन बिस्वासा, सजम यह न विषय कै आसा ॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी, अनुपान श्रद्धा मति पूरी ॥

सन्त तुलसीदास अन्यत्र कहते हैं—कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।

सन्त तुलसीदास अन्यत्र कहते हैं-गुरु कर्णधार है—करनधार सद्गुर दृढ़ नावा।

स्वय भवानी और शकर श्रद्धा और विश्वास के प्रतीक हैं—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।

अर्जुन की विशेषता यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उसकी अनन्त श्रद्धा है तथा उनकी सामर्थ्य मे उसे अखण्ड विश्वास है। वह अपने सद्गुरु से कातर होकर निवेदन करता है, "हे श्रीकृष्ण, आप मेरी शका का पूर्णत निवारण करने मे समर्थ हैं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी मेरे इस सशय का समाधान नही कर सकता है।" सद्गुरु के प्रति ऐसी दृढ निष्ठा ही शिष्य को ज्ञान का अधिकारी एव गुरु-कृपा का सुपात्र बना देती है।

श्रद्धा और विश्वास के योग्य आप्त पुरुषो के अनुभूति-बल पर कहे हुए उपदेशात्मक एव आशीर्वादात्मक शब्दो के प्रति आस्था रखना साधक के लिए कल्याणकारक सिद्ध होता है। ससार के सभी सम्बन्धो का आधार विश्वास ही है। सन्देह का प्रभाव और परिणाम रोगाणुओ की भाँति भयावह होता है। सद्गुरु के प्रति दृढ विश्वास समस्त सन्देह एव भ्रम को दूर कर देता है।

श्रीभगवानुवाच

**पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।**
**न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच—श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, पार्थ=हे पृथा ( कुन्ती ) के पुत्र अर्जुन, तस्य न इह न अमुत्र एव विनाश विद्यते=उस पुरुष का ( जो योग-मार्ग मे आरूढ होकर यत्न की अल्पता या सयम के अभाव के कारण ससिद्धि प्राप्त नही कर सका ) न यहाँ न वहाँ ( न इस लोक मे, न परलोक मे ) ही नाश होता है, हि=क्योकि, तात=हे प्रिय, कश्चित् कल्याणकृत् दुर्गतिं न गच्छति=कोई कल्याणकारक शुभ कर्म करनेवाला मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नही होता है। ( तात—तनोति आत्मानमिति अर्थात् पिता जो पुत्र द्वारा अपना विस्तार करता है। पुत्र पिता का प्रतीक है। शिष्य व प्रिय को भी 'तात' कहते हैं। 'तात' वात्सल्यसूचक है। )

वचनामृत भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन, उस मनुष्य का ( जो उत्तम साधना करते हुए प्रयत्न की अल्पता या सयम के अभाववश ससिद्धि प्राप्त किये विना ही प्राणोत्सर्ग कर देता

है ) न इस लोक मे और न परलोक मे ही नाश होता है, क्योकि हे मेरे परमप्रिय, शुभ कर्म करने-वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नही होता ।

**सन्दर्भ** यह गीता के श्रेष्ठ श्लोको मे है। इसकी दूसरी अर्द्धाली मनुष्य को असाधारण प्रेरणा देती है, जिसे कण्ठाग्र करना चाहिए ।

**रसामृत** जगद्गुरु श्रीकृष्ण ने शिष्य अर्जुन के माध्यम से मानवमात्र के लिए अमर सन्देश दिया है कि शुभकर्म करनेवाले मनुष्य का कभी पतन नही होता तथा उसका सदैव उत्कर्ष ही होता है। इस महान् सन्देश को हृदयगम कराने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति वात्सल्य-प्रदर्शन करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को 'तात' अर्थात् 'परमप्रिय' कहकर यह विश्वास दिला रहे है कि वह उनके अत्यन्त सन्निकट एव उनका प्रेमास्पद है तथा वे उसके कल्याण-हेतु सदैव स्मरण रखने योग्य एक महान् सत्य का निरूपण कर रहे है। बुद्धिमान् गुरु किसी महत्त्वपूर्ण रहस्य का उद्घाटन करते समय आत्मीयता के प्रदर्शन द्वारा शिष्य को एकाग्रचित्त बना देते हैं। श्रीकृष्ण घोषणा करते है कि सत्कर्म कभी नष्ट नही होता तथा अन्ततोगत्वा सत्कर्म करनेवाले मनुष्य की कभी हानि नही हो सकती। आत्मकल्याण तथा जनकल्याण के लिए किया हुआ प्रत्येक कर्म मानव की विकास-प्रक्रिया मे सहायक होता है। शुभ कर्म करनेवाले को इस लोक मे निन्दा तथा अपयश प्राप्त नही होते तथा परलोक मे अधोगति नही होती। शुभ कर्म व्यक्ति एव समाज के अभ्युदय, सुख, समृद्धि एव शान्ति की आधारशिला है। शुभ कर्म विफल होने पर भी निष्फल नही होता तथा लक्ष्य-प्राप्ति न होने पर भी निरर्थक नही होता। अज्ञ या द्वेषी जन अल्प-काल तक सत्कर्म की निन्दा कर सकते हैं, किन्तु सत्य को सदा के लिए कदापि धूमिल नही कर सकते। शुभ कर्म गहन आत्मसन्तोष देता है तथा मन को शुद्ध, सबल व सशक्त बना देता है। शुभ कर्म मनुष्य मे आत्मविश्वास जगा देता है। शुभ कर्म करनेवाले सत्पुरुष को भगवान् की कृपापूर्ण रक्षा प्राप्त होती है। शुभ कर्म मनुष्य को प्रभु के समीप ले जानेवाला श्रेष्ठ सोपान होता है। शुभ कर्म ही मनुष्य का शृगार है। मनुष्य को भय और चिन्ता त्यागकर शुभ कर्म करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण की प्रत्याभूति ( आश्वासन, गारण्टी ) है कि शुभ कर्म करनेवाला पुरुष जीवनकाल मे तथा देहावसान होने पर कभी दुर्गति को प्राप्त नही होता। मनुष्य को शुभ कर्म करने का अहकार भी कदापि नही करना चाहिए। शुभ कर्म करना उत्तम पुरुष का सहजस्वभाव होता है। वह किसी प्रलो-भनवश सन्मार्ग से विचलित नही होता। उत्तम पुरुष परिस्थिति के प्रतिकूल एव विषम होने पर तथा विरोध एव निन्दा होने पर भी शुभ कर्म का परित्याग नही करते हैं।

**प्राप्य पुण्यकृता लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।**
**शुचीना श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥**
**अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।**
**एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥**
**तत्र त बुद्धिसयोग लभते पौर्वदेहिकम् ।**
**यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥**
**पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स. ।**
**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥**
**प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी सशुद्धकिल्बिषः ।**
**अनेकजन्मससिद्धस्ततो याति परा गतिम् ॥४५॥**

**शब्दार्थ : योगभ्रष्ट. पुण्यकृता लोकान् प्राप्य शाश्वतीः समा. उषित्वा** = योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवान् पुरुषो के लोको को प्राप्त कर ( उनमें ) दीर्घकाल तक रहकर, **शुचीना श्रीमता गेहे अभिजायते** = शुचि और श्रीमान् पुरुषो के घर जन्म लेता है। **अथवा धीमता योगिना एव कुले भवति** = अथवा वह धीमान् ( ज्ञानवान् ) योगियो के ही कुल मे उत्पन्न होता है, **ईदृश यत् एतत् जन्म लोके हि दुर्लभतरं** = इस प्रकार का जो यह जन्म है ( वह ) ससार मे निस्सन्देह अति दुर्लभ होता है। **तत्र त पौर्वदेहिकं बुद्धिसंयोगं लभते** = वहाँ उस पूर्व देह के ( किये हुए ) बुद्धिसयोग को ( सस्कारो को ) प्राप्त कर लेता है ( वहाँ

अर्थात् ४२वें श्लोक मे वर्णित धीमान् योगी के घर मे अथवा ४१, ४२वें मे वर्णित दोनो मे से किसी भी एक घर मे ), च=तथा, कुरुनन्दन=हे अर्जुन, ततः भूयः ससिद्धौ यतते=उसके कारण पुनः ससिद्धि मे प्रयत्न करता है। **सः अवश अपि तेन पूर्वाभ्यासेन एव हि ह्रियते**=वह अवश ( पराधीन अथवा विषयो के वश मे हुआ ) भी उस पूर्वकृत अभ्यास से ही निस्सन्देह परमेश्वर की ओर आकृष्ट होता है, ( तथा ) **योगस्य जिज्ञासु अपि शब्दब्रह्म अतिवर्तते**=योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म ( वैदिक नियमो अथवा वेदप्रतिपादित सकाम कर्मों अथवा कर्मकाण्ड ) को लाँघ जाता है ( शब्दब्रह्म-वेद )। तु प्रयत्नात् यतमानः अनेकजन्मससिद्ध योगी=किन्तु प्रयत्न से अभ्यास करनेवाला तथा अनेक जन्मो से ससिद्धि को प्राप्त हुआ योगी, संशुद्धकिल्विष ततः परा गतिं याति=पापो ( दोषो ) मे शुद्ध होकर फिर ( अन्त मे ) परमगति को प्राप्त होता है ( परमात्मा को प्राप्त होता है )।

**वचनामृत :** योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवान् पुरुषो के लोको को प्राप्त होकर, उनमे असख्य वर्षों तक ( दीर्घकाल तक) निवास करके, फिर शुचि ( शुद्धाचरण करनेवाले ) श्रीमान् पुरुषो के घर जन्म लेता है अथवा वह ( उन लोको मे न जाकर ) ज्ञानवान् योगियो के ही कुल मे जन्म लेता है ( तथा ) इस प्रकार का जो यह जन्म है वह ससार मे निस्सन्देह अत्यन्त दुर्लभ है। वहाँ ( ज्ञानवान् योगी के घर मे ) उस पूर्वदेह मे सचित किये हुए बुद्धिसयोग ( बुद्धि के पवित्र सस्कारो ) को ( अनायास ही ) प्राप्त कर लेता है तथा, हे अर्जुन, उसके कारण ( अथवा उसको प्रारम्भ-बिन्दु मानकर ) पुन ससिद्धि ( परमात्मा की प्राप्ति ) के लिए प्रयत्न करता है। वह पराधीन अथवा विवश होकर भी उस पूर्वकृत अभ्यास से ही निस्सन्देह भगवान् की ओर आकर्षित हो जाता है तथा योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म ( वेद के नियमो अथवा वेद मे वर्णित सकाम कर्मों ) को लाँघ जाता है। प्रयत्नपूर्वक अभ्यासी तथा अनेक जन्मो के सस्कार के कारण ससिद्धि को प्राप्त योगी सम्पूर्ण पापो से मुक्त होकर तब अन्त मे परमगति को अर्थात् परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

**सन्दर्भ** योगभ्रष्ट पुरुष अन्त मे परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

**रसामृत** · भगवान् श्रीकृष्ण की वाणी आशावाद से परिपूर्ण है। एक बार अध्यात्म-मार्ग मे आरूढ होने के पश्चात् मनुष्य विषयो मे फँसकर अल्पकाल के लिए पतित अथवा भ्रष्ट तो हो सकता है, किन्तु विनष्ट नही हो सकता। असयम, प्रमाद आदि के कारण स्खलित होने पर भी उसकी प्रगति सदा के लिए अवरुद्ध नही हो सकती। परमेश्वर की दृष्टि मे कोई भी मनुष्य अधम अथवा पतित नही है तथा उद्धार का मार्ग अथवा भगवान् का द्वार सभी के लिए समान रूप से खुला हुआ है। परमात्मा के साथ एकत्व का अनुभव होना योग है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग तथा ध्यानयोग सभी योग के विविध रूप हैं अथवा योग के अन्तर्गत हैं। योगभ्रष्ट अर्थात् योगमार्ग पर चलते हुए असयम इत्यादि के कारण भ्रष्ट पुरुष का विकास-क्रम अवरुद्ध नही होता। योगभ्रष्ट पुरुष उत्तम लोको मे निवास करके शुद्ध आचरणवाले श्रीसपन्न ( धनिक ) पुरुषो के परिवार मे जन्म लेता है, जहाँ उसे पूर्वजन्मो की अतृप्त वासना की तृप्ति के अवसर के साथ ही शुद्ध जीवन व्यतीत करने तथा आध्यात्मिक मार्ग मे प्रगति करने का पूर्ण अवसर मिलता है।[1] विभूतिसम्पन्न तथा सदाचारशील पुरुषो के घर जन्म होने पर भोगतृप्ति द्वारा आसक्ति से विमुक्ति की सम्भावना रहती है। किन्तु वैराग्यवान् योगभ्रष्ट पुरुष जिनमे भोगासक्ति नही होती तथा जो ससिद्ध होने से पूर्व ही मृत्यु को

---

१ एक बार मनुष्य-योनि में जन्म लेने के पश्चात् अनेक पाप करने पर भी वह पशु-योनि मे नहीं जाता तथा केवल अत्यन्त घोर कुकर्म करने पर ही अल्प पशु-योनि मिलती है। विकास-क्रम में अवरोध अधिक समय तक नही रहता।

प्राप्त हो जाते हैं, किसी लोक मे न जाकर तथा शुचि एव श्रीमान् लोगो के परिवार मे जन्म न लेकर सीधे ही धीमान् (ज्ञानवान्) योगियो के कुल मे जन्म लेते हैं तथा इस प्रकार का जन्म अत्यन्त सौभाग्यमय एव दुर्लभ होता है। धनहीन ज्ञानी पुरुष के घर मे जन्म लेने पर वैराग्यवान् योगभ्रष्ट पुरुष के लिए प्रमाद (धनोन्माद) का अवसर नही होता।[१] पूर्वजन्म मे वैराग्यवान् होने के कारण उसमे भोग-वासना नही होती तथा वहाँ (ज्ञानवान् योगी के कुल मे) पूर्वजन्म के उत्तम सस्कारो के प्रभाव से अनायास ही वह मन तथा इन्द्रियो के एकाग्रतारूप परम तप द्वारा योगाभ्यास मे पुन प्रवृत्त हो जाता है।[२]

श्रीमान् शुद्धाचरणवाले पुरुषो अथवा धीमान् योगियो के घर मे जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष अवश ही अर्थात् पूर्वजन्म के अभ्यास से विवश होकर योगमार्ग मे प्रवर्तित होता है। जो मनुष्य पूर्वजन्म मे योग (आत्मा एव परमात्मा के एकत्वरूप योग) का जिज्ञासु था (जानने के लिए समुत्सुक, इच्छुक था), किन्तु अवसर न मिलने से प्रयत्न न कर सका, वह योगभ्रष्ट पुरुष वेदो के कर्मकाण्ड का (अर्थात् वेदविहित सकाम कर्मो एव कर्मफलो का) भी अतिक्रमण कर देता है। भगवत्प्राप्ति की इच्छा अथवा योगजिज्ञासा दीर्घकाल तक अप्रकट रहकर भी विनष्ट नही होती, क्योकि आध्यात्मिक जिज्ञासा भोग-वासना की अपेक्षा अधिक बलवती होती है। प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी समस्त शोक एव पापो से मुक्त हो जाता है तथा अनेक जन्मो के उत्तम संस्कारो के कारण सिद्धता को प्राप्त होकर अन्त मे परमपद अर्थात् भगवद्दर्शन (अथवा परमात्मा के साथ एकत्वरूप परमानन्द) को प्राप्त हो जाता है।[१] ससिद्ध योगी जीवनकाल मे जीवन्मुक्त रहकर देहावसान के पश्चात् परमगति (निर्वाण अथवा मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमात्मा के साथ एकात्म होकर परमानन्दस्वरूप हो जाता है।

**तपस्विभ्योऽधिको योगी**
**ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।**
**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी**
**तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥**

**योगिनामपि सर्वेषा मद्‌गतेनान्तरात्मना।**
**श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत ॥४७॥**

**शब्दार्थ** · योगी तपस्विभ्यः अधिक·=योगी तपस्वियो से अधिक (श्रेष्ठ) है, च ज्ञानिभ्य. अपि अधिक. मत =ज्ञानवान् (शास्त्रज्ञानवेत्ता) पुरुषो से भी अधिक (श्रेष्ठ) माना गया है, कर्मिभ्य. योगी अधिक.=सकाम कर्म करनेवाले पुरुषो से भी अधिक (श्रेष्ठ) है, तस्मात् =अत, अर्जुन=हे अर्जुन, योगी भव=तू योगी हो जा। सर्वेषा योगिना अपि च श्रद्धावान् मद्‌गतेन अन्तरात्मना मा भजते स मे युक्ततमो मत.=समस्त योगियो मे भी जो श्रद्धावान् योगी मुझ (परमेश्वर) मे लगे हुए

---

१ मनोहराणां भोज्यानां युवतीनां च वाससाम्।
वित्तस्यापि च सान्निध्याच्चलेच्चित्तं सतामपि ॥
तत्सान्निध्य ततस्त्यक्त्वा मुमुक्षुर्दूरतो वसेत् ॥
अर्थात् सुस्वादु भोजन, युवती, सुन्दर वस्त्र एव धन-सम्पत्ति से सत्पुरुषो का चित्त भी विचलित हो जाता है, अत मुमुक्षु को इनसे दूर रहना चाहिए।

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन्
नातिप्रसक्त. समुपैति शान्तिम् ॥

अर्थात् शिल और उञ्छवृत्ति के द्वारा परितुष्टचित्तवाला, पापरहित, महान् वैराग्यवान्, धर्माचरण करता हुआ तथा मुझ (भगवान्) मे समर्पित आत्मावाला गृहस्थ गृह मे रहकर भी यदि अतिविषयप्रसक्त न हो तो परम शान्ति प्राप्त करता है।

२. मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः अर्थात् मन तथा इन्द्रियो की एकाग्रता ही परम तप है।

१. 'तरति शोकं तरति पाप्मानम्'—मुण्डक उप०। अर्थात् वह सब प्रकार के शोक तथा पाप से उत्तीर्ण हो जाता है।

अन्तरात्मा से मुझे ( परमेश्वर ) को भजना है, वह मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है।

**वचनामृत** योगी तपस्वियो की अपेक्षा श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानीजन की अपेक्षा भी श्रेष्ठ माना गया है, कर्मकाण्ड के अनुसार सकाम कर्म करनेवाले मनुष्यो की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, अत हे अर्जुन, तू योगी हो जा। सभी योगियो मे भी जो श्रद्धावान् योगी मुझ ( परमेश्वर ) मे सलग्न अन्तरात्मा से मुझे निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे सर्वश्रेष्ठ मान्य है।

**सन्दर्भ :** योगी श्रेष्ठ होता है, किन्तु भक्तयोगी परमश्रेष्ठ होता है।

**रसामृत** भगवान् के साथ आत्मीयता का नाता जोडना योग है।[1] ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्ति-योग एव ध्यानयोग आदि किसी भी मार्ग का अनुसरण करके मनुष्य अन्ततोगत्वा समदर्शी योगी हो जाता है। ज्ञानयोगी सम्पूर्ण प्राणियो मे समान रूप से ब्रह्म का दर्शन करता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि समबुद्धियुक्त अथवा समदर्शी योगी उन तपस्वियो की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है, जो शारीरिक कष्ट उठाकर अनेक प्रकार के तप करते हैं।[2] तप भगवत्प्राप्ति का शारीरिक साधन है, किन्तु प्राय तप अहकार को पुष्ट कर देता है। आत्मनिष्ठ योगी अथवा ध्यानयोगी तपस्वी की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। योगी मात्र शास्त्र की ज्ञानसामग्री सचित करनेवाले तथाकथित ज्ञानवान् मनुष्य की अपेक्षा भी श्रेष्ठ होता है।[1] कामना का वन्धन मनुष्य को आगे वढने नही देता तथा विकास-क्रम को अवरुद्ध कर देता है, अतएव आत्मनिष्ठ योगी धन, पुत्र, स्वर्ग आदि की कामना से प्रेरित होकर वैदिक कर्मकाण्ड ( ज्योतिष्टोम आदि अग्निहोत्र अथवा सकाम वैदिक यज्ञ ) करनेवाले पुरुषो की अपेक्षा भी श्रेष्ठ होता है। श्रीकृष्ण की मान्यता है कि सभी प्रकार के योगियो मे वह योगी श्रेष्ठ है, जो परमेश्वर मे चित्त लगाकर परमात्मा का श्रद्धा-पूर्वक भजन करता है। भगवान् को रससागर एव परम प्रेमास्पद मानकर भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम करनेवाला योगी धन्य होता है। जो ज्ञान-योगियो के लिए निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य और निरजन चैतन्यस्वरूप ब्रह्म है,[2] वही भक्तो के लिए सगुण साकार भगवान् है। ज्ञान और भक्ति का सगम होने पर योगी श्रेष्ठ हो जाता है। महान् योगी महान् भक्त भी होता है।

---

१ ज्ञानयोग तथा कर्मयोग—ये दो निष्ठाएँ हैं। भक्तियोग कर्मयोग के अन्तर्गत है—भक्तिप्रधान होने पर कर्म भक्तियोग होता है तथा कर्मप्रधान होने पर वह कर्मयोग कहलाता है। ध्यानयोग ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनो में सहायक साधन है। ज्ञानयोग मे आत्मा तथा परमात्मा के अभेद पर तथा कर्मयोग में ( विशेषत भक्तियोग में ) भक्त और भगवान् के भेद पर वल दिया जाता है।

२ **तपसा कल्मष हन्ति**—तप से पाप नष्ट होता है। **तपसैव महोग्रेण यद्दुरापं तदाप्यते**—योगवाशिष्ठ। अर्थात् जो दुष्प्राप्य है वह उग्र तप से प्राप्त हो जाता है।

---

१ परोक्ष ज्ञान की अपेक्षा अपरोक्ष ( प्रत्यक्ष ) ज्ञान श्रेष्ठ होता है तथा अपरोक्ष ज्ञान ( अनुभूति ) होने पर मनुष्य जीवन्मुक्त योगी हो जाता है। शङ्कराचार्य के अनुसार छियालीसवें श्लोक मे 'ज्ञान' का अर्थ 'शास्त्रों का पाण्डित्य' है, न कि आध्यात्मिक वोध।

२ **निष्कल निष्क्रिय शान्त निरवद्य निरञ्जनम्।**
( श्वेताश्वतर उप०, ६.१९ )

( **योगी भवार्जुन**—हे अर्जुन, तू योगी हो जा—इसके अनेक अर्थ किये गये हैं। ज्ञानयोगी अथवा कर्मयोगी अथवा ध्यानयोगी—तीनो अर्थ ठीक हैं। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का लक्ष्य एक ही है तथा ध्यान का साधन ( ध्यानयोग ) सभी के लिए उपयोगी है। श्रीकृष्ण एक ओर युद्ध से पलायन के लिए प्रवृत्त अर्जुन को कर्म के लिए प्रेरित कर रहे हैं तथा दूसरी ओर ज्ञान की महिमा भी बता रहे हैं। अर्जुन कर्मयोग का अधिकारी है ( **कर्मण्येवाधिकारस्ते** ) तथा उसे कर्मयोग का आश्रय लेकर ध्यान एव ज्ञान की ओर बढ़ने का उपदेश दिया गया है। )

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'आत्मसंयमयोग' नामक छठा अध्याय पूर्ण हुआ। शंकराचार्य ने इस अध्याय को 'अभ्यासयोग' नाम दिया है।

## सार-संचय

### षष्ठ अध्याय आत्मसंयमयोग

आन्तरिक साधना एवं आन्तरिक विकासक्रम का विशद वर्णन होने के कारण छठे अध्याय का गीता में अत्यन्त प्रमुख स्थान है। इसके प्रारम्भ में कर्मयोग की प्रस्थापना की गयी है तथा कर्मयोगी को भी एक सन्यासी कहा गया है। कर्मयोगी के निष्काम कर्म की महिमा को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से श्रीकृष्ण कहते हैं कि फल की कामना को त्यागकर ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करनेवाला पुरुष सन्यासी तथा योगी है। वास्तव में कर्मयोग की प्रशंसा करने की दृष्टि से ही उसे सन्यासी के समकक्ष कहा गया है। निष्काम कर्म की साधना द्वारा चित्त शुद्ध होने पर ज्ञान का उदय हो जाता है तथा कर्मयोग ज्ञानयोग में परिणत हो जाता है। ध्यान की साधना ( ध्यानयोग ) कर्म, भक्ति और ज्ञान को पूर्णता प्रदान करने में सहायक होती है। कर्म, भक्ति अथवा ज्ञान परमात्मा के साथ एकत्व स्थापित करने पर योग हो जाते हैं। भक्ति कर्म के अन्तर्गत होती है तथा कर्ममार्ग एवं ज्ञानमार्ग का अन्तिम लक्ष्य एक ही है। समदृष्टि ( समबुद्धि ) होना अथवा समत्वदर्शन परमात्मा में स्थित योगी का लक्षण होता है। भक्तिभावपूर्ण योगी सर्वश्रेष्ठ योगी होता है।

मनुष्य का यथार्थ जीवन एवं जीवन का मूलस्रोत उसके भीतर ही होते हैं तथा बहिर्जगत् केवल व्यवहार-जगत् अथवा कर्मक्षेत्र होता है। जीवन ही मनुष्य का सच्चा धन होता है तथा जीवन में रस की उत्पत्ति उसका परम साध्य होता है। यदि मनुष्य के भीतर का जगत् प्रकाशमय एवं सुखमय है तो बहिर्जगत् भी प्रकाशमय एवं सुखमय प्रतीत होता है तथा इसके विपरीत यदि मनुष्य का अन्तर्जगत् अन्धकारमय एवं क्लेशमय है तो बहिर्जगत् भी अन्धकारमय एवं क्लेशमय प्रतीत होता है। जीवन को सफल एवं सार्थक तथा सुखमय एवं समृद्धिमय बनाने के लिए आत्मनिर्माण एवं आत्मोद्धार करना परम पुरुषार्थ होता है।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में माता, पिता, मित्र और गुरु कुछ समय तक केवल सहारा ही दे सकते हैं, किन्तु मनुष्य को ऊपर उठने तथा दुर्गति से बचने का प्रयत्न तो स्वयं ही करना होगा। किसी गहरे खड्डे में गिरने से पूर्व ही सँभलकर तथा सन्मार्ग पर आरूढ होकर साहसपूर्वक आत्मोद्धार करना मनुष्य का अपना दायित्व होता है। मनुष्य का जीवन तो भीतर होता है तथा बाहर सारा संसार है। भीतर ही आनन्द-स्रोत है। अपने भीतर के जगत् को सँवारने से बाहर का जगत् भी सुखद हो जाता है। भीतर हृदय-कुसुम के खिलने पर उसकी सुगन्ध फूटकर बाहर भी फैलने लगती है। विवेकशील व्यक्ति सदैव अपने अन्तर्जगत् को सँवारने में सचेष्ट रहता है। अविवेकी मनुष्य अपने दुःखों के लिए अन्य जन अथवा परिस्थितियों को उत्तरदायी ठहराता है तथा अपनी चिन्तन-शैली एवं कार्य-प्रणाली में सुधार नहीं करता। कुशल वादक वीणा के तारों से मधुर संगीत उत्पन्न कर

लेता है तथा अकुशल व्यक्ति अपनी विफलता के लिए उसे दोष ही देता रहता है। मनुष्य बाह्य जगत् के घटनाचक्र को नही बदल सकता, किन्तु उत्तम चिन्तन-शैली एव कार्य-प्रणाली अपनाकर सदा सुप्रसन्न रह सकता है।

मनुष्य का देह एक पवित्र मन्दिर है, जिसमे सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा का निवास है। परब्रह्म मगलो का भी मगल है, पवित्र तथा परम मगलमय है, मगलस्वरूप है।[1] परब्रह्म का क्षण-भर के लिए भी चिन्तन करना कल्याणकारक होता है।[2] ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्तस्वरूप है,[3] तथा मनुष्य की हृदय-गुहा में स्थित परम व्योम-स्वरूप है। ब्रह्मस्वरूप आत्मा मनुष्य की सब अवस्थाओ ( जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ) का साक्षी है तथा बाल्यकाल से मृत्युपर्यन्त सब अवस्थाओ का अविकारी नित्य साक्षी है। वास्तव मे मनुष्य सच्चिदानन्दस्वरूप है, किन्तु अपने यथार्थ स्वरूप का बोध न होने के कारण क्लेशमय रहता है। अपने यथार्थ स्वरूप का बोध अथवा साक्षात्कार होना परमानन्दमय मोक्ष है।[1] मनुष्य विवेक, विचार, स्वाध्याय, सत्सग एव अभ्यास द्वारा अपने स्वरूप को पहचानकर, आनन्दमय होकर, कृतकृत्य हो सकता है। विवेकशील मनुष्य अपने जीवन को उत्तरोत्तर अधिक दिव्य एव आनन्द-मय बना सकता है।

मनुष्य का देह-यन्त्र प्रकृति की ऐसी अद्भुत एव अप्रतिम रचना है, जिसमे असख्य आश्चर्य भरे हुए हैं। ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति अत्यन्त रहस्यमय है। नेत्रो की सरचना, दृष्टिपटल और देखने की शक्ति, श्रवणेन्द्रिय की सरचना, कर्णपटह और श्रवण-शक्ति, नासिका की सरचना, सवेदनशील कोशिकाएँ और घ्राण-शक्ति, जिह्वा की सरचना, सवेदनशील ग्रन्थियाँ और स्वाद-शक्ति, त्वचा की सरचना और तापनियन्त्रण एव उत्सर्जन की शक्ति अकल्पनीय हैं। पाचन-क्रिया तथा चयापचय ( शरीर मे भोजन को पचाकर रक्त आदि बनाना तथा अपशेष का उत्सर्जन ), ऊर्जा का उद्भव, तन्तुओ की ऊतको द्वारा प्रतिपूर्ति, मस्तिष्क एव स्नायुतत्र ( प्रमस्तिष्क, अनुमस्तिष्क इत्यादि ) की सरचना, कोटि-कोटि सवेदनशील कोशिकाएँ तथा तन्तु, चिन्तन, स्मरण, कल्पना आदि शक्ति, अस्थियो ( मज्जा इत्यादि ), मासपेशियो की सर-चना और शक्ति, रक्तप्रवाह, प्रजनन-शक्ति इत्यादि सभी चमत्कारपूर्ण हैं। मनुष्य अपने अविवेक से शरीर के स्वास्थ्य को नष्ट कर देता है। प्रकृति ने शरीर को आत्मोपचार की शक्ति प्रदान की है तथा मनुष्य प्रकृति की सहायता से शरीर को स्वस्थ रख सकता है। भोजन, उपवास, व्यायाम, परिश्रम तथा विश्राम के नियमो की अवहेलना करने पर शरीर रोगी हो जाता है। वास्तव मे रोग आत्मशोधन का प्रयास तथा एक चेतावनी होता है। मदिरा, तम्बाकू आदि का सेवन निश्चित रूप से शरीर की क्षति करता है। स्वच्छ वायु का

---

१ 'मङ्गलाना च मङ्गलम्', 'पवित्र मङ्गल परम्।'

२ स्नात तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वापि दत्ताऽवनि यज्ञाना च कृत सहस्रमखिला देवाश्च सपूजिता। ससाराच्च समुद्धृता स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मन प्राप्नुयात्॥

—जिसका मन एक क्षण के लिए भी ब्रह्म-विचार मे स्थिरता प्राप्त कर ले, उसने सभी तीर्थों के जल मे स्नान कर लिया, उसने समस्त पृथ्वी का दान कर दिया, सहस्रो यज्ञो का अनुष्ठान कर लिया, सभी देवो को पूजित कर लिया, ससार से अपने पितरो का उद्धार कर लिया, और स्वय भी त्रिलोकी में सबका पूज्य हो गया।

३ 'सत्यं ज्ञान अनन्तं ब्रह्म', 'यो वेदनिहितं गुहाया परमे व्योमन्।'

---

१ मोक्ष की सात भूमिका हैं-शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी, तुरीय।

त्वचा के साथ सम्पर्क, स्वच्छ वायु मे श्वास लेना, स्वच्छ जल एव सूर्य के प्रकाश का उपयोग तथा सुपाच्य भोजन शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। दिन मे अल्प विश्राम तथा रात्रि में निद्रा शरीर एव मन को स्फूर्ति एव शक्ति प्रदान करते हैं। निद्रा एक सम्पत्ति है तथा समस्त भौतिक सम्पदाओ का विस्मरण करने पर ही उसे प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य को शारीरिक तथा मानसिक दो प्रकार के रोग ग्रस्त करते हैं तथा वह स्वय उनसे मुक्त होने का उपाय कर सकता है। शारीरिक व्याधि से मानसिक तथा मानसिक व्याधि से शारीरिक उत्पन्न होती है, किन्तु मन शरीर पर नियन्त्रण करता है[1] तथा शरीर की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। मन के निर्मल होने पर अर्थात् भय, चिन्ता, घृणा और क्रोध छोडने पर मन तनावरहित और शान्त रहता है। भौतिक कामनाएँ, महत्त्वाकाक्षा, लोभ और मोह मनुष्य के मन को क्षुब्ध एव अशान्त कर देते है। शोर मे अधिक समय तक रहना भी मन को दुर्बल करता है।[2] प्रेम, दया, क्षमा, उदारता, सन्तोष आदि मानवीय गुण तथा परमात्मा मे विश्वास, शुभ सकल्प (उत्तम विचार) तथा ध्यान का अभ्यास मन को सशक्त और शान्त बना देते हैं। वास्तव मे, आध्यात्मिकता से दूर हटने पर मनुष्य अनेक प्रकार की व्याधियो से ग्रस्त हो जाता है तथा आध्यात्मिकता व्याधियों को दूर करने तथा कष्ट सहन करने का सर्वोत्तम उपाय है। मनुष्य स्वय ही आत्मोपचार एव आत्मोद्धार कर सकता है। कोई अन्य व्यक्ति केवल मार्गनिर्देशन ही कर सकता है। रोग मे भगवद्भजन और प्रार्थना करने से रोग का उपशम होता है तथा मन को शान्ति मिलती है।[1]

यह एक विडम्बना है कि मनुष्य अधिकत अपने ही स्वभाव, विचार, वचन, व्यवहार इत्यादि के दोषो (लोभ, अहकार, घृणा, क्रोध, चिन्ता, भय, निराशा, शोपण-वृत्ति, कटु वाणी, अन्ध-विश्वास, दुर्व्यसन, असयम इत्यादि) के कारण दु ख पाता है, किन्तु वह अपने दुःख के लिए दूसरो को तथा परिस्थितियो को दोप देता है तथा दु ख-निवारण का स्थायी उपाय नही करता। भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि मनुष्य को आत्मावलोकन करके आत्मोद्धार अर्थात् आत्मसुधार करना चाहिए।[2] मनुष्य आत्मसुधार द्वारा ही दु:खमुक्त होकर स्थायी सुख प्राप्त कर सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिए, अपने को अधोगति मे कदापि नही पहुँचाना चाहिए। जो अपने ऊपर नियन्त्रण करके उत्तम मार्ग पर चलता है वह अपना मित्र है तथा जो आत्मसयम न करके कुमार्गगामी हो जाता है वह अपना ही शत्रु है।" मनुष्य को सावधान होकर आत्म-विश्लेपण करना चाहिए। जिस प्रकार दर्पण देखकर

---

१. द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म, निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते॥
शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नात्र संशयः।
मानसाज्जायते व्याधिः शारीर इति निश्चयः॥

—महाभारत

अर्थात् व्याधि दो प्रकार की होती हैं—शारीरिक तथा मानसिक। ये परस्परावलम्बी होती हैं तथा इनके नही रहती। शारीरिक व्याधि से मानसिक व्याधि होती है, इसमें सशय नहीं है तथा मानसिक व्याधि से शारीरिक व्याधि होती है, यह निश्चय है।

२ ६५ से ८० डेसीबल शोर कष्टप्रद हो जाता है।

---

१. रामकृपा नासहि सब रोगा,
जो एहि भाँति बनै सजोगा।
सद्गुर बैद बचन विस्वासा,
संजम यह न विषय कै आसा।
रघुपति भगति सजीवन मूरी,
अनुपान श्रद्धा मति पूरी।

२. आत्मावलोकने यत्नः कर्तव्यो भूतिमिच्छता—योगवासिष्ठ। अर्थात् कल्याण की इच्छावाले मनुष्य के द्वारा आत्मावलोकन का यत्न किया जाना चाहिए।

स्वरूप को दोषरहित एव स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार अन्तर्मन को देखकर भीतर के स्वरूप को भी दोषरहित एव स्वच्छ किया जाता है। मनुष्य के अचेतन मस्तिष्क मे असख्य मनोविकार दबे हुए रहते हैं, जो सडी हुई कीचड की भाँति दुर्गन्धयुक्त होते हैं तथा मन को उद्विग्न एव अशान्त रखते हैं। वैभव एव ऐश्वर्य के प्रचुर साधन, धन, सम्पत्ति, मान इत्यादि कणभर भी मानसिक शान्ति नही दे सकते। एकान्त मे, विशेषत शयन के समय, अचेतन कक्ष का द्वार खुलने पर प्रच्छन्न मनोविकार ( चिन्ताएँ, कुण्ठाएँ, भय, निराशा, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि ) मनुष्य के मानस-पटल पर उग्ररूप मे उपस्थित होकर शान्ति का अपहरण कर लेते हैं। ये मनोविकार स्वप्न मे स्वतन्त्र होकर प्रतीको के रूप मे अनेक कल्पित भीषण दृश्य प्रस्तुत करके मनुष्य को चौका देते है तथा मनुष्य व्यर्थ ही उन्हे भविष्य का सूचक मानकर भयभीत हो जाता है। वास्तव मे स्वप्न केवल अतीत की घटनाओ पर आधारित होते हैं तथा उन दिशाओ की सूचना देते हैं, जिन पर तटस्थ चिन्तन करके मनुष्य को आत्मसुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए। विवेकशील मनुष्य तटस्थद्रष्टा अथवा प्रेक्षक होकर अपने भीतर के जगत् का दर्शन करता है तथा उसमे सुधार का प्रयत्न करता है। वस्तुस्थिति से पलायन करना समस्या का समाधान नही होता। पलायन समस्या को विषम बना देता है।

विवेकी पुरुष अपने दोषो के कारण अपने से घृणा नही करता और न दोषो के कारण हीनता का भाव उत्पन्न होने देता है। ससार मे पूर्ण कौन है ? केवल परमात्मा पूर्ण है और सभी मे दोष होते हैं, किन्तु चतुर मनुष्य साहस करके दोषो से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं तथा मूढजन दोषो मे फँसे रह जाते है। अपने दोषो को स्वीकार करना सुधार का प्रथम पग होता है। आत्मशुद्धि द्वारा आत्मोद्धार करना आत्मकल्याण का द्वार खोल देता है।

अनेक मेधावी पुरुष हीनता से ग्रस्त होकर अर्थात् अपनी शक्ति न पहचानकर कार्य-सम्पादन के समय कहने लगते है—मै इस कार्य को नही कर सकता, मै सफल नही हो सकता। विवेकशील मनुष्य गम्भीर चिन्तन द्वारा विवेक, उत्साह, साहस तथा आत्मविश्वास जगाकर हीनभाव पर विजय प्राप्त कर लेता है। आत्मविश्वास अहकार से भिन्न होता है। आत्मविश्वास मे दृढता होती है तथा अहकार मे उद्दण्डता। अहकार का अपकर्ष नरक का तथा उत्कर्ष स्वर्ग का निर्माण कर देता है। प्रकृति ने मनुष्य को अपने रोग, शोक, चिन्ता, भय, निराशा और हीनता पर विजय पाने की क्षमता प्रदान की है। मनुष्य भगवान् की शरण मे जाकर तथा भगवान् की कृपा पर भरोसा करके खोये हुए आत्मविश्वास को जगा सकता है। आत्मविश्वास के सुदृढ होने पर इच्छा-शक्ति दृढ हो जाती है तथा मनुष्य भय, निराशा तथा आत्मग्लानि पर विजय प्राप्त कर सकता है। भय मनुष्य को निकृष्ट एव दयनीय बना देता है तथा समस्त शक्तियो को क्षीण कर देता है। मनुष्य को निर्धनता का भय, रोग अथवा वृद्धावस्था मे शारीरिक एव मानसिक शक्ति की क्षीणता का भय, आलोचना एव निन्दा का भय. आशा-भग एव विफलता का भय, पराजय एव अपमान का भय, किसीके प्रेम अथवा कृपा से वचित होने का भय, मृत्यु का भय इत्यादि अनेक भय ग्रस्त करते हैं। भय, निराशा, हीनता तथा आत्मग्लानि मनुष्य को जीवन के प्रति निराश कर देते हैं तथा मनुष्य जीवन को नीरस एव एक कुचलनेवाला बोझ समझने लगता है। ऐसी अवस्था मे मनुष्य चिडचिडा और खिन्न होकर अनेक रोगो से ग्रस्त हो जाता है तथा उसे अपने जीवन से घृणा हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपने से घृणा करके अपने को कष्ट देना अपने साथ शत्रुता करना है तथा अपने को कष्ट से ऊपर उठाना अपने साथ मित्रता करना है।

जीवन परमात्मा की कृपापूर्ण देन है। जीवन मे रस है, दिव्यता है तथा आनन्द प्रदान करने की

अद्भुत क्षमता है। जीवन को रसमय बनानेवाला मनुष्य अपने तथा समाज के लिए मूल्यवान् निधि हो जाता है। मनुष्य विषयलोलुपता तथा राग-द्वेष से मुक्त होकर जीवन को रसमय, सौन्दर्यमय तथा आनन्दमय बना सकता है। मूढ मनुष्य जीवन को एक अभिशाप तथा विवेकशील पुरुष उसे एक वरदान बना लेता है। मनुष्य को अपने विचार अथवा आन्तरिक स्वरूप को गहराई से देखना चाहिए। हम वही है तथा वही बन रहे हैं, जैसे हमारे विचार हैं। अतएव हमे शुभ विचारो के निर्माण तथा पोपण द्वारा दु खदायी अशुभ विचारो का निराकरण करना चाहिए। विचार ही तो अन्तर्मन है, स्वरूप है तथा आन्तरिक जीवन है। जीवन मे आदर्शों की स्थापना करने तथा उनसे प्रेरणा लेने पर जीवन रसमय हो जाता है। मनुष्य को उत्तम लक्ष्यो की पूर्ति के लिए जीने की इच्छा करनी चाहिए। ज्ञानसचय, निस्स्वार्थ जन-सेवा, आध्यात्मिक उपलब्धि की आदर्शपूर्ण इच्छा पवित्र होती है तथा इनसे अनुप्राणित होने पर मनुष्य अपने व्यक्तिगत सुख-दु ख तथा मान-अपमान से ऊपर उठ जाता है। जीवन को सत्कर्मों द्वारा चमकाना, दिव्य बनाना जीवन का सदुपयोग है एव जीवन की कृतार्थता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि मनुष्य को जीवन का महत्त्व समझना चाहिए, अपना महत्त्व समझना चाहिए तथा मान-अपमान से ऊपर उठकर[1] कर्ममार्ग मे डट जाना चाहिए। मान की इच्छा तथा अपमान का भय दोनो त्याज्य हैं। सत्पुरुष न मान की इच्छा करता है और न आलोचना, निन्दा अथवा अपमान का भय करता है। परमात्मा की दृष्टि से कुछ ओझल नही होता तथा समय आने पर प्रत्येक कर्म का फल स्वत मिलता है, जैसे समय आने पर वृक्ष पर फल और फूल स्वत लगते है।[1] कुछ व्यक्ति कुछ समय तक सत्य की निन्दा कर सकते हैं, किन्तु अन्त मे सत्य की विजय अवश्य होती है, अन्त मे मनुष्य के कर्म का मूल्याकन अवश्य होता है, सत्कर्म की सुगन्धि अवश्य फैलती है। सद्विचार एव सत्कर्म मनुष्य के सच्चे बन्धु होते हैं। किसी अन्य द्वारा कटु आलोचना अथवा मिथ्या दोषारोपण होने पर आत्मग्लानि द्वारा अपने को कष्ट पहुँचाना, अपनी दृष्टि मे अपने को नीचे गिराना, अपने को दीन बनाना अथवा क्षुब्ध हो जाना अविवेक है। कर्मयोगी निष्काम भाव से, फल की इच्छा छोड़कर, कर्म करता है तथा कर्म को ईश्वर को अर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है। उसे भगवान् के न्याय पर भरोसा होता है। वह निन्दा तथा स्तुति, आलोचना तथा प्रशसा मे सम रहता है। वह पुरस्कार की अपेक्षा नही करता तथा तिरस्कार से भयभीत नही होता।

जीवन एक सघर्ष है, किन्तु कर्मयोगी के लिए यह सघर्ष सहज एव सुखमय होता है। विषम परिस्थिति के सामने आत्मसमर्पण करना अथवा पलायन करना परिस्थिति को अधिक विषम बना देता है तथा मन मे आत्म-घृणा एव अवसाद उत्पन्न कर देता है। जहाँ मनुष्य विवश हो वहाँ उसे ईश्वर की इच्छा मानकर अथवा ईश्वर के न्याय पर छोडकर शान्त हो जाना चाहिए। मनुष्य के भीतर भी देवासुर-सग्राम अथवा सद् एव असद् वृत्तियो का सघर्ष अथवा प्रकाश एव अन्धकार का द्वन्द्व चलता रहता है। सद् वृत्तियो से असद् वृत्तियो पर विजय पाने से आन्तरिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो

---

१ शीतोष्णसुखदु.खेषु तथा मानापमानयो.।
—गीता, ६.७

१ अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वकालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम्॥
—महाभारत

—जैसे बिना प्रेरणा फूल फल समय आने पर लगते हैं, वैसे ही पूर्वकृत कर्म भी फलयोग के समय का उल्लंघन नही करते।

जाता है। विकास तथा विनाश की प्रक्रिया साथ-साथ चलती रहती है, जिसका अनुभव मनुष्य रोग आदि के समय करता है। अपने प्रति सजग एव सावधान रहनेवाला तथा अपने को वश मे रखनेवाला आत्मसयमी पुरुष सहज ही रोग एव शोक पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा सदैव सम एव शान्त रहता है। समता एव शान्ति कर्मयोगी की निधि होते हैं। वास्तव मे, भगवद्गीता एक उत्तम जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है, जो जीवन और जगत् के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को स्वस्थ एव सुन्दर बना देता है। जीवन-दर्शन की उत्तमता की परख विषम परिस्थिति अथवा सकट मे अथवा अप्रिय घटना के घटित होने पर होती है। गीता मनुष्य को परिस्थितियो से ऊपर उठकर तथा सम एव शान्त रहकर निष्काम भाव से यथाशक्ति कर्म करते रहने का उपदेश करती है। जीवन मे परीक्षा की घडियाँ आती हैं, जिन्हे कर्मयोगी दृढता, धैर्य, साहस और आत्मविश्वास द्वारा पार कर लेता है। वह कटु आलोचना, पराजय अथवा विफलता से विचलित नही होता। वह अपने उत्तम विचार और सत्कर्म के कारण अभिमान नही करता तथा विनम्र होता है। परिवर्तनशील ससार मे समयानुसार उचित परिवर्तन को स्वीकार करना वैचारिक प्रौढता एव सुनम्यता का लक्षण होता है। अपनी बुद्धि अथवा चरित्र का अभिमान करनेवाला मनुष्य परछिद्रान्वेषी होकर दूसरो से घृणा करने लगता है तथा समाज मे अकेला पडकर भ्रमित एव दु खी हो जाता है। कर्मयोगी अतीत के बन्धन मे भी नही पडता तथा वह न विगत पुण्यो के कारण दर्प और न विगत पापो के कारण क्लेश करता है। वह न अतीत का चिन्तन करता है और न भविष्य की चिन्ता। मनुष्य अपने भविष्य का निर्माण वर्तमान विचार एव कर्म द्वारा निरन्तर करता रहता है। वर्तमान को सुधारने से भविष्य सुधर जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मोद्धार का मार्ग सबके लिए सदैव खुला हुआ है। जो मनुष्य औपचारिक रूप से पूजा-पाठ, तीर्थ-सेवन आदि करते हैं, किन्तु न अपने स्वभाव को उत्तम बनाते है और न कर्म ( पुरुषार्थ ) करते है, वे आत्मोद्धार का रहस्य नही समझते। कर्मयोगी अपने दोषो का सुधार तो करता है, किन्तु उनके कारण अपने को पापी नही कहता तथा अपने गुणो को पहचानकर उनका विकास करता है। यद्यपि अधिक पश्चात्ताप करना अविवेक होता है, तथापि, जब कोई घोर पापी विगत पापकर्मो के लिए पश्चात्ताप करता है, वह अपने सात्त्विक भाव की प्रबलता को प्रमाणित करता है तथा आत्मोद्धार का मार्ग प्रशस्त करता है। भगवान् का द्वार सभी के लिए सदैव तथा समान रूप से खुला हुआ है।

ज्ञान, कर्म तथा भक्ति परमेश्वर के साथ एकत्व स्थापित करने पर 'योग' हो जाते हैं। ध्यान का अभ्यास ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग की ससिद्धि मे महत्त्वपूर्ण, उपयोगी तथा सहायक होने के कारण गीता मे ध्यानयोग के रूप मे वर्णित किया गया है। ध्यान से आत्मबोध एव जागरण सम्भव हो जाता है तथा मनुष्य राग, द्वेष, घृणा, क्रोध, चिन्ता, भय आदि से निवृत्त होकर साक्षी-भाव से जीवनयापन कर सकता है। यदि ध्यान के अभ्यास से अहकार और वासना क्षीण न हो तो वह मात्र एक मनोरजक व्यायाम है। विचार और व्यवहार मे परिवर्तन होना ध्यान की सिद्धता की सच्ची कसौटी है। मनुष्य ध्यान के द्वारा मन और बुद्धि से परे ऊर्ध्वचेतना मे आरोहण करते हुए दिव्य चेतना मे निमग्न होकर, शून्यता से परे पूर्णता की अवस्था मे सुरदुर्लभ परमानन्दानुभूति कर सकता है। ध्यान ऊर्जा, प्रकाश, दिव्यता और आनन्द-प्राप्ति का सर्वोच्च साधन है। योगीजन प्राय खेचरी मुद्रा मे ( अर्थात् जिह्वा को विपरीत तालु मे लगाकर ) भृकुटी पर दृष्टि एकाग्र करते हैं। भृकुटी का ध्यान मनुष्य के तीसरे नेत्र ( अन्तचंक्षु ) को खोलकर अकल्पनीय मानसिक शक्ति एव सामर्थ्य जगा देता है। वास्तव मे, नेत्र मूँदकर ही मानसिक दृष्टि से भृकुटी मे प्रकाश पर ध्यान

को स्थिर किया जा सकता है। अधखुले नेत्रो से नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करने से भी भृकुटी का मानसिक ध्यान सिद्ध हो जाता है। अनेक अन्य प्रकार से भी ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है। साधक को नीरव, शान्त तथा एकान्त स्थल मे सुविधाजनक मुद्रा मे बैठकर धीरे-धीरे कोई छोटा-सा मत्र ( ॐ, सोऽह, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ नमः शिवाय, नम शिवाय इत्यादि ) जपते हुए ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान मस्तिष्क को ऊर्जा एव प्रकाश देकर समस्त शारीरिक क्रियाओ ( रक्त-प्रवाह, श्वास, हृदय-स्पन्दन, चयापचय इत्यादि ) को तथा मानसिक गति को पूर्णत नियन्त्रित करने एव सहज बनाने मे सहायक होता है तथा शरीर एव मस्तिष्क को गहरी विश्रान्ति प्रदान कर देता है। ध्यान का अभ्यास मनुष्य को न केवल समस्त मानसिक रोगो एव दुर्व्यसनो की रुचि से मुक्त करके पूर्णत सन्तुलित एव स्वस्थ कर सकता है, बल्कि उसे दिव्य जीवन की ओर उन्मुख कर देता है। ध्यान तनाव और अनिद्रा का अमोघ उपाय है। ध्यान के समय श्वास धीमा और गहरा होकर आयु-वृद्धि करता है। योगी ध्यान द्वारा अचिन्त्य, अकल्पनीय परमब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते है। ध्यान का उद्देश्य भौतिक जगत् से ऊपर उठकर दिव्य चेतना मे निमग्न होना है।

ध्यान के अभ्यास मे, विशेषत कुण्डलिनी शक्ति के जागरण मे, सिद्ध गुरु से दिशा-निर्देशन प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक होता है। तर्कवादी मनुष्य कदापि सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण नही कर सकता। पाण्डित्य-प्रदर्शन और वाक्-पटुता सूक्ष्म अनुभूति के आदान-प्रदान मे बाधक होते है। साधक को श्रद्धा और विश्वास से परिपूरित होकर सद्गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए। सद्गुरु गूढ तत्त्वो को सरल प्रकार से हृदयगम करा देते हैं।[1] ध्यान-निमग्न मनुष्य न केवल स्वय गहन शान्ति का अनुभव करता है, बल्कि अन्य समीपस्थ मनुष्यो मे भी शान्ति, सद्भावना एव सात्त्विकता का सचार कर देता है।

श्रीमद्भगवद्गीता मे कुण्डलिनी योग की चर्चा नही है, यद्यपि तत्र-विद्या मे ध्यान के सन्दर्भ में उसका विशेष महत्त्व कहा गया है। साधक विभिन्न स्तरो को पार करते हुए क्रम-विकास के पथ पर अग्रसर होता है। मानव-देह मे मेरुदण्ड के अधोभाग मे स्थित मूलाधार चक्र मे अनन्त शक्ति ( सूक्ष्म नाडी तन्तुरूप ) कुण्डली लगाये हुए सर्प की आकृति मे स्थित है। मल-मूत्र-विसर्जन के स्थानो के समीप स्थित इस केन्द्र को शक्तिपीठ अथवा योनिपीठ भी कहते है। षट्कमलो अथवा षट्चक्रों का भेदन करना अथवा षट्चक्र सोपान पर चढना कुण्डलिनी-तत्त्व को जगाने ( कुण्डलिनी-जागरण ) की विधि है। मेरुदण्ड मे तीन प्रमुख नाड़ियाँ हैं—सुषुम्ना ( बोधिनी अथवा प्राणतोषिणी सरस्वती ), इडा ( गगा ) और पिंगला ( यमुना ), जो सत्, रज और तम की भी सूचक है। योगी त्रिवेणी मे मानसिक स्नान करते हैं। मेरुदण्ड जीवन का परिचालक, पोषक एव धारक होता है। दिव्य सहस्रदल कमल ( ब्रह्मरन्ध्र ) मे चन्द्रमा विराजमान है, जिसका चिन्तन योगी करते है। सुषुम्ना के सहारे षट्चक्र इस प्रकार है—

मूलाधार चक्र ( तत्त्व पृथ्वी, वर्ण पीत, देवता गणेश, सम्बद्ध वाहन हाथी। इसके कमल मे चार दल हैं। )

स्वाधिष्ठान चक्र ( तत्त्व जल, वर्ण श्वेत, देवता ब्रह्मा, सम्बद्ध वाहन मगरमच्छ, इसके कमल मे छह सिंदूरी पँखुडियाँ है। )

मणिपूर चक्र ( तत्त्व अग्नि, वर्ण हेम, देवता विष्णु, सम्बद्ध वाहन मेष। इसके कमल मे दस पँखुडियाँ है। )

अनाहत चक्र ( तत्त्व वायु, वर्ण रक्त, वाहन अजा। इस हृदय-कमल मे बारह सुनहरी पँखुड़ियाँ हैं। )

---

१ यो गुरु. स शिव· प्रोक्तो य. शिव स गुरु स्मृत ।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च ॥

विशुद्ध चक्र ( तत्त्व आकाश, वर्ण श्वेत अथवा सुहेम, वाहन गज। इसमे सलेटी बैंगनी रग की सोलह पँखुडियाँ है। )

आज्ञा चक्र ( इसके श्वेत कमल मे केवल दो पँखुडियाँ हैं, इसका देवता महेश्वर है। )

कुण्डलिनी शक्ति जागृत होने पर असख्य विद्युत्-तरगो के केन्द्र तथा एक हजार पँखुडियो के कमल-वाले सहस्रार चक्र को प्राप्त हो जाती है। चित्शक्ति जो सर्पिलरूप मे, कुण्डलिनीरूप मे, मूलाधार चक्र मे ( सुषुम्ना के विविर मे ) प्रसुप्त होकर स्थित है, जागृत होने पर चक्रभेदन करती हुई मस्तिष्क के मध्य मे स्थित सहस्रार चक्र तक पहुँचकर ब्रह्मलीन हो जाती है। सहस्रार चक्र का आज्ञा चक्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मेरुदण्ड शिव के पिनाक का प्रतीक है। पिनाक का एक भाग, जो मूलाधार चक्र मे रहता है, चित्रकूट कहलाता है तथा सारा देह अयोध्यापुरी कहलाता है। मूलाधार के पद्म के मध्य स्थित योनि मे कुण्डलिनी स्थित है। सहस्रार चक्र अथवा ब्रह्मरन्ध्र ही ब्रह्मलोक है, जहाँ महा-शिवलिंग विराजमान है अथवा यह चित्स्वरूप महाशिव का कैलासरूप वासस्थान है। मूलाधार चक्र के भेदन से मिट्टी-तत्त्व पर विजय प्राप्त होती है तथा ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण प्रारम्भ हो जाता है। योगी क्रमश पाँचो तत्त्वो पर विजय पाकर ऊर्ध्व-रेता हो जाता है तथा गुणातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति के विविध चक्रो को पार करते समय योगी को विभिन्न ध्वनियो का श्रवण होता है। योगी को आकाश मे घूमने आदि की शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अष्ट सिद्धि उसे हस्तगत हो जाती हैं, किन्तु योगी का लक्ष्य दिव्य-सुधापान होता है।

ब्रह्मरन्ध्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ होता है। सुषुम्ना मूलाधार से सहस्रार तक अखण्डरूप से स्थित रहती है तथा उमा की प्रतीक कही जाती है। मूलाधार चक्र के भेदन से ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण प्रारम्भ हो जाता है। योगी क्रमशः पाँचो तत्त्वो पर विजय पाकर ऊर्ध्वरेता हो जाता है तथा गुणातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। जब वाग्देवी कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर सुषुम्ना के द्वारा मूलाधार से सहस्रार तक प्रवाहित हो जाती है, मूलाधार को सहस्रार से जोड़ देती है, वह उमा-शिव-मिलन भी कहलाता है तथा साधक को महाभाव की मधुर मूर्च्छा, दिव्यावेश, असह्य आनन्द, सौन्दर्य-दर्शन इत्यादि का अनुभव होता है तथा ऊर्ध्वगामी चेतना का परम चेतना के साथ ऐक्य होने पर परमानन्द-प्राप्ति हो जाती है। इस ध्यान-प्रक्रिया मे मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध, जाल-न्धर बन्ध, महाबन्ध तथा खेचरी मुद्रा सहायक होते हैं।[1] ॐकार का नाद नाभिकमल से उत्थित होकर अनाहत चक्र को झकृत करता हुआ कण्ठस्थित विशुद्ध चक्र मे स्फुट होता है तथा योगियो को स्फोट एव नाद का दिव्य अनुभव होता है। ॐकार का वासस्थान आज्ञा चक्र होने के कारण भृकुटी पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तथा भृकुटी पर चन्दन का तिलक किया जाता है। वास्तव मे समस्त मस्तक ऊर्जा का सवेदनशील स्थल होता है।

ध्यान की साधना से मनुष्य ऐसी मानसिक अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जब उसे घोर दु ख भी विचलित नही कर सकते। ससिद्ध योगी सम्पूर्ण प्राणियो मे भगवान् का दर्शन करता है तथा सम-दर्शी होता है। यदि मृत्यु होने तक साधना अपूर्ण रह जाती है, साधक आगामी जन्मो मे पुराने सस्कारो के बल से पुन साधना की उच्चभूमि की प्राप्ति का प्रयत्न करता है तथा अन्त मे परमात्मा

---

१ नासन सिद्धसदृश न कुम्भसदृशं बलम्।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लय ॥
—शिवसहिता, ५ ४८

अर्थात् सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं है, कुम्भक के समान कोई बल नही है, खेचरी के समान कोई मुद्रा नही है और नाद के समान कोई लय नही है।

को प्राप्त कर लेता है। श्रद्धापूर्वक भगवद्भजन करनेवाला योगी सर्वश्रेष्ठ होता है।

कर्मयोगी के लिए परिवार सम्पूर्ण साधना का श्रेष्ठ केन्द्र-स्थल होता है। यद्यपि आध्यात्मिक प्रगति मे तीर्थों का विशेष महत्त्व है, कर्मयोगी के लिए सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-सयम, प्राणियो के प्रति दयाभाव तथा सरल व्यवहार भी तीर्थ होते हैं।[1] कर्मयोगी इन गुणो का अभ्यास परिवार मे कर सकता है। परिवार के सदस्य उत्तम भावना, विचार, वचन और व्यवहार द्वारा परिवार को स्वर्ग बना सकते है। अपार भौतिक सम्पदा, वैभव और ऐश्वर्य मे सुख देने की क्षमता नही होती। कर्मयोगी को सद्गुणो की अपेक्षा भौतिक सम्पदा को तुच्छ मानकर सद्गुणो के विकास एव अभ्यास पर बल देना चाहिए। सघटित परिवार प्रत्येक सदस्य की सकटवेला मे पूर्ण सहायता का श्रेष्ठ आश्वासन ( बीमा ) होता है, किन्तु अविवेकीजन की क्षुद्रता, सकीर्णता तथा असहनशीलता के कारण परिवार टूट जाते हैं।

घृणा को घृणा से, कटुता को कटुता से, क्रोध को क्रोध से, दुष्टता को दुष्टता से, हिंसा को हिंसा से, क्षुद्रता को क्षुद्रता से, असत्य को असत्य से तथा अन्धकार को अन्धकार से कुछ समय के लिए दबाया जा सकता है, किन्तु घृणा को प्रेम से, कटुता को मधुरता से, क्रोध को क्षमा से, दुष्टता को साधुता से, हिंसा को अहिसा से, क्षुद्रता को उदारता से, असत्य को सत्य से तथा अन्धकार को प्रकाश से ही जीता जा सकता है। मनुष्य की व्यक्तिगत सुखभोग की कामना महान् पुरुषार्थ को भी तुच्छ स्वार्थ बना देती है तथा यज्ञ-भावना ( उदार वृत्ति ) पुरुषार्थ को परमार्थ बना देती है। सत्य, प्रेम और सेवा मन के विष को धोकर उसे निर्मूल बना देते है, सयम, सादगी और सन्तोष मनुष्य को सुख एव शान्ति देते हैं तथा आध्यात्मिक भाव ( ज्ञान, ध्यान एव भक्ति ) उसे आनन्द एव दिव्यता प्रदान कर सकते हैं। सत्य, क्षमा, इन्द्रियसयम, दयाभाव तथा सरल व्यवहार का अभ्यास परिवार को सुगठित एव सुखमय बना देते हैं। परिवार समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई होता है तथा परिवारो के सुदृढ होने पर समाज सुदृढ हो जाता है। जो मनुष्य परिवार के लिए उपयोगी होता है, वही समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

मनुष्य का मन ही सुख और दु ख का कारण होता है तथा मनुष्य स्वय अपने विचारो द्वारा अपने मन का निर्माण करता है। मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसा ही मन हो जाता है। मन के स्वरूप का निर्माण चिन्तन द्वारा हो जाता है। अतएव स्वाध्याय ( उत्तम ग्रन्थो का अध्ययन ) तथा सत्सग का जीवन मे अतुलनीय महत्त्व होता है। स्वाध्याय एव सत्सग से विवेक उत्पन्न होता है तथा मनुष्य विवेक द्वारा कामना आदि दोषो की निवृत्ति कर सकता है। विवेकशील पुरुष प्रेम, क्षमा, सहनशीलता तथा सेवाभाव से अपने चारो ओर मधुर वातावरण का निर्माण कर लेता है तथा विवेकहीन मनुष्य अहकार, घृणा, क्रोध, सकीर्णता तथा स्वार्थ से अपने चारो ओर शत्रुतापूर्ण वातावरण का निर्माण कर लेता है तथा अकेला पडकर सभी दूसरो को दोष देता रहता है। स्वार्थपूर्ण तथा अहकारपूर्ण मनुष्य को अपने अतिरिक्त कोई व्यक्ति उत्तम प्रतीत नही होता तथा अन्त मे वह स्वय से भी घृणा करके दु खी, व्याकुल तथा अशान्त हो जाता है। स्वार्थ विकास-प्रक्रिया मे बाधक तथा स्वार्थत्याग सहायक होता है। कर्मयोगी अपने कर्मक्षेत्र मे भयरहित एव चिन्तारहित होकर कर्म करता है तथा सहज प्रसन्न रहता है। वह किसी-के क्रुद्ध होने पर प्रतिक्रियात्मक क्रोध नही करता तथा कटुता का उत्तर मधुरता से देता

---

१ सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥

अर्थात् सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, प्राणियो पर दया, आर्जव ( सरलता ) भी तीर्थ ( ससार से पार करनेवाले ) होते हैं।

है। कच्चा फल कठोर और कटु होता है तथा पकने पर मृदु और मधुर हो जाता है। परिपक्व उत्तम पुरुष प्रेमरसपूर्ण, मृदु और मधुर हो जाता है। सब मनुष्यो मे परमात्मा का दर्शन करनेवाला पुरुष किसीका अपमान नही करता तथा निस्स्वार्थ जन-सेवा को प्रभु-सेवा अथवा परमेश्वर की पूजा ही मानता है। कर्मयोगी अपना व्यवहार शुद्ध करके आत्मशुद्धि करता है। अन्तिम श्लोक आगामी छह अध्यायो मे उपासना ( भक्ति ) की प्रधानता का सूचक है, यद्यपि गीता के तीनो ही षट्को मे कर्म, भक्ति और ज्ञान का समानान्तर प्रतिपादन है। •

# अथ सप्तमोऽध्याय:

## ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच

**मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।**
**असंशय समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, पार्थ मयि आसक्तमना मदाश्रयः योगं युञ्जन्=हे पार्थ ( अर्जुन ), मुझमे अनन्यभाव से आसक्त मनवाला ( तथा ) मुझे ही आश्रय माननेवाला ( मत्परायण, मेरे परायण ) योग मे लगा हुआ, मां समग्र यथा असशयं ज्ञास्यसि=मुझे पूर्णतः ( विभूतिवल तथा ऐश्वर्यगुण आदि सहित ) जिस प्रकार सशयरहित होकर जानेगा, तत् शृणु=उसे सुन ।

**वचनामृत :** श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन, अनन्यभाव से मुझमे आसक्त मनवाला तथा मेरे परायण होकर योग मे लगा हुआ ( तू ) मुझे जिस प्रकार से पूर्ण रूप से ( विभूति, ऐश्वर्य आदि सहित सब प्राणियो के आत्मरूप ) सशयरहित जानेगा, उसे सुन ।

**सन्दर्भ :** प्राय गीता के तीन षट्क ( छह अध्यायो का एक भाग ) माने जाते है, क्रमश कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग । यद्यपि सम्पूर्ण गीता मे तीनो योगो की चर्चा लगभग समान ही है, कुछ विद्वानो का मत है कि प्रथम षट्क ( प्रथम छह अध्याय ) मे तत् त्वं असि महावाक्य के 'त्व' पदार्थ के निष्काम कर्म एव भगवदर्पण द्वारा शोधन की चर्चा है तथा मध्यम षट्क मे 'तत्' पदार्थ ( परमात्मा ) के समग्र ज्ञान की चर्चा है तथा तीसरे षट्क मे 'असि' की चर्चा है । सप्तम अध्याय मे ज्ञानविज्ञानसहित परमात्मा का वर्णन होने के कारण इस अध्याय का नाम ज्ञानविज्ञानयोग है ।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण स्वय गुरु के रूप मे शिष्य अर्जुन के माध्यम से जीव-कल्याण-हेतु ज्ञान-विज्ञान का वर्णन कर रहे हैं । मनुष्य भगवान् को जानकर कृतार्थ हो जाता है । भगवान् को जानने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य भगवान् मे आसक्त होकर तथा केवलमात्र भगवान् के ही आश्रित होकर भगवान् के साथ युक्त हो जाय । श्रीकृष्ण अर्जुन को पार्थ ( कुन्ती का पुत्र ) कहकर उसे स्मरण करा रहे है कि उसकी माता भगवान् मे आसक्त थी ।[1] मनुष्य विषयो से मन हटाकर ही भगवान् से सच्चा प्रेम कर सकता है ।

एकमात्र भगवान् को ही अपना अवलम्बन एव आश्रय माननेवाला मनुष्य भगवान् की महिमा को जानने का अधिकारी होता है । संसार मे सहयोग और सहायता का परस्पर आदान-प्रदान तो जगत्-चक्र को सचालित करने के लिए आवश्यक होता है तथा उपकारीजन के प्रति विनम्रभाव से आभार-प्रदर्शन करना शिष्टता होती है, किन्तु भगवान् का उपासक केवल परमात्मा की शरण ग्रहण करता है । प्राणिमात्र मे अवस्थित परमात्मा ही महान् है ।

---

१. कुन्ती ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना की थी कि भगवान् का स्मरण कराने के लिए सदा विपत्तियाँ आती रहें । 'विपदः सन्तु न शश्वत् ।'

वेदो के चार महावाक्य ये हैं—**प्रज्ञानं ब्रह्म** ( परम चेतना ब्रह्म है ), तत् त्वं असि ( वह तू ही है ), अयं आत्मा ब्रह्म ( यह आत्मा ही ब्रह्म है ), अहं ब्रह्मास्मि ( मैं ब्रह्म हूँ ) ।

परमात्मा के मायारहित स्वरूप अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा मायासहित स्वरूप को जानना एव निर्गुण तथा सगुण अथवा अव्यक्त और व्यक्त रूप को जानना ही परमात्मा को पूर्णतया जानना है। विभूति, बल, ऐश्वर्य ( ईशन अथवा शासन करने की सामर्थ्य ) इत्यादि मायासहित भगवान् के गुण हैं।

ज्ञान तेऽहं सविज्ञानमिद वक्ष्याम्यशेषत.।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥
मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वत ॥३॥

शब्दार्थ अह ते इद सविज्ञान ज्ञान अशेषत वक्ष्यामि=मैं तेरे लिए इसे विज्ञानसहित ज्ञान को कहूँगा, यत् ज्ञात्वा इह भूय अन्यत् ज्ञातव्य न अवशिष्यते=जिसे जानकर यहाँ ( ससार मे ) अन्य कुछ भी जानने योग्य अवशिष्ट नही रहता। सहस्रेषु मनुष्याणां कश्चित् सिद्धये यतति=हजारो मनुष्यो मे कोई एक सिद्धि ( भगवत्प्राप्ति ) के लिए यत्न करता है, यतता सिद्धानां अपि कश्चित् मां तत्त्वत वेत्ति=प्रयत्न करनेवाले सिद्धपुरुषो ( योगियो ) मे भी कोई एक मुझे तत्त्वसहित जानता है।

वचनामृत मैं तेरे लिए विज्ञानसहित ज्ञान को पूर्णतया कहूँगा, जिसे जानकर ससार मे अन्य जानने योग्य कुछ शेष नही रहता। हजारो मनुष्यो में कोई एक मुझे प्राप्त करने के लिए यत्न करता है तथा यत्न करनेवाले योगियो मे भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझे तत्त्वत ( यथार्थ रूप में ) जानता है।

सन्दर्भ: श्रीकृष्ण ज्ञान-विज्ञान की चर्चा करते हैं।

रसामृत परमात्मा के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करना दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य मे ज्ञान तथा विज्ञान के विभिन्न अर्थ किये गये हैं। आत्मा एव परमात्मा के निर्गुण निराकार तत्त्व का यथार्थ ज्ञान ही ज्ञान है तथा उसका अनुभव अथवा साक्षात्कार ही विशेष ज्ञान अथवा विज्ञान है। ज्ञान परोक्ष होता है तथा ध्यान इत्यादि के द्वारा प्राप्त अपरोक्ष ( प्रत्यक्ष ) ज्ञान अथवा अनुभवसहित ज्ञान-विज्ञान होता है।' परमात्मा के सगुण-साकार रूप की लीला, रहस्य, प्रभाव इत्यादि का ज्ञान भी विज्ञान ही कहलाता है। ज्ञान-विज्ञान प्राप्त होने पर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है तथा उसे अन्य जानने योग्य कुछ शेष नहीं रहता।[2]

वास्तव मे, परमात्मा को तत्त्वत जानना अत्यन्त कठिन है। असख्य मनुष्यो मे कोई एक योग की सिद्धता अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधना करता है तथा साधनारत सहस्रो योगियो मे कोई एक अखण्ड अद्वय शुद्ध चैतन्य-स्वरूप परमात्मा का यथार्थ ग्रहण करता है। आसक्ति, अहकार, कामना इत्यादि विकार मनुष्य के प्रयत्न को प्रतिहत करते रहते है। सद्गुरु की कृपा से दुर्लभ भगवद्‌ज्ञान सुलभ हो जाता है। प्रत्यक्षात्मानुभूतिसम्पन्न महात्मा सुपात्र साधक को आत्मसाक्षात्कार सुलभ करा देते हैं।

---

१ शकराचार्य के मत मे विज्ञान का अर्थ अनुभव है। विज्ञान का एक अर्थ समस्त ज्ञान की बुद्धिसगत व्याख्या भी है। गीता मे ज्ञान-विज्ञान की अन्यत्र ( ३ ४१, ६ ८ में ) भी चर्चा है।

२ एकेन ज्ञातेन सर्वं विज्ञात भवति। ( यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञात भवति )—एक परब्रह्म को जानने पर सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी,
कोउ एक होहि धर्मव्रतधारी।
धरमसील कोटिक महँ कोई,
विषय विमुख बिराग रत होई॥
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहहिं,
सम्यक ग्यान सुकृत कोउ लहहिं॥

—मानस, उत्तरकाण्ड

भगवद्कृपा से ही भगवद्दर्शन होता है—

सो जानहि जेहि देहु जनाई,
जानत तुम्हहि तुमहि होइ जाई॥

**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।**
**अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥**
**अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।**
**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥**

**शब्दार्थ :** भूमिः आप अनल वायु खम् मन. बुद्धि च अहकार एव=पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ( तथा ) मन, बुद्धि और अहकार भी, इति इय अष्टधा भिन्ना मे प्रकृति =ऐसे यह आठ प्रकार विभक्त हुई मेरी प्रकृति है। इय तु अपरा=यह ( आठ प्रकार के भेदोवाली प्रकृति ) तो अपरा है, महाबाहो=हे अर्जुन, इत. अन्या मे जीवभूता परा प्रकृति विद्धि=इससे अन्य मेरी जीवरूपा परा प्रकृति को जान, यया इद जगत् धार्यते=जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है। अपरा प्रकृति—जड प्रकृति, परा प्रकृति—चेतन प्रकृति।

**वचनामृत :** पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा मन, बुद्धि, अहकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है। यह अष्टधा प्रकृति तो मेरी अपरा ( जड ) प्रकृति है। हे अर्जुन, इससे अन्य मेरी जीवरूपा परा ( चेतन ) प्रकृति को जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है।

**सन्दर्भ :** यहाँ कपिल के साख्यशास्त्र का सशोधन करते हुए प्रकृति का वर्णन है।

**रसामृत :** ईश्वर की माया-शक्ति अथवा प्रकृति दो प्रकार की है—आठ विभागवाली जड प्रकृति, जो अपरा कहलाती है तथा जीवभूता परा प्रकृति, जो जगत् को धारण करती है। [ यहाँ पाँच स्थूल महाभूतो ( पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ) का उनकी सूक्ष्म अवस्थाओ अथवा विषयो ( गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ) से तात्पर्य है, जिन्हे पचतन्मात्रा कहते है। इसी प्रकार मन का तात्पर्य उसके कारणभूत अहकार से, बुद्धि का तात्पर्य उसके कारणभूत महत्तत्व से और अहकार का तात्पर्य उसके कारणभूत अव्यक्त से है। मन, बुद्धि तथा अहकार का तात्पर्य समष्टि अहकार से है। दस इन्द्रियो ( पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय ) का कारण अन्तकरण ( मन, बुद्धि, अहकार ) होता है। महर्षि कपिल ने आठ प्रकृतियो तथा सोलह विकृतियो अर्थात् चौबीस तत्त्वो की गणना की है। ] गीता मे अव्यक्त मूल प्रकृति के तेईस विभागो अथवा कार्यों का वर्णन है ( १३ ५ ) तथा यहाँ केवल मुख्य आठ विभागो की चर्चा है।[१] ( क्षेत्रस्वरूपा ) अपरा प्रकृति जड़

मन के पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय दोनो मे ही सम्मिलित होने से सख्याभेद हो जाता है। प्रकृति चैतन्य से प्रकाशित होने के कारण स्वतन्त्र नही है। वेदान्त के अनुसार माया ब्रह्म की सकल्प-शक्ति है तथा अन्ततोगत्वा केवल ब्रह्म ही सत् है। साधारणतः मन विकृति है, किन्तु इस श्लोक मे प्रकृति के अन्तर्गत है। मन बुद्धिमण्डल मे विचरनेवाला विचित्र तत्त्व है। **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्।'** साख्यशास्त्र के अनुसार सृष्टिक्रम मे प्रकृति ( अविद्या ), महान् ( महत्तत्व ) तथा अहकार के बाद पाँच तन्मात्रा और उनके बाद पाँच महाभूतो की सृष्टि होती है। प्रकृति से महत्तत्त्व समष्टिबुद्धि अर्थात् बुद्धितत्त्व, महत्तत्त्व से अहकार, अहकार से पाँच तन्मात्रा, मन और दस इन्द्रियाँ, इन सोलह के समुदाय की उत्पत्ति हुई तथा उन सोलह मे से ही पाँच तन्मात्राओ से पाँच स्थूल भूतो ( पृथ्वी आदि ) की उत्पत्ति हुई

---

१ गीता मे कपिल मुनि के साख्यशास्त्र के कुछ अशो को ही स्वीकार किया गया है। कपिल के अनुसार प्रकृति और पुरुष दो अनादि तत्त्व हैं—प्रकृति जड तथा पुरुष चेतन है। साख्यशास्त्र मे पुरुष, प्रकृति ( आठ अग ) तथा प्रकृति के कार्य ( सोलह )—कुल पचीस तत्त्व वर्णित हैं। किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि उनकी अष्टधा अपरा प्रकृति निम्न है तथा जीवरूपा परा प्रकृति उत्कृष्ट है तथा वह जड जगत् मे अन्त.प्रविष्ट होकर उसे धारण करती है। गीता के अन्य स्थलो मे जीवभूता परा प्रकृति को अक्षर तथा अपरा प्रकृति को क्षर कहा गया है और जीव को क्षेत्रज्ञ तथा अपरा प्रकृति को क्षेत्र कहा गया है ( गीता, अध्याय १३ )। शक्ति, चिति इत्यादि परा प्रकृति के पर्यायवाची हैं।

( अचेतन ) तथा ज्ञेय है तथा वह ( क्षेत्रज्ञस्वरूपा ) जीवरूपा चेतनात्मक प्रकृति 'परा प्रकृति' से निम्न है। परा प्रकृति ही संसार का कारण है। चेतनाशक्ति एवं जीवात्मा परा प्रकृति ही है। अत्यन्त सूक्ष्म तथा चेतन परा प्रकृति ने जड जगत् को धारण कर रखा है। चेतन के साथ संयोग होने पर ही यह जगत् उत्पन्न होता है तथा विकास-प्रक्रिया मे गुजरता है। चैतन्य तत्त्व ही जड़ प्रकृति का संचालक एवं पोषक है। अनन्त चित्स्वरूप परमात्मा तो आकाश की भाँति निर्लेप नित्य शुद्ध है, किन्तु मायासहित होने पर वह ऐश्वर्यशक्तिमय ईश्वर कहलाता है तथा अविद्यारूप मायासहित ( आवरण, विक्षेपसहित ) शुद्ध आत्मा ही जीव कहलाता है।

**एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।**
**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥६॥**
**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।**
**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७॥**

शब्दार्थ : इति उपधारय=ऐसा समझ लं ( कि ) सर्वाणि भूतानि एतद्योनीनि=सम्पूर्ण प्राणी इन दोनो प्रकृतियो से ही उत्पन्न होनेवाले हैं, अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः तथा प्रलयः=मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति तथा प्रलयरूप ( हूँ )। धनञ्जय=हे अर्जुन, मत्तः परतरं किञ्चित् अन्यत् न अस्ति=मुझसे परे ( मेरे सिवा ) कुछ भी अन्य वस्तु नही है, इदं सर्वं सूत्रे मणिगणा इव मयि प्रोतम्=यह सम्पूर्ण ( जगत् ) सूत्र मे मणियो के समान मुझमे ओतप्रोत हैं।

---

( सांख्यकारिका )। पाँच महाभूत ( भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश ), पाँच ज्ञानेन्द्रिय ( चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् ), पाँच कर्मेन्द्रियाँ ( वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ) तथा एक मन मिलकर सोलह तत्त्व विकृतियाँ हैं। सांख्य मे मूल प्रकृति को प्रकृति कहा गया है। श्रीकृष्ण मूल प्रकृति को सात विकृतियो सहित वर्णित करके अष्टधा कहते हैं। माया—उपाधियुक्त परमात्मा को ईश्वर तथा माया अथवा अविद्या उपाधियुक्त आत्मा को जीव कहा जाता है।

वचनामृत : तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनो प्रकृतियो से ही उत्पन्न होनेवाले हैं तथा मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभाव तथा प्रलय हूँ ( उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण हूँ )। हे अर्जुन, मुझसे भिन्न कुछ भी अन्य परम कारण नही है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र मे मणियो के समान मुझमे ग्रथित ( गुँथा हुआ ) है।

सन्दर्भ : विश्व का मूल कारण भगवान् ही है।

रसामृत : निरुपाधि परमब्रह्म नित्य, शुद्ध, निर्विकार, निष्कल सच्चिदानन्दस्वरूप है तथा मायासहित वही सर्वशक्तिमान् भगवान् सोपाधि, अनन्तशक्तिसम्पन्न सर्वेश्वर परमेश्वर, ईश्वर है, जो सम्पूर्ण सृष्टि का रचयिता, पोषक एवं संहारकर्ता है। परमेश्वर अपनी दो शक्तियो ( द्विविध प्रकार की प्रकृति ) से संसार के चेतन और अचेतन ( जड ) पदार्थों की रचना करता है। परा क्षेत्रज्ञरूपी ( चेतन, जीवात्मा ) तथा अपरा क्षेत्ररूपी ( जड, निर्जीव, अचेतन शरीर इत्यादि ) है। दोनो प्रकृति परमेश्वर के अधीन है, स्वतन्त्र नही हैं तथा परमेश्वर की उपाधि है। अपरा प्रकृति रचित जड शरीर मे परा प्रकृतिरूप जीवात्मा कर्मानुसार भोक्ता के रूप मे प्रवेश करता है, देह धारण करता है। दोनो प्रकृति परमेश्वर से उत्पन्न होने के कारण, परमेश्वर ही जगत् का स्रष्टा ( परम कारण ), पालक और प्रलयकर्ता हैं, जगत् की सृष्टि-स्थिति-प्रलय का परम कारण है। परमेश्वर ( परम पुरुष ) ही परा प्रकृति ( जीव, पुरुष ) तथा अपरा प्रकृति ( जड़ पदार्थ ) के संयोग से इस जगत्-प्रपञ्च की रचना करता है तथा सर्वेश्वर है। वही भक्तो का परम उपास्य देव है। परमेश्वर से परे अथवा बढकर कोई अन्य नही है। वही जगत् का कारण और आधार है तथा वही कण-कण मे व्याप्त है। जगत् उसी परमेश्वर का स्वरूप है। जिस प्रकार सूत अथवा रेशम के तागे का सूत्र ( माला ) बनाकर तथा उसीके मनिये ( गाँठ अथवा दाने ) बनाने पर सारा सूत्र एक ही तागे से अनुस्यूत अथवा व्याप्त

हो जाता है उसी प्रकार जगत् और जगत् के स्थावर-जङ्गम पदार्थ परमात्मा से ओतप्रोत हैं। चराचरात्मक जगत् भगवन्मय है तथा परमार्थत उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है।[1] ज्ञानी और भक्त इसी तथ्य को अनेक प्रकार से कहते हैं तथा जड़ जगत् के विषय-भोगो मे न फँसकर उसीको कर्म, भक्ति एव ज्ञान द्वारा प्राप्त करने के लिए साधनरत होते हैं।

**रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।**
**प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥**
**पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।**
**जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥**

**शब्दार्थ** . **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, **अप्सु अहं रसः शशिसूर्ययोः प्रभा अस्मि**=जल मे मैं रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य मे प्रकाश हूँ, **सर्ववेदेषु प्रणवः खे शब्द. नृषु पौरुषम्**=सम्पूर्ण प्राणियो मे ॐकार, आकाश मे शब्द, पुरुषो मे पुरुषत्व हूँ। **पृथिव्या पुण्यः गन्ध. च विभावसौ तेज अस्मि**=पृथ्वी मे पवित्र गन्ध और विभावसु (अग्नि) मे तेज हूँ, **च सर्वभूतेषु जीवनं**=और सब प्राणियो मे जीवन (हूँ) **च तपस्विषु तपः अस्मि**=और तपस्वियो मे तप हूँ।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, मैं जल मे रस हूँ, चद्रमा और सूर्य (अर्थात् समस्त प्रकाश-माध्यमो) मे प्रकाश हूँ, सारे वेदो मे ॐकार हूँ, आकाश मे शब्द हूँ तथा पुरुषो मे पुरुषत्व हूँ। मैं पृथ्वी मे पवित्र गन्ध और अग्नि मे तेज हूँ तथा सम्पूर्ण प्राणियो मे जीवन हूँ और तपस्वियो मे तप हू।

**सन्दर्भ :** भगवान् सर्वव्यापक है तथा सम्पूर्ण जगत् मे ओतप्रोत है।

**रसामृत :** भगवान् सर्वव्यापक है तथा सम्पूर्ण जगत् का परमाधार है। विश्व भगवान् का ही स्वरूप है। विश्व के कण-कण मे वही एक दिव्य देव व्याप्त है। सम्पूर्ण स्थूल वस्तुओ का कारणभूत सूक्ष्म तत्त्व वही है। भगवान् जल का सारतत्त्व (एव जल की तन्मात्रा) रस है तथा सकल जल मे व्याप्त है।[1] भगवान् ही चन्द्रमा, सूर्य आदि का साररूप प्रकाश है तथा वह चन्द्रमा, सूर्य आदि मे व्याप्त है।[2]

सूर्य-चन्द्र परमेश्वर के प्रकाश से ही प्रकाशमय है। परमेश्वर समस्त वेदो का सारभूत ॐकार है। वह ॐकार के रूप मे समस्त वेदो मे व्याप्त है। आकाश (ख) का सारभूत तत्त्व (तन्मात्रा) शब्द भी परमेश्वर ही है। परमेश्वर समस्त पुरुषो मे पौरुष के रूप मे अवस्थित है। पवित्र गन्ध

---

१ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।—तैत्तिरीय उप०, ३.१ १।—जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं तथा जिससे वे जीवित रहते हैं। **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत।**--ऐतरेय उप०, १ १-२। अर्थात् सृष्टि से पूर्व एकमात्र परमात्मा ही था तथा अन्य कुछ क्रियाशील नही था। उसने सकल्प किया था कि लोको की सृष्टि करूँगा। उसने इन लोको की सृष्टि की। **ब्रह्मैवेदं सर्वम्**--यह सब ब्रह्म ही है। **सर्वं खलु इदं ब्रह्म**—यह सब ब्रह्म ही है। **एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य**--यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है तथा सभी का कारण है। ससार का अस्तित्व है, किन्तु पारमार्थिक (तात्त्विक) दृष्टि से वह असत् है तथा केवल परमात्मा सत् है। स्वप्नद्रष्टा सत् है, स्वप्न असत् है। सत् का अर्थ है सदा रहनेवाला तथा असत् का अर्थ है नश्वर।

**स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु**—यजुर्वेद।—वह प्राणियो मे ओतप्रोत है।

१ पच स्थूल महाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की पाँच तन्मात्रा क्रमश. गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं। कारण (तन्मात्रा) कार्य (महाभूत) मे व्याप्त रहता है।

२. **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति**—मुण्डक उप०, २ २ १०। उसी परमात्मा के प्रकाशित होने पर यह सब प्रकाशित हो जाता है, उसीके प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है।

( सार तत्त्व, तन्मात्रा ) के रूप मे परमेश्वर पृथ्वी मे अनुस्यूत है। परमेश्वर अग्नि मे तेजरूप से विद्यमान है तथा प्राणिमात्र मे जीवन के रूप मे अवस्थित है। अतएव जीवन की प्रतिष्ठा अथवा जीवित प्राणियो की रक्षा करना और पोषण करना परमात्मा की ही भक्ति है। परमात्मा जीवन का स्रोत है। जीवन के प्रादुर्भाव, पोषण, विकास और लय का कारण परमात्मा ही है। तपस्वी जीवन का तप भी परमेश्वर का ही एक रूप है। तपस्या का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति ही होता है।

**बीजं मा सर्वभूताना विद्धि पार्थ सनातनम्।**
**बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥**
**बलं बलवता चाहं कामरागविवर्जितम्।**
**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥**

**शब्दार्थ :** पार्थ=हे अर्जुन, सर्वभूतानां सनातन बीज **मा** विद्धि=सम्पूर्ण प्राणियो का सनातन बीज ( कारण ) मुझे जान, अहं बुद्धिमतां बुद्धि तेजस्विना तेज अस्मि=मैं बुद्धिमान् पुरुषो की बुद्धि, तेजस्वी पुरुषो का तेज हूँ। **भरतषभ**=हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, अह बलवतां कामरागविवर्जित बल=मैं बलवान् पुरुषो का काम एव राग से रहित सामर्थ्य ( हूँ ), च भूतेषु धर्माविरुद्ध काम अस्मि=और सब प्राणियो मे धर्म के अविरुद्ध ( अनुकूल ) काम हूँ।

**वचनामृत** . हे अर्जुन, तू सम्पूर्ण प्राणियो का सनातन बीज ( कारण ) मुझे ही जान। मैं बुद्धिमान् पुरुषो की बुद्धि और तेजस्वी पुरुषो का तेज हूँ। हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, मैं बलवान् पुरुषो का काम और राग से रहित बल हूँ तथा सम्पूर्ण प्राणियो मे धर्म के अनुकूल काम हू।

**सन्दर्भ** . भगवान् सम्पूर्ण जगत् मे ओतप्रोत हैं।

**रसामृत :** भगवान् इस सृष्टि का अविनाशी बीज है। वह न केवल इसकी उत्पत्ति का मूल कारण है, बल्कि इसमे व्याप्त भी है। सम्पूर्ण जगत् उसी एक दिव्य सत्ता से ओतप्रोत है। कार्य मे कारण निहित एव व्याप्त रहता है तथा कारण कार्यरूप मे प्रकट होता है। परमात्मा कारण तथा जगत् कार्य है।

मनुष्य मे बुद्धिमत्ता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। पशुओ की अपेक्षा मनुष्य मे बुद्धि अर्थात् विचार-विनिमय करनेवाली, पदार्थों का तत्त्व-निर्णय करनेवाली तथा इन्द्रियो पर शासन करनेवाली शक्ति ही एक विशेषता होती है। बुद्धिमान् पुरुषो की यह विशेषता परमेश्वरी शक्ति का ही प्रकटन होती है। इसी प्रकार तेजस्वी अथवा प्रतापी पुरुषो का तेज भी परमेश्वरी शक्ति का ही प्रकटन अथवा रूप होता है। परमेश्वर ही बुद्धि एव तेज के रूप मे प्रकट होता है।

बलवान् मनुष्यो मे स्वधर्म-पालन करने का सात्त्विक अथवा दैवी बल जो काम ( तृष्णा ) तथा राग ( विषयासक्ति ) के दोषो से मुक्त होता है, जो आसुरी भाव से मुक्त है, परमात्मा का ही रूप है। धर्म के अनुकूल काम अर्थात् पवित्र, परिष्कृत, उत्कृष्ट एव उदात्त काम भी परमात्मा का दैवी रूप होता है। भगवत्प्राप्ति अथवा निस्स्वार्थ जनसेवा इत्यादि के लिए धारण किया हुआ सात्त्विक काम धर्म के अविरुद्ध अथवा धर्मसम्मत होने के कारण प्रशंसनीय है। प्राणियो मे जीवन, तप, बुद्धि, तेज, कामरागरहित बल, धर्मानुमोदित विशुद्ध काम इत्यादि भगवान् की कल्याणकारी विभूतियाँ हैं।

**ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।**
**मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥**

**शब्दार्थ** · च एव ये सात्त्विका भावा =और भी जो सात्त्विक भाव हैं, च ये राजसा तामसा =और जो राजस ( और ) तामस भाव हैं, तान् मत्त एव इति विद्धि =उन्हे मुझसे ही ( उत्पन्न ) ऐसा जान, तु=वास्तव में, तेषु अह न ते मयि=उनमे मैं ( हूँ ) तथा वे मुझमें नही हैं।

**वचनामृत :** और भी जो सात्त्विक भाव हैं तथा राजसिक एव तामसिक भाव हैं, उनको मुझसे ही

उत्पन्न होनेवाले हैं, ऐसा जान। वास्तव मे उनमे मैं नही हूँ ( किन्तु ) वे मुझमे है।

**सन्दर्भ :** परमात्मा ही त्रिगुणात्मक ससार का मूल कारण है।

**रसामृत :** परमात्मा समस्त चराचरात्मक जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण है तथा यह विकास एव विनाश की प्रक्रिया के द्वारा अन्त मे परमात्मा मे ही लय हो जाता है। परमात्मा अपनी परा और अपरा प्रकृति ( मायाशक्ति ) के द्वारा त्रिगुणात्मक सृष्टि की रचना करता है तथा उसमे व्याप्त रहता है। सत्त्वगुणप्रधान भाव ( शम, दम, धर्म, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि ) तथा पदार्थ, रजोगुणप्रधान भाव ( हर्ष, दर्प, लोभ इत्यादि ) तथा पदार्थ, तमोगुणप्रधान भाव ( शोक, मोह, आलस्य इत्यादि ) तथा पदार्थ सभी की उत्पत्ति भगवान् से होती है। सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव भगवान् मे अवस्थित हैं क्योंकि वह सभी का आश्रय ( अधिष्ठान ) है अथवा सभी उसीमे अवस्थित है तथा सभी उसके अधीन एव वशीभूत हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी परमेश्वर उनमे स्थित नही है एव उनके आश्रित अथवा अधीनस्थ नही है। आकाश मे मेघो की उत्पत्ति और उनका अस्तित्व आकाश पर ही निर्भर होता है तथा मेघ आकाश मे उत्पन्न होकर आकाश मे ही विलीन हो जाते हैं। जहाँ मेघ नही है वहाँ भी आकाश होता है तथा जब मेघ नही होते तब भी आकाश होता है। मेघ आकाश पर आश्रित है, आकाश मेघ के आश्रित नही है। समस्त मेघ आकाश मे हैं, किन्तु आकाश मेघो मे स्थित नही है। आकाश स्वाधीन है, अपने-आपमे स्थित है तथा निर्लिप्त है। इसी प्रकार त्रिगुण परमेश्वर मे अधिष्ठित हैं, किन्तु परमेश्वर उनमे अधिष्ठित नही है।[1] पारमार्थिक दृष्टि से त्रिगुणात्मक प्रकृति ( अथवा त्रिगुण ) मायाशक्तिसहित ब्रह्म ( जिसे परमेश्वर, ईश्वर या भगवान् कहते हैं ) मे निवास करती है, किन्तु मायाशक्तिरहित ब्रह्म नित्य असग, निर्लेप होता है तथा न त्रिगुणात्मक भाव शुद्ध ब्रह्म मे है और न शुद्ध ब्रह्म त्रिगुणात्मक भावो मे है। वास्तव मे, सब कुछ परमेश्वर के अधीन है तथा परमेश्वर किसीके अधीन नही है।

**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।**
**मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥**

**शब्दार्थ : गुणमयैः एभिः त्रिभि. भावैः इदं सर्वं जगत् मोहितं** = गुणो से उत्पन्न इन तीनो भावो से यह सारा जगत् मोहित है, **एभ्यः पर मा अव्ययं न अभिजानाति** = इनसे परे मुझे अविनाशी को नही जानता। ( भाव--उत्पन्न हुए भौतिक पदार्थ तथा राग-द्वेष इत्यादि )

**वचनामृत :** गुणो ( तीन गुण—सत्त्व, रज, तम ) से उत्पन्न ( अथवा उनके कार्यरूप ) भावो ( सात्त्विक, राजस और तामस ) से यह समस्त ससार मोहित हो रहा है, अतएव वह इन तीनो गुणो से परे मुझ अविनाशी को नही जानता।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण परमात्मा को न जानने का कारण बताते हैं।

---

१ वेदान्तवादी उदाहरण देते हैं कि रज्जु ( रस्सी ) मे सर्प का भ्रम होने पर कल्पित सर्प रज्जु से उत्पन्न होता है तथा भ्रम-निवारण होने पर रज्जु मे लय हो जाता है। सर्प रज्जु के अधीन होकर रज्जु मे अवस्थित होता है तथा रज्जु सर्प के अधीन नहीं होती एवं सर्प मे अवस्थित होती है। ज्ञान होने पर रज्जुसर्प का लय हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान होने पर जगत् का भी लय हो जाता है। जगत् के लय होने का अर्थ है कि सर्वत्र केवल ब्रह्म ही भासता है।

शङ्कराचार्य एव उनके अनुयायी आचार्यों ने 'न त्वहं तेषु ते मयि' का अर्थ किया है--मैं उनमे अवस्थित नही हूँ, किन्तु वे ( त्रिगुण ) मुझमे अवस्थित हैं। तिलकजी, गाधीजी, डॉ० राधाकृष्णन, चिन्मयानन्द आदि ने भी यही अर्थ किया है। इसका अन्य अर्थ 'न मैं उनमे अवस्थित हूँ और न वे मुझमे', भी पारमार्थिक दृष्टि से ठीक है।

रसामृत : प्रकृति के सत्त्व, रज और तम तीन गुण है। इनके परिणाम के रूप मे तथा इनके परस्पर सघात से इन्द्रियो के समस्त भोग्य पदार्थ तथा राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि उत्पन्न होते हैं।[1] सभी प्राणी त्रिगुणात्मक भौतिक पदार्थो के प्रति प्रलुब्ध एव आसक्त होकर भटकते रहते हैं। कामना एव आसक्ति द्वारा अन्तर्चेतना के आच्छादित होने पर मनुष्य की बुद्धि भ्रमित तथा कर्म बन्धनकारक हो जाते हैं। मनुष्य विवेक जागृत होने पर ही सद् और असद् अथवा नित्य और अनित्य वस्तु का भेद कर पाता है।

परमब्रह्म परमात्मा अविनाशी, निर्विकार, नित्य, शाश्वत, परिपूर्ण, चित्स्वरूप, आनन्दस्वरूप है तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति से परे है। त्रिगुणमय भावो से मोहित एव विवेकरहित मनुष्य त्रिगुणातीत ( त्रिगुण से परे ) परमात्मा के स्वरूप की यथार्थ ( अथवा प्रत्यक्ष ) अनुभूति नही कर सकता। विषयभोगलिप्सा से ग्रस्त मनुष्य सूक्ष्म, सर्वप्रकाशक एव आनन्दैकरम परमात्मा को जान ही नही मकता। चिदानन्दैकरस परमात्मा को जान ही नही सकता। चिदानन्दैकरस परमात्मा विलक्षण है तथा तार्किक बुद्धि से सर्वथा अतीत है। वैराग्य, ज्ञान तथा भक्ति के द्वारा मनुष्य उच्च इन्द्रियातीत अवस्था को प्राप्त होकर ही परमात्मा की दिव्यानुभूति कर सकता है।

**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।**
**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते ॥१४॥**

**न मा दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।**
**माययापहृतज्ञाना आसुर भावमाश्रिता ॥१५॥**

शब्दार्थ : हि एषा दैवी गुणमयी मम माया दुरत्यया=क्योकि यह दैवी ( अलौकिक ) त्रिगुणमयी मेरी माया दुरत्यय ( दुस्तर ) है, ये मां एव प्रपद्यन्ते=जो मनुष्य ( शरणागत होकर ) मुझे भजते हैं, ते एतां माया तरन्ति=वे इस माया को पार करते हैं। मायया अपहृतज्ञाना. आसुर भाव आश्रिता नराधमा =माया द्वारा हरण हो गया ज्ञान जिनका ऐसे आसुरी स्वभाव को धारण करनेवाले निकृष्ट मनुष्य, दुष्कृतिन मूढा मां न प्रपद्यन्ते=दूषित कर्म करनेवाले मूढ जन मुझे नही भजते ( मेरा आश्रय नही लेते )।

वचनामृत क्योकि यह अलौकिक त्रिगुणमयी मेरी माया दुस्तर है, जो मनुष्य ( शरणागत होकर ) मेरा आश्रय लेते हैं, वे इसे पार कर लेते हैं। माया से अपहृत ज्ञानवाले, आसुर स्वभाववाले, निकृष्ट तथा दूषित कर्म करनेवाले मूढजन मेरा आश्रय नही लेते।

सन्दर्भ : श्रीकृष्ण दुस्तर माया को, पार करने का उपाय कहते है।

रसामृत · त्रिगुणमयी प्रकृति स्वाधीन अथवा स्वतन्त्र नही है तथा परमेश्वर के अधीन एव आश्रित होने के कारण दैवी कहलाती है। इसे परमेश्वर की माया भी कहा जाता है।[1]

---

१ गीता के पन्द्रहवें अध्याय मे वर्णित क्षर पुरुप अपरा प्रकृति है तथा अक्षर पुरुष परा प्रकृति है। भगवान् पुरुषोत्तम हैं। मन, बुद्धि, अहकार, इन्द्रियाँ, इन्द्रियो के विषय, पच तन्मात्राएँ, पंच महाभूत, राग-द्वेष आदि भाव तथा कर्म गुणो से उत्पन्न होते हैं तथा अपरा प्रकृति के अन्तर्गत होते हैं। चेतन-तत्त्व जीवरूपा पराप्रकृति है। चेतन-तत्त्व के सयोग से जगत् उत्पन्न, विकसित एव पोषित होता है।

---

१ मायां तु प्रकृति विद्यात्—माया को अविद्या समझें। —श्वेताश्वतर उप०, ४ १०। जिस प्रकार एक ऐन्द्रजालिक ( जादूगर ) इन्द्रजाल दिखाता है, किन्तु वह वास्तविक प्रतीत होते हुए भी सत्ताहीन होता है, उसी प्रकार यह जगत् भी परमार्थ-दृष्टि से सत्ताहीन है तथा परमेश्वर की मायामात्र है। केवल ब्रह्म की ही सत्ता है, ब्रह्म ही सत् है। माया स्वप्न की भांति एक कल्पना है, जो द्रष्टा के जागने पर लुप्त हो जाता है। माया को अविद्या ( अज्ञान ) भी कहा जाता है।

अविद्या प्रकृतिर्माया तमोऽज्ञानमजानृतम्।
प्रधान च जड विद्धि क्षयिष्णु त्रिगुणात्मकम् ॥
—अविद्या, प्रकृति, माया, तम, अज्ञान, अजा ( जन्म-

वास्तव मे माया परमेश्वर की एक विचित्र शक्ति अथवा जादूभरी कारीगरी की कला है। वह एक विलक्षण जादूगर है तथा विचित्र वस्तुओ को पिटारे से निकालकर फिर उसीमे समेट लेता है। यह उसकी विचित्र लीला है। परमेश्वर के अधीन होने के कारण माया को 'परमेश्वर की माया' कहा जाता है।[1] माया एक अज्ञान ( अथवा मोह ) भी है, जिसकी दो शक्तियाँ हैं—आवरण-शक्ति तथा विक्षेप-शक्ति। माया आवरण-शक्ति द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान मे बाँधा करती है तथा विक्षेप-शक्ति द्वारा विपरीत बुद्धि ( असत् को सत् प्रतीत करानेवाली विपरीत बुद्धि ) अर्थात् मिथ्या-ज्ञान उत्पन्न करा देती है। परमब्रह्म परमात्मा निरुपाधि, निर्गुण, निर्विशेष, शुद्ध चैतन्यस्वरूप, चिदानन्दरसस्वरूप है तथा आत्मा उसीका अभिन्न अश है, किन्तु माया के आवरण के कारण मनुष्य का नित्यमुक्त आत्मा जीव ( जीवात्मा ) के रूप मे बन्धन का अनुभव करता है। माया के आवरण से आवृत्त आत्मा ही बद्ध जीव अथवा जीवात्मा कहलाता है। ईश्वर की त्रिगुणमयी माया अत्यन्त दुरत्यय ( दुस्तर, अत्यन्त कठिन ) है। भगवान् के प्रसाद ( प्रसन्नता, कृपा ) से शुद्धमना होने पर ज्ञान के उदय द्वारा माया की निवृत्ति हो सकती है। कर्मयोगी निष्काम कर्म एव ईश्वरार्पण-बुद्धि द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर बिना प्रयास ही तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त कर लेते है तथा परमात्मा के साथ एकीभाव मे स्थित होकर कृतार्थ हो जाते हैं। भक्तगण मायापति भगवान् के शरणापन्न ( शरणागत ) होकर अर्थात् भक्ति द्वारा भगवान् का आश्रय लेकर, उसकी कृपा से उसका दर्शन प्राप्त कर लेते हैं।[1] भगवान् सबके परम कारुणिक सुहृद् हैं। शरणागत भक्त माया के कठिन सागर को सरलता से पार कर लेते हैं। नट के सेवक को नट की माया प्रभावित नही करती।[2] वास्तव मे लीला-पति भगवान् की लीला निष्प्रयोजन नही है तथा मनुष्यो के लिए सर्वप्रकारेण कल्याणकारी है।

जो मनुष्य आसुरी भाव[3] अर्थात् दम्भ, दर्प, क्रोध, हिसा, कठोरता, लोभ, विषयासक्ति, प्रमाद, मिथ्याचार इत्यादि से ग्रस्त होकर पाप मे प्रवृत्त हो जाते हैं, वे मूढ होते है तथा क्लेश, दु ख, दुर्गति एव अशान्ति को प्राप्त हो जाते है। निकृष्ट मनुष्य सद्-असद्, हित-अहित का विवेक खोकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। जीवन को सफल एव आनन्दमय बनाने के लिए चेतना के ऊर्ध्वारोहण की आवश्यकता है। पशुओ की भाँति भौतिक सुखभोग मे ही महत्त्वपूर्ण मानव-जीवन को नष्ट कर देना अविवेक ही है। कर्मयोगी निष्काम कर्म एव ईश्वरार्पण-बुद्धि द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। वह स्वार्थ एव सकीर्णता से ऊपर उठकर तथा परमात्मा का एक यत्र बनकर दिव्य जीवन के सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त कर लेता है।

**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**
**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥**

**शब्दार्थ :** भरतर्षभ अर्जुन=हे भरतवशियो मे श्रेष्ठ अर्जुन, सुकृतिनः अर्थार्थी आर्तः जिज्ञासुः च ज्ञानी=उत्तम कर्म करनेवाले, अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी, अथवा आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी, चतुर्विधाः जनाः मां

---

रहित ), अनृत ( मिथ्या, असत्य ) प्रधान, जड क्षयशील, त्रिगुणात्मक जानो।

१. 'यत् कारणं विश्वमिदं च माया आज्ञाकारी तस्य।'—श्रीमद्भागवत
अर्थात् माया, जो इस विश्व का मूल कारण है, वह परमेश्वर की आज्ञाकारिणी है।

१ 'यं यथा उपासते तथैव भवति' अर्थात् उस परमात्मा को जैसे कोई भजता है, वैसा ही हो जाता है।

२ 'नट सेवकहि न व्यापै माया।'
'हरि माया अति दुस्तर तरि न जाई विहगेस।'
व्यापि रहेउ संसार महँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दभ कपट पाखंड ॥
सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम-कृपा बिनु नाथ कहऊँ पद रोपि ॥

३ गीता मे आसुरी भाव का वर्णन १६.४ मे है।

भजन्ते=चार प्रकार के जन ( भक्तजन ) मुझे भजते है। छन्द मे शब्द प्रवाह के कारण आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी लिखा है, किन्तु इसका अन्वय भिन्न प्रकार से भी हो सकता है।

वचनामृत · हे भरतवशियो मे श्रेष्ठ अर्जुन, उत्तम कर्म करनेवाले, आर्त, अर्थार्थी और ज्ञानी–ये चार प्रकार के जन ( भक्तजन ) मुझे भजते है।

सन्दर्भ : चार प्रकार से मनुष्य परमेश्वर को भजते हैं।

रसामृत · भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को पुण्यवान् भरतवश का श्रेष्ठ पुरुप कहकर उसे आध्यात्मिक दिशा मे आगे वढने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। उत्तम गुरु शिष्य को केवल उपदेश ही नही देते, वल्कि उसका मनोवल वढाकर श्रेष्ठ आचरण के लिए प्रेरित भी करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे पुरुप पुण्यवान् होते है, जो किसी भी कारण से परमात्मा की ओर उन्मुख होते हैं। प्राय मनुष्य सकटग्रस्त होने पर तथा कुछ उपाय न सूझने पर भगवान् का स्मरण करते है। भगवान् आर्तपुरुप की पुकार तुरन्त सुनते हैं और रहस्यमय रूप मे सहायता करते हैं। मूर्ख लोग आर्त होकर भी भगवान् का स्मरण नही करते तथा अपनी दुर्गति कर लेते है। भयकर रोग, भीपण अर्थाभाव, अपमान आदि से पीडित होकर पुण्यवान् मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहण करता है।

कोई मनुष्य किसी भौतिक पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा से भगवान् की शरण ग्रहण करता है। ऐसा अर्थार्थी मनुष्य अत्यन्त सकाम होकर प्रभु की ओर उन्मुख होता है।

कोई मनुष्य भगवान् को जानने की इच्छा से भगवान् की ओर उन्मुख होता है तथा जिज्ञासा की तृप्ति के लिए अनेक साधन करता है। जिज्ञासा मनुष्य को ज्ञान की ओर प्रवृत्त तो कर देती है, किन्तु श्रद्धायुक्त होने पर ही फलदायक सिद्ध होती है।

कोई श्रेष्ठ पुरुप ज्ञान द्वारा भगवत्प्राप्ति के लिए साधनशील होता है। ज्ञान-साधना करते हुए परमात्मा के प्रति भक्तिभाव धारण करनेवाले पुरुप धन्य होते हैं। पूर्णज्ञान की अवस्था प्राप्त होने मे भक्तिभाव विशेप सहायक होता है तथा पूर्ण ज्ञान की स्थिति प्राप्त होने पर ज्ञानमग्न रहना ही ज्ञानी का भजन होता है। भक्तिभाव के प्रगाढ होने पर अनायास ही भक्तिभाव का उदय हो जाता है।

**तेपा ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**
**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमह स च मम प्रिय.॥१७॥**

शब्दार्थ : तेपा=उनके मध्य मे, नित्ययुक्त. एक-भक्ति ज्ञानी विशिष्यते=परमात्मा के साथ नित्य जुडा हुआ ( परमात्मा के साथ एकीभाव मे स्थित ) अनन्य प्रेमवाला ज्ञानी विशेप है ( उत्तम है ), हि=क्योंकि, ज्ञानिन. अह अत्यर्थ प्रिय च स मम प्रिय =ज्ञानी का मैं अत्यन्त प्रिय हूँ तथा वह मेरा प्रिय है।

वचनामृत : उन चारो प्रकार के भगवत्-प्रेमियो मे परमात्मा के साथ नित्ययुक्त ( परमात्मा के साथ एकीभाव मे स्थित ) अनन्य प्रेमवाला ज्ञानी विशेप ( उत्तम ) है, क्योकि ज्ञानी के लिए मैं अत्यन्त प्रिय हूँ तथा वह मेरे लिए अत्यन्त प्रिय है।

सन्दर्भ : श्रीकृष्ण ज्ञानी भक्त की श्रेष्ठता का निरूपण करते हैं।

रसामृत : जो मनुष्य आर्त होकर, जिज्ञासु होकर, अथवा कामना-पूर्ति की भावना से प्रेरित होकर भगवान् का भजन करते हैं अथवा जो ज्ञान-वान् होकर परमात्मा के ज्ञान मे मग्न रहते हैं वे सभी पुण्यवान् हैं। किन्तु इन चारो मे वह ज्ञानी श्रेष्ठ है, जो अपने ज्ञान द्वारा परमात्मा के साथ सदैव समाहित चित्त ( जुडा हुआ ) रहता है तथा जो परमात्मा को ही सद् ( सत्य वस्तु ) मानकर परमात्मा का ही आश्रय लेता है, परमात्मा के प्रति ही आसक्त है तथा ससार के भौतिक पदार्थों,

धन, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य इत्यादि के प्रलोभन से मुक्त रहता है। परमात्मा सत् चित् आनन्दस्वरूप है, मे तथा समस्त जगत् पारमार्थिक दृष्टि से वास्तव मे ब्रह्म ( परमात्मा ) ही है और आत्मा परमात्मा का अभिन्न अश है—यह सम्यक् अथवा पूर्ण ज्ञान है। परमात्मा को एकमात्र आश्रय मानकर उसके साथ एकीभाव का नाता स्थापित करना ही ज्ञानी की भक्ति है। परमात्मा मे अखण्डाकार वृत्ति द्वारा परम शान्त एव आनन्दमग्न अवस्था को प्राप्त होने से पूर्व ज्ञानी भक्तिभाव ( पूजा-पाठ, कीर्तन, भजन, उपासना ) का विशेष आश्रय लेता है तथा पूर्ण ज्ञान की अवस्था मे परमात्मा के साथ एकीभाव ( एकात्मता ) मे स्थित रहना उसकी श्रेष्ठ अवस्था है।

**उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**
**आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमा गतिम् १८**

**शब्दार्थ :** एते सर्वे एव उदारा. तु ज्ञानी आत्मा एव=ये सब ही उदार ( उत्तम ) हैं, किन्तु ज्ञानी मेरा आत्मा ( स्वरूप ) ही ( है ), **मे मतम्**=मेरा यह मत है। हि=क्योकि, स युक्तात्मा अनुत्तमा गति मा एव आस्थितः =वह युक्तात्मा ( परमात्मा के साथ युक्त आत्मावाला ज्ञानी भक्त ) अत्यन्त उत्तम गतिस्वरूप मुझमे ही अच्छी प्रकार स्थित है। ( अनुत्तमा गति—वह गति, जिससे बढकर कोई अन्य उत्तम गति न हो। )

**वचनामृत :** ये सभी ( चारो प्रकार के भक्त ) उदार हैं, किन्तु ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है-ऐसा मेरा मत है, क्योकि वह युक्तात्मा ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ गतिस्वरूप मुझमे ही अच्छी प्रकार स्थित है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण ज्ञानी भक्त की उत्तमता कहते हैं।

**रसामृत :** सकाम भाव से भगवान् की भक्ति करनेवाले मनुष्य भी उदार अर्थात् पुण्यवान् होते हैं। वह सकट भी धन्य है, जो मनुष्य के लिए भगवान् की शरण ग्रहण का कारण हो। भगवान् के भक्तिपूर्ण स्मरण से न केवल चित्त-शुद्धि एव शान्ति प्राप्त होती है, बल्कि भगवत्कृपा भी प्राप्त होती है। भगवान् का स्मरण न करने से सकाम स्मरण करना भी अधिक श्रेयस्कर है। किन्तु ज्ञानी जन निष्काम होकर तथा परमात्मा के दिव्य स्वरूप को जानकर उसके साथ एकीभाव स्थापित करते हैं तथा उसमे स्थित होकर कृतार्थ हो जाते है। मानवीय चेतना को परमात्मा की अनन्त चेतना के साथ सयुक्त करके दिव्यरसानुभूति करना जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि है।

परमात्मा के साथ आत्मा की एकता अथवा अभिन्नता हो जाना योगारूढ अथवा सिद्ध ज्ञानी की चरमावस्था होती है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप परम ब्रह्म परमात्मा के साथ ऐक्य होना सर्वश्रेष्ठ गति है। परमानन्दस्वरूप परमात्मा ही ज्ञानी की परम-गति होता है।[1]

वास्तव मे परमात्मा के साथ ऐक्य होने पर परमब्रह्म परमात्मा तथा पूर्ण ज्ञानी भिन्न नही रहते। ज्ञान की चरमावस्था प्राप्त होने से पूर्व ही ज्ञानी भक्त कहा जाता है, जो तीन प्रकार के अन्य भक्तो की अपेक्षा परमात्मा के अधिक सन्निकट होता है। चरमावस्था मे द्वैत नही रहता तथा ज्ञानी और परमात्मा मे अभेद हो जाता है। ज्ञानी परमात्मा के स्वरूप मे स्थित होकर परमात्मा ही हो जाता है, जैसे काष्ठ अग्नि मे प्रदग्ध होकर अग्नि हो जाता है।

**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते।**
**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥१९॥**

**शब्दार्थ :** बहूना जन्मना अन्ते=बहुत जन्मो के अन्त मे, **ज्ञानवान् सर्व वासुदेव. इति मा प्रपद्यते**=ज्ञानवान् पुरुष सब कुछ वासुदेव ही है ऐसा मुझे भजता है, **स महात्मा सुदुर्लभ** =वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

**वचनामृत :** बहुत जन्मो के अन्त मे ( ज्ञान के परिपक्व होने पर ) ज्ञानी पुरुष सब कुछ वासुदेव ( परमात्मा ) ही है, ऐसा मुझे भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।

---

१. **पुरुषात् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति।**—कठ उप०, १ ३ ११।—परम पुरुष से बढकर कुछ नही है, वह पराकाष्ठा है, परमगति है।

**सन्दर्भ :** पूर्ण तत्त्वज्ञानी होना अत्यन्त कठिन है। 'वासुदेव' सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' अत्यन्त प्रसिद्ध वाक्य है।

**रसामृत :** मनुष्य को पूर्ण तत्त्वज्ञान की अवस्था प्राप्त करने के लिए कदापि अधीर न होना चाहिए तथा दृढ विश्वाससहित निरन्तर साधनशील रहना चाहिए। साधक को अपने राग-द्वेष इत्यादि आन्तरिक दोषो तथा धन-हानि, अपमान इत्यादि वहिर्जगत् की बाधाओ से अपना उत्साह-भग नही होने देना चाहिए। उसे यह विश्वास दृढ रहना चाहिए कि ज्ञान-गगा के प्रवाह को कोई विघ्न अवरुद्ध नही कर सकता तथा वह परमात्मारूप महासागर को प्राप्त होकर ही कृतार्थ एव शान्त होगा। आनन्दस्वरूप परमात्मा ही उसकी परम गति है। जन्म-जन्मान्तर के सचित सस्कार साधक की चेतना को ऊर्ध्वगामी बना देते हैं तथा कोई भी पुण्यकर्म अथवा पुण्य चिन्तन कदापि विनष्ट एव व्यर्थ नही होता। ज्ञान की परिपक्व अवस्था अथवा सिद्धावस्था प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। आध्यात्मिक मार्ग का साधक अनेक जन्म लेकर उत्तरोत्तर बढता ही रहता है। बहुजन्मार्जित पुण्यो के प्रभाव से उसका अन्त करण शुद्ध होता रहता है तथा विकास-क्रम के सोपान उसे आगे की ओर बढाते ही रहते हैं। सिद्धावस्था को प्राप्त ज्ञानयोगी सर्वत्र वासुदेवरूप सर्वव्यापक तथा सर्वप्रकाशक परमात्मा का ही दर्शन करता है।[1] सम्पूर्ण प्राणियो के अन्तरात्मा वासुदेव का प्रत्यक्ष दर्शन अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति करनेवाला यथार्थ ज्ञानसम्पन्न महापुरुष ससार मे अत्यन्त दुर्लभ होता है। अद्वैत (परमात्मा के साथ अभिन्नता) सिद्ध हो जाने के कारण ज्ञानी जीवन्मुक्त एव साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

भक्तगण कहते हैं कि भगवान् वासुदेव ही मेरा सर्वस्व है तथा भक्तिभावपूर्ण मनुष्य को भी सब प्राणी वासुदेवरूप प्रतीत होते हैं, सब कुछ वासुदेव-मय प्रतीत होता है।[1]

भगवद्गीता मे 'महात्मा' की सुन्दर परिभाषा की गयी है। शत्रु-मित्र, अपरिचित-परिचित, पशु-पक्षी, वृक्ष वनस्पति इत्यादि सबमे भगवान् का ही दर्शन करनेवाला सन्त पुरुष महात्मा होता है।

**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना· प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।**
**त तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥**

**शब्दार्थ : तै तैः कामै· हृतज्ञाना· स्वया प्रकृत्या नियता** = उन-उन कामनाओ द्वारा अपहृत ज्ञानवाले अपनी प्रकृति से प्रेरित हुए, **त तं नियमं आस्थाय अन्य-देवता· प्रपद्यन्ते** = उस-उस नियम को धारण करके अन्य देवताओ को भजते हैं।

**वचनामृत :** विभिन्न उन-उन भोगो की कामनाओ द्वारा अपहृत ज्ञानवाले मनुष्य अपनी प्रकृति

---

१ 'सर्वाणि भूतानि वसन्ति यस्मिन् स वसु, सर्वाणि भूतानि स्वसत्तास्फुरणेन द्योतयति प्रकाशयति य स देवः, वसुश्चासौ देवश्च वसुदेव, वसुदेव एव वासुदेव सर्वात्मा पर ब्रह्म' अर्थात् सभी प्राणी जिसमें निवास करते हैं वह वसु है, सभी प्राणियो को अपनी सत्ता के स्फुरण से प्रकाशित करता है वह देव है, वसुदेव ही वासुदेव है, जो सर्वात्मा परम ब्रह्म है।

भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत्।
धाता विधाता जगता वासुदेवस्तत प्रभु ॥
—विष्णुपुराण

अर्थात् जो सब प्राणियो मे बसता है और प्राणिसमूह जिसमे बसता है, जो धाता (पालक) है और जगत् का विधाता (कर्मफलदाता) है वह प्रभु वासुदेव है। सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्।—महाभारत, शान्तिपर्व, ३४१ ४० अर्थात् सब प्राणियों में निवास करनेवाला वासुदेव मैं हूँ। सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह सब ब्रह्म है।

१ 'सीयराम मय सब जग जानी'
करऊँ प्रणाम जोरि जुग पानी।'
'निज प्रभुमय देखहि जगत
केहि सन करहि विरोध।'

से वशीभूत होकर उस-उस विशेष नियम को धारण करके अन्य देवताओ को भजते हैं।

**सन्दर्भ :** अनेक मनुष्य कामनाओ के वशीभूत होकर देवताओ का आश्रय लेते हैं।

**रसामृत :** कामना से वशीभूत होने पर मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है तथा वह उचित-अनुचित का विचार नही करता। घनीभूत कामना पीडा, व्यथा, चिन्ता, भय, तनाव और अशान्ति को उत्पन्न कर देती है, तथा पूर्ण न होने पर वह असन्तोष, निराशा और ग्लानि को उत्पन्न करके एव मनोबल को ध्वस्त करके मनुष्य को दीन बना देती है। भौतिक पदार्थों के सुखभोग की कामना से ग्रस्त मनुष्य परमात्मा के प्राप्तिरूप परम लक्ष्य को विस्मृत कर देता है तथा तत्काल स्वार्थ-सिद्धि के लिए देवी-देवताओ की उपासना करता है। विभिन्न कामनाओ की पूर्ति के लिए विभिन्न देवताओ की विभिन्न प्रकार से यत्र, मत्र, तत्र द्वारा उपासना की जाती है। प्रत्येक देवी-देवता के लिए उपासना-पद्धति भिन्न होती है। कुछ अविवेकी मनुष्य निकृष्ट कामनाओ के वशीभूत होकर सम्मोहन, स्तम्भन, आकर्षण, वशीकरण, मारण, उच्चाटन आदि तामसी क्रियाएँ करते है। कामना के तम से अन्धे होकर कुछ मूढ पुरुष देवी-देवताओ की प्रसन्नता के लिए पशुबलिरूप हिंसात्मक घोर पाप कर देते है। वास्तव मे, मनुष्य अर्जित किये हुए पूर्वसस्कारो के वशीभूत होकर ही ऐसे कुकृत्य करते है। पुत्र-प्राप्ति, शत्रु-पराजय, यश इत्यादि की स्वार्थपूर्ण कामना से ग्रस्त होकर अविवेकी मनुष्य निरुपाधिक, निर्विशेष परब्रह्म वासुदेव (परमात्मा) से भिन्न सविशेष (उपाधिसहित) देवी-देवताओ की उपासना करते है तथा लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाते है।

वास्तव मे, भगवान् श्रीकृष्ण देव-पूजा की निन्दा नही कर रहे हैं, बल्कि तुच्छ भौतिक कामनाओ की तत्काल पूर्ति के हेतु देवी-देवताओ की आराधना के अवलम्बन की प्रवृत्ति को त्याज्य कह रहे है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए सोपानरूप देवाराधन का अवलम्बन करना सर्वथा उचित है, किन्तु निम्नकोटि के स्वार्थों की पूर्ति के लिए यत्र-मंत्र-तत्र द्वारा देवताओ की कपट-पूजा मनुष्य को पथभ्रष्ट कर देती है।

**यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।**
**तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥**
**स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।**
**लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥**
**अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।**
**देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥**

**शब्दार्थ :** य य· भक्त· या यां तनुं श्रद्धया अर्चितुं (अर्चयितुं) इच्छति=जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवस्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, अहं तस्य तस्य ता एव श्रद्धा अचला विदधामि=मैं उस-उसकी (उसी-उसी रूप में) उसी श्रद्धा को अचला करता हूँ। ('तनु' का अर्थ शरीर तथा देवता है। कामितार्थं तनोति इति तनु· देवता अर्थात् जो इच्छित वस्तु की वृद्धि करता है, देवता। 'तनु' का यहाँ अर्थ देवता अथवा देवता का स्वरूप अथवा देवमूर्ति है) **स तया श्रद्धया युक्तः तस्य आराधनं ईहते**=वह उस श्रद्धा से युक्त उस देवता के आराधन की चेष्टा करता है, **च ततः मया एव विहितान् तान् कामान् हि लभते**=और उस देवता से मेरे द्वारा ही विहित उन कामो (इच्छित भोगो) को निस्सन्देह प्राप्त करता है। **तु**=परन्तु, तेषा अल्पमेधसा तत् फलं अन्तवत् भवति=उन अल्प वुद्धिवाले मनुष्यो का वह फल नश्वर होता है, **देवयजः देवान् यान्ति**=देवयाजी (देवपूजक) देवताओ को प्राप्त होते हैं, **मद्भक्ता· मा अपि यान्ति**=मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते है।

**वचनामृत :** जो-जो (सकाम) भक्त जिस-जिस देवस्वरूप अथवा देवमूर्ति की श्रद्धापूर्वक पूजा करना चाहता है, मैं उस-उस सकाम भक्त की उसी देवस्वरूप मे श्रद्धा को स्थिर कर देता हूँ। वह सकाम भक्त उस श्रद्धा से युक्त होकर उसी देवता के स्वरूप की आराधना करता है और उस देवता से मेरे द्वारा विधान किये हुए उन इच्छित फलो

को निस्सन्देह प्राप्त कर लेता है, परन्तु इन अल्प-बुद्धि मनुष्यो का वह फल विनश्वर होता है। देवताओ के उपासक देवताओ को प्राप्त होते हैं, मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण सकाम देवोपासना तथा भगवान् की भक्ति का फलभेद स्पष्ट करते हैं।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्मा की ओर उन्मुख न होने की अपेक्षा सकाम होकर स्वार्थ-पूर्ति के लिए भी उस ओर प्रवृत्त होना उत्तम है। कुछ लोग अपनी लालसाओ की तत्काल पूर्ति के लिए विभिन्न देवी-देवताओ की मूर्तियो की विधिपूर्वक उपासना करते हैं।

विविध प्रकार के देवताओ की उपासना विविध उद्देश्यो की पूर्ति के लिए तथा उनके स्वरूप के अनुसार एव उनकी पूजा के विधि-विधान ( उपवास, होम, जप, मत्र, यत्र, तत्र, दान इत्यादि ) के अनुसार की जाती है। जैसी जिसकी भावना होती है, वैसी उसकी सिद्धि होती है।[1]

वास्तव मे देवता सर्वात्मा चैतन्यस्वरूप परम-ब्रह्म वासुदेव का ही अश होते हैं[2] तथा परमार्थत देवता और परमात्मा अभिन्न हैं, किन्तु कुछ लोग लालसावश अपनी फल-सिद्धि के लिए भेद-दृष्टि से श्रद्धापूर्वक देवताओ की सकाम पूजा करते हैं। भगवान् सकाम उपासको की देवताओ के प्रति भक्ति को दृढ कर देते हैं, क्योकि श्रद्धा आध्यात्मिक विकास के लिए प्रथम और प्रमुख सोपान है।

देवताओ की श्रद्धापूर्ण आराधना करने पर मनुष्य भगवान् के द्वारा विहित फल प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य देवाराधन करने पर भी ईश्वर के विधान के अनुसार ही फल प्राप्त करता है।

यद्यपि देवता सर्वान्तर्यामी परमात्मा के ही अशभूत है तथा देवताओ की आराधना भी अन्ततोगत्वा भगवान् की ही आराधना है, तथापि क्षुद्र लालसाओ के कुचक्र मे न फँसकर भगवान् की पूजा करना ही कल्याणकारक होता है। अनित्य एव विनश्वर पदार्थों की प्राप्ति के लिए देवाराधन करना अविवेक है। आध्यात्मिक दृष्टि से सब प्रकार की श्रद्धापूर्ण उपासना अन्ततोगत्वा मनुष्य की प्रगति मे सहायक होती है। मनुष्य को फल देनेवाला केवल एक परमेश्वर ही है। कोई उपासना व्यर्थ नही होती, किन्तु देवोपासना की अपेक्षा परमात्मा की पूजा श्रेष्ठ होती है। क्षुद्र कामनाओ से प्रेरित होकर मनुष्य भौतिक प्रपञ्च में फँसा रह जाता है तथा परमानन्द से वचित रह जाता है। ब्रह्म का उपासक ब्रह्म हो जाता है।[1] नित्य, सत्स्व-

---

१ **यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।** —जिसकी जैसी भावना होती है वैसी सिद्धि होती है।

**य यथा यथोपासते स तथैव भवति।**—उसकी जैसी उपासना करता है मनुष्य वैसा ही हो जाता है। निकृष्ट योनियो की सिद्धि करनेवाले निकृष्ट हो जाते हैं।

२ वैदिक देववाद यूनानी मिथक के बहुदेववाद से भिन्न है। वेदोक्त देवता परमात्मा के अश हैं एव उसके अधीनस्थ हैं तथा यूनानी देवो की भाँति स्वतन्त्र सत्ता नही रखते। अन्ततोगत्वा भगवान् ही फलदाता है, देवता नहीं। वेद एकेश्वरवाद की प्रस्थापना करते हैं। **एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥**—श्वेताश्वतर उप०, ६ ११। अर्थात् वह देव एक है, वह सब भूतो मे गुप्तरूप से अवस्थित है, सभी मे व्याप्त है, सबका अन्तरात्मा है, कर्मों का अध्यक्ष है, समस्त भूत ही उसके आश्रित हैं, वह साक्षीस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, केवल ( सर्वोपाधिशून्य ) तथा निर्गुण है।

१ **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**—ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है। **ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति**—( ज्ञान द्वारा ) ब्रह्म होकर ब्रह्म के साथ एक हो जाता है।

**यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते अन्तवदेवास्य तद्भवति**—हे गार्गि, जो इस अक्षर को न जानकर इस लोक में होम करता है, यजन करता है, तप करता है, उसका फल अन्तवत्

रूप, चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप परमब्रह्म परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त करना ही परम-पुरुषार्थ है। वही मानव-जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि है। विवेकशील मनुष्य परमेश्वर के अंश-रूप देवताओ को प्रणाम करता है, किन्तु वह केवल भगवान् की ही भक्ति करता है तथा परमात्मा के यथार्थ रूप को जानने और उसके साथ एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

**अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।**
**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥२४॥**
**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।**
**मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥**
**वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।**
**भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥**

**शब्दार्थ :** **अबुद्धयः मम अनुत्तमं अव्ययं परं भावं अजानन्तः**=बुद्धिहीन मनुष्य मेरे अनुत्तम (जिससे बढ़कर कुछ उत्तम नही है) अविनाशी परम भाव (कि अजन्मा होकर भी योगमाया से प्रकट होता हूँ) को न जानते हुए, **अव्यक्त मा व्यक्ति आपन्नं मन्यन्ते**=अव्यक्त (मन और इन्द्रियो से परे) मुझे, व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ मानते हैं। (व्यक्ति=देह के रूप मे अभिव्यक्ति, प्रकट होना।) **योगमायासमावृतः अहं सर्वस्य प्रकाशः न**=(अपनी) योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नही (होता हूँ), **अयं मूढः लोकः मां अजं अव्ययं न अभिजानाति**=यह मूढ लोक मुझे जन्मरहित अविनाशी परमात्मा को नही जानता। **अर्जुन**=हे अर्जुन, **अहं समतीतानि च वर्तमानानि च भविष्याणि भूतानि वेद**=मैं पूर्वकाल के और वर्तमान काल के और भविष्य मे होनेवाले सब प्राणियो को जानता हूँ, **तु मां कश्चन न वेद**=किन्तु मुझे कोई नही जानता।

**वचनामृत :** बुद्धिहीन मनुष्य मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी भाव को न जानते हुए मुझ अव्यक्त को व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ समझते हैं। अपनी योगमाया से आवृत्त मैं सबके प्रत्यक्ष नही होता हूँ तथा यह मूढ लोक मुझे अजन्मा अविनाशी परमेश्वर को नही जानता। हे अर्जुन, मैं पूर्वकाल के और वर्तमान काल के तथा भविष्य मे होनेवाले सब प्राणियो को जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नही जानता।

**सन्दर्भ :** परमात्मा के सच्चिदानन्दस्वरूप को जानना कठिन है, किन्तु वही प्राप्तव्य लक्ष्य है।

**रसामृत :** सर्वत्र व्याप्त परमात्मा अव्यय अर्थात् व्ययरहित और अविनाशी है। परमात्मा के दो स्वरूप हैं—१. सर्वोपाधिशून्य, मायारहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप सच्चिदानन्दघन, परमब्रह्म परमात्मा जो अव्यक्त है अर्थात् प्रकट एव प्रकाशित नही है तथा २ उपाधियुक्त मायासहित ईश्वर अथवा भगवान् जो सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कारण है, सर्वशक्तिमान् सर्वान्तिर्यामी है और विश्व के रूप मे व्यक्त अर्थात् प्रकट एव प्रकाशित है। लोक-कल्याण के हेतु अवतार के रूप मे लीलातनु धारण करना भी व्यक्त अर्थात् प्रकट होना है। अल्पबुद्धिजन परमात्मा के परमभाव अर्थात् उसके अव्यक्त स्वरूप को नही जानते, जो अनन्त, निराकार, निर्विकार एव नित्य है तथा निरतिशय एव सर्वश्रेष्ठ है।

परमेश्वर का अवतार भी उसका एक व्यक्त-रूप है। परमेश्वर का स्वरूप होने पर भी उसका व्यक्त शरीर (अथवा लीला-विग्रह) साधारण प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव मे वह दिव्य होता है। भक्तजन व्यक्त अवतार मे अव्यक्त परमात्मा का ही दर्शन करते हैं। सूर्य दर्पण मे व्यक्त होता है,

---

(अन्तवाले, नश्वर) होता है। कृपणा फलहेतव (गीता, २ ४९) फल की इच्छावाले अविवेकी होते हैं। भगवती दुर्गा, शिव तथा विष्णु (उनके पूर्ण अवतार राम तथा कृष्ण) को साक्षात् सगुण परमात्मा मानकर आराधना करना देवोपासना नहीं है। भैरव, वरुण, इन्द्र, गणेश आदि देवता हैं तथा इनकी उपासना करना देवोपासना है। सात्त्विक देवपूजन उचित है, किन्तु राजमिक एव तामसिक वृत्ति से देवोपासना तत्काल लाभप्रद होकर भी लक्ष्यभ्रष्ट करती है।

किन्तु समाता नही है। परमेश्वर अवतार मे व्यक्त होकर भी उसमे समाता नही है।

वास्तव मे परमात्मा अनेक प्रकार से व्यक्त होकर भी अव्यक्त है अर्थात् वह इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे, अव्यय, अनन्त, असीम एव अखण्ड है। व्यक्त एव ससीम प्रतीत होते हुए भी वह अव्यक्त एव असीम ही है। परमात्मा के परमभाव (स्वरूप) को जानना ही यथार्थ ज्ञान है।

सर्वप्रकाशक परमेश्वर अपनी योगमाया से आच्छादित होने के कारण प्रकाशमान प्रतीत नही होता। मूढजन परमात्मा के जन्मरहित तथा विकाररहित स्वरूप को नही जानते। सत्त्व, रज और तम इस गुणत्रयरूप प्रकृति को योगमाया भी कहते हैं, जो परमेश्वर की एक दैवी शक्ति है।[1] अचिन्त्य शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा निरुपाधि है तथा माया से परे है।

जिस प्रकार मेघ सूर्य को आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार माया मनुष्य की बुद्धि को भी आवृत्त कर लेती है तथा जिस प्रकार मेघ का आभास भी सूर्य के प्रकाश से ही होता है उसी प्रकार माया का आभास भी परमेश्वर की सत्ता से ही होता है। मनुष्य ज्ञान तथा भक्ति से मायापति की माया को जानकर उसके प्रभाव से मुक्त हो सकता है।

परमेश्वर त्रिकाल अर्थात् भूत, वर्तमान तथा भविष्य के प्राणियो को जानता है। ससार मे जितने प्राणी हो चुके हैं अथवा हैं अथवा भविष्य मे होगे, वे परमेश्वर से भिन्न नही हो सकते, किन्तु साधारण मनुष्य उसे नही जानते। कोई ससीम असीम को नही जान सकता। मनुष्य ज्ञान और भक्ति द्वारा चेतना के उच्चतम धरातल पर स्थित होकर तथा समस्त सीमाओ का उल्लघन करके परमात्मा के दिव्य स्वरूप का दर्शन कर सकता है।

[1] गाधीजी कहते हैं कि इस दृश्य जगत् को उत्पन्न करने की सामर्थ्य होते हुए भी अलिप्त होने के कारण परमात्मा के अदृश्य रहने का जो भाव है वह उसकी योगमाया है।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोह सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥
येषा त्वन्तगत पापं जनाना पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मा दृढव्रता ॥२८॥

**शब्दार्थ :** भारत=हे भरतवशी, परंतप=हे अर्जुन, (परतप-शत्रुजित् अथवा उत्कृष्ट तपस्वी (पर उत्कृष्ट तप यस्य स) सर्गे इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन=ससार मे इच्छा (राग) और द्वेष से उत्पन्न सुख-दु ख आदि द्वन्द्वरूप मोह से सर्वभूतानि समोहं यान्ति=सव प्राणी समोह को प्राप्त होते हैं। तु=परन्तु, पुण्यकर्मणा येषां जनाना पापं अन्तगतं=श्रेष्ठ (निष्काम) कर्म करनेवाले जिनका पाप नष्ट हो गया है, ते द्वन्द्वमोह निर्मुक्ता दृढव्रता मां भजन्ते=वे द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त हुए (तथा) दृढ निश्चयवाले मुझे भजते हैं।

**वचनामृत :** हे भरतवशी परतप अर्जुन, ससार मे राग और द्वेष से उत्पन्न सुख-दु ख आदि द्वन्द्वरूप मोह से सम्पूर्ण प्राणी समोह को प्राप्त हो रहे हैं। परन्तु उत्तम कर्म करनेवाले, जिनका पाप नष्ट हो गया है, वे द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त तथा दृढनिश्चयी पुरुष मुझे भजते हैं।

**सन्दर्भ :** राग-द्वेष से विमुक्त दृढनिश्चयी पुरुष भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं।

**रसामृत** भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को भरतवशी कहकर उसे उसकी महान् वश-परम्परा का स्मरण कराते हैं तथा परतप कहकर उसे उसकी सामर्थ्य का वोध कराते हैं। शिष्य का मनोबल ऊँचा करना गुरु का परम कर्तव्य होता है। मनोबल के ऊँचा होने पर ही शिष्य महान् दायित्व का निर्वाह कर सकता है। अर्जुन का उत्साह बढाते हुए श्रीकृष्ण उसे उपदेश-ग्रहण एव आदेश-परिपालन के लिए प्रेरित करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस ससार मे राग और द्वेष से सुख-दु ख आदि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, जो मनुष्य के मोह

को दृढ कर देते है अर्थात् अज्ञान की वृद्धि कर देते हैं। इच्छा के अनुकूल विषय-सुख को तथा इच्छा के प्रतिकूल विषय-दु ख को उत्पन्न करते हैं। राग-द्वेष से उत्पन्न हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व मनुष्य को 'मैं दु खी हूँ, मैं सुखी हूँ' के अनुभव द्वारा मोह मे दृढ कर देते हैं। मनुष्य राग-द्वेष से ऊपर उठकर ही सुख-दु ख के चक्र से मुक्त हो सकता है।

मनुष्य पुण्यकर्मों के द्वारा अपने पापो का क्षय कर लेता है तथा पाप-क्षय होने से सत्त्वशुद्धि हो जाती है अर्थात् अन्त करण शुद्ध हो जाता है, जो जीवन का परम लाभ है। यज्ञ, तप, उपवास, तीथयात्रा, दान, सेवा-कार्य आदि पुण्यकर्म है। पुण्यकर्म प्राय. अहकार उत्पन्न कर देते हैं, किन्तु भगवदर्पण करने पर पुण्यकर्म अहकार उत्पन्न नही करते। पापकर्म करने से मन अशान्त एव निर्बल हो जाता है तथा पुण्यकर्म करने से मन शान्त एव सबल होता है। हिंसा, असत्य, चौर्य, व्यभिचार, दुर्व्यसन, परपीडन, शोषण, अन्याय इत्यादि पाप-कर्म क्षणिक सुख देकर मन को अशान्त एव निर्बल कर देते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, त्याग, दान, सेवा इत्यादि पुण्यकार्य कष्ट देकर भी मन को शान्त एव सबल कर देते है। पुण्यकार्य मनुष्य को परमात्मा की ओर उन्मुख कर देते है। पाप द्वारा प्राप्त धन, समृद्धि, विजय तथा सम्मान अन्त मे कलह और क्लेश का कारण बन जाते है तथा पुण्य द्वारा प्राप्त कष्ट भी सुख और शान्ति प्रदान करते है। पुण्यो के द्वारा पापनिवृत्ति[1] होने पर मनुष्य द्वन्द्वमोह से मुक्त एव निर्मल हो जाता है तथा दृढ संकल्प द्वारा नियमारूढ होकर आध्यात्मिक साधना मे रत हो जाता है। चित्त के निर्मल होने पर ही मनुष्य परमात्मा को जानने और प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

---

१ धर्मेण पापमपनुदति—अर्थात् धर्म अथवा पुण्य-कर्म से पाप को नष्ट कर देता है।

**जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।**
**ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥२९॥**
**साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।**
**प्रयाणकालेऽपि च मा ते विदुर्युक्तचेतसः॥३०॥**

**शब्दार्थ :** ये मा आश्रित्य जरामरणमोक्षाय यतन्ति =जो मेरा आश्रय लेकर जरा ( वृद्धावस्था ) और मृत्यु से छूटने के लिए यत्न करते है, ते तत् ब्रह्म च कृत्स्न अध्यात्मं=वे उस ब्रह्म को और सम्पूर्ण अध्यात्म को, अखिलं कर्म विदुः=( तथा ) सम्पूर्ण कर्म को जान लेते हैं। ये साधिभूताधिदैव च साधियज्ञं मा विदु =जो अधिभूत और अधिदैवसहित तथा अधियज्ञसहित मुझे जानते हैं, ते युक्तचेतस =वे युक्तचित्तवाले पुरुष, प्रयाणकाले अपि मा च विदु =मृत्युकाल मे भी मुझे ही जानते हैं।

**वचनामृत :** जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर जरा और मरण से छूटने के लिए यत्न करते है, वे उस ब्रह्म को तथा सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जान लेते हैं। जो मनुष्य अधिभूत और अधिदैवसहित तथा अधियज्ञसहित मुझे जानते है, वे युक्तचित्तवाले पुरुष अन्तकाल मे भी मुझे ही जानते है।

**सन्दर्भ :** भगवान् का आश्रय लेना ही कल्याण का मार्ग है।

**रसामृत :** मानवमात्र के लिए चार प्रमुख चुनौतियाँ हैं—जरा, मरण, रोग और शोक।[1] सभी मनुष्य इनसे सत्रस्त एव भयभीत रहते हैं। सभी को वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग तथा शोक का सहन करना होता है। मनुष्य विवेक से ही इन पर विजय प्राप्त कर सकता है अर्थात् इनके भय से छूटकर इनका साहसपूर्वक सामना कर सकता है। मैं चैतन्य-स्वरूप अमर आत्मा हूँ, मैं जड़ देह नही हूँ, देह तो मेरा वाहन है तथा धरती की प्रचुर सम्पदा अर्जित

---

१. जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्—गीता, १३ ८। अर्थात् जन्म, मरण, जरा ( वृद्धावस्था ), रोग मे दु ख-दोषो का बार-बार दर्शन करना।

करने पर मेरे साथ अन्तकाल मे एक कण भी नही जायगा, केवल अपने किये हुए भले और बुरे कर्मो अर्थात् पुण्य और पापो के सस्कार साथ जायेंगे, जो आगामी जन्म का निर्णय करेंगे—यह ज्ञानपूर्ण विवेक है। मनुष्य इस ज्ञानपूर्ण विवेक द्वारा शरीर के कष्टो तथा बहिर्जगत् के सकटो का साहसपूर्वक सामना कर सकता है। सर्वशक्तिमान् भगवान् अत्यन्त कृपालु हैं और मेरे सुहृद् हैं, भगवान् की शरण मे मुझ पर जरा, मरण, रोग और शोक का प्रभाव नही हो सकता—यह भक्तिपूर्ण विवेक है। मनुष्य इस भक्तिपूर्ण विवेक द्वारा शारीरिक तथा जागतिक सकटो का साहसपूर्वक सामना कर सकता है। जो मनुष्य जरा, मरण इत्यादि के भय से छूटने के लिए ज्ञान अथवा भक्ति से भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, वे अन्त मे भगवान् को प्राप्त हो जाते हैं।

जन्म और मृत्यु—यह जीवन-यात्रा का क्रम है। विवेकशील मनुष्य इसके अन्तर्गत सकटो से नित्य-मुक्त होने के लिए अथवा मुक्ति-लाभ की प्राप्ति के लिए सर्वात्मा वासुदेव का आश्रय लेकर तथा चिन्तन एव भक्ति मे मग्न रहकर साधनरत रहते हैं और कालान्तर मे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को जान लेते हैं। वे अध्यात्म अर्थात् आत्मा के स्वरूप को पूर्णत जान लेते हैं।[1] शरीरो मे अवस्थित आत्मा ही परमब्रह्मस्वरूप वासुदेव है। 'वासुदेव ही सब कुछ है' ऐसा अनुभव करनेवाला महात्मा सुदुर्लभ है। वह सभी कर्मों के तत्त्व को तथा सृष्टिकाल मे भगवान् के आदि-सकल्परूप कर्म अथवा विसर्गरूप कर्म को जान लेता है।

१ आत्मानं शरीरमधिकृत्य अधिष्ठानं कृत्वा तिष्ठतीति तदध्यात्मम् अर्थात् प्रत्येक शरीर का अधिष्ठान करके स्थित होता है उसे अध्यात्म कहते हैं अर्थात् चैतन्य आत्मा को ही जीवात्मा के रूप मे अध्यात्म कहते हैं। साधारणत अध्यात्म का अर्थ आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है। यहाँ अध्यात्म का अर्थ जीवात्मा है।

परमात्मा को अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के साथ जाननेवाले मनुष्य परमात्मा के साथ युक्त होकर मृत्युकाल मे भी परमात्मा को जानते हैं अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होते हैं। अपरा प्रकृति (अथवा क्षर पुरुष) अर्थात् समस्त उत्पत्ति एव विनाशशील जड पदार्थ अथवा भौतिक जगत् अधिभूत है। देहरूप पुर मे रहनेवाला दिव्य पुरुष तथा देवो का आधार ही अधिदैव है। यहाँ समस्त पुरुषो (जीवात्माओ) की समष्टि को अधिदैव अथवा सृष्टि का सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ कहा गया है।[1] यज्ञो के अधिष्ठाता, आधार एव फलदाता विष्णु अथवा समस्त प्राणियो के अन्तःकरण मे अन्तर्यामी रूप से स्थित स्वय भगवान् ही अधियज्ञ हैं। परा प्रकृति (जीव) तथा अपरा प्रकृति (जड पदार्थ) सभी वासुदेव हैं। अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सभी भगवान् के स्वरूप हैं, सभी वासुदेव ही हैं। जीवन-काल मे परमात्मा के साथ युक्त रहने के कारण मनुष्य प्राणान्त होने के समय परमात्मा को जान लेता है अर्थात् अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ सबको ब्रह्ममय समझकर, परमब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।[2] परमात्मा के उपासक मरणकाल मे भी उसका स्मरण करते हैं तथा उनका ज्ञान अथवा भक्तिभाव अन्त मे भी अप्रतिहत रहता है।

१ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ को गीता में (८ ४) ब्रह्मा भी कहा गया है। गीता (९ ४,५,६) मे वर्णित समस्त प्राणियो मे सर्वान्तिर्यामी रूप मे व्याप्त भगवान् के अव्यक्त स्वरूप को भी अधियज्ञ कहा गया है। वास्तव मे ७ २९ मे वर्णित अध्यात्म आदि सकल्परूप कर्म तथा अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ आदि सभी भगवान् के ही स्वरूप हैं, सब वासुदेव ही हैं।

२ यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति—पुरुष इस लोक मे जैसा सकल्प करता है, वैसा ही मरणोपरान्त बन जाता है।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्याय. ।

श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् में, ब्रह्मविद्या मे, योगशास्त्र मे, श्रीकृष्ण और अर्जुन के सवाद मे, ज्ञानविज्ञानयोगनामक सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

## सार-संचय

### सप्तम अध्याय : ज्ञानविज्ञानयोग

यद्यपि ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी भगवद्गीता मे प्रारम्भ से अन्त तक समान रूप से निरन्तर प्रवहमान है, तथापि प्रथम षट्क ( छह अध्यायो ) को कर्मपरक, दूसरे षट्क को भक्तिपरक और तीसरे षट्क को ज्ञानपरक कहा जाता है। तथा यद्यपि श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनो का उपदेश करते है, श्रीकृष्ण उसे कर्मयोग का अधिकारी कहते हैं और यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान की महिमा को प्रतिष्ठित किया है, अर्जुन के सन्दर्भ मे कर्मयोग ही गीता का प्रतिपाद्य कहा जाता है। भक्ति स्वतन्त्र होकर भी कर्म के अन्तर्गत है। परमात्मा निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अखण्ड, अद्वय, शुद्ध ( माया-उपाधिरहित ), चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप परब्रह्म है, किन्तु वही मायोपाधिसहित अर्थात् मायाशक्तिसहित होकर ईश्वर ( परमेश्वर ) के रूप मे सृष्टि की रचना, पोषण और प्रलय करता है। ज्ञानी जिसे निर्गुण निराकार कहते हैं, भक्त उसकी परमेश्वर अथवा भगवान् के रूप मे भक्ति एव उपासना करते हैं।

परमेश्वर अपनी शक्ति माया अथवा प्रकृति से सृष्टि की रचना करता है। गीता के अनुसार प्रकृति के दो रूप है—अपरा ( जड़ पदार्थों अथवा भौतिक जगत् की रचना करनेवाली ) तथा परा ( चैतन्यरूपा जो प्राणियो मे चेतन जीवन के रूप मे स्थित है )। सत्त्व, रज और तम तीनों गुणो की साम्यावस्था ( समता ) को मूल प्रकृति अथवा अव्यक्त कहते है तथा इन गुणो के विषम होने पर प्रकृति मे विकृति ( विकार, परिवर्तन ) होता है। प्रकृति मे विकृति होने से ही सृष्टि-रचना होती है। अपरा प्रकृति आठ प्रकार की है।[1] अपरा

[1] साख्य-दर्शन मे प्रकृति के सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणो की साम्यावस्था को अव्यक्त कहा जाता है। साख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति से महत्तत्त्व ( बुद्धि, समष्टिरूप बुद्धि ) की उत्पत्ति होती है, महत्तत्त्व से अहकार, अहकार से मन, इन्द्रियाँ और पचतन्मात्रा की उत्पत्ति होती है तथा पचतन्मात्राओ से पचमहाभूत ( आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी ) उत्पन्न होते हैं। जो केवल कार्य है तथा किसीका कारण नही होता उसे विकृति ( विकार ) कहते हैं तथा जो किसीका कारण और किसीका कार्य दोनो है, उसे प्रकृति विकृति कहते हैं। साख्य-दर्शन मे प्रकृति ( अव्यक्त ), प्रकृति-विकृति ( महत्तत्त्व, अहकार और पाँच तन्मात्रा ), विकृति ( मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच महाभूत पृथ्वी आदि ) इस प्रकार चौबीस तत्त्व तीन श्रेणियो के अन्तर्गत हैं। गीता मे साख्य-दर्शन का अनुकरण नहीं है, बल्कि अनेक सशोधन किये गये हैं। साख्य मे वर्णित प्रकृति अथवा अव्यक्त को गीता मे अष्टधा कहा है तथा उसे भिन्न प्रकार से कहा है। मन एक विकृति है, उसे गीता मे अष्टधा प्रकृति मे गिना गया है तथा गीता के महाभूतो का अभिप्राय तन्मात्राएँ हैं। गीता में पाँच महाभूत ( अर्थात् उनसे अभिप्रेत पाँच तन्मात्रा ) तथा मन, बुद्धि और अहकार को अष्टधा प्रकृति कहते हैं। गीता के रसिको को गीता का ही अनुसरण करना चाहिए तथा व्यर्थ भ्रम मे नही पडना चाहिए। गीता मे वेदान्त को मान्यता दी गयी है तथा साख्य के अशो को सशोधित रूप मे स्वीकृत करके समन्वय किया गया है।

प्रकृति जड, निम्न अथवा निकृष्ट है, जिससे स्थूल जगत् ( प्राणियो के शरीर इत्यादि ) उत्पन्न होते हैं तथा परा प्रकृति चेतन, उच्च अथवा उत्कृष्ट है, जिससे जीवात्मा प्रकट होकर देहो मे प्रवेश करते है। मायामुक्त परमात्मा को ईश्वर तथा मायायुक्त आत्मा को जीव ( अथवा जीवात्मा ) कहते हैं। अपरा और परा प्रकृति ( जड ब्रह्म और चेतन ब्रह्म ) से जड पदार्थो तथा चेतन जीवो की सृष्टि होती है। ये दोनो प्रकृति परमात्मा की माया हैं तथा उसीसे उत्पन्न होती हैं। माया परमात्मा से उत्पन्न होकर उसीमे विलीन हो जाती है तथा स्वतन्त्र नही है। इस प्रकार अपरा और परा प्रकृति द्वारा सृष्ट सारा जड-चेतनमय जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है अर्थात् परमेश्वर ही इसका कर्ता, धर्ता और सहर्ता है। सारा जगत् परमेश्वर मे माला की मणियो की भाँति ग्रथित है। परमेश्वर के शरीर मे समस्त शरीर ( मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष, वनस्पति तथा नक्षत्रादि ) समाये हुए हैं। ब्रह्माण्ड परमेश्वर का विराट् रूप है, उसीका देह है।

समस्त जगत् परमात्मा से ओतप्रोत है तथा परमात्मा से परे कुछ भी नही है। वही स्थूल तत्त्वो मे सारभूत रूप से व्याप्त है। वह जल मे रस, आकाश मे शब्द, पृथ्वी मे गन्ध, अग्नि मे तेज, प्रकाशपुञ्ज नक्षत्रो मे प्रकाश, वेदो मे ॐ, प्राणियो मे जीवन, पुरुषो मे पौरुष, तपस्वियो मे तप, बुद्धिमान् पुरुषो मे बुद्धि, तेजस्वी पुरुषो मे तेज, बलवान् पुरुषो मे बल तथा उत्तम मनुष्यो मे उदात्त एव उज्ज्वल काम के रूप मे स्थित है। वास्तव मे प्राणियो के केवल सात्त्विक भाव ही नही, बल्कि राजसिक तथा तामसिक भाव भी उसी एक परमेश्वर से उद्भूत होते हैं, क्योकि वह सब वस्तुओ का सनातन बीज है। मनुष्य को शौर्य, तप, बुद्धि, बल इत्यादि का अभिमान कदापि नही करना चाहिए और उन्हे उस भगवान् की विभूति मानकर उनका दुरुपयोग कदापि नही करना चाहिए। विभूति को परमेश्वर की कृपा मानकर मनुष्य को परमेश्वर की ओर उन्मुख होना चाहिए।

मनुष्य माया के आच्छादन एव प्रभाव के कारण परमात्मा को नही जान पाता। माया पर विजय पाने के लिए मायापति भगवान् का आश्रय लेना चाहिए। आसुरी भाव से युक्त मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहण नही करते। किसी प्रकार भी भगवान् की शरण ग्रहण करनेवाला मनुष्य पुण्यशाली होता है। वह कष्ट, जो मनुष्य को प्रभु की ओर उन्मुख कर दे, धन्य होता है। प्राय मनुष्य सकटग्रस्त एव आर्त होने पर निराशा, भय, चिन्ता, व्याकुलता, तनाव इत्यादि से ग्रस्त होकर मदिरा-पान इत्यादि दुर्व्यसनो के कुचक्र मे फँस जाते हैं तथा दयनीय एव दीन अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। कर्म से पलायन करना समस्या को अधिक कठिन बना देता है। मनुष्य भक्तवत्सल भगवान् की शरण ग्रहण करके धैर्यपूर्वक एव साहसपूर्वक सकट का सामना कर सकता है तथा अपनी मानसिक शान्ति को सुरक्षित रख सकता है। करुणानिधान प्रभु आर्त की पुकार तुरन्त सुन लेते हैं और रहस्यमय प्रकार मे भक्त की रक्षा कर देते हैं। वह समीप मे स्थित मित्र, बन्धु, सुहृद् की अपेक्षा कही अधिक शीघ्र सुन लेते हैं तथा सहायता कर देते है। सर्वसमर्थ भगवान् क्षणभर मे विष को अमृत तथा शत्रु को मित्र बना देते हैं। भक्त का सच्चा विश्वास सदैव सफल होता है तथा आर्त भक्त की पुकार अविलम्ब सुनी जाती है, किन्तु वह सच्चे मन की पुकार तो हो। जब मनुष्य सारे भरोसे छोडकर अनन्यभाव से प्रभु को पुकारता है, वह तुरन्त सुनता है तथा सहायता करता है। द्रौपदी ने भगवान् को आर्त होकर पुकारा और भगवान् ने रहस्यमय प्रकार से तत्काल उसकी लाज बचा दी। सच्चे भक्त का विश्वास कभी विचलित नही होता तथा वह अपने विश्वास के कारण कभी धैर्य और मानसिक समता एव शान्ति का परित्याग नही करता। भगवान् श्रीकृष्ण सकाम

भक्ति की निन्दा नही करते हैं, क्योकि वह कामना भी, जो मनुष्य को भगवान् की ओर ले जाती है, धन्य होती है। कुछ लोग किसी स्वार्थ-पूर्ति के लिए ही भगवान् का आश्रय लेते हैं। कुछ लोग जिज्ञासा के कारण भगवान् की ओर उन्मुख होते हैं। परमात्मा ही एकमात्र प्राप्तव्य एव ध्येय है, यही उत्तम विवेक है। केवल परमात्मा का ही अनन्य भाव से आश्रय लेना सच्ची भक्ति है। ज्ञानी भक्त निष्काम भाव से परमात्मा के साथ ऐक्य की स्थापना करने का प्रयत्न करता है। ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ होता है।

अविवेकी लोग कामनाग्रस्त होकर देवी-देवताओ को प्रसन्न करने के लिए उनके विधि-विधान के अनुसार यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, उपवास, यज्ञ आदि का अवलम्बन लेते है। नश्वर वस्तुओ की प्राप्ति के लिए अथवा शत्रु-नाश इत्यादि अशोभनीय इच्छाओ की पूर्ति के लिए देवाराधन करना अविवेक है। यद्यपि देवता परमेश्वर के ही अश होते हैं तथा देवताओ की पूजा भी परमात्मा को प्राप्त हो जाती है, तथापि क्षुद्र कामनाओ की पूर्ति के लिए देवताओ की प्रसन्नता के लिए पूजादि करना भटकना ही है। देवताओ को प्रभु-प्राप्ति का सोपान अथवा परमेश्वर का ही अश मानकर प्रणाम करना तो नितान्त उचित है, किन्तु मनुष्य का प्राप्तव्य तो केवल परमात्मा ही होना चाहिए। शत्रु-मित्र, परिचित-अपरिचित, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति, सभी मे परमात्मा का दर्शन करनेवाला महात्मा सुदुर्लभ होता है। परमेश्वर अपनी योगमाया से आच्छन्न होने के कारण अप्रकट अथवा अदृश्य रहता है। राग-द्वेष से उत्पन्न सुख-दु ख आदि द्वन्द्व मनुष्यो को मोहग्रस्त कर देते हैं, किन्तु जो मनुष्य उत्तम कर्म करते हैं तथा राग-द्वेष से विमुक्त हो जाते हैं और दृढ निश्चयी होते हैं वे भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं। जो मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहण करके वृद्धावस्था और मृत्यु तथा रोग और शोक से मुक्त होने के लिए आध्यात्मिक साधना करते है, वे परमात्मा को तथा आध्यात्मिक रहस्य को जान लेते हैं। परमात्मा ही सब कुछ है तथा परमात्मा से परे कुछ भी अन्य नही है, ऐसा जाननेवाले मनुष्य परमात्मा के साथ युक्त होकर मृत्यु होने पर परमात्मा को ही प्राप्त हो जाते है। परमात्मा को मात्र जानना ज्ञान है तथा उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति करना विज्ञान है।

सद्‌गृहस्थ पुरुष को आध्यात्मिक चर्चाओ ( सत्सग ) द्वारा अपने परिवार के वातावरण को पवित्र बनाने तथा उसे भौतिकता के प्रभाव से अथवा भौतिक पदार्थों के प्रलोभन से और दुर्व्यसनो, दुराचरण इत्यादि से मुक्त रखने का प्रयास करना चाहिए। मरल और सात्त्विक जीवन ही सारमय एव सुखमय होता है। चमक-दमक से भरा हुआ दम्भपूर्ण जीवन खोखला और दु खमय होता है। मनुष्य भगवान् का आश्रय लेकर सबल, साहसी, सात्त्विक और सुखी हो सकता है। विवेकी पुरुष बाह्य जगत् के पुरस्कार और सम्मान की अपेक्षा कर्तव्यनिष्ठा एव सत्यनिष्ठा द्वारा प्राप्त आत्मसन्तोष एव आन्तरिक शान्ति को ही महत्त्व देता है। प्रकृति के साधनो के सदुपयोग करने[1] तथा भगवान् से आत्मीयता का नाता जोड़ने से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। ●

१ प्राचीन काल के ऋषि प्रकृति के साथ एक आध्यात्मिक नाता स्थापित कर लेते थे तथा उनके प्रभाव से कोटि-कोटि निरक्षर नर-नारी भी नदियो और पर्वतो, वृक्षो और वनस्पतियो, पशुओ और पक्षियो को आत्मीय मानकर सुख का अनुभव करते थे तथा परस्पर सहयोग का आदान-प्रदान करते थे। इस प्रकार गगा, यमुना, नर्मदा माताएँ हैं, गोवर्धन पर्वत बाबा हैं, तुलसा माता है, पीपल और वट ऋषि हैं, गौ माता है, गरुड देवदूत है। भारतीय ऋषि केवल उपयोगी वस्तुओ और प्राणियो का ही सम्मान नही करते थे, बल्कि विषैले और हिंसक प्राणियो का भी सम्मान करते थे। नागपचमी को नागपूजा एक उदाहरण है। आसुरी भाव से युक्त मनुष्य ही प्रकृति से और वन्य प्राणियो से भय मानते हैं तथा उन

पर विजय प्राप्त करने का दम्भ करते हैं। मनुष्य ईश्वर का अंश है तथा उसमें असीम शक्ति एवं क्षमता है, किन्तु शक्ति का सदुपयोग मानव-सेवा के लिए ही होना चाहिए। विज्ञान के क्षेत्र मे चिकित्सा, शल्य आदि मे विलक्षण प्रयोगो द्वारा औसत आयु बढाना फसलो मे सुधार करना इत्यादि मानव-सेवा है, किन्तु अणु-शक्ति के विध्वंसक प्रयोग करना, धरती के भीतर से समस्त खनिज निकाल लेना, अतिवाद के प्रयोगो द्वारा जल-प्रदूषण एवं वायु-प्रदूषण करना वास्तव मे प्रकृति पर विजय के दम्भ मे प्रकृति के साथ छेडछाड करना तथा उसका सन्तुलन बिगाडना है, जिसके परिणाम भयंकर हो सकते हैं। प्रकृति कुपित होकर सामूहिक दण्ड भी देती है। सीमातीत भोगैश्वर्यवृद्धि तथा युद्ध में मारक शक्ति के रूप में हिंसा एवं बर्बरता की वृद्धि की दिशा मे तकनीकी ज्ञान का उपयोग होना मानव-जाति के लिए आत्मघाती है। प्रकृति तो माता है। प्रकृति के सौन्दर्य का लाभ न उठाकर तथा उसका दोहन न करके उसका शोषण करने का प्रयास करना मनुष्य के लिए भयानक सिद्ध हो सकता है। नैतिकता को छोडने पर समस्त उन्नति अवनति ही है। मनुष्य वैज्ञानिक उन्नति की चकाचौंध में जीवन का उद्देश्य ही भूल गया है तथा पथभ्रष्ट होकर सुख और शान्ति, प्रेम और सौन्दर्य को खो रहा है। भौतिक समृद्धि आवश्यक है, किन्तु उसका उद्देश्य दीन-दुःखी जन की सेवा एवं जन-कल्याण होना चाहिए तथा भौतिक प्रकृति पर आध्यात्मिकता का अंकुश होना चाहिए। यही गीता का उपदेश एवं आदेश है।

# अथाष्टमोऽध्यायः

## अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन उवाच

**किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।**
**अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥**
**अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।**
**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच = अर्जुन ने कहा, **पुरुषोत्तम तत् ब्रह्म किं अध्यात्मं किं कर्म किं** = हे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है। **च अधिभूतं किं प्रोक्तं** = और अधिभूत क्या कहा गया है, **अधिदैवं किं उच्यते** = अधिदैव क्या कहा जाता है ? **मधुसुदन** = हे मधुराक्षस के हन्ता श्रीकृष्ण, **अत्र अधियज्ञः कः** = यहाँ अधियज्ञ क्या है ? **अस्मिन् देहे कथं** = इस देह मे कैसे है, **च** = और, **नियतात्मभिः** = युक्त चित्तवाले मनुष्यो से, **प्रयाणकाले** = मृत्यु के समय, **कथं ज्ञेयः असि** = कैसे जाने जाते हो ?

**वचनामृत :** अर्जुन ने कहा—हे पुरुषोत्तम, यह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहा गया है, अधिदैव किसे कहा जाता है ? हे मधुसूदन, अधियज्ञ क्या है ? इस शरीर मे कैसे रहता है ? और मृत्यु के समय सयतचित्त पुरुषो से आप कैसे जाने जाते हैं ?

**सन्दर्भ :** अर्जुन सातवें अध्याय के अतिम श्लोको के पारिभाषिक शब्दो की स्पष्ट व्याख्या के लिए प्रार्थना करता है।

**रसामृत :** भगवद्गीता गुरु-शिष्य का रसपूर्ण सवाद है, जिसमे प्रश्नकर्ता मित्र एव शिष्य अर्जुन निस्सकोच होकर प्रश्न पूछता है और मित्र एव गुरु श्रीकृष्ण एक ही तथ्य को अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न करते है तथा इसी उद्देश्य से अनेक बार उपदेश की पुनरावृत्ति भी कर देते हैं।[1] एक ओर सद्गुरु शिष्य को गुडाकेश, भारत इत्यादि उपाधियो से समलकृत करके उसके उत्साह को बढाते हुए उसे सम्मान देते है तथा दूसरी ओर सद्शिष्य गुरु को पुरुषोत्तम, मधुसूदन इत्यादि उपाधियो से आभूषित करके उन्हे पूर्ण आदर देते हैं। यह सवाद न केवल अत्यन्त रोचक है, बल्कि अनुपम दिव्यज्ञानयुक्त भी है। गीता मे प्रश्नोत्तर के माध्यम से समस्त वेद-शास्त्रो के दुरूह तत्त्वो को सरल, सुबोध और सरस रूप मे प्रस्तुत एव प्रवाहित किया गया है।

अर्जुन पूछते हैं कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? सगुण अथवा निर्गुण ? 'ब्रह्म' का अर्थ वेद, प्रकृति, ॐकार भी तो होता है। आत्मा जो देह को अधिष्ठित करके स्थित रहता है, वह अध्यात्म क्या है ? अध्यात्म कौनसा तत्त्व है ?

यहाँ कर्म से क्या अभिप्राय है—लौकिक कर्म अथवा निष्काम कर्म अथवा यज्ञादि कर्म अथवा परमेश्वर का सृष्टि के आरम्भ मे आदिसकल्परूप कर्म ?

अधिभूत क्या है ? समस्त विनाशशील तत्त्व अथवा कुछ अन्यत् ? अधिदैव किसे कहते हैं ? क्या इसका सम्बन्ध देवताओ से है अथवा देवताओ मे भी अनुस्यूत चैतन्यस्वरूप परमात्मा से है ? देह मे

---

1 शङ्कराचार्य कहते हैं कि श्रीकृष्ण आत्मवस्तु के दुर्बोध्य होने के कारण पुनरावृत्ति द्वारा निरूपण करते हैं—
**दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसङ्गमापाद्य शब्दान्तरेण तदेव वस्तु निरूपयति भगवान् वासुदेवः।**

अधियज्ञ क्या होता है ? यज्ञो का प्रयोजक कौन होता है ? प्रयाण के समय युक्त चित्तवाले योगियो द्वारा परमात्मा को कैसे जाना जाता है ?

श्रीभगवानुवाच

**अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।**
**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥**
**अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।**
**अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **परम अक्षर**=परम अक्षर (जिसका कभी क्षरण अथवा विनाश नहीं होता ऐसा सच्चिदानन्दघन (परमात्मा) **ब्रह्म**=ब्रह्म है, **स्वभाव. अध्यात्म उच्यते**= उसका अपना भाव (स्वरूप) अर्थात् जीवात्मा अध्यात्म कहलाता है, **भूतभावोद्भवकर विसर्ग कर्मसंज्ञित.**= भूतो (प्राणियों) के भाव (अस्तित्व) को उत्पन्न करनेवाला विसर्ग (यज्ञ मे हवि, त्याग) कर्म नाम से कहलाता है । **क्षरो भाव· अधिभूत**=उत्पत्ति और विनाशवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, **च**=तथा, **पुरुष अधिदैवत**=हिरण्यमय पुरुष (जिसे सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति और ब्रह्मा भी कहा गया है) अधिदैव है, **देहभृता वर**=हे देहधारी मनुष्यो मे उत्तम अर्जुन, **अत्र देहे अहं एव अधियज्ञ**=इस देह में मैं (वासुदेव) ही अधियज्ञ हूँ ।

**वचनामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—परम अक्षर (कभी विनष्ट न होनेवाला) ब्रह्म है, उसका अपना ही स्वरूप जीवात्मा अध्यात्म कहलाता है, प्राणियो के भाव अर्थात् अस्तित्व को उत्पन्न करनेवाला त्याग (यज्ञ मे हवि इत्यादि एव परमेश्वर का आदि सकल्प) कर्म कहलाता है। क्षरभाव (उत्पत्ति और विनाशवाले सब पदार्थ) अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष (हिरण्यगर्भ, प्रजापति, ब्रह्मा) अधिदैव है और हे देवधारी मनुष्यो मे श्रेष्ठ अर्जुन, इस शरीर मे मैं (वासुदेव) ही (अन्तर्यामी रूप से) अधियज्ञ हूँ ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रश्नो का उत्तर देते हैं।

**रसामृत :** परम ब्रह्म परमात्मा ऐसा अविचल, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, नित्य, चैतन्यस्वरूप, शुद्ध, स्वप्रकाश सर्वप्रकाश, आनन्दैकरस परम तत्त्व है, जिसका क्षरण (विनाश) कभी नही होता। परम ब्रह्म परमात्मा परम अक्षर है।[1] परम का अर्थ होता है सूक्ष्म और श्रेष्ठ। परमात्मा का अश आत्मा ही माया से आवृत्त होकर जीव अथवा जीवात्मा के रूप मे देह मे स्थित होने पर अध्यात्म कहलाता है। अध्यात्मरूप जीवात्मा परमात्मा का ही स्वभाव अर्थात् स्वरूप होता है। यही परमेश्वर की जीवरूपा चेतन पराप्रकृति है, जिसके सम्पर्क से जडरूपा अपरा प्रकृति स्पन्दनशील एव क्रियाशील हो जाती है। वास्तव मे जीवात्मा परमात्मा से पृथक् नही है, अभिन्न है। प्राण, इन्द्रिय आदि अध्यात्म नही होते।

'कर्म' एक पारिभाषिक शब्द भी है, जिसके अनेक अर्थ किये गये है। प्राणियो की उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला यज्ञरूप अथवा आहुतिरूप विसर्ग (विसर्जन, त्याग) यथार्थ कर्म कहलाता है तथा यह यज्ञ का ही नही, बल्कि समस्त उत्तम

---

१ **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत**—वृहदारण्यक उप०, ३.८.९। अर्थात् हे गार्गि, इस अक्षर के शासन मे सूर्य, चन्द्र इत्यादि सब चलते हैं। साख्य मे अव्यक्त प्रकृति को अक्षर कहा गया है, अतएव ब्रह्म को परम अक्षर कहा है। ब्रह्म क्षर और अक्षर से परे परम अक्षर है।

**यो वा एतदक्षर गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति**—वृहदारण्यक उप०, ३ ८ १० । अर्थात् हे गार्गि, इस अक्षर को न जानकर जो यज्ञो मे आहुति देते हैं, बहुत वर्षों तक तप करते हैं, उनका कर्मफल नाशवान् होता है। यज्ञो और तप का उद्देश्य परमात्मा का ज्ञान ही है। गीता (१५ १६) में अक्षर कूटस्थ कहा गया है। इसकी गीता के १२ ३-४ में भी चर्चा है।

कर्मों का वाचक है।[१] इसके अतिरिक्त सृष्टि के आरम्भ में भगवान् का यह आदि सकल्प कि मैं एक ही बहुत हो जाऊँ।[२] अचेतन प्रकृति मे चेतन-रूप बीज की स्थापना कर देता है तथा जड चेतन के परस्पर सयोग से सम्पूर्ण प्राणियो का उद्‌भव (सृष्टि) होता है। यह आदि सकल्प भी विसर्गरूप कर्म कहलाता है। यह आदि सकल्प भी भगवान् से भिन्न नही है। भगवान् श्रीकृष्ण यह भी सकेत कर रहे हैं कि सर्जनात्मक शुभ कर्म ही कर्म होता है, विध्वसात्मक कुकर्म को कर्म नही कहा जाता। शुभ कर्म भगवान् का ही एक रूप होता है।

उत्पन्न होने तथा नष्ट होनेवाला समस्त जड़ पदार्थ क्षर अथवा अधिभूत है। यही परमेश्वर की अपरा प्रकृति है। समस्त नश्वर पदार्थ पाँच महाभूतो (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से उत्पन्न होते है तथा क्षर कहलाते हैं। क्षर पदार्थ ही देहादि के रूप मे प्राणियो के आश्रित रहता है तथा अधिभूत कहलाता है। जड़ अपरा प्रकृति चेतन परा प्रकृति के अधीन होती है, किन्तु दोनो भगवान् की ही प्रकृति है। सब कुछ वासुदेव ही तो हैं।

शरीररूप पुर मे रहनेवाला चेतन प्राणपुरुष अधिदैवत कहलाता है। जड पदार्थ पर शासन करनेवाला चेतन पुरुष अधिदैवत है। वास्तव मे यह जीवात्मा ही है। समष्टिगत चेतन पुरुषो को हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, प्रजापति, ब्रह्मा तथा देवताओ का शासक कहते है। हिरण्यगर्भ परमेश्वर का ही एक रूप है।[१]

देह मे यज्ञो के अधिपति एव अधिष्ठाता एव फलदाता अन्तर्यामी विष्णु के रूप में स्थित भगवान् ही अधियज्ञ है। यज्ञो का अधिपति विष्णु भी भगवान् का ही एक स्वरूप है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को देहधारियो मे श्रेष्ठ कहकर तथा प्रचलित पारिभाषिक शब्दो का अर्थ कहकर यह स्पष्ट कर रहे है कि अव्यक्त ब्रह्म से लेकर नश्वर पदार्थों तक सब कुछ वही एक परमात्मा है। दृश्य जगत् के विनाशशील पदार्थों मे तथा जीवित प्राणियो मे वही एक परमात्मा बसा हुआ है। 'अहम् एव अत्र' अर्थात् 'मैं ही यहाँ हूँ' कहकर श्रीकृष्ण स्पष्ट कर रहे है कि इन सब रूपो मे परमात्मा स्थित है। मायोपाधिसहित परमेश्वर भगवान् के रूप मे विश्व का स्वामी, उत्पन्नकर्ता, पोषक, सचालक और सहारक है तथा मायोपाधिरहित परम ब्रह्म विश्व से परे सच्चिदानन्दस्वरूप वास्तविक सत्ता है। माया से आवृत्त आत्मा वैयक्तिक जीवात्मा है तथा माया से मुक्त वही शुद्ध आत्मा है।

**अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।**
**यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥**
**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।**
**तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥**
**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।**
**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥**

---

१. डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं—'कर्म वह सृजनशील सवेग है, जिससे जीवन के रूप उद्‌भूत होते हैं। विश्व का समूचा विकास कर्म कहलाता है। भगवान् इसे प्रारम्भ करता है तथा कोई कारण नही कि वैयक्तिक जीव इसमे भाग न ले। पूर्वमीमासा मे कर्म को ही सृष्टि का उद्‌गम कहा गया है।

सस्कृत में 'अधि' उपसर्ग का अर्थ है 'सम्बन्ध मे'। इस प्रकार अध्यात्म का अन्य अर्थ है 'आत्मा के सम्बन्ध मे।'

२ **सोऽकामयत बहुस्या प्रजायेय इति**—परमात्मा ने सकल्प किया कि प्रजा उत्पन्न करने के लिए हम बहुरूपी होंगे।

१ इन्द्रियो के शासक विभिन्न देव (दैवी शक्तियाँ) माने गये हैं। उन सब देवो का भी शासक चेतन 'पुरुष' कहा जाता है तथा सब प्राणियो के सब पुरुषो के सामूहिक रूप अथवा समष्टि को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। ये भगवान् से भिन्न नही हैं। लिङ्गशरीर को पुरुष तथा समष्टिगत लिङ्गशरीर को हिरण्यगर्भ कहा गया है।

**शब्दार्थ :** च य अन्तकाले मा एव स्मरन् कलेवरं मुक्त्वा प्रयाति=और जो अन्तकाल मे मुझे ही स्मरण करता हुआ शरीर-त्याग कर जाता है, स मद्भाव याति=वह मेरे भाव ( स्वरूप ) को प्राप्त होता है, अत्र सशय. न अस्ति=इसमे सशय नहीं है। कौन्तेय=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, अन्ते यं यं वा अपि भाव स्मरन् कलेवर त्यजति=अन्त मे जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग देता है, तं त एव एति=उस-उसको ही प्राप्त होता है, सदा तद्भावभावित.=सदा उसी भाव को चिंतन करता हुआ, तस्मात्=इसीलिए सर्वेषु कालेषु मा अनुस्मर=सब काल मे मुझे स्मरण कर, च युध्य=और युद्ध कर, मयि अर्पितमनोबुद्धि असशय मां एव एष्यसि=मुझमे अर्पित मन बुद्धि से युक्त निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।

**वचनामृत :** जो मनुष्य अन्तकाल मे मुझे ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग करता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, इसमे सशय नही है। हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, मनुष्य-अन्तकाल मे जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह उस-उसको ही प्राप्त होता है, क्योकि वह सदा उसी भाव से भावित रहा है। इसीलिए हे अर्जुन, तू सब काल मे मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। मुझमे मन और बुद्धि अर्पित करके निस्सन्देह तू मुझे प्राप्त हो जायगा।

**सन्दर्भ** · जीवन-काल मे निरन्तर भगवान् का स्मरण करनेवाला मनुष्य अन्तकाल मे भगवान् का स्मरण करके भगवान् को प्राप्त हो जाता है। सातवाँ श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है। **'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'** इसे कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत :** जरा, मरण, रोग और शोक मानव-जाति की अनिवार्य वास्तविकता, विवशता अथवा यथार्थ है। मानवमात्र जरा, मरण, रोग तथा शोक के भय से ग्रस्त है। सभी मनुष्यो के जीवन मे ये चार भय चुनौती के रूप मे सामने आते हैं तथा प्रत्येक मानव इन पर विजय प्राप्त करने के लिए जाने-अनजाने एक विचार-पद्धति का निर्माण करता है। निरक्षर तथा नास्तिक मनुष्य भी इनकी वास्तविकता एव विवशता को स्वीकार करते हैं तथा उन्हे भी इनके भय से मुक्त होने के लिए किसी विचारधारा का आश्रय लेना होता है। इन सबमें मृत्यु का भय सर्वाधिक भीषण होता है। मृत्यु का भय भयराज है तथा जो मनुष्य मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसका जीवन एक सुखद यात्रा तथा मृत्यु एक महोत्सव हो जाता है। भय मनुष्य को असन्तुलित एव उद्विग्न बनाकर उसकी समता एव शान्ति का अपहरण कर लेता है। भयभीत मनुष्य निकृष्ट एव दयनीय अवस्था को प्राप्त हो जाता है। भयमुक्त पुरुष ही मुक्त चिन्तन कर सकता है तथा स्वस्थ, सम एव शान्त रहकर जीवन की समस्याओ के साथ सघर्ष कर सकता है। वह धर्म, मत, विचार, ग्रन्थ अथवा गुरु, जो मनुष्य को निकृष्ट भय दिखाकर कुण्ठित कर दे, सर्वथा त्याज्य है। श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने भयमुक्त होकर जीवन-सघर्षों का सामना करने तथा शान्त और सुखी रहने की विधि का उपदेश किया है तथा श्रीकृष्ण की अमृतमयी वाणी ने मानवमात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। भगवद्गीता पर किसी एक देश, धर्म अथवा जाति का एकाधिकार नही हो सकता। श्रीकृष्ण जगद्गुरु हैं।

मृत्यु एक यथार्थ है तथा उसे स्वीकार करके ऐसा चिन्तन एव कर्म करना चाहिए कि उसके भय पर विजय प्राप्त हो सके तथा जीवन आनन्दमय हो जाय। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जीवन का मूल स्रोत एक दिव्य सत्ता है, जो नित्य, शाश्वत, स्वप्रकाश, निर्गुण, निर्विकार, सच्चिदानन्दस्वरूप है। मनुष्य के भीतर अवस्थित जीवन-ज्योति उसी परम ज्योति का अश है। मानव-जीवन की गरिमा को प्रतिष्ठित करनेवाली यह विचारधारा अप्रतिम है तथा ससार मे कोई भी अन्य विचार-पद्धति इसके समान उदात्त नही है। गीता विकास के सिद्धान्त

को स्वीकार करती है, किन्तु गीता के अनुसार जीवन का मूल स्रोत भौतिक पदार्थ (अपरा प्रकृति) नही है, बल्कि अनन्त, अखण्ड, अद्वय, शाश्वत, दिव्य तत्त्व है, जिसे परम ब्रह्म परमात्मा कहते है। जीवन सोद्देश्य है। मनुष्य को अपने भीतर गहरे पैठकर जीवन के स्रोत का संदर्शन करना चाहिए तथा उसके साथ एकात्मता स्थापित करनी चाहिए। मनुष्य जड देह नही है तथा उसका यथार्थ स्वरूप सचेतन एव दिव्य है। अपने भीतर सस्थित जीवन-ज्योति एव परम ज्योति की एकता स्थापित करना मानव-जीवन का उद्देश्य है तथा उसके लिए प्रयत्न एव साधना करना परम पुरुषार्थ है।

मृत्यु के समय मनुष्य की मानसिक अवस्था अत्यन्त विचित्र होती है। सभी बन्धु-बान्धव, मित्र छूटते हुए प्रतीत होते हैं तथा जिस धन-सम्पदा के लिए घोर परिश्रम (छल, कपट और पाप भी) किया, वह भी छूटता हुआ प्रतीत होता है। मनुष्य के विगत जीवन के भले और बुरे कर्मों के सस्कार उभरकर स्मृति-पथ मे खड़े हो जाते है। ऐसी व्याकुलता मिथ्या अर्थात् नश्वर जगत् के व्यक्तियो एव वस्तुओ के प्रति मोह-बन्धन होने के कारण उत्पन्न होती है। विचार, चिन्तन, मनन आदि के पूर्वाभ्यास के अभाव के कारण मृत्यु के समय सहसा ही मन को शान्त एव सम करना दुष्कर होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि सारे जीवन चिन्तन, मनन, सत्सग, सत्कर्म इत्यादि द्वारा सात्त्विकता की साधना करने पर ही अन्तकाल मे मन सम, स्थिर एव शान्त रह सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण जीवन की परिस्थितियो से पलायन करके आध्यात्मिक साधना के लिए वन, पर्वत, कन्दराओ मे जाने की वर्जना करते है। सारा ससार परमात्मा का है। सच्ची आध्यात्मिक साधना आन्तरिक होती है तथा वह कोई बाह्य क्रिया नही होती। मनुष्य को अपने नियुक्त स्थान पर दायित्व का निर्वाह करते हुए निष्काम भाव से उत्तम कर्म करना चाहिए तथा समस्त कर्म को ईश्वर के अर्पण कर देना चाहिए। प्रभु को सत्कर्म का अर्पण करना कर्मयोगी की श्रेष्ठ पूजा है, जो एक योग बनकर उसे भगवान् के साथ जोड देती है। उत्तम कर्म प्रभु-प्राप्ति का एक साधन होता है। अत विषम एव प्रतिकूल परिस्थिति मे भी सासारिक प्रलोभन, कामना, क्रोध, निराशा इत्यादि से विचलित न होकर उत्तम कर्म करते रहना चाहिए तथा अपने लक्ष्य अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति को भी दृष्टि मे रखकर अपने भीतर परमात्मा का चिन्तन, मनन एव स्मरण करते रहना चाहिए। भगवान् के साथ युक्त होकर कर्म करना पूजा है, किन्तु भगवान् से अयुक्त रहकर उत्तम कर्म भी प्राय अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि उत्पन्न करके सदोष हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, **'मां अनुस्मर युध्य च'**, भगवान् का स्मरण कर तथा युद्ध कर अर्थात् अपना विहित कर्म कर, जीवन-सघर्ष कर। 'युद्ध' कर्तव्य-कर्म का बोधक है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग का अधिकारी मानकर कर्म करने का स्पष्ट आदेश देते है।

अन्तकाल मे मनुष्य का मन जिस भाव मे स्थित हो जाता है, वह मृत्यु के उपरान्त उसी भाव को प्राप्त हो जाता है।[1] जो मनुष्य मृत्यु के समय भी ससार की चिन्ताओ से ग्रस्त रहता है उसे न शान्तिपूर्वक मृत्यु प्राप्त होती है और न मरणोपरान्त सद्गति ही। अन्तकाल मे सासारिक जीवन-लीला की समाप्ति के समय मोह-बन्धन त्याग देने पर तथा भगवान् का स्मरण करने पर भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। समस्त जीवन भगवान् के साथ ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा आत्मीयता का नाता रखने पर मनुष्य को मृत्यु के समय भगवान् का

---

१ ज्ञानी जड भरत का उदाहरण प्रख्यात है, जिनका मन मृत्यु-वेला मे हरिण-शावक के स्मरण मे स्थिर हो गया तथा उन्हे उसी रूप मे पुनर्जन्म मिला। उनकी ज्ञान-साधना मे वासना-दोष शेष रह गया था।

तथा भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन का सौभाग्य प्राप्त कर लेते हैं।

अभ्यास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता का मार्ग प्रशस्त करता है तथा गीता में उसे योग के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। ज्ञान, ध्यान और भक्ति अभ्यासयोग द्वारा ही सिद्ध होते हैं।

> कविं पुराणमनुशासितार-
> मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
> सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप
> मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥
> प्रयाणकाले मनसाचलेन
> भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
> भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
> स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

शब्दार्थ : यः=जो मनुष्य, कविं पुराणं अनुशासितारं अणोः अणीयांसं=सर्वज्ञ अनादि सर्वनियन्ता अणु से भी छोटा, सर्वस्य धातारं=सबके विधाता अर्थात् सबके धारण पोषण करनेवाले, अचिन्त्यरूपं=अचिन्त्य रूपवाले, आदित्यवर्णं=आदित्य के सदृश वर्णवाले अर्थात् प्रकाशरूप, तमसः परस्तात्=तम (अविद्या) से परे (सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को), अनुस्मरेत्=स्मरण करे अर्थात् स्मरण करता है।[1] सः भक्त्या युक्तः=वह भक्ति से युक्त पुरुष, प्रयाणकाले=अन्तकाल में, अचलेन मनसा च योगबलेन भ्रुवोः मध्ये प्राणं सम्यक् आवेश्य=योगबल से भृकुटि के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके, तं दिव्यं परं पुरुषं एव उपैति=उस दिव्य परम पुरुष को ही प्राप्त होता है।

(विभिन्न अन्वय करते हुए 'अचलेन मनसा' के विभिन्न अर्थ किये गये हैं।)

वचनामृत : जो मनुष्य सर्वज्ञ, अनादि, सर्वनियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले अचिन्त्यस्वरूप, आदित्य की भाँति तेजोमय एवं नित्य चैतन्यप्रकाशरूप और अविद्या से परे, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा का स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त मनुष्य अन्तकाल में अचल मन से योगबल से भृकुटि के मध्य में प्राण को स्थापित करके, उस दिव्य परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

सन्दर्भ : श्रीकृष्ण प्रयाणकाल में प्राण-विसर्जन की विधि बता रहे हैं।

रसामृत : भगवान श्रीकृष्ण जीवन-काल में कर्तव्य-कर्म करने के साथ ही भगवत्प्राप्ति के लिए साधना करने की महत्ता स्पष्ट करते हैं तथा मृत्यु-काल में भगवद्स्मरण करते हुए शान्तिपूर्वक प्राण-विसर्जन की विधि का वर्णन करते हैं।

ज्ञानी पुरुष देह-त्याग के समय दिव्य परम पुरुष परमात्मा का चिन्तन करते हैं। ज्ञानस्वरूप परमात्मा अज्ञानरूप अन्धकार से परे है। वह सूर्य के समान प्रकाशक है। परमात्मा नित्य चैतन्य-प्रकाशस्वरूप है, स्वप्रकाश है। सूर्य का प्रकाश तो केवल अपने मण्डल तक ही सीमित है, किन्तु ज्योतिर्मय परमात्मा अखिल विश्व का प्रकाशक

---

[1] श्लोक ९ के समान ही श्वेताश्वतर उप० (३ १८) में कहा गया है—

> वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं
> आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
> तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
> नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

अर्थात् मायारूपी अन्धकार से परे सूर्य की भाँति स्वयं प्रकाश इस महान् परमेश्वर को मैं जानता हूँ। उसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु को लाँघ सकता है, मोक्ष के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।

डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं कि इस श्लोक में निर्विकार ब्रह्म का वर्णन नहीं है, बल्कि मायोपाधिसहित ईश्वर का वर्णन है। अनेक विद्वान् इसे निर्विकार निराकार मायारहित परम ब्रह्म का वर्णन मानते हैं। वास्तव में यहाँ दोनों ही स्वरूप मान्य हो सकते हैं।

है। उसके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है।[1] परमात्मा का स्वरूप अचिन्त्य है, क्योंकि उसकी महिमा अनन्त है। उसे नेत्र और वाणी द्वारा ग्रहण नही किया जाता तथा न अन्य देवो से, न इन्द्रियो से, न तप से, न कर्म से ही ग्रहण किया जाता है, बल्कि ज्ञान की महिमा से शुद्ध अन्त करणवाला होकर उसका ध्यान करता हुआ, उस निष्कल ब्रह्म का सदर्शन करता है।[2] वह अप्रमेय अर्थात् बुद्धि से परे है। उसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही है। परमात्मा तर्कातीत है, तथापि वह विधाता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म है और चिरन्तन है, सारे विश्व का प्रशासिता एव अनुशासिता है, जगन्नियन्ता है।

परमात्मा सर्वज्ञ है। मनुष्य को प्रयाणकाल मे सासारिक विषयो एव मोहबन्धनो से मुँह मोडकर भक्तिसहित एव निश्चल और एकाग्र मन से उस दिव्य पुरुष का स्मरण करना चाहिए तथा सावधानी से हृदय-कमल ( अर्थात् अनाहत चक्र ) मे परमात्मा का स्वरूप धारण करके वशीभूत चित्त द्वारा ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाडी के सहारे हृदयस्थित प्राणवायु को पहले कण्ठ मे ( अर्थात् विशुद्ध चक्र मे ) लाकर, फिर भृकुटी मे ( अर्थात् आज्ञा चक्र मे ) स्थापित करना चाहिए और कपालस्थित ब्रह्मरन्ध्र के भेदन द्वारा प्राण-त्याग करना चाहिए।[1] यह क्रिया केवल सिद्धयोगी ही कर सकते हैं। भगवद्भक्त भगवान् के स्वरूप का ध्यान और भगवान् के गुणो का चिन्तन करते हुए शान्त और सम होकर सुखपूर्वक प्राण-त्याग कर देता है और श्रेष्ठ गति को प्राप्त हो जाता है।

प्राणवायु सुषुम्ना से प्रवाहित होने पर स्थिर होती है, अत: सुषुम्ना मे प्राणवायु का प्रवेश कराने पर बल दिया गया है। सुषुम्ना अत्यन्त सूक्ष्म है तथा मेरुदण्ड के सहारे मूलाधार चक्र से ब्रह्मरन्ध्र तक विस्तृत है। सुषुम्ना के भीतर वज्रिणी, वज्रिणी के भीतर चित्रिणी और चित्रिणी के भीतर ब्रह्मनाडी कही गयी है। छह चक्र कमल के रूप मे इसी ब्रह्मनाडी मे ग्रथित हैं। स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र सामने की ओर दर्शाये जाते हैं, किन्तु वास्तव मे ये मेरुदण्ड के सहारे पीछे हैं। उदाहरणत आज्ञा चक्र भ्रूमध्य मे स्थित होकर भी पीछे की ओर है। कदाचित् सामने की ओर इनके नियन्त्रक बिन्दु हैं और भीतर उनका परस्पर सूक्ष्म सम्बन्ध है। केवल योगी इडा, पिंगला और सुषुम्ना आदि नाडियो का तथा चक्रो का आभास करते हैं, क्योंकि ये सूक्ष्म हैं। यौगिक क्रियाओ को अनुभवी गुरु से सीखकर ही करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है।

---

१. **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥**

—मुण्डक उप०, २.२.१०, कठ उप०; २ २ १५

अर्थात् वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारागण और न ही विद्युत् चमकती है, फिर यह अग्नि कहाँ है? उसीके प्रकाशित होने पर यह सब पीछे से प्रकाशित होता है, उसीके प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है। 'ज्योतिरिवकधूमक.'—ब्रह्म विकाररहित ज्योतिर्मय है।

२ **न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥**

—मुण्डक उप०, ३.१.८

१ **अपुनर्भवाय कोशं भिनत्ति कोश भित्त्वा शीर्षं-कपालं भित्त्वा अक्षरं भिनत्त्यक्षरं भित्त्वा मृत्युं भिनत्ति मृत्युर्वै परे देवे एकीभवति**—पुनर्जन्म न होने के लिए कोश का भेदन करता है, कोश का भेदन कर शीर्ष के कपाल का ( ब्रह्मरन्ध्र का ) भेदन करता है, कपाल का भेदन कर अक्षर का भेदन करता है, अक्षर का भेदन करके मृत्यु का भेदन करता है, मृत्यु परदेव एकीभूत हो जाती है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।[1]
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

**शब्दार्थ :** वेदविद यत् अक्षरं वदन्ति=वेदों के ज्ञाता जिसे अक्षर अर्थात् अविनाशी अथवा ओंकार कहते हैं, वीतरागा यतय यत् विशन्ति=रागरहित यति जिसमे प्रवेश करते हैं, यत् इच्छन्त. ब्रह्मचर्यं चरन्ति=जिसको ( परमपद को ) चाहते हुए ब्रह्मचर्य का आचरण अथवा पालन करते हैं, तत् पद ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये=उस परमपद अथवा ओंकारपद को तेरे लिए कहूँगा। पद—गन्तव्य स्थान।

**वचनामृत :** वेदो के ज्ञाता जिस सच्चिदानन्द-स्वरूप परमपद को अविनाशी कहते हैं, रागरहित यति ( महात्मा लोग ) जिसमे प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परम पद को तेरे लिए सक्षेप से कहूँगा।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण परमअक्षर निर्गुण निराकार ब्रह्म की चर्चा करते हैं तथा ॐकार का महत्त्व कहते हैं।

**रसामृत :** वेदो का आधार तथा उनका प्रतिपाद्य परम ब्रह्म परमात्मा है। परम ब्रह्म अक्षर अर्थात् अविनाशी है। उसका वाचक ॐकार है अर्थात् परम ब्रह्म का एक नाम ॐ है। ॐकार को वेदो मे प्रणव भी कहा जाता है। योगीगण ॐकार-रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं। योगियो के लिए ब्रह्म अथवा ॐ परम पद है। परम ब्रह्म परमात्मा ( एव ॐ ) अक्षय, एकरस तथा नित्य है। राग-द्वेष से विमुक्त महात्मागण वैराग्य, तप और ज्ञान द्वारा इसमे स्थित होने का यत्न करते हैं अर्थात् उसके स्वरूप के साथ ऐक्य स्थापित करते हैं। अनेक साधक ब्रह्मचर्य-पालन अर्थात् नियम-सयम पालन द्वारा ऊर्ध्वरता होकर ब्रह्म मे सचरण करते हैं तथा उनका प्राप्तव्य पद अविनाशी ब्रह्म होता है। यह दुर्बोध एव दुष्प्राप्य है। उसका समझना कठिन है तथा उसे प्राप्त करना कठिन है।

ॐकार की महिमा अनन्त है। ॐ समस्त आध्यात्मिक साधना की सफलता एव सिद्धि का सूत्र है, समस्त मत्रो का शिरोमणि परम मत्र है, सूक्ष्म बीजरूप से सर्वत्र व्याप्त है। ॐ की साधना ज्ञान और भक्ति के मार्ग को प्रशस्त कर देती है तथा साधक को चमत्कारिक शक्ति, सुख-समृद्धि, वैभव, वैराग्य से युक्त कर देती है। ॐ ब्रह्म का लिङ्ग है, ब्रह्ममय है तथा ॐ का जप एव ध्यान ब्रह्म-सदर्शन का श्रेष्ठ सोपान है।

**सर्वद्वाराणि सयम्य मनो हृदि निरुध्य च।**
**मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् १२**
**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।**
**य· प्रयाति त्यजन्देह स याति परमा गतिम् ॥१३॥**

**शब्दार्थ :** सर्वद्वाराणि सयम्य मन. हृदि निरुध्य=सव इन्द्रिय-द्वारो को सयमित करके ( इन्द्रियो को उनके विषयो से हटाकर ) मन को हृदय मे स्थिर करके, च आत्मन. प्राण मूर्ध्नि आधाय=और अपने प्राण को मूर्द्धा ( मस्तक ) मे रखकर, योगधारणां आस्थित.=योग-धारणा मे स्थित हुआ। य ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्=जो मनुष्य ॐ ऐसे एक अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ, मा अनुस्मरन्=मेरा स्मरण-चिन्तन करता हुआ, देह त्यजन् प्रयाति=देह त्याग करते

१ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद सग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥-कठ उप०, १ २ १५। अर्थात् सब वेद जिस परम पद का प्रतिपादन करते हैं और जिसके लिए सब तप किये जाते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए साधक ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद को मैं सक्षेप मे कहता हूँ, वह ॐ है।

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् ।—वृहदारण्यक उप०, ३ ८ ८।—हे गार्गि, यही वह अक्षर है, जिसे ब्रह्मविद्गण अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ कहते हैं। ब्रह्म न स्थूल है, न ह्रस्व।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं, सर्वं ह्येतद्ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।—माण्डूक्य। अर्थात् ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है, सब कुछ ब्रह्म है, वह ब्रह्म ही आत्मा है।

हुए जाता है, **स परमां गतिं याति**=वह परमगति अथवा परमपद को प्राप्त हो जाता है।

**वचनामृत :** समस्त इन्द्रियो के द्वारो को रोक-कर (अर्थात् इन्द्रियो को उनके विषयो से हटाकर) मन को हृदय मे स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक मे स्थापित करके, योगधारणा मे स्थित हुआ जो मनुष्य ॐ ऐसे एक अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ तथा भीतर मेरा स्मरण करता हुआ देह-त्याग करते हुए जाता है, वह परम-गति अथवा परमपद को प्राप्त होता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण प्रयाण-विधि का वर्णन करते हैं। श्लोक ११, १२, १३ मे निर्गुण ब्रह्म के उपा-सको की चर्चा की गयी है।

**रसामृत :** ज्ञानयोगी अभ्यास तथा वैराग्य से मन को वशीभूत कर लेता है। उसके मन की वृत्ति निरन्तर परमात्मा के चिन्तन के कारण विषयाभिमुख अथवा विषयाकारा नही रहती तथा परमात्माभिमुख अथवा परमात्माकारा हो जाती है। वह इन्द्रियो के द्वार[1] बन्द कर देता है अर्थात् उन्हे उनके विषयो की ओर जाने से रोक देता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियो, नेत्र, जिह्वा, नासिका, श्रोत्र (कान) तथा त्वचा के विषय क्रमश रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श है। ज्ञानेन्द्रियो के अपने विषयो से दूर हटने पर कर्मे-न्द्रियाँ भी अपने विषयो की ओर प्रवृत्त नही होती। इन्द्रियो को उनके विषयो से रोकना प्रत्या-हार कहलाता है। किन्तु ज्ञानेन्द्रियो का विषयो से हटना पर्याप्त नही है। इन्द्रियो के प्रशासक मन का विषयो से हटना तथा वशीभूत होना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। योगी वशीभूत मन को ध्यान द्वारा हृदय-पुण्डरीक अर्थात् हृदय-क्षेत्र मे विराज-

१ यहाँ द्वार का अर्थ शरीर के नौ द्वार (दो नासिका-छिद्र, दो नेत्र, दो कान, एक मुख, दो मल-मूत्र-त्याग के द्वार) नही है, ज्ञानेन्द्रियो के द्वार है। ये वायु निकलने के द्वार हैं।

मान कमल के सदृश अनाहत चक्र मे निरुद्ध एव स्थित कर लेता है। वह योगबल द्वारा अपनी प्राणवायु एव प्राणशक्ति को समेटकर अपने मूर्द्धा मे विराजमान सहस्रार चक्र मे स्थित कर देता है। वास्तव मे प्राणवायु ही इन्द्रियों के द्वार पर स्थित होती है तथा उन्हे सक्रिय कर देती है। मेरुदण्ड मे सुषुम्ना नाडी मूलाधार चक्र से सहस्रार चक्र तक विस्तृत है। चक्रो का भेदन क्रमश भूमिजय कह-लाता है। योगी ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना के द्वारा प्राण को क्रमश ऊपर की ओर उठाकर पहले कण्ठ मे स्थित विशुद्ध चक्र का भेदन करता है, फिर भ्रूमध्य मे स्थित आज्ञा चक्र का भेदन करता है और फिर उसे कपाल मे स्थित सहस्रार मे स्थापित कर देता है। योगी सहस्रार चक्र अथवा ब्रह्मरन्ध्र द्वारा ही प्राण-विसर्जन करते है।

प्रयाणकाल मे योगी ॐ का अत्यन्त मन्द ध्वनि मे अथवा मन मे उच्चारण करता है। ॐ ब्रह्म का वाचक अथवा प्रतीक है। निराकार ब्रह्म की कोई प्रतिमा नही है, किन्तु ॐ उसकी प्रतिमा है। ॐ स्वाभाविक विस्फोट एव अन्तर्नाद है तथा जीवात्मा एव परमात्मा के ऐक्यरूप की चरम अवस्था की प्राप्ति का साधन है। ॐ मे अ उ म् तीन मात्राएँ हैं, जो अनेक रहस्यो की बोधक हैं।[1]

१ उपनिषद् में पिप्पलाद मुनि ने सत्यकाम को मृत्यु के समय ॐ के उच्चारण का महत्त्व बताया है। योग-दर्शन मे कहा गया है—**तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्त-दर्थभावनम्।** —योगसूत्र, १.२७,२८। अर्थात् उसका वाचक प्रणव (ॐ) है। उस ॐ का जप करते हुए उसके अर्थ अर्थात् ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए। कठो-पनिषद (१ २ १६) मे कहा है—

**एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।**
**एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥**

अर्थात् यह अक्षर ॐ ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही परम है। इसी अक्षर को जानकर ही जो जिसकी इच्छा करता है, उसे वही प्राप्त हो जाता है।

ॐ का आश्रय लेकर साधक परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं, जैसे धनुष का सहारा लेकर बाण अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[1] ॐ का जप ध्यानक्रिया की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। ज्ञानयोगी इस प्रकार ॐ का उच्चारण करते हुए प्राण त्यागकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।[2] भक्त भगवान् के किसी सगुण साकार स्वरूप का भक्तिपूर्वक स्मरण करते हुए तथा ॐ अथवा अन्य हरि-नाम का उच्चारण करते हुए भगवान् को प्राप्त कर लेता है।

---

१ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥
—मुण्डक उप०, २ २ ४

—प्रणव अर्थात् ॐ धनुष है, निश्चय ही आत्मा बाण है, वह ब्रह्म-लक्ष्य कहा जाता है, प्रमादरहित चित्त से बींधना चाहिए, बाण के तुल्य तन्मय होना चाहिए।

२ कुछ ग्रन्थों के आधार पर कुछ विद्वान् कहते हैं कि साधक ज्ञानयोगी उक्त प्रकार से प्राण त्यागकर पहले देवयान-मार्ग अथवा अर्चिरादि मार्ग से ज्ञान लोक मे गमन करता है, तदनन्तर परमगति को प्राप्त करता है अर्थात् वह प्राण-त्याग के बाद किसी सूक्ष्म दिव्यावस्था को प्राप्त कर कुछ काल के पश्चात् परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है, किन्तु सिद्धावस्था अथवा ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त जीवन्मुक्त ज्ञानयोगी देह-त्याग करने पर तुरन्त ब्रह्मलीन हो जाता है। इसी प्रकार भक्तों की यह धारणा है कि भक्तिमार्गी मुक्ति का निरादर करते हैं तथा गोलोक आदि को प्राप्त होते हैं। वास्तव मे ब्रह्मलोक और गोलोक इत्यादि को प्राप्त होने का अर्थ कुछ काल तक किसी अनिर्वचनीय सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होना है, जिसके पश्चात् ज्ञानी एव भक्त उसी एक परम ब्रह्म परमात्मा के साथ ऐक्य अथवा ब्रह्मलीनता प्राप्त कर लेते हैं। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि निर्मल अन्त करणवाले ज्ञानी यति मृत्यु के समय ब्रह्मलोक मे अमृतमय जीवन प्राप्त करके मुक्त होते हैं, वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगाद् यतय. शुद्धसत्त्वा। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे।—वेदान्तविज्ञान, ३ २ ६। ज्ञानी मोक्ष-प्राप्ति से पूर्व ब्रह्मलोक मे अर्थात् किसी अनिर्वचनीय अवस्था में कुछ काल तक दिव्यत्व की आनन्दानुभूति से युक्त होकर मुक्त होते हैं। मानव-देह को ब्रह्मपुर कहा गया है और मानव-देह के भीतर हृदय-कमल मे आत्मा की दिव्य ज्योति सस्थित होती है। 'निहितं गुहायाम्' —मुण्डक उप० ३ १ ७। अर्थात् आत्मा हृदयाकाश में स्थित है। यः सर्वज्ञ. सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठित।—मुण्डक उप०, २ २ ७। अर्थात् जो सर्वज्ञ सर्ववित् है जिसकी यह महिमा जगत् मे है, निश्चय ही यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर मे अर्थात् देह के भीतर हृदयाकाश में स्थित है। अनेक ध्यानयोगी नेत्र मूँदकर हृदय (अनाहत चक्र) अथवा भृकुटी (आज्ञा चक्र) मे प्रकाश की कल्पना करते हुए उसी पर मन को केन्द्रीभूत करते हैं तथा ध्यान-मग्न अवस्था प्राप्त होने तक अपने मन मे अथवा अत्यन्त मन्द स्वर मे धीरे-धीरे ॐ का जप करते रहते हैं और दिव्य-तत्त्व अथवा अमृतत्व का पान कर लेते हैं। प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का ध्यान और ॐ का मन्द-मन्द लयात्मक जप आध्यात्मिकता के उत्कृष्ट साधन हैं। मन मे किसी कारण से भय, चिन्ता, निराशा, क्रोध, व्याकुलता, अतिहर्ष, अभिमान, दुर्भावना, तनाव उत्पन्न होने पर ॐ का मन्द-मन्द उच्चारण अथवा मानसिक जप चित्त को शान्त कर देता है तथा अनिद्रा के निवारण का अचूक उपाय है।

---

अनन्यचेता: सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥१४॥

**शब्दार्थ :** पार्थ=हे अर्जुन, यः अनन्यचेता, नित्यशः सततं मां स्मरति=जो मनुष्य अनन्यचित्त होकर सदैव निरन्तर मुझे स्मरण करता है, तस्य नित्ययुक्तस्य योगिनः अहं सुलभ.=उस नित्ययुक्त (मुझसे जुड़ा हुआ) योगी का मैं सुलभ हूँ।

**वचनामृत :** हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, जो पुरुष अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझे स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी के लिए मैं सुलभ हूँ।

**सन्दर्भ :** जो मनुष्य योगबल से प्राण-त्याग करके परमात्मा को प्राप्त होने की विधि नही जानते, उनके लिए भी परमात्मा निरन्तर स्मरण द्वारा सुलभ हो जाता है ।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण अन्तकाल मे योग-बल से प्राण-विसर्जन द्वारा परमात्मा को प्राप्त होने की विधि का वर्णन करने के उपरान्त भगवान् को अत्यन्त सरलता और सुगमता से प्राप्त करने की विधि बता रहे है। श्रीकृष्ण अर्जुन को पृथा ( कुन्ती ) का पुत्र कहकर यह सकेत कर रहे है कि कुन्ती ने कोई ज्ञान-साधना अथवा योगाभ्यास नही किया था और भगवान् को प्राप्त कर लिया था । सभी मनुष्य ज्ञान-साधना तथा योगाभ्यास नही कर सकते । भगवान् का द्वार सबके लिए समान रूप से खुला हुआ है। भगवान् सर्वसुलभ है तथा साधारण निरक्षर मनुष्य के लिए भी अत्यन्त सुलभ है ।

भगवान् को भक्तिपूर्वक निरन्तर स्मरण करना सुगमयोग है। जो मनुष्य ससार के समस्त कर्म करता हुआ भगवान् को अपना सर्वस्व मानकर अनन्यभाव से उनका स्मरण करता है वह मनुष्य सभक्ति स्मरण द्वारा भगवान् के साथ युक्त हो जाता है । भगवान् ही मेरा सब कुछ है, वही मेरा परम मित्र, बन्धु और हितैपी है, ऐसा मानकर अनन्यभाव से प्रभु का स्मरण करते रहना एक योग बन् जाता है, जिसे स्मरणयोग कह सकते है। यह स्मरणयोग भक्तियोग के अन्तर्गत है । भगवान् का भक्त किसी व्यक्ति अथवा वस्तु का निरादर नही करता तथा वह सब मनुष्यो का आदर एव वस्तुओ का सदुपयोग करता है, किन्तु वह किसी मनुष्य की शरण ग्रहण नही करता तथा किसी वस्तु का अभिमान भी नही करता । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक सर्वलोकेश्वर जगत्पति का आश्रय लेनेवाला मनुष्य किसीसे भयभीत नही होता और कभी असहाय एव दीन होकर आत्मपतन भी नही करता । निर्गुण निराकार परमात्मा का उपासक ज्ञानयोगी अभेदोपासना[1] ( परमात्मा और आत्मा एक है ) करता है, किन्तु सगुण साकार भगवान् की भेदोपासना ( भगवान् मेरे हैं और मै उनका हूँ ) करनेवाला भक्त भक्ति द्वारा भगवान् के साथ नित्ययुक्त होकर अन्त मे अभेद-अवस्था को प्राप्त कर लेता है । जो नित्ययुक्त है वह नित्यमुक्त है। भक्त अपनी रुचि के अनुसार भगवान् के किसी सगुण साकार रूप ( शिव, दुर्गा, राम, कृष्ण इत्यादि ) को पूर्ण परमेश्वर मानकर उसके नाम, प्रभाव, लीला आदि का स्मरण करता रहता है । वह आहार, विहार, शयन आदि मे सदैव भगवान् का स्मरण रखता हैं तथा वह प्रकृत योगी अर्थात् सहजयोगी होता है। भगवान् अनन्य भक्त के लिए सदैव सुलभ है । भक्त, शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एव माधुर्य रसो मे से किसी एक रस मे निष्ठ होकर भगवत्प्रेम मे परायण रहता है। अपने इष्टदेव की प्रतिमा उसे साक्षात् स्वरूप की भाँति उत्साह एव पवित्र प्रेरणा देती है। गोपिकाएँ भक्ति का ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे ज्ञान, ध्यान, योग आदि का निरादर करती हुई कहती है—**ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल। अपनी ही सुधि ना रहे, रहे एक नन्दलाल ॥**

निरन्तर स्मरण का अर्थ काम-काज छोडकर निरन्तर पूजा-पाठ, जप-ध्यान आदि मे सलग्न रहना नही है, बल्कि भगवान् के साथ आत्मीयता

---

१ ज्ञानपरक विद्वान् इस श्लोक का अर्थ करते हुए कहते हैं कि वैराग्य के वेग से नित्य निरन्तर परम ब्रह्म का श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा अनुसन्धान करनेवाले ज्ञानयोगी के लिए परम ब्रह्म सुलभ है । उनकी दृष्टि मे स्मरण का अर्थ चिन्तन है । **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।'** —बृहदारण्यक उप० । अरे, आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासितव्य का विषय है ।

का अटूट आन्तरिक नाता रखना है।[1] वाहन का चालक वार्तालाप करते हुए भी अपने गन्तव्य स्थान का स्मरण रखता है, ग्राम्य महिलाएँ अपने सिर पर जलपूर्ण गगरी रखकर चलती हुई बातें करती रहती हैं और गगरी का स्मरण रखती हैं तथा माता को अपने कार्य मे व्यस्त रहकर भी दूरस्थित बच्चे का स्मरण रहता है। भक्त प्रभु को सर्वत्र अपने साथ रहनेवाला, सदा करुण पुकार सुननेवाला, सदा सहायता करनेवाला, अपने भीतर और बाहर तथा साथ रहनेवाला बन्धु, सखा अथवा स्वामी मानकर अपने दु ख और सुख मे उसके साथ मन मे बातें करता रहता है। वह अपने भक्तिपूर्ण अन्त करण मे प्रभु की वाणी सुन लेता है। भक्त प्रभु से कभी दूर नही रहता तथा वह विविध अवसरो पर विविध प्रकार से प्रार्थना करता रहता है। उसकी भावविभोरता ही नि शब्द प्रार्थना हो जाती है तथा भक्तिरसपूर्ण हृदय के भक्तिरससिक्त भाव ही उसके शब्द होते हैं। कभी-कभी वह अनायास ही सुरदुर्लभ भाव-समाधि (आनन्द-मूर्च्छा) मे स्थित होकर परम आनन्दमय हो जाता है। वह अपने भीतर, बाहर और सर्वत्र अपने प्रियतम की निरन्तर उपस्थिति की अनुभूति करता रहता है। सभी मे अपने प्रिय प्रभु का सदर्शन करनेवाला भक्त किसके साथ द्वेष और शत्रुता कर सकता है?[2] वह सबका मित्र होता है तथा (उसकी दृष्टि मे) सब उसके मित्र होते हैं। घोर शत्रुता करनेवाले दुष्ट प्रकृति के मनुष्य भी उसका कभी अहित नही कर सकते। भक्त अपने प्रेम को सर्वत्र प्रवाहित करके सबके लिए सुख और शान्ति का प्रदायक हो जाता है

१ रावण की भक्ति विचित्र थी। वह तामसी होने के कारण सात्त्विक प्रेम नहीं जानता था तथा शत्रुभाव से राम का निरन्तर स्मरण रखता था। 'होइहि भजन न तामस देहा।'

२ उमा जे राम चरण रत विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करें विरोध॥

तथा उसके चारो ओर का वातावरण माधुर्यरस से ओतप्रोत हो जाता है। भगवान् का भक्तिपूर्ण स्मरण एक अनिर्वचनीय रसपूर्ण योग है।

**मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।**
**नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥**
**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।**
**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते[1]॥१६॥**

**शब्दार्थ:** परमा ससिद्धि गता महात्मान मां उपेत्य = परम सिद्धता को प्राप्त हुए महात्मा मुझे प्राप्त होकर, दु खालयं अशाश्वत पुनर्जन्म न आप्नुवन्ति = दु खनिवास-रूप नश्वर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते।[1] अर्जुन = हे अर्जुन, आब्रह्मभुवनाद् लोका पुनरावर्तिन = ब्रह्मा के लोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती हैं, तु = परन्तु, कौन्तेय = हे अर्जुन, मां उपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते = मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म नही होता।

**वचनामृत** परम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा मुझे प्राप्त होकर दु खो के निवासरूप एव नश्वर पुनर्जन्म को नही प्राप्त होते। हे अर्जुन, ब्रह्मलोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती हैं, किन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म नही होता।

**सन्दर्भ:** भगवान् को प्राप्त होना ही चरम स्थिति है।

**रसामृत** वे पुरुष ससिद्ध महात्मा होते हैं, जिनका अन्त करण निर्मल होता है तथा जो राग-द्वेषमुक्त होकर जगत् के कल्याण में रत रहते हैं एवं आध्यात्मिक मूल्यो को ही महत्त्व प्रदान करते हैं। ज्ञान, कर्म अथवा भक्ति के द्वारा अन्त करण शुद्ध होने पर महात्माजन परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं तथा पुनर्जन्म से मुक्त हो जाते हैं। पुनर्जन्म अथवा पुनरागमन होना कष्टदायक होता है तथा पुनर्जन्म से प्राप्त जीवन अनित्य होता है। मृत्यु

१ इस श्लोक का अन्य प्रकार से भी अन्वय किया गया है। एक अर्थ इस प्रकार है—मुझे प्राप्त होने पर परमसिद्धि प्राप्त हुए महात्माजन दु खपूर्ण एव अनित्य पुनर्जन्म नहीं पाते।

होना जीवन की अनित्यता को प्रमाणित कर देता है।

श्रीकृष्ण कहते है कि ब्रह्माजी के लोक से लेकर अन्य सभी लोको मे निवास सीमित अवधि के लिए होता है तथा उसके पश्चात् पुन जन्म-मरण का चक्र प्रारम्भ हो जाता है। मनुष्य अनेक जन्मो मे अपने भीतर ही जीवन के विभिन्न स्तरो को पार करके मानो सात लोकों ( भू भुव स्व अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीन से परे चार मह जन. तप. और सत्यसहित कुल सात लोक ) मे निवास करता हुआ उनसे परे कैवल्यपद अथवा परमपद को प्राप्त कर लेता है। पुनर्जन्म का उद्देश्य क्रम-विकास के पथ पर विभिन्न स्तरो को पार करते हुए भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है। मनुष्य का देह ब्रह्माण्ड का सक्षिप्त रूप है, जिसमे समस्त लोको का निवास है। ब्रह्मरन्ध्र ब्रह्मलोक का प्रतीक है। पैरो से नाभि तक भूलोक, नाभि से कण्ठ ( मणिपूर से विशुद्ध चक्र ) तक अन्तरिक्ष तथा कण्ठ से कपाल तक ( विशुद्ध चक्र से ब्रह्मरन्ध्र ) तक स्वर्गलोक तथा मस्तक एव कपाल मे मह जन तप और सत्यलोक सस्थित हैं। परमात्मा को प्राप्त होना ही परमपद है, जिसे प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नही होता। श्रीकृष्ण कहते है कि कर्म, भक्ति, अथवा ज्ञान द्वारा आनन्दैकरस परमात्मा को प्राप्त होना ही श्रेष्ठ स्थिति है।

**सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।**
**रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥**
**अव्यक्ताद्व्यक्तय· सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।**
**रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ॥१८॥**
**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।**
**रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥**
**परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः**
**यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥**

**शब्दार्थ :** ब्रह्मण. यत् अह' = ब्रह्मा का जो एक दिन है ( उसे ), **सहस्रयुगपर्यन्तं** = एक सहस्र चतुर्युग अर्थात् एक हजार चौकडी युग की अवधिवाला, **रात्रिं युगसहस्रान्तां** = रात्रि को ( भी ) एक हजार चौकडी युग की अवधिवाली, ( ये ) **विदु** = जो जानते हैं, **ते जनाः अहोरात्रविद.** = वे जन अहोरात्र को अर्थात् काल की गणना के यथार्थ रूप को जानते हैं। **सर्वाः व्यक्तयः अहरागमे अव्यक्तात् प्रभवन्ति** = सभी व्यक्त ( प्रकट होने-वाले प्राणी ) ब्रह्मा के दिन के आगम (प्रवेश) मे अव्यक्त ( अप्रकट ) से उत्पन्न होते हैं, **रात्र्यागमे तत्र अव्यक्तसञ्ज्ञके एव प्रलीयन्ते** = ब्रह्मा की रात्रि के आगम में वही अव्यक्त-नामक तत्त्व मे ही विलीन हो जाते हैं। **पार्थ स एव अय भूतग्रामः भूत्वा भूत्वा** = हे अर्जुन, वह ही यह प्राणी-समुदाय उत्पन्न हो होकर, **अवशः रात्र्यागमे प्रलीयते** = अवश ( अथवा प्रकृति के वश मे ) रात्रि के प्रवेशकाल मे विलीन होता है, **अहरागमे प्रभवति** = दिन के प्रवेश मे ( पुन ) उत्पन्न होता है। **तु** = परन्तु, **तस्मात् अव्यक्तात् परः अन्यः य. सनातनः अव्यक्त भाव** = उस अव्यक्त से परे अन्य ( सर्वथा विलक्षण ) जो सनातन अव्यक्तभाव ( सत्ता ) है, **स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति** = वह सभी प्राणियो के नष्ट होने पर भी नही नष्ट होता।

**वचनामृत :** ब्रह्मा का जो एक दिन है उसे एक सहस्र चतुर्युगी की अवधिवाला और ब्रह्मा की रात्रि को भी एक सहस्र चतुर्युगी की अवधिवाली, इस प्रकार जाननेवाले जन अहोरात्र को जानते हैं। सम्पूर्ण प्राणी ब्रह्मा के दिन के प्रारम्भ के समय अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेश के समय उस अव्यक्तनामक तत्त्व मे ही विलीन हो जाते हैं। हे अर्जुन, वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न होकर अवश अर्थात् प्रकृति के वश मे होकर रात्रि के प्रवेश-काल मे विलीन होता है तथा दिन के प्रवेश-काल मे पुन उत्पन्न होता है। परन्तु उस अव्यक्त से भी परे अन्य जो सनातन अव्यक्त सत्ता अर्थात् परमात्मा है, वह सब भूतो के नष्ट होने पर भी विनष्ट नही होता।

**सन्दर्भ :** शाश्वत परमात्मा को प्राप्त करना ही जीवन का परम पुरुषार्थ है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को अपने अल्प जीवन और अल्प शक्ति एव सामर्थ्य के

कारण सृष्टि के रहस्य का ज्ञान प्राप्त होना सम्भव नही होता। योगीजन योगबल से प्रकृति के रहस्यो को जानकर तथा उसके प्रभाव से मुक्त होकर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा उसके साथ एकात्मता स्थापित करके कृतार्थ हो जाते हैं। काल की गणना असम्भव है। काल अनन्त है। ब्रह्मा के एक दिन का परिमाण मनुष्यों की एक चतुर्युगी (चार युगो) के तुल्य होता है तथा ब्रह्मा की एक रात्रि भी इतने ही परिमाण की होती है। ब्रह्मा के अहोरात्र (दिन-रात) की अवधि जानने पर काल की अनन्तता का अनुमान हो सकता है।[1] ब्रह्मा परमात्मा की सर्जन-शक्ति का द्योतक देवता है। ब्रह्मा का दिन ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति का काल है तथा रात्रि अनभिव्यक्ति अथवा तिरोधान का।

ब्रह्मा का दिन प्रारम्भ होने पर अव्यक्त से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं तथा ब्रह्मा की रात्रि का प्रारम्भ होने पर समस्त प्राणी पुन अव्यक्त मे ही लीन हो जाते हैं। जो जीवसमुदाय पूर्व कल्प मे होता है, वही ब्रह्मा के दिन मे पुनः-पुन जन्म और मृत्यु को प्राप्त होता रहता है तथा ब्रह्मा की रात्रि के आगमन पर विलीन होता है। ब्रह्मा के सौ वर्ष पूर्ण होने पर यहाँ प्रलय हो जाती है तथा ब्रह्मा का भी अस्तित्व नही रहता। परमेश्वर की हिरण्यगर्भरूप अव्यक्त शक्ति से भी परे

---

१ सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग हैं तथा इन चारो को चतुर्युगी अथवा महायुग अथवा दिव्ययुग भी कहते हैं। ऐसे एक हजार महायुग व्यतीत होने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है तथा इसी अवधि की ब्रह्मा की रात्रि होती है। ब्रह्मा तथा उसके लोक की आयु सौ वर्ष होती है। देवताओ के समय का परिमाण मनुष्यो के समय-परिमाण से तीन सौ साठ गुना माना गया है। मनुष्यो का एक महायुग देवो के १२००० वर्ष का होता है। कलियुग ४,३२,००० वर्ष, द्वापर ८,६४,००० वर्ष (कलियुग का दुगुना), त्रेता १२,९६,००० वर्ष (कलियुग का तिगुना), सत्ययुग १७,२८,००० वर्ष (कलियुग का चौगुना), चारो युगों के ४३,२०,००० वर्ष का एक दिव्ययुग होता है। ऐसे १००० दिव्ययुगो का अर्थात्, ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड) वर्ष का ब्रह्मा का एक दिन होता है तथा इतने परिमाण की ही रात्रि होती है। ८,६४,००,००,००० वर्ष का ब्रह्मा का एक अहोरात्र होता है। ब्रह्मा का एक दिन कल्प या सर्ग तथा रात्रि प्रलय कहलाती है। विष्णुपुराण मे कहा गया है—**चतुर्युगसहस्र तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते**—अर्थात् एक हजार चतुर्युगी ब्रह्मा का एक दिन होता है। ७१ सत्ययुग, ७१ त्रेतायुग, ७१ द्वापर और ७१ कलियुग का एक मन्वन्तर होता है। सहस्र का अर्थ असख्य भी हो सकता है। कथ्य यह है कि ब्रह्मा और उसके लोक की अवधि की भी एक सीमा है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोक की अपेक्षा महर्लोक आदि अधिक उत्तम माने गये हैं। **तपस्विनो दानशीला वीतरागास्तितिक्षवः। त्रैलोक्या उपरिस्थानं लभन्ते शोकवर्जितम्॥** अर्थात् तपस्वी दानशील, वीतराग तितिक्षु मनुष्य तीनो लोको से ऊपर शोकरहित स्थान पाते हैं। कुछ विद्वानो ने श्लोक १८ मे 'अव्यक्त' का अर्थ प्रकृति किया है, क्योकि प्रकृति को प्राय 'अव्यक्त' कहते हैं। प्रकृति परमेश्वर की ही शक्ति है, जिसे वेदान्त मे माया कहा गया है। शङ्कराचार्य कहते हैं—**अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः अव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्ति यस्या स्वरूपप्रतिबोधरहिता शेरते संसारिणो जीवा** अर्थात् यह प्रकृति अविद्यात्मिका तथा बीजभूता शक्ति है, जिसे 'अव्यक्त' भी कहते हैं और यह परमेश्वर के आश्रय मे रहती है, स्वतन्त्र नही है। माया ही अज्ञान-निद्रा है, जिसमें ससारी जीव अपना स्वरूप न जानकर सोते रहते हैं। अनेक विद्वानो ने यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ परमेश्वर का सर्जक रूप हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्मा अथवा ब्रह्मा की शयनावस्था किया है। श्लोक १८ में कहे हुए अव्यक्त (हिरण्यगर्भ अथवा सूक्ष्म प्रकृति) से भी परे परमात्मा है, जिसे परम अव्यक्त (श्लोक २०) कहा गया है।

तथा श्रेष्ठ चिरन्तन, नित्य, परम अव्यक्त अर्थात् परम ब्रह्म परमात्मा की सत्ता है, जो सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश होते रहने पर भी अविनश्वर ( अक्षर ), अविकारी और शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। परमात्मा ही उपाधिसहित होकर हिरण्यगर्भ अथवा विराट् इत्यादि भी कहलाता है तथा अपनी शुद्ध चैतन्यसत्ता मे स्थित परम पुरुष परमात्मा को परम ब्रह्म कहते है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

**शब्दार्थ :** अव्यक्त अक्षरः इति उक्तः तं परमां गतिं आहु =( जिसे ) अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा गया है उसे परम गति कहा जाता है, **यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् मम परमं धाम**=जिसे प्राप्त करके नही लौटते हैं वह मेरा परमधाम ( है )। **पार्थ**=हे अर्जुन, **यस्य अन्तःस्थानि भूतानि**=जिस परमात्मा के अन्तर्गत सब प्राणी हैं, **येन इदं सर्वं ततं**=जिस परमात्मा से यह सब जगत् व्याप्त है, **स परः पुरुषः अनन्यया भक्त्या तु लभ्यः** =वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो जाता है।

**वचनामृत** जो अव्यक्त 'अक्षर' नाम से कहा गया है उसे परम गति कहा जाता है तथा जिसे प्राप्त करके मनुष्य नही लौटते है, वह मेरा परम धाम है। हे पार्थ, जिस परमात्मा के अन्तर्गत सब प्राणी हैं और जिस परमात्मा से यह सब जगत् व्याप्त है, वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त हो सकता है।

**सन्दर्भ :** तेरहवें श्लोक मे अक्षर निर्गुण ब्रह्म की उपासना तथा चौदहवें श्लोक मे सगुण ब्रह्म एव सगुण साकार की उपासना की चर्चा की थी। अब श्रीकृष्ण उन सबकी एकता लक्षित करते हैं।

**रसामृत** भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से विभिन्न सिद्धान्तो एव मान्यताओ तथा पारिभाषिक शब्दो की चर्चा करते हैं, किन्तु मतिभ्रम नही होने देते तथा उसे लक्ष्य की स्पष्टता कर देते है। अव्यक्त से परे अर्थात् विलक्षण सनातन अव्यक्त परम ब्रह्म परमात्मा है, जो इस समस्त सृष्टि मे ओतप्रोत है। वह अविनाशी, नित्य, अखण्ड और अद्वय है तथा वही परम दिव्य पुरुष है। ब्रह्म परम है अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म है और श्रेष्ठ है तथा उसे प्राप्त होने पर अन्य कुछ प्राप्त होना शेष नही रहता। निर्गुण निराकार परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है तथा मनुष्य के लिए वही परमगति, परमपद एव परम-धाम है। उत्तम लोको को प्राप्त करने पर भी मनुष्य को पुन जन्म लेना होता है, किन्तु परमात्मा के स्वरूप के साथ ऐक्य होने पर मनुष्य उसीमे लीन हो जाता है, अंश अशी मे मिलकर उसके साथ एक हो जाता है। परमात्मा का स्वरूप ही परमपद अथवा परमधाम है। वही पुरुषार्थ की चरम विश्रान्ति अथवा सिद्धता है।[1] वही विष्णु-पद है।[2]

इस जगत् के समस्त चर और अचर पदार्थ परमात्मा से उत्पन्न होकर परमात्मा के अन्तर्गत होते हैं तथा परमात्मा से परिपूर्ण एव व्याप्त होते हैं। परमात्मा ही स्वप्रकाश, सर्वाधार, सर्वान्त-र्यामी, सर्वसमर्थ तथा सनातन सत्ता है। नित्य, शुद्ध बुद्ध, मुक्त, सत्य एव परमानन्दस्वरूप परम ब्रह्म को प्राप्त होने से ही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को पृथा-पुत्र कहकर स्मरण दिलाते है कि उसकी माता ने ऐकान्तिकी अथवा अनन्य भक्ति की तथा वह भी अनन्य भक्ति से परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

---

१ **पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः** —कठ उप०, १ ३ ११। अर्थात् दिव्य पुरुष परमात्मा से परे ( श्रेष्ठ ) कुछ अन्य नही है तथा वह अन्तिम सीमा है।

२ श्रुति मे परमपद को विष्णुपद कहा गया है। **तद् विष्णोः परमं पदम्**। —कठ उप०, १ ३.९। —वह निरतिशय है अर्थात् उससे बढ़कर अन्य कुछ नहीं है।

परमब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति ज्ञानलक्षणा अथवा प्रेमलक्षणा भक्ति से सुलभ हो जाती है। ज्ञानलक्षणा भक्ति ज्ञानपरक तथा प्रेमलक्षणा भक्ति भावपरक होती है। परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ अथवा तात्त्विक ज्ञान उपलब्ध होने पर परमपुरुष परमात्मा को अपना सर्वस्व मानना तथा स्वरूप-ज्ञान के साथ ही प्रेम को प्रवाहित रखना ज्ञानरूपा भक्ति अथवा परमात्मविषया भक्ति है। मैं तथा यह सब कुछ परमात्मा ही है,—यह प्रकाशमय भाव ही ज्ञानमयी भक्ति है।[1] श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन (अर्थात् परमार्थ-तत्त्व मे चित्त को समाहित रखना) इस ज्ञानरूपा भक्ति के अग हैं। परमात्मा के स्वरूप का सप्रेम ज्ञानमय अनन्य चिन्तन करना ज्ञानी की ज्ञानलक्षणा भक्ति है। अपनी रुचि के अनुसार परमेश्वर के किसी सगुण साकार रूप को अपना सर्वस्व मानकर प्रेम करना प्रेमलक्षणा भक्ति है।[2] प्रेमरूपा भक्ति कर्मयोग के अन्तर्गत होती है। कर्मयोगी भीषण परिस्थिति मे भी केवल भगवान् की शरण ग्रहण करता है तथा भगवान् के सहारे सदैव सम और शान्त रहता है। भक्त के लिए भगवान् से बढकर अन्य कुछ नही है। भक्त के लिए भक्ति प्रेमरूपा ही होती है।

**यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिन ।**
**प्रयाता यान्ति त कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥**
**अग्निर्ज्योतिरह शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम्।**
**तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ॥२४॥**
**धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायनम्।**
**तत्र चान्द्रमस ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥**
**शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगत शाश्वते मते।**
**एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुन ॥२६॥**

**शब्दार्थ : तु भरतर्षभ यत्र काले प्रयाता योगिनः**=किन्तु हे भरतकुलशिरोमणि अर्जुन, जिस काल मे प्राण त्यागकर गये हुए योगीजन, **अनावृत्तिं च आवृत्तिं एव यान्ति**=अपुनर्जन्म और पुनर्जन्म को ही प्राप्त होते हैं, **त कालं वक्ष्यामि**=उस काल अर्थात् मार्ग को कहूँगा। (कुछ विद्वान् काल का अर्थ मनोदशा भी करते हैं।) **ज्योति· अग्नि अह शुक्लः षण्मासाः उत्तरायण**=अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, छह मास का उत्तरायण, **तत्र प्रयाता ब्रह्मविद. जना**=उस मार्ग में मृत्यु के उपरान्त गये हुए ब्रह्मविद् जन, **ब्रह्म गच्छन्ति**=ब्रह्म को प्राप्त होते है। **धूम रात्रि. तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायन**=धूम, रात्रि तथा कृष्णपक्ष (और) छह मास का दक्षिणायन, **तत्र योगी चान्द्रमस ज्योति· प्राप्य निवर्तते**=उस मार्ग में (मृत्यु के उपरान्त गया हुआ) योगी (सकाम कर्मयोगी) चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त करके लौट आता है। **हि**=क्योंकि, **जगत एते शुक्लकृष्णे गती शाश्वते मते**=जगत् के ये शुक्ल और कृष्णपक्ष (देवयान और पितृयान) मार्ग नित्य माने गये हैं, **एकया अनावृत्तिं याति**=एक से अनावृत्ति को प्राप्त होता है, **अन्यया पुन आवर्तते**=दूसरे से पुन लौट आता है।

**वचनामृत** हे भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन, जिस काल (अर्थात् मार्ग) मे प्राण त्यागकर गये हुए योगीजन अनावृत्ति और आवृत्ति (अपुनर्जन्म और पुनर्जन्म) को ही प्राप्त होते हैं, उस काल (अर्थात् मार्ग) को मैं कहूँगा। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, छह मास का उत्तरायण—इनके अभिमानी देवता जहाँ है, उस मार्ग मे (मृत्यु के उपरान्त) गये हुए ब्रह्मविद् जन (इनके द्वारा) ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। धूम, रात्रि और कृष्णपक्ष तथा छह मास का दक्षिणायन—इनके अभिमानी देवता जहाँ हैं, उस मार्ग मे (मृत्यु के उपरान्त गया हुआ) योगी (इनके द्वारा) चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त करके (स्वर्ग मे सुखभोग करके) लौट आता है, क्योंकि जगत् के ये दो प्रकार के शुक्ल और कृष्णपक्ष (देवयान और पितृयान) मार्ग सनातन माने गये है, एक से मनुष्य अनावृत्ति (अपुनर्जन्म) को प्राप्त

---

१ स्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते। अर्थात् अपने आत्मस्वरूप का अनुसन्धान करना ही ज्ञानी की भक्ति है। आत्मा का चिन्तन ही भक्ति है।

२ अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता—अन्य आश्रयों का त्याग अनन्यता है। अस विचारि जे मुनि विज्ञानी, जानहिं भगति सकल सुख खानी।

होता है तथा[३] दूसरे से आवृत्ति ( पुनर्जन्म ) होती है ।

**सन्दर्भ :** अपुनर्जन्म और पुनर्जन्म का वर्णन किया गया है। यहाँ आलकारिक भाषा एव प्र ीकात्मक शैली का प्रयोग किया गया है तथा शब्दार्थ अथवा वाच्यार्थ करना उचित नही है और तात्पर्य समझने का ही प्रयत्न करना उचित है ।

**रसामृत :** मनुष्य मृत्यु के उपरान्त जिस मार्ग का अधिकारी होता है, उसीको प्राप्त कर लेता है। साधारणत मनुष्य मृत्यु के उपरान्त इसी लोक मे एक देह त्यागकर अन्य देह प्राप्त कर लेते है। श्रीकृष्ण यहाँ उन लोगो का वर्णन करते हैं, जो ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते है तथा उनके कृष्ण और शुक्ल दो मार्गों का वर्णन भी करते है। जो पूर्ण ब्रह्मज्ञानी जीवनकाल मे ब्रह्म को प्राप्त हो जाते है, वे जीवन्मुक्त महात्मा देह-त्याग करने पर तत्काल ब्रह्मलीन हो जाते है तथा उनका कही गमन नही होता।[१] किन्तु जिन ज्ञानीजन को ब्रह्मसाक्षात्कार अथवा आत्मसाक्षात्कार नही हुआ है वे कुछ अवधि के लिए ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त वे पुण्यात्मा पुरुष भी जो सकाम होकर उत्तम कर्म करते है, ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं। दोनो के मार्ग पृथक्-पृथक् होते हैं।

एक मार्ग मे अग्नि, ज्योति,[२] दिन, शुक्लपक्ष तथा छह मास की अवधिवाला उत्तरायण ( जब सूर्य उत्तर की ओर चलता है ) होते हैं। यह एक प्रतीकात्मक कल्पना की गयी है कि इनके पृथक्-पृथक् अभिमानी देवता इस अर्चि-मार्ग मे ज्ञान-योगियो का मार्गदर्शन करते है। इस मार्ग से जानेवाले ज्ञानयोगी उत्तम लोको को प्राप्त करके अर्थात् कुछ अवधि तक एक रहस्यमयी[१] दिव्यावस्था को प्राप्त करने पर मुक्त हो जाते है तथा पुन जन्म नही लेते। दूसरे मार्ग मे धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा छह मासवाला दक्षिणायन ( जब सूर्य दक्षिण की ओर चलता है ) होते है। यह प्रतीकात्मक कल्पना की गयी है कि इनके भी अभिमानी देवता इस मार्ग मे अवस्थित होकर मार्गदर्शन करते है। इस मार्ग मे जानेवाले मनुष्य चन्द्रमा का शीतल प्रकाश प्राप्त करते है अर्थात् अपने शुभ कर्मों के फलस्वरूप किसी अल्प आनन्दावस्था को प्राप्त करते है तथा पुन जन्म लेते है।

शुक्ल तथा कृष्णमार्ग अथवा अर्चिरादि तथा धूममार्ग अथवा देवयान तथा पितृयान—ये दो मार्ग अत्यन्त पुरातन माने गये हैं। मृत्यु के उपरान्त ज्ञानयोगी शुक्लमार्ग से जाता है अर्थात् वह कुछ अवधि तक सूक्ष्म एव रहस्यमय स्तर पर रहकर पूर्णत्व प्राप्त कर लेता है तथा पुन जन्म-धारण नही करता। कृष्णमार्ग से जानेवाला पुण्यात्मा पुरुष कुछ अवधि तक सूक्ष्म एव रहस्यमय प्रकार

---

१ **न तस्य प्राणा हि उत्क्रामन्ति।** —बृहदारण्यक उप०, ४ ४ ६। अर्थात् उसके प्राणो का उत्क्रमण नही होता। **अत्रैव समवलीयन्ते**—बृहदारण्यक उप०, ३ २ ११। अर्थात् यही लीन हो जाते हैं। **ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**—बृहदारण्यक उप०, ४ ४ ६। अर्थात् वह ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। यह सद्य.मुक्ति है।

२ कुछ विद्वान् अग्नि और ज्योति को पृथक् नही मानते तथा एक ही ज्योतिर्मय अग्नि मानते हैं।

१ सन्त विनोबाजी अग्नि को वैराग्य का, सूर्य-ज्योति को विवेक का, दिन को यज्ञ-कर्म का, शुक्लपक्ष को विशुद्धता एव भक्ति का तथा उत्तरायण को वासना-मुक्ति का प्रतीक मानते हैं तथा इसी प्रकार धूम को वैराग्य के अभाव का, रात्रि को देह-बुद्धि का, कृष्णपक्ष को भक्ति के अभाव का, दक्षिणायन को आसक्ति का प्रतीक मानते हैं। हम 'अग्नि' का अर्थ आन्तरिक चेतना, 'ज्योति' का अर्थ ब्रह्म-ज्योति, 'दिन' का अर्थ जागरण, 'शुक्ल' का अर्थ उन्नति अथवा प्रगति तथा 'उत्तरायण' का अर्थ निरन्तर विकास कर सकते हैं तथा धूम का अर्थ वासना, रात्रि का अर्थ घोर अज्ञान, कृष्णपक्ष का अर्थ अवनति, दक्षिणायन का अर्थ प्रमाद एव शिथिलता कर सकते है।

से भोगतृप्त होकर विकास-क्रम मे आगे बढने के लिए पुन जन्म-धारण करता है। भगवान् श्रीकृष्ण रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक तथ्यो का निरूपण वेद-शास्त्रो मे प्रयुक्त प्रतीकात्मक भाषा एव अलकार-युक्त पारिभाषिक शब्दो मे ही करते हैं।

जीवनकाल मे ही ब्रह्म को प्राप्त होनेवाले निराकार निर्गुण ब्रह्म के उपासक सिद्ध ज्ञानयोगी देहत्याग होने पर तत्काल ब्रह्मलीन हो जाते हैं, किन्तु सगुणब्रह्मोपासक ज्ञानयोगी तथा निष्काम कर्मयोगी मरणोपरान्त अर्चिमार्ग द्वारा ऊर्ध्वगति पाते हैं तथा कुछ अवधि तक अनिर्वचनीय सूक्ष्म अवस्था मे रहकर कालान्तर मे ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त अर्थात् मुक्त हो जाते हैं। सकाम होकर यज्ञ, दान, पुण्य आदि उत्तम कर्म करनेवाले मनुष्य कृष्णमार्ग द्वारा ऊर्ध्वगति प्राप्त करते हैं तथा कुछ अवधि तक किसी सूक्ष्म अवस्था मे रहते हुए भोग-तृप्त होकर विकास क्रम के अन्तर्गत पृथ्वी पर पुन जन्म-धारण करते हैं। अतृप्त वासनावाले योग-भ्रष्ट भी इसी प्रकार स्वर्गादि मे रहकर अर्थात् किसी सूक्ष्म स्तर पर भोगतृप्त होकर पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को भौति-कता के अँधियारे मार्ग को छोडकर प्रकाशमय दिव्यपथ पर चलने का उपदेश करते हैं। वास्तव मे ज्ञान ही प्राप्तव्य ज्योतिर्मय अग्नि है तथा अज्ञान अथवा सकामता ही त्याज्य अन्धकारमय धूम है।

**नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।**
**तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥**

**शब्दार्थ : पार्थ**=हे पृथा-पुत्र अर्जुन, **एते सृती जानन् कश्चन योगी न मुह्यति**=इन दोनो मार्गों को जानते हुए कोई भी योगी मोहग्रस्त नहीं होता, **तस्मात्**=इस कारण, **अर्जुन**=हे अर्जुन, **सर्वेषु कालेषु योगयुक्त भव**=सब काल मे योगयुक्त हो।

**वचनामृत :** हे पार्थ, इन दोनो मार्गों को जाननेवाला कोई भी योगी मोहग्रस्त नही होता। अतएव, हे अर्जुन, तू भी सब काल मे योग से युक्त हो।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अर्जुन को योगयुक्त होने का आदेश देते हैं।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह स्पष्टत समझा दिया कि सकाम भाव से उत्तम कर्म तथा देवपूजन करनेवाला मनुष्य मृत्यु के उपरान्त कृष्णमार्ग से ऊर्ध्वगमन करता है और चन्द्रलोक मे अर्थात् एक विशेष सूक्ष्म अवस्था मे अवस्थित होकर सुखभोग करने के पश्चात् पुन जन्म-धारण करता है, किन्तु ईश्वरार्पण-बुद्धि से निष्काम कर्म करनेवाला कामनामुक्त कर्मयोगी तथा सगुण ब्रह्म का उपासक ज्ञानयोगी दोनो शुक्लमार्ग से ऊर्ध्व-गमन करते है तथा ब्रह्मलोक मे अर्थात् एक अनि-र्वचनीय दिव्य सूक्ष्म अवस्था मे अवस्थित होकर कालान्तर मे मुक्ति प्राप्त कर लेते है और पृथ्वी पर पुन जन्म-धारण नही करते। कामना एव अज्ञान ही पुनर्जन्म का मूल कारण होते हैं। इस तथ्य को जानने पर मनुष्य मोह-भ्रम से ग्रस्त नही होता तथा भोगासक्ति के कुचक्र मे भी नही फँसता। उत्तम ज्ञानी मोक्ष-फल की आसक्ति भी छोडकर ज्ञान-साधना करता है।[1] भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से मोहमुक्त एव आसक्तिमुक्त होकर योग-युक्त होने का उपदेश करते है। निष्काम कर्म, भक्ति तथा ज्ञान परमात्मा को प्राप्त करानेवाले योग हैं तथा इनमे से किसी एक का अवलम्बन करनेवाला मनुष्य योगी कहलाता है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को योग का अर्थात् भगवान् मे निरन्तर चित्त समाहित करने का उपदेश करते हैं तथा उसे कर्मयोग का अधिकारी मानते हैं।

---

१ मोक्षेऽपि फले सङ्गं त्यक्त्वा—शङ्कराचार्य—मोक्ष में भी फल में आसक्ति छोडकर।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

**शब्दार्थ :** योगी इद विदित्वा वेदेषु च यज्ञेषु तपःसु दानेषु=योगी पुरुष इसे जानकर वेदाध्ययन मे तथा यज्ञो मे, तपो मे, दानो मे, यत् पुण्यफलं प्रदिष्ट तत् सर्व एव अत्येति=जो पुण्यफल कहा है उस सबको ही उल्लघन कर देता है, च आद्य परं स्थानं उपैति=और सनातन परम पद को प्राप्त हो जाता है।

**वचनामृत** योगी पुरुष इसे जानकर वेदो के पढने मे और यज्ञ, तप, दान आदि करने मे जो पुण्यफल कहा गया है उस सबको निस्सन्देह पार कर लेता है और सनातन परम पद को प्राप्त कर लेता है।

**सन्दर्भ :** सनातन परम पद को प्राप्त करना ही परम गन्तव्य है।

**रसामृत :** गीता के आठवे अध्याय का अपना एक विशेष महत्त्व है। प्रथम दो श्लोको मे अर्जुन ने आठ प्रश्न किये। श्रीकृष्ण ने इन आठ प्रश्नो के आठ उत्तरो के अन्तर्गत समस्त ज्ञान का सार प्रस्तुत कर दिया है। कर्म, भक्ति अथवा ज्ञान का आश्रय लेकर भगवान् के साथ एकरूपता प्राप्त कर लेनेवाला पुरुष योगी होता है। भक्तियोग स्वतन्त्र होकर भी कर्मयोग के अन्तर्गत है तथा ध्यान-प्रक्रिया को कर्म, भक्ति और ज्ञान की पूर्णता की प्राप्ति मे विशेष उपयोगी होने के कारण एक योग के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म करनेवाला योगी तथा सगुण ब्रह्म का उपासक योगी दोनो मृत्यु के उपरान्त कुछ अवधि तक ब्रह्मलोक मे रहकर[1] अर्थात् किसी अनिर्वचनीय सूक्ष्म अवस्था मे रहकर परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं और पुनर्जन्म के लिए पृथ्वी पर नही लौटते, किन्तु सकाम होकर वेदपाठ, यज्ञ, तप और दान[1] आदि शुभ कर्म करनेवाला मनुष्य मृत्यु के उपरान्त कुछ अवधि तक चन्द्रलोक आदि मे सुखभोग करके अर्थात् किसी अनिर्वचनीय सूक्ष्म अवस्था मे भौतिक सुखभोग से अन्तस्तृप्त होकर, विकासक्रम मे अग्रसर होने के लिए पृथ्वी पर लौटकर पुन जन्म-ग्रहण करता है। श्रीकृष्ण पुन पुन यह स्पष्ट कर देते है कि कामना ही बन्धन है तथा यह जीवन-काल मे क्लेश का कारण और मृत्यु होने पर पुनर्जन्म का कारण है। उत्तम पुरुष मोक्ष के लिए साधना करता है, किन्तु उसके फल की भी कामना नही करता। यथार्थज्ञान द्वारा परम ब्रह्म के साथ एकरूपता प्राप्त होने पर अथवा भक्ति द्वारा भगवान् के साथ एकात्मता होने पर मनुष्य के लिए वेदाध्ययन, यज्ञ, तप और दान का महत्त्व नही रहता। साध्य की सिद्धता होने पर साधन का महत्त्व नही रहता। वेदाध्ययन आदि भगवत्प्राप्ति के मात्र साधन है। वेदादि सद्ग्रन्थो का अध्ययन, यज्ञानुष्ठान, चान्द्रायण आदि व्रत और तप तथा देश-काल और पात्र के अनुसार धन आदि के दान से आत्मशुद्धि होती है तथा इन सबका आध्यात्मिक उन्नति मे विशेष महत्त्व होता है, किन्तु तत्त्वबोध होने पर योगी इनका अतिक्रमण कर देता है तथा उसके लिए ये सब अनावश्यक हो जाते हैं।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्याय.।

अर्थात् अक्षरब्रह्मयोगनामक आठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

---

[1] ब्रह्मरन्ध्र को भी ब्रह्मलोक कहा गया है।

[1] गीता के १७ वें अध्याय मे स्वाध्याय, यज्ञ, तप, दान का विस्तृत वर्णन किया गया है।

# सार-संचय

## अष्टम अध्याय अक्षरब्रह्मयोग

जीवन एक अटपटी पहेली है तथा इसके अगणित आयाम हैं। जीवन क्या है ? जीवन का स्रोत क्या है ? हम क्या है ? जीवन का उद्देश्य क्या है ? जीवन के अन्त मे मृत्यु क्या है ? मृत्यु के उपरान्त क्या होता है ? हमे अन्तकाल के लिए क्या तैयारी करनी चाहिए ? ऐसे अनेक प्रश्न प्रत्येक विचारशील मनुष्य के मन मे कौंधते है। अनेक मनुष्य इनका उत्तर जानने के लिए ग्रन्थो का अध्ययन करते हैं, विद्वज्जन के पास जाकर विचार-श्रवण करते हैं, मनन करते है, निदिध्यासन ( परमार्थ-तत्त्व मे चित्त को समाहित रखना ) करते है तथा स्वय अनुभव और अनुभूति करते हैं। अर्जुन एक सच्चा जिज्ञासु है। वह इसी प्रकार के प्रश्न श्रीकृष्ण से करता है तथा श्रीकृष्ण उसके सभी प्रश्नो का मधुरता से उत्तर देते है। जीवन चैतन्य आत्मा का लक्षण है, जो एक दिव्य ज्योति के सदृश है तथा आत्मा परमब्रह्म परमात्मारूप परम ज्योति का अश है। परमात्मा की चैतन्यरूपा परा प्रकृति चेतन जीवात्माओ का तथा जडरूपा अपरा प्रकृति अचेतन पदार्थों का मूल कारण है। इस प्रकार सारे विश्व मे एक परम ब्रह्म ही परमार्थ या वास्तविक तत्त्व है, जो अक्षर अर्थात् अविनाशी और नित्य है। वह एक स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप निरुपाधिक ( उपाधिरहित ), निर्विकार ( विकार अथवा परिवर्तनरहित ) सत्ता है, जो माया के कारण सगुण भी है। परमात्मा की दो शक्तियाँ हैं—चैतन्य शक्ति, जो निष्क्रिय है तथा क्रिया-शक्ति अथवा प्रकृतिरूप माया[1] चैतन्य तत्त्व अकर्ता है। ब्रह्माण्ड मे स्थित जो परमात्मा है, वही देहपिण्ड मे आत्मा है, जो माया से आवृत होकर जीव अथवा जीवात्मा कहलाता है। यह जीवात्मा कर्मानुसार अनेक जन्मो मे अनेक देह धारण करता है, जैसे एक अभिनेता विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न अभिनय करता है। वास्तव मे एक परमात्म तत्त्व ही अध्यात्म, विसर्गरूप कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ आदि विभिन्न रूपो मे सर्वत्र व्याप्त है। परमात्मा से परे कुछ भी नही है। जो मनुष्य ऐसा समझकर परमात्मा का स्मरण करते हुए मृत्यु का वरण करते है उन्हे सद्गति प्राप्त होती है।

मृत्यु एक ओर रहस्यमय चुनौती है तथा दूसरी ओर एक चेतावनी भी है। न जाने कब और कहाँ, कौनसा श्वास अन्तिम हो जाय ? मृत्यु क्या है ? मृत्यु के उपरान्त क्या होता है ? श्रीकृष्ण कहते है कि मृत्युमात्र देहान्तर-प्राप्ति होती है। मनुष्य मृत्यु के समय जैसा भी भाव करता है, वैसी ही गति प्राप्त करता है। भगवान् का स्मरण करनेवाले मनुष्य भगवान् को प्राप्त होते हैं तथा ससार के भौतिक पदार्थों का स्मरण करनेवाले मनुष्य पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं। मनुष्य समस्त जीवन जैसा विचार और व्यवहार करता है, वैसे ही सस्कार उसके मन मे सचित होते रहते हैं तथा अन्त समय मे मन पर उनका ही प्रभाव प्रकट होता है। अतएव विवेकशील मनुष्य जीवनकाल मे मृत्यु से भेट के लिए तैयारी करता रहता है तथा ज्ञान, ध्यान अथवा भक्ति के द्वारा परमात्मा के साथ एक नाता स्थापित कर लेता है। योगीजन योगवल से प्राणो का त्याग ब्रह्मरन्ध्र द्वारा करते है और परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु अनन्यभक्ति करनेवाले उपासक भी अन्तकाल मे परमेश्वर का स्मरण करते हुए प्राणोत्सर्ग करने पर परमेश्वर को प्राप्त हो जाते हैं। काल की गणना करना कठिन है। असख्य जीवात्मा सृष्टि से प्रलय

1 **माया तु प्रकृतिं विद्यात्**—माया को ही प्रकृति जानना चाहिए।—शङ्कराचार्य

सीमित चेतना से ऊपर उठकर विश्व-चेतना मे स्थिर हो जाता है। वह परम शान्त, सशक्त एव स्थिर हो जाता है। ऐसा मनुष्य धन्य होता है।

गृहस्थ एक आश्रम होता है अर्थात् वह सयम, साधना और अभ्यास करने का पवित्र स्थल होता है। भौतिक स्तर पर जीनेवाला गृहस्थाश्रम अपार धन, सत्ता और सम्मान होने पर भी सकटाश्रम अथवा क्लेशधाम होता है, किन्तु सात्त्विक एव आध्यात्मिक स्तर पर वह आनन्द-आश्रम हो जाता है। वास्तविक साधना तो प्रलोभनो और सकटो के मध्य मे रहकर ही होनी है। वास्तविक एकान्त मनुष्य के भीतर होता है तथा निर्जन वन मे नही होता। गृहस्थ मनुष्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त योग कर्मयोग ही है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को ज्ञान को अप्रतिम कहकर भी कर्मयोग के पालन का ही उपदेश देते हैं। पूर्णता की यात्रा स्थूल कर्म से प्रारम्भ होकर किसी सूक्ष्म स्तर पर समाप्त होती है। कर्मयोगी अपने भीतर भक्त होता है तथा वाहर कर्म मे रत रहता है। वास्तव मे, भक्तियोग ही नही, वल्कि ध्यानयोग और ज्ञानयोग भी कर्म के अन्तर्गत होते हैं। मनुष्य निष्काम कर्म द्वारा निर्मल होकर ज्ञानी हो जाता है तथा ध्यानयोगियो का दुरूह ध्यानयोग उसे सहज सुलभ हो जाता है और उसके लिए ज्ञान तथा भक्ति मे कोई भेद नही रहता।

गृहस्थ जन के लिए कर्म की कुशलता अर्थात् ईश्वरार्पण-बुद्धि से निष्काम कर्म करना अथवा अनासक्त होकर कर्म करना मृत्यु से अमृतत्व की ओर तथा अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जानेवाला श्रेष्ठ योग है। ●

# अथ नवमोऽध्यायः

## राजविद्याराजगुह्ययोग

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

शब्दार्थ : श्रीभगवानुवाच — भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, अनसूयवे ते इदं गुह्यतमं ज्ञानं विज्ञानसहितं प्रवक्ष्यामि — दोष-दृष्टिरहित तेरे लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को विज्ञानसहित कहूँगा, यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे — कि जिसे जानकर (तू) अशुभ से मुक्त हो जायगा। इदं राजविद्या राजगुह्यं पवित्रं उत्तम = यह (ज्ञान) सब विद्याओं का राजा (श्रेष्ठ) सब गुह्य तत्त्वों का राजा (श्रेष्ठ), पवित्र, उत्तम, अवगम-प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण, प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं — प्रत्यक्ष फलदाता धर्मयुक्त (है), कर्तुं सुसुखं अव्ययं — करने (साधना करने) के लिए बड़ा सुगम (और) अविनाशी (है)।

वचनामृत : भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा — तुझ दोष-रहित के लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को विज्ञानसहित कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ (दुःखरूप संसार) से मुक्त हो जायगा। यह ज्ञान सब विद्याओं में श्रेष्ठ, सब गुह्य विषयों में श्रेष्ठ, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्षफलप्रद, धर्मयुक्त, सुगम तथा अविनाशी है।

सन्दर्भ : भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को ज्ञान का स्वरूप बताना चाहते हैं।

रसामृत : श्रीकृष्ण कुशल शिक्षक की भाँति महत्त्वपूर्ण ज्ञान-चर्चा से पूर्व उसकी महत्ता पर बल दे रहे हैं, जिससे वह उसे सावधान एवं दत्तचित्त होकर सुने। इसके अतिरिक्त, श्रीकृष्ण अर्जुन को यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि वह उसे यह महत्त्वपूर्ण ज्ञान का उपदेश इस कारण दे रहे हैं कि वह असूयारहित अर्थात् दोषदृष्टिरहित है। श्रीकृष्ण ने अपने संवाद में अर्जुन को विभिन्न स्थलों पर अनेक सम्मानसूचक उपाधियों से समलंकृत किया है, किन्तु 'अनसूयु' कहकर उसे ज्ञान-प्राप्ति का उत्तम अधिकारी घोषित कर दिया। जो मनुष्य गुणों और गुणीजन में दोष देखने तथा उनकी निन्दा करने का प्रयत्न करता है, वह अधम होता है। असूया अर्थात् दोष-दर्शन एवं दोषारोपण की वृत्ति मनुष्य को सदुपदेश के प्रति ग्रहणशील नहीं होने देती। कुछ मनुष्य अहंकार एवं मिथ्याभिमान के कारण अपनी अपेक्षा किसीको भी अधिक गुणी और योग्य नहीं समझते तथा दूसरों को मूर्ख सिद्ध करने तथा दूसरों पर शासन करने का प्रयत्न करते रहते हैं। मनुष्य का मिथ्याभिमान बुद्धि के द्वार बन्द कर देता है तथा पतन का कारण होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में अनेक स्थलों पर कहा है कि वे अर्जुन को सुपात्र मानकर ही सदुपदेश दे रहे हैं तथा कुपात्र एवं अनधिकारी को उपदेश देना ज्ञान का निरादर करना है।[1] श्रद्धा तथा विनय से सम्पन्न व्यक्ति उपदेश के प्रति ग्रहणशील होता है। श्रद्धावान् ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उत्तम पुरुष मन्द गुणवाले मनुष्य के अल्प गुणों की भी प्रशंसा

---

१. न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता ॥
—अत्रिस्मृति, ३४

अर्थात् जो गुणीजन के गुणों का हनन नहीं करता, मन्द गुणों की भी प्रशंसा करता है और दूसरे के दोषों में प्रीति नहीं करता, उसे अनसूया कहते हैं।

करता है तथा किसीके दोषो को देखकर उसमे सुख नही मानता। श्रीकृष्ण अर्जुन को विज्ञान-सहित ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं। शङ्कराचार्य के अनुसार आध्यात्मिक क्षेत्र मे 'विज्ञान' का अर्थ अनुभव होता है।[१] जिस ज्ञान के पृष्ठ मे अनुभव नही होता वह प्रभावी नही होता। अनुभव ही सैद्धान्तिक तथ्यो को पुष्ट करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानोपदेश से पूर्व यह विनिश्चित आश्वासन ( गारण्टी ) दे रहे हैं कि उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञानोपदेश आचरण द्वारा क्रियान्वित होने पर उसे अज्ञान तथा ससार के समस्त क्लेश एव दु ख से मुक्त कर देगा। वास्तव मे भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से यह दृढ आश्वासन सभी मनुष्यो को दिया है। जो भी मनुष्य ससार के समस्त दु ख से मुक्त होना चाहता है उसे श्रीकृष्ण के दिव्य उपदेश को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह ज्ञान परम गुह्य है। असाधारण रत्न गुह्य अर्थात् सावधानतापूर्वक रक्षणीय होते हैं। परमात्मविषयक ज्ञान समस्त विद्याओ मे श्रेष्ठ होता है। यह मनुष्य को आनन्दैकरस मे सस्थित कर देता है। वास्तव में ब्रह्मविद्या अथवा अध्यात्म-विद्या सभी विद्याओ मे राजा अर्थात् श्रेष्ठ है। इसमे परमात्मा की महिमा का तथा उसके निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार स्वरूप का निरूपण है। श्रेष्ठ होने के कारण यह विद्या परम गुह्य अर्थात् परम रक्षणीय है। यत्र, मत्र, तत्र, औषधि, शास्त्रविद्या, रत्नविद्या आदि गुह्य होते हैं तथा अधिकारी पुरुष ही उनके निरूपण का पात्र होता है।[१] इस दिव्य ज्ञान से बढकर पवित्र अन्य कुछ भी नही होता। इसके द्वारा समस्त विकारो एव पापो का क्षय हो जाता है तथा मनुष्य का अन्त करण निर्मल हो जाता है। इसकी अपेक्षा अधिक पावन कुछ अन्य क्या हो सकता है ?[२] ब्रह्मविद्या के ग्रहण एव धारण का तत्काल ही प्रत्यक्ष फल प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मविद्या के प्रभाव एव प्रसाद से मनुष्य को तत्काल परम शान्ति एव परम आनन्द प्राप्त हो जाते हैं।[३]

---

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽनृताय
मा मा ब्रूया वीर्यवती च तथा स्याम ॥

—श्रुति

—विद्या ब्राह्मण के पास गयी और उसने कहा—सुपात्र को मेरा उपदेश देकर गुप्त रखो। दोष-दर्शन करनेवाले मिथ्यावादी से इसे न कहो। तभी मेरा प्रभाव रहेगा। लगभग सभी महापुरुषो ने उत्तम उपदेश के अन्त में ऐसी वर्जना की है, उदाहरणत. बाइबिल मे 'पर्वत-शिखर के उपदेश' के अन्त में।

'यह न कहिय सठहि हठ सोलहि।'

गीता ३ ३१, १८ ७१, श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान।

१ ज्ञान का अर्थ निर्गुण-निराकार परमात्मा का ज्ञान है। सगुण निराकार एव सगुण साकार परमात्मा की लीला आदि के रहस्य को भी विज्ञान कहा जाता है। 'विज्ञान' का एक अन्य अर्थ तर्कपूर्ण विचार भी है, किन्तु वह यहाँ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

---

१ गूढउ तत्य न साधु दुरावहि,
आरत अधिकारी जहँ पावहि।

२ शङ्कराचार्य कहते हैं—इद उत्तमं सर्वेषां पावनानां शुद्धिकारणं इद ब्रह्मज्ञान उत्कृष्टतमम्। अनेकजन्मसहस्र सचितमपि धर्माधर्मादि समूल कर्म क्षणमात्राद् भस्मीकरोति यत., अत तस्य कि पावनत्व वक्तव्यम्।—सब पावन वस्तुओ मे यह ब्रह्मज्ञान उत्कृष्ट शुद्धि का कारण है। अनेक जन्मो मे सचित कर्म और धर्म-अधर्मरूप कर्मों को क्षणभर में नष्ट कर देता है, अत उसकी पावनता का क्या कहना ? श्रीकृष्ण कहते हैं कि न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते —गीता, ४ ३८, 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय' —मुण्डक उप०, ३ १ ३

३ मज्जनफल देखिअ तत्काला,
काक होंहि पिक बकउ मराला।

डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं कि दार्शनिक केवल परमात्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। ब्रह्मविद्या उसका प्रत्यक्ष अनुभव करा देती है।

ब्रह्मविद्या धर्ममय होती है। परमात्मा की प्राप्ति का निरूपण करनेवाली विद्या परम धर्ममय है। ब्रह्मविद्या का साधन दुर्गम नही है। यह यज्ञ आदि के समान बहु आयास-साध्य नही है। इसमे एकान्तवास, जप, तप, यज्ञ, उपवास, यम, नियम, आसन, प्राणायाम इत्यादि की आवश्यकता नही है, यद्यपि वे इसमे सहायक हो सकते हैं। ज्ञानयोगी ध्यान को केवल अन्त करण-शुद्धि द्वारा क्रम-मुक्ति का साधन कहते है, किन्तु तत्त्वज्ञान तत्काल मुक्ति ( जीवन्मुक्त अवस्था ) प्रदान कर सकता है। यही तत्त्वज्ञान की विशेषता है। वास्तव मे परमात्मा का ज्ञान हमारे अपने स्वरूप का ज्ञान है। भीतर ब्रह्मज्ञान का उदय होने से सृष्टि की प्रहेलिका सरल हो जाती है तथा जीवन कृतार्थ हो जाता है। परमात्मा का ज्ञान अव्यय है। परमात्मा अव्यय है, उसका ज्ञान भी अव्यय है। ब्रह्मज्ञान का फल कभी क्षीण नही होता। ब्रह्मज्ञान से ही ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति होती है।

**अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।**
**अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥**

**शब्दार्थ : परंतप**=हे शत्रु-तापन वीर अर्जुन, **अस्य धर्मस्य अश्रद्दधाना पुरुषाः**=इस आत्मज्ञानरूप धर्म के श्रद्धा न करनेवाले मनुष्य, **मा अप्राप्य**=मुझे न पाकर, **मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तन्ते**=मृत्युरूप ससार-चक्र मे आवर्तन करते हैं, भ्रमण करते हैं।

**वचनामृत :** ब्रह्मविद्यारूप धर्म मे श्रद्धा न करनेवाले मनुष्य मुझे न प्राप्त होकर मृत्युरूप ससार-चक्र मे भ्रमण करते हैं।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण तत्त्वज्ञान के अनादर का फल कहते हैं।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण अनेक स्थलो पर श्रद्धा के महत्त्व का वर्णन करते हैं।[1] श्रद्धा समस्त ज्ञान का मूलसूत्र है। श्रद्धा होने पर ही दुर्गम ज्ञान सुगम होता है। बिना श्रद्धा ज्ञान निष्प्राण है। श्रद्धाभावरहित होने पर सेवा, त्याग, पुण्य, दान, तीर्थ-सेवन, जप, तप इत्यादि मात्र श्रम होते हैं। श्रद्धा का अर्थ है—भगवान् के प्रति श्रद्धा, गुरुजन के प्रति श्रद्धा, सद्ग्रन्थो के प्रति श्रद्धा, उत्तम कर्म के प्रति श्रद्धा। श्रद्धावान् पुरुष स्थिरमति होता है तथा साधन मे दृढ रहता है। श्रद्धावान् की मानसिक शान्ति सुस्थिर रहती है तथा वह लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। श्रद्धा मनुष्य को विनम्र एव ग्रहणशील बना देती है तथा श्रद्धा के सहारे मनुष्य आत्मज्ञान के राजमार्ग पर चलकर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। श्रद्धारहित मनुष्य भ्रम एव सशय से ग्रस्त रहकर भटक जाता है तथा जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नही होता।

**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।**
**मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥**
**न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।**
**भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥**
**यथाकाशस्थितो नित्यं वायु सर्वत्रगो महान्।**
**तथा सर्वाणि भतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥**

**शब्दार्थ : मया अव्यक्तमूर्तिना इदं सर्वं जगत् ततं**=मुझ अव्यक्त मूर्ति सच्चिदानन्दघन परमात्मा से यह सब जगत् परिपूर्ण है। **च**=और, **सर्वभूतानि मत्स्थानि**=सब भूत मेरे भीतर स्थित हैं, **अहं तेषु न अवस्थितः**=मैं उनमें स्थित नही हूँ। **च भूतानि मत्स्थानि न**=और वे सब भूत मुझमे स्थित नही हैं, **मे योगं ऐश्वर पश्य**=मेरे ईश्वरीय योग को देख, **भूतभृत् भूतभावनः च मम आत्मा भूतस्थः न**=भूतो का धारण-पोषण करनेवाला ( और ) भूतो को उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा ( वास्तव मे ) भूतो में स्थित नही है। **यथा सर्वत्रग महान् वायु नित्य आकाशस्थितः**=जिस प्रकार सर्वत्रगामी महान् वायु सदा आकाश मे स्थित है, **तथा सर्वाणि**

१. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान। —गीता, ४ ३९
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
—गीता, ४.४०

जे श्रद्धासबल रहित, नहिं संतन कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ ॥
—मानस

**भूतानि मत्स्थानि इति उपधारय**=उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं ऐसा जान।

**वचनामृत :** मुझ अव्यक्त परमात्मा से यह सब जगत् परिपूर्ण अथवा व्याप्त है और सब भूत मेरे अन्तर्गत स्थित हैं, किन्तु वास्तव मे मैं उनमे स्थित नही हूँ। वे सब भूत मुझमे स्थित नही हैं, किन्तु मेरी ईश्वरीय योग-शक्ति देख कि भूतो का धारण-पोषण करनेवाला और भूतो को उत्पन्न करनेवाला होते हुए भी मेरा आत्मा वास्तव मे भूतो मे स्थित नही है। जैसे (आकाश मे उत्पन्न होकर) सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाश मे ही स्थित है, वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझमे स्थित हैं, ऐसा जान।

**सन्दर्भ :** परमात्मा का वर्णन किया गया है।

**रसामृत :** परमात्मा की मूर्ति व्यक्त नही है अर्थात् उसका स्वरूप प्रकट नही है तथा इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नही होता। परमात्मा स्वयप्रकाश है तथा वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप पारमार्थिक सत्ता है। इस जगत् का समस्त स्थावर-जगमरूप भूतसमूह अर्थात् यह समस्त दृश्यमान जगत् चैतन्य-स्वरूप परमात्मा के द्वारा व्याप्त है तथा उसके प्रकाश से प्रकाशित है। सभी वस्तु परमात्मा से अभिन्न होने के कारण परमात्मा मे स्थित हैं, किन्तु परमात्मा असीम होने के कारण किसी वस्तु अथवा वस्तुओ तक सीमित नही होता, जैसे समुद्र तरग मे व्याप्त तो है, किन्तु समुद्र तरग मे नही रहता। सम्पूर्ण जगत् परमात्मा की सत्ता मे आश्रित है, परमात्मा जगत् के आश्रित नही है। सम्पूर्ण जगत् परमात्मा की सत्ता के आधार पर स्थित है, किन्तु परमात्मा जगत् के आधार पर नही होता।[1] परमात्मा निजाधार है और निजाश्रय है। सब वस्तुओ से सर्वथा अतीत होने के कारण परमात्मा अपने-आपमे ही स्थित है। वह अपनी महिमा मे नित्य स्थित है तथा उसकी सत्ता स्वतत्र है। श्रीकृष्ण परमात्मा की महिमा का अनेक बार वर्णन करते हैं।[1] परमात्मा कैसा विलक्षण है! उसकी महिमा कैसी अद्भुत है! इस दृश्य जगत् का समस्त स्थावर-जगमरूप भूतसमूह परमात्मा मे स्थित होकर भी वास्तव मे परमात्मा मे स्थित नही है, क्योकि जगत् की नित्यसत्ता नही है तथा केवल एक परमात्मा की ही नित्यसत्ता है। यह सत्य है कि यह जगत् परमात्मा मे स्थित है, किन्तु यह भी सत्य है कि जगत् शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा मे स्थित नही है, क्योंकि परमार्थ-दृष्टि से जगत् सत् नही है तथा केवल परमात्मा ही सत् है। जगत् सत्ताहीन होने के कारण परमात्मा के शुद्ध चैतन्य-स्वरूप मे स्थित नही है। परमात्मा सर्वथा निर्लेप है, यद्यपि ऐसी प्रतीति होती है कि समस्त भूतवर्ग उसीमे स्थित है। यह परमात्मा की विचित्र महिमा है।[2]

परमात्मा भूतभावन अर्थात् समस्त भूतो का मूलकारण है तथा भूतभृत् अर्थात् पालनकर्ता और

१ वेदान्ती कहते हैं कि रज्जु का अस्तित्व होने के कारण उसमे सर्प के अस्तित्व की प्रतीति होती है। कल्पित सर्प रज्जु मे अध्यस्त है, किन्तु रज्जु सर्प मे स्थित नही है, क्योंकि उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा की सत्ता होने के कारण उसमे अज्ञान के कारण जगत् की प्रतीति होती है, किन्तु जगत् मे शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा अवस्थित नहीं है। ब्रह्म निष्क्रिय एवं निरवयव है, अत वह प्रवेश-क्रिया द्वारा जगत् में प्रविष्ट नही होता।

१ गीता, ७ १२

२ पूर्व श्लोक ४ मे भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—सब भूत (प्राणी तथा पदार्थ) परमात्मा मे स्थित हैं और श्लोक ५ मे कहते हैं कि सब भूत परमात्मा मे स्थित नही हैं। दोनो बातें परस्पर विरुद्ध होकर भी सत्य हैं, यह परमात्मा की विलक्षण महिमा है। आकाश मे मेघो की भाँति यह जगत् परमात्मा मे स्थित है और नहीं भी है। आकाश मे मेघ उत्पन्न होकर उसीमे विलीन हो जाते हैं। आकाश मेघो का आधार है तथा मेघो की स्वतत्र, नित्य-सत्ता नही है। श्लोक ५ का अन्वय भिन्न प्रकार भी किया गया है, 'मम आत्मा भूतभावन।'

धारणकर्ता है, किन्तु परमात्मा भूतस्थ अर्थात् भूतो मे स्थित नही हैं। यह परमात्मा की अचिन्त्य कुशलता है। पारमार्थिक दृष्टि से परमात्मा नित्यशुद्ध, निर्लेप, अखण्ड, अद्वय, सत् चिद् आनन्द-स्वरूप है तथा किसी वस्तु मे स्थित नही है। परमात्मा का शुद्ध स्वरूप इस जगत् से परे है, अतएव वास्तव मे वह भूतस्थ नही है। परमात्मा के विषय मे परस्परविरुद्ध बातें सत्य है कि समस्त भूत परमात्मा मे स्थित हैं तथा परमात्मा के निर्लेप एव शुद्ध चैतन्यस्वरूप होने के कारण परमात्मा मे स्थित नही हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा की विचित्र महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सर्वत्र गमन करनेवाली महान् वायु सर्वदा आकाश मे रहती है, किन्तु सगरहित (निर्लेप, स्पर्श न होनेवाला) आकाश उससे लिप्त नही होता, उसी प्रकार समस्त भूतवर्ग (प्राणी तथा पदार्थ) निर्लेप परमात्मा मे स्थित है। जिस प्रकार आकाश वायु का आधार होकर भी निरवयव होने के कारण (अपने आधेय वायु से) सश्लिष्ट नही होता, उसी प्रकार परमात्मा जगदाधार होकर भी निराकार एव निरवयव होने के कारण उससे लिप्त नही होता। श्रीकृष्ण आकाश तथा वायु के दृष्टान्त से परमात्मा के सगरहित भाव को स्पष्ट कर रहे है। परमार्थ-दृष्टि से तो जगत् का नित्य अस्तित्व ही नही है तथा वह स्वप्नवत् असत् है। परमात्मा के अलौकिक कर्म और महिमा का वर्णन अल्पबुद्धि मानव नही कर सकता तथा उसकी कृपा से ही उसकी महिमा का आभास होता है।[१]

**सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।**
**कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥**

---

१. असि सब भाँति अलौकिक करनी।
महिमा जासु जाइ नहि बरनी ॥

**प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुन.।**
**भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥**

**शब्दार्थ** · कौन्तेय = हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन, कल्पक्षये सर्वभूतानि मामिकां प्रकृतिं यान्ति = कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृति मे लय होते हैं, कल्पादौ तानि अहं पुन विसृजामि = कल्प के प्रारम्भ मे उन्हें मैं पुन रचता हूँ। स्वां प्रकृतिं अवष्टभ्य = अपनी प्रकृति (त्रिगुणमयी प्रकृति अथवा माया) को वशीभूत करके, प्रकृते वशात् अवश = प्रकृति के वश से विवश होकर, इमं कृत्स्न भूतग्रामं पुनः पुनः विसृजामि = सारे भूतसमुदाय को पुन-पुन रचता हूँ।

**वचनामृत :** हे कुन्तीनन्दन अर्जुन, कल्प के अन्त मे (प्रलय के समय) समस्त भूतसमूह मेरी प्रकृति (त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति) मे विलीन हो जाते हैं तथा कल्प के प्रारम्भ मे (सृष्टि-रचना के समय) मे पुन. उनकी सृष्टि करता हूँ। अपनी प्रकृति को अगीकार करके प्रकृति के कारण विवश (परतत्र) इस समस्त भूतसमूह को पुन-पुन. रचता हूँ।

**सन्दर्भ :** कल्पो के अन्त मे सृष्टि का सहार (विनाश) तथा कल्पो के आदि मे सृष्टि की रचना होती है।

**रसामृत :** काल अनन्त है तथा कालखण्डो द्वारा कालगणना करना सम्भव नही है। सृष्टि की रचना और प्रलय होते रहते हैं। भगवान् प्रत्येक कल्प के आदि मे सृष्टि की रचना और उसके अन्त मे सहार करते हैं। ब्रह्मा का एक दिन कल्प होता है।[१] अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न

---

१ गीता ८ १७ तथा ८ १९। ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष मानी जाती है। चारो युगो के योग का एक दिव्य युग होता है तथा एक हजार दिव्य युगो का ब्रह्मा का एक दिन तथा इतने ही काल की ब्रह्मा की रात्रि होती है। ब्रह्मा के एक दिन को कल्प अथवा सर्ग तथा रात्रि को प्रलय कहते हैं। कल्पो का क्षय ब्रह्मा के सौ वर्ष पूरे होने पर होता है। कल्पक्षय का अर्थ महाप्रलय है। कुछ विद्वानो का मत है कि यहाँ श्लोक ७ मे 'कल्पक्षय' का अर्थ

और अव्यक्त प्रकृति मे ही लीन होनेवाले समस्त प्राणी एक कल्प के अन्त मे अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव अथवा गुण और कर्मों के प्रभाव के अनुसार ही पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं। भगवान् के सन्दर्भ मे प्रकृति उनकी मायानामक शक्ति है[1] तथा मनुष्यो के सन्दर्भ मे प्रकृति उनका स्वभाव अथवा गुण एव कर्मों का प्रभाव होती है। मनुष्य अपनी प्रकृति के (अपने स्वभाव के) वशीभूत होते हैं अर्थात् मनुष्यो की प्रकृति उन्हे विवश अथवा परतन्त्र रखती है। किन्तु भगवान् की प्रकृति भगवान् के नियन्त्रण मे रहती है।

---

कल्पों का क्षय है, किन्तु अन्य विद्वानो के मत में इसका अर्थ केवल एक ही कल्प का क्षय है।

१ इस जगत् की कारणभूता मूल प्रकृति को गीता १४ ३,४ मे महद् ब्रह्म भी कहा गया है। समस्त कल्पो के अन्त मे (ब्रह्मा के सौ वर्ष पूर्ण होने तथा उसकी आयु समाप्त होने पर) समस्त भूत अर्थात् समस्त देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, कारणशरीरसहित तथा समस्त जड भोग-पदार्थसहित पूर्णत लय हो जाते हैं, जिसे महाप्रलय कहते हैं। एक कल्प के अन्त (ब्रह्मा का एक दिन पूर्ण होने पर ब्रह्मा की रात्रि अथवा शयन) मे प्रलय होता है। एक कल्प के अन्त में केवल सूक्ष्म शरीर 'अव्यक्त' रूप प्रकृति मे विलीन होते हैं तथा कल्पो के अन्त मे कारणशरीर भी मूल प्रकृति मे लीन हो जाते हैं। 'अव्यक्त' को सूक्ष्म प्रकृति कहते हैं। भूतो का लय एक कल्प के अन्त मे होता है तथा मूल प्रकृति का अन्त समस्त कल्पों के अन्त में होता है। मूल प्रकृति के आठ भेद नही हुए हैं तथा वह कारण अवस्था मे होती है। कारण अवस्था सूक्ष्म अवस्था से भी परे है। मूल प्रकृति कारण अवस्था से सूक्ष्म अवस्था में परिणत होती है। उसको आठ भेदवाली अपरा प्रकृति वह सकते हैं। कदाचित् गीता में ८ १८,१९ मे केवल प्रलय तथा ९ ७ में महाप्रलय की चर्चा है। प्रत्येक कल्प के अन्त मे भी सृष्टि का प्रारम्भ होता है, किन्तु प्रलय और महाप्रलय मे अन्तर है। महाप्रलय पूण प्रलय होता है।

**न च मा तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।**
**उदासीनवदासीनमसक्त तेषु कर्मसु ॥९॥**

**शब्दार्थ :** धनञ्जय[1] = हे अर्जुन, तेषु कर्मसु असक्त च उदासीनवद् आसीनं मां = उन कर्मों में आसक्तिरहित और उदासीन (तटस्थ) के समान स्थित मुझे, तानि कर्माणि न निबध्नन्ति = ये कर्म नही बाँधते हैं।

**वचनामृत** हे अर्जुन, उन कर्मों मे आसक्ति-रहित और उदासीन के सदृश स्थित मुझे वे कर्म नही बाँधते हैं।

**सन्दर्भ :** जगत् की सृष्टि का कर्म परमात्मा को नही बाँधता।

**रसामृत** . भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अनेक बार आसक्तिरहित होकर कर्म करने का उपदेश देते हैं तथा अब स्वय परमात्मा का ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। परमात्मा जगत् की रचना तथा जगत् का पालन और सहार आदि कर्म करके भी कमबन्धन से मुक्त रहता है। कर्म करते हुए भी निष्काम एव निर्लेप रहना कर्म की कुशलता है। कर्म मे अनासक्त होना उदासीन होना है। अनासक्त व्यक्ति निर्विकार रहता है तथा कभी किसी परिस्थिति मे विचलित नही होता। उसे अपने कर्म का कर्ता होने का अभिमान (कर्तृत्वा-भिमान) भी नही होता तथा वह मात्र द्रष्टा रहता है।

परमात्मा परम विचित्र विश्व-यन्त्र की रचना करता है, उसमे गति उत्पन्न करता है तथा उसमे व्याप्त रहता है, किन्तु उससे परे निष्क्रिय, निर्विकार शुद्ध चैतन्यरूप मे भी रहता है। पर-मात्मा की गति विचित्र है।

**मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्।**
**हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥**
**अवजानन्ति मामूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।**
**परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥**

---

१ अर्जुन ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में राजाओं पर विजय पाकर धन एकत्रित किया था। अतएव उसे धनञ्जय कहा जाता है।

**मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।**
**राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता ॥१२॥**
**महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।**
**भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥**

**शब्दार्थ :** कौन्तेय=हे कुन्तीनन्दन अर्जुन,, **मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सचराचरं सूयते**=मुझ अध्यक्ष द्वारा (प्रेरित) प्रकृति चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् को रचती है, **अनेन हेतुना जगत् विपरिवर्तते**=इस हेतु से जगत् अपने चक्र मे घूमता है। **मम परं भावं अजानन्तः मूढाः**=मेरे परम भाव को न जाननेवाले मूढ़, **मानुषीं तनुं आश्रितं मा भूतमहेश्वरं अवजानन्ति**=मनुष्य का देह धारण करनेवाले मुझे भूतमहेश्वर को तुच्छ समझते हैं। **मोघाशा मोघकर्माणः मोघज्ञानाः विचेतसः**=वृथा आशा, वृथा कर्म, वृथा ज्ञानवाले अज्ञानी जन, **राक्षसीं च आसुरीं मोहिनीं प्रकृतिं एव श्रिताः**=राक्षसी और आसुरी मोह लेनेवाली प्रकृति को ही धारण किये हुए हैं। **तु**=परन्तु, **पार्थ**=हे अर्जुन, **दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः महात्मानः**=दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन, **मा भूतादिं अव्ययं ज्ञात्वा**=मुझे भूतो का आदिकारण और नाशरहित जानकर, **अनन्यमनसः भजन्ति**=अनन्य मन-वाले होकर भजते हैं।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, मुझ अधिष्ठाता से प्रेरित होकर प्रकृति चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् को रचती है और इस हेतु से अर्थात् परमात्मा के मात्र सान्निध्य एव प्रेरणा से यह ससार-चक्र घूम रहा है। परम भाव को न जानने-वाले मूढ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने-वाले मुझ सम्पूर्ण भूतो के महान् ईश्वर को तुच्छ समझते है। वे वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञानवाले विपरीत बुद्धियुक्त मनुष्य राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को ही धारण किये रहते है। परन्तु, हे अर्जुन, दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन मुझे सब भूतो का आदिकारण और नाशरहित जानकर अनन्यमन से भजते हैं।

सन्दर्भ परमात्मा के अलौकिक स्वरूप को जानकर सुधी जन उसे भजते हैं।

**रसामृत :** प्रकृति जड और निर्जीव है तथा चैतन्यस्वरूप परमात्मा की प्रेरणा से गतिशील एव सक्रिय होती है। प्रकृति सत्, रज और तम गुणो से युक्त होने के कारण त्रिगुणात्मिका है। प्रकृति को माया अथवा माया की एक शक्ति भी कहा जाता है। परमात्मा स्वप्रकाश है तथा सारे प्रकाश का प्रकाशक है। चर (जङ्गम, चलने-वाले) तथा अचर (स्थावर, न चलनेवाले, स्थिर) से युक्त इस जगत् का रचयिता, धारक, पोषक और सहारक, अध्यक्ष[1] परमात्मा ही है। परमात्मा की यह महिमा है कि वह जगत् की उत्पत्ति और विनाश का कारण होकर तथा जगत् मे व्याप्त होकर भी जगत् से परे है। सृष्टि-रचनादि का कार्य परमात्मा की मायारूप (अथवा प्रकृतिरूप) शक्ति करती है, जो उसके आश्रित रहती है। परमात्मा सर्वउपाधिशून्य, सर्वसाक्षी-रूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप, अनुभूतिगम्य, किन्तु तर्कातीत सत्ता है तथा वह सृष्टि-रचनादि कार्य का कर्ता होकर भी अकर्ता है। सृष्टि उसके सङ्कल्पमात्र की लीला है। जड पदार्थ मे चैतन्य प्रसुप्त होता है तथा प्राणियो मे प्रकट होता है। सब कुछ चैतन्यमय ही है। जीवात्मा उसी दिव्य सत्ता का अश है, जैसे तरङ्ग बुद्बुद महासागर के अश हैं। परमात्मा की अचिन्त्य माया-शक्ति (प्रकृति) अथवा क्रिया-शक्ति परमात्मा के मात्र सान्निध्य एव सङ्कल्प से सृष्टि की रचनादि करती है तथा जगच्चक्र को चलाती है। केवल परमात्मा ही चेतनसत्ता है, अतएव केवल परम ब्रह्म परमात्मा ही सत् है तथा जगत् असत् अथवा मिथ्या है।[2]

---

१ **यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्।**—तैत्तिरीय ब्राह्मण, २ ८ ९। अर्थात् इस जगत् का अध्यक्ष परम-आकाश (हृदयाकाश) मे स्थित है।

२ **ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।** अर्थात् केवल ब्रह्म सत् है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म ही है, अपर नहीं।

परमात्मा ही अचिन्त्य, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, महान् से भी महान्, अखण्ड, अद्वैत परम सत्ता है तथा सृष्टि मायामय इन्द्रजाल अथवा विलासरूप लीला है। तथापि सृष्टि परमात्मा की सोद्देश्य कृति है तथा यह परमात्मा के अधीन रहकर और विनिश्चित नियमो से बद्ध होकर सक्रिय होनी है। वास्तव मे सृष्टि का रहस्य स्रष्टा को ही ज्ञात है।[1]

अविवेकी जन सृष्टि के अध्यक्षरूप परमात्मा के परमभाव को अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को न जानने के कारण परमात्मा की महिमा को नही समझते तथा परमात्मा की मनुष्य-मूर्ति की अवज्ञा करते हैं।[2] सर्वभूतमहेश्वर परमेश्वर समस्त प्राणिमात्र मे अवस्थित होकर भी मनुष्य देह मे विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है।[3] मनुष्यमात्र मे परमात्मा समान रूप से प्रतिष्ठित है।

जो मनुष्य परमात्मा की महिमा को न जानकर राक्षसी, आसुरी और मोहकारिणी प्रकृति का आश्रय करते हैं उनकी आशाएँ वृथा हैं, उनके कर्म विफल है तथा उनका ज्ञान भी निष्फल ही है। वे मनुष्य, जो भगवान् के विमुख होकर आचरण करते हैं, वे विचार और व्यवहार मे पतित होकर जीवन मे भटक जाते हैं। आध्यात्मिक एव नैतिक मूल्यो को तिरस्कृत करनेवाले मनुष्य मिथ्याचारी, स्वार्थी, दम्भी और मोहान्ध होकर दुःख को ही प्राप्त होते हैं।

किन्तु जो मनुष्य परमात्मा की महिमा को जानकर सात्त्विक एव दैवी वृत्तियो का आश्रय लेते हैं, वे परमात्मा को समस्त भूतसमुदाय का आदिकारण और अविनाशी समझकर केवल परमात्मा का ही आश्रय ग्रहण करते हैं। आन्तरिक प्रकाश ही जीवन को स्वर्णिम सुख दे सकता है तथा इस ससार के भौतिक पदार्थो की आसक्ति मनुष्य को भटकाकर विनष्ट कर देती है। आसुरी वृत्ति को त्यागकर दैवी वृत्ति का समाश्रय लेनेवाले मनुष्य महात्मा होते हैं। मायाग्रस्त मनुष्य आसुरी प्रवृत्ति को तथा महामुक्त पुरुष दैवी प्रवृत्ति को धारण करते है।[1] परमात्मा के साथ ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा एकात्मता स्थापित करनेवाले महात्माजन का जीवन धन्य होता है।

**सतत कीर्तयन्तो मा यतन्तश्च दृढव्रताः।**
**नमस्यन्तश्च मा भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥**

**शब्दार्थ** . दृढव्रता सतत कीर्तयन्त च यतन्त च मा नमस्यन्त =दृढव्रतवाले (दृढनिश्चयी) निरन्तर कीर्तन करते हुए और यत्न करते हुए और मुझे प्रणाम करते हुए, नित्ययुक्ता भक्त्या मां उपासते=सदा ही मेरे साथ युक्त (जुडे हुए) भक्ति से मुझे उपासते हैं (मेरी उपासना करते हैं)।

**वचनामृत** दृढनिश्चयी (भक्त) जन निरन्तर कीर्तन (नाम और गुणो का कीर्तन) करते हुए तथा भगवत्प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए और मुझे नमन करते हुए सदा ही मेरे साथ युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं।

**सन्दर्भ** : श्लोक १३ तथा १४ मे भगवान् की सगुणरूप अनन्य भक्ति की चर्चा है।

---

१ को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्,
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि ।
—तैत्तिरीय ब्राह्मण, २ ८

—कौन प्रत्यक्षरूप से इसे जान सकता है और कौन कह सकता है कि यह चित्र-विचित्र सृष्टि कहाँ से और क्यो उत्पन्न हुई ?

२ न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्—मनुष्य से बढ़कर कुछ नही है।

३ श्रीकृष्ण को भगवान् का अवतार माननेवाले अवतारवादी जन की मान्यता है कि सर्वभूतमहेश्वर परमेश्वर मनुष्य-देह मे अवतरित होते हैं तथा उनका मानुष रूप और लीला दिव्य होते हैं, यद्यपि वे साधारण अथवा लौकिक प्रतीत होते हैं। भगवान् धर्म-सस्थापना के लिए मनुष्यरूप में अवतरित होते हैं। अवतार-पूजा तथा मूर्ति-पूजा ब्रह्मानुभूति मे सहायक है। गीता में श्रीकृष्ण अवताररूप में ही प्रकट होते हैं।

---

१. भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय मे आसुरी तथा दैवी वृत्तियो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

**रसामृत** · निर्गुण निराकार परमात्मा के उपासक ज्ञान द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने का यत्न करते हैं तथा दृढतापूर्वक चिन्तन, मनन, निदिध्यासन, वैराग्य, शम, दम आदि का अभ्यास करते है। यही उनके लिए कीर्तन, भजन इत्यादि होता है। सगुण परमेश्वर के भक्त अनन्य भक्ति द्वारा परमेश्वर को प्राप्त करने का यत्न करते हैं तथा अपने लक्ष्य एव साधन का दृढता से निश्चय करके भगवान् के नाम और गुण का कीर्तन करते है, बारम्बार गमन करते हैं और एकाग्रता से अनन्य भक्ति मे रत रहते हैं। भक्तगण घोर सकट मे भी विचलित नही होते और नित्य-निरन्तर प्रभु का चिन्तन करते हैं। वे रुचि के अनुसार भगवान् के किसी एक रूप को पूर्ण परमेश्वर मानकर उसके नाम का कीर्तन करते है[1] तथा भगवान् के मन्दिरो मे जाकर भगवान् के विग्रह की अर्चना करते है अथवा अपने घर ही सभक्ति प्रतिमा-पूजन करते हैं। भक्तगण श्रद्धा-भक्ति के कारण गद्गद होकर भजन, कीर्तन करके अलौकिक आनन्द प्राप्त करते है। वे सव मनुष्यो को पूर्ण आदर देते है, किन्तु केवल भगवान् का ही आश्रय लेते है। भक्तगण भगवान् के विभिन्न रूपो तथा देवी-देवताओ के प्रति श्रद्धापूर्वक नमन करते हैं, किन्तु अपने इष्ट-देव के प्रति अनन्यभाव से आसक्त रहते हैं। चलते-फिरते हुए, उठते-बैठते हुए तथा अन्य कर्म करते हुए प्रभु का भावनात्मक स्मरण रखना ही भगवान् के साथ नित्य निरन्तर युक्त रहना है। मनुष्य सच्चे भक्तिभाव द्वारा भगवान् के साथ आत्मीयता का नाता स्थापित करते हैं।[1] भक्तिभाव को छोड़कर मात्र प्रदर्शन करना केवल वृथा श्रम ही नही, बल्कि एक कपट भी होता है। भक्त निष्कपट, निरभिमान तथा विनम्र होते है। कपटपूर्ण, अभिमानी और उद्दण्ड व्यक्ति भक्ति का दिखावा करते है तथा भक्त नही होते, क्योंकि भक्ति मनुष्य का हृदय-परिवर्तन कर देती है। भक्त भगवान् के प्रिय होते है। भक्ति-मार्ग सुलभ, सुगम, सरस और सरल होता है।

**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।**
**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥**

**शब्दार्थ : अन्ये मा ज्ञानयज्ञेन ( अपि ) यजन्तः एकत्वेन ( उपासते )**=अन्य मुझे ज्ञानयज्ञ द्वारा यजन करते हुए एकत्वभाव से ( उपासते है ), **( अन्ये ) पृथक्त्वेन च**=अन्य लोग पृथक् भाव अर्थात् भेद-दृष्टि से, **( अन्ये ) विश्वतो-**

मुक्ति एव प्रभु-प्राप्ति के पांच प्रकार कहे जाते हैं : सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। सालोक्य का अर्थ है भगवान् के समान लोक-प्राप्ति, सार्ष्टि—परमेश्वर की कृपा से ऐश्वर्य-प्राप्ति ( सात्त्विक ), सामीप्य—भगवान् की समीपता का अनुभव करना, सारूप्य—भगवान् के समान माधुर्य, दिव्यता आदि स्वरूप-प्राप्ति तथा सायुज्य—भगवान् मे लय होना, एकरूपता होना। सारूप्य द्वैत है, सायुज्य अद्वैत है। वास्तव मे साधर्म्य अथवा सारूप्य सायुज्य के अन्तर्गत सोपानरूप हैं।

---

१. **'रुचीना वैचित्र्यात्'** भक्तगण अपनी रुचियो की विभिन्नता के कारण भगवान् के किसी एक रूप ( शिव, भगवती दुर्गा, विष्णु, राम अथवा कृष्ण ) को इष्टदेव मानकर उसकी उपासना करते हैं तथा उसके नामो का जप एवं कीर्तन करते हैं, स्तोत्र-पाठ और रामायण, भागवत आदि का पाठ करते हैं, भजनो का गायन और नृत्य करते हैं, प्रार्थना इत्यादि करते हैं। **श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥**—यह नवधाभक्ति है।

१ **यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मना।** अर्थात् जिसकी अपने इष्टदेव मे अत्यन्त भक्ति है तथा जैसी इष्टदेव मे वैसी ही गुरु मे भक्ति है, उसीको उपदेश दिये जाने पर अर्थों का प्रकाश होता है। डॉ० राधाकृष्णन इस श्लोक की टीका करते हुए कहते हैं कि "इन शब्दो से सूचित होता है कि सर्वोच्च सिद्धि किस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म का सम्मिश्रण है।"

मुख ( मां ) बहुधा अपि उपासते—और अन्य मुझ विश्वरूप परमेश्वर को बहुत प्रकार से उपासते हैं।'

वचनामृत : अन्य (ज्ञानयोगीजन) मुझे ( निर्गुण निराकार ब्रह्म के रूप में ) ज्ञानयज्ञ द्वारा पूजन करते हुए अभिन्न भाव से भी उपासते हैं और अन्य पृथक् भाव से तथा कुछ अन्य बहुत प्रकार से मुझे विश्वरूप परमेश्वर की उपासना करते हैं।

सन्दर्भ : भगवान् की उपासना अनेक प्रकार से की जाती है।

रसामृत : ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करते हुए परमब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति का प्रयत्न करना ज्ञानयज्ञ के यजन द्वारा परमात्मा की उपासना करना है। श्रवण, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन, शम, दम, वैराग्य आदि ज्ञान-मार्ग के साधन हैं। मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है ? मैं देह हूँ अथवा आत्मा ? देह से मेरा क्या सम्बन्ध है ? आत्मा क्या है ? ब्रह्माण्ड का स्रष्टा क्या है ? उसका क्या स्वरूप है ? आत्मा और परम ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? जगत् क्या है ? जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति अथवा मोक्ष क्या है ? नित्य और अनित्य अथवा सत् और असत् का भेद क्या है ? मोक्ष-प्राप्ति में क्या बाधक होती है ? कामना ( लौकिक एवं पारलौकिक ) का सर्वथा त्याग कैसे हो सकता है ? शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा मोक्ष-प्राप्ति के साधनरूप में क्या सहायता करते हैं?[२] वास्तव में केवल ऐसी जिज्ञासा का समाधान करना ही पर्याप्त नहीं होता।[१] उत्तम पुरुष परम मन् पदार्थ परम ब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधनरत हो जाता है। ज्ञान की साधना में पतञ्जलि का योग ( ध्यान आदि ) सहायक हो सकते हैं, किन्तु वास्तव में आत्मचिन्तन ही मुख्य है। जीवन की समस्त बन्धनों से मुक्ति होने से परम ब्रह्म के साथ एकात्मता होने पर, द्वैत मिट जाने पर, दिव्य आनन्द प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म सत् है, जगत् असत् है तथा मैं और यह सब कुछ अभिन्न रूप से केवल वासुदेव ( परमात्मा ) ही है—ऐसे विश्वातीत अथवा तुरीयभाव की अनुभूति सिद्ध ज्ञानी को सुलभ होती है। वह जीवनकाल में जीवन्मुक्त हो जाता है तथा देह-त्याग होने पर उसे मोक्ष ( ब्रह्मलीनता ) की प्राप्ति हो जाती है।

अनेक साधक परमात्मा और अपने में भेद मानकर बुद्धि से अथवा पृथक्ता के द्वैतभाव से परमात्मा की उपासना करते हैं। कर्मयोगी अपने को कर्ता मानता है, किन्तु वह निष्काम होकर कर्म करता है तथा कर्म का समर्पण ईश्वर को कर देता है। निष्काम कर्म के अभ्यास में कर्मयोगी के भीतर अनायास ही ज्ञान का उदय हो जाता है तथा उसे भी अद्वैत सिद्ध हो जाता है। भक्ति-

---

१ इस श्लोक का अन्वय और अर्थ अनेक प्रकार से किया गया है।

२ शम—मन का संयम, दम—इन्द्रियों का नियन्त्रण, श्रद्धा—शास्त्रों के प्रति निष्ठा, समाधान—चित्त को ज्ञान-साधन में लगाना, उपरति—ज्ञान-मार्ग में विक्षेप करनेवाले कार्य से विरत होना, तितिक्षा—शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों का सहन। ज्ञानयोगी श्रवण, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन द्वारा नित्य तत्त्व पर ध्यान रखकर आत्मा का साक्षात्कार करते हैं तथा अद्वैत को सिद्ध करते हैं। केवल परमात्मा ही सत् है। श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञ ( गीता, ४.३३ )—द्रव्ययज्ञ से बढ़कर ज्ञानयज्ञ है।

१ दार्शनिक अपने क्षेत्र को जिज्ञासा के समाधान तक सीमित रखता है, किन्तु तत्त्व का अनुसन्धाता आगे बढ़कर अन्तिम सत्य की प्राप्ति के लिए साधन करता है। दर्शनशास्त्र और धर्म का यह प्रमुख अन्तर होता है। 'अयं आत्मा ब्रह्म' ( यह आत्मा ब्रह्म है ) तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' ( मैं ब्रह्म हूँ ) वेदवाक्य हैं। पतञ्जलि के अनुसार पहले ध्याता को अपनी सत्ता का बोध नहीं रहता है तथा ध्येय का ही बोध रहता है, वह सविकल्प समाधि होती है। चरम अवस्था में ध्यान, ध्याता और ध्येय तीनों ( त्रिपुटी ) का बोध नहीं रहता, वह निर्बीज, निर्विकल्प समाधि होती है। ये ही सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि हैं।

मार्गी जीवन के अन्त तक सेवक-स्वामी इत्यादि के रसपूर्ण भाव से भेदोपासना करते हैं तथा भगवान् को प्राप्त होते हैं तथा अन्त मे उन्हे भी अद्वैत सिद्ध हो जाता है। ज्ञानयोगी, कर्मयोगी और भक्तियोगी चरमावस्था मे एकरूप हो जाते हैं। ज्ञानयोगी की निर्गुण-निराकार उपासना ( अभेद-उपासना ) तथा भक्त की सगुण-साकार उपासना ( भेद-उपासना ) का अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है।[1]

अन्य उपासक विराट् विश्वरूप परमेश्वर की उपासना विविध प्रकार से अर्थात् इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि के पूजन द्वारा करते हैं। वास्तव मे, परम-पिता परमेश्वर सभी उपासना को स्वीकार करते हैं तथा सभी उपासनाएँ मनुष्य को भगवान् की ओर उन्मुख करती हैं। किसी मार्ग को उत्तम तथा किसीको अधम कहना उपयुक्त नही है। परमात्मा तो विश्वतोमुख अर्थात् विश्वरूप है तथा विभिन्न रूप से प्राप्य है।

**अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।**
**मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥**
**पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।**
**वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥**
**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत।**
**प्रभवः प्रलयः स्थान निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥**
**तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।**
**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जन ॥१९॥**

**शब्दार्थ :** **क्रतुः अहं यज्ञ अहं स्वधा अह औषधं अहं** =श्रौत कर्म मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा ( पितृगण के निमित्त दिया हुआ अन्न ) मैं हूँ, औषध ( अर्थात् वनस्पतियाँ ) मैं हूँ, **मन्त्र. अहं आज्यं अहं अग्निः अहं हुतं अहं एव**=मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मै हूँ, आहुति अथवा हवन-क्रिया मैं ही हूँ। **अस्य जगतः धाता पिता माता पितामहः च**=इस जगत् का धारणकर्ता पिता-माता और पितामह मैं हूँ, **वेद्य पवित्रं ओकार ऋक् साम यजुः अह एव**=वेदितव्य, ज्ञातव्य, जानने के योग्य, पवित्र, ॐकार ( तथा ) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं ही हूँ। **गतिः भर्ता प्रभु. साक्षी निवासः शरणं सुहृत्**=प्राप्त होने योग्य परमधामरूप परमगति, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, साक्षी ( पाप-पुण्य को देखनेवाला ), सबका वासस्थान, शरण लेने योग्य सच्चा हितैषी ( हूँ ), **प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं अव्यय बीजं**=उत्पत्ति, विनाश सबका आधार, निधान, अविनाशी कारण ( मैं ही हूँ )। **अहं तपामि वर्षं निगृह्णामि च उत्सृजामि**=मै तपता हूँ, वर्षा को आकर्षित करता हूँ और बरसाता हूँ, **च अर्जुन अहं अमृतं च मृत्युः सत् च असत् अहं एव**=और हे अर्जुन, मै अमृत और मृत्यु, सत् और असत् मैं ही हूँ।

**वचनामृत :** क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मत्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और आहुति अथवा हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ। इस जगत् का धारक, पिता, माता और पितामह मैं हूँ, जानने योग्य, पवित्र, ॐकार तथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं ही हूँ। परमगति, भरण-पोषण करने-वाला, सबका स्वामी, साक्षी, सबका निवास, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहनेवाला हितैषी, सबकी उत्पत्ति-विनाश का हेतु, सबका आधार, निधान और अविनाशी कारण मैं ही हूँ। मैं ही सूर्यरूप से तपता हूँ, वर्षा का आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। हे अर्जुन, मैं ही अमृत हूँ और मृत्यु, सत् और असत् मैं ही हूँ।

**सन्दर्भ** · सम्पूर्ण विश्व परमेश्वर का रूप है तथा केवल वही सर्वत्र है।

**रसामृत** देवताओ के उद्देश्य से श्रुति और स्मृति के अनुसार किये जानेवाले कर्म और उनके साधन परमेश्वर ही हैं। श्रुति के अनुसार ( श्रौत ) यज्ञ एव कर्म क्रतु कहलाते हैं। पञ्चयज्ञादि स्मृति के अनुसार ( स्मार्त ) कर्म 'यज्ञ' कहलाते है तथा पितरो के निमित्त प्रदान किया हुआ अन्न 'स्वधा'

---

१. आत्मा और परमात्मा के एकत्व भाव से परमात्मा की अभेद-उपासना अहग्रहोपासना भी कहलाती है तथा प्रत्यक्ष सूर्य आदि की उपासना तथा मूर्ति-पूजा प्रतीको-पासना कहलाती है। 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश.' ( सूर्य को ब्रह्म की मूर्ति जानना )।

कहलाता है।[1] इनमे प्रयुक्त होनेवाली वनस्पति और औषधि तथा इनमे प्रयुक्त होनेवाले मत्र भी परमेश्वर ही हैं। यज्ञसम्बन्धी घृत आदि आवश्यक सामग्री, अग्नि और हवन-क्रिया भी परमेश्वर ही है। परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ नही है। वही सब वस्तुओ और चेष्टाओ मे व्याप्त है तथा वही सब शुभ कार्यों का लक्ष्य है। परमेश्वर ही इस जगत् का पिता, माता, धाता और पितामह है। लौकिक माता-पिता से भी परे परमेश्वर समस्त प्राणियो का माता, पिता और धाता है। लोक मे माता केवल अपनी सतान की माता है तथा पिता केवल अपनी सतान का पिता है, किन्तु परमेश्वर सबका माता तथा पिता दोनो ही है।[2] वही सृष्टि का धारणकर्ता तथा कर्मफलविधाता भी होता है। वह समस्त प्राणियो के पिता का भी पिता अथवा पितामह अथवा परमपिता है।

इस ससार मे परमात्मा ही वेद्य अर्थात् जानने के योग्य सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप दिव्य तत्त्व है, जिसे जानने मात्र से मनुष्य का जीवन सफल एव कृतार्थ हो जाता है।[1] परमात्मा ही सत् है अर्थात् केवल परमात्मा का ही पारमार्थिक अस्तित्व है, जगत् का नही। वह समस्त जगत् का मूल कारण है तथा उसमे सर्वत्र व्याप्त है। परमात्मा के ज्ञान से बढकर अन्य कुछ भी कल्याणकारी नही है। किन्तु परमात्मा को बुद्धि द्वारा नही जाना जा सकता, क्योकि मनुष्य की बुद्धि सीमित होती है। परमात्मा अनुभवगम्य है तथा योगी साधनरत होकर उसकी अनुभूति करते हैं। परमात्मा न केवल पवित्र है, बल्कि पावन (पवित्र करनेवाला) भी है। उसका स्मरणमात्र पाप दूर कर देता है। परमात्मा का ज्ञान सर्वोत्तम ज्ञान है।

ॐकार भी परमात्मा का स्वरूप ही है। ॐकार परमब्रह्म परमात्मा का वाचक है और उसे प्राप्त करने के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन है। ॐकार का निरन्तर मानसिक जप मनुष्य का षट्चक्र भेदन कर देता है तथा परमब्रह्म के साथ एकात्म कर देता है। ॐ समस्त मत्रो का सार है, श्रेष्ठ मत्र है। ॐ चिन्मय नाद ब्रह्म है। अपौरुषेय[2] ऋग्वेद, सामवेद

---

१ 'क्रतु' सकल्प का तथा 'स्वधा' स्वावलम्बन का भी वाचक है। 'औषध' के अन्तर्गत वनस्पति हैं। शुभ सकल्प प्रत्येक शुभ कार्य की सफलता के लिए आवश्यक होता है। 'यज्ञ' का अर्थ परोपकारमय कर्म भी है (गीता, अध्याय ४)। यज्ञो में देवताओ को दिया जानेवाला पदार्थ हव्य तथा पितरो को दिया जानेवाला कव्य कहलाता है। यहाँ वेदविहित अग्निष्टोमादि विभिन्न कर्म क्रतु तथा स्मृतिविहित पचमहायज्ञ (बलिवैश्वदेव आदि यज्ञ) कहे गये हैं, यद्यपि प्राय वैदिक यज्ञो को यज्ञ कहा जाता है।

२ भक्त कहता है—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविण त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

—हे प्रभो, तू ही माता और तू ही पिता है, तू ही बन्धु और तू ही सखा है। तू ही विद्या और धन तू ही है, हे देवाधिदेव, तू ही मेरा सर्वस्व है।

१ आत्मा वा अरे द्रष्टव्य. श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो, मैत्रेयि आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितम्।—बृहदारण्यक उप०, २ ४ ५।—आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य है, आत्मा के अनुभव, श्रवण, मनन होने पर, जान लेने पर इस विश्व-प्रपच के सभी पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं। 'तं वेद्य पुरुषं वेद यथा'—प्रश्न उप०, ६ ६। 'आत्मनि वा अरे विज्ञाते सर्वमिद विज्ञातं भवति।'

२ वेदों में तत्त्व-दर्शन करनेवाले आप्त पुरुषो (ऋषियो) की ऐसी दिव्य वाणी है, जो चेतना के उच्चतम स्तर पर दिव्यावस्था मे प्रस्फुटित हुई। अतएव वेद अपौरुषेय हैं। यहाँ केवल तीन वेदो की चर्चा है, क्योंकि वे प्रमुख हैं। चौथे अथर्ववेद का समावेश भी इसमें अन्तर्गत समझना चाहिए। वेदो में ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दो प्रमुख अङ्ग हैं। परमात्म-ज्ञान की चर्चा अधिकत' वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदो मे है, जिसे वेदान्त या उत्तर

और यजुर्वेद जो परमात्मा के ज्ञान से परिपूर्ण हैं, परमात्मा का ही स्वरूप है ।

परमात्मा अतिम गति अर्थात् प्राप्त होने के योग्य अन्तिम स्थान है । वह समस्त साधना का प्राप्य लक्ष्य है । उसे प्राप्त करना मनुष्य का परम पुरुषार्थ है । वही जगत् का पालन-पोषण करनेवाला तथा जगत् का एकमात्र स्वामी है ।

परमेश्वर मनुष्य के शुभ और अशुभ दोनो कर्मो का नित्य साक्षी है । मनुष्य अपने विचार, भावना और कर्म को मनुष्य से छिपा सकता है, किन्तु वह परमेश्वर से कुछ भी नही छिपा सकता ।

परमेश्वर मे समस्त प्राणी निवास करते है । परमात्मा समस्त दु खी जन का शरणस्थल है । शरणागतवत्सल परमेश्वर के अतिरिक्त मनुष्य का सकट-निवारण अन्य कोई नही कर सकता । परमेश्वर ही अनेक रूपो मे तथा अनेक प्रकार से मनुष्य की सहायता करता है । परमेश्वर जीव का सच्चा हितैषी है । ससार के लोग किसीकी सहायता करके उससे प्रत्युपकार की अपेक्षा करते हैं, किन्तु परमेश्वर अकारणकरुण है तथा प्राणिमात्र की सहायता करता है । इस जगत् की उत्पत्ति करनेवाला और इसका पालन करनेवाला वही एक परमेश्वर है । परमेश्वर मे ही समस्त विश्व-प्रपच स्थित है । वही प्राणियो के कर्मसमूह का तथा कर्मफल के समर्पण का निधान है । वही एक बीजरूप अविनाशी है, शेष सब कुछ विनाशशील है । प्रलय के पश्चात् विश्व सूक्ष्मरूप मे उसीमे अधिष्ठित रहता है । वह विश्व का अनादि कारण है ।

परमेश्वर ही आदित्यरूप मे तपकर रश्मियो द्वारा ताप एव प्रकाश देता है । पृथ्वी का जल सूर्य के ताप द्वारा आकर्षित होता है तथा मेघ बनकर जलवर्षण करता है । परमेश्वर की शक्ति ही इस प्रक्रिया का आधारभूत कारण है ।

परमेश्वर ही अमृत है और मृत्यु भी ।[1] परमेश्वर विलक्षण है तथा वह सत् और असत् अथवा नित्य पदार्थ और अनित्य पदार्थ दोनो ही है । असत् जगत् सत् परमात्मा के आश्रित है । असत् सत् पर अथवा मिथ्या यथार्थ पर आधारित होता है । परमात्मा सत् एव असत् दोनो है । परमात्मा सत् और असत् का आधार है ।

**त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा**
**यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।**
**ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-**
**मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥**
**ते त भक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं**
**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।**
**एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना**
**गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥**

**शब्दार्थ** ( **त्रैविद्या** =त्रिविद्या अर्थात् वेदत्रयी के अनुसार कर्म करनेवाले त्रैविद्य लोग ) **त्रैविद्याः सोमपा पूतपापा** =तीनो प्रमुख वेदो के कर्मकाण्ड-भाग के अनुसार सकाम कर्म करनेवाले और सोमरस पीनेवाले और पापो से मुक्त हुए मनुष्य, **मा यज्ञैः इष्ट्वा स्वर्गति प्रार्थयन्ते** =मुझे यज्ञो द्वारा पूजकर स्वर्गति अथवा स्वर्ग-प्राप्ति चाहते हैं, **ते पुण्य सुरेन्द्रलोकं आसाद्य दिवि दिव्यान् देवभोगान् अश्नन्ति** = वे पुण्यमय इन्द्रलोक को

---

मीमासा कहते हैं । कर्मकाण्ड की चर्चा को पूर्व मीमासा कहते हैं । ऋग्वेद मे ज्ञानपरक ऋचाएँ हैं, सामवेद में उपासना तथा यजुर्वेद मे कर्म-साधना है । ॐकार के अ उ म ऋक् साम यजु के प्रतीक है । कुछ टीकाओ मे 'परमात्मा पवित्र तथा ॐकार' के स्थान पर 'पवित्र ॐकार' कहा गया है तथा वह भी ठीक है ।

**'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ।'**—मुण्डक उ०, २ २ ६ अर्थात् उस आत्मा को ॐ ऐसा और इस प्रकार का ( समझकर ) ध्यान करो, वह अन्धकार से परे और पार होने के लिए है । आपका कल्याण हो । माण्डूक्य उपनिषद् ॐ की महिमा से भरा हुआ है ।

[1] मधुसूदन सरस्वती 'अमृत' का अर्थ प्राणियो का जीवन और 'मृत्यु' का अर्थ विनाश करते हैं । 'सत्' और 'असत्' के भी विभिन्न अर्थ किये गये हैं ।

प्राप्त होकर स्वर्ग मे दिव्य देवताओ के भोगो को भोगते हैं। ते तं विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा=वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर, पुण्ये क्षीणे मर्त्यलोकं विशन्ति= पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं, एवं त्रयी धर्मं अनुप्रपन्ना· कामकामा. गतागत लभन्ते=इस प्रकार तीनो वेदो मे वर्णित सकाम कर्म की शरण में गये हुए कामकामी ( भोगो की कामनावाले मनुष्य ) पुन -पुनः आवागमन को प्राप्त होते हैं।

**वचनामृत :** वेदत्रयी ( तीन प्रमुख वेद—ऋक् यजु साम ) मे वर्णित सकाम कर्मों के करनेवाले, सोमरस पीनेवाले, पापमुक्त पुरुष मुझे यज्ञो के द्वारा पूजकर स्वर्ग-प्राप्ति चाहते हैं, वे पुण्यमय इन्द्रलोक ( स्वर्ग ) को प्राप्त होकर स्वर्ग मे देवताओ के दिव्य भोगो को भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को लौट आते हैं। इस प्रकार वेदत्रयी मे वर्णित सकाम कर्म का आश्रय लेनेवाले और भोगो की इच्छावाले बारम्बार आवागमन को प्राप्त होते हैं।

**सन्दर्भ : 'क्षीणे' पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'**, पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु-लोक मे लौट आते हैं।'

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण गीता मे प्रारम्भ से अन्त तक कामना के त्याग का उपदेश करते हैं। यहाँ वे उन यज्ञादि पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्यो की मनोवृत्ति पर प्रहार कर रहे हैं, जो तीनो प्रमुख वेदो के कर्मकाण्ड-भाग मे वर्णित यज्ञादि का विधिपूर्वक अनुष्ठान स्वर्ग प्राप्ति-की कामना से प्रेरित होकर करते हैं तथा जो यज्ञ-विधान के अनुसार सोमरस का पान करते हैं।[१] वे यज्ञादि द्वारा भगवान् की पूजा स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से करते हैं तथा उनकी पूजा का उद्देश्य भगवान् की प्रसन्नता नही, बल्कि स्वर्गादि की प्राप्ति होता है। इन्द्रलोक ( स्वर्गलोक ) से ब्रह्मलोकपर्यन्त विभिन्न लोक[१] विविध पुण्य कर्मों से प्राप्त होते हैं।

यद्यपि देवता भगवान् के अगभूत होते हैं तथा यज्ञादि द्वारा उनकी अर्चना प्रकारान्तर से भगवान्

---

१ सोमरस के सम्बन्ध मे विभिन्न मत प्रचलित हैं। अनेक विद्वानो का मत है कि सोमलता कोई मानसिक ऊर्जा उत्पन्न करनेवाली दुर्लभ वनस्पति थी, जिसकी पहचान कालन्तर मे लुप्त हो गयी। **'ओषधीनां पति सोमम्।'** सोम सुरा नही थी। सुरा का पृथक् वर्णन किया गया है कि मन्यु, भीति इत्यादि उसके अनुगत हैं। सोम पीकर सात्त्विकता की वृद्धि होती थी। **अपा सोम अमृता अभूम**=हमने सोम पिया, अमृत हो गये। अन्न को भी सोम कहा गया है—*अन्नं वै सोम।* विनोबाजी सोम का अर्थ शुद्ध आहार करते हैं। यज्ञ-अनुष्ठान के दिनो मे दुग्ध, फलाहार, शुद्ध अन्न को भी सोमपान कहा गया है। गांधीजी कहते हैं, *"सभी वैदिक क्रियाएँ फल प्राप्ति के लिए की जाती थी। उनमें से कई क्रियाओ मे सोमपान होता था, उसका यहाँ उल्लेख है। ये क्रियाएँ क्या थीं, सोमरस क्या था, यह आज वास्तव में कोई नहीं कह सकता।"* हमें ऐसा प्रतीत होता है कि आज्ञा चक्र मे स्थित सोम से क्षरण होनेवाली दिव्यशीतलता एव शान्ति प्राप्त होना सोमरस-पान है। यह सोमरस-पान दिव्यानुभूति मे सहायक होता है। **'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'**—सोम ब्रह्मज्ञानियो का राजा है।

१ मानव-जीवन दिव्यत्व के विकास का अलभ्य अवसर होता है। विकास के क्रम मे पुनर्जन्म तथा लोकों का एक महत्त्व माना गया है। लोक विभिन्न प्रकार के होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ मनुष्यो का तुरत पुनर्जन्म नहीं होता तथा वे मरणोपरान्त किसी अनिर्वचनीय सूक्ष्म अवस्था में रहते हैं। जो मनुष्य यज्ञ, दान आदि उत्तम कर्म स्वर्गादि भोगप्रधान लोकों को प्राप्त होने के लिए करते हैं, उनका सूक्ष्म शरीर मरणोपरान्त किसी ऐसी अवस्था में रहता है कि उनकी भोग-वासना तृप्त एवं शान्त हो जाती है तथा वे पुन मनुष्य-लोक मे जन्म लेते हैं। कदाचित् उनकी सूक्ष्म अवस्था की अवधि उनके पुण्यो की राशि के अनुसार होती है। यही सूक्ष्म अवस्था की स्थिति लोक-प्राप्ति के रूप मे वर्णित होती है।

की ही अर्चना है, तथापि भोग-कामना भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे बाधक हो जाती है। विशाल स्वर्गलोक मे दिव्य भोगो को भोगने पर उनके वे पुण्य क्षीण हो जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप उन्हे स्वर्ग-प्राप्ति हुई। पुण्यो के क्षीण होने पर वे पुन मनुष्य-लोक मे लौटकर जन्म-मरण के चक्र से ग्रस्त हो जाते हैं। वेदो मे स्वर्ग-प्राप्ति के उपायभूत धर्म अर्थात् यज्ञादि साधनो का आश्रय लेनेवाले मनुष्य भोगो के चक्र मे ही फँसे रहते है तथा कभी भगवत्प्राप्ति नही कर पाते।

भोगेच्छा से ग्रस्त मनुष्य वेदो मे आत्मज्ञान का वर्णन करनेवाले अशो की उपेक्षा कर देते है। सासारिक भोगो मे आसक्त मनुष्य भगवत्प्राप्ति के अखण्ड आनन्द से वचित रह जाते हैं। भौतिक सुखो की सर्वोच्चता दिव्य ब्रह्मानन्द की अपेक्षा तुच्छ एव हेय है।

**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।**
**तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥**

**शब्दार्थ** ये अनन्या जना. मां चिन्तयन्त पर्युपासते = जो अनन्यभावयुक्त मनुष्य मेरा चिन्तन करते हुए अच्छी प्रकार से ( निष्काम होकर, भावविभोर होकर ) भजते हैं, तेषा **नित्याभियुक्तानां** = उन नित्य मेरे साथ युक्त पुरुषो का, **योगक्षेमं अह वहामि** = योगक्षेम मैं स्वय वहन करता हूँ।

**वचनामृत** जो अनन्यभाव से युक्त भक्तजन मेरा चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते हैं, मेरे साथ युक्त उन पुरुषो का योगक्षेम मैं स्वय वहन करता हूँ।

**सन्दर्भ :** यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसे कण्ठाग्र करना चाहिए। भक्तो की रक्षा प्रभु स्वय करते है।

**रसामृत** परमब्रह्म परमात्मा का ज्ञान ऐसा दिव्य आलोक है, जो मनुष्य की चेतना को उच्चतम धरातल पर स्थित कर देता है तथा विश्व के अधिष्ठाता के साथ एकात्म कर देता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ससार मे ज्ञान के सदृश पवित्र और पावन अन्य कुछ भी नही है। किन्तु आत्मज्ञान अत्यन्त दुरूह एव दुर्लभ है, क्योकि वह नीरस प्रतीत होता है। कर्मयोग सहज और सुलभ है तथा वह स्वाभाविक प्रतीत होता है। किन्तु जब कर्मयोगी अपने चारो ओर लोगो के छल, कपट, दोषदर्शन, कुटिलता, कृतघ्नता, अधमता, अन्याय और अत्याचार को देखता है तो वह कराह उठता है तथा निष्काम एव अनासक्त रहने का प्रयत्न करते हुए भी क्लेशग्रस्त हो जाता है। अनेक अवसरो पर प्रारब्ध की प्रतिकूलता भी कर्मयोगी को विचलित कर देती है। क्लेश और सकट से ग्रस्त होने पर तथा अपने को नितान्त असहाय और विवश देखकर, कर्मयोगी आर्त होकर भक्तिभाव से प्रभु को पुकारता है, "हे प्रभो, मैं थक चुका हूँ और मुझे कोई राह नही सूझ रही है। मैं ऐसे लोगो से घिरा हुआ हूँ, जो या तो कुटिल तथा दुष्ट हैं या मेरे हितैषी होकर भी असहाय हैं। मेरा कोई आश्रय नही है तथा मै आपकी शरण मे आकर आपकी करुणामयी कृपा-दृष्टि के लिए प्रार्थना करता हूँ।" कर्मयोगी सच्चा भक्त होता है तथा वह अनन्यभाव से प्रभु की शरण मे जाकर सबल एव शान्ति प्राप्त कर लेता है। वह सब मनुष्यो को उचित आदर-सम्मान देता है तथा परस्पर सहयोग लेता-देता है, किन्तु केवल प्रभु को ही परम आश्रय मानता है। यह अनन्यभाव होता है। सकट भक्तिभाव की परीक्षा का अवसर होता है। भक्त अडिग और अविचल रहते हैं तथा अकेले ही खडे रहने मे सक्षम होते है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के माध्यम से मानव-मात्र को पूर्ण आश्वासन ( गारटी ) और सन्देश दे रहे है कि जो मनुष्य भी अनन्यभाव से भगवान् का स्मरण करता है, भगवान् उसकी रक्षा स्वय करते हैं। भगवान् घट-घटवासी हैं तथा मनुष्यो, पशुओ, पक्षियो इत्यादि के माध्यम से तुरन्त सहायता करते

है। धन्य हैं वे मनुष्य, जो आर्त होकर प्रभु की शरण ग्रहण करते हैं तथा धन्य है वह सकट, जो मनुष्य को प्रभु के समीप ले जाता है।[1] वह सकाम भाव भी प्रशसनीय है, जो मनुष्यो को प्रभु की ओर उन्मुख कर देता है। प्रभु माता, पिता, वन्धु और सुहृद् हैं तथा सकाम होकर भी प्रभु को पुकारना कोई दोष नही है, किन्तु मनुष्य प्राय सकट के टल जाने पर प्रभु को पुन भूल जाता है।

सकाम भाव ही कालान्तर मे मनुष्य को निष्काम भाव की ओर प्रवृत्त कर देता है। निष्काम भाव से प्रभु को प्रेम करनेवाले दुर्लभ होते हैं। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं तथा निष्काम भाव से भक्ति करनेवाले के दु ख को जानते हैं तथा स्वय सहायता करते हैं।[2] भगवान् के अस्तित्व और भगवान् की कृपा मे अखण्ड विश्वास रखनेवाला मनुष्य सकट मे कभी विचलित नही होता तथा वह सकट मे अदृश्य प्रभु का निरन्तर दर्शन करता रहता है। भक्तिभाव मे प्रगाढता होने पर अपार धैर्य का उदय हो जाता है।

ससार के समस्त भोगो को तुच्छ मानकर भगवान् के प्रति अचल प्रेम करना तथा भगवान् को ही परम प्रेमास्पद एव परम आश्रय मानना अनन्य-भाव कहलाता है। भक्त प्रभु को अपना परम रक्षक, पिता, स्वामी, सुहृद् आदि मानकर सोते-जागते, चलते-फिरते मन मे प्रभु का स्मरण और यथासम्भव निरन्तर मानसिक जप करता रहता है। इसे चिन्तनयोग अथवा स्मरणयोग कह सकते हैं।[1] भक्त निरन्तर स्मरण-चिन्तन के द्वारा प्रभु के साथ नित्य-अभि-युक्त रहता है। परमात्मा तो सभी के प्रति सहज कृपालु होकर सभी की देखभाल करता है, किन्तु अनन्यभाव से भक्ति करनेवाले भक्तो के प्रति वह भी अनन्य हो जाता है।[2] भक्त के लिए केवल भगवान् ही प्राप्य होता है तथा वह भौतिक सुखों को महत्त्व नही देता। धन्य हैं वे भक्त, जो अपने जीवन का भार प्रभु को सौंप देते हैं तथा निष्काम भाव से कर्तव्यकर्म करके कर्म एव कर्मफल का समर्पण प्रभु को कर देते हैं। प्रभु स्वय उनके योग और क्षेम[3] का वहन करते हैं अर्थात् प्रभु स्वय भक्त के हितो की रक्षा करते हैं।

**येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता ।**
**तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥**

---

१ 'विपद. सन्तु न शश्वत्'—भक्त कुन्ती कहती थी—हम सदा सकट में रहें, जिससे भगवान् का स्मरण होता रहे।

सुख के माथे सिल पड़ जो हरि को देत भुलाय।
बलिहारी वा दु ख की पल-पल नाम रटाय॥
—कबीर

दुख में सुमिरन सब करै सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै दुख काहे को होय॥

२. 'जानत जन की पीर, प्रभु भजहि दारुण विपति।'

---

१ श्रीकृष्ण ने निरन्तर स्मरण का विशेष महत्त्व कहा है। —गीता, ८ १४।

२ समदरसी मोहि कह सब कोऊ,
सेवक कहँ अनन्य गति होऊ।

३ 'योग और क्षेम' के अनेक अर्थ किये गये हैं। भगवान् को प्राप्त करना योग तथा प्रभु-प्राप्ति के साधनो की रक्षा को क्षेम कहा गया है। अप्राप्त को प्राप्त करना योग तथा प्राप्त की रक्षा करना क्षेम होता है। ज्ञानी भी योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होता है। —गीता, २ ४५ 'योगोऽप्राप्तस्य प्रापणम् क्षेमस्तद्रक्षणम्' 'अनुपात्तस्य उपादानं योग. उपात्तस्य रक्षण क्षेम।' 'योगक्षेम' का अर्थ प्राय कल्याण होता है।

मनीषिणो हि केचित् यतती मोक्षधर्मिण.।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः॥

स्वामी रामतीर्थ कहते थे कि यह श्लोक गीता के ७०० श्लोको के लगभग मध्य में ३६०वां है और गुरुत्वाकर्षण केन्द्र की भाँति मध्य मे स्थित है तथा यही गीता का सार-सर्वस्व है।

**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।**
**न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥**
**यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रता. ।**
**भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥**

**शब्दार्थ :** **कौन्तेय**=हे अर्जुन, **ये अपि श्रद्धयान्विताः भक्ताः अन्यदेवताः यजन्ते**=जो भी श्रद्धा से युक्त हुए भक्तजन ( सकाम होकर ) अन्य देवताओ को पूजते हैं, **ते अपि मा एव यजन्ति**=वे भी मुझे ही पूजते हैं, **अविधिपूर्वकं**=अज्ञानपूर्वक ही । **हि**=क्योकि, **सर्वयज्ञाना भोक्ता च प्रभुः च अहं एव**=सब यज्ञो का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही ( हूँ ), **तु ते मा तत्त्वेन न अभिजानन्ति**=परन्तु वे मुझे तत्त्व से नही जानते हैं, **अत च्यवन्ति**=इसी कारण पतित होते हैं, पुन जन्म लेते है । **देवव्रता. देवान् यान्ति पितृव्रता. पितॄन् यान्ति भूतेज्या. भूतानि यान्ति**=देवपूजक देवताओ को प्राप्त होते है, पितृपूजक पितृगण को प्राप्त होते हैं, भूतपूजक भूतो को प्राप्त होते हैं, **मद्याजिन मा अपि यान्ति**=मेरे पूजक मुझे ही प्राप्त होते हैं ।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, जो भी श्रद्धायुक्त भक्त-जन ( सकाम होकर ) अन्य देवताओ को पूजते हैं, वे भी मुझे ही पूजते है, यद्यपि अज्ञानपूर्वक ही, क्योकि सब यज्ञो का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ, किन्तु वे मुझ परमेश्वर को तत्त्व से नही जानते। इसी कारण से वे पतित होते है ( पुन जन्म प्राप्त करते है ) । देवताओ के पूजक देवताओ को प्राप्त होते है, पितरो को पूजनेवाले पितरो को प्राप्त होते हैं, भूतो को पूजनेवाले भूतो को प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करनेवाले मुझे प्राप्त होते हैं ।

**सन्दर्भ :** मनुष्य को केवल एक परमात्मा को ही प्राप्त होने का यत्न करना चाहिए ।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि कुछ लोग अपनी कामना-पूर्ति के लिए देवताओ मे भटकते रहते हैं और उस विशेष देवता को यत्र, मत्र, तत्र, उपवास, यज्ञ, दान आदि से प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, जो भी उनकी मनोकामना को पूर्ण कर दे । वे जीवन के परम लक्ष्य को भूल जाते हैं । भौतिक जगत् के सुखभोग की प्राप्ति के लिए परम पिता परमात्मा को भूलना, वास्तव मे लक्ष्य से विमुख हो जाना है । वास्तव मे भगवान् श्रीकृष्ण आदित्य, वसु, वरुण, रुद्र आदि देवताओ की उपासना का विरोध नही कर रहे हैं, बल्कि मनुष्यो की उस दूषित मनोवृत्ति पर पुन पुन प्रहार कर रहे हैं, जो उन्हे अक्षय आनन्द-प्राप्ति की दिशा से हटाकर क्षणिक एव क्षीणकारक भौतिक सुखभोग के कुचक्र से ग्रस्त कर देती है ।[1] देवगण भगवान् के अगभूत हैं और भगवान् से पृथक् नही हैं तथा देवताओ की उपासना भी प्रकारान्तर से भगवान् की ही उपासना होती है, किन्तु देवताओ की स्वतत्र सत्ता मानकर तथा कामनाओ से प्रेरित होकर उनकी उपासना करना अविधिपूर्वक अथवा विधिरहित होती है ।[2] देवताओ को भगवान् का ही अग अथवा स्वरूप मानकर शुद्धभाव से उनकी अर्चना करना विधिपूर्वक पूजा होती है । देव-पूजा परमात्मा की ओर उन्मुख करती है तथा मनुष्य को सात्त्विक बना देती है । भगवान् श्रीकृष्ण देव-पूजा का निषेध नही करते, बल्कि विधिपूर्वक देवपूजा करने का उपदेश करते हैं । स्वार्थमयी श्रद्धा अस्थिर होती है तथा अकस्मात् विलुप्त हो जाती है ।

भगवान् यज्ञो के भोक्ता और स्वामी हैं तथा देवाधिदेव महादेव है । भगवान् ही सबके फलदाता हैं । भगवान् के यथार्थ रूप को न जानने के कारण मनुष्य अज्ञानान्धकार एव दु.ख मे पडे रहते हैं तथा आवागमन के चक्र मे फँसे रहते हैं ।

मनुष्य जैसी उपासना करता है, वैसा ही स्वय हो जाता है ।[3] पुत्रादि की कामना से देवपूजा

१ गीता के अध्याय ७ मे श्लोक २० से २६ तक देवताओ की चर्चा है ।

२ अविधिपूर्वक—अज्ञानपूर्वक अथवा भेदबुद्धिपूर्वक अथवा मोक्ष-विधि न जानकर ।

३ **तं यथा यथोपासते तदेव भवति**—जो जिसकी उपासना करता है उसे ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसका स्वभाव और स्वरूप भी वैसा ही हो जाता है ।

करनेवाले मनुष्य देवताओ को प्राप्त होते हैं और सकट-निवारण की कामना से पितृगण की पूजा करनेवाले मनुष्य पितरो को प्राप्त होते हैं तथा उनकी आध्यात्मिक प्रगति नही होती। कुछ लोग तो तामसी वृत्ति से अभिभूत होकर तथा शत्रुनाश आदि की क्षुद्र कामना से प्रेरित होकर अथवा चमत्कारिक निकृष्ट सिद्धियो की कामना से भूत-पिशाच की पूजा करते हैं और मरणोपरान्त उन्हे ही प्राप्त हो जाते हैं।[1] निम्नतर तथा सीमित शक्ति की स्वार्थपूर्ण उपासना को त्यागकर सर्वोच्च परमात्मा की ही उपासना करनी चाहिए।

अखिल ब्रह्माण्डनायक, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वभूतमहेश्वर, अखण्ड, अद्वय, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा एक है तथा उसी एक को अनेक प्रकार से कहते हैं।[2] वही एक उपास्य एव प्राप्य है। उसके अगभूत देवादि सहायक सोपान के रूप मे अर्चनीय हैं, किन्तु उनकी पृथक् सत्ता मानकर तथा क्षुद्र कामनाओ से प्रेरित होकर उनकी उपासना करना उद्देश्य से भटक जाना है।

**पत्रं पुष्प फलं तोय यो मे भक्त्या प्रयच्छति।**
**तदह भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन॰ ॥२६॥**

**शब्दार्थ** यो मे पत्र पुष्प फल तोय भक्त्या प्रयच्छति=जो भी मुझे पत्र-पुष्प-फल-जल भक्तिपूर्वक भेट करता है, प्रयतात्मन॰ भक्ति उपहृत तत् अह अश्नामि=शुद्धचित्त भक्त का अथवा प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पित वह (पत्र-पुष्पादि) खाता हूँ। (प्रयत—शुद्ध)

**वचनामृत :** जो भी मुझे प्रेमपूर्वक पत्र-पुष्प-फल-जल आदि भेट करता है, उस शुद्धचित्त भक्त का भक्तिपूर्वक अर्पित वह पत्र-पुष्प आदि मैं खाता हूँ अर्थात् प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूँ।

**सन्दर्भ** भगवान् भाव को देखते हैं। यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है तथा इसे कण्ठाग्र करना चाहिए।

**रसामृत .** ज्ञानयोगी जिस निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्मा की सूक्ष्म दिव्यानुभूति करते हैं भक्तगण उसका सगुण-साकार रूप मे प्रत्यक्ष अनु-

---

१ भूत-प्रेतो की उपासना एव सिद्धि सर्वथा त्याज्य है। विनोवाजी कहते हैं कि वे श्मशान मे अनेक वार गये तथा "भूत कभी दिखाई ही नही दिया, कल्पना के ही तो भूत! फिर दिखने क्यो लगे?" भूत-प्रेत कभी किसी पुण्यात्मा को नही दीखते। सन्त तुलसीदास को प्रेत मिलने की किंवदन्ती निराधार है। भय और भ्रम का ही भूत वन जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रचलित भूत-प्रेत-पूजा को निकृष्ट कह रहे हैं। कुछ विद्वानो ने यहाँ 'भूत' का अर्थ साधारण भौतिक पदार्थ किया है। भगवान् के उपासक को भूत-प्रेत की निकृष्ट कल्पना के चक्र मे कदापि नही फँसना चाहिए। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की अपेक्षा अन्य सव नगण्य है।

२ इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य. स सुपर्णो गरुत्मान्। एक सद् विप्रा वहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥—ऋग्वेद, १ १६४.४६ अर्थात् विज्ञजन एक सत्स्वरूप परम ब्रह्म को ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गुरुत्मान् नामक दिव्य सुपर्ण, यम, मातरिश्वा प्रभृति नामो से अभिहित करते हैं। अनेक रूपो मे एक परमात्मा ही सत् है। 'मूल हि विष्णुर्देवानाम्' —भगवान् सव देवताओं के मूल पर है। वेद एकेश्वरवाद को प्रतिपादित करते हैं, न कि वहुदेववाद को, क्योकि समस्त देवता एक परमेश्वर के अगभूत हैं तथा उनका पृथक् अस्तित्व नही है।

आकाशात् पतित तोय यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कार केशव प्रति गच्छति ॥

—आकाश से पतित जल जैसे सागर को जाता है, सव देवताओ का नमस्कार केशव को चला जाता है।

भव कर लेते है।[1] ज्ञानीजन का उपास्य निर्गुण-निराकार परमात्मा भक्तो के लिए सगुण-साकार भगवान् भी है। परमात्मा और भक्त का सम्बन्ध अनोखा होता है तथा उसमे कोई मर्यादा नही होती। भक्तिमार्ग मे भाव प्रधान है तथा जाति, वश, विद्वत्ता, धन, वैभव, सत्ता आदि का कोई महत्त्व नही है।[2] भगवान् ने राम तथा कृष्ण के रूप मे अवतरित होकर अपने व्यवहार से इसे प्रमाणित कर दिया। राम ने शबरी, निषाद आदि को ऋषि-मुनियो से अधिक आदर-सम्मान दिया। श्रीकृष्ण ने ज्ञानी उद्धव की अपेक्षा निरक्षर गोपिकाओ के भाव को तथा दुर्योधन की अपेक्षा विदुर के भाव को अधिक महत्त्व प्रदान किया। श्रीकृष्ण ने दीन सुदामा को महारानी रुक्मिणी आदि की अपेक्षा कही अधिक आदर दिया। भगवान् की दृष्टि मे ऊँच-नीच नही होता तथा भगवान् का द्वार तथाकथित घोर पापी के लिए भी सदैव खुला रहता है। यदि पापी भी आर्त होकर सच्चे भाव से प्रभु को पुकारता है, प्रभु उसे भी पवित्र कर देते हैं तथा हृदय से लगा लेते हैं।

भगवान् को प्राप्त करने के लिए कोई तीर्थ व्रत, तप, दान, यज्ञ आदि साधन नही करने होते। भगवान् को केवल भाव ही चाहिए। भगवान् तो भाव के भूखे है। उन्हे सच्चे प्रेम से मात्र फूल, पत्ते, फल और जल ही भेट करना पर्याप्त है।[1] मूल्यवान् वस्तुओ की भेट भी तुच्छ है, यदि वह भक्ति-भावयुक्त नही है। उत्तम समाज मे भी भाव को ही मान्यता एव महत्ता दी जाती है तथा बाह्य प्रदर्शन अन्ततोगत्वा निष्फल हो जाता है। अन्तर्यामी भगवान् भाव को ही पहचानते, परखते और स्वीकार करते है। भगवान् की पूजा कितनी देर तक की, कितना जप-पाठ आदि किया, कितना दान दिया, क्या अर्पण किया इत्यादि का कोई महत्त्व नही है, बल्कि भाव का ही महत्त्व है। भगवान् 'प्रयतात्मन' अर्थात् शुद्धचित्त पुरुष अथवा प्रेमी भक्त का फूल, फल और जल भी सहर्ष स्वीकार करते हैं। मनुष्य रूप, बल, धन, सत्ता, विद्वत्ता, यश, प्रतिष्ठा आदि का अहकार छोड़कर ही शुद्धचित्त एव सच्चा प्रेमी हो सकता है। जो मनुष्य कर्मों को भगवदर्पण करते रहते हैं, उनका अहकार क्षीण होता रहता है तथा उनके हृदय मे सात्त्विकता एव भक्ति का उदय होता रहता है। अहकार का त्याग करके ही मनुष्य प्रभु की ओर उन्मुख एव अग्रसर हो सकता है। भगवद्भक्त अत्यन्त विनम्र एव शालीन होता है।[2]

---

१. गावै गुनी गनिका गंधर्व औ
सारद सेस सबै गुन गावै।
नाम अनत गनंत गणेस ज्यों
ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावै॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध
निरन्तर जाहि समाधि लगावै।
ताहि अहीर की छोहरियाँ
छछिया भरि छाछ पै नाच नचावै॥ —रसखान

'घर, गुरुगृह, प्रिय सदन सासरे
भई जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की
रुचि माधुरी न पाई॥' —तुलसी

२ भारत के प्रख्यात सन्त भक्त अधिकाश तथाकथित निम्न जातियो मे उत्पन्न हुए थे।

---

१ कुछ स्थानो पर धन अथवा सत्ता के बल पर कुछ लोग भगवान् के विग्रह के अत्यन्त निकट चले जाते है और निर्धन एवं निर्बल मनुष्य दूर ही खडा होकर हाथ जोडता है, किन्तु अन्तर्यामी भगवान् सच्चे भाव को सबसे पहले ग्रहण करते हैं। भगवान् तुलसी-दल को अधिक महत्त्व देते हैं, क्योकि वह निर्धन जन के लिए सुलभ है। भक्त यदि फल और फूल भी भेट न कर सके तो जल ही पर्याप्त है। यह मूल्यवान् वस्तु की भेंट की निन्दा नही है, बल्कि भाव की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है।

२. तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥
—चैतन्य महाप्रभु

भक्ति-मार्ग समर्पण का मार्ग है, माधुर्य एव विनय का मार्ग है तथा सर्वसुलभ एव सरल मार्ग है। पत्र, पुष्प, फल और जल समर्पण-भाव के प्रतीक हैं।

**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
**यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥**

**शब्दार्थ** कौन्तेय=हे अर्जुन, यत् करोषि यत् अश्नासि=जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, यत् जुहोषि यत् ददासि=जो कुछ हवन करता है जो कुछ दान देता है, यत् तपस्यसि=जो कुछ तप करता है, तत् मत् अर्पण कुरुष्व=वह मेरे अर्पण कर दे।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण समर्पण का उपदेश देते है। यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसे कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने निष्काम एव अनासक्त होकर अर्थात् फल की कामना एव आसक्ति छोडकर कर्म करने का उपदेश दिया, किन्तु इस अध्याय मे वर्णित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजविद्या का रहस्य कहते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म के भार से मुक्त होने का सरल उपाय कर्म का समर्पण कर देना है। भगवान् को समस्त कर्म का अर्पण करने पर मनुष्य चिन्ता-मुक्त हो सकता है। राजविद्या अथवा राजयोग का साधन कर्म-समर्पण है। राजयोग वास्तव मे कर्म-समर्पणयोग ही है। सब कर्म समर्पण करने से मनुष्य प्रभु का ही हो जाता है तथा कर्म करने का अहकार और उसके फल की आसक्ति स्वय छूट जाते हैं। अह-कार-विमुक्त मनुष्य विश्व-सचालक का उपकरण बन जाता है। समर्पण-बुद्धि होने पर मनुष्य उत्तम कर्म ही करता है। कोई मनुष्य अपने प्रेमास्पद को गन्दी वस्तु भेट नही करता। राजयोग कर्म के साथ भक्ति को जोड़ देता है।[1] वास्तव मे कर्म-समर्पण एक निरन्तर भजन है।[2] भगवद्भक्त जो कुछ खाता है, हवनादि करता है, दानादि देता है अथवा तप-व्रत आदि करता है, वह उन सबको कृष्णार्पण-बुद्धि से करता है। वह कर्म करके कह देता है, 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' (श्रीकृष्ण के अर्पण हो जाय) तथा कर्म के भार अथवा बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जाता है।[3]

श्रीकृष्ण यह स्पष्ट कर रहे हैं—भक्त चलना-फिरना, खाना-पीना आदि आवश्यक लौकिक कर्म करने के अतिरिक्त अपना कर्तव्य कर्म अवश्य करता है तथा सहजभाव से हवन, दान, तप, व्रत आदि पवित्र कर्म भी करता है, किन्तु वह उन्हें

---

१ सन्त विनोबाजी कहते हैं—"कर्मयोग कहता है, कर्म करो, फल छोडो, फल की आशा मत करो। यहाँ कर्मयोग समाप्त हो गया। राजयोग कहता है, कर्म के फलो को छोडो मत, बल्कि सब कर्म ईश्वर को अर्पण कर दो।"

२ आत्मा त्व गिरिजा मतिः सहचरा
प्राणाः शरीर गृहम्।
पूजा ते विषयोपभोगरचना
निद्रा समाधिस्थितिः ॥
सचार पदयो प्रदक्षिणविधि
स्तोत्राणि सर्वा गिरो।
यद् यत् कर्म करोमि तद् तदखिल
शम्भो तवाराधनम् ॥

अर्थात् मेरी आत्मा तू है, मेरी बुद्धि गिरिजा है, मेरे प्राण मेरे साथी हैं, शरीर मेरा घर है, इन्द्रियो के विषयो का विविध उपभोग मेरी पूजा है, निद्रा ही समाधि-दशा है, मेरे पग प्रदक्षिणा है, मेरे सारे वचन स्तोत्र हैं। हे शम्भो, मैं जो-जो कर्म करता हूँ, वह-वह सब तेरी ही पूजा है।

३ कर्म-समर्पण के बाद आगामी अध्यायों मे श्रीकृष्ण आत्मसमर्पण का उपदेश देंगे। वह कर्मयोगी भक्त की पूर्णता है।

भगवदर्पण करके अहकार-विमुक्त एवं बन्धन-विमुक्त हो जाता है।[1] वास्तव मे कर्म बाह्य क्रिया है तथा भक्ति आन्तरिक रस है, जो कर्म को आनन्दमय बना देता है। कर्म तथा भक्ति का परस्पर विरोध नही है।

**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।**
**संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥**

**शब्दार्थ :** एव संन्यासयोगयुक्तात्मा शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः मोक्ष्यसे = इस प्रकार सन्यासयोगयुक्त होकर तू शुभाशुभफलस्वरूप कर्म-बन्धन से मुक्त हो जायगा, विमुक्त मा उपैष्यसि = विमुक्त होकर (तू) मुझे प्राप्त हो जायगा। सम-(अच्छी प्रकार) न्यास (त्याग) सन्यास अर्थात् उत्तम त्याग।

**वचनामृत :** इस प्रकार भगवदर्पणरूप कर्म-सन्यास (सर्वकर्म-समर्पण) से युक्तचित्तवाला तू शुभ और अशुभफलस्वरूप कर्मबन्धन से मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर तू मुझे प्राप्त हो जायगा।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण समर्पण-बुद्धि का फल कहते हैं।

**रसामृत :** भक्त का सन्यासयोग ज्ञानी के सन्यासयोग से भिन्न है तथा अनूठा है। भगवान् श्रीकृष्ण 'योग' शब्द का प्रयोग अनेक प्रकार करते हैं। 'योग' का अर्थ है भगवान् के साथ एकात्म होना। भक्त कर्म करके उसका भगवदर्पणरूप सन्यास कर देता है तथा अहकारविमुक्त एव कर्म-बन्धनमुक्त हो जाता है। वह केवल कर्मफल को ही नही, समस्त कर्म को ही भगवदर्पण द्वारा त्याग देता है। यह कर्म सन्यासयोग उसे प्रभु के साथ युक्त कर देता है। यही निष्काम कर्मयोग का उज्ज्वल स्वरूप राजयोग है। कर्म-समर्पण करने-वाला भक्त कर्मों के शुभ और अशुभ फल से भी मुक्त हो जाता है तथा भगवान् को प्राप्त हो जाता है।

**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।**
**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥**

**शब्दार्थ :** अहं सर्वभूतेषु सम. न मे द्वेष्यः अस्ति न प्रिय· = मैं सब भूतो मे समभाव से व्याप्त हूँ, न मेरा (कोई) अप्रिय न प्रिय, तु = परन्तु, ये मा भक्त्या भजन्ति = जो मुझे भक्ति से भजते हैं, ते मयि च अहं अपि तेषु = वे मुझमें तथा मैं भी उनमे (प्रकट) हूँ।

**वचनामृत :** मैं सब भूतो मे समान रूप से स्थित हूँ, न मेरा कोई अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मुझे प्रेम से भजते हैं, वे मुझमे हैं तथा मैं उनमे हूँ। (वे मेरे और मैं उनका हूँ।)

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण भक्ति के विशेष नाते का वर्णन करते हैं।

**रसामृत** यह स्वाभाविक है कि पिता अपनी सब सन्तान के प्रति सम होता है। पिता के लिए सभी समान होते हैं। परमपिता परमात्मा तो परम न्यायकारी है। वह सबमे समान रूप से व्याप्त होता है तथा सबका समान रूप से पोषण करता है। वह न किसीसे द्वेष करता है और न पक्षपात ही। किन्तु भक्ति की विचित्र महिमा है। भक्त अपनी चित्त-शुद्धि एव अपार प्रेममयता से भगवान् के साथ युक्त हो जाता है और वह भक्तवत्सल भगवान् के साथ आत्मीयता का नाता स्थापित कर लेता है। **'हम भक्तन के भक्त हमारे।'** अहकार-शून्य एव वासनाशून्य भगवद्भक्त भगवान् के साथ युक्त होकर एव भगवान् का प्रभावी यन्त्र होकर

---

१ महात्मा तिलक कहते हैं—'भगवद्भक्त भी कृष्णार्पण-बुद्धि से समस्त कर्म करे, उन्हे छोड न दे।'
**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्य**--गीता, ३ ३०।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्धयात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥

—भागवत, ११ २ ३६

--जो कुछ मन कर्म, वचन, इन्द्रिय, बुद्धि और चित्त से या स्वभाव से करता है उस सबको नारायण को समर्पण कर देना चाहिए।

भगवान् के तुल्य हो जाता है।[1] सूर्य अथवा अग्नि शीत-निवारण एव प्रकाश-दान करते हैं, किन्तु जो उनके साथ सम्पर्क करते हैं, वे ही उनका लाभ उठाते हैं।[2] अहकार तथा राग-द्वेष आदि विकार छोड देने पर तथा भक्ति द्वारा नित्ययुक्त होकर भक्त भगवान् के साथ एकरूप हो जाता है।

**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि स ॥३०॥**
**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।**
**कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्त प्रणश्यति ॥३१॥**

**शब्दार्थ :** चेत् सुदुराचार अपि अनन्यभाक् मां भजते=यदि अत्यन्त दुराचारी भी अनन्यभाव से युक्त होकर मुझे भजता है, स साधु एव मन्तव्य =वह साधु ही समझा जाने योग्य है, हि स सम्यक् व्यवसित = क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। क्षिप्र धर्मात्मा भवति=वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, शश्वत् शान्ति निगच्छति=स्थायी शान्ति को प्राप्त होता है, कौन्तेय =हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन, प्रति जानीहि =निश्चयपूर्वक जान ले, प्रतिज्ञा कर ले, मे भक्त. न प्रणश्यति= मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

**वचनामृत .** यदि कोई अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी मुझे अनन्यभाव से भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और अविचल शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन, तू निश्चयपूर्वक जान ले कि मेरा भक्त कभी नष्ट नही होता।

**सन्दर्भ :** भगवान् के द्वार दुराचारी के लिए भी खुले हुए हैं। ये दोनो श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** अमृतमय है। इसे कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत ·** करुणापरिपूर्ण भगवान् पतितपावन है। वह उन पापी, पतित और दु खी लोगो का भी सच्चा सहारा है, जिन्हे सभी घृणा की दृष्टि से देखकर त्याग देते हैं। भगवान् वेसहारा का सहारा है। उसका द्वार सबके लिए समान रूप से खुला हुआ है। पापी को भी हृदय से लगाकर और साहसपूर्वक अपनाकर उसके उद्धार का प्रयत्न करना सच्चे सन्त का गुण होता है। सद्ग्रन्थ और सन्त भी परमपिता की भाँति पतितपावन होते हैं, पतितोद्धार करते हैं। अवतार के रूप मे राम और कृष्ण ने असख्य पतितो का उद्धार किया।

वह अग्नि निस्तेज है, जो कोयले की कालिमा को न मिटा दे और उसे अग्नि न बना दे। पापी को भी भगवान् के द्वार पर तथा सन्त के चरणो मे आश्रय लेने का पूर्ण अधिकार है। गोपालक (ग्वाला) अपनी भटकी हुई गौ को खोजने के लिए व्यग्र हो जाता है, पिता अपने रूठे हुए छोटे बेटे को हृदय से लगाने के लिए व्याकुल हो जाता है तथा परम पिता भी भटके हुए जीव को सन्मार्ग पर लगाने के लिए सदैव तत्पर रहता है। वह स्वर्णिम क्षण होता है, जब मनुष्य के हृदय मे पूर्वकृत पापो के लिए पश्चात्ताप होता है और वह सकल्प लेता है, 'मै अब भगवान् की शरण ग्रहण करके जीवन को सार्थक एव सफल करूँगा।' पुन भूल न करने की प्रतिज्ञा करने से मनोबल ऊँचा हो जाता है तथा भगवान् की शरण लेने से आत्मग्लानि एव अशान्ति मिट जाती है। श्रीकृष्ण घोषणा करते हुए कहते हैं—'अर्जुन, निश्चय जान कि भगवान् की शरण मे अनन्यभाव से जाने पर पापी भी साधु हो जाता है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय एव सकल्प द्वारा जीवन की दिशा वदल लेता है। सन्मार्ग पर आरूढ होने पर वह शीघ्र

---

१ 'राम ते अधिक राम कर दासा।'

२ शङ्कराचार्य कहते हैं, 'अग्निवत् अह, दूरस्थाना यथा अग्नि शीतं न अपनयति, समीप उपसर्पता अपनयति तथा अह भक्तान् अनुगृह्णामि।'—अग्नि की भाँति मैं हूँ, दूरस्थ जैसे अग्नि शीत-निवारण नहीं करती, समीप जाने पर दूर करती है, वैसे ही मैं भक्तों पर अनुग्रह करता हूँ।

समदरसी मोहि कह सब कोउ,
सेवक कँह अनन्यगति होउ।

धर्मात्मा हो जाता है तथा परम दुर्लभ नित्य शान्ति प्राप्त कर लेता है।[1] अनन्य भक्ति मन को पवित्र कर देती है।[2] भक्तवत्सल भगवान् पाप और पुण्य को नही देखते, भाव देखते हैं तथा भगवान् भाव से ही प्राप्त होते हैं। अनेक लोग पाप मे डूबे रहते हैं तथा भक्ति का पाखण्ड भी करते रहते हैं।[3] परमात्मा मे विश्वास तथा भक्तिभाव का उदय होने पर मन मे पाप नही ठहरता तथा मनुष्य साधु हो जाता है। जहाँ सूर्य है वहाँ अन्धकार नही ठहरता तथा जहाँ जागरण है वहाँ अनवधानता अथवा प्रमाद नही रहता।[1] जीवन मे किसी भी क्षण शुभ जागरण हो सकता है। 'जब जागे तभी सवेरा।' वास्तव मे केवल परमात्मा का स्मरण एव सस्पर्श ही मनुष्य को पापमुक्त एव पवित्र कर सकता है तथा आत्यन्तिक सुख एव शान्ति प्रदान कर सकता है।

तथाकथित परमपापी मनुष्य के अन्तस्तल मे भी सात्त्विकता का प्रसुप्त अश अवश्य विद्यमान रहता है, जिसे प्रेम द्वारा जाग्रत करने की सम्भावना सदैव रहती है। सन्तो ने समाज से वहिष्कृत और तिरस्कृत अगणित पापियो के जीवन को रूपान्तरित किया है।[2] वास्तव मे किसी सौभाग्य के क्षण मे हमारे दोष ही हमारे भीतर स्थित परमात्मा की ओर उन्मुख कर देते हैं तथा अपूर्णता पूर्णता की प्रेरक हो जाती है। गिरकर उठनेवाला मनुष्य सचमुच धन्य होता है।[3]

---

१. अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्
भूयस्तपस्वी भवति पक्तिपावनपावनः।
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मात्मकानि वै
यानि तेषामशेषाणा कृष्णानुस्मरणं परम्॥
—भागवत

अर्थात् महापाप से युक्त होने पर भी निमिषमात्र अच्युत के ध्यान के प्रभाव से तपस्वी पुन' पक्ति पवित्र करनेवालो का भी पवित्र करनेवाला हो जाता है। जितने तप कर्मरूप प्रायश्चित्त हैं, उनमे कृष्ण का अनुस्मरण ही श्रेष्ठ है। रामकृष्ण परमहस कहते हैं कि नित्यानन्द और गौराग चैतन्य महाप्रभु कीर्तन से जीवन की दिशा मोड़कर सबको पवित्र कर देते थे।

अहं ब्रह्मेति मा ध्यायन्नेकाग्रमनसा सकृत्।
सर्वं तरति पाप्मानं कल्पकोटिशतैरपि॥

अर्थात् सच्चे भाव का प्रभु-स्मरण पाप को दूर कर देता है।

कृत्वा पाप हि सतप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते।
नैव कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु स.॥

अर्थात् यदि पाप करके वह सन्ताप करता है तो पापमुक्त हो जाता है तथा 'मैं पुन. यह नही करूँगा' इस निवृत्ति से पवित्र हो जाता है।

२ गाधीजी कहते हैं, 'अनन्य भक्ति दुराचार को शान्त कर देती है।' सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं कि यदि नदी मे बाढ़ आ रही हो और कोई मनुष्य गहरी डुबकी ले ले तो लोग उसे डूबा हुआ समझते हैं, किन्तु यदि वह निकल आया तो डूबने की आशका मिट जाती है।

३ महात्मा तिलक कहते हैं—'ऐसा न समझना चाहिए कि भगवद्भक्त यदि दुराचारी हो तो भी वे भगवान् को प्यारे रहते हैं। भगवान् इतना ही कहते हैं कि पहले कोई मनुष्य दुराचारी भी रहा हो, परन्तु जब एक वार उसकी बुद्धि का निश्चय परमेश्वर का भजन करने मे हो जाता है तब उसके हाथ से कोई भी दुष्कर्म नही हो सकता और वह धीरे-धीरे धर्मात्मा होकर सिद्धि पाता है तथा इसी सिद्धि से उसके पाप का बिलकुल नाश हो जाता है।

१. सम्मुख होहि जीव मोहि जबही,
जन्म कोटि अघ नासहि तबही।

२ महात्मा गाधी कहते थे—पाप से घृणा करो, पापी से नही। महात्मा ईसा के जीवन मे पतितो के उद्धार की अनेक घटनाएँ हैं। एक वार उन्होने लोगो को एक तथाकथित भ्रष्टा नारी पर पत्थर फेंकते देखा तथा उन्होने कहा—इस स्त्री पर वह पुरुष पत्थर फेंके, जिसने कभी पाप न किया हो। इस पर सभी स्तब्ध रह गये और महात्मा ईसा ने उसे सम्मान देकर विदा किया।

३ गीता मे पहले (४ ३६) मे ज्ञान द्वारा घोर पापी के उद्धार होने का और यहाँ (९.३०) भक्ति द्वारा घोर पापी के उद्धार होने का आश्वासन दिया है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—हे अर्जुन, तू निश्चय करके जान ले तथा घण्टा-ध्वनि से प्रतिज्ञा-पूर्वक घोषणा कर दे कि भगवान् का भक्त कभी विनष्ट नही होता। भगवान् कृष्ण के इस आश्वासन ( गारण्टी ) पर दृढ विश्वास करके तथा इसे सदैव स्मरण रखते हुए भगवद्भक्त को निर्भय होकर कर्तव्य-मार्ग पर अग्रसर होते रहना चाहिए।

**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।**
**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ३२**
**किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।**
**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥**

**शब्दार्थ :** हि=क्योकि, पार्थ=हे अर्जुन, स्त्रिय वैश्या शूद्रा तथा पापयोनय अपि ये स्यु =स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनिवाले भी जो हो, ते अपि मा व्यपाश्रित्य =वे भी मेरा आश्रय लेकर, परा गति यान्ति=परम-गति को प्राप्त होते हैं। पुन किं पुण्या ब्राह्मणा तथा राजर्षय भक्ता =फिर यह क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्त परमगति पाते हैं, असुख अनित्यं इमं लोकं प्राप्य मां भजस्व=सुखरहित अनित्य इस लोक ( अथवा मनुष्य-देह ) को पाकर मुझे भज।

**वचनामृत** हे अर्जुन, स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा निम्न कुल जो कोई भी हो वे मेरी शरण होकर परमगति को प्राप्त होते हैं। फिर इसका तो कहना ही क्या है कि जो पुण्यशील और राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परमगति को प्राप्त होते हैं। अत सुखरहित और नश्वर लोक को प्राप्त हुआ तू मेरा भजन कर।

**सन्दर्भ :** भगवान् की भक्ति का सभी को समान अधिकार है।

**रसामृत :** सभी भगवान् के प्रेम और कृपा पाने के अधिकारी हैं। भगवान् की दृष्टि मे घोर पापी एक भटका हुआ बालक है और वह भी प्रभु का प्रेम पा सकता है। भगवान् केवल भावना देखते है तथा मानव-समाज के भेद और विषमता भक्ति के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न नही कर सकते। कोई स्त्री हो अथवा पुरुष, वेदाध्ययनरत ब्राह्मण हो अथवा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अथवा समाज की निम्नतम श्रेणी का हो, सभी को भगवान् की भक्ति करने का तथा भगवान् को पाने का अधिकार समान रूप से है। जाति, वर्ण अथवा कर्म भक्ति मे बाधक नही हो सकते।[१] भगवान् श्रीकृष्ण भक्ति

---

१ भारत के अधिकाश प्रमुख सन्त भक्त तथाकथित निम्न कुलो एव जातियों मे उत्पन्न हुए हैं। नामदेव ( दर्जी ), कबीर ( जुलाहा ), दादू ( धुनिया ), रैदास ( चर्मकार ), सेन ( नाई ), नाभादास ( डोम ), सदना ( कसाई ), नरहरि ( सुनार ), सावता ( माली ), तुकाराम ( वाणी ), चोखामेला तथा गुलाबराव महाराज आदि। अनेक मुसलमान और ईसाई भी कृष्ण-भक्त हुए हैं। नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेद ( नारद-भक्ति-सूत्र, ७२ ) अर्थात् भक्तो मे जाति, विद्या रूप, कुल, धन, कर्म आदि का भेद नही है। आनिन्द्य योन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् ( शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, ७८ ) अर्थात् शास्त्र-परम्परा से सामान्य धर्मो की भाँति भक्ति मे भी सभी निम्न योनि तक के मनुष्यो का अधिकार है।

भक्त्याहमेकया ग्राह्य श्रद्धयात्मा प्रिय. सताम्।
भक्ति पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥

—भागवत, ११ १४ २१

—अर्थात् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं, सन्तो का प्रिय 'आत्मारूप' मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्ति से ग्राह्य हूँ। भक्ति चाण्डाल को भी पवित्र कर देती है।

'कह रघुपति सुन भामिनि बाता,
मानौ एक भक्ति कर नाता।'
'आभीर यवन किरात खल
श्वपचादि अति अघरूप जे,
कहि नाम बारेक तेपि पावन
होंहि राम नमामि ते।'

—तुलसी

की व्यापकता तथा समत्व का सिद्धान्त सिद्ध करने के लिए ही सभी जातियो एव वर्णो इत्यादि की चर्चा कर देते हैं। भगवान् की भक्ति भगवान् को प्राप्त करने के लिए सर्वसुलभ, सुगम एव सरल मार्ग है। चित्तशुद्धिकारक भक्ति से अनायास ही भगवान् के स्वरूप और महिमा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। मानव-देह के प्राप्त होने पर भगवान् की प्राप्ति करना परम पुरुषार्थ होता है।

**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
**मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥**

**शब्दार्थ : मन्मना**=केवल मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप वासुदेव अथवा परमात्मा मे अनन्यभाव से मन स्थित करनेवाला, **भव**= हो जा **मद्भक्त**=मेरा कीर्तन-भजन करनेवाला भक्त (हो जा), **मद्याजी**=मेरा श्रद्धाभक्तिपूर्ण यजन (पूजन) करनेवाला (हो जा), **मा नमस्कुरु**= केवल मुझे श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर, एवं **मत्परायणः आत्मान युक्त्वा मा एव एष्यसि**=इस प्रकार मेरा हुआ अपने को मेरे साथ एकात्म करके मुझे ही प्राप्त हो जायगा।

**वचनामृत :** (केवल) मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा मे अनन्य मनवाला हो जा, (केवल) मेरा भक्त हो, मेरा (ही) पूजन करनेवाला हो, मुझे (ही) प्रणाम कर। इस प्रकार मेरे परायण होकर आत्मा को मुझसे युक्त करके तू मुझे ही प्राप्त कर लेगा।

'भक्त्या तुष्यति केवल न च गुणै। भक्तिप्रियो माधवः'
—भगवान् को केवल भक्ति प्रिय है।

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवना खसादय.।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
—भागवत, २ ४ १८

—अर्थात् भगवान् के आश्रय से सभी शुद्ध हो जाते हैं। गीता की दृष्टि मे कोई अस्पृश्य भी नही है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण शरणागति का लक्षण और लाभ कह रहे है। यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण नौवे अध्याय मे वर्णित राजयोग का उपसंहार अन्तिम श्लोक मे करते है। श्रीकृष्ण अर्जुन को भगवान् मे मन का समर्पण करने का उपदेश एव आदेश देते हैं। जहाँ भी मनुष्य का मन होता है, मनुष्य उसी ओर प्रवृत्त होता है। यदि मन सासारिक विषयो अथवा भोग-पदार्थों मे स्थित होता है तो मनुष्य भजन करते हुए भी उनका ही चिन्तन-स्मरण करता है। मनुष्य का मन जब तक विषयो मे आसक्त रहता है, वह भगवद्प्रेमी नही हो सकता। मनुष्य विषयाभिमुख मन को परमेश्वराभिमुख करके ही परमात्मा का चिन्तन कर सकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं- **'मन्मना भव'** अर्थात् मुझ परमेश्वर मे मन को सस्थित कर दे, मुझे अपना मन समर्पित कर दे। मन का समर्पण करने पर मनुष्य सोते-जागते, चलते-फिरते और खाते-पीते भी भगवान् का स्मरण-चिन्तन करता है। भगवान् को अपना माता-पिता, बन्धु, हितैषी और सर्वस्व मानकर निरन्तर स्मरण करना, भगवान् के अदृश्य हाथ को प्रत्येक घटना मे देखना तथा मन मे निरन्तर प्रभु से वार्तालाप करना मधुर स्मरण-योग है। भगवान् का ही मन, भगवान् का ही तन, भगवान् का ही कर्म, भगवान् का ही सब कुछ—ऐसा भाव होने पर मनुष्य भगवान् का ही हो जाता है। ऐसे मनुष्य का जीवन प्रभुमय हो जाता है। उसे अपने भीतर भगवान् की ही अनुभूति और चारो ओर भगवान् का ही दर्शन होता रहता है तथा उसे समत्व सिद्ध हो जाता है। उसे निर्गुण-निराकार ब्रह्म का सगुण-साकार साक्षात्कार क्षण-क्षण होता रहता है।[1]

१. यत् तद् अद्रेश्यं अग्राह्य अगोत्रं
अवर्णं अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगत सुसूक्ष्मं तदव्यय
तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥
—मुण्डक उप०, १.१ ६

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।

श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् मे ब्रह्मविद्या योगशास्त्र मे श्रीकृष्णार्जुन-सवाद मे राजविद्या-राजगुह्ययोगनामक नौवाँ अध्याय।

## सार-संचय

### नवम अध्यायः राजविद्याराजगुह्ययोग

भगवद्गीता मे नवम अध्याय का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमे भगवान् श्रीकृष्ण भगवत्प्राप्ति का सुगम उपाय बता रहे हैं। सरल, सुगम और सुलभ होने के कारण इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव गोपनीय उपाय को राजविद्या (अथवा राजयोग) कहा गया है।

प्रारम्भ मे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमेश्वर समस्त भूतसमुदाय का आधार होकर भी उससे असश्लिष्ट एव निर्लेप रहता है। परमेश्वर मायारूपी प्रकृति द्वारा सृष्टि की सरचना करता है और वही इसका सचालन एव सहार करता है। विवेकशील मनुष्य प्रकृति से परे एव प्रकृति के अधिष्ठाता परमेश्वर को भजते है। साधक परमात्मा को अनेक प्रकार से प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं—कोई ज्ञान से, कोई भक्तिभाव से तथा कोई देवपूजन से। एक परमात्मा ही परम सत् है। देवता उसीके अगभूत हैं तथा उनकी अर्चना भी परमेश्वर की ओर उन्मुख करती है, किन्तु भौतिक इच्छाओ की तत्काल पूर्ति के लिए पृथक् भाव से उनकी उपासना भटका देती है।

भगवान् को प्रसन्न करना सरल है। भगवान् भाव के भूखे होते हैं। भगवान् पत्र, पुष्प, फल और जल के भावपूर्ण समर्पण से ही प्रसन्न हो जाते है। भगवान् सबके लिए समान हैं, किन्तु फिर भी भगवान् भक्त के वश मे हो जाते हैं। सच्चे भक्तिभाव की ऐसी महिमा है कि वह घोर पापी को भी सन्मार्ग पर आरूढ करके उसे धर्मात्मा बना देता है। भगवान् का द्वार मानवमात्र के लिए सदैव खुला हुआ है तथा किसी जाति, वर्ण, कुल इत्यादि का एकाधिपत्य नही है। इस अध्याय के अन्त मे श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि वह भगवान् को अपना मन समर्पित करके, भगवान् की भक्ति करने से भगवान् को प्राप्त हो जायगा।

श्रीकृष्ण ने गीता के प्रारम्भ मे ज्ञाननिष्ठा एव कर्मनिष्ठा—दो निष्ठाओ की चर्चा की है तथा भक्तियोग को कर्मयोग के अन्तर्गत कहा है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म त्यागकर भक्ति करने का उपदेश नही करते बल्कि कर्म करते हुए भक्तिपूर्ण रहने का आदेश देते हैं। भक्ति एक भाव है, एक आनन्दमग्नता है, अथवा एक रस है, जो कर्म की अन्तर्धारा है। कर्म बहिरग है तथा भक्ति अन्तरग। श्रीकृष्ण गीतोपदेश के प्रारम्भ मे कर्मफल के त्याग की महिमा बताते हैं, किन्तु वह दुष्कर है। श्रीकृष्ण एक सुगम, किन्तु उत्तम उपाय बताते हुए उसे राजविद्या अथवा राजयोग के नाम से प्रस्तुत कर रहे हैं, जो वास्तव मे कर्मयोग का ही उज्ज्वल रूप है। इसके महत्त्व पर बल देने की दृष्टि से श्रीकृष्ण इसे राजगुह्य अर्थात् गोपनीय वस्तुओ मे श्रेष्ठ कहते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि केवल कर्मफल का त्याग ही पर्याप्त नही है, कर्म का ही समर्पण कर देना चाहिए। भक्तिभाव से ओतप्रोत कर्मयोगी कर्म करके कह देता है—**श्रीकृष्णार्पणमस्तु**। इस अध्याय को कर्म समर्पणयोग भी कह सकते हैं। गीता मे इसके बाद तथा विशेषत अन्तिम भाग मे भगवान् श्रीकृष्ण कर्मयोग के अन्तिम सोपान की चर्चा करते हैं—पूर्ण आत्मसमर्पण, केवल कर्म का ही

—जो अद्रेश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु श्रोत्र, अपाणिपाद है, नित्य, व्यापक, सर्वगत, सुसूक्ष्म है, उस भूतयोनि (जगत् का कारण) को धैर्यवान् बुद्धिमान् सर्वत्र देखते हैं।

अर्पण नही, प्रभु के चरणो मे अपने जीवन का ही समर्पण ( गीता, १८ ६२ )। हम उसे शरणागतियोग अथवा आत्मसमर्पणयोग कह सकते हैं। वास्तव मे मार्ग दो ही हैं—ज्ञान तथा कर्म, किन्तु कर्मयोग के अन्तर्गत अनेक योग है, जैसे महानदी की अनेक शाखाएँ अथवा महापर्वत के अनेक शिखर।

वास्तव मे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उत्तरोत्तर अहकाररहित विश्वनियन्ता का सचेतन एव दिव्य यत्र बनने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। कर्मफल-त्याग, कर्म का अर्पण, जीवन का ही समर्पण अथवा कर्मफलत्यागस्वरूप कर्मयोग, कर्म-अर्पण द्वारा राजविद्यारूप कर्मयोग, आत्मसमर्पण द्वारा शरणागतिरूप कर्मयोग –यह भगवान् का यत्र बनने की प्रक्रिया है। हम कह सकते है कि भक्तिरस के उदय के साथ ही कर्मयोग का रूप उज्ज्वल होता रहता है तथा वह अपनी चरमावस्था को प्राप्त हो जाता है। अपने भीतर गहरे स्तर पर प्रभु-प्रेमरूप मधुर-रस का उद्रेक एव प्रवाह ही भक्ति है। कर्म की मिठास भक्ति मे है।

मानव-देह का प्रत्येक अवयव दैवी रचयिता के विलक्षण कौशल को निरूपित करता है। प्रत्येक अवयव एक आवश्यक, महत्त्वपूर्ण तथा पूर्ण इकाई होता है, किन्तु चेतना के स्पर्श से यह जड देह-यत्र सचालित एव सक्रिय होता है। दिव्य चेतना से चालित प्रत्येक देह-यंत्र विश्वरूप महायत्र की इकाई होता है, किन्तु अहकार एव राग-द्वेष से मुक्त होकर ही यह यत्र महायत्र का पूर्ण अगभूत होकर अथवा अभिन्न होकर कृतार्थ होता है। अतएव साधक का कर्तव्य है कि वह सावधान होकर अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर होता रहे। गीता की दृष्टि मे अतृप्त आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए मनुष्य पुनर्जन्म लेकर भी आगे ही बढता रहता है। साधक को भौतिकवादी, अर्थवादी एव भोगवादी अर्थात् अध्यात्मविरोधी वृत्तियो को धीरे-धीरे त्यागकर दैवी जीवन की ओर बढने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। आन्तरिक निर्मलीकरण द्वारा उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण प्राप्त करना पुरुषार्थ की सफलता है। आन्तरिक निर्मलीकरण का अर्थ है अहकार को राग-द्वेष तथा उनसे उत्पन्न काम, क्रोध, निराशा, भय आदि विकारो से मुक्त करना एवं अहकारशून्य होना। अहकार का शुद्धिकरण एवं उदात्तीकरण ही अहकारशून्य होना है।

आध्यात्मिक मूल्यो का अनुसरण करनेवाले मनुष्य का जीवन की समस्याओ के प्रति दृष्टिकोण और उनके समाधान की विधि सर्वसाधारण से भिन्न होते है। कर्मयोगी सत्यनिष्ठ एव कर्तव्यनिष्ठ होता है तथा विषम परिस्थिति मे भी पग-पग पर प्रभु के कल्याणकारी हाथ का दर्शन करता है। वह षड्यन्त्रो एव दुष्टतापूर्ण कुचक्रो का डटकर सामना करता है तथा कभी निराश अथवा भयभीत नही होता, क्योकि वह अपने भीतर स्थित दिव्य ज्योति से निरन्तर प्रकाश प्राप्त करता रहता है। वह दृढ सकल्प तथा अविचल आत्मविश्वास से युक्त होकर अपने कर्तव्य का पालन एव दायित्व का निर्वाह करता है। वह अपनी प्रशसा सुनकर फूलता नही है तथा निन्दा, व्यग्य, कटु आलोचना अथवा मिथ्या दोषारोपण से हतोत्साह नही होता। वह अपने मन को प्रतिशोध-भावना से दूषित नही करता। दण्ड देने का काम प्रकृति स्वय करती रहती है। दूसरो के लिए जाल बिछानेवाला अपने ही जाल मे फँस जाता है। कुकर्मी के कुकर्म ही उसका हनन करने के लिए पर्याप्त होते हैं। कर्मयोगी निष्ठापूर्वक अपना कर्तव्य-पालन करता है तथा न्याय ईश्वर पर छोड देता है। वह दूसरो के साथ दुर्व्यवहार और अन्याय नही करता। जब उसके साथ अन्याय और दुर्व्यवहार होता है वह स्वस्थ प्रतिक्रिया करता है तथा न्याय का कार्य प्रभु को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है और राग-द्वेष से मुक्त रहता है। विवश होने की स्थिति मे वह शालीनतापूर्वक अनुचित को अनुचित अवश्य कह देता है और अपनी अन्तरात्मा की वाणी को नही

दबाता। वह कर्म से बचने का अवसर होने पर भी आत्मसन्तोष के लिए कर्म करता है तथा अपनी दृष्टि मे कामचोर अथवा मिथ्याचारी नही बनता। कर्मयोगी मे अपार सघर्ष-शक्ति होती है। वह अदम्य उत्साह और उमग से कर्म करता है तथा साहसपूर्वक विषम स्थिति का सामना करता है। उसमे अकेला खड़े होने का साहस होता है। वह सब कुछ खोकर भी निरुत्साह नही होता तथा अत्यन्त विनम्र होकर भी मनुष्य से दया की भीख नही माँगता। वह अपनी दृष्टि मे अपनी छवि को उज्ज्वल बनाये रखता है तथा इसकी चिन्ता नही करता कि अन्य जन की दृष्टि मे उसकी छवि कैसी है। कर्मयोगी किसीके सुधार करने का दम्भ नही करता। उसका चरित्र ही एक जीवन्त उपदेश होता है। अपना दीपक जलाने से दूमरो को भी प्रकाश मिल जाता है। आत्मशुद्धि आत्मकल्याणकारक ही नहीं, लोककल्याणकारक भी होती है। मिथ्या अहकार के शान्त होने पर मनुष्य को शान्ति मिल जाती है।

कर्मयोगी की अविचल आन्तरिक शान्ति उसका गौरव होती है। उसके एक भी शब्द अथवा व्यवहार से अहकार की गन्ध नही आती। अहकार मनुष्य को राक्षस बना देता है। कामना-भग होने पर अहकार के कारण क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध मे घृणा, भय, निराशा और व्याकुलता प्रच्छन्न रूप से व्याप्त रहते हैं। क्रोध, घृणा, भय, निराशा और व्याकुलता मस्तिष्क और देह मे विष उत्पन्न कर देते हैं तथा समस्त प्रगति को अवरुद्ध कर देते हैं। अनुचित को शालीनतापूर्वक अनुचित कहना न्याय-भावना के साथ न्याय करना है। मन को घोटने से कुण्ठा उत्पन्न होती है, किन्तु क्रोध करना तो कोई उपाय नही है। अपना काम बिगडने पर अथवा दूसरे की कटुता एव कपट को देखकर उत्तेजित होना स्वाभाविक है, किन्तु विवेकशील मनुष्य उत्ते-जना को एक दोष मानकर पनपने नही देता। उत्तम पुरुष सावधान और सतर्क रहता है कि क्रोध एव दुर्भावना का उदय न हो जाय। क्रोध विवेक को लुप्त कर देता है तथा मनुष्य वाणी और व्यवहार मे सयम खोकर पशुवत् हो जाता है। यदि मन मे क्रोध उत्पन्न हो गया तो आत्मसयम कहाँ रहा ? आत्मसयम के बिना कौनसी लौकिक प्रगति और आध्यात्मिक साधना सम्भव हो सकती है ? कर्मयोगी परिस्थितियो से ऊपर उठकर व्यवहार करता है। आवश्यकता होने पर वह दृढ हो जाता है, किन्तु कदापि कठोर, कटु और क्रुद्ध नही होता।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि पापी के लिए भी आत्मोद्धार का मार्ग सदैव खुला रहता है। भूल होना भी मानवीय स्वभाव है, किन्तु भूल करते रहना पाशविकता का लक्षण है। अपनी भूल को स्वीकार करके सकल्पपूर्वक सुधार करना आत्मो-द्धार के मार्ग पर चलना है। भूल के प्रति सजग होना सिद्ध करता है कि व्यक्ति सचेत है तथा उसमे ऊपर उठने की क्षमता है।

पश्चात्ताप मनुष्य की भयकर भूल के सस्कार को भी नष्ट कर देता है तथा उसे उच्चतर अवस्था की ओर अग्रसर कर देता है। भूल को ठीक सिद्ध करने का प्रयत्न मनुष्य को नीचे गिरा देता है। कुछ चालाक लोग कह देते हैं कि भगवान् ने पाप करा दिया, किन्तु फल भोगते समय भगवान् के विधान को सहर्ष स्वीकार नही करते। परमात्मा को पाप कर्म के लिए दोष देना भयकर भूल है। वास्तव मे अन्तर्यामी प्रभु पुण्य कर्म की प्रेरणा देता है, किन्तु मनुष्य उसकी अवहेलना करके पाप स्वय करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता एक अनुपम ग्रन्थ है, जो पापी के लिए भी आत्मकल्याण एव आनन्द-प्राप्ति का पूर्ण अधिकार देता है। श्रीकृष्ण बलपूर्वक कहते हैं कि परमात्मा की करुणा अनन्त है तथा घोर पापी मे भी आत्मसुधार की सम्भावना अनन्त है। गीता का दिव्य सन्देश केवल जाति और देश को ही नही लाँघता, बल्कि समाज से बहिष्कृत घोर

पापीजन तथा समाज मे तिरस्कृत निम्नस्तरीय जन के लिए भी उद्घोषित हुआ है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि शुद्ध जीवन-यापन करने का दृढ सकल्प करके तथा जीवन की दिशा को मोडकर पापी भी धर्मात्मा हो जाता है।

जीवन एक नदी के जल के सदृश प्रवाह है। प्रत्येक क्षण नया जल आकर प्रवाहित होता रहता है। इसीलिए कहा जाता है कि हम उसी प्रवाह को दो बार पार नही कर सकते। जो जल प्रवाहित होकर चला गया वह मानो नष्ट हो गया। इसी प्रकार जो समय व्यतीत हो गया, वह भी मानो नष्ट हो गया तथा उसकी स्मृति ही शेष रह गयी। विलुप्त अतीत की स्मृति को मन मे पुनर्जीवित करना और वर्तमान मे स्थित होकर भी भूतकाल मे जीवित रहना अविवेक है। भूतकाल से ग्रस्त होकर वर्तमान की उपेक्षा करना अपनी प्रगति को अवरुद्ध करना है। भूतकाल असत् है, वर्तमान सत् है। वर्तमान मे स्थित होकर कर्तव्यकर्म करना चाहिए तथा भूतकाल के अन्धकार मे एव अजन्मे भविष्य की चिन्ता मे वर्तमान को नष्ट करना मूढता है। पुराने अनुभव से लाभ उठा सकते है तथा पुरानी भूलो से पश्चात्ताप द्वारा मुक्त हो सकते हैं, किन्तु वह पश्चात्ताप अल्पकालीन तथा विवेक से प्रकाशित होना चाहिए, अन्यथा वह पतनकारक हो जाता है। अपना अपराध स्वीकार करके पश्चात्ताप करना यह प्रमाणित करना है कि मनुष्य के भीतर मानवीय गुणो का विशाल भण्डार है। भावुकता आत्मग्लानिरूप अन्धकार उत्पन्न कर देती है तथा विवेक विचाररूप प्रकाश उत्पन्न करता है। बार-बार पीछे मुड़कर देखते रहने से आगे बढना बन्द हो जाता है। अतीत की स्मृतियो को तटस्थ द्रष्टावत् देखना चाहिए। 'मैं पापी हूँ', यह सरल उक्ति तो विनम्रता की द्योतक हो सकती है, किन्तु पुरानी भूलों का भावुकतापूर्ण चिन्तन मनुष्य मे पाप के सस्कारो को दृढ कर देता है। 'मैं पापी हूँ', ऐसी निरन्तर प्रस्थापना मनुष्य को पापी बना देती है। सत् सकल्प के द्वारा अतीत के बन्धन को तोडकर मनुष्य अपने अपराधी एव दोषी 'अह' को विगलित कर सकता है तथा जीवन को गतिशील, रसमय एव दिव्य बना सकता है। अपनी दृष्टि मे अपने को नीचे गिराते रहने से मनुष्य मे ऊपर उठने की शक्ति क्षीण हो जाती है। एक बार हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर कालान्तर मे मनुष्य का रूपान्तर हो जाता है। सत्सगति और प्रार्थना द्वारा सत् सकल्प को पुष्ट एव दृढ किया जा सकता है। सन्त जन के आशीर्वाद से भी क्या सम्भव नही होता ? विश्व के इतिहास मे ऐसे मनुष्यो की सख्या अगणित है, जो प्रारम्भ मे पाप-ग्रस्त थे तथा जीवन मे मोड आने पर महान् हो गये। एक प्रख्यात उक्ति है कि सन्त का भूतकाल गौरवमय होता है, किन्तु पापी का भविष्य गरिमा-मय होता है।

मनुष्य को दुर्गुणो से रोकने तथा उसमे उत्तम गुणो की प्रस्थापना करने के लिए परिवार का महत्त्व अत्यधिक होता है। परिवार की उपेक्षा करनेवाला तथा परिवार के प्रति अपने कर्तव्य-पालन करने से पलायन करनेवाला मनुष्य दोषी होता है।

कर्तव्यकर्म करने के स्थल से विफलता अथवा निन्दा के भय से पलायन करना अकर्मण्यता ही नही, एक निन्दनीय वृत्ति होती है। कर्तव्यकर्म मे रुचि लेकर उसका पालन करना चाहिए। प्रश्न है— मनुष्य उस कार्य मे रुचि कैसे ले, जो उसके मन के अनुकूल नही है अथवा उसे पसन्द नही है। किन्तु मनुष्य को सदैव वह कर्तव्यकर्म नही मिल सकता, जो उसके मन के अनुकूल अथवा उसे पसन्द हो। वास्तविकता तो यह है कि जीवन मे मनुष्य को प्राय वे कर्तव्यकर्म मिलते हैं, जो उसे पसन्द नही होते। अतएव मनुष्य को उन कर्तव्यकर्मों को पसन्द करना चाहिए, जो प्रवाहपतित रूप मे उसे करने के लिए मिलें। कर्म के पीछे राग-द्वेष-रहित,

शुद्ध प्रेमपूर्ण सेवाभाव होना चाहिए। प्राय: मनुष्य मन मे कटुता और वाध्यता का अनुभव करते हुए कर्तव्यकर्म करते हैं, जिससे कर्म का प्रभाव दूषित हो जाता है। कर्तव्यकर्म को प्रभु का सौंपा हुआ कर्म मानकर प्रेमपूर्वक उसका सम्पादन करना चाहिए। मनुष्य को उत्तम कर्म करने का अभिमान नही करना चाहिए तथा यह भी कदापि न सोचना चाहिए कि उसने दूसरो पर अहसान किया है, क्योकि इससे कर्तव्य-पालन का उद्देश्य पूर्ण नही होता तथा चारो ओर वातावरण भी दूषित हो जाता है। यदि हमे अपने परिवार और पडोस से प्रेम है तो कर्तव्य-पालन से सन्तोष होना चाहिए, न कि गर्व का प्रदर्शन।

परिवार मे सभी समान नही होते। समाज मे भी सभी समान नही हो सकते। सबकी कर्मक्षमता अलग-अलग होती है। कोई छोटा बालक है, कोई वृद्ध पिता या माता है, कोई रोगी है, किसीकी आय का स्रोत अल्प है तथा कोई ससाधन-सम्पन्न और सक्षम है तथा उसकी आय के साधन अधिक हैं इत्यादि। अतएव ऐसा सोचना कि मैं अधिक काम करता हूँ तथा दूसरे नही करते अथवा मैं अधिक धन अर्जित करता हूँ तथा दूसरे मेरे धन पर पलकर मौज उड़ा रहे है, परिवार के सगठन को कमजोर कर देता है। सब सबके लिए काम करें तथा प्रेमभाव से परस्पर सहयोग दें। यदि किसी-को कुछ सुझाव देना है तो प्रेमपूर्ण एव मधुर वाणी से सुझाव देना चाहिए। कटुता से कटुता उत्पन्न होती है। व्यक्तिगत कारण से किसीका पक्ष लेना तथा किसीका विरोध करना अथवा गुटबाजी को वढावा देना भयकर होता है। परिवार के हित मे सरलता और स्पष्टता से, किन्तु प्रेमपूर्वक सुझाव देना ही उत्तम होता है। परिवार के बडे गोपनीय बातो को गोपनीय रखते हैं तथा पग-पग पर वाणी और व्यवहार मे अपार प्रेम, करुणा, क्षमा और सहन-शीलता एव धैर्य का परिचय देकर समस्या का समाधान करते हैं। अविवेकी मनुष्य कटुता और क्रोध से समस्या को विषम बना देते हैं। विवेकी पुरुष उचित प्रशसा द्वारा गुणो को प्रोत्साहित करते हैं तथा व्यर्थ आलोचना द्वारा परस्पर दूरी उत्पन्न नही करते। परिवार मे रोगी, दु खी और बालको के प्रति विशेष करुणामय और सहनशील होना चाहिए। किसीकी उपेक्षा करना कटुता का ही एक रूप है। परिवार मे तनाव होने से मानसिक तनाव हो जाता है। मनुष्य बाहरी दुनिया की कटुता तो सह लेता है, किन्तु जब वह विश्राम की आशा से घर मे प्रवेश करता है और वहाँ भी कटुता देखना है, वह असह्य हो जाती है। किन्तु धैर्य और उदा-रता का त्याग सदैव क्लेशकारक होता है। बात-बात मे परेशान, उत्तेजित और चिन्तित होने के स्वभाव से मानसिक तनाव बढ जाता है, जिसके प्रभाव से मनुष्य न केवल कर्तव्य-पालन मे अक्षम हो जाता है, बल्कि रक्तचाप, सिर-दर्द, अपच, अनिद्रा इत्यादि का शिकार होकर दयनीय स्थिति को प्राप्त हो जाता है तथा धन आदि ससाधन निरर्थक हो जाते हैं। रोगी तथा दु खी की त्योरी का उत्तर मुस्कान से और कटुता का उत्तर मृदुता से देना चाहिए। प्रतिक्रियात्मक कटुता और क्रोध पाशविकता के लक्षण हैं। प्राय. धन के अभाव से उतनी कटुता नही होती, जितनी धन की प्रचुरता के प्रभाव से होती है। धन के प्रभाव एव प्रेम के अभाव के कारण देवराज इन्द्र के वैभव-विलास को विनिन्दित करनेवाले ऐश्वर्यपूर्ण प्रासादो मे नरक के बीभत्स दृश्य देखे जाते हैं। शङ्कराचार्य कहते हैं कि धनपतियो को धन के प्रभाव के कारण पुत्र से भी भय लगता है (**पुत्रादपि धनभाजा भीति.**)। कठोपनिषद् कहता है कि धन से मनुष्य को आन्त-रिक शान्ति नही मिलती (**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य.**)। वास्तव मे यह धन का दोष नही है, वल्कि धन-लोलुपता का दोष है तथा सन्तोष-वृत्ति खो बैठने का दोष है। यदि परिवार मे कलह किसी प्रकार भी शान्त न होता हो तो पृथक् हो जाना ही एकमात्र उपाय शेष रहता है। कहावत है राड

( रार ) से बाड़ भली । धर्म के बिना धन विष है । पुरुषार्थ और ईमानदारी से धन का अर्जन करने से, अर्जित धन मे सन्तोष मानने से और धन का सदुपयोग करने से परिवार के सदस्यो पर उत्तम सस्कार पडते हैं तथा परिवार मे सुख और शान्ति होती है ।

कर्मयोगी जीवन्त होता है तथा विषम परिस्थिति मे भी काँटो के मध्य रहनेवाले गुलाब की भाँति न केवल मुस्कराता है, बल्कि अपने चारो और प्रेम-सुगन्धि को प्रसारित करता है । कर्मयोगी पाषाण-खण्डो के मध्य मृदु जल के निर्झर की भाँति निरन्तर प्रवहमान एव गतिशील रहता है । भगवान् की भक्ति उसके जीवन को सरस बना देती है । ●

# अथ दशमोऽध्यायः
## विभूतियोग

श्रीभगवानुवाच

**भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।**
**यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥**

**शब्दार्थ :** महाबाहो=हे विशाल भुजावाले अर्जुन, **भूय एव मे परम वच शृणु**=पुन भी मेरे परम वचन को सुन, **यत्**=जोकि, **अहं प्रीयमाणाय ते हितकाम्यया वक्ष्यामि**=मैं प्रेम करनेवाले तुझे हित की इच्छा से कहूँगा।

**वचनामृत :** हे वीर अर्जुन, तू पुन मेरे परम वचन को सुन, जिसे मैं अतिशय प्रेम करनेवाले तुझे हित की इच्छा से कहूँगा।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण महत्त्वपूर्ण विभूतियोग की चर्चा के लिए सावधान कर रहे हैं।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण आदर्श गुरु हैं तथा अर्जुन आदर्श शिष्य है। श्रीकृष्ण अर्जुन को समस्त आध्यात्मिक ज्ञान सक्षेप मे कह देना चाहते है, किन्तु वे अर्जुन की जिज्ञासा को प्रेमपूर्वक प्रोत्साहित करते रहते हैं तथा उसके मन को उच्चाटित नही होने देते। सद्गुरु अधिकारी पुरुष की सुपात्रता से प्रसन्न होकर उसे अपना सर्वस्व दे देना चाहते हैं तथा उत्तम शिष्य भी श्रद्धापूर्वक ज्ञान ग्रहण करता रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को महत्त्वपूर्ण विभूतियोग का रहस्य समझा देना चाहते हैं और भूमिका के रूप मे उसे सावधान कर रहे हैं। श्रीकृष्ण दो बातें स्पष्ट कर रहे हैं—वे अर्जुन की हित-कामना से प्रेरित होकर ही उसे गीतोपदेश दे रहे हैं तथा वे प्रसन्न हैं कि वह ग्रहणशील होकर श्रद्धापूर्वक रसामृत पान कर रहा है।[1] श्रीकृष्ण अर्जुन को महाबाहु कहकर उसकी सुपात्रता की घोषणा करते हैं तथा उसे आदर देते हैं। उत्तम गुरु अपने शिष्य को उचित प्रशसा द्वारा सदैव प्रोत्साहित करते हैं। सत्पुरुषो की परस्पर प्रशसा सात्त्विक प्रेम की प्रस्थापना कर देती है। एक ओर रोचक उपदेश, दूसरी ओर रुचिपूर्वक श्रवण यही इस सवाद की विशेषता है।

**न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।**
**अहमादिर्हि देवाना महर्षीणा च सर्वशः ॥२॥**
**यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।**
**असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥**

**शब्दार्थ :** **मे प्रभवं न सुरगणा· विदु· न महर्षय. ( विदु )**=मेरे प्रभव ( उत्पत्ति अथवा प्रभाव ) को न देवगण जानते हैं न महर्षि जानते हैं, **हि अह सर्वश देवाना च महर्षीणां आदि**=क्योंकि मैं सब प्रकार से देवगण का और महर्षियो का आदिकारण हूँ। **य. मा अज अनादि च लोकमहेश्वर वेत्ति**=जो मुझे अजन्मा, आदिरहित तथा लोको का महान् ईश्वर जानता है, **स मर्त्येषु असमूढ. सर्वपापै. प्रमुच्यते**=वह मनुष्यो में मोहरहित मनुष्य सब पापो से मुक्त हो जाता है।

**वचनामृत** मेरी उत्पत्ति ( अथवा प्रभाव ) को न देवगण जानते हैं न महर्षिगण ही, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवगण तथा महर्षिगण का भी आदिकारण हूँ, किन्तु जो मुझे अजन्मा, आदिरहित तथा सब लोको का महान् ईश्वर के रूप मे जानता

---

१ गीता, ४ ५

है वह मनुष्यो मे असमूढ अर्थात् ज्ञानी पुरुष सब पापो से मुक्त हो जाता है।

**सन्दर्भ :** परमात्मा का पूर्ण ज्ञान असम्भव है, किन्तु ज्ञानी तत्त्व को समझता है।

**रसामृत :** सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रचयिता, सचालक, पोषक और संहारक परमेश्वर को तथा उसके प्रभाव को कोई पूर्णत नही जान सकता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा इन्द्रियो के लिए अगोचर होने के कारण उसे मनुष्य प्रत्यक्ष रूप मे नही देख सकते तथा बुद्धि की शक्ति सीमित होने के कारण उसे समझ नही सकते। वेद जिसे 'नेति नेति' पुकारकर कहते हैं—उसे कौन जान सकता है?[1] ईश्वर के दैवी अश देवता भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं तथा वे भी उसे नही जानते। महान् ऋषि[2] भी तप आदि द्वारा अज्ञेय परमात्म-तत्त्व को नही समझ सकते।[3] परमात्मा मनुष्यो, महर्षियो और देवताओ की उत्पत्ति का कारण है। कार्यरूप मनुष्य, महर्षि और देव अपने कारणरूप परमात्मा को पूर्णत नही जान सकते। सीमित तत्त्व असीम को नही जान सकता, यह एक तथ्य है। किन्तु मनुष्य मोह से मुक्त होकर तथा इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे सूक्ष्म चेतना मे स्थित होकर चैतन्यस्वरूप परमात्मा की अनुभूति कर सकता है। परमात्मा अजन्मा है, आदिरहित है तथा समस्त लोको अर्थात् अखिल ब्रह्माण्ड का नियन्ता महान् ईश्वर है। जिसका जन्म और आदि है, उसका विनाश और अन्त है। परमात्मा को अज, अनादि और महान् ईश्वर जान लेना ही उसका ज्ञान है। ऐसा ज्ञान सावधानतापूर्वक मन मे स्थिर होने पर मनुष्य नश्वर जगत् के नश्वर भोगैश्वर्यो के प्रलोभन से ग्रस्त नही होता तथा समस्त पापो अर्थात् पुण्य-पाप के विकारो से मुक्त होकर परम शुद्ध एव पवित्र हो जाता है।[1] परमात्मा की अभिन्नता की अनुभूति होने पर मनुष्य का उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण हो जाता है। मात्र बुद्धि से जानना मिथ्या अहकार है।[2] परमात्मा राग-द्वेष-रहित एवं अहकार-शून्य साधको के लिए अनुभवगम्य अवश्य होता है।

**बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।**
**सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥**
**अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।**
**भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥**

**शब्दार्थ :** बुद्धि ज्ञान असंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः सुखं दुःखं भव. च अभाव. भयं च अभयं एव= बुद्धि ( विचार एव तर्क द्वारा निश्चय करनेवाली शक्ति ), यथार्थज्ञान, असमोह ( मोहशून्यता ), क्षमा, सत्य, दम ( इन्द्रियो का सयम ), शम ( मन का संयम ), सुख,

---

१ 'को वा वेद'—उसे कौन जान सकता है ?

२ 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार'—ऋषि मत्रो के द्रष्टा हैं, 'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषय'— धर्म को साक्षात् करनेवाले ऋषि होते हैं। चेतना के उच्चतम धरातल पर स्थित मनुष्य को ऋषि कहते हैं।

३ यस्यान्त न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः—अर्थात् जिसके अन्त को सुर और असुर नही जानते उस परमदेव को नमस्कार।

१ न तस्य कश्चित् जनिता न चाधिपः—उसका कोई कारण या स्वामी नही है।

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वत परिभूरसि, अप नः शोशुचदघम्।—ऋग्वेद, १ ९७.६।
—यह परमात्मा से पाप-नाश के लिए प्रार्थना है। पाप की अपेक्षा पुण्य उत्तम है, किन्तु पाप-पुण्य से ऊपर उठना सर्वोत्तम है। मनुष्य मोह-बन्धन से मुक्त होकर पाप-पुण्य से ऊपर उठ जाता है।

२ यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञात विजानता विज्ञातमविजानताम् ॥
—केन उप०, २.३।

—परमात्मा उसको ज्ञात है, जो उसे अज्ञेय मानता है। वह उसे नही जानता, जो उसे जानता है ( जानने का दम्भ करता है )। यह उन्हें अज्ञात है, जो बहुत जानते हैं और उन्हे ज्ञात है, जो उसे जानने का अभिमान नहीं करते। ब्रह्मज्ञान में जानने की बुद्धि नही रहती।

दुःख, उत्पत्ति और विनाश ( प्रलय ) भय और अभय भी, अहिंसा समता तुष्टि तपः दान यश अयशः=अहिंसा, समत्व, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश, भूतानां पृथग्विधाः भावा मत्तः एव भवन्ति=प्राणियो के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं।

**वचनामृत :** बुद्धि, ज्ञान ( तत्त्वज्ञान ), असमूढता, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, मन का सयम, सुख, दु ख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय तथा अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश—प्राणियो के ये नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं।

**सन्दर्भ :** सारे भावो का कारण एक परमात्मा ही है।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण अनेक वार अनेक प्रकार से अर्जुन को यह समझा रहे है कि विश्व मे जीव, अजीव, चेतन, जड इत्यादि सब कुछ परमात्मा ही है। वासुदेव परमात्मा ही सब कुछ है, ऐसा भास किसी एक ज्ञानी महापुरुष को ही होता है।[1] अन्तिम सत्य एक ही ( अद्वैत, दो नही ) है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य के नाना प्रकार के भावो का मूल कारण भी परमेश्वर ही है। परमात्मा ही प्राणियो और उनके भावो मे व्याप्त है। वास्तव मे विश्व-प्रपञ्च मे सर्वत्र वही एक दिव्य सत्ता व्याप्त है। परमात्मा लोकमहेश्वर है अर्थात् वह सर्वप्रकाशक है तथा सर्वव्यापी है तथा स्थूल जगत् के बाहर और भीतर वही एक परमात्मा अपनी दिव्य सत्ता से सूक्ष्म रूप मे स्थित है। चैतन्यस्वरूप परमात्मा के सस्पर्श से ही जड वस्तु और भाव गतिशील होते हैं। अतएव आत्यन्तिक अथवा परमार्थ-दृष्टि से सब कुछ वही एक है, वह सर्वस्वरूप है। ज्ञानी पुरुष समस्त भावो मे भी परमात्मा का ही दर्शन करता है। अन्ततोगत्वा ब्रह्म ही सत् है तथा उपास्य एव प्राप्य है।

यहाँ बुद्धि का 'अर्थ विचार और विवेक द्वारा सार-असार का निश्चय करना है। ज्ञानी सत् और असत् का निर्णय करते हैं। यह दृश्य जगत् नश्वर अथवा मिथ्या है तथा ब्रह्म सत् है। बुद्धि द्वारा ही कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य आदि का भेद किया जाता है। चेतन आत्मतत्त्व और अचेतन आत्मतत्त्व का पृथक् स्वरूप जानना ज्ञान है। जीवात्मा ब्रह्म है, ऐसा बोध ही मोक्ष का कारण होता है।

ज्ञान का प्रकाश होने पर विषयो के मोह से छूट जाने को असम्मोह कहते हैं। असम्मोह होने पर मनुष्य को कर्तव्य और अकर्तव्य का यथार्थ बोध हो जाता है तथा उसके चित्त मे व्याकुलता नही होती।

ज्ञान का उदय होने पर वास्तविक क्षमा का उदय हो जाता है। किसीके द्वारा निन्दा होने पर भी क्षमाशील मनुष्य निर्विकार रहता है तथा उसमे प्रतिशोध ( वदला लेना ) का भाव नही जागता। क्षमाशील व्यक्ति के मन पर दूसरो के कटु और कठोर व्यवहार का कोई प्रभाव नही होता।

सत्य की साधना मनुष्य को परमेश्वर के समीप स्थित कर देती है। किसी वात का जैसा अनुभव हो वैसा ही मृदु शब्दो मे प्रकाशित कर देना सत्य का व्यवहार है। अनेक लोग किसीकी प्रशसा मे अथवा निन्दा मे तथ्य का विरोध कर देते हैं, जो अनुचित है। दम और शम का अभ्यास आध्यात्मिक साधना का आवश्यक अग होता है। इन्द्रियो का सयम दम होता है। विषयो के प्रभाव से अन्त -करण को मुक्त करके उसे शान्त रखना शम होता है। चित्त के अनुकूल अनुभव को सुख कहते हैं तथा प्रतिकूल अनुभव को दु ख कहते हैं।[1] ज्ञानी पुरुष सासारिक सुख और दु ख से ऊपर उठकर तथा उच्च चेतना मे स्थित होकर परमात्मा के साथ एकात्मता द्वारा परमानन्द की दिव्यानुभूति करके कृतार्थ हो जाता है।

१ वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।—गीता

१ मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणियो से प्राप्त कष्ट को आधिभौतिक, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूचाल, आँधी आदि दैवी प्रकोप से प्राप्त कष्ट को आधिदैविक तथा शरीर और मन के कष्टो को आध्यात्मिक कहा जाता है।

भाव उत्पत्ति अथवा किसी वस्तु के अस्तित्व के अनुभव को कहते हैं तथा अभाव वस्तु के न होने को कहते है। सृष्टि की उत्पत्ति को भी भाव तथा प्रलय को अभाव कहा जाता है। भय अप्रिय की आशका को कहते है तथा ज्ञान द्वारा भय से मुक्ति को अभय कहते हैं। साधना के प्रारम्भ मे अनैतिक कार्यों से भय होना अच्छा होता है, किन्तु कालान्तर मे उच्चावस्था प्राप्त होने पर साधक नितान्त निर्भय हो जाता है। अभय दैवी सम्पदा का प्रथम लक्षण है। बिना अभय कोई साधना फलीभूत नही होती तथा अभय ज्ञान की सिद्धि को उपलक्षित कर देता है।

अहिंसा केवल प्राणियो को पीडा न देना मात्र ही नही है, बल्कि प्राणियो के प्रति करुणाभाव रखना भी है। अहिंसा एव अद्वैत सिद्ध होने पर अभय भी सिद्ध हो जाता है। अहिंसा एव अद्वैत की साधना अभय की साधना है। पूर्ण अहिंसक पूर्ण अभय होता है।

समता मन की राग-द्वेष-रहित तथा अहकार-रहित अवस्था को कहते हैं। जब मनुष्य को कोई शत्रु प्रतीत नही होता तथा सुख और दु ख समान प्रतीत होते हैं। ज्ञान का उदय होने पर अनायास ही अहिंसा और समता की सिद्धि हो जाती है।

तुष्टि का अर्थ प्राप्त को पर्याप्त समझकर सन्तोष धारण करना है। सन्तोषरहित धनपति सन्तुष्ट धनहीन की अपेक्षा अधिक दयनीय होता है। सन्तोष के विना मन मे शान्ति नही होती। परमात्मा का विधान मानकर उसे सहर्ष स्वीकार करना उत्तम सन्तोष है। सयमरूप साधना की दृष्टि से अपनी क्षमता तथा सहनशक्ति के अनुरूप शारीरिक कष्ट उठाना तप होता है। अपनी क्षमता और श्रद्धा के अनुसार न्याय से उपार्जित धन का अश गर्वरहित होकर सत्पात्र को देना दान होता है। दान से दूसरे की सेवा तथा अपना कल्याण होता है।[1] दान देना समाज का ऋण चुका देना है। शुभ कर्म सम्पादन द्वारा अर्जित लोक-प्रशसा अथवा कीर्ति को यश कहते हैं तथा अशुभ कर्म द्वारा प्राप्त लोक-निन्दा अथवा अपकीर्ति को अपयश कहते हैं। समाज मे कुछ लोग ईर्ष्या-द्वेषवश कुछ समय तक सत्पुरुष की निन्दा करते है, किन्तु कालान्तर मे सत्पुरुष को जन-समाज का सम्मान अवश्य प्राप्त होता है। सत्कर्म प्रकाश एव सुगन्धि प्रसारित करता है तथा कुकर्म अन्धकार एव दुर्गन्धि। यश-अपयश द्वारा मनुष्य का लौकिक मूल्याकन होता है, किन्तु उत्तम पुरुष यश-अपयश से भी ऊपर उठकर आत्मकल्याण एव आत्मसन्तुष्टि के लिए सहजभाव से सत्कर्म करता है।

प्राणियो के उपर्युक्त बीस भाव तथा अन्य भाव परमेश्वर से ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् सर्वात्मा परमेश्वर की सत्ता से ही प्रकाशित होते हैं। जीवन के मूल मे एक ही चैतन्य सत्ता होने पर भी विभिन्न प्राणियो के विभिन्न भाव स्वभाव एव संस्कार के भेद के कारण होते हैं। ज्ञानवान् पुरुष सब भावो से ऊपर उठ जाता है।[1]

**महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।**
**मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥६॥**
**एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।**
**सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥७॥**

**शब्दार्थ : सप्त महर्षयः चत्वारः पूर्वे तथा मनव** = सप्त महर्षिगण ( तथा उनसे पूर्व होनेवाले ) चार पूर्व मे होनेवाले महर्षि तथा चौदह मनु, **मद्भावा मानसाः जाताः** = मेरे मे भाववाले मन से ( संकल्प से ) उत्पन्न हुए हैं, **येषा लोके इमाः प्रजाः** = जिनकी संसार मे ये सब प्रजा हैं, **य एतां मम विभूतिं च योगं तत्त्वत वेत्ति** = जो इस मेरी विभूति ( ऐश्वर्यरूप महिमा ) को और योग-शक्ति ( सामर्थ्य, कौशल ) को तत्त्व से जानता है, **स अविकम्पेन योगेन युज्यते** = वह निश्चल योग से एकीभाव

---

१. शङ्कराचार्य कहते हैं—**दानं यथाशक्ति संविभागः।** शङ्कराचार्य का यह वाक्य गाधीजी के 'ट्रस्टीशिप' का प्रेरक प्रतीत होता है।

१ **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।**
—गीता, १८.६२।
गीता के सोलहवें अध्याय मे अभय, दान, दम, तप, अहिंसा, क्षमा आदि को दैवी सम्पदा कहा गया है।

में स्थित हो जाता है। अत्र संशय न=इसमें सशय नही है।

**वचनामृत :** सात महर्षि, इनके भी पूर्ववर्ती चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये मुझमे भाववाले सब मेरे सकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी ससार मे यह सब प्रजा है।[1] जो मनुष्य मेरी इस ऐश्वर्यरूप विभूति को तथा योग-शक्ति ( सृष्टि उत्पन्न करने की विचित्र सामर्थ्य ) को तत्त्व से जानता है, वह दृढ भक्तियोग द्वारा युक्त हो जाता है—इसमे सशय नही है।

**सन्दर्भ :** भगवान् की विभूति को जानने से भक्ति दृढ होती है।

**रसामृत :** सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च भगवान् की ही सृष्टि है तथा सर्वत्र एक भगवान् वासुदेव ही परिपूर्ण अथवा व्याप्त है। 'मैं तथा यह जगत् सब परमात्मा ही है'--यही तत्त्वज्ञान है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिन परम ज्ञानी सात महर्षियो और उनसे भी पहले चार सनकादि महर्षि तथा चौदह मनु, जो सृष्टि के आदि मे थे तथा जिनसे ये प्रजाएँ सृष्ट हुई हैं, वे सब भगवान् के सकल्प द्वारा उत्पन्न हुए थे तथा भक्तिसम्पन्न थे। उनकी गणना भी भगवान् की विभूतियो मे है। वास्तव मे समस्त विश्व भगवान् की ही विभूति ( शक्ति का प्रभाव, ऐश्वर्य ) अथवा स्वरूप ही है। भक्तगण इस अद्भुत और विशाल सृष्टि को देखकर भगवान् की विभूतियो और सृष्टि उत्पन्न करने की भगवान् की अनन्त सामर्थ्य के प्रति नतमस्तक होते हैं और श्रद्धा तथा प्रेम से उसके साथ आत्मीयता का अविचल नाता स्थापित करते हैं। मनुष्य ज्यो-ज्यो सृष्टि के रहस्यो को तत्त्वत समझने का प्रयत्न करता है, वह हतप्रभ होकर स्रष्टा के अनिर्वचनीय परम ऐश्वर्य के प्रति श्रद्धानत हो जाता है।

विश्व के प्रत्येक कण मे भगवान् के कौशल को देखकर उत्तम मनुष्य का मन भगवान् की भक्ति मे दृढ हो जाता है।[1]

**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**
**इति मत्वा भजन्ते मा बुधा भावसमन्विताः ॥८॥**
**मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त परस्परम्।**
**कथयन्तश्च मा नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥**

**शब्दार्थ .** अह सर्वस्य प्रभव मत्त सर्वं प्रवर्तते= मै वासुदेव ही सारे जगत् का प्रभव ( उत्पत्ति का उपादान तथा निमित्तकारण ) हूँ, मुझसे ही सब कुछ प्रवर्तित होता है, इति मत्वा=ऐसा मानकर, भावसमन्विता बुधा मां भजन्ते=भावयुक्त होकर बुधजन मुझे भजते हैं। मच्चित्ता मद्गतप्राणा नित्यं परस्पर बोधयन्त.=मुझमें चित्त को केन्द्रित करनेवाले, मुझमें ही प्राणो को लगानेवाले, सदा परस्पर मेरी चर्चा करते हुए, च मां कथयन्त च=और मेरा कथन करते हुए ही, तुष्यन्ति च रमन्ति =तुष्ट होते हैं और ( मुझ वासुदेव में ) रमण करते हैं।

**वचनामृत :** मैं वासुदेव ही सारे जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ तथा मुझसे ही सब कुछ चेष्टावान् होता है--ऐसा समझकर भक्तिभावयुक्त बुधजन मुझ वासुदेव को ही निरन्तर भजते हैं। निरन्तर मुझ वासुदेव मे ही चित्त को सस्थित करनेवाले मुझमे ही प्राण अर्पण करनेवाले भक्तजन परस्पर सदा मेरी चर्चा करते हुए और मेरा कथन

---

१ यह अन्वय और अर्थ मधुसूदन सरस्वती, श्रीधर, शङ्करानन्द इत्यादि के अनुसार है। इसका भिन्न अन्वय करने पर अर्थ है—सात महर्षि तथा पहले प्रसिद्ध चार मनु, जिन्हें सावर्णि कहा जाता है। आद्य सप्तमहर्षि ये हैं—मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये प्रवृत्तिमार्गी कहलाते हैं। कही कहीं अङ्गिरा के स्थान पर भृगु हैं। पूर्ववर्ती चार महर्षि निवृत्ति-मार्ग के प्रवर्तक हैं। वर्तमान मन्वन्तर के सप्तर्षि हैं—कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और वसिष्ठ। चौदह मनुओ मे छह हो चुके तथा सातवाँ मनु वैवस्वत चल रहा है। एक कल्प मे चौदह मनु होते हैं। पहले होनेवाले चार महर्षि सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार कहे गये हैं। इन सबकी चर्चा पुराणों में है।

१ परमात्मा की मायाशक्ति को 'अघटितघटनापटीयसी' कहा गया है।

करते हुए सन्तुष्ट रहते हैं और मुझ वासुदेव मे ही रमण करते हैं।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अविकम्प भक्तियोग की प्राप्ति का क्रम बता रहे हैं।

**रसामृत :** मनुष्य को यह निश्चयपूर्वक जान लेना और मान लेना चाहिए कि इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण मात्र भौतिक परिस्थितियाँ नही हैं, बल्कि उनके पृष्ठ मे स्थित एक चेतन सत्ता अथवा परमात्मा है। एक घड़ा बनाने के लिए केवल मिट्टी ( उपादान कारण ) नही, बल्कि कुम्हार का अत्यन्त कुशल हाथ ( निमित्त कारण ) भी होना आवश्यक है। इस सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण परमात्मा ही है। वही जगत् के कण-कण मे व्याप्त है तथा वही इसके सचालन एव सहार का भी कारण है। वही इसे मर्यादा मे रखकर गतिशील बना रहा है, सृष्टि-चक्र को चला रहा है। यह समझने पर मनुष्य उसके प्रति नतमस्तक होकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकता है।[1] जो मनुष्य परमात्मा को ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता मानकर भक्तिभावसहित उस नित्य एव दिव्य सत्ता के साथ अपना नाता स्थापित कर लेता है वह बुध अर्थात् बुद्धिमान् है। परमेश्वर के समीप भावसमन्वित होकर जाने से उसकी महिमा एव कृपा की अनुभूति हो जाती है। अन्तर्यामी भगवान् भाव के भूखे हैं तथा कपटपूर्ण आडम्बर निरर्थक होता है। भक्त को दिव्य भाव द्वारा भावसमाधि की अनिर्वचनीय आनन्दावस्था प्राप्त हो जाती है।

१ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।'
—छान्दोग्य उप०, ६ २ १ ।

—हे सोम्य, आरम्भ मे यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।

'तदैक्षत बहु स्या प्रजायेयेति ।'
—छान्दोग्य उप०, ६ २.३ ।

—उस सत् ने ईक्षण किया कि मै बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ।

भगवान् श्रीकृष्ण 'मच्चित्ता.' ( मुझमे चित्त केन्द्रित करनेवाले ) कहकर भक्ति के परम रहस्य का उद्घाटन एव निरूपण कर रहे हैं। परमेश्वर मे मन अथवा चित्त सस्थित करना ही भक्तिभाव की सच्ची कसौटी है।[1] 'मच्चित्त' होना ही अनन्य-भक्ति है। भगवान् मे चित्त को केन्द्रित करने पर ही चित्त स्थिर हो सकता है। वास्तव मे जहाँ चित्त होता है, वही मनुष्य होता है। जिसका चित्त ससार के सुख-भोग मे सलग्न होता है, वह मनुष्य सुख-भोग के चक्र मे फँसकर ही नानाकर्म करता है तथा उसका चित्त अन्त तक विषय-भोगो तथा उनके सुख-दु खरूप परिणामो मे भटकता रहता है। चित्त की अस्थिरता के कारण ऐसे लोग रोगा-वस्था अथवा वृद्धावस्था मे अत्यन्त दयनीय हो जाते है। जिसका चित्त भगवान् मे केन्द्रित हो जाता है, वह भगवान् को अपना सर्वस्व मानकर उन्हीका चिन्तन-मनन करता है तथा उन्हीकी अनन्यभक्ति करता है। भगवान् मे चित्त सलग्न होने पर चित्त स्थिर हो जाता है तथा दिव्य स्तर को छूकर आनन्दमग्न हो जाता है। ससार के सुख-भोग नश्वर एव तुच्छ होते हैं तथा भगवत्प्राप्ति का आनन्द स्थायी एव दिव्य होता है।[2] भगवान्

१ 'मन्मना भव।'—गीता, ९ ३४ ।
'मच्चित्त सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।'
—गीता, १८ ५८ ।

—परमेश्वर मे चित्त केन्द्रित करनेवाला मनुष्य परमेश्वर की कृपा से सब सकट पार कर लेता है।

२ यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

—अर्थात् लोक मे जो कामजनित सुख है, जो भी सुन्दर महान् सुख है, वह तृष्णा-नाश से प्राप्त सुख के सोलहवें अश के समान भी नही है।

राम भगति मनि उर बस जाके,
दुख लवलेश न सपनेहु ताके।

मे स्थित हो जाता है। अत्र सशय न=इसमे सशय नही है।

**वचनामृत :** सात महर्षि, इनके भी पूर्ववर्ती चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये मुझमे भाव-वाले सब मेरे सकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी ससार मे यह सब प्रजा है।[1] जो मनुष्य मेरी इस ऐश्वर्यरूप विभूति को तथा योग-शक्ति ( सृष्टि उत्पन्न करने की विचित्र सामर्थ्य ) को तत्त्व से जानता है, वह दृढ भक्तियोग द्वारा युक्त हो जाता है—इसमे सशय नही है।

**सन्दर्भ :** भगवान् की विभूति को जानने से भक्ति दृढ होती है।

**रसामृत :** सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च भगवान् की ही सृष्टि है तथा सर्वत्र एक भगवान् वासुदेव ही परि-पूर्ण अथवा व्याप्त है। 'मैं तथा यह जगत् सब परमात्मा ही है'—यही तत्त्वज्ञान है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिन परम ज्ञानी सात महर्षियो और उनसे भी पहले चार सनकादि महर्षि तथा चौदह मनु, जो सृष्टि के आदि मे थे तथा जिनसे ये प्रजाएँ सृष्ट हुई हैं, वे सब भगवान् के सकल्प द्वारा उत्पन्न हुए थे तथा भक्तिसम्पन्न थे। उनकी गणना भी भगवान् की विभूतियो मे है। वास्तव मे समस्त विश्व भगवान् की ही विभूति ( शक्ति का प्रभाव, ऐश्वर्य ) अथवा स्वरूप ही है। भक्तगण इस अद्भुत और विशाल सृष्टि को देखकर भगवान् की विभूतियो और सृष्टि उत्पन्न करने की भगवान् की अनन्त सामर्थ्य के प्रति नतमस्तक होते हैं और श्रद्धा तथा प्रेम से उसके साथ आत्मीयता का अविचल नाता स्थापित करते हैं। मनुष्य ज्यो-ज्यो सृष्टि के रहस्यो को तत्त्वत समझने का प्रयत्न करता है, वह हतप्रभ होकर स्रष्टा के अनिर्वचनीय परम ऐश्वर्य के प्रति श्रद्धानत हो जाता है।

विश्व के प्रत्येक कण मे भगवान् के कौशल को देखकर उत्तम मनुष्य का मन भगवान् की भक्ति मे दृढ हो जाता है।[1]

**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**
**इति मत्वा भजन्ते मा बुधा भावसमन्विताः ॥८॥**
**मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त. परस्परम्।**
**कथयन्तश्च मा नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥**

**शब्दार्थ :** अह सर्वस्य प्रभव मत्त सर्वं प्रवर्तते= मैं वासुदेव ही सारे जगत् का प्रभव ( उत्पत्ति का उपा-दान तथा निमित्तकारण ) हूँ, मुझसे ही सब कुछ प्रवर्तित होता है, इति मत्वा=ऐसा मानकर, भावसमन्विता· बुधा मा भजन्ते=भावयुक्त होकर बुधजन मुझे भजते हैं। मच्चित्ता मद्गतप्राणा नित्य परस्पर बोधयन्त =मुझमें चित्त को केन्द्रित करनेवाले, मुझमें ही प्राणो को लगाने-वाले, सदा परस्पर मेरी चर्चा करते हुए, च मा कथयन्त च=और मेरा कथन करते हुए ही, तुष्यन्ति च रमन्ति =तुष्ट होते हैं और ( मुझ वासुदेव मे ) रमण करते हैं।

**वचनामृत :** मैं वासुदेव ही सारे जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ तथा मुझसे ही सब कुछ चेष्टावान् होता है—ऐसा समझकर भक्तिभावयुक्त बुधजन मुझ वासुदेव को ही निरन्तर भजते हैं। निरन्तर मुझ वासुदेव मे ही चित्त को सस्थित करनेवाले मुझमे ही प्राण अर्पण करनेवाले भक्तजन परस्पर सदा मेरी चर्चा करते हुए और मेरा कथन

---

१ यह अन्वय और अर्थ मधुसूदन सरस्वती, श्रीधर, शङ्करानन्द इत्यादि के अनुसार है। इसका भिन्न अन्वय करने पर अर्थ है—सात महर्षि तथा पहले प्रसिद्ध चार मनु, जिन्हे सावर्णि कहा जाता है। आद्य सप्तमहर्षि ये हैं—मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये प्रवृत्तिमार्गी कहलाते हैं। कही कही अङ्गिरा के स्थान पर भृगु हैं। पूर्ववर्ती चार महर्षि निवृत्ति-मार्ग के प्रवर्तक है। वर्तमान मन्वन्तर के सप्तर्षि हैं—कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और वसिष्ठ। चौदह मनुओ मे छह हो चुके तथा सातवाँ मनु वैवस्वत चल रहा है। एक कल्प में चौदह मनु होते हैं। पहले होनेवाले चार महर्षि सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार कहे गये हैं। इन सबकी चर्चा पुराणो में है।

१ परमात्मा की मायाशक्ति को 'अघटितघटनापटी-यसी' कहा गया है।

करते हुए सन्तुष्ट रहते हैं और मुझ वासुदेव मे ही रमण करते हैं।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अविकम्प भक्तियोग की प्राप्ति का क्रम बता रहे हैं।

**रसामृत :** मनुष्य को यह निश्चयपूर्वक जान लेना और मान लेना चाहिए कि इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण मात्र भौतिक परिस्थितियाँ नही हैं, बल्कि उनके पृष्ठ मे स्थित एक चेतन सत्ता अथवा परमात्मा है। एक घड़ा बनाने के लिए केवल मिट्टी ( उपादान कारण ) नही, बल्कि कुम्हार का अत्यन्त कुशल हाथ ( निमित्त कारण ) भी होना आवश्यक है। इस सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण परमात्मा ही है। वही जगत् के कण-कण मे व्याप्त है तथा वही इसके सचालन एव सहार का भी कारण है। वही इसे मर्यादा मे रखकर गतिशील बना रहा है, सृष्टि-चक्र को चला रहा है। यह समझने पर मनुष्य उसके प्रति नतमस्तक होकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकता है।[1] जो मनुष्य परमात्मा को ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता मानकर भक्तिभावसहित उस नित्य एव दिव्य सत्ता के साथ अपना नाता स्थापित कर लेता है वह बुध अर्थात् बुद्धिमान् है। परमेश्वर के समीप भावसमन्वित होकर जाने से उसकी महिमा एव कृपा की अनुभूति हो जाती है। अन्तर्यामी भगवान् भाव के भूखे हैं तथा कपटपूर्ण आडम्बर निरर्थक होता है। भक्त को दिव्य भाव द्वारा भावसमाधि की अनिर्वचनीय आनन्दावस्था प्राप्त हो जाती है।

१ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।'

—छान्दोग्य उप०, ६ २ १।

—हे सोम्य, आरम्भ मे यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति ।'

—छान्दोग्य उप०; ६ २.३।

—उस सत् ने ईक्षण किया कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ।

भगवान् श्रीकृष्ण 'मच्चित्ता.' ( मुझमे चित्त केन्द्रित करनेवाले ) कहकर भक्ति के परम रहस्य का उद्घाटन एव निरूपण कर रहे है। परमेश्वर मे मन अथवा चित्त सस्थित करना ही भक्तिभाव की सच्ची कसौटी है।[1] 'मच्चित्त' होना ही अनन्य-भक्ति है। भगवान् मे चित्त को केन्द्रित करने पर ही चित्त स्थिर हो सकता है। वास्तव मे जहाँ चित्त होता है, वही मनुष्य होता है। जिसका चित्त ससार के सुख-भोग मे सलग्न होता है, वह मनुष्य सुख-भोग के चक्र मे फँसकर ही नानाकर्म करता है तथा उसका चित्त अन्त तक विषय-भोगो तथा उनके सुख-दु खरूप परिणामो मे भटकता रहता है। चित्त की अस्थिरता के कारण ऐसे लोग रोगा-वस्था अथवा वृद्धावस्था मे अत्यन्त दयनीय हो जाते है। जिसका चित्त भगवान् मे केन्द्रित हो जाता है, वह भगवान् को अपना सर्वस्व मानकर उन्हीका चिन्तन-मनन करता है तथा उन्हीकी अनन्यभक्ति करता है। भगवान् मे चित्त सलग्न होने पर चित्त स्थिर हो जाता है तथा दिव्य स्तर को छूकर आनन्दमग्न हो जाता है। ससार के सुख-भोग नश्वर एव तुच्छ होते हैं तथा भगवत्प्राप्ति का आनन्द स्थायी एव दिव्य होता है।[2] भगवान्

१ 'मन्मना भव।'—गीता, ९.३४।

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।'

—गीता, १८ ५८।

—परमेश्वर मे चित्त केन्द्रित करनेवाला मनुष्य परमेश्वर की कृपा से सब सकट पार कर लेता है।

२. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

—अर्थात् लोक मे जो कामजनित सुख है, जो भी सुन्दर महान् सुख है, वह तृष्णा-नाश से प्राप्त सुख के सोलहवें अंश के समान भी नहीं है।

राम भगति मनि उर बस जाके,
दुख लवलेश न सपनेहु ताके।

को प्राण अर्पण करने का अर्थ जीवन अर्पण करना है।[1]

भक्त भगवान् को प्राणोपम प्रिय समझता है। भक्तगण सत्सग[2] सेवन करते हैं तथा परस्पर भक्ति-तत्त्व को समझाते है, कीर्तन करते हैं, उससे सन्तोष प्राप्त करते हैं[3] और भगवान् मे ही रमण करते हैं।[4] भगवान् तो रससागर हैं, चिन्मय रस के स्वरूप हैं तथा उनकी भक्ति रसिक भक्तो को रस-सिक्त एव तृप्त कर देती है। भक्ति सुधारस का पान मनुष्य को आनन्दमय बना देता है।

**तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥**
**तेषमेवानुकम्पार्थमहमज्ञानज तम।**
**नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥**

**शब्दार्थ :** तेषा सततयुक्ताना प्रीतिपूर्वक भजतां=उन निरन्तरयुक्त प्रेमसहित भजनेवाले भक्तों को, त बुद्धियोगं ददामि=वह बुद्धियोग देता हूँ, येन ते मां उपयान्ति=जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं। तेषां अनुकम्पार्थं एव अहं आत्मभावस्थः=उन पर अनुग्रह करने के लिए ही मैं अन्त.करण मे स्थित होकर, अज्ञानज तम भास्वता ज्ञानदीपेन नाशयामि=अज्ञान से उत्पन्न तम को प्रकाशमय ज्ञानदीप से नष्ट करता हूँ।

**वचनामृत :** उन निरन्तर मेरे साथ भाव द्वारा युक्त और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तो को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिमसे वे मुझे ही प्राप्त होते हैं। उन पर अनुग्रह करने के लिए ही उनके अन्त.करण मे स्थित हुआ मैं अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञानदीप से नष्ट कर देता हूँ।

**सन्दर्भ .** इन दो श्लोको मे भक्तो के प्रति भगवान् के अनुग्रह का वर्णन है।

**रसामृत .** जो भगवद्भक्त भगवान् को अपने मन-मन्दिर मे विराजमान करके उनके साथ एक आत्मीयतापूर्ण जीता-जागता नाता स्थापित कर लेते हैं तथा भगवान् का निरन्तर प्रेमपूर्वक स्मरण करते रहते हैं, उनका चित्त शुद्ध और निर्मल हो जाता है। भगवान् उन भक्तो पर अनुग्रह करके उन्हें बुद्धियोग अर्थात् परमेश्वर के स्वरूप, सामर्थ्य और महिमा समझने की शक्ति प्रदान कर देते हैं। भक्ति की यह विशेषता है कि भक्त को तो केवल प्रभु-भक्ति मे लीन होना है तथा उसके योगक्षेम का भार प्रभु स्वय वहन करते हैं। भगवान् उसे बुद्धि-योगरूप तत्त्वज्ञान[1] दे देते हैं, जिससे वह भगवान् को प्राप्त हो जाता है। भगवान् अनन्यभक्तो पर अनुग्रह करके उनके हृदय मे ज्ञान का प्रकाश कर देते है, जिससे उनका मोहान्धकार निवृत्त हो जाता है। अन्तर्यामी भगवान् अन्त प्रेरणा द्वारा ज्ञान की ओर उन्मुख कर देते हैं तथा भक्त के हृदय मे ज्ञान का उदय हो जाता है, यह भगवान् की

---

१ प्राण अर्पण का अन्य अर्थ नेत्र आदि इन्द्रियो का अर्पण अर्थात् नेत्रादि से भी भगवद्-भक्ति मे सलग्न होना है।

२ 'सतसगति महिमा नहिं गोई ॥'
'धन्य घरी सोइ जब सतसंगा ॥'

—सन्त तुलसीदास ने रामचरितमानस में सतसगति को परम लाभ कहा है। सुधन्य हैं वे लोग, जिन्हे सन्तों की कृपा सुलभ होती है।

३ सन्तोषाद् अनुत्तम सुखलाभ ।—पतञ्जलि
—सन्तोष से बढ़कर सुख-लाभ नहीं होता।

४ कामिहि नारि पियारि जिमि
लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर
प्रिय लागहु मोहि राम ॥

—भक्त के चित्त को सुखभोग की वासना दूषित एव दुर्बल नही करती।

जिन्हहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु उर सो राउर निज गेह ॥

---

१ यहाँ बुद्धियोग के अनेक अर्थ किये गये हैं। समत्वबुद्धि (तिलक), बुद्धि की एकाग्रता (डॉ० राधाकृष्णन्), तत्त्वज्ञान (आनन्दगिरि), सम्यक्दर्शन (शङ्कराचार्य)।

अनुकम्पा है ।[1] भक्ति स्वयं एक साध्य होकर भी ज्ञान का सर्वोत्तम साधन है । साधारणत जव भी कोई मनुष्य किसीसे स्नेह करता है, तो वह उसके समीप हो जाता है और समीपता होने पर वह उसे भली प्रकार जान भी लेता है । इसके विपरीत जव कोई मनुष्य किसीको भली प्रकार जान लेता है तो वह उसके प्रति प्रेमभाव रखने लगता है । श्रीकृष्ण कहते है कि भगवान् भक्त पर अनुग्रह करके सम्यक्ज्ञान प्रदान कर देते हैं । भक्त को भक्ति द्वारा भगवान् के स्वरूप आदि का ज्ञान प्राप्त हो जाता है । वास्तव मे परमात्मा की अनुभूति वुद्धि मे ज्ञान के प्रकाश से और हृदय मे भक्ति के रस से तथा जीवात्मा मे चिन्मयता एव आनन्दमयता से प्राप्त होती है ।[2]

अर्जुन उवाच

**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।**
**पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥**
**आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।**
**असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, **भवान् पर ब्रह्म परं धाम परम पवित्र**=आप परमब्रह्म, परमधाम, परम पवित्र हैं, **त्वा सर्वे ऋषयः शाश्वतं दिव्यं पुरुषं आदिदेवं अजं विभुं आहुः**=आपको सव ऋषि शाश्वत; दिव्यपुरुष, आदिदेव. अजन्मा, सर्वव्यापी कहते हैं **तथा**=वैसा ही, **देवर्षिः नारद असितः देवलः व्यास च स्वयं एव मे ब्रवीषि**=देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास और स्वय आप ही मुझे कहते हैं ।

**वचनामृत** अर्जुन ने कहा, आप परमब्रह्म, परमधाम, परमपवित्र हैं, आपको सब ऋषि शाश्वत, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते है । वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास तथा आप स्वय भी मुझसे कहते है ।

**सन्दर्भ :** अर्जुन श्रीकृष्ण से विभूतियो का विस्तारसहित वर्णन करने की प्रार्थना करने से पूर्व उनकी महिमा कह रहे हैं ।

**रसामृत :** अर्जुन के मन मे यह विश्वास है कि भगवान् की विभूति और उनकी सामर्थ्य जानने से भक्ति तीव्र होती है। अतएव वह भक्ति को सुदृढ करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता है कि उसे विस्तारपूर्वक विभूतियो का वर्णन सुना दिया जाय । चतुर शिष्य अपनी उत्कण्ठा को निवेदित करने से पूर्व भूमिका के रूप मे गुरु की महिमा का वर्णन करता है । अर्जुन कहता है, "हे भगवन्, आप परब्रह्म और जीव के लिए अन्तिम पद हैं । आप परमपवित्र और परमपावन हैं । आप पापनाशक हैं, आपको ऋषिगण[1] सनातन, दिव्य, परमपुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं ।" अर्जुन अपने गुरु भगवान् श्रीकृष्ण मे पूर्ण परमेश्वर का दर्शन कर रहा है । भगवान् मायोपाधिरहित अवस्था मे शुद्ध चैतन्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा कहलाता है तथा मायोपाधिसहित होकर समग्र ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर कहलाता है, जो सृष्टि रचता है तथा पालन और सहार करता है । देवर्षि नारद, असित ऋषि और उनके पुत्र देवल ऋषि तथा व्यासजी ने श्रीकृष्ण की उपासना भग-

---

१. राम भगति चिन्तामणि सुन्दर,
बसई गरुड जाके उर अन्तर ।
परम प्रकाश रूप दिन राती,
नहिं कछु चहिय दिया अरु बाती ॥

—सन्त तुलसीदास कहते हैं कि ज्ञान का दीपक तो मोह की आंधी से वुझ सकता है, किन्तु भक्ति तो चिन्तामणि है, जिसे कोई आंधी वुझा नही सकती । यदि एक वार भक्तिभाव जाग जाय तो वह कभी नही छूटता । मनुष्य सकट के समय ज्ञान के उपदेश को भूल जाता है, परन्तु भक्ति से ही उसे सन्तोष, धैर्य और शान्ति मिलती है ।

२ वुद्धि ( intellect ) मे ज्ञान तथा मन मे भाव ( emotion ) का अनुभव होता है और आत्मा ( spirit ) मे प्रकाश एव दिव्यता की अनुभूति होती है ।

---

१. ऋषीत्येष गतौ धातु श्रुतौ सत्ये तपस्यथ ।
एतद् सन्नियत यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृत ॥

वान् के अवतार मे की थी। श्रीकृष्ण ने स्वय भी अपने अवतरित होने की स्पष्ट पुष्टि अनेक बार की। परमात्मा का साक्षात् अनुभव करनेवाले महात्मा ऋषि होते हैं। अर्जुन भगवान् कृष्ण से कह रहा है कि वह भी उनके विषय मे वैसा ही अनुभव कर रहा है, जैसा तपस्वी ऋषियो ने कहा है। श्रीकृष्ण मानवमात्र के पथप्रदर्शक एव परम-गुरु हैं।

**सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।**
**न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥**
**स्वयमेवात्मनात्मान वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।**
**भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥**

**शब्दार्थ :** केशव=हे केशव, यत् मां वदसि एतत् सर्वं ऋतं मन्ये=जो कुछ मुझसे आप कहते हैं इस सबको सत्य मानता हूँ, भगवन्=हे भगवन्, ते व्यक्तिं न दानवाः विदु न हि देवा.=आपकी अभिव्यक्ति (प्राकटय) को न दानव जानते हैं, न देव ही। (केशव शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। 'क', 'अ' और 'ईश' को ब्रह्मा, विष्णु और महेश का प्रतीक कहा गया है तथा 'व' का अर्थ वपु अर्थात् शरीर माना गया है। श्रीकृष्ण तीनो का सम्मिलित स्वरूप हैं।) भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते=हे भूतो को उत्पन्न करनेवाले, हे भूतो के ईश्वर, हे देवो के देव, हे जगत् के स्वामी, पुरुषोत्तम=हे पुरुषोत्तम, त्वं स्वयं एव आत्मना आत्मान वेत्थ=आप स्वय ही अपने से अपने-आपको जानते हैं।

**वचनामृत :** हे केशव, जो कुछ भी आप मुझसे कहते हैं, मैं इस सबको सत्य मानता हूँ। हे भगवन्, आपके लीलामय स्वरूप को न तो दानव जानते हैं, न देवता ही। हे भूतो को उत्पन्न करनेवाले, हे भूतो के ईश्वर, हे जगत् के स्वामी, हे पुरुषोत्तम, आप स्वय ही अपने द्वारा अपने को जानते हैं।

**सन्दर्भ** अजुन भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा का अनुभव करता है।

**रसामृत :** अर्जुन अत्यन्त सरल और सात्त्विक है। भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से उनकी परमेश्वर के रूप मे महिमा सुनकर उसने सहजरूप से विश्वास कर लिया और कह दिया—हे भगवन्, (श्रीकृष्ण), मैं आपके द्वारा वर्णित आपकी अद्भुत सामर्थ्य और महिमा को स्वीकार करता हूँ। वास्तव मे आपके स्वरूप को देव और दानव भी नही जानते, अल्पज्ञ मनुष्य तो भला आपको कैसे जान सकता है? अर्जुन श्रीकृष्ण को भगवान् अर्थात् सर्वशक्तिसम्पन्न मानकर सम्बोधन करता है।[1] दानव, जो तप और ज्ञान द्वारा भौतिक शक्ति से सम्पन्न होकर भी आसुरी स्वभाव नही छोड़ते तथा

असित, देवल, व्यास और नारद को क्रमश कर्म, भक्ति, ज्ञान और मोक्ष के प्रतिनिधि कहा गया है। नारद योगी, ज्ञानी तथा भक्त कहे जाते हैं। ब्रह्मचारी एव तपस्वी नारद भ्रमण करते रहते हैं तथा उनका नाम पुराणों मे प्रसिद्ध है। महाभारत सभापर्व के पाँचवें अध्याय में नारद की विशेष चर्चा है। नारद ने शुकदेव को भी उपदेश दिया था। असित कश्यपमुनि के ब्रह्मचारी पुत्र हैं। गौतम बुद्ध के जन्म पर भी ये प्रकट हुए। कूर्मपुराण में इनकी चर्चा है। देवल असित के पुत्र हैं। देवल ऋषि शिवभक्त हैं। ऋग्वेद में असित तथा देवल का उल्लेख मन्त्रद्रष्टा के रूप मे है। **ऋषयो मन्त्रद्रष्टार** – मन्त्रद्रष्टा ऋषि होते हैं। महर्षि व्यास के पिता पराशर थे तथा माता सत्यवती थी। महाभारत, अठारह पुराण और ब्रह्मसूत्र के रचयिता व्यास हैं।

१ **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रिय.।**
**ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णा भग इतीरणा ॥**
—विष्णुपुराण, ६ ५.७४।

—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य से युक्त को भगवान् कहते हैं।

**उत्पत्तिं प्रलय चैव भूतानामागतिं गतिम्।**
**वेत्ति विद्यामविद्या च स वाच्यो भगवानिति ॥**
—विष्णुपुराण, ६ ५ ७८।

—उत्पत्ति और प्रलय को, भूतो के आने और जाने को तथा विद्या और अविद्या को जाननेवाला भगवान् कहलाता है।

देव भी, जो भगवान् की सत्ता के अङ्गभूत होते हैं, भगवान् के स्वरूप को नही जान पाते।

भगवान् की अवताररूप मे लीलात्मक अभिव्यक्ति अर्थात् प्राकट्य बुद्धिगम्य नही है।[1] अर्जुन सहजभाव से उपनिषदो की भाषा मे कह देता है--हे भगवन्, आप इस जगत् के जड और चेतन पदार्थो को उत्पन्न करनेवाले हैं, जगत् के पालनकर्ता हैं देवताओ के भी आराध्य परमदेव हैं, पुरुषोत्तम हैं[2] तथा आप स्वय भी अपने को जानते हैं।[3] अन्तवान् अनन्त को, ससीम असीम को, अपूर्ण पूर्ण को तथा अश अशी को पूर्णत नही जान सकता। सुर, असुर मानव कोई परमात्मा के निर्गुण (निरुपाधिक) अथवा सगुण (सोपाधिक) स्वरूप को नही जानता[1] भगवान् भूतवर्ग की उत्पत्ति का उपादान कारण (प्रकृति-शक्ति के रूप मे) तथा निमित्त कारण (उत्पन्न करनेवाले के रूप मे) हैं। भगवान् सभी का नियन्ता है तथा अन्तर्यामी रूप मे कर्मों का प्रेरक तथा फलदाता है।

अल्पज्ञ मनुष्य निरन्तर उपासना द्वारा इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे आत्मज्योति के दिव्यालोक मे अवस्थित होकर तथा भगवान् के साथ एकात्म होकर भगवान् के स्वरूप की अनुभूति करके कृतार्थ हो सकता है। एकात्म होने से पूर्व भगवान् के स्वरूप का यथार्थ बोध नही होता तथा एकात्मता की अनुभूति होने पर वर्णन करना असम्भव एवं अनावश्यक प्रतीत होता है। भगवान् को प्राप्त हुए पुरुषो का सदर्शन ही मनुष्य को परमेश्वर की ओर उन्मुख करता है। गगा के तट पर बैठकर गगाजल की शीतलता और पावनता का अनुमान हो जाता है। सन्त महापुरुष भगवान् की दिव्यता से परिपूर्ण होते हैं तथा मानो भगवान् के प्रतिनिधि होते हैं। उनके सान्निध्य से भगवान् की महिमा उपलक्षित हो जाती है। सन्तो के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से अलौकिक शान्ति प्रस्फुटित होती रहती है। सन्त

---

१ इस श्लोक मे व्यक्ति के दो अर्थ किये गये हैं—

(१) भगवान् का अजन्मा होकर भी अवताररूप मे प्रकट होकर दु ख-सुख आदि की लीला करना।

(२) मायायुक्त होकर प्रकट होना।

परमात्मा के दो स्वरूप है—१ शुद्ध चैतन्यस्वरूप आनन्दस्वरूप निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा, जो मायारहित है। २ मायासहित सगुण ईश्वर, जो सृष्टि का सृजन, सचालन, पोषण और सहार करता है तथा सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ है। वह मायायुक्त होकर सृष्टि-रचना द्वारा प्रकट होता है। ज्ञानी मायोपाधिरहित परमात्मा के साथ एकात्मता के लिए तथा भक्त मायाशक्तिसम्पन्न परमेश्वर की प्राप्ति के लिए साधना करते हैं। भक्त को अनायास ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है। 'व्यक्ति' का तीसरा अर्थ 'निराकारस्वरूप' भी किया गया है।

२ भगवान् पुरुष भी हैं और उत्तम भी--पुरि शयनात् इति पुरुषः अर्थात् सबके हृदयरूप पुरी मे रहनेवाला पुरुष, अथवा पुरुषो मे उत्तम। क्षर और अक्षर से परे पुरुषोत्तम है, जो सब जीवात्माओ की आत्मा है।

३ सो जानइ जेहि देहु जनाई,<br>
जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई।<br>
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन,<br>
जानहिं भगत भगत उर चदन॥

१ **यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः।** —जिसके अत को सुर, असुरगण नही जानते, उस देव को नमस्कार।

**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** अर्थात् वाणी मनसहित जिसके पास पहुँचने मे अशक्त होकर लौट आती है। **'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति'**—वहाँ नेत्र, वाणी नही पहुँचते। **'तस्य भासा सर्वमिद विभाति'**—उसके प्रकाश से सब-कुछ प्रकाशित होता है।

**'न विद्मो न विजानीयः'**—वेद

**'विदुर्देवा न दानवाः'** का अन्वय भिन्न प्रकार से भी किया गया है।

भगवान् के स्वर मे अपना स्वर मिलाकर उसके यन्त्र हो जाते हैं।

**वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय ।**
**याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥**
**कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।**
**केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥**
**विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।**
**भूय कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥**

**शब्दार्थ** त्व हि दिव्या. आत्मविभूतय अशेषेण वक्तुं अर्हसि=आप ही दिव्य अपनी विभूतियो को पूर्णतः कहने के लिए समर्थ हैं, याभि· विभूतिभि. इमान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि=जिन विभूतियो से इन सब लोको को व्याप्त करके आप स्थित हैं। योगिन्=हे योगेश्वर, अहं कथ सदा परचिन्तयन् त्वा विद्याम्=मैं कैसे सदा चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ, च भगवन् =और हे भगवन्, केषु केषु भावेषु मया [1]चिन्त्य असि=किन-किन भावो अर्थात् रूपो में मेरे द्वारा चिन्तन के योग्य आप हैं। जनार्दन=हे श्रीकृष्ण, आत्मनं योगं च विभूतिं भूय विस्तरेण कथय=अपनी योगशक्ति को और विभूति ( परम ऐश्वर्य ) को पुन. विस्तारसहित कहें, हि=क्योकि, अमृत शृण्वत मे तृप्ति न अस्ति=अमृतमयी वाणी को सुनते हुए मेरी तृप्ति नही होती।

**वचनामृत** आप ही अपनी दिव्य विभूतियो को सम्पूर्णतया कहने मे समर्थ हैं, जिन विभूतियो से आप इन लोको को व्याप्त करके स्थित हैं। हे योगेश्वर, मैं किस प्रकार सदा चिन्तन करता हुआ आपको जान सकता हूँ और हे भगवन्, आप किन-किन भावो अथवा रूपो मे मेरे द्वारा चिन्तनीय हैं ? हे जनार्दन, आप अपनी योगशक्ति को तथा विभूति को पुन विस्तारसहित कहे, क्योकि आपकी अमृतमयी वाणी को सुनते हुए मेरी तृप्ति नही होती।

---

१ 'भाव' का अर्थ पदार्थ अथवा विभूति भी किया गया है, वह भी उचित है।

**सन्दर्भ** अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से अपनी योगशक्ति एव विभूतियो का वर्णन करने के लिए प्रार्थना करता है।

**रसामृत** भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक स्थानो पर ज्ञान की महिमा एव पवित्रता पर वल दिया है, किन्तु अर्जुन को कर्मयोग का अधिकारी मानकर कर्म-सम्पादन का ही उपदेश एव आदेश दिया है, अर्जुन भी कर्मयोग तथा उसके अन्तर्गत भक्तियोग के वर्णन मे विशेष रुचि लेता है। अब वह भक्ति मे दृढ होने की इच्छा से भगवान् श्रीकृष्ण से उनकी योगशक्ति तथा विभूतियो के वर्णन के लिए प्रार्थना करता है।

निर्गुण-निराकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमब्रह्म परमात्मा मायाशक्तिरहित ( मायोपाधिरहित, निरुपाधि ) होकर अव्यक्त रहता है तथा ज्ञानीजन उसके साथ एकात्मता की अनुभूति के लिए ज्ञानमार्ग का अवलम्बन लेते हैं। वही सगुणरूप मे ( अथवा सगुण साकार रूप मे ) मायाशक्तिसहित ( मायोपाधिसहित ) सर्वस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वेश, ईश्वर, सर्वेश्वर, परमेश्वर, अन्तर्यामी, सर्वान्तिर्यामी, सर्वशक्तिमान् आदि होकर साकार जगत् की उत्पत्ति परिपालन और प्रलय करता है और भक्तो का परम-उपास्य होता है। अर्जुन भगवान् को भूतभावन, भूतेश, देवाधिदेव, पुरुषोत्तम आदि कहकर श्रद्धापूर्वक उन दिव्य विभूतियो को जानना चाहता है, जिनके द्वारा भगवान् समस्त ब्रह्माण्ड मे व्याप्त होकर स्थित होते हैं। परमेश्वर जिन विभूतियो से जगत् मे प्रकाशित होते हैं, वे परमेश्वर की महिमा का विस्तार है। विभूतियाँ परमेश्वर की दिव्य, गौरवपूर्ण अनन्त-शक्ति की प्रतीक हैं। वे निर्माणकारी एव अलौकिक शक्तियाँ है, जिनसे ससार के पदार्थ अपने स्वभाव मे स्थित होते हैं। तेज, वल, ऐश्वर्य, शक्ति तथा गुण-विशेष से सम्पन्न पदार्थ परमात्मा की विभूतियाँ हैं।

इस जगत् मे जो कुछ परिदृश्यमान है वह सब परमात्मा से व्याप्त है तथा उसके अतिरिक्त

अन्य कुछ भी नही है।'[1] यद्यपि वह प्रत्येक वस्तु में ओतप्रोत है, अणु-अणु मे व्याप्त है, तथापि उसका सर्वत्र दर्शन करना कठिन है। साधक को विशेष विभूतियो अथवा विशेष गुण और शक्ति से सम्पन्न वस्तुओ को देखकर परमात्मा का स्मरण करना चाहिए। अर्जुन प्रश्न करता है कि भगवान् किन पदार्थों मे विशेष रूप से व्याप्त अर्थात् प्रकट हैं, जिन्हे देखकर भगवान् की महिमा का बोध हो सकता है तथा भक्तिभाव दृढ हो सकता है। परमेश्वर का अवतार ही परमेश्वर की विभूतियो का समुचित वर्णन कर सकता है।

अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछता है कि वह क्या चिन्तन करता हुआ भगवान् की महिमा को जान सकता है तथा किन विविध रूपो मे भगवान् विशेष रूप से अधिक स्पष्ट अथवा प्रकट हैं, जिन्हे देखकर भक्ति-भाव उद्दीप्त हो सकता है? वास्तव मे अर्जुन उन विभूतिरूप श्रेष्ठ पदार्थो को ही जानना चाहता है,[2] जिनमे वह भगवान् के दिव्य स्फुरण का तथा भगवान् की महिमा के विस्तार का अनुभव कर सके।

अर्जुन भगवान् के योगबल, ईश्वरीय शक्ति अथवा ऐश्वर्य को भी जानना चाहता है, जिसके द्वारा भगवान् ब्रह्माण्ड के रूप मे प्रस्फुटित होते हैं है तथा अनेक रूप धारण करते हैं। भगवान् अपनी अचिन्त्य मायाशक्ति के योग से ऐश्वर्ययुक्त अर्थात् अनन्तशक्ति-सम्पन्न होते है तथा सृष्टि की रचना आदि करते है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को जनार्दन (अर्थात् प्रार्थना सुनकर कष्ट हरण करनेवाला एव इच्छा-पूर्ति करनेवाला) कहकर सम्बोधन करता है तथा भगवान् के सर्वशक्तिमान् स्वरूप के प्रति श्रद्धान्वित होकर उनसे ध्यान के योग्य भावो को जानना चाहता है और भक्ति के प्रगाढ होने के उपाय पूछता है। वास्तव मे अर्जुन अब मात्र जिज्ञासु नही, साधक के रूप मे प्रस्तुत हो रहा है। वह अपने गुरु को पूर्ण आदर के शब्दो से सम्बोधित करके उनके प्रति अपनी श्रद्धा का परिचय देता है तथा उपदेश के श्रवण मे अत्यन्त तीव्र उत्कण्ठा प्रकट करता है। वह कृतार्थ होकर जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण से कहता है "हे जनार्दन, आपकी अमृतमयी वाणी सुनकर मन तृप्त नही होता तथा मेरी उत्कण्ठा है कि आप मुझे रसामृत पान कराते ही रहे।" गुरु-शिष्य की कैसी अनिर्वचनीय आत्मीयता है।

**श्रीभगवानुवाच**

**हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।**
**प्राधान्यत. कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥**

**शब्दार्थ** · **श्रीभगवानुवाच**=श्री भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **कुरुश्रेष्ठ**=हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, **हन्त**=अच्छा, ठीक है, **ते दिव्याः आत्मविभूतयः प्राधान्यतः कथयिष्यामि**=तेरे लिए अपनी दिव्य विभूतियो को प्रधानता से कहूँगा, **हि**=क्योकि, **मे विस्तरस्य अन्त. न अस्ति**=मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।

**वचनामृत** हे कुरुकुल मे श्रेष्ठ अर्जुन, अब मैं तेरे लिए अपनी दिव्य विभूतियो को प्रधानता से कहूँगा, क्योकि मेरे विस्तार का अन्त नही है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण विभूति-वर्णन करने का वचन देते हैं।

**रसामृत :** अर्जुन की उत्कण्ठा देखकर गुरु श्रीकृष्ण ने वचन दिया कि वे केवल प्रधान विभूतियो का वर्णन करेंगे, क्योकि उनके विस्तार का कोई अन्त नही है। भगवान् सम्पूर्ण जगत् मे व्याप्त हैं, अतएव यह सारा जगत् भगवान् का ही स्वरूप है। भगवान् कण-कण मे व्याप्त है, अतएव कण-कण ही भगवान् की विभूति है। किन्तु वे विशेष पदार्थ भगवान् की दिव्य विभूतियाँ हैं, जिनमे भगवान् की विद्यमानता,

---

१. यत्र नान्यत्पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद्विजानाति
—छान्दोग्य उप०, ७ २४.१।

२ गीता के सातवें तथा नवें अध्यायो मे विभूतियो का वर्णन सक्षेप मे है। दसवें अध्याय में भी ४-५-६ इन तीन श्लोको मे विभूति-वर्णन है।

तेज, बल, विलक्षणता आदि का विशेष स्फुरण हो। सृष्टि मे सर्वत्र आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले अनन्तरहस्य भरे पड़े हैं। श्रीकृष्ण मुख्य मुख्य विभूतियो के वर्णन का वचन देते हैं। गुरु अपने शिष्य की उत्कण्ठा देखकर उसे 'कुरुश्रेष्ठ' कहकर प्रोत्साहित करते हे। कृष्णार्जुन-सवाद अत्यन्त सजीव एव रोचक है।

**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित।**
**अहमादिश्च मध्य च भतानामन्त एव च ॥२०॥**

**शब्दार्थ :** गुडाकेश[1]=हे गुडाका अर्थात् निद्रा के स्वामी, निद्रा पर विजय पानेवाले अर्जुन, अह सर्वभूताशयस्थित आत्मा=मैं सब भूतो के आशय (हृदय) में स्थित (सबका) आत्मा हूँ, च=तथा, भूताना आदि मध्यं च अन्त च अह एव=भूतो का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, मैं सब प्राणियो के हृदय मे स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतो का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।

**सन्दर्भ :** २०वें श्लोक से ३९वें श्लोक तक विभूतियो का वर्णन है। प्रस्तुत २०वें श्लोक मे श्रीकृष्ण कहते हैं कि भगवान् प्राणियो मे जीवात्मा के रूप मे विद्यमान हैं। २१ से ३८ तक उन विभूतिरूप वाह्य पदार्थों का उल्लेख है, जिनमे भगवान् का विशेष स्फुरण है। ३९वे श्लोक मे कहा गया है कि भगवान् सब भूतो का वीज है। विभूतियो का वर्णन भक्तियोग मे सहायक है। २० से ३९ तक विभूति-वर्णन माना गया है।

**रसामृत** भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को गुडाकेश अर्थात् आलस्य, प्रमाद, निद्रा आदि को जीतनेवाला आत्मविजयी कहकर यश दे रहे हैं। भगवान् सब प्राणियो के भीतर नित्य साक्षीरूप मे स्थित चैतन्यस्वरूप आत्मा हैं। आत्मा परमात्मा का अश होने के कारण परमात्मा ही है। भगवान् वासुदेव सर्वव्यापी हैं। परमात्मा समस्त देहमय प्राणियो का आदि, मध्य और अन्त हैं। समस्त प्राणी भगवान् से उत्पन्न होते है, भगवान् मे स्थित रहते हैं और भगवान् मे ही विलीन होते हैं। भगवान् सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त है अर्थात् सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले स्थित रखनेवाले और प्रलय करनेवाले हैं। सृष्टि को सचालित करनेवाली परम चैतन्यसत्ता ही समस्त सृष्टि मे ओतप्रोत है।[1]

**आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषा रविरशुमान्।**
**मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामह शशी ॥२१॥**
**वेदाना सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासव।**
**इन्द्रियाणा मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥**
**रुद्राणा शकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।**
**वसूना पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥**
**पुरोधसां च मख्य मा विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।**
**सेनानीनामह स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥**
**महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।**
**यज्ञाना जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणा हिमालयः ॥२५॥**
**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणा च नारद.।**
**गन्धर्वाणा चित्ररथ सिद्धाना कपिलो मुनि ॥२६॥**
**उच्चैःश्रवसमश्वाना विद्धि माममृतोद्भवम्।**
**ऐरावतं गजेन्द्राणा नराणा च नराधिपम् ॥२७॥**
**आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधक्।**
**प्रजनश्चास्मि कन्दर्प सर्पाणामस्मि वासुकि ॥२८॥**

---

१ गुडा (सघन) केशवाले को भी गुडाकेश कहते हैं।

१ निरुपाधिक (मायोपाधिरहित) निर्गुण शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म को परमात्मा तथा उसके अशभूत निरुपाधिक निर्गुण शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को आत्मा अथवा प्रत्यगात्मा कहते हैं। सोपाधिक (मायोपाधिसहित) सगुण ब्रह्म को परमेश्वर तथा देह मे स्थित उसके सोपाधिक सगुण अश को जीवात्मा अथवा जीव कहते हैं। परमात्मा ही माया-शक्तिसहित होकर ईश्वर तथा आत्मा ही माया के आवरणसहित होकर जीवात्मा कहलाता है। आवरण से मुक्त जीवात्मा शुद्ध आत्मज्योति होती है।

**अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।**
**पितृणामर्यमा चास्मि यम संयमतामहम् ॥२९॥**
**प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां काल कलयतामहम् ।**
**मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥**

**शब्दार्थ** अहं आदित्याना विष्णु ज्योतिषा अंशुमान् रवि.=मैं अदिति के बारह पुत्र आदित्यो में विष्णु (विष्णुनामक आदित्य अथवा विष्णु का वामन अवतार) हूँ, ज्योतियो मे किरणवाला सूर्य हूँ, **अह मरुता मरीचि. नक्षत्राणा शशी अस्मि**=मैं उनचास वायुदेवो मे मरीचिनामक वायुदेव, नक्षत्रो में चन्द्रमा हूँ। **वेदाना सामवेदः अस्मि देवाना वासवः अस्मि**=वेदो मे सामवेद हूँ, देवताओ मे इन्द्र हूँ, **च इन्द्रियाणां मन. अस्मि**=इन्द्रियो मे मन हूँ, **भूताना चेतना अस्मि**=प्राणियो मे चेतना (तथा ज्ञानशक्ति) हूँ। **रुद्राणां शकरः अस्मि च यक्षरक्षसा वित्तेशः**=ग्यारह रुद्रो मे शकर हूँ और यक्ष तथा राक्षसो मे धनाधिपति कुबेर हूँ, **च अह वसूना पावक. अस्मि शिखरिणा मेरु.**=आठ वसुओ मे अग्नि हूँ तथा शिखरवाले पर्वतो मे सुमेरु हूँ, **पुरोधसा मुख्यं बृहस्पति मा विद्धि**=पुरोहितो मे प्रधान देव पुरोहित बृहस्पति मुझे जान, **च पार्थ अह सेनानीना स्कन्द. सरसा सागरः अस्मि**=और हे अर्जुन, मैं सेनानियो (सेनापतियो) मे स्कन्द (शिव के दूसरे पुत्र स्वामिकार्तिक), जलाशयो मे सागर हूँ। **अहं महर्षीणा भृगुः गिरा एकं अक्षरं अस्मि**=मैं महर्षियो मे भृगु, वचनो मे एक अक्षर अर्थात् ॐ हूँ, **यज्ञाना जपयज्ञः स्थावराणा हिमालय. अस्मि**=यज्ञो मे जपयज्ञ और स्थावरो (स्थिर वस्तुओ) मे हिमालय हूँ। **सर्ववृक्षाणा अश्वत्थः च देवर्षीणा नारदः**=सब वृक्षो मे पीपल और देवर्षियो मे नारद हूँ, **गन्धर्वाणा चित्ररथः सिद्धाना कपिल मुनि**=गन्धर्वो मे चित्ररथ और सिद्धो मे कपिलमुनि हूँ। **अश्वाना अमृतोद्भव उच्चैःश्रवसं गजेन्द्राणा ऐरावत**=अश्वो मे अमृत से उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा और गजेन्द्रो मे ऐरावत हूँ, **च नराणां नराधिपं मां विद्धि**=मनुष्यो मे राजा भी मुझे जान। **अहं आयुधाना वज्रं धेनूना कामधुक् अस्मि**=मैं आयुधो मे वज्र और गौओ मे कामधेनु हूँ, **च प्रजनः कन्दर्प अस्मि**=और सन्तान-उत्पत्ति का हेतु कामदेव हूँ, **सर्पाणा वासुकिः अस्मि**=सर्पों मे वासुकि हूँ। **अहं नागाना अनन्त च यादसा वरुण अस्मि**=मैं नागो मे शेषनाग और जलचरो मे उनका अधिपति वरुणदेव हूँ, **च पितृणा अर्यमा सयमता यम. अहं अस्मि**=और पितरो मे अर्यमा (अर्यमानामक पितरो का अधिपति) हूँ, शासको मे यमराज मैं हूँ। **अहं दैत्याना प्रह्लादः च कलयता कालः अस्मि**=मैं दैत्यो मे प्रह्लाद और गणना करनेवालो मे काल हूँ, **च मृगाणां मृगेन्द्र च पक्षिणा वैनतेयः अहं (अस्मि)**=तथा पशुओ मे मृगराज सिंह और पक्षियो मे विनता का पुत्र वैनतेय गरुड मैं हूँ।

**वचनामृत :** मैं अदिति के बारह पुत्रो मे विष्णुनामक आदित्य और ज्योतियो मे किरणमाली सूर्य हूँ तथा उनचास वायुओ मे मरीचि और नक्षत्रो मे चन्द्रमा हूँ। मैं वेदो मे सामवेद हूँ, देवो मे इन्द्र हूँ, इन्द्रियो मे मन हूँ और प्राणियो मे चेतना (एव ज्ञानशक्ति) हूँ, ग्यारह रुद्रो मे शङ्कर हूँ और यक्ष तथा राक्षसो मे धन का स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओ मे अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतो मे सुमेरु पर्वत हूँ। पुरोहितो मे मुख्य बृहस्पति मुझे जान, हे पार्थ, मै सेनापतियो मे स्कन्द और जलाशयो मे समुद्र हूँ। मै महर्षियो मे भृगु और शब्दो मे एक अक्षर ॐ हूँ, यज्ञो मे जपयज्ञ और स्थावरो मे हिमालय पर्वत हूँ। मैं सब वृक्षो मे पीपल का वृक्ष हूँ, देवर्षियो में नारद, गन्धर्वों मे चित्ररथ और सिद्धो मे कपिलमुनि हूँ। अश्वो में अमृत से उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा, हाथियो मे ऐरावत और मनुष्यो मे राजा मुझे ही जान। मैं शस्त्रो मे वज्र और गौओ में कामधेनु हूँ, प्रजनन का हेतु कामदेव हूँ और सर्पों मे सर्पराज वासुकि हूँ। मैं नागो मे शेषनाग और जलचरो में उनका अधिपति वरुणदेव हूँ और पितरो मे अर्यमानामक पितर तथा शासको मे यमराज हूँ। मैं दैत्यो में प्रह्लाद और गणना करनेवालो में समय हूँ तथा पशुओ मे मृगराज सिंह और पक्षियो मे गरुड़ हूँ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण विभूतियो का उल्लेख कर रहे है।

**रसामृत** यह सारा जगत् ईश्वर का आवास है,[1] वह कण कण मे व्याप्त है तथा सारा जगत् उसीका एक स्वरूप है। परमेश्वर अपने योगबल अर्थात् ईश्वरीय शक्ति से इस जगत् की रचना करके इसे सचालित करता है। यद्यपि परमेश्वर जगत् के कण-कण मे व्याप्त है, उसकी ईश्वरीय शक्ति का कुछ वस्तुओ मे विशेष स्फुरण होता है, जिन्हे ईश्वर की विभूति कहा जाता है। प्रसिद्ध, महत्त्वपूर्ण और सर्वोत्कृष्ट वस्तुओ मे प्रभु की महिमा की विशेष झलक दृष्टिगोचर होती है। भक्तगण परमेश्वर की विभूतियो को देखकर प्रभु का स्मरण एव चिन्तन करने लगते है। धीरे-धीरे भक्त को सारा जगत् प्रभुमय दीखने लगता है। बालक को शिक्षा के प्रारम्भ मे बडे बडे अक्षर सिखाये जाते हैं तथा वह कालान्तर मे छोटे अक्षर भी पढने लगता है। भक्तगण विश्व के प्रमुख पदार्थों मे भगवान् की चमत्कारिक शक्ति को देखकर उन्हे भगवान् का ही एक रूप मान लेते हैं तथा उनके प्रति श्रद्धानत होकर भगवान् की महिमा का चिन्तन एव उसका गुणगान करने लगते हैं। विभूतियाँ परमेश्वर का स्मरण दिलानेवाली तथा परमेश्वर की ओर उन्मुख करनेवाली होने के कारण एक योग बन जाती हैं। महान् पर्वत, महान् सागर महान् सन्त, श्रेष्ठ पुरुष आदि का दर्शन करने पर भगवान् का स्मरण करना विभूतियोग है।

अदिति के सभी बारह पुत्र प्रसिद्ध हैं, किन्तु विष्णु उनमे श्रेष्ठ हैं। वह भगवान् का एक प्रसिद्ध रूप है।[2] ब्रह्माण्ड मे असख्य सूर्यमण्डल हैं। प्रत्येक में सूर्य केन्द्र-विन्दु होता है तथा अनेक ग्रह, उपग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं तथा उससे प्रकाशित एव सचालित होते हैं। प्रकाशपुज सूर्य भगवान् का एक रूप है। पृथ्वी पर स्थित हमारा जीवन सूर्य पर निर्भर होने के कारण सूर्य भगवान् का प्रत्यक्ष रूप है। भक्तगण उसमे परमात्मा के तेज और प्रताप का सदर्शन करते हैं। दिति के उनचास पुत्र मरुद्गण ( वायु ) दिति के आध्यात्मिक तेज से उत्पन्न कहे गये हैं, उनमे परम तेजस्वी मरीचि भगवान् का ही एक रूप है।[1]

अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी इत्यादि सत्ताईस नक्षत्र चन्द्रमा के पथ मे हैं। उन नक्षत्रो के अधिपति तथा पृथ्वी के समस्त प्राणियो के जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, पृथ्वी के ही उपग्रह चन्द्रमा को भी एक विभूति कहा गया है। पृथ्वी के मौसमो का नियत्रण तथा वनस्पति का पोषण चन्द्रमा द्वारा होता है तथा सूर्य की अनुपस्थिति मे चन्द्रमा सौम्य प्रकाश एव अमृतमयी शीतलता प्रदान करता है। पृथ्वी के लिए चन्द्रमा का महत्त्व

---

१ ईशावास्यमिद सर्व यत्किच जगत्यां जगत्।
—ईशावास्य उप०, १
—यह सब कुछ जो गतिशील जगत् मे है, वह ईश्वर का आवास है।

२ महाभारत के आदिपर्व में अदिति के बारह पुत्रो का उल्लेख है—धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा, विष्णु। वास्तव में ये सूर्य के बारह रूप हैं। यज्ञो वै विष्णु अर्थात् यज्ञ भी विष्णुरूप होता है।

१ वायुपुराण मे उनचास वायुओ का उल्लेख है। कदाचित् ये वायु के प्रकार हैं। इस अध्याय मे परिगणित विभूतियाँ वायुपुराण में वर्णित हैं। विष्णुपुराण में इन्द्र द्वारा दिति के गर्भस्थ पुत्र के उनचास टुकडे करने की कथा है, जिसका एक वैज्ञानिक महत्त्व है। पुराणो में प्रकृति के अनेक तथ्यों और सिद्धान्तो को कथानको एव प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

मरीचि प्राणवायु को भी कहा गया है। उनचास मरुतो मे मरीचि की गणना न होने के कारण 'मरुतों में मरीचि' का अर्थ मरुत् वायुओ की दीप्ति भी किया गया है।

'सूर्य आत्मा जगतः', 'सत्य तातान सूर्य.'—ऋग्वेद।
—अर्थात् सूर्य जगत् की आत्मा है, सूर्य ने सत्य को फैलाया।

सूर्य की भाँति अचिन्त्य है। अमृतमय चन्द्रमा भगवान् का एक सौम्यस्वरूप है।

ऋक्, यजु., साम और अथर्व चारो वेद अपौरुषेय एव दिव्य है, तथापि सामवेद सगीतमय एव भक्तिमय स्तुतियो से परिपूर्ण है तथा परम मधुर है।[1] सामवेद अमृतमय जीवन का प्रेरक है तथा अलौकिक आनन्द का विलक्षण स्रोत होने के कारण भगवान् की एक विभूति है। सामवेद तथा गीता मे भक्तिरस की प्रधानता है।

देवताओ मे देवराज इन्द्र का विशेष महत्त्व है। अत देवाधिपति इन्द्र भी भगवान् का एक स्वरूप है।

इन्द्रियाँ दस हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ। किन्तु सकल्प-विकल्प करनेवाले मन को जो वास्तव मे अन्त करण का अग है, ग्यारहवी इन्द्रिय भी कहा गया है। मन अत्यन्त सूक्ष्म है। मन दसो इन्द्रियो का प्रेरक एव राजा है तथा मन मनुष्य का 'दिव्य-चक्षु' है। मन की अवस्था एव स्वरूप ही मनुष्य की अवस्था एव स्वरूप है। वास्तव मे मन ही मनुष्य होता है। जीवन की समस्त साधना मे मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव मन भगवान् की ही एक विभूति है। चेतना जीवन का प्रमुख लक्षण है। जड देह मे आत्मा के सस्पर्श से चेतना उत्पन्न होती है तथा चेतना होने पर ही मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि गतिशील होती हैं। चेतना होने पर ही सुख-दु ख का अनुभव होता है तथा चेतना ही विचार-शक्ति एव ज्ञानशक्ति का आधार है। मन, बुद्धि, अहकार आदि से परे जाकर अथवा इनसे ऊपर उठने पर चेतना उदात्त एव दिव्य होकर परमात्मा का बोध कराती है। चेतना जीवन है तथा मन मनुष्य की गतिशीलता एव उसकी दिशा का सूचक है। चेतना और मन भगवान् की विलक्षण विभूतियाँ हैं। भक्ति से मन निर्मल एव [illegible] होता है तथा ध्यान से चेतना उदात्त एव दिव्य हो जाती है। मन के परिष्कार और चेतना के [illegible] द्वारा ही मनुष्य का रूपान्तरण सम्भव है।

यद्यपि सब-कुछ भगवान् ही है, तथापि [illegible] दिव्यता विशेषत भी प्रस्फुटित होती है। [illegible] प्रसिद्ध कुबेर, अग्निदेव, मेरु आदि [illegible] विभूतियाँ हैं। ग्यारह रुद्रो मे सर्वश्रेष्ठ [illegible] भगवान् का विशेष प्रकाश है।[1] [illegible] को साक्षात् परमेश्वर मानते हैं। [illegible] शङ्कर का पूरक स्वरूप है।

आठ वसुओ मे अग्नि [illegible] भगवान् की विभूति अथवा [illegible] है।[2] अग्नि पवित्र [illegible]

---

१ ऋग्वेद को वाणी, यजुर्वेद को मन तथा सामवेद को प्राण कहा गया है। यजुर्वेद के ३१वें तथा गीता के ११वें अध्याय मे साम्य कहा गया है। यजुर्वेद तथा गीता में साम्य स्पष्ट है।

१. हर, वहुरूप, [illegible] (शङ्कर), कपर्दी, [illegible] एकादश रुद्र हरिवंश[illegible] हैं। इन रुद्रो में [illegible] 'सो रुद्र स महादेव' [illegible] विरूपाक्ष, सुरेश्वर, [illegible] अपराजित, वैवस्वत, [illegible] हैं। पुराणो में [illegible] हैं। वीरभद्र, [illegible] आदि का भी उल्लेख है। [illegible] है। रुद्रों में [illegible] है। शङ्कर [illegible] प्रसन्न [illegible]

२. [illegible] अनल [illegible] वसु कहे गये है। [illegible] और [illegible] अग्नि, [illegible] श्रेष्ठ है, [illegible]

हवि पहुँचानेवाला होने के कारण अग्नि को भगवान् का मुख कहा गया है। वेदो मे अग्नि को पूज्य देवता कहा गया है। उच्चता की दृष्टि से सात पुराण-प्रसिद्ध पर्वतो मे सर्वोच्च पर्वत मेरु भगवान् की विभूति है। योगीश्वर शङ्कर विरूपाक्ष होकर भी परम सुन्दर हैं। (शङ्कर ने गरल-पान करके देव-दनुज-मनुज सभी की प्राण रक्षा की थी।) यक्षो मे कुबेर भगवान् की विभूति है, किन्तु कुवेर धनपति होकर भी कुरूप हैं।[1] धन का अतिशय लोभ मनुष्य को विकृत कर देता है। धन की शोभा धर्मनियत्रित होने मे ही है।

बृहस्पति देवराज इन्द्र के गुरु एव देवताओ के पुरोहित हैं तथा ज्ञानवल के कारण परमपूज्य हैं। पुरोहित कुल के सदस्यो को सन्मार्ग पर लगाता है।[2] पुरोहितो मे श्रेष्ठ बृहस्पति भी भगवान् की दिव्य विभूति हैं। जो कुछ भी श्रेष्ठ है वही भगवान् के दिव्यत्व की परिचायक विभूति है।

शङ्करपुत्र स्कन्द अथवा कार्तिकेय देवताओ के सेनापति हैं। कुशल, सजग एव सशक्त सेनापति होने के कारण उनके स्वरूप मे छह मुख और वारह हाथ चित्रित किये जाते हैं। उनमे भी भगवान् की शक्ति का विशेष प्रकाश है।

जलाशयो मे समुद्र प्रधान होने के कारण भगवान् की विभूति है। समुद्र के विस्तार को देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित हो जाता है तथा परमेश्वर की अनन्तता की कल्पना करता है। अनेक साधक समुद्र के असाधारण विस्तार पर मन केन्द्रित करके भगवान् की महिमा का ध्यान करते हैं।[1] पुराणप्रसिद्ध महर्षियो मे महर्षि भृगु ज्ञान, तेज, तप और सिद्धि-सम्पन्नता की विशेषता के कारण भगवान् की विभूति हैं। भृगु ऋषि ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं तथा वेदो मे मन्त्रप्रणेता के रूप मे प्रसिद्ध हैं।[2] वाणियो अर्थात् अर्थवोधक शब्दो मे एक अक्षर ॐ की प्रधानता है। ॐ ब्रह्म का स्वरूप एव प्रतीक है तथा समस्त आध्यात्मिक साधना का आवश्यक साधन है। ॐ का जप सर्वसिद्धिप्रदाता है। सूक्ष्म स्तर पर ॐ ब्रह्मनाद है।

समस्त यज्ञो मे जपयज्ञ श्रेष्ठ है[3] तथा भगवान् की एक दिव्य विभूति है। भक्तो के लिए भगवान् के नाम का जप प्राणप्रिय होता है। ध्यान के प्रारम्भ मे भी जप की आवश्यकता होती है। यज्ञो मे भी जप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव मे जप का उद्देश्य भगवान् के पवित्र नाम की पुनरावृत्ति द्वारा मन को परिष्कृत एव पवित्र करना तथा भगवान् का स्मरण करना होता है।

---

वाला मेधावी, क्रियावान्, सत्यस्वरूप और ज्ञानदाता देव है, वह हमें प्राप्त हो। 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्'—ईशावास्य उप०, १८।—हे अग्निदेव हमें सत्पथ पर चलाओ।

१ कुबेर को प्रतीकात्मक रूप में आठ दाँतो तथा तीन टाँगोवाला तथा पेट निकला हुआ चित्रित किया जाता है।

२ वैदिक परम्परा में पुरोहित का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह पूज्य कुलगुरु एव सरक्षक होता है।

—ऋग्वेद; १.१२८४।

१ चैतन्य महाप्रभु समुद्र को देखकर भगवान् के भाव में खो जाते थे।

२ भृगु ने श्री विष्णु के वक्षस्थल पर लात मारकर उनकी परीक्षा ली थी। श्री विष्णु ने भृगुलता (चरणचिन्ह) को हृदय पर धारण किया हुआ है। पुराणो मे भृगु के सम्वन्ध मे अनेक कथाएँ हैं। भृगु मरीचि, अत्रि, अगिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दस महर्षि ब्रह्मा के मानसपुत्र कहे गये हैं (वायुपुराण, ५९)। तैत्तिरीय उपनिषद् मे एक सम्पूर्ण वल्ली (अध्याय) भृगु-ऋषि के नाम पर है। प्राय सभी ऋषि गृहस्थ होते थे, किन्तु भृगु ब्रह्मचर्यव्रतधारी थे।

३ विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानस स्मृत ॥

—मनुस्मृति, २ ८५

—अर्थात् विधियज्ञ से जपयज्ञ दसगुना है, उपाशु जप (ओष्ठो में मन्द-मन्द जप) सौ गुना तथा मन के भीतर मौनजप सहस्रगुना है। गीता मे कई स्थानो पर प्रणव (ओंकार) की महत्ता वर्णित है (८ १३, १७ २४)

जप एक यज्ञ होता है। गायत्री मत्र का जप करने से बुद्धि शुद्ध होती है तथा विलक्षण सिद्धि ( शक्ति ) प्राप्त होती है। निरन्तर जप के लिए सरल और लघु मत्रो का उपयोग करना चाहिए। यद्यपि परमेश्वर तो एक[1] है, भक्तजन अपनी रुचि के अनुसार भगवान् के किसी एक स्वरूप का ध्यान करते हैं तथा उसीके नाम अथवा मत्र ( **ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ नम शिवाय, ॐ, हरि ॐ, श्री राम जय राम जय जय राम, श्री राम, श्री कृष्ण, राधे इत्यादि** ) का निरन्तर मानसिक जप करते हैं। ॐकार भगवान् की विभूति है तथा जप भी भगवान् की विभूति है—यह विचार कर अनेक लोग ॐ का निरन्तर मानसिक जप करते हैं। निर्गुण ब्रह्म के उपासक तथा सगुण परमेश्वर के भक्त सभी ॐ का जप करते है।

स्थावर ( स्थिर ) वस्तुओ मे हिमालय श्रेष्ठ है। हिमालय शङ्कर, देवताओ और तपस्वी ऋषि-मुनियो का पवित्र स्थल है। पुराणो मे पर्वतराज हिमालय की कथाएँ भरी पडी है। बदरीनाथ, केदारनाथ, गगोत्रीधाम इत्यादि तीर्थस्थान हिमालय मे ही है। पर्वतो की ऊँचाई पर चढकर मनुष्य का मन भी ऊँचा हो जाता है तथा समाधि इत्यादि के विशेष अभ्यास के लिए हिमालय की एकान्त कन्दराएँ श्रेष्ठ हैं।[2] पुण्यभूमि भारत का शिरोमुकुट पर्वताधिराज हिमालय भगवान् की प्रख्यात विभूति है। महासागर का विस्तार और महापर्वत की उत्तुगता मनुष्य को परमेश्वर के चमत्कार के प्रति श्रद्धानत कर देते है। अनेक साधकगण साधना के लिए महासागर और महापर्वतो का आश्रय लेते हैं। समुद्र और पर्वत भगवान् की सौन्दर्यमय नैसर्गिक विभूतियाँ हैं।

समस्त दीर्घजीवी वृक्षो मे पाप-तापहारी अश्वत्थ ( पीपल )[1] सर्वाधिक शुभ, सात्त्विक एव पवित्र है। समस्त देवर्षियो ( देव होकर मत्र-द्रष्टा भी होनेवाले ) मे नारद सर्वाधिक पूज्य हैं। 'नारद' का अर्थ है परमात्मविषयक ज्ञान देनेवाला। इनमे भगवान् की पवित्रता का विशेष प्रकाश है तथा ये उत्तम विभूतियाँ भगवान् का ही स्वरूप हैं।

सगीत-कला मे दक्ष देवगायक गन्धर्वो मे चित्ररथ प्रसिद्ध है। धर्म, तत्त्वज्ञान, वैराग्य तथा ईश्वरीय शक्ति की सिद्धता कपिलमुनि को जन्म से अनायास ही प्राप्त थी। कपिल ने साख्यशास्त्र की

---

१. आकाशात् पतित तोय यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥
—जिस प्रकार आकाश से गिरा हुआ जल सागर मे ही जाता है, सब देवताओ की पूजा भी भगवान् को ही पहुँच जाती है।

२ सर फ्रैंसिस यग हसबैन्ड ने हिमालय की अत्यधिक प्रशसा करते हुए लिखा है कि हिमालय की ऊँचाई पर चढकर मनुष्य अध्यात्मवृत्ति से परिपूर्ण हो जाता है। तुहिनाच्छादित धवलशिखर हिमालय के ललाम, भासमान एव दिव्य भाल के रूप मे विराजमान हैं तथा आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख कर देते हैं। प० जवाहरलाल नेहरू ने भी आत्मकथा मे ऐसे प्रभाव का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि हिमालय की ऊँचाई पर पहुँचकर मनुष्य को सासारिक महत्त्वाकाक्षाएँ और झगडे तुच्छ एव मूर्खतापूर्ण प्रतीत होने लगते हैं और एक अकल्पनीय शान्ति प्राप्त हो जाती है। हिमालय जडी-बूटियो, खनिज पदार्थों, काष्ठ आदि का विशाल भण्डार होने के अतिरिक्त विशाल नदियो तथा वर्षा आदि का भी कारण है तथा भारत देश का विशालकाय सजग सन्तरी है। हिमालय सौन्दर्य की साकार मूर्ति है तथा पृथ्वीमाता का मुकुट है।

१ यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान्। —अथर्ववेद, ३ ६ ६।—वीर पुरुष ऐसे ऊपर को उठता है, जैसे पीपल वनस्पतियो पर आरोहण करता हुआ अन्य वृक्षो को नीचा कर देता है। स्कन्दपुराण मे पीपल को देववृक्ष कहा गया है। गीता, १५ १ मे तथा कठ उप०, २.३.१ और मुण्डक उप०, ३ १ १ मे अश्वत्थ की चर्चा है। पीपल रात्रि मे भी ऑक्सीजन छोडता है तथा समस्त वृक्षो की अपेक्षा अधिक ऑक्सीजन देता है। पीपल के पत्तो और छाल का औषधि के रूप मे सेवन किया जाता है। पीपल पर कभी बिजली नही गिरती।

रचना की।[1] भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता मे कपिल के साख्य-सिद्धान्त मे महत्त्वपूर्ण सशोधन किया है। उत्तम कलाकार और दार्शनिक भगवान् की ही विभूति होते है। भगवान् की दिव्यता का स्फुरण तथा भगवान् की प्रेरणा होने पर ही कलाकार कालजयी सर्जन करते हैं तथा दार्शनिक मौलिक विचार प्रस्तुत करते हैं। तपस्वी, ज्ञानी, कलाकार, सिद्ध पुरुप आदि भगवान् की विभूतियाँ होते है। अश्वो मे उच्चैश्रवा तथा गजेन्द्रो मे महाश्वेत गजेन्द्र ऐरावत भगवान् की विभूति हैं। पौराणिक गाथा के अनुसार उच्चैश्रवा समुद्र-मन्थन के समय अमृत के साथ प्रकट हुआ था तथा देवराज इन्द्र का वाहन गजेन्द्र ऐरावत भी समुद्र-मन्थन के समय ही प्रकट हुआ था।[2]

प्रजा पर शासन करनेवाला राज्यसत्तासम्पन्न पुरुप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। वह भी भगवान् की विभूति है, यदि चरित्रवान् हो तथा प्रजा के कल्याण मे रत रहता हो।[1] उत्तम पदार्थ और उत्तम पुरुपो की ही गणना विभूतियो मे की गयी है। धर्मनिष्ठ राजा सन्तो एव तपस्वियो की पूजा करते थे तथा उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करते थे। ऋपितुल्य जीवन व्यतीत करनेवाले राजा राजर्पि कहलाते थे। ईश्वरीय शक्ति का विशेप विकास होने पर सत्ताधारी प्रशासक भगवान् का स्वरूप होता है। 'यथा राजा तथा प्रजा' प्रसिद्ध है। राजा के चारित्रवान् होने पर प्रजा की सच्चरित्रता की प्रतिष्ठा हो जाती है।

अस्त्रो मे वज्र का विशेप महत्त्व है। गौओ मे कामधेनु प्रख्यात है। कामधेनु भी समुद्र-मन्थन से प्राप्त हुई थी। कामधेनु शुद्ध सकल्प का प्रतीक है।

प्रजनन ( सन्तान का जन्म ) भगवान् की कृपा ही है तथा काम का शुद्ध स्वरूप भगवान् की प्राप्ति का साधन तथा भगवान् का ही स्वरूप है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि धर्म से नियन्त्रित एव पवित्र किया हुआ सात्त्विक काम उन्नतिकारक होता है। पाशविक वासना भगवान् की विभूति नही है। सात्त्विक काम अथवा सुन्दर कन्दर्प भगवान् का ही स्वरूप होता है।[2] सर्पो मे वासुकि भी भगवान् की विभूति है। जिस प्रकार सर्पो मे सर्पराज वासुकि भगवान् की विभूति है, उसी प्रकार नागो मे नागराज शेपनाग भी भगवान् की विभूति है। पौराणिक गाथा के अनुसार श्री विष्णु शेपनाग की शय्या पर शयन करते हैं।[3] दैवी शक्ति कुटिलता

---

१ छह शास्त्र हैं। जैमिनि ने पूर्वमीमासा अथवा मीमासाशास्त्र की रचना की, कणाद ने वैशेषिक शास्त्र की, गौतम ने न्यायशास्त्र की, पतञ्जलि ने योगशास्त्र की, कपिल ने साख्यशास्त्र की तथा व्यास ने उत्तरमीमासा अथवा वेदान्तशास्त्र की रचना की।

२ वेदो मे अश्व तथा गज क्रमश गति और बल के प्रतीक है। मनुष्य के अन्त करणरूपी समुद्र के मन्थन से ज्ञानामृत का उदय होता है। मनुष्य के भीतर ही अमृत और विप हैं। इच्छाओ को पूरा करनेवाली शक्ति अथवा कामधेनु भी भीतर ही है। समुद्र-मन्थन मे वासुकि को रस्सी तथा सुमेरु को मथानी बनाया गया था। सर्पराज वासुकि सर्पतुल्य कुण्डलिनी शक्ति का भी प्रतीक है। कश्यप तथा कद्रू के पुत्र वासुकि सर्प का पौराणिक वर्णन मनुष्यों की भाँति ही है। शिव ने गरल-पान करके देवासुरो की रक्षा की। उत्तम पुरुष लोककल्याण हेतु गरल-पान करते हैं। ब्रह्मज्ञान ही अमृत है।--'ब्रह्म वेदममृतम्'। —मुण्डक उप०।

---

१ राज्ञि धर्मणि धर्मिष्ठा पापे पापा. समे समा'।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा'॥
—चाणक्यनीति

२ धर्माविरुद्धो भूतेपु कामोऽस्मि भरतर्पभ।
—गीता, ७ ११

३ भारत मे नाग-पचमी पर सर्प और नाग को भगवान् का स्वरूप मानकर सर्प-पूजा एव नाग पूजा की जाती है। सद्भावना विपधर भुजग को भी मित्र बना देती है। सर्प में मनुष्य की भावना को जान लेने की रहस्यमयी

के विष को परास्त कर देती है। आध्यात्मिक व्यक्ति सकटपूर्ण स्थिति मे भी परम शान्त रह सकता है।

जलचरो मे जलचरो का अधिपति वरुणदेवता भगवान् की विभूति है। वरुण को अन्न, जल और तेज का प्रदाता माना गया है। पुराणप्रसिद्ध सात पितरो मे[१] उनका प्रमुख अर्यमा भगवान् की एक विभूति है। अर्यमा पितरेश्वर है तथा सरक्षक के रूप मे माना जाता है।

समस्त नियमन करनेवालो मे दण्डाधिकारी यम[२] प्रधान हैं तथा भगवान् की विभूति है। न्याय, नियम तथा दण्ड की धर्मानुसार व्यवस्था करनेवाले निष्पक्ष न्यायाधिकारी भगवान् की विभूति होते है। दैत्यो मे भक्त प्रह्लाद भगवान् की विभूति है। पुराण प्रह्लाद की भक्ति-गाथाओ से भरे हुए है। दैत्यवश[३] मे उत्पन्न होकर भी ज्ञान एव भक्ति के कारण प्रह्लाद भगवान् के प्रिय हो गये। काल तो अनन्त है, किन्तु वर्ष, मास आदि का वाचक समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से काल भगवान् का एक स्वरूप है।

सिंह[१] पशुओ मे सर्वाधिक तेजस्वी, बलवान् और साहसी होने के कारण भगवान् की एक विभूति है। जो मनुष्य सिंह की भाँति शूर-वीर और साहसी होता है उसे पुरुषसिंह कहकर सम्मानित किया जाता है। भगवान् ने नृसिंह (पुरुषसिंह) के रूप मे प्रह्लाद की रक्षा करने के लिए हिरण्यकशिपु राक्षस को नष्ट किया था। सिंह की गर्जना विलक्षण होती है। सिंह का चलना, उठना, बैठना भव्य होता है। कपटी और कायर को शृगाल कहा जाता है। पक्षियो में गरुड अपनी तीव्र गति इत्यादि के कारण भगवान् की विभूति होता है। पुराणो मे गरुड की भक्ति की अनेक गाथाएँ हैं तथा वह श्री विष्णु का वाहन भी है। गरुड गतिशीलता का प्रतीक है।

**पवनः पवतामस्मि राम शस्त्रभृतामहम्।**
**झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥**
**सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।**
**अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥**
**अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।**
**अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥**
**मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।**
**कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।३४।**
**बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।**
**मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥**

---

शक्ति होती है। सर्प-पूजा अहिंसा-पालन के अभ्यास का एक अग है।

१ कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषद् ये सात पितृगण हैं। वेद मे माता-पिता, पितामह, वृद्ध ज्ञानीजन को भी 'पितर' कहा गया है। पितरो की कल्पना रक्षको के रूप मे की गयी है। **यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा** (ऋग्वेद, १ ४१ १), **शं नोभवत्वर्यमा** (ऋग्वेद, १ ९० ९), **शं नो भवत्वर्यमा** ऋग्वेद, (१ ९०.९), **शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु** (ऋग्वेद, ७.३५ २)। अर्यमा दुष्टो से रक्षा करता है। दश दिक्पाल देवता भी रक्षा करते हैं—इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्मा, अनन्त तथा यम।

२ सयम का अर्थ आत्मसयम तथा 'यम' का अर्थ अष्टागयोग का प्रथम सोपान भी है। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। किन्तु यहाँ 'यम' का अर्थ परमज्ञानी तथा न्यायकारी यमराज ही है, जिसने नचिकेता को ज्ञान दिया।

३. पुराणो के अनुसार मुनि कश्यप की पत्नियाँ दिति और अदिति दो बहनें हैं। दिति के पुत्र दैत्य तथा अदिति के पुत्र आदित्य कहलाये। उत्तम माता के सस्कार सन्तान को देवतुल्य और अधम माता के सस्कार दैत्यतुल्य बना देते हैं।

१ **'स्वयमेव मृगेन्द्रता'**—सिंह स्वयं ही वन मे पशुओ का राजा हो जाता है, उसका कोई राज्याभिषेक नही होता। वीर पुरुष समाज में अपने ही पराक्रम एव प्रताप से अग्रणी हो जाते हैं।

कृष्ण का चरित्र अद्वितीय है। यदि उन्हें भगवान् के अवतार का पद दे दिया गया है तो कोई आश्चर्य नहीं है। उनकी महिमा तो स्थिर रूप से अपनी है, किन्तु उन्हें उपास्य मानकर उपासना करने से लोक का ही अपना स्वार्थ तथा महान् लाभ है। मत्स्य आदि जलचरों में अतिशय बल के कारण अग्रणी मगर को भी भगवान् की विभूति कहा गया है। एक पौराणिक गाथा के अनुसार मगर ने गजेन्द्र का पैर पकड़ लिया था और भगवान् ने गजेन्द्र की पुकार सुनकर तुरन्त उसकी रक्षा की।

गंगा हिमालय की भाँति भगवान् की प्रधान विभूति है। पुराणों में गंगा की महिमा का विशद उल्लेख है। भारत के इतिहास की सांस्कृतिक, धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक चेतना का प्रमुख स्थल गंगा के तटवर्ती क्षेत्र रहे हैं।[1] भारत के लिए गंगा सब प्रकार से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निधि है। निराकार ब्रह्म-भक्तों के लिए नीराकार गंगा है।

गंगा की महिमा अनन्त है। कोटि-कोटि ऋषि-मुनि, सन्त, महात्मा और तपस्वी गंगातट पर स्थित तीर्थों में आध्यात्मिक साधना करते हैं तथा असंख्य श्रद्धालुजन विविध पर्वों पर गंगा-स्नान के लिए एकत्र होते हैं।

भगवान् ही समस्त जड़ पदार्थों तथा चेतन प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त हैं।[1] सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त भी भगवान् की विलक्षण विभूति है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, पालनकर्ता विष्णु और संहारकर्ता महेश तीनों एक ही परमेश्वर के रूप हैं। सृष्टि का मूल कारण भगवान् है तथा वही इसमें ओतप्रोत है। समस्त सृष्टि अनन्त परमेश्वर से उत्पन्न होकर तथा उससे सम्पोषित होकर उसीमें विलीन हो जाती है।

विद्याओं में परम कल्याणकारक, परम आनन्ददायक तथा जीवन को साफल्य तथा कृतार्थ करनेवाली विद्या अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मविद्या द्वारा आत्मसाक्षात्कार अथवा परमात्म-दर्शन सम्भव होता है।[2]

जीवात्मा का शुद्ध स्वरूप स्वयं परब्रह्म परमात्मा है—यह तत्त्वनिर्णय करना अध्यात्मविद्या का उद्देश्य है। अध्यात्मविद्या बिना समस्त

---

'परशुराम' किया है, किन्तु यह सर्वमान्य नहीं है। कृष्ण स्वयं अपने अवतार को भी भगवान् की विभूति कहेंगे। (श्लोक ३७)

१ पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में हिमालय की भाँति गंगा की प्रचुर प्रशस्ति की है। अनेक पुराणों में गंगा की गाथाएँ भरी पड़ी हैं। शिवपुराण तथा भागवत में गंगा की महिमा का विशेष गान हुआ है। गंगा ब्रह्मा के कमण्डलु का जल, विष्णु का चरणोदक एवं शिव की जटाओं में स्थित है तथा भगीरथ की भक्ति से पृथ्वी पर प्रवाहित हुई है। अनेक पौराणिक गाथाएँ उसके प्रतीकों पर आधारित हैं। ब्रह्मा के 'पौ' [illegible] रागिनी गाने पर गंगा भी प्रकट हो गयी तथा रसमय भगवान् विष्णु ही रसरूप होकर प्रवाहित हो गये। [illegible] के संगीत से रस प्रवाहित हो गया और वह [illegible] हो गया। निराकार ब्रह्म ही नीराकार गंगा है। यह [illegible] ब्रह्मपुराण व [illegible] में वर्णित है। [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] ( [illegible] ), गौ और गंगा को [illegible] माना गया है। [illegible] हैं तथा भारतीयों को उनकी पवित्रता की रक्षा करनी चाहिए।

१ इसके पूर्व बीसवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा था, 'मैं सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ।' वहाँ 'भूत' का अर्थ चेतन प्राणी है तथा इस श्लोक में 'सर्ग' का अर्थ सृष्टि के समस्त जड़ पदार्थ और चेतन प्राणी है।

२ मुण्डकोपनिषद् में अध्यात्मविद्या को पराविद्या तथा लौकिक विद्याओं को अपराविद्या कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार नारद से कहते हैं कि ब्रह्मविद्या श्रेष्ठ विद्या है।

अन्य विद्याएँ विनाशक सिद्ध होती है। ब्रह्मविद्या भगवान् की एक दिव्य विभूति है।

ज्ञान के सम्बन्ध मे यत्र-तत्र विवाद होते हैं। न्यायशास्त्र के अनुसार विवाद करनेवालो के विवाद तीन प्रकार के हैं—जल्प अर्थात् सत्य एव असत्य को भूलकर अपनी बात को उचित तथा दूसरे की बात को अनुचित सिद्ध करना, वितण्डा अर्थात् अपने पक्ष की स्थापना को भी भूलकर केवल दूसरे के पक्ष को दोषमय सिद्ध करने हेतु वाद-विवाद एव कलह करना तथा वाद अर्थात् तत्त्व-निर्णय की दृष्टि से सत्य का निश्चय करना। लोग प्राय नम्रता पूर्वक सत्य की खोज नही करते, बल्कि दभ तथा द्वेष से प्रेरित होकर अपने को बुद्धिमान् और ज्ञानवान् तथा दूसरो को मूर्ख सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। तत्त्व-निर्णय मनुष्य को अन्धविश्वास तथा भ्रम से भी मुक्त कर देता है और जिज्ञासा को शान्त करके परम सन्तोष देता है। वाद से प्रगति होती है। श्रीकृष्ण और अर्जुन के सवाद में वाद का सच्चा स्वरूप देखा जा सकता है। वाद भगवान् की एक सुन्दर विभूति है। जो लोग सरल होकर बातचीत करते हैं तथा सत्य को स्वीकार करते रहते हैं, वे महान् होते हैं तथा जन-समाज के लिए वरदान होते हैं। उत्तम मनुष्य सोद्देश्य तर्क ( अर्थात् तत्त्व-निर्णय के लिए किया हुआ तर्क ) का सहारा लेकर तर्कातीत आत्मा की अनुभूति प्राप्त कर लेते है। बुद्धि ही शुद्ध होने पर मनुष्य को बुद्धि से परे सस्थित कर देती है।[1] जिज्ञासा मनुष्य को विज्ञान की ओर, विज्ञान दर्शन की ओर, दर्शन धर्म की ओर तथा धर्म आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है।

१ कान्ट का तर्कवाद वाद-निर्णय को पुष्ट करता है, किन्तु केवल बुद्धिवाद अथवा तर्कवाद भी अवरोधक हो जाता है। उत्तम तर्क मनुष्य को सत्य की अनुभूति की ओर उन्मुख कर देता है।

'अ' नामक अक्षर के ज्ञान से शिक्षा का प्रारम्भ होता है। नादब्रह्मरूप ॐ ( अ उ म् ) का प्रथम अक्षर 'अ' ही है। अक्षरो मे प्रथम अक्षर 'अ' का उच्चारण अत्यन्त सरल तथा स्वाभाविक है। अकार ही विविध प्रकार से उच्चारित होकर समस्त व्यजनो का आधार अर्थात् वाणी का आधार अथवा उसका मूल स्वरूप है।[1] अक्षरो मे श्रेष्ठ अकार भगवान् की विभूति है।

शब्दो को सयुक्त करके एक नया शब्द बनाना समास कहलाता है। समास छह हैं तथा उनमे द्वन्द्व श्रेष्ठ है,[2] क्योकि उसमे दोनो पदो का समान महत्त्व रहता है।

अनादि, अनन्त और अक्षय काल, जो गणना मे आनेवाले समय ( जिसका उल्लेख ३०वे श्लोक मे हुआ है ) का भी महाकाल है, भगवान् की दिव्य विभूति है। अक्षय महाकाल के अन्तर्गत भूत, वर्तमान और भविष्य है।[3]

भगवान् का सर्वतोमुख रूप अथवा विराट् रूप उसका ही एक दिव्य स्वरूप है तथा भक्तो के लिए विभूतिरूप मे उपास्य है। सब ओर मुखवाला, सब-कुछ देखनेवाला, सब कर्मों का फल देनेवाला विश्वतोमुख विराट्रूप परमेश्वर भक्तो के लिए सर्वत्र व्याप्त निराकार परमब्रह्म की अपेक्षा अधिक बुद्धिग्राह्य तथा समीपस्थ प्रतीत होता है।

१. देवनागरी लिपि मे 'अ' का उच्चारण 'अ' ही करते हैं। यूनानी, लैटिन, फ्रेंच, अग्रेजी, अरबी, फारसी आदि के प्रारम में भी 'अ' है, किन्तु उनका उच्चारण 'अ' से भिन्न है। देवनागरी लिपि मे जैसा लिखा जाता है, वैसा ही बोला जाता है। अकारो वै सर्वा वाक् ( ऐतरेय ब्रा० पू० ३ ६ )—अकार ही सारी वाणी है।

२ अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व तथा कर्मधारय और द्विगु—ये छह समास हैं, किन्तु तत्पुरुष के अन्तर्गत कर्मधारय और द्विगु हैं।

सभी प्राणी जन्म लेते हैं तथा मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सभी देह अन्तवान् तथा विनाशवान् है।[1] मृत्यु अथवा विनाश देह का धर्म है। वास्तव मे मृत्यु देहान्तर-प्राप्ति (अन्य देह की प्राप्ति) का साधन है किन्तु मनुष्य अज्ञानवश मृत्यु को पूर्ण विनाश समझकर उससे भयभीत रहते है। मृत्यु सामान्य घटना होकर भी अत्यन्त विलक्षण है। मृत्यु बडे और छोटे, धनी और निर्धन, सन्त और दुष्ट को एक समान प्राप्त होनेवाली तथा विवेक देनेवाली गुरु है। मृत्यु को भगवान् की विभूति मानने से मनुष्य को मृत्यु का भय नही सताता। मृत्यु के भय पर विजय पाकर ही मनुष्य जीवन के सौन्दर्य को पहचान सकता है।

भगवान् भविष्य मे उत्पन्न होनेवाले प्राणियो के जन्म का भी कारण है। उद्भव (उत्पत्ति) भी भगवान् की एक विचित्र विभूति है। नारियो मे कीर्ति, श्री, वाक् स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा नामक पुराणप्रसिद्ध नारियाँ भगवान् की विभूति हैं।[2] यद्यपि इन गुणो को प्रधानत नारी के रूप मे वर्णित किया गया है अथवा इन गुणो को नारी से ही सम्बद्ध कहा गया है। वास्तव मे ये सातो गुण प्रत्येक नर-नारी के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

नारी परिवार की आत्मा होती है तथा परिवार का वातावरण नारी के स्वभाव एव व्यवहार पर निर्भर होता है। वेदो मे मृदुभाषिणी, उदार और सरल नारी को उत्तम कहा गया है। नारी के श्रेष्ठ होने पर परिवार मे सुख, समृद्धि और शान्ति सुलभ हो जाती है। नारी मे उत्तमता के लिए सात गुणो का समावेश होना चाहिए—कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा। वास्तव मे नारी वाक्, क्षमा, मेधा, धृति और स्मृति के विकास का प्रयत्न एव अभ्यास करने से श्री तथा कीर्ति प्राप्त कर सकती है। पृथक्-पृथक् तथा सयुक्त रूप से ये सातो गुण भगवान् की विभूतियाँ है। इनमे से किसी एक गुण का विकास होना भी गौरवपूर्ण है, किन्तु यदि कोई नारी इन सातो गुणो से सम्पन्न हो सके तो वह निश्चय ही भगवान् की परम दर्शनीया एव अर्चनीया विभूति होगी।

---

१ अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिण.।
—गीता, २ १८

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।—गीता, ९ १९

काल को भी मृत्यु कहा जाता है। काल के तीन भेद कहे गये हैं—(१) दिन, माह, ऋतु, वर्ष आदि गणना में आनेवाला समय, भूत, भविष्य और वर्तमान, जिसको श्लोक ३० में विभूति कहा गया।

(२) विनाशकारी काल, जिसको श्लोक ३४ मे मृत्युरूप विभूति कहा गया। महाप्रलय के पश्चात् प्रकृति की साम्यावस्था भी काल है।

(३) महाकाल, जिसे श्लोक ३३ मे अक्षयकाल के रूप मे विभूति कहा गया है।

२ पुराणो मे जटिल बातो की व्याख्या करने के लिए प्रतीको, आख्यायिकाओं अथवा गाथाओ की रचना की गयी है। यह प्रतीकात्मक शैली है। मनु, नारद, विश्वामित्र, वसिष्ठ, भृगु, व्यास इत्यादि न केवल कुछ ऋषियो के नाम ही हैं, बल्कि उपाधियाँ (तथा गोत्र भी) हैं। इसी कारण एक ही नाम अनेक ऋषियो के लिए तथा अनेक युगो मे प्रयुक्त हुआ है। एक पौराणिक कथा के अनुसार स्वायम्भुव मनु की पुत्री प्रसूति का विवाह प्रजापति दक्ष से हुआ। प्रसूति की २४ कन्याएँ थीं, जिनमे कीर्ति, धृति, स्मृति और क्षमा सम्मिलित हैं। कीर्ति, मेधा और धृति का विवाह धर्म से हुआ, स्मृति का विवाह अङ्गिरा ऋषि से, क्षमा का महर्षि पुलह से। दक्ष की एक कन्या ख्याति का विवाह भृगु ऋषि से हुआ। भृगु की पुत्री श्री है। ब्रह्मा की पुत्री का नाम वाक् है। वास्तव मे ये सात गुण नारियो के रूप मे प्रतीकात्मक शैली में वर्णित हैं। किसी भी श्लोक मे शब्दो का क्रम छन्द की सुविधा के लिए होने के कारण भिन्न प्रकार से भी रखा जा सकता है।

सत्यनिष्ठ किन्तु हितकर एव प्रिय वाक् से नारी के व्यक्तित्व मे आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। शीतल वाणी मन के ताप को दूर करती है। प्रियवादिनी नारी घर के लिए एक वरदान तथा कटुवादिनी नारी एक अभिशाप होती है। दूसरो के कटुतापूर्ण व्यग्य-वचन सुनकर भी मुस्कराकर मधुर उत्तर देनेवाली सहनशील एव क्षमाशील नारी वन्दनीया होती है। क्षमा मन को निर्मल तथा निर्भय कर देती है। क्षमा दुर्गा का भी एक नाम है। '**दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तु ते।**' सहनशीलता क्षमा के अन्तर्गत होती है। क्षमा दैवी गुण है। शङ्कराचार्य कहते है कि वास्तविक क्षमाभाव जागने पर क्रोध उत्पन्न ही नही होता। क्रोध उत्पन्न होने पर क्षमा करना सच्चा क्षमाभाव नही है। वास्तव मे मेधा अर्थात् सद्ग्रन्थो के अनुशीलन द्वारा पवित्र हुई बुद्धि से युक्त मेधाविनी नारी क्षमामयी होती है। वेदो मे मेधा ( पवित्र बुद्धि ) प्राप्त करने के लिए अनेक प्रार्थनाएँ है। जहाँ पवित्र बुद्धि है, वहाँ सब शुभ ही शुभ है।

वाणी, क्षमा तथा मेधा के अतिरिक्त धृति अर्थात् धैर्य की महिमा भी अकथनीय है। धैर्य की परीक्षा प्रतिकूल परिस्थिति मे होती है। उत्तम नारी कभी अधीर, व्याकुल और निराश नही होती। उसमे चारित्रिक दृढता एव गम्भीरता होती है। जहाँ मेधा और धृति होती है, वहाँ स्मृति भी होती है। स्मृतिशीला नारी पुराने अनुभवो और उपदेशो को स्मरण रखकर उत्तम व्यवहार करती है। नारी के उत्तम व्यक्तित्व के कारण परिवार मे श्रीसम्पन्नता और परिवार के बाहर कीर्ति होती है। कपटपूर्ण तथा पापपूर्ण उपायो से प्राप्त प्रचुर धन परिवार को सुख-शान्ति प्रदान नही कर सकता, किन्तु पवित्रता तथा परिश्रम से अर्जित अल्प धन भी परिवार को श्री अर्थात् शोभा, समृद्धि, सन्तोष एव शान्ति प्रदान करता है। श्री नारी के व्यक्तित्व का आकर्षण है। श्री-सम्पन्न नारी के प्रभाव से परिवार फलता-फूलता है तथा नारी एव परिवार की कीर्ति चारो ओर सुगन्धि की भाँति फैलती है। इन सातो विभूतियो से सम्पन्न नारी पृथ्वी की शोभा होती है तथा पूजनीया विभूति होती है। वह साक्षात् परमेश्वर का स्वरूप होती है। उसके दर्शन और आशीर्वाद से जीवन उदात्त हो जाता है।

यद्यपि श्रीकृष्ण सामवेद को भगवान् की विभूति ( १० २२ ) कह चुके है, वे सामवेद मे '**त्वामिद्धि हवामहे**' नामक ऋचा मे आरूढ गीति-विशेष को, जिसे **बृहत्साम** कहते हैं, विभूति कहकर उसे विशेषता दे रहे है। सामवेद के प्रकरणो मे बृहत्साम प्रकरण श्रेष्ठ है।

वेद की ऋचाएँ छन्दोबद्ध हैं। त्रिष्टुप्, जगती इत्यादि छन्दो मे गायत्री छन्द श्रेष्ठ है। वेद मे जितनी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उनमे गायत्रीनामक ऋचा श्रेष्ठ है।[1] छन्दयुक्त मन्त्रो मे गायत्री मन्त्र



---

१ गायत्री छन्द मे कही हुई गायत्री ऋचा ( मन्त्र ) है—**ॐ भूर्भुवः स्व तत् सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।** भूः भुव स्व व्याहृतियो के अनेक अर्थ हैं। ये पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग के भी वाचक हैं। परमात्मा ही भू भुव और स्वः है। हम सवितादेव ( अर्थात् भगवान् ) के उस श्रेष्ठ भर्ग ( तेज ) का ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियो को प्रेरणा ( सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा ) दे।

देवीभागवत मे गायत्री-महिमा का गान किया गया है ( ११ १६ १५ तथा १२ ८ ८९ )।

**नास्ति गंगासमं तीर्थं न देव. केशवात्पर।**
**गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति॥**

—बृहद्योगि याज्ञवल्क्य, १० १०

अर्थात् गगा के समान तीर्थ नही, केशव से बढकर देव नही और गायत्री से बढकर जपनीय मन्त्र न था, न होगा।

**गायत्री पापनाशिनी।**—शखस्मृति, १२.२४

**महाव्याहृतिसयुक्तां प्रणवेन च सजपेत्।**—सवर्तस्मृति,

सर्वोत्तम होने के कारण भगवान् की दिव्य विभूति है।

महीनो मे मार्गशीर्ष तथा ऋतुओ मे पुष्पो से परिपूर्ण वसन्त प्राकृतिक सौन्दर्य आदि के कारण श्रेष्ठ है।[1] ये दोनो भी भगवान् की विभूति है।

छल कपट करनेवाले दुष्टजन की छलकपटपूर्ण क्रीड़ा 'द्यूत' मे भी भगवान् का ही चमत्कार प्रकाशित होता है। केवल सात्त्विक ही नही, बल्कि राजस और तामस क्रियाओ की विशेषता मे भी परमात्मा का चमत्कार ही झलकता है। श्रीकृष्ण 'अहं छलयतां' ( मैं छल करनेवालो का ) कहकर द्यूत की भर्त्सना कर रहे हैं, किन्तु भक्त द्वेषरहित होकर छलियो के कमाल मे भी भगवान् का दर्शन करते हैं। भक्त प्रत्येक विशेष प्रभाव एव चमत्कार को देखकर भगवान् का स्मरण करते हैं। भक्त तेजस्वी पुरुषो के तेज मे, विजेताओ की विजय मे, लोगो की निश्चय करने की शक्ति मे तथा सात्त्विक पुरुषो की सात्त्विकता के उत्कर्ष मे तथा हिंसक एव क्रूर सिंह, मकर इत्यादि के बल में, विषधर सर्पों की भीषणता मे तथा छलियो के कमाल मे भी भगवान् की शक्ति का विशेष स्फुरण देखते है। दीपक के प्रकाश की सहायता से सत्कर्म तथा कुकर्म दोनो ही हो सकते हैं, किन्तु प्रकाश उनसे अछूता रहता है। छल-कपट करनेवालो को छल-कपट का तथा सत्पुरुषो को सत्कर्म का फल अवश्य मिलता है। सत्पुरुषो को सत्कर्म करने के अहकार का उदय न होने देना चाहिए। सत्कर्म का अहकार भी पतनकारक होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वृष्णिवशियो मे वासुदेव स्वय वे तथा पाण्डवो मे स्वय अर्जुन भी भगवान् की विभूति हैं। मुनियो मे व्यासमुनि और कवियो मे शुक्राचार्य[1] कवि विभूति हैं। समाज मे व्यवस्था को सुरक्षित रखने की दृष्टि से दुष्टता का दमन करनेवालो का दण्ड विधान भी भगवान् की विभूति

---

२१८, अर्थात् गायत्री को व्याहृति और ॐकारसहित जपना चाहिए।

**'गायत्री छन्दसा मातेति।'**—नारायण उप०, ३४—गायत्री छन्द, छन्दो की माता है।

गायत्री छन्द के प्रतिपाद मे ८ अक्षर होते है। त्रिष्टुप् मे ११ अक्षर होते हैं।

**'तदाहुर्गायत्री वै सर्वाणि सवनानि गायत्री ह्येवैतदुपसृज्यमानैरिति।'**—शतपथ ब्राह्मण।—ज्ञानीजन कहते हैं कि सभी सवन गायत्री छन्द से व्याप्त हैं, जो कुछ उपसृष्ट होता है, वह गायत्री ही है ( उससे कुछ पृथक् नही है )।

**'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्।'**—छान्दोग्य उप०।—यह सब भूतमात्र ( जड-चेतन पदार्थ ) गायत्री ही है।

१ अगहायण मास को मार्गशीर्ष कहते हैं, क्योकि पूर्णिमा को मार्गशीर्ष नक्षत्र स्थित होता है। मार्गशीर्ष के शुक्लपक्ष मे मोक्षदा एकादशी को गीता का उपदेश दिया गया था। महाभारत काल मे मार्गशीर्ष प्रथम मास होता था। ( लगभग आधा दिसम्बर और आधा जनवरी अगहन होता है। ) वसन्त को ब्राह्मण की ऋतु भी कहते हैं—'वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तु।' वेद मे मधुऋतु की प्रशसा करते हुए जीवन में मधुरता के समावेश की प्रार्थना की गयी है। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव इत्यादि ( ऋग्वेद, १ ९० ६,७,८ )।

१. पराशर तथा सत्यवती के पुत्र कृष्णद्वैपायन व्यास महर्षि थे। मननात् मुनि।—मननशील को मुनि कहा जाता है। व्यास को १८ पुराण, ब्रह्मसूत्र तथा महाभारत का रचनाकार कहा गया है। व्यास के पुत्र शुकदेव महान् ज्ञानी थे। असुरो के गुरु शुक्राचार्य की गाथाएँ अनेक पुराणों में हैं। भृगु ऋषि के च्यवन ऋषि, शुक्र इत्यादि सात पुत्र थे। शुक्र की शुक्र-नीति प्रसिद्ध है। शुक्र का एक नाम उशना है। वेद में 'कवि' का अर्थ मन्त्रद्रष्टा भी है।

है।[1] प्रकृति मे भी दण्ड का विधान है। दण्ड से प्रजा की रक्षा होती है। निष्पक्ष और न्यायसगत दण्ड देना धर्म है। (क्षमा का अवसर आने पर क्षमा-दान देना परम धर्म है।) विजय की कामना करनेवाले मनुष्यो की धर्मनीति अर्थात् उनकी सतर्कता एव कुशलता भी भगवान् की विभूति है।[2]

अन्तिम दो विभूति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—मौन तथा ज्ञान। मौन का व्यावहारिक अर्थ वाणी का सयम अर्थात् कम बार बोलना, थोडा बोलना तथा सत्य एव प्रिय बोलना है।[3] अधिक बोलना चपलता का लक्षण है। मननशील एव गम्भीर मनुष्य अल्पभाषी एव मधुरभाषी होते हैं। मौन का अभ्यास ध्यानयोगी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परमात्मा मुखर रहकर भी मौन तथा व्यक्त होकर भी अव्यक्त है। उत्तम पुरुष वाणी का दुरुपयोग कदापि नही करते। आध्यात्मिक साधना मे मौन, जप तथा ध्यान का अत्यधिक महत्त्व है।

ज्ञान कल्याणकारक प्रकाश होने के कारण परमात्मा की श्रेष्ठ विभूति है। ज्ञान मनुष्य को अहकार, चपलता, स्वार्थबुद्धि आदि से मुक्त करके सरल और सात्त्विक बना देता है। ज्ञान मनुष्य को अन्धकार, शोक और मोह से मुक्त करता है तथा जीवन को उदात्त एव दिव्य बनाता है। ज्ञान पवित्र तथा पावन होता है।

**यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।**
**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।३९।**

**नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।**
**एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।४०।**
**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।**
**तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।४१।**

**शब्दार्थ :** च अर्जुन यत् सर्वभूताना बीजं तत् अपि अहं=और हे अर्जुन, जो सब भूतो का बीज (उत्पत्ति-कारण) है वह भी मैं हूँ, तत् चराचरं भूतं न अस्ति यत् मया विना स्यात्=वह चर-अचर भूत नही है, जो मेरे से रहित हो। परंतप=हे अर्जुन, मम दिव्याना विभूतोना अन्तः न अस्ति=मेरी दिव्य विभूतियो का अन्त नही है, एष. मया विभूते. विस्तर तु उद्देशत. प्रोक्त.=यह मेरे द्वारा विभूति का विस्तार तो एक देश से अर्थात् सक्षेप से कहा गया है। यत् यत् एव विभूतिमत् श्रीमत् वा ऊर्जितं सत्त्व=जो-जो भी विभूतियुक्त श्रीयुक्त (कान्तियुक्त) अथवा ऊर्जित (शक्तियुक्त) वस्तु है, तत् तत् एव त्व मम तेजो अशसंभवं अवगच्छ=उस-उसको ही तू मेरे तेज के अश से उत्पन्न हुआ जान।

**वचनामृत :** और हे अर्जुन, जो सब भूतो का बीज[1] अर्थात् उनकी उत्पत्ति का कारण है, वह भी मैं हूँ, (क्योकि) वह चर और अचर भूत कोई नही है, जो मुझसे रहित हो। हे परतप, मेरी दिव्य विभूतियो का अन्त नही है, यह तो मेरे द्वारा विभूतियो का विस्तार सक्षेप से कहा गया है। जो जो भी विभूतियुक्त (विशेष शक्तियुक्त), कान्तियुक्त अथवा शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको ही तू मेरे तेज के अश से उत्पन्न जान।

**सन्दर्भ :** दिव्य विभूति अनन्त है। सब भगवान् की योग-शक्ति का चमत्कार है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण कहते हैं कि भगवान् सब भूतो अर्थात् चेतन प्राणियो और जड पदार्थों की उत्पत्ति का उपादान तथा निमित्त कारण है। वास्तव मे भगवान् सृष्टि मे ओतप्रोत होने के कारण कण-कण मे व्याप्त है तथा सर्वव्यापक तथा

---

१ 'दमन' का अर्थ इन्द्रिय-दमन तथा 'दण्ड' का अर्थ भी दम (दमन करना) किया गया है। इस प्रकार इन्द्रिय-दमन करनेवालो की दमन-शक्ति एक विभूति है।

२ यतो धर्मस्ततो जयः अर्थात् जहाँ धर्म वहाँ जय—यही श्रेष्ठ धर्म-नीति है।

३ शङ्कराचार्य 'मौन' का अर्थ सयतवाणी करते हैं। महात्मा गाधी नपे-तुले थोडे शब्दो मे अपनी बात कहते थे और प्रत्येक सोमवार को मौन-व्रत रखते थे। गीता मे १२ १९ तथा १७ १६ मे मौन की चर्चा है।

१. ७ १० मे भगवान् को भूतो का सनातन बीज तथा ९.१८ मे अविनाशी बीज कहा गया है।

सर्वरूप भगवान् से रहित कुछ भी नही है। प्रत्येक वस्तु उसीका स्वरूप है।[1] जो प्राणी, पदार्थ अथवा भाव असामान्य एव विशेष है, उसकी विशेषता भगवान् की शक्ति का ही स्फुरण है। सृष्टि मे जो कुछ तेज, बल, कान्ति आदि कही विशेषत दीख पडते हैं, वह सब ईश्वरीय शक्ति के अशमात्र की अभिव्यक्ति है।

**अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।**
**विष्टभ्याहमिद कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।४२।**

**शब्दार्थ :** अथवा अर्जुन एतेन बहुना ज्ञातेन तव किं =इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है, अह इद कृत्स्नं जगत्=मैं इस सम्पूर्ण जगत् को, एकाशेन विष्टभ्य स्थित =एक अशमात्र से धारण करके स्थित हूं।

**वचनामृत :** अथवा हे अर्जुन, इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है ? मै इस सम्पूर्ण जगत् को अपनी योगशक्ति के एक अशमात्र से धारण करके स्थित हूँ।

**सन्दर्भ :** सम्पूर्ण सृष्टि भगवान् की योगशक्ति के एक अश का ही सूचक है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण सृष्टि की कुछ प्रधान विभूतियो का वर्णन करके अर्जुन को समझा रहे हैं कि विभूतियो के अनन्त होने के कारण उनकी गणना करते रहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता तथा उसे यह सारतत्त्व समझ लेना चाहिए कि यह सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् भगवान् की योगशक्ति अर्थात् ईश्वरीय शक्ति के एक अश से धारण किया हुआ है। परमेश्वर अखिल ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण विस्तार के धारण, पोषण तथा सहार का चक्र अपने अनन्त ऐश्वर्य (ईश्वरीय शक्ति) के अशमात्र से चलाते हैं।[1] परमात्मा की शक्ति अनन्त है।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्याय.।

विभूतियोगनामक दशम अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

## सार-संचय

### दशम अध्याय विभूतियोग

श्रीमद्भगवद्गीता के दसवे अध्याय मे विभूतियोग का वर्णन है। परमात्मा ने अपने अनिर्वचनीय ऐश्वर्य (ईश्वरीय शक्ति) से इस सृष्टि की रचना की। वह इस सृष्टि का मूल कारण है तथा इसके कण-कण मे व्याप्त होकर स्थित है। सम्पूर्ण सृष्टि मे उससे रहित कुछ नही है। इस सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त वही है। यह चित्र-विचित्र सृष्टि उस परमेश्वर का एक स्वरूप है। यह सारा जगत् ब्रह्ममय है, किन्तु जिस प्रकार विद्यार्थी प्रारम्भ मे वर्णमाला सीखता है तथा अभ्यास होने पर वह जटिल भाषा भी सरलता से पढ लेता है, उसी प्रकार भक्त भी प्रारम्भ मे उन भावो, पदार्थों, पुरुषो, पशु-पक्षियो, ऋषि-मुनियो, देवताओ इत्यादि को भगवान् का स्वरूप मान लेता है, जिनमे भगवान् की शक्ति का विशेष स्फुरण अथवा प्रकाश होता है, तत्पश्चात् अभ्यास होने पर वह सम्पूर्ण सृष्टि को प्रभुमय देख सकता है। अर्जुन श्रीकृष्ण से विभूतियो का वर्णन करने के लिए प्रार्थना करता है और श्रीकृष्ण अपनी प्रधान दिव्य विभूतियो की चर्चा करके अध्याय के अन्त मे सहसा कह देते हैं—"अर्जुन, विभूतियाँ तो अनन्त हैं और केवल विभूतियो की गणना से तेरा प्रयोजन सिद्ध नही होगा। तुझे सारतत्त्व यह जान लेना चाहिए कि परमेश्वर महान् और अनन्त है तथा इस सृष्टि को अपनी शक्ति के अशमात्र से धारण कर रहा

---

१ सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह सब ब्रह्म ही है।

१ 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि।' —ऋग्वेद १० ९० ३—यह विश्व उसका अशमात्र है।

है।' सर्वत्र वही एक वासुदेव है।" वास्तव में विभूति-वर्णन परमेश्वर के विभूतिमान् सोपाधिक स्वरूप का ही वर्णन है। भक्त के लिए विभूतियो का अत्यधिक महत्त्व है। जिन भावो, पदार्थो, पशु-पक्षियो, ऋषि-मुनियो, देवताओ को देखकर भगवान् की चमत्कारिक शक्ति का स्मरण होता है, वे सब विभूतियाँ हैं। विभूतियो का आदर करने से मनुष्य उदार, व्यापक तथा महान् बन जाता है तथा उन्हे देखकर वह भगवान् का भक्तिपूर्वक स्मरण कर लेता है। भगवान् की विभूतियाँ भगवान् का ही स्वरूप हैं। भगवद् भक्त कपटी पुरुषो की द्यूत आदि छल-क्रियाओ के पीछे भी भगवान् की शक्ति को देखता है तथा भगवान् का स्मरण करता है। यदि कोई मनुष्य दीपक के प्रकाश की सहायता से सत्कर्म के स्थान पर दुष्कर्म करता है तो भी प्रकाश का महत्त्व कम नही हो जाता।

प्रभु की शक्ति के अतिशय अथवा विशेष स्फुरण से युक्त विभूतियाँ भक्तिप्रेरक हैं। भक्त विभूतियो के माध्यम से यत्र-तत्र भगवद्-दर्शन करता है। महादेव शकर तथा श्री विष्णु भगवान् के स्वरूप हैं। धनुर्धारी राम और श्रीकृष्ण मे भेद नही है तथा भगवान् के ही दो स्वरूप हैं। धनुर्धारी राम तथा चक्रधारी कृष्ण दुष्टो के दमन तथा सज्जनो की रक्षा द्वारा धर्म की प्रस्थापना करते हैं। दमन करनेवालो मे दमन-शक्ति अथवा दण्ड-शक्ति भगवान् की विभूति है। दैत्यो मे परम सात्त्विक भक्त प्रह्लाद भगवान् की विभूति है। वेदो मे भक्तिप्रेरक सगीत से परिपूर्ण सामवेद भगवान् की विभूति है। मन्त्रो मे गायत्री श्रेष्ठ होने के कारण भगवान् की विभूति है। परमात्मा का प्रतीक ॐकार भगवान् की विभूति है। ॐ एक शब्द का छन्द है। यज्ञो मे जप-यज्ञ सरल होकर भी श्रेष्ठ है। विद्याओ मे अध्यात्मविद्या अत्यन्त कल्याणकारक एवं श्रेष्ठ होने के कारण भगवान् की विभूति है तथा ज्ञानियो का ज्ञान भी भगवान् की विभूति है। पशुओ मे सिंह, जो बिना अभिषेक ही स्वयमेव मृगेन्द्रता साहस तथा पराक्रम से वनराज हो जाता है, भगवान् की ही विभूति है। प्रकृति मे हिमालय विशालता के कारण और गगा पवित्रता के कारण तथा सागर विस्तार के कारण भगवान् का स्मरण दिलानेवाली श्रेष्ठ विभूति हैं। वृक्षो मे सात्त्विक पीपल विभूति है। जीवनदाता सूर्य और शीतलता देनेवाला परमसुन्दर चन्द्रमा भगवान् की उत्तम विभूति है। मृत्यु वैराग्यभाव जगानेवाले गुरु की भाँति एक विभूति है। सच्ची बात का समर्थन करनेवाला वाद तथा जीवन को उज्ज्वल बनाने का व्यवसाय ( निश्चय ) भी विभूति हैं। साधको के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन मौन एक विभूति है। समस्त साधना का आधार मन एक विलक्षण विभूति है। ससार मे सुख-समृद्धि और शान्ति की वर्षा करनेवाली नारी भी भगवान् की श्रेष्ठ विभूति है, जो मधुर वाणी, क्षमा-भाव, पवित्र बुद्धि, धैर्य और स्मृति से सम्पन्न हो, श्रीसम्पन्न तथा कीर्तिमयी हो। ऐसी देवी के पुण्य प्रभाव से परिवार को भी श्रीसम्पन्नता और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। उत्तम नारी श्री और कीर्ति की प्रदायक होती है तथा भगवान् की दिव्य विभूति होती है। भक्तगण भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा वर्णित विभूतियो के अतिरिक्त अन्य विभूतियो का अनुभव कर सकते हैं। सन्त और सद्गुरु व्यास की भाँति विभूति

---

१ केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्ष व्यचो हितम्॥
—अथर्ववेद, १० २.२४

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥
—वही, १० २ २५

—इस भूमि की रचना किसने की? पृथ्वी से ऊपर आकाश को किसने रखा? अन्तरिक्ष किसके सहारे है? ब्रह्म ही इसका उत्तर है।

होते हैं। शकराचार्य, सन्त तुलसीदास, सन्त ज्ञानेश्वर, रामकृष्ण परमहस, चैतन्य महाप्रभु, महर्षि रमण, महर्षि दयानन्द इत्यादि को भी भगवान् की विभूति मानकर उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए। भौतिकवादी आधुनिक युग मे सन्त एव सद्गुरु दुर्लभ हैं तथा अनेक हस्तकुशल मनुष्य तथाकथित सिद्धियो आदि के चमत्कार से साधारण जन को मुग्ध कर देते हैं और अपने अह-कार की तुष्टि के लिए स्वय को भगवान् घोषित करके अपनी पूजा कराते हैं। सन्त एव गुरु भग-वत्प्राप्ति के साधन होते है, साध्य तो केवल एक परमात्मा ही है। विभूतियाँ भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे लक्ष्यनिर्देशक प्रकाशस्तम्भो अथवा सोपानो की भाँति हैं। भगवान् की विभूतियाँ भगवान् की महिमा का स्मरण करा देती है और भक्तिभाव को दृढ कर देती हैं।

परिवार मे सन्तान के लिए माता-पिता और माता-पिता के लिए सन्तान भगवान् की विभूति होते है, किन्तु मूढजन अविवेक, निकृष्ट स्वार्थ, आसुरी कलह और अशान्ति द्वारा घर को नरक बना देते है। परिवार के प्रत्येक सदस्य को कर्तव्य-पालन का आदर्श प्रस्तुत करके परिवार को विभूति-सम्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। शीलवती नारी परिवार मे शान्ति की प्रस्थापना कर सकती है। विभूति-सम्पन्न परिवार विभूति-सम्पन्न समाज के आधार होते हैं। ●

# अथैकादशोऽध्यायः
## विश्वरूपदर्शनयोग

अर्जुन उवाच

**मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।**
**यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, मदनुग्रहाय=मुझ पर अनुग्रह करने के लिए, परमं गुह्य अध्यात्मसंज्ञितं वच =परमगोपनीय अध्यात्मविषयक वचन, त्वया यत् उक्तं=आपके द्वारा जो कहा गया, तेन मम अयं मोह विगत=उससे मेरा यह मोह (अज्ञान) छूट गया है ।

**वचनामृत :** अर्जुन ने कहा—मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपके द्वारा जो परम गुह्य अध्यात्म-विषयक अमृतवाणी कही गयी, उससे मेरा यह अज्ञान छूट गया है ।

**सन्दर्भ :** अर्जुन श्रीकृष्ण की वाणी के प्रभाव का वर्णन करता है ।

**रसामृत :** अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण की अमृतमयी वाणी से आनन्दित हो गया और उसने शालीनतापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा, "हे गुरो, आपने मुझ पर परम अनुग्रह[1] किया है कि मुझे परमगूढ ज्ञान का उपदेश किया । हे भगवन्, इस उपदेशामृत के श्रवणमात्र से मेरा मोह छूट गया है" अर्जुन का यह भ्रम दूर हुआ है कि विश्व के पदार्थ और प्राणी अपने सहारे पर टिके हुए है । उसने विभूतियोग-वर्णन के अन्त मे कहे हुए भगवान् श्रीकृष्ण के इन शब्दो के भाव को समझ लिया, "मैंने इस विश्व को अपने तेज के अशमात्र से सँभाल रखा है ।" शिष्य के कृतज्ञता-प्रकाशन से गुरु को सतोष होता है तथा सवाद रुचिर एव रसमय हो जाता है । गूढ उपदेश का प्रभाव तत्काल होता है । जो मनुष्य प्रेमपूर्ण कृपा के प्रति श्रद्धानत नही होते, वे अधम होते हैं । अर्जुन का अनन्यप्रेम तथा निश्छलभाव देखकर ही श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया था । मूढजन कृतज्ञता प्रकट करने मे अपनी मान-हानि समझते है, किन्तु वास्तव मे उससे गौरव-वृद्धि होती है । कृतज्ञता-प्रकाशन द्वारा श्रेष्ठ पुरुष अपनी उत्तमता का परिचय देते हैं ।

अर्जुन कर्तव्य-अकर्तव्य आदि के विषय मे भ्रमग्रस्त था । अब उसे आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य मे परमसत्य का बोध हो गया ।

**भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।**
**त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥**

**शब्दार्थ :** कमलपत्राक्ष मया हि भूताना भव अप्ययौ त्वत्त. विस्तरशः श्रुतौ=हे कमलनेत्र,[1] भूतो की

१ 'प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो ।' श्रीकृष्ण अध्यात्मज्ञान को गुह्य कहते हैं (१५ २०,१८ ६३) तथा अध्यात्मविद्या को श्रेष्ठ कहते हैं (१० ३२) । इस श्लोक मे अर्जुन कहता है, "मेरा यह मोह छूट गया ।" किन्तु अन्त मे (१८ ७३) कहता है, "मेरा मोह नष्ट हो गया ।"

१. कमल पवित्रता और सौन्दर्य का सूचक है । कमल-पत्र जल मे रहकर भी जल से ऊपर रहता है और जल से सिक्त (गीला) नही होता । भगवान् सृष्टि को रचकर तथा उसमे व्याप्त होकर भी शुद्ध चेतनास्वरूप मे तटस्थ द्रष्टा अथवा साक्षी है । इसके अतिरिक्त कमल-पत्र भगवान् की कोमलता, सहज कृपालुता और वत्सलता का भी द्योतक है ।

उत्पत्ति और प्रलय आपसे विस्तारपूर्वक मेरे द्वारा सुने गये, **च अव्ययं माहात्म्यं अपि**=और अविनश्वर माहात्म्य ( महात्मा का भाव, महिमा, प्रभाव ) भी सुना गया।

**वचनामृत :** हे कमलनयन श्रीकृष्ण, मैंने निश्चय ही आपसे भूतो की उत्पत्ति और विनाश को विस्तारपूर्वक सुना है और आपकी अखण्ड महिमा भी सुनी।

**सन्दर्भ** अर्जुन कृतज्ञता-ज्ञापन का कारण कहता है।

**रसामृत** अर्जुन ने यह स्पष्टत समझ लिया कि इस जगत् के चर और अचर भूतो ( प्राणियो और पदार्थों ) की उत्पत्ति और विनाश का कारण केवल परमेश्वर है। अर्जुन ने भगवान् की अखण्ड महिमा को भी जान लिया। भगवान् सृष्टि मे ओतप्रोत होकर भी उससे परे है। भगवान् सर्वेश्वर, सर्वान्तिर्यामी तथा सर्वशक्तिमान् है। यही भगवान् का अचिन्त्य ऐश्वर्य ( ईश्वरीय शक्ति ) है कि उसने अपने तेज के अशमात्र से विश्व को धारण कर रखा है तथा उसकी विभूतियो का कोई अन्त नही है।

वास्तव मे प्रथम दो श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण से विश्वरूप दिखा देने के लिए प्रार्थना की युक्तिपूर्ण भूमिकारूप है।

**एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मान परमेश्वर।**
**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥**
**मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।**
**योगेश्वर ततो मे त्व दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥**

**शब्दार्थ : परमेश्वर त्व आत्मानं यथा आत्थ एतत् एवं**=हे परमेश्वर, आप अपने को जैसा कहते हैं वह ऐसा ही है, **पुरुषोत्तम ते ऐश्वरं रूप द्रष्टु इच्छामि**=हे पुरुषोत्तम, आपके ईश्वरीय रूप को ( शक्ति और तेजयुक्त रूप को ) देखना चाहता हूँ। **प्रभो, मया तत् द्रष्टु शक्यं इति यदि मन्यसे**=हे प्रभो, मेरे द्वारा वह देखना शक्य है यदि आप ऐसा मानते हैं, **तत. योगेश्वर त्वं अव्यय आत्मानं मे दर्शय**=तो हे योगेश्वर, आप अविनाशी स्वरूप को मुझे दिखा दें।

**वचनामृत :** हे परमेश्वर, आप अपने को जैसा कहते है, यह ठीक ऐसा ही है। हे पुरुषोत्तम, आपके ऐश्वर्ययुक्त ( शक्ति और तेज से युक्त ) रूप को देखना चाहता हूँ। हे प्रभो, यदि आप ऐसा मानते हैं कि मेरे द्वारा आपका रूप देखा जाना शक्य है, तो हे योगेश्वर, आप अपने अविनाशी रूप का मुझे दर्शन करा दे।

**सन्दर्भ :** अर्जुन भगवान् से विश्वरूप-दर्शन के लिए प्रार्थना करता है।

**रसामृत :** प्रत्येक भक्त के हृदय मे उत्कण्ठा होती है कि भगवान् उसे दर्शन देने का अनुग्रह कर दें। अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविंद से ईश्वरीय महिमा सुनकर उनसे ऐश्वर्यसम्पन्न विराट् रूप मे दर्शन देने के लिए याचना की। अर्जुन को विश्वास हो गया कि भगवान् श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण वाणी यथार्थ है। उसने उन्हे साक्षात् परमेश्वर जान लिया तथा श्रद्धा और भक्ति से परिपूर्ण होकर उन्हें 'परमेश्वर' तथा 'पुरुषोत्तम' ( अर्थात् क्षर और अक्षर से परे निरुपाधिक स्वरूप ) कहकर सम्बोधित किया। अर्जुन स्वीकार करता है कि भगवान् समस्त जगत् को व्याप्त करके स्थित हैं तथा वह ईश्वरी-रूप को देखने के लिए उत्कठित है। वह श्रीकृष्ण को 'प्रभु', 'योगेश्वर' कहकर युक्तिपूर्वक अपनी अभिलाषा निवेदित करता है। अर्जुन 'प्रभु' ( उत्पत्ति, स्थिति, सहार करनेवाला तथा सर्वान्तिर्यामी प्रभु ) कहकर उन्हे परमेश्वर-रूप मे स्वीकार करता है तथा 'योगेश्वर' ( योगियो के योग का प्राप्य ईश्वर ) कहकर उन्हे ईश्वरीय ( ऐश्वरी ) शक्तिसम्पन्न अर्थात् विराट्रूप मे प्रकट होने की सामर्थ्य से सम्पन्न कह रहा है। वह विनम्र भाव से कहता है, "आप सम्पूर्ण सृष्टि के जन्मदाता, पालनकर्ता और धारणकर्ता हैं तथा

अपने अश से इसे सँभाले हुए है। आप अन्तर्यामी होकर सबके भीतर बसे हुए हैं तथा सबको कर्मफल देते हैं। आप सम्पूर्ण योगो के अधिपति हैं, सर्वसमर्थ प्रभु है। यदि आप मुझे इस योग्य समझें तो मुझे अपने विराट्रूप मे दर्शन देने का अनुग्रह करे।'[1]

श्रीभगवानुवाच

**पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।**
**नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥**
**पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।**
**बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥**
**इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।**
**मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥**
**न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।**
**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥**

**शब्दार्थ : श्रीभगवानुवाच**=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **पार्थ**=हे अर्जुन, **मे शतश अथ सहस्रशः**=मेरे सैकडो और हजारो, **नानाविधानि च नानावर्णाकृतीनि**= अनेक प्रकार के तथा अनेक वर्ण और आकृतिवाले, **दिव्यानि रूपाणि पश्य**=दिव्य रूपो को देख। **भारत आदित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ मरुत पश्य**=हे भारत (भरतवशी अर्जुन), आदित्यो को (अदिति के बारह पुत्रो को), वसुओ को (आठ वसुओ को), रुद्रो को (ग्यारह रुद्रो को), अश्विनीकुमारो को (दो अश्विनीकुमारो को), मरुतो को (उनचास मरुतो को) देख। **तथा बहूनि अदृष्टपूर्वाणि आश्चर्याणि पश्य**=और बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यजनक रूपो को देख। **गुडाकेश**=हे निद्रा

---

[1] शुद्ध चैतन्यस्वरूप, नित्य, अनादि, अखण्ड, निर्गुण, निराकार, निरुपाधिक परब्रह्म परमात्मा ही सोपाधिक (मायाशक्तिसहित) होकर सगुण ईश्वर (परमेश्वर, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी) के रूप मे सृष्टि की उत्पत्ति, पालन इत्यादि करता है तथा कर्मफल देता है। यह ससार भी ईश्वर का एक सगुण-साकार स्वरूप है। मन्दिरो मे भक्तगण राम, कृष्ण, शिव आदि की मूर्तियो के माध्यम से सगुण-साकार परमेश्वर की उपासना करते हैं। इन्द्र, वरुण, भैरव, हनुमान् आदि देवता हैं, किन्तु भक्तजन शिव, भगवती दुर्गा, राम तथा कृष्ण की उपासना उन्हे पूर्ण परमेश्वर मानकर ही करते हैं। यह सगुण-साकार पूजा है। राम तथा कृष्ण को परमेश्वर का विशिष्ट एव पूर्ण-अवतार माना गया है तथा अन्य अवतारो को आशिक अवतार कहा गया है। निर्गुण-निराकार परमब्रह्म परमात्मा को ज्ञान द्वारा प्राप्त होना सर्वोपरि है; किन्तु वह कठिन है। सगुण अथवा सगुण-साकार परमेश्वर की भक्ति सहज, सरल, सुलभ और व्यावहारिक है तथा भक्ति से ज्ञान का भी आविर्भाव हो जाता है। भक्ति चित्त को शुद्ध एव निर्मल कर देती है तथा चित्त-शुद्धि होने पर अनायास ही ज्ञान का उदय हो जाता है। भक्ति कर्मयोग के अन्तर्गत होती है। सगुण परमेश्वर की भक्ति से निर्गुण परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। अवतारवादी कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने स्वय को परमेश्वर मानकर ही गीता का उपदेश किया है तथा अर्जुन ने उन्हें परमेश्वर का अवतार मानकर ही गीता का श्रवण किया है। अवतारवाद को स्वीकार न करनेवाले श्रीकृष्ण को महान् योगी कहते हैं और उनका मत है कि वे सिद्ध-योगी के रूप मे भगवान् के साथ एकात्म होकर बोल रहे हैं तथा विश्वरूप दिखा रहे हैं। देश-विदेश मे अधिकाश विद्वान् तथा साधारण जन राम और कृष्ण को परमेश्वर का अवतार ही मानते हैं। उन्हे अवतार मानकर ही विश्वरूप-दर्शन का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। गाधीजी कहते हैं, "भक्तो को यह अध्याय बहुत प्रिय है। इसमे दलीलें नही, बल्कि केवल काव्य है। इस अध्याय का पाठ करते हुए मनुष्य थकता ही नही।" सन्त ज्ञानेश्वर इसे शान्त तथा अद्भुत रस का अद्भुत सम्मिश्रण कहते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने इस अध्याय की टीका मे सुन्दर काव्य का सर्जन किया है। इस अध्याय में तर्क छोडकर भक्तिरस का आनन्द लेना ही उचित है। भगवान् श्रीकृष्ण को अवतार के रूप मे पूज्य अथवा महान् योगी के रूप मे श्रद्धेय मानकर गीता-रसामृत का पान करने से भगवत्प्राप्ति सम्भव है। श्री अरविन्द का कथन है कि लोग कहते हैं कि कृष्ण कवियो की सृष्टि है, तब तो उन आविष्कर्ताओ के सामने नतमस्तक होना पड़ेगा।

को जीतनेवाले, अर्जुन ! अद्य इह मम देहे एकस्थं सचराचर कृत्स्न जगत् पश्य=आज ( अद्य ) यहाँ मेरे देह में एक स्थान पर ही स्थित चर और अचरसहित सम्पूर्ण जगत् को देख। अन्यत् च यत् द्रष्टुं इच्छसि ( पश्य )=और भी जो देखना चाहता है ( उसे देख )। तु=परन्तु, मां अनेन स्वचक्षुषा द्रष्टुं एव न शक्यसे=मुझे इस अपने चर्मचक्षु से देखने के लिए निस्सन्देह समर्थ नही है। ते दिव्यं चक्षुः ददामि=तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ। मे ऐश्वरं योगं पश्य=मेरे प्रभाव ( तथा ) योगशक्ति को देख ( अथवा मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख )।

**वचनामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे पार्थ, अब तू मेरे सैकडो-हजारो ( अर्थात् असख्य ) नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा आकृतिवाले दिव्य रूपो को देख। हे भारत, मुझमे बारह आदित्यो को, आठ वसुओ को, एकादश रुद्रो को, दोनो अश्विनीकुमारो को और उनचास मरुतो को देख तथा और भी अनेक पूर्वकाल मे न देखे हुए आश्चर्यजनक रूपो को देख। हे अर्जुन, अब तू मेरे इस देह मे एक स्थान पर स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है उसे देख। परन्तु तू मुझे अपने नेत्रो से देखने मे निस्सन्देह समर्थ नही है। अत मैं तुझे दिव्य-चक्षु देता हूँ। तू मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख।

**सन्दर्भ :** भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को विश्वरूप देखने के लिए चक्षु देते हैं।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को विश्वरूप में दर्शन देने से पूर्व उससे कहते हैं कि वह उनके विराट् विश्वरूप मे अपरिमित वर्णों एव आकृतियो-वाले रूप को देखे तथा बारह आदित्यो, आठ वसुओ, एकादश रुद्रो, दो अश्विनीकुमारो तथा उनचास मरुतो[1] के अतिरिक्त ऐसे अनेक अद्भुत रूपो को भी देखे, जिन्हे उसने कभी पहले देखा ही नही।[1] भगवान् श्रीकृष्ण ने उससे कहा कि वह सम्पूर्ण स्थावर-जगम सृष्टि को उनके दिव्य देह के अशमात्र मे एक स्थान मे ही एकत्रित देख ले। योगेश्वर श्रीकृष्ण उसे इस विश्वरूप का दर्शन करने के लिए दिव्य चक्षु[2] देने का विशेष अनुग्रह करते हैं।

---

१ इन पौराणिक देवताओ सम्बन्धी व्याख्या दसवें अध्याय में की गयी है। पुराणो में भौगोलिक तथा वैज्ञानिक तथ्यो और प्रकृति के रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतीकात्मक वर्णन किया गया है। नक्षत्रो की गति, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण इत्यादि के वैज्ञानिक तथ्यो तथा उनके प्रभावो के पौराणिक वर्णन अत्यन्त रोचक हैं। अगस्त्य नक्षत्र के उदय के साथ वर्षा समाप्त होकर जल सूखने लगता है। 'उदित अगस्त पथ जिमि सोखा।' इसे कहा जाता है, अगस्त्य ऋषि ने सारा जल पी लिया। इसके अतिरिक्त पुराणो में इतिहास और अध्यात्म का भी प्रचुर वर्णन है। अश्विनीकुमारो का सम्बन्ध अश्विनी नक्षत्र के उदय तथा उसके प्रभाव से है। इनका उल्लेख वेदो तथा पुराणो मे अनेक स्थलो पर है। इन्हें वैद्य भी कहा गया है।

१ काकभुशुण्डि ब्रह्माण्ड मे घूमने का अनुभव कहते हैं—

'जो नहि देखा नहि सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउं बरनि कवन बिधि जाइ॥'

२ वेदान्त की दृष्टि से यह सारा जगत् उसी प्रकार असत् ( अर्थात् नश्वर ) है, जैसे निर्मल यवनिका ( पर्दे ) पर चलचित्र दिखाया जाता है तथा अन्त मे उस पर कुछ नही रहता। जो कुछ विस्तारपूर्वक यवनिका पर दिखाया जाता है वह सूक्ष्म रूप मे एक यन्त्र मे स्थित रहता है तथा उस सूक्ष्म रूप को सूक्ष्म दृष्टि से उस यन्त्र मे भी देखा जा सकता है। जो सिन्धु मे है वह बिन्दु में तथा जो अग्नि मे है वह स्फुलिंग मे भी है।

डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं—"यह दिव्यरूप दर्शन कोई किंवदन्ती या पौराणिक कथा नही है, अपितु एक आध्यात्मिक अनुभव है। धार्मिक अनुभव के इतिहास मे इस प्रकार के अनेक दर्शनो का उल्लेख प्राप्त होता है।" तथा "यह दर्शन कोई मानसिक कल्पना नहीं है, अपितु सीमित मन से परे एक सत्य का उद्घाटन है।"

सन्त तुलसीदास कहते हैं

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरि ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जय ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

**शब्दार्थ :** सञ्जय उवाच=सञ्जय ने कहा, **राजन्**=हे राजा, **महायोगेश्वरः हरिः एव उक्त्वा ततः पार्थाय परमं ऐश्वरं रूपं दर्शयामास**=महायोगेश्वर हरि ने ऐसा कहकर उसके बाद अर्जुन के लिए परम ऐश्वर्ययुक्त रूप दिखाया । **अनेकवक्त्रनयनं अनेकाद्भुतदर्शनं**=अनेक मुख और नयनो से युक्त अनेक अद्भुत दर्शनोवाले, **अनेकदिव्याभरणं**=अनेक दिव्य भूषणो से युक्त, **दिव्यानेकोद्यतायुधं**=दिव्य अनेक उद्यत आयुधवाले, **दिव्यमाल्याम्बरधर**=दिव्य माला और वस्त्र धारण करनेवाले, **दिव्यगन्धानुलेपनं**=दिव्य गन्ध का अनुलेपनवाले, **सर्वाश्चर्यमयं अनन्तं विश्वतोमुख देवं**=सब प्रकार से आश्चर्यों से युक्त अनन्त विश्वतोमुख देव को ( देखा ) । **दिवि सूर्यसहस्रस्य युगपत् उत्थिता**=आकाश मे सहस्र सूर्यों के एक साथ उदित, **भाः भवेत्**=( जो ) प्रकाश हो, **सा तस्य महात्मनः भासः सदृशी यदि स्यात्**=उस ( विश्वरूप ) महात्मा ( परमात्मा ) के प्रकाश के सदृश यदि ( कदाचित् शायद ही ) हो । **पाण्डवः तदा अनेकधा प्रविभक्तं कृत्स्नं जगत्**=अर्जुन ने तब अनेक प्रकार से विभक्त ( पृथक् ) सारे जगत् को, **तत्र देवदेवस्य शरीरे एकस्थं अपश्यत्**=वहाँ देवो के देव भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर मे एक स्थान पर स्थित देखा । **ततः स विस्मयाविष्टः हृष्टरोमा धनञ्जयः**=तत्पश्चात् वह आश्चर्य से युक्त हर्षित रोमवाला अर्जुन, **देव शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलि अभाषत**=विश्वरूप देव को सिर से प्रणाम करके हाथ जोडे हुए बोला ।

**वचनामृत :** सजय ने कहा, हे राजन् महायोगेश्वर हरि ने इस प्रकार कहकर तत्पश्चात् अर्जुन को परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्यस्वरूप दिखाया । अनेक मुख और नेत्रो से युक्त, अनेक अद्भत दर्शनो से युक्त, अनेक दिव्य भूषणो से युक्त, अनेक दिव्य उठाये हुए आयुधसहित, दिव्य माला और वस्त्रो से युक्त, दिव्य गन्ध का लेप किये हुए, सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, अनन्त और सर्वतोमुख विराट् रूप को अर्जुन ने देखा । आकाश मे सहस्र ( अर्थात् अगणित ) सूर्यों के एक साथ उदित होने से उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस महात्मा के प्रकाश सदृश कदाचित् ही हो । पाण्डपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त ( पृथक्-पृथक् ) सम्पूर्ण जगत् मे देवो के देव भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर मे एक स्थान पर स्थित देखा । उसके पश्चात् वह आश्चर्यचकित और पुलकित शरीर अर्जुन विश्वरूप परमेश्वर को शिरसा प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोला ।

---

"श्री गुरुपद नख मनिगन जोती,
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।
दलन मोहतम सो सुप्रकासू,
बड़े भाग्य उर आवई जासू ।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के,
मिटहिं दोष-दुख भव-रजनी के ।"

'चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।'—गुरु-कृपा से दिव्य दर्शन सम्भव होता है ।

ब्रह्माण्ड का सीधा सम्बन्ध ब्रह्म-रन्ध्र से है तथा सूक्ष्मतन्तुओ के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र आज्ञाचक्र के साथ जुडा हुआ है । हमारे व्यक्तिगत अनुभव मे आज्ञाचक्र के जगाने पर विलक्षण सूक्ष्म अनुभूति होती है । आज्ञाचक्र ही तीसरा अतीन्द्रिय दिव्यचक्षु है । भगवान् के अनुग्रह से ही दिव्यचक्षु ( शिव का तीसरा नेत्र ) खुलता है । यही दिव्य 'लेसर' किरण है ।

सन्दर्भ : सञ्जय विश्वरूप का दर्शन करते समय अर्जुन की दशा का वर्णन करते है।

रसामृत : भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा– "हे अर्जुन, तू मेरे जिस विश्वरूप अथवा विराट्रूप को देखना चाहता है, उसे देख तथा मेरे देह के एक अश मे स्थित इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को देख। मैं तुझे परमसूक्ष्म दिव्य-दृष्टि देता हूँ, क्योकि चर्मचक्षु से अतीन्द्रिय तत्त्व का दर्शन नही होता।" ऐसा कहने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन करा दिया। अर्जुन आश्चर्य-चकित होकर मूकवत् खडा रह गया। श्रीकृष्ण-अर्जुन-सवाद कुछ समय के लिए वन्द हो गया। अतएव इस स्थिति का एव अर्जुन की अवस्था का वर्णन सञ्जय ने धृतराष्ट्र से किया है। सञ्जय ने भगवान् श्रीकृष्ण को हरि अर्थात् पाप-हरण करने-वाला तथा केवल योगी अथवा योगेश्वर नही, वल्कि महायोगेश्वर अर्थात् साक्षात् परमेश्वर कहा। सञ्जय ने भगवान् श्रीकृष्ण के विश्वरूप को ईश्वरीय शक्ति की अभिव्यक्ति कहा। सञ्जय स्वय चकित है तथा उसमे उस अनुभव का वर्णन करने की शक्ति नही है। वाणी मे अद्भुत अनुभव के वर्णन की सामर्थ्य नही होती। सारा विश्व भगवान् का स्वरूप है तथा भगवान् के विश्वरूप मे असख्य मुख और नेत्र हैं तथा असख्य आश्चर्यजनक दृश्य हैं।[1] भगवान् का विश्वरूप दिव्य आभूषणो से सुसज्जित है और उसने असख्य दिव्य आयुध ऊपर उठा रखे हैं। दिव्य मालाओ और दिव्य परिधानो को धारण किये हुए विश्वरूप दिव्य गन्ध तथा लेपो से युक्त है। विश्वरूप दिव्य और अनन्त है। उसके मुख सब दिशाओ की ओर हैं। विश्वरूप दिव्य आभा से युक्त है। सञ्जय की मानवीय कल्पना है कि यदि एक सहस्र सूर्य एक साथ चमकने लगें तो उनका प्रकाश भी विश्वरूप के दिव्य तेज के सदृश नही हो सकता। किसी मानव मे अद्भुत सौन्दर्य से युक्त विश्वरूप का चित्रण अथवा वर्णन करने की सामर्थ्य नही है। वह समस्त मानवीय कल्प-नाओ से परे है। सादि, सात और सीमित शक्ति अनादि, अनन्त तथा अपरिसीम शक्ति की कल्पना एव वर्णन नही कर सकती। भौतिक जगत् के अनु-भव के आधार पर दिव्य तेज की कल्पना तथा वर्णन करना सम्भव नही है। दिव्य तेजोमय तत्त्वो का सदर्शन दिव्य अर्थात् परमसूक्ष्म दृष्टि से होता है तथा उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति अथवा वर्णन करना साधारण वाणी द्वारा सम्भव नही होता। दिव्य-प्रकाश की तुलना असख्य सूर्यों के प्रकाश से करना भी उचित नही है तथा सजय केवल यह कहकर सन्तोप कर लेता है कि असख्य सूर्यों का प्रकाश भी कदाचित् दिव्य तेज के समान नही है। सजय ने विश्वपुरुष के तेज की पूर्ण अनु-भूति नही की तथा केवल उसका स्थूल-सा वर्णन कर दिया। अर्जुन ने सारी सृष्टि की अपरिमित सामग्री के विस्तार को भेदो मे विभक्त (पृथक्-पृथक्) विश्वरूप भगवान् के दिव्य देह मे एक साथ देखा। समस्त सृष्टि का दृश्य एक अद्भुत चलचित्र की भाँति उसके सामने प्रस्तुत हो गया। आश्चर्यचकित अर्जुन पुलकित था तथा उसके मन पर भगवान् के अचिन्त्य एव ऐश्वर्यपूर्ण रूप का अचिन्त्य प्रभाव हुआ। भावविभोर अर्जुन श्रद्धा और भक्ति से परिपूर्ण होकर स्तुति करने लगा। वास्तव मे भगवान् तो रसरूप है। अर्जुन अद्भुत रस से अभिभूत हो गया तथा उसमे भक्तिभाव का उद्रेक हो गया।[2] भक्तिभाव द्वारा अहकार विग-

१ सहस्रशीर्षा पुरुष. सहस्राक्ष सहस्रपाद्।

—ऋग्वेद, १० ९० १

'नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये।'

'सहस्रधा महिमान सहस्रम्।'

—ऋग्वेद, १०.११४ ८

१ 'रसो वै स। रसं ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दी भवति।'

—तैत्तिरीय उप०, २ ७

—वह रसरूप (आनन्दरूप) है। इस रसस्वरूप परब्रह्म को पाकर मानव आनन्दमय हो जाता है।

लित होने पर मनुष्य का मन उच्चतम धरातल पर स्थित हो जाता है तथा वह भगवान् की समीपता की अनुभूति करने लगता है, जिससे जीवन का उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण हो जाता है। गीता के प्रारम्भ मे मोह एव विषाद से ग्रस्त होने पर अर्जुन के शरीर मे कम्पन हुआ था। अब भक्ति-रस से अभिभूत होने पर उसका शरीर आनन्द से पुलकित हो रहा है। ससार से भगवान् की ओर उन्मुख होने का यह तत्काल एव प्रत्यक्ष फल है।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, देव तव देहे सर्वान् देवान् तथा भूतविशेषसङ्घान्=हे देव, आपके देह मे सारे देवो को तथा अनेक भूतो के समुदाय को, कमलासनस्थं ब्रह्माणं ईशं च सर्वान् ऋषीन् च दिव्यान् उरगान् पश्यामि=कमलासन पर स्थित ब्रह्मा को, महादेव को, सारे ऋषियो को और दिव्य सर्पो को देखता हूँ। विश्वेश्वर त्वा अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं सर्वत· अनन्तरूपं पश्यामि=हे विश्वो के स्वामी, आपको अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्रो से युक्त (तथा) सब ओर से अनन्त रूपोवाला देखता हूँ, विश्वरूप तव न अन्तं न मध्यं पुन न आदिं पश्यामि=हे विश्वरूप, आपके न अन्त को, न मध्य को तथा न आदि को (ही) देखता हूँ। त्वा किरीटिनं गदिनं च चक्रिणं=आपको मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त, सर्वतः दीप्तिमन्तं तेजोराशि दीप्तानलार्कद्युति दुर्निरीक्ष्यं=सब ओर से दीप्तिमान्, तेजपुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योतियुक्त, कठिनाई से देखने योग्य, समन्तात् अप्रमेयं पश्यामि=सब ओर से अप्रमेय रूप (जिसे नापना सभव नही है) देखता हूँ। ('दुर्निरीक्ष्यं' को अन्यत्र भी रख सकते हैं।)

**वचनामृत :** अर्जुन ने कहा, हे देव, मैं आपके देह मे सारे देवताओ को तथा अनेक भूतो के समुदाय को, कमलासन पर विराजित ब्रह्मा को, महादेव को, सारे ऋषियो को तथा दिव्य सर्पो को देखता हूँ। हे विश्वेश्वर आपको अनेक भुजा, उदर, मुख और नेत्रो से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपोवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप, मैं आपके न अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही। आपको मैं मुकुट से, गदा और चक्र से सुशोभित देखता हूँ तथा सब ओर से प्रकाशमान, तेजपुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योतिर्मय, कठिनाई से देखे जानेवाले और सब ओर से अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ।

**सन्दर्भ :** पन्द्रहवे श्लोक से छियालीसवे श्लोक तक विश्वरूप दर्शन का वर्णन तथा स्तवन है।

**रसामृत :** भगवान् के विश्वरूप को देखकर अर्जुन स्तब्ध हो गया तथा भाव-विभोर होकर हाथ जोड़े हुए भगवान् के विश्वरूप की स्तुति करने लगा। भावाभिभूत होने के कारण उसने विराट्रूप का वर्णन किसी निर्धारित क्रम से नही किया। उसके मुख से वर्णन तथा स्तवन सहसा प्रस्फुटित होकर प्रवाहित होने लगे। उसने विश्वरूप भगवान् के देह मे देवताओ का दर्शन किया। देवगण की सत्ता परमेश्वर से पृथक् नही है। देवता भगवान् के अगभूत होते हैं और देवताओ की पूजा परमेश्वर को ही प्राप्त होती है।[1] जैसे सारी नदियों

---

१ आकाशात् पतित तोय यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥
अर्थात् आकाश से गिरनेवाला जल जिस प्रकार सागर को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार सारे देवताओ की पूजा भगवान् कृष्ण को प्राप्त हो जाती है। विष्णु तथा विष्णु के अवतार राम और कृष्ण, शिव तथा भगवती

का जल सागर मे ही पहुँचता है। कमलासन पर विराजमान ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव भी विश्वरूप भगवान् के देह मे विराजमान थे। अर्जुन को समस्त प्राणियो के विभिन्न समुदाय, ऋषिगण और वासुकि आदि सर्प भी दिखाई पडे। अर्जुन ने विश्वपति के विश्वरूप मे अगणित भुजा, उदर, नेत्र देखे तथा उसका आदि, मध्य और अन्त नही दीखा। सबके उदर भगवान् के उदर है। किसी भूखे प्राणी का पेट भरना भगवान् की ही सेवा है। उसके अनन्त नेत्र हैं, उससे कुछ छिपाया नही जा सकता। प्राणिमात्र मे भगवान् का दर्शन करना विश्वरूप का मर्म है।

भक्त अर्जुन ने अपनी इच्छा के अनुसार मुकुट, गदा और चक्र से सुशोभित तथा अकल्पनीय दीप्ति से युक्त विष्णुरूप का दर्शन भी विश्वरूप दर्शन के अन्तर्गत ही किया। इस विश्वरूप-दर्शन मे अर्जुन को यह स्पष्ट हो गया कि मशक और कीट से लेकर, ब्रह्मा, विष्णु और महेश तक सभी जागतिक एव दैवी विभूतियो मे केवल एक ही परमेश्वर सस्थित हैं। सब भौतिक एव दैविक विभूति एक ही परमेश्वर की अभिव्यक्ति अथवा रूप हैं। दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न होने पर भी मनुष्य के लिए परमेश्वर अनन्त और असीम होने के कारण दुर्निरीक्ष्य अर्थात् कठिनाई से समझा जाने योग्य है।

त्वमक्षर परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य
मनन्तबाहु शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वा दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिद तपन्तम् ॥१९॥

**शब्दार्थ :** त्व वेदितव्यं परम अक्षर=आप जानने के योग्य परम अक्षर ( परमब्रह्म परमात्मा ) हैं, त्वं अस्य विश्वस्य परं निधान=आप इस विश्व के परम-निधान ( आश्रय ) हैं, त्व शाश्वतधर्मगोप्ता=आप अनादि धर्म के रक्षक हैं, त्वं अव्यय सनातन पुरुष मे मत =आप अविनाशी सनातन पुरुष हैं, मेरा मत ( यह ) है। त्वा अनादिमध्यान्त अनन्तवीर्यं अनन्तबाहु शशिसूर्य-नेत्रं दीप्तहुताशवक्त्रं=आपको आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनन्त सामर्थ्ययुक्त, अनन्त भुजायुक्त तथा शशि और सूर्यरूप नेत्रोवाला ( तथा ) प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाला, स्वतेजसा इद विश्वं तपन्तं पश्यामि=अपने तेज से इस विश्व को तपाते हुए देखता हूँ।

**वचनामृत :** आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस विश्व के परमनिधान हैं। आप ही सनातन धर्म के रक्षक तथा अविनाशी सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है। आपको आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त भुजाधारी, शशि-सूर्यरूप नेत्रोवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने

---

दुर्गा को पूर्ण परमेश्वर मानकर उपासना की जाती है, किन्तु इनमे से जिस एक रूप को भी परमेश्वर मानकर पूजा की जाती है, अन्य रूपों को उसीके अन्य स्वरूप मान लिया जाता है। इन्द्र, वरुण इत्यादि मात्र देवता हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही परमेश्वर के तीन प्रमुख स्वरूप हैं। पुराणो में कल्पना की गयी है कि विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल पर ब्रह्मा विराजमान हैं। नाभि ( मणिपूर चक ) उत्पत्ति का केन्द्र-स्थल होता है। यह कल्पना एक वैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है। चार वेद ब्रह्मा के चार मुख हैं। अन्त करणरूप ब्रह्मा के भी मन, बुद्धि, चित्त और अहकार चार मुख हैं। अन्त करण ही सृष्टि रचता है। मूल प्रकृति मानो भगवान् की शेष-शय्या है और सत्वगुण ही नाभिकमल है। गदा प्राण-तत्त्व है, शख जल तत्त्व है, चक्र तेज तत्त्व है तथा किरीट ब्रह्म-लोक है। विष्णु के हाथो मे कमल, शंख, चक्र और गदा प्रतीकात्मक हैं। निर्गुण-निराकार परमात्मा की सगुण-साकार उपासना के लिए अनेक प्रतीको का उपयोग करना समुचित है। सूक्ष्म को स्थूल, जटिल को सरल, तथ्य को आख्यायिका के रूप में प्रस्तुत करना पौराणिक शिक्षण का कौशल है।

तेज से इस जगत् को तपायमान करते हुए देखता हूँ।

**सन्दर्भ :** अर्जुन विश्वरूप भगवान् की स्तुति कर रहा है।

**रसामृत :** परमात्मविषयक ज्ञान ससार मे सर्वोपरि ज्ञान है। ससार के उत्पत्तिकर्ता एव धारक परमात्मा का ज्ञान होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है तथा जानने योग्य कुछ शेष नही रहता। परमात्मा ही परमज्ञेय एव ध्येय है। अर्जुन को विश्वरूप-दर्शन के अनुभव से यह विश्वास हो गया कि भगवान् श्रीकृष्ण माया-शक्तिसहित सच्चिदानन्द निर्गुण-निराकार परमब्रह्म परमात्मा का साक्षात् स्वरूप हैं तथा इस विश्व का परम आश्रय अथवा अधिष्ठान है। सम्पूर्ण विश्व परमात्मा मे स्थित है तथा परमात्मा उसको धारण करते हैं। अर्जुन ने यह भी समझ लिया कि भगवान् श्रीकृष्ण ही सनातन धर्म की सस्थापना एव रक्षा करते है तथा वे ही अविनाशी चिरन्तन परम पुरुष अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है।

विश्वरूप परमेश्वर आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनन्त, अपरिसीम था। चन्द्र, सूर्य इत्यादि विश्वरूप पुरुष के नेत्रो के सदृश देदीप्यमान थे तथा उसका मुख प्रचण्ड एव जाज्वल्यमान अग्नि के सदृश था। अर्जुन को ऐसा प्रतीत हुआ कि सारा विश्व विश्वरूप परमात्मा के अनन्त तेज से तपायमान हो रहा है।[१]

**द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि**
**व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।**
**दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं**
**लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥**

**अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति**
**केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।**
**स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः**
**स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥**

**रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या**
**विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।**
**गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा**
**वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥**

**शब्दार्थ : महात्मन्**=हे महात्मा, **इदं द्यावापृथिव्योः अन्तरं च सर्वाः दिश. एकेन त्वया हि व्याप्तं**=यह स्वर्ग और पृथ्वी का अन्तर ( मध्यवर्ती आकाश ) तथा सब दिशाएँ एक आपसे व्याप्त हैं, **तव इदं अद्भुत उग्र रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं**=आपके इस अलौकिक तथा उग्ररूप को देखकर तीनो लोक व्यथित हो रहे हैं। **अमी सुरसङ्घा. त्वा हि विशन्ति**=ये सब देवसमूह आपमे ही प्रविष्ट होते हैं, **केचिद् भीताः प्राञ्जलयः गृणन्ति**=कुछ भयभीत होकर हाथ जोडे ( आपके नाम आदि का ) उच्चारण करते हैं, **महर्षिसिद्धसङ्घा स्वस्ति इति उक्त्वा पुष्कलाभि स्तुतिभिः त्वा स्तुवन्ति**=महर्षि और सिद्धजन के समुदाय 'स्वस्ति' ऐसा कहकर उत्तम स्तुतियो द्वारा आपकी स्तुति करते हैं। **ये रुद्रादित्या. च वसवः साध्याः विश्वे अश्विनौ च मरुतः च ऊष्मपाः च गन्धर्वयक्षासुर-सिद्धसङ्घा.**=जो एकादश रुद्र, द्वादश सूर्य तथा आठ वसु और साध्यगण विश्वेदेव ( तथा ) दो अश्विनीकुमार और उनचास मरुत् और पितरगण तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धजन के समुदाय हैं, **सर्वे एव विस्मिताः त्वां वीक्षन्ते**=सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं।

**वचनामृत :** हे महात्मन्, यह द्युलोक ( स्वर्ग ) और पृथ्वी के मध्य का सम्पूर्ण अन्तरिक्ष तथा सब दिशाएँ एक आपसे व्याप्त हैं तथा आपके इस अलौकिक और भयकर रूप को देख तीनो लोक व्यथित हो रहे हैं। ये ही देववृन्द आपमे प्रविष्ट हो रहे हैं तथा कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए

---

१ विश्वरूप परमेश्वर की स्तुति में अनेक विशेषणो की वारम्बार आवृत्ति हुई है। अर्जुन विस्मय से अभिभूत है तथा भाव-विभोर होकर स्तवन कर रहा है। वास्तव मे अर्जुन के पास शब्दो का अभाव है, अत उसे शब्दो की पुनरावृत्ति करनी पडी है। स्तुति मे पुन पुनः कथन होने पर भी पुनरुक्तिदोष नही माना जाता। अर्जुन की स्तुति का सस्वर पाठ करना चाहिए तथा इसके भाव एव काव्य-रस का आस्वादन करना चाहिए।

स्तुति ( आपके नाम और गुणो का उच्चारण ) करते है तथा महर्पि और सिद्धो के समुदाय 'स्वस्ति' ( कल्याण हो ) ऐसा कहकर उत्तम स्तुतियो से आपका स्तवन करते हैं। जो एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमार तथा उनचास मरुत् और पितरो के समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धो के सघ हैं, वे सभी विस्मित होकर आपको देखते हैं।

सन्दर्भ : विस्मयाभिभूत अर्जुन के मुख से भगवान् का स्तवन प्रस्फुटित हो रहा है।

रसामृत : भगवान् का विराट् रूप इतना विशाल है कि पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य स्थित आकाश तथा सभी दिशाएँ उस रूप से ही परिपूर्ण है। इस रूप को देखकर अर्जुन भयभीत हो गया और उसे भयभीत अवस्था के कारण विश्वरूप मे स्थित सभी प्राणी भयभीत ही प्रतीत हुए।[1]

विश्वरूप-दर्शन से दो महाभाव उत्पन्न होते हैं—समस्त सृष्टि भगवान् का ही रूप है और सबके मुख, हाथ, पैर, पेट इत्यादि अवयव विश्वरूप भगवान् के ही मुख, हाथ, पैर, पेट इत्यादि अवयव हैं तथा समस्त सृष्टि भगवान् मे ही स्थित है और सृष्टि का कर्ता, धारणकर्ता और सहारकर्ता वही सर्वशक्तिमान् अन्तर्यामी परमेश्वर है तथा उससे परे कुछ नही है। ज्ञानी कहता है, सबकुछ परब्रह्म परमात्मा ही है तथा भक्त कहता है, सब-कुछ भगवान् कृष्ण ही हैं। भक्त अर्जुन भावमग्न हो रहा है। अर्जुन को ऐसा प्रतीत हुआ कि सुरवृन्द विश्वरूप भगवान् मे प्रविष्ट हो रहे थे तथा कुछ लोग भयत्रस्त होकर हाथ जोडे हुए स्तुति कर रहे थे। अर्जुन ने देखा कि महर्षिगण और सिद्ध पुरुषो के वृन्द 'विश्व का कल्याण हो' ऐसा कहकर[1] उत्तम स्तुतियो से भगवान् की उपासना कर रहे थे। अर्जुन को पुराणो मे प्रसिद्ध ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्यगण, दस विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमार, उनचास मरुद्गण, सात पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धो के वृन्द सभी विस्मित दिखाई पडे। परमात्मा अनादि, अनन्त और अप्रमेय है तथा देव, दनुज, मनुज, यक्ष, गन्धर्व, महर्पि और सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को पूर्णत न जानने के कारण आश्चर्यचकित ही रहते हैं।[2] विश्वरूप परमेश्वर

१ लोको के काँपते हुए प्रतीत होने के अन्य कारण भी कहे जा सकते हैं। विश्वरूप-दर्शन कराने के समय त्रैलोक्य की एक अनिर्वचनीय अवस्था उत्पन्न हुई और सम्पूर्णजीव काँप उठे अथवा भगवान् ने एक क्षण के लिए अपना उग्ररूप ही दिखाया था, जो महाभारत-युद्ध के भयानक विनाश का सूचक था।

१ कदाचित् महर्पिगण और सिद्धपुरुषों के वृन्द महायुद्ध के प्रस्तुत होने के कारण विनाश के लक्षण देखकर 'स्वस्ति' कह रहे थे।

२ पुराणो में प्रसिद्ध रुद्र, आदित्य इत्यादि की व्याख्या १०वें अध्याय मे की जा चुकी है। बारह साध्य देवो की उत्पत्ति धर्म की पत्नी दक्षकन्या साध्या से हुई थी। वायुपुराण मे इनके नाम हैं—मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हस, नारायण, प्रभव और विभु ( वायुपुराण, ६६.१५-१६ )। स्कन्दपुराण मे इनके नाम इस प्रकार हैं—मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, अपान, भक्ति, भय, अनघ, हस, नारायण, विभु और प्रभु। धर्म की पत्नी ( दूसरी दक्षकन्या ) विश्वा से दस विश्वेदेवाओं की उत्पत्ति का उल्लेख वायुपुराण ( ६६.३१-३२ ) मे इस प्रकार है—क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान्। दोनो देव वैद्य अश्विनीकुमार ( नासत्य तथा दस्र ) सूर्य की पत्नी सज्ञा से उत्पन्न हुए हैं और दोनो साथ रहते हैं। पितरो को गर्म ( ताजा ) भोजन करनेवाले 'ऊष्मपा' कहा गया है। 'ऊष्मभागा हि पितर'—कृष्ण यजुर्वेद, वै० ब्रा०, १ ३ १०। ये सब नाम प्रतीकात्मक हैं। गायन तथा नृत्य-कला में कुशल गन्धर्वगणो की उत्पत्ति कश्यपमुनि की पत्नियो ( मुनि, प्राधा तथा अरिष्टा ) से वर्णित है तथा यक्षो की उत्पत्ति कश्यप की पत्नी खसा से कही गयी है। कश्यपमुनि की पत्नी दिति से दैत्यों तथा दनु से दानवों की उत्पत्ति वर्णित है। इनकी प्रतीका-

के दर्शन से अर्जुन को यह स्पष्ट हो गया कि देव-दनुज-मनुज इत्यादि सबकी अन्तिम गति परमेश्वर ही है तथा सब-कुछ उसीका रूप है। सर्वत्र वही एक सूक्ष्म सत्ता व्याप्त है तथा वही समस्त चर और अचर जगत् का आधार है।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोका प्रव्यथितास्तथाहम् ।२३।
नभ स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शम च विष्णो ॥२४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

**शब्दार्थ :** महाबाहो=हे विशाल बाहुवाले, **ते बहुवक्त्रनेत्र बहुबाहूरुपाद बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं महत् रूपं दृष्ट्वा**=आपके बहुत मुख और नेत्रोवाले, बहुत बाहु, ऊरु ( जघा ) और पैरोवाले, बहुत उदरोवाले, बहुत-सी दाढो के कारण विकराल महान् रूप को देखकर, **लोकाः प्रव्यथिताः तथा अहं**=लोक व्याकुल हो रहे है तथा मैं भी व्याकुल हूँ। **हि**=क्योकि, **विष्णो नभ स्पृशं दीप्तं अनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रं त्वा दृष्ट्वा**=हे विष्णो, आकाश को स्पर्श करनेवाले देदीप्यमान्, अनेक वर्णों से युक्त, फैलाये हुए मुखवाले, प्रकाशमान विशाल नेत्रो से युक्त आपको देखकर, **प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं च शमं न विन्दामि**=व्याकुल अन्त करणवाला ( मैं ) धैर्य और शान्ति नही प्राप्त करता हूँ। **ते दंष्ट्राकरालानि च कालानलसन्निभानि मुखानि दृष्ट्वा**=आपके विकराल दाढोवाले और प्रलयकाल की अग्नि के सदृश ( प्रज्वलित ) मुखो को देखकर, **दिशः न जाने च शर्म एव न लभे**= ( मैं ) दिशाओ को नही जानता हूँ और शान्ति भी नही पाता हूँ, **देवेश जगन्निवास प्रसीद**=हे देवेश, जगन्निवास, आप प्रसन्न हो।

**वचनामृत :** हे महाबाहो, आपके बहुत मुख तथा नेत्रोवाले, बहुत बाहु, ऊरु और पैरोवाले, बहुत उदरोवाले और बहुत-सी दाढो के कारण विकराल, महान् रूप को देखकर सब लोक व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। क्योकि हे विष्णो, आकाश को स्पर्श करनेवाले देदीप्यमान, अनेक वर्णों से युक्त तथा फैलाये हुए मुखवाले तथा प्रकाशमान विशाल नेत्रो से युक्त आपको देखकर भयभीत अन्त करणवाला मैं धैर्य और शान्ति नही पाता हूँ। दाढो के कारण विकराल और प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित आपके मुख को देखकर मैं दिशाओ को नही जानता हूँ और न सुख ही पाता हूँ। हे देवेश, हे जगन्निवास, आप प्रसन्न हो।

**सन्दर्भ :** अर्जुन की भयभीत अवस्था का वर्णन है।

**रसामृत :** विश्वरूप भगवान् के भयकर और विकराल रूप को देखकर अर्जुन भयभीत हो रहा है। विश्वरूप केवल सौम्य तथा सुन्दर ही नही है, बल्कि विकराल तथा भयकर भी है। विश्व मे करुणा तथा क्रूरता का विचित्र सम्मिश्रण है। प्राणियो के स्वरूप विश्वरूप के स्वरूप हैं। प्राणियो के असख्य हाथ, पैर, पेट आदि अवयव विश्वरूप के अवयव हैं। आकाश को छूनेवाले, देदीप्यमान तथा अनेक वर्णों से युक्त उस विश्वरूप के खुले हुए तथा विस्तृत मुखो और असह्य प्रकाशयुक्त नेत्रो को देखकर अर्जुन व्याकुल हो गया। उसका धैर्य जाता रहा और उसकी शान्ति छिन्न-भिन्न हो गयी। विशाल दाढो के कारण विकराल प्रतीत होनेवाले मुखो पर प्रलयकाल की-सी अग्नि की भीषणता थी। भयाक्रान्त अर्जुन को दिशाओ का भी ज्ञान न रहा। अत्यन्त भ्रमित एव व्याकुल होकर अर्जुन भगवान् की स्तुति करने लगा, "हे प्रभो, मैं बहुत व्याकुल और अशान्त हो गया हूँ। धैर्य और शान्ति ने मुझे

---

त्मकता स्पष्ट है। प्रतीको तथा आख्यायिकाओ का अवलम्बन लेकर प्राकृतिक रहस्यो तथा जीवन के तथ्यों की ललित व्याख्या करना पौराणिक कुशलता है।

छोड दिया है और अव मेरी व्याकुलता असहनीय हो गयी है। हे प्रभो, हे जगन्निवास, आप प्रसन्न हो जायँ और मुझ पर कृपा करें।"

अर्जुन जिस विश्वरूप को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक था, वह अव उसके दर्शन से ही भयभीत हो रहा था तथा चाहता था कि भगवान् उस रूप को समेट लें। क्या कारण हुआ ? वास्तव मे वह विश्वरूप की अनन्तता से व्याकुल हो गया तथा विश्वरूप के भीषण स्वरूप से आतकित हो गया। प्रारम्भ मे वह विश्वरूप के सौम्य, सुन्दर और मधुर पक्ष का दर्शन करके आनन्दमग्न हो गया था,[1] किन्तु मनुष्य भगवान् का कोप तो क्या, भगवान् का अनुग्रह भी सहन नही कर सकता। भगवान् की कृपा से ही मनुष्य भगवान् के अनुग्रह का आनन्द प्राप्त कर सकता है। भगवान् की कृपा का निरन्तर अनुभव करते रहने से तथा भगवान् का स्मरण करते रहने से मनुष्य भगवान् के अनुग्रह का सदुपयोग करके आनन्द प्राप्त कर सकता है। भगवान् ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि देने का अनुग्रह कर दिया, किन्तु वह विश्वरूप देखने के लिए सक्षम एव समर्थ नही था। विश्वरूप की अनन्तता से उसे दिग्भ्रम हो गया और वह अपनी स्थिति पर नियन्त्रण नही रख सका। वह भयाक्रान्त और भ्रान्त हो गया तथा उसे अपने भयाभिभूत मन के कारण सभी प्राणी भयभीत प्रतीत हुए। उसे विश्वरूप के मुखो पर प्रलयकाल की-सी भयानक ज्वाला दीख रही थी। विश्वरूप के विकराल पक्ष पर ही अर्जुन के आतकित मन के केन्द्रीभूत होने से उसका भय भीषण एव उग्र हो रहा था। इस व्याकुलता से वीर अर्जुन का अहकार विगलित हो गया। उसकी व्याकुलता और अधीरता ने उसे भगवान् की स्तुति करने के लिए प्रेरित कर दिया तथा वह भावविभोर होकर भगवान् की स्तुति करने मे ही शान्ति खोजने लगा।[1]

अमी च त्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

**शब्दार्थ :** अमी सर्वे एव धृतराष्ट्रस्य पुत्रा अवनिपालसङ्घैः सह त्वा ( विशन्ति )=ये सव ही धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओ के समुदायो के साथ आपमें ( प्रवेश करते हैं ), च=और, भीष्मः द्रोण तथा असौ सूतपुत्र अस्मदीयैः अपि योधमुख्यैः सह=भीष्म, द्रोण तथा वह कर्ण हमारी सेनाओ के भी मुख्य योद्धाओ के साथ, त्वरमाणा ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति=वेगयुक्त होकर आपके विकराल दाढ़ोवाले मुखो मे प्रवेश करते हैं, केचित् चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः दशनान्तरेषु विलग्ना संदृश्यन्ते=कुछ चूर्ण हुए सिरोसहित ( आपके विकराल ) दाँतो मे लगे हुए दिखते हैं। ( इस श्लोक का भिन्न प्रकार से भी अन्वय किया गया है। )

**वचनामृत** ये सभी धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओ के समुदायो सहित आपमे प्रवेश कर रहे हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और वह कर्ण और हमारी सेना के मुख्य योद्धाओ सहित सव वेगपूर्वक आपके दाढो के कारण विकराल प्रतीत होनेवाले भयानक मुखो मे प्रवेश कर रहे हैं और कुछ योद्धा चूर्ण हुए सिरोसहित ( आपके विकराल ) दाँतो मे लगे हुए दीख रहे हैं।

**सन्दर्भ :** वीर योद्धा विश्वरूप के मुख मे प्रवेश कर रहे हैं।

---

१ श्लोक १५ से १९ तक अर्जुन की आनन्दमग्न अवस्था का वर्णन है।

१ चित्त के अशान्त होने पर 'दिशो न जाने न लभे च शर्म, प्रसीद देवेश जगन्निवास' को मन्त्र की भाँति श्रद्धापूर्वक जपने से शान्ति प्राप्त होती है।

**रसामृत :** अर्जुन की रुचि युद्ध के परिणाम तथा प्रसिद्ध योद्धाओ की गति के सबध मे होना अत्यन्त स्वाभाविक था। उसके अन्तर्मन मे कौरवो तथा कौरवो के पक्षधर राजाओ का स्मरण होने के कारण विश्वरूप-दर्शन मे उसके समक्ष उनके सम्बन्ध मे दृश्य समुपस्थित हो गये। उसने देखा कि धृतराष्ट्र के वे सभी पुत्र, जो कुछ समय पूर्व उसे युद्ध मे ललकार रहे थे, विश्वरूप मे प्रविष्ट होकर विनष्ट हो रहे थे। उनमे से एक भी शेष नही बचा। कौरवो के साथ ही कौरवो के पक्ष मे आये हुए सभी राजा भी विश्वरूप मे प्रविष्ट होकर विलुप्त हो रहे थे। अर्जुन ने देखा कि महान् पराक्रमी भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य, जो कौरवो की सेना के प्रधान नायक थे तथा जो अजेय प्रतीत होते थे, विश्वरूप के विकराल मुख मे त्वरित गति से प्रविष्ट हो रहे थे। वह कर्ण भी, जो अर्जुन का प्रतिद्वन्द्वी था तथा जिसे परास्त करना दुस्तर था, विश्वरूप के भयानक और विकराल मुख मे प्रविष्ट हो रहा था। अर्जन को विस्मय हुआ कि केवल शत्रुपक्ष के महान् योद्धा ही नही, बल्कि उसके पक्षधर वीर भी उसी प्रकार विश्वरूप के भयानक मुख मे प्रविष्ट होकर विनष्ट हो रहे थे। उस समय विश्वरूप अर्जुन को महाकाल के सदृश प्रतीत हो रहा था। अनेक वीर योद्धा महाकालरूप भगवान् के मुख मे दाँतो मे फँसे हुए भी दिखाई दे रहे थे। अर्जुन प्रतिस्पर्धी पराक्रमी वीरो को कालकवलित होते हुए देखकर अत्यन्त विस्मित हुआ। विश्वरूप-दर्शन मे अर्जुन को वर्तमान, भविष्यत् और भूतकाल के सगम का भी विचित्र अनुभव हुआ। परमेश्वर मे समस्त दिक् तथा काल एक होकर समा जाते हैं। वहाँ अतीत और भविष्यत् भी वर्तमान ही हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

**शब्दार्थ : यथा नदीना बहवः अम्बुवेगाः समुद्रं एव अभिमुखा द्रवन्ति**=जिस प्रकार नदियो के बहुत से जल-प्रवाह समुद्र ही की ओर दौडते हैं, **तथा अमी नरलोक-वीरा तव अभिविज्वलन्ति वक्त्राणि विशन्ति**=उसी प्रकार ये नरलोक वीर (शूर-वीर) आपके प्रज्वलित मुख मे प्रवेश करते हैं। **यथा पतङ्गा नाशाय प्रदीप्त ज्वलनं समृद्धवेगा विशन्ति**=जिस प्रकार पतङ्ग नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि मे अतिवेगयुक्त होकर प्रवेश करते है, **तथा एव लोकाः अपि**=उसी प्रकार सब लोग भी, **नाशाय तव वक्त्राणि समृद्धवेगा विशन्ति**=नाश के लिए आपके मुखो मे प्रवेश करते हैं।

**वचनामृत :** जैसे नदियो के बहुत से जल-प्रवाह समुद्र ही की ओर दौड़ते हैं, वैसे ही ये मनुष्य-लोक के वीर भी आपके प्रज्वलित मुखो मे प्रवेश करते हैं। जैसे पतङ्ग अपने नाश के लिए ही प्रज्वलित अग्नि मे अत्यन्त वेग से प्रवेश करते है, वैसे ही सब लोग भी अपने नाश के लिए ही आपके मुखो मे प्रवेश करते हैं।

**सन्दर्भ :** दो उदाहरणो द्वारा मृत्यु की अनिवार्यता को स्पष्ट किया गया है।

**रसामृत :** अर्जुन विश्वरूप का दर्शन करते हुए भीष्म, द्रोण जैसे अजेय सेनानायको को, कर्ण जैसे अपने प्रतिस्पर्धी शूर-वीर को तथा अन्य वीर योद्धाओ को विश्वरूप के विकराल मुख मे प्रवेश करते हुए देखकर विस्मित हो जाता है। वह समस्त शूर वीरो को विश्वरूप के प्रज्वलित मुखो मे इस प्रकार वेगपूर्वक प्रविष्ट होकर विलुप्त होते हुए देख रहा है, जैसे पर्वतो से निकलकर समुद्र की ओर ही समस्त जल-धाराएँ निरन्तर वेगपूर्वक दौडती हुई अन्त मे समुद्र मे समा जाती हैं। वे अपनी सत्ता को समुद्र मे सुखपूर्वक विलीन कर देती हैं।

किन्तु असख्य साधारणजन जीवन का महत्त्व न समझकर अपना जीवन ऐसे ही विनष्ट कर देते हैं, जैसे पतङ्ग मोहवश दीपक की लौ की ओर दौड़कर उससे दग्ध होकर अपने को विनष्ट कर देते हैं। नदियो के स्वाभाविक रूप से समुद्र की ओर दौडते हुए अन्त मे उसमे त्यागपूर्वक विलुप्त होने की तुलना मे शलभो का आसक्ति के कारण ज्वाला पर जान-बूझकर दग्ध हो जाना निकृष्ट है। मृत्यु तो अनिवार्य है तथा राजा और रक, हाथी और चीटी तथा महातमा और दुरात्मा सभी को अवश्य ही ग्रसित करती है, किन्तु उत्तम पुरुपो की मृत्यु शोभनीय होती है। श्रेष्ठ पुरुप मृत्यु द्वारा परमेश्वर के साथ एकात्म हो जाते है, जैसे नदियाँ समुद्र मे विलीन होकर उसके साथ अभिन्न हो जाती है। साधारण प्राणी मृत्यु को ऐसे प्राप्त होते है, जैसे पतङ्ग मोहवश अपने को ज्वाला पर दग्ध करके विनष्ट कर देने है। नदियो का जीवन लोक के लिए अत्यन्त उपयोगी एव कल्याणकारक होता है तथा अन्त मे वे अपनी जलराशि को सहजभाव से समुद्र को समर्पित करके कृतार्थ हो जाती हैं। उत्तम पुरुष जीवनकाल मे जन-समाज का उपकार सहजभाव से करने है तथा अन्त मे मरकर भी अमर हो जाते है। किन्तु मूढ पुरुप जीवन का दुरुपयोग करके अपनी शक्तियो को क्षीण कर देते है और अन्त मे शलभो की भाँति विनष्ट हो जाते हैं। विवेकशील मनुष्य जीवन को स्वर्णिम बनाकर कृतार्थ हो जाते है। अर्जुन मृत्यु की अनिवायता को देखते हुए मृत्यु को प्राप्त होने की विधियो के भेद को स्पष्ट कर रहा है। त्यागी पुरुषो की मृत्यु गौरवपूर्ण होती है और भोगी मनुष्यो की मृत्यु शोचनीय होती है।

> **लेलिह्यसे ग्रसमान. समन्ता-**
> **ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भि.  ।**
> **तेजोभिरापूर्य    जगत्समग्र**
> **भासस्तवोग्रा· प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥**

शब्दार्थ समग्रान् लोकान् ज्वलद्भि. वदनै ग्रसमान:=सारे लोको को प्रज्वलित मुखो से ग्रसन करते हुए, समन्तात् लेलिह्यसे=सब ओर से चाट रहे हैं, विष्णो=हे विष्णो, तव उग्रा भास. समग्र जगत् तेजोभि. आपूर्य प्रतपन्ति=आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को तेज से परिपूर्ण करके तपायमान कर रहा है।

वचनामृत . आप सारे लोको को प्रज्वलित मुखो से ग्रसन करते हुए बार-बार चाट रहे है। हे विष्णो, आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को तेज से परिपूर्ण करके तपायमान कर रहा है।

सन्दर्भ . भगवान् की विनाश-लीला का काव्यात्मक वर्णन है।

रसामृत अर्जुन विश्वरूप मे परमेश्वरस्वरूप समस्त जगत् का दर्शन करने के अतिरिक्त परमेश्वर के त्रिरूप–सृष्टि-रचयिता ब्रह्मा, धारक विष्णु और सहर्ता महेश—का भी दर्शन करता है। सृष्टि का क्रम है—सृजन, विकास, विनाश। विनाश नवसर्जन का आधार है। चित्रकार एक सुन्दर चित्र बनाकर उसे मिटा देता है, यह अज्ञानी को अटपटा प्रतीत होता है। किन्तु कुछ समय मे वह एक नया और अधिक सुन्दर चित्र प्रस्तुत कर देता है। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन तथा सृष्टि का जीवन विकास और विनाश की प्रक्रिया द्वारा पूर्णता की ओर बढता रहता है। मृत्यु पुनर्जन्म का कारण है तथा मनुष्य को पूर्णता की ओर बढने का पुन पुन अवसर प्राप्त होता रहता है। यह दैवी विकासवाद की प्रक्रिया है।

अर्जुन विश्वरूप भगवान् के महाकाल पक्ष को देखकर भयाक्रान्त हो गया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि भगवान् सम्पूर्ण लोको को अपने अग्नि के सदृश प्रज्वलित मुख मे रख-रखकर निगल रहे हैं और फिर भी अतृप्त भाव से उसका स्वाद लेकर ओष्ठ आदि चाट रहे हैं। उसे यह भी प्रतीत हुआ कि परमात्मा का प्रचण्ड तेज सारे जगत् को परिपूर्ण कर रहा है तथा मानो जगत् को सतप्त कर रहा

है। करुणामय विश्वरूप का विनाशकारी स्वरूप देखकर अर्जुन व्याकुल हो रहा है।

**आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो**
**नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।**
**विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं**
**न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥**

**शब्दार्थ : मे आख्याहि भवान् उग्ररूप कः**=मुझे कहिये कि आप उग्ररूपवाले कौन है, **देववर ते नमः अस्तु**=हे देवो में श्रेष्ठ, आपको प्रणाम हो। **प्रसीद**=आप प्रसन्न हो जायँ। **आद्यं भवन्तं विज्ञातुं इच्छामि**=आदिस्वरूप आपको मैं तत्त्व से जानना चाहता हूँ, **हि तव प्रवृत्ति न प्रजानामि**=क्योकि आपकी प्रवृत्ति ( प्रयोजन ) को नही समझ रहा हूँ।

**वचनामृत :** मुझे कहिये कि आप उग्ररूपवाले कौन है ? हे देवो मे श्रेष्ठ, आपको मेरा प्रणाम हो। आप प्रसन्न हो। आदिस्वरूप आपको मैं विशेष रूप से जानना चाहता हूँ, क्योकि मैं आपकी प्रवृत्ति को नही समझ रहा हूँ।

**सन्दर्भ** अर्जुन विस्मित होने पर भगवान् की कृपा से ही उनके उग्ररूप का मर्म कहने के लिए प्रार्थना करता है।

**रसामृत :** अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से ऐश्वर्यमय विश्वरूप देखने की उत्सुकता प्रकट की थी और भगवान् ने उसके निवेदन पर उसे विश्वरूप-दर्शन दे दिया तथा उस दर्शन के लिए दिव्यदृष्टि-रूप सूक्ष्मतम अलौकिक शक्ति भी दे दी। प्रारम्भ मे विश्वरूप भगवान् के सौम्य, सुन्दर और मधुर स्वरूप को देखकर अर्जुन सुप्रसन्न हो गया, किन्तु विश्वरूप की अनन्तता देखकर तथा विश्वरूप के विकराल तथा भयानक रूप को देखकर वह भ्रान्त और भयभीत हो उठा। उसने भयाक्रान्त होकर भगवान् से अपना विकराल रूप समेट लेने की इच्छा से स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया। अन्त मे, अत्यन्त व्यथित, व्याकुल तथा विकल होकर उसने विश्वरूप से निवेदन किया—"हे भगवन्, आपने इस उग्ररूप को क्यो धारण किया है ? इस प्रचड रूप से तो सारे लोक सतप्त हो रहे है। आपके अत्यन्त क्रूर और भयानक आकार का क्या प्रयोजन है ? हे देवाधिदेव, मै आपको श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक प्रणाम करता हूँ। हे देव-श्रेष्ठ, मेरा प्रणाम स्वीकार करने का अनुग्रह करे तथा मुझ पर प्रसन्न होने की कृपा करें।" इस प्रकार भक्तिभाव से परिपूर्ण होकर अर्जुन ने विनम्रतापूर्वक अपनी जिज्ञासा निवेदित कर दी और कहा—"आप जगत् के आदिकारण हैं, आप स्वय अपने मुखारविन्द से मुझे अपना विशेष ज्ञान देने का अनुग्रह करे, क्योकि मैं आपके इस प्रचण्ड रूप का प्रयोजन नही समझ पा रहा हूँ।"

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्यदृष्टि द्वारा विश्वरूप-दर्शन देने का अनुग्रह किया, उसमे विश्वरूप-दर्शन की सामर्थ्य नही है। वह न पूर्ण ज्ञानी है और न पूर्ण भक्त ही। पूर्ण ज्ञान[1] अथवा पूर्ण भक्ति का उदय होने पर भय का प्रश्न ही नही रहता। अर्जुन सीधा-सच्चा होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण का कृपा पात्र है। वह सात्त्विक भाव से अपनी जिज्ञासा निवेदित कर देता है। अर्जुन का जिज्ञासु भाव इतना प्रबल है कि वह विश्वरूप से आतंकित होकर भी प्रश्न पूछ लेता है। उसका हाथ जोडकर भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयत्न इतना भक्ति-प्रेरित नही, जितना भय-प्रेरित है।

---

१ पूर्णज्ञानी शुद्ध चैतन्यस्वरूप, निर्गुण, निराकार तथा निरुपाधि ( मायाशक्तिरहित ) परमब्रह्म परमात्मा के साथ ज्ञान द्वारा एकात्मता स्थापित करके ब्रह्म ही हो जाता है तथा उसे मायाजनित जगत् के भयानक दृश्य कागज के शेर की भाँति मिथ्या प्रतीत होते हैं। वह सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करता है। पूर्ण भक्त सगुण ब्रह्म अथवा सगुण-साकार ब्रह्म को सोपाधि ( मायाशक्ति-सम्पन्न ) मानकर उसके साथ भक्ति द्वारा एकात्मकता स्थापित करके सर्वत्र परमेश्वर का दर्शन करता है तथा निर्भय होता है।

वह ज्ञान-प्राप्ति द्वारा उस आतक और भय से मुक्त होना अवश्य चाहता है, जिससे वह अत्यधिक ग्रस्त है। अर्जुन की सात्त्विकतापूर्ण जिज्ञासा धन्य है। उसकी जिज्ञासा ज्ञान एव भक्ति की प्रेरक है तथा पूर्णता की ओर उन्मुखता की सूचक है। ज्ञान तथा भक्ति को तत्त्वत समझने पर जिज्ञासा शान्त हो जाती है और भय दूर हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त.।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिता. प्रत्यनीकेषु योधा.॥३२॥

**शब्दार्थ :** **श्रीभगवानुवाच**=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **लोकक्षयकृत्**=लोको को नाश करनेवाला, **प्रवृद्धः काल अस्मि**=बढा हुआ अर्थात् बलवान् महाकाल हूँ, इह **लोकान् समाहर्तुं प्रवृत्त**=यहाँ (इस समय) लोको को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हूँ, **ये प्रत्यनीकेषु अवस्थिता योधा**=जो भी प्रतिपक्षियो की सेनाओ (अथवा परस्परविरोधी दोनो सेनाओ) में स्थित हुए योद्धा हैं **सर्वे त्वां ऋते अपि न भविष्यन्ति**=वे सब तेरे बिना भी नही रहेंगे अर्थात् अवश्य नष्ट हो जायेंगे।

**वचनामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—मैं लोको का नाश करनेवाला प्रबल महाकाल हूँ। इस समय इन लोगो को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। जो भी सेना मे वीर योद्धा समुपस्थित हुए हैं, वे सब तेरे युद्ध किये बिना भी जीवित नही रहेगे।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अर्जुन को महाकाल का प्रयोजन बता रहे हैं।

**रसामृत** . अर्जुन ने युद्ध-क्षेत्र मे रण के लिए उद्यत सेनाओ के मध्य मे स्थित होकर अकस्मात् मोहग्रस्त होकर युद्ध को छोडकर चले जाने का प्रस्ताव भगवान् श्रीकृष्ण के सामने रखा था। भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया कि वीर योद्धा को मोह त्यागकर अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध युद्ध करना चाहिए तथा ऐसा युद्ध धर्म-युद्ध होता है। किन्तु अर्जुन ने एक के बाद एक अनेक प्रश्न पूछ लिये और श्रीकृष्ण ने उनका समाधान करना प्रारम्भ कर दिया। अर्जुन के निवेदन पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे विश्वरूप का सौम्य पक्ष तथा विकराल पक्ष दिखाकर उसे अनुगृहीत कर दिया। अर्जुन ने विश्वरूप-दर्शन करते हुए देखा कि विश्वरूप मे अतीत और भविष्यत् का वर्तमान के साथ अद्भुत सगम हो रहा है तथा भीष्म, द्रोण आदि पराक्रमी वीर विश्वरूप के महाकाल स्वरूप मे प्रविष्ट होकर विनष्ट हो रहे हैं। भयाक्रान्त अर्जुन ने साहस बटोरकर श्रीकृष्ण से इस समय प्रचण्ड रूप को धारण करने का प्रयोजन पूछ लिया। भगवान् ने कहा, "हे अर्जुन, इस समय मैं विनाश करनेवाला महाकाल हूँ तथा मेरे उग्ररूप का प्रयोजन सहार करना है। यदि तू मोहवश रण-क्षेत्र छोड देगा तो भी इनका विनाश होना निश्चित है।"

सृष्टि मे जन्म, विकास और विनाश का क्रम स्वाभाविक रूप मे चलता रहता है। जन्म के बाद मृत्यु अनिवार्य है। जन्म और मृत्यु के द्वारा उत्पत्ति तथा सहार का क्रम अबाधरूप से चलता रहता है। विवेकशील पुरुष की दृष्टि मे मृत्यु के सम्बन्ध मे शोक करना मात्र अज्ञान है। समग्र सृष्टि-क्रम का सचालन करनेवाला परमेश्वर ही एकमात्र सत् है तथा अन्य सब कुछ असत् अथवा नश्वर है। परमेश्वर समय-समय पर धर्म की सस्थापना और अधर्म के उन्मूलन के लिए सामूहिक सहार के रूप मे सोद्देश्य विनाश-लीला करता है। विनाश के पृष्ठ मे परमेश्वर की मूल प्रेरणा करुणा ही होती है तथा भक्त परमेश्वर के करुणामय रूप की ही उपासना करते हैं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्य समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥३३॥

**शब्दार्थ : तस्मात्**=इससे, इसीलिए, **त्वं**=तू, **उत्तिष्ठ**=खडा हो, **यश लभस्व**=यश को प्राप्त कर, **शत्रून् जित्वा समृद्ध राज्य भुङ्क्ष्व**=शत्रुओ को जीतकर समृद्ध ( धन-सम्पन्न, फलता-फूलता हुआ ) राज्य को भोग, **एते पूर्वं एव मया निहता**.=ये पहले ही मेरे द्वारा मार दिये गये हैं, **सव्यसाचिन्**=हे अर्जुन, ( सव्य हाथ अर्थात् बायें हाथ से भी शर-सधान कर लेने के कारण अर्जुन को सव्यसाची कहते थे ) **निमित्तमात्रं एव भव**= तू केवल निमित्त हो जा।

**वचनामृत :** अतएव तू उठ खडा हो, यश प्राप्त कर, शत्रुओ को जीतकर धनधान्यसम्पन्न राज्य को भोग। ये सब मेरे द्वारा पहले ही मार दिये गये हैं। हे अर्जुन, तू तो केवल निमित्तमात्र है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण उद्‌बोधन करते हैं। 'निमित्तमात्र भव' अत्यन्त प्रख्यात उक्ति है। इसे कण्ठाग्र कर लेना चाहिए। यह गीता का सारभूत सन्देश है।

**रसामृत :** पाप की वृद्धि और धर्म की हानि होने पर समाज-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है तथा सुख-शान्ति का लोप हो जाता है। ऐसी दशा मे करुणामय परमेश्वर सहार-लीला करते है। यह विनाश-लीला नव-सृजन का आधार हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने विश्वरूप-दर्शन मे अर्जुन को यह दिखा दिया कि शत्रु-दल के दुर्जेय शूर-वीर भी काल-कवलित हो रहे थे। जब अर्जुन ने व्यग्र होकर भगवान् से प्रचण्डरूप धारण करने का कारण पूछा तो भगवान् श्रीकृष्ण ने कह दिया—"इस समय मैं महाकाल का रूप हूँ और सहार कर रहा हूँ। तेरे प्रयत्न बिना भी यह सहार सम्पन्न होगा।" श्रीकृष्ण ने यह समझाकर अर्जुन से कहा, "हे अर्जुन, तेरे युद्ध किये बिना भी ये सब विनष्ट होगे। अतएव, तू उठ खड़ा हो[1] और उत्साहपूर्वक धर्म-युद्ध कर। यह तेरा स्वधर्मरूप कर्तव्य है। स्वधर्म-पालन से मनुष्य का सुयश खिले हुए पुष्प की सुगन्धि के सदृश चारो ओर व्याप्त हो जाता है तथा उसे समाज मे सम्मान और आदर प्राप्त होता है। हे अर्जुन, तू सुयश का अधिकारी है। तू सुयश प्राप्त कर।" यद्यपि उत्तम मनुष्य को यश और अपयश से ऊपर उठकर कर्तव्य-भावना से कर्म करना चाहिए, तथापि सुयश अनायास ही सुलभ हो जाता है तथा वह सदाशयता का परिचायक होता है। अर्जुन सीधा सच्चा है, किन्तु अभी वह यश-अपयश से ऊपर उठा हुआ नही है। अतएव श्रीकृष्ण उसे सत्कर्म द्वारा सुयश पाने के लिए भी प्रेरित करते है। विजय के विषय मे सदिग्ध अर्जुन[1] को विजय-प्राप्ति के लिए प्रेरित करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा, "हे अर्जुन, अन्याय और अत्याचार के प्रतिकार के लिए उठ खडा हो और आसुरी-वृत्तिवाले शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके धनधान्यसम्पन्न राज्य पर शासन कर। यह तेरा क्षात्र-धर्म है।" पुरुषार्थ और न्याय से धन का अर्जन करना गृहस्थ पुरुष का कर्तव्य है तथा आलस्यवश दीन-हीन होकर जीवन-यापन करना लज्जास्पद है। पुरुषार्थ और न्याय से प्राप्त धन मे सन्तोष करना भी महत्त्वपूर्ण है।

अन्त मे श्रीकृष्ण एक महत्त्वपूर्ण आदेश करते हैं, "हे अर्जुन, तू तो निमित्तमात्र है, सूत्रधार नही है।" यह विश्व एक अद्‌भुत नाट्यशाला है, जिसमे असख्य जीवधारी और अपरिमित पदार्थ निरन्तर सक्रिय हैं। इस विश्व-नाटक का रचयिता, सचालक और सूत्रधार मायाधिपति परमेश्वर स्वय है। परमेश्वर की लीला रहस्यपूर्ण तथा सोद्देश्य है। इस जगत् की गतिशीलता एव क्रिया-शीलता के मूल मे सर्वत्र परमेश्वर की दिव्य सत्ता का सदर्शन होता है। परमेश्वर अपनी सुनिश्चित एव सुनिर्धारित योजना का कुशल सचालन रहस्य-मय विधि से करता है। अल्पबुद्धि मनुष्य परमेश्वर

१ ऐसा प्रतीत हो सकता है कि अभी तक अर्जुन रथ के पीछे के भाग मे बैठकर संवाद कर रहा है, ( १४७ ) किन्तु वास्तव मे 'उत्तिष्ठ' ( उठ खडा हो ) एक उद्‌बोधन है।

१ गीता, २.६

उसके अनुसार कर्म करने से परमेश्वर की समष्टि-गत बृहद् योजना के पूर्ण होने मे उपयोगी उपकरण वन सकता है। मनुष्य अहकार त्यागकर ही परमेश्वर की योजना की पूर्ति मे निमित्त बन सकता है। लीलाधारी स्वय अपनी लीला कर रहा है तथा वह मनुष्य पर निर्भर नही है, किन्तु मनुष्य विश्वपुरुष के साथ एकाकार होकर, निमित्तमात्र बनकर, कृतार्थ हो सकता है।

**द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च**
**कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।**
**मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा**
**युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥**

**शब्दार्थ :** द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथा अन्यान् अपि=द्रोण और भीष्म और जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य भी, मया हतान् योधवीरान् त्वं जहि=मेरे द्वारा मारे हुए योद्धाओ को तू मार दे, मा व्यथिष्ठाः=व्यथा ( व्याकुलता ) मत कर, रणे सपत्नान् जेतासि=रण मे शत्रुओ को जीतेगा, युध्यस्व=तू युद्ध कर।

**वचनामृत :** द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य भी मेरे द्वारा मारे हुए शूर-वीर योद्धाओ को तू मार। व्यथा मत कर। तू युद्ध मे शत्रुओ को जीतेगा—तू युद्ध कर।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध करने का आदेश देते हैं।

**रसामृत** अर्जुन द्रोणाचार्य तथा भीष्मपितामह को अजेय मानता था तथा कर्ण को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानता था। अतएव उसने विश्वरूप के विकराल मुख मे जाते हुए देखकर इन पर विशेष ध्यान दिया।[१] स्वय दुर्जेय वीर होकर भी अर्जुन इन पर विजय पाने के विषय मे चिन्तित था। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने इन तीनो को तथा जयद्रथ को अपने द्वारा मार दिया गया हुआ कहकर अर्जुन को विजय के विषय मे आश्वस्त कर दिया। वास्तव मे पापी अपने पाप के कारण ही मरता है तथा भगवान् केवल दैवी व्यवस्था का विधाता है। श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, तू अपनी विजय के विषय मे सदेह मत कर।[१] तू रण मे शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर लेगा। मारनेवाला विधाता तो मैं हूँ और तू केवल निमित्त है। उठ, युद्ध कर।" श्रीकृष्ण रण मे अर्जुन के रथ के सारथी ही नही थे, बल्कि जीवन-सग्राम के भी सारथी थे।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्वधर्म-पालन की दृष्टि से अनेक बार युद्ध करने का आदेश दिया। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग का ही अधिकारी मानते थे।

सञ्जय उवाच

**एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य**
**कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।**
**नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं**
**सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥**

**शब्दार्थ :** सञ्जय उवाच=सञ्जय ने कहा, केशवस्य एतत् वचनं श्रुत्वा=श्रीकृष्ण के इस वचन को सुनकर, किरीटी=मुकुटधारी अर्जुन, कृताञ्जलि वेपमानः नमस्कृत्वा=हाथ जोडे हुए काँपता हुआ नमस्कार करके, भूय एव भीतभीतः प्रणम्य=पुन भयभीत हुआ प्रणाम करके, कृष्णं सगद्गदं आह=कृष्ण से गद्गद वाणी मे बोला।

**वचनामृत** सञ्जय ने कहा—केशव के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर, काँपता हुआ, नमस्कार करके भगवान् श्रीकृष्ण से गद्गद वाणी मे बोला।

**सन्दर्भ** · भगवान् श्रीकृष्ण की वाणी सुनने पर अर्जुनकी दशा का वर्णन है।

---

१. श्लोक २६

१ अर्जुन ने विजय के विषय मे सन्देह किया था ( २६ )। द्रोणाचार्य शस्त्र-विद्या मे पारगत थे तथा उनको युद्ध मे परास्त करना सम्भव नही था। भीष्म को यह वरदान प्राप्त था कि विना इच्छा उन्हें मृत्यु ग्रस्त नही कर सकती। जयद्रथ को भी वरदान प्राप्त था। कर्ण को वरदानरूप 'शक्ति' प्राप्त थी।

**रसामृत** अर्जुन का किरीट ( मुकुट ) अत्यन्त देदीप्यमान होने के कारण प्रसिद्ध था।[1] किरीट-धारी अर्थात् वीरता का अभिमानी अर्जुन भगवान् की आशीर्वादात्मक वाणी सुनकर गद्‌गद हो गया। वह अतिशय आश्चर्य, आतक, भय तथा हर्ष का सम्मिश्रण होने पर कांप उठा और हाथ जोडकर विश्वरूप को प्रणाम करने लगा। उसके मुख से विश्वरूप की भावपूर्ण स्तुति प्रस्फुटित होने लगी। उसकी वाणी स्पष्ट नही थी तथा स्वर मन्द था। उसका कण्ठ भावातिरेक के कारण अवरुद्ध था। ऐसी अनिर्वचनीय मानसिक और शारीरिक अवस्था मे स्तुति भी सहसा असम्बद्ध रूप से निर्झर की भाँति प्रवाहित होने लगी।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या<br>
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।<br>
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति<br>
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घा ॥३६॥

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, हृषीकेश=हे अन्तर्यामी, स्थाने=यह उचित ही है, तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यति च अनुरज्यते=आपकी प्रकृष्ट कीर्ति ( नाम, गुण और प्रभाव के कीर्तन ) से जगत् अत्यन्त हर्षित होता है और अनुरक्त होता है, भीतानि रक्षांसि दिशो द्रवन्ति=भयभीत राक्षसगण दिशाओ में भागते हैं, च सर्वे सिद्धसङ्घा [नमस्यन्ति=और सब सिद्धसमुदाय नमस्कार करते हैं।

**वचनामृत** · हे अन्तर्यामिन्, यह उचित ही है कि आपके कीर्तन से जगत् अत्यन्त हर्षित होता है और अनुरक्त होता है तथा भयभीत राक्षसगण दिशाओ मे भाग रहे हैं और सब सिद्ध-समुदाय नमस्कार करते हैं।

**सन्दर्भ** श्लोक ३६ से ४६ तक अर्जुन पुन स्तुति करता है।[1]

**रसामृत :** अर्जुन ने विश्वरूप मे देखा कि लोग भगवान् की कीर्ति अर्थात् भगवान् के नाम, गुण और प्रभाव के कीर्तन से प्रसन्न होते हैं और सुख प्राप्त करते हैं। अर्जुन ने स्वय अनुभव किया कि भगवान् की स्तुति करने से मन को तत्काल शान्ति प्राप्त होती है। भगवान् का नाम जपने से पाप की प्रवृत्ति ही नष्ट हो जाती है तथा मन ऊँचे धरातल पर स्थित होकर तत्काल सुख और शान्ति प्राप्त कर लेता है। मनुष्य के लिए सकटकाल मे भगवान् का नाम सहारा वन जाता है। लोग भगवान् का गुणगान करके अनुरक्त अर्थात् आनन्दमग्न हो जाते हैं। भगवान् का गुणगान करने का आनन्द भक्तगण ही जानते हैं। पापकर्म करनेवाले तथा सत्पुरुषो को सतानेवाले आसुरीवृत्तिसम्पन्न दुष्टगण अपने पाप के कारण ही अशान्त होकर इधर-उधर भागते रहते हैं। उनकी व्याकुलता उन्हे स्थिर, सम और शान्त नही होने देती। वड़े-वड़े सिद्ध पुरुष भगवान् के प्रति श्रद्धानत हो जाते हैं। सिद्ध पुरुष भगवान् की महिमा को समझकर विनम्र और भक्तिपूर्ण हो जाते हैं। भगवान् की दिव्य अनुभूति करनेवाले पुरुष 'सिद्ध' ( पूर्ण ) कहलाते हैं तथा दिन रात भगवद्‌भाव मे निमग्न रहते हैं। अर्जुन सिद्ध समुदायो की चर्चा वारम्वार करता है। सिद्धजन उसके लिए श्रद्धेय हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्<br>
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।<br>
अनन्त देवेश जगन्निवास<br>
त्वमक्षर सदसत्तत्पर यत् ॥३७॥

---

१ एक आख्यान के अनुसार अर्जुन को इन्द्र से किरीट प्राप्त हुआ था तथा वह अत्यन्त देदीप्यमान था। किरीट भौतिक ऐश्वर्य एव अभिमान का प्रतीक है।

१. यह श्लोक राक्षसो को भगाने के लिए मन्त्र के रूप मे प्रयोग किया जाता है। मधुसूदनाचार्य कहते हैं कि इसे नारायण अष्टाक्षर एव सुदर्शन इन दो मन्त्रो से सम्पुटित ही समझना चाहिए, यह गुप्त रहस्य है।

**शब्दार्थ :** महात्मन्=हे महात्मा, ब्रह्मण. **अपि आदिकर्त्रे च गरीयसे ते कस्मात् न नमेरन्**=ब्रह्मा के भी आदिकर्त्ता और सबसे बडे ( श्रेष्ठ ) आपके लिए कैसे नमस्कार न करें, **अनन्त देवेश जगन्निवास**=हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास, **यत् सत् असत् तत्पर अक्षर ( तत् ) त्वं**=जो सत् असत् ( और ) उनसे परे अक्षर ( सच्चिदानन्द ब्रह्म ) है ( वह ) आप ( ही हैं )।

**वचनामृत :** हे महात्मन्, ब्रह्मा के भी आदि-कर्ता और सबसे बडे ( श्रेष्ठ ) आपके लिए सब क्यो नमस्कार न करे, क्योकि हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास ( जगत् के आश्रय ), जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर ( सच्चिदानन्द ब्रह्म ) है, वह आप ही हैं।

**सन्दर्भ** विश्वरूप की भावपूर्ण स्तुति है।

**रसामृत :** अर्जुन ने भगवान् की महिमा को न केवल देख लिया तथा जान लिया, बल्कि मन मे मान भी लिया। अतएव वह कहता है कि सृष्टि के रचयिता परमेश्वर को सब सिद्धगण क्यो नमस्कार न करे ? यदि कोई मनुष्य, जो भगवान् की महिमा को जान गया है, श्रद्धाभक्तिपूर्वक भगवान् को प्रणाम करता है, तो इसमे आश्चर्य क्या है ? भगवान् से बढकर बड़ा कौन है ? मूढ-जन अज्ञान एव स्वार्थ के कारण मनुष्यो को ही भग-वान् की भाँति पूजते हैं। परमेश्वर इस जगत् का परमाधार है। वह अन्तरहित है, देवो का देव है तथा जगत् उसीमे स्थित है। वह जगत् का आश्रय है। परमात्मा ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। सत् अर्थात् नित्य एव शाश्वत तथा असत् अर्थात् अनित्य एव नश्वर से भी परे शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा ही परम-अक्षर है। परमात्मा सत् और असत् दोनो है अर्थात् दोनो का आधार है तथा पारमार्थिक ( तात्त्विक ) दृष्टि से वह उन दोनो से भी परे है।[1] परमात्मा की श्रेष्ठता मन मे दृढ होने पर मनुष्य भौतिक प्रलोभनो से मुक्त होकर उसकी प्राप्ति के लिए यत्नशील हो जाता है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

**शब्दार्थ :** **त्वं आदिदेवः पुराण पुरुषः त्व अस्य विश्वस्य परं निधानं च वेत्ता ( च ) वेद्यं**=आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत् के परम आश्रय हैं और जाननेवाले तथा जानने योग्य है, **च परं धाम असि**=और परम धाम हैं, **अनन्तरूप त्वया विश्वं ततं**=हे अनन्तरूप, आपसे जगत् व्याप्त है।

**वचनामृत** आप आदिदेव और सनातन पुरुष है, आप इस जगत् के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जानने योग्य है और आप परम धाम है। हे अनन्तरूप, आपसे यह जगत् व्याप्त ( परिपूर्ण ) है।

**सन्दर्भ** विश्वरूप की स्तुति है।

**रसामृत** अर्जुन भावविभोर होकर विश्वरूप की स्तुति करता है तथा स्तुति मे पूर्णत तल्लीन है। अर्जुन की जिज्ञासा अब शान्त है तथा उसके विस्मय, आतक और हर्ष हृदय के उद्गारो के रूप मे प्रस्फुटित हो जाते हैं। उसने जो कुछ श्रवण कर रखा था, वह सब अनुभव द्वारा प्रमाणित हो गया। अतएव उसकी स्तुति मे यथार्थता है तथा पवित्र भाव है। उसने जान लिया कि भगवान् श्रीकृष्ण आदिदेव और सनातन पुरुष अर्थात् प्रकृति का विलयस्थान चिरन्तन परमब्रह्म हैं। भगवान् ही जगत् के परम आश्रय है। जगत् परमेश्वर से प्रकट होकर परमेश्वर मे ही स्थित रहता है और परमे-श्वर मे ही लीन हो जाता है। परमेश्वर ही जगत् का यथार्थ का एकमात्र ज्ञाता है तथा परमेश्वर ही

---

१ श्रीधर तथा शङ्करानन्द सत् का अर्थ व्यक्त ( कार्यजगत् ) तथा असत् का अर्थ अव्यक्त ( जगत् का कारण ) करते हैं। सत् ( दिखाई देनेवाला व्यक्त ), असत् ( न दीखनेवाला अव्यक्त ) से परे अर्थात् कार्य और कारण से परे परमात्मा है।

परम ज्ञेय अथवा सर्वोच्च सत्य है। परमेश्वर जीव का परम प्राप्य, परमपद, मोक्षधाम अथवा परमधाम है। वही एक परम-सत्[1] है। परमेश्वर अनादि और अनन्त है, जगत् उसीसे परिपूर्ण है। वही इस जगत् का धारक है। परमेश्वर देश-काल से परिच्छिन्न ( सीमित ) नही है। अनन्त होने से वह अनन्तरूप है।

> **वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः**
> **प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।**
> **नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः**
> **पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥**
> **नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते**
> **नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।**
> **अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्व**
> **सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व.॥४०॥**

**शब्दार्थ** त्व वायु. यम अग्नि वरुण. शशाङ्कः प्रजापति. च प्रपितामह ( असि )=आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति ( ब्रह्मा ) और प्रजापति के भी पिता हैं, ते सहस्रकृत्व नम नम अस्तु=आपके लिए सहस्र वार नमस्कार, नमस्कार हो, ते भूय· अपि पुन च नम. नम =आपके लिए फिर भी वार-वार नमस्कार, नमस्कार। अनन्तवीर्य=हे अनन्तशक्तिसम्पन्न, ते पुरस्तात् अथ पृष्ठत नम =आपको सामने से और पीछे से नमस्कार, सर्व ते सर्वत एव नम अस्तु=हे सर्वात्मा, आपके लिए सब ओर से ही नमस्कार हो, अमितविक्रम त्व सर्वं समाप्नोषि=अनन्त पराक्रमी, आप सारे ( जगत् ) को व्याप्त किये हुए हैं, तत. सर्वं असि=इसीसे ( आप ) सर्वरूप हैं।

**वचनामृत :** आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। आपके लिए फिर भी वार-वार नमस्कार, नमस्कार। हे अनन्तसामर्थ्यवान्, आपके लिए सब ओर से ही नमस्कार हो। अनन्तपराक्रमसम्पन्न, आप सारे जगत् को व्याप्त किये हुए हैं, अतएव आप ही सर्वरूप हैं।

सन्दर्भ ' अत्यन्त भावपूर्ण स्तुति है।

**रसामृत :** अर्जुन के मन मे विश्वरूप-दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा देखकर तथा उसकी प्रार्थना सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्यदृष्टि दे दी तथा उसे विराट् रूप दिखा दिया। प्रारम्भ मे वह विराट् भगवान् के सुन्दर एव सौम्यरूप को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ, किन्तु उसकी अनन्तता और प्रचण्ड रूप को देखकर भयभीत हो गया। विस्मय, भय और आतक से अभिभूत होकर उसने भगवान् की स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया और किसी प्रकार साहस एकत्र करके उग्ररूप धारण करने का कारण पूछ लिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे मार्मिक शब्दो मे विजय का आश्वासन देकर युद्ध के लिए खड़े हो जाने का आदेश दिया, किन्तु वह इतना भयाक्रान्त था कि उसने वारम्वार प्रणाम करके पुन स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया। भावावेश के कारण अर्जुन के पास शब्दो का नितान्त अभाव था। अत वह अपनी स्तुति मे गुणो तथा गुणवाचक शब्दो की पुनरावृत्ति करने लगा, किन्तु शीघ्र ही अत्यन्त व्यथित, व्याकुल और अधीर होकर बोला, 'हे भगवन्, आप ही जीवनदाता वायु हैं, आप ही मृत्युदाता यम हैं, आप ही अग्नि हैं, आप ही जल हैं, आप ही चन्द्र आदि ग्रह और नक्षत्र है, आप ही प्रजापति ब्रह्मा हैं और उसके भी पिता हैं। आप ही तो सब रूपो मे तथा सव-कुछ हैं। हे प्रभो, आपको हजार वार प्रणाम हो, प्रणाम हो। हे भगवन्, आपको फिर भी बारम्बार प्रणाम, प्रणाम। हे अनन्तसामर्थ्यशाली, आपके लिए सामने से भी प्रणाम, पीछे से भी प्रणाम, सब ओर से प्रणाम। सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करनेवाले आप ही सब-कुछ हैं, सर्वरूप हैं, आपको प्रणाम हो।" अर्जुन भगवान् को ऊपर, नीचे, आगे, पीछे सर्वत्र देख रहा था। उत्तरोत्तर भावावेश की चरमसीमा आने पर अर्जुन भगवान् से

---

[1] वेदान्त की दृष्टि मे परमात्मा अधिष्ठानसत्ता है तथा जगद्रूप कल्पना में अधिष्ठित है।

स्तुति भी निवेदित नही कर सका और केवल 'प्रणाम-प्रणाम' ही रटने लगा। अर्जुन बार-बार प्रणाम कहकर भी तृप्त नही हो रहा था। उसके चिन्तन की गति अवरुद्ध हो गयी थी। अर्जुन के महाभाव की पराकाष्ठा का कैसा अद्भुत चित्रण है! महाभाव की अवस्था मे भगवान् और भक्त एक हो जाते हैं। धन्य हैं वे लोग, जिन्हे एक क्षण के लिए भी दिव्य महाभाव की आनन्द-अवस्था प्राप्त होती है।

**सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं**
**हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।**
**अजानता महिमानं तवेदं**
**मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥**
**यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि**
**विहारशय्यासनभोजनेषु।**
**एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्ष**
**तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥**

**शब्दार्थ** : सखा इति मत्वा तव इदं महिमानं अजानता मया='सखा' ऐसा मानकर आपके इस प्रभाव को न जानते हुए मेरे द्वारा, प्रणयेन वा प्रमादात् अपि= प्रेम से अथवा प्रमाद ( लापरवाही ) से भी, हे कृष्ण हे यादव हे सखे इति=हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे, इस प्रकार, यत् प्रसभ उक्तं=जो प्रसभ ( हठपूर्वक ) कहा गया है। च अच्युत, यत् अवहासार्थं=और हे अच्युत, जो उपहास के लिए, विहारशय्यासनभोजनेषु=विहार, शय्या, आसन और भोजनादि मे, एक अथवा तत्समक्षं अपि= एकाकी अथवा उन ( अन्यजन ) के सम्मुख भी, असत्कृत असि=आप तिरस्कृत किये गये हैं, तत् अप्रमेय त्वां अहं क्षामये=उन सबको अप्रमेयरूप ( अचिन्त्यरूप ) आपसे क्षमा-याचना करता हूँ।

**वचनामृत** : आप मेरे सखा हैं, ऐसा मानकर तथा आपकी इस महिमा को न जानते हुए मेरे द्वारा प्रेम से अथवा प्रमाद से 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा' ऐसा हठपूर्वक कहा गया है, और हे अच्युत, आप जो विनोद के लिए, विहार, शयन, बैठने और भोजनादि मे अकेले अथवा अन्यजन के सम्मुख भी तिरस्कृत किये गये है, उस सब अपराध को अचिन्त्यरूप आपसे मैं क्षमा माँगता हूँ।

**सन्दर्भ** : भगवान् की महिमा देखकर अर्जुन क्षमा-याचना करता है।

**रसामृत** : विश्वरूप-दर्शन द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा को प्रत्यक्ष देखकर अर्जुन का सारा अहकार विगलित हो गया। उसने भगवान् के अतुलनीय व अद्भुत ऐश्वर्य एव प्रभाव का साक्षात् अनुभव कर लिया और उसे अपनी क्षुद्रता का स्मरण होने लगा। उसे अपने पूर्वकालिक व्यवहार की धृष्टता का भी स्मरण आने लगा तथा वह अत्यन्त लज्जित होकर पश्चात्ताप एव आत्मग्लानि का भीषण अनुभव करने लगा। उसके मन मे अपराधभाव जाग गया तथा वह अश्रुविमोचन करते हुए गद्गद वाणी से क्षमा-याचना करने लगा। भगवान् की प्राप्ति के मार्ग मे मनुष्य का अहकार ही सर्वाधिक बाधक होता है। परमेश्वर की अनन्त सामर्थ्य और असीम महिमा की गहन अनुभूति होने पर मनुष्य का अहकार विगलित हो जाता है तथा वह परमेश्वर की समीपता का अनुभव करने लगता है। अहकार से मुक्त मन निर्मल हो जाता है तथा उसमे अनायास ही दिव्यत्व का आलोक प्रकट हो जाता है। भगवान् की महिमा की गहन अनुभूति होने पर मनुष्य श्रद्धाभक्तिसहित भगवान् को प्रणाम करने लगता है तथा अपने अपराधो की क्षमा माँगने लगता है। ऐसी ही उच्च अवस्था को प्राप्त होकर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को बारम्बार प्रणाम करते हुए क्षमा माँगने लगा।[1]

अति परिचय से अवज्ञा हो जाती है[2] और मनुष्य दोष-दर्शन करना प्रारम्भ कर देते हैं। परस्पर आदर-सत्कार का भाव समाप्त हो जाने

---

१. सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता की टीका के रूप मे अद्भुत काव्य-सर्जन किया है। उनकी इस अध्याय की टीका अद्वितीय है। उसका रस-प्रवाह विलक्षण है।

२. अतिपरिचयादवज्ञा।

पर प्रेम का स्थान घृणा ले लेती है और मधुर सम्बन्ध भी कटु हो जाते है। विवेकशील, मनुष्य घनिष्ठ होकर भी उचित अन्तर बनाये रखते हैं। किसी वस्तु को ठीक प्रकार से देखने के लिए उसे नेत्रो से एक विशेष अन्तर पर ही रखना पडता है। नेत्रो के अति समीप अथवा अतिदूर होने पर वस्तु का सम्यक् दर्शन नही होता। किसी मनुष्य को अति समीप तथा अतिदूर रखने से उसका उचित मूल्याकन नही हो पाता तथा भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। अति परिचय से अवज्ञा होने पर मनुष्य अपना महत्त्व ही खो बैठता है जो अत्यन्त दु खप्रद होता है। केवल सर्वसमर्थ, भक्तवत्सल भगवान् से ही घनिष्ठ होने का प्रयत्न निरन्तर करते रहना उचित है। अन्तर्यामी भगवान् भाव को जानते हैं और सच्चे प्रेम का सुफल प्रदान करते हैं। जीव के लिए भगवान् ही परम उपास्य, परम प्राप्य तथा परम धाम है।

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से जो कुछ प्रेम, प्रमाद और विनोद के कारण अवज्ञापूर्ण अपशब्द कहे थे, उनका स्मरण करके उसके मन मे ग्लानि उत्पन्न हुई। प्रमाद और विनोद मे तो धृष्टता करना असहनीय होता ही है, प्रेम मे भी धृष्ट होना कटुता उत्पन्न कर देता है। प्रेम, प्रमाद अथवा विनोद मे मर्यादा भग करना अन्त मे कष्ट-कारक सिद्ध होता है।

अर्जुन ने कहा—"हे प्रभो, मैं आपकी महिमा न जानने के कारण आपको 'अरे कृष्ण, अरे यादव, अरे सखा' कहकर पुकार लेता था। प्रेम मे, प्रमाद मे अथवा हास-परिहास मे मैंने आहार, विहार, शयन आदि के समय, अकेले अथवा अन्यजनो के सामने जो कुछ आपके साथ धृष्टता की, मैं उसके लिए लज्जित हूँ तथा क्षमा माँगता हूँ। हे भक्तवत्सल श्रीकृष्ण, मुझे क्षमा करो। आप अच्युत हैं तथा कभी मर्यादा से नीचे नही गिरते। मेरे जाने और अनजाने अपराधो को क्षमा कीजिये।"

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक. कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय काय
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रिय. प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

**शब्दार्थ :** त्वं अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता च गरीयान् गुरु पूज्य असि=आप इस चराचर लोक के पिता और गुरु से भी बड़े गुरु पूज्य हैं, अप्रतिमप्रभाव=हे अतुलनीय प्रभाववाले, लोकत्रये त्वत्सम अपि अन्य न अस्ति=तीनो लोको मे आपके सदृश भी अन्य नहीं है, अभ्यधिक. कुत =अधिक कैसे हो? तस्मात्=इससे अर्थात् अतएव, अह काय प्रणिधाय प्रणम्य ईड्य त्वा ईश प्रसादये=मैं शरीर को अच्छी प्रकार (आपके चरणो मे) रखकर प्रणाम करके स्तुति के योग्य आप ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करता हूँ, देव=हे देव, पिता इव पुत्रस्य सखा इव सख्यु प्रिय (इव) प्रियाया सोढु अर्हसि=पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के, प्रिय पति जैसे प्रिया पत्नी के[1] (उसी प्रकार आप मेरे) अपराध को सहन करने के लिए योग्य हैं।

**वचनामृत :** आप इस चराचर जगत् के पिता और महान् गुरु एव पूज्य हैं, हे अतुलनीय प्रभाव-वाले, तीनो लोको मे आपके सदृश भी अन्य कोई नही है, अधिक तो कैसे हो सकता है? अतएव, मैं शरीर को भली प्रकार (आपके चरणो मे) रख-कर, प्रणाम करके स्तुति करने योग्य ईश्वररूप आपके प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करता हूँ। हे

---

१ महात्मा तिलक 'प्रिय प्रियाय अर्हसि' प्रिय मनुष्य अपने प्रिय मनुष्य को क्षमा कर देता है—ऐसा अर्थ करते हैं तथा इसमे विभक्ति-दोष हो जाने को गौण मानते हैं।

देव, पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के और पति जैसे प्रिय पत्नी के अपराध सहन एवं क्षमा करते हैं, वैसे ही आप भी मेरे अपराध को सहन करने के योग्य हैं।

**सन्दर्भ :** अर्जुन क्षमा के लिए प्रार्थना करता है। भक्तजन इन दो श्लोको को अपराध-क्षमा के लिए मत्र मानते हैं।

**रसामृत :** सात्त्विक पुरुष ही अपराधो को अनुचित मानकर उनके कलुष से मुक्त होना चाहता है। अपराध होने पर अपराध-भावना के कारण किसी मनुष्य मे आन्तरिक व्याकुलता उत्पन्न होना यह प्रमाणित करता है कि वह वास्तव मे अत्यन्त सात्त्विक है तथा उसने किसी कारणवश अपराध किया है तो भी वह उससे खिन्न है। अपने अपराध के लिए किसी मनुष्य से अथवा परमेश्वर से क्षमा-याचना करना सात्त्विक साहस है। परम पवित्र एव पावन परमात्मा की सच्ची प्रार्थना मनुष्य को पापमुक्त एव पवित्र कर देती है तथा उसका मन निष्कलुष हो जाता है। हृदय की पवित्रता मनुष्य को परमात्मा के समीप स्थित कर देती है। परमात्मा जगत्पिता एव जगद्गुरु है। वह अन्तर्यामी होकर प्रत्येक मनुष्य के मन मे पवित्र प्रेरणा देता है तथा अन्तरात्मा की ध्वनि के रूप मे अपनी वाणी सुना देता है। यद्यपि सन्तजन एव सद्गुरु मनुष्यो का पथ-प्रदर्शन करते है तथा परमात्मा का ज्ञान सुलभ करा देते हैं। वास्तव मे अन्तर्यामी परमात्मा स्वय ही श्रेष्ठ गुरु तथा परमपूज्य होता है।[1] परमात्मा की महिमा अनुपम है। उसके सदृश कोई नही। जब उसके सदृश ही कोई नही है तो उससे बढकर कौन हो सकता है ? वह अप्रतिम एव अद्वितीय है।[1] उसके समान तो वह स्वय ही है।

परम सात्त्विक एव परम ऋजु ( सरलचित्त ) अर्जुन ने प्रार्थना करते हुए कहा—हे प्रभो, आप सारे जगत् के पिता और पूज्य हैं तथा आपकी महिमा अतुलनीय है। अतएव मैं आपको सभक्ति प्रणाम करता हूँ। आप स्तुति के योग्य हैं। मैं आपकी प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे अपराधो को ऐसे ही सहन कर ले, जैसे एक उत्तम पिता पुत्र के, उत्तम मित्र मित्र के तथा उत्तम पति प्रियतमा पत्नी के अपराधो को सहज भाव से सहन कर लेता है तथा सहर्ष क्षमा कर देता है। हे प्रभो, आपसे बढकर प्रेमी, सहिष्णु तथा क्षमाशील अन्य कोई नही है।

ऐसी भावपूर्ण प्रार्थना मन को निर्मल कर देती है।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त
मिच्छामित्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

**शब्दार्थ :** अदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा हृषितः अस्मि=पहले न देखे हुए आपके इस विराट् रूप को देखकर मैं हर्षित हूँ, च मे मन. भयेन प्रव्यथितं=और मेरा मन भय से व्याकुल है, देव=हे देव, तत् रूपं एव मे दर्शय=उसी देवरूप को मुझे दिखाइये, देवेश जगन्निवास प्रसीद=हे देवेश, हे जगन्निवास, प्रसन्न हो जाइये। अहं तथा एव त्वा किरीटिन गदिनं चक्रहस्तं द्रष्टुं इच्छामि=मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए, गदा धारण किये हुए और चक्र हाथ में लिये हुए देखना चाहता हूँ; विश्वमूर्ते=हे विश्वमूर्ति अथवा विश्वस्वरूप, सहस्रबाहो

१ भगवान् को प्राप्त होनेवाला उत्तम पुरुष अलौकिक शक्ति-सम्पन्न हो जाने के कारण सुपूज्य होता है तथा सद्गुरु के रूप मे कल्याण करने मे समर्थ होता है। साधना-सिद्ध पुरुष अग्निप्रक्षिप्त इंधन की भाँति परमात्मा के साथ तद्रूप होकर तत्तुल्य हो जाता है, किन्तु ऐसा भगवत्स्वरूप व्यक्ति दुर्लभ होता है।

१. एकमेवाद्वितीयम्।

=हे सहस्रबाहुवाले, तेन एव चतुर्भुज रूपेण भव= उस ही चतुर्भुजरूप से ( युक्त ) हो जाइये।

**वचनामृत :** कभी पहले न देखे हुए आपके इस विश्वरूप को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ, किन्तु मेरा मन भय से बहुत व्यथित भी हो रहा है। आप मुझे अपने उस ( अर्थात् प्रसिद्ध विष्णुरूप, चतुर्भुजरूप ) देवरूप को दिखा दे। हे देवेश, हे जगन्निवास प्रसन्न हो जाइये। मैं आपको वैसे ही मुकुट धारण किये हुए, गदा और चक्र हाथ मे लिये हुए देखना चाहता हूँ। हे विश्वमूर्ते, विश्व-स्वरूप, हे सहस्रबाहो, आप उसी ( प्रसिद्ध ) चतुर्भुजरूप मे प्रकट हो जाइये।[1]

**सन्दर्भ :** अर्जुन चतुर्भुजरूप के दर्शन के लिए प्रार्थना करता है।

**रसामृत :** अर्जुन ने अपने जीवन मे पहले कभी न देखे हुए विश्वरूप का दर्शन करने पर भगवान् कृष्ण का परम अनुग्रह तो माना और इस असाधारण सौभाग्य पर विशेष हर्ष का अनुभव भी किया, किन्तु उसने यह भी अनुभव किया कि वह इसके योग्य नही है तथा उसे सहन नही कर सकता है। उसमे ज्ञानीजन की-सी सर्वत्र परमात्म-दृष्टि का उदय नही हुआ था, अभी केवल एक सात्त्विक जिज्ञासु ही था। वह भगवान् के मायोपाधिक ( मायाशक्ति-सहित ) विराट्रूप को देखकर भय से प्रकम्पित हो रहा था। वह विश्वरूप की अनन्तता तथा विकरालता देखकर भ्रान्त, भयभीत, विस्मित और आतंकित था। वह प्रचड एव उग्र महाकालस्वरूप विश्वरूप भगवान् को बार-बार प्रणाम करके अपने पूर्वकृत अपराधो के लिए क्षमा माँगने लगा। भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा युद्ध मे विजय आदि का आश्वासन प्राप्त होने पर भी उसकी व्याकुलता मिट न सकी। अतएव उसने स्तुति करते हुए भगवान् से उसी पुरातन चतुर्भुजी[1] चिन्मय एव सौम्य विष्णुरूप मे प्रकट होने की

---

१ कुछ विद्वानो का मत है कि अर्जुन श्रीकृष्ण के सौम्य द्विभुजरूप को ही देखना चाहता था, किन्तु 'तत्' ( परोक्षवाचक ) तथा 'देवरूप' कहने से स्पष्ट है कि अर्जुन उन्हें पुरातन, पुराणप्रसिद्ध सौम्य विष्णुरूप मे देखना चाहता था, जो उसे प्रिय था तथा जिसका वह ध्यान किया करता था। विश्वरूप में भी अर्जुन ने उसकी एक झलक ( ११ १७ ) देखी थी। पचासवें श्लोक से स्पष्ट होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने विराट्रूप समेटकर विष्णुरूप धारण किया और फिर द्विभुज कृष्णरूप में ही सामने आ गये।

१ निर्गुण-निराकार सत् चित् आनन्दस्वरूप निरुपाधि ( मायोपाधिरहित ) परमब्रह्म परमात्मा ही सोपाधिक ( मायाशक्ति-सहित ) परमेश्वर के रूप में सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसी परमेश्वर के तीन पक्ष अथवा रूप हैं। इनमे ज्ञानस्वरूप ब्रह्मा को भी विष्णु के नाभि-कमल से उत्पन्न कहा गया है। विष्णु के उपासक विष्णु को पूर्ण परमेश्वर मानते हैं, राम और कृष्ण उसीके अवतार माने गये हैं। वैष्णव भक्तों ने राम तथा कृष्ण की उपासना साक्षात् परमेश्वर के रूप मे की है। 'विधि हरि शभु नचावन हारे।' इसी प्रकार शैव भक्तों ने शिव की तथा शाक्त भक्तो ने शक्ति ( दुर्गा ) की उपासना पूर्ण परमेश्वर के रूप मे की है। इसमे विवाद करना उचित नहीं है। अपनी रुचि के अनुसार परमेश्वर की पूजा करना नितान्त उचित है। भगवान् एक है। 'एक सद् विप्रा· बहुधा वदन्ति' ( वेद ) अर्थात् एक ही परमेश्वर को विद्वान् अनेक प्रकार से मानते हैं। विष्णु का अर्थ व्यापक भगवान् है। विष्णु अथवा नारायण के चतुर्भुजी रूप में शख, चक्र, गदा और पद्म की कल्पना की गयी है। यह भगवान् की सरल तथा सुलभ प्रतीकोपासना है। भगवान् की उपासना के लिए कुछ कल्पना करना आवश्यक होता है। मन्दिरो मे मूर्तियाँ भी परमेश्वर की प्रतीक, सकेत अथवा माध्यम ही हैं। वेदान्ती कहते हैं कि अन्तःकरण भी विष्णु है तथा अन्त करण के चार अग ( मन, बुद्धि, चित्त, अहकार ) चार भुजाएँ हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को तथा आश्वासन, आशीर्वाद, आदेश और आश्रय को

प्रार्थना की, जिसका वह ध्यान किया करता था। भगवान् विष्णु का चतुर्भुज, सौम्य और सुन्दर नारायणरूप अत्यन्त प्रसिद्ध है तथा भक्तजन उसकी ध्यानोपासना करते हैं। व्याकुल अर्जुन भगवान् के सौम्य विष्णुरूप-दर्शन के लिए उत्कण्ठित हो गया।

श्रीभगवानुवाच

**मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं**
**रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।**
**तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं**
**यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥**
**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-**
**र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।**
**एवंरूपः शक्य अहं नृलोके**
**द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥**
**मा ते व्यथा मा च विमूढभावो**
**दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।**
**व्यपेतभी प्रीतमनाः पुनस्त्वं**
**तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच = श्री भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **अर्जुन** = हे अर्जुन, **प्रसन्नेन मया आत्मयोगात् इदं मे परं तेजोमयं आद्यं अनन्तं विश्व रूपं तव दर्शितं** = प्रसन्न हुए (प्रसादयुक्त अथवा अनुग्रहपूर्ण होने पर) मेरे द्वारा अपनी योगशक्ति से यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और अनन्त विश्वरूप (विराट्‌रूप) तुझे दिखाया गया है, **यत् त्वद् अन्येन न दृष्टपूर्वं** = जो तेरे अतिरिक्त अन्य द्वारा पहले नही देखा गया। **कुरुप्रवीर** = हे समस्त कौरवो और पाण्डवो मे श्रेष्ठ अर्जुन, **नृलोके एवंरूपः अहं न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानै** = मनुष्य-लोक मे ऐसा विश्वरूपवाला मै न वेद और यज्ञो के अध्ययन से, न दानो से, **न क्रियाभि** = न क्रियाओ से, **च न उग्रैः तपोभिः** = और न उग्र तपो से, **त्वद् अन्येन द्रष्टुं शक्यः** = तेरे अतिरिक्त दूसरे से देखा जाने योग्य नही हूँ। **ईदृक् मम इदं घोरं रूपं दृष्ट्वा ते व्यथा मा च विमूढभावः मा** = इस प्रकार का मेरा यह घोर रूप देखकर तुझे व्यथा न हो और मूढभाव (भी) न हो, **व्यपेतभीः प्रीतमनाः त्वं तत् एव मे इदं रूपं पुन प्रपश्य** = निर्भय और प्रेमयुक्त मनवाला तू उस ही मेरे इस रूप को पुन देख।

**वचनामृत** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन, मैंने प्रसन्न होकर (अनुग्रह करके) अपनी योगशक्ति से यह अपना तेजोमय, आद्य और अनन्त विश्वरूप तुझे दिखाया है, जो तेरे अतिरिक्त अन्य द्वारा पहले नही देखा गया। हे अर्जुन, मनुष्य-लोक मे ऐसा विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञो के अध्ययन से, न दान से, न क्रियाओ से और न उग्र तपो से ही तेरे अतिरिक्त दूसरे के द्वारा देखा जा सकता हूँ। मेरे ऐसे विकराल रूप को देखकर तुझे व्याकुलता नही होनी चाहिए और न मूढभाव ही होना चाहिए। निर्भय और प्रेमयुक्त मनवाला तू उसी मेरे चतुर्भुजरूप को पुनः देख।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण अर्जुन से चतुर्भुजरूप देखने के लिए कहते हैं।

**रसामृत :** अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से विराट्‌रूप दिखाने के लिए आग्रहपूर्ण प्रार्थना की, किन्तु वह विश्वरूप-दर्शन को सहन न कर सका और इतना व्याकुल हो गया कि उसने भगवान् से उस अनन्त एव विकराल रूप को समेट लेने की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने उस रूप को समेटने से पूर्व अर्जुन से कहा—"हे अर्जुन, विश्वरूप तो अत्यन्त उत्कृष्ट है तथा परम तेजोमय, दिव्य, अनन्त और अद्‌भुत है। दृश्यमान बाह्य जगत् इस विराट्‌रूप का अशमात्र है। इस प्रकार का विश्वरूप मैंने अत्यन्त प्रसन्नता-

---

भी चार भुजाएँ कहा गया है। अन्तरात्मा की ध्वनि, गतिशीलता, दमनशक्ति, पवित्रता एव तटस्थता को भी शख, चक्र, गदा और कमल का प्रतीक कहा जा सकता है। ये स्वरूप भक्तिप्रेरक तथा सार्थक हैं। कुछ विद्वानो की दृष्टि मे राम तथा कृष्ण की ऐतिहासिकता विवादास्पद हो सकती है, किन्तु यह निर्विवाद तथ्य है कि कोटि-कोटि जन उन्हें परमेश्वर मानकर न केवल सुख-शान्ति प्राप्त करते हैं, वल्कि जीवन की परमोच्च अवस्था को भी प्राप्त करते हैं।

पूर्वक केवल तुझे ही दिखाया है।"[1] इस दर्शन से व्याकुल होना अर्जुन की अपरिपक्वता का सूचक है। वास्तव मे, अर्जुन के लिए यह भगवान् की योगशक्ति अथवा मायाशक्ति को देखने तथा भगवान् की महिमा को समझने का एक उत्तम अवसर था। भगवान् श्रीकृष्ण ने यह स्पष्ट कर दिया कि मात्र वेदमत्रो के रटने से, यज्ञ करने से, अनेक क्रियाएँ ( वेदविहित श्रौत तथा शास्त्रविहित स्मार्त अग्निहोत्रादि कर्मकाण्ड की क्रियाएँ ) करने से और उग्र तप करने से यह विश्वरूप-दर्शन सम्भव नही है।[2] भगवान् का यह प्रसाद अर्थात् अनुग्रह ज्ञान अथवा भक्ति की प्रगाढ़ता से प्राप्त होता है। अर्जुन का ज्ञान अथवा भक्ति दृढ नही थे, यद्यपि उसका श्रीकृष्ण के साथ सखाभाव था। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति द्वारा अहकार-निरसन अधिक सहज हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण वेद और यज्ञविधि के अध्ययन, श्रौत और स्मार्त क्रियाओ ( श्रुति तथा स्मृति के अनुसार कर्मकाण्ड की क्रियाओ ), दान तथा तप की निन्दा अथवा अवहेलना नही कर रहे हैं, क्योकि आध्यात्मिक साधना मे इन साधनो का अत्यधिक महत्व है। श्रीकृष्ण इस तथ्य पर बल दे रहे हैं कि विराट्रूप-दर्शन जैसे विलक्षण अनुभव भगवान् की कृपा अथवा प्रसाद ( प्रसन्नता ) से ही सभव है, केवल तप, दान आदि से नही। अहकारशून्य भक्त भगवत्कृपा का सच्चा अधिकारी है। भगवान् का अनुग्रह अनन्य भक्ति से सुलभ हो जाता है।

अर्जुन के निवेदन पर अपने विराट्रूप का उपसहार करते हुए श्रीकृष्ण ने उससे कहा—हे अर्जुन, इस विकराल रूप से भी भयभीत और व्याकुल होना उचित नहीं है। यह तो तेरा सौभाग्य है कि तुझे यह दर्शन सम्भव हो सका। तुझे व्यामोह, विमूढता अथवा भ्रान्ति भी नही होनी चाहिए।

हे अर्जुन, अब तू भय को त्याग दे तथा प्रेमपूर्वक उसी सौम्य और सुन्दर चतुर्भुज नारायणीय रूप का दर्शन कर, जो तेरे ध्यान का ध्येय है तथा जिसकी छवि तू विश्वरूप मे देख चुका है।[1]

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुन वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वक रूप दर्शयामास भूय।
आश्वासयामास च भीतमेन
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

**शब्दार्थ :** सञ्जय उवाच=सञ्जय ने कहा, वासुदेव अर्जुनं इति उक्त्वा भूय. तथा स्वक रूप दर्शयामास=वासुदेव श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह कहकर फिर वैसे ही अपने ( चतुर्भुज ) रूप को दिखा दिया, च पुन· महात्मा सौम्यवपु भूत्वा=और फिर महात्मा कृष्ण सौम्यमूर्ति होकर, एनं भीत आश्वासयामास=ने इस भयभीत अर्जुन को आश्वासन ( धैर्य ) दिया।

---

१ श्रीकृष्ण ने दुर्योधन की सभा में भीष्मादि को विराट्रूप की मात्र एक झलक दिखाई थी तथा बाल्यकाल मे माता यशोदा को मुख खोलकर भी विराट्रूप का आशिक दर्शन कराया था। किन्तु विराटरूप दर्शन की ऐसी अनन्तता का आभास केवल अर्जुन को ही हुआ।

२ भगवान् श्रीकृष्ण ने वेदादि, स्वाध्याय, यज्ञ, दान तथा तप का स्वरूप सत्रहवें अध्याय मे बताया है। अग्निहोत्रादि के अतिरिक्त सेवा, परोपकार आदि यज्ञ के अन्तर्गत आते हैं। धन, विद्या, अन्न, औषधि आदि का दान करना तथा चान्द्रायणव्रत, पचाग्नितप इत्यादि उग्रतप आध्यात्मिक साधन हैं। दान का उद्देश्य त्याग एव वैराग्य का अभ्यास करना है।

१ इसी अध्याय के श्लोक १७ मे अर्जुन को विश्वरूप के अन्तर्गत विष्णु का दर्शन हुआ था। कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विश्वरूप के पश्चात् अपना द्विभुजरूप दिखाया। किन्तु अर्जुन ने सौम्य चतुर्भुजरूप के दर्शन की प्रार्थना की थी, अतएव विश्वरूप का उपसहार करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे वही चतुर्भुजरूप दिखा दिया, जिसे उन्होने अपने जन्म के समय वसुदेव-देवकी को दिखाया था तथा इसके तुरन्त पश्चात् श्रीकृष्ण ने सौम्य द्विभुजरूप ही धारण कर लिया।

**वचनामृत** सञ्जय ने कहा—वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुजरूप को दिखा दिया और फिर महात्मा श्रीकृष्ण ने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुन को धैर्य दिया।

**सन्दर्भ** सञ्जय दृश्य-परिवर्तन की चर्चा करते हैं।

**रसामृत** हस्तिनापुर मे बैठे हुए सञ्जय ने धृतराष्ट्र को बताया कि अर्जुन की प्रार्थना सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे उसके ध्यानध्येय दिव्य चतुर्भुज वासुदेवरूप का दर्शन करा दिया। यह उनका अपना रूप था, क्योकि उन्होने जन्मकाल पर वसुदेव-देवकी को भी यही रूप दिखाया था। चतुर्भुज वासुदेवरूप श्रीकृष्ण-अवतार का आद्यरूप है। इस चतुर्भुजरूप का दर्शन देने के पश्चात् श्रीकृष्ण पुन परमशान्त, सौम्य और मधुर स्वाभाविक द्विभुज मनुष्यरूप मे प्रकट हो गये, जिससे अर्जुन सुपरिचित था और वे व्याकुल अर्जुन को धैर्य देने लगे। विश्वरूप तथा चतुर्भुजरूप का सवरण करके भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के सामने उसके सखा श्यामसुन्दर के रूप मे प्रस्तुत हो गये।

अर्जुन उवाच

**दृष्ट्वेदं मानषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।**
**इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच = अर्जुन ने कहा, जनार्दन = हे भक्तजन की पीडा का अर्दन करनेवाले, दुःख दूर करनेवाले श्रीकृष्ण, तव इदं सौम्यं मानुषं रूप दृष्ट्वा = तेरे इस सौम्य मानुषरूप को देखकर, इदानीं सचेता. सवृत्त. प्रकृतिं गत अस्मि = अब प्रसन्नचित्त होकर अपनी प्रकृति (स्वाभाविक अवस्था) को प्राप्त हो गया हूँ।

**वचनामृत** अर्जुन ने कहा—हे जनार्दन, आपके इस सौम्य मानुषरूप को देखकर अब मैं सचेत होकर अपनी स्वाभाविक स्वस्थ अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ।

**सन्दर्भ** अर्जुन अपनी पूर्व मानसिक स्थिति मे आ गया है।

**रसामृत** अर्जुन विराट्रूप को देखकर भयभीत और अचेत-सा हो गया था। ज्ञान के अभाव के कारण वह विश्वरूप-दर्शन के लिए उचित पात्र नही था। उसका मन स्थिर नही रह सका, चतुर्भुज वासुदेवरूप भी उसे प्रिय तो लगा, किन्तु उससे भी उसे शान्ति प्राप्त न हो सकी। अन्त मे भगवान् श्रीकृष्ण के द्विभुज सौम्य मानुषरूप मे प्रकट होने पर अर्जुन का मन तत्काल शान्त और स्थिर हो गया। उसका भय निरस्त हो गया और वह पूर्ववत् स्थिरचित्त हो गया।

मनुष्य को मनुष्य के सौम्यरूप से सुख प्राप्त होता है। सौम्यता[1] सात्त्विक पुरुष का लक्षण है। मनुष्य को अपने परिवार मे, पड़ोस मे तथा मित्र-मण्डली मे दूसरो के मुस्कराते हुए सौम्य रूप ही सुखद प्रतीत होते हैं। जो लोग मुस्कराकर मधुर वचन का आदान-प्रदान करते है, वे समाज मे सौम्यता का प्रचार और प्रसार करते हैं। मन की सौम्यता मुख पर प्रतिबिम्बित होकर एक आकर्षक कान्ति बन जाती है। प्रसन्नमुख मनुष्य समाज के लिए वरदान होते हैं, जो भगवान् जनार्दन[2] के दूत होकर सर्वत्र प्रसन्नता का प्रसार करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

**सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।**
**देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥**

---

१. मनःप्रसादः सौम्यत्वं।—गीता, १७ १६

२. सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्माविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥

अर्थात् एक ही जनार्दन भगवान् सृष्टि, स्थिति और अन्त करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप सज्ञा (नाम) को प्राप्त होते हैं। एक जनार्दन भगवान् के ही नाम ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। 'जनार्दन' का अन्य अर्थ है—जन की पीड़ा हरनेवाला भगवान्।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

**शब्दार्थ : श्रीभगवानुवाच**=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **मम इदं रूप सुदुर्दर्शं**=मेरा यह रूप देखने के लिए दुर्लभ है, **यत् दृष्टवानसि**=जिसे तूने देखा है, **देवा. अपि नित्य अस्य रूपस्य दर्शनकाङ्क्षिण.**=देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की इच्छा रखते हैं। **न वेदैं न तपसा न दानेन च न इज्यया**=न वेदो से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से, **एवंविध अह द्रष्टु शक्य**= इस प्रकार मैं देखा जाने के शक्य हूँ, **यथा मा दृष्टवान् असि**=जैसा (तूने) देखा है। **परतप अर्जुन**=हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन, **अनन्यया भक्त्या तु एवंविध अहं द्रष्टुं तत्त्वेन ज्ञातु**=अनन्य भक्ति से तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए, तत्त्व से जानने के लिए, **च प्रवेष्टु**=और प्रवेश करने के लिए, **च शक्य**=भी शक्य हूँ।

**वचनामृत** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—मेरा यह रूप, जिसे तूने देखा है, वह दर्शन के लिए दुर्लभ है। देवगण भी सदा इस रूप के दर्शन की इच्छा करते हैं। मैं इस प्रकार न वेदो से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से देखा जा सकता हूँ, जैसे तूने मुझे देखा है। हे परतप अर्जुन, अनन्यभक्ति द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्व से जाना जा सकता हूँ और एकीभाव से प्राप्त भी हो सकता हूँ।

**सन्दर्भ :** भगवान् का दुर्लभ दर्शन अनन्यभक्ति से सुलभ हो जाता है।

**रसामृत** अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह से विराट्रूप तथा चतुर्भुजरूप के दर्शन के पश्चात् अपने सुपरिचित उनके द्विभुज मनुष्यरूप का दर्शन किया। विराट्रूप तथा चतुर्भुजरूप के दर्शन के पश्चात् अर्जुन को सरल द्विभज मनुष्यरूप का देखना सौम्यदर्शन ही प्रतीत हुआ। ये तीनो रूप ही दर्शनीय एव दुर्लभ[1] हैं। अपरिमित तेजोमय, अमित, असीम, अपरिमेय तथा अनन्त होने के कारण विराट्रूप सुदुर्दर्श (अर्थात् अत्यन्त कठिनाई से दर्शन-योग्य) है। विराट्रूप मे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को सर्वतोव्याप्त प्रतीत हुए तथा उसने ऊर्ध्व, अधः, दक्षिण, वाम, सम्मुख, पृष्ठत, सर्वत्र व्याप्त दिखाई दिये। यह देखकर कि परमात्मा किसी देश, काल अथवा वस्तु से परिच्छिन्न नही है, अनादि और अनन्त है, उसने विराट्रूप को अनन्तरूप कहा। अर्जुन ने विराट्रूप मे सिद्धसघो, महर्षियो और देवो को स्तुति करते हुए देखा। अनेक अदृष्टपूर्व अद्भुत दृश्यो को विराट्रूप की अनन्तता के कारण उसे दिग्भ्रम हो गया तथा विस्मय, आतक और भय से वह ग्रस्त हो गया। उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया, वाणी रुक गयी। अकल्पनीय तेज से व्यथित और व्याकुल होकर ही अर्जुन ने अनन्तरूप को दुर्निरीक्ष्य (अर्थात् अत्यन्त कठिनाई से देखा जाने योग्य) कहा था। इस अनन्तरूप को देखकर ही अर्जुन को अपनी तुच्छता का भास हुआ और उसका अहकार विगलित हो गया। विश्वरूप-दर्शन के समय ही भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे अपना श्रेष्ठ उपदेश एव आदेश दिया—'हे अर्जुन, परमेश्वर अपने विधान के अनुसार सृष्टि चलाता है, तू केवल निमित्तमात्र होकर अपना कर्तव्य कर।" अर्जुन को अनुभव हो गया कि वह निमित्तमात्र है, जैसे वृक्ष से पत्ता टूटने मे वायु केवल निमित्तकारण होता है। इस

---

१ गीता के टीकाकारों ने इस पर विभिन्न मत प्रकट किये हैं कि इन श्लोको मे कौन से दर्शन की ओर सकेत किया गया है, विश्वरूप चतुर्भुजरूप, अथवा मनुष्यरूप ? अधिकाश टीकाकारो ने विश्वरूप को ही 'सुदुर्दर्शरूप' माना है। इस अध्याय का नाम विश्वरूप दर्शन है तथा यही इसका प्रधान विषय है। अत श्लोक ५२ में श्रीकृष्ण विश्वरूप-दर्शन का ही महत्त्व कह रहे हैं।

अद्भुत विराट्रूप के दर्शन के लिए देवगण[1] सदा लालायित रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट करते हैं कि इस विराट्रूप भगवद्-दर्शन की सामर्थ्य वेदाध्ययन, तपश्चर्या तथा दान, यज्ञ एव पुण्यकार्यों के अनुष्ठान से भी प्राप्त नही होती। ये सब कर्म उत्तम है, किन्तु ये चित्त-शुद्धि के साधन है। इन्हे साध्य मान लेना भ्रमात्मक है। ऐसा श्रीकृष्ण इससे पूर्व भी कह चुके हैं।[2]

परमात्मा का साक्षात्कार अथवा प्रत्यक्ष अनुभव होना केवल भगवत्कृपा से ही सम्भव है तथा कोटि-कोटि मनुष्यो मे कोई एक अनन्यभक्ति द्वारा भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करता है। भगवान् को प्राप्त करने के लिए भक्ति अत्यन्त सुगम साधन है। अनन्यभक्ति से भगवान् के दुर्दर्श विश्वरूप[3] के महत्त्व को तथा भगवान् की महिमा को जाना जा सकता है। अनन्यभक्ति से मनुष्य का अहकार विगलित हो जाता है। अनन्यभक्ति से भगवान् के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान एव अनुभव भी होता है।[4]

१ सात्त्विक गुणो के उत्कर्ष से युक्त मनुष्यो को भी देव कहा जाता है।

२ ४८वाँ श्लोक।

३. तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
—कठ उप०, १.२.१२

४. गीता १८.५५ तथा १०.१० मे भी यही कहा गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ सगुण ब्रह्म अथवा सगुण-साकार परमेश्वर की भक्ति की चर्चा कर रहे हैं, किन्तु ज्ञानमार्गी इसकी ज्ञानपरक व्याख्या करते हैं। तत्त्वज्ञान (आत्मा और परमात्मा का ज्ञान) के अनुसार 'तत् त्वं असि', 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यो का श्रवण करके उन पर मनन करना और निदिध्यासन (ग्रहण) करना और फिर ब्रह्माकारा वृत्ति (मैं ब्रह्म हूँ, ऐसी वृत्ति) द्वारा आत्मा और परमात्मा की एकरूपता की अनुभूति करना अथवा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप की दिव्यानुभूति करना ही अद्वैत सिद्धि है। परमात्मा ही एक सत्य है तथा विश्व मे वही एक सब-कुछ है, ऐसा मानकर प्रत्येक वस्तु मे परमात्मा का ही दर्शन करना, अनन्यभक्ति है। यथार्थ-ज्ञान (तत्त्वज्ञान) द्वारा दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है अर्थात् विश्वरूप मे परमात्मा का दर्शन होता है। यही तत्त्व से देखना है। विश्वरूप-दर्शन ज्ञान-दर्शन है। अज्ञान मे भेद अर्थात् द्वैत का अनुभव होता है तथा ज्ञान होने पर सर्वत्र अखण्ड अद्वैत परमात्मा ही दीख पडता है। यह ज्ञानपरक व्याख्या है।

अनन्यभक्ति से भगवान् मे प्रवेश अर्थात् भगवान् के साथ एकरूपता प्राप्त हो जाती है। अनन्यभक्ति भक्त को भगवान् के साथ एकात्म कर देती है। यह एक क्रम कहा गया है-अनन्यभक्ति से परमेश्वर का ज्ञान, फिर उसके यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव तथा अन्त मे परमेश्वर मे निमग्न होना। अनन्यभक्ति का अर्थ है भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु मे आसक्ति न होना तथा भगवान् को ही सर्वस्व मानना।

**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।**
**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥५५॥**

**शब्दार्थ : पाण्डव**=हे अर्जुन, **यः मत्कर्मकृत् मत्परम मद्भक्तः**=जो मनुष्य केवल मेरे लिए ही कर्म करनेवाला है, केवल मुझे ही परम आश्रय और गति माननेवाला है, केवल मेरा ही भक्त है, **सङ्गवर्जित सर्वभूतेषु निर्वैर** = आसक्तिरहित (और) सब प्राणियो के प्रति वैर से रहित है, **स मा एति**=वह मुझे प्राप्त होता है।

**वचनामृत** . हे अर्जुन, जो पुरुष केवल मेरे ही लिए कर्म करता है, केवल मुझे ही परम आश्रय और गति मानता है, केवल मेरा ही भक्त है तथा आसक्तिरहित और वैरभावरहित है, वह (अनन्य-भक्तिवाला मनुष्य) मुझे प्राप्त हो जाता है।

सन्दर्भ अनन्यभक्ति के स्वरूप का श्रेष्ठ वर्णन है। भक्तो को यह श्लोक कण्ठाग्र करना चाहिए।[1]

रसामृत श्रीकृष्ण अर्जुन को भगवान् की प्राप्ति के लिए अनन्यभक्ति[2] के पाँच सूत्रो का वर्णन करते है और अर्जुन को 'पाण्डव' कहकर सम्बोधन करने के द्वारा उसे यह सकेत कर रहे है कि सात्त्विक पाँच पाण्डवो की भाँति भगवत्प्राप्ति के लिए अनन्यभक्ति के अन्तर्गत भी पाँच उत्तम साधन है। अनन्यभक्ति के सूत्र हैं—भगवान् के लिए ही समस्त कर्म करना, भगवान् को जीवन का परम-प्राप्य मानना, भगवान् की ही भक्ति करना, किसी भी व्यक्ति या वस्तु की आसक्ति से मुक्त रहना तथा किसीके प्रति वैरभाव (द्वेषभाव) न रखना। जीवन के दिव्यीकरण के लिए ये पाँच सोपानरूप उपाय हैं। भक्त सब कर्म भगवान् के लिए ही करता है। वास्तव मे भगवान् को अपना सर्वस्व मानकर भगवान् के लिए जीनेवाला मनुष्य ही भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म कर सकता है। अपने भीतर विराजमान अन्तर्यामी प्रभु को ही प्रसन्न करने के लिए कर्म करनेवाला और समस्त कर्मों को ईश्वरार्पण करनेवाला मनुष्य सदैव उत्तम कर्म ही करेगा, कभी निकृष्ट कर्म नही कर सकता। भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करनेवाला मनुष्य अपने को सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का केवल निमित्तमात्र मानता है। वह केवल यज्ञ, तप, दान इत्यादि को ही नही, बल्कि अपना उठना, बैठना, खाना, पीना, सोना इत्यादि साधारण व्यवहार भी भगवदर्पण कर देता है। वह कभी कर्मफल की चिन्ता नही करता। भगवान् को ही अपना परम आश्रय, परमगति माननेवाला और भगवान् को ही परमरक्षक, परमहितैषी और परमकृपालु स्नेही माननेवाला भक्त चिन्ता और भय से विमुक्त रहता है तथा वह भगवान् के विधान मे अखड विश्वास करके दु ख-सुख मे समान रूप से सन्तुष्ट एव प्रसन्न रहता है।

केवल भगवान् की ही भक्ति करनेवाला मनुष्य सबका आदर तो करता है, किन्तु किसी मनुष्य को धन, पद, सत्ता आदि के कारण अपना भगवान् नही बनाता। भक्त निरभिमान और नम्र होता है, किन्तु किसीका चाटुकार नही होता। वह किसीके प्रसन्न होने को सौभाग्य तथा किसीके अप्रसन्न होने को दुर्भाग्य नही मानता। वह किसीसे प्रशसा सुनकर गौरव का तथा निन्दा सुनकर हीनता का अनुभव भी नही करता। भगवान् की अनन्यभक्ति करनेवाला मनुष्य भगवान् के नाम-जप, स्मरण, गुणानुवाद, कीर्तन, ध्यान आदि द्वारा अपने मन मे भगवान् के साथ सबध को अविच्छिन्न एव दृढ करता रहता है। भगवान् का भक्त भक्ति-रस-पान करके निरन्तर आनन्दमग्न रहता है। भगवद्भक्त आसक्तिरहित होता है। वह ससार मे रहकर भी जल मे कमल की भाँति अलिप्त रहता है। जिसे राम-रस रुचता हो उसे काम-रस फीका ही लगता है। उसे धन, सम्पत्ति, पद, सत्ता, कीर्ति, मान-बडाई आदि के प्रति आसक्ति नही होती। अनासक्ति आध्यात्मिक जीवन का मुख्य स्तम्भ है। वह पुरुषार्थ करता है, किन्तु आसक्ति अथवा लोभ से कदापि प्रेरित नही होता। भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करनेवाला मनुष्य अनासक्त ही रहता है।

भगवद्भक्त सब प्राणियो मे भगवान् का दर्शन करता है।[1] वह दुष्टता का प्रतीकार करता है,

---

१ शङ्कराचार्य कहते हैं—अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूत. अर्थं नि श्रेयसाय अर्थात् यह श्लोक गीताशास्त्र का सार है, जो यहाँ कहा गया है, वही सम्पूर्ण गीता में है।

२ अन्याश्रयाणा त्यागो अनन्यता-अन्य आश्रयो का त्यागकर एक पर ही निर्भर रहना अनन्यता है। जेहि गति मोर न दूसरि आसा।

गीता, ९.२२ मे अनन्यभक्ति की चर्चा है।

१ उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करें विरोध॥

किन्तु दुष्ट मनुष्य से प्रतिशोध अथवा घृणा नही करता।[1] वह सर्वथा निर्वैर एव द्वेषरहित होता है। वह किसीको अपना शत्रु नही मानता तथा किसीसे किसी प्रकार का द्वेष भी नही करता। द्वेष का विष मनुष्य को अशान्त एव निकृष्ट बना देता है। दूसरो के आदर-सम्मान, प्रतिष्ठा, मान-बडाई, सुख आदि को देखकर द्वेष करनेवाला मनुष्य सत्य से दूर चला जाता है। अनन्यभक्त का हृदय निर्मल दर्पण के सदृश होता है, जो कि किसी भी वस्तु के बिम्ब को बिना दूपित किये हुए परावर्तित कर देता है।

भगवद्भक्त केवल परमात्मा की सत्ता को ही स्वीकार करता है। अनन्यभक्ति मनुष्य के अहकार को विगलित कर देती है अर्थात् भक्ति द्वारा उसके अहकार का दिव्यीकरण हो जाता है तथा वह भगवान् का उपकरण बनकर सर्वत्र प्रेम का प्रसार करता है।[1] वह प्रभुमय होकर जीता है तथा अन्त मे प्रभु को प्राप्त हो जाता है। अनन्यभक्त भगवान् की श्रेष्ठ विभूति है।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्याय.।

विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

## सार-संक्षेप
### एकादश अध्याय : विश्वरूपदर्शनयोग

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रथमार्द्ध समाप्त होने पर तथा द्वितीयार्द्ध के प्रारम्भ मे दशम तथा एकादश अध्याय स्पष्टत परस्पर आबद्ध हैं। विभूतियोग तथा विश्वरूपदर्शनयोग का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। परमात्मा मायोपाधि ( मायाशक्ति ) सहित होकर सृष्टि की रचना करता है तथा उसके कण-कण मे व्याप्त रहता है, किन्तु कुछ वस्तुओं और व्यक्तियो मे सोपाधिक ( मायाशक्तिसहित ) परमेश्वर विशेष रूप से प्रकाशित हो जाता है तथा उन्हे परमेश्वर की विभूति कहा जाता है। कुछ वस्तुओ और व्यक्तियो मे परमेश्वर की द्युति का विशेष स्फुरण परमेश्वर की महिमा को प्रतिपादित करता है तथा परमेश्वर की उपासना के लिए प्रेरित कर देता है। हम विभूतियोग को 'द्युतियोग' कह सकते हैं। अर्जुन के मन मे परमेश्वर के विश्वरूप के सदर्शन की उत्कण्ठा जाग उठी और उसने श्रीकृष्ण से भगवान् के सोपाधिक विश्वरूप को दिखाने की प्रार्थना की। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विश्वरूप देखने के लिए दिव्य-दृष्टि देकर विश्वरूप-दर्शन करा दिया। विश्वरूप-दर्शन करते समय अर्जुन द्वारा विश्वरूप की उत्कृष्ट एव भावपूर्ण स्तुति ही विश्वरूप-दर्शन का सार-तत्त्व है। अतएव हम विश्वरूपदर्शनयोग को 'स्तुतियोग' कह सकते हैं। परमेश्वर की द्युति और स्तुति परमेश्वर-भक्ति की प्रेरक है।

---

१ महामति बेकन कहता है कि वह मनुष्य, जो द्वेषपूर्वक प्रतिशोध ( बदला लेना ) सोचता है, अपने ही घावो को हरा-भरा रखता है, जो कि अब तक न जाने कब के भरकर अच्छे हो गये होते।

१ साधु टी० एल० वास्वानी कहते हैं—"भगवान् ही जीवन है 'मानव-जीवन का उद्देश्य है तुमको गूढतर जीवन से जोडना, ईश्वरीय जीवन से जोडना। वह सदा तुम्हारे साथ है। अपने भीतर गहरे, खूब गहरे पैठो। अन्तत तुम प्रेम को छूने लगोगे। प्रेम ही जीवन का मर्म है। जीवन एक मिशन है। मैजिनी ने कहा था कि तुम्हारे जीवन का मिशन है प्रेम को प्रतिबिम्बित करना।"

परमेश्वर के विश्वरूप-दर्शन का वर्णन अत्यन्त मनोहारी एव काव्यात्मक है। परमेश्वर का विराट् स्वरूप वास्तव मे परमेश्वर की मायाशक्ति का विलास एव विस्तार है। अर्जुन ने सूक्ष्म दिव्य-दृष्टि से भगवान् के विश्वरूप मे समस्त जगत् को एक स्थान मे ही देखा तथा विभिन्न अद्भुत दृश्य भी देखे। विराट्रूप तेजोमय था तथा असख्य सूर्य का प्रकाश उसकी दिव्य कान्ति की अपेक्षा तुच्छ था। विश्वरूप-दर्शन से आश्चर्यचकित एव रोमाचित होकर अर्जुन ने अञ्जलि बाँधकर (हाथ जोडकर) कहा—"हे भगवन्, आपकी अनन्तता देखकर मेरा मत निश्चित एव दृढ हो गया है कि आप ही परम अक्षर-ब्रह्म है तथा समस्त जगत् का उत्कृष्ट आधार और लयस्थान हैं। आप ही सनातन पुरुष परमात्मा है। हे भगवन्, आपका आदि, मध्य और अन्त नही है। आपके प्रचण्ड तेज से जगत् सन्तप्त हो रहा है। देवगण और सिद्ध-समुदाय आपकी स्तुति कर रहे हैं।' प्रारम्भ मे अर्जुन विश्वरूप-दर्शन से अत्यन्त आनन्दित हुआ, किन्तु उसकी अनन्तता को देखकर उसे दिग्भ्रम हो गया और विकराल एव घोर पक्ष को देखकर भीषण भय से इतना अधिक ग्रस्त हो गया कि उसने कहा—"हे भगवन्, आप इस प्रकार उग्ररूप क्रूर आकारवाले कौन है ? इस विकराल रूप का क्या प्रयोजन है ? हे परमदेव, कृपा करके मुझ पर प्रसन्न हो जाइये।" भगवान् ने कहा—"इस समय मैं महाकाल के रूप मे प्रकट होकर विनाश के लिए प्रवृत्त हूँ। यदि तू युद्ध नही करेगा तो भी ये एकत्रित योद्धागण विनष्ट हो जायेंगे। हे अर्जुन, तू भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि को, जिनसे तू आतकित है, मार दिया हुआ समझ। जगत् का विधाता एवं कर्मफलदाता तो मैं हूँ। तू तो निमित्तमात्र है। अत तू अपना कर्तव्य-पालन करने की दृष्टि से युद्ध कर। दैवी विधान के अनुसार पापी तो अपने पाप से ही मर जाते हैं तथा अन्य मनुष्य उन्हे मारने मे निमित्तमात्र हैं। उठ खडा हो, युद्ध कर।" विश्वरूप मे तीनो काल और समस्त दिशाओ का सगम हो रहा था।

अर्जुन विश्वरूप की विकरालता तथा अनन्तता से इतना भयभीत था कि उसने भगवान् के इन शब्दो का उत्तर नही दिया। विश्वरूप के दर्शन से उसका अहकार विगलित हो गया और वह बार-बार प्रणाम तथा स्तुति करते हुए पूर्वकृत अपराधों के लिए क्षमा-याचना करने लगा। वह भावमग्न होकर कहने लगा, "हे परमदेव, आप जगत् के आश्रय हैं तथा अनन्तरूप हैं। आपकी सामर्थ्य अपार है। हे प्रभो, मैं आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ। हे प्रभो, प्रणाम, प्रणाम, पुन पुन प्रणाम। हे जगदाधार, मैंने विनोद, प्रमाद अथवा सखाभाव के कारण जो अनेक बार आपकी अवहेलना और अनादर किया है, उसके लिए आप मुझे क्षमा करे। हे परमपिता, जिस पकार उत्तम पिता पुत्र के, उत्तम मित्र मित्र के, उत्तम पति पत्नी के अपराधो को सहन कर लेता है, आप भी मेरे अपराधो को सहन कर लें। हे प्रभो, मैं आपके इस विकराल रूप को देखकर व्यथित और व्याकुल हूँ। कृपया इसे समेटकर अपने चतुर्भुजरूप मे दर्शन दें।" श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सान्त्वना और धैर्य देते हुए कहा, "मैंने तो प्रसन्न होकर तुझे यह देवदुर्लभ विराट्रूप का दर्शन दिया था, जो वेदाध्ययन, दान, उग्रतप और कर्मकाण्ड से भी प्राप्त नही होता। इसे देखकर तुझे विमूढ नही होना चाहिए।" ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने विराट्रूप का सवरण कर लिया और अर्जुन के ध्यान-ध्येय चतुर्भुज नारायणरूप मे दर्शन देकर तत्क्षण सुपरिचित, सौम्य एव मधुर द्विभुजरूप मे प्रकट हो गये तथा अर्जुन उस मानुषरूप को देखकर स्थिरचित्त एव प्रसन्न हो गया। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि भगवान् का साक्षात्कार केवल अनन्य-भक्ति से ही होता है, वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ इत्यादि से नही। अनन्यभक्ति से ही भगवान् को पूर्णत जानना, भगवान् के दर्शन करना और भग-

वान् को ही प्राप्त हो जाना संभव होता है। अनन्य-भक्ति के पाँच लक्षण हैं—भगवान् के लिए समस्त कर्म करना, भगवान् को परम-आश्रय ( परमगति ) मानना, भगवान् से ही अनुरक्त होना, ससार मे अनुरक्त अथवा आसक्त न होना तथा समस्त प्राणियो के प्रति वैरभाव ( द्वेषभाव )-रहित होना। अनन्यभक्ति गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य है। यह कर्मयोग के अन्तर्गत है। अनन्यभक्ति का प्रथम लक्षण भगवान् के लिए कर्म करना अर्थात् भगवान् का होकर अथवा भगवान् के लिए जीवित रहकर कर्म करना है, समस्त कर्म को ईश्वरार्पण करते रहना है।

विश्वरूप-दर्शन की व्याख्या एवं विवेचना अनेक दृष्टिकोणो से की जा सकती है। दिव्य-दृष्टि ज्ञान-दृष्टि भी है। ज्ञानी कहता है—'वासुदेवः सर्वम्।' अनेक मे एक, भिन्नत्व मे एकत्व, विषमता मे समता, विभागो मे अविभक्तता खण्डो मे अखण्डता, द्वैत मे अद्वैत तथा सर्वत्र एक अद्वितीय ब्रह्म का दर्शन करना दिव्य-दर्शन है। परमात्मा अखण्ड, अद्वैत है, एकरस है। समग्रता की उपेक्षा करके खण्डो का प्राधान्य देखना भ्रमात्मक है। समग्रता का दर्शन यथार्थ दर्शन है। मनुष्य इन्द्रियो की सीमित शक्ति होने के कारण विश्व का खण्डात्मक दर्शन करता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विश्व की अखण्डता का आभास हो सकता है।[1] किसी वस्तु का खण्डात्मक दर्शन एव वर्णन करना अयथार्थ है तथा अखण्डरूप से दर्शन एव वर्णन यथार्थ है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्यदृष्टि देकर विश्व का समग्र दर्शन सुलभ कर दिया। उसे 'वासुदेवः सर्वम्' ( सब कुछ प्रभुमय है ) की अनुभूति होने लगी।

१. वैज्ञानिक सूक्ष्म अणु मे सौरमण्डल का दर्शन करते हैं। योगी दृष्टि की सूक्ष्मता से अणु मे विश्वदर्शन कर सकते हैं। बिन्दु मे सिन्धु समाया हुआ है। वास्तव में योगी अपने भीतर ही समग्र जगत् का सूक्ष्मदर्शन करते हैं।

भगवद्गीता का प्रयोजन केवल विश्वरूप-दर्शन ही नही है। श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता के अन्त तक कर्म करने का उपदेश देते हैं। श्रीकृष्ण विश्व-रूप-दर्शन देते हुए भी अर्जुन से कहते हैं, "हे अर्जुन, उठ खडा हो, युद्ध कर। अहकार छोड़कर तथा भगवान् का उपकरण वनकर कर्म कर।' भगवद्भक्त होकर कर्म करनेवाले मनुष्य का जीवन आनन्दमय हो जाता है तथा वह भगवान् को भी प्राप्त कर लेता है।

वास्तव मे मात्र भगवान् की सत्ता मान लेना पर्याप्त नही है। भक्त भगवान् के साथ व्यक्तिगत नाता मानकर जीवन को रसमय बना लेता है। भगवान् को परमकृपालु पिता मानकर उसके साथ ऐसा ही व्यक्तिगत सम्वन्ध स्थापित करना, जैसा कि मानवीय पिता के साथ करते हैं, भक्ति को रसमय वना देता है।[1] भक्त उत्तम पुत्र की भाँति भगवान् को मन-मन्दिर मे विराजमान करके उससे उपदेश एवं आदेश प्राप्त करता है तथा उसका पालन करके वह सब कुछ उसे ही समर्पित कर देता है। यद्यपि अर्जुन का सखाभाव रहा था, वह भी भगवान् को पिता ही मानना चाहता है, क्योकि सखाभाव मे अनादर हो सकता है। पुत्र का पिता की कृपा पर अधिकार होता है तथा उसे पिता का वात्सल्य, प्रेम प्राप्त हो जाता है। परमपिता गुरु भी होता है। भगवान् को माता के रूप मे देखना भी अत्यन्त आनन्दप्रद है। पिता माता के रूप मे भगवान् के साथ पुत्र-सम्वन्ध स्थापित करना समस्त भक्तिभावो मे श्रेष्ठ है। दास की अपेक्षा पुत्र पिता

१ यद्यपि विभिन्न धर्मों मे विभिन्न मान्यताएँ हैं, सभी परमात्मा को पिता ही कहते हैं। वेदों मे ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जहाँ परमात्मा को पिता कहा गया है। 'स नो बन्धुर्जनिता' वह हमारा पिता और बन्धु है। महात्मा ईसा ने परमात्मा को पिता मानकर भक्ति की। पितासि लोकस्य चराचरस्य ( गीता, ११.४३ )। त्वमेव माता च पिता त्वमेव।

के अधिक समीप होता है तथा पुत्र पिता का सखा भी हो जाता है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट अथवा किसी सकट से ग्रस्त होने पर तथा असहाय एव विवश होकर भगवान् का स्मरण करके उसे पुकारता है और कृपा की याचना करता है। निर्गुण निराकारवादी भी उससे सहायता के लिए प्रार्थना करते हैं। परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, निर्गुण निराकार एव सगुण-साकार है। अर्जुन का चित्त स्थिर तभी हुआ, जब उसने भगवान् श्यामसुन्दर को मानुषरूप मे देखा। यद्यपि सभी रूप भगवान् के हैं, मनुष्यो को उसका मनुष्यरूप ही प्रिय, सुन्दर और सुखद प्रतीत होता है। भक्त मनुष्यरूप मे ही परमेश्वर की कल्पना करते हैं तथा उसके साथ आन्तरिक वार्तालाप करते हैं। इसीलिए भक्तो को भगवान् के अवतार की नर-लीला प्रिय लगती है। यही मूर्ति-पूजा का भी रहस्य है। भक्तगण मूर्ति मे जगत्पति का दर्शन करते हैं तथा उसे साक्षात् परमेश्वर मानकर उपासना करते हैं। भक्त नेत्रो से भगवान् के रूपरस-माधुर्य का पान करके तृप्त हो जाते हैं, मुख से 'राम' और 'कृष्ण' का नाम-उच्चारण करते हैं, श्रवण द्वारा नामामृतपान करते हैं। भक्तगण भगवान् के श्रीविग्रह का भावपूर्ण दर्शन करके सकटमुक्त एव सुखी हो जाते हैं। जिस मनुष्य के साथ ससार का स्वामी हो, उसे कैसा भय और कैसी चिन्ता ? भक्तगण सकट मे प्रभु का स्मरण करके सकाम-भक्ति करते हैं और कालान्तर मे निष्काम-भक्ति की ओर उन्मुख हो जाते हैं। भगवान् के साथ अनन्य प्रेम करना अनिर्वचनीय आनन्द देता है। जिस प्रकार मछली का जल के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार उत्तम भक्त का भगवान् के साथ अनन्य सम्बन्ध होता है।[1] भक्त ससार मे कर्म करता हुआ भगवान् का निरन्तर स्मरण रखता है तथा उसे अपना सर्वस्व मानता है। भक्त कष्ट मे घबराता नही है। कष्ट मे ही ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की परीक्षा होती है। भक्तो को ऐसा प्रतीत होता है कि परमकृपालु व्यक्तिक भगवान् (अर्थात् व्यक्तिगत रूप से अपना बनाया हुआ भगवान्) निरन्तर उनके साथ ही रहता है और सदैव उनकी सहायता करता है। उन्हे यह भी सन्तोष रहता है कि प्रभु जो कुछ कर रहा है, वही उनके हित मे है तथा भक्तगण अपनी इच्छा पूर्ण न होने पर भी उसे दोष न देकर कह देते हैं—जाही विधि राखे राम ताही विधि रहिये।[1] भक्ति के रस का महत्त्व भक्तगण ही जानते हैं तथा उन्हें भक्ति सर्वोपरि प्रतीत होती है। भक्ति का पावन आनन्द-स्रोत अजस्र वह रहा है, उदास और निराश होना मूढता है।

विश्वरूप-दर्शन से अर्जुन को यह स्पष्ट हो गया कि ससार मे सबके शरीर भगवान् के शरीर हैं, सबके पेट भगवान् के पेट हैं। किसीको कष्ट देना प्रभु को कष्ट देना है। यही अहिंसा और करुणा का व्यापक एव व्यावहारिक रूप है। परिवार विश्वरूप का ही अणुरूप है। अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से नित्यस्मरणीय सुन्दर वात कही-"हे भगवन्, आप मेरे अपराधो पर ध्यान न देकर मुझे कण्ठ से लगा लीजिये। आप मेरे अपराध इसी प्रकार क्षमा कर दीजिये, जैसे उत्तम पिता पुत्र के, उत्तम पति पत्नी के तथा उत्तम मित्र मित्र के अपराधो को सहन कर लेता है।" भूल करना मनुष्य का स्वभाव है। भूल किससे नही होती ? भूल

---

१ कहौं स्वभाव न छल मन माही।
जीवन मोर राम बिनु नाही॥

१. सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।
जाही विधि राखे राम ताही विधि रहिये।
मुख में हो राम-नाम, राम-सेवा हाथ में,
तू अकेला नहीं प्यारे राम तेरे साथ में।
विधि का विधान जान हानि-लाभ सहिये,
जाही विधि राखे राम ताही विधि रहिये॥
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे, राम त्वमेवाश्रयः॥
राम भरोस आस नहि दूजा॥

सभी से प्रतिदिन अनेक बार होती है। अपराध को अपराध मानकर उसके लिए सच्चे भाव से क्षमा माँग लेना मनुष्य की उत्तमता का परिचायक है। कपटीजन केवल मुख से क्षमा का आदान-प्रदान करते हैं, वे क्षमा का महत्त्व नहीं जानते। भावपूर्ण अश्रुविमोचन महान् अपराध को भी धोकर मनुष्य को निष्कलुष एव निर्मल बना देता है। उत्तम क्षमा करनेवाला मनुष्य भगवान् का रूप धारण कर लेता है। वास्तव मे क्षमा का सार-तत्त्व दूसरे के दोष को सहर्ष सह लेना है। जो मनुष्य सहर्ष सहन कर सकता है वही सच्ची क्षमा करता है। इसीलिए अर्जुन कहता है, "हे प्रभो, मेरे दोषो को सहन कर लीजिये। आप मुझे दण्ड तो दे दें, किन्तु अपनी नजर से न गिरा दें।" अनेक बार उत्तम पिता पुत्र से, उत्तम पति पत्नी से और बड़ा छोटे से भी क्षमा माँगता है। क्षमा प्रेम का सार है तथा भक्त-हृदय की निधि है। क्षमा पारस्परिक व्यवहार को मधुर बनानेवाला अमृत है।

ग्यारहवे अध्याय मे भगवान् श्रीकृष्ण का सदेश है—'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**' अर्थात् हे अर्जुन, तू अहकारशून्य एव निर्मलचित्त होकर दैवी योजना की पूर्ति के लिए निमित्त बन जा। इसीमे मानव-जीवन की सार्थकता है। ●

# अथ द्वादशोऽध्यायः

## भक्तियोग

अर्जुन उवाच

**एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।**
**ये चाप्यक्षरमव्यक्त तेषा के योगवित्तमाः ॥१॥**

**शब्दार्थ** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, ये भक्ता एव सततयुक्ता· त्वा पर्युपासते=जो भक्त इस प्रकार निरन्तर युक्त होकर आपकी उपासना करते हैं, च ये अक्षर अव्यक्तं अपि (पर्युपासते)=और जो अक्षर अव्यक्त की भी उपासना करते हैं; तेषा योगवित्तमा के=इन मे योगवेत्ता कौन हैं ?

**वचनामृत :** अर्जुन ने पूछा—जो भक्तजन इस प्रकार से निरन्तर अनन्यभक्ति द्वारा आपके साथ युक्त होकर आपकी (सगुण) उपासना करते हैं तथा अन्यजन जो केवल अक्षर और अव्यक्त (अविनाशी निराकार ब्रह्म) की उपासना करते हैं, इन दोनो मे उत्तम योगवेत्ता कौनसे है ?

**सन्दर्भ :** सगुण परमेश्वर की भक्ति तथा निर्गुण-निराकार परब्रह्म की उपासना मे कौन सी श्रेष्ठ है ?

**रसामृत** भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सगुण परमेश्वर की अनन्यभक्ति का फल भगवत्प्राप्ति घोषित किया।[1] अर्जुन के मन मे यह जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो गयी कि मायाशक्ति-सम्पन्न (सोपाधि) परमेश्वर की सगुण उपासना से भगवान् को प्राप्त होने तथा मायाशक्तिरहित (निरुपाधि) शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्गुण-निराकार परमब्रह्म की उपासना से परमात्मा के साथ एकरूप होने मे कौन-सा अधिक श्रेयस्कर है। अर्जुन दोनो की उत्तमता को स्वीकार करके केवल उनकी परस्पर तुलना करना चाहता है। जगत् मे प्राणियो और प्रकृति के रूप मे व्यक्त सगुण परमेश्वर, जो उनकी रचना करके उनका पोषण एव सरक्षण करता है, भक्तो को प्रिय है तथा जगत् से परे इन्द्रियो का अगोचर अव्यक्त निर्गुण परमात्मा ज्ञानियो का उपास्य है। साधकजन प्राणियो की सेवा और भगवान् की भक्ति करें अथवा इनसे दूर हटकर निर्गुण-निराकार ब्रह्म के साथ एकरूपता का प्रयत्न करे। निर्गुण ब्रह्म की उपासना मे वैराग्य एव निवृत्ति का विशेष महत्त्व है। अर्जुन अपनी जिज्ञासा का पूर्ण समाधान चाहता है।

श्रीभगवानुवाच

**मय्यावेश्य मनो ये मा नित्ययक्ता उपासते।**
**श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता. ॥२॥**

**शब्दार्थ** श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, मयि मन आवेश्य नित्ययुक्ता=मुझमें मन को रखकर निरन्तर (भजन आदि से) युक्त, ये परया श्रद्धया उपेता मां उपासते=जो श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए मेरी उपासना करते हैं, ते मे युक्ततमा मता=वे मेरे लिए उत्तम युक्त (योगयुक्त) मान्य हैं।[1]

**वचनामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, मुझमे मन को एकाग्र करके निरन्तर भजन आदि से युक्त

---

१ ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक मे श्रीकृष्ण ने कहा कि पचलक्षणा भक्ति से मनुष्य भगवान् को प्राप्त कर लेता है। गाधीजी को यह अध्याय अत्यन्त प्रिय था। वे लिखते हैं—"यह बारहवाँ अध्याय सबको कण्ठ कर लेना चाहिए। इसमे दिये हुए भक्त के लक्षण नित्य मनन के योग्य हैं।"

१ गीता, ९ २२ नित्याभियुक्त।

जो भक्तगण श्रेष्ठ श्रद्धासहित मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे लिए उत्तम मान्य हैं।

सन्दर्भ : श्रीकृष्ण सगुण उपासना की श्रेष्ठता वता रहे है।

रसामृत अर्जुन उत्तम जिज्ञासु है, प्रत्येक शका का समाधान एव निवारण चाहता है। भगवान् श्रीकृष्ण से यह सुनकर कि मनुष्य सगुण-साकार उपासना द्वारा अर्थात् भगवान् को सगुण मानकर उसके किसी व्यक्त स्वरूप अथवा मानुषी रूप ( शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, जगदम्वा, दुर्गा इत्यादि ) की उपासना द्वारा भगवान् को प्राप्त हो जाता है, अर्जुन के मन मे प्रश्न उभर आया कि क्या यह सगुणोपासना वास्तव मे निर्गुणोपासना ( निर्गुण निराकार परमब्रह्म को प्राप्त होने की साधना ) की अपेक्षा अधिक अच्छी है ? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट उत्तर दिया कि जो मनुष्य भगवान् को मन मे वसाकर तथा भगवान् के साथ स्मरण आदि द्वारा निरन्तर युक्त रहकर उपासना करते है, श्रद्धाभाव से युवत होते हैं, वे श्रेष्ठ योगी है। सगुण उपासना अर्थात् भगवान् को सर्वशक्तिमान्, जगत् का रचयिता, धारक, पोषक तथा कृपालु पिता मानकर उपासना करना सरल, सरस, सुगम और सुकर है।

भगवान् के दो स्वरूप हैं—निर्गुण, निराकार, निर्विकार, शुद्ध चैतन्यस्वरूप मायाशक्ति-रहित परमात्मा जो अव्यक्त है ( प्रकट नही है ) तथा सगुण मायाशक्तिसहित सर्वशक्तिमान्, परमेश्वर, अन्तर्यामी, जो मायाशक्ति से जगत् की रचना करके व्यक्त ( प्रकट ) होता है और जगत् के कण-कण मे व्याप्त रहकर उसे धारण करता है। यह जगत् उसका व्यक्त रूप है तथा प्राणियो और पदार्थों मे उसका आवास है। ज्ञानी श्रवण, मनन, निदिध्यासन, वैराग्य आदि के अभ्यास से सर्वत्र निर्गुण, निराकार ब्रह्म का अनुभव करते हैं तथा जगत् के अस्तित्व को मिथ्या मानकर केवल ब्रह्म को सत् मानते हैं। मैं और यह सब-कुछ ब्रह्म ही है—यही सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है। भक्त जगत् के स्वरूप को परमेश्वर का व्यक्त रूप मानकर उसे स्वीकार करते हैं तथा भगवान् के शिव, विष्णु इत्यादि रूपो तथा अवतारो की मूर्ति पूजा आदि द्वारा उपासना करते हैं। सद्गुणो के भण्डार तथा सर्वशक्तिमान् भगवान् की भक्ति से चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान का उदय अनायास हो जाता है, किन्तु भक्त का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना तथा भगवान् को प्राप्त होना ही रहता है। व्यक्त परमेश्वर की उपासना मन को सरल और सुगम प्रतीत होती है, क्योकि मन को स्थूल एव स्पष्ट आलम्बन की आवश्यकता होती है। श्रद्धा[1] अर्थात् सच्ची भावना ही भक्ति का आधार है। सगुण परमेश्वर की भक्ति मे निर्गुण ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा अहकार को नष्ट करने की सामर्थ्य अधिक है। निर्गुण-निराकार परमात्मा के साथ एकरूपता की साधना सर्वथा उत्तम है, किन्तु भगवान् को अन्य किसी भी रूप मे तथा अन्य किसी भी प्रकार से ( ध्यान, जप, तप, स्मरण, भजन, कीर्तन, भक्ति, जनसेवा आदि के द्वारा ) प्राप्त करने का प्रयत्न भी उत्कृष्ट है। भगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध मे विचार ही करते रहना पर्याप्त नही है, वल्कि जैसा भी उचित प्रतीत हो, वैसी ही साधना करनी चाहिए। आवश्यकता है अपने मार्ग पर श्रद्धासहित ( सचाई से ) आगे वढते रहने की। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'आवेश्य मनो' अर्थात् मन को सचाई से भगवान् को सौंपकर ( अदम्य उत्साह से मन को भगवान् में रखकर )। मनुष्य का अज्ञान, पाप, वासना इत्यादि वाधक नही होते। यदि मनुष्य भगवान् की ओर एक पग चलता है, भगवान् अनन्त पग चलकर सद्गुरु, सहायक और रक्षक

---

१ श्रद्धां देवा:···उपासते।···श्रद्धया विन्दते वसु।
—ऋग्वेद, १०.१५१ ४

—देव भी श्रद्धा की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, श्रद्धा से वसु ( ऐश्वर्य, शक्ति ) मिलता है।

बनकर उसे अपना लेता है। पथ अनेक है, किन्तु लक्ष्य एक है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए श्रद्धा प्रथम तथा प्रमुख सोपान है।

**ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्त पर्युपासते।**
**सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥**
**संनियम्येन्द्रियग्राम सर्वत्र समबुद्धय.।**
**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥**

**शब्दार्थ** • तु=परन्तु अथवा और, ये=जो पुरुष, इन्द्रियग्राम सनियम्य=इन्द्रियो के समूह को भलीभाति नियमित करके, अचिन्त्यं सर्वत्रगं अनिर्देश्य च कूटस्थ ध्रुव अचल अव्यक्त अक्षरं पर्युपासते=अचिन्त्य (मन-बुद्धि से परे), सर्वव्यापक, अकथनीय स्वरूप और सदा एक-सा ही (एकरस), नित्य, अचल, अव्यक्त (अप्रकट, निर्गुण, निराकार) अक्षर (अविनाशी, सच्चिदानन्द ब्रह्म) की भली प्रकार उपासना करते हैं, ते सर्वभूतहिते-रता सर्वत्र समबुद्धय मा एव प्राप्नुवन्ति=वे समस्त प्राणियो के हित मे रत हुए (और) सर्वत्र समान भाव-वाले मनुष्य मुझे ही प्राप्त होते हैं।

**वचनामृत** परन्तु जो पुरुष समस्त इन्द्रियो को भलीभाँति वश मे करके अचिन्त्य (मन-बुद्धि से परे), सर्वव्यापी, अकथनीय और एकरस, नित्य, अचल, अव्यक्त (निर्गुण, निराकार) अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) की भली प्रकार उपासना करते हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियो के हित मे रत और सर्वत्र समभावयुक्त रहकर मुझे ही प्राप्त होते हैं।

**सन्दर्भ :** निर्गुण निराकार परब्रह्म के उपासक परमात्मा को प्राप्त होते हैं। **'सर्वभूतहिते रता'** को कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत :** निर्गुण, निराकार, सत्-चित् आनन्द-स्वरूप, परमात्मा इन्द्रियो के लिए अगोचर तथा मन की कल्पना और बुद्धि के चिन्तन से परे है। परमात्मा मनुष्य के इन्द्रियग्राम, मन और बुद्धि की सीमा से परे होने के कारण इनका (इन्द्रिय, मन और बुद्धि का) विषय नही है। परमात्मा आकाश के सदृश सूक्ष्म, सर्वव्यापी एव सर्वत्र गमन करने-वाला है। वास्तव मे, आकाश की उत्पत्ति का कारण आकाश से अति-सूक्ष्म है। वह अनिर्देश्य है अर्थात् उसे तर्क, उदाहरण आदि किसी युक्ति से समझाना भी सम्भव नही है। परमात्मा कूटस्थ अर्थात् अविचल, स्थिर तथा अपरिवर्तनीय है।[1] परमात्मा ध्रुव अर्थात् नित्य है, अविचल है। जिसमें विकार नही होता, वह अविचल होता है।

परमात्मा अव्यक्त (अप्रकट) है। परमात्मा अपनी मायाशक्ति द्वारा जगत् को प्रकट करके तथा जगत् मे व्याप्त होकर भी उससे परे शुद्ध चैतन्यस्वरूप मे स्थित अव्यक्त है। व्यक्त जगत् मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न होकर अव्यक्त परमात्मा मे विलीन हो जाता है। परमात्मा का क्षरण (विनाश) कभी न होने के कारण वह अक्षर अर्थात् अविनाशी है। गीता मे परमब्रह्म को अनेक स्थलो पर 'अक्षर' कहा गया है।

निर्गुण-निराकार परमब्रह्म परमात्मा ही सत् है तथा यह जगत् अर्थात् समस्त भूत (प्राणी और पदार्थ तथा उनकी गतिविधि) असत् है। चैतन्य-स्वरूप एव आनन्दस्वरूप आत्मा परमात्मा का अश है तथा दोनो जल और जल-तरग की भाँति एक ही हैं।[2] मैं नाम और रूपवाला देह नही हूँ, आत्मा हूँ तथा जल और जल-तरग के सदृश आत्म-रूप मे परमात्मा के साथ एकरूप हूँ, साक्षात् पर-ब्रह्म परमात्मा ही हूँ। वेद-वाक्यो - अहं **ब्रह्मास्मि, सर्वं खलु इदं ब्रह्म** इत्यादि महावाक्यो—के श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा वैराग्यभाव उत्पन्न होने पर ब्रह्मभाव (सर्वत्र केवल ब्रह्म की ही सत्ता है

---

१ शङ्कराचार्य 'कूटस्थ' का अर्थ करते हैं—माया अथवा प्रकृतिरूपी कूट में अधिष्ठातारूप से स्थित। शङ्कराचार्य 'कूटस्थ' का दूसरा अर्थ भी करते हैं—निष्क्रिय, स्थिर।

२ ईश्वर अंश जीव अविनासी,
चेतन अमल सहज सुखरासी।
ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन'।
—गीता, १५ ७

और मैं तथा यह सब जगत् ब्रह्म है ) जाग्रत हो जाता है। यही ब्रह्म की उपासना है।

यद्यपि इन्द्रिय-सयम का महत्त्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे है, तथापि यह ज्ञानमार्ग का प्रथम आवश्यक साधन है। आत्म सयम तथा वैराग्य-भाव निर्गुणोपासना के मुख्य सोपान है। इन्द्रिय-संयम के अभाव मे आध्यात्मिक साधना सम्भव ही नही है। अनेक लोग ज्ञानी होने का दम्भ करके आत्मसंयम को व्यर्थ कह देते हैं, किन्तु आत्मसयम के अभाव मे साधक का पतन हो जाता है।

समस्त प्राणियो मे ब्रह्मभाव अथवा आत्मभाव की प्रतीति होने के कारण ज्ञानी नितान्त निर्वैर होता है तथा सबका समान हितैषी होता है। ज्ञानी के लिए कर्मयोगी की भाँति प्राणियो की सेवा कर्तव्य नही होती। ज्ञानी प्राणियो का उपकार सहज भाव से करता है। भेद-बुद्धि त्याग देने के कारण ब्रह्मदर्शी सर्वत्र समबुद्धि होता है।

सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करनेवाला ज्ञानमार्गी साधक परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। ज्ञान का पूर्ण उदय होने पर ब्रह्मज्ञानी जीवनकाल मे जीवन-मुक्त हो जाता है तथा अन्त मे ब्रह्मलीन हो जाता है।

वास्तव मे सगुणोपासक तथा निर्गुणोपासक दोनो ही भगवान् को प्राप्त होते है। अतएव जिसे ज्ञान-मार्ग रुचिकर एव अनुकूल प्रतीत होता हो उसके लिए ज्ञान-मार्ग उपादेय है तथा जिसे भक्ति-मार्ग रुचिकर एव अनुकूल प्रतीत होता हो उसके लिए भक्ति मार्ग श्रेयस्कर है। जो परमात्मा ज्ञानी के लिए निर्गुण-निराकार है, वही भक्त के लिए सगुण-साकार है। जो जगत् ज्ञानी की दृष्टि मे ब्रह्ममय है, वही भक्त की दृष्टि मे प्रभुमय है। ज्ञानी पर-मात्मा के यथार्थ रूप को तत्त्व से जानने का प्रयत्न करता है तथा तत्त्वज्ञान द्वारा उसके साथ अभिन्न हो जाता है और भक्त निष्काम-भाव से कर्तव्य-कर्म करता है तथा भक्तिभाव द्वारा भगवान् को प्रसन्न करके भगवान् को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी चैतन्यस्वरूप परमात्मा के साथ एकरूप हो जाता है, भक्त सर्वेश्वर भगवान् का साक्षात्कार कर लेता है।

चैतन्यतत्त्व जड को अपने सान्निध्यमात्र से सचेतन बना देता है। चैतन्यतत्त्व के सचेतन देह से निकल जाने पर वह जड हो जाता है।[1] चैतन्य के प्रभाव से जड़ गतिशील हो जाता है जैसे चुम्बक के प्रभाव से लौहखण्ड गतिशील हो जाता है। आत्मा स्वप्रकाश है तथा ज्ञानस्वरूप है, किन्तु माया के कारण अज्ञान से आवृत्त रहने पर जन्म-मरण के चक्र से ग्रस्त हो जाता है। अज्ञान का निरा-करण ज्ञान से होता है। अज्ञान मृगतृष्णा की नदी है। ज्ञानी के लिए तप, दान, तीर्थयात्रा आदि का महत्त्व नही। ज्ञानी की दृष्टि मे तप, दान आदि अन्त करण को स्वच्छ करने मे सहायक मात्र है। राग-द्वेष आदि अन्त करण के विकार हैं तथा आत्मा का स्पर्श नही करते। ज्ञानमार्गी के लिए वही शास्त्र और सत्सग सार्थक है, जो ब्रह्म का निरूपण करता है। सत्सग तथा शास्त्र भी द्वैत हैं, किन्तु वे तत्त्वबोध कराने मे सहायक हैं। सत्सग से श्रवणलाभ होता है, किन्तु वह श्रवण भी निरर्थक है, जो विचार तथा आचरण को प्रभावित न करता हो। सन्त पुरुष वही महान् है, जो ब्रह्म के स्वरूप मे प्रतिष्ठित होता है तथा जिसकी आत्म-ज्योति सम्पर्क मे आनेवाले मनुष्यो का रूपान्तरण करती है। परिग्रह अज्ञान का परिचायक है। जो भीतर अन्धकार से ग्रस्त है तथा दीन है, वह परिग्रही तथा वैभवशाली होने के प्रयत्न मे भटकता रहता है। ज्ञानी आत्ममग्न होकर अनुभव करता है — **'शिवोऽहं शिवोऽहम्'**।

**क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।**
**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥**

---

[1] जो चेतन कँह जड़ करहि जड़हि करहि चैतन्य ।
अस समरथ रघुनाथ कहि भजहि जीव ते धन्य ॥

**शब्दार्थ :** तेषा अव्यक्तासक्तचेतसाम् क्लेश अधिकतर:=उन अव्यक्त निराकार ब्रह्म मे आकर्षित चित्तवाले पुरुषो का क्लेश (परिश्रम) अधिक है, हि=क्योकि, देहवद्भि. अव्यक्ता गति दु ख अवाप्यते=देहधारियो द्वारा अव्यक्तविषयक गति कष्टपूर्वक प्राप्त की जाती है ।

**वचनामृत :** सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म मे आकृष्ट चित्तवाले उन पुरुषो के साधन मे क्लेश अधिक है, क्योकि देहधारियो अर्थात् देहाभिमानी पुरुषो द्वारा अव्यक्तविषयक गति कष्टपूर्वक प्राप्त की जाती है ।

**सन्दभ :** निर्गुण उपासना की कठिनाई का वर्णन करते हैं।

**रसामृत :** भगवान् की उपासना दो प्रकार की है—निर्गुण उपासना अथवा अभेद उपासना तथा सगुण उपासना अथवा भेद उपासना । भगवान् तो एक हैं, किन्तु ज्ञानी मायारहित, शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्गुण-निराकार परमब्रह्म परमात्मा के साथ अभेद अथवा एकरूपता मानकर उपासना करते है । शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा का अश आत्मा भी शुद्ध चैतन्यस्वरूप है तथा दोनो एक हैं। परमात्मा ही आत्मा के रूप मे अधिष्ठित है । इस उपासना के लिए अत्यन्त शुद्ध और स्थिरबुद्धि आवश्यक होती है । मैं देह नही हूँ, आत्मा हूँ—ऐसी सूक्ष्म बुद्धि देहधारियो के लिए कठिन है । देह होने पर देह का अभिमान करना स्वाभाविक-सा है । देहाभिमान रहते वैराग्य नही होता और विना वैराग्य के निर्गुण उपासना नही होती ।

परमात्मा ही मायाशक्ति द्वारा जगत् का रचयिता ईश्वर है और आत्मा ही माया से आवृत होकर जीव अथवा जीवात्मा है । ज्ञानी मायाशक्तिवाले ईश्वर को, माया से आवृत जीव को और माया से उत्पन्न जगत् को असत् मानता है । मैं शुद्ध चैतन्य परमात्मा का अश शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ तथा दोनो के एक तत्त्व होने के कारण मैं परमब्रह्म परमात्मा हूँ । केवल ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्म के सिवा कही कुछ नही है । जगत् के समस्त दृश्य पदार्थ तथा देह, मन, बुद्धि, अहकार आदि सब मिथ्या हैं तथा ब्रह्म मे आरोपित हैं और वास्तव मे वे भी ब्रह्मरूप ही हैं। यह जगत् स्वप्न की भाँति परमात्मा मे कल्पित है । सुषुप्ति (गहरी नीद) मे जीव, जगत् और ईश्वर का अभाव हो जाता है तथा केवल द्रष्टा (शुद्ध ब्रह्म) रहता है। जिसका भाव (सत्ता) है, उसका अभाव (न होना) कभी नही होता । केवल ब्रह्म ही सत् है । दृश्य नष्ट होते हैं, किन्तु द्रष्टा नष्ट नही होता । चित्रशाला मे चित्रपट पर दृश्य दीखते है तथा उनके नष्ट होने पर द्रष्टा रह जाता है । यद्यपि जगत्-प्रपच मे ब्रह्म आरोपित है और दृश्यरूप जगत् मे भी परमात्मा व्याप्त है, तथापि वह दृश्यरूप जगत् से परे है । स्वप्न का दृश्य स्वप्न के द्रष्टा से उत्पन्न होकर उसीमे विलीन हो जाता है । परमात्मा सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप है ।[1] अन्त करण (मन, बुद्धि, चित्त और अहकार) के पीछे तथा उससे परे शुद्ध आत्मतत्त्व है अथवा परमात्मा आत्मा के रूप मे विराजमान है, जो माया से आवृत होकर जीव के रूप मे कर्मानुसार जन्म-मरण के चक्र मे भटक रहा है । अपने को देह, मन, बुद्धि, चित्त और अहकार से परे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, आत्मस्वरूप, परमात्मस्वरूप, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप मानना ही ज्ञान है । ज्ञान की साधना सिद्ध होने पर, ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के एक होने पर, साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । ज्ञानी की दृष्टि मे केवल ब्रह्म की ही सत्ता अथवा अस्तित्व है—मैं स्वय ब्रह्म हूँ, यह जगत् ब्रह्म है, सर्वत्र ब्रह्म ही है । गुरुमुख से महावाक्यो (सर्वं खलु इद ब्रह्म इत्यादि) के सुनने, उन पर मनन करने तथा उनको जीवन मे उतारने का अभ्यास इन्द्रिय-सयम एव वैराग्यपूर्वक करना कठिन होता है । निगुण-उपासना द्वारा मन मे जगत् को मिटाकर सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करना अत्यन्त कठिन है । ज्ञानी की दृष्टि मे

---

१ सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म—तैत्तिरीय उप० ।

'मैं और तू' एक हो जाते हैं तथा भेदरूप द्वैत नही रहता। ज्ञान-दृष्टि से शत्रु और चोर मे भी मैं हूँ। सासारिक इच्छा करना एक दोष है। चिन्ता और भय भ्रान्ति हैं, जैसे रज्जु मे सर्प की भ्रान्ति होती है। चिन्ता और भय होने से जो 'जीव' कहलाता है वह चिन्ता और भय से मुक्त होकर ब्रह्म है। देह-बुद्धि ( मैं देह और इन्द्रियाँ आदि हूँ ) होने के कारण जीव चिन्ता, भय, शोक, क्रोध, दु ख मानता है। दु ख अज्ञान का लक्षण है, जो ज्ञान से दूर होता है। ससार के सब नाते देह-बुद्धि के कारण होते हैं, अतएव मिथ्या है।

किन्तु जब व्यावहारिक जीवन मे मान, अपमान, सकट, हर्ष आदि का अवसर आता है तो मनुष्य को ज्ञान का अनुसरण करना कठिन हो जाता है। भक्त परमात्मा के मायाशक्तिसम्पन्न परमेश्वररूप की उपासना करते हैं। परमात्मा मायावी जादूगर की भाँति ईश्वर बनकर जगत् की रचना करता है, जगत् मे व्यक्त होता है तथा जगत् उसका स्थूल स्वरूप होता है। जादूगर अपने पिटारे में से सामग्री निकालकर खेल करता है तथा अन्त मे सब सामग्री को समेटकर पुन उसीमे रख लेता है। परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तिर्यामी, सर्वज्ञ, धारक, पोषक तथा परमपिता है। वह परमकारुणिक है, परमकृपालु है, दीनबन्धु है। भक्त भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करता है तथा कर्म करके उसे ईश्वर को अर्पण कर देता है। वह तीर्थ, व्रत, दान, भजन, कीर्तन, स्मरण आदि द्वारा भक्ति मे निरत रहता है। ज्ञानमार्गी अपनी ज्ञान-साधना पर निर्भर होता है, किन्तु भक्तिमार्गी तो अपना सम्पूर्ण भार भगवान् पर ही सौंप देता है। वह आत्मसमर्पण द्वारा अपनी समस्त चिन्ता भगवान् पर छोड़ देता है।[१]

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि देहधारी मनुष्य अपने चित्त को अमूर्त की अपेक्षा मूर्तरूप मे अधिक सरलतापूर्वक एकाग्र कर सकता है। भक्त इस जगत् को भगवान् का व्यक्त रूप मानता है तथा शिव, विष्णु राम, कृष्ण आदि मनुष्याकार रूपो मे भगवान् की उपासना करता है। वह मूर्ति-पूजा मे भी रस लेता है।[१] मनुष्य सगुण, साकार परमेश्वर की व्यक्तिक भक्ति द्वारा कालान्तर मे निर्गुण, निराकार परमात्मा के साथ एकरूप भी हो सकता है।[२] भगवान् श्रीकृष्ण निर्गुण, निराकार परमब्रह्म की उपासना की निन्दा नही करते,

१ रामकृष्ण परमहस अनेक वार यह दृष्टान्त देते थे कि ज्ञानी बन्दर के बच्चे की तरह होता है, जो बन्दर से चिपटता है, किन्तु भक्त बिल्ली के बच्चे की भाँति होता है, जो अपने को बिल्ली को सौंप देता है। बिल्ली उसे मुख मे लेकर घूमती है तथा उसे दाँतो मे रखकर भी उसे दाँत चुभने नहीं देती।

१. गाधीजी इस श्लोक का अर्थ लिखकर यह टिप्पणी लिखते हैं—"देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूप की केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमूर्त स्वरूप के लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नही है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्द से सन्तोष करना ठहरा। इस दृष्टि से मूर्ति-पूजा का निषेध करनेवाले भी, सूक्ष्म रीति से विचारा जाय तो, मूर्तिपूजक ही होते हैं। पुस्तक की पूजा करना, मन्दिर में जाकर पूजा करना, ये सभी साकार पूजा के लक्षण हैं। तथापि साकार के उस पार निराकार अचिन्त्यस्वरूप है, इतना तो सवके समझ लेने मे ही निस्तार है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवान् मे विलीन हो जाय और अन्त मे केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान् ही रह जाय। पर इस स्थिति को साकार द्वारा सुलभता से पहुँचा जा सकता है, इसलिए निराकार को सीधे पहुँचने का मार्ग कष्टसाध्य बतलाया है।" गाधीजी कर्मयोगी भक्त थे।

२. येनेदं पूरितं सर्वमात्मनैवात्मनात्मनि।
निराकारं कथ वन्दे ह्यभिन्नं शिवमव्ययम्॥
—अद्भुतगीता

—दत्तात्रेय कहते हैं, मैं उसे कैसे प्रणाम करूँ, जिसने प्रत्येक वस्तु को स्वय अपने द्वारा अपने मे ही व्याप्त किया है तथा जो निराकार ( अरूप ) है, अभिन्न है, आनन्दमय है और अनश्वर है।

सामान्य मनुष्यो के लिए उसकी अपेक्षा भक्ति की सुगमता पर बल दे रहे हैं। विवेकशील व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार एक मार्ग का आश्रय लेकर अन्य मार्गों से भी लाभ उठाता है। कर्मयोगी भक्त के लिए ज्ञान-मार्ग से मोह-त्याग, भय-त्याग वैराग्य-भाव इत्यादि के लिए प्रेरणा लेना समुचित है। मन में विचार की दृढता होते हुए भी मनुष्य को सुनम्य रहना चाहिए। सकीर्ण कट्टरवाद प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। ज्ञानयोग द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे मुक्तता, नित्यता और दिव्यता का आभास होता है। कर्मयोग एव भक्तियोग अधिक व्यावहारिक और सुगम है।

**ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा.।**
**अनन्येनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते ॥६॥**
**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात्।**
**भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥**

**शब्दार्थ:** ये तु मत्परा सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य=तथा (परन्तु) जो भक्तजन मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मों को मुझमे अर्पित करके, मां एव अनन्येन योगेन ध्यायन्त उपासते=मुझे ही अनन्यभाव से ध्यान, चिन्तन करते हुए भजते हैं, पार्थ=हे अर्जुन, तेषां मयि आवेशितचेतसा=उन मेरे मे चित्त लगानेवाले भक्तो का, अहं नचिरात् मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि=मैं शीघ्र ही मृत्युरूप ससार-सागर से अच्छी प्रकार उद्धार करनेवाला होता हूँ। (नचिरात्=अचिरात्, अचिर ही)।

**वचनामृत:** परन्तु जो मेरे परायण होनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझ (सगुणरूप परमेश्वर मे अर्पण करके मुझे ही अनन्य भक्तियोग से (निरन्तर चिन्तन करते हुए) भजते हैं, हे अर्जुन, उन मुझमे चित्त लगानेवाले भक्तो का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप ससार-सागर से उद्धार करनेवाला हूँ।

**सन्दर्भ** भगवान् सगुणोपासकों का उद्धार स्वय करते हैं।

**रसामृत:** भगवान् श्रीकृष्ण निर्गुण तथा सगुण उपासना का पृथक्-पृथक् वर्णन करते हुए दोनो की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। जो मनुष्य ज्ञान का आश्रय लेकर परमात्मा को प्राप्त होने की कठिन साधना करते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु जो अनन्यभक्त भगवान् का भरोसा लेकर भगवान् के परायण होते हैं, भगवान् को अपने कर्म अर्पण करते हैं तथा भगवान् का निरन्तर चिन्तन करते हैं, उन भगवान् मे आसक्त सगुणोपासको का ससार-सागर से उद्धार भगवान् स्वय करते हैं।

जो मनुष्य भगवान् को अपना परम सुहृद्, परम आश्रय, परमपद तथा सर्वस्व मान लेते है, वे भगवत्परायण होते हैं। भगवत्परायण मनुष्य दु ख को भगवान् का प्रसाद मानकर चिन्ता और भय से मुक्त रहते हैं।[1]

भक्त अपने भीतर विराजमान सर्वान्तर्यामी भगवान् की प्रेरणा से कर्म करता है तथा वह कर्म का न अभिमान करता है और न कर्म मे आसक्त होता है। वह भगवान् के विधान मे अपने को निमित्तमात्र मानता है।[2] वह अपने समस्त कर्म भगवान् को समर्पित कर देता है तथा उनके फल से सम्बन्ध नही रखता। भगवान् को पत्र, पुष्प और फल के सदृश कर्म समर्पण करनेवाला भक्त कभी निकृष्ट कार्य नही कर सकता। कोई अपने प्रिय और प्रेमी को सडे हुए पत्र-पुष्प-फल भेंट नही करता।

अनन्य भक्तियोग की महिमा विलक्षण है। जो मनुष्य भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य का आश्रय

---

१ ज्ञानी कहता है कि मिथ्या जगत् के दु ख, शोक, मोह, भय और चिन्ता रज्जु में सर्प की भाँति मिथ्या हैं, किन्तु भक्त अपने दु खों को भगवान् का प्रसाद मानकर स्वीकार कर लेता है अथवा उन्हें भगवान् को सौंप देता है।

२ ज्ञानी अपने को कर्म का कर्ता और फल का भोक्ता नहीं मानता, भक्त अपने को निमित्तमात्र मानता है।

नही लेता, किसी अन्य की शरण ग्रहण नही करता तथा भगवान् के प्रेम के बिना जीवित भी नही रह सकता और भगवान् के प्रेम मे दृढ रहता है, वह अनन्यप्रेमी होता है। साधारण प्रेमी के प्रेम मे स्वार्थ हो सकता है, किन्तु अनन्यप्रेमी के प्रेम मे स्वार्थ की गन्ध भी नही होती।[1] कष्टो से पलायन के लिए स्वार्थ-दृष्टि से भगवान् के पास जानेवाले अनन्यप्रेम के प्रभाव और फल को नही जान सकते।

अनन्यप्रेमी भगवान् का निरन्तर स्मरण करता रहता है। उसका मन परमात्मा मे निरन्तर बसा रहता है। जहाँ मन होता है, वही मनुष्य होता है। जिसका मन धन, वैभव, विलासिता, मान-बडाई मे होता है, वह उन्हीकी उधेडबुन मे लगा रहता है। जिसका मन भगवान् मे बसा रहता है, उसे निरन्तर भगवान् के मनमोहक स्वरूप और मधुर नाम का स्मरण रहता है। वह ससार के समस्त कर्म करता हुआ मन मे भगवान् के साथ सलग्न रहता है।

भगवान् श्रीकृष्ण आश्वासन[2] देते है कि ऐसे अनन्य भगवद्भक्तो की देखभाल भगवान् स्वय करते हैं तथा इस भवसागर मे उनका बेड़ा पार कर देते हैं। भवसागर मे मृत्यु और जन्म तरगो की भाँति हैं। भक्त को मृत्यु भयप्रद नही प्रतीत होती, क्योकि उसकी जीवन-नौका प्रभु स्वय खेते हैं। भगवान् भक्त का समुद्धार स्वय करते हैं[3]।

---

१. जाहि न चाहिय कबहुँ कछु
तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु उर
सो राउर निज गेह॥

२. गीता ९.२२ में भगवान् श्रीकृष्ण भक्तो के योगक्षेम का आश्वासन देते हैं।

३. समुद्धर्ता का अन्य अर्थ सम्यक् प्रकार से उत् उत्तम निर्गुण ब्रह्म में हर्ता ( धारणा कर देनेवाला ) भी किया गया है।

निर्गुण उपासको को परमात्मा की प्राप्ति मे परिश्रम करना पड़ता है तथा बहुत समय लग जाता है, किन्तु सगुणोपासक भक्त का हाथ भगवान् 'नचिरात्' अर्थात् शीघ्र ही पकड़ लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सगुणोपासना को सुलभ और सुगम कहते हैं। जिन मनुष्यो का स्वभाव वैराग्य की ओर नही है तथा जिनमे प्रेमभाव की अतिशयता है, उनके लिए भक्ति मार्ग श्रेष्ठ है। साधक को अपने स्वभाव के अनुसार कर्म और भक्ति से युक्त प्रवृत्ति-मार्ग तथा वैराग्य और सन्यास से युक्त निवृत्ति-मार्ग मे से एक चुनना चाहिए। अन्त मे दोनो मार्ग भगवद्प्राप्तिरूप एक ही गन्तव्य को प्राप्त हो जाते हैं।

**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।**
**निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥८॥**

**शब्दार्थ : मयि मन आधत्स्व मयि एव बुद्धि निवेशय**=मुझमे मन को स्थिर कर दे—मुझमें ही बुद्धि को रख दे अर्थात् प्रविष्ट कर दे। **अतः ऊर्ध्वं मयि एव निवसिष्यसि**=इसके पश्चात् तू मुझमें ही निवास करेगा, **सशय न**=( इसमें ) सशय नहीं है।

**वचनामृत :** मुझमें अपने मन को स्थिर कर दे तथा मुझमे ही बुद्धि को प्रविष्ट कर दे। इसके पश्चात् तू मुझमे ही निवास करेगा। इसमे कुछ भी सशय नही है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण अर्जुन को सगुण उपासना करने का आदेश देते हैं।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण निर्गुण उपासना की अपेक्षा सगुण उपासना की सुगमता का प्रतिपादन करके अर्जुन को सगुण उपासना करने अर्थात् भक्ति-मार्ग का आश्रय लेने का आदेश देते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इससे पूर्व अर्जुन को कर्मयोग का अधिकारी मानकर अनेक बार निष्काम कर्म करने का उपदेश एव आदेश दे चुके हैं। अब अर्जुन

को भक्तियोग[1] का अधिकारी मानकर उसके आलम्बन की आज्ञा देते हैं। वास्तव मे मनुष्य एक समय मे एक ही नौका पर आरूढ हो सकता है। एक ही समय मे दो नौकाओ पर आरूढ होने का प्रयत्न पतनकारक सिद्ध होता है।

पहले किसी वस्तु को जानना, समझना और निश्चय करना आवश्यक होता है, किन्तु केवल बुद्धि से जानना, समझना और निश्चय करना ही पर्याप्त नही, क्योकि जानने और समझने से केवल जिज्ञासा का समाधान होता है। अत जानने और समझने के साथ ही उसे मन से वैसा ही मानना चाहिए तथा ग्रहण करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। पहले भगवान् को स्वाध्याय, सत्सग इत्यादि से जानना और समझना चाहिए और उसके साथ ही मन से उसे वैसा ही मानना भी चाहिए। तत्पश्चात् भगवत्प्राप्ति के लिए साधना करनी चाहिए।

समस्त साधन मे मन का मुख्य महत्त्व है।[2] मन के कारण ही सुख और दु ख होते हैं। बुद्धि की अपेक्षा मन अधिक बलवान् होता है। जहाँ मनुष्य का मन होता है, बुद्धि उसका अनुसरण करते हुए वही चली जाती है। वास्तव मे बुद्धि की प्रधानता होने से तथा मन पर बुद्धि का अकुश होने से ही कल्याण सभव है। मन तथा बुद्धि के परस्पर सहयोग करने पर ही मनुष्य जीवन मे प्रगति कर सकता है। बुद्धि के द्वारा दृढ निश्चय, समर्थन एव पुष्टि होने पर ही मन की आसक्ति स्थिर एव सात्त्विक रह सकती है। मन की बलवत्ता के कारण श्रीकृष्ण अर्जुन को भगवान् मे सकल्प-विकल्पात्मक मन स्थिर करने का आदेश देते हैं। मन और बुद्धि के तल्लीन होने पर मनुष्य भगवद्-भक्ति मे निमग्न हो सकता है। ससार के अनित्य तथा क्षुद्र विषयो मे भटकता हुआ मनुष्य कभी शाश्वत शान्ति प्राप्त नही कर सकता। ससार के विषयो से कभी शान्ति प्राप्त नही हो सकती। मनुष्य विषयो के प्रति अनासक्त होकर ही भगवद्-भक्ति के रस मे निमग्न हो सकता है। भगवान् सम्पूर्ण जगत् का पिता और पोषक है। सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, सर्वशक्तिमान् और परम दयामय है—ऐसा जानने और समझने पर मन को विषयासक्ति से हटाकर निरन्तर भगवान् के दिव्य चिन्तन मे लगानेवाला भक्त भगवान् को प्राप्त कर लेता है। भगवान् श्रीकृष्ण पुन आश्वासन देते हुए कहते हैं कि इसमे कोई सशय नही है कि श्रेष्ठ भक्त का उद्धार भगवान् स्वय करते हैं।

**अथ चित्त समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।**
**अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥**

**अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।**
**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥**

---

[1] गीता में भक्तियोग कर्मयोग के अन्तर्गत है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि लोक में कर्तव्य कर्म करते हुए अपने भीतर भक्तिभाव रखना चाहिए। बाह्य कर्म का सम्बन्ध आन्तरिक भक्तिभाव से होना चाहिए। कर्म बाह्य व्यवहार है तथा भक्ति आन्तरिक रस है।

[2] जब मन लागे राम सों तब न अनत कहुँ जाय।
दादू पानी लोन ज्यों ऐसे रहे समाय॥
या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयाना॥
—श्रीमद्भागवत, १० ४४.१५

—अर्थात् जो दोहन करते समय, कूटते समय, बिलोते समय, लीपते समय, शिशु-पोषण करते समय, झुलाते समय, रोते हुए शिशुओ को लोरी देते समय, जल छिड़कते समय, झाडू देने आदि के समय प्रेमपूर्ण चित्त से अश्रु-सहित, गद्गद कण्ठसहित श्रीकृष्ण का गुणगान करती हैं तथा श्रीकृष्ण मे मन लगानेवाली हैं, वे गोपियाँ धन्य हैं। भागवत मन को भगवान् मे लगाने के अनेक उदाहरणों से पूर्ण है।

**शब्दार्थ :** अथ=यदि, चित्तं मयि स्थिरं समाधातुं न शक्नोषि=चित्त[1] को मुझमे स्थिर रूप से स्थापित करने के लिए समर्थ नहीं है, ततः धनञ्जय अभ्यासयोगेन मां आप्तुं इच्छ=हे अर्जुन, अभ्यास-योग मे मुझे प्राप्त होने के लिए इच्छा ( प्रयत्न ) कर, अभ्यासे अपि असमर्थः असि=( यदि ) अभ्यास में भी असमर्थ है, मत्कर्मपरमः भव=( तो ) केवल मेरे लिए ही कर्म करनेवाला हो जा, मदर्थं कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिं अवाप्स्यसि=मेरे लिए कर्मो को करता हुआ भी सफलता ( भगवत्प्राप्ति ) प्राप्त कर लेगा।

**वचनामृत :** यदि तू मन को मुझमे स्थिरता से स्थापित नही कर सकता तो, हे अर्जुन, अभ्यासरूप योग से मुझे प्राप्त होने के लिए इच्छा ( प्रयत्न ) कर। यदि तू ऐसे अभ्यास मे भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिए ही कर्म करनेवाला बन। मेरे लिए अथवा मेरे निमित्त कर्मो को करता हुआ भी तू सफलता प्राप्त कर लेगा अर्थात् भगवान् को प्राप्त हो जायगा।

**सन्दर्भ :** यदि मन और बुद्धि भगवान् मे न लगा सके तो क्या करें ?

**रसामृत :** जगद्गुरु श्रीकृष्ण अपने गम्भीर जिज्ञासु शिष्य अर्जुन के माध्यम से मानवमात्र को जीवन के उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण का सन्देश देकर उसकी प्राप्ति के लिए अनेक दुर्गम और सुगम उपायो का वर्णन करते है। जो वैराग्यवृत्ति से युक्त और चिन्तनशील मनुष्य निर्गुण-निराकार परमब्रह्म के साथ एकरूपता प्राप्त करने के अधिकारी हैं, वे उसकी साधना कर सकते हैं, किन्तु जो उसे दुर्गम मानते हैं, वे भगवान् की सगुणोपासना करे। भगवान् के किसी सगुण-साकार स्वरूप का आधार लेकर अनन्य-भक्ति करना सगुणोपासना की चरमसीमा है। अनन्य-भक्ति का अर्थ है भगवान् मे मन और बुद्धि को पूर्णतः लगा देना अर्थात् भगवान् को मन और बुद्धि का समर्पण कर देना। श्रीकृष्ण कहते है कि यदि कोई मनुष्य अपने जीवन की विकट परिस्थितियो के कारण विचलित होने से भगवान् मे मन और बुद्धि को न लगा सकता हो तो उसे धैर्य रखकर इसका अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास से कठिन काम सरल हो जाते हैं। जल मे तैरना कठिन है, किन्तु अभ्यास से वह सरल हो जाता है। अभ्यास से पूर्णता प्राप्त होती है। अभ्यास से शुकसारिका तक कठिन ध्वनियो का उच्चारण कर लेते है। अभ्यास एक योग के सदृश है अथवा एक योग ही है। स्वाध्याय, सत्सग, मौन, जप ध्यान इत्यादि के द्वारा मन को विषयो से हटाकर भगवान् मे लगाने का प्रयत्न करते रहना अभ्यास है। मन को अभ्यास द्वारा नियन्त्रित एव अनुशासित रखना साधक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[1]

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि समय के अभाव के कारण अथवा धैर्य के अभाव के कारण भगवान् मे मन और बुद्धि लगाने का अभ्यास करना सम्भव न हो तो भी निराश होने की आवश्यकता नही है।

---

१ यद्यपि चित्त और मन कुछ भिन्न हैं, तथापि प्रायः इन्हे एक ही माना जाता है। बुद्धि निर्णय और निश्चय करती है, मन संकल्प-विकल्प करता है, चित्त चेतना मे डूबकर चिन्तन मे सहायक होता है। वास्तव मे ये तीनों मस्तिष्क के ही पक्ष अथवा शक्तियाँ है।

१ गीता के छठे अध्याय मे ( विशेषत ६ ३५ ) मन के निग्रह के उपाय कहे गये हैं। पतञ्जलि के योगशास्त्र मे भी मन को एकाग्र करने के लिए उपाय कहे गये हैं। अभ्यास के अन्तर्गत वैराग्य है। रामकृष्ण परमहंस दृष्टान्त द्वारा समझाते थे कि एक कुत्ता अपने शौकीन मालिक की गोद मे चढकर उसका मुँह चाटने लगता था। एक बार उसके मित्र ने यह देखकर इसकी भर्त्सना की। मालिक को भी समझ आ गयी और उसने कुत्ते के इस अभ्यास को तोड़कर उसे शान्त बैठने का अभ्यास करा दिया। वह अनुशासित हो गया। मन कुत्ते की भाँति चचल है। इसका नियन्त्रण आवश्यक है। ॐ का मन मे अथवा मन्द स्वर में जप करना मन को साधने में विशेष सहायक होता है। 'अभ्यास' का अर्थ मन को विषयों से हटाते हुए इष्टदेव के स्वरूप मे लगाना भी किया गया है।

यदि मनुष्य अपने कर्मों की आसक्ति छोडकर केवल भगवान् की प्रसन्नता के लिए[1] उसी प्रकार कर्म करना ही सीख ले, जैसे योद्धा राज्य के लिए युद्ध करता है, तो भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

**अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।**
**सर्वकर्मफलत्याग ततः कुरु यतात्मवान् ।११।**
**श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यान विशिष्यते।**
**ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।१२।**

**शब्दार्थ** अथ=यदि, एतत् अपि कर्तुं अशक्त असि=इसे भी करने मे असमर्थ है, तत यतात्मवान् मद्योग आश्रित =तो जीते हुए मनवाला मेरे योग का आश्रय लेकर अर्थात् कर्मयोग के अन्तर्गत ही, सर्वकर्मफलत्यागं कुरु=सब कर्मों के फल का ( मेरे लिए ) त्याग कर दे। हि=क्योकि, अभ्यासात् ज्ञान श्रेय =( बिना समझे हुए तथा बिना मन लगाये हुए ) अभ्यास स मात्र सामान्य ज्ञान ( सुनने और पढ़ने से अपनी बुद्धि के अनुसार प्राप्त परमेश्वर सम्बन्धी ज्ञान, पुस्तकीय ज्ञान ) अधिक अच्छा है, ज्ञानात् ध्यान विशिष्यते=मात्र ज्ञान से भगवान् का ध्यान करना अधिक अच्छा है, ध्यानात् कर्मफलत्याग.=ध्यान से सब कर्मों के फल का ( भगवान् के लिए ) त्याग करना ( अच्छा है ), त्यागात् अनन्तरं शान्ति =त्याग से तत्काल शान्ति ( प्राप्त होती है )।

**वचनामृत** यदि तू इसे ( भगवान् के लिए ही कर्म करना, भगवान् का निमित्तमात्र मानकर कर्म करना, भक्तिपूर्ण कर्मयोग का पूर्वकथित साधन ) करने मे असमर्थ है, तो मेरे योग के आश्रित होकर मन-बुद्धि को जीतनेवाला होकर समस्त कर्मों के फल का त्याग कर। क्योकि, अभ्यास से ( बिना सोचे-समझे अभ्यास करने से ) ज्ञान प्राप्त करना श्रेष्ठ है, ज्ञान प्राप्त करने से ध्यान करना श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग करना श्रेष्ठ है। कर्मफल के त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त हो जाती है।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण भक्ति की प्रगाढता के लिए कर्मफल-त्याग का महत्त्व कहते हैं।

**रसामृत** मनुष्यो के स्वभाव, सामर्थ्य, रुचि और परिस्थिति सभी भिन्न होते हैं। अतएव सबके लिए एक ही उपाय उपयुक्त नही होता। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्ण अनेक साधनो का वर्णन करते हुए अर्जुन से कहते हैं कि वह अपने स्वभाव और सामर्थ्य के अनुसार किसी एक साधन को अपनाकर उसका आश्रय ले ले। यदि स्वार्थवृत्ति, लोभवृत्ति इत्यादि के कारण मनुष्य भक्तियुक्त होकर भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अथवा भगवान् का निमित्त बनकर कर्म करने मे असमर्थ हो तो अपने मन को वश मे रखकर समस्त कर्मों के फल का त्याग करना ही सीख ले। समस्त कर्मों के फल का त्याग करना भी भगवान् की प्राप्ति के लिए उत्तम साधन है। जिन मनुष्यो मे भगवद्भक्ति नही है, वे अपने कर्मों के फल का त्याग करके भी भगवत्प्राप्ति कर सकते हैं।

श्रीकृष्ण कर्मफल-त्याग का महत्त्व समझाने के लिए साधनो का तुलनात्मक विवेचन करते हुए कहते हैं कि मन को भगवान् मे स्थिर करने के लिए बिना सोचे-समझे यन्त्र के सदृश, विवेकरहित पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन आदि का अभ्यास करने की अपेक्षा भगवान् को जानने का प्रयत्न करना अथवा भगवद्सम्बन्धी मात्र साधारण परोक्षज्ञान प्राप्त करना अधिक अच्छा है किन्तु भगवान् के सम्बन्ध मे साधारण परोक्ष अथवा शब्द-ज्ञान से भी अधिक अच्छा ध्यान द्वारा उसका अनुभव करना है। ध्यान की सफलता के लिए मन की अनासक्ति अथवा कर्मफल-त्याग महत्त्वपूर्ण होता है तथा ध्यान कर्मफल-त्याग अथवा आसक्ति-त्याग के बिना सफल नही होता। इस दृष्टि से मात्र ध्यान से भी अधिक उत्तम कर्मफल का त्याग है।

---

[1] 'मत्कर्म' अनन्य-भक्ति के पाँच लक्षणो मे से एक है ( गीता, ११ ५५)। मत्कर्म अथवा मदर्थ कर्म का अर्थ भगवान् के लिए कर्म करना है, किन्तु इसका अर्थ कीर्तन-भजन आदि करना भी किया गया है।

बडे-बडे ध्यानयोगी जो समाधिस्थ होना भी जानते हैं, आसक्ति का त्याग न करने के कारण अकस्मात् पतित होकर पशुओ की भाँति निकृष्ट आचरण करते हैं। कर्मफल का त्याग अर्थात् कर्मफल मे आसक्ति का त्याग तत्काल शान्ति देता है।[1] ससार के विषयो मे आसक्ति का त्याग समस्त आध्यात्मिक साधना का प्रथम तथा प्रमुख साधन है। अनासक्ति कर्मयोग का तो सारभूत तत्त्व है। श्रीकृष्ण कहते है कि बहिरग साधना की अपेक्षा अन्तरग साधना का अधिक महत्त्व है। कर्मफल की आसक्ति का त्याग गीता के उपदेश का मुख्य प्रतिपाद्य है।

---

१ बारहवें अध्याय के बारहवें श्लोक के विभिन्न अर्थ किये गये हैं। सभी अर्थ अपने-अपने दृष्टिकोण मे ठीक कहे जा सकते हैं। ८, ९, १० तथा ११वें श्लोक का आशय क्रमश इस प्रकार है—आठवें मे—मन और बुद्धि को भगवान् मे लगाने का उपदेश, नवें मे—यदि वह कठिन हो तो-अभ्यास द्वारा इसके लिए प्रयत्न करने का उपदेश, दसवें मे—यदि मन को स्थिर करके भगवान् मे लगाने का अभ्यास कठिन हो तो—भगवान् के लिए कर्म करने का उपदेश, ग्यारहवें मे—यदि भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करना कठिन हो तो—कर्मों के फल को त्याग देने का उपदेश तथा बारहवें मे कर्मफल त्याग से साधना प्रारम्भ करने का उपदेश। महात्मा तिलक कहते हैं कि बारहवें श्लोक द्वारा श्रीकृष्ण ने कर्मयोग की श्रेष्ठता कही है। वास्तव में इस श्लोक मे ज्ञानयोग, ध्यानयोग तथा कर्मयोग की तुलना नहीं की गयी है। अभ्यासयोग की चर्चा गीता मे (८८) मे हो चुकी है, किन्तु यहाँ 'अभ्यास' उससे भिन्न केवल अभ्यास का ही बोधक है। कर्मफलत्याग से प्राप्त शान्ति का अर्थ मात्र चित-शान्ति ही है, मुक्तिस्वरूपा शान्ति नही। मुक्तिस्वरूपा शान्ति ज्ञान के परिपाक से प्राप्त होती है। मनुष्य किसी भी कठिन परिस्थिति मे हो, उसे कर्मफल की आसक्ति का त्याग करते ही निर्भयता और चित्त की शान्ति प्राप्त हो जाती है।

**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र' करुण एव च।**
**निर्ममो निरहंकारः समदु खसुखः क्षमी ॥१३॥**
**सन्तुष्ट सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चय ।**
**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥**

**शब्दार्थ :** सर्वभूताना अद्वेष्टा=सारे प्राणियो के प्रति द्वेषरहित, **मैत्रः च करुण एव**=सबका प्रेमी और करुणामय हितैषी, **निर्मम. निरहंकार. समदु.खसुखः क्षमी**=ममत्वरहित, अहकाररहित, सुख-दु ख में सम, क्षमावान् है, **यः सतत सन्तुष्ट. योगी**=जो सदा सन्तुष्ट है, योगी अर्थात् भगवान् के साथ भक्तियोग द्वारा नित्ययुक्त है, **यतात्मा दृढनिश्चयः**=आत्म-सयमी है, दृढ निश्चयवाला है, **स मयि अर्पितमनोबुद्धि मद्भक्तः मे प्रियः**=वह मुझमे मन और बुद्धि अर्पित करनेवाला मेरा भक्त, मेरा प्रिय है।

**वचनामृत** जो पुरुष सब प्राणियो के प्रति द्वेषरहित, सबका प्रेमी है, दयालु है, ममत्वरहित है, अहकाररहित है, सुख-दु ख मे सम है, क्षमाशील है, जो सदा सन्तुष्ट है, नित्ययुक्त है, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ जिसके वश मे हैं और भक्ति मे दृढ-निश्चयी है, मुझमे मन और बुद्धि अर्पण करनेवाला, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

**सन्दर्भ :** श्लोक १३ से २० तक ८ श्लोको मे भक्त के लक्षण कहे गये हैं। इन्हे कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत** मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसा ही बन जाता है। मनुष्य जैसी सगति मे रहता है, जैसा दृश्य देखता रहता है तथा जैसी पुस्तके पढता है, वैसे सस्कार उसके मन मे अकित हो जाते हैं। मनुष्य अपने चिन्तन और विचारधारा से ही सुखी और दु खी होता है, यद्यपि वह भ्रमवश अपने सुख और दु ख के लिए दूसरो को उत्तरदायी कह देता है। मनुष्य अपने सुख-दु ख के लिए स्वय ही उत्तर-दायी है, दूसरे नही। वास्तव मे, मनुष्य सद्गुणो को विचार, वाणी और व्यवहार मे अपनाकर सुख और शान्ति का स्रोत बन जाता है तथा अपने चारो ओर सुख और शान्ति का प्रसार करता है।

सद्गुणी उत्तम पुरुष की सभी सराहना और पूजा करते हैं तथा सभी उसे अपना प्रिय बनाना और उसका प्रिय बनना चाहते हैं। दुर्गुणी मनुष्य के सम्मुख तो लोग भयवश या शीलवश कुछ नही कहते, किन्तु उसको किसीके हृदय का प्रेम और मान नही मिलता, भले ही वह धनपति, विद्या मण्डित अथवा सत्ताधारी हो।

भगवान् का चिन्तन करने से, भगवान् का नाम-कीर्तन करने से तथा भगवान् का गुणानुवाद करने से मनुष्य भगवान् जैसा हो जाता है। भगवान् सद्गुणो का स्रोत है। भगवान् की भक्ति मनुष्य को सद्गुणो से परिपूर्ण कर देती है। भगवान् अखण्ड आनन्द का स्रोत है। भगवान् की भक्ति मनुष्य को अखण्ड आनन्द से परिपूर्ण कर देती है। भक्ति मनुष्य के जीवन को रसमय बना देती है। भक्ति से मनुष्य का अहकार विगलित हो जाता है और मनुष्य निरहकार होकर भगवान् का यन्त्र बन जाता है तथा भगवान् का सन्देशवाहक दूत हो जाता है। उत्तम भक्त पके हुए फल की भाँति रस-मय एव मधुर हो जाता है तथा खिले हुए पुष्प की भाँति सुगन्धित एव आकर्षक हो जाता है। भक्ति-योग की सिद्धावस्था अनिर्वचनीय होती है। उत्तम भक्त पूर्ण सन्त हो जाता है। वास्तव मे अनन्य भक्त के लक्षण श्रेष्ठ सन्त अथवा पूर्ण मानव के लक्षण हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अनन्यभक्त के गुणो (विशेष-ताओ) मे से कतिपय प्रधान गुणो की चर्चा करते हैं। शतदल कमल की भाँति उसके गुण चारो ओर सुख, शान्ति और सौन्दर्य का प्रसार करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा वर्णित अनन्य भक्त का एक-एक गुण ही जीवन को रूपान्तरित करने मे पर्याप्त है, इन सब गुणो के समूह का प्रभाव तो अमित और अनन्त है। वास्तव मे केवल तोते की तरह नाम रटने से, यत्र की भाँति कीर्तन-भजन करने से अथवा दूसरो को दिखाने के लिए आडम्बर करने से कोई लाभ नही होता। भगवान् को मन-मन्दिर मे बसाने से भगवान् मनुष्य के विचार, वाणी और व्यवहार मे प्रकट होने लगते हैं। वास्तव में इन गुणो को पृथक्-पृथक् विकसित करना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार वृक्ष के मूल को सीचने से कोमल किसलय, सुगन्धित पुष्प और मधुर फल प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार अनन्य भक्ति से जीवन-वृक्ष को सीचने पर जीवन-वृक्ष लहलहा उठता है, उस पर नित्य वसन्त का सौन्दर्य छिटकने लगता है और समाज के लिए उत्तम फल देनेवाला काम-वृक्ष हो जाता है। अनन्य भक्ति से जीवन-वृक्ष को सीचने पर सद्गुण पल्लवो, पुष्पो और फलो की भाँति स्वत विकसित हो जाते हैं। अनन्य भक्ति की महिमा अनन्त है।

भगवान् श्रीकृष्ण अनन्य भक्त के लक्षणो का प्रारम्भ प्रथम अक्षर 'अ' से करते हैं। भक्त अद्वेष्टा होता है। वह समस्त प्राणियो के प्रति द्वेष-रहित होता है। द्वेष से ही कलह और अशान्ति उत्पन्न होती है। अद्वेष से ही समस्त गुणो का प्रारम्भ होता है तथा प्रथम श्लोक मे वर्णित गुणो (अद्वेष, मैत्री, कारुण्य, निर्ममत्व, निरहकारिता, दु ख-सुखसमभाव तथा क्षमाशीलता) का विस्तार ही शेष श्लोको मे अन्य गुणो के द्वारा किया गया है। अद्वेष अहिंसा के मूल मे स्थित है। वास्तव मे अद्वेष, मैत्री और कारुण्य–ये तीन गुण ब्रह्मा, विष्णु, महेश की भाँति अभिन्न हैं अथवा एक-दूसरे के पूरक हैं।

वास्तव मे, भेद मानने से अर्थात् दूसरो को अपने से पराया मानने से द्वेष उत्पन्न होता है। भक्तिभाव के प्रगाढ होने पर भेदभाव निर्मूल हो जाता है। उत्तम भक्त समस्त प्राणियो में हरि-दर्शन करता है तथा उसके मन मे किसीके प्रति द्वेष एव घृणा नही होती।[1] ईर्ष्या, द्वेष और घृणा

---

1 उमा जे रामचरन रत
बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत
केहि सन करहिं बिरोध॥

का विस्फोट कलह एव क्रोध के रूप मे होता है। अनेक लोग अकारण द्वेषी होते है तथा सबसे द्वेष करते हैं। ऐसे मनुष्य समाज मे अकेले पड जाते हैं और उनका द्वेष उन्हे ही विनष्ट कर देता है, जैसे लोहे का जग लोहे को भी खा जाता है। मान-बडाई की भूख के कारण द्वेषभाव विद्वानो, तपस्वियो और सन्यासियो का भी पीछा नही छोडता। कुछ लोग जाति, धर्म, सम्प्रदाय और देश की सकीर्णता से ग्रस्त होकर द्वेष करके स्वय को दूषित कर लेते हैं। अपनी अपेक्षा अधिक योग्य एव गुणवान् व्यक्ति से द्वेष करने के बजाय उससे प्रेरणा लेनी चाहिए। प्रतिद्वन्द्विता मनुष्य को विनाश की ओर, प्रतिस्पर्धा विकास की ओर उन्मुख करती है। वास्तव मे मनुष्य अपनी द्वेष-भावना के कारण व्यर्थ ही दूसरो को शत्रु बना लेता है।

किन्तु दूसरो के प्रति द्वेष न रखना ही पर्याप्त नही है। द्वेप को पूर्णत निर्मूल करने के लिए सद्भाव अर्थात् मैत्रीभाव होना आवश्यक है।[१] मैत्रीभाव का अर्थ है सहायक प्रेमभाव। द्वेष निषेधात्मक है, मैत्री धनात्मक है। वास्तव मे प्रेम मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव है तथा द्वेष मानव-स्वभाव के विरुद्ध है। प्रेम क्रिया है, द्वेष प्रतिक्रिया है। जो मनुष्य प्रेम के स्थान पर कपट करते हैं, वे सहज स्वभाव के प्रतिकूल जाकर क्लेश उठाते हैं। अनन्य भक्त एव सन्त छल, कपट, द्वेष, घृणा, अपमान के बदले मे भी सदैव प्रेम ही करते है। प्रेम का सारतत्त्व करुणा है। भक्त भगवान् की भाँति हेतुरहित दयालु होता है। यदि कोई मनुष्य पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन, अर्चना-वन्दना, जप-ध्यान, व्रत-तीर्थाटन आदि करता है, किन्तु दीन-दु:खी-जनो के प्रति करुण नही है तो उसकी भक्ति मात्र दम्भ अथवा पाखण्ड ही है। यदि पिता पुत्र की, पति पत्नी की, बडा छोटे की, गुरु शिष्य की, स्वामी सेवक की, उद्योगपति श्रमिक की तथा प्रशासक प्रजा की कठिनाई और आवश्यकता को समझकर उनके प्रति करुणापूर्ण व्यवहार करे तो धरती स्वर्ग हो जाय। जो विद्या, क्रिया, सिद्धान्त, मत तथा मनुष्य करुणा का तिरस्कार करते है, वे पैशाचिक होते हैं तथा मानवता के लिए अभिशाप बन जाते हैं। इतिहास क्रूर शासको के गीत नही गाता, बल्कि करुणावतार सन्तो की गाथाओं का उल्लेख स्वर्णिम अक्षरो मे करता है। करुणा त्याग देने पर अर्थात् क्रूर होकर ही मनुष्य शोषण, अन्याय और अत्याचार करता है तथा परमेश्वर की कृपा से वचित होकर नाना प्रकार के दु:ख पाता है। सभी महापुरुष करुणामय होते है। भगवद्भक्त का हृदय सुकोमल होता है तथा वह कष्ट उठाकर और अपमान सहकर भी दूसरो को सुख देता है। जो भगवद्भक्त के साथ प्रवञ्चना करते हैं, वे न केवल प्रभु-कृपा से वचित रह जाते हैं, बल्कि दैवी प्रकोप के भाजन होते हैं।[१] करुणाभाव से प्रेरित होने पर ही ससार मे श्रेष्ठ सेवा-कार्य किये जाते है। प्रेमपूर्ण करुणा अथवा करुणापूर्ण प्रेम पृथ्वीलोक का अमृत है।

अनन्यभक्त निर्मम[२] होता है अर्थात् वह ससार की किसी वस्तु पर अपना ममत्व अथवा एकाधिकार नही मानता तथा किसी वस्तु के प्रति मोह नही करता। वास्तव मे ममत्व अथवा मोह प्रेम का विकृत रूप है। प्रेम उदारता एव व्यापकता है तथा

---

१ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥
—सभी सुखी हो, नीरोग हो, सबका कल्याण हो, कोई दु खी न रहे।
'सुखी रहें सब जीव जगत् के दुखिया रहे न कोई।'



---

१. जो अपराध भगत कर करई,
राम रोष पावक सो जरई॥

२. निर्ममो निरहंकार स शान्तिमधिगच्छति।
—गीता, २ ७१

मोह सकीर्णता एव क्षुद्रता। प्रेम से करुणा और सेवाभाव का उदय होता है तथा मोह से क्लेश और कष्ट का। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो शरीर भी अपना नही है, सभी कुछ नश्वर है। अतएव विवेकशील मनुष्य वस्तुओ का सदुपयोग करता है तथा मोहपूर्ण परिग्रह नही करता।

मेरा-तेरा का कलुषित भाव कलह और क्लेश का कारण है। निर्मम होना और निरहकार होना परस्पर अन्योन्याश्रित है। जो मनुष्य मोहरहित होता है, वह अहकाररहित होता है तथा जो निरहकार होता है, वह निर्मोह होता है। भक्त अत्यन्त निरहकार होता है। अहकारी मनुष्य कभी सच्ची सेवा नही कर सकता। अहकार मनुष्य को प्रभु से और जन-समाज से दूर कर देता है। मनुष्य निरभिमान होकर ही सेवा करता है। भक्तिभाव मनुष्य के अहकार को विगलित कर देता है तथा मोह को ध्वस्त कर देता है। कुछ मूढ जन आध्यात्मिक उपलब्धियो का न केवल अभिमान करते हैं, बल्कि दुरुपयोग भी करते है। भगवद्भक्त दीन अर्थात् नितान्त निरभिमान होता है। उसकी दीनता हीनता की परिचायक नही, बल्कि अपार प्रेम, उदारता, करुणा और सहनशीलता की द्योतक होती है। अनन्यभक्त तृण से भी अधिक छोटा, वृक्ष से भी अधिक सहनशील होता है तथा स्वय अभिमावरहित होकर दूसरो को मान देता है। सन्त जन दुष्टो के दुर्वचनो को ऐसे ही सहर्ष सहन कर लेते है, जैसे पर्वत मेघ की छोटी-छोटी बूँदो के आघात को।[1]

उत्तम भक्त ( सन्त ) किसीका अपमान तो कदापि नही करते, किन्तु आतकवश वैभव, विलास एव सत्ता के सामने नही झुकते।[1] वे मन के दीन नही होते, भिखारियों की भाँति याचना भी नही करते।[2] जिसे प्रभु स्वय दे, वह किसका भिखारी हो ? भक्त की दीनता एक शोभा होती है। भक्त की दीनता उसकी निरहकारिता, उदारता एव महानता की परिचायक होती है।

भक्त की एक प्रमुख विशेषता है उसका सुख-दु ख मे अविचल रहना।[3] जिस प्रकार उदयकालीन तथा अस्तकालीन सूर्य की काति एक सी रहती है, उसी प्रकार महापुरुष सम्पत्ति और विपत्ति मे एक-से रहते हैं। उनके मुख पर सुख और दु ख कदापि प्रतिबिम्बित नही होते। वास्तव मे भक्तगण के आनन्द का स्रोत तो भीतर विराजमान भगवान् का स्वरूप होता है। वे बहिर्जगत् के सुख-दु ख से प्रभावित नही होते। भक्त सुख की परिस्थिति मे बौराते नही तथा दु ख की परिस्थिति मे बौखलाते नही। भगवान् के विधान को स्वीकार करनेवाला भक्त सुख और दु ख मे समबुद्धि अथवा समभावस्थित रहता है। उसे न सासारिक सुख की चाह होती है और न दु ख की परवाह। सुख और दु ख मन की अवस्था होती है तथा

---

१ तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिन मानदेन कीर्तनीय सदा हरि ॥
—चैतन्य महाप्रभु

बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे,
खल के बचन सत सह जैसे।

---

१ सन्त कुम्भनदास ने मुगल शासक के राजकीय निमत्रण पर जाने पर कहा था

सतन को कहा सीकरी सों काम,
आवत जात पन्हहि टूटी बिसरि गयो हरि नाम।
जिन मुख देखे दुख उपजत है, करनी परी सलाम ॥

२ हम हैं दास विहारिन के
जो दियो न लै सो माँग कहा ?

सत तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' दीनता के भाव से परिपूर्ण है।

तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो।
बारेक कहिये कृपालु, तुलसीदास मेरो ॥

३. गीता में सुख-दु ख में सम रहने का उपदेश अनेक स्थानों पर है। ( २ ५६ इत्यादि )

उसका सम्बन्ध परिस्थिति से नही, बल्कि विचार-धारा से होता है। कुछ लोग सब-कुछ पाकर भी दु खी रहते हैं तथा कुछ लोग अभाव मे भी प्रसन्न रहते है। लोग सुखी या दु खी रहने का स्वभाव बना लेते है और अपने स्वभाव से विवश भी रहते है। जिसने दु खी रहने का स्वभाव बना लिया, उसे कौन और कैसे सुखी बनाये ? तथा, जिसने अपने को सुखी मानने का स्वभाव बना लिया, उसे कौन दु'खी बना सकता है ? मोह एव आसक्ति ही दु ख का कारण है। जो भीतर सुख नही मानता, वह बाहर के पदार्थों मे सुख खोजने मे भटकता रहता है। भक्त पद, सत्ता, सम्पत्ति के चले जाने पर भी सुखी रहता है, क्योकि उसके भीतर प्रियतम प्रभु विराजमान है।

भक्त उदारहृदय तथा क्षमाशील होता है। जो मनुष्य उचित अवसर पर सच्ची क्षमा[1] करना नही जानता, वह कुटिल, अधम और निकृष्ट है तथा सदा दु खी रहता है। क्षमा मन को निर्मल करती है तथा कटुता के विष को धो देती है। कटु शब्दो अथवा कटु व्यवहार का मन मे प्रभाव न होने देना तथा प्रतिशोध का जाग्रत न होना क्षमा का लक्षण है। क्रोध उत्पन्न होने का अवसर होने पर भी क्रोध न करना तथा व्यक्तिगत मान-अपमान से ऊपर उठे रहना उत्तम क्षमा का लक्षण है।[2] वास्तव मे भक्त के हृदय मे असीम प्रेम तथा करुणाभाव होने के कारण वह अत्यन्त सहनशील होता है और उचित अवसर पर सहजभाव से क्षमा कर देता है। केवल मुख से क्षमा माँगना या क्षमा कर देना कपट व्यवहार है। क्षमा द्वारा मनुष्य की परीक्षा होती है।

सन्तोष समता, सुख और शान्ति का आधार है। जिसे अपनी प्रत्येक परिस्थिति मे सन्तोष होता है, वह सदा सुखी और शान्त रहता है तथा वह कष्ट मे भी विचलित नही होता। सन्तोष-वृत्ति होने पर ही मनुष्य हीनभाव से मुक्त रह सकता है। अपनी चतुर्दिक् उन्नति के लिए प्रयत्न एव पुरुषार्थ करते हुए प्राप्त उपलब्धि मे सन्तोष माननेवाला मनुष्य सन्तुलित रह सकता है। जो मनुष्य अपने उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न सँजोते हैं, किन्तु उपलब्धि इच्छा और आशा के प्रतिकूल होती है, तब उन्हे घोर निराशा अभिभूत करके व्याकुल और अशान्त बना देती है। पुरुषार्थ के साथ फल-प्राप्ति के विषय मे सन्तोष धारण करके ही मनुष्य प्रसन्न रह सकता है। सन्तोष उत्तम भक्त का लक्षण है। विषयानुरागी सन्तोष धारण कर नही सकता, किन्तु भगवदनुरागी के लिए सन्तोष धारण करना सरल है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि भक्त अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति मे निरन्तर सन्तुष्ट एवं सम रहता है। वह प्रत्येक परिस्थिति को भगवान् द्वारा प्रदत्त एव कल्याणप्रद मानकर पूर्णकाम एवं प्रसन्न रहता है तथा सदैव भगवान् को धन्यवाद देता रहता है। सन्तोष-वृत्ति के विकास के लिए निरन्तर सावधान रहकर अभ्यास की आवश्यकता होती है। भगवान् के साथ भक्तियोग[1] द्वारा नित्ययुक्त पुरुष अथवा सिद्ध भक्त धन्य होता है।

**क्षमा बडन को चाहिए, छोटन को उत्पात।**
**का रहीम हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात॥**

---

१ गीता मे क्षमा के महत्त्व का अनेक प्रकार वर्णन है ( १० ४ इत्यादि )।

२ सन्त विनोबाजी कहते है कि ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि यदि क्रोध आ जाय तो उत्तेजित अवस्था मे कोई बाह्य क्रिया ( दुर्वचन कहना, आक्रमण करना इत्यादि ) न करें तथा क्रोध शान्त होने पर उचित पग उठायें।

**साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः।**
**समभावो भवेद् यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते॥**
—अध्यात्म उप०, ४७

१. गीता मे 'योग' को अनेक सन्दर्भों मे प्रयुक्त किया गया है। भगवान् के साथ नाता स्थापित होना योग है।

उत्तम भक्त का एक प्रमुख लक्षण यतात्मा होना है। मन, बुद्धि, इन्द्रियसमूह और देह को वश मे रखकर अर्थात् उन्हे अनुशासित करके ही मनुष्य जीवन मे प्रगति कर सकता है। भक्त अत्यन्त सरल, सहृदय और सकरुण होता है, किन्तु दृढ-निश्चयी होता है। दृढनिश्चयी पुरुष ही चचल मन को वश मे रखता है। उसे भगवान् की सत्ता के सम्बन्ध मे भी दृढनिश्चय होता है, कोई उसे मार्ग से विचलित नही कर सकता। भक्त की बुद्धि स्थिर होती है।

वास्तव मे भगवान् को अपना मन और बुद्धि सौंपकर अर्थात् अनन्यभाव से भगवान् मे मन और बुद्धि को लगाकर ही भक्त सासारिक विषयो के आकर्षण एव प्रभाव से मुक्त रह सकता है और भगवान् की दिव्यता मे निरन्तर तन्मय रह सकता है।

जो भक्त समस्त प्राणियो के प्रति द्वेषरहित और नितान्त निर्वैर है, सबके प्रति स्वार्थरहित प्रेम करता है और करुणापूर्ण है, मोहबन्धन से मुक्त और अहकाररहित है, दु ख-सुख मे समभाव-स्थित रहता है तथा क्षमाशील है, निरन्तर सन्तुष्ट और भगवान् के साथ भक्तिभाव द्वारा युक्त है, आत्मविजयी और दृढनिश्चयी है तथा मन और बुद्धि को भगवान् को अर्पित कर देता है, भगवान् उसे अपना बनाकर प्रेम करते हैं अर्थात् उस पर अपनी कृपा बरसाते हैं। ऐसा व्यक्ति पूर्ण भक्त, पूर्ण सन्त अथवा पूर्ण मानव होता है।

**यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।**
**हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य स च मे प्रिय ॥१५॥**

**शब्दार्थ :** यस्मात् लोक. न उद्विजते=जिससे लोक (कोई भी प्राणी) उद्वेग को प्राप्त नही होता, च य लोकात् न उद्विजते=और जो लोक से (किसी भी प्राणी से) उद्वेग को प्राप्त नही होता, च य हर्षामर्षभयोद्वेगै मुक्त=और जो हर्ष, अमर्ष (दूसरो की उन्नति देखकर सन्ताप, क्लेश और क्रोध करना), भय और उद्वेग से मुक्त है, स मे प्रिय=वह मेरा प्रिय है।

**वचनामृत** जिससे कोई प्राणी उद्विग्न नही होता तथा जो स्वय भी किसी प्राणी से उद्विग्न नही होता और जो हर्ष, अमर्ष (द्वेष से उत्पन्न उत्तेजना, सन्ताप एव क्षोभ, ), भय और उद्वेग (व्याकुलता) से मुक्त है, वह भक्त मेरा प्रिय है।

**सन्दर्भ :** अनुद्विग्नता भक्त का लक्षण है।

**रसामृत** ससार मे चारो ओर उद्विग्नता (व्याकुलता) दिखाई देती है। कोई किसीको दुर्वचन और दुर्व्यवहार से उद्विग्न कर रहा है और कोई किसीके दुर्वचन और दुर्व्यवहार से उद्विग्न हो रहा है। सब एक-दूसरे को दोष देते रहते हैं। उद्विग्नता मनुष्य की शान्ति भग कर देती है और जीवन को दुर्वह भार बना देती है। भगवान् का भक्त अविचल शान्ति की मूर्ति होता है। वह न किसीको परेशान करता है और न स्वय किसीसे परेशान होता है। वह कभी किसीके मन को जान-बूझकर सन्ताप नही पहुँचाता। वह कोई ऐसा कार्य नही करता, जो दूसरो को सन्तप्त करता हो। वह अपने वचन और व्यवहार मे सावधान होकर ऐसी वाणी बोलता है और ऐसा आचरण करता है, जिससे दूसरो का सन्ताप दूर हो। मधुर वाणी और मृदु व्यवहार भक्त का स्वभाव बन जाता है। वह सबका स्वार्थरहित मित्र और सबके प्रति हेतुरहित दयालु होता है। वह चन्द्रमा जैसी शीतल वाणी और सेवा से दूसरो का सन्ताप-हरण करता है। यह उसका सहज स्वभाव होता है, किन्तु अनेक बार दुष्ट प्रकृति के लोग उसके पवित्र भाव को न देखकर उसकी न केवल निन्दा करते हैं, बल्कि उसके सेवा-कार्य मे अवरोध भी उपस्थित कर देते हैं। भगवद्भक्त प्रेमपूर्ण, उदार एव क्षमाशील होने के कारण विचलित नही होता तथा अपने मन को दूसरो की कुटिलता और कपट-नीति के कारण उद्विग्न नही होने देता। वह घोर कष्ट को भी प्रभु की इच्छा अथवा प्रसाद मानकर सहर्ष स्वीकार कर लेता है। भगवद्भाव में तन्मय भक्त-सन्त के

मन पर दूसरो के कुटिल, कृतघ्नतापूर्ण एव दुष्टतापूर्ण व्यवहार का ऐसे ही प्रभाव नही होता, जैसे जल पर रेखा खीचने का प्रभाव नही होता। दुष्टो का मन पत्थर की भाँति होता है, जिस पर आघात होने पर भेद-रेखा अमिट हो जाती है। भक्त का हृदय जल के सदृश होता है, जिसमे भेद-रेखा स्थिर नही रह सकती। भक्त के हृदय मे प्रसन्नता का अपार भण्डार होता है तथा कटुता और उद्विग्नता उसमे प्रवेश नही कर सकती। वह भीतर से अनुद्विग्न अर्थात् सम एव शात रहता है, क्योकि उसके जीवन का आधार दृढ होता है।

जिसका मन हर्ष और क्लेश से विचलित नही होता अर्थात् जो हर्ष और क्लेश के अवसर पर समचित्त रहता है तथा भय एव उद्विग्नता से मुक्त होकर शान्त रहता है वह भक्त भगवान् को प्रिय है। भगवान् श्रीकृष्ण भय को दु ख का विशेष कारण कहते हैं तथा गीता मे अनेक स्थलो पर भयमुक्त होने का उपदेश करते हैं।[1] मनुष्य धन-हानि, जन-हानि, मान-हानि, स्वास्थ्य-हानि, निन्दा और मृत्यु के भय से विशेष रूप से सत्रस्त होता है। यद्यपि सभी यह जानते हैं कि क्लेश, क्रोध, भय और चिन्ता मन एव देह को दुर्बल कर देते हैं, मनुष्य को दयनीय और निकृष्ट बना देते है, तथापि उनसे मुक्त होने का प्रयत्न नही करते। भगवान् की अनन्य भक्ति जीवन को ऐसा रसमय और आनन्दमय, सबल और समर्थ बना देती है कि मनुष्य को भय आदि विकार नही सताते। जो मनुष्य सर्वशक्तिमान् भगवान् की शरण मे जाकर भी भयमुक्त नही होते, वे मूढ हैं। जहाँ सच्चा विश्वास है, वहाँ भय और भ्रान्ति नही रहती। विश्वास से भय और भ्रान्ति दूर होती है।

**अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।**
**सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रिय.॥१६॥**

१ वीतरागभयक्रोधः (२५६) इत्यादि। अभय दैवी गुण है (१६१)।
'अभय मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो य।'

**शब्दार्थ :** य अनपेक्षः शुचि. दक्ष उदासीन गतव्यथ =जो अपेक्षारहित (आकाक्षा और आशा से रहित), शुचि (भीतर-बाहर पवित्र), दक्ष (कर्म तथा भक्ति मे निपुण, कुशल), उदासीन (अनासक्त, तटस्थ, निष्पक्ष), गतव्यथ (व्यथारहित), स सर्वारम्भपरित्यागी मद्भक्त मे प्रिय.=वह सब आरम्भो (कर्ता होने का अभिमान) का त्यागी मेरा भक्त मेरा प्रिय है।

**वचनामृत :** जो मनुष्य अपेक्षा (आकाक्षा और आशा) से रहित, भीतर और बाहर शुद्ध, कुशल (कर्तव्य-कर्म मे एव भक्तिभाव मे कुशल), उदासीन (तटस्थ एव निष्पक्ष) व्यथारहित (शान्त) है, वह सब आरम्भो का त्याग करनेवाला मेरा भक्त मेरा प्रिय है।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण भक्त के अन्य लक्षणो की चर्चा करते है।

**रसामृत** मनुष्य का स्वभाव है कि वह परिवार से, पडोस से, समाज और सारे जगत् से किसी कारण अथवा बिना कारण ही अनेक प्रकार की अपेक्षा, आकाक्षा और आशा करता है, किन्तु उनकी पूर्ति न होने पर उसे क्लेश होता है। विवेकशील मनुष्य परिवार, पडोस, समाज और सारे जगत् के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने मे इतिश्री समझता है तथा किसीसे कोई अपेक्षा नही करता। कौन व्यक्ति कैसा व्यवहार करेगा, यह कभी निश्चित नही होता तथा कोई किसीके आचरण का दायित्व नही ले सकता। विवेकी पुरुष कहता है—'नेकी कर, कुएँ मे डाल' अर्थात् नेकी करके उसे भूल जा। भगवान् का भक्त प्राणिमात्र मे प्रभु का दर्शन करता है तथा जन-सेवा को प्रभु सेवा मानता है। अनन्य-भक्त पूर्णकाम होता है। उसका प्रत्येक कर्म भगवान् की प्रसन्नता के लिए होता है। उसे किसीसे कोई शिकायत नही होती। वह सदैव आत्मसन्तुष्ट रहता है। वह अपने सुख के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नही होता। उसके आनन्द का स्रोत उसके भीतर ही होता है। भगवद्भक्त

अपने चारो ओर और अपने भीतर शुचिता को सुरक्षित रखता है।[1] भक्त अपने निवास-स्थानो, वस्त्रो आदि को स्वच्छ रखने के अतिरिक्त अपने मन को भी स्वच्छ रखता है। कपट, छल, कुटिलता और द्वेष मन को मलिन कर देते है विषय-वासना मन को ऊपर नही उठने देती। सत्सग, नाम-जप तथा सत्याचरण से मन निर्मल होता है।[2] भगवान् निर्मल मन मे ही विराजमान होते हैं। अपने प्रियतम प्रभु को मन मे प्रतिष्ठित करने के लिए भाव-शुचिता अर्थात् मानसिक शुचिता अत्यन्त आवश्यक है। शुचिता का अर्थ है अन्तरग और वहिरग शुचिता।

भगवद्भक्त निष्क्रिय नही हो जाता। वह अपने कर्तव्य के प्रति सहज एव सतर्क रहता है तथा कर्तव्य-निर्णय एव कर्तव्य-पालन मे दक्ष अथवा कुशल होता है। कर्तव्य-पालन मे शिथिलता एक दोष है। वास्तविक कुशलता बाहर और भीतर के साधनो से अर्थात् कर्मकुशलता तथा भक्तिमयता से प्रभु को प्राप्त होना है।

भगवद्भक्त उदासीन[1] अर्थात् अनासक्त होता है। वह अपने विरोधी अथवा समर्थक के प्रति व्यवहार मे निष्पक्ष, निर्लिप्त एव तटस्थ होता है तथा कर्मफल के सम्बन्ध मे उदासीन रहता है।

भगवद्भक्त असम्मान, उपेक्षा, हानि आदि होने पर व्याकुल नही होता, क्योकि वह नितान्त निस्स्वार्थ होता है तथा समस्त कर्म भगवान् की प्रसन्नता के लिए करता है। व्यक्तिगत आकाक्षा और आशा न होने के कारण चिन्ता और भय उसके मन को व्याकुल नही करते।

भगवान् का भक्त समस्त कर्मों के आरम्भ का त्याग कर देता है। उसे यह रहस्य ज्ञात होता है कि भगवान् सृष्टि को चलाते हैं और कोई मनुष्य भी किसी कर्म का आरम्भ नही कर सकता तथा सभी मनुष्य विभिन्न घटनाचक्रो से उत्पन्न विशेष परिस्थिति मे प्रवाहपतित कर्म करते हैं। अतएव भगवद्भक्त किसी कर्म को आरम्भ करने का अभिमान त्यागकर भगवान् का उपकरण अथवा निमित्तमात्र वन जाता है।[2] श्रेष्ठ भक्त कर्म करते हुए केवल कर्म-फल का त्याग ही नही, बल्कि कर्म करने के अहकार का भी त्याग कर देता है। साधारण भक्त कर्म करके उसके फल का अर्पण

---

१ अनेक लोग भक्ति के वहाने आलस्य और गन्दगी मे पडे रहते हैं तथा अपने को बाह्यत कुरूप बना लेते हैं। सादगी और गन्दगी मे भेद है। वेश तथा स्थान चाहे जैसे हो, किन्तु सादे और स्वच्छ होने चाहिए। शुचिता ही सौन्दर्य है। निवासस्थान, वस्त्रो आदि से मनुष्य के व्यक्तित्व की झलक मिल जाती है। महापुरुष सादे; किन्तु स्वच्छ होते हैं।

२ निर्मल मन जन सो मोहि पावा
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मन सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्या भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

अर्थात् शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से तथा बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

ॐ अपवित्र पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
य स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तर शुचि॥

अपवित्र और पवित्र, किसी भी अवस्था को प्राप्त, पुण्डरीकाक्ष विष्णु का स्मरण करनेवाला पवित्र हो जाता है।

---

१ वैर न विग्रह आस न त्रासा,
सुखमय ताहि सदा सब आसा।
—मानस, उत्तरकाण्ड

२ तिलकजी ने 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ काम्यफल देनेवाले सब आरम्भ अर्थात् उद्योग ( कर्मों ) का त्यागी किया है। गाधीजी ने इसका अर्थ 'सङ्कल्प-मात्र को त्याग देनेवाला' किया है। शङ्कराचार्य कहते हैं—"इस लोक और परलोक के फलभोग के लिए किये जानेवाले सभी कामनाहेतुक ( काम्य ) कर्मों का नाम सर्वारम्भ है।"

भगवान् को कर देता है, किन्तु अनन्यभक्त कर्म करने के प्रारम्भ का अभिमान ही नही करता, क्योकि वह भगवान् को अपने मन और बुद्धि का समर्पण करने के कारण भगवान् की प्रेरणा से और भगवान् का उपकरण अथवा निमित्त बनकर कर्म करता है।

**यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।**
**शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रिय ।१७।**

**शब्दार्थ : यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति**=जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न आकाक्षा करता है, **यः शुभाशुभ परित्यागी**=जो शुभ और अशुभ की आसक्ति एव उनकी चिन्ता और भय का परित्याग कर देता है, **स भक्तिमान् मे प्रिय** =वह भक्तिमान् मुझे प्रिय है।

**वचनामृत :** जो न हर्षित होता है और न द्वेष करता है, न शोक करता है, .न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ अर्थात् शुभ और अशुभ की आसक्ति को त्याग देता है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

**सन्दर्भ :** भगवान् श्रीकृष्ण भक्त के लक्षण कह रहे हैं।

**रसामृत :** मनुष्य अपने मन मे ससार की बाह्य घटनाओ का आधार लेकर सुख और दु ख के झूले मे ऊपर-नीचे होता रहता है तथा प्रयत्न करने पर भी कभी स्थिर, सम और शान्त नही रहता। उत्तम पुरुष अपने भीतर निरन्तर स्थिर, सम और शान्त रहता है तथा बाह्य घटनाओ से प्रभावित नही होता। वह बाह्य परिस्थितियो से भयभीत नही होता तथा शान्तिपूर्वक अपना कर्तव्य-कर्म करता है और शेष सब-कुछ भगवान् पर छोड देता है। भक्त अपने भीतर विराजमान भगवान् के साथ निरन्तर युक्त रहने के कारण सम और शान्त रहता है। वह समस्याओ का समाधान करने मे उद्विग्न नही होता। वह मन के अनुकूल वस्तु से हर्षित नही होता तथा प्रतिकूल वस्तु से द्वेष नही करता अर्थात् उसे अप्रिय नही कहता। वह प्रिय वस्तु के वियोग मे शोक नही करता और परमात्मा का आश्रय लेने के कारण चिन्ता और भय से भी ग्रस्त नही होता। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वेश्वर, परमदयालु भगवान् की भक्ति के रस में निमग्न होने के कारण सासारिक वस्तुओ को तुच्छ मानता है तथा उनके सयोग अथवा वियोग से प्रभावित नही होता। वह सुख देनेवाली शुभ और दु ख देनेवाली अशुभ घटनाओ के प्रति अनासक्त रहता है तथा प्रभु-प्रेरणा के अनुसार अपना कर्तव्य करते रहने मे सन्तोष मान लेता है। मनुष्य भक्ति मे दृढ़ होकर ही हर्ष और क्लेश, शोक[1] और इच्छा तथा शुभ और अशुभ के भय का परित्याग कर सकता है। हर्ष, क्लेश, द्वेष, शोक, इच्छा और इनसे सम्बद्ध भय और चिन्ता मन के विकार हैं, जो मनुष्य को स्थिर, सम और शान्त नही रहने देते। भक्ति-रस मे निमग्न पूर्णकाम पुरुष इन पर सहज ही विजय प्राप्त कर सकता है तथा कर्म मे निर्लिप्त रह सकता है।

**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो ।**
**शीतोष्णसुखदु खेषु सम सङ्गविवर्जितः ॥१८॥**
**तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।**
**अनिकेत स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर ॥१९॥**

**शब्दार्थ . शत्रौ मित्रे च मानापमानयोः समः** = शत्रु-मित्र मे और मान-अपमान मे सम, तथा **शीतोष्णसुखदुःखेषु सम** =और शीत-उष्ण, सुख-दु ख मे सम, **च सङ्गविवर्जित.** =और आसक्तिरहित है। **तुल्यनिन्दास्तुति** =निन्दा और प्रशसा मे समान, **मौनी** =मननशील, सयतवाणी बोलनेवाला, **येन केचित् सन्तुष्टः** = जिस किसी प्रकार से भी जीवन का निर्वाह होने मे सन्तुष्ट रहता है, **अनिकेत** =निवासस्थान के विषय मे

---

१ 'तत्र क शोक एकत्वमनुपश्यत.' अर्थात् परमात्मा के साथ एकात्म होने पर शोक कहाँ ?

२ **यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।**—भक्तिसूत्र—भगवान् को जानकर मत्त, स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है।

आसक्ति से रहित है, स्थिरमति भक्तिमान् नर मे प्रिय =स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् मनुष्य मेरा प्रिय है।

**वचनामृत :** जो शत्रु-मित्र मे और मान-अपमान मे सम है तथा शीत, उष्ण और सुख-दुःख मे सम है तथा आसक्तिरहित है, जो निन्दा-प्रशसा को एक-सा समझता है, मननशील तथा वाणी मे सयत है और जिस किसी प्रकार भी जीवन का निर्वाह हो जाय उसीमे सदा सन्तुष्ट है तथा निवास-स्थान मे आसक्ति नही रखता है, ऐसा स्थिरबुद्धि, भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

**सन्दर्भ :** समत्व भक्त का प्रमुख लक्षण है।

**रसामृत** भगवान् का भक्त सभी के प्रति प्रेम-मय होता है तथा सभी को उचित आदर-सम्मान देता है, किन्तु अनेक लोग ईर्ष्या-द्वेष आदि के कारण उसे भी अपना शत्रु मान बैठते हैं तथा उसे पाखण्डी, धूर्त, कपटी, कुटिल आदि कहकर उसकी निन्दा करते हैं। अनन्यभक्त समस्त प्राणियो मे भगवान् का दर्शन करता है[1] तथा किसीको शत्रु नही मानता। अनन्यभक्त का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रेमरसमिक्त होता है। वह सहजभाव से सबके साथ मैत्री, सहानुभूति और सहयोग का प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है। परोपकार उसका सहज-स्वभाव होता है। अनन्यभक्त सन्त होता है। वह उसी प्रकार सबके प्रति श्रेष्ठ व्यवहार करता है, जैसे वृक्ष अपने काटनेवाले और सीचनेवाले दोनो को फल, फूल और छाया आदि देता है। चन्दन का वृक्ष उस कुठार को भी सुगन्धित कर देता है, जो उसे काटता है। अनन्यभक्त की करुणा अपार होती है।

अनन्यभक्त को समत्व सिद्ध हो जाता है। समत्व का अर्थ है शरीर के विषय मे शीत और उष्ण आदि के प्रति सम होना, मन के विषय मे मान और अपमान तथा सुख एव दुःख के प्रति सम होना है। प्रकृति मे ऋतु-परिवर्तन का विधान मनुष्यो, पशु-पक्षियो तथा वनस्पति के हित मे ही है। किन्तु प्रत्येक पग पर सुख-सुविधा की आकाक्षा करनेवाला मनुष्य अपनी सहनशक्ति खो बैठता है और शीत मे उष्ण का तथा उष्ण मे शीत का अतिशय प्रबन्ध करने लगता है।[1] मनुष्य को अपने शरीर की क्षमता के अनुसार धीरे-धीरे शीत और उष्ण के प्रभाव को सहन करने का अभ्यास करना चाहिए। प्रकृति के विधान के प्रतिकूल चलते हुए भोजन आदि के विषय मे शीतकाल मे उष्ण की तथा उष्णकाल मे शीत की व्यवस्था करने का प्रयत्न शरीर को रोगी और मन को दुर्बल कर देता है। सारे अभ्यास का प्रारम्भ शरीर से ही होता है। शरीर को सहनशील और सशक्त बनाने के लिए तप और उपवास आदि का विधान है। जो मनुष्य अपने शरीर पर नियत्रण नही रख सकता और शारीरिक सुख-सुविधा के विषय मे अतिशय सजग रहकर शरीर का दास हो जाता है, वह जीवन मे कुछ उपलब्धि नही कर सकता। आलसी और आरामतलब आदमी निकम्मा हो जाता है। वास्तव मे शरीर आत्मा का निवासस्थान, वाहन और उसका उपयोगी यत्र है। शरीर-यत्र के स्वास्थ्य की सुरक्षा करना तो नितान्त आवश्यक है, किन्तु उसे सर्वोच्च महत्त्व देना मूढता है। शरीर के प्रति आसक्ति छोड़ने पर मनुष्य शरीर पर नियत्रण भी कर सकता है। शरीर के सम्बन्ध मे शीत और उष्ण आदि मे सहनशील होने से मनुष्य का मनोबल बढ जाता है तथा दुःख की परिस्थिति मे भी वह सहनशील रह सकता है।

---

१ एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या पुरुषोत्तमे॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्॥
—सर्वत्र गोविन्द का दर्शन करना एकान्त भक्ति है। पुरुषोत्तम में अहैतुकी और अव्यवहित (अचल) भक्ति निर्गुणयोग का लक्षण है।

१ विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी—ब्रह्म को जाननेवाला विद्वान् अतिवादी नही होता।

सुख और दु ख मन की अवस्था होती है। यह मनुष्य की विचारधारा और अभ्यास पर निर्भर होता है कि वह कितना सुख अथवा दु ख मानता है। विवेकशील मनुष्य विषम परिस्थिति मे भी परमेश्वर का विधान मानकर दु ख नही मानता।[१] जहाँ सुख की चाह नही होती, वहाँ दु ख का भय भी नही होता। विषयाभिमुख मनुष्य सासारिक सुखभोग को महत्त्व देता है, किन्तु भगवद्भक्त उसे तुच्छ मानता है। वह सासारिक लाभ-हानि से प्रभावित नही होता। वह सासारिक सुख-दु ख से ऊपर उठकर अखण्ड आनन्दावस्था मे रहता है।

प्राय मनुष्यो को प्रियजन, धनसम्पदा, पद और प्रतिष्ठा की हानि होने पर क्लेश का अनुभव होता है। अनेक बार मनुष्य प्रियजन, धनसम्पदा और पद का परित्याग भी कर देता है, किन्तु मान-प्रतिष्ठा का त्याग नही कर पाता। प्रतिष्ठा-हानि का भय कदाचित् मृत्यु-भय से भी अधिक दु खदायी होता है। विद्वान्, तपस्वी और सन्यासी भी प्राय. मान-बडाई के भूखे रहते हैं।

१ सुखदु:खस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमान:
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोक: ॥
कोउ न काहु सुखदुख कर दाता,
निजकृत कर्मभोग सब भ्राता।

—कोई दूसरा दुख दे रहा है, यह कुबुद्धि है। सब अपने पूर्वकृत कर्मों का फल प्रारब्ध बनकर सामने आता है। गीता २ १४, १५, ३८, ५६ मे सुख, दु ख के भाव से मुक्त होने अर्थात् उनसे ऊपर उठने का उपदेश है। मानव सेवा संघ के सस्थापक संत स्वामी शरणानन्द निपट अन्धे थे तथा अखण्ड आनन्दावस्था में रहते थे। उन्होंने दु ख और सुख के उपयोग द्वारा विवेक को जगाने का महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है।



मनुष्य मान-बड़ाई की भूख के कारण अपने गुणो के वर्णन से प्रसन्न तथा दोषो के वर्णन से दु:खी हो जाता है। सत्कार से सुखी और तिरस्कार से दु खी होनेवाला मनुष्य कभी स्थिरबुद्धि एव निश्चल नही हो सकता। मान-बडाई की इच्छा के कारण मनुष्य अपनी स्तुति की इच्छा करता है और दोष-वर्णन से डरता है। अनन्यभक्त निन्दा और स्तुति को तुल्य मानता है तथा अपनी प्रशसा सुनकर सुख नही मानता और निन्दा सुनकर क्लेश का अनुभव नही करता। निन्दा आत्मनिरीक्षण का अवसर देती है। निन्दा से मन का मैल धुलता है। व्यर्थ निन्दा करनेवाला स्वय मैला हो जाता है, दूसरो को मैला नही कर सकता।[१] विवेकशील मनुष्य किसीका अपमान और अपकार नही करता, किसीसे द्वेष नही करता तथा किसीको शत्रु नही बनाता, किन्तु दूसरो के द्वारा अपना अपमान, अपकार, द्वेष और शत्रुता होने पर भी प्रतिक्रिया के रूप मे अपने मन को मैला नही

१. कंचन तजना सहज है सहज तिया का नेह।
मान बड़ाई त्यागना कबिरा दुर्लभ येह ॥
निन्दक नियरे राखिए आंगन कुटी छवाय।
बिनु पानी साबुन बिना निर्मल करै सुभाय ॥
—कबीर

निन्दक बपुरा जनि मरै पर उपकारी सोय।
हमकू करता ऊजला आपन मैला होय ॥
—दादू

'निन्दक बाबा बीर हमारा।' —अर्थात् निन्दक हमारा भाई है।

निन्दा स्तुति उभय सम समता मम पदकञ्ज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमन्दिर सुखपुञ्ज ॥

अखबारो और इश्तहारो का सहारा लेकर कीचड उछालनेवाले लोग भी वास्तव मे अपने को ही गन्दा करते हैं। दूसरो के चरित्रहनन का प्रयत्न करना अपना ही चरित्र-हनन करना है।

करता। अनन्यभक्त तो सदा सम और शान्त रहता है और उसका मन राग-द्वेष रहित होता है।

अनन्यभक्त मौनी अर्थात् वाणी का सयमी होता है। वह निरर्थक अथवा अनर्थकारी वाणी कदापि नही बोलता। कभी-कभी एक अल्प अवधि के लिए वाणी का पूर्ण मौन रखकर ध्यान, जप, स्मरण, चिन्तन करना साधक के लिए उपयोगी होता है। मनुष्य का मन वाणी का निरोध करने पर भी निरन्तर बोलता रहता है। हठपूर्वक मन का मौन रखना उचित नही है। मन मे उत्तम चिन्तन-मनन करना तथा सयत वाणी बोलना मौन का व्यावहारिक रूप है। अनन्यभक्त आत्मसन्तुष्ट होता है। कष्टदायक परिस्थिति मे भी भगवान् की कृपा का अनुभव करते हुए सन्तोष मानने का अभ्यास करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[१] सन्तोष-वृत्ति का अभ्यास होने पर ही मनुष्य सन्तुलित और सम रह सकता है। जीवन मे चतुर्दिक् उन्नति के लिए कर्म करते हुए फल के विषय मे सतुष्ट रहना अर्थात् पुरुषार्थ के साथ सन्तोष का समन्वय करना आन्तरिक दृढता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सन्तोष का अर्थ अकर्मण्यता अथवा आलस्य नही है, बल्कि पुरुषार्थ के साथ फल मे सन्तोष धारण करना है। भगवद्भक्त वर्तमान को भगवान् का विधान मान उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है। जो सन्तुष्ट नही है, वह दु खी रहता है और ईश्वर के प्रति कृतघ्न होता है। अनन्यभक्त उसीको पर्याप्त मानकर सन्तुष्ट हो जाता है जो कुछ भी वह परिश्रम तथा न्याय से अर्जित कर पाता है। अनन्यभक्त धन, सम्पत्ति, सत्ता, प्रतिष्ठा आदि के प्रलोभन से मुक्त होता है तथा किसीके वैभव एव ऐश्वर्य को देखकर मन मे द्वेष का अनुभव नही करता तथा अभाव ( मेरे पास यह नही है ) की भावना से ग्रस्त नही होता।

अनन्यभक्त अपने निवास के सन्दर्भ मे वैभव-सामग्री की कल्पना नही करता। निवास-स्थान के प्रति ममत्व ( यह मेरा है ) एव आसक्ति से मुक्त होता है। प्राय मनुष्यो को निवास-गृह के विषय मे विशेष ममत्व होता है। गृहस्थ जन के लिए निवास-स्थान एक आवश्यकता है, किन्तु उसके विषय मे अतिशय मोहग्रस्त होना अविवेक है। वास्तव मे मनुष्य का अपना तो अपना कहे जानेवाला शरीर भी नही होता। इस ससार मे अपना क्या है? मृत्यु ममत्व के दम्भ को खण्डित कर देती है।

अनन्यभक्त के लिए स्थिरबुद्धि होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण है। यदि कोई मनुष्य धर्मग्रन्थो का अनुशीलन करता है, किन्तु मोह, शोक, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता और भय से ग्रस्त रहता है, तो यह शोचनीय स्थिति है। मनुष्य स्थिरबुद्धि होने पर ही मोह, शोक, लोभ, ईर्ष्या-द्वेष, चिन्ता और भय के अवसर समुपस्थित होने पर उनसे मुक्त रह सकता है। अनन्यभक्त भगवद्भक्ति मे दृढ होता है तथा सकट के अवसर पर भी विचलित नही होता। स्थिरता होने पर ही मनुष्य सम, सन्तुलित और शान्त रह सकता है। अनन्यभक्त स्थिरमति होता है।[१]

अनन्यभक्तिमान् पुरुष के लिए ये सब लक्षण स्वाभाविक हैं तथा साधक के लिए आदर्शरूप मे प्राप्य हैं।

**ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।**
**श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया ॥२०॥**

**शब्दार्थ :** तु ये मत्परमा श्रद्दधाना = परन्तु जो मेरे परायण हुए ( मुझे परम आश्रय और परमगति मानते हुए ) श्रद्धायुक्त पुरुष, इद यथा उक्त धर्म्यामृत

---

१ गीता ४ २२
वास्तव में सयम और सादगी का अभ्यास करनेवाला मनुष्य ही सतोष धारण कर सकता है। सन्तोष मनुष्य के कामना-नियन्त्रण अथवा आत्म-नियन्त्रण की क्षमता का सूचक होता है।

१ गीता के दूसरे अध्याय में इसे ही स्थितप्रज्ञता कहा गया है।

पर्युपासते=इस प्रकार कहे हुए धर्ममय अमृत का अच्छी प्रकार से सेवन करते हैं, ते भक्ताः मे अतीव प्रियाः= वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

**वचनामृत :** परन्तु जो मेरे परायण हुए श्रद्धा-युक्त पुरुष इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत का प्रेम-भाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण भक्त के लक्षणों का उप-संहार करते है।

**रसामृत :** अनन्य-भक्ति द्वारा इस जगत् का स्रष्टा, सचालक, धारक और पोषक, सर्वशक्तिमान् भगवान् के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होना मानव-जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि है। अनन्य-भक्ति ऐसा अमृत है, जिसके सेवन से मनुष्य शोक और मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य भगवान् को परमआश्रय एवं परमगति मानकर तथा श्रद्धा-युक्त[1] होकर अनन्य-भक्तिरूप अमृत का सेवन करते है, वे जीवन-काल मे ही मुक्त हो जाते हैं और भगवान् के प्रिय होते है। अनन्यभक्त पूर्ण मानव होता है। अनन्य-भक्ति का उपदेश धर्ममय अमृत है, जिसके सेवन से मनुष्य को अमरपद सुलभ हो जाता है। भक्ति-भाव के ग्रहण के लिए श्रद्धा, विश्वास की आवश्यकता सर्वोपरि है।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्-गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।

भक्तियोगनामक बारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

## सार-संचय

### द्वादश अध्याय : भक्तियोग

अर्जुन अपने परमगुरु श्रीकृष्ण से इस सृष्टि के रहस्य को, सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और विनाश के कारणभूत परमतत्त्व को, उसे प्राप्त करने की विधि को तथा अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेना चाहता है। यद्यपि गीतामृतपान करते हुए वह कभी-कभी भ्रमित एव विचलित हो जाता है, तथापि वह एक साहसी सत्यान्वेषी है तथा सन्देह के निवारण के लिए जिज्ञासुभाव से निवेदन कर देता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने तत्त्वज्ञान की महिमा मे अर्जुन से कहा था—'तू ज्ञान-नौका से निश्चय ही पापो को पार कर लेगा' (४ ३६), 'इस ससार मे ज्ञान के सदृश पवित्र करनेवाला निस्सन्देह अन्य कुछ भी नही है' (४ ३८), 'ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मेरा प्रिय है' (७ १७), 'ज्ञानी तो मेरी आत्मा (स्वरूप) ही है' (७ १८) इत्यादि। किन्तु राजयोग,[2] विभूतियोग तथा विश्वरूप-दर्शनयोग इत्यादि का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सगुण परमेश्वर की भक्ति

---

१ अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।

—गीता, ४.४०

इस अध्याय मे भक्त के लक्षण ३४ अथवा ३६ गिनाये गये हैं।

२ स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—'भगवद्गीता के मध्य मे जो श्लोक गीता को लगभग आधा इधर और आधा उधर गुरुत्व केन्द्र की तरह तौल देता है, वह यह है—अध्याय ९, श्लोक २२। भगवान् का यह तमस्सुक (इक-रारनामा) तब भी झूठ नही होगा, जब अग्नि की ज्वाला नीचे को बहने लगे और सूर्य पश्चिम से उदय होना आरम्भ कर दे और पूर्व में अस्त।" यह श्लोक (९ २२) गीता के ७०० श्लोकों मे ३६०वाँ है तथा राजयोग का सारसर्वस्व है।

का उपदेश किया। विश्वरूप-दर्शनयोग (अध्याय ११) के अन्त मे भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अनन्यभक्त हो जाने का आदेश दे दिया। उसने भ्रमित होकर गुरुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण से प्रश्न किया, "आप एक ओर निर्गुण-निराकार-निर्विशेष (विशेषणरहित) परमात्मा की उपासना को तथा दूसरी ओर अपने जगतायतरूप (विश्वरूप) को प्रदर्शित कर सगुण परमेश्वर के प्रति भक्तिनिष्ठा को श्रेष्ठ कह रहे हैं। निर्गुण-निराकार उपासना श्रेष्ठ है अथवा सगुण-साकार उपासना ? ज्ञानमार्ग अथवा भक्तिमार्ग ? प्रभु-प्राप्ति के लिए कौन सा मार्ग श्रेयस्कर है ?"

भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्ति की महिमा को प्रतिष्ठित करते हुए स्पष्टत कहा—"जो भक्तजन सगुणरूप परमेश्वर मे मन एकाग्र करके श्रद्धापूर्वक भगवान् की उपासना करते है, वे श्रेष्ठ हैं, किन्तु निर्गुण ब्रह्म के उपासक भी परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं। दोनो भगवान् को प्राप्त होते हैं। निर्गुणोपासना (ज्ञान) दु साध्य तथा सगुणोपासना (भक्ति) सुसाध्य है। हे अर्जुन, तू सगुणोपासना का ही अधिकारी है।'

ज्ञान[1] की महिमा अनन्त है। समस्त दृश्यमान जगत्-प्रपञ्च ब्रह्म है तथा ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नही है। परमात्मा सर्वोपाधिशून्य, निर्विशेष (विशेषताओ से रहित), निर्गुण (गुणरहित), निराकार (आकाररहित), शुद्ध सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परब्रह्म है। जब वह अपनी अनिर्वचनीय मायानामक शक्ति से सृष्टि की रचना करता है और उसका धारण, पालन और सहार करता है, उसे मायोपाधिसहित, विशेष, सगुण, साकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, परमेश्वर कहा जाता है। इसी प्रकार एक ही आत्मा के दो स्वरूप हैं—आत्मा और जीवात्मा। आत्मा शुद्ध, निरुपाधि (मायोपाधिरहित, मायारहित), चैतन्यस्वरूप निर्गुण-निराकार परब्रह्म का अश है, स्वय परमात्मा ही है तथा जीवात्मा मायोपाधिसहित (माया के आवरण द्वारा आवृत) है। ज्ञानी अनुभव करता है—"सब-कुछ आत्मा (अथवा परमात्मा) ही है, मैं सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही हूँ, मैं नित्य शुद्ध हूँ, मैं बुद्ध (ज्ञानस्वरूप) हूँ, मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, मैं आनन्दस्वरूप हूँ, मैं अजर-अमर हूँ।" यही परमात्मा की अभेद-उपासना अर्थात् मुझमे और परमात्मा मे भेद नही है अथवा अहग्रहोपासना (देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि से परे परमात्मस्वरूप आत्मा मैं ही हूँ, यह आत्मारूप 'अह' की उपासना) है। ज्ञान मार्ग का साधक वेद-वाक्यो[1] का श्रवण करके उन पर मनन करता है तथा निदिध्यासन करता है और कालान्तर में चित्त की वृत्तियो का निरोध होने पर माया का आवरण भग हो जाता है तथा नित्य शुद्ध परमात्मा का स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। देह, इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन इत्यादि सारा जगत् अनात्म है, नश्वर है और शुद्ध आत्मा से पृथक् है, इस प्रकार अनात्म और आत्म को पृथक् करने पर तत्त्वज्ञान का उदय होता है। ससार का अधिष्ठानस्वरूप शुद्ध चैतन्य-स्वरूप निर्गुण, निराकार, अखण्ड, अद्वैत परब्रह्म है। देह इत्यादि अनात्म तत्त्व मे 'अहभाव' (मैं देह हूँ यह भाव) का परित्याग करके निर्गुण,

---

१ 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय', 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', 'ज्ञानादेव कैवल्य' इत्यादि श्रुतिवचन ज्ञान की महिमा का उद्घोष करते हैं।

१ तत् त्व असि (वह ब्रह्म तू है), अह ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ), सर्वं खलु इद ब्रह्म (सब-कुछ निश्चय ही यह ब्रह्म है), सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म (ब्रह्म सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, अनन्त स्वरूप है), वेदवाक्य अथवा महावाक्य हैं। ज्ञानपरक विद्वानो का मत है कि द्वादश अध्याय में भक्त के लक्षण भी ज्ञानी के ही लक्षण हैं। उनकी दृष्टि से यह भी उचित है। यही व्यापकता भगवद्गीता की विशेषता है।

अखण्ड, अद्वैत परब्रह्म मे निरन्तर स्थिति प्राप्त करना दुष्कर एव दुस्साध्य है। अनात्म तत्त्व (जड शरीर तथा जगत् के पदार्थ) तथा आत्मतत्त्व का भेद करना (अर्थात् यह जड देह और जगत् मुझ आत्मस्वरूप से भिन्न है) ज्ञान-मार्ग का प्रथम सोपान है। जड देह और जगत् के पदार्थ सगुण ब्रह्म की माया हैं तथा ब्रह्मरूप ही हैं, अतएव 'वास्तव मे सब-कुछ ब्रह्म है', ऐसा भाव होना ज्ञान-मार्ग का दूसरा सोपान है। यह अभेद-दर्शन है। अभेद-दर्शन (सब-कुछ ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ) की अनुभूति होने पर परब्रह्म के साथ एकरूपता हो जाती है और ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।[1] परमात्मा के स्वरूप मे स्थित हो जाना मानव की सर्वोच्च अवस्था है। मैं परमात्मा का बेटा अथवा दूत नही हूँ, स्वय शिवस्वरूप[2] परमात्मा हूँ, मैं नित्य शुद्ध बुद्ध, मुक्त, अद्वितीय, आनन्दैकरस पर-ब्रह्म हूँ—ऐसी भव्य एव दिव्य अनुभूति अचिन्त्य है। यह माया अथवा प्रकृति साक्षीभूत चैतन्य द्वारा प्रकाशित, प्रवर्तित एव नियन्त्रित है, मिथ्या एव नश्वर है तथा परमात्मा की सकल्प-शक्ति है, जो परमात्मा से भिन्न नही हो सकती। मनुष्य ने अज्ञानवश अपने को भिन्न मान लिया, अपने से भिन्न कुछ नही है। अभेद अथवा एकत्व ब्रह्म है, भेद अथवा विषमता जगत् है। वास्तव मे सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म भी एक ही ब्रह्म है। समस्त कर्म चित्त-शुद्धि के लिए होते हैं, चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान का उदय हो जाता है।[3] चित्त-शुद्धि, तत्त्वज्ञान और ब्राह्मी स्थिति—यह आध्यात्मिक प्रगति का क्रम है। भजन, पूजन, कीर्तन, तीर्थ आदि भी अज्ञान-निवारण के साधन हैं। ज्ञान ही भजन-पूजन है तथा ब्रह्मसाक्षात्कार (आत्मस्वरूप मे ही परमात्मा के एकत्व की दिव्यानुभूति) परमपूजा है, मोक्षरूप परमपद है। मनुष्य ब्रह्मानुभूति होने पर जीवन्मुक्त हो जाता है तथा शरीर-पात होने पर ब्रह्मलीन हो जाता है।

एक परमात्मा ही सृष्टि से पूर्व था, वही सृष्टि मे ओत-प्रोत है, सृष्टि उसीमे विलीन होती है तथा सृष्टि के कण-कण मे वही व्याप्त है। उसने कामना की कि मै बहुत हो जाऊँ, प्रजा उत्पन्न करूँ तथा वही इस जगत् मे अनुप्रविष्ट हो गया।[1] सर्वत्र वही अखण्ड अद्वैत है। अद्वैत (अभेद) ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। सर्वत्र एकत्व की अनुभूति होना परम उपलब्धि है तथा अभय-पद है। मिथ्या ससार के क्षणिक सुखो का त्याग करके तथा आनन्दस्वरूप

---

१ 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'योह परंब्रह्म वेद ब्रह्मैव स भवति', 'ब्रह्मविदाप्नोति परं।'

२ 'सर्वप्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं', 'नेह नानास्ति किंचन', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'मायामात्रमिदं द्वैतं'।

३. चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।
वस्तुसिद्धि. विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभि ॥

—अर्थात् कर्म का विधान चित्त-शुद्धि के लिए है, परमार्थ वस्तु की उपलब्धि के लिए नही है, वस्तु उपलब्धि विचार (चिन्तन, मनन) द्वारा ही सम्भव है।

ज्ञानयोग. परापूजा ज्ञानात्कैवल्यमश्नुते।
तुर्यैव परमापूजा साक्षात्कारस्वरूपिणी ॥

—वशिष्ठ

—अर्थात् ज्ञान ही श्रेष्ठ पूजा है, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।

१ 'तदैक्षत बहुस्या प्रजायेयेति' छान्दोग्य उप०—उस सत् ने ईक्षण किया—मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ। 'सोऽकामयत'—बृहदारण्यक उप०—उसने इच्छा की, उसने कामना की। 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' बृहदारण्यक उप०—पहले यह आत्मा ही था। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' बृहदारण्यक उप०—पहले केवल वह ब्रह्म ही था। 'सोऽकामयत बहुस्या प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वं असृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्—तैत्तरीय उप०, २ ६—उसने इच्छा की कि मैं अनेक हो जाऊँ, मैं उत्पन्न होऊँ। उसने तप किया और तप करके उसने यह सब उत्पन्न किया, जो कुछ भी है। वह इसे उत्पन्न करके इसमे प्रविष्ट हो गया।

परमात्मा के साथ एकात्म होकर मनुष्य सदा के लिए आनन्दस्वरूप हो जाता है। भय के अस्तित्व का कारण भेद-भाव अथवा द्वैतभाव है। सब अपना ही रूप है, ऐसा अभेद मानने पर भय नही रहता। जिससे मिलें उसे अपना ही रूप मानकर मिलना प्रेम का आध्यात्मिक स्वरूप है। सबके प्रति अभेद होना प्रेम की पूर्णता है। भेद एक भ्रम है। अस्तित्वहीन को अस्तित्ववान् मानने से भय की भ्रान्ति होती है। त्रुटिपूर्ण कल्पना ही शत्रु बनाती है। शत्रु-भावना से शत्रु की प्रतीति होती है। मनुष्य अपनी भावना से ही सुखी और दुःखी होता है। जगत् ऐसा दर्पण है, जिसमे अपनी भावना ही प्रतिबिम्बित होती है। ज्ञान दृष्टि को वदल देता है। निर्भयता ब्रह्म है। ज्ञान-दृष्टि से निर्भय होने पर कोई कुछ बिगाड नही सकता। इच्छा एक विकार है। जैसे मकडी जाल बनाकर उसीमे फँसी रहती है, मनुष्य अपने मन मे इच्छा तथा इच्छा से उत्पन्न आशा, निराशा, चिन्ता और भय के कल्पनाजाल को उत्पन्न करके उसमे फँसा रहता है। इच्छा करनेवाले सब दु खी रहते हैं। मनुष्य अपनी कल्पना से ही कभी सुखी और कभी दु खी होता रहता है। स्वप्न मे मनुष्य एक सृष्टि की रचना करके सुखी और दु खी होता रहता है। स्वप्न मे उसके अतिरिक्त कोई अन्य नही होता तथा वह स्वय ही शत्रु, मित्र आदि बनकर लडता और प्रेम करता रहता है। स्वप्न कभी रोचक होता है, कभी भयानक। दु ख और सुख कल्पनाप्रसूत है। मनुष्य द्वेष के कारण दोष-दर्शन करता है और वैर-भाव करता है। दोष-दर्शन दु ख का कारण है। मोह-भ्रम मे फँसकर ही मनुष्य अपने अनुयायियो, प्रश सको, भक्तो तथा शिष्यो की सख्या मे वृद्धि की कामना करता है। मनुष्य के भीतर मोह होने के कारण उसमे आदि सकल्प (मैं अनेक हो जाऊँ) सक्रिय हो जाता है। कोई महावैराग्यवान् ही इससे मुक्त होता है। वास्तव मे मनुष्य आनन्दस्वरूप है, किन्तु देह के साथ आत्मीयता का भ्रम होने से दु ख प्राप्त करता है।[1] उत्तरोत्तर आनन्द की ओर वढकर आनन्दमय होना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। मैं कौन हूँ ? मैं चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप परब्रह्म हूँ। ज्ञान की उच्चतम अवस्था मे लौकिक कर्म छूट जाता है। परमात्मा तर्कसाध्य नही है—तर्कातीत एव प्रमाणातीत है। वह स्वयप्रकाश है। परमात्मा इन्द्रियो से देखा नही जा सकता, बुद्धि से समझा नही जा सकता। परमात्मा सूक्ष्म स्तर पर अनुभूति का विषय है। मनुष्य-देह इन्द्रियो इत्यादि के परे अपनी चेतना को परमचेतना मे निमग्न करके परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है, आनन्द की दिव्यानुभूति कर सकता है, स्वय ब्रह्म-स्वरूप हो सकता है। किन्तु यह मार्ग दुर्गम है।[2] मनुष्य को अपनी रुचि, क्षमता और परिस्थिति को दृष्टिगत करके ही इस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को ज्ञान की महिमा वताकर भी सुगमता की दृष्टि से भक्ति-मार्ग को श्रेष्ठ कहते हैं। वास्तव मे भक्ति-मार्ग सहज, सरल और सरस है। लीलाधारी भगवान् की विश्वलीला मनुष्य के कल्याण के लिए ही है। मनुष्य भक्ति

---

१. भारतीय दर्शन आनन्दवादी है। ऋषियो की भाषा मे 'दर्शन' का अर्थ साक्षात् अनुभव है, केवल कल्पना-जाल नही है। भौतिक विज्ञान परमाणुओ के सूक्ष्म स्तर पर शक्ति की खोज कर रहा है। परमात्मा समस्त शक्तियो की मूल शक्ति है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत् तत्त्व है। वह बृहद होकर सृष्टि बना हुआ है।

२ ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर करहिं न दूसरि बात।
—मानस में कलियुग के लक्षण

अनेक चतुर लोग ब्रह्म-साक्षात्कार का दम करके 'भगवान्' बनकर अपनी पूजा कराते हैं तथा व्यापारियो की भाँति अपना विज्ञापन एव प्रचार कराते हैं, जो हास्यास्पद है। जब प्रकाश देनेवाले साधु सन्त और गुरुजन अधकार का प्रसार करते हैं, वह दु खद स्थिति है।

द्वारा मायाशक्तियुक्त सगुण सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को सरलतापूर्वक प्राप्त करता है। जगद्गुरु श्रीकृष्ण कहते हैं कि भगवान् स्वय ही भक्त की चिन्ता करते हैं, उसका पथ-प्रदर्शन करते है और उसका उद्धार करते है। भगवान् भक्त को वह तत्त्वज्ञान भी दे देते है, जिसे ज्ञानी कठिनाई से प्राप्त करता है। वास्तव में ज्ञान, भक्ति और कर्म का नित्य सम्बन्ध है तथा मनुष्य कर्मयोग के पथ पर चलकर भी जीवन को प्रशस्त एव दिव्य बना सकता है। भक्ति कर्मयोगी के जीवन का आन्तरिक रस-स्रोत है तथा कर्म उसकी बाह्य सक्रियता है। भक्तिमान् कर्मयोगी का कर्म सरस एव सुखद हो जाता है।

मनुष्य इस ससार के भौतिक पदार्थों को प्राप्त करके कदापि तृप्त नही हो सकता है।[1] राग-द्वेष के कारण वह निरन्तर अशान्त रहता है। भौतिक दृष्टिकोण मनुष्य के जीवन को नीरस बना देता है।[2] जीवन का स्रोत भौतिक तत्त्व नही हो सकता। जड भौतिक तत्त्व चेतना-सत्ता के सान्निध्य मे आने पर अथवा चेतना-सत्ता की प्रेरणा से ही गतिशील एव सक्रिय होते हैं। मनुष्य जड़ देह नही है। वह अपने भीतर स्थित जीवन के मूलभूत चैतन्य-स्रोत से युक्त होकर ही शाति प्राप्त कर सकता है। सचेतन तत्त्व चैतन्य से सयुक्त होकर ही आनन्द की अनुभूति कर सकता है। सचेतन मनुष्य जड पदार्थों से कभी चिर शान्ति और आनन्द, प्राप्त नही कर सकता। जड़ पदार्थ (धन, सम्पदा, वैभव) मे सुख देने की क्षमता नही है। मनुष्य भगवान् की शरण मे जाकर तथा भगवान् के साथ आत्मीयता का नाता स्थापित करके ही सच्चा सुख और शाति प्राप्त कर सकता है, जैसे कि बालक अल्पकाल तक चमकदार खिलौने से अपना मनोरजन कर सकता है, किन्तु सुख उसे अपनी माता की गोद मे जाकर ही मिलता है। ससार के भौतिक पदार्थों मे कुछ देर तक ही मनुष्य का मन रजित हो सकता है, किन्तु उनसे आन्तरिक भूख नही मिटती। जड तत्त्वो मे क्षुद्रता एव नीरसता है तथा दैवी तत्त्व मे महानता एव सरसता है। मनुष्य को अपनी गहन शाति के लिए कुछ और[1] अर्थात् दैवी तत्त्व भी चाहिए, उसे आनन्द के अखण्ड स्रोत का सदर्शन और सम्पर्क भी चाहिए। मनुष्य मे जड देह से ऊपर उठने की, समस्त जड तत्त्व से परे जाने की और दिव्य तत्त्व से एकरूप होने की माँग बहुत गहरी है। देह के भीतर स्थित आत्मतत्त्व ऊपर उठते रहने की प्रेरणा देता है। मनुष्य के भीतर पशु है, किन्तु देव भी है। पशु पर विजय पाकर अथवा पशु पर आरूढ होकर देव की ओर ऊपर उठते रहने से ही जीवन कृतार्थ होता है। यह मन की बलिवेदी पर वैदिकी पशु-हिंसा है तथा यही शिव का पशुपतित्व है।

मनुष्य अनेक बार विषम परिस्थिति अथवा सकट से ग्रस्त होने पर असहाय एवं विवश होने पर ऊपर की ओर हाथ उठाकर सहायता की पुकार करता है। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करनेवाले अनीश्वरवादी भी कठिन अवसरो पर किसी

---

१. **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो**—कठ उप०—मनुष्य की तृप्ति धन-संपदा से नहीं हो सकती।

२. विकासवाद के प्रणेता डार्विन ने अन्त मे अपने जीवन में भौतिकवादी दृष्टिकोण से 'उच्चतर तथा सौन्दर्यात्मक अभिरुचियो की एक विचित्र तथा शोकजनक हानि' होने को स्वीकार किया तथा कहा, "मेरी बुद्धि नियम बनाने का यत्र हो गयी प्रतीत होती है, किन्तु मैं यह नहीं समझ पाता कि इसने मेरी बुद्धि की उच्चतर अभिरुचियो को निर्जीव क्यो कर दिया।" ···इन अभिरुचियो की हानि आनन्द की ही हानि है और यह बुद्धि के लिए क्षतिप्रद हो सकती है और हमारे स्वभाव के भावनात्मक पक्ष को दुर्बल करके कदाचित् नैतिक चरित्र के लिए ही क्षतिप्रद हो सकती है।"

---

१. विलियम जेम्स ने इसे अन्य प्रकार से 'डिवाइन मोर' कहा है।

रूप मे प्रार्थना अवश्य करते हैं। परमात्मा को केवल निर्गुण-निराकार कहनेवाले भी उसे सगुण-साकार मानकर ही प्रार्थना करते हैं। निर्गुण-निराकार परमात्मा सगुण-साकार रूप मे ही मनुष्य की पुकार सुनता तथा सहायता करता है। मनुष्य स्वभाव से ही महान् पिता, समर्थ रक्षक और कुशल गुरु की निरन्तर सहायता चाहता है। भगवान् पिता, रक्षक और गुरु है। उसके बिना साथ हुए मनुष्य जन-समुदाय के मध्य मे भी अकेला रह जाता है तथा उसके साथ होने पर जन समुदाय से दूर भी वह अकेला नही रहता। अकेलापन एक भयकर अभिशाप है। अकेलापन एक दण्ड है, यातना है, यत्रणा है, क्लेश है तथा घोर कष्ट है। जो अपने भीतर विराजमान सर्व-समर्थ, सर्वेश्वर और कृपालु भगवान् का निरन्तर सदर्शन करता है, वह सबल है, सुरक्षित है तथा सदा सुखी है। उसका जीवन कभी बोझ नही बनता तथा उसकी खुशी को कोई छीन नही सकता।

वास्तव मे भगवान् को सगुण-साकार मानकर उसके साथ आत्मीयता का भावनात्मक नाता स्थापित करना ही मनुष्य के लिए समस्त अभ्युदय तथा कल्याण का मूल है।[1] भगवान् को अपना माता, पिता और गुरु मानकर भगवान् से सकाम निवेदन एव प्रार्थना करना कोई दोष नही है। उसे अपना मानकर स्वीकार करना एक उपलब्धि है। मनुष्य भगवान् की कृपा से धीरे-धीरे सकाम भक्ति से निष्काम भक्ति की ओर उन्मुख हो जाता है तथा अन्त करण की शुद्धि होने पर उसके भीतर ज्ञान का उदय भी स्वत हो जाता है। मनुष्य की अपूर्णता, मनुष्य की निर्बलता तथा मनुष्य के दोष एव पाप मनुष्य को अपने भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर की ओर उन्मुख कर देते हैं तथा उसका सहारा लेने पर मनुष्य भोग से त्याग की ओर, अशान्ति से शान्ति की ओर, दु ख से आनन्द की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर तथा अपूर्णता से पूर्णता की ओर चल पडता है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तथा वह मेरा है--यह भक्ति का सारभूत तत्त्व है। कालान्तर मे ईश्वरनिष्ठा के परिपक्व होने से इन्द्रिय-सयम, आन्तरिक पवित्रता, उदारता, निरहकारिता, नम्रता, सहनशीलता, क्षमा, धैर्य इत्यादि गुणो का समावेश अनायास ही हो जाता है। श्रद्धा और विश्वास भक्ति के आधार हैं। श्रद्धा और विश्वास भक्ति को दृढ कर देते हैं तथा मनुष्य का रूपान्तरण कर देते है। भक्ति मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण कर देती है। भक्ति की महिमा अनन्त है।

सौन्दर्यसारनिधि, ऐश्वर्यपूर्ण, आनन्दघन, सर्व-शक्तिमान् भगवान् को मनुष्य की भाँति ही कष्टो को सुननेवाला तथा सहायता करनेवाला माता, पिता, बन्धु और मित्र मानना स्वाभाविक है।

---

१ सभी धर्मों मे, विशेषत' ईसाई धर्म मे, भगवान् को पिता के रूप में वर्णित किया गया है। महात्मा ईसा भक्ति-विभोर होकर अपने को 'भगवान् का पुत्र' कहते थे। डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं, "भगवान् को एक लोकातीत रहस्य के रूप में नहीं समझना है, अपितु अपने साथ घनिष्ठ रूप मे भी समझना है, वैसा ही घनिष्ठ, जैसा कि पिता अपने पुत्र के साथ होता है या मित्र अपने मित्र के साथ होता है या प्रेमी अपने प्रिय के साथ होता है। ये मानवीय सम्बन्ध परमात्मा मे अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति को प्राप्त होवे हैं और आगे चलकर वैष्णव-साहित्य में इन विचारो का और अधिक पूर्ण रूप से उपयोग किया गया है। पिता के रूप में परमात्मा हिन्दुओं के लिए एक परिचित धारणा है। ऋग्वेद मे कहा गया है, 'तू हमारे लिए उसी प्रकार सुलभ बन जा, जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए होता है। हे देदीप्यमान् प्रभु, तू हमारे साथ रह और अपने आशीर्वाद दे।' फिर यजुर्वेद में कहा गया है,—'हे प्रभो, तू हमारा पिता है, तू पिता की ही भाँति हमें शिक्षा दे।'

मनुष्य को मानुषी स्वरूप देखकर ही सन्तोष होता है। अर्जुन श्रीकृष्ण के विराट् रूप से भयभीत हो गया और उनके मानुषी रूप मे प्रकट होने पर ही वह शान्त, सन्तुलित एव स्वस्थ हो सका।

व्यक्तिक भगवान् को आत्मीय बना लेना अर्थात् भगवान् मेरा है ऐसा मानकर उसके साथ घनिष्ठ होना भक्ति का सार है।[1] यद्यपि भगवान् सबके लिए समान रूप से दयालु है, भक्त भगवान् को अपना मानकर ही सुख मानता है। भगवान् पृथ्वी पर अवतरित होकर दुष्टता का दमन करके सत्पुरुषो की रक्षा करते है तथा समाज मे धर्म अर्थात् सत्य और न्याय की व्यवस्था की स्थापना करते है। भक्तो को भगवान् का मनुष्यो के मध्य मे रहकर मनुष्यो जैसी लीला करना परमप्रिय एव प्रेरणाप्रद प्रतीत होता है। भक्त श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण की अलौकिक लीला का रसपान करके आन्तरिक तृप्ति का अनुभव करते है तथा मन मे उनका निरन्तर स्मरण करते हैं। भक्त भगवान् के नाम का जप और कीर्तन करते हैं। नाम-जप से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है तथा भावपूर्ण हरि-कीर्तन से समस्त मानसिक कुण्ठाओ का शमन हो जाता है तथा आनन्दातिरेक की अवस्था प्राप्त होती है।

भगवान् को राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि के किसी रूप को अपना इष्ट मानकर, उनकी प्रतिमा की पूजा करना प्रतीकोपासना कहलाती है। उपासक और उपास्य मे भेदबुद्धि होने के कारण इस उपासना को भेदोपासना भी कहते है। भक्त भगवान् की प्रतिमा को साक्षात् स्वरूप मानकर अर्चना, वन्दना, आत्म-निवेदन तथा प्रार्थना करता है तथा उस स्वरूप को मन में विराजमान करके पग-पग पर भगवान् से मानसिक वार्तालाप करता है, प्रेरणा प्राप्त करता है तथा प्रेरणानुसार कर्म करता है। भक्त भगवान् को आत्मसमर्पण कर देता है तथा सकट मे भी निर्भय और निश्चिन्त रहता है। कर्मफल के प्रतिकूल होने पर भक्त उसे भगवान् का विधान मानकर अथवा भगवान् का प्रसाद मानकर स्वीकार कर लेता है तथा सन्तुष्ट हो जाता है।

अनन्य भाव से भगवान् की भक्ति करने पर भक्त भगवान् को प्रिय हो जाता है। अनन्य भक्त पूर्ण मानव होता है। अनन्य भक्ति से अहकार विगलित हो जाता है तथा अनन्य भक्त परमसत हो जाता है। भक्त भगवान् को अपने मन मन्दिर मे प्रतिष्ठित कर देता है तथा आप्तकाम एवं पूर्णकाम हो जाता है। जिसके भीतर भगवान् विराजमान हैं, उसे बाहर भटकना नही पड़ता। भक्त तो ससार मे बहुत होते हैं, किन्तु भक्ति तो कोई एक करता है। पूजा मे दीप तो अनेक जलाते हैं, किन्तु मन मे दीप कोई एक जलाता है। माला तो अनेक लोग फेरते हैं, किन्तु मन की माला कोई एक फेरता है। सिर तो अनेक मुँडाते है, किन्तु मन को कोई एक मूँडता है। घर भी अनेक तज देते है, किन्तु मन का मोह कोई एक तजता है।[1] उच्च स्वर से कीर्तन भी अनेक करते है, किन्तु मन मे भाव-कीर्तन कोई एक करता है। मस्तक तो अनेक टेकते है,

---

१ रामकृष्ण परमहस कहते थे कि व्रज की गोपिकाएँ जगन्नाथ को गोपीनाथ मानकर ही सन्तुष्ट होती थी।

विलियम जेम्स तथा वर्ट्रेण्ड रसेल का मत है कि संसार मे प्रत्येक व्यक्ति को उसी प्रकार भगवान् की उपासना करनी चाहिए, जैसा उसे उचित एव रुचिकर प्रतीत होता है। आन्तरिक अनुभूति धर्म का सार-सर्वस्व होती है। भगवान् को प्राप्त होने के लिए असख्य मार्ग हैं, किन्तु भगवान् एक है। राधाकृष्णन् व्यक्तिक (पर्सनल) भगवान् की बात कहते हैं।

१ वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणाम्।
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तप ॥

—मन मे राग होने पर वन मे जाकर भी दोष उत्पन्न हो जाते है तथा घर मे रहकर भी पाँचो इन्द्रियो के निग्रहरूप तप किया जा सकता है।

किन्तु अपने स्व को कोई एक टेकता है। रत्न आदि भी अनेक समर्पण करते हैं, किन्तु मन का समर्पण कोई एक करता है। कीर्तन, भजन, पूजा, पाठ, तीर्थ आदि का महत्त्व है, किन्तु श्रद्धा और भक्ति होने पर ही उनका महत्त्व होता है। भक्त भगवान् के सामने आत्मसमर्पण कर देता है तथा अपनी समस्त इच्छाओ का त्याग करके भगवान् की इच्छा को ही अपने लिए कल्याणकारी मान लेता है। वह प्रभु-प्रेरणा से कर्म करते समय पुरुषार्थ करता है, किन्तु फल के समय कह देता है—प्रभु जो कुछ कर रहे हैं, वही मेरे हित मे है। भक्त अद्वेष्टा अर्थात् निर्वैर होता है। उसके मन मे किसी-के प्रति द्वेष नही होता। कुछ अकारण द्वेषी उसे शत्रु मानकर उसका अहित करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वह किसीको अपना शत्रु नही मानता। भक्त केवल द्वेषरहित ही नही होता, वह प्राणी-मात्र के प्रति करुणामय एव सद्भावनापूर्ण भी होता है। जो जिह्वा के क्षणिक स्वाद के लिए अथवा दैहिक प्रसाधनो के लिए जीव-हत्या का कारण वन जाते हैं, वे निष्करुण लोग पूर्ण भक्त नही हो सकते। भक्त ममत्वरहित होता है अर्थात् वह किसी वस्तु पर 'मेरा' कहकर एकाधिकार नही मानता और मोह नही करता। सब-कुछ भगवान् का ही है तथा मनुष्य प्राप्त वस्तु का सदुपयोग करने का अधिकारी है। निर्मोह मनुष्य ही परोपकाररत होकर सहर्ष दान आदि सहायता करता है तथा सन्तुष्ट रहता है। भक्त सुख-दु ख मे एक-सा रहता है। वह सुख मे बौराता नही और दु ख मे बौख-लाता नही। भक्त क्षमाशील होता है तथा उचित अवसर पर क्षमा माँगने और देने मे सकोच नही करता। उत्तम पुरुष अपना अपराध स्वीकार कर लेता है तथा क्षमा माँगकर अपनी सात्त्विकता एव सद्भाव का परिचय देता है। क्षमा-याचना द्वारा मन अपराधमुक्त होकर निर्मल हो जाता है। भक्त अपने मन मे उसे भी क्षमा कर देता है जो उसे अपना शत्रु मानकर अहित करता है तथा दुर्व्यवहार करता है। आत्म-रक्षा तो सर्वथा उचित है, किन्तु द्वेष अथवा प्रतिशोध-भाव पतनकारक होता है। वास्तव मे अद्वेष्टा सत-भक्त की रक्षा भगवान् स्वय करते हैं। भक्त सदैव आत्मसन्तुष्ट रहता है। वह पग-पग पर प्रभु की कृपा का अनुभव करता है, प्रभु को धन्यवाद देता है। भक्त जिते-न्द्रिय होता है, दृढ निश्चयी होता है। भक्त भग-वान् को अपनी बुद्धि और मन का समर्पण कर देता है, तुच्छ भौतिक विषय-सुखो के प्रलोभन मे नही फँसता। वह किसीको जान बूझकर उद्विग्न नही करता तथा स्वय भी किसीके दुर्व्यवहार एव दुर्वचन से उद्विग्न नही होता। वह हर्ष, अमर्ष, (द्वेष से उत्पन्न सताप व क्रोध) से तथा भय और उद्वेग से मुक्त होता है। भक्त न्यायप्रिय, भीतर-बाहर पवित्र, कार्यकुशल, निष्पक्ष और व्यथारहित एव शान्त होता है। वह आरम्भ करने के दभ का त्याग कर देता है। भक्त न हर्षित होता, न द्वेष करता, न शोक करता और न कामना करता है। वह घटनाओ के पीछे भगवान् का हाथ अथवा भग-वान् का विधान देखकर क्लेश नही करता। वह शुभ और अशुभ के भाव से ऊपर उठ जाता है। भगवान् के विधान मे सब-कुछ परम शुभ है। वह शत्रु और मित्र के प्रति सम रहता है और मान-अपमान से प्रभावित नही होता। वह शीत, उष्ण और सुख-दु ख मे सम रहता है तथा आसक्ति से मुक्त होता है। भक्त निन्दा और स्तुति को तुच्छ मानता है तथा वाणी मे सयत रहता है। जिस प्रकार भी जीवन का निर्वाह हो जाय, भक्त उसीमे सन्तुष्ट रहता है। वह निवास-स्थान के प्रति भी आसक्त नही होता तथा विचलित नही होता। भगवान् को अपना परम-आश्रय मानकर जो मनुष्य इन गुणो को श्रद्धापूर्वक ग्रहण एव धारण करते हैं, वे भगवान् के प्रिय हो जाते हैं तथा भगवान् स्वय उन भक्तो के योगक्षेम का वहन एव उनके जीवन-भार का वहन स्वय करते हैं। सिद्ध भक्त के ये लक्षण साधको के लिए साध्य हैं।

भक्त के गुणो का प्रभाव उसके परिवार तथा पडोस पर अवश्य होता है। उत्तम पुरुष किसीको सुधारने का दभ नही करता, किन्तु उसके सम्पर्क मे आनेवाले लोग उसके उदाहरण से प्रेरित होकर उत्तम आचरण करने लगते हैं। वह अपने जीवन का दीपक प्रज्वलित करता है, अन्य लोग उसके प्रकाश का लाभ उठाते है। सुधारने की दृष्टि से किसीको बारम्बार रोकना और टोकना तथा उपदेश एव आदेश करना उसे पगु बना देता है अथवा उसे विरुद्धगामी बना देता है। सतगण अपार प्रेम अर्थात् अपार सहनशीलता एव अपार क्षमा द्वारा दुष्ट व्यक्ति के हृदय को जीतकर सन्मार्ग की ओर उन्मुख कर देते है। असहनशीलता से परस्पर घृणा तथा दूरी बढ जाती है। अविवेकी मनुष्य अपनो को पराया तथा विवेकी पुरुष परायो को भी अपना बना लेते हैं। निस्स्वार्थ प्रेम का प्रभाव अत्यन्त गहरा होता है। दुर्भावना दूसरो को शत्रु तथा सद्भावना मित्र बना देती है। दुर्भावना का समाधान दुर्भावना से नही हो सकता। दुर्भावना से दुर्भावना तथा सद्भावना से सद्भावना उत्पन्न होती है। उत्तम पुरुष में सद्भावना का अक्षय भण्डार होता है तथा वह कटुता का उत्तर मधुरता से देता है। परस्पर विषवमन करने से परिवार पैशाचिक हो जाता है। केवल दोष ही देखकर किसीकी आलोचना करने से सुधार नही होता, क्योकि आलोच्य व्यक्ति क्रुद्ध होकर कह देता है—'मैं तो नालायक हूँ, बुरा हूँ।' घृणा और कोध की अवस्था मे न कुछ कहना चाहिए, न कुछ निर्णय लेना चाहिए। यदि कुछ सुझाव देना हो तो एकान्त मे मुस्कराहट से सद्भावना का परिचय देकर, उसके गुणो की प्रशसा करते हुए, प्रेमपूर्वक सुझाव देना चाहिए। दूसरो के सामने किसीको अपमानजनक शब्द कहना नितान्त अनुचित है। किसी समस्या का समाधान शान्तिपूर्वक तथा प्रेमपूर्वक ही करना चाहिए तथा सभी को मान-मर्यादा का स्मरण रखना चाहिए। अनुशासनहीन होकर तथा मर्यादा-भग करने पर नदी के जल का प्रवाह उन तटवर्ती पेड़ो को ही उखाड़ देता है, जो नदी के संरक्षण मे होते है। बडों को सत्य और न्याय तथा प्रेम और क्षमाशीलता का परित्याग कदापि नही करना चाहिए। यदि स्थिति नियन्त्रण से बाहर हो जाय तो प्रभु-इच्छा मानकर सन्तोष धारण करना चाहिए, किन्तु सद्भावना का परित्याग कदापि नही करना चाहिए। आवेश मे भोजन छोड़ना अथवा बोलना छोड़ना अथवा रूठकर चले जाना वातावरण को दूषित कर देता है। विषम परिस्थिति मे ही सयम और धैर्य की परीक्षा होती है। मोहवश भावुक होना भी अविवेक है। मनुष्य सन्तुलित और शान्त रहकर ही स्वय को तथा दूसरो को सँभाल सकता है। उत्तम पुरुष किसीके उपेक्षापूर्ण अथवा अपमानजनक व्यवहार को देखकर भी सद्भावना, सहयोग एव कर्तव्य-पालन का परित्याग नही करते। परिवार और पडोस के साथ व्यवहार से मनुष्य के यथार्थ स्वरूप की परीक्षा होती है।

भगवान् की भक्ति समस्त दोषो और दुर्बलताओ का निराकरण करके मनुष्य को पूर्णता की ओर उन्मुख कर देती है तथा भक्त के हितो की रक्षा भगवान् स्वय करते है। ●

# अथ त्रयोदशोऽध्याय:

## क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

श्रीभगवानुवाच

**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।**
**एतद्यो वेत्ति त प्राहु क्षेत्रज्ञ इति तद्विद. ॥१॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच = श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, कौन्तेय = हे अर्जुन, इदं शरीरं क्षेत्रं इति अभिधीयते = यह शरीर क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है, एतत् य वेत्ति = इसे जो जानता है, त क्षेत्रज्ञ इति तद्विद प्राहु = उसे क्षेत्रज्ञ ऐसा उसे जाननेवाले कहते हैं।

**वचनामृत** श्री भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन, यह शरीर क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है। इसे जो जानता है, ज्ञानी जन उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

**सन्दर्भ :** भगवान् श्रीकृष्ण निर्गुण-निराकार परमतत्त्व को समझाने के लिए दो प्रचलित शब्दो 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' की चर्चा करते हैं।[1]

**रसामृत :** इस सृष्टि मे तीन रहस्यपूर्ण तत्त्व हैं—आत्मा, प्रकृति और परमात्मा। इनका सम्यक् ज्ञान होने पर इनका परस्पर सम्बन्ध भी ज्ञात हो जाता है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण ने सातवें अध्याय मे जडरूपा परा-प्रकृति तथा जीवरूपा अपरा-प्रकृति की चर्चा की, तथापि वह पर्याप्त नही थी। अतएव भगवान् तीन ( तेरह, चौदह, पन्द्रह ) अध्यायो मे आत्मा, प्रकृति और परमात्मा का क्रमश वर्णन करते हुए ज्ञानयोग को विस्तारपूर्वक समझा रहे हैं। आत्मा, प्रकृति और परमात्मा का विविध प्रकार से वर्णन किया जाता है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण इनके रहस्य का वर्णन स्पष्टत करते हैं।[1] वास्तविक सत्य अथवा आत्यन्तिक सत्य तो केवल परब्रह्म परमात्मा ही है, किंतु प्रकृति आदि के परिप्रेक्ष्य मे उसका वर्णन विविध प्रकार से किया गया है।

अनादि तत्त्व केवल एक सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप परमात्मा ही है। आत्मा तथा परमात्मा तत्त्वत एक हैं। 'आत्मा' शब्द परमात्मा का भी वाचक है। ब्रह्म सारे जगत् का आत्मा अथवा परम-आत्मा है। ब्रह्म ही शरीर मे स्थित होकर आत्मा कहलाता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप नित्य,

---

१ यद्यपि गीता मे कर्म, भक्ति और ज्ञान का प्रवाह समानान्तर ही नही, सम्मिश्रित है, तथापि अनेक विद्वानो के मत में प्रथम षट्क में कर्म, द्वितीय षट्क में भक्ति और तृतीय षट्क में ज्ञान का प्रतिपादन है। अनेक विद्वानो का यह भी मत है कि प्रथम षट्क ( छह अध्याय ) में 'त्व' पदार्थ का, द्वितीय षट्क मे 'तत्' पदार्थ और तृतीय षट्क में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के त्व ( तू जीव ) और तत् ( वह ब्रह्म ) के एकत्व अथवा अभिन्नत्व का प्रतिपादक 'असि' ( है, तू ब्रह्म है ) तत्त्व है।

१ शरीर तथा आत्मा के विषय मे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के रूप में १३वें अध्याय मे, प्रकृति के विषय मे १४वें अध्याय में और परमात्मा के विषय मे १५वें अध्याय मे चर्चा की गयी है। इस प्रकार इन तीनो अध्यायो मे एक तारतम्य है। भगवान् ने विविध शास्त्रो मे प्रयुक्त विभिन्न पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की है। सातवें अध्याय मे चेतन जीवात्मा और जड प्रकृति को परा और अपरा प्रकृति कहा गया तथा तेरहवें अध्याय मे उन्हें क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र कहा गया। पन्द्रहवें अध्याय मे इन्हें अक्षर और क्षर कहा गया है। सातवें तथा आठवें अध्याय में इन्हें अधिभूत तथा अध्यात्म भी कहा गया है। इस श्लोक में 'शरीर' समस्त दृश्यमान अनात्म जगत्-प्रपञ्च का वाचक है।

निराकार परमात्मा का अंश शुद्ध आत्मा है। परमात्मा के मायायुक्त अथवा सगुण रूप को परमेश्वर कहा जाता है। शरीरस्थ आत्मा के माया से आवृत रूप को जीव अथवा जीवात्मा कहा जाता है। यह शरीर इस जीवात्मा का क्षेत्र है तथा ब्रह्माण्ड अथवा जगत् परमेश्वर का क्षेत्र है। देह-पिण्ड व्यष्टि है तथा ब्रह्माण्ड समष्टि है। क्षेत्रज्ञ जीवात्मा शरीररूप क्षेत्र से भिन्न है। क्षेत्र (खेत) का स्वामी क्षेत्र मे जैसा बीज बोता है वैसी ही खेती काटता है।[1] जीवात्मा पुण्य-पाप के बीज बोकर सुख-दु ख के फल प्राप्त करता है तथा जन्म-मरण के चक्र से ग्रस्त होता है। महाभूत (क्षिति, जल, पावक, समीर और गगन), जिनसे शरीर बनता है तथा शरीर के भीतर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहकार जड तथा नश्वर हैं। जीवात्मा चेतन तथा नित्य है। क्षेत्रज्ञ क्षेत्र का ज्ञाता है तथा उससे पृथक् है। जो शरीररूप क्षेत्र को इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहकार इत्यादि सहित पूर्णत' जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। विवेकशील पुरुष के लिए शरीर धर्मक्षेत्र है।[2] शरीर जड है तथा आत्मा के सम्पर्क से चेतना, प्रकाश, स्फूर्ति, स्पन्दता और गतिशीलता प्राप्त करता है।[3] क्षेत्र (जड देह अथवा अपरा प्रकृति) सदा ही दृश्य एव ज्ञेय है तथा क्षेत्रज्ञ (चैतन्य आत्मा अथवा परा प्रकृति) वास्तव मे द्रष्टा, साक्षी एव विज्ञाता है। विनश्वर वस्तु के पृष्ठ मे नित्य तत्त्व का अथवा अपूर्ण के पृष्ठ मे पूर्ण का दर्शन करना ज्ञान है। क्षेत्रज्ञ का वास्तविक रूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है, किन्तु अह-बुद्धि (मैं हूँ ऐसी अहकार-बुद्धि अथवा अज्ञान होने पर) वही क्षेत्रज्ञ जीव अथवा जीवात्मा कहलाता है।

१ कर्म प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करई सो तस फल चाखा।
—मनुष्य अपने कर्मों की खेती काटता है।

२. शरीर का वर्णन नौका, खेत, रथ इत्यादि की उपमा के रूप मे अनेक प्रकार से किया गया है।

३ स्वामी रामकृष्ण परमहस कहते थे कि देह मिट्टी आदि धातु के पात्र की भाँति होता है। पात्र गर्म पानी से गर्म हो जाता है तथा उसकी गर्मी का कारण अग्नि होती है। इसी प्रकार जड देह चैतन्य आत्मा से गतिशील होता है।

**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।**
**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥**

**शब्दार्थ** च भारत सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञं अपि मा विद्धि=और हे अर्जुन, सब क्षेत्रो मे क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) भी मुझे ही जानो, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो यद् ज्ञानं=क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, तद् ज्ञानं=वह ज्ञान है, मम मतम्=मेरा मत है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, तू सब क्षेत्रो मे क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) भी मुझे ही जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानना ज्ञान है, यह मेरा मत है।

**सन्दर्भ :** क्षेत्रज्ञ भी वास्तव मे परमात्मा है।

**रसामृत :** परमात्मा ही शरीर मे स्थित होकर आत्मा कहलाता है और परमात्मा तथा आत्मा मे कोई भेद नही है। आत्मा परमात्मा का ही अश है, जैसे स्फुलिंग अग्नि का अथवा तरग जल का।[1] आत्मा ही माया के आवरण से आवृत होकर

१. ममैवाशो जीवलोके जीवभूत. सनातन।
गीता, १५.७
ईश्वर अंस जीव अविनासी,
चेतन अमल सहज सुखरासी।

साख्य तथा जैन-सिद्धान्त के अनुसार अनन्त शरीरो मे अनन्त विभिन्न आत्माएँ हैं। किन्तु गीता वेदान्त के मत को प्रतिपादित करती है कि सब आत्माएँ परमात्मा का अंश हैं, आत्मा स्वय परमात्मा ही है। अनेक रूप और वर्ण के पात्रो मे रखा हुआ जल भिन्न प्रतीत होता हुआ भी जल है तथा अग्नि दीपक की ज्वाला मे अथवा अन्यत्र कही हो, अग्नि ही है। कुछ वैष्णव आचार्य जीवात्मा को परमात्मा से उत्पन्न मानते हैं, अश नही मानते। वास्तव

अथवा प्रकृति के सन्दर्भ मे जीव ( अथवा जीवात्मा ) कहलाता है। वास्तव मे आत्मा और जीवात्मा एक तत्त्व के ही दो वर्णन हैं। आत्मा और परमात्मा मे अभेद है। सब क्षेत्रो अर्थात् शरीरो मे क्षेत्रज्ञ-रूप मे स्वय परमात्मा ही है। आत्मा और परमात्मा के अभेद को अद्वैत कहते हैं। द्वैत मे ही द्वेष, अन्याय और शोषण है। अद्वैत-भावना से ही सर्वत्र परमात्म-दृष्टि सम्भव होती है। असख्य तथा भिन्न देहो मे आत्म-तत्त्व एक ही है।

परमात्मा अपनी अलौकिक माया-शक्ति से विश्व की रचना करता है तथा उसका पोषण और सहार करता है। परमात्मा केवल चित्-स्वरूप और ज्ञान-सम्पन्न ही नही है, वल्कि अलौकिक माया-शक्ति से भी सम्पन्न है। वह इस शक्ति द्वारा ही रचना आदि कार्य करता है। अद्भुत माया-शक्तिसम्पन्न होकर ही परमात्मा विश्व का कारण वनता है।[1] माया शक्तिसहित सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ सगुण ब्रह्म परमेश्वर है तथा मायाशक्तिरहित होकर वह निष्क्रिय, नित्य, शुद्ध, चैतन्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, निराकार, निर्गुण परमात्मा है। अनादि तथा छाया की भाँति अनुगामिनी माया-शक्ति द्वारा भगवान् जादूगर की भाँति लीला करता है। वह जादूगर माया-शक्ति द्वारा व्यक्त ( प्रकट ) होता है तथा माया-शक्ति को समेटकर और लीला-सवरण करके वह प्रच्छन्न हो जाता है ( छिप जाता है ) और अव्यक्त ( अप्रकट ) हो जाता है। यह जगत् उसकी विलास-लीला ही तो है।

परब्रह्म परमात्मा इस जगत् मे दो प्रकार से प्रकट होता है— चेतन जीवो मे चेतन ब्रह्म और मायाजन्य जड वस्तुओ मे जड ब्रह्म। चेतन स्वरूपो मे जीवात्मा परमात्मा का चिदाभास ( चित् अर्थात् चैतन्य का आभास ) होता है। जड पदार्थों मे परमात्मा का जडाभास ( जड अर्थात निर्जीव रूप का आभास ) होता है। इस प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है कही चेतन होकर, कही जड होकर। मनुष्य मे जीवात्मा चेतन ब्रह्म है तथा शरीर जड ब्रह्म है, किन्तु ज्ञान की दृष्टि से जड ब्रह्म (जड पदार्थों मे प्रच्छन्न ब्रह्म ) को चेतन ब्रह्म से पृथक् एव असत् कहते हैं। अतएव मनुष्य का जीवात्मारूप क्षेत्रज्ञ जड शरीर क्षेत्र से पृथक् है। आत्म और अनात्म अथवा चैतन्य और जड अथवा पुरुष और प्रकृति को पृथक् समझना अर्थात् आत्मा और देह को भिन्न समझना मूल ज्ञान है। वास्तव मे, बुद्धि से समझना पर्याप्त नही होता, वल्कि उसे वैसा ही अनुभव भी करना ज्ञान का क्रियात्मक स्वरूप है।[1] मैं जड देह नही हूँ, मैं चैतन्य ब्रह्म हूँ—यह ज्ञान अनुभवात्मक है। जड पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता नही है। केवल परमात्मा सत् है।[2] जड पदार्थ अनित्य, विकारी, विनश्वर तथा दृश्य एव

---

मे यह आत्मा ही ब्रह्म है—'अयं आत्मा ब्रह्म'। भेद मे अभेद, द्वैत में अद्वैत का दर्शन करना ज्ञान है। 'आत्मा ब्रह्मं व भवति'—आत्मा ब्रह्म ही है।

१ कुम्हार घट का निमित्तकारण तथा मिट्टी उपादानकारण है। मकडी अपने जाल का निमित्त और उपादानकारण स्वय ही है। परमात्मा मकडी की भाँति विश्व का दोनो कारण है तथा उससे भी परे अव्यक्त हो जाता है।

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभे।
तानि वेत्ति स योगात्मा तत. क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥

१ सर्पान्कुशाग्राणि तथोदपान
ज्ञात्वा मनुष्या परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचित्-
ज्ञाने फल पश्य तथा विशिष्टम् ।

—महाभारत, शान्तिपर्व, २०११६

—अर्थात् सर्प, कुश कण्टक और तालाव को जान लेने पर ही मनुष्य उनसे वचते हैं तथा अज्ञान से वहाँ गिर जाते हैं। इस न्याय से ज्ञान का विशेष फल देख लो।

२ एकमेवाद्वितीय ब्रह्म—ब्रह्म एक और अद्वितीय है। 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे', 'एको दाधार भुवनानि विश्वा', 'एको देवो नारायण', 'एक एव हि भूतात्मा',

ज्ञेय है और आत्मा नित्य, अविकारी, अविनश्वर तथा द्रष्टा एव ज्ञाता है। 'आत्मा' परमात्मा से अभिन्न होने के कारण परमात्मा का भी वाचक है। परमात्मा अखण्ड और अद्वय है तथा उसे विभिन्न शरीरो मे खण्डित, पृथक् अथवा भिन्न देखना अज्ञान है। समस्त आत्मा वही एक अखण्ड, अद्वय परमात्मा है। दृश्यमान् जड जगत् तो असत् है तथा मायामात्र है, जिसे जड ब्रह्म भी कह दिया जाता है। यह ज्ञान का स्वरूप है।

**तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।**
**स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥**

**शब्दार्थ :** तत् क्षेत्रं यत् च यादृक् च यद् विकारि च यत॰ यत्=वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारोवाला है और जिस कारण से जो हुआ है, च स च यः यत् प्रभाव॰=तथा वह (क्षेत्रज्ञ) भी जो है और जिस प्रभाववाला है, तत् समासेन मे शृणु=वह सक्षेप से मुझसे सुन।

**वचनामृत :** वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारो से युक्त है और जिस कारण से जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाव-वाला है, वह सब सक्षेप से मुझसे श्रवण कर।

**सन्दर्भ :** क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के वर्णन की भूमिका है।

**रसामृत :** ज्ञानी के लिए इस शरीररूप क्षेत्र का स्वरूप और जीवात्मारूप क्षेत्रज्ञ का स्वरूप जानना आवश्यक है। यह शरीर कहाँ से आया, इसमे क्या विकार होते हैं, यह कैसे बनता है, कारण-परम्परा क्या है, इसका प्रयोजन क्या है—यह जानने के योग्य है।[1] जैसे शरीर-क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ जीवात्मा है, वैसे ही ब्रह्माण्ड का क्षेत्रज्ञ स्वय ब्रह्म है। जैसे पिण्डरूप देह से भिन्न आत्मा है वैसे ही ब्रह्माण्डरूप प्रकृति से भिन्न परमात्मा है। जड पदार्थ मे छह विकार होते है तथा देहरूप क्षेत्र भी उनसे युक्त है—उत्पन्न होना, कुछ अवधि तक अस्तित्व होना, परिवर्तन होना, वृद्धि (विकास) होना, क्षय (क्षीण) होना तथा विनाश होना। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को सक्षेप से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप के वर्णन करने का वचन देते हैं।

**ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।**
**ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥**

**शब्दार्थ :** ऋषिभिः बहुधा गीत विविधैः छन्दोभिः पृथक् (गीतं)=ऋषियो द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है तथा विविध छन्दो से (वेद-मंत्रो से) पृथक् (विभागसहित) कहा गया है, च विनिश्चितैः हेतुमद्भिः ब्रह्मसूत्रपदैः एव (गीत)=तथा सुनिश्चित हेतुओ सहित (युक्तियुक्त) ब्रह्मसूचक वचनो द्वारा भी कहा गया है।[1]

'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति', 'एकः सन् बहुधा विचचारः', 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति', 'एको देवो बहुधा सन्निविष्ट.', 'त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः।'—परब्रह्म एक है, परमात्मा एक है।

१ क्षेत्र क्या है? १३ ५ मे उत्तर है। क्षेत्र कैसा है? १३ २६; २७ मे उत्तर है। क्षेत्र कैसे विकारवाला है? १३ ६ में उत्तर है। क्षेत्र कहाँ से उत्पन्न हुआ? १३ १९ के उत्तरार्द्ध तथा २० के पूर्वार्द्ध मे उत्तर है। क्षेत्रज्ञ का क्या स्वरूप है? उसके दो स्वरूप हैं—प्रकृतिस्थ स्वरूप ६.१९; २०; २१ तथा यथार्थ स्वरूप ६ २२, २७, २८, २९, ३० हैं। उसका प्रभाव ६.३१; ३२; ३३ मे वर्णित है।

१. बादरायणाचार्य व्यास द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्र को वेदान्तसूत्र तथा शारीरकसूत्र भी कहते हैं। श्रीकृष्ण वेदो तथा आर्य (ऋषिप्रणीत) ग्रन्थो को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। ब्रह्मसूत्र मे तर्क और युक्तियो द्वारा वेदान्त-सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्मसूत्र मे 'स्मृति' शब्द को गीता का वाचक माना जाय तो ब्रह्मसूत्र का रचनाकाल गीता के बाद ही माना जायगा। लोकमान्य तिलक ने 'ब्रह्मसूत्रपदै' का अर्थ ब्रह्मसूत्र के पद किया है, किन्तु 'ब्रह्मसूत्रपदैः' का अर्थ ब्रह्म के सम्बन्ध मे उपनिषदो के वचन मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योकि भगवान् श्रीकृष्ण ने केवल वेद और उपनिषदो की महिमा का गान किया है। ब्रह्मसूत्र हेतु-

**वचनामृत :** यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियो द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है और विविध वेद-मत्रो द्वारा भी विभागसहित कहा गया है तथा सुनिश्चित युक्तियुक्त ब्रह्मसूचक पदो द्वारा भी कहा गया है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण वेदो तथा उपनिषदो को महत्त्व देकर उनके अनुसार क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का वर्णन करते हैं।

**रसामृत :** क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञरूप में देह तथा देह मे विराजमान आत्मा का ऐसा महत्त्व है कि वेदमन्त्रो के द्रष्टा तथा शास्त्र एव स्मृतियो के रचयिता ऋषियो ने इनके स्वरूप की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करनेवाले उदात्त एव दिव्यपुरुष ऋषि होते हैं तथा उनके वाक्यो को आप्तवाक्य कहा जाता है। ऋक्, यजु, साम और अथर्व चारो वेदो के तथा उपनिषदो के मन्त्रो द्वारा विस्तारपूर्वक तथा विभागसहित (पृथक् विभागोसहित) क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ को समझाया गया है। वेदो मे मधुर गान के माध्यम से ईश्वरीय तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदो मे अनेक स्थलो पर वेदप्रतिपादित सिद्धान्तो को विनिश्चित किया गया है तथा हेतुमत् अर्थात् युक्तियो एव उचित तर्कों से प्रमाणित किया गया है। उपनिषदो मे पद्य-गीत तथा गद्य-गीत दोनो हैं। वेदो तथा उपनिषदो मे गेय मत्रो द्वारा परमात्मा की महिमा का वर्णन किया गया है। वेद अपौरुषेय अर्थात् दिव्य हैं।

**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।**
**इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचरा: ॥५॥**
**इच्छा द्वेषः सुखं दु:खं संघातश्चेतना धृति.।**
**एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥**

**शब्दार्थ** महाभूतानि अहंकारः बुद्धि च अव्यक्त एव च दश इन्द्रियाणि = पाँच महाभूत अहकार बुद्धि और मूल प्रकृति (त्रिगुणात्मक माया) भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक च पञ्च इन्द्रियगोचरा = एक मन और पाँच इन्द्रियो के विषय, इच्छा द्वेष सुख दु खं संघात चेतना धृति. एतत् क्षेत्रं = इच्छा, द्वेष, सुख, दु ख, सघात (देह-पिण्ड), चेतना, धृति यह क्षेत्र, सविकारं समासेन उदाहृतम् = विकारसहित सक्षेप से कहा गया।

**वचनामृत :** पाँच महाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी) अहकार, बुद्धि (महत् तत्त्व) और अव्यक्त (मूल प्रकृति) तथा दस इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ), एक मन और ज्ञानेन्द्रियो के पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दु ख, स्थूल देह-पिण्ड, चेतना और धृति, इस प्रकार विकारोसहित यह क्षेत्र सक्षेप मे कहा गया है।[1]

---

मत् (तर्कपूर्ण) हैं, किन्तु उपनिषदों के गद्य-सवादो मे भी पर्याप्त तर्क एव युक्तियाँ हैं। मुख्य उपनिषद् दस हैं— ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक। कौषीतकी, जाबाल, श्वेताश्वतर को मिलाने से सख्या तेरह भी है। इनके अतिरिक्त अन्य उपनिषद् भी हैं। ब्रह्मसूत्रपद का अर्थ उपनिषदों के ब्रह्मसूचक पद हैं, जो सुनिश्चित एव सुनिर्णीत अर्थों से युक्त है। छान्दोग्य उपनिषद् में अनेक युक्तिपूर्ण सवाद हैं।

१ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या
प्रकृतिविकृतय सप्त।
षोडशकस्तु विकारो
न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष.॥
—साख्यकारिका, ३

—एक मूल प्रकृति है, वही किसीकी विकृति (विकार) नहीं है। महत् तत्त्व अहकार और पचतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ये सात प्रकृति-विकृति हैं अर्थात् ये सात प्रकृति भी हैं और मूल प्रकृति के कार्य अथवा विकार भी हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन ये ग्यारह तथा पाँच महाभूत, ये सोलह केवल विकार (कार्य) हैं तथा किसीका कारण नही हैं। अहकार से ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राओ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस,

**सन्दर्भ** · देहरूप क्षेत्र का वर्णन किया गया है।

**रसामृत** · व्यष्टिरूप मे देह-पिण्ड तथा समष्टि-रूप मे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही क्षेत्र के अन्तर्गत है। पाँच महाभूत ( आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी ), उनका कारण एक अहंकार, उसका कारण एक बुद्धि ( महान् अथवा महत् तत्त्व ), एक अव्यक्त मूल प्रकृति, पाँच ज्ञानेन्द्रियो के विषय ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध )—इन चौबीस तत्त्वो से युक्त समस्त क्षेत्र है। प्रकृति मे ( देहपिण्ड एव ब्रह्माण्ड मे ) कुल चौबीस तत्त्व माने गये हैं।[1]

मनुष्य भौतिक पदार्थों को सुख का कारण मानकर उनकी इच्छा करता है। वास्तव मे सुख की स्पृहा चित्त की एक वृत्ति है। पूर्व अनुभव के आधार पर किसी वस्तु को दु ख का कारण मानकर उसके प्रति द्वेष-वृत्ति का उदय होता है। मन के अनुकूल अनुभव से सुख तथा प्रतिकूल अनुभव से दु ख उत्पन्न होता है।

पाँच महाभूतों ( आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ) के परिणाम से देह और इन्द्रियों के एकत्रीकरण अथवा सहति को संघात कहा जाता है। मृत्यु होने पर तथा सूक्ष्म शरीर का निर्गमन होने पर स्थूलदेहपिण्डरूप सघात शेष रहता है।

चेतना विलक्षण तत्त्व है। आत्मा के सम्पर्क मे आने से अन्त करण प्रकाशित एव सचेतन हो जाता है, जैसे अग्नि के सम्पर्क मे आने से लौहखण्ड तप्त होकर अग्नि के धर्म ( दाहकत्व आदि ) को ग्रहण कर लेता है। चेतना देह मे प्रकाशित अन्त.करण की वृत्ति है। चेतना अन्त करण ( मन, बुद्धि, चित्त, अहकार ) मे केन्द्रित होकर सम्पूर्ण देह मे अभिव्यक्त एव व्याप्त हो जाती है। आत्मा के चैतन्य से चेतित जड देह चेतन होकर सजीव, गतिशील एव क्रियाशील हो जाता है। आत्मा से पृथक् होते ही अन्त करण तथा इन्द्रियोसहित सम्पूर्ण देह पुन अचेतन अथवा जड होकर निष्क्रिय हो जाता है। चेतना आत्मचैतन्य के आभास से युक्त ( चिदाभासयुक्त ) अन्त करण की वृत्ति है। चेतना से युक्त अन्त करण मे अहकार ( मैं हूँ ) का उदय हो जाता है। देह मे व्याप्त चेतना भी ज्ञेय ( जानने योग्य ) होने के कारण क्षेत्र के अन्तर्गत ही है। चैतन्यस्वरूप आत्मा का सान्निध्य होने पर देह मे आत्मा का गुण ( चेतना ) व्याप्त हो जाता है, जैसे चुम्बक के सान्निध्य से लौहखण्ड मे गति उत्पन्न हो जाती है। आत्मा परमात्मा का अश है। आत्मा देह मे और परमात्मा ब्रह्माण्ड मे समस्त गति का मूल कारण एव आधार है। परमात्मा सगरहित और केवल साक्षी है।

---

गन्ध ) से पाँच स्थूल महाभूत ( आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी ) उत्पन्न होते हैं। पुरुष न प्रकृति है और न विकृति अर्थात् प्रकृति से भिन्न है। योगदर्शन मे पतञ्जलि ने भी ( २ १९ ) ऐसे ही कहा है। गीता कपिल के साख्य मे सशोधन करती है तथा गीता-दर्शन स्वतत्र है।

१ वास्तव मे यहाँ इस श्लोक मे 'महाभूत' का अर्थ पाँच सूक्ष्म भूत अर्थात् पाँच तन्मात्रा ( शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, गन्ध तन्मात्रा ) है तथा 'इन्द्रियगोचर' का अर्थ स्थूल महाभूत ( आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ) है। व्यष्टिदेह मे बुद्धि है, वही समष्टिरूप से महत्तत्त्व कहलाता है। पच महाभूत एवं पच तन्मात्रा का कारण अहकार तथा अहकार का कारण बुद्धि तथा बुद्धि का कारण अव्यक्त ( त्रिगुणात्मक प्रकृति ) है। कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना ( जिह्वा ) और नासिका क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ज्ञान करानेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु ( मलद्वार ), उपस्थ ( मूत्रद्वार ); पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन दस इन्द्रियो के साथ सकल्प-विकल्प करनेवाला मन होता है, जिसे ग्यारहवी इन्द्रिय भी कहते हैं।

**'काम सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी. इत्येतत् सर्वं मन एव'** ( वेद ) अर्थात् काम, सकल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये मन के विकार हैं। बुद्धि तर्क द्वारा निर्णय करनेवाली शक्ति है। वास्तव मे मन और बुद्धि एक-दूसरे के पूरक हैं।

धृति का अर्थ धारण-शक्ति है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इत्यादि को परस्पर सगठित रखने की शक्ति को भी धृति कहते हैं। धृति मन का सूक्ष्म गुण भी है।

पाँच महाभूत, अव्यक्त दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहकार, इन्द्रियो के विषय तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना, धृति का सघात (सहति, एकत्रीकरण) होने पर देहरूप एक यन्त्र, उपकरण अथवा सुन्दर खिलौना बन जाता है, जो आत्मा के सम्पर्क से चलता, फिरता और क्रियाशील होता है, जैसे तेल-बत्ती से युक्त दीपक अग्नि के सम्पर्क से प्रज्वलित हो जाता है। परमात्मा एव आत्मा को वेदो मे अग्नि भी कहा गया है। अग्नि के बुझते ही तेल और बत्ती से युक्त दीपक निरर्थक हो जाता है। अग्नि के सम्पर्क के कारण ही दीपक मे प्रकाश और दाहकता के गुण प्रकट होते है। शरीररूप क्षेत्र आत्मा के प्रभाव से ही चेतना द्वारा प्रकाशित एव सपोषित होता है तथा क्रियाशक्तियुक्त होकर गतिशील होता है। इन्द्रियाँ और मन बुद्धि को वश मे करके इच्छा द्वारा मनुष्य को विषय-भोगो की ओर उन्मुख कर देते है तथा उनके न मिलने पर द्वेष उत्पन्न हो जाता है। इच्छा की अनुकूल परिस्थिति मे सुख तथा प्रतिकूल परिस्थिति मे दुःख होता है। मनुष्य इच्छा, आशा, निराशा, चिन्ता, भय, क्रोध, क्लेश मान, अपमान, सुख, दुःख आदि मे भटकते हुए जीवन को खो देता है तथा आत्मा के अचिन्त्य, अलौकिक एव अद्भुत आनन्द की अनुभूति से वचित रह जाता है। अन्तर्मुखी होकर अपने आत्म स्वरूप को पहचानना ज्ञान है। बहिर्मुखी होकर अपने को देह मानना अज्ञान है। देह के छह विकार होते हैं—उत्पत्ति, विकास, स्थिति, प्रजनन, क्षय और विनाश। आत्मा नित्य है।

केवल शरीर ही क्षेत्र नही है, बल्कि समस्त सूक्ष्म शरीर भी क्षेत्र के अन्तर्गत है, क्योकि यह सब जड, दृश्य एव ज्ञेय है। मनुष्य अज्ञानवश केवल शरीर को ही नही, बल्कि मन, बुद्धि, अहकार और चित्त को भी अपना मानता है। आत्मारूप क्षेत्रज्ञ विनाशशील देहरूपी क्षेत्र से पृथक् है।[1] जड क्षेत्र को 'मैं' मानना अज्ञान है। 'मैं आत्मा हूँ, जड देह नही हूँ' ऐसा ज्ञान होने पर चिद् जड ग्रन्थि खुल जाती है[2] तथा वही मुक्ति है। निजस्वरूप सच्चिदानन्दस्वरूप के साक्षात्कार की दिव्यानुभूति होना मानव की परम उपलब्धि है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रह ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

---

१ अनीश्वरवादी चार्वाक मतवादी शरीर को ही आत्मा मानते हैं। क्षणवादी बौद्ध चेतना को आत्मा कहते हैं। साख्यवादी प्रकृति से पृथक् अनन्त पुरुषो की कल्पना करते हैं। न्यायवादी इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि को आत्मा का गुण मानते हैं। इच्छा, द्वेष इत्यादि न चैतन्यस्वरूप आत्मा के गुण हैं और न जड प्रकृति के ही। ये क्षेत्र मे स्थित अन्त करण के गुण हैं। इच्छा आदि क्षेत्र के विकार हैं। क्षेत्र का स्वरूप पाँचवें श्लोक मे कहा गया है। वेदान्तवादी आत्मा को परमात्मा का अश कहते हैं। वही एक परमात्मा जीवमात्र मे स्थित है। सुख दुःख अन्तःकरण की अवस्था हैं। देहवादी मानता है—'मैं स्वस्थ हूँ, मैं अस्वस्थ हूँ, वृद्ध हूँ, बहरा अथवा लँगडा हूँ, मोटा अथवा पतला हूँ।' जड पदार्थों और मनुष्य-देह में यह भेद है कि मनुष्य मे अन्तःकरण भी होता है, जो आत्मा के प्रकाश के कारण सचेत होकर क्रिया-शक्तियुक्त होता है। वेदान्ती अव्यक्त मूल प्रकृति को परमात्मा की माया शक्ति कहते हैं। यह माया-शक्ति ही समस्त भूतों तथा मन, बुद्धि इत्यादि का कारण है।

२. भिद्यते हृदयग्रन्थि ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

**शब्दार्थ :** अमानित्व, अदम्भित्वं, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवं, आचार्योपासनं, शौचं, स्थैर्यं, आत्मविनिग्रह — अपने को श्रेष्ठ मानने के अभिमान से रहित होना, दम्भपूर्ण आचरण न होना, अहिंसा, क्षमाभाव, ऋजुता ( सरलता ), आचार्य ( गुरु ) की उपासना अर्थात् सेवा, भीतर-बाहर शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम । **इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं च अनहकारः एव** = इन्द्रियो के विषयो मे वैराग्य और अहकार न होना, **जन्ममृत्युजराव्याधिदु खदोषानुदर्शन** = जन्म, मरण, जरा ( वृद्धता ) और व्याधि के दुःख मे दोषो को ( अथवा जन्म मरण-जरा-व्याधि और दु.ख के दोषो को ) बार-बार देखना ( विचार करना ) । **असक्ति पुत्रदारगृहादिषु अनभिष्वङ्ग च इष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यं समचित्तत्वं** = अनासक्ति तथा पुत्र, स्त्री, घर आदि मे ममत्व न होना तथा इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति मे सदा समचित्त रहना । **मयि अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्ति च विविक्तदेशसेवित्वं जनसंसदि अरति** = मुझ परमेश्वर मे अनन्ययोग से अव्यभिचारिणी ( शुद्ध ) भक्ति और शुद्ध एव एकान्त देश ( स्थान ) का सेवन, जन-ससद् ( व्यर्थ भीड ) मे अरुचि । **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शन एतत् ज्ञानं** = अध्यात्मज्ञान मे नित्यस्थिति, तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को सर्वत्र देखना यह ज्ञान है, **यत् अत अन्यथा अज्ञान इति प्रोक्त** = जो इसके विपरीत है वह अज्ञान है, ऐसा कहा है ।

**वचनामृत :** निरभिमानता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शौच, स्थिरता और आत्मसयम, इन्द्रियो के विषयो मे वैराग्य और अहकार न होना तथा जन्म, मरण, वृद्धता और व्याधि के दु खरूप दोषो का ( अथवा जन्म, मरण, वृद्धता, व्याधि और दु ख के दोषो का ) बार-बार विचार करना, अनासक्ति तथा पुत्र, स्त्री, घर आदि मे ममत्व न होना, इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति मे सर्वथा समचित्त रहना, मुझ (परमेश्वर ) मे अनन्यभाव से अविचल भक्ति होना, शुद्ध एव एकान्त देश का सेवन करना, जनसमूह मे राग न होना, अध्यात्मज्ञान मे निष्ठा और तत्त्वज्ञान के अर्थ ( प्रयोजन ) पर विचार करना ( अथवा तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना )—यह सब ज्ञान है तथा इससे विपरीत अज्ञान है, ऐसा कहा है ।

**सन्दर्भ :** भगवान् श्रीकृष्ण आत्मज्ञान-प्राप्ति के साधनो की परिगणना करते हैं ।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञान के साधनो की चर्चा करते हैं । भगवान् सिद्धत्व को प्राप्त होनेवाले महापुरुषो के लक्षणो का वर्णन भी विविध स्थलो पर करते हैं। पूर्णता को प्राप्त होने पर कर्मयोगी, भक्तियोगी और ज्ञानयोगी के लक्षण प्राय समान ही है । इन लक्षणो से पूर्ण मानव की कल्पना की जा सकती है । पूर्ण अथवा सिद्ध पुरुषो के लक्षण साधको के लिए साधन, साध्य अथवा प्राप्तव्य गुण हैं । साधक को अपने विचार, वचन और व्यवहार मे अथवा मन, वचन और कर्म मे इन गुणो का समावेश करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अमानित्व ज्ञानी का प्रथम साधन है । ज्ञानी पुरुष मान-बडाई की कामना से सर्वथा मुक्त होता है । श्रीकृष्ण भक्त तथा ज्ञानी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण को सर्वप्रथम कहते हैं तथा उसे प्रथम अक्षर 'अ' से आरम्भ करते हैं । भक्त का सर्वप्रथम लक्षण अद्वेष्टा होना है तथा ज्ञानी का सर्वप्रथम लक्षण अमानित्व है ।[१] ज्ञानी अमानी होता है। उसमे किसी प्रकार का अभिमान नही होता। अभिमानी मनुष्य मे मान-बडाई की उत्कट इच्छा

---

१ इन पाँच श्लोको मे तत्त्वज्ञानी के लक्षण नही कहे गये हैं, बल्कि ज्ञान-प्राप्ति के साधन कहे गये हैं । सिद्ध ज्ञानी के लिए गुरु की उपासना लक्षण नही हो सकता । तथापि इन्हे ज्ञानी के लक्षण भी कहा जा सकता है । भक्त का प्रथम गुण अद्वेष्टा है ( गीता, १२.१३ ) ।

होती है तथा वह दूसरो को अपनी अपेक्षा तुच्छ समझकर सर्वत्र आदर-सत्कार पाने की आशा करता है और सम्मान न मिलने पर क्षुब्ध एव विचलित हो जाता है। मान-बडाई की इच्छा विद्वानो और महात्माओ को भी नही छोडती। प्रशसा की इच्छा से युक्त मनुष्य निन्दा के भय से ग्रस्त रहता है। उत्तम पुरुष निन्दा-स्तुति से ऊपर उठ जाता है।

ज्ञानी का दूसरा लक्षण अदम्भित्व (दम्भरहित होना) है। अपने को महान् धनी, सत्ताधारी, प्रतिष्ठित, विद्वान्, महात्मा, योगी, परोपकारी, दानी, तपस्वी अथवा शक्तिशाली प्रकट करना दम्भ है। दम्भ मे द्वेष छिपा रहता है। दम्भी व्यक्ति अकारण द्वेषी होता है। सत्पुरुष सर्वत्र विनयशील होता है। तुच्छ मनुष्य दम्भपूर्ण प्रदर्शन करता है, ज्ञानी विनम्र होता है।

मन, वाणी और कर्म से किसी प्राणी को पीडा पहुँचाना हिंसा है। अहिंसा परम धर्म है।[१] द्वेष-रहित तथा निर्वैर होना अहिंसा का सार-तत्त्व है। शत्रुभाव से पीडा देनेवाले के प्रति भी शत्रुभाव एव प्रतिशोध से प्रेरित होकर पीडा पहुँचाना पशुता है। ज्ञानी सबमे परमात्मा का दर्शन करता है तथा प्रेम-परिपूर्ण एव सर्वथा अहिंसक होता है। ज्ञानी मान-अपमान, प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा तथा प्रशसा-निन्दा से ऊपर उठकर अपमान का उत्तर मान से, कटुता का उत्तर मधुरता से तथा घृणा का उत्तर प्रेम से देता है। सबमे सर्वात्मा का दर्शन करने तथा निर्वैर होने के कारण अहिंसक ज्ञानी के सान्निध्य मे हिंसक पशु भी हिंसा-वृत्ति छोडकर अहिंसा-वृत्ति धारण कर लेते हैं।[१] किसीको कष्ट न देना ही पर्याप्त नही है। अपने सम्पर्क मे आने-वाले अन्य जन के दु ख दूर करने के लिए सक्रिय होने मे अहिंसा का उत्कर्ष है। अहिंसा गतिशील होकर रसमय प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है तथा अत्यन्त व्यापक होती है।

क्षान्ति का अर्थ है सहनशीलता एव क्षमाभाव[२] अपार क्षमाभाव के कारण क्रोध का अवसर होने पर भी मन मे क्षोभ इत्यादि विकार उत्पन्न न होना क्षान्ति की अवस्था है। क्रोध आने पर विवेक विलुप्त हो जाता है, क्रोध के भयकर दुष्परिणाम होते हैं। महापुरुष कर्तव्य-पालन मे दृढ होते हैं। किन्तु उनका मन निर्विकार रहता है। मन के उच्चतम धरातल पर स्थित होने पर अविचल

---

१ आधुनिक युग में वैज्ञानिक प्रगति की चकाचौंध ने मानव को निष्करुण दानव बना दिया है। वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे पशुओ को अकल्पनीय यातनाएँ दी जाती हैं। करुणाभाव को त्यागकर मानव दानव हो जाता है। सौन्दर्य-प्रसाधनो, सुकोमल ऊनी परिधानो तथा सुकोमल पादत्राणो इत्यादि के निर्माण के लिए मूक एव निरीह पशुओ की न केवल हिंसा की जाती है, उन्हें घोर यन्त्रणाएँ दी जाती हैं। अन्न से भरपूर क्षेत्रो मे सुसभ्य समाज द्वारा क्षणिक स्वाद के लिए पशु-पक्षियो का वध किया जाता है। देव-पूजा की आड में पशु-हिंसा करना अत्यन्त पापमय है, घोर अधर्म है। कुछ मूढ व्यक्ति धार्मिक अन्धविश्वास से ग्रस्त होकर देह के अगो की, बच्चो की तथा मनुष्यो की बलि देकर पैशाचिक पापकृत्य करते हैं। जो विश्वास अथवा मत सात्त्विक भाव एवं अहिंसा को जाग्रत न करके तामसिक भाव एव हिंसा को उद्दीप्त कर देता है, वह सर्वथा त्याज्य है।

१ अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग।

—योगदर्शन, २ ३५

भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, गुरु नानकदेव, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि रमण इत्यादि के जीवन मे इसे प्रमाणित करनेवाली अनेक घटनाएँ उदाहरण हैं। गीता मे अहिंसा की चर्चा अन्यत्र भी है (१० ५)।

२ गीता मे अन्यत्र भी क्षमा की चर्चा की गयी है (९ ३४, १० ४, १२ १३)। शकराचार्य कहते हैं कि क्रोध उत्पन्न होने पर उसे शान्त रखना अक्रोध है, किन्तु क्रोध उत्पन्न न होना मानसिक क्षान्ति है। अक्रोध साधक की तथा क्षान्ति सिद्धपुरुष की अवस्था है।

शान्तिरूप क्षान्ति की अवस्था प्राप्त होती है। ज्ञानी सन्त अपने प्रति जाने-अनजाने अपराध होने पर भी शान्त एव क्षमावान् रहता है। जो ज्ञानी अन्य प्राणियो के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, वह उनके अपराधो से क्षुब्ध नही होता, जैसे मनुष्य दाँतो से जिह्वा के सहसा कट जाने पर उन्हे उखाड नही देता। चन्दन का वृक्ष अपने काटनेवाले कुठार को भी सुगन्धित कर देता है। अपार घृणा का समाधान अपार क्षमा द्वारा ही होना सभव है। महापुरुष सहजभाव से क्षमा कर देते है। मनुष्य की महानता की परख क्षमाशीलता द्वारा ही होती है। किन्तु केवल वाचिक क्षमा करना मात्र दभ है। क्षमा तो दोनो पक्षो के मन को धोकर निर्मल कर देती है। वह क्षमा नही है, यदि मनुष्य के मन मे द्वेष, घृणा अथवा क्षमा करने का अभिमान शेष रह जाता है। 'मैं तुझे वरबाद कर दूंगा', ऐसा अविवेकी मनुष्य कहते है। उत्तम पुरुष अपराधी को भटका हुआ मानकर सदैव उसके सुधरने मे सहयोग देते हैं और भगवान् से उसे सद्बुद्धि देने के लिए प्रार्थना करते हैं। यदि दण्ड देना आवश्यक होता है तो उसके पृष्ठ मे समाज-हित अथवा न्याय-व्यवस्था का पवित्र भाव होता है, जैसे कि चिकित्सा के अन्तर्गत शल्य-क्रिया का प्रयोग किया जाता है। कुशल शल्य-चिकित्सक सर्वप्रथम रोगी को उचित मात्रा मे अचेत करनेवाली औषधि का अन्त क्षेपण करता है तथा सावधान होकर उसकी अचेत अवस्था मे शल्य-क्रिया करता है। शनै शनै रोगी की चेतना के लौटने पर वह उसकी परिचर्या करता है तथा उसे पुन स्वस्थ देखकर सन्तोष एव कृतार्थता का अनुभव करता है। अपराधी को सत्पुरुष बनने मे सहयोग देनेवाले मनुष्य देवतुल्य होते है। पूर्ण ज्ञानी पुरुष पूर्ण सन्त, पूर्ण अहिंसक तथा पूर्ण क्षमावान् होता है।

आर्जव अर्थात् ऋजुता (सरलता) समस्त साधना का मूलाधार है। जो मनुष्य सरलचित्त है, वे सहज व्यवहार करते है। सरल पुरुष की कथनी और करनी मे अन्तर नही होता और उसे दम्भ करने की आवश्यकता नही होती। उसका व्यवहार सहज एव स्वाभाविक होता है। सरल व्यक्ति ही वास्तव मे अमानी, अदभी, अहिंसक एव क्षमाशील होता है। सीधे सच्चे मनुष्य सभ्य समाज मे सम्मान पाते हैं तथा भगवान् के अधिक समीप होते हैं। सरल होने का अर्थ अविवेक अथवा मूढता नही है। मनुष्य सावधान रहकर भी सरल रह सकता है। सरल मनुष्य प्रवचित होकर भी प्रवचना नही करते। सरल मनुष्य वक्र व्यक्ति के साथ भी सरल रहते है तथा वे सब-कुछ खोकर भी सब-कुछ पा लेते है, शान्त और सुखी रहते है। कुटिलता का सरलता पर तथा छल का निश्छलता पर आघात सदैव निष्फल होता है। भगवान् सरल एव निश्छल मनुष्य की रक्षा स्वय करते है[१]। छल-कपट से अपार धन, सत्ता, पद, प्रतिष्ठा आदि पाकर भी मनुष्य अपने भीतर अशान्त होता है तथा निश्छल एव निष्कपट रहकर साधारण स्थिति मे भी मनुष्य अपने भीतर शान्त होता है। सरल मनुष्य स्वभाव मे बालक की भाँति सरल एव सत्यनिष्ठ होता हैं। सरल एव सात्त्विक मनुष्य भगवान् की विभूति होता है।

आचार्य की उपासना ज्ञान-प्राप्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। भारतीय सस्कृति मे गुरु-परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु का

---

१ 'सरल सुभाव न मन कुटिलाई,
जथा लाभ सन्तोष सदाई।'
'निर्मल मन जन सो मोहि भावा।'

'तस्मात् ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत' अर्थात् ब्राह्मण (उत्तम साधक) को ज्ञान-प्राप्त कर बालवत् सरल रहना चाहिए।

आदर माता-पिता से बढ़कर होता है। उत्तम शिक्षा देनेवाले मनुष्य आचार्य अथवा गुरु होते हैं, किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान देनेवाले सद्गुरु की महिमा अवर्णनीय है। 'उपासना' का अर्थ है आध्यात्मिक मार्गदर्शक के पास बैठना, उससे प्रेरणा लेकर श्रद्धापूर्वक साधना करना। सद्गुरु के आशीर्वाद से असभव भी सभव हो जाता है। भगवत्कृपा से सद्गुरु की प्राप्ति होती है। जिस मनुष्य को सद्गुरु की कृपा प्राप्त है, वह भीषण सकट मे भी सर्वथा सुरक्षित रहता है। सद्गुरु पृथ्वी पर प्रभु का प्रतिनिधि ही होता है। भगवान् सद्गुरु के माध्यम से मार्गदर्शन करते हैं तथा शिष्य की दृष्टि मे सद्गुरु भगवान् का ही स्वरूप होता है।[1] गुरु की शुश्रूषा करने से अहकार विगलित होता है तथा मार्ग प्रशस्त हो जाता है। भगवान् को प्राप्त होने की सच्ची जिज्ञासा होने पर सुपात्र को सद्गुरु स्वय मिल जाता है तथा सच्ची श्रद्धा होने पर सद्गुरु की कृपा प्राप्त हो जाती है। गुरु की उपासना से अर्थात् गुरु के पास श्रद्धापूर्वक बैठकर उनके जीवन से प्रेरणा ग्रहण करना आध्यात्मिक प्रगति मे आवश्यक है। गुरु के प्रति अपनी भावना फलीभूत होती है।[2]

शौच अर्थात् भीतरी और बाहरी शुचिता (स्वच्छता) ज्ञानी का लक्षण है।[1] आभ्यन्तर शुचिता का अर्थ है मन को राग-द्वेष से विमुक्त करके निर्मल तथा सरल बना लेना। शारीरिक तथा निवासस्थान की शुद्धि के साथ-साथ मानसिक शुद्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आहार शुद्धि मानसिक शुद्धि मे सहायक है। ईमानदारी और परिश्रम से धन अर्जित करने पर वास्तविक आहार-शुद्धि होती है। सत्य का आचरण तथा सेवा-कार्य से भी मन की शुद्धि होती है।

---

१ आचार्यदेवो भव—आचार्य को देवता माननेवाला हो।—तैत्तिरीय उप०

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नम ॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्त येन चराचरम्।
तत्पद दर्शित येन तस्मै श्री गुरवे नम. ॥
'भावातीत त्रिगुणरहितं सद्गुरु त नमामि।'
ध्यानमूल गुरोर्मूर्ति पूजामूलं गुरोर्पदम्।
मन्त्रमूल गुरोर्वाक्यं मोक्षमूल गुरोकृ॑पा ॥

२ मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

—अर्थात् मत्र, तीर्थ, द्विज, देव, दैवज्ञ, औषध और गुरु के प्रति जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी ही सिद्धि होती है। किन्तु सद्गुरु का वरण गभीरतापूर्वक सोच-विचार करके ही करना उचित है। उत्तम गुरु निरभिमान तथा त्यागपूर्ण होता है।

गुरु सिष बधिर-अध कर लेखा,
एक न सुनइ एक नहिं देखा।
हरइ सिष्यधन सोक न हरई,
सो गुर घोर नरक मँह परई ॥

सद्गुरु का आशीर्वचन समस्त दुःखो का समाधान कर सकता है।

'सद्गुर बैद बचन बिस्वासा'—सद्गुरु को परम वैद्य मानकर उसके आशीर्वचन पर विश्वास करना चाहिए। 'बिनु गुर होइ कि ग्यान'—क्या गुरु के बिना ज्ञान हो सकता है?

१ शौच तु द्विविध प्रोक्त बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृत बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥
—अग्निपुराण, ३७२ १७-१८

—बाह्य और आभ्यन्तर शौच (शुद्धि) दो प्रकार का है। मिट्टी और जल द्वारा शुद्धि बाह्य शुद्धि है तथा भाव-शुद्धि, आभ्यन्तर शुद्धि है।

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि'—आहार-शुद्धि से मन शुद्ध होता है।

'मन सत्येन शुध्यति'—मन सत्य से शुद्ध होता है।

स्थैर्य का अर्थ है अपने विचार और साधना मे स्थिरता, दृढता।[1] मन को निश्चल करके मोक्ष-प्राप्ति के लिए साधना-रत रहना स्थैर्य है। घोर कष्ट उपस्थित होने पर अथवा प्रलोभन का अवसर होने पर भी दृढ रहना लक्ष्य-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। अपमान, शोक इत्यादि के समय भी अविचल, सम तथा शान्त रहना धैर्य अथवा स्थिरता है।

आत्म-विनिग्रह अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियो और देह को सयम मे रखना अथवा उन पर नियत्रण करना ज्ञान का अपरिहार्य साधन है। भगवान् ने गीता मे अनेक स्थलो पर अनेक प्रकार से आत्म-विनिग्रह के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया है। मनुष्य आत्मसयम मे सफल होकर ही जीवन मे कुछ उपलब्धि कर सकता है। आत्मसयम का प्रमुख आधार चिन्तनपूर्ण विवेक है। मन तथा इन्द्रियो का हठपूर्वक दमन करने से कुण्ठाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो अनेक बार विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर देती है। भौतिक इच्छाओ का उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण ही आत्म-सयम है।

इन्द्रियो के विषयो मे वैराग्य होना ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ साधन है। ज्ञान तथा वैराग्य परस्पर आबद्ध हैं। वैराग्य होने पर ज्ञान तथा ज्ञान होने पर वैराग्य का उदय होता है। ससार के भोग्य पदार्थ नश्वर हैं, उनमे शाश्वत आनन्द देने की क्षमता नही है। शरीर भी रोग, शोक, जरा इत्यादि से ग्रस्त होकर दुख का कारण हो जाता है। शरीर के रोगी तथा मन के शोकग्रस्त होने पर ससार के समस्त भोग्य विषय क्लेशदायी हो जाते हैं। ससार के मिथ्यात्व का तथा आध्यात्मिक आनन्द की दिव्यता का अनुभव होने पर वैराग्य प्रगाढ हो जाता है। वैराग्य आनन्द एव मोक्ष का द्वार है। ससार मे लिप्त रहनेवाला मनुष्य कभी स्थायी आनन्द प्राप्त नही कर सकता। वैराग्यसम्पन्न ज्ञानी ससार मे सदैव सुप्रसन्न रहता है। ज्ञानी के वैराग्य का आधार उसका चिन्तन-मनन एव विवेक है। हठधर्मिता से इन्द्रिय-दमन करने पर क्लेशप्रद कुण्ठाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। घर छोड़ देना, वस्त्र आदि का त्याग कर देना वैराग्य का लक्षण नही है।[1] वैराग्य तो मन का होता है। राग अर्थात् आसक्ति का त्याग ही वैराग्य है। ज्ञानी वैराग्यवान् होता है तथा वह धन, पद, प्रतिष्ठा आदि के प्रलोभन से मुक्त होता है। वैराग्य ज्ञानी का स्वभावसिद्ध लक्षण है।

अहकार का अभाव ज्ञानी का सहज लक्षण है। अहकार ज्ञान का शत्रु तथा पतन का कारण है। अज्ञानी के कर्मो के पीछे अहकार होता है तथा ज्ञानी के कर्मो के पीछे अहकारशून्य विवेक। आत्मा को देह से पृथक् मानकर तथा देहाभिमान छोड़कर कार्य करनेवाला मनुष्य अनहकारी (अहकार-रहित) होता है। देहाभिमान (मैं देह हूँ, यह भाव) का त्याग अनहकार है। अहकार को उदात्त एवं दिव्य बना देना ही अहकार को निर्मूल करना है।

जन्म, मृत्यु, जरा (वृद्धावस्था) तथा व्याधि (रोग) दुखरूप हैं, ऐसा समझकर उनके दोषो का अनुदर्शन (बारम्बार चिन्तन) करने से भोग्य विषयो के प्रति वैराग्य तथा ज्ञान प्रबल

---

१ भक्त के लक्षणो मे इसे 'स्थिरमति' होना कहा गया है। —गीता, १२ १९

'मोक्षमार्गे एव कृताध्यवसायत्वं'—शङ्कराचार्य, —साधन मे दृढ़ता।

---

१ नारि मुई गृह सपति नासी,
मूँड मुँडाइ होंहि संन्यासी।
वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्।
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः॥

—अर्थात् मन मे राग होने पर वन मे भी दोष होते हैं तथा घर मे रहकर वैराग्य द्वारा पाँचो इन्द्रियो का निग्रहरूप तप किया जा सकता है।

होते हैं ।[1] ससार के भोग्य विषयो के प्रति अनुरक्ति का त्याग करने पर मनुष्य आत्मसाक्षात्काररूप आध्यात्मिक आनन्द के अनुसन्धान मे प्रवृत्त हो जाता है । जन्म, मरण, वृद्धता, रोग और शोक मनुष्य के लिए चुनौती हैं । ये सब मनुष्य को चिन्ता और भय से ग्रस्त कर देते हैं । मनुष्य इन पर चिन्तन करने पर ही इन्हे पार करने के लिए उद्यत होता है । 'मैं नश्वर देह नही हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं आनन्दस्वरूप हूँ, मैं जन्म, मरण, वृद्धता और रोग से सर्वथा मुक्त हूँ, मैं शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हूँ', ऐसा चिन्तन मनुष्य को जन्म-मरण आदि के भय से मुक्त कर देता है । जन्म-मरण आदि के दोषो का अवलोकन करना ज्ञान का साधन है । तत्त्वज्ञान से निर्मल हुई बुद्धि से युक्त पुरुषो को विषयभोग आकृष्ट एव प्रभावित नही करते ।

अनासक्ति तथा पुत्र, स्त्री, गृह आदि के प्रति ममता का त्याग करना ज्ञान-प्राप्ति का साधन है । प्रेम मन को निर्मल करता है, किन्तु मोह (आसक्ति) मन को दूषित एव निर्बल कर देता है । मोह मनुष्य को भावुक बना देता है तथा क्लेश का कारण हो जाता है । अपने देह तथा अन्य जन के देहो को नश्वर मानना तथा गृह, धन आदि को भी क्षणभगुर समझना विवेक है । प्रेमपूर्ण आत्मीयता तथा आसक्तिपूर्ण भावुकता मे अन्तर है । सभी अपने कर्मानुसार प्रारब्ध का भोग करते हैं । मनुष्य दूसरो के प्रति केवल अपने कर्तव्य का पालन ही कर सकता है, वह किसीके प्रारब्ध का भोग नही कर सकता । प्रेमपूर्ण सहानुभूति और सहयोग करना तो उचित है, किन्तु मोहलिप्त होकर अतिहर्षित अथवा अतिखिन्न होना अज्ञान है । मोह-त्याग ज्ञान का साधन है । पुत्र, पुत्री, गृह, धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि मे लिप्त मनुष्य परमार्थ से दूर हट जाता है तथा उनके मोह के कारण लोभ आदि से ग्रस्त होकर पाप-कर्म मे प्रवृत्त हो जाता है । श्रीकृष्ण पुत्र, स्त्री, गृह आदि के प्रति निष्ठुर होने का अथवा उनका त्याग करने का उपदेश नही देते, बल्कि उनके प्रति आसक्ति के त्याग की बात कहते हैं । मनुष्य अलिप्त होकर न्यायशील, सत्यनिष्ठ एव सदाचारी रह सकता है । सन्तान, पत्नी, गृह इत्यादि को अपना मानना मोह है तथा उन्हे भी भगवान् का ही मानना विवेक है ।

मोह मे अलिप्त अथवा आसक्तिरहित मनुष्य ही इष्ट और अनिष्ट, प्रिय और अप्रिय अथवा अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति मे समचित्त रह सकता है । सदैव समचित्त, एकरस तथा शान्त रहना ज्ञानी का लक्षण है । सम्पूर्ण गीता मे भगवान् ने ममत्व का त्याग करने तथा समत्व अथवा समचित्तता अर्थात् शीत, उष्ण, दु ख, सुख आदि द्वन्द्वो मे समान रहने का उपदेश दिया है । समत्व गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है । समत्व का अर्थ है एकरस रहना, द्वन्द्वातीत रहना तथा सदैव शान्त रहना । आन्तरिक दिव्य धरातल पर जीनेवाला ज्ञानी सदैव समचित्त रहता है । समत्व योग है ।[1]

भगवान् के प्रति अनन्यभाव एव विशुद्ध भक्ति ज्ञानी का लक्षण तथा ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट साधन है ।[2] भगवान् ही हमारे सर्वस्व हैं, वे ही

---

१ इस वाक्य का अर्थ अनेक प्रकार से किया गया है । एक अन्य अर्थ है—जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दु ख के दोषो का अनुदर्शन करने से भोग्य विषयो के प्रति वैराग्य तथा ज्ञान प्रबल होते हैं । इस अर्थ मे दु ख को पृथक् गिना गया है । यह अर्थ भी निरापद है । गीता मे अन्यत्र भी जन्म, मरण, जरा, व्याधि की चर्चा है (७ २९, १४ २० ) ।

१. समत्वं योग उच्यते ।—गीता, २.४८

२ ज्ञानमार्गी के लिए भक्ति का अर्थ चिन्तन, मनन, वैराग्य तथा अभेद-साधना है । भक्तिमार्गी के लिए भेदोपासना अथवा भक्ति होती है । ज्ञानी के मत मे परमात्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है । परमात्मा में बुद्धि का निश्चल करना अव्यभिचारिणी भक्ति है ।

हमारे माता, पिता, बन्धु, सखा, विद्या, धन आदि सब-कुछ है, भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं, भगवान् के अतिरिक्त हमारा कोई अन्य नही है, भगवान् ही हमारे साध्य एवं प्राप्य हैं— ऐसा भाव होना अनन्य-भाव है। अडिग होकर तथा केवल भगवान् को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर भक्ति करना विशुद्ध भक्ति है। ऐसा व्यक्ति विषम परिस्थिति मे भी स्थिर एवं दृढ रहता है तथा धन, सत्ता, पद, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के सुख को भगवद्-प्राप्ति के आनन्द की अपेक्षा तुच्छ समझता है।

ज्ञानी अपने पीछे शिष्यो, भक्तो और प्रशंसको के जमघट को और व्यर्थ के दम्भ को प्रोत्साहन नही देता। वह मनुष्यो से घृणा नही करता, किन्तु निरर्थक क्रिया मे समय और शक्ति भी नही गँवाता। ज्ञान का साधक यथासम्भव प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त सात्त्विक वातावरण को वरीयता देता है, किन्तु ज्ञान की सिद्ध अवस्था मे बाह्य पर्यावरण का कोई महत्त्व नही रहता। साधना-काल मे एकान्त का महत्त्व वर्णनातीत है। एकान्त मे रहकर मनुष्य स्वाध्याय, आत्मविश्लेषण, आत्मचिन्तन, मौन, जप इत्यादि का अभ्यास सुविधापूर्वक कर सकता है। अधिकाश आध्यात्मिक साधक स्वल्पसिद्धि से चमत्कृत होकर भौतिकता की ओर अग्रसर हो जाते है, पथभ्रष्ट हो जाते है। ज्ञानी अपनी शक्ति और आनन्द के लिए ससार मे भटकता नही है। वह किसीसे घृणा नही करता तथा सबसे प्रेम करता है, किन्तु किसी व्यक्ति एव वस्तु अथवा पद एव प्रतिष्ठा को अपने सुख का कारण नही मानता। वास्तव मे एकान्त का अर्थ निर्जन वन नही है, बल्कि अपने भीतर एकान्त का अनुभव करना है। अनेक मनुष्य निर्जन वन मे रहकर भी मन मे ससार को बसाये रहते है तथा ज्ञानी कही भी रहकर मन मे एकान्त का अनुभव कर सकता है। एकान्त का अर्थ अकेलापन नही है, बल्कि भीतर रागशून्यता एव शान्ति का अनुभव करना है। अकेलेपन की भावना भौतिकवाद का अभिशाप है तथा एकान्त अर्थात् रागशून्यता एव शान्ति का अनुभव आध्यात्मिकता का वरदान है।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्व का अर्थ है आत्मा एव परमात्मा के तत्त्वज्ञान में सदा तल्लीन रहना।[1] 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'—का अर्थ है परमात्मा के ज्ञान के अर्थ का दर्शन अर्थात् साक्षात् अनुभव करना। देह मे विराजमान परमात्मा के साथ एकात्मता अथवा ऐक्य का अनुभव करना तत्त्वार्थ का दर्शन करना है। ज्ञानी सत् तथा असत् एवं आत्म तथा अनात्म वस्तु का भेद करता है तथा सच्चिदानन्द-घन परमात्मा के साथ ऐक्य की अनुभूति करता है।

इन पाँच श्लोको ( ७ से ११ तक ) मे ज्ञानी के लक्षण एव ज्ञान के साधन कहे गये है। भीतर तत्त्वज्ञान का उदय होने पर अमानित्व इत्यादि लक्षण स्वय प्रकट होने लगते हैं। इन लक्षणो से युक्त पुरुष को आत्मज्ञानी कहा जाता है। इन लक्षणो के विपरीत अज्ञानी मनुष्य के लक्षण हैं। ज्ञान केवल सैद्धान्तिक एव बौद्धिक चर्चा का विषय नही है, बल्कि अनुभव, अभ्यास तथा आचरण का विषय है। जैसे-जैसे माया का आवरण हटने लगता है, वैसे-वैसे परमात्मा का साक्षात्कार होने लगता है, जैसे काई के हटने पर स्वच्छ जल का दर्शन होता है। साधनों की परिपक्व अवस्था मे ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।

**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।**
**अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥**

---

१ सास्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैन इत्यादि दर्शन आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करते हैं। वेदान्त-दर्शन आत्मा और परमात्मा के तत्त्व की विवेचना करता है। सन्त विनोबा कहते हैं कि आत्मज्ञान का लाभ है परमात्मारूपी पदार्थ का रस चखना। ज्ञान-प्राप्ति के अमानित्व आदि साधनों में अनेक साधन यम-नियम के अन्तर्गत हैं।

**शब्दार्थ** . यत् ज्ञेयं यत् ज्ञात्वा अमृत अश्नुते=जो जानने के योग्य है, जिसे जानकर (मनुष्य) अमृत को प्राप्त हो जाता है, तत् प्रवक्ष्यामि=उसे भली प्रकार कहूँगा। तत् अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् न असत् उच्यते=वह अनादिमान् परम ब्रह्म न सत् (कहा जाता), न असत् कहा जाता है।

**वचनामृत :** जो जानने के योग्य है तथा जिसे जानकर मनुष्य अमृतपद (परमपद) को प्राप्त होता है, उसे मैं भली प्रकार कहूँगा। वह अनादि परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण परमात्मा का स्वरूप कहते हैं।

**रसामृत :** निर्गुण, निराकार, परब्रह्म, परमात्मा, परमानन्दस्वरूप है। वही वास्तव मे जानने के योग्य है तथा उसके जानने से जीवन अमृतमय हो जाता है। परमात्मा के ज्ञान से मनुष्य परमपद को प्राप्त कर लेता है तथा जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक, दु ख आदि दोषो से मुक्त हो जाता है। परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना ही अमृत प्राप्त करना है।

परमात्मा अनादि है तथा शब्दो से उसका वर्णन करना असम्भव है, क्योकि शब्दो और उनके अर्थों की एक सीमा होती है तथा शब्दो से असीम का बोध कराना सम्भव नही है। परमात्मा सत् (होना) तथा असत् (न होना) से विलक्षण है। उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत्। सत् वस्तु को प्रमाणो द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु परमात्मा स्वत प्रमाण एव स्वयप्रकाश है। परमात्मा प्रमाणो से परे है। परमात्मा असत् (न होनेवाला) भी नही है, क्योकि उसका अस्तित्व है। परमात्मा को विधिमुख से समझते हुए कहा जाता है कि वह ऐसा है अथवा ऐसा है तथा निषेधमुख से समझते हुए कहा जाता है कि वह ऐसा भी नहीं है, अथवा ऐसा भी नही है। वास्तव मे परमात्मा के समस्त विशेषणो का निषेध करने का उद्देश्य निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करना है।[1] परमात्मा 'अस्ति' (है) तथा 'न अस्ति' (नही है) अथवा सत् (है) तथा असत् (नही है) दोनो से परे विलक्षण ही है। वह विदित (जाना हुआ) तथा अविदित (न जाना हुआ) से परे है।[2] उसे गुणवाचक शब्दो द्वारा निर्दिष्ट नही किया जा सकता। वहाँ वाणी निवृत्त होकर लौट आती है।[3] वाणी उसका वर्णन नही कर सकती। वह शब्द की प्रवृत्ति के हेतुओ से परे है।[4] ब्रह्म सब वेद्य (ज्ञेय) को जानता है, किन्तु उसका वेत्ता (जाननेवाला) कोई नही है।[5] परमात्मा मन और वाणी का विषय नही है, केवल गहन अनुभूति का विषय है। वास्तव मे परमात्मा का जो भी वर्णन किया जाता है, वह परमात्मा का तटस्थ लक्षण ही है। वह प्रमाण का विषय न होकर भी है। जीवात्मा परमात्मा मे प्रवेश करके तद्रूप हो जाता है, जैसे नमक का खिलौना सागर

---

१ 'केवलो निर्गुणश्च।'

२. 'अन्यदेव तद् विदिताद् अथो अविदितादधि'
—केन उप०, १ ३

—वह ब्रह्म विदित और अविदित से अन्य है।

३. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'
—तैत्तिरीय उप०

४ शब्द चार बातो का निर्देश करते हैं—जाति (गौ, अश्व, मनुष्य इत्यादि), गुण (श्वेत, चतुर इत्यादि), क्रिया (जाना, पढना इत्यादि) और सम्बन्ध (वह मनुष्य धनी है, निर्धन है इत्यादि)। परमात्मा क्रियारहित है। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्।'

५ 'न वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता।' सगुण ब्रह्म का वर्णन सर्वशक्तिमान्, जगत् का रचयिता, पोषक, संहर्ता, दयालु इत्यादि विशेषणों से किया जाता है, किन्तु निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्मा का वर्णन करना सभव नही है। श्रीकृष्ण अन्य श्लोक (९ १९) मे कहते हैं, भगवान् सत् और असत् दोनो है, किन्तु यहाँ उससे आगे की बात कहते हैं कि वह सत् और असत् से भी विलक्षण है।

में प्रविष्ट होकर तद्रूप हो जाता है। परमात्मा की अनुभूति शब्दो से परे है।

सर्वतः पाणिपाद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेय ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्य हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्त समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

**शब्दार्थ :** तत् सर्वत पाणिपादं सर्वतोऽक्षिशिरोमुख सर्वत श्रुतिमत्=वह सब ओर हाथ पैरवाला, सब ओर से नेत्र और सिरवाला, सब ओर से कानोवाला ( है ), लोके सर्व आवृत्य तिष्ठति=ससार मे सबको व्याप्त करके स्थित है। सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितं=सब इन्द्रियो के विषयो को जाननेवाला ( किन्तु ) सब इन्द्रियो से रहित है, च असक्तं सर्वभृत्= और आसक्तिरहित होकर भी सबका पालन करनेवाला, च निर्गुणं एव गुणभोक्तृ=और निर्गुण होकर भी गुण का भोक्ता है। भूताना बहिः अन्त च=चर और अचर भूतो ( प्राणियो और पदार्थों ) के बाहर-भीतर है, च चरं अचरं एव=और चर-अचर भी ( वही ) है, तत् सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयं=वह सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है, च अन्तिके च दूरस्थ तत=तथा पास मे और दूर वही है। च अविभक्तं च भूतेषु विभक्तं इव स्थित तत् ज्ञेयं भूतभर्तृं च ग्रसिष्णु च प्रभविष्णु=और अविभक्त ( विभागो या टुकडो मे न बांटा हुआ ) भी भूतो मे विभक्त सा स्थित वह ज्ञेय ( जानने के योग्य ) भूतो का धारण-पोषण करनेवाला और ग्रस लेनेवाला ( सहारकर्ता ) तथा उत्पन्न करनेवाला है। तत् ज्योतिषा अपि ज्योतिः तमसः परं उच्यते=वह ज्योतियो की भी ज्योति, तम ( माया ) से परे कहा जाता है, ज्ञानं ज्ञेय ज्ञानगम्यं सर्वस्य हृदि विष्ठित=ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानगम्य ( तत्त्वज्ञान से प्राप्त होनेवाला ) सबके हृदय में विराजमान है। इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं च ज्ञेयं समासत उक्तं=इस प्रकार क्षेत्र और ज्ञान एवं ज्ञेय ( जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप ) सक्षेप से कहा गया, एतद् विज्ञाय मद्भक्तः मद्भावाय उपपद्यते=इसे भली प्रकार जानकर मेरा भक्त मेरे भाव ( स्वरूप ) को प्राप्त होता है।

**वचनामृत :** वह परमात्मा सब ओर से हाथ-पैरवाला, सब ओर से नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर से कानवाला है, वह जगत् मे सबको व्याप्त ( परिपूर्ण ) करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियो के विषयो को जाननेवाला है ( किन्तु ) सब इन्द्रियो से रहित है तथा आसक्ति-रहित होकर भी सबका भरण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होकर भी गुणो का भोक्ता है। वह चराचर सब भूतो के बाहर और भीतर है और समस्त चर-अचर भी वही है। वह सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है तथा समीप और दूर भी वही है। वह अविभक्त ( विभागरहित ) भी भूतों ( प्राणियो एव पदार्थों ) मे विभक्त-सा स्थित है तथा ज्ञेय, भूतो का धारणकर्ता, पालनकर्ता और सहारकर्ता तथा उत्पत्तिकर्ता है। वह ज्योतियो की भी ज्योति है, उसे तम ( अंधकार, माया ) से परे कहा जाता है, वह ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है तथा सबके हृदय मे विराजमान है। इस प्रकार क्षेत्र और ज्ञान तथा ज्ञेय ( परमात्मा का स्वरूप ) सक्षेप मे कहा गया। इसे भली प्रकार जानकर मेरा भक्त मेरे भाव ( स्वरूप ) को प्राप्त हो जाता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय का वर्णन करते हैं।

**रसामृत :** परमात्मा दृश्यमान समस्त पदार्थो से विलक्षण है। वेद उसका वर्णन करने मे असमर्थ होकर 'नेति नेति' पुकारते हैं। वह ऐसा भी है, वैसा भी है, तथा न ऐसा है, न वैसा है। उसके स्वरूप को किस प्रकार जाना जा सकता है और

उसका वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है? मनुष्य की इन्द्रियो, मन और बुद्धि की शक्ति सीमित है तथा सृष्टि के रहस्य अनन्त और असीम हैं। परमात्मा रहस्यो का भी रहस्य है। वह दीखते हुए भी नही दीखता। तर्क की भी एक सीमा है। तर्क द्वारा परमात्मा के अस्तित्व को प्रमाणित नही किया जा सकता। जगत् मे एक व्यवस्था है तथा उस व्यवस्था के पीछे एक दिव्य व्यवस्थापक है। सृष्टि के नियमो के पीछे एक नियामक है तथा विश्व-योजना के पीछे नियोजक है। वह सृष्टि की शक्तियो का स्रोत एव आधार है। योगी और यति, सन्त और महात्मा तथा तपस्वी और ज्ञानी उसकी सत्ता की अनुभूति अपने अन्तस्तल मे कर लेते है, किन्तु विचार और वाणी के स्तर पर उसका वर्णन करने मे असमर्थ हो जाते है। परमात्मा की अनुभूति होने से मनुष्य का रूपान्तरण हो जाता है तथा उसके लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अन्य जन उन लक्षणो से उसकी सिद्धता का अनुमान कर सकते हैं। परमात्मा तर्क का विषय नहीं है, अनुभूति का विषय है। धन, सम्पत्ति, सत्ता, पद, प्रतिष्ठा, विद्वत्ता और तप आदि का अहकार छोड़ने पर अर्थात् मन और बुद्धि की विचारशून्य एव सात्त्विक अवस्था द्वारा 'नितान्तनिर्मलस्वान्त' होने पर परम दिव्य सत्ता की दिव्य अनुभूति हो जाती है। कर्म, भक्ति और ज्ञान साधनमात्र हैं। विद्युत्-शक्ति के प्रवाह से सस्पर्श होने पर उसके प्रभाव का अनुभव होता है। सम्पूर्ण शक्तियो की चैतन्यस्वरूपा मूलशक्ति के साथ सस्पर्श होने पर उसके दिव्यत्व की अलौकिक अनुभूति होती है।

परमात्मा अणु-अणु मे व्याप्त है। प्रत्येक अणु एक सौरमण्डल है तथा सौरमण्डल एव बृहद् सौरमण्डल मे एक ही रहस्यपूर्ण तत्त्व सस्थित है। वही सर्वत्र है। वह अव्यक्त शक्तिस्रोत परमात्मा निर्गुण-निराकार विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है तथा अनेक रूपो मे व्यक्त तथा सगुण-साकार भी है। परमात्मा के स्वरूप और प्राप्ति के साधन के सम्बन्ध मे तर्क-वितर्क निरर्थक है। जिसे जो अनुभव एव अनुभूति है वह अपूर्ण होकर भी ठीक है।[1] परमात्मा के अनन्त आयाम हैं। उन्हे तर्क तथा वाणी समेट नही सकते।

उस ज्ञेय परमात्मा के पाणिपाद (हाथ-पैर) सब ओर फैले हुए हैं। असख्य शरीरो के हाथ पैर उसीके हाथ-पैर हैं, प्रत्येक देह के हाथ-पैरो को देह मे विराजमान चेतन क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) परिचालित करता है, अचेतन (जड) हाथ-पैर का प्रेरक एव परिचालक चेतन जीवात्मा है। चेतन-सत्ता के पृथक् हो जाने पर समस्त देह जड हो जाता है। ब्रह्माण्डरूप क्षेत्र मे अधिष्ठित होने के कारण परमात्मा भी क्षेत्रज्ञ कहलाता है।[2] समस्त प्राणियो के नेत्र, शिर, मुख और कान उसीकी चेतनसत्ता से सक्रिय होते हैं। समस्त प्राणियो मे वही एक नित्य तथा व्यापक परमात्मा विद्यमान है। कारणरूप परमात्मा कार्यरूप जगत् को व्याप्त करके उसमे स्थित है। अचेतन देह और इन्द्रियाँ चेतनसत्ता के मात्र सान्निध्य से स्फूर्त होकर क्रियाशील हो जाती हैं, जैसे चुम्बक के सम्पर्क से लौह-

---

१ सात अन्धे मनुष्यों ने हाथी के पैर, कान, सूँड, पूँछ आदि को पकडकर अनुभव के आधार पर हाथी का विभिन्न खण्डात्मक वर्णन किया। नेत्रवान् मनुष्य ने उन सभी को ठीक मानकर हाथी के समग्र रूप का वर्णन कर दिया। धर्मों की परस्पर लडाई द्वेषात्मक, दुराग्रहात्मक धर्मान्धता होती है।

२ क्षेत्र एक उपाधि है। क्षेत्र के सन्दर्भ मे आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। पारमार्थिक तत्त्व-दृष्टि से क्षेत्र मिथ्या है। मिथ्या एव कल्पित उपाधि का निषेध करने पर निर्विशेष ब्रह्म की सत्ता ही शेष रहती है। उस दिव्य ब्रह्म-सत्ता का साक्षात्कार करके (साक्षात् अनुभव करके) मनुष्य अमृतत्व अर्थात् पूर्ण आनन्द को प्राप्त हो जाता है। उसे समझाने के लिए उसे उपाधिरूप क्षेत्र के धर्मोवाला अर्थात् अनन्त हाथ, पैर, सिरवाला कहा जाता है। निर्गुण ब्रह्म चेष्टा करता हुआ प्रतीत होता है।

खण्ड परिचालित हो जाता है। समस्त शरीरो मे एक ही परमात्मा विराजमान है। वास्तव में सर्वत्र एक ब्रह्म ही है।[1] एक ही दिव्यसत्ता अनन्त नामो, रूपो और क्रियाओ मे प्रकाशित है।[2] ज्ञानी मनुष्य समस्त प्राणियो मे परमात्मा का दर्शन करता है।

परमात्मा का वर्णन विरोधाभासो द्वारा किया जाता है। यही परमात्मा की महानता, अलौकिकता एव विलक्षणता है। ऐसा आभास होता है कि उसमे सब इन्द्रियो के गुण हैं, किन्तु फिर भी वह सब इन्द्रियो से रहित है।[3] वह आसक्तिरहित एव निर्लिप्त होकर भी समस्त जगत् का पालन-पोषण कर रहा है। वह निर्गुण (गुणरहित) होकर भी गुणो का उपभोग करता है। वह चेष्टा करता हुआ प्रतीत होता है।[1] वह प्रकृति के सन्दर्भ मे गुणो को भोगनेवाला प्रतीत होता है, किन्तु गुणो (सत्त्व, रज, तम) से सर्वथा परे है। वह कर्ता और भोक्ता प्रतीत होकर भी कर्ता और भोक्ता नही है।

परमात्मा सब प्राणियो के बाहर भी है और भीतर भी। वह अचल भी है, चलायमान भी। चर और अचर जगत् वही है। वह इतना सूक्ष्म है कि उसे जाना नही जा सकता है। वह अत्यन्त दूर है, फिर भी अत्यन्त समीप है। वास्तव मे जगत् का कारण होने से कार्यरूप जगत् मे (अर्थात् चर और अचर मे) वही कारणरूप सर्वत्र है। मिट्टी घट से तथा स्वर्ण आभूषणो से भिन्न नही है। समस्त दृश्यमान जगत् उसीका स्थूल स्वरूप है, किन्तु वह आकाश से भी अधिक सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है। वह सूर्य की किरणो मे व्याप्त जल के परमाणुओ की भाँति अति सूक्ष्म है। परमात्मा अत्यन्त दूर तथा दुर्लभ है, किन्तु अत्यन्त समीप एवं सुलभ है। परमात्मा ज्ञान तथा ध्यान से सुलभ हो जाता है। वह ज्ञानगम्य, अनुभवगम्य एव ध्यानगम्य है। योगीजन ध्यानावस्थित होकर उसका साक्षात् अनुभव करते हैं।[2]

---

१. 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

२ श्लोक १३ श्वेताश्वतर उपनिषद् मे ज्यो का त्यों है।

३. बिनु पग चलइ सुनइ बिनु काना,
कर बिनु करम करइ विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी,
बिनु बानी बकता बड जोगी॥
तन बिनु परस, नयन बिनु देखा,
ग्रहइ घ्राण बिनु बास असेषा।
असि सब भाँति अलौकिक करनी,
महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

—रामचरितमानस, बालकाण्ड

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

—श्वेताश्वतर उप०

—अर्थात् परमात्मा बिना हाथ-पैर वेग से चलता और ग्रहण करता है, बिना नेत्र देखता और बिना कान सुनता है। वह वेद्य का ज्ञाता है, उसका कोई वेत्ता नही है। उसे महान् कहते हैं।

---

१ ध्यायतीव लेलायतीव।

—बृहदारण्यक उप० ४.३.७

—वह मानो ध्यान करता है तथा चेष्टा करता है। वह निष्क्रिय है। क्रिया केवल प्रतीति है। रज्जु मे सर्प की भ्रान्ति होती है यद्यपि रज्जु मे सर्प नही होता। यही माया का प्रभाव है। अविद्या अथवा अज्ञान से भ्रान्ति अथवा प्रतीति होती है। एक ब्रह्म ही सत्य है।

२ 'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्।'

—वह दूर से भी दूर है और समीप भी है, ज्ञानियो के लिए तो वह हृदय-गुहा मे ही है।

'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत।'—ईश उप० ५ अर्थात् वह चलता है और नही भी चलता, वह दूर भी है और

परमात्मा अविभक्त, अविभाज्य तथा एक है, किन्तु वह प्राणियो मे विभक्त प्रतीत होता है। आकाश अविभक्त, अविभाज्य तथा एक है, किन्तु वह विभक्त प्रतीत होता है।[1] जिस प्रकार नाना आकार के रिक्त पात्रो मे एक ही आकाश होता है अथवा जल से भरे हुए पात्रो मे एक ही जल होता है, उसी प्रकार समस्त कीट-पतग, पशु-पक्षी, मानव-देवता आदि मे एक ही दिव्य चेतना महासागर के दिव्य अश विराजमान है। ब्रह्म अखण्ड, अविभक्त एव अद्वितीय है। उसे खण्डित अथवा विभक्त रूप मे देखना अज्ञान है। घटाकाश ( घडे मे स्थित आकाश ) तथा महाकाश ( महान् आकाश ) के एक होने की भाँति परमात्मा एक ही है तथा वह भेदरहित, खण्डरहित अथवा विभागरहित है। समस्त प्राणियो मे एक ही अखण्ड एव अभिन्न दिव्य चेतना अनुस्यूत है, यद्यपि वह खण्डो मे विभक्त अथवा पृथक्-पृथक् प्रतीत होती है। भिन्नता ( परिच्छिन्नता ) केवल प्रतीति, भ्रान्ति तथा अज्ञान है। भिन्न-भिन्न देहरूप उपाधियो के कारण विशेष प्रतीत होनेवाले समस्त जीवात्मा तात्त्विक दृष्टि से एक निर्विशेष ब्रह्म के ही अश है। सृष्टि, स्थिति तथा सहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी एक ही परमेश्वर के रूप हैं।

ज्ञेय परमात्मा समस्त ज्योतियो की परम ज्योति है। परमात्मा ज्योतिस्वरूप एव स्वयप्रकाश है। सम्पूर्ण प्रकाश परमात्मा की सत्ता से प्रकाशित होता है।[1] सूर्यादि का तेज उसीसे तेजोमय होता है तथा बुद्धि की चेतना उसीसे प्रचेतित होती है। वह अज्ञानरूप अन्धकार से परे है।

परमात्मा ज्ञानस्वरूप है तथा ज्ञेय भी है। ज्ञान का लक्ष्य होने के कारण वह ज्ञानगम्य है। यद्यपि आत्मा सर्वगत एव सर्वत्र विद्यमान है, वह विशेष रूप से हृदय-गुहा मे अभिव्यक्त होता है। अज्ञानरूप अन्धकार के निवृत्त होने पर आत्मज्योति हृदय ( अथवा बुद्धि ) मे प्रकट एव प्रकाशित होती है। मनुष्य अपने भीतर ही परमात्मा के प्रकाश का साक्षात्कार करता है तथा भीतर अनुभूति होने पर ही बहिर्जगत् मे भी उस ज्योतिष्मान् परमात्मा के दिव्य प्रकाश का दर्शन सम्भव होता है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर विराजमान परमात्मा का प्रकाश ही सात्त्विकता की प्रेरणा देता है।

---

समीप भी, वह सम्पूर्ण जगत् के भीतर भी है और बाहर भी।

'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर नित्यम्।'—सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म और नित्य है।

'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो'

१ वेदान्त के मायावाद के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति, धारणा और सहार परमात्मा की मायाशक्ति का कार्य है और परमार्थ ( तात्त्विक ) दृष्टि से माया का सब कार्य जादू के खेल की भाँति मिथ्या एव कल्पनात्मक है, जैसे रज्जु में सर्प का अध्यारोपण। जिस प्रकार रज्जु में सर्प मिथ्या भ्रान्ति है, परमात्मा मे जगत् भी मिथ्या आरोप है। मिथ्याकल्पित सर्प रज्जु में अधिष्ठित है, प्रकाश द्वारा भ्रम दूर होने पर केवल रज्जु का ही अस्तित्व रहता है। जगत् परमात्मा मे अधिष्ठित है। अज्ञान दूर होने पर ससार का अस्तित्व नही रहता, केवल ब्रह्म की सत्ता ही रहती है। जीव पर माया का आवरण अविद्या अथवा अज्ञान कहलाता है।

---

१ 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्ध.'—सूर्य जिसके तेज से तप्त होता है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'—कठ उप०। —उसकेप्रकाश से यह सब कुछ प्रकाशित एव प्रदीप्त हो रहा है।

'आदित्यवर्णं तमस परस्तात्'–श्वेताश्वतर उप०—आदित्य के समान नित्य प्रकाशमान वह तम से परे है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप है।

'विज्ञान आनन्द ब्रह्म'—ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है।

इस प्रकार देहरूप क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेय परमात्मा का वर्णन किया गया है, जिसे सम्यक् प्रकार से जानकर ज्ञान का साधक[1] भगवान् को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि देह और जगत् के पदार्थ जड हैं, तथापि देह जड पदार्थों से भिन्न है, क्योकि जीवात्मा का निवास होने के कारण यह सुख-दु ख आदि का कारण तथा मोक्ष का साधन है। परमात्मा का ज्ञान होने पर साधक को सर्वत्र उसकी अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) दीखने लगती है। ज्ञानी पुरुष बालक की भाँति सरल, निश्छल, पवित्र तथा सहज, प्रसन्न, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**
**विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥**
**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।**
**पुरुष सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥**
**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।**
**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥**
**उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।**
**परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥**
**य एवं वेत्ति पुरुष प्रकृतिं च गुणैः सह।**
**सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥**

**शब्दार्थ : प्रकृतिं च पुरुषं उभौ एव अनादी विद्धि**=प्रकृति (मायाशक्ति) को और पुरुष (जीवात्मा अथवा क्षेत्रज्ञ) इन दोनो को ही अनादि जान, **च विकारान् च गुणान् अपि प्रकृतिसंभवान् एव विद्धि**=और विकारो (राग-द्वेष आदि) को तथा गुणो (त्रिगुणात्मक गुणो अर्थात् पदार्थों) को भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ जान। **कार्यकरणकर्तृत्वे[2] हेतु प्रकृति उच्यते**=कार्य और करण के उत्पन्न करने मे हेतु प्रकृति कही जाती है, **पुरुषः सुखदुःखाना भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते**=जीवात्मा सुख-दुःखो के भोक्तापन मे हेतु कहा जाता है। **प्रकृतिस्थ हि पुरुषः प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते**=प्रकृति मे स्थित ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणो को (त्रिगुणात्मक पदार्थों को) भोगता है, **गुणसङ्गः अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं**=गुणो का सग इस जीवात्मा के भली-बुरी योनियो मे जन्म लेने मे कारण है। **पुरुषः अस्मिन् देहे अपि परः**=जीवात्मा इस देह मे (स्थित होकर) भी (त्रिगुणमयी प्रकृति अथवा माया से) परे ही है, **उपद्रष्टा च अनुमन्ता भर्ता भोक्ता महेश्वरः च परमात्मा इति उक्त**=(वह पुरुष, जीवात्मा अथवा क्षेत्रज्ञ) साक्षी होने के कारण उपद्रष्टा और अनुमन्ता, भर्ता (भरण-पोषण करनेवाला) भोक्ता (भोगनेवाला), महेश्वर और परमात्मा ऐसा कहा गया है। **यः पुरुषं च गुणैं सह प्रकृतिं एवं वेत्ति**=जो पुरुष को और गुणो के सहित प्रकृति को इस प्रकार जानता है, **स. सर्वथा वर्तमान. अपि भूय न अभिजायते**=वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी (जीवन की किसी अवस्था मे भी रहता हुआ) पुन जन्म नही लेता।

**वचनामृत :** प्रकृति और पुरुष दोनो को अनादि जान। विकारो और गुणो को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान। प्रकृति को कार्य और करण का हेतु कहा जाता है तथा पुरुष (जीवात्मा) को सुख-दु ख के भोग मे हेतु कहा जाता है। प्रकृति मे स्थित होकर भी पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति से उत्पन्न गुणो को भोगता है तथा यह (सत्त्व, रजस्, तमस्) योनि मे जन्म का कारण होता है। पुरुष इसमे स्थित होकर भी परे (त्रिगुणात्मक प्रकृति से परे) ही है तथा सर्वसाक्षी, अनुमति देनेवाला, भरण-पोषण करनेवाला, भोगनेवाला, महेश्वर और परमात्मा कहलाता है। जो पुरुप को और गुणमयी प्रकृति को इस प्रकार जानता है, वह सब प्रकार कार्य करता हुआ भी पुन जन्म नही लेता।

**सन्दर्भ :** पुरुष (जीवात्मा, क्षेत्रज्ञ) और प्रकृति को यथार्थ समझने पर मनुष्य बन्धनमुक्त हो जाता है।

---

१ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन ॥

—अर्थात् जिसकी भगवान् मे श्रेष्ठ भक्ति है तथा जैसी भगवान् मे है वैसी ही सिद्ध गुरु मे है, उस महात्मा की वुद्धि में वेदोक्त तत्त्व प्रकाशित हो जाते हैं।

२ 'कार्यकारणकर्तृत्वे' पाठान्तर है। शङ्कराचार्य ने 'कार्यकरणकर्तृत्वे' को ग्रहण किया है।

साक्षी है।[1] धरातल पर क्षुब्ध दीखने पर भी समुद्र अपने गहरे तल पर परम शान्त होता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा निष्क्रिय एव निष्कल होता है, यद्यपि उसके सान्निध्य से जड देह सचेतन होकर क्रियाशील रहता है।

जीवात्मा अन्तर्यामी रूप मे शुभ कर्म का अनुमोदन करता है। वह पथ-प्रदर्शक बनकर प्रेरणा तथा अनुमति देता है।

देह मे स्थित जीवात्मा जड देह के भरण-पोषण का कारण होने से भर्ता होता है।

जीवात्मा माया से आवृत होकर तथा देह को अपना स्वरूप मानने पर दु ख-सुख का भोक्ता भी कहलाता है।

जीवात्मा वास्तव मे महान् ईश्वर है तथा मल, विक्षेप और आवरण से मुक्त होने पर अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप मे साक्षात् परमात्मा ही है। परमात्मा अपने भीतर ही जीवात्मा के रूप मे विराजमान है।

जो मनुष्य जीवात्मा और प्रकृति के स्वरूप को जान लेता है वह अज्ञान एव मोह से मुक्त एव निर्लिप्त होकर जन्म-मरण के चक्र से भी मुक्त हो जाता है। क्षेत्रज्ञ ( पुरुष, जीवात्मा ) प्रकृति से उत्पन्न जड देह मे स्थित होकर भी देह से भिन्न एव परे है। 'मैं जड देह नही हूँ, मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा हूँ', ऐसी ज्ञानपूर्ण दिव्यानुभूति होने पर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। ज्ञान होने पर मनुष्य मृत्यु के भय से तथा चिन्ता, शोक, मोह आदि के दु ख-दोष से मुक्त होकर आनन्दामृत का रसास्वादन करता है।

**ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।**
**अन्ये साख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥**

**अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।**
**तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणा ॥२५॥**

**शब्दार्थ :** आत्मान केचित् आत्मना ध्यानेन आत्मनि पश्यन्ति = आत्मा ( परमात्मा ) को कुछ लोग आत्मा से ( मन, बुद्धि से ) ध्यान द्वारा अपने भीतर देखते हैं, अन्ये साख्येन योगेन = अन्य कुछ साख्य-योग द्वारा देखते हैं, च अपरे कर्मयोगेन ( पश्यन्ति ) = और कुछ अन्य निष्काम कर्मयोग द्वारा देखते हैं। तु अन्ये एव अजानन्त अन्येभ्य श्रुत्वा उपासते = किन्तु अन्य इस प्रकार न जानते हुए दूसरो से सुनकर उपासना करते हैं, च ते श्रुतिपरायणा अपि मृत्यु अतितरन्ति एव = और वे श्रवणपरायण मनुष्य भी मृत्यु को ( अर्थात् मृत्युरूप ससार-सागर को ) अवश्य पार कर लेते हैं।

**वचनामृत :** कुछ लोग शुद्ध बुद्धि से ध्यान द्वारा परमात्मा को अपने भीतर ( हृदय मे ) ही देखते है, अन्य ज्ञानयोग द्वारा देखते हैं और अन्य कितने ही निष्काम कर्मयोग द्वारा देखते हैं। किन्तु अन्य इस प्रकार स्वय न जानते हुए दूसरो से सुनकर उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप ससार-सागर को पार कर लेते है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण ज्ञान के विभिन्न साधनो का वर्णन करते हैं।

**रसामृत .** साधकजन आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए अपनी रुचि के अनुसार अनेक प्रकार के उपाय करते हैं। कुछ साधक ध्यान[1] से अन्त करण को विशुद्ध करके अपने भीतर परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। ध्यानयोगी इन्द्रियो को उनके विषयो से हटाकर मन को एकाग्र करके चैतन्यस्वरूप आत्मा मे स्थिर कर देता है तथा ऐसा निश्चल हो जाता है, जैसे पर्वत।

---

१ साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।
—श्वेताश्वतर उप०, ६ ११

—जो मायारहित ब्रह्म परमात्मा है, वही मायासहित होकर ईश्वर अथवा महेश्वर है। जो माया से मुक्त आत्मा है, वही माया से आवृत होने पर जीवात्मा है।

१ 'ध्यायतीव पृथिवी', 'ध्यायन्तीव पर्वता ।'
—छान्दोग्य उप०, ७.६ १

—पृथ्वी मानो ध्यान करती है, अन्तरिक्ष मानो ध्यान करता है, पर्वत मानो ध्यान करते हैं।

किसी विषय का अवलम्बन करके तैलधारावत् ( अविच्छिन्न भाव से ) चित्त-वृत्ति का प्रवाहित होना ध्यान है[१]।

कुछ साधक ज्ञानयोग का आश्रय लेकर आत्मा का दर्शन अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव करते है। जगत् त्रिगुणात्मक ( सत्त्व, रज, तम से युक्त ) जड प्रकृति का खेल है तथा आत्मा इससे सर्वथा भिन्न है। अनात्म ( जड ) पदार्थ और आत्मतत्त्व का भेद करना तथा अपने को अनात्म पदार्थ से पृथक् चैतन्य आत्मा मानना ज्ञान है। ज्ञान के चार साधन हैं—१ विवेक अर्थात् सत्-असत्, नित्य-अनित्य का विवेचन करना, २ वैराग्य अर्थात् भोग्य विषयो के राग ( आसक्ति ) से मुक्त होना, अथवा अनासक्त होना, ३ षट् सम्पत्ति अर्थात् शम ( मन को शात करना ), दम ( इन्द्रियो का दमन करना ), उपरति ( चित्त को विषयो से उपरत करना ), तितिक्षा ( शीत-उष्ण, दु ख, अपमान आदि का सहन ), श्रद्धा और समाधान ( मन और बुद्धि को परमात्मा मे समाहित करना ) तथा ४ मुमुक्षुभाव अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होने अथवा मोक्ष प्राप्त करने की उत्कण्ठा। मैं देह नही हूँ, दृश्य जगत् का तथा समस्त कर्म का द्रष्टामात्र हूँ।

अनेक साधक कर्मयोग द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान प्राप्त करते हैं। निष्काम भाव से कर्तव्य-कर्म करना तथा ईश्वर को कर्म का समर्पण करना कर्मयोग है। कर्मयोग भी ज्ञान का साधन है।

जो ध्यानयोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग के रहस्य को नही समझते तथा सत्सग द्वारा तथा गुरुमुख द्वारा उपदेश ग्रहण करके साधनरत होते हैं, वे भी ससार-सागर को पार कर लेते है। भगवान् का द्वार सबके लिए समान रूप से खुला हुआ है तथा भगवान् को प्राप्त होने के मार्ग भी अनेक हैं। सभी मार्ग उत्तम हैं। मनुष्य अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार किसी भी मार्ग का श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर भगवान् को प्राप्त कर सकता है। पवित्र श्रद्धा मनुष्य को सात्त्विक एव निष्कलुष बनाकर भगवान् के समीप स्थिर कर देती है। जिस प्रकार कुशल नाविक नौकारूढ सभी मनुष्यो को नदी के पार करा देता है, उसी प्रकार कुशल गुरु श्रद्धालजन को भवसागर के पार करा देता है।

**यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।**
**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥**

**शब्दार्थ** भरतर्षभ=हे अर्जुन, यावत् किंचित् स्थावरजङ्गमं सत्त्वं संजायते=जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् विद्धि=उसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सयोग से ही ( उत्पन्न ) जान।

**वचनामृत** हे भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन, इस ससार मे जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, उसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सयोग से ही उत्पन्न जान।

**सन्दर्भ :** यह सृष्टि क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के सयोग का परिणाम है।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण कहते हैं कि जड प्रकृति मे कुछ भी करने की शक्ति नही है। प्राणियो के जड देह जीवात्मा ( पुरुष ) के सान्निध्य मे सचेतन होते हैं तथा उसके निकल जाने पर पुन जड ( मृतक ) हो जाते है।[१] मनुष्य के शरीर को तथा शरीर मे स्थित जीवात्मा को उसका स्वामी क्षेत्रज्ञ[२] कहते हैं।

---

१. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। —योग-दर्शन
—प्रत्यय की एकतानता ( अपरिच्छिन्नता ) अर्थात् चित्त-वृत्ति का निरन्तर तैलधारावत् प्रवाहित होना ध्यान है।

१. इस श्लोक मे स्थावर-जङ्गम सत्त्व ( प्राणी ) का अर्थ चर और अचर प्राणी-समुदाय है। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि चर तथा वृक्ष-लता आदि अचर हैं।

२ क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ ( पुरुष, जीवात्मा ) को गीता ७ ५ मे परमात्मा की अपरा तथा परा प्रकृति भी कहा गया है। वेदान्त-दृष्टि से क्षेत्र के धर्म ( गुण ) स्वयंप्रकाश

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सयोग से सारा जगत् उत्पन्न होता है। क्षेत्र को जड तथा क्षेत्रज्ञ से पृथक् मानना ज्ञान है। परमात्मा की चैतन्य-शक्ति के प्रभाव से ही जड प्रकृति सक्रिय होती है।

**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।**
**विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥**
**समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।**
**न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।२८।**
**प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।**
**यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥**
**यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।**
**तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥**

**शब्दार्थ** य विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु अविनश्यन्त परमेश्वर समं तिष्ठन्तं पश्यति=जो विनष्ट होते हुए सब भूतो मे नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, स पश्यति=वह देखता है। हि=क्योंकि, सर्वत्र समवस्थितं ईश्वर सम पश्यन्=सर्वत्र (समस्त प्राणियो मे) समभाव से स्थित ईश्वर को समान देखता हुआ, आत्मना आत्मानं न हिनस्ति=अपने द्वारा अपने-आपको नष्ट नही करता है, तत परा गति याति=इससे परमगति को प्राप्त होता है। च य. कर्माणि सर्वश प्रकृत्या एव क्रियमाणानि (पश्यति)=और जो मनुष्य कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किया हुआ देखता है, तथा आत्मानं अकर्तार पश्यति=तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, स पश्यति=वह देखता है। यदा भूतपृथक्भाव एकस्थं अनुपश्यति=जब भूतों के पृथक्-पृथक् होने को एकस्थ देखता है, च तत एव विस्तारं (पश्यति)=और उससे ही विस्तार को देखता है, तदा ब्रह्म संपद्यते=तब ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

**वचनामृत :** जो मनुष्य विनष्ट होते हुए सब भूतो (प्राणियो) मे नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है (अथवा परमेश्वर को नाशरहित और समभाव से स्थित देखता है) वही यथार्थ देखता है। क्योकि सर्वत्र (सब प्राणियो मे) समभाव से स्थित ईश्वर को समभाव से देखनेवाला मनुष्य अपने द्वारा अपने-आपको विनष्ट नही करता है तथा इससे वह परमपद को प्राप्त हो जाता है। और जो मनुष्य कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किया जाता हुआ देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वह यथार्थ देखता है। जिस समय मनुष्य भूतो के पृथक् पृथक् भाव को एक परमात्मा मे ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही भूतो का विस्तार देखता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

**रसामृत** ससार मे प्राणियो के विभिन्न प्रकार के अनन्त शरीर नष्ट होते रहते हैं। भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले प्राणी-समुदाय के देहो मे एक ही परमात्मा व्याप्त है। समस्त नाशवान् देहो मे ही परमब्रह्म परमात्मा समान रूप से विराजमान है तथा देहो के विनष्ट होने पर भी नष्ट नही होता। जिस प्रकार मेघ आकाश मे उत्पन्न होकर, उसीमे रहकर उसीमे विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी तथा पदार्थ परमात्मा मे उत्पन्न होकर, उसीमे रहकर उसीमे विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार आकाश ही मेघो का आधार है, उसी प्रकार परमात्मा भी जगत् का आधार है। परमात्मा सूक्ष्म आकाश से भी अनन्त, अधिक सूक्ष्म है तथा समस्त कारणो का मूल कारण है। वास्तव मे विकारयुक्त एव विनाशशील विश्व-प्रपञ्च में निर्विकार एव नित्य परमात्मा को सर्वत्र समभाव से स्थित देखना ही उसे यथार्थरूप मे देखना है। विश्व के दृश्यमान समस्त प्राणियो और पदार्थों मे एकमात्र परमात्मा की सत्ता ही पारमार्थिक है।

---

क्षेत्रज्ञ मे तथा क्षेत्रज्ञ के धर्म क्षेत्र मे आरोपित (प्रतीत) हो जाते हैं।

चलचित्र मे चित्रपट[1] का आधार लेकर विभिन्न प्रकार के दृश्य प्रदर्शित किये जाते है, किन्तु यदि कोई मनुष्य चित्रपट पर दृश्य के अन्तगत किसी वस्तु या व्यक्ति का स्पर्श करने का प्रयत्न करता है तो वह निष्फल होता है। दृश्य पदार्थो का चित्रपट के साथ सयोग होने पर भी उसमे कोई सङ्ग ( लिप्त होना ) नही होता तथा वह सर्वथा निर्लेप रहता है। नाटक के आदि, मध्य और अन्त मे चित्रपट विकाररहित रहता है। नाटक का अधिष्ठान एव आधार होकर भी वह अपने स्वरूप मे अचल रहता है। इसी प्रकार विश्व-प्रपञ्च का अधिष्ठान एव आधार होकर भी ब्रह्म सर्वथा असङ्ग ( निर्लेप ) रहता है। जैसे नाटक का अन्त होने पर चित्रपट शेष रह जाता है, उसी प्रकार विश्व के विलीन होने पर ब्रह्म ही शेष रह जाता है। ससार स्वप्न की भाँति विलुप्त हो जाता है तथा ब्रह्म ही अपने स्वरूप एव सत्ता मे अविचल रूप से स्थित रहता है। दृश्यमान जगत् के नश्वर प्राणियो तथा पदार्थो के मध्य मे परमात्मा की सत्ता अविचल एव नित्य रहती है।

एक ही परम ब्रह्म परमात्मा समस्त प्राणियो मे समभाव से अर्थात् समान रूप से स्थित है। चैतन्यस्वरूप परमात्मा के प्रकाश से ही समस्त प्राणी प्रकाशित होते हैं तथा वह स्वयप्रकाश एव विलक्षण है। भिन्न-भिन्न शरीरो मे एक ही चैतन्य-सत्ता अनुस्यूत है। परमात्मा को सर्वत्र समान रूप से स्थित देखना ही समत्व-दर्शन है। समदृष्टि से प्राणियो को देखनेवाला मनुष्य द्वेपरहित तथा निर्वैर हो जाता है। परमात्मा का ज्ञान होने पर मनुष्य पथभ्रष्ट नही होता तथा वह अपने द्वारा अपना ही नाश नही करता। जो मानव-देह प्राप्त करके परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयास नही करता है, वह मानो आत्मघात करता है।[2] समता सिद्ध होने पर मनुष्य परमपद को प्राप्त कर लेता है।

जो मनुष्य सब प्रकार के कर्मो को त्रिगुणात्मिका प्रकृति ( अथवा माया ) द्वारा किये हुए जान लेता है, वह आत्मा को अकर्ता जानता है तथा वही मनुष्य परमार्थदर्शी है। कर्मो को तीनो गुणो की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया मात्र मानकर और आत्मा को उनसे सर्वथा पृथक् मानकर ज्ञानी कर्ता और भोक्ता होने के भाव से मुक्त हो जाता है। आत्मा अविकारी एव नि सग ( निर्लेप ) होता है तथा उसमे कर्तृत्व नही होता। 'मैं आत्मा हूँ, देह नही हूँ' ऐसा भाव जाग्रत होने पर ज्ञानी कर्म और कर्मफल से मुक्त हो जाता है। ज्ञानी यह साक्षात् अनुभव करता है कि आत्मा कर्ता और फल-भोक्ता नही है। चैतन्यस्वरूप परमात्मा निर्गुण तथा निर्लेप है तथा उसका अश आत्मा भी चैतन्यस्वरूप निर्गुण और निर्लेप है, किन्तु देहाभिमान ( मैं देह हूँ, ऐसा भाव ) होने के कारण मनुष्य ( मनुष्य का जीवात्मा ) दु ख-सुख का भोग करते हुए भटकता रहता है। देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के समस्त कर्मो से विशुद्ध आत्मा का सम्बन्ध नही है, यद्यपि आत्मा की सन्निधि से ही वे क्रियाशील होते हैं, जैसे चम्बक की सन्निधि मे लौह खण्ड गतिशील हो जाता है।[2]

जब मनुष्य समस्त भूतवर्ग को एक परमात्मा मे ही स्थित तथा परमात्मा से ही समस्त विस्तार होने का अनुभव करता है, वह ब्रह्म को प्राप्त हो

---

१ सिनेमा मे स्क्रीन।

२ ईशावास्य उपनिषद् ( श्लोक ३ ) मे ऐसे लोगो को 'आत्महनो जना' कहा गया है।

१ गीता मे इसे अन्य स्थानो पर भी कहा गया है—३.५, ३ २७, ३ ३३, १३ १९-२०

२ स्वामी रामकृष्ण परमहस कहते थे—"मैं उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म की उपासना करता हूँ, जो सृष्टि का सृजन, पालन और सहार करते हुए भी उससे अछूता रहता है तथा उसकी माया-शक्ति अथवा प्रकृति को प्रणाम करता हूँ, जो निष्क्रिय ब्रह्म के सान्निध्य मे समस्त कर्म करती और कराती है।" माया-शक्ति परमात्मा की अनादिशक्ति है, जैसे प्रकाश सूर्य की अनादिशक्ति है।

जाता है। ससार मे समस्त प्राणी पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, किन्तु वे सभी परमात्मा मे स्थित हैं। उनकी उत्पत्ति, विकास और विनाश का आधार परमात्मा ही है। जड प्रकृति परमात्मा मे ही अधिष्ठित होती है तथा उसका आधार परमात्मा ही होता है। सृष्टि का विस्तार परमात्मा से ही उसकी माया-शक्ति द्वारा होता है तथा सृष्टि उसीमे सस्थित रहकर उसीमे विलीन हो जाती है। केवल चैतन्य परमात्मा ही सत् है तथा वही असत् जगत् का आश्रय है। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नही है। पारमार्थिक दृष्टि से कुछ भी परमात्मा से भिन्न नही है तथा सब-कुछ परमात्मा ही है।[1] सच्चिदानन्दघन परमात्मा के साथ एकत्व अथवा अभिन्नता का बोध होना परमात्मस्वरूप हो जाना है।[2] परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होने पर मनुष्य उसके साथ अभिन्न हो जाता है, जैसे प्रज्वलित अग्नि मे डाला हुआ ईंधन अग्नि हो जाता है। ज्ञानी के लिए सब कुछ परमात्मा ही है।[3] तथा परमात्मा के स्वरूप मे सस्थित होकर वह परमात्मस्वरूप हो जाता है।

**अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।**
**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥**
**यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।**
**सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥**

१ वेदान्त के अनुसार जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है तथा रज्जु के अतिरिक्त सर्प की सत्ता ही नहीं है, यद्यपि सर्प रज्जु मे अधिष्ठित प्रतीत होता है, उसी प्रकार केवल परमात्मा की ही सत्ता है। ससार माया-कल्पित है।

मायाकल्पित विश्वं परमात्मनि केवले।
रज्जौ भुजङ्गवद् भ्रान्त्या विचारे नास्ति किञ्चन ॥
—अध्यात्मरामायण

२ 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञाता ब्रह्म हो जाता है।

३ ईशावास्य उप०, श्लोक ७।

**यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।**
**क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥**

**शब्दार्थ** · कौन्तेय=हे कुन्तिपुत्र अर्जुन, **अनादित्वात्, निर्गुणत्वात् अयं अव्यय परमात्मा शरीरस्थ अपि न करोति न लिप्यते**=अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर मे स्थित होकर भी न (कुछ) करता है, न लिप्त होता है। **यथा सर्वगतं आकाशं सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते**=जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने से लिप्त नही होता, **तथा सर्वत्र देहे अवस्थित आत्मा न उपलिप्यते**=उसी प्रकार सर्वत्र देह मे स्थित आत्मा लिप्त नही होता। **भारत**=हे भरतवंशी अर्जुन, **यथा एक रवि इम कृत्स्न लोक प्रकाशयति**=जैसे एक सूर्य इस सम्पूर्ण लोक (भूलोक) को प्रकाशित करता है **तथा क्षेत्री कृत्स्न क्षेत्रं प्रकाशयति**=वैसे ही क्षेत्री (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, अनादि होने के कारण तथा निर्गुण होने के कारण यह अविनाशी परमात्मा शरीर मे स्थित होकर भी न कुछ करता है और न लिप्त होता है। जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्मता के कारण लिप्त नही होता, उसी प्रकार सर्वत्र देह मे अवस्थित आत्मा लिप्त नही होता। हे अर्जुन, जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, वैसे ही एक क्षेत्री (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

**सन्दर्भ :** आत्मा निर्लेप रहता है।

**रसामृत :** परमात्मा अनादि तथा निर्गुण है तथा प्रकृति का अधिष्ठान एव आश्रय होकर भी प्रकृति के गुणो से सर्वथा अप्रभावित तथा अतीत है। परमात्मा का अशभूत आत्मा भी अनादि और निर्गुण है तथा वह देह मे स्थित होकर भी देह के गुणो से प्रभावित नही होता। आत्मा न कर्मो का कर्ता है और न कर्मो से लिप्त होता है, जैसे आकाश मेघमाला के मध्य मे स्थित होकर भी उससे अलिप्त रहता है। आत्मा सर्वथा निर्गण एव निर्लेप

है। देह विनाशशील है,[1] किन्तु आत्मा अविनाशी है। विकारशील वस्तु विनाशशील होती है। परमात्मा विकाररहित एव विनाशरहित, शाश्वत, दिव्य तत्त्व है।

आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सर्वत्र व्याप्त रहता है तथा किसी वस्तु से लिप्त नही होता। आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है[2] तथा देह मे सर्वत्र व्याप्त होकर भी देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के गुण-दोषो से लिप्त नही होता। आत्मा प्रकृति की सन्निधि मे रहकर भी प्रकृति के गुणो से प्रभावित नही होता।

जिस प्रकार सूर्य इस लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा सम्पूर्ण देह को चेतना, जीवन, सत्ता, शक्ति एव स्फूर्ति देता है। सूर्य समस्त लोक को प्रकाश प्रदान करता है, किन्तु लोक के गुण-दोषो से लिप्त नही होता। सूर्य का प्रकाश पुण्यात्मा तथा पापी के घरो को तथा निर्मल जल और पङ्क (कीच) को समान रूप से प्रकाशित करता है तथा उनके गुण-दोषो से प्रभावित नही होता।[3] देह मे स्थित आत्मा भी देह को चेतना से आलोकित करता है, किन्तु उसके धर्म-अधर्म, पुण्य पाप, सुख-दु ख अथवा गुण-दोषो से लिप्त नही होता। देहरूप क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ आत्मा सर्वथा निर्विकार एव निर्लेप है। समष्टिरूप मे सम्पूर्ण देहक्षेत्रो का क्षेत्रज्ञ परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक होकर भी उससे लिपायमान नही होता।[1]

**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।**
**भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥**

**शब्दार्थ :** ये एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो. अन्तर च भूतप्रकृतिमोक्षं=इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को तथा विकारयुक्त प्रकृति अर्थात् तीन गुणो के प्रभाव एव अज्ञान से छूटने के साधन को, ज्ञानचक्षुषा विदु =जो ज्ञान से जानते हैं, ते परं यान्ति=वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

**वचनामृत :** जो मनुष्य इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा भूत-प्रकृति (भूतो की प्रकृति, विकारसहित प्रकृति) से छूट जाने के साधन को ज्ञान-दृष्टि से जान लेते है, वे परमपद को प्राप्त हो जाते है।

**सन्दभ :** क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान से परमपद की प्राप्ति होती है।

**रसामृत :** देहरूपी क्षेत्र जड, विकारयुक्त और नाशवान् है तथा उसमे स्थित क्षेत्रज्ञ आत्मा चेतन, विकाररहित और नित्य है। चैतन्यस्वरूप आत्मा की सत्ता एव उसकी सन्निधि से जड देह को चेतना, जीवन, सत्ता, शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त हो जाती है। शरीरक्षेत्र त्रिगुणमयी प्रकृति से उत्पन्न होता है तथा वह गुण-दोषो एव विकारो से युक्त होता है।

आत्मा विकार, परिवर्तन तथा विनाश से रहित है तथा प्रकृति के पराधीन नही है, किन्तु अज्ञान (अविद्या) के कारण मनुष्य देहाभिमान एव देहासक्ति से ग्रस्त होकर अपने यथार्थ स्वरूप

---

१. भौतिक पदार्थों में छह विकार हैं—'जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते नश्यति'—उत्पन्न होता है, अस्तित्व होता है, परिवर्तित होता है, वढ़ता है, क्षीण होता है, अत मे नष्ट होता है।

२ 'सूक्ष्मत्वाच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति'—वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भासता है।

३. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य ॥

—जैसे सारे लोक का चक्षु सूर्य बाह्य चाक्षुष दोषो से लिप्त नही होता, वैसे ही सब भूतो का अन्तरात्मा लोक के दु खो से लिप्त नही होता, लोक का दुःख बाह्य है।

१. जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू।

को भूल जाता है। जीवात्मा आसक्ति एव मोह के कारण दु ख-सुख का भोग करता है। अज्ञान ( अविद्या, माया का आवरण ) से मुक्त जीवात्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा का अश आत्मा है।

अज्ञान से मुक्त होने पर अर्थात् अपने सहज स्वरूप का भान होने पर मनुष्य आनन्दमय हो जाता है। भौतिक शरीर के सन्दर्भ मे मनुष्य दीन, दुर्बल और दु खी है तथा ससार दु खरूप है और निज-स्वरूप मे स्थित होकर वह परमशान्त, सबल और आनन्दमय है तथा ससार भी आनन्दरूप है। अज्ञान के कारण भय और भ्रान्ति, मोह और शोक, विपत्ति और व्याकुलता तथा अशान्ति और दु ख मनुष्य को घेर लेते है तथा अज्ञानान्धकार के विच्छिन्न होने पर अर्थात् अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप मे स्थित होने पर मनुष्य निर्द्वन्द्व तथा नित्य आनन्दमय हो जाता है।

ज्ञान एक आन्तरिक चक्षु है। ज्ञान का नेत्र खुलते ही मनुष्य के जीवन मे रूपान्तरण हो जाता है। मनुष्य ज्ञान-चर्चा सुनता है, किन्तु ज्ञान-चक्षु नही खोलता। ज्ञान-चक्षु खोलने पर क्षेत्रदेह और क्षेत्रज्ञ आत्मा का अन्तर स्पष्ट हो जाता है तथा मनुष्य बन्धनमुक्त हो जाता है। मनुष्य चर्म चक्षु से जड देह, भौतिक प्रपञ्च को देखता है तथा ज्ञान-चक्षु से चैतन्य आत्मा एव परमात्मा का दर्शन करता है। ज्ञान-चक्षु खोलने से नित्य जागरण की अवस्था प्राप्त होती है। आन्तरिक जागरण ही तो जीवन है।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-सवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्याय ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगनामक तेरहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

## सार-संचय

### त्रयोदश अध्याय : क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञान की व्याख्या और विवेचना विविध प्रकार से तथा विभिन्न पारिभाषिक शब्दो के सन्दर्भ मे करते हैं। श्रीकृष्ण आत्मा और परमात्मा के यथार्थ स्वरूप के वर्णन द्वारा अर्जुन के मानसिक धरातल को महोच्च स्थिति मे रखने का प्रयत्न कर रहे हैं।

क्षेत्र क्या है ? क्षेत्रज्ञ क्या है ? उनका परस्पर सम्बन्ध क्या है ? इन प्रश्नो के मूल मे एक महाप्रश्न है मैं कौन हूँ ? मनुष्य अपने को देह मान लेता है। किन्तु क्या मनुष्य देह है ? यदि मनुष्य देह है तो मृत्यु होने पर उसे विसर्जित क्यो किया जाता है ? वास्तव मे मनुष्य देह से परे, वह सूक्ष्म आत्मतत्त्व है, जिसके निकल जाने पर वह शव हो जाता है। मनुष्य देह को सकेत करके कहता है—'यह मेरा देह है' अथवा 'यह मेरा हाथ है, पैर है' इत्यादि। 'मेरा' शब्द आत्मा का ही बोधक होता है। 'मैं आज बहुत देर मे जागा तथा मैंने स्वप्न देखा' इत्यादि वाक्य आत्मा के बोधक हैं। 'जब मैं बालक था', 'जब मैं तरुण था' इत्यादि वाक्यो से भी आत्मा का बोध होता है, जिसने देह का बढना-घटना देखा है। किन्तु शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा माया से ग्रस्त होकर जीवात्मा कहलाता है तथा अज्ञान ( अविद्या ) के वशीभूत होकर देह को 'मैं' मानने का भ्रम कर लेता है। यह आत्मतत्त्व देह से नितान्त भिन्न है। आत्मतत्त्व के देह मे सस्थित होने से देह मे चेतना का आविर्भाव हो जाता है तथा उसके निर्गत हो जाने पर चेतना और जीवन

विलुप्त हो जाता है। प्राणियो मे चेतना और जीवन का स्रोत कोई भौतिक तत्त्व नही है, बल्कि आत्मा है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है। चैतन्यस्वरूप आत्मा की सन्निधि से जड देह मे चेतना, सत्ता, स्फूर्ति, गतिशीलता इत्यादि गुण उत्पन्न हो जाते हैं और उसके निर्गत होने पर देह अचेतन एव निर्जीव शव हो जाता है अर्थात् पुन जड हो जाता है। देह आत्मा का क्षेत्र है और आत्मा देह का स्वामी, पोषक और धारक क्षेत्रज्ञ है। आत्मा को माया से आवृत्त होने पर जीवात्मा कहते हैं तथा माया-शक्तिसहित होने पर परमात्मा को ईश्वर अथवा परमेश्वर कहते है। मायारहित परमात्मा ही मायाशक्तिसहित परमेश्वर है। आत्मा परमात्मा का अश है, स्वय परमात्मा है। वेद, उपनिषद् आदि सद्ग्रन्थो मे परमात्मा को आत्मा भी कहा गया है।

परमात्मा ने प्रकृति अर्थात् अपनी मायाशक्ति से विश्वप्रपञ्च की रचना की। सृष्टि दो प्रकार की है—जीवरूपा ( चेतन प्राणी ) तथा जडरूपा ( जड पदार्थ ) अथवा पुरुष और प्रकृति। जड पदार्थ दो प्रकार है—प्राणियो के देह तथा जड वस्तुएँ। प्राणियो के देह जड क्षेत्र हैं तथा वे सचेतन आत्मा के सम्पर्क से गतिशील हो जाते हैं। समष्टिरूप मे सारा ब्रह्माण्ड परमेश्वररूप क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र है। क्षेत्र देह विकारवान् है तथा उत्पन्न होकर परि-वर्तन-चक्र द्वारा विकास तथा विनाश को प्राप्त हो जाता है, किन्तु क्षेत्रज्ञ ( मायाबद्ध जीवात्मा अथवा मायामुक्त आत्मा ) विकाररहित एव नित्य है। समस्त जड पदार्थ ( देह तथा अन्य जड पदार्थ ) माया द्वारा रचित है तथा उसका आधार एव आश्रय स्वय परमेश्वर है और वह इसके कण-कण मे व्याप्त है। विनश्वर ( विनष्ट होते हुए ) जड पदार्थों के पीछे अविनश्वर परमेश्वर सदा नित्य एव शाश्वत है। यथार्थ दृष्टि से इस दृश्यमान जगत् मे अन्ततोगत्वा केवल परमात्मा ही सत् ( सदा रहनेवाला ) है तथा सम्पूर्ण जगत् असत् ( नष्ट होनेवाला, मात्र दृश्य ) अर्थात् मिथ्या है।[1] देह और इन्द्रियो के स्तर पर ससार का अस्तित्व है, किन्तु आत्मा के स्तर पर यह कुछ भी नही है। ज्ञानचक्षु से देखने पर अर्थात् ज्ञान-दृष्टि से सर्वत्र वासुदेव परमात्मा ही है। सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करना अर्थात् अपने भीतर और बाहर सर्वत्र परमात्मा के अस्तित्व की अनुभूति करना ज्ञान-दृष्टि है। मैं तथा यह सब दृश्यमान जगत् ब्रह्म है, पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड मे सर्वत्र एक अखण्ड अव्यय परमात्मा है—यह ज्ञान है तथा यही जागरण है।

विश्वप्रपञ्च मायाधारी परमेश्वर की लीला है। देह और इन्द्रियो आदि के स्तर पर सत्य प्रतीत होनेवाला यह दृश्यमान जगत् सर्वथा असत् एव मिथ्या है तथा परमेश्वर की अलौकिक लीला ( दिव्य खेल ) है। परमेश्वर ही इसका आधार और आश्रय है तथा इसमे व्याप्त होकर भी वह इससे परे है। यह परमात्मा की विलक्षणता है। चलचित्र में चित्रपट पर चित्र दृश्यमान होते हैं, किन्तु वे चित्रपट को स्पर्श भी नही करते तथा उसी पर उनका उदय और अस्त हो जाता है। वे उसी पर उत्पन्न होकर उसीमे विलीन हो जाते है। मेघ आकाश मे उत्पन्न होते हैं तथा वे उसीमे विलीन हो जाते है। आकाश मेघो मे व्याप्त होकर भी उनसे परे अखण्ड स्थित रहता है। आकाश सूक्ष्म है तथा मेघ स्थूल हैं। परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अणु से भी अधिक सूक्ष्म है। वह सर्वत्र व्याप्त होकर भी जगत् से परे है और अछूता रहता है। सूर्य अपनी रश्मि द्वारा निर्मल जल और कीच को प्रकाशित और प्रभावित करके भी उनसे अछूता ही रहता है।

परमेश्वर मानो सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर आँखो तथा सिरवाला, सब ओर श्रोत्र ( कान ) वाला होकर, ससार को व्याप्त करके

१ ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। —ब्रह्म सत् है, जगत् मिथ्या है तथा हमारा जीवात्मा माया-मुक्त होने पर साक्षात् ब्रह्म है, अन्य कुछ नही।

स्थित है। सबके हाथ-पैर, आँख, सिर, कान उसी-के तो हैं। सर्वत्र वही एक है। सबके भीतर और बाहर वही है। वह निर्गुण होकर भी सगुण है, आसक्तिरहित होकर भी सबका पालनकर्ता है। वह प्राणियो मे विभक्त प्रतीत होता हुआ भी अविभक्त, अविभाज्य, अखण्ड और अव्यय है। यह उसकी विचित्र महिमा है। प्रकृति उसकी शक्ति होने के कारण अनादि है, किन्तु वास्तव मे केवल परमात्मा ही अनादि है। परमात्मा को सर्वत्र समभाव से देखना ही यथार्थ रूप मे देखना है। प्रकृति कर्म करती है, किन्तु परमात्मा प्रकृति के कार्य से परे है। परमात्मा अनादि, निर्गुण, अव्यय ( अविनश्वर, नित्य ) है। अतिसूक्ष्म होने के कारण वह सर्वत्र व्याप्त होकर भी अलिप्त है। अखण्ड, आनन्दैकरस, परमब्रह्म परमात्मा का सर्वत्र दर्शन करनेवाला ज्ञानी स्वय भी परमब्रह्म होकर परमपद को प्राप्त कर लेता है। यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन, विवेचना और व्याख्या है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान-प्राप्ति के कुछ साधनो एव लक्षणो की चर्चा की है। ज्ञानमार्गी वेद के महावाक्यो ( तत् त्व असि, अह ब्रह्म अस्मि इत्यादि ) का श्रवण करता है, उन पर मनन करता है और उनका अभ्यास करता है तथा धीरे-धीरे उसमे वैराग्य-भाव और ब्रह्माकाराचित्तवृत्ति का उदय हो जाता है। अमानित्व इत्यादि गुण, जो ज्ञान-प्राप्ति के लिए [आवश्यक साधन हैं, वे सिद्ध पुरुष के लक्षण भी है। ज्ञान की प्राप्ति होने पर अमानित्व आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

अमानित्व का अर्थ है, 'मैं बडा हूँ, मैं विशेष हूँ, मैं शक्तिशाली हूँ तथा अन्य सब मेरी अपेक्षा तुच्छ हैं'--ऐसी भावना से मुक्त होना तथा मान-सम्मान की इच्छा से मुक्त होना। अदभित्व का अर्थ है, मिथ्या प्रदर्शन द्वारा अपने को धनी, बड़ा, उत्तम, त्यागी तथा शक्तिशाली सिद्ध करने का प्रयत्न न करना। कुछ लोग त्याग का प्रदर्शन करते हैं। त्याग का दभ क्षुद्रता का सूचक है। कुछ छोड देने मे तथा कुछ छूट जाने मे बहुत अन्तर है। छोडने मे दभ तथा छूटने मे सहजता होती है। 'कही वेअदब न कर दे ये गरूरे बेगुनाही।' जल से पूर्ण घडा छलकता नही है, शान्त होता है। पूर्णता मे शान्ति और सौन्दर्य होता है। गर्वोक्ति क्षुद्रोक्ति होती है, किन्तु सहजभाव से सत्पात्र के सामने उचित अवसर पर तटस्थ रूप से तथ्य का कथन करना गर्वोक्ति से भिन्न होता है। माता-पिता और गुरु सहजरूप मे भावप्रकाशन कर देते हैं। अहिंसा का अर्थ है प्राणियो को पीडित न करना, निर्वैर होना तथा सबके लिए सद्भाव रखना। क्षान्ति का अर्थ है व्यक्तिगत रूप से मन मे क्षमाभाव तथा सहनशीलता का होना। मनुष्य को अपने मानसिक विकास के अनुसार ही अहिंसा तथा क्षमा का पालन करना चाहिए। यदि मन मे दुष्टतापूर्ण अत्याचार की चुभन हो तो मनुष्य को उसके विरुद्ध अवश्य ही असहमति प्रकट करनी चाहिए और सद्भावपूर्ण रहकर भी आत्मरक्षा करनी चाहिए। पूर्ण मानसिक एव आध्यात्मिक विकास होने पर ही पूर्ण अहिंसा और पूर्ण क्षमा का सहज पालन सम्भव है। वास्तव मे पूर्ण ज्ञानी के प्रति कोई मनुष्य अत्याचार नही कर सकता। अहिंसा सिद्ध होने पर ज्ञानी के सम्पर्क मे आने-वाले दुष्टजन और विषैले जीव भी अहिंसक हो जाते हैं।

आर्जव का अर्थ है सरलता और निष्कपटता। विचार, वाणी और व्यवहार मे सरल होने पर ही मनुष्य आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर हो सकता है। सरल मनुष्यो को अव्यावहारिक एव अकुशल कहा जाता है, किन्तु मनुष्य को सरल ही रहना चाहिए। सरल होने का अर्थ असावधान एव विवेकहीन होना कदापि नही है। सरल मनुष्य कपट को पहचानते हैं, किन्तु कपट नही करते। सरल व्यक्ति के चित्त मे विक्षेप एव अशान्ति नही होती। आचार्योपासना का अर्थ है सिद्धगुरु के प्रति श्रद्धापूर्ण होकर तथा उसके सान्निध्य मे

रहकर ज्ञान का अभ्यास करना। श्रद्धा आध्यात्मिक प्रगति का प्रमुख सोपान है। श्रद्धा ही आशीर्वाद बनकर लौट आती है। समुद्र अपना खारा जल वाष्प द्वारा आकाश को देता है तथा आकाश उसे मीठा बनाकर वर्षा द्वारा लौटा देता है। श्रद्धा मात्र पुष्प आदि से प्रकट हो जाती है, धन आदि से नही। सिद्धपुरुष का दर्शन एवं आशीर्वाद मन का ताप दूर करके शीतलता और शान्ति प्रदान करता है।

शौच का अर्थ है बाहर और भीतर शुचि (शुद्ध) होना। अपने निवासस्थान, देह, वस्त्र, आहार आदि को शुचि रखने के अतिरिक्त मन और बुद्धि को भी शुचि अर्थात् राग-द्वेष से मुक्त रखना शौचधर्म है। सत्याचरण से भीतर का मैल धुल जाता है। नितान्तनिर्मलस्वान्त होने पर मनुष्य आत्मदर्शन का अधिकारी हो जाता है। स्थैर्य का अर्थ है विचार और अभ्यास मे स्थिरता एव दृढता। आत्मविनिग्रह का अर्थ है आत्म-सयम अर्थात् बुद्धि, मन और इन्द्रियो पर नियत्रण। इन्द्रियार्थ मे वैराग्य का अर्थ है भोग्यविषयो मे विरक्ति। अनहकार का अर्थ है किसी प्रकार का अहकार न करना। अहकार मनुष्य को दभी, द्वेषी, कपटी और क्रोधी बना देता है तथा चित्त की समता और शान्ति का हरण कर लेता है। जन्म, मरण, जरा (वृद्धावस्था) और व्याधि मे दु खरूप दोष को समझने से वैराग्य-भाव का उदय होता है। असक्ति अर्थात् अनासक्ति (आसक्ति न होना) तथा अनभिष्वग (ममता अर्थात् मेरा-तेरा न होना) मनुष्य को मोह-मुक्त कर देते है। आसक्ति और अभिष्वग मनुष्य की नैतिकता तथा आध्यात्मिकता के विकास मे बाधक है। समचित्तता का अर्थ है हर्ष और विषाद अथवा अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति मे सम एव एकरस रहना। अनन्यभाव से भगवान् मे विशुद्ध भक्तिभाव होने का अर्थ है भगवान् को ही अपना सर्वस्व, साध्य एव प्राप्य मानना। विविक्तदेशसेवित्व का अर्थ है पवित्र तथा एकान्त स्थल का सेवन। मनुष्य को कुछ समय तक एकान्त सेवन तथा चिन्तन, मनन, ध्यान आदि का अभ्यास करना चाहिए। जन-ससद् मे अरति का अर्थ है भीड लगाने और भीड मे रहने की रति (शौक) न होना। इसका अर्थ मनुष्यो से घृणा करना कदापि नही है। अनावश्यक जमघट लगाये रखनेवाला मनुष्य आध्यात्मिक चिन्तन से विमुख होकर व्यर्थ की बातो मे समय और शक्ति नष्ट करता है। अध्यात्मज्ञाननित्यत्व का अर्थ है आध्यात्मिक ज्ञान (आत्मासम्बन्धी ज्ञान) मे निष्ठा होना। तत्त्वज्ञानार्थदर्शन का अर्थ तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मदर्शन का अभ्यास करना। ये सब ज्ञान के साधन तथा ज्ञानी के लक्षण है। ज्ञान के साधनो का अभ्यास करने से मनुष्य मे अनेक सूक्ष्म एव रहस्यपूर्ण शक्तियो (इन्द्रिय-चेतना का विस्तार, अतीन्द्रिय चेतना का विकास, विचार-सप्रेषण, व्यक्तियो और वस्तुओ पर अद्भुत प्रभाव, दूरदर्शन, दूरश्रवण, रोग-निवारण, भय-निवारण, चिन्ता-शमन इत्यादि) का अनायास ही आविर्भाव हो जाता है और साधक उनमे फँसकर भटक जाता है तथा अपने परम लक्ष्य (परमात्म-साक्षात्कार की आनन्दमयी दिव्यानुभूति) को भूल जाता है।

मनुष्य को ज्ञान के साधनो का अभ्यास सर्वप्रथम अपने परिवार और पड़ोस मे करना चाहिए। परिवार की उपेक्षा करने से दायित्व की अवहेलना होती है। मोह-त्याग तथा निर्लेपता की परीक्षा परिवार मे ही होती है। मनुष्य सद्गुणो के अभ्यास से स्वयं शान्त और सुखी होकर अपने सम्पर्क मे आनेवाले अन्य जन को भी शान्त और सुखी बना देता है। अमानी और अदभी, अहिंसक और अनासक्त तथा सरल और शुचि ज्ञानी पुरुष आध्यात्मिक पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए परमपद को प्राप्त कर लेता है। उपर्युक्त लक्षणो से युक्त ज्ञानी पूर्ण मानव एव आदर्श पुरुष है।

●

# अथ चतुर्दशोऽध्यायः

## गुणत्रयविभागयोग

श्रीभगवानुवाच,

**परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानाना ज्ञानमुत्तमम् ।**
**यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परा सिद्धिमितो गता. ॥१॥**
**इद ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।**
**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥**

**शब्दार्थ** श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, (अहं) ज्ञानाना उत्तमं पर ज्ञान भूय प्रवक्ष्यामि=मैं ज्ञानो मे भी उत्तम परमज्ञान को पुन कहूँगा, यत् ज्ञात्वा=जिसे जानकर, सर्वे मुनय =सारे मुनि अर्थात् मननशील पुरुष, इत परा सिद्धि गता =इस ससार से (मुक्त होकर) परम सिद्धि को प्राप्त हो गये। इदं ज्ञान उपाश्रित्य=इस ज्ञान को आश्रय करके, मम साधर्म्यं आगता [1] =मेरी समानता को, मेरे स्वरूप को, मेरी पूर्णता को प्राप्त हुए मनुष्य, सर्गे अपि न उपजायन्ते =सृष्टि के पुन उत्पन्न होने के समय मे भी उत्पन्न नही होते, च प्रलये न व्यथन्ति=और प्रलयकाल मे व्यथित नही होते।

**वचनामृत** श्री भगवान् ने कहा मैं तुझे ज्ञानो मे भी उत्तम तथा परमज्ञान को पुन कहूँगा, जिसे जानकर सारे मुनिगण इस ससार से मुक्त होकर परमसिद्धियो को प्राप्त हो गये। इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के सर्ग (पुन प्रारम्भ) मे भी उत्पन्न नही होते और प्रलयकाल मे व्यथित नही होते।

**सन्दर्भ :** भगवान् श्रीकृष्ण प्रकृति के तीनो गुणो (सत्त्व, रज, तम) का तथा त्रिगुणातीत पुरुष का वर्णन करने से पूर्व भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं।

**रसामृत :** विशुद्ध परमानन्दस्वरूप आत्मा प्रकृति से उत्पन्न देह मे सस्थित होकर जीवात्मा कहलाता है। जीवात्मा देह (अथवा प्रकृति) के गुणो मे आसक्त होकर गुणो के प्रभाव को भोगता है तथा जन्म-मरण आदि के बन्धन मे पड जाता है। प्रकृति के तीन गुणो से मुक्त (त्रिगुणातीत) होकर जीवात्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को प्राप्त हो जाता है तथा मनुष्य-देह के भीतर ही निजस्वरूप के साक्षात्कार की परम दिव्य अनुभूति द्वारा कृत-कृत्य हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस उत्तम ज्ञान को विस्तारपूर्वक कहने से पूर्व भूमिका के रूप मे कुछ शब्द कहकर अर्जुन के मन मे उत्सुकता तथा श्रद्धाभाव जाग्रत करते हैं। श्रीकृष्ण इस ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए कहते है कि अनेक साधक इस ज्ञान द्वारा गुणातीत होकर परमसिद्धि एव परमगति को प्राप्त हो गये। श्रीकृष्ण इस ज्ञान की चर्चा इससे पूर्व भी अनेक प्रकार से कर चुके हैं, किन्तु इसका विशेष महत्त्व होने के कारण पुन विस्तारपूर्वक कहते हैं। पुनरावृत्ति करना एक दोष है, किन्तु किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए पुनर्कथन करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। कुशल शिक्षक इस रहस्य को भली प्रकार से जानते हैं। मनुष्य की आत्मा वास्तव मे अकर्ता और अभोक्ता है, किन्तु मनुष्य प्रकृति के गुणो के वशीभूत होकर अज्ञान के कारण सुख-दुःख

---

१ शङ्कराचार्य के अनुसार साधर्म्य का अर्थ यहाँ स्वभाव की तद्रूपता है, समानधर्मता अथवा गुणो की समानता नहीं है।

भोगता है। पुरुष ( आत्मा ) और प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान मोक्ष का हेतु होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा इस ज्ञान की पुनरुक्ति करना अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न देहो मे एक ही परमात्मा जीवात्माओ के रूप मे विराजमान है। प्रकृति का कारण भी परमात्मा ही है, यद्यपि परमात्मा प्रकृति को उत्पन्न करके भी उससे परे है। केवल परम-ब्रह्म परमात्मा ही सत्स्वरूप है तथा शेप सब असत् अर्थात् मिथ्या है। मैं तथा यह दृश्यमान जगत् पर मात्मा ही है—ऐसा ज्ञान होना अत्यन्त दुष्कर है। अतएव इसकी पुनरुक्ति की जाती है।

इस ज्ञान का आश्रय लेकर ज्ञानमार्गी साधक परमात्मा के साधर्म्य ( सधर्मता, वही धर्म अर्थात् वही स्वरूप हो जाना ) को प्राप्त हो जाते हैं। परमात्मा का तत्त्वज्ञान मनुष्य तथा परमात्मा के भेद को मिटाकर उसे परमात्मा का अभिन्न वना देता है, परमात्मा के साथ एकरूप कर देता है अथवा तादात्म्य ( एकता ) कर देता है। अज्ञान ( अविद्या ) की निवृत्ति होने पर तथा 'मैं ब्रह्म हूँ, यह जीवात्मा परमब्रह्म परमात्मा है', ऐसी अनु-भूति होने पर आत्मा और परमात्मा का अभेद ( अद्वैत, एकता ) सिद्ध हो जाता है। नदी समुद्र मे विलीन होकर समुद्र के साथ एकरूप हो जाती है।[1] ज्ञान की परिपक्वता होने पर मनुष्य जीव-मुक्त हो जाता है तथा आयु की अवधि समाप्त होने पर देह-त्याग द्वारा ब्रह्मलीन हो जाता है। ज्ञान द्वारा मुक्त पुरुष न तो सृष्टि की पुन उत्पत्ति के समय पुन जन्म लेते हैं और न प्रलयकाल मे कष्ट पाते हैं।[2]

**मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।**
**संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥**
**सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।**
**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥**

**शब्दार्थ :** भारत=हे भरतवशी अर्जुन, **मम महद्-ब्रह्म योनिः** ( अस्ति )=मेरी महद्ब्रह्मरूप प्रकृति ( अर्थात् त्रिगुणात्मक माया ) जन्म देनेवाला क्षेत्र है, **अह तस्मिन् गर्भं दधामि**=मैं ( परमेश्वर ) उस प्रकृति ( माया ) रूप जन्म देने के क्षेत्र मे चेतनरूप बीज की स्थापना करता हूँ, **तत. सर्वभूताना संभवः भवति**=उस ( जड-चेतन-सयोग ) से प्राणियो की उत्पत्ति होती है। **कौन्तेय**=हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन, **सर्वयोनिषु या मूर्तयः सभवन्ति**=सब ( मनुष्य, पशु, पक्षी आदि ) योनियो मे जितनी मूर्तियाँ ( देह ) उत्पन्न होती हैं, **तासां महद्ब्रह्म योनि**=उन सबका प्रकृति तो उत्पन्न करनेवाला क्षेत्र है, **अहं बीजप्रद पिता**=मैं उसे उत्पन्न करनेवाला पिता ( हूँ )।

**वचनामृत :** हे भारत, मेरी महद्ब्रह्मरूप प्रकृति प्राणियो को जन्म देनेवाला क्षेत्र है, मैं उस प्रकृति-रूपी क्षेत्र मे चेतनरूप बीज की स्थापना करता हूँ और ऐसा करने से सब प्राणियो की उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय, समस्त योनियो मे ( मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियो मे ) जितने प्रकार के शरीर उत्पन्न होते हैं, उनको उत्पन्न करने का क्षेत्र प्रकृति है तथा मैं उनको उत्पन्न करनेवाला पिता हूँ।

**सन्दर्भ :** जड प्रकृति तथा चैतन्य परमेश्वर के सयोग से सृष्टि उत्पन्न होती है।

---

[1] द्वैतवादी कहते है कि ज्ञानावस्था प्राप्त होने पर भी जीव अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है तथा ब्रह्म मे विलीन नही होता। अद्वैत ( शाङ्करमत ) के अनुसार जीव परमात्मा का अश है तथा अविद्या ( अज्ञान ) के कारण भिन्नता का भ्रम करता है। जीव होने का भाव अज्ञान के कारण है। जीव अज्ञान के कारण भिन्न प्रतीत होता है, वह स्वतन्त्र तथा भिन्न कदापि नही है। वास्तव मे जीव ब्रह्म ही है, किन्तु यह अनुभूतिपूर्ण ज्ञान होने पर होती है। अज्ञान के कारण उत्पन्न होनेवाला भिन्नता का भाव स्वप्न की भाँति मिथ्या अथवा काल्पनिक है।

[2] प्रलयकाल के पश्चात् सृष्टि की पुन रचना होने पर जीव अज्ञान-बीज के कारण पुन जन्म लेते हैं।

**रसामृत** यह विश्व-प्रपञ्च महद् ब्रह्म[1] द्वारा उत्पन्न हुआ है। 'महद्' का अर्थ है वृद्धि एव विस्तार का हेतु। प्रकृति अपने कार्यो ( पचभूत इत्यादि ) की अपेक्षा महद् अर्थात् बडी होनी है तथा वृद्धि एव विस्तार से युक्त होती है। जड प्रकृति चैतन्य ब्रह्म के सकल्प अथवा प्रेरणा से ही सृष्टि को उत्पन्न करती है। प्रकृति एक क्षेत्र के सदृश है तथा परमेश्वर उसमे चेतनारूपी वीज डालकर उसे सक्रिय कर देता है। प्रकृति को परमेश्वर की माया-शक्ति भी कहा जाता है। परमेश्वर सकल्प करता है—'मैं एक अनेक हो जाऊँ'[2] तथा माया-शक्ति इस दिव्य सकल्प से सक्रिय होकर चराचर जगत् को उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार परमेश्वर का सकल्प भी बीज के सदृश है। सृष्टि मे देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि समस्त योनियो मे विभिन्न आकार-प्रकार के देह[3] परमेश्वर की माया-शक्ति के द्वारा उत्पन्न होते हैं। परमेश्वर सृष्टि का पिता है तथा प्रकृति ( माया-शक्ति ) मानो सृष्टि की माता है। साधारण जन को यह तथ्य समझाने के लिए आलकारिक भाषा का प्रयोग किया जाता है। प्रकृति परमेश्वर का मात्र स्वभाव ही है। परमेश्वर स्वय ही सृष्टि का पिता तथा माता दोनो है। पारमार्थिक दृष्टि से सब-कुछ परमेश्वर ही है तथा वह जड और चेतन के रूप मे अलौकिक लीला कर रहा है।

१ मूल प्रकृति को अव्यक्त, अव्याकृत तथा प्रधान आदि कहा गया है तथा यहाँ उसे महद्ब्रह्म कहा गया है। प्राय. प्रकृति के सूक्ष्म रूप को मूल प्रकृति कहा गया है।

२ सोऽकामयत वहु स्या प्रजायेयेति।

—तैत्तिरीय उ॰

—उसने सकल्प किया कि मैं वहुरूप हो जाऊँ अर्थात् अनेक पदार्थवाली सृष्टि को उत्पन्न करूँ।

३ जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्‌भिज—ये जीवधारियो के चार प्रकार हैं।

सत्त्व रजस्तम इति गुणा. प्रकृतिसभवाः।
निवध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

**शब्दार्थ** महावाहो=हे महान् बाहुवाले अर्जुन, सत्त्वं रज तम' इति प्रकृतिसभवाः गुणा =सत्त्व, रज और तम ये प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण, अव्ययं देहिन देहे निवध्नन्ति=इस अविनाशी देही ( जीवात्मा ) को बाँधते हैं।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, ये प्रकृति से उत्पन्न हुए तीन गुण अविनाशी जीवात्मा को वधन मे डाल देते हैं।

**सन्दर्भ** प्रकृति अपने गुण के द्वारा जीवात्मा को बाँध देती है।

**रसामृत** प्रकृति इस सृष्टि का उपादान कारण है। प्रकृति से तीन गुण उत्पन्न होते हैं—सत्त्व, रज और तम। एक ही गुण से सृष्टि की रचना नही हो सकती है। सम्पूर्ण सृष्टि इन गुणो का विस्तार है। मनुष्य की प्रकृति ( स्वभाव ) मे भी तीन गुणो का मिश्रण और परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होना स्पष्ट है। पहले प्रकृति मे तीन गुणो की शान्त साम्यावस्था रहती है तथा उनमे विषमता एव सक्रियता उत्पन्न होने पर वे प्रकट होकर सृष्टि-रचना करते हैं। अतएव गुणो को प्रकृति से उत्पन्न कहा गया है। जिसे साख्यवादी प्रकृति कहते हैं, उसे वेदान्तवादी माया कहते हैं।[1]

१ साख्य-मत के अनुसार आत्मा असख्य और स्वतन्त्र है तथा प्रकृति सृष्टि का मूल कारण है। श्रीकृष्ण ने गीता मे परमात्मा को प्रकृति ( माया ) का भी अधिष्ठाता ( स्वामी ) कहा है। प्रकृति स्वतत्र नही है तथा यह ईश्वर की माया शक्ति होने के कारण ईश्वर के अधीन है। प्रकृति को चेतन-सत्त्व ही सक्रिय करता है। घट के निर्माण के लिए मिट्टी आदि उपकरण होना पर्याप्त नही है, बल्कि कुम्भकार तथा कुम्भकार का सकल्प भी आवश्यक है। चेतन का आधार लेकर ही प्रकृति सक्रिय होकर गुणो द्वारा सृजन करती है। जड और चेतन का सयोग प्रकृति को सक्रिय करता

आत्मा निराकार निर्विकार दिव्य तत्त्व है, किन्तु माया से आवृत होकर अथवा अज्ञान ( अविद्या ) के वशीभूत होकर वह जीवात्मा कहलाता है, जैसे निर्मल जल पृथ्वी पर पड़ने से मैला हो जाता है।[1] आत्मा गुणो से अतीत ( परे ) है, किन्तु देहाभिमान ( मैं देह हूँ, देह के सब कर्म धर्म मेरे हैं, ऐसा अभिनिवेश अथवा अभिमान ) के कारण जीवात्मा को भ्रान्ति हो जाती है और उसे बन्धन का मिथ्या अनुभव होता है, यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से वह सहज मुक्त एव त्रिगुणातीत है।

जल की लहरो मे सूर्य-प्रतिबिम्ब द्वारा कम्पन प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव मे वह निष्कम्प होता है। तत्त्वज्ञानी की यथार्थ दृष्टि मे आत्मा सहज मुक्त है तथा बन्धन और मोक्ष दोनो ही अज्ञानात्मक हैं। आत्मा नित्य, सत्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और निर्लेप है। आत्मा अव्यय ( विनाशरहित ) और चैतन्यस्वरूप है। देह विनाशशील और जड है। जीवात्मा देह के साथ सम्बन्धवाले व्यक्तियो और वस्तुओ के साथ आसक्ति और ममत्व के मिथ्या बधन का अनुभव करता है। गुण धागे को भी कहते हैं। प्रकृति के तीन गुण रस्सी की भाँति बाँधकर मनुष्य को विवश एव असहाय कर देते हैं। सत्त्व गुण चेतना के प्रकाश अर्थात् भलाई का, रजोगुण गतिशीलता अर्थात् सक्रियता का और तमोगुण जडता अथवा प्रमाद और आलस्य का बोधक है। गुणो से ऊपर उठकर मनुष्य आत्मा के नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

---

है। जड देह और चैतन्य आत्मा भिन्न हैं, किन्तु गुण चित्त मे भ्रान्ति उत्पन्न करके सुख दु ख का अनुभव करा देते हे। भ्रान्ति अथवा अज्ञान ही बन्धन है तथा ज्ञान मोक्ष है। आत्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है।

१. भूमि परतभा ढाबर पानी,
जनु जीवहि माया लपटानी।
—रामचरितमानस

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

**शब्दार्थ :** अनघ=हे अघरहित ( निष्पाप ), तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकं अनामय=वहाँ ( उन तीनो गुणो मे ) सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करनेवाला तथा दोषरहित ( उपद्रवरहित ) है, सुखसङ्गेन च ज्ञानसङ्गेन बध्नाति=वह सुख की आसक्ति से और बौद्धिक ज्ञान की आसक्ति से बाँध देता है।[1]

**वचनामृत** हे निष्पाप, उन तीन गुणो मे सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करनेवाला तथा विकाररहित है, वह सुख की आसक्ति से तथा ज्ञान की आसक्ति से बन्धन मे डालता है।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण सत्त्वगुण का स्वरूप कहते हैं।

**रसामृत** भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को 'अनघ' कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। कुशल गुरु का कर्तव्य है कि वह शिष्य को उचित सम्मान देकर प्रोत्साहित करे। जगद्गुरु श्रीकृष्ण स्नेहसूचक एव सम्मानसूचक शब्दो द्वारा शिष्य अर्जुन के प्रति आत्मीयता प्रस्थापित करते है। स्नेहसिक्त वाणी समीपता और आत्मीयता उत्पन्न करती है। उत्तम गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सदैव निश्छल एव सौहार्दपूर्ण होता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि सत्त्वगुण स्फटिकमणि के सदृश निर्मल होने के कारण प्रकाशशील एव विकाररहित होता है। स्वच्छता अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वो को भी प्रकाशित कर देती है। निर्मल दर्पण दूरस्थ वस्तु को भी प्रतिबिम्बित कर देता है तथा मलावृत दर्पण समीपस्थ मुख को भी प्रतिबिम्बित नही करता। निर्मलता के साथ प्रकाशशीलता तथा अनामयता अर्थात् उपद्रवरहितता अथवा शान्ति सलग्न होते हैं। निर्मलता कदापि कष्ट-

---

१. डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं कि यहाँ ज्ञान का अर्थ निम्नतर बौद्धिक ज्ञान है। तत्त्वज्ञान तो मनुष्य को आसक्ति से मुक्त करता है। यह अर्थ उचित है।

कारक नही होती। निर्मलता से चित्त की चंचलता शात हो जाती है। निर्मलता मनुष्य मे आध्यात्मिक वृत्ति जाग्रत कर देती है।

सत्त्वगुण स्वच्छ, प्रकाशक तथा शान्त होता है, सुख तथा ज्ञान सुलभ कर देता है। सत्त्वगुण का उदय होने से वुद्धि का मल निर्गत हो जाता है, शान्ति का आविर्भाव हो जाता है। किन्तु 'मैं ज्ञानवान् हूँ, मैं सुखी हूँ' ऐसा अभिमान आसक्ति का सूचक होने के कारण बन्धनकारक होता है। सद्ग्रन्थो के ज्ञान का अभिनिवेश भी वन्धन का कारण है। समस्त वन्धनो से मुक्त होकर तथा निजस्वरूप मे स्थित होकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।

सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने से चित्त निर्मल और शान्त होता है, रजोगुण एव तमोगुण क्षीण हो जाते हैं। सात्त्विक पुरुषो के साथ सत्सग, सात्त्विक ग्रन्थो का स्वाध्याय, सात्त्विक आहार, सात्त्विक कर्म इत्यादि से सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है, किन्तु सत्त्वगुण सुख और वौद्धिक ज्ञान के प्रति आसक्ति भी उत्पन्न कर देता है। सत्त्वगुण का उत्कर्ष मनुष्य को सात्त्विक तथा चारित्रवान् बनाता है, किन्तु उसमे अपनी श्रेष्ठता का अभिमान जाग्रत हो जाता है। सोने की वेडी लोहे की वेडी की अपेक्षा अच्छी है, किन्तु बन्धनकारक तो है ही। अहकारशून्य सिद्ध ज्ञानी सत्त्वगुण को भी पार करके विशुद्ध चेतना मे स्थित हो जाता है।

**रजो रागात्मक विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।**
**तन्निवध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥**

**शब्दार्थ** कौन्तेय=हे अर्जुन, रागात्मकं रज तृष्णासङ्गसमुद्भव विद्धि=रागमय रजोगुण को तृष्णा[1] (कामना) और सग (आसक्ति) से उत्पन्न हुआ जान, तत् देहिनं कर्मसङ्गेन निबध्नाति=वह देही (जीवात्मा) को कर्मों (तथा कर्मफलों) की आसक्ति से वांधता है।

---

१. तृष्णा=अप्राप्ताभिलाष।
—अर्थात् अप्राप्त की अभिलाषा। —शङ्कराचार्य

**वचनामृत :** हे अर्जुन, रागरूप रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान। वह इस जीवात्मा को कर्मों और उनके फल की आसक्ति से वांधता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण रजोगुण का वर्णन करते हैं।

**रसामृत :** रजोगुण रागात्मक है अर्थात् राग ही है। रजोगुण (अथवा राग) आसक्ति से उत्पन्न होता है और बढता है, किन्तु रजोगुण (राग) से भी आसक्ति वढती है। इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। आसक्ति ही राग है और राग ही आसक्ति है। सत्त्वगुण मनुष्य को आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त करता है, किन्तु रजोगुण उसे आवृत कर देता है। राग सासारिक वस्तुओ अथवा भोग्य पदार्थों के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है। रजोगुण मनुष्य को बहिर्मुखी वनाकर कर्म के लिए प्रेरित करता है तथा जीवात्मा मे कर्ता होने का अभिमान उत्पन्न करता है।

रजोगुण के कारण मनुष्य अप्राप्त की अभिलाषा करता है तथा प्राप्त के प्रति आसक्ति तथा मोह करता है। आसक्ति एव मोह मे भावुकता निहित होती है। मनुष्य को आसक्ति अथवा मोह के कारण कष्ट का अनुभव होता है। आसक्ति का निकृष्ट रूप वासना है। राग का उज्ज्वल रूप प्रेम है तथा उसका अत्यन्त विकृत रूप वासना है। प्रेम का अर्थ है त्याग-बुद्धि तथा वासना का अर्थ है भोग-बुद्धि। किसी मित्र के प्रति प्रेम होना आनन्ददायक है, किन्तु उसके प्रति आसक्ति (लगाव) होना कष्टकारक है तथा उसके धन, वल आदि के कारण स्वार्थ-सिद्धि का भाव होना वासना है। भोग्य वस्तुओ के प्रति आसक्ति (मोह, गहरा आकर्षण) और वासना (भोग-वुद्धि, स्वार्थ-वुद्धि) मनुष्य को सकीर्ण तथा अनुदार वना देती है तथा मनोवल को क्षीण करती है। प्रेम मनुष्य को ऊपर उठाता है तथा आसक्ति और वासना नीचे गिराती है। प्रेम मनुष्य को उदार और व्यापक बनाता है। प्रेम शुद्ध तत्त्व है तथा आसक्ति और वासना अशुद्ध। प्रेम

आनन्द है तथा आसक्ति और वासना कष्ट। प्रेम अमृत है, आसक्ति और वासना विष। वास्तव मे राग अथवा आसक्ति रजोगुण है, किन्तु वह प्रेम अथवा त्याग हो जाने पर सत्त्वगुण हो जाता है।

मनुष्य रजोगुण (राग) के कारण कर्मों मे तथा कर्मो के फल मे आसक्त होता है। 'यह कर्म मैने किया है', यह कर्तृत्व का अभिमान है। 'इस कर्म का यह फल मुझे मिलना चाहिए' यह कर्मफल की इच्छा आसक्ति है। आशा इच्छा का एक रूप है। मनुष्य आशा भग होने पर दुखी हो जाता है। मनुष्य जीवन के विविध क्षेत्रो मे दूसरो से अनेक आशाएँ (अपेक्षाएँ) करता है, आशा पूर्ण न होने पर दुख से ग्रस्त हो जाता है। पिता अपनी सन्तान से और सन्तान पिता से, गुरु शिष्य से और शिष्य गुरु से, रोगी चिकित्सक से और चिकित्सक रोगी से तथा प्रजा राजा से और राजा प्रजा से अनेक आशाएँ करते हैं। गीता कहती है कि इच्छा और आशा त्यागकर कर्म करना अर्थात् निष्काम भाव से निश्छल होकर कर्म करना ही श्रेष्ठ है। जन-सेवा, दान-पुण्य, परोपकार आदि उत्तम कार्य करते हुए भी आसक्ति, कामना और वासना का सर्वथा परित्याग करने से ही आत्मसन्तोष और शान्ति प्राप्त होती है। मनुष्य को ईश्वर-प्रदत्त परिस्थितियो मे ही कर्म करना पडता है। मनुष्य की सभी इच्छाएँ और आशाएँ कभी पूर्ण नही होती। निराशा और दुख से बचने के लिए भी कर्म की आसक्ति और फल की वासना का त्याग करना ही श्रेष्ठ है। आसक्ति एक बन्धन है तथा कर्म की आसक्ति और फल का त्याग ही कर्मयोग है, जो भगवत्प्राप्ति का उत्तम उपाय है।

**तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।**
**प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥**

**शब्दार्थ :** तु=और, भारत=हे अर्जुन, सर्वदेहिनां मोहनं तमः अज्ञानजं विद्धि=सब देहधारियो अथवा देहाभिमानियो के मोहक तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान, तत् प्रमादालस्यनिद्राभिः निबध्नाति=वह प्रमाद (अन्तःकरण और इन्द्रियो की व्यर्थ चेष्टा, लापरवाही), आलस्य (कर्म करने मे प्रवृत्ति न होना, शिथिलता, उद्यम न करना) तथा निद्रा, (तन्द्रा, स्वप्न तथा सुषुप्ति) द्वारा बाँध देता है।



**वचनामृत :** सब देहधारियों[1] को मोहित करनेवाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न जान। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा जीवात्मा को बाँध देता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण तमोगुण के स्वरूप और प्रभाव का वर्णन करते हैं।

**रसामृत :** तमोगुण मन और बुद्धि को निष्क्रिय करके जीवात्मा को अन्धकार से आवृत कर देता है। सत्त्व ज्ञान का प्रकाश है तथा तम अज्ञान का अन्धकार है। जो मनुष्य देह को अपना स्वरूप मानकर देह को 'मैं' मानते हैं, वे देहाभिमानी हैं। देहाभिमान का तमोगुण के साथ गहरा सम्बन्ध है। देहाभिमान अज्ञान का सूचक है। रजोगुण ज्ञान को कुछ मात्रा मे आवृत करता है, किन्तु तमोगुण का अन्धकार ज्ञान को पूर्णत आवृत कर देता है। तमोगुण का अन्धकार मनुष्य को मोहग्रस्त कर देता है अर्थात् मूढ बना देता है, मनुष्य की बुद्धि अचेतन-सी होकर निष्क्रिय हो जाती है। तमोगुण का प्रभाव जड़ता है।

तमोगुण का प्रभाव प्रमाद, आलस्य और निद्रा के रूप मे प्रकट होता है। कर्तव्य-पालन न करना प्रमाद अथवा अवहेलना है। तमोगुणी मनुष्य कामचोर होता है और कर्म न करने के बहाने टटोलता रहता है तथा विवश होकर ही कर्म करता है। सात्त्विक पुरुष प्रकाश से प्रेरित होता है, किन्तु तमोगुणी मनुष्य के भीतर वह प्रकाश तमोगुण के प्रभाव से ढँका रहता है, उसे उचित-अनुचित का विवेक नही रहता। तमोगुणी मनुष्य आलस्य से

१. यहाँ देहधारी का अर्थ देहाभिमानी (देह को 'मैं' माननेवाला) है।

ग्रस्त रहता है तथा वृक्षो की भाँति सोता-सा रहता है।

तमोगुण मनुष्य के विवेक का हरण कर लेता है, विक्षेप और आवरण द्वारा अज्ञान के बन्धन मे डाल देता है।

**सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।**
**ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥**

**शब्दार्थ :** भारत=हे भरतवशी अर्जुन, सत्त्व सुखे संजयति=सत्त्वगुण सुख मे लगाता है, रजः कर्मणि=रजोगुण कर्म मे लगाता है, तम तु ज्ञान आवृत्य प्रमादे उत सजयति=तमोगुण तो ज्ञान को आच्छादित करके प्रमाद में भी लगाता है।

**वचनामृत** हे अर्जुन, सत्त्वगुण मनुष्य को सुख मे लगाता है, रजोगुण कर्म मे लगाता है तथा तमोगुण तो ज्ञान को आच्छादित करके प्रमाद मे भी लगाता है।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण तीनो गुणो के प्रभाव का वर्णन करते हैं।

**रसामृत** सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक होता है और चित्त को शान्त करता है। मनुष्य सत्त्वगुणप्रधान होने पर सात्त्विक सुख का अनुभव करता है। सात्त्विक मनुष्य निरर्थक चेष्टा, आलस्य, प्रमाद आदि से दूर हटकर सात्त्विक चिन्तन और कर्म करता है। सत्त्वगुण चित्त-शुद्धि करता है तथा ज्ञान का प्रेरक है, किन्तु सात्त्विक सुख मे आसक्त कर देता है। रजोगुण मनुष्य को बहिर्मुखी बनाकर सकाम कर्म करने की प्रेरणा देता है। रजोगुण मनुष्य मे नाना प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न करके कर्म मे प्रवृत्त कर देता है। रजोगुणी मनुष्य कभी शान्त नही बैठता तथा स्वार्थ-पूर्ति मे लगा रहता है। रजोगुणी मनुष्य दानादि उत्तम कार्य भी यश, पद, सत्ता आदि की लालसा के कारण ही करता है। तमोगुण मनुष्य के उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्यविषयक विवेक को हर लेता है। तमोगुण अन्तर्चेतना को आच्छादित करके मनुष्य को निष्क्रिय, आलसी और प्रमादी बना देता है।

**रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।**
**रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥**

**शब्दार्थ :** भारत=हे भरतवशी अर्जुन, रज. तम च अभिभूय सत्त्वं भवति=रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण होता है (अर्थात् बढ़ता है), सत्त्व तम च (अभिभूय) रज (भवति)=और सत्त्वगुण और तमोगुण को (दबाकर) रजोगुण (बढता है), सत्त्वं रज च (अभिभूय) तथा एव तम (भवति)=सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर उसी प्रकार तमोगुण (बढ़ता है)।

**वचनामृत** रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत करके (दबाकर) सत्त्वगुण बढता है, सत्त्वगुण तथा तमोगुण को अभिभूत करके रजोगुण बढता है, उसी प्रकार सत्त्वगुण तथा रजोगुण को अभिभूत करके तमोगुण बढता है।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण गुणो की वृद्धि का वर्णन करते हैं।

**रसामृत** मनुष्य के स्वभाव मे तीन गुणो का परस्पर मिश्रण तथा सघर्ष होता रहता है। जो भी एक गुण आगे बढता है, वह अन्य दो को पराभूत करके ही आगे बढता है। कोई सामान्य मनुष्य तीनो गुणो से पूर्णत मुक्त नही होता, केवल ज्ञानी त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त होते हैं। सत्त्वगुण का उत्कर्ष रजोगुण तथा तमोगुण को पराभूत करके होता है। सत्त्वगुण की वृद्धि के लिए रजोगुण तथा तमोगुण को क्षीण करना आवश्यक है। सत्त्वगुण के उत्कर्ष से मनुष्य मे सत्सग, स्वाध्याय, ज्ञान-प्राप्ति, चित्त की सात्त्विकता तथा शान्ति आदि सम्भव होती है। सात्त्विक मनुष्य लोभ, वासना आदि से प्रेरित नही होता तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रा से अभिभूत नही होता।

रजोगुण की वृद्धि सत्त्वगुण और तमोगुण के ह्रास से होती है। रजोगुण का उदय होने पर लोभ, कामना, वासना इत्यादि प्रबल हो जाते

हैं तथा वह मनुष्य को उनकी पूर्ति के लिए कर्म मे प्रवृत्त कर देता है। रजोगुणी मनुष्य चचल और अशान्त होता है तथा वह सत्कार्य भी स्वार्थ के वशीभूत होकर ही करता है।

सत्त्वगुण तथा रजोगुण को दबाकर तमोगुण आगे बढ जाता है तथा मनुष्य विवेकशून्य होकर प्रमाद, आलस्य और निद्रा से अभिभूत होने लगता है।

यद्यपि प्रत्येक मनुष्य प्रधानत सत्त्वगुणी अथवा रजोगुणी अथवा तमोगुणी होता है, तथापि एक ही मनुष्य कभी सत्त्वगुणी, कभी रजोगुणी तथा कभी तमोगुणी होकर व्यवहार करता है।

**सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।**
**ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥**

**शब्दार्थ :** यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः ( च ) ज्ञानं उपजायते = जब इस देह मे सब द्वारो मे ( अन्त.-करण और इन्द्रियो मे ) प्रकाश और ज्ञान ( बोधशक्ति ) उत्पन्न होता है, तदा = तब, सत्त्वं उत विवृद्ध इति विद्यात् = सत्त्वगुण ही बढा है, ऐसा जानना चाहिए। ( 'उत' के अनेक अर्थ किये गये हैं—कि, अथवा, तथा, भी, ही, निश्चय ही, इत्यादि। वास्तव मे इसका उपयोग केवल पाद-पूर्ति के लिए होता है। )

**वचनामृत** : जब इस देह के सारे द्वारो मे प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है तब सत्त्वगुण का उत्कर्ष समझना चाहिए।

**सन्दर्भ :** सत्त्वगुण-वृद्धि के लक्षण कहे गये हैं।

**रसामृत :** मनुष्य का देह प्रकृति की अद्भुत कृति है। मानव-देह एक भवन के सदृश है, जिसमे अनेक द्वार तथा छिद्र हैं, जिनसे प्रकाश प्राप्त होता है और निर्गत होता है। जो भवन भीतर स्वच्छ होता है, उसका प्रकाश भवन को व्याप्त करके बाहर की ओर निकलने लगता है तथा वह अपने चारो ओर के पर्यावरण को प्रकाशमय बना देता है। अन्य जन भी उसके प्रकाश का लाभ उठा सकते हैं। यदि भवन मे अन्धकार हो तो वह सुखप्रद न होकर कष्टप्रद हो जाता है। अधकारपूर्ण श्रेष्ठ प्रासाद की अपेक्षा छोटी-सी झोपडी भी अधिक उपयोगी है। मानव-देह की तुलना काँच की चिमनीवाले एक प्रकाश-दीप ( लालटेन ) से भी की जा सकती है। यदि तेल और बत्ती शुद्ध हैं और चिमनी स्वच्छ है तो उसका प्रकाश फूटकर बाहर चारो ओर छा जाता है, किन्तु यदि तेल और बत्ती अशुद्ध हैं और चिमनी अस्वच्छ है तो उसका दुर्गन्धमय धुँआ चारो ओर फैलकर वातावरण को दूषित कर देता है और सबके लिए कष्टप्रद हो जाता है।

मानव-देह मे सत्त्वगुण का प्रतीक स्वर्गलोक, रजोगुण का प्रतीक भूलोक तथा तमोगुण का प्रतीक नरकलोक विद्यमान है। अथवा, मानव-देह मे सत्त्वगुण का प्रतीक देव, रजोगुण का मनुष्य और तमोगुण का प्रतीक पशु विद्यमान है। साधक अपने भीतर स्थित पशु की बलि देता है तथा मनुष्यत्व से ऊपर उठकर देवत्व की प्राप्ति करता है। सत्त्वगुणी पुरुष देवता-श्रेणी में, रजोगुणी पुरुष मनुष्य-श्रेणी मे तथा तमोगुणी पुरुष पशु-श्रेणी मे आते हैं। गुणो का ऐसा प्रभाव होता है कि प्रायः सत्त्वगुणी सदा सत्त्वगुणी, रजोगुणी सदा रजोगुणी तथा तमोगुणी सदा तमोगुणी ही रहता है, किन्तु सत्सग रजोगुणी तथा तमोगुणी का रूपान्तरण एव उदात्तीकरण अवश्य कर सकता है।

गीता के अनुसार मनुष्य की चार अवस्थाएँ होती हैं—सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी तथा इनसे परे त्रिगुणातीत पूर्णज्ञानी पुरुष की मुक्तावस्था। तम की अपेक्षा रज, रज की अपेक्षा सत्त्व तथा सत्त्व की अपेक्षा सत्त्वातीत अर्थात् त्रिगुणातीत अवस्था होती है।

सत्त्वगुणी पुरुष के देह के इन्द्रियादि समस्त द्वार प्रकाश के झरोखे हो जाते हैं और वह समस्त द्वारो से प्रकाश तथा ज्ञान को प्राप्त करता तथा प्रसारित करता है। ज्ञान तथा प्रकाश पर्यायवाची हैं। जब मनुष्य पुष्प की भाँति खिलकर चारो

ओर सौन्दर्य, सुगन्धि, शीतलता, शांति का प्रसारण करता हो तब यह समझना चाहिए कि उसमे सत्त्व-गुण की वृद्धि हुई है। सत्त्वगुणी पुरुष मे कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित, भलाई-बुराई तथा सत्-असत् का विवेक जाग्रत हो जाता है। वह सत्त्व मे दृढ हो जाता है। वह 'नित्य सत्त्वस्थ' होता है। सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने पर बुद्धि, मन, देह तथा इन्द्रियो मे सात्त्विक लक्षण प्रकट हो जाते हैं। मनुष्य मे चचलता, राग द्वेष, भय, चिन्ता, कटुता, क्रोध, शोक आदि का शमन हो जाता है तथा निर्मलता, उत्साह, दृढता, स्थिरता, कर्तव्यनिष्ठा, उत्साह आदि का उद्रेक हो जाता है। ऐसा व्यक्ति ही उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रगति होने पर सत्त्वगुण एव सात्त्विक सुख से भी ऊपर उठकर त्रिगुणातीत एव दिव्य आनन्द की अवस्था प्राप्त कर लेता है।

**लोभ प्रवृत्तिरारम्भ. कर्मणामशम' स्पृहा।**
**रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥**
**अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।**
**तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥**

**शब्दार्थ :** भरतर्षभ=हे भरतवश मे श्रेष्ठ अर्जुन, **रजसि विवृद्धे लोभ प्रवृत्ति कर्मणां आरम्भ** =रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति ( कर्म की चेष्टा ) तथा कर्मों का प्रारम्भ, **अशम स्पृहा एतानि जायन्ते**=अशान्ति और स्पृहा ( भोग्य वस्तुओ की लालसा ) ये सव उत्पन्न होते हैं। कुरुनन्दन=हे अर्जुन, **तमसि विवृद्धे अप्रकाश अप्रवृत्ति च प्रमाद** =तमोगुण के बढने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति तथा प्रमाद, **च मोह** =और मोह, **एतानि एव जायन्ते**=ये सव उत्पन्न होते हैं।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, रजोगुण के बढने पर लोभ, प्रवृत्ति , कर्मों का ( सकाम होकर ) आरभ, अशान्ति और भोग्य पदार्थों की लालसा—ये सव उत्पन्न होते हैं। हे अर्जुन, तमोगुण के बढने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद तथा मोह—ये सव उत्पन्न हो जाते हैं।

**सन्दर्भ** रजोगुण तथा तमोगुण के बढने पर उनके लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

**रसामृत :** जिस प्रकार सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर ज्ञान बढ जाता है, उसी प्रकार रजोगुण तथा तमोगुण की वृद्धि होने पर अज्ञान बढ जाता है। रजोगुण की वृद्धि होने से भोग्य पदार्थों के प्रति आक-र्षण एव प्रलोभन बढ जाता है तथा भोग्य पदार्थों के साधनरूप धन-सम्पत्ति का लोभ बढ जाता है। आश्चर्य तो यह है कि मनुष्य भोग्य पदार्थों से भी बढकर उनके साधनरूप धन को महत्त्व देने लगता है तथा धन बढाने के लिए भले बुरे कर्म करता है। धन के कारण भाई-भाई, पिता-पुत्र और मित्र-मित्र परस्पर लड़ बैठते हैं। मनुष्य धन के बढने से सुखी और घटने से व्यथित हो जाते हैं। अति लोभी व्यक्ति कृपण ( कजूस ) होकर धन-सचय करने मे ही जीवन की कृतार्थता समझ लेता है और धन के उद्देश्य को भूल जाता है। धन की तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग और नाश। सात्त्विक पुरुष धन का दान करके दीन-दु खी जनो के कष्ट का निवारण करते है, रजोगुणी मनुष्य धन का भोग करते हैं तथा तमोगुणी मूढजन धन जोड-जोड़कर छोड़ जाते है अर्थात् उनके लिए धन का नाश हो जाता है। रजोगुणी मनुष्य के दान आदि उत्तम कर्म भी स्वार्थबुद्धि से प्रेरित होते है। रजोगुणी मनुष्य पद, प्रतिष्ठा और कीर्ति के लिए दान आदि परोपकारमय कर्म करते हैं। उनके प्रत्येक कर्म मे 'मैं और मेरा' का भाव छिपा रहता है तथा वे दूसरो से ईर्ष्या करते हैं।

रजोगुणी मनुष्य मे अनेक कर्म करने की प्रवृत्ति जाग जाती है, किन्तु उसके समस्त कर्म स्वार्थप्रेरित होते हैं। निरन्तर उधेडवुन मे रहना उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। रजोगुणी मनुष्य मे कर्म करने की प्रवृत्ति के साथ ही आरम्भ ( अर्थात् सकाम भाव से कर्म करना ) भी सलग्न होता है। आरम्भ का अर्थ है स्वार्थपूर्ण कर्म। रजोगुणी मनुष्य चचलता के कारण कभी शान्ति से बैठता नही। रजोगुणी मनुष्य न स्वय शान्त रहता है और न दूसरो को शान्त रहने देता है। लोभी का

लोभ लाभ होने से और भी बढ जाता है[१] तथा लोभी को कभी तृप्ति अनुभव नही होती। धन के पीछे भागने से कभी शान्ति नही प्राप्त होती, क्योकि धन मे शान्ति देने की क्षमता नही है।[२] धन-सग्रह का ऐसा नीच प्रभाव होता है कि मनुष्य को पुत्र से भी भय उत्पन्न हो जाता है।[३] लोभ के साथ भोगो के प्रति स्पृहा अर्थात् तीव्र कामना अथवा लालसा जुडी रहती है। रजोगुणी मनुष्य के मन मे काम और लोभ प्रवृद्ध होकर उसे निरन्तर चचल, उद्विग्न और अशान्त रखते हैं।[४] लोभी व्यक्ति न्याय और नैतिकता तथा करुणा और मानवता तज देता है तथा अन्याय और अनैतिकता तथा क्रूरता और पशुता से धन बढाने मे अहर्निश जुटा रहता है।[५] वह मकडी की भाँति अपने ही जाल मे फँसा रहता है। करोडपति मनुष्य भी खाली हाथ ही जाता है तथा कष्टपूर्वक सचित किये हुए धन को यही छोड जाता है। परिश्रमपूर्वक प्रचुर धन कमाना और सचित करना दोष नही है, किन्तु लोभ-वृत्ति का होना दोष है, क्योकि लोभी मनुष्य पापी हो जाता है तथा धन का सदुपयोग नही करता। लोभ को पाप का बाप कहा गया है। रजोगुणी मनुष्य के लक्षण हैं —लोभ-प्रवृत्ति, स्वार्थपूर्ण कर्म, अशान्ति और तृष्णा।

१ जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।

२ न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य।—कठ उप०, १.१ २७ अर्थात् मनुष्य अपार धन से भी तृप्त नही हो सकता।

३ पुत्रादपि धनभाजा भीति। —शङ्कराचार्य

४ कामिहि नारि पियारि जिमि,
लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर
प्रिय लागहु मोहि राम॥
—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड

५ लोभाविष्टो न किं कुर्यादकृत्यं पापमोहितः। —अर्थात् लोभी पापमोहित होकर कौनसा कुकृत्य नही करता है ?

तमोगुणी के लक्षण हैं–बुद्धि, मन और इन्द्रियो मे अप्रकाश अर्थात् अधकार, अकर्मण्यता अर्थात् कर्म करने मे अरुचि, प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा करना और कर्तव्य-कर्म की अवहेलना (लापरवाही) तथा मोह अर्थात् विवेक का लोप। तमोगुण की वृद्धि होने पर मनुष्य अधम-अवस्था को प्राप्त हो जाता है। तमोगुणी मनुष्य पशु की भाँति सत्-असत्, उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक तजकर तथा कर्म करने से बचते हुए खाने-पीने और सोने मे प्रवृत्त रहता है। सत्त्वगुण प्रकाश का तथा तमोगुण अन्धकार का सूचक है।[१]

**यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।**
**तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४॥**
**रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।**
**तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥**

**शब्दार्थ :** यदा देहभृत् सत्त्वे प्रवृद्धे प्रलय याति = जब देहधारी मनुष्य जीवात्मा सत्त्वगुण के बढने पर मृत्यु को प्राप्त होता है, तदा तु उत्तमविदा अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते = तब तो उत्तम तत्त्व को जाननेवालो के अर्थात् उत्तम कर्म करनेवालो के निर्मल (दिव्य) लोको को प्राप्त होता है। रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते = रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्म की आसक्तिवाले मनुष्य मे उत्पन्न होता है, तथा तमसि प्रलीन: मूढयोनिषु जायते = तथा तमोगुण के बढ़ने पर मृत्यु होने से मूढ योनियो मे उत्पन्न होता है।

**वचनामृत :** जब मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह उत्तम तत्त्व को जाननेवालो के अमल लोको को प्राप्त होता है। रजोगुण की वृद्धि होने पर मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मो की आसक्तिवाले मनुष्यो मे उत्पन्न होता है। तमोगुण की वृद्धि मे मृत्यु होने से वह मूढ योनियो मे जन्म लेता है।

१. ईशावास्य उपनिषद् के तीसरे श्लोक मे तमोगुण की चर्चा है।

सन्दर्भ : श्रीकृष्ण बता रहे है कि मनुष्य किस गुण की वृद्धि मे मृत्यु होने पर किस गति को प्राप्त होता है।

रसामृत : यदि मनुष्य सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है तो उन उत्तम लोको को प्राप्त होता है, जो उत्तम कर्म करनेवाले पुरुषो को प्राप्त होते हैं। 'उत्तम लोक' का अर्थ स्वर्गादि लोक के अतिरिक्त उत्तम लोगो का कुल भी है। सत्त्वगुण मे स्थित मनुष्य मृत्युकाल मे वैराग्यवान् तथा शान्त रहकर भगवत्स्मरण करते हुए प्राण त्याग करता है[1] तथा उत्तम लोको को प्राप्त होता है अथवा उत्तम लोगो के कुल मे जन्म लेता है। त्रिगुणातीत अथवा निस्त्रैगुण्य अवस्था को प्राप्त मनुष्य अपने जीवनकाल मे जीवन्मुक्त होकर प्राण-त्याग करने पर ब्रह्मलीन हो जाता है।

रजोगण मे प्रवृद्ध होने पर मृत्यु को प्राप्त होनेवाले मनुष्य उन मनुष्यो के कुल मे जन्म लेते हैं, जो कर्म मे आसक्त रहते हैं। ऐसे कुल मे जन्म लेकर रजोगुणी मनुष्य अपनी वासनाओ की तृप्ति के लिए पुन प्रयत्न करता है। तमोगुण मे प्रवृद्ध होने पर मृत्यु को प्राप्त होनेवाले मनुष्य तामसी योनियो मे जन्म लेते हैं।[2] जो मनुष्य जिस गति का अधिकारी होता है, वह मृत्यु के पश्चात् उसी गति को प्राप्त करता है। मनुष्य पुनर्जन्म लेकर अपनी अतृप्त वासनाओ की तृप्ति का प्रयत्न करता है तथा उत्तरोत्तर ऊपर ही उठता रहता है।

---

१ प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तै ।
कण्ठावरोधनविधौ स्मरण कुतस्ते ॥

२ कीट पतङ्ग, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष आदि योनियाँ तामसी हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार जीवन का विस्तार मनुष्य से लेकर लता वृक्षो ( वनस्पति ) तक है। वनस्पति प्राणवान् एव सवेदनशील होती है। मनुष्य-योनि कर्मयोनि और भोगयोनि दोनों है तथा अन्य सब योनियाँ भोगयोनियाँ हैं। वृक्षो, पुष्पों, पौधो को शत्रु-मित्र तथा दु ख-सुख की अनुभूति होती है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥
सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा ॥१८॥

शब्दार्थ : सुकृतस्य कर्मण तु सात्त्विकं निर्मल फलं आहु = सात्त्विक कर्म का तो सात्त्विक निर्मल फल कहा है, रजस फलं दु ख तमस फल अज्ञान = रजोगुण का ( रजोगुणी कर्म का ) दु:ख तथा तमोगुणी कर्म का फल अज्ञान कहा है। सत्त्वात् ज्ञान सञ्जायते = सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, च रजस एव लोभ = और रजोगुण से निश्चित ही लोभ ( उत्पन्न होता है ), च तमस प्रमादमोहौ भवत: अज्ञान स एव = और तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है, अज्ञान भी ( उत्पन्न होता है )। सत्त्वस्था ऊर्ध्वं गच्छन्ति = सत्त्वगुण मे स्थित पुरुष ऊर्ध्वगमन करते हैं, राजसा मध्ये तिष्ठन्ति = रजोगुणी मध्य में रह जाते हैं, जघन्यगुणवृत्तिस्था तामसा अध गच्छन्ति = निकृष्ट गुण ( तमोगुण ) की वृत्ति मे स्थित तमोगुणी मनुष्य नीचे जाते हैं।

वचनामृत : उत्तम अथवा सात्त्विक कर्म का तो सात्त्विक निर्मल फल कहा है, राजस कर्म का फल दु ख तथा तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है। सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निश्चित ही लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है, अज्ञान भी उत्पन्न होता है। सत्त्वगुण मे स्थित पुरुष ऊर्ध्वगामी होते हैं, रजोगुण मे स्थित पुरुष मध्य मे रहते हैं तथा तमोगुणी वृत्ति मे स्थित तामसी लोग अधोगामी होते हैं।

सन्दर्भ : श्रीकृष्ण तीनो गुणो के प्रभाव का वर्णन करते हैं।

रसामृत : पृथक्-पृथक् गुणो का फल पृथक्-पृथक् है। मनुष्य जिस गुण से अभिभूत होकर कर्म करता है, उसीके अनुरूप उसे फल मिलता है। जब मनुष्य ईश्वर-प्रदत्त विवेक-शक्ति का सम्मान

करके कर्तव्य-कर्म करता है, उसे सुख एव शान्ति की उपलब्धि होती है तथा जब वह विवेक-शक्ति को ठुकराकर मति-भ्रष्ट एव पथ-भ्रष्ट हो जाता है, उसे दु ख एव अशान्ति की प्राप्ति होती है। लोग अपने दु ख एव अशान्ति के लिए दूसरे व्यक्तियो तथा परिस्थितियो को दोष देते हैं तथा दु ख और अशान्ति के कारण का निवारण नही करते।

सत्त्वगुणी पुरुष पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, दान-पुण्य, सेवा-परोपकार आदि सात्त्विक कर्म करते हैं, उन्हे सात्त्विक निर्मल फल मिलता है। सात्त्विक पुरुष को मानसिक शान्ति एव सुख प्राप्त होता है तथा समाज मे प्रतिष्ठा, सुयश, आदर और सम्मान प्राप्त होता है, यद्यपि सात्त्विक पुरुष रजोगुण-प्रधान अर्थात् भौतिकवादी समाज मे रहकर सात्त्विक जीवन जीने मे असख्य कठिनाइयो का सामना करता है। रजोगुणी मनुष्य की विषयभोग-बुद्धि उसे चचल एव अशान्त बना देती है तथा धन, सम्पत्ति, सत्ता, पद पाकर भी उसे शान्ति एव सुयश प्राप्त नही होता और अन्त मे उसे भौतिक उपलब्धियो की निस्सारता का अनुभव होने पर ग्लानि का अनुभव होता है। रजोगुण का परिणाम दु ख होता है। राजस कर्मों मे काम, क्रोध, लोभ आदि का प्राधान्य होता है तथा राजसी मनुष्य मे श्रेष्ठ गुणो का उदय एव विकास नही हो पाता। राजस कर्मों का फल दु ख एव अशान्ति होता है। तमोगुण का फल विवेक पर अंधकार आच्छादित होना है। तमोगुणी मनुष्य विमूढ एव भ्रमित होकर नष्ट हो जाता है।

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है। सात्त्विक मनुष्य की बुद्धि निर्मल होती है तथा सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने पर ज्ञान का उदय होता है। सत्त्वगुण होने पर ही बुद्धि प्रवृत्त होकर ज्ञान ग्रहण करती है। सत्त्वगुण का उद्रेक होने पर जगत् के वैभवो का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है तथा वैराग्य उदित होता है। वैराग्य ही ज्ञान का आधार है। रजोगुण से तृष्णा, वासना, लोभ आदि उत्पन्न होते हैं तथा तृष्णा, वासना आदि से रजोगुण उत्पन्न होता है, जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है। रजोगुणी मनुष्य मायाजाल मे फँसकर सत्-असत्, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि के विवेक को खो देता है तथा स्वार्थ से प्रेरित होकर कर्म करता है। तमोगुण से प्रमाद ( अर्थात् कर्म करने मे लापरवाही ), आलस्य, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं। तमोगुणी मनुष्य विमूढ होकर पशुवत् आचरण करता है।

सत्त्वगुण मे सस्थित लोग ऊर्ध्वगामी होते है। सत्त्वगुणी को उत्तम स्थिति, रजोगुणी को मध्यम स्थिति तथा तमोगुणी को अधम स्थिति प्राप्त होती है। सत्त्वगुणी की मनोभूमिका अत्यन्त उच्च, रजोगुणी की मनोभूमिका साधारण तथा तमोगुणी की मनोभूमिका निकृष्ट होती है। सत्त्वगुणी ज्ञान-मय, सुखी एव शान्त होता है, रजोगुणी चचल, दु खी एव अशान्त होता है तथा तमोगुणी आलसी, प्रमादी और विमूढ होता है। सत्त्वगुण का विपर्यय तमोगुण है। देह-त्याग करने पर सत्त्वगुणी पुरुष ऊर्ध्व लोको को प्राप्त होते हैं, रजोगुणी मनुष्य इस लोक मे पुनर्जन्म लेते है तथा तमोगुणी निकृष्ट योनि मे उत्पन्न होते हैं। विभिन्न योनियो मे जन्म लेते हुए मनुष्य विकास के क्रम मे अतृप्ति से तृप्ति तथा अपूणता से पूर्णता की ओर बढता रहता है।

**नान्य गुणेभ्यः कर्तार यदा द्रष्टानुपश्यति।**
**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भाव सोऽधिगच्छति ॥१९॥**
**गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।**
**जन्ममृत्युजरादु खैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥**

**शब्दार्थ :** यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यं कर्तारं न अनुपश्यति=जब द्रष्टा गुणो से अन्य किसीको कर्ता नही देखता, च गुणेभ्य. परं वेत्ति=और गुणो से परे परमात्मा को जानता है, स मद्भावं अधिगच्छति=वह मेरे भाव ( स्वरूप ) को प्राप्त होता है। देही एतान् देहसमुद्भवान् त्रीन् गुणान् अतीत्य=पुरुष इन देह के

उद्भव के कारण तीन गुणो को पार करके, जन्ममृत्युजराद् खै विमुक्त· अमृतं अश्नुते—जन्म, मरण, जरा (वृद्धावस्था) और दु खो से विमुक्त होकर अमृत (परमपद) को प्राप्त हो जाता है ।

**वचनामृत** जब द्रष्टा तीनो गुणो से अन्य किसीको कर्ता नही देखता और गुणो से परे परमातमा को सम्यक् प्रकार से जानता है, तब वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है । यह पुरुष शरीर की उत्पत्ति के कारणभूत तीनो गुणो का अतिक्रमण करके जन्म, मरण, जरा (वृद्धावस्था) और अन्य सब प्रकार के दु खो से मुक्त होकर अमृतरूप परमपद (परमानन्द) को प्राप्त होता है ।

**सन्दर्भ** . श्रीकृष्ण गुणातीत होने के उपाय का वर्णन करते हैं ।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण प्रकृति के तीनो गुणो के स्वरूप और प्रभाव का वर्णन करके यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य को सर्वप्रथम तमोगुण और रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण मे स्थित होने का प्रयत्न करना चाहिए तथा सत्त्व मे स्थिर होने के पश्चात् सत्त्वगुण का अतिक्रमण करके त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त होने के लिए साधनारत होना चाहिए, क्योकि सत्त्वगुण श्रेष्ठ होने पर भी बन्धनकारक है। त्रिगुणातीत पुरुष अपने भीतर आत्मा के सौन्दर्य का दर्शन करता है। मनुष्य का अन्तर्जगत् अनन्त प्रकाश से परिपूर्ण है। ध्यानयोगी आत्मा के अनन्त सौन्दर्य मे समाधिस्थ होकर उससे व्युत्थित होने मे ऐसी कठिनाई अनुभव करते है, जैसे बालक माता की गोद से हटाये जाने पर कष्ट का अनुभव करते हैं । त्रिगुणातीत महात्मा परमात्मा का साक्षात्कार ही नही करता, उसके साथ एकात्म हो जाता है । वह जीवनकाल मे जीवन्मुक्त रहता है और देह छूटने पर ब्रह्मलीन हो जाता है।

मनुष्य देहात्मबुद्धि (देह मे आत्मबुद्धि अर्थात् अपने को देह मानना) होने के कारण अपने को समस्त कर्म का कर्ता और उनके फल का भोक्ता मानकर दु खी-सुखी होता है, किन्तु त्रिगुणातीत पुरुष कर्म और कर्मफल का तटस्थ द्रष्टा हो जाता है तथा कर्मों को गुणो का खेल मानकर आत्मचिन्तन द्वारा उनका अतिक्रमण करके निर्गुण-निराकार परमब्रह्म परमात्मा को अभिन्नभाव से (भेद न मानकर) देखता है ।

ससार मे गुण ही कर्मों को करा रहे हैं तथा गुणो का गुणो के साथ खेल चल रहा है । प्रकृति के गुणो से परे सर्वत्र एक सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही स्थित है । ज्ञानी सर्वत्र परमात्मा की सत्ता का ही दर्शन करता है । ज्ञानी कर्म और फल भोग मे लिप्त नही होता। सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को ही सत् मानकर मनुष्य परमात्म-दृष्टि (ब्रह्म-दृष्टि) प्राप्त करके परमात्मा के स्वरूप के साथ एक हो जाता है अर्थात् स्वय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ।

प्रकृति (मायाशक्ति) के त्रिगुण देहोत्पत्ति के कारण है,[1] किन्तु देह के भीतर और बाहर सस्थित केवल परमात्मा की ही परमार्थ सत्ता है । गुणो से सर्वथा सम्बन्धरहित अर्थात् गुणातीत महात्मा तत्त्वज्ञान द्वारा निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के साथ अभिन्नता की अनुभूति करके कृतार्थ हो जाता है । देह के विद्यमान होते हुए भी गुणातीत ज्ञानी मात्र द्रष्टा होकर देह के कष्टो से ऊपर उठ जाता है[2] तथा जन्म, मरण, जरा (वृद्धा-

---

१ पिण्डरूप स्थूल देह प्रकृति के तत्त्वो से निर्मित होती है—बुद्धि, अहकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) और पाँच इन्द्रियो के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)। प्राय· मन के साथ चित्त को भी जोड दिया जाता है, यद्यपि मन और चित्त में कोई विशेष भेद नही है। बुद्धि, अहकार, मन और चित्त को अन्त करण कहा जाता है ।

२ साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।

वस्था ) और सब प्रकार के दैहिक एवं मानसिक कष्ट उसे स्पर्श नही करते। ब्रह्मचिन्तन द्वारा देहात्मभाव ( मैं देह हूँ, यह भाव ) लुप्त हो जाता है तथा साधक की चेतना परमचेतना मे विलीन हो जाती है। अमृतस्वरूप परमात्मा के साथ एकात्म होकर मनुष्य अमृतस्वरूप हो जाता है।[1]

अर्जुन उवाच

**कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।**
**किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥**

**शब्दार्थ :** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, **प्रभो**=हे प्रभो, **एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः कैः लिङ्गैः भवति**=इन तीन गुणो को पार करके किन लक्षणो से ( युक्त ) होता है,[2] **च किमाचार**=और क्या आचरण करनेवाला ( होता है )। **कथ एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते**=किस प्रकार इन तीनो गुणो को पार कर लेता है अथवा त्रिगुण से अतीत हो जाता है। प्रकृष्ट ( अतिशय ) भास्वरूप ( प्रकाशस्वरूप ) होने से चैतन्यस्वरूप परमात्मा को प्रभु कहते हैं।

**वचनामृत :** अर्जुन बोले—हे प्रभो, इन तीन गुणो से अतीत पुरुष किन लक्षणो से युक्त होता है तथा वह किस प्रकार का आचरण करनेवाला होता है ? किस प्रकार तीनो गुणो से अतीत हो जाता है ?

**सन्दर्भ** अर्जुन गुणातीत पुरुष के लक्षण पूछता है।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन का सवाद प्रश्न तथा उत्तर, शका तथा समाधान से युक्त होने के कारण अत्यन्त रोचक एव सजीव है। अर्जुन मार्मिक प्रश्न पूछता है और श्रीकृष्ण उसे दुर्बुद्धि इत्यादि कहकर कभी हतोत्साह नही करते, बल्कि प्रशसासूचक उत्तम शब्दो के प्रयोग द्वारा उसे प्रोत्साहन देते हैं। भगवान् से यह सुनकर कि गुणातीत पुरुष अमृतपान करके जन्म, मरण, जरा और दुःख से मुक्त हो जाता है, अर्जुन ने गुणातीत पुरुष के लक्षण तथा आचरण के सबध मे जिज्ञासा प्रकट की तथा भगवान् को 'हे प्रभो' कहकर सम्बोधित किया। अर्जुन की जिज्ञासा है कि त्रिगुणातीत किसे कहा जाय ? उसकी क्या पहचान है ? उसका क्या व्यवहार है ?

श्रीभगवानुवाच

**प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।**
**न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥**

**शब्दार्थ .** **श्रीभगवानुवाच**=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **पाण्डव**=हे अर्जुन, **प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहं एव**=सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को और तमोगुण के कार्यरूप मोह को भी, **न सप्रवृत्तानि द्वेष्टि च न निवृत्तानि काङ्क्षति**=न सप्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकाक्षा करता है। ( **गुणातीतः स उच्यते**=वह गुणातीत कहा जाता है। )

**वचनामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन, जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश को और रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्य मोह को भी न सप्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकाक्षा करता है, वह गुणातीत कहलाता है।

**सन्दर्भ :** चार श्लोको ( २२, २३, २४, २५ ) मे त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण कहे गये हैं।

**रसामृत :** सत्त्वगुण का काय प्रकाश है अर्थात् सत्त्वगुण का उदय होने पर मनुष्य मे ज्ञान उत्पन्न होने लगता है, सुख और शान्ति का अनुभव होने लगता है। रजोगुण का उदय होने पर मनुष्य में कामना तथा कामना-पूर्ति के लिए प्रवृत्ति ( कर्म करने का स्फुरण अथवा चेष्टा ) उत्पन्न हो जाती

---

१. अमृतमश्नुते—गीता, १३.१२।
गीता ( ७.२९, १३.८ ) मे भी जन्म-मरण आदि की चर्चा है।

२ 'लीनमज्ञातविषयं गमयति ज्ञापयति इति लिङ्गम्', 'लीनार्थगमकं लिङ्गम्'—अज्ञात विषय के सूचक को लिङ्ग अर्थात् लक्षण कहते हैं।

है। तमोगुण का उदय होने पर अप्रकाश अर्थात् अज्ञान तथा अप्रवृत्ति अर्थात् कर्म मे अरुचि, प्रमाद, आलस्य इत्यादि उत्पन्न हो जाते है तथा आलस्य, निद्रा आदि के कारण अन्त करण और इन्द्रियो की चेतना मन्द हो जाती हैं।

यद्यपि प्रत्येक मनुष्य मे सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण मे से एक का ही प्राधान्य होता है, तथापि यदा-तदा इन तीनो का पृथक्-पृथक् भी उदय होता रहता है। साधारण मनुष्य किसी भी गुण का उद्भव होने पर उससे ग्रस्त हो जाता है तथा उसके अनुरूप आचरण करता है। साधारण मनुष्य सत्त्वगुण का उदय होने पर भला और मृदु हो जाता है, रजोगुण का उदय होने पर काम और क्रोध के वश मे हो जाता है और तमोगुण का उदय होने पर प्रमादी, कामचोर और आलसी हो जाता है। किन्तु गुणातीत पुरुष इनके उद्भूत होने पर इनसे द्वेष नही करता अर्थात् विचलित नही होता। साधकरूप मे मनुष्य इनसे द्वेष करता है अर्थात् इनके उदित होने पर क्लेश का अनुभव करता है—"मैं तमोगुण से विमूढ हो गया हूँ, मैं रजोगुण के कारण स्वार्थबुद्धि से प्रवृत्त हो रहा हूँ, मैं सत्त्वगुण से उत्पन्न सुख के प्रति आसक्त हो रहा हूँ" इत्यादि। किन्तु सिद्ध गुणातीत पुरुष गुणो के प्रभाव का अतिक्रमण करके ऐसा द्वेष नही करता। साधकरूप मे मनुष्य सत्त्वगुण के निर्गत होने पर इच्छा करता है कि उसमे सत्त्वगुण का उद्रेक पुन हो जाय, किन्तु सिद्ध गुणातीत पुरुष निवृत्त हुए गुण के प्रभाव के पुन आगमन की इच्छा नही करता। वह गुणो के सात्त्विक, राजस और तामस प्रभाव को तटस्थ दृष्टि से देखता है तथा गुणो को प्रकृति ( स्वभाव ) का खेल मानकर उनमे लिप्त नही होता। सात्त्विक प्रकाश और सुख उत्तम पुरुष का लक्षण है। सात्त्विक पुरुष रजोगुणी और तमोगणी मनुष्य की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है, किन्तु गुणातीत पुरुष परमानन्द अवस्था को प्राप्त होकर उसमे मग्न रहता है तथा वह सात्त्विक प्रकाश और सुख से वहुत ऊपर उठ जाता है। ब्रह्मज्ञानी प्रकाशरूप चिदाभास (अन्त करण मे चेतना का प्रकाश ) से परे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है। आत्मतत्त्व तथा अनात्मतत्त्व ( ससार के पदार्थ, देह और अन्त करण ) का विवेक यथार्थ ज्ञान है।[1] गुणातीत पुरुष गुणो के प्रादुर्भाव ( प्रकट होना ) तथा तिरोभाव ( छिप जाना ) से प्रभावित नही होता, नितान्त अविचलित रहता है।

गुणातीत पुरुष के लक्षण दो प्रकार के हैं—स्वसवेद्य ( जिन्हे महात्मा पुरुष स्वय ही जानता है ) तथा परसवेद्य ( जिसे अन्य जन जान सकते हैं )। इस श्लोक मे वर्णित लक्षण गुणातीत पुरुष के स्वसवेद्य हैं।

**उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।**
**गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥**

**शब्दार्थ :** य उदासीनवत् आसीन गुणै न विचाल्यते=जो उदासीन ( साक्षी, द्रष्टा ) की भाँति स्थित हुआ गुणो के द्वारा विचलित नहीं होता, गुणा एव वर्तन्ते इति य अवतिष्ठति=गुण ही ( गुणो मे ) प्रवृत्त हो रहे हैं, ऐसा जो ( परमात्मा के साथ एकात्मता में ) स्थित रहता है, न इङ्गते=तथा विचलित नहीं होता ( वह गुणातीत है )।

**वचनामृत** जो तटस्थ साक्षी की भाँति स्थित हुआ गुणो से विचलित नही होता तथा 'गुण ही गुणो मे प्रवृत्त हो रहे हैं'-ऐसा मानकर जो पर-

---

[1] योगवाशिष्ठ में वशिष्ठ मुनि ने ज्ञान के सात साधन अथवा सोपान कहे हैं—(१) शुभेच्छा। मैं बद्धजीव हूँ तथा मैं मुक्त हो जाऊँ—यह इच्छा शुभ है। (२) विचारणा ( चिन्तन, मनन, विचार करना ), (३) तनुमनसा ( मन की वृत्तियो को तनु अर्थात् क्षीण करना ), (४) सत्त्वापत्ति ( तत्त्वज्ञान का सुलभ होना ), (५) असंसक्ति ( विषयो मे अनासक्ति ), (६) पदार्थभावनी ( ब्रह्मस्वरूप मे निमग्नता ) और (७) तुरीय ( परमानन्द-अवस्था, पूर्णता )।

मात्मा मे ऐक्यभाव से स्थित रहता है तथा विकार को प्राप्त नही होता, वह गुणातीत है।

सन्दर्भ गुणातीत पुरुष गुणो से विचलित नही होता।

रसामृत : गुणातीत पुरुष पाषाण-खण्ड की भाँति निष्क्रिय एव जड नही हो जाता, बल्कि सक्रिय होकर भी निष्क्रिय-सा रहता है, क्योकि वह गुणो के प्रभाव से ऊपर उठा हुआ रहता है।[1] चैतन्यस्वरूप परमात्मा को सत् एव शाश्वत तत्त्व मानकर उसके साथ ऐक्य की अवस्था मे स्थित ज्ञानी पुरुष अपने भीतर मन, बुद्धि और इन्द्रियो के व्यापार को तथा बाहर जगत् मे घटनाओ को गुणो का खेल समझकर उनसे प्रभावित नही होता। वह चेतना के उच्च धरातल पर स्थित रहता है तथा गुणो की क्रिया-प्रतिक्रिया को तटस्थ दृष्टि से देखता है। गुणो के प्रभाव से मुक्त होने के कारण वह आसक्ति एवं कामना से भी मुक्त रहता है तथा क्रोध, चिन्ता, भय, निराशा, दु ख का अवसर होते हुए भी वह उनसे ग्रस्त नही होता। गुणातीत होने का अर्थ है अलिप्त रहना तथा निर्विकार होना अर्थात् अपने भीतर राग-द्वेष, क्रोध, चिन्ता आदि विकार न होना।[2] इन्द्रियाँ और मन विषयो की ओर स्वभावत दौडते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष उनकी क्रिया से अपना सम्बन्ध नही जोडता, क्योकि इन गुणो का चैतन्यस्वरूप आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नही है। तटस्थ द्रष्टा होकर देखने के अभ्यास से इन्द्रियो और मन का विषयों के प्रति आकर्षण क्षीण हो जाता है। गुणातीत पुरुष सत्त्वगुण की सुखासक्ति, रजोगुण की स्वार्थप्रेरित कर्म-प्रवृत्ति तथा तमोगुण के प्रमाद से ग्रस्त नही होता। वह सदा निर्विकार तथा एकरस रहता है। प्रकृति के गुण अपना-अपना काम करते है। निर्विकार आत्मा से उनका सम्बन्ध नही होता। गुणातीत पुरुष प्रकृति के गुणात्मक विकारो ( परिवर्तनो ) को देखता है, किन्तु उनमे उलझता नही है। परमात्मा के स्वरूप मे निरन्तर सस्थित गुणातीत महात्मा राग-द्वेष से मुक्त होता है और गुणो से अपना सम्बन्ध न मानने के कारण उनसे ऊपर उठा रहता है।

**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।**
**तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥**
**मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।**
**सर्वारम्भपरित्यागी गणातीतः स उच्यते ॥२५॥**

**शब्दार्थ : स्वस्थ समदुःखसुख समलोष्टाश्मकाञ्चन** =आत्मभाव मे स्थित होकर दु ख-सुख मे समान, मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण मे समान भाववाला, **धीरः तुल्यप्रियाप्रिय· तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति** =धीर, प्रिय और अप्रिय मे तुल्य, निन्दा और अपनी स्तुति ( अथवा अपनी निन्दा और स्तुति ) मे तुल्य। **मानापमानयोः तुल्य मित्रारिपक्षयो तुल्य.** =मान-अपमान मे तुल्य, मित्र-अरि के पक्ष मे तुल्य, **सर्वारम्भपरित्यागी स गुणातीत· उच्यते** =वह सब आरम्भो ( कर्ता होने के अभिमान ) का परित्यागी गुणातीत कहा जाता है।

वचनामृत : जो पुरुष आत्मभाव मे स्थित होकर दु ख-सुख मे समान रहनेवाला, मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ग मे समान भाववाला धीर,[1] प्रिय और अप्रिय को तुल्य माननेवाला, अपनी निन्दा-स्तुति मे समभाववाला है, जो मान-अपमान मे तुल्य तथा मित्र-शत्रु के पक्ष मे भी तुल्य है, सब आरम्भो मे कर्ता होने के अभिमान से मुक्त है, वह गुणातीत कहा जाता है।

सन्दर्भ : गुणातीत पुरुष समत्व में स्थित होता है।

---

१. उदासीन का अर्थ है उद्आसीन ( ऊपर उठा हुआ स्थित )। गीता ( १२ १६ ) में भक्त का लक्षण भी उदासीन होना कहा गया है।

२ गीता मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ऐसा ही पहले भी ( ३.२८ ) समझाया है।

१. धीर का अर्थ धैर्यवान् है, किन्तु एक अन्य अर्थ ज्ञानी भी है।—गीता २.१३

**रसामृत :** गुणातीत पुरुष का स्वसवेद्य लक्षण ( ऐसा लक्षण जिसे वह स्वय ही जानता है, अन्य उतना नही जान पाते ) स्वस्थ रहना अर्थात् आत्मा के स्वरूप मे स्थित रहना है। आत्मा के स्वरूप मे रहने से अथवा परमात्मा के साथ एकात्मभाव रहने से ही ज्ञानी पुरुष मे सर्वत्र ब्रह्म-दृष्टि ( सर्वत्र परमात्मा ही है ऐसी दृष्टि ) होना सम्भव है। जो मनुष्य बहिर्मुखी होकर निरन्तर ससार की ओर देखता है, उसकी इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि ससार के विषयो ( भोग्य पदार्थों ) की ओर दौड़ती है तथा वह सदैव चचल और अशान्त रहता है। किन्तु जो पुरुष अन्तर्मुखी होकर अपने निजस्वरूप मे स्थित रहता है, वह सम और शान्त रहता है। ज्ञानी पुरुष अपना वास्तविक जीवन अपने भीतर ही जीता है और आनन्दमग्न रहता है तथा बहिर्जगत् मे अन्तर्प्रेरणा के अनुसार कर्म करता रहता है। ज्ञान मार्ग मे आरूढ होकर आत्मसाक्षात्कार के दो साधन हैं— ( १ ) वेद महावाक्यो ( तत्त्वमसि, अह ब्रह्मास्मि इत्यादि ) के आधार पर परम ब्रह्म परमात्मा का चिन्तन, मनन करते हुए वैराग्य-बुद्धि होने पर तथा अपने निजस्वरूप मे स्थित होकर सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करना तथा ( २ ) जड जगत् को और अपनी क्रियाओ को प्रकृति के गुणो की परस्पर क्रीडा का परिणाम मानकर एव उससे ऊपर उठकर तथा अपने निजस्वरूप मे स्थित होकर सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करना। प्रकृति परमात्मा की माया-शक्ति है और वह जगत्-प्रपञ्च रचकर नाना-विध खेल करती है। विवेकशील व्यक्ति उससे परे जाकर अथवा उससे ऊपर उठकर परमब्रह्म पर-मात्मा की शाश्वत सत्ता के साथ एकात्म होकर कृतार्थ हो जाते हैं। त्रिगुणातीत अवस्था मे ज्ञानी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्मा मे स्थित रहता है तथा उसे बहिर्जगत् के दु ख और सुख, मिट्टी और सोना, अप्रिय और प्रिय, प्रतिकूल और अनु-कूल, निन्दा और स्तुति, अपमान और मान तथा शत्रु और मित्र तुल्य प्रतीत होते हैं। आत्मस्थ ज्ञानी पुरुष प्रकृतिजन्य दु ख-सुख आदि मे स्थित नही होता तथा प्रकृतिस्थ अर्थात् देहस्थ अज्ञानी पुरुष 'मैं सुखी हूँ, मैं दु खी हूँ' ऐसा अनुभव करता है। ज्ञानी का चित्त बाह्य विषयो से सर्वथा निवृत्त हो जाता है तथा निश्चलभाव से परमात्मा के स्वरूप मे लीन रहता है।

निरन्तर आनन्द की अवस्था का अनुभव करनेवाला त्रिगुणातीत पुरुष दु ख और सुख देने-वाली प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थिति की पार-मार्थिक सत्ता को स्वीकार नही करता तथा उनसे ऊपर उठा हुआ रहता है। प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थिति तो बहिर्जगत् मे होती है तथा दु ख और सुख का अनुभव प्रतिक्रिया के रूप मे मन मे होता है। ज्ञानी स्वाधीन होता है तथा अज्ञानी पराधीन। ज्ञानी गुणातीत होकर सदा आनन्दमय रहता है तथा अज्ञानी प्रकृति के गुणो से ग्रस्त होकर तथा अपनी इच्छाओ एव बाह्य परि-स्थितियो के अधीन रहकर कभी दु खी, कभी सुखी रहता है।

कुशल नाविक गहरे तथा तूफानी जल मे भी नौका को चलाता हुआ उसे पार ले जाता है, किन्तु यदि किसी छिद्र के कारण नौका मे जल भर जाता है तो वह बीच मे ही डूब जाती है। ससार एक समुद्र है, जिसमे मनुष्य अपनी जीवन-नौका को पार ले जाकर अपने जीवनदाता का साक्षात्कार कर सकता है, किन्तु यदि असन्तुलन अथवा असावधानी के कारण जीवन-नौका मे ससार-समुद्र का विषय-जल भर जाय तो वह जलमग्न होकर नष्ट हो जाती है। मन मे ससार के भर जाने से मनुष्य का सन्तुलन विगड जाता है और वह पथ-भ्रष्ट हो जाता है। मन मे परमात्मा को बसाने से मनुष्य स्वस्थ होकर जीवन-यात्रा को सकुशल पार कर लेता है। ससार के विषयो का आकर्पण तथा उन्हे सचित करने की लालसा मनुष्य के मन मे दु ख-सुख उत्पन्न करके उसका सन्तुलन विगाड

देते हैं। हम ससार मे रहे, किन्तु ससार हममे न रहे—यही सन्तुलन, समता और शान्ति का उपाय है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने मनुष्य को सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो से ऊपर उठकर निरन्तर सुप्रसन्न रहते हुए कर्म करने का उपदेश अनेक बार तथा अनेक प्रकार से किया है, क्योकि अनेक पुनरुक्तियाँ होने पर भी इस महान् सन्देश का महत्त्व कम नही हो जाता।[१]

बाह्य जगत् परिवर्तनशील है तथा परिस्थितियाँ बदलती रहती है। बाह्य परिस्थितियो के आधार पर दु.खी और सुखी होनेवाला अथवा बाह्य परिस्थितियो को अपने दु ख और सुख का कारण माननेवाला मनुष्य कभी स्थिर नही हो सकता, उसे परिस्थितियो का परिवर्तन विचलित करता रहता है। सदैव परिस्थितियो को अनुकूल रखना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। इसके अतिरिक्त एक ही परिस्थिति एक व्यक्ति के लिए अनुकूल है तथा दूसरे के लिए प्रतिकूल है। विवेकशील साधक सदैव सन्तुलित, सम और शान्त रहने का अभ्यास करता है। त्रिगुणातीत सिद्ध पुरुष अविचल रूप से सम और शान्त रहता है। वास्तव मे मनुष्य अपनी चेतना को विचार, साधना, सत्सग द्वारा भौतिक धरातल से ऊपर ऊँचे उठाकर ही सासारिक परिस्थितियो से ऊपर उठ सकता है अथवा उन पर विजय प्राप्त कर सकता है। आत्मशिखर पर आरूढ सिद्ध पुरुष को भौतिक सुख और दु ख तुच्छ प्रतीत होते हैं।

अलौकिक आत्मानन्द का रसपान करनेवाले त्रिगुणातीत महात्मा के लिए भौतिक सुख भोग के साधन अत्यन्त निस्सार प्रतीत होते हैं तथा अनासक्ति के कारण वह मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण मे भेद नही करता। जिस प्रकार बालक अनेक टूटी-फूटी वस्तुओ से मनोरजन करते है, किन्तु प्रौढ होने पर उनका विसर्जन कर देते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी सासारिक सुख-भोगो की निस्सारता समझकर उनका परित्याग कर देते हैं। उनके मन मे स्वर्ण आदि वस्तुओ का आकर्षण नही रहता।[१] अविवेकी मनुष्य स्वर्ण आदि बहुमूल्य वस्तुओ के प्रलोभन के कारण अनेक पाप करते हैं, अनेक कष्ट सहते है। प्रलोभनमुक्त पुरुष सच्चा, सम और शान्त रह सकता है। प्रलोभन-मुक्त चित्त निर्मल, सहज और शान्त होता है।

त्रिगुणातीत पुरुष प्रिय और अप्रिय अर्थात् मन के अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु अथवा परिस्थिति मे सर्वथा समभाव से युक्त रहता है। राग-द्वेष के कारण मनुष्य प्रिय-अप्रिय अथवा इष्ट-अनिष्ट का भेद करता है। रागद्वेपमुक्त पुरुष सर्वत्र समभाव मे स्थित रहता है।

त्रिगुणातीत पुरुप धीर अर्थात् विवेकशील तथा धैर्यवान् होता है।[२] आन्तरिक दृढता ही धीरता है।

त्रिगुणातीत पुरुष अपनी निन्दा व प्रशसा मे सम अर्थात् एक-सा रहता है। मनुष्य अपनी अनि-

---

१ गीता, २ १४, १५, ३८, ५६, ५७, ६ ७, १२, १३, १५, १७, १८, १९, १३ १ इत्यादि तथा ६.८।

---

१ सन्त कबीर और उनके पुत्र कमाल के सबध मे अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि पिता-पुत्र कही जा रहे थे और कबीर ने एक स्वर्णमुद्रा मार्ग मे पडी हुई देखी तथा उन्होने पुत्र को प्रलोभन से बचाने की दृष्टि से उस पर मिट्टी डाल दी, किन्तु पुत्र ने कहा, क्या अभी स्वर्ण और मिट्टी का भेद आपके मन मे रह गया है?

२ 'धियं राति=निगृह्णाति स्वाकारेणैव स्थापयति इति धीर'—अर्थात् जिसकी बुद्धि आत्मस्वरूपनिष्ठा से विचलित नही होती, ऐसा आत्मा मे स्थिर रहनेवाला मनुष्य धीर होता है गीता (२ १३)। महाभारत मे यक्ष प्रश्न करता है—'केनस्विद् द्वितीयवान् भवति?' अर्थात् मनुष्य का दूसरा साथी कौन होता है? युधिष्ठिर उत्तर देता है—'धृत्या द्वितीयवान् भवति' अर्थात् धैर्य ही मनुष्य का सच्चा साथी है।

यत्रित कामनाओ एव आशाओ के कारण निरन्तर चिन्तित एव भयभीत रहता है, किन्तु कामनामुक्त एव आसक्तिमुक्त त्रिगुणातीत पुरुष सदैव सम रहता है। वह अपनी निन्दा सुनकर क्षुब्ध नही होता तथा प्रशसा सुनकर हर्षित नही होता। वह अपनी मस्ती मे मस्त रहता है। उसके भीतर उसका अपना एक निराला संसार बसा रहता है, जिसे बहिर्जगत् के दोषारोपण तथा स्तुति-गान स्पर्श भी नही कर पाते। अनेक मनुष्य धन, सम्पत्ति, सत्ता, पद, पाण्डित्य, प्रतिष्ठा और मान पाकर समाज मे अग्रणी हो जाते है, किन्तु साधारण-सी निन्दा अथवा आलोचना सहन नही कर पाते और उत्तेजित एव अशान्त हो जाते हैं। मनुष्य धन, सम्पत्ति, सत्ता, पद, पाण्डित्य, प्रतिष्ठा और मान इत्यादि भौतिक वस्तुओ को पाकर अपने अहकार को उग्र बना लेते हैं और तुच्छ बातो मे भी अपनी मान-हानि समझने लगते हैं। मनुष्य को अपनी निन्दा एव आलोचना सुनकर आत्मपरीक्षण करना चाहिए तथा यदि दोषारोपण उपयुक्त हो तो उसे स्वीकार कर आत्म-सुधार का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा हँसकर उसे भूल जाना चाहिए, क्योकि निराधार निन्दा एवं आलोचना कभी प्रभावी नही होती, सत्य को कदापि असत्य सिद्ध नही किया जा सकता। उत्तम पुरुष अपनी प्रशसा सुनकर उसके लिए भगवान् को श्रेय एव धन्यवाद देते हैं तथा उसे अपने पास नही रखते। दुर्बल मनुष्य ही प्रशसा से प्रसन्न और निन्दा से रुष्ट होते हैं। मनुष्य की गहराई और ऊँचाई की सच्ची परीक्षा स्तुति और निन्दा होने पर उसकी प्रतिक्रिया से होती है। त्रिगुणातीत पुरुष प्रशसा और निन्दा मे सर्वथा सम रहता है।[1]

त्रिगुणातीत पुरुष मान और अपमान को तुल्य मानकर समभावस्थित रहता है। मान और अपमान का अनुभव अहकार के कारण होता है। अधम प्रकृति मनुष्य अपने उग्र अहकार के कारण सर्वत्र अपना ही मान चाहता है, किसी अन्य के मान को सहन नही करता। उसे दूसरो का मान अत्यन्त कष्टप्रद प्रतीत होता है। प्राय महान् पण्डितो और साधु-सन्यासियो को भी दूसरो का मान और अपना अपमान सहन नही होता।[1] क्षुद्र मनुष्य छोटी-छोटी बातो को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते हैं और उन्हे दूसरों का अपमान करने से असीम सुख और शाति प्राप्त होती है। "मैं महान् हूँ, मैं बुद्धिमान् हूँ तथा अन्य सब क्षुद्र और मूर्ख हैं", ऐसी भावना मिथ्या अहकार एव क्षुद्रता की द्योतक है। अहकारी मनुष्य को कभी सच्चा मान नही प्राप्त होता, वह सदैव अशान्त रहता है। अहकार से उत्पन्न द्वेष और घृणा का विष मनुष्य के मन, बुद्धि और स्नायुतत्र को तथा देह को नाना प्रकार के रोगो से ग्रस्त कर देता है। मनुष्य के भीतर अहकार के रूप मे बैठा हुआ उसका महान् शत्रु उसे उद्विग्न करता रहता है और उसे असहनशील, कठोर कटु और क्रोधी बना देता है। अहकारी मनुष्य कभी महान् नही हो सकता। महापुरुष स्वय अमानी होकर दूसरो को मान देते हैं।[2] बालक मान ( पुरस्कार आदि ) से प्रोत्साहित तथा अपमान से हतोत्साहित होते हैं, किन्तु परिपक्व

१ निन्दा स्तुति उभय सम, ममता मम पदकज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुन-मन्दिर सुख पुंज ॥

१ एक लोक-कथा है कि एक राजा ने चार विद्वानों से पृथक्-पृथक् बातें कीं और प्रत्येक विद्वान् ने अन्य विद्वानो को बैल जैसा मूर्ख कहा तथा राजा ने भोजन के समय उन चारो के सामने भूसा परोस दिया और कहा—आपके वर्णन के अनुसार ही मैंने खाद्य सामग्री की व्यवस्था की है। चारो विद्वान् अत्यन्त लज्जित हुए।

२ सबहि मान प्रद आपु अमानी।

गीता मे अमानित्व को ज्ञान का प्रथम साधन अथवा ज्ञानी का प्रथम लक्षण कहा गया है ( १३ ७ )। भक्त भी मान-अपमान तथा शत्रु मित्र के प्रति सम रहता है। समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।—गीता, १२ १८ तथा ६.७

पुरुष न मान के भूखे होते है और न अपमान से खिन्न होते है। त्रिगुणातीत पुरुष तो मान-अपमान से बहुत ऊपर उठा रहता है तथा वह सदा एक-रस रहता है।

त्रिगुणातीत मित्र और शत्रु के प्रति भी सम होता है, क्योकि वह राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होता है। वह सबमे ब्रह्म का दर्शन करता है तथा वैर-भाव से सर्वथा मुक्त होता है। वह सबके लिए मगलकामना करता है तथा सद्‌भावनापूर्ण होता है।[1] वैर-भाव मनुष्य को निकृष्ट और कुत्सित बना देता है तथा मनोबल क्षीण कर देता है। न्यायप्रिय एव निष्पक्ष व्यक्ति वैररहित होता है तथा उसका व्यवहार राग-द्वेष पर आधारित नही होता। त्रिगुणातीत पुरुष सर्वथा निर्विकार एव निर्वैर होता है।

त्रिगुणातीत पुरुष सर्वारम्भपरित्यागी होता है अर्थात् वह कर्मो के आरभ ( फल के लिए कर्म करना अथवा मैं कर्म करता हूँ, ऐसा मानकर स्वार्थप्रेरित कर्म करना ) का परित्याग कर देता है।[2] वह प्रभु-प्रेरित होकर सहजभाव से कर्म करता है। साधारण मनुष्य काम-सकल्प से प्रेरित होकर तथा त्रिगुणातीत पुरुष शिवसकल्प से प्रेरित होकर, परमात्माप्रेरित होकर, सहजभाव से कर्म करता है। त्रिगुणातीत पुरुष सर्वथा निरभिमान एव निरहकार होने के कारण तथा निरन्तर परम-ब्रह्म परमात्मा मे सस्थित रहने के कारण जीवन्मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।

**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।**
**स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥**

१. कबिरा खडा बजार मे सबकी मांगे खैर।
ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥
भारतीय सस्कृति इस श्लोक मे प्रतिध्वनित है।
२. गीता, ४.१९

**शब्दार्थ :** च यः मा अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते=और जो मुझे अनन्य भक्तियोग से भजता है, स एतान् गुणान् समतीत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते=वह इन गुणो को सम्यक् प्रकार से पार करके परमानन्दरूप ब्रह्म के साथ ऐक्य के योग्य हो जाता है।

**वचनामृत :** जो पुरुष मुझे अनन्य भक्तियोग से भजता है, वह इन तीनो गुणो को भलीभांति पार कर सच्चिदानन्दघन परब्रह्म को प्राप्त होने के योग्य हो जाता है।

**सन्दर्भ** त्रिगुणातीत पुरुष का वर्णन किया गया है।

**रसामृत :** ज्ञानमार्गी साधक निर्गुण-निराकार चैतन्यस्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करने के लिए ब्रह्म-सम्बन्धी वेद-महावाक्यो ( तत् त्व असि, अह ब्रह्म अस्मि इत्यादि ) का चिन्तन, मनन, निदि-ध्यासन करने से वैराग्यभाव के उदित होने पर 'ब्रह्म ही सत् है, भीतर और बाहर सब-कुछ ब्रह्म ही है', ऐसा अनुभव करते हैं तथा कालान्तर मे चित्त-वृत्ति के ब्रह्माकारा होने पर परम दिव्य चैतन्यस्वरूप परब्रह्म के साथ ऐक्य की दिव्यानु-भूति करते हैं। प्रकृति जड है, सर्वत्र प्रकृति के गुणो का खेल चल रहा है और इससे परे परम-ब्रह्म परमात्मा ही सत् है—ऐसा ज्ञान होने पर मनुष्य प्रकृति के गुणो को लाँघ जाता है और त्रिगुणातीत कहलाता है। त्रिगुणातीत पुरुष परमब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमात्मा के साथ अभिन्न ( एकरूप ) हो जाता है।

भक्त भी अनन्यभक्ति द्वारा प्रकृति के तीन गुणो को पार करके परमात्मा को पार कर लेता है। अनन्यभक्ति मनुष्य के अहकार को विगलित कर देती है। वास्तव मे, अहकार का उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण होना ही उसका विगलित होना है। भगवान् का भक्त अन्तर्यामी प्रभु को मन-मन्दिर मे आसीन करके तथा उसे ही अपना

सर्वस्व मानकर, उसकी पेरणा के अनुसार कर्म करता है, उसे ही कर्मसमर्पण कर देता है। भक्त कभी अकेला नही रहता तथा कभी असहाय नही होता। भक्त प्रभु से कहता है—मैं आपका हूँ और आप मेरे हैं। सगुण ब्रह्मरूप परमेश्वर की अनन्य-भक्ति चित्त को निर्मल कर देती है तथा निर्मल चित्त मे अनायास (विना प्रयास, स्वत ) तत्त्व-ज्ञान का उदय हो जाता है। तत्त्वज्ञानी को कठिनता से प्राप्त होनेवाला ज्ञान भक्त को सरलता से प्राप्त हो जाता है। ज्ञान-मार्ग द्वारा परमब्रह्म परमात्मा मे निरन्तर सस्थित रहना कठिन है, परन्तु भक्ति द्वारा प्रभु के साथ निरन्तर सयुक्त रहना सुगम है। ज्ञान तथा भक्ति परमात्मा की प्राप्ति के लिए वैकल्पिक साधन हैं तथा मनुष्य अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार ज्ञान अथवा भक्ति का आश्रय लेकर भगवत्प्राप्ति कर सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञान का उपदेश देने के पश्चात् अनन्यभक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि भगवान् अनन्यभक्ति द्वारा अत्यन्त सुलभ हैं। अनन्यभक्ति द्वारा सहज ही जीवात्मा और परमेश्वर के एकत्व का वोध हो जाता है।[१]

**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।**
**शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥**

**शब्दार्थ :** अव्ययस्य ब्रह्मण च अमृतस्य च शाश्वतस्य धर्मस्य = अविनाशी ब्रह्म का और अमृत का तथा सनातन धर्म का, च ऐकान्तिकस्य सुखस्य = और आत्यन्तिक (अखण्ड) आनन्द का, अह हि प्रतिष्ठा = सब प्राणियो में अन्तर्यामी रूप से विराजमान परमेश्वर मैं ही आश्रय हूँ।

**वचनामृत :** अविनाशी ब्रह्म का और अमृत का तथा सनातन धर्म का और अखण्ड आनन्द का आश्रय मैं ही हूँ।[२]

सन्दर्भ : परमात्मा परम आधार है।

**रसामृत** भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञान द्वारा प्राप्य त्रिगुणातीत अवस्था सगुण ब्रह्मरूप परमेश्वर की भक्ति से भी प्राप्त हो जाती है तथा साधक को अपना साधना-मार्ग निश्चित करके उसका अनुसरण पूर्ण निष्ठा से करना चाहिए। मायाउपाधि-रहित निर्गुण-निराकार परमात्मा तथा माया शक्तिसहित सगुण परमेश्वर[१] एक ही तो हैं। ज्ञान तथा भक्ति मे किसी एक को ऊँचा अथवा नीचा कहना अविवेक है। केवल अधिकारी-भेद के कारण दोनो मार्गो को पृथक् कहा जाता है, किन्तु गन्तव्य एक ही है। भगवान् अमृतरूप है। भगवान् के साथ एकात्म होकर मनुष्य अमृत-मय हो जाता है। सनातन धर्म का आश्रय भी भगवान् स्वय है। भगवान् धर्म-रक्षक[२] और धर्म-रूप दोनो है। परमानन्द का आधार अथवा आश्रय भी भगवान् स्वय है। सासारिक सुख क्षण-भगुर तथा निस्सार है, किन्तु भगवान् की प्राप्ति का आनन्द दिव्य, अलौकिक तथा अक्षय होता है। भगवान् को अपना सर्वस्व मानकर अनन्यभक्ति करने से मनुष्य चेतना की उच्चावस्था मे स्थित होकर दिव्य हो जाता है।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्याय:।

गुणत्रयविभागयोगनामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

१ गीता के वारहवें अध्याय मे अनन्यभक्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। गीता, १३ १० मे अव्यभिचारिणी भक्ति की चर्चा है।

२. इस श्लोक के विभिन्न अर्थ किये गये हैं। शङ्कर, रामानुज, नीलकण्ठ, मधुसूदन, शङ्करानन्द इत्यादि ने अपने-अपने अर्थ किये हैं।

१ सगुण ब्रह्म के भी दो भेद कहे गये हैं—सगुण-निराकार (सर्वव्यापक, अन्तर्यामी सृष्टि का पालक, सहर्ता आदि) तथा सगुण-साकार (शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, दुर्गा इत्यादि)।

२. गीता, ४.७, ११ १८

## सार-संचय

### चतुर्दश अध्याय: गुणत्रयविभागयोग

भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा एव शिष्य अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए ज्ञान की विवेचना और व्याख्या विभिन्न सन्दर्भों मे करते है तथा ज्ञान-प्राप्ति के साधन और ज्ञानी पुरुषो के लक्षणो की चर्चा भी विस्तारपूर्वक करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति का 'रहस्य परमात्मा की सकल्प-शक्ति मे निहित है। निर्गुण-निराकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमब्रह्म परमात्मा मात्र सकल्प से शक्ति विस्फोट द्वारा सृष्टि की रचना करता है। सृष्टि-रचना करनेवाली ईश्वरीय शक्ति को माया अथवा प्रकृति कहते हैं और शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा को माया-शक्तिसहित होने पर ईश्वर या परमेश्वर कहते हैं। जिस प्रकार क्षेत्र का स्वामी क्षेत्र मे बीज बोकर अन्नादि को उत्पन्न कर लेता है, उसी प्रकार परमात्मा जड प्रकृति मे सकल्प-बीज बोकर सृष्टि उत्पन्न करता है। परम चैतन्य सत्ता के दैवी सकल्प द्वारा जड प्रकृति सचेतन होकर गतिशील हो जाती है। परमेश्वर इस सृष्टि का पिता और परमेश्वरी शक्ति माया माता है। सृष्टि-रचना से पूर्व प्रकृति के तीन गुणो की साम्य एव शान्त अवस्था होती है तथा गुणो की विषमता द्वारा सृष्टि की रचना होती है। प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रज और तम हैं। समस्त सृष्टि त्रिगुण-मयी है। प्राणियो के देह भी त्रिगुणमय हैं। सृष्टि दो प्रकार की है— जड़-सृष्टि ( पर्वत आदि ) तथा चेतन-सृष्टि ( मनुष्य आदि प्राणी )। मनुष्य की प्रकृति ( मनुष्य का स्वभाव ) भी त्रिगुणात्मक है। तीनो गुणो के स्वरूप और फल पृथक्-पृथक् हैं।

सत्त्वगुण गुणो मे सर्वोत्कृष्ट है। सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करनेवाला और निर्दोष है। सत्त्वगुण मनुष्य को सुख का अनुभव कराता है तथा ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न करता है। सत्त्वगुणी ऊर्ध्वगामी होते हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण को अभिभूत करके ( दबाकर ) बढ जाता है तथा मनुष्य को नैतिकता मे स्थिर करके आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख एव प्रेरित करता है।

रजोगुण तृष्णा से उत्पन्न होता है तथा तृष्णा को बढाता है। इनका परस्पर सम्बन्ध है। रजोगुण मनुष्य को कर्म मे प्रवृत्त करता है तथा मनुष्य को चचल बना देता है। रजोगुण सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर बढ जाता है तथा मनुष्य को लोभ, स्वार्थबुद्धि और सासारिक चेष्टा मे लगा देता है। रजोगुण का फल अशान्ति और दुःख है। रजोगुणी मनुष्य मध्यम श्रेणी मे होते हैं। समाज मे अधिकाश मनुष्य रजोगुणी होते हैं।

तमोगुण निकृष्ट होता है। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है तथा अज्ञान को बढाता है। तमोगुण से प्रमाद ( कर्तव्य-पालन मे अवहेलना ) तथा आलस्य उत्पन्न होता है। तमोगुण सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर बढ जाता है। तमोगुण अप्रकाश और अप्रवृत्ति ( कर्म मे अरुचि ) तथा मोह उत्पन्न करता है। तमोगुणी मनुष्य अधोगामी होता है तथा निम्नतम श्रेणी मे होता है। वह पशु के सदृश होता है।

सत्त्वगुण मनुष्य को निर्मल बनाकर सुख एव शान्ति का अनुभव करा देता है तथा मनुष्य को देवतुल्य बना देता है। सत्त्वगुण का अभ्युदय होने पर मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ देह के वातायनो ( झरोखो ) की भाँति प्रकाश प्राप्त करने के द्वार बन जाती हैं और मनुष्य का देह प्रकाशपूर्ण, शान्त एव सुखी हो जाता है। सत्त्वगुणी मनुष्य कठिन परिस्थितियो मे रहकर भी शान्त और शीतल रहता है तथा सम्पर्क मे आनेवाले व्यक्तियो को भी अपने प्रभाव से शान्त एव शीतल कर देता है।

किन्तु यह श्रेष्ठ गुण भी सुख में आसक्ति उत्पन्न कर देता है तथा सुख की आसक्ति के कारण बन्धनकारक हो जाता है। इसके अतिरिक्त सात्त्विकता का सुख अनित्य तथा अपूर्ण होता है तथा गहन तृप्ति नही देता। रजोगुण कर्म तथा कर्मफल की आसक्ति के कारण बन्धनकारी होता है। तमोगुण प्रमाद और मोह के द्वारा बन्धन मे डाल देता है। तमोगुण लोहे के बन्धन के समान है, सत्त्वगुण स्वर्ण के बन्धन के समान है। यद्यपि सत्त्वगुणी पुरुष अपने पवित्र विचार और ऊँचे कर्म के कारण समाज मे श्रेष्ठ होता है, तथापि सत्त्वगुण अन्तिम लक्ष्य नही है। सत्त्वगुण सर्वोत्तम गुण होकर भी अन्तिम सोपान नही है। मनुष्य को सत्त्वगुण से भी ऊपर उठकर, सत्त्वगुण से भी परे जाकर, गुणातीत अर्थात् गुणो से परे एव गुणो से मुक्त, महोच्च अवस्था को प्राप्त करने के लिए साधनरत होना चाहिए। त्रिगुणातीत पुरुष जीवन्मुक्त होकर अमृतमय परमानन्द अवस्था को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है।[1] अर्जुन ने श्रीकृष्ण से त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण बताने के लिए उत्सुकता प्रकट की तथा भगवान् श्रीकृष्ण ने त्रिगुणातीत के लक्षणो का सक्षेप मे वर्णन किया है। वास्तव मे त्रिगुणातीत के लक्षण एक पूर्ण मानव एव पूर्ण सन्त के लक्षण हैं। गीता मे पूर्ण पुरुष अथवा आदर्श पुरुष का वर्णन कई दृष्टियो से हुआ है तथा सभी वर्णनो मे लक्षण-साम्य स्पष्ट है। वास्तव मे विभिन्न मार्गो का गन्तव्य एक ही है तथा साधन की परिपक्वता अथवा पूर्णता होने पर एक ही अवस्था प्राप्त होती है। स्थितप्रज्ञ होने पर कर्मयोगी, अनन्यभक्त होने पर भक्तियोगी तथा तत्त्वज्ञानी होने पर ज्ञानयोगी एक ही परमात्मा को प्राप्त होते हैं तथा उनके लक्षण एक जैसे हैं।[1]

त्रिगुणातीत पुरुष का प्रमुख लक्षण राग द्वेष से विमुक्त होना है तथा किसी गुण के प्रकट होने पर वह न दु ख मानता है और न सुख ही। वह उदासीन अर्थात् राग-द्वेष से विमुक्त होता है तथा किसी गुण का उद्रेक होने पर वह आत्मनिष्ठा से विचलित नही होता। वह जानता है कि सब प्राणियो के भीतर गुणो का परस्पर खेल चल रहा है तथा वह उनमे लिप्त नही होता, जैसे कोई विवेकशील मनुष्य स्वप्न से जागने पर स्वप्न मे लिप्त नही होता। त्रिगुणातीत पुरुष आत्मा के स्वरूप मे स्थित रहने के कारण दु ख-सुख मे सम रहता है। वह प्रतिकूल अथवा अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर प्रभावित नही होता है तथा ऊपर उठा रहता है। उसकी कोई इच्छा अथवा अनिच्छा नही होती, उसे आशा अथवा निराशा विचलित नही करती। त्रिगुणातीत पुरुष के लिए मिट्टी का ढेला, अश्म (पत्थर) तथा काचन (स्वर्ण) एक समान होते हैं। वह भौतिक प्रलो-

१ रामकृष्ण परमहस एक कथा कहते थे। एक मनुष्य जगल मे जा रहा था। तीन चोरो ने उसे घेरकर लूट लिया। एक ने उसे मार देना चाहा, दूसरे ने उसे बचा लिया, किन्तु रस्सी से बाँध दिया और तीनों चले गये। फिर तीसरा लौट आया और उसने उसे मुक्त करके जाने का मार्ग दिखा दिया। यात्री ने उसे धन्यवाद देकर अपने घर चलने की प्रार्थना की, किन्तु उसने अपनी सीमा पार करने में असमर्थता बता दी और तिरोहित हो गया। यह ससार जगल है तथा तीनो गुण चोर हैं। तमोगुण नष्ट करना चाहता है, रजोगुण लोभ आदि से बाँधता है। सत्त्वगुण उसे मुक्त करके भगवान् की प्राप्ति का मार्ग बता देता है, किन्तु वह स्वय ब्रह्म तक नही पहुँच सकता।

१ स्थितप्रज्ञ - लक्षण २ ५५–७२, भक्त - लक्षण १२ १३–१९, त्रिगुणातीत ज्ञानी १४ २२–२५ तथा ज्ञान के साधन एव ज्ञानी के लक्षण १३ ७–११, इसके अतिरिक्त यत्र तत्र भी श्रेष्ठ पुरुषो के लक्षणो की चर्चा है। अध्याय ४ में कर्मयोगी के, अध्याय ५ में सन्यासी के, अध्याय ६ मे ध्यानयोगी के लक्षण हैं तथा अध्याय १६ मे दैवी पुरुष तथा अध्याय १८ मे सिद्ध पुरुष के लक्षण हैं। लगभग सभी एक-से हैं, क्योंकि उच्च शिखर पर पहुँचने पर सबका अनुभव एक ही होता है।

भन से मुक्त होता है। त्रिगुणातीत पुरुष के लिए न कुछ प्रिय होता है और न कुछ अप्रिय। वह धैर्यवान् होता है, उसे निन्दा और प्रशसा विचलित नही करती। त्रिगुणातीत पुरुष मान और अपमान होने पर सम रहता है। उसके लिए कोई मित्र और शत्रु नही होता तथा उसे सारे प्राणी ही एक समान ब्रह्ममय प्रतीत होते हैं। वह फल की दृष्टि से अथवा कर्ताभाव से किसी कर्म का प्रारम्भ नही करता। त्रिगुणातीत पुरुष अहकार-शून्य होता है अर्थात् उसके अहकार का उदात्तीकरण अथवा दिव्यीकरण हो जाता है तथा वह परमात्मा का अगभूत उपकरण हो जाता है। सिद्ध होने पर साधनो का महत्त्व नही रहता। साधन का प्रयोजन साध्य तक पहुँचाने के लिए होता है तथा साध्य-प्राप्ति के बाद साधन बाधक भी हो जाते हैं। ऊपर जाने के लिए सोपान का महत्त्व होता है, किन्तु ऊपर चढकर सीढी को पकड़े रहना अविवेक है। जीवन्मुक्त पुरुष को कोई नियम नही बाँधते। वह भगवान् का यत्र होकर सहजभाव से उत्तम कर्म करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट करते है कि ज्ञानी जिस त्रिगुणातीत अवस्था को ज्ञान द्वारा प्राप्त करता है, भक्त उसे अनन्यभक्ति द्वारा प्राप्त कर लेता है। भगवान् स्वय सनातन धर्म तथा अखण्ड आनन्द का आश्रय है। वास्तव मे निर्गुण और सगुण ब्रह्म एक ही है। सगुण ब्रह्म की उपासना (भक्ति) भी त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त करने का साधन है। त्रिगुणातीत पुरुष पाषण-खण्ड की भाँति निर्जीव एव निष्क्रिय नही होता। वह गुणो के प्रभाव से मुक्त होता है। जो सिद्ध पुरुष के लक्षण हैं, वे ही साधक के लिए साधन हैं, जिनका अभ्यास करने से कालान्तर मे मनुष्य पूर्णता को प्राप्त हो सकता है। आदर्श प्राय एक स्वप्न अथवा कल्पना है, जिसे साकार करना दुष्कर होता है, किन्तु आदर्शरहित जीवनयापन ऐसा ही निरर्थक है, जैसे कि विना लक्ष्य यात्रा करना। आदर्शों के समावेश मे जीवन सोद्देश्य हो जाता है तथा लक्ष्य और मार्ग स्पष्ट हो जाते हैं। आदर्श-रहित जीवन नीरस होता है। आदर्शवान् व्यक्ति ही जीवन मे कुछ उपलब्धि प्राप्त कर सकता है तथा महान् हो सकता है। आदर्श ही मनुष्य को ऊपर उठने अथवा आगे बढने के लिए प्रेरणा देते है।

उत्तम ग्रन्थ तथा महापुरुषो के जीवनवृत्त मनुष्य को जीवन-निर्माण के लिए प्रेरणा देते है। मनुष्य आत्मनिरीक्षण, सकल्प एव अभ्यास द्वारा सद्गुणो का विकास करके जीवन को उज्ज्वल बना सकता है। समय का सदुपयोग, पुरुषार्थ, सत्यनिष्ठा, आहार-विहार मे सावधानता तथा विवेक का आदर मनुष्य के व्यक्तित्व को उदात्त बनाते हैं। वास्तव मे अहकार का क्षीण होना अर्थात् अहकार का उदात्तीकरण अथवा दिव्यीकरण जीवन का परम पुरुषार्थ है।

कर्मयोगी, ज्ञानी और भक्त सिद्धावस्था को प्राप्त होकर परिपक्व फल की भाँति रसपूर्ण हो जाते हैं। कर्म, ज्ञान और भक्ति की पूर्णता अहकार के लोप द्वारा महामानव अथवा सन्त होने मे निहित होती है। सन्त ही समाज मे प्रेम, सेवा, परोपकार, करुणा, क्षमा और त्याग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। समाज के निर्माण मे भगवत्प्राप्त सन्तो की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। त्रिगुणातीत अवस्था अथवा सिद्धावस्था की प्राप्ति की साधना के लिए अपने जीवन-क्षेत्र से पलायन करके निर्जन स्थान मे रहना आवश्यक नही है, यद्यपि साधना-काल मे आत्मचिन्तन के लिए एकान्त-सेवन भी आवश्यक है। ज्ञानी अपने को कर्मों का कर्ता-भोक्ता नही मानता, वह कर्म मे गुणो का खेल देखता है, किन्तु भक्त स्वय निमित्त-मात्र बनकर कर्म का सम्बन्ध भगवान् के साथ जोडता है तथा कर्म के अर्पण द्वारा कर्म-विमुक्त हो जाता है। ज्ञानी ज्ञान द्वारा तथा भक्त भक्ति द्वारा अद्वैत (दो नही है, एक ही है) को सिद्ध कर लेते हैं। यह जगत् ज्ञानी को ब्रह्ममय तथा भक्त को प्रभुमय (राममय, कृष्णमय, शिवमय इत्यादि)

भासता है। निवृत्ति के स्वभाव से युक्त मनुष्य ज्ञान और वैराग्य का तथा प्रवृत्ति के स्वभाव से युक्त मनुष्य कर्म और भक्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं। ज्ञानी चिन्तनप्रधान तथा भक्त भावनाप्रधान होते है। ज्ञानी मे विचार का और भक्त मे प्रेम के अतिशय का प्राधान्य होता है। ज्ञानी कहता है कि परमात्मा का अश जीवात्मा अपने सहज स्वरूप को अथवा अपनी नित्य चैतन्य सत्ता को भूलकर जड देह और भौतिक जगत् मे लिप्त होकर वद्ध एव दु खी हो रहा है तथा वह अन्तर्मुखी होकर आत्मा के दिव्य स्वरूप मे सस्थित होने के लिए साधनरत होता है। भक्त पग-पग पर प्रभु की कृपा का अनुभव करता है तथा मनमन्दिर मे इष्टदेव को विराजमान करके तथा उसे अपना सर्वस्व मानकर उसीके लिए जीवन को जीता है। उसे क्षण-क्षण प्रभु का स्मरण होता है तथा सहज भाव से यदा कदा, 'हे प्रभो, हे कृष्ण, मैं आपका हूँ, आप मेरे हैं' इत्यादि का विस्फोट-सा होता रहता है। ज्ञानी तत्त्वज्ञान द्वारा मायामुक्त होने का प्रयत्न करता है तथा भक्त माया को प्रभु की दासी मानकर प्रभु से ही प्रार्थना करता है।[1] ज्ञानी दु ख-सुख को स्वप्नवत् मिथ्या मानता है, भक्त प्रभु को पुकारकर अपनी समस्या सर्वशक्तिमान् प्रभु को सौंपकर अभय हो जाता है।[2] सारे उपदेश का तात्पर्य यही है कि मनुष्य निर्भय और सवल होकर जीवन की समस्याओ का डटकर सामना करते हुए भगवान् की ओर उन्मुख होता रहे। भयाकुल होकर पलायन करना मनुष्य को कायर और निकृष्ट वना देता है।[1] निर्भय और सवल (मनोवलसम्पन्न) व्यक्ति ही अपनी तथा दूसरो की रक्षा करता है। भगवान् को हृदय मे अवस्थित मानकर, सर्वत्र उपस्थित मानकर तथा परमकृपालु मानकर भक्त खोये हुए आत्मविश्वास को पुन प्राप्त कर लेता है। श्रीकृष्ण अर्जुन के माध्यम से मानवमात्र को अमर सन्देश देते हैं—"साहस वटोरकर, पूर्ण उत्साह से तथा पूर्ण शक्ति से उठ खडा हो, आगे वढ।" जव मनुष्य दृढ निश्चय करके अकेले ही खडा रहने मे समर्थ हो जाता है तथा भगवान् के भरोसे को मन मे सुरक्षित रख लेता है, वह कठिन परिस्थिति मे रहकर भी उससे ऊपर उठ जाता है। अतीत के दु ख और कष्ट को एव अपमान और हानि को भूलकर तथा भविष्य की चिन्ता छोड़कर, वर्तमान मे सन्तोष मानते हुए वर्तमान को श्रेष्ठ समझना चाहिए तथा वर्तमान मे जीना चाहिए। अपने को निकृष्ट और निर्वल माननेवाला व्यक्ति धरती का कलक होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं–राग-द्वेष, मान-अपमान, लाभ-हानि और सुख-दु ख से ऊपर उठकर आगे वढ़ते रहो। तमोगुण से रजोगुण, रजोगुण से सत्त्वगुण और फिर त्रिगुणातीत-अवस्था—यह विकास-क्रम है। कर्म, भक्ति और ज्ञान का गन्तव्य एक ही होता है।

मनुष्य की सारी साधना का अभ्यास और परीक्षण परिवार और पडोस मे होता है। परिवार समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई है तथा उन्नति का श्रेष्ठ सोपान है। परिवार से प्रारम्भ करते हुए सारे विश्व के साथ एकात्मता स्थापित करनी चाहिए।

●

१ सो दासी रघुवीर की।'
'भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा,
उभय हरहि भव सम्भव खेदा।'

२ 'दुर्गम काज जगत के जेते,
सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते।'
'सब सुख लहैं तुम्हारी शरना,
तुम रक्षक काहू को डर ना।'
'नासै रोग हरै सब पीरा,
जपत निरन्तर हनुमत वीरा।'
'संकट कटै मिटै सब पीरा,
'जो सुमिरै हनुमत बलबीरा।'

१ श्री अरविन्द कहते हैं कि सब सत्य का सार केवल यह सत्य है कि निर्वलता से वड़ा पाप अन्य कुछ नहीं है तथा निर्वलता को उखाडने के लिए सारे प्रयत्न होने चाहिए और निर्वलतारूप कुम्भकर्ण को जीतकर ही मनुष्य गौरव से जी सकता है।

# अथ पञ्चदशोऽध्यायः

## पुरुषोत्तमयोग

श्रीभगवानुवाच

**ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।**
**छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥**

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, ऊर्ध्वमूल अधःशाखं अश्वत्थं अव्ययं प्राहुः= ऊर्ध्वमूलवाले और नीचे की ओर शाखावाले ससाररूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहा है, यस्य छन्दांसि पर्णानि=जिसके छन्द पत्ते हैं, तं य. वेद सः वेदवित्=उसे जो जानता है, वह वेद के तत्त्व को जानता है ।

**वचनामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा . परमेश्वररूप ऊर्ध्वमूलवाले तथा नीचे की ओर शाखावाले अश्वत्थ के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं, जिसके छन्द ( वेद ) पत्ते हैं । इस ससाररूप वृक्ष को जो जानता है, वह वेद के तत्त्व को जानता है ।

**सन्दर्भ :** भगवान् श्रीकृष्ण ससाररूप वृक्ष का वर्णन करते हैं ।[1]

**रसामृत** यह ससार एक अश्वत्थ वृक्ष की भाँति है । सभी वृक्षो का मूल नीचे होता है, किन्तु इस अलौकिक ससार-वृक्ष का मूल अर्थात् इसका कारण ऊपर है । सभी वृक्षो की शाखाएँ ऊपर की ओर उठती हैं, किन्तु इसकी शाखाएँ नीचे की ओर लटकी हुई हैं । सभी वृक्ष नश्वर होते है, किंतु यह अनश्वर है । इसके पर्ण ( पत्ते ) स्वय वेद है । इस वृक्ष को समझ लेनेवाला मनुष्य वेद को जान लेता है ।

अश्वत्थ[1] ( पीपल ) को सात्त्विक वृक्ष माना गया है और अत्यन्त रहस्यमय गुणो के कारण इसे देव-वृक्ष भी कहा जाता है । ससार पवित्र पीपल के सदृश है । जैसे पीपल देवताओ के निवास के कारण पवित्र है, वैसे ही ससार भी परमात्मा से व्याप्त होने के कारण पवित्र है । परिवर्तनशील होने के कारण भी ससार को अश्वत्थ कहते हैं । संसार का मूल अथवा इसका कारण अव्यक्तमायाशक्तियुक्त परमेश्वर स्वय है । परमात्मा प्रकृति अथवा जड-जगत् का स्वामी होने के कारण इससे ऊपर स्थित है । परमात्मा की सत्ता सर्वोपरि है तथा प्रकृति अधः ( नीचे ) है । इसी कारण ससार-वृक्ष को ऊर्ध्वमूल अर्थात् ऊपर की ओर मूलवाला कहा गया है । स्थूल जगत् का मूल अत्यन्त सूक्ष्म एव अविज्ञेय चैतन्यस्वरूप परमात्मा है । ऊर्ध्वमूल कहने का अर्थ है कि ससाररूप वृक्ष का जन्मदाता इसके

---

१ इस श्लोक का अर्थ अनेक प्रकार से किया गया है । कुछ विद्वानो ने अत्यन्त जटिल अर्थ किया है ।

यह कठोपनिषद् के इस श्लोक का रूपान्तर है 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ. सनातनः' इत्यादि ( २ ३.१ )

तुलसीदासजी ने भी 'ससार विटप' ( उत्तरकाण्ड ) का रूपक प्रस्तुत किया है ।

१ अश्वत्थ का अर्थ अनित्य ( श्व–कल, श्वत्थ–कल तक टिकनेवाला, अश्वत्थ–कल तक भी न टिकनेवाला अर्थात् परिवर्तनशील ) भी किया गया है । ससार 'अश्वत्थ' है अर्थात् परिवर्तनशील है ।

ऊर्ध्व मे स्थित है तथा ससार-वृक्ष उसके नियत्रण मे है। ऊर्ध्वमूलक ससार की शाखाएँ नीचे की ओर है। पचमहाभूत ( आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ) तथा उनके विषय ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ), ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और बुद्धि, मन, अहकार आदि इसीकी शाखाएँ हैं। यह ससार-वृक्ष परिवर्तनशील, नाशवान् और अनित्य होकर भी अपने प्रवाह की निरन्तरता के कारण अविनाशी कहलाता है। इसका बीज अविनाशी होने के कारण भी इसे अविनाशी कहा जाता है। परमार्थ-दृष्टि से ससार नश्वर एव मिथ्या है। जिस प्रकार पत्ते वृक्ष की शोभा होते हैं तथा पत्तो के द्वारा वृक्ष वायुभक्षण करके जीवित रहते हैं, विकसित होते हैं, उसी प्रकार वेदो के छन्द अर्थात् वैदिक ( आध्यात्मिक ) ज्ञान के द्वारा ही ससार-वृक्ष की रक्षा होती है तथा उसका जीवन चलता है। यह ससार एक जीवित शरीर की भाँति है तथा मानव-देह इस ससार-वृक्ष का प्रतीक है। मनुष्य का शीर्ष ही मानव-देह का मूल एव जीवन का स्रोत है। तत्र की दृष्टि से मानव-देह को वृक्ष कहना अत्यन्त सार्थक है। जो मनुष्य ससार वृक्ष को सम्यक्रूपेण जानता है अर्थात् इसके कारण और स्वरूप को जानता है, वही वेदो का तात्पर्य जानता है। मात्र वेद-पाठ करना महत्त्वपूर्ण नही होता। जिस प्रकार वृक्ष को सम्यक् प्रकार से जानने के लिए उसके मूल को जानना अत्यन्त आवश्यक होता है, उसी प्रकार ससार का रहस्य जानने के लिए चैतन्यस्वरूप परमात्मा तथा उसकी अव्यक्त माया-शक्ति ( प्रकृति ) को जानना अत्यन्त आवश्यक है। परमात्मा को जानने से सब-कुछ जान लिया जाता है। ससार को एक वृक्ष की दृष्टि से देखने पर ससार-वृक्ष के जन्मदाता, पोषक, धारक और विनाशक को जानने की इच्छा ( जिज्ञासा ) उत्पन्न होती है। यह ससार कैसे उत्पन्न हुआ ? इसका यथार्थ स्वरूप क्या है ?

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

**शब्दार्थ :** तस्य गुणप्रवृद्धा. विषयप्रवाला शाखा अधः च ऊर्ध्वं प्रसृता = उस ससार-वृक्ष की गुणों से प्रवृद्ध ( सत्त्व, रज तथा तम तीनो गुणो से बढी हुई ) तथा विषयरूप भोग-प्रवाल ( कोपल ) वाली शाखाएँ ( देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतग आदि ) नीचे और ऊपर फैली हुई हैं, मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि मूलानि अध· च अनुसंततानि = मनुष्यलोक मे कर्म के अनुसार बधनकारी मूलें ( कामना, वासना, ममत्व इत्यादि ) नीचे की ओर भी फैली हुई हैं।

**वचनामृत .** उस ससार-वृक्ष की तीन गुणो से बढी हुई और विषयरूप कोपलोवाली शाखाएँ नीचे और ऊपर विस्तृत हैं तथा मनुष्यलोक मे नीचे भी कर्म के अनुसार बधन मे डालनेवाली जडें ( कामना, वासना इत्यादि जडें ) फैली हुई हैं।

**सन्दर्भ** ससार-वृक्ष का वर्णन किया जा रहा है।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ससार को वृक्ष की उपमा देकर इस ससाररूप वृक्ष की शाखाओं, कोपलो और बन्धनकारी मूलो के स्वरूप को समझा रहे हैं। प्रकृति के तीन गुण ( सत्त्व, रज और तम ) ससार-वृक्ष की शाखाओ का अर्थात् देव, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि योनियो का विस्तार करते हैं।

अनेक विषयभोग इस ससार-वृक्ष पर सुन्दर प्रतीत होनेवाली मनोमोहक कोपलो के समान हैं। समस्त विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के अन्तर्गत ही है। ससार विषयो से ही-बना हुआ है, विषय ही ससार के आकर्षण हैं।

ससार का परममूल तो परमेश्वर है, किन्तु प्राणियो के अन्त करण में व्याप्त होनेवाली भोग्य विषयो की कामना, वासना आदि बन्धन मे डालने-वाली निकृष्ट मूल अथवा निकृष्ट कारण हैं।

संसार मे भोग्य विषयो, इन्द्रियो और तीन गुणो के होने से ही ससार चलता और आगे वढता है। तृष्णा आदि कामना के सूक्ष्म रूप मनुष्य के मन और वुद्धि को ग्रस्त कर लेते हैं तथा बन्धनकारक अर्थात् दुःख-सुख देनेवाले होते है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता मे प्रारम्भ से अन्त तक अनेक प्रकार से कामना का उच्छेद करने का उपदेश देते हैं। कामना का उच्छेद परमातमा को प्राप्त होने का अनिवार्य एव आवश्यक साधन है।

> न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
> नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
> अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
> मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
> ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
> यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
> तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
> यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

**शब्दार्थ :** अस्य रूपं तथा इह न उपलभ्यते ( यत. ) न आदि च न अन्तः च न सप्रतिष्ठा = इस ससार वृक्ष का रूप जैसा कहा गया है वैसा यहां नही मिलता[1], ( क्योकि ) न इसका आदि है और न अन्त है तथा न इसकी ठीक स्थिति अथवा मध्य है, एनं सुविरूढमूल अश्वत्थं दृढेन असङ्गशस्त्रेण छित्त्वा = इस वासना आदि अत्यन्त दृढ मूल-वाले ससाररूप अश्वत्थ वृक्ष को दृढ वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा काटकर। तत. तद् पदं परिमार्गितव्य = उसके वाद उस परमपदरूप परमेश्वर को अच्छी प्रकार खोजना चाहिए, यस्मिन् गता भूय न निवर्तन्ति = जिसमे गये हुए मनुष्य पुन नही लौटते, च यत पुराणी प्रवृत्ति प्रसृता तं एव आद्यं पुरुष प्रपद्ये = और जिस ( परमेश्वर ) से ससार-वृक्ष की पुरातन प्रवृत्ति ( ससार-वृक्ष की परम्परा ) विस्तृत होकर चली आयी है, उसी आदिपुरुष परमेश्वर की शरण हूँ—ऐसा भाव करके परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए।

**वचनामृत** : इस ससार-वृक्ष का रूप ( जैसा कहा गया है ) वैसा यहाँ ( यथार्थ विचार करने पर ) उपलब्ध नही होता, क्योकि न इसका आदि दीखता है, न अन्त ही और न इसकी अच्छी प्रकार से स्थिति ही है। इस बद्धमूल ( वासनारूप अत्यन्त दृढ मूलवाले ) ससाररूप अश्वत्थ वृक्ष को दृढ वैराग्यरूपी शस्त्र से काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वर को अच्छी प्रकार खोजना चाहिए, जिसमे गये हुए पुरुष पुन लौटकर नही आते और जिस परमेश्वर से ससार-वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तृत हुई है, उसी आदिपुरुष परमेश्वर की शरण हूँ, ऐसी भावना से परमेश्वर का अनुसन्धान अथवा उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

**सन्दर्भ** ससाररूप वृक्ष को वैराग्यरूप शस्त्र से काटकर भगवान् की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

**रसामृत** . ससार-वृक्ष का स्वरूप वैसा नही प्रतीत होता, जैसा वर्णित है। ससार का यथार्थ स्वरूप जानना अत्यन्त दुष्कर है। अज्ञानी तथा ज्ञानी की दृष्टि मे भेद होने से ससार भिन्न प्रतीत होता है। इस ससार का कही आदि, अन्त और मध्य नही दीखता। ज्ञानी की दृष्टि मे संसार मृग-मरीचिका ( मरुभूमि मे मृग-जल ) के समान मिथ्या एव अयथार्थ है,[1] किन्तु वासना, ममत्व आदि

---

१ 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' का अर्थ अनेक प्रकार से किया गया है—इसका रूप वैसा विवेकी को विचार करने पर नहीं दीखता, जैसा पहले श्लोकों मे कहा गया है अथवा इसका रूप अविद्याग्रस्त मनुष्य को वैसा नहीं दीखता, जैसे पहले कहा गया है। तात्पर्य एक ही है कि ससार का यथार्थ रूप समझना कठिन है।

१ मरुभूमि ( रेतीली भूमि ) मे सूर्य की किरणो का वालू से स्पर्श होने पर दूर से जल का भ्रम उत्पन्न हो जाता है तथा जल की तृष्णा से मृग उसकी ओर दौड़कर आता है और वहां जल न मिलने पर निराश होता है, किन्तु उसे पुन कही दूर जल होने की भ्रान्ति ग्रस्त कर लेती है और वह फिर निराश ही होता है। मरुभूमि मे जल नहीं होता, किन्तु जल की प्रतीति होती है तथा तृष्णा के कारण मृग भ्रमित हो जाता है। संसार असत्

अत्यन्त बद्धमूल होने के कारण कष्ट एव क्लेश देते रहते हैं। भव-बन्धन ( ससार के दु खादि का बन्धन ) से मुक्त होने के लिए ससार-वृक्ष का वैराग्य के शस्त्रो से छेदन कर देना चाहिए अर्थात् ससार के भोग्य विषयो के प्रति आसक्ति का त्याग करने पर ज्ञानी की दृष्टि मे ससार का स्वरूप बदल जाता है। वैराग्य द्वारा अज्ञान एव आसक्ति के बन्धन को काटने पर आध्यात्मिक मार्ग और उसका लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है। वैराग्य होने पर सत्स्वरूप भगवान् को जानने की इच्छा जाग्रत हो जाती है, उसे प्राप्त होने का मार्ग प्रकट हो जाता है। वैराग्य का वास्तविक अर्थ है तत्त्वचिन्तन द्वारा आत्म और अनात्म ( चैतन्य और जड़, दिव्य और भौतिक, सद् और असद् ) का भेद करने का विवेक होना तथा भौतिक पदार्थों के प्रति अनासक्त होना। कामना एव वासना की जड इतनी गहरी और प्रवल होती है कि तीक्ष्ण वैराग्य-शस्त्र ही उसे काट सकता है।

प्रवल जिज्ञासा से प्रेरित होकर अनुसन्धान करने पर परमपुरुष परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है।[1] परमात्मा को प्राप्त होना ऐसा परमपद है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। परमात्मा अपनी माया-शक्ति से ससार की सरचना करता है तथा उसी आदिपुरुष से ससार-वृक्ष की प्रवृत्ति ( परम्परा ) प्रवाहित एव प्रसृत ( विस्तृत ) हो रही है। उसकी शरण मे जाकर ही मनुष्य कृतार्थ होता है। भौतिक जीवन निस्सार है तथा क्षणिक सुख प्रदान कर सकता है। दिव्य जीवन ही सारमय है तथा अक्षय आनन्द मे सस्थित होकर कृतकृत्य हो जाता है। दिव्य आनन्द अलौकिक एव अनिर्वचनीय है। भगवान् की शरण मे जाने पर अहकार क्षीण होने से ( अर्थात् अहकार के भौतिक राग से मुक्त होने से ) अहंकार का उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण हो जाता है—अहकार दिव्य एव प्रभुमय हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता मे प्रारम्भ से अन्त तक विभिन्न स्थलो पर विभिन्न प्रकार से वैराग्य अर्थात् ससार के भौतिक पदार्थों ( भोग्य विषयो ) के प्रति अनासक्त होने तथा भौतिक स्तर से ऊपर उठकर चैतन्यस्वरूप परमात्मा के साथ ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा एकात्म होने का उपदेश देते हैं।[1] मन निर्विषय होकर ( अर्थात् विषयो के प्रलोभन से छूटकर ) वैराग्यवान् एव अनासक्त हो जाता है। अनासक्ति ही ज्ञान, कर्म और भक्ति का आधार है।

**निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा**
**अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा. ।**
**द्वन्द्वैर्विमुक्ता. सुखदुःखसंज्ञै-**
**र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥**

**शब्दार्थ : निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा·**=मान और मोह निर्गत हो गया है जिनका, जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिन्होंने, जो निरन्तर अध्यात्म मे स्थित हैं, भली प्रकार निवृत्त हो गयी है कामना जिनकी, **सुखदु खसज्ञै द्वन्द्वैः विमुक्ता** =

है तथा ससार के भोग्य विषय आनन्दप्रद प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में वे निस्सार हैं। केवल ब्रह्म सत् है तथा आनन्दस्वरूप है। इन्द्रिय-स्तर पर ससार की प्रतीति होती है, किन्तु अनुभूति के स्तर पर ससार का अस्तित्व नहीं रहता। ससार स्वप्न की भाँति मिथ्या है। ससार को सत् मानना अज्ञान-निद्रा है तथा उसे असत् और केवल परमात्मा को सत् मानना जागरण है।

१. **सोऽन्वेष्टव्य. स विजिज्ञासितव्यः** अर्थात् वह ब्रह्म खोजने के योग्य और जिज्ञासा के योग्य है।

'पुरुष' का अर्थ है पुरी ( शरीर ) में शयन ( निवास ) करके विद्यमान जीवात्मा एवं परमात्मा।

१ इस श्लोक की टीका मे महात्मा गाधी कहते हैं "जब तक मनुष्य विषयो से असहयोग न करे, उनके प्रलोभनों से दूर न रहे तब तक वह उनमें फँसता ही रहेगा। इस श्लोक का आशय यह है कि विषयो के खेल खेलना और उनसे अछूता रहना, यह अनहोनी ( कठिन ) बात है।" मनुष्य विषयों से अनासक्त होकर ही आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है।

सुख-दु खनामक द्वन्द्वो से विमुक्त हुए, **अमूढा** =विवेकी पुरुष, **तत् अव्ययं पदं गच्छन्ति**=उस अविनाशी परमपद को जाते हैं ( प्राप्त होते हैं )।

**वचनामृत** मान और मोह से विमुक्त, आसक्ति-दोष को जीत लेनेवाले, आध्यात्मिक भाव में ( परमात्मा के भाव मे ) स्थित, कामना से विशेष प्रकार से मुक्त, दु ख-सुखनामक द्वन्द्वो से विमुक्त, ज्ञान-युक्त विवेकीजन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त करते है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण इस श्लोक मे परमपद प्राप्त करनेवाले पुरुषो का विस्तारपूर्वक वर्णन करते है। यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत** श्रीकृष्ण ने गीता मे अनेक स्थलो पर तथा अनेक प्रकार से अहकार ( अर्थात् अपने को अन्य जन की अपेक्षा अधिक गुणवान्, शक्तिशाली, समृद्ध अथवा कुलीन आदि मानना ) को एक महा-दोष कहा है[1] तथा निरहकार होने का उपदेश किया है। दान, पुण्य, तीर्थयात्रा, तप, पूजा-पाठ तथा ज्ञान-सचय करके भी प्राय मनुष्य अभिमान से मुक्त नही हो पाता। 'मेरा सर्वत्र सम्मान हो यह इच्छा और आशा सदैव पूर्ण नही हो सकती तथा निराशा उत्पन्न कर देती है। यह लालसा दूसरो के प्रति द्वेष भी उत्पन्न कर देती है।[2] मान-बडाई की इच्छा नितान्त त्याज्य है। मान, बडाई और प्रतिष्ठा की इच्छा का त्याग करके निरहकार होने पर ही मनुष्य नम्र एव शान्त हो सकता है। अह-कारी मनुष्य नम्रता का दभ करता है, द्वेषमुक्त नही होता और कभी गहन शान्ति का अनुभव नही करता। श्रेष्ठ कर्म करने पर भी मन मे अहकार उत्पन्न न होने देना अत्यन्त कठिन है। अन्य जन से अपनी उत्तमता की प्रशसा की इच्छा होना स्वाभाविक दोष है। प्रभु-कृपा से ही उत्तम कार्य सम्पन्न होता है तथा मनुष्य निमित्तमात्र है, ऐसी निष्ठा भक्त को अहकार-विमुक्त कर देती है। ज्ञानी पुरुष देह-बुद्धि का त्याग करके ( मैं देह हूँ, ऐसा अभिमान त्याग करके ) ज्ञान एव वैराग्य द्वारा अहकार से मुक्त हो जाता है।

मोह का अर्थ अज्ञान और अविवेक है। मनुष्य भौतिक धन-सम्पदा, वैभव, सत्ता, जाति, कुल, गुण आदि पर आधारित बड़प्पन की भावना से युक्त होकर उनकी सुरक्षा के लिए चिन्ता और भय से ग्रस्त हो जाता है। मान और मोह मनुष्य को दु:ख देते हैं। निर्मानमोह पुरुष धन्य होता है।

सङ्ग का अर्थ है आसक्ति, भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति तथा ममत्व ( ये मेरे हैं, यह अधि-कारपूर्ण भावना )।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को आसक्ति पर विजय पाने के लिए अर्थात् अनासक्त होने के लिए उपदेश देते है।[1] अनासक्ति गीता के उपदेश का मुख्य प्रतिपाद्य है। यद्यपि दोष अनेक है, तथापि सग अर्थात् आसक्ति प्रमुख दोष है, जो मन को दूषित एव दुर्बल कर देता है। मनुष्य आसक्ति-दोष को जीतकर ही सुख-दु ख आदि से विमुक्त होता है। अध्यात्मरत अर्थात् परमात्मा के भाव मे स्थित पुरुष भौतिक बन्धन से ऊपर उठ जाता है। अध्यात्म-वृत्ति-वाले पुरुष अभ्यास द्वारा निर्मानमोह और जितसङ्ग-दोष हो जाते है। अध्यात्म-भाव मे स्थित होकर ही मनुष्य भौतिक कामना से विनिवृत्त अर्थात् विमुक्त होते है। वासना, तृष्णा, स्पृहा, लालसा इत्यादि कामना के ही विभिन्न रूप हैं।

शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय, मित्र-शत्रु, इष्ट-अनिष्ट, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा आदि समस्त द्वन्द्व राग-द्वेष से उत्पन्न होते हैं तथा इन द्वन्द्वो का

---

१ गीता, २ ७१, ६ ७, १२.१३ १२.१८ इत्यादि।

२ महाकवि मिल्टन ने मान, बडाई, इच्छा को सात्त्विक पुरुष का अन्तिम दोष कहा है।

१. गीता, २.७१, ३.१९, १३.९ इत्यादि। सग उत्पन्न होने का कारण गीता ( २.६२, ६३ ) मे स्पष्ट किया गया है।

प्रभाव हर्ष-शोक अथवा सुख-दु ख होता है ।[1] राग ( आसक्ति ) से कामना उत्पन्न होती है तथा कामना के अनुकूल परिस्थिति मे सुख और कामना के प्रतिकूल परिस्थिति मे दु ख का अनुभव होता है ।

वास्तव मे विमूढभाव अर्थात् मोह एव अज्ञान का त्याग करने पर तथा परमात्मा के स्वरूप मे स्थित होकर मनुष्य शाश्वत पद प्राप्त कर लेता है, कृतकृत्य हो जाता है ।

**न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक. ।**
**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥**

**शब्दार्थ :** तत् न सूर्यः भासयते न शशाङ्क न पावक =उसको ( परमात्मास्वरूप परमपद को ) न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा, न अग्नि, यत् गत्वा न निवर्तन्ते=जिस परमपद को प्राप्त होकर ( मनुष्य ) नहीं लौटता, तत् मम परमं धाम=वह मेरा परमपद अथवा धाम है ।[2]

**वचनामृत .** परमात्मास्वरूप परमपद को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि । जिसे ( परमपद को ) प्राप्त होकर मनुष्य लौटता नही है, वह मेरा परमधाम है ।[3]

---

१ गीता, ४ २२, ७ २७, २८ इत्यादि मे द्वन्द्वो की चर्चा है तथा २ १४, १५, ३८, ५६, ५७ तथा ६ ७, १२ १३, १५, १७, १८ इत्यादि मे दु ख-सुख द्वन्द्व की चर्चा है ।

२ य प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम ।
—गीता, ८ २१

इस छठे श्लोक का अन्वय भिन्न प्रकार से भी किया गया है ।

३. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि· ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥
—कठ उप०, २.२ १५

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण परमपद की व्याख्या करते हैं । यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है ।

**रसामृत .** परमात्मा स्वयप्रकाश है तथा वह किसी अन्य प्रकाश से प्रकाशित नही होता । परमात्मा दिव्य तेजोमय है और उसके तेज का दर्शन चर्म-चक्षुओ मे होना सभव नही है । परमात्मा ज्योतिस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है । परमात्मा चैतन्य स्वरूप है और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है । योगी चैतन्य-स्वरूप परमात्मा की अनुभूति एक ऐसे दिव्य, अचिन्त्य एव अनिर्वचनीय प्रकाश के रूप मे करते हैं, जिसकी तुलना ससार के सूर्य-चन्द्र-विद्युत् आदि की दीप्ति से कदापि नही की जा सकती । सूर्य-चन्द्र आदि जड है तथा वे उसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं । उसे चक्षु मे नही देखा जा सकता ।[1] उसका दर्शन दिव्यदृष्टि अथवा अन्तश्चक्षु से हो सकता है । सूर्य आदि जड वस्तुओ का प्रकाश परम चैतन्य के प्रकाश की तुलना मे अत्यन्त तुच्छ है । वास्तव मे वह केवल अनुभूति का विषय है तथा वर्णन से सर्वथा परे है । आत्म-ज्योति के दिव्य आलोक की अनुभूति अकथ्य होती है । परमात्मा का पद अर्थात् परमात्मा का स्वरूप ऐसा ज्योतिर्मय[2] है, जिसे प्राप्त होने पर मनुष्य जन्म, मरण, जरा और दु.ख से मुक्त होकर परमानन्द-स्वरूप हो जाता है ।

---

—उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा, न तारे और न ये विद्युत्, और अग्नि की तो बात ही क्या ? उसके प्रकाशित होने से वे प्रकाशित होते हैं तथा उसके प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित होता है । 'जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू ।'

१ न तत्र चक्षुर्गच्छति', 'न चक्षुषा गृह्यते ।' अर्थात् उसे नेत्र नही देख सकते ।

'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरम्'—वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है । जड पदार्थ स्थूल होते हैं तथा चैतन्य तत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म है ।

२. यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति

**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**
**मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥**

**शब्दार्थ :** जीवलोके जीवभूत. मम एव सनातनः अंश =जीवलोक मे ( समार मे अथवा जीवात्मा के निवासस्थान देह मे ) जीवात्मा मेरा ही सनातन ( शाश्वत ) अश है, ( अथवा जीवलोक मे जीवात्मा सनातन है, क्योकि मेरा ही अश है ) **प्रकृतिस्थानि मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि कर्षति**=प्रकृति ( माया ) मे स्थित इन्द्रियो को मन जिनमे छठा है, आकर्षित करता है।

**वचनामृत** जीवलोक मे जीवात्मा मेरा ही सनातन अश है तथा वह प्रकृति मे स्थित इन्द्रियो को ( मन जिनमे छठा है ) आकर्षित करता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं। यह श्लोक गीता के अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोको मे से एक है तथा इसका उद्धरण प्राय दिया जाता है। इसे कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत :** इस समस्त जगत् की उत्पत्ति करनेवाला, पोषक और सहर्ता परमब्रह्म परमात्मा एक है, अखण्ड है, एकरस है तथा पूर्ण[१] है। आत्मा अखण्ड चैतन्यस्वरूप परमात्मा का अश है, उससे अभिन्न है तथा उसकी पृथक् सत्ता नही है।[१] जिस प्रकार महाकाश और घटाकाश ( घट के भीतर आकाश ) मे अभेद है, उसी प्रकार परमात्मा और आत्मा मे अभेद है। यह परमात्मा और आत्मा की अभिन्नता अथवा अद्वैत है। यथार्थ स्वरूप की दृष्टि से दोनो एक हैं। परमात्मा ही देह के भीतर आत्मा है, जैसे महाकाश घट के भीतर घटाकाश है। समुद्र और तरग, मिट्टी तथा घट स्वर्ण और स्वर्णमुकुट तथा सूर्य और किरण की भाँति दोनों तत्त्वतः एक हैं। अशी और अश एक होते है। जिस प्रकार विभिन्न घटो मे एक ही अविभक्त आकाश है अथवा एक ही मिट्टी है, उसी प्रकार अनन्त देहो मे विभक्त प्रतीत होनेवाला परमात्मा अविभक्त, एक है। परमात्मा प्रकृति अथवा मायाशक्ति से सृष्टि की रचना करता है। सृष्टि दो प्रकार की है—जड तथा चेतन। जड का आधार भी चेतन है। प्राणी मे जड देह और चेतन आत्मा दोनो है। जड के साथ चेतन का सयोग होने पर गति, क्रिया, विकास आदि सभव होते हैं। चेतन तत्त्व के निकल जाने पर देह जड रह जाता है। आत्मा के सस्पर्श से देह मे चेतनता तथा जीवन का उदय होता है तथा आत्मा के पृथक् होने पर देह चेतनारहित अथवा निर्जीव हो जाता है। आत्मा ही चेतना और जीवन का स्रोत है। जिस प्रकार ब्रह्म सारे ब्रह्माण्ड मे ( अथवा विश्वात्मा सारे विश्व मे ) ओतप्रोत ( सर्वत्र व्याप्त ) है, उसी प्रकार आत्मा देह मे ओतप्रोत है।

शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमब्रह्म परमात्मा ही माया शक्तिसहित होने पर सृष्टि का कर्ता, पोषक और धारक, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी परम ईश्वर कहलाता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा का अभिन्न अश शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही

---

**यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ।**

—बृहत् जाबाल उप० ८.६

—परमात्मा का पद ऐसा है कि जहाँ सूय नही तपता, वायु नही बहता, चन्द्र प्रकाशित नही होता, तारागण नहीं चमकते, अग्नि नही जलाता, मृत्यु प्रवेश नही करती, दुःख प्रवेश नही करते, जहाँ जाकर योगी नही लौटते। वह सदानन्द परमानन्द शान्त शाश्वत सदा शिवस्वरूप ब्रह्मादि से वन्दित योगियो का ध्येय परमपद है।

१ **पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।**
**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥**

—वह परमब्रह्म पूर्ण है और यह ( कार्य ब्रह्म ) भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही शेष रहता है।

---

**१. ईश्वर अश जीव अविनासी,**
**चेतन अमल सहज सुखरासी।**

माया से आवृत होने पर कर्मों का कर्ता तथा सुख-दु ख का भोक्ता जीव अथवा जीवात्मा कहलाता है। माया के आवरण से मुक्त जीवात्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप परमात्मा ही है, जैसे भूमि पर गिरा हुआ गन्दा जल शुद्ध होने पर मेघ-जल से अभिन्न है अथवा वही है।[1] जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के सूखने पर सूर्य मे ही विलीन हो जाता है अथवा मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण के नष्ट हो जाने पर मुख मे ही समा जाता है, उसी प्रकार अज्ञान हटने पर आत्मा परमात्मा मे विलीन हो जाता है तथा पुन नही लौटता। ब्रह्मलीन ज्ञानी का पुनर्जन्म नही होता ।

इन्द्रियाँ प्रकृति का कार्य अर्थात् प्रकृति द्वारा निर्मित है। मनुष्य की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा उन्हे प्रेरित करनेवाला मन मनुष्य को विषयो की ओर आकर्षित करते है और भौतिक पदार्थों का सम्पर्क एव अनुभव कराते है। जीवात्मा देह मे स्थित होकर प्रकृति से उत्पन्न इन्द्रियो तथा मन को अपनी ओर खीचता है। जीवात्मा अज्ञानवश अपने सहज स्वरूप को भूलकर देह, इन्द्रियो और मन के साथ एकात्म होकर, उनके व्यापार को अपना मान लेता है तथा उनके कर्म और फल मे लिप्त हो जाता है। बद्ध जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप है तथा ज्ञानी इसकी अनुभूति द्वारा कृतार्थ हो जाते हैं। ज्ञानी पुरुष भौतिक स्तर से ऊपर उठकर अपने भीतर विश्व-चेतना के साथ एकात्म होकर परमानन्द की अनुभूति कर लेते हैं। यही मानव-जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि है।

**शरीर यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर. ।**
**गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥**

**शब्दार्थ .** वायु आशयात् गन्धान् इव ईश्वर अपि यत् ( देह ) उत्क्रामति—वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही ईश्वर अर्थात् जीवात्मा भी जिस पूर्व देह को त्याग देता है, ( तस्मात् ) एतानि गृहीत्वा च यत् शरीर अवाप्नोति ( तस्मिन् ) सयाति—उससे इन्हे ( इन्द्रियो तथा मन को ) ग्रहण करके फिर जिस देह को प्राप्त होता है, उसमे जाता है।[1]

वचनामृत वायु जैसे गन्ध के आशय ( स्थान ) से गन्ध को आकर्षित करके ले जाता है, वैसे ही जीवात्मा भी जिस स्थूल देह को त्याग देता है, उससे इन मन और इन्द्रियो को आकर्षित करके उस नये स्थूल देह मे चला जाता है, जिसे वह प्राप्त करता है।

सन्दर्भ देह-त्याग होने पर जीवात्मा पूर्व-देह से नवीन देह मे मन तथा इन्द्रियो के सहित जाता है।

रसामृत . जीवात्मा देह का ईश्वर अर्थात् स्वामी है। जब मनुष्य की मृत्यु होती है तो जीवात्मा पुराना स्थूल देह छोडकर नया स्थूल देह ग्रहण कर लेता है।[2] जीवात्मा के साथ उसका सूक्ष्म शरीर भी नये स्थूल देह मे प्रवेश करता है। मन, अहकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच प्राण इन सत्रह तत्त्वो का सघात सूक्ष्म शरीर कहलाता है।[3] मृत्यु के समय जीवात्मा इस स्थूल देह के भीतर स्थित सूक्ष्म शरीर को अपने साथ ही इस प्रकार लेकर चलता है, जैसे वायु पुष्प, चन्दन आदि की गन्ध को लेकर चलता है। जीवात्मा

---

१ "भूमि परत भा ढाबर पानी,
जनु जीवहि माया लपटानी।"

इस श्लोक के अनेक अन्वय किये गये हैं।

२ गीता, २ २२।

मनुष्य के तीन शरीर होते हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर ( अथवा लिंग शरीर ) तथा कारण शरीर। स्थूल शरीर मृत्यु होने पर नष्ट होता है। सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के साथ नये शरीर मे जाता है।

३ यद्यपि बुद्धि, मन, चित्त और अहकार को अन्त -करण कहा जाता है, तथापि सूक्ष्म देह के सन्दर्भ मे मन और बुद्धि अथवा मन और अहकार को अथवा केवल मन को अन्त करण मान लिया जाता है। इस प्रकार सूक्ष्म देह के तत्त्व हैं अन्त करण ( अर्थात् मन और

पाप-पुण्य आदि के सगृहीत सस्कारो से युक्त अन्त -करण को नये स्थूल देह मे ले जाता है। इस प्रकार मनुष्य मृत्यु होने पर सब कुछ यही छोड जाता है, किन्तु पाप-पुण्य की गठरी साथ लेकर जाता है तथा पूर्वजन्म मे किये हुए भले और बुरे कर्मों के सस्कार मन पर शेष रह जाते हैं। यही जीवात्मा का कर्म-बन्धन कहलाता है। गीता मे श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म की कुशलता यह है कि मनुष्य कर्म करके भी निर्लिप्त रहे अर्थात् कर्मों के सस्कार से मुक्त रह सके। निष्काम कर्म करने से मन कर्मों के सस्कार से मुक्त रहता है तथा मनुष्य का पुनर्जन्म नही होता।

**श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।**
**अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥**

**शब्दार्थ :** अयं श्रोत्रं चक्षुः च स्पर्शनं च रसनं घ्राणं च मन =यह जीवात्मा श्रोत्र ( कान ), चक्षु और त्वचा को तथा रसना ( जिह्वा ), घ्राण ( नासिका ) और मन को, अधिष्ठाय एव=अधिष्ठान बनाकर अर्थात् अपने आश्रित करके ही, विषयान् उपसेवते=विषयो का सेवन करता है।

**वचनामृत** यह जीवात्मा श्रोत्र ( कर्ण ), चक्षु और त्वचा को तथा रसना, घ्राण और मन को अधिष्ठित करके अर्थात् इनका आश्रय लेकर ही विषयो का सेवन करता है।

**सन्दर्भ** ' जीवात्मा इन्द्रियो और मन के सहारे विषयो का सेवन करता है।

**रसामृत** मनुष्य जब मृत्यु होने पर स्थूल देह त्याग करता है तो जीवात्मा नवीन स्थूल देह मे प्रवेश कर लेता है तथा अपने साथ मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियो को ऐसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर मे ले जाता है, जैसे कि वायु अपने साथ गन्ध को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाता है। मन अन्त करण का प्रमुख तत्त्व है,[1] किन्तु मन को छठी ज्ञानेन्द्रिय भी कहा जाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ विषयो ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ) के ज्ञान की बाह्य साधन हैं तथा मन आन्तरिक साधन है। विषय-ज्ञान होने पर विषय-सेवन प्रारम्भ होता है। जीवात्मा केवल ज्ञान नही करता, भोग भी करता है। वास्तव मे आत्मा न कर्मो का कर्ता है और न कर्मों के फल का भोक्ता ही, किन्तु माया के आवरण के कारण जीवात्मा मोहवश अपने को देह का अधिष्ठाता मानकर मन और इन्द्रियो के द्वारा ससार के विषयो का रस लेता है तथा दु ख-सुख का अनुभव करता है।[2] जीवात्मा का देह

---

बुद्धि अथवा मन और अहकार ), पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा पांच प्राण। सत्रह तत्त्वो मे पांच प्राणो के स्थान पर पांच सूक्ष्म विषय अथवा तन्मात्राओ को भी गिन लिया जाता है। श्रुति मे तो केवल सोलह तत्त्वो को ही अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण और एक मन को ही सूक्ष्म शरीर कहा गया है। 'षोडशकलोऽयं पुरुषः।' प्राय मन को ही अन्त करण कह दिया जाता है, किन्तु यहाँ मन तथा इन्द्रियो को सूक्ष्म शरीर कह दिया गया है।

१ अन्त करण के चार तत्त्व है—मन, बुद्धि, चित्त और अहकार, किन्तु पूर्वजन्म के कर्मों के भले और बुरे सस्कारो का वहन विशेषत मन करता है तथा मन प्रबल होने के कारण अनेक बार अन्त करण का बोधक होता है। यद्यपि सूक्ष्म देह मे सत्रह तत्त्व हैं, उनमे मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां प्रमुख हैं और ये छह ही प्राय सूक्ष्म शरीर के बोधक होते हैं। सूक्ष्म शरीर के सत्रह तत्त्व मानने पर पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण ( प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान ) और मन तथा बुद्धि ( अथवा मन अथवा अहकार ) हैं, किन्तु सोलह तत्त्व मानने पर पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण और एक मन है। जीवात्मा सूक्ष्म शरीर मे लिपटा हुआ पुनर्जन्म लेता है। ज्ञान-दृष्टि से जीवात्मा का जन्म और मरण नही होता, किन्तु देह-परिवर्तन को जन्म मरण कहा जाता है।

२ आत्मानं रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

और इन्द्रियो तथा भौतिक पदार्थों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होना नैमित्तिक तथा मिथ्या अर्थात् अज्ञानवश है। प्रकृति मे स्थित ( देह मे स्थित ) होकर जीवात्मा ससारी कहलाता है तथा विषयो की आसक्ति के कारण दु ख-सुख भोगता हुआ मृत्यु और जन्म द्वारा अनेक शरीरो मे भ्रमण करता है। वास्तव मे विषय-ज्ञान कोई दोष नही है, किन्तु आसक्ति के कारण भोगलिप्त होना कष्टकारक है। विषय-ज्ञान, आसक्ति, भोग और दु ख—यह एक चक्र है, जिसमे जीवात्मा फँस जाता है।

उत्क्रामन्त स्थित व ऽपि
भुञ्जान वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति
पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैन पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैन पश्यन्त्यचेतस ॥११॥

**शब्दार्थ :** उत्क्रामन्त वा स्थित भुञ्जान वा गुणान्वित अपि=एक शरीर छोडकर जाते हुए को अथवा शरीर मे स्थित को, विषय-सुख भोगते हुए को अथवा तीनो गुणो से युक्त को भी, विमूढा न अनुपश्यन्ति= अज्ञानी जन नही देखते, ज्ञानचक्षुष पश्यन्ति=ज्ञाननेत्र-वाले ज्ञानी देखते हैं। योगिन आत्मनि अवस्थित एन यतन्त पश्यन्ति=योगीजन अपने भीतर स्थित इस आत्मा को यत्न करते हुए यथार्थ रूप मे देखते हैं, च अकृतात्मान अचेतस यतन्त अपि एन न पश्यन्ति=और अकृत आत्मा-वाले अर्थात् जिन्होने अपने अन्त करण को शुद्ध नही किया वे अज्ञानीजन यत्न करते हुए भी इस आत्मा को नही जानते।

**वचनामृत** एक देह को त्यागकर अन्य देह मे जाते हुए को अथवा देह मे स्थित को अथवा विषयो का भोग करते हुए को अथवा तीन गुणो से युक्त जीवात्मा को अज्ञानी जन नही जानते, ज्ञाननेत्रवाले ज्ञानी देखते हैं। योगीजन अपने भीतर स्थित प्रयत्न करते हुए आत्मा को यथार्थ रूप मे देखते है किन्तु अशुद्ध अन्त करणवाले अज्ञानी जन यत्न करते हुए भी इसे नही समझते।

**सन्दर्भ** • ज्ञानयोगी आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं।

**रसामृत** मनुष्य अपने भीतर जीवात्मा के स्थित होने के कारण सचेतन होकर नाना प्रकार के कर्म करता है और सक्रिय रहता है। मनुष्य का खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, बोलना सुनना, लिखना-पढना इत्यादि क्रियाएँ जीवन के लक्षण हैं। प्रारब्ध-भोग के अनुसार जीवन की अवधि पूर्ण होने पर जीवात्मा एक स्थूल देह को छोडकर सूक्ष्म शरीरसहित अन्य देह मे प्रविष्ट हो जाता है। जीवात्मा के उत्क्रमण से जन्म और मरण होता है। जो मनुष्य अभी कुछ समय पूर्व बोल रहा था, सुन रहा था, हँस रहा था, रो रहा था अथवा साँस ले रहा था, उसके सहसा पाषाण-खण्ड की भाँति मौन और निष्क्रिय हो जाने पर उसके ही इष्टजन उसे निर्जीव मिट्टी कहकर उसीके घर से निकाल देते हैं तथा विस-र्जित कर देते हैं। प्रश्न होता है कि किस तत्त्व के निकल जाने पर मनुष्य को जड मिट्टी कह दिया जाता है? जीवात्मा ही वह तत्त्व है, जो देह को चेतना और जीवन देकर उसके विकास और सक्रि-यता का आधार है तथा जिसके निर्गत होने पर देह अचेतन ( जड ), निर्जीव, निष्क्रिय अर्थात् मृतक हो जाता है। जीवात्मा एक स्थूल देह को छोडकर अन्य स्थूल देह मे प्रवेश करता है। जीवात्मा ही देह और इन्द्रियो का अधिष्ठाता

---

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण ॥

—कठ उप०, १ ३ ३-४

—ससारी जीवात्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ अश्व हैं, विषय गोचर हैं और शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त होने पर आत्मा को भोग करनेवाला जीवात्मा कहते हैं।

होकर इन्द्रियो के द्वारा विषयो अर्थात् भौतिक पदार्थों का भोग करता है तथा उनमे सुख अनुभव करके आसक्त एव लिप्त हो जाता है, जगत्-प्रपच मे फँस जाता है। जीवात्मा ही शरीर मे स्थित होकर तथा प्रकृति के तीन गुणो से युक्त होकर दु ख-सुख, काम-क्रोध, लोभ-मोह, चिन्ता-भय इत्यादि का अनुभव करता है। भौतिकता मे डूबे हुए वहिर्मुखी विमूढ-जन जीवात्मा को देह-त्याग करते हुए, जन्म लेते हुए, भोग्य विषयो मे निमग्न होते हुए और प्रकृति के गुणो से वँधे हुए देखकर भी उसे नही जानते, किन्तु ज्ञानी पुरुष अन्तर्मुखी होकर अपने ज्ञानचक्षु से उसके शुद्ध स्वरूप को जान लेते है।

ज्ञानयोगी शम, दम, वैराग्य, श्रवण, चिन्तन, मनन, ध्यान आदि साधनो के अभ्यास से नितान्त निर्मल होकर अपने भीतर जीवात्मा के मूल स्वरूप अर्थात् विशुद्ध चैतन्यस्वरूप का साक्षात्कार कर लेते हैं।

आत्मा के सत्, चित्, आनन्दस्वरूप का दर्शन वौद्धिक स्तर पर मात्र युक्ति, तर्क, विचार, विवाद द्वारा कदापि नही होता। अन्त करण के निर्मल होने पर अर्थात् राग द्वेषरहित तथा अहकारशून्य होने पर ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप का दर्शन होता है[1]। राग-द्वेपयुक्त, अभिमानी तथा चचल मनुष्य पण्डित हो तो भी आत्मा के स्वरूप की दिव्यानुभूति नही कर सकते।[2] विवेकी पुरुष निर्विकार होकर निश्चल मन द्वारा आत्मसाक्षात्कार का अनुभव करते है। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्यस्वरूप है तथा साक्षी, द्रष्टा, सर्वथा निर्लेप एव निर्विकार है।

**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।**
**यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥**

**शब्दार्थ :** यत् आदित्यगतं तेजः अखिलं जगत् भासयते=जो सूर्य मे स्थित तेज सारे जगत् को प्रकाशित करता है, च चन्द्रमसि यत् ( तेजः ) अग्नौ यत् ( तेजः )=और चन्द्रमा मे जो तेज है, अग्नि मे जो तेज है, तत् मामकं तेजः विद्धि=उसे मेरा तेज जान।

**वचनामृत :** जो सूर्य मे स्थित तेज सारे जगत् को प्रकाशित करता है और चन्द्रमा मे जो तेज है तथा अग्नि मे जो तेज है, उसे मेरा ही तेज जान।

**सन्दर्भ :** सारा तेज प्रभु का तेज है। श्लोक १२, १३, १४ मे परमेश्वर की विभूतियो का वर्णन है।

**रसामृत :** परमात्मा के अनेक स्वरूपो का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, किन्तु सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वमान्य स्वरूप तेजोमय है। परमात्मा मन और बुद्धि मे प्रकाशरूप से भासता है।[1] ज्ञान के प्रकाशक सत्त्वगुण का उदय होने पर मानव-देह के सारे द्वारो मे प्रकाश उत्पन्न हो जाता है अर्थात् सम्पूर्ण देह मे वोध-शक्ति का उदय हो जाता है।[2]

---

१. दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।
—कठ उप०, १ ३ १२

—आत्मा सूक्ष्मदर्शी पुरुषो द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है।

२ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
—कठ उप०, १ २ २४

—अर्थात् दुश्चरित्र, अशान्त, चचल मनुष्य आत्मा का दर्शन नही कर सकता।

१ वेदो के प्रमुख मत्र गायत्री मत्र मे भगवान् के तेज की महिमा का गान है तथा उसके तेज से वुद्धि के सप्रेरण की प्रार्थना की गयी है।

ॐ भूर्भुव स्व तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न प्रचोदयात्—सविता देव ( ज्योतिस्वरूप परमात्मा ) के उस गर्भ ( तेज ) को ध्यान मे धारण करें, जो हमारे भीतर सद्बुद्धि की प्रेरणा दें। भू. भुवः स्वः ये तीन पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, स्थूल, सूक्ष्म और कारणदेह, सत्, चित्, आनन्द इत्यादि के बोधक हैं।

२. गीता, १४ ११

परमात्मा स्वयप्रकाश है, उसे कोई अन्य तत्त्व प्रकाशित नही करता। परमात्मा का प्रकाश ही सम्पूर्ण प्रकाश का स्रोत अथवा मूल कारण है। जड जगत् के प्रकाशक सूर्य, चन्द्र, तारागण और अग्नि भी परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित है। पृथक् पृथक् सौर-मण्डलो के पृथक्-पृथक् सूर्य उसी अखिल ब्रह्माण्डनायक परमात्मा के तेज से प्रकाशित है। दिव्य तेजोमय परमात्मा के दिव्य तेज की तुलना मे सूर्य, चन्द्र, तारागण, अग्नि आदि जड वस्तुओ का प्रकाश अत्यन्त तुच्छ है।[1] ध्यानयोगी प्रकाशस्वरूप परमात्मा के दिव्य तेज की अनुभूति करके कृतकृत्य हो जाते है। चैतन्यस्वरूप परमात्मा का प्रकाश दिव्य एव अनिर्वचनीय है। ब्रह्म-ज्योति ही परमज्योति है जो सारे ब्रह्माण्ड की धारक है।

पृथ्वी के समस्त प्राणियो और वनस्पति के जीवन के पोषक सूर्य, चन्द्र और अग्नि परमात्मा की विभूतियाँ है[2] तथा इनके प्रकाश का स्रोत एव आधार परम चैतन्य ज्योति है।

**गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।**
**पुष्णामि चौषधी सर्वा. सोमो भूत्वा रसात्मक १३**
**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित.।**
**प्राणापानसमायुक्त पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥**

**शब्दार्थ :** च अह गा आविश्य=और मैं पृथ्वी अथवा जगत् मे प्रविष्ट होकर, ओजसा भूतानि धारयामि =अपने ओज (शक्ति) से सब भूतो को धारण करता हूँ, च रसात्मक सोम भूत्वा सर्वा ओषधी पुष्णामि= और रसमय (अमृतमय) सोम (चन्द्रमा) होकर सब ओषधियो (वनस्पतियो) का पोषण करता हूँ। अह प्राणिना देह आश्रित वैश्वानर भूत्वा=मैं प्राणियों के देह मे स्थित होकर वैश्वानर अग्नि होकर, प्राणापानसमायुक्त (सन्) चतुर्विध अन्न पचामि=प्राण और अपान से युक्त होकर चार प्रकार के भोज्य पदार्थ को पचाता हूँ।

**वचनामृत :** मैं ही पृथ्वी मे प्रविष्ट होकर अपने ओज से सब भूतो को धारण करता हूँ और रसात्मक (अमृतमय) सोम होकर औषधियो (वनस्पतियो) का पोषण करता हूँ। मैं ही सब प्राणियो के देह मे स्थित होकर वैश्वानर अग्निरूप होकर प्राण और अपान से सयुक्त होकर चार प्रकार के भोजन को पचाता हूँ।

**सन्दर्भ :** चन्द्रमा तथा अग्नि के रूप मे भी भगवान् की शक्ति का ही स्फुरण होता है। अनेक भक्त औषधि लेते समय तेरहवे श्लोक का तथा भोजन लेते समय चौदहवे श्लोक का उच्चारण करते हैं।

**रसामृत** परमात्मा ही पृथ्वी मे प्रविष्ट होकर अपने ओज से समस्त प्राणियोसहित पृथ्वी को धारण करता है।[1] पृथ्वी मे प्राणियो का पोषण करने और समुद्र पर्वतादि को धारण करने की शक्ति भी परमात्मा की ही शक्ति है। परमात्मा ही ग्रहो और नक्षत्रो को गुरुत्वाकर्षण शक्ति द्वारा गगनमण्डल मे सचारित करता है। परमात्मा रसस्वरूप चन्द्रमा होकर पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाली समस्त वनस्पतियो अर्थात् अन्न, पुष्प, फल, औषधि आदि का पोषण करके उनमे रस, पोषक

---

१ गीता, १५ ६

देखिये, पृष्ठ ४८२ के कॉलम १ की टिप्पणी ३।

२ अध्याय दस (विभूतियोग) में सूर्य, चन्द्र और अग्नि को भगवान् की विभूति कहा गया है। सूर्य, चन्द्र और अग्नि को पिंगला, इडा और सुषुम्ना का बोधक भी कहा गया है।

१ येनद्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा।

तै० स० ४ १ ८

—जिससे द्युलोक और उग्र पृथ्वी दृढ हैं।

सदाधार पृथिवीम्—

तै० स० ४ १ ८

—वह पृथ्वी को धारण करता है।

तत्त्व और स्वाद का सचार करता है।[1] समस्त जगत् को धारण करनेवाली परमेश्वरी शक्ति ही सूर्य, नक्षत्रगण, पृथ्वी, चन्द्रमा आदि मे प्रविष्ट होकर उनको सक्रिय करती है। सारे जगत् मे परमेश्वर का ऐश्वर्य ही प्रकट हो रहा है।

प्राणियो के अनन्त प्रकार के तथा असख्य जीवित देह परमेश्वरी शक्ति के अद्भुत उपकरण है। प्राणियो के जड देहो को परमात्मा की चैतन्य-सत्ता ही सचेतन एव गतिशील बनाती है। देह मे इन्द्रियाँ, अस्थि, चर्म, मस्तिष्क, स्नायुतत्र, पाचन-तत्र इत्यादि सभी अद्भुत हैं। यह एक आश्चर्य है कि प्राणी को क्षुधा पीडित करती है तथा चार प्रकार के भोजन[2] करने पर उदरस्थित रहस्यमय अग्नि की ऊष्मा उसका पाचन करके उससे रक्त आदि उत्पन्न कर देती है। वह उदरस्थ वैश्वानर अग्नि ( जठराग्नि ) परमात्मा के तेज से ही सक्रिय होती है। जठराग्नि प्राण और अपान वायु से प्रज्वलित होकर उनके सहयोग से भोजन का पाचन करती है। प्राणी की श्वसन-क्रिया ( श्वास-प्रश्वास-क्रिया ) दूषित एव विषैले तत्त्व को शरीर से निर्गत करती है, शुद्ध वायु को भीतर लेती है। यह श्वसन-क्रिया जागते-सोते निरन्तर चलती रहती है, देह-यत्र को शुद्ध करती है, उसका पोषण करती है। वास्तव मे, जठराग्नि भी परमात्मा की एक विभूति अथवा स्वरूप ही है।[1] भूखे प्राणी को भोजन देनेवाला मनुष्य मानो भगवान् को ही भोजन कराता हैं तथा अभक्ष्य भोजन से जठराग्नि को शान्त करनेवाला मनुष्य मानो अनाचार करता है।

**सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो**
**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।**
**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो**
**वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥**

**शब्दार्थ :** च अहं सर्वस्य हृदि सनिविष्टः=और मैं सबके हृदय मे अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ, मत्तः स्मृतिः ज्ञानं च अपोहनं=मुझसे स्मृति, ज्ञान और अपोहन ( विचार से ऊहन अर्थात् सशय आदि दूर करना ) होता है; च सर्वैं वेदै अह एव वेद्य =और सब वेदो द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ, वेदान्तकृत् च वेदविद् अहं एव= वेदान्त का कर्त्ता और वेदो का ज्ञाता मैं ही हूँ।

**वचनामृत :** और मैं ही सबके हृदय मे अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है, मैं ही सब वेदो द्वारा वेद्य ( जानने के योग्य ) हूँ और वेदान्त का कर्ता तथा वेदविद् भी मैं ही हूँ।

**सन्दर्भ :** भगवान् सर्वात्मा एव अन्तर्यामी है।

**रसामृत** . भगवान् सभी के भीतर विराजमान है, कही दूर नही है। भगवान् सबकी आत्मा के रूप मे सर्वान्तिर्यामी है। वही प्राणधारियो मे जीवरूप से प्रविष्ट होकर सबके जीवन और

---

१ आधुनिक विज्ञान भी प्रमाणित करता है कि वनस्पति-जगत् के विकास का रसमय चन्द्रमा से सम्बन्ध है।

२ चतुर्विध खाद्य पदार्थः

१ भोज्य पदार्थ—रोटी आदि चबाकर खाये जाने-वाले पदार्थ।

२ भक्ष्य पदार्थ—दूध, जल आदि पेय पदार्थ।

३. चोष्य पदार्थ—आम, गन्ना आदि चूसने के पदार्थ।

४ लेह्य पदार्थ—शहद आदि चाटने के पदार्थ।

वायु—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान।

शुद्ध वायु शरीर मे प्रविष्ट होकर ( प्राण देकर ) निकलती है।

१. अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते।

—बृहदारण्यक उप०, ५.९.१

—यह पुरुष के भीतर है तथा जिससे यह अन्न पचता है वह वैश्वानर है।

चेतना का आधार है।[१] जीवात्मा की शक्ति से ही मनुष्य की बुद्धि सचेतन होकर चिन्तन करती है तथा स्मृति, ज्ञान और अपोहन ( सशय-निवारण ) से युक्त होती है।[२] मनुष्य स्मृति की क्षमता के द्वारा पहले अनुभवो को सचित रखकर उन्नति-पथ पर अग्रसर होने के लिए उनसे लाभ उठाता है। ध्यान आदि के अभ्यास द्वारा मनःशक्ति के जाग्रत होने पर मनुष्य की स्मरण-शक्ति तीव्र हो जाती है। स्मृति परमेश्वर की अत्यन्त रहस्यमय एव अद्भुत देन है। स्मृति ही विचार और ज्ञान का आधार है। वास्तव मे जीवात्मा के रूप मे परमेश्वर ही स्मृति, ज्ञान-शक्ति तथा अपोहन-शक्ति ( सशयादि का निराकरण ) का स्रोत है। मनुष्य चेतना के विकास द्वारा बुद्धि का अतिक्रमण करके तथा आत्मा की दिव्यानुभूति प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। स्मृति तथा ज्ञान की पूर्णता का परिणाम परमात्मा की प्राप्ति है।

वेदो का प्रधान उद्देश्य परमात्मा के यथार्थ ज्ञान का विस्तार करना है। वेदो मे परमात्मा ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, वायु इत्यादि के रूप मे वर्णित है।[१] वेद आध्यात्मिक ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट भण्डार है।

परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे वेदो के उत्कृष्ट वेदान्तज्ञान का स्रोत भी परमात्मा ही है। वेद मे परमात्मा के सम्बन्ध मे परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वर्णनो का अन्त ( वेद का अन्त अर्थात् निर्णय ) वेदान्त सिद्धान्त है। वेदो मे प्रतिपादित परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ वेत्ता स्वय परमात्मा ही है। परमात्मा सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एव अनन्तस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त है, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वय, सदानन्द, चिन्मात्र, शान्त, चतुर्थ है, सर्वव्यापी, निर्विकार है, अखण्ड चैतन्यस्वरूप परमसत्ता है।[२]

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर. सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तम. पुरुषस्त्वन्य. परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर ॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित. पुरुषोत्तम ॥१८॥

---

१ स एष इह प्रविष्ट ।—बृहदारण्यक उप०, १ ४ ७
अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति।

—छान्दोग्य उप०, ६ ३ २

—परमेश्वर ही जीवरूप से प्राणियो में प्रवेश करता है तथा नाम और रूप की अभिव्यक्ति करता है। 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्ट' अर्थात् ईश्वर जीवरूप कला से प्रविष्ट है।

२ अपोहन का अन्य अर्थ स्मृति और ज्ञान का लोप भी किया गया है। अपोहन का अर्थ विस्मरण ( भूल जाना ) भी किया गया है। विस्मरण स्मरण की अनिवार्य आवश्यकता होती है। मनुष्य तुच्छ एव महत्त्वहीन बातो को तथा शोक आदि को भूलकर ही स्वस्थ रह सकता है। विस्मरण भी एक वरदान होता है। यह अर्थ भी ठीक है।

१. इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्य. स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि
यमं मातरिश्वानमाहु ॥

—परमात्मा को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। वह सुन्दर वर्णवाला दिव्य गरुड है। उसीको अग्नि, यम और पवन कहते हैं। एक ही परमात्मा का ज्ञानी पुरुप अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

एष उ ह्येव सर्वे देवा ',—अर्थात् परमात्मा ही समस्त देवरूप है। देवो मे भी परमात्मा ही तो है।

२ 'सत्यं ज्ञानमनन्त', ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म', 'निष्कल निष्क्रिय शान्त 'नित्यं शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्य सूक्ष्म परिपूर्णमद्वय सदानन्दचिन्मात्र शान्त', 'चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय ।'

**यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।**
**स सर्वविद्भजति मा सर्वभावेन भारत ॥१९॥**

**शब्दार्थ :** लोके क्षर. च अक्षर. एव इमौ द्वौ पुरुषौ =ससार मे नश्वर और अनश्वर ये ही दो प्रकार के पुरुष हैं, सर्वाणि भूतानि क्षरः च कूटस्थः अक्षर. उच्यते =सारे प्राणियो को अर्थात् देहो को क्षर ( नाशवान् ) और जीवात्मा को अविनाशी कहा जाता है । उत्तमः पुरुष तु अन्य =उत्तम पुरुष तो अन्य है, य. लोकत्रयं आविश्य बिभर्ति=जो तीनो लोको मे प्रविष्ट होकर सबको धारण करता है, अव्ययः ईश्वरः परमात्मा इति उदाहृतः=अविनाशी ईश्वर ( तथा ) परमात्मा ऐसे कहा गया है । यस्मात् अहं क्षर अतीत. च अक्षरात् अपि उत्तमः=क्योकि मैं क्षर से अतीत ( परे ) हूँ और अक्षर जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, अत. लोके च वेदे=अतः लोक मे तथा वेद मे, पुरुषोत्तम· प्रथित अस्मि=पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ । भारत=हे भरतवशी अर्जुन, एवं य. असमूढ· मा पुरुषोत्तम जानाति=इस प्रकार जो असमूढ होकर मुझे पुरुषोत्तम जानता है, स सर्ववित् सर्वभावेन मा भजति=वह सर्ववेत्ता मनुष्य सब प्रकार से मुझे भजता है ।

**वचनामृत** . ससार मे क्षर और अक्षर अर्थात् नश्वर और अनश्वर ही दो पुरुष है । सब प्राणियो के देह तो क्षर ( नश्वर ) और उनके जीवात्मा को अक्षर ( अनश्वर ) कहा जाता है । इन दोनो से उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम तो अन्य ही है, जो तीनो लोको मे प्रविष्ट होकर सबका धारण करता है और अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा इस प्रकार कहा गया है । क्योकि मैं क्षर ( नाशवान् ) से अतीत ( परे ) हूँ और अक्षर ( जीवात्मा ) से भी उत्तम हूँ, अत लोक और वेद मे पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ । हे भरतवशी अर्जुन, जो असमूढ ( ज्ञानी ) मनुष्य मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्ववेत्ता ( सब-कुछ जाननेवाला ) सब प्रकार से मुझे भजता है ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण 'पुरुषोत्तम' की व्याख्या करते हैं ।

**रसामृत :** परमेश्वर ने इस चराचर ससार की रचना जड और चेतन के मिश्रण द्वारा की ।[1] ससार मे पर्वत, नदी, समुद्र आदि जड पदार्थ हैं तथा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चेतन प्राणी है । जीवित प्राणियो मे देह जड है तथा जीवात्मा चेतन है । जड पदार्थ नश्वर है और चेतन जीवात्मा अविनाशी है । नश्वर जड पदार्थो तथा अविनाशी चेतन जीवात्मा का वर्णन विविध दृष्टियो एव विविध प्रकार से किया गया है । नश्वर जड पदार्थो को परमेश्वर की अपरा प्रकृति का स्वरूप, क्षेत्र तथा क्षर पुरुष कहा गया है और चेतन जीवात्मा को परमेश्वर की परा-प्रकृति, क्षेत्रज्ञ तथा अक्षर-पुरुष कहा गया है ।[2]

प्राणियो मे क्षर-पुरुष तो जड देह है तथा अक्षर-पुरुष चेतन जीवात्मा कूटस्थ अर्थात् स्थिर एव अपरिवर्तनशील है ।[3] विनाशशील पदार्थ परिवर्तन-

---

१ 'जड-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार'
—रामचरितमानस

२ अपरा प्रकृति और परा प्रकृति ( गीता, अध्याय ७ ), अधिभूत और अध्यात्म ( अध्याय ८ ), क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ( अध्याय १३ ), क्षर-पुरुष और अक्षर-पुरुष ( अध्याय १५ )

**'क्षरं प्रधानमृताक्षरं हर क्षरात्मानावीशते देव एक. ।'**
—श्वेताश्वतर उप०, १ १०

—प्रधान ( प्रकृति ) क्षर है तथा जीवात्मा अक्षर है तथा दोनो का स्वामी एकदेव ( पुरुषोत्तम ) है ।

३. श्लोक १७ तथा १८ मे 'अक्षर पुरुष' का अर्थ अनेक प्रकार से किया गया है । शङ्कराचार्य ने क्षर-पुरुष का अर्थ ससार तथा अक्षर-पुरुष का अर्थ माया-शक्ति अथवा प्रकृति किया है । शङ्कर के अनुसार अक्षर पुरुष-रूप माया-शक्ति भी एक प्रकार से कूटस्थ है तथा दोनो से परे परमात्मा है, जो माया-शक्तिसहित होने पर परमेश्वर कहलाता है । शङ्कराचार्य का यह अर्थ समुचित ही है, किन्तु अक्षर-पुरुष का अर्थ कूटमाया मे स्थित जीवात्मा करना शाङ्कर मत के साथ असगत नहीं है तथा यह उसका

शील होता है, चैतन्य तत्त्व विकाररहित एव अपरिवर्तनशील है। देहरूप क्षर-पुरुष और जीवात्मा-रूप अक्षर पुरुष दोनो से भी विलक्षण एव उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ परमेश्वर है, जो सृष्टि का धारण-पोषण करता है। उसे पुरुषोत्तम अथवा परमपुरुष कहते हैं। जीवात्मा परमेश्वररूप पुरुषोत्तम का अश है। पुरुषोत्तम सर्वाधार, सर्वान्तिर्यामी, सर्वशक्तिमान् तथा सृष्टि का पालन, पोषण, धारण और सहार करनेवाला है। परमेश्वर नियन्त्रणकर्ता तथा स्वामी है तथा प्रकृति उसकी माया-शक्ति है। वास्तव मे जड और चेतन का स्रोत एव आधार एक परमेश्वर ही है, जैसे एक ही बीज से फल, फूल, पत्ते, तना, शाखा आदि उत्पन्न होते हैं।

भगवान् क्षर ( विनश्वर जड पदार्थ ) से सर्वथा अतीत ( परे ) तथा अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम है। जीवात्मा का विशुद्ध ( माया से मुक्त ) स्वरूप आत्मा परमब्रह्म परमात्मा का ही अश है।

परमात्मा देह मे विराजमान जीवात्मा से उत्तम तो है, किन्तु उससे परे अथवा भिन्न नही है।[1] पुरुषोत्तम दोनो ही निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्मा तथा सगुण-निराकार एव सगुण साकार परब्रह्म है। निर्गुण, शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा तथा सगुण-ईश्वर वास्तव मे एक ही हैं। क्षर-पुरुष ( जड पदार्थ ), अक्षर-पुरुष ( देह के भीतर जीवात्मा ) और परमपुरुष अथवा पुरुषोत्तम ( परमात्मा ), यह क्रम है।

जो मनुष्य इस प्रकार सृष्टि, मानव और भगवान् के रहस्य को समझकर भगवत्प्राप्ति के लिए पूर्णत साधनरत हो जाता है, वह विवेकशील है तथा सुधन्य है। पुरुषोत्तम[1] अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को जान लेनेवाला सृष्टि के रहस्य को ही जान लेता है। उसे सर्वत्र परमात्मा का दर्शन होता है तथा उसके लिए सारा जगत् प्रभुमय हो जाता है।

**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।**
**एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।२०।**

**शब्दार्थ :** अनघ भारत = हे अनघ ( अघरहित, निष्पाप ), हे भरतवशी अर्जुन, इति इदं गुह्यतम शास्त्रं मया उक्त = इस प्रकार यह अत्यन्त गोपनीय ( रहस्य-पूर्ण ) शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, एतत् बुद्ध्वा = इसे जानकर, बुद्धिमान् च कृतकृत्य. स्यात् = बुद्धिमान् और कृतार्थ हो जाता है।

**वचनामृत** हे निष्पाप अर्जुन, इस प्रकार यह अत्यन्त रहस्यपूर्ण गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण इस अध्याय का उपसहार करते हैं।

**रसामृत** उत्तम ज्ञान गुह्य अर्थात् सावधानतापूर्वक धारण करने के योग्य होता है।[2] भगवान्

---

ही निष्कर्ष है। शङ्कर-प्रतिपादित अर्थ को पूर्ण मान्यता देते हुए यह निष्कर्षात्मक अर्थ किया गया है।

१ माया-शक्तिरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्गुण ब्रह्म को परमात्मा कहते हैं तथा माया-शक्तिसहित सगुण ब्रह्म को ईश्वर अथवा परमेश्वर। माया के आवरण से मुक्त विशुद्ध आत्मा चैतन्यस्वरूप परमात्मा का ही अश है, जैसे महाकाश और घटाकाश अशी और अश हैं तथा दोनों में अभेद है। माया-शक्तिसहित ईश्वर और माया से आवृत जीवात्मा मे यह भेद रहता है कि ईश्वर माया का स्वामी है तथा जीवात्मा माया का बन्धक दास। निर्गुण परमब्रह्म को पुरुषोत्तम कहा गया है, यद्यपि अनेक विद्वानो ने सगुण-ब्रह्म को भी पुरुषोत्तम कहा है। विनोबाजी पुरुषोत्तम परमात्मा को सेव्य तथा जीवात्मा को सेवक कहते हैं—यह भक्तिभाव है। उन्नीसवें श्लोक में भक्तिभाव का महत्त्व वर्णित है।

---

१ 'अतो ज्यायांश्च पूरुष '—इससे भी उत्तम पुरुष है। 'दिव्यो अमूर्त्त पुरुष '—वह अमूर्त्त पुरुष दिव्य है।

२ राजयोग ( ९।१ ) को गुह्यतम कहा गया है तथा शरणागति ( १८।६३,६४ ) को भी गुह्यतम कहा

श्रीकृष्ण पुरुषोत्तमयोग को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहते है तथा अर्जुन को निष्पाप और भरतवंशी कहकर सकेत करते हैं कि वह इस महत्त्वपूर्ण उपदेश को प्राप्त करने का अधिकारी है। यह उपदिष्ट सिद्धान्त शास्त्रो का सारभूत है तथा एक स्वतन्त्र शास्त्र के सदृश है। पवित्र अन्त करणवाला मनुष्य ही उत्कृष्ट उपदेश प्राप्त करने का सत्पात्र होता है। यद्यपि अर्जुन मोहग्रस्त हो गया था, तथापि उसका अन्त करण पवित्र और चरित्र निर्मल था।

भगवान् कहते है कि पुरुषोत्तमयोग का ग्रहण एव अनुसरण करने से मनुष्य बुद्धिमान् अर्थात् विवेकवान् हो जाता है तथा कृतकृत्य हो जाता है। परमात्मा का ज्ञान और अनुभव होने पर मनुष्य का परम साध्य प्राप्त हो जाता है तथा उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नही रहता।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

पुरुषोत्तमयोगनामक पन्द्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

## सार-संचय

### पञ्चदश अध्याय : पुरुषोत्तमयोग

'पुरुषोत्तमयोग' नामक पन्द्रहवाँ अध्याय तथा 'भक्तियोग' नामक बारहवाँ अध्याय भगवद्गीता के सबसे छोटे, किन्तु अत्यन्त मार्मिक अध्याय हैं। इस अध्याय मे भगवान् श्रीकृष्ण सृष्टि की उत्पत्ति, मानव और ईश्वर-तत्त्व की विवेचना करते हैं तथा मनुष्य के कल्याण का मार्ग बताते है।

यह ससार अश्वत्थ वृक्ष के सदृश है, किन्तु इस ससार-वृक्ष का मूल ऊर्ध्व स्थित है तथा शाखाएँ नीचे हैं। ससार-वृक्ष का अदृश्य एव अलौकिक मूल स्वय सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। इसकी शाखाओ का विस्तार प्रकृति के कारण निम्नगामी है। विभिन्न विषय (भोग्य पदार्थ) इस वृक्ष की मनोमोहक कोपले हैं। वासनाएँ इस ससार-वृक्ष के भौतिक मूल हैं, जो अत्यन्त गहन और दृढ हैं। इस ससार-वृक्ष से मुक्त होने के लिए वैराग्यरूप शस्त्र की आवश्यकता है। मनुष्य वैराग्य द्वारा ससार के जटिल बन्धनो से मुक्त हो सकता है। मनुष्य का देह ब्रह्माण्ड का प्रतीक है तथा एक ऐसा वृक्ष है, जिसका मूल शीर्ष (ब्रह्मरन्ध्र) मे स्थित है तथा जिसकी भुजारूप शाखाएँ अधोगामी हैं। ब्रह्मरन्ध्र समस्त ऊर्जा का केन्द्र है तथा मनुष्य इसके द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड के साथ सम्बन्ध स्थापित करके अनन्त ऊर्जा प्राप्त कर सकता है और न केवल ब्रह्माण्ड का दर्शन कर सकता है, बल्कि ब्रह्माण्ड मे सूक्ष्म शरीर द्वारा भ्रमण भी कर सकता है।[1] शीर्षस्थ ब्रह्मरन्ध्र तथा भृकुटिमध्यस्थित आज्ञाचक्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्तुओ के द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। आज्ञाचक्र ही दोनो बाह्य चर्म-चक्षुओ

गया है। विभूति-वर्णन को अर्जुन ने गुह्य कहा है (११.१)।

१ मनुष्य का भौतिक पदार्थों की ओर प्रवृत्त होना गुरुत्वाकर्षण के कारण स्वाभाविक है, किन्तु चक्रभेदन की सहायता से भौतिक गुरुत्वाकर्षण के विपरीत शीर्षस्थ ब्रह्मरन्ध्र की ओर ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन करवा ब्रह्मरन्ध्र के अति-गुरुत्वाकर्षण बल के कारण सम्भव होता है। ऊर्जा-केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र के साथ सम्बन्ध स्थापित होने पर मनुष्य की ऊर्जा ऊर्ध्वगामी हो जाती है। वैराग्य साधारण गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव समाप्त कर देता है तथा मानव-चेतना ऊर्जा केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र के अति-गुरुत्वाकर्षण बल के प्रभाव क्षेत्र मे आकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है।

के मध्य मे स्थित अन्तश्चक्षु है, जिसे योगी शिव का तृतीय नेत्र कहते हैं तथा जो दिव्य दृष्टि द्वारा विश्व का दर्शन करा देता है। आज्ञाचक्र के पूर्णत जागने पर शरीर के समस्त रोमकूप ज्ञानेन्द्रिय वनकर देखने, सुनने, स्वाद चखने आदि का अनुभव करने लगते है और देह के समस्त द्वार ( छिद्र ) अलौकिक प्रकाश का स्रोत वन जाते है।[1] ऐसे सिद्ध पुरुष के लिए देह मे ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड मे देह का दर्शन हो जाता है और सारा विश्व ब्रह्ममय हो जाता है। सिद्ध पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है। वैराग्य-शस्त्र द्वारा ससार-वृक्ष का उच्छेद करके अर्थात् वैराग्य द्वारा ससार के वन्धन से मुक्त होकर अथवा सासारिक विपयो के प्रलोभन से ऊपर उठकर मनुष्य ससार के मूल स्रोत परम चैतन्य-सत्ता को तत्त्वत जान सकता है।

वैराग्य द्वारा अर्थात् ससार के विपयो की आसक्ति से मुक्त होने पर मनुष्य दिव्य जीवन का अनुभव कर लेता है। मान ( वड़प्पन का दम्भ ) और मोह से मुक्त, आसक्तिरूप दोप से मुक्त, भौतिक कामनाओ से मुक्त, अध्यात्म-चिन्तन मे निरत तथा सासारिक दु ख-सुख आदि द्वन्द्वो से मुक्त विवेकी पुरुप जीवन मे परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। परमात्मा की दिव्य अनुभूति मनुष्य को वुद्धि से परे आत्मा के स्तर पर होती है। परमात्मा का स्वरूप अचिन्त्य है। परमात्मा दिव्य ज्योतिर्मय है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि लौकिक प्रभा परमात्मा के दिव्य तेज की तुलना मे अत्यन्त तुच्छ हैं।

मनुष्य का जीवात्मा परमात्मा का सनातन अश है।[1] मनुष्य आत्मा के स्तर पर अखिल ब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् स्वय है। ससार के समस्त दर्शन-ग्रन्थो मे मानव की प्रतिष्ठा के सम्वन्ध मे इससे वढकर अन्य कोई धारणा नही है। प्रकृति ( माया ) के वन्धन से मुक्त होने पर जीवात्मा तत्त्वत चैतन्यस्वरूप परमात्मा का अश है अथवा स्वय परमात्मा ही है। जैसे घटाकाश ( घट के भीतर आकाश ) और महाकाश ( महान् आकाश ) मे कोई भेद नही है, वैसे ही मनुष्य के

---

१ वास्तव में शरीर के सारे चक्रो का सूक्ष्म तन्तुओ द्वारा परस्पर सम्वन्ध है तथा चक्रो की ऊर्जा विद्युत्-प्रवाह वनकर समस्त देह को आप्लावित कर देती है। विद्युत्-प्रवाह द्वारा मस्तिष्क ज्ञानेन्द्रियो से सूचना ग्रहण करता है तथा शरीर को सक्रिय कर देता है। समस्त चक्र समीपस्थ ग्रन्थि ( ग्लैण्ड ) को सक्रिय कर देते हैं तथा ग्रन्थियो से स्राव होने लगता है और रासायनिक एव यान्त्रिक प्रतिक्रिया से इनके समीप का क्षेत्र विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र वन जाता है। मूलाधार चक्र का सम्वन्ध किसी अज्ञात ग्रन्थि से है। स्वाधिष्ठान चक्र का सम्वन्ध कामग्रन्थि ( गोनाड्स ) से है। मणिपूर चक्र का सम्वन्ध अधिवृक्क ( एड्रीनल ) से, अनाहत चक्र का वाल्यग्रन्थि ( थाइमस ) से, विशुद्ध चक्र का गलग्रन्थि ( थायरायड ) से, आज्ञाचक्र का पीयूपग्रन्थि ( पिट्यूटरी ) से, सहस्रार चक्र का पिनियल कायग्रन्थि ( वाडी ) से माना जा सकता है। मूलाधार को ब्रह्मग्रन्थि, मणिपूर को विष्णुग्रन्थि तथा आज्ञाचक्र को रुद्रग्रन्थि भी कहा जाता है। ध्यानयोगी को देहगत विद्युत्-आवेगो और स्राव की सूक्ष्म अनुभूति होती है।

१ वेदान्त के अनुसार जीवात्मा तत्त्वत परमब्रह्म परमात्मा का अश है अर्थात् दोनो एक हैं। यह वेदान्त का अद्वैत अथवा अभेद है। द्वैतवादी कहते हैं कि जीवात्मा परमात्मा का अश है, किन्तु पूर्ण रूप मे नहीं। द्वैतवाद के अनुसार दोनो मे साम्य है तथा भेद यह है कि दोनो सत् चित् हैं, किन्तु जीव मे आनन्द का अभाव है। द्वैतवाद मे भी मत-मतान्तर हैं। न्यायदर्शन के अनुसार जीवात्मा मे इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, सुख-दु ख आदि गुण हैं। प्राय सभी मूर्धन्य विद्वानो ने शकराचार्य के अद्वैत को ही स्वीकार्य माना है। गीता में समन्वय की दृष्टि सर्वोपरि है। शङ्कराचार्य कहते हैं कि द्वैत ( भेद ) एक प्रतीति है तथा अद्वैत ( अभेद, एकता ) यथार्थ है। भक्ति के प्रारम्भ में द्वैत होता है, किन्तु अन्त मे वह अद्वैत हो जाता है। भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं।

भीतर विराजमान आत्मा और परमात्मा मे तत्त्वत कोई भेद नही है। मनुष्य का यथार्थ स्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है, जो प्रकृति (माया) सहित होने पर जीवात्मा के रूप मे विषय-रस का भोग करता है। जीवात्मा के शरीर से निर्गत होने पर शरीर मृतक हो जाता है। जीवात्मा का लक्षण है चेतना। जीवात्मा ही ऊर्जा उत्पन्न करके उदर मे रहस्यमय जठराग्नि द्वारा भोजन को पचाकर रस, रक्त, मज्जा आदि की उत्पत्ति का कारण होता है। जीवात्मा के सान्निध्य के कारण ही देह मे विकास, परिवर्तन तथा गतिशीलता आदि होती हैं। जीवात्मा के रूप मे देह मे प्रविष्ट होकर परमात्मा ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन का कारण होता है। स्मृति एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण प्रक्रिया[1] है। स्मृति के आधार पर ही ज्ञान की उपलब्धि होती है। अपोहन सशय-निवारण के अतिरिक्त विस्मरण (भूलना) को भी कहते हैं। विस्मरण-प्रक्रिया स्मृति की सहायक होती है। मनुष्य फालतू बातो, दुख, शोक, अपमान, हानि आदि को भूलकर ही स्वस्थ चिन्तन कर सकता है तथा आवश्यक ज्ञान की स्मृति को सुरक्षित रख सकता है।

इस सृष्टि मे तीन ही तत्त्व हैं—प्रकृति, जीव (जीवात्मा) तथा परमात्मा। विभिन्न दर्शन-शास्त्रो मे उनके स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया गया है। तीनो को अनादि मानना त्रैतवाद है, केवल जीवात्मा और परमात्मा को अनादि मानना द्वैतवाद है तथा केवल परमात्मा को अनादि मानना अद्वैतवाद है। वेदान्त के अनुसार प्रकृति परमेश्वर की शक्ति माया है और माया से मुक्त होकर जीवात्मा परमात्मा ही है। इस दृष्टि से केवल परमात्मा ही अनादि तत्त्व है तथा माया-शक्ति को अनादि परमात्मा की अनादिशक्ति कहा जा सकता है।

गीता मे सभी प्रचलित पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की गयी है। मनुष्य के देह मे विराजमान जीवात्मा अविनाशी अथवा अक्षर है तथा देह विनाशी अथवा क्षर पुरुष है। इन दोनो से अतीत अथवा परे पुरुषोत्तम परमात्मा है। इसे ही पहले अपरा प्रकृति, परा प्रकृति तथा परमात्मा कहा गया है। प्रकृति मे स्थित अथवा माया से आवृत जीवात्मा बद्ध है तथा प्रकृति से मुक्त होकर अर्थात् प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होकर जीवात्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है, जो परमात्मा का ही स्वरूप है। विकास-क्रम के अनुसार मनुष्य निम्न प्रकृति से मुक्त होकर तथा उच्चावस्था को अर्थात् शुद्ध चैतन्य-स्तर को प्राप्त होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। अक्षर पुरुष अर्थात् जीवात्मा भोक्ता है तथा क्षर पुरुष अर्थात् स्थूल प्रकृति भोग्य है तथा इन दोनो से परे पुरुषोत्तम है, जो जीवात्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप से भिन्न नही है। पुरुषोत्तम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यस्वरूप निर्गुण परमब्रह्म परमात्मा है तथा वही मायाशक्तिसहित सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी, सर्वसमर्थ परमेश्वर है। जड प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होकर अर्थात् भौतिक स्तर से ऊपर उठकर साधक की चेतना ऊर्ध्वगामी हो जाती है तथा शुद्ध चैतन्य-स्तर पर दिव्यता की अनुभूति होने पर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

●

---

१ मस्तिष्क मे असख्य अतिसूक्ष्म स्नायु-कोषिकाएँ अथवा न्यूरोन हैं। ये न्यूरोन परस्पर जुडकर टेलीफोन जैसी सम्प्रेषण लाइनें बनाते हैं तथा सूचना सम्प्रेषण की व्यवस्था करते हैं। न्यूरोन सूचना ग्रहण करते हैं तथा पुरानी सूचना (ज्ञान) की स्मृति रखते हैं। न्यूरोन विद्युत्-आवेग को उत्पन्न करते हैं तथा विद्युत्-शक्ति के प्रवाह से सक्रिय होते हैं। मस्तिष्क रहस्यो का भण्डार है।

# अथ षोडशोऽध्याय:

## दैवासुरसंपद्विभागयोग

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति: ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग: शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेज क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सपद दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

**शब्दार्थ :** श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, अभय सत्त्वसशुद्धि ज्ञानयोगव्यवस्थिति च दान=अभय, अन्त करण की शुद्धता, ज्ञान तथा योग में निरन्तर स्थिति अथवा तत्त्वज्ञान के लिए ध्यानयोग इत्यादि मे स्थिति, और दान, दम. यज्ञ स्वाध्याय च तप आर्जव=इन्द्रिय दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप और सरलता। अहिंसा सत्य अक्रोध त्याग शान्ति अपशुन= अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति तथा निन्दा न करना, भूतेषु दया=प्राणियो के प्रति अकारण करुणा-भाव ( हेतुरहित दयाभाव ), अलोलुप्त्व=विषयो के प्रति लोलुप न होना, मार्दव=मृदुता, ह्री.=अनुचित आचरण में लज्जा, अचापल=अचपलता अर्थात् निरर्थक चेष्टा न होना। तेज क्षमा धृति शौच अद्रोह न अति मानिता=उत्तमता का प्रभाव, क्षमा, धैर्य, आन्तरिक और बाह्य पवित्रता, शत्रुभाव से रहित होना, अपने को मान्य ( पूज्य ) न मानना, भारत=हे भरतवशी अर्जुन, दैवीं सपद अभिजातस्य भवन्ति=दैवी सपद् प्राप्त पुरुष के होते हैं।

**वचनामृत** अभय, अन्त करण की निर्मलता, तत्त्वज्ञान तथा उसकी प्राप्ति के लिए ध्यान आदि योग मे दृढ स्थिति, दान, इन्द्रिय दमन, यज्ञ ( यज्ञ-भावना से उत्तम कर्म करना ), स्वाध्याय, तप ( कर्तव्य-पालन एव प्रभु-प्राप्ति के लिए कष्ट सहन करना ), सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अनिन्दा, हेतुरहित दयाभाव, विषयो के प्रति अलोलुपता, मृदुता, अनुचित कर्म मे लज्जा, अचपलता ( निरर्थक चेष्टा न होना ), तेज ( उत्तमता का प्रभाव ), क्षमा, धैर्य, भीतर और बाहर शुद्धता, शत्रुभाव न होना, अपने को अतिमान्य न मानना, ये दैवी सम्पदा को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं।

**सन्दर्भ** दैवी सम्पदा के छब्बीस लक्षण गिनाये गये हैं। इन श्लोको को कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत :** जीवन की दो दिशाएँ हैं। मनुष्य किसी भी एक दिशा को चुनने के लिए स्वतन्त्र है। एक दिशा उत्थान की है, दूसरी दिशा पतन की, एक विकास की है, दूसरी विनाश की, एक प्रकाश की है दूसरी अधकार की तथा एक आनन्द की है, दूसरी दु ख की। भगवान् श्रीकृष्ण दैवी सम्पद् के गुणो तथा आसुरी सम्पद् के दुर्गुणो की परिगणना करते हुए स्पष्ट घोषणा करते हैं कि एक मार्ग दु ख से पूर्ण मुक्ति की ओर ले जाता है तथा दूसरा दु ख-वन्धन मे डाल देता है। एक मार्ग उत्तम पुरुषो अथवा सज्जनो के लिए है, दूसरा निकृष्ट मनुष्यो अथवा दुर्जनो के लिए है। विवेकी पुरुष दैवी सम्पदा अर्जित करके आनन्द प्राप्त करते हैं तथा अविवेकी जन आसुरी सम्पदा के अधकार मे भटककर दु ख को प्राप्त होते हैं। मनुष्य अपने सुख और दु ख का उत्तरदायी स्वय ही है तथा अपने क्लेशो के लिए अन्य मनुष्यो अथवा परिस्थितियो को दोष देना मूढता है। मनुष्य जैसे मार्ग का

अवलम्बन करता है, वैसा ही परिणाम प्राप्त करता है। भगवान् श्रीकृष्ण दैवी सम्पदा के मार्ग मे छब्बीस प्रकाशदीपो की परिगणना करते है। दैवी सम्पदा ही मनुष्य की सच्ची सम्पदा है।

सद्‌गुणो में प्रथम और प्रमुख अभय है। अभय समस्त गुणो का आधार है। अभयजल से सिंचित होने पर ही सद्‌गुणों का वृक्ष फलता-फूलता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने दैवी सम्पदा के गुणो की परिगणना मे सर्वप्रथम अभय का उल्लेख किया है। 'अभय' वर्णमाला के सर्वप्रथम अक्षर 'अ' से प्रारम्भ होता है, मानो अभय समस्त सद्‌गुणो का आदि है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि दैवी मार्ग का आश्रय लेने के लिए सर्वप्रथम सम्पूर्ण भय त्यागकर अभय हो जाना चाहिए। पूर्णत भयमुक्त पुरुष तो ब्रह्म ही हो जाता है।[1] समस्त सद्‌ग्रन्थो तथा महापुरुषो ने अभय के महत्त्व का गुणगान किया है[2]। अभय पुरुष ही दूसरो को अभय कर सकता है। जिसके मन में सबके प्रति सद्‌भावना है तथा किसीके प्रति द्वेषभाव एव शत्रुभाव नही है, वह अभय होता है। जो मनुष्य किसी दूसरे को न सताता है और न डराता है, वह किसीसे डरता भी नही है। मनुष्य परमात्मा के स्वरूप मे स्थित होकर पूर्णत· अभय हो जाता है। वास्तव मे भगवान् से सम्बन्ध स्थापित करके ही मनुष्य पूर्णत भयरहित हो सकता है। सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र विद्यमान भगवान् की शरण मे जाकर मनुष्य अभय हो जाता है।[1] भगवान् की कृपा मे अखण्ड विश्वास होने पर मनुष्य भयमुक्त हो जाता है तथा विषम परिस्थितियो को भी सुगमता तथा शाति से पार कर लेता है। भगवद्‌भक्त कभी नही डूबता। प्रभु से नाता छोड़कर तथा सासारिक प्रलोभनो मे फँसकर मनुष्य स्वार्थ-पूर्ति के लिए अशोभनीय कुकर्म करता है। भौतिक समृद्धि पाकर भी भयभीत एव अशान्त रहता है। सासारिक भोगो के लिए छिपकर तथा कपट से कुकर्म करनेवाले मनुष्य के अवचेतन मन मे अनजाने ही दण्डित एव अपमानित होने का

---

१ 'अभयं वै ब्रह्म।' 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति।'

'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म'—यह अमृत, यह अभय, यह ब्रह्म है।

२. अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः।
तस्यापि सर्वभूतेभ्यो न भयं विद्यते क्वचित्॥
—विष्णुपुराण

—जो सभी प्राणियो को अभय-दान करके घूमता है, उस साधु-पुरुष को किसी प्राणी से कोई भय नही रहता।

'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा।' —मधुसूदन

—अर्थात् सब प्राणी मुझसे अभय हो।

'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्मेऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभय प्रतिष्ठा विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति।'

—जब मनुष्य इस अदृश्य अशरीरी अनिर्वाच्य निराधार ब्रह्म मे अवस्थित होता है तो अभय को प्राप्त हो जाता है।

यतो-यत समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं न पशुभ्यः॥
—यजुर्वेद, ३६.२२

—हे सर्वव्यापक प्रभो, हमे मनुष्य और हिंसक प्राणियो से अभय कर।

'मा भेर्मा संविक्था।'
—यजुर्वेद, १ २३

—तू मत डर, मत उद्विग्न हो

१ सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम॥
—वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, १८ ३३

—श्रीराम कहते हैं कि जो एक बार भी शरणागत होकर 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा निवेदन करता है मैं उसे सब प्राणियो से अभय दे देता हूँ, यह मेरा प्रण है। भगवान् अपने शरणागत भक्त को कभी डूबने नही देते तथा रहस्यमय प्रकार से रक्षा कर देते हैं, यह असख्य सन्तो का अनुभव है।

'न बिभेति कदाचनेति', 'न बिभेति कुतश्चनेति'
—तैत्तिरीय उप०

भय प्रविष्ट हो जाता है तथा प्रचुर भोग-सामग्री के मध्य मे रहकर एव अस्त्र-शस्त्रो से सुरक्षित होकर तथा वीरता का स्वाग रचते हुए भी अपने मन मे भयग्रस्त रहता है। कपटपूर्ण एव पापपूर्ण कर्म से अपराध-भावना उत्पन्न होती है और इससे मन सशयग्रस्त एव भयग्रस्त बन जाता है। जहाँ मन निष्कपट, स्वच्छ और सरल है, जहाँ कर्तव्य-निष्ठा है, जहाँ भगवान् के प्रति दृढ श्रद्धा है, वहाँ अभय है। जहाँ कपट, छल और स्वार्थ है, जहाँ कर्तव्य-पालन मे प्रमाद है तथा जहाँ भगवद्-श्रद्धा क्षीण है, वहाँ भय है। स्वार्थी और पापी मनुष्य डरता है तथा सीधा-सच्चा मनुष्य निडर होता है। 'न कर न डर' पुरानी उक्ति है। जो पाप-कर्म नही करता, वह मिथ्या दोषारोपण होने पर भी अभय रहता है। 'सांच को आंच नही।' सत्यनिष्ठ पुरुष को भय नही सताता।

मनुष्य पुरानी भूलो के लिए सच्चा पश्चात्ताप करने से तथा भविष्य मे अपराधो की पुनरावृत्ति न करने के सकल्प से पवित्र ( शुद्ध ) हो जाता है। सच्चा पश्चात्ताप मनुष्य के पाप-सस्कारो को धोकर मन को निर्मल कर देता है तथा अपराध-भावना एव आत्मग्लानि से मुक्त कर देता है। मनुष्य विवेक के प्रकाश मे सच्चा पश्चात्ताप कर सकता है। भावुक होकर विगत भूलो का बार-म्बार स्मरण करना अविवेक ही है। सच्चे मन से भगवान् से क्षमा-याचना करने पर मनुष्य भगवान् की दृष्टि मे अपराधमुक्त तथा पवित्र हो जाता है।

मनुष्य को मृत्यु, जरा ( वृद्धावस्था ), व्याधि ( रोग ), प्रतिष्ठा-हानि ( अपमान और निन्दा ), सत्ता-हानि ( प्रतिष्ठाप्रद पद का छूटना ), जन हानि ( प्रिय व्यक्ति की मृत्यु ) आदि का भय ग्रस्त करके उद्विग्न कर देता है। भय मन मे उद्वेग, सन्ताप, सशय, व्याकुलता और अशाति उत्पन्न करके मन को दुर्बल बना देता है तथा रक्तचाप-दोष, व्रण, अपच, अनिद्रा आदि रोग उत्पन्न कर देता है। भयभीत मनुष्य, जो निरन्तर मन मे 'कही यह न हो जाय, वह न हो जाय', ऐसी आशकाओ से ग्रस्त रहता है, ससार का सबसे अधिक दयनीय प्राणी होता है। भयभीत मनुष्य न जीवित होता है और न मृतक ही। भयमुक्त मनुष्य पृथ्वी पर निर्द्वन्द्व एव सुप्रसन्न होकर विचरण करता है। अभय होने का अर्थ उद्दण्ड एव अविनयी होना नही है। अध्यात्मभाव मे निमग्न रहनेवाले सन्त पुरुप प्रत्येक अवस्था मे सुशान्त और सुप्रसन्न रहते हैं। भयभीत मनुष्य न कभी सत्य का सदर्शन कर सकता है और न कभी सुख का ही अनुभव कर सकता है। समस्त साधना का प्रथम उद्देश्य अभय होना ही है, क्योकि मनुष्य अभय होकर ही जीवन मे कोई उत्तम उपलब्धि कर सकता है तथा जीवन का लाभ उठा सकता है। अभय होना मनुष्य की प्रथम और प्रमुख आवश्यकता है।

सत्त्व-सशुद्धि ( अन्त करण की पवित्रता ) दूसरी दैवी सम्पदा है। मनुष्य के अन्त करण ( मन, बुद्धि, चित्त, अहकार ) को आसक्ति, कामना, प्रलोभन, शोषण, घृणा, ईर्ष्या, कपट, कटुता, क्रोध, प्रतिशोध इत्यादि विकार दूषित और दुर्बल कर देते हैं। चित्त के सशुद्ध अथवा विकारमुक्त होने पर ही मनुष्य को अभय, शाति एव स्थिरता का अनुभव हो सकता है तथा परमात्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।[1] सत्त्वसशुद्धि होने पर ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार एव जन-सेवा का अधिकारी होता है।

ज्ञान योग-व्यवस्थिति दैवी मार्ग का तृतीय प्रकाश-स्तम्भ है। आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना तथा भक्ति, ध्यान, जप, भजन, कीर्तन आदि उपाय करना ज्ञान तथा योग मे अवस्थित होना है। भगवान् करुणानिधान हैं तथा शरणागत को सन्मार्ग पर आरूढ करके उसकी रक्षा करते हैं, ऐसी दृढ निष्ठा होना व्यवस्थिति है। व्यवस्थिति का अर्थ है निराश न होकर दृढ रहना।

दान चतुर्थ दैवी सम्पदा है। दान का सम्बन्ध अपरिग्रह से है। न्यायोपार्जित धन अर्थात् सचाई

१ 'नितान्तनिर्मलस्वान्त. प्रमाता अधिकारी।'

और परिश्रम से कमाये हुए धन मे से कुछ अश शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार अन्य प्राणियो की सेवा के लिए श्रद्धापूर्वक अर्पित करना दान है।[1] प्रेम, करुणा तथा विनम्रता दान को उदात्त बना देते हैं। उत्तम पुरुष वृक्ष की भाँति सहजभाव से दान देते हैं। दान देने से तन, मन और धन पवित्र होते है। दान-वृत्ति आत्मकल्याण तथा समाज-कल्याण का आधार है। 'दानाय अर्ज्यते' अर्थात् दान के लिए ही धन अर्जन करना, वितरण के लिए ही धन कमाना आत्म-कल्याण तथा विश्वकल्याण का सूत्र है। जन-सेवा को प्रभु-सेवा माननेवाले श्रेष्ठ पुरुष अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओ को न्यूनतम करके अपने धन का अधिकतम उपयोग दीन-दुखी जनो के कष्ट-निवारण के लिए करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष दान देने का अभिमान नही करते, धन्यवाद की भी इच्छा और आशा नही करते।

पाँचवी दैवी सम्पदा दम का अर्थ है चक्षु, कर्ण, नेत्र आदि इन्द्रियो का उचित निग्रह।[2] यद्यपि पवित्र बुद्धि ही मन के द्वारा इन्द्रियो पर नियन्त्रण करती है, तथापि प्रत्येक स्तर पर सावधान रहने की आवश्यकता है।

यज्ञ दैवी सम्पदा का छठा रत्न है। यद्यपि 'यज्ञ' के अनेक अर्थ किये जाते हैं, तथापि यज्ञ का मुख्य अर्थ है अग्निहोत्रादि द्वारा देव-पूजा करना,

१ श्रद्धया देयं, अश्रद्धयाऽदेयम्, श्रिया देयं, ह्रिया देय, भिया देयं, संविदा देयम्। —तैत्तिरीय उप०, १ ११ ३
—श्रद्धा से दें, अश्रद्धा से अदेय है। प्रचुर मात्रा मे दें, नम्रता से दे, भगवान् का भय मानकर दें, करुणाभाव से दें। सत्ता, यश इत्यादि के स्वार्थ से धन देना निवेश (पूँजी लगाना) के सदृश है।

२. दमश्च स्वाध्याय प्रवचने—तैत्तिरीय उप०।
—दम (इन्द्रिय-दमन), स्वाध्याय और प्रवचन करें।

निस्स्वार्थ परोपकार-भावना से प्रेरित होकर सेवा-कार्य करना।[1]

स्वाध्याय दैवी सम्पदा के मार्ग का सातवाँ प्रकाश-स्तम्भ है। आत्मोन्नति के लिए ज्ञानवर्धक सद्ग्रन्थो का अध्ययन करना स्वाध्याय है। मात्र प्रवचन, पाण्डित्य-प्रदर्शन, परीक्षा आदि के लिए अध्ययन करना स्वाध्याय नही कहलाता। बौद्धिक एव आध्यात्मिक विकास के लिए उत्तम ग्रन्थो का रुचिपूर्वक अनुशीलन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय जिज्ञासा के समाधान का एव गहन तृप्ति का साधन है तथा व्यक्तित्व के विकास मे सहायक है।[2]

तप दैवी सम्पद् मार्ग का आठवाँ स्तम्भ है। तप तीन प्रकार के है—शारीरिक, वाचिक (वाणी का) तथा मानसिक।[3] कर्तव्य-पालन की दृष्टि से तथा बौद्धिक एव आध्यात्मिक प्रगति के लिए सहर्ष ऐसा कष्ट उठाना, जो सहन हो सके, तप कहलाता है। शरीर को असहनीय यत्रणा एव यातना देना अविवेक है। तप का उद्देश्य शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को अनुशासित एव नियन्त्रित रखना है। गृहस्थजन घर मे रहकर भी पञ्चेन्द्रिय तप करते हैं।[4]

१ भगवान् श्रीकृष्ण ने यज्ञ की विस्तृत चर्चा तीसरे अध्याय (श्लोक १० से १६) मे की है।

२. ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च, सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च, तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च, दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च, शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
—तैत्तिरीय उप०, १ ९ १
—ऋत् प्रवचन, सत्य, तप, दम, शम के साथ स्वाध्याय जुडा हुआ है।

३. सत्रहवें अध्याय मे तप की विस्तृत व्याख्या है।

४ वनेऽपि दोषा. प्रभवन्ति रागिणाम्।
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तप.॥
—मन मे राग-द्वेष रहने पर वन मे तप करनेवाले मनुष्यो को भी दोष उत्पन्न हो जाते हैं तथा विवेकी पुरुष

आर्जव अर्थात् ऋजुता (सरलता) दैवी सम्पदा का नौवाँ रत्न है। सीधा-सच्चा मनुष्य ही शान्ति और सुख का अनुभव कर सकता है। उत्तम पुरुष विचार, वचन और व्यवहार मे (मन, वाणी और कर्म मे) एकरूप होते हैं।[1] ऋजुता का अर्थ असावधानता अथवा मूर्खता नही है। वास्तव मे कुटिलबहुल समाज मे सरल मनुष्य को विशेष सावधान रहना चाहिए। कपटी और कुटिल लोग अन्य सभी को मूर्ख समझते हैं तथा कपट, कुटिलता और झूठ का सहारा लेने के कारण अपने अन्त-करण को दूषित बना लेते हैं। कुटिलजन धन, समृद्धि और सुख के प्रचुर साधन प्राप्त करके भी सुख एव शान्ति का अनुभव नही कर पाते तथा अनेक शारीरिक तथा मानसिक कष्टो से ग्रस्त हो जाते हैं। कुटिल लोग अपनी कुटिलता के चक्र मे स्वय फँस जाते हैं, जैसे मकडी अपने ही जाल मे फँस जाती है। कुटिल व्यक्ति अपनी कुटिलता के बल पर तथा सीधा-सच्चा भगवद्भक्त भगवद्-कृपा पर विश्वास करता है। कुटिल व्यक्ति अन्त मे क्लेश को प्राप्त होता है तथा सीधा-सच्चा भगवद्-भक्त सुख-शान्ति प्राप्त कर लेता है।

भगवान् श्रीकृष्ण दूसरे श्लोक मे दैवी सम्पद् का प्रारम्भ अहिंसा से करते हैं। अहिंसा का महत्त्व अभय की भाँति सर्वाधिक है तथा अहिंसा और अभय का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अहिंसा का अर्थ है समस्त प्राणियो मे ईश्वर का निवास मानकर तथा जीवन की पवित्रता, गरिमा एव प्रतिष्ठा को स्वीकार कर, किसी प्राणी को न मारना और न सताना। मन, वचन अथवा कर्म से किसीका शोषण अथवा उत्पीडन करना हिंसा है। किसीका अहित चिन्तन करना तथा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे अहित करना भी हिंसा है। अहिंसा-व्रत का धारक समस्त प्राणियो के प्रति निर्वैर एव द्वेषरहित होता है।[1] अहिंसा-व्रत के सिद्ध होने पर अहिंसक सन्त के निकट आनेवाले हिंसक एव विषैले जीव हिंसा त्याग देते हैं। दण्ड और हिंसा मे भेद है। न्यायाधिकारियो इत्यादि द्वारा दण्ड देना व्यक्ति तथा समाज के हित मे होता है। अहिंसा का अर्थ केवल वैर त्याग एव द्वेष-त्याग करना ही नही है, बल्कि सबके प्रति सद्भावनापूर्ण होना भी है।

सत्य दैवी सम्पदा का शिरोमणि तत्त्व है। सत्य की खोज, सत्य का आचरण तथा सत्यनिष्ठ होकर सत्य का सदर्शन करना जीवन का साध्य है। समस्त सद्ग्रन्थ सत्य की महिमा को प्रतिष्ठित

घर में रहकर भी पाँचों इन्द्रियो का निग्रह करके तप कर लेते हैं। मनोनिग्रह एव इन्द्रिय-निग्रह ही वास्तविक तप है अर्थात् मन और इन्द्रियों को राग-द्वेषरहित करना ही तप है।

१ मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येक महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥
—महात्माजन मन, वाणी और कर्म मे एकरूप होते हैं, किन्तु दुष्टजन सोचते कुछ हैं, कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं।

१ 'अहिंसा वैरत्याग।' 'अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग।'—पतञ्जलि। अर्थात् अहिंसा के प्रतिष्ठित (सिद्ध) होने पर अहिंसक सत के निकट हिंसक प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये यम हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह—महर्षि मनु के अनुसार ये पाँच सब मनुष्यो के लिए पालनीय हैं। भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर तथा महात्मा गाधी ने अहिंसा के स्वरूप का विशेष विवेचन किया है। कुटिलजन धर्म की आड लेकर प्राणियो की बलि के रूप मे हिंसा का औचित्य सिद्ध करते हैं। अनेक लोग क्षणिक स्वाद के लिए निरीह पशु-पक्षियो की हत्या करते तथा कराते हैं। हिंसक मनुष्य आध्यात्मिक नहीं हो सकता। गांधीजी ने कहा था—'पौरुष का सार यह है कि पशु-जगत् और वनस्पति-जगत् के सभी प्राणियों का ज्यादा-से-ज्यादा ख्याल रखा जाय। जो सुख की खोज में दूसरों का ख्याल नहीं रखता, वह जरूर इन्सान से कुछ घटिया है। वह विचारहीन है।'

करते हैं। ससार असत् अर्थात् क्षणभगुर एव विनश्वर है तथा परमब्रह्म परमात्मा ही सत्स्वरूप एव परमसत्य है। चिन्तन, कथन और कर्म मे सत्य का अवलम्बन एव अनुसरण करने से अन्त-करण निर्मल हो जाता है।[१] यदि मनुष्य मे सत्य और न्याय का समर्थन करने की सामर्थ्य न हो तो सत्य और न्याय का विरोध भी नही करना चाहिए। सत्य की साधना के सफल एव सिद्ध होने पर क्रिया और फल मनुष्य के अधीन हो जाते है।[२] सत्य और असत्य के सघर्ष मे अन्ततोगत्वा सत्य की विजय अवश्य होती है।[३] सत्य ही शिव (कल्याणकारी) तथा सुन्दर है।[४] सत्य शाश्वत होता है। भगवान् महावीर तथा महात्मा गाधी ने तो सत्य को भग-वान् कहा है।

'अक्रोध' का अर्थ है क्रोध का अवसर होने पर भी क्रोध न करना। क्रोध अविवेक का लक्षण है। विवेकशील पुरुष धीर-गम्भीर होते है। वे सिद्धान्त पर दृढ एव अडिग रहकर भी परम शान्त और शीतल रहते है। मन मे उत्तेजित होना सर्वप्रथम अपनी ही हिंसा है। मन और शरीर को क्रोधाग्नि मे जलाना अविवेक ही है। क्रोध के मूल मे घृणा का विष होता है, जो अन्य व्यक्ति द्वारा अपनी इच्छा एव आशा के प्रतिकूल व्यवहार होने पर देह के भीतर उत्पन्न हो जाता है। घृणा के विष का क्रोध के रूप मे विस्फोट हो जाता है। घृणा विजातीय तत्त्व है, क्योकि प्रेम ही अन्त करण की सच्ची वृत्ति है। मनुष्य स्वभावत परस्पर प्रेम करना चाहता है, किन्तु स्वार्थ, इच्छा और आशा के अनुरूप व्यवहार के अभाव मे प्रेमामृत घृणा-विष के रूप मे परिणत हो जाता है तथा अवसर आने पर उसका सहसा विस्फोट हो जाता है। मनुष्य को अन्तर्मुखी होकर अपने घृणा-विष को देखना चाहिए तथा उसे प्रेमामृत द्वारा धो देना चाहिए। क्रोध करना एक दोष है, ऐसा स्वीकार कर लेना आवश्यक है।[१] क्रोध करना न अपने हित मे होता है और न दूसरो के। धैर्यवान् मनुष्य दृढ एव शान्त रहकर समस्या का समाधान करते हैं, किन्तु क्रोध नही करते। क्रोध अपने तथा दूसरे के मध्य अन्तर उत्पन्न करके परिस्थिति को विषम बना देता है। अनुचित बात के लिए अपनी असह-मति एव रोष प्रकट करना उचित है, किन्तु उत्ते-जित होना अनुचित है। जिस प्रकार ठढा लोहा गर्म लोहे को तोड देता है उसी प्रकार दृढ एव शान्त मनुष्य अन्त मे क्रोधी मनुष्य पर विजय प्राप्त कर लेता है। क्रोध मानसिक सन्तुलन बिगाड देता है तथा क्रोधी मनुष्य अपनी वाणी और व्यवहार का सयम खो बैठता है।[२] अहिंसा, सत्य और

---

१. 'मनः सत्येन शुध्यति'—मन सत्य के अभ्यास से शुद्ध होता है। 'सत्यपूता वदेत् वाचं'—सत्य से पवित्र हुई वाणी बोलना चाहिए।

२. सत्यप्रतिष्ठाया क्रियाफलाश्रयत्वम्।

—पातञ्जल योगशास्त्र

अर्थात् सत्य के प्रतिष्ठित होने पर क्रिया और फल साधक के अधीन हो जाते हैं।

३. सत्यमेव जयते—सत्य की ही विजय होती है।

४. सत्यं शिव सुन्दरम्।

---

१ ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्ट. क्रोधनो नित्यशकितः।
परभाग्योपजीवो च षडेते नित्यदु खिता.॥

—हितोपदेश

—अर्थात् ईर्ष्यालु, घृणा करनेवाला, असन्तोषी, क्रोधी, शकाशील और दूसरो के भाग्य पर निर्भर—ये छह सदा दु खी रहते हैं।

२ शङ्कराचार्य अक्रोध और शान्ति मे भेद करते हैं। उनके अनुसार क्रोध आने पर क्रोध को रोक लेना अक्रोध है तथा शान्ति उससे आगे की अवस्था है। शान्त पुरुष के मन मे क्रोध उत्पन्न ही नही होता।

क्रोधो हि धर्मं हरति यतीना दुःखसञ्चितम्।
ततो धर्मविहीनाना गतिरिष्टा न विद्यते॥

—वेदव्यास

अक्रोध का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन मे क्रोध उत्पन्न होने पर मनुष्य को मौन होकर सयम का परिचय देना चाहिए। उत्तम पुरुष के मन मे तो क्रोध उत्पन्न होता ही नही। अक्रोध का अभ्यास मनुष्य के मन मे स्थायी शान्ति का प्रादुर्भाव कर देता है। मनुष्य की महानता तभी है, जब उसके चारो ओर सब उत्तेजित होकर विवेक खो रहे हो तथा वह विवेकपूर्वक शान्त रहता है।

भगवान् श्रीकृष्ण त्याग की महिमा का वर्णन गीता मे अनेक स्थलो पर करते हैं। त्याग प्रकृति का नियम है। जगत् के हित मे वृक्ष पत्तो, फूलो और फलो का त्याग करते है, मेघ तथा नदियाँ जल का त्याग करती हैं, सूर्य प्रकाश और ऊष्मा का त्याग करता है तथा चन्द्रमा ज्योत्स्ना का त्याग करता है। मनुष्य के लिए भी आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का त्याग कर देना हितकर है। व्यक्तियो के सद्भावनापूर्ण त्याग के द्वारा ही स्वस्थ एव समृद्ध समाज का निर्माण होता है। त्याग-भावना के अभाव मे अशान्ति और असन्तोष पनपते हैं। किन्तु अन्तरग त्याग के बिना केवल बाह्य त्याग करना सारहीन है। त्याग की भावना मूलत होने से ही त्याग पूर्ण होता है। त्यागपूर्वक भोग करना वेदोपदेश है।[1] आसक्ति एव कामना का त्याग तथा कर्मफल का त्याग मनुष्य को कर्मबन्धन से मुक्त कर देता है।

शान्ति दैवी सम्पदा का परमोज्ज्वल रत्न है। प्रत्येक मानव शान्ति चाहता है, किन्तु शान्ति का उपाय करने पर ही शान्ति प्राप्त होती है। यह एक विडम्बना है कि सभी शान्ति चाहते हैं, किन्तु चलते हैं अशान्ति की राह पर। जड जगत् के भौतिक पदार्थों के पीछे भटकने से शान्ति कदापि प्राप्त नही हो सकती। शान्ति जड जगत् की वस्तु नही है। चैतन्य आत्मा ही शान्ति का स्रोत एव भण्डार है। अन्तर्मुख होने और अन्त करण को निर्मल करने से ही शान्ति का अनुभव हो सकता हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ससार को छोड़ने की आवश्यकता नही है, सासारिकता छोडने की आवश्यकता है। वस्तुओ और व्यक्तियो को छोडने की आवश्यकता नही है, बल्कि उनके प्रति आसक्ति एव मोह का त्याग करने की आवश्यकता है।[1] त्याग और मानसिक शान्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव मे आत्मा शान्तस्वरूप है तथा मन आत्मा के प्रकाश एव प्रभाव मे स्थित होकर निर्विकार एव शान्त हो जाता है। मन को काम, क्रोध, लोभ, स्वार्थ, अहकार आदि विकार क्षुब्ध करके अशान्त कर देते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि त्यागपूर्वक भोग करने से अर्थात् मन को निर्विकार रखकर सासारिक भोग करने से मन क्षुब्ध एव अशान्त नही होता। मन को स्वार्थ आदि विकारो से मुक्त रखने मे निरन्तर सावधान रहने की आवश्यकता है। विकारमुक्त मन मे क्रोध कदापि उत्पन्न नही होता तथा शान्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है। प्रत्येक बार क्षुब्ध एव अशान्त होने से शक्ति का क्षय होता है तथा मन और शरीर का सन्तुलन बिगड जाता है। मानसिक शान्ति की सुरक्षा करना अपने मन और शरीर की सुरक्षा करना है। ससार मे तो भली-बुरी तथा अनुकूल-प्रतिकूल घटनाएँ घटित होती ही रहती हैं, किन्तु विवेकी मनुष्य विषम परिस्थितियो मे भी उनसे ऊपर उठकर निरन्तर सम और शान्त रहता है।

---

—क्रोध धर्म का हरण कर लेता है।

'वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।'

—वाल्मीकि

—क्रोधावेश मे मनुष्य यह भूल जाता है कि क्या कहना चाहिए तथा क्या न कहना चाहिए।

१ 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा.।' —ईशावास्य उप०
—अर्थात् त्यागपूर्वक भोग करो।

१. त्यागात् शान्तिः (गीता, १२ १२), (गीता, २.७०, ७१, ४ ३९, ५.२९ इत्यादि)

अपैशुन एक दैवी सम्पद् है। पैशुन का अर्थ है ईर्ष्या के कारण दूसरे के गुणो की चर्चा न करते हुए केवल दोषो का बखान करना। कुछ लोग ईर्ष्या के कारण दूसरे के गुणो को भी दोषो के रूप मे प्रख्यापित करते है। जिस प्रकार उत्तम पुरुष अहैतुकी कृपा करते हैं उसी प्रकार अधम मनुष्य अकारण द्वेष करते हैं।[1] वे गुणी जनो के सद्गुणो को 'पाखण्ड', 'नाटक', 'चालाकी' इत्यादि कहकर उपहास करते हैं। निकृष्ट जन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो के पास जाकर उनकी चापलूसी करते हुए गुणी पुरुषो की चुगली करके सन्तोष प्राप्त करते हैं तथा परस्पर कलह कराने में अपनी विजय मानने हैं। चापलूसी और चुगलखोरी करने तथा सुनने का त्याग अर्थात् पिशुनता का त्याग अपैशुन है। विनोबाजी ने अनिन्दा को बारहवाँ व्रत कहा है।

प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव होना उत्कृष्ट दैवी सम्पदा है। दया धर्म का मूल है।[2] समस्त प्राणियो के प्रति सद्भावना रखना, सबके मगल मे अपना मगल मानना तथा सबके कल्याण के लिए प्रयत्न करना दयाभाव के अन्तर्गत है। उत्तम पुरुषो का जीवन, उनकी समस्त शक्ति तथा उनका तन, मन और धन दीन-दुखी जनो के कष्ट-निवारण के लिए ही होते हैं। ससार मे दीन-दुखी जनो की निस्स्वार्थ सेवा से बढकर अन्य कोई धर्म नही है। जो मनुष्य पूजा-पाठ मे रत रहकर भी दया-धर्म को नही अपनाता, वह धर्म के मर्म को नही जानता। पवित्र भाव से किसीके आँसू पोछने से, किसीके पैर के कण्टक निकालने से, किसीके मन को शान्त करने से, किसीका पेट भरने से अथवा किसीको सन्मार्ग पर आरूढ करने से बढकर धरती पर अन्य कौनसा सुख है? जो पवित्र भाव से दीनो पर दया करता है, वह मानो दीनबन्धु भगवान् है। जो दूसरो के आँसू पोछता है तथा दूसरो की रक्षा करता है, भगवान् उसके आँसू पोछता है तथा उसकी रक्षा करता है। दूसरो को कष्ट न देना अहिंसा है तथा दूसरो का दुख दूर करने का प्रयत्न करना दया है।

अलोलुप्त्व का अर्थ है स्वादिष्ट भोजन, भोगैश्वर्य, धन, सम्पदा, पद, सत्ता, सम्मान आदि भोग्य पदार्थों की प्राप्ति अथवा वृद्धि के लिए लोलुप न होना, अथवा न ललचाना। लोलुपता का आविर्भाव आसक्ति से होता है। लोलुपता मनुष्य को चपल, कुटिल और अशान्त बना देती है। वास्तव मे ससार के पदार्थों मे दोप नही है तथा आवश्यकतानुसार उनके उपभोग मे भी दोष नही है, किन्तु लोलुप होना अथवा आसक्त होना एक दोष है। अलोलुपता अथवा अनासक्ति दैवी गुण है।

मार्दव अर्थात् वचन और व्यवहार मे मृदुता सज्जनता का लक्षण है। सर्वत्र आत्मदर्शन करनेवाला अथवा सारे विश्व को प्रभुमय देखनेवाला किसीके प्रति कठोर, कटु और क्रूर नही होता तथा उसकी वाणी और कर्म मे माधुर्य ओतप्रोत रहता है। उसका हृदय कोमल होता है। उत्तम मनुष्य बलशाली और दृढ होकर भी उद्दण्ड व अशिष्ट नही होते।[1]

ह्री का अर्थ है अशोभनीय वचन और कर्म मे लज्जा का अनुभव। लज्जाशील सत्पुरुष कुकर्म नही करता तथा निर्लज्ज व्यक्ति कुकर्मरत हो जाता है। चरित्र की प्रतिष्ठा का ज्ञान होने पर

---

१ सन्त तुलसीदास ने परनिन्दा-कुशल दुष्टो का विशद वर्णन रामचरितमानस मे अनेक स्थलो पर किया है।

२ दया धर्म का मूल है, पापमूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँडिये, जब लग घट मे प्रान॥
सभी धर्म दयाधर्म की शिक्षा देते हैं। अहिंसा भी दया के अन्तर्गत है।

१ वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
—राम वज्र से अधिक कठोर तथा पुष्प से अधिक मृदु हैं।

मनुष्य लज्जाशील हो जाता है। उत्तम पुरुष अपनी प्रशसा सुनने मे भी लज्जा का अनुभव करते हैं।

अचापल अथवा अचपलता का अर्थ है व्यर्थ चचल न होना। विना प्रयोजन बोलना अथवा चेष्टा करना चपलता है। यह चित्त की एकाग्रता मे बाधक है। चचलता शक्ति को क्षीण करती है। मन और इन्द्रियो की चचलता पर विजय पाकर ही मनुष्य एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। चित्त-वृत्ति अर्थात् चित्त की चचलता का निरोध करना योग है।

तीसरे श्लोक मे प्रथम दैवी सम्पद् तेज है[१]। तेज का अर्थ है जड देह और इन्द्रियो के आकर्षण एव प्रभाव से मुक्त होकर तथा चित्स्वरूप एव प्रकाशस्वरूप आत्मा के दिव्य आकर्षण एव प्रभाव मे अवस्थित होकर तेजोमय होना। भौतिक पदार्थों के प्रति प्रलोभन, आसक्ति और स्वार्थ छोडनेवाले सत्पुरुष के व्यक्तित्व मे एक ऐसे अनिर्वचनीय प्रभाव, प्रताप अथवा तेज का समावेश हो जाता है कि उसके सम्पर्क मे आनेवाले अन्य मनुष्य उसकी अवज्ञा एव अवहेलना नही कर पाते। चरित्रवान् पुरुष का पुण्य-प्रताप विलक्षण होता है तथा उसके सामने दुष्टजन भी हतप्रभ हो जाते हैं। सन्त-जन के प्रभावक्षेत्र मे आकर पापीजन भी पाप वृत्ति छोडकर पुण्यात्मा हो जाते हैं। आध्यात्मिक विभू-तियो के प्रभामण्डल का तेज (विद्युत् चुम्बकीय आकर्षण एव प्रभाव) विलक्षण होता है।

क्षमा मनुष्यता की महोच्चता है। महानता की परीक्षा मनुष्य के क्षमाभाव के आकलन द्वारा होती है। मनुष्य जितना ऊँचा उठ जाता है, उतना ही सहनशील एव क्षमाशील होता है। क्षमादान क्षमा देनेवाले तथा ग्रहण करनेवाले दोनो को निर्मल कर देता है। केवल वाचिक एव बहिरग क्षमा सारहीन है। अन्तरग क्षमा ही वास्तविक क्षमा है। व्यक्तिगत अपमान अथवा अपराध को उचित अवसर पर पूर्णत क्षमा करना महानता का लक्षण है, यद्यपि प्राय क्षमाभाव को कायरता, चालाकी अथवा मूर्खता कहा जाता है। दण्ड देने का सामर्थ्य होने पर भी प्रेमपूर्वक क्षमा करना हृदय परिवर्तन कर देता है। तेजस्वी पुरुष क्षमा-शील होते हैं।

धृति का अर्थ है विपत्ति के समय धैर्य रखना तथा विचलित न होना। अविचलित, दृढ और सम रहना धृति है। भगवान् की कृपा मे दृढ श्रद्धा करने से तथा अभ्यास करने से धैर्य-शक्ति विकसित होती है। मनुष्य धैर्य द्वारा सकट-सागर को सुगमता से पार कर लेता है। धृति अर्थात् सहन करने की शक्ति अथवा आन्तरिक दृढता का उद्गम मनुष्य के भीतर ही उसके प्रभु-विश्वास, आत्मविश्वास तथा उसके विचारो और आदर्श मे विश्वास से होता है। धृतिवान् पुरुष को शारी-रिक अथवा मानसिक थकावट और निराशा नही होती।

शौच अर्थात् बाह्य और आन्तरिक शुद्धता सत्पुरुष का लक्षण है।[१] अपने निवास-स्थान की शुद्धता तथा मन और बुद्धि की शुद्धता (भावना और विचार की शुद्धता) मनुष्य के व्यक्तित्व को उद्भासित एव गरिमापूर्ण बना देती है। मन राग-द्वेष, छल-कपट, स्वार्थ, अहकार इत्यादि विकारो से मुक्त होने पर शुचि हो जाता है। भगवद्भजन तथा जन-सेवा-कार्य मन को निर्विकार कर देते हैं।

अद्रोह का अर्थ है घृणा एव द्वेष से सर्वथा मुक्त होना। महापुरुष के मन मे किसीके प्रति द्रोह

---

१ प्रथम श्लोक में नौ, दूसरे में ग्यारह तथा तीसरे में छह गुणों का उल्लेख है।

१. 'शौच' का अर्थ यहाँ बाह्य शौच, आहार शुद्धि इत्यादि प्रतीत होता है, क्योंकि आन्तरिक शौच का उल्लेख सत्त्वसशुद्धि के रूप में हो चुका है।

नही होता तथा वह न किसीका तिरस्कार करता और न किसीकी हानि करता है। घृणा और द्वेष अधमता के लक्षण हैं और अद्रोह उत्तमता का लक्षण है। क्षुद्र जन अकारण ही सत्ता (माता-पिता, गुरु, अपने से बड़े अधिकारी) का द्रोह करते है तथा अविनयी एव उद्दण्ड होते हैं।

नातिमानिता (न अतिमानिता) का अर्थ है अपने को दूसरो की दृष्टि मे विशेष अथवा महान् प्रदर्शित करने का प्रयत्न न करना। मिथ्याभिमानी लोग अपने को महान् सिद्ध करते हैं तथा परिष्कृत व्यक्तित्वसम्पन्न मनुष्य विनम्र होते हैं। दैवी सम्पदा के गुणो की गणना मे प्रथम गुण अभय तथा अन्तिम गुण नातिमानिता (अमानित्व) का परस्पर सम्बन्ध है। अभय होकर भी विनम्र होना महानता का लक्षण है। फलदार वृक्ष और गुणीजन विनम्र होकर झुक जाते है।[1] मनुष्य अहकारशून्य होकर सच्ची जन-सेवा कर सकता है तथा भगवान् को प्राप्त हो सकता है। दूसरों के सत्कार से खिन्न होनेवाला तथा सर्वत्र अपनी पूजा की ही लालसा रखनेवाला मिथ्याभिमानी न सुयश पाता है और न सुख शान्ति ही।'

ये छब्बीस गुण दैवी सम्पदा के अन्तर्गत है, जिनका अभ्यास करने से मनुष्य का जीवन सफल और साथक हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण इनमे से कुछ प्रमुख गुणो की चर्चा अन्य स्थलो पर तथा अन्य प्रकार से भी करते है।

**दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध पारुष्यसेव च।**
**अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥**

**शब्दार्थ** पार्थ=हे पृथा के पुत्र अर्जुन, **दम्भः**=पाखण्ड, **दर्पः**=घमण्ड, **च**=और, **अभिमान**[2]=अभिमान, **च**=और, **क्रोधः**=क्रोध, **च**=और, **पारुष्यं**=कठोरता **अज्ञान एव**=(और) अज्ञान भी, **आसुरीं संपद अभिजातस्य**=आसुरी सपदा को प्राप्त हुए मनुष्य के (लक्षण) हैं।

**वचनामृत :** हे पार्थ, दम्भ, दर्प और अभिमान तथा क्रोध और कठोरता, अज्ञान भी—ये सब आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए (अथवा उसे लेकर उत्पन्न हुए) मनुष्य के लक्षण हैं।

**सन्दर्भ :** आसुरी सम्पदा से युक्त मनुष्यो के लक्षणो की गणना है।

**रसामृत** यहाँ आसुरी सम्पदा के छह दुर्गुणो मे सर्वप्रथम दम्भ का उल्लेख हुआ है। दम्भ का अर्थ है पाखण्ड अथवा मिथ्या प्रस्तुतीकरण। सीधा-सच्चा व्यवहार छोडकर तथ्यो को तोड़-मरोडकर प्रस्तुत करना तथा अपने वास्तविक स्वरूप को छिपा लेना दम्भ है। दम्भी पुरुष प्रवचना करते हैं। वास्तव मे निर्धन होकर धनी का, अधर्मी होकर धर्मध्वजी का, कृपण होकर दानी का, अज्ञानी होकर ज्ञानी का तथा साधारण साधक होकर सिद्ध पुरुष का-सा आचरण दिखाना केवल दूसरो के प्रति ही नही, अपने प्रति भी प्रवचना है।

दर्प का अर्थ है किसी प्रकार की शक्ति, अधिकार अथवा सत्ता पाकर अपने आपे से बाहर हो जाना। कुछ लोग अपने कुलीन होने का दर्प करते हैं तथा कुछ मूढ अपने रूप का दर्प करते हैं। अविवेकी पुरुष अपने दान-पुण्य का दर्प करते हैं। दर्पवान् मनुष्य असहिष्णु होकर सबका अपमान करता है तथा सबके साथ कलह करने लगता है। दर्प मनुष्य को जन-समाज से दूर खड़ा कर देता है तथा ऐसा व्यक्ति सबसे तिरस्कृत होकर अन्त मे अकेला पड जाता है। दर्प पतनकारक होता है। पुरानी कहावत है 'घमण्डी का सिर नीचा तथा 'थोथा चना बाजे घना'। खाली घडा शोर करता है तथा भरा घड़ा शान्त रहता है।

अभिमान का अर्थ है अपने को श्रेष्ठ मानकर सर्वत्र और सर्वदा सबसे सम्मान पाने की प्रवृत्ति।

---

१ नमन्ति फलिनो वृक्षा नमन्ति गुणिनो जना।
शुष्ककाष्ठानि मूर्खाश्च न नमन्ति कदाचन॥
—फलदार वृक्ष और गुणीजन झुकते हैं, सूखा पेड और मूर्ख कभी नही झुकते।

२ अभिमान के स्थान पर अतिमान पाठान्तर है।

प्राय सात्त्विक कर्म करनेवाले उत्तम पुरुष भी मान-वडाई की लालसा से ग्रस्त रहते हैं। प्राय धर्मोपदेशक, आचार्यगण और नेतागण, जो दूसरो का मार्गदर्शन करते हैं, आचरण के समय स्वय उन आदर्शों को भूल जाते हैं।[1]

भगवान् श्रीकृष्ण गीता मे प्रारम्भ से अन्त तक विभिन्न स्थलो पर विभिन्न प्रकार से क्रोध को दोष वताकर क्रोध के त्याग का उपदेश देते हैं।[2] क्रोध आसक्ति अथवा कामना से उत्पन्न विकार है। कामनाग्रस्त मनुष्य का स्वभाव क्रोधी होता है। क्रोध विवेक का हरण कर लेता है। क्रोध मनुष्य का अपने भीतर छिपा हुआ घोर शत्रु है, जो क्षणभर मे सुख और शान्ति को नष्ट कर देता है। इच्छा एव आशा के प्रतिकूल परिस्थिति मे अपने भीतर स्थित दग्ध करनेवाली क्रोध-ज्वाला उत्पन्न होकर शरीर और मन की शक्ति का क्षय कर देती है।

पारुष्य का अर्थ वाणी और व्यवहार की कर्कशता, रूखापन एव तीखापन है। परुष (कठोर) व्यक्ति दूसरो को कटु वचन कहता है तथा ताने देता रहता है। परुप मनुष्य दूसरो के दु ख से द्रवीभूत नही होते, वल्कि उनका उपहास करते हैं।

अज्ञान का अर्थ है सत् और असत्, कर्तव्य और अकर्तव्य तथा भले और वुरे का विवेक न होना। अज्ञान अधकार की भाँति एक दोष है तथा यह आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यो की विशेषता है।

दुराचार की ओर प्रवृत्त करनेवाले दुर्गुण आसुरी सम्पदा के अन्तर्गत आते हैं। दभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान आसुरी मनुष्यो के प्रमुख लक्षण हैं।

---

१ पर उपदेश कुशल वहुतेरे,
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।
परोपदेशवेलाया शिष्टा सर्वे भवन्ति वै।

२ गीता, २ ६२, ६३, ४ १०, ५ २३, २६ इत्यादि।

**दैवी सपद्विमोक्षाय निवन्धायासुरी मता।**
**मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥**

**शब्दार्थ :** दैवी संपत् विमोक्षाय आसुरी निबन्धाय मता=दैवी सपदा मुक्ति के लिए (और) आसुरी (सपदा) वन्धन के लिए मानी गयी है, **पाण्डव**=हे अर्जुन, **मा शुच**=तू शोक मत कर, **दैवीं सपदं अभिजात असि**=(तू) दैवी सपदा को प्राप्त हुआ है अथवा दैवी सपदा को लेकर ही उत्पन्न हुआ है।

**वचनामृत :** दैवी सपदा मुक्ति के लिए और आसुरी सपदा वन्धन के लिए मानी गयी है। हे अर्जुन, तू शोक मत कर, क्योकि तू दैवी सम्पदा को अभिलक्ष्य करके अर्थात् दैवी सम्पद् से भूपित होने के लिए उत्पन्न हुआ है।

**सन्दर्भ :** यहाँ दोनो सम्पदाओ का फल कहा गया है।

**रसामृत** कुशल गुरु पग-पग पर अपने शिष्य को प्रोत्साहन देते हैं तथा लक्ष्य-प्राप्ति को सुगम वताते हैं। अकुशल शिक्षक मार्ग को कठिन कहकर शिष्य को हतोत्साह कर देते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन को विभिन्न स्थलो पर विभिन्न प्रकार से आध्यात्मिक उपदेश का सत्पात्र कहकर उसे प्रोत्साहित करते हैं। वे कहते हैं—"हे अर्जुन, तू किसी प्रकार की चिन्ता मत कर, क्योकि तू स्वभाव से ही दैवी सपदा से युक्त है और तेरे लिए उच्च आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त होना कठिन नही है। तू मुक्ति का अधिकारी है। दैवी सम्पदा मुक्ति प्रदान करती है तथा आसुरी सम्पदा वन्धनग्रस्त करती है। भगवान् कहते हैं कि दैवी सम्पदा को स्वभावगत लेकर उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, (वे मनुष्य, जिनमे दैवी सम्पदा के लक्षण स्वभाव से विद्यमान हो) अथवा वे मनुष्य, जिन्होने साधना द्वारा दैवी सम्पदा को प्राप्त किया है, दैवी सम्पदावाले मनुष्य कहलाते हैं तथा उनकी दैवी सम्पदा ससार के वन्धनो से मुक्ति का साधन हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य को दैवी सम्पदा के गुणो का विकास करने का पूर्ण

प्रयत्न करना चाहिए। दैवी गुणो के प्रकट होने से चित्त-शुद्धि होने लगती है तथा परमात्मा को प्राप्त होने की पात्रता आ जाती है। आसुरी दुर्गुणो के पनपने से ससार के बन्धन कठिन होते जाते है। मनुष्य को आसुरी दुर्गुणो का परित्याग करके दैवी गुणो के ग्रहण का प्रयत्न करते रहना चाहिए। भगवान् दैवी सपदा के गुणो के विकास के लिए निरन्तर प्रयत्न करने का उपदेश देते हैं।

**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।**
**दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥**

**शब्दार्थ** पार्थ=हे अर्जुन, अस्मिन् लोके भूतसर्गौ द्वौ=इस लोक मे भूतो ( प्राणियो ) की सृष्टि दो प्रकार की है अर्थात् मनुष्य-समुदाय दो प्रकार का ( है ), दैव च आसुर =एक दैव तथा दूसरा असुरो जैसा, दैव एव विस्तरशः प्रोक्त. आसुरं मे शृणु=दैव-स्वभाव ही विस्तारपूर्वक कहा गया है, आसुर-स्वभाव को मुझसे सुन।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, इस लोक मे भूतो की सृष्टि ( मनुष्य-समुदाय ) के दो वर्ग हैं—एक दैवी और दूसरा आसुरी। दैवी प्रकृतिवाला वर्ग तो विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है, अब तू मुझसे आसुरी प्रकृतिवाले वर्ग के विषय मे सुन।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण आसुरी स्वभाववाले मनुष्यो के वर्णन की भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं।

**रसामृत :** मनुष्यो के समुदाय के मुख्यत दो वर्ग हैं—दैवी प्रकृतिवाले और आसुरी प्रकृतिवाले। दैवी प्रकृतिवाले मनुष्य सात्त्विक वृत्ति के होते हैं। आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यो के अन्तर्गत ही राक्षसी प्रकृतिवाले मनुष्य भी हैं।[१] श्रीकृष्ण ने तीन श्लोको में दैवी सम्पदा के छब्बीस गुणो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया तथा अब आसुरी स्वभाव का भी विस्तृत वर्णन कर रहे है।

प्रत्येक मनुष्य के भीतर दैवी और आसुरी वृत्तियो का सग्राम निरन्तर चलता रहता है। विवेकशील पुरुष दैवी वृत्ति द्वारा आसुरी वृत्तियो पर विजय प्राप्त कर लेते है। यही व्यक्ति के भीतर तथा समाज मे निरन्तर चलनेवाला देवासुर-सग्राम है, जिसका वेदो तथा पुराणो मे अनेक प्रकार से आलकारिक वर्णन है।[१]

आसुरी वृत्तियो पर विजय प्राप्त करने के लिए उनसे परिचित होना तथा उनका वर्णन करना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य अन्तर्मुखी होकर तथा आसुरी वृत्तियों को पहचानकर ही विवेक द्वारा उन पर विजय प्राप्त कर सकता है। मनुष्य सद्गुणो के विकास द्वारा दुर्गुणो के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। अतएव सद्गुणो और दुर्गणो अथवा अमृत और विष की पूर्ण विवेचना करना आवश्यक होता है। श्रीकृष्ण ने मूलमूत छह दुर्गुणो ( दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान ) का उल्लेख किया है तथा इसके उपरान्त ( सात से इक्कीसवे अथवा बाईसवे श्लोक तक ) उनके दुष्परिणामो की विवेचना की है। मनुष्य भले और बुरे मार्गों तथा उन पर चलने के परिणामो का ज्ञान होने पर ही भले मार्ग पर चलते हुए बुरे के प्रति सावधान और सतर्क रह सकता है।

---

१ श्रीकृष्ण ने नौवें अध्याय मे तीन प्रकृतियो का वर्णन किया है—दैवी, आसुरी और राक्षसी। किन्तु इस अध्याय में राक्षसी वृत्ति आसुरी के अन्तर्गत ही कही गयी है।

१ विश्व के सभी महाकाव्यो में नायक सद्गुण का तथा खलनायक दुर्गुण का प्रतीक होता है। इन्द्र और वृत्रासुर, देव और दानव, राम-दल और रावण-दल, पाण्डव और कौरव, ( ईसाई मत मे ) ईश्वर और शैतान, ( इस्लाम मत मे ) अल्लाह और इब्लीस इत्यादि।

सत तुलसीदास ने रामचरितमानस मे अनेक स्थलो पर, विशेषतः बालकाण्ड के आदि और उत्तरकाण्ड के अन्त मे, सन्तो और दुष्टो के स्वरूप एव आचरण का विस्तृत वर्णन किया है। दुष्टगण और दुष्टता होने पर ही सज्जनगण और सज्जनता का महत्त्व होता है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

**शब्दार्थ :** आसुरा जना प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च न विदु =आसुरी स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को भी नही जानते, तेषु न शौचं न आचार च न सत्य अपि विद्यते=उनमे न शौच, न आचरण और न सत्य ही होता है। ते आहु =वे कहते है, जगत् अप्रतिष्ठ असत्य अनीश्वरं अपरस्परसंभूतं कामहैतुक=ससार प्रतिष्ठा-रहित ( आश्रयरहित ), असत्य, ईश्वररहित, परस्पर सयोग से स्वत उत्पन्न तथा कामहैतुक ( केवल काम से उत्पन्न अथवा केवल कामना-पूर्ति, भोगैश्वर्य के लिए ही ) है, अन्यत् किं=इसके अतिरिक्त और क्या ?

**वचनामृत :** आसुरी स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को नही जानते। उनमे न शौच ( शुद्धता ) है, न आचरण और न सत्य है। वे कहते हैं कि ससार निराश्रय ( निराधार ), असत्य ( झूठ ), परस्पर सयोग से स्वत उत्पन्न और केवल काम के कारण ही उत्पन्न हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य क्या कारण है ? ( अथवा केवल काम-पूर्ति ही इसका प्रयोजन है, अन्य क्या है ? )[1]

**सन्दर्भ :** असुर-स्वभाववाले लोगो का वर्णन है।

**रसामृत :** आसुरी स्वभाववाले मनुष्य गभीर चिन्तन नही करते और अपने अहकार के कारण दिव्यशक्तिसम्पन्न एव सूक्ष्म अनुभूतिसम्पन्न महात्माओ के विचार और अनुभव को तिरस्कृत कर देते है। भोग-लोलुप तथा स्वार्थरत होने के कारण वे तर्क एव तथ्यो को भी तोड-मरोडकर अपने विचार और व्यवहार को पुष्ट करते हुए उन्हें ठीक सिद्ध करते हैं। आसुरी स्वभाववाले मनुष्य अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद नही करते। मनुष्य को ऐसे कर्म मे प्रवृत्त होना चाहिए, जिससे उसका लौकिक हित तथा आध्यात्मिक कल्याण हो तथा ऐसे कर्म से निवृत्त होना चाहिए, जिससे उसका लौकिक अहित होअथवा आध्यात्मिक हानि हो। इसे ही विधि-निषेध कहा जाता है। सत्य और अहिसा का पालन विधि है तथा असत्य और हिसा का निषेध किया जाता है। भौतिक स्तर से ऊपर उठकर दिव्य स्तर पर जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियो का दर्शन करना परम पुरुषार्थ है। जड ( भौतिक ) स्तर के जीवन की पशुता से ऊपर उठकर दिव्यत्व की अनुभूति करना श्रेष्ठ उपलब्धि है।

आसुरी स्वभाववाले मनुष्यो मे नैतिकता एव पवित्रता नही होती और भोग-लोलुपता एव स्वार्थ के कारण उनके आचरण[1] मे छल-कपट होता है तथा उन्हें असत्य बोलते रहने मे लज्जा का अनुभव नही होता। आसुरी वृत्तिवाले मनुष्य स्वभाव से ही असत्य भाषण और असत्य आचरण करते हैं। उन्हें असत्य व्यवहार मे ग्लानि का अनुभव नही होता।

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कहते हैं कि ससार का धारण, पोषण और नियत्रण करनेवाली कोई दिव्य सत्ता नही है। वे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। वे सृष्टि को प्रयोजनरहित कहते है और उनके विचार से जीवन का उद्देश्य खाने पीने और मौज उडाने से परे कुछ नही है।

आसुरी लोग कहते हैं कि ससार मे सत्य के आचरण का कोई स्थान नही है। वे सत्य को

---

१. डॉ० राधाकृष्णन् ने इस प्रकार अर्थ किया है—वे कहते हैं कि यह ससार अवास्तविक है, इसका कोई आधार नही है, इसका कोई ईश्वर नही है। यह किसी नियमित कारण के परिणामस्वरूप नही हुआ। यह केवल इच्छा द्वारा बना है।

१ आचारहीनं न पुनन्ति वेदा, सर्वस्य तपसो मूलमाचारम्।

महत्त्व नही देते। वे यह स्वीकार नही करते कि ब्रह्म सत्य का भी सत्य है तथा सृष्टि का आधार है।[1] भोगवादी आसुरी जन चैतन्यस्वरूप परमात्मा को सृष्टि के आदिकारण के रूप मे नही मानते। वे व्यवस्था और नियमो के पीछे व्यवस्थापक, नियामक एव नियत्रक के रूप मे परमेश्वर की दिव्य सत्ता को स्वीकार नही करते। इस जड ससार की प्रतिष्ठा ( आधार )[2] परम चैतन्य सत्ता है, किन्तु भोगवादी आसुरी जन इसे निराधार मानते हैं। उनके विचार से सृष्टि अपरस्परसभूत ( अपर पर. अर्थात् अणु-परमाणुओ इत्यादि के पारस्परिक सयोग से उत्पन्न ) है तथा इच्छा ही प्रवाहरूप से सृष्टि का एकमात्र कारण है और जीवन का प्रयोजन खाने-पीने और मौज उडाने से परे कुछ नही है।

ससार की प्रत्येक वस्तु का कुछ कारण होता है। कुम्भ मिट्टी से बनता है तथा कुम्भ के निर्माण मे मिट्टी के अतिरिक्त यत्र ( चाक आदि ) की आवश्यकता होती है। मिट्टी तथा यत्र के अतिरिक्त केवल कुम्भकार की ही नही, वलिक उसका सकल्प ( मैं कुम्भ का निर्माण करूँ, यह मकल्प ) भी आवश्यक होता है। ससार की रचना के लिए केवल प्रकृति के पाँच तत्त्वो इत्यादि की ही नही, बल्कि परमेश्वर तथा उसके सकल्प की भी आवश्यकता है। जड जगत् की उत्पत्ति परम चैतन्यसत्ता से उसका सकल्प होने पर प्रकृति ( माया-शक्ति ) द्वारा हुई। जहाँ चित्र है वही उसके मूल मे चित्रकार भी है। परमात्मा ससार को उत्पन्न करके इसका धारण, पोषण और सचालन करता है। परमात्मा कही दूर नही है, वह हमारे भीतर तथा निरन्तर साथ है और सृष्टि के कण-कण मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप मे व्याप्त है।

**एता दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।**
**प्रभवन्त्युग्रकर्माण. क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥**
**काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।**
**मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०**

**शब्दार्थ** . एता दृष्टि अवष्टभ्य नष्टात्मान. अल्पबुद्धय अहिता उग्रकर्माणः=इस दृष्टि ( मिथ्यादृष्टि ) को अवलम्बन करके नष्टात्मा, अल्पबुद्धि, अहितकारी और क्रूर कर्म करनेवाले आसुरी जन, जगत. **क्षयाय प्रभवन्ति**=ससार के क्षय के लिए ही उत्पन्न होते हैं। **दम्भमानमदान्विता दुष्पूर कामं आश्रित्य**=दुष्पूर ( कभी पूर्ण अथवा तृप्त न होनेवाला ) काम के आश्रित होकर, **मोहात् असद्ग्राहान् गृहीत्वा**=मोह ( अज्ञान ) से झूठे सिद्धान्तो अथवा निश्चयो को ग्रहण करके **अशुचिव्रता. प्रवर्तन्ते**=अशुद्ध नियम अथवा आचरणवाले होकर वे कर्मों मे प्रवृत्त होते हैं ( व्यवहार करते हैं )।

**वचनामृत** ' इस मिथ्यादृष्टि का सहारा लेकर नष्टात्मा, मन्दबुद्धि, सबका अहित करनेवाले तथा क्रूरकर्मी असुरीजन ससार का केवल नाश ही करते है। दम्भ, मान और मद से युक्त वे दुष्पूर कामनाओ का आश्रय लेकर, मोह के कारण मिथ्या सिद्धान्तो ( निश्चयो ) को ग्रहण करके और भ्रष्ट नियमवाले होकर ससार मे विचरण करते हैं।

**सन्दर्भ :** आसुरी स्वभाववाले लोग आचरण मे भ्रष्ट हो जाते है।

**रसामृत :** स्थूल वृक्ष की उत्पत्ति सूक्ष्म बीज से होती है। ससार एक स्थूल वृक्ष के सदृश, है, जिसका मूल सूक्ष्मातिसूक्ष्म परब्रह्म है। परब्रह्मरूप बीज सृष्टि वृक्ष के मूल मे स्थित है तथा इसका आधार[1] है। जड एव स्थूल

---

१. 'ब्रह्म सत्यस्य सत्यम्।'

२. धर्मो विश्वस्य जगतः।

—प्रतिष्ठा—धर्म ( ईश्वर ) ही विश्व की प्रतिष्ठा है।

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः।

—भगवान् जगत् है और जगत् भगवान् है।

---

१. किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्
यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥
—ऋग्वेद, १०.८१.४

ससार-वृक्ष प्रत्यक्ष है तथा चैतन्यस्वरूप एवं सूक्ष्म परमब्रह्म परोक्ष है। योगीजन परमात्मा के अस्तित्व की अनुभूति इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे चैतन्यस्वरूप आत्मा के स्तर पर करते हैं। आसुरी जन केवल प्रत्यक्षानुभव को ही ज्ञान का साधन कहते हैं, इन्द्रियातीत ( इन्द्रियो से भी परे ) सूक्ष्म अनुभूति के महत्त्व को स्वीकार नही करते। वे अनुमान को भी ज्ञान का आधार नही मानते।[1] कुम्भ को देखकर कुम्भकार अथवा चित्र को देखकर चित्रकार का अनुमान किया जाता है तथा व्यवस्था एव नियमो को देखकर व्यवस्थापक एव नियामक का अनुमान किया जा सकता है। आसुरी स्वभाववाले लोग यथार्थ ज्ञान एव अनुभूति के अभाव के कारण तर्क के स्थान पर कुतर्क का आश्रय लेते हैं। परमात्मा प्रमाणातीत तथा स्वत प्रमाण है। परमात्मा शक्तियो का परमबीज अथवा मूल उद्गम है। ज्ञानियो की दृष्टि मे परमात्मा स्वय-प्रकाश है तथा भक्तो को तो पग-पग पर उसकी कृपा की विचित्र अनुभूति होती रहती है। वह घट-घटवासी एव अन्तर्यामी है, सर्वशक्तिमान् है तथा सर्वत्र विद्यमान है।

किन्तु मिथ्याज्ञान को पकडकर उसी पर डटे रहनेवाले आसुरी स्वभाव के लोग अपने दुराग्रह एवं हठधर्मिता का परिचय देते हैं। स्वार्थपरायण एव भोगपरायण होने के कारण वे ससार का अहित ही करते हैं तथा परोपकार, सेवा, त्याग आदि सत्कार्य नही करते। ऐसे आसुरी मनुष्य परमात्मा के न्यायविधान की अवहेलना करते हैं तथा अत्यन्त क्रूर और नृशस हो जाते हैं। उन्हे कपट, छल, हिंसा आदि करने मे सकोच अथवा ग्लानि का अनुभव नही होता।[1] ऐसे लोग स्वय भ्रष्ट होकर दूसरो को भ्रष्ट करते हैं तथा स्वय नष्ट होकर दूसरो को नष्ट करते हैं। आसुरी स्वभाववाले लोग इन्द्रियो के सुखभोग के लिए सघर्षरत रहते हैं और जीवन के उच्च मूल्यो की उपेक्षा कर देते हैं। ऐसे लोग प्रख्यात विद्वान्, वैज्ञानिक, धनपति, सत्ताधारी होकर भी ससार मे युद्ध और कलह का कारण हो जाते हैं, समाज के शत्रु बन जाते हैं।

आसुरी प्रकृति के लोग दुष्पूर कामनाओ से ग्रस्त होते है। महत्त्वाकाक्षा ( समाज मे बहुत बडा बनने की प्रबल इच्छा ), लालसा, तृष्णा, वासना, स्पृहा, आशा आदि कामना के ही अनेक रूप हैं। जीवन मे किसी भी मनुष्य की सभी कामनाएँ पूर्ण नही होती तथा अपूर्ण कामनाएँ कुण्ठा एव निराशा उत्पन्न कर देती हैं। कामना तथा उपलब्धि का अन्तराल निराशा उत्पन्न करता है। कामना से ही चिन्ता, भय और आशका, ईर्ष्या आदि उत्पन्न होते हैं। जहाँ चाह वहाँ चिन्ता, जहाँ चिन्ता वहाँ भय और आशका। सासारिक कामना दु ख का मूल है। स्वार्थपूर्ण कामना मनुष्य को सत्य और न्याय के प्रति अन्धा कर देती है तथा मनुष्य छल, कपट, हिंसा आदि के द्वारा कामना-पूर्ति का प्रयत्न करता है। वैभव एव ऐश्वर्य से सम्पन्न होने की तीव्र इच्छा ही शोषण-वृत्ति का कारण होती है।

---

—यह कौन सा वन ( वृक्षो का समूह ) है, वह कौनसा वृक्ष है, जिससे आकाश और पृथ्वी निर्मित हैं ? मनीषीजन जिज्ञासा करें और पूछें कि अधिष्ठान क्या है ? कौन भुवनो को धारण कर रहा है ?

कठोपनिषद् मे भी ससार-वृक्ष की उत्पत्ति का कारण परमब्रह्म को कहा गया है।

१ धूम्र को देखकर अग्नि का अनुमान होता है। व्यवस्था और नियमो को देखकर व्यवस्थापक एव नियामक का अनुमान होता है। महात्मा गाधी ने अपने एक प्रवचन मे कहा कि ग्राम मे बे पढे लोग भी राज-सेवको को देखकर प्रशासक का अनुमान कर लेते हैं, यद्यपि वे उसे प्रत्यक्ष नहीं जानते।

---

१ परहित हानि लाभ जिन्ह केरे
उजरे हरष विषाद बसेरे।
बचन बज्र जेहि सदा पियारा,
सहसनयन परदोष निहारा॥

कामना का एक दोष यह है कि एक ओर वह अपूर्ण होने पर निराशा और क्लेश उत्पन्न करती है तथा दूसरी ओर पूर्ण होने पर वह उग्र रूप धारण कर लेती है, **'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'**। कामनारूप भँवर मे फँसने पर मनुष्य सुगमता से उससे मुक्त नही हो पाता। अपूर्ण कामना से उत्पन्न कुण्ठा का विस्फोट विविध प्रकार से हो जाता है। अपूर्ण कामना उद्विग्नता, व्याकुलता, तनाव तथा अशाति का कारण होती है।

आसुरी वृत्तिवाले लोग दम्भी, अभिमानी और मदान्ध होते हैं। वे सर्वत्र अपनी ही प्रतिष्ठा चाहते है तथा दूसरो की प्रतिष्ठा को सहन नही करते। उन्हे कोई भी अन्य मनुष्य अपने से अधिक बुद्धिमान्, चतुर, योग्य अथवा धनवान् नही दीखता। स्वार्थी, दम्भी, अभिमानी और मदमत्त मनुष्य समाज का अहित ही करते हैं तथा सर्वत्र भ्रष्टाचार का प्रसार करते हुए अशाति फैलाते हैं। भौतिकवादी लोग अपने सकुचित स्वार्थों से प्रेरित होकर अपने व्यक्तिगत वैभव, विलास एव ऐश्वर्य के लिए ही क्रियाशील होते है तथा अन्त मे स्वय क्लेश को प्राप्त होकर अपने चारो ओर क्लेश ही फैलाते हैं। भौतिकवादी मनुष्य अपार धनसग्रह कर तथा अतिशय सत्ता पाकर भी जीवन के सौन्दर्य का अनुभव नही कर पाते और पशुओ की भाँति जीवित रहकर पशुओ की भाँति ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

**चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।**
**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥११॥**
**आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।**
**ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥१२॥**

**शब्दार्थ** . प्रलयान्ता अपरिमेया चिन्ता उपाश्रिता च कामोपभोगपरमा. = मरणपर्यन्त होनेवाली अपरिमित चिन्ताओ से ग्रस्त और भोग्य विषयो के भोग मे रत, एतावत् इति निश्चिता. = इतना मात्र ही जीवन का सुख और प्रयोजन है, ऐसा निश्चयवाले हैं। आशापाशशतैः बद्धाः कामक्रोधपरायणा = आशा के सैकडो बन्धनो से बँधे हुए और काम-क्रोध मे परायण, कामभोगार्थं अन्यायेन अर्थसञ्चयान् ईहन्ते = विषय-भोगो के लिए अन्याय से धन इत्यादि का सग्रह करने की चेष्टा करते हैं।

**वचनामृत :** आसुरी स्वभाववाले मनुष्य मृत्युपर्यन्त रहनेवाली अनन्त चिन्ताओ के अधीन, विषय-भोगो मे रत और 'ससार मे इतना मात्र ही सुख है' ऐसा माननेवाले होते है। वे आशा के सैकड़ो फन्दो से बँधे हुए काम और क्रोध मे परायण हुए विषय-भोगों के लिए अन्याय से धन का सग्रह करने की चेष्टा करते रहते हैं।

**सन्दर्भ** आसुरी वृत्तिवाले लोगो की समस्त चेष्टाएँ विषय-भोग के लिए होती हैं।

**रसामृत** यह सृष्टि जड ( भौतिक ) पदार्थों तथा चैतन्य-तत्त्व का सम्मिश्रण है। आसुरी स्वभाववाले लोग अहकारपूर्ण दुराग्रह के कारण चैतन्य-तत्त्व ( आत्मा एव परमात्मा ) के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। उनकी दृष्टि मे यह सृष्टि अणु-परमाणुओ के सयोग से उत्पन्न हुई है तथा उसीसे समस्त ऊर्जा उत्पन्न होती है। वे अणु-परमाणुओ के पीछे उनकी आधारभूत तथा सचालक चैतन्य-सत्ता को स्वीकार नही करते। वे मानव-देह को मात्र यन्त्र मानते हैं। उनकी दृष्टि मे जीवन का एकमात्र प्रयोजन विषय-भोग ( भौतिक पदार्थों का सुखभोग ) प्राप्त करना होता है। वे इन्द्रियो के वशीभूत होकर ससार के भोग्य विषयो की विविध कामनाएँ करते रहते हैं। कामना-पूर्ति की चिन्ताएँ उन्हे घेर लेती है तथा वे अपार धन, सत्ता, पद, प्रतिष्ठा पाकर भी मृत्युपर्यन्त चिन्ताओ से मुक्त नही होते। जो लोग गुरुओ एव सन्तो के आशीर्वाद तथा भगवान् की कृपा पर विश्वास करते हैं, वे चिन्ताओ से मुक्त हो जाते है, किन्तु आसुरी वृत्ति के लोग सारे जीवन चिन्ताओ के बोझ को ढोते रहते हैं तथा अन्त मे चिन्ताग्रस्त रहकर ही मृत्यु को प्राप्त होते है। वे मानसिक तनाव एव अशाति मे ही जीते और मरते हैं।

भौतिकवादी लोगो को विषय-भोग की सामग्री का सचय करते रहना और उन्हे भोगते रहना ही जीवन का एकमात्र प्रयोजन प्रतीत होता है। उनके मन मे यह निश्चय होता है कि ससार का समस्त सुख विषय-भोगो मे ही निहित है। भौतिकवादी समाज मे धन-सग्रह को महानता का प्रतीक माना जाता है तथा धन-सम्पदा के अर्जन द्वारा समाज मे प्रतिष्ठा, पद और सत्ता की प्राप्ति को जीवन की सफलता, उन्नति और उपलब्धि कहा जाता है। भौतिकवादी समाज मे भोगवृत्ति की प्रधानता होती है। भोगवृत्ति का उत्कर्ष समाज मे प्रमाद, परस्पर सघर्ष, स्वार्थ, कपट आदि को प्रोत्साहित करके समाज का विघटन एव विनाश कर देता है। भव्य भवनो मे जीवनयापन करनेवाले लोग वैभव-विलास एव सुख-भोग की प्रचुर सामग्री के मध्य मे रहकर भी घोर दु ख मानते हैं और भव्य भवनो को बन्दीगृह की सज्ञा देते हैं। वे सकुचित भावनाओ के कारण अपने परिवार और पडोस मे स्वजन को ही शत्रु मानकर उनके प्रति दिन-रात विष-वमन करते हैं तथा षड्यत्र रचते है। आसुरी वृत्ति के उत्कर्ष से उत्पन्न स्वार्थ, कृतघ्नता, कपट, द्वेष, रोग, शोक इत्यादि के कारण कुवेर की धन-सम्पदा को लजानेवाले प्रासाद नरक का रूप धारण कर लेते हैं। भौतिक सुखभोग के लिए उत्कठित मनुष्य विषयोपभोग-सामग्री के सचय मे ही तत्पर रहते हैं और उनकी समस्त चेष्टा का एकमात्र उद्देश्य धन सम्पत्ति को अर्जित करके कामनाओ की पूर्ति करना होता है। काम-पूर्ति ही उनका एकमात्र पुरुषार्थ होता है।[१] कामना से चिन्ता, भय, निराशा और आशका उत्पन्न होती हैं। कामना-ग्रस्त मनुष्य कामना-पूर्ति के स्वप्न देखता है तथा उन्हे साकार करने के लिए अनेक पापकर्म कर बैठता है। मनुष्य मकडी की भाँति अपनी ही कामनाओ के जाल मे फँस जाता है तथा उनसे मुक्त नही हो पाता।[१] उदात्त एव उच्चस्तरीय आशाएँ तो मनुष्य के लिए उन्नति की प्रेरक होती हैं, किन्तु भोग्य विषयो की कामना से उत्पन्न आशाएँ वन्धनकारक एव क्लेशप्रद होती हैं।

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कामनाजनित आशाओ के प्रतिकूल परिस्थितियो अथवा परि-णामो को देखकर उत्तेजित एव क्षुब्ध हो जाते हैं। वे क्रोध के आवेश मे विवेक का त्याग कर देते हैं तथा उन्हे कर्तव्य-अकर्तव्य का ध्यान नही रहता। अतृप्त कामनावाले मनुष्य कुण्ठित हो जाते हैं तथा उनकी उत्तेजनशीलता तीव्र हो जाती है। कामना और क्रोध से ग्रस्त मनुष्य धन, सम्पदा, वैभव, पद, प्रतिष्ठा और सत्ता पाकर भी कभी शाति का अनुभव नही करते। काम और क्रोध मन को असन्तुलित एव अशात कर देते हैं। उत्कट कामना मनुष्य को निर्लज्ज तथा उग्र क्रोध निर्मर्याद बना देता है।[२] भोग्य विषयो को सुख एव सौभाग्य का

---

१ काम एवैक पुरुषार्थः।
—अर्थात् काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है।
—वृहस्पति सूत्र

---

१. अङ्ग गलित पलित मुण्डं,
दशनविहीनं जात तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्ड,
तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥

—अग गल गया, सिर सफेद हो गया, दाँत गिर गये, वृद्ध लाठी लेकर किसी प्रकार चलता-फिरता है, फिर भी वह आशा नही छोडता।

'आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णा तरङ्गाकुला।'
—आशा नामक नदी है, वह मनोरथ जलवाली है, तृष्णारूपी तरगो से भरी हुई है।

२ कामातुराणां न भयं न लज्जा—कामातुर मनुष्य निर्लज्ज और उद्दण्ड हो जाता है।

क्रुद्ध पापं न कुर्यात् क क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्ध परुषया वाचा नर साधूनधिक्षिपेत्॥
—वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड

—कौन क्रुद्ध मनुष्य पाप नहीं करता, क्रोधी गुरुजन का भी घात कर देता है। क्रोधी मनुष्य उत्तम पुरुषो को भी कठोर वाणी कह देता है।

मूलमंत्र माननेवाले आसुरी प्रकृति के लोग धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय का विवेक छोडकर धन-सम्पदा का सचय करने मे सचेष्ट रहते हैं। वे अनीति, अन्याय, कपट, शोषण और क्रूरता से धन-सम्पदा का सचय करने मे कृतार्थता अनुभव करते हैं। धन का लोभ ( तृष्णा ) उन्हे सदैव अतृप्त एव अशात रखता है।[1] काम, क्रोध और लोभ मनुष्य के विवेक को नष्ट करके उसे भ्रष्टाचार की ओर प्रवृत्त कर देते हैं।[2]

**इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।**
**इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१३॥**
**असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।**
**ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥**
**आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।**
**यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥**
**अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।**
**प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥१६॥**

**शब्दार्थ** . **मया अद्य इद लब्धं इम मनोरथं प्राप्स्ये** =मेरे द्वारा यह प्राप्त हुआ है ( और ) इस मनोरथ को प्राप्त कर लूँगा, **मे इदं धन अस्ति पुनः अपि इदं भविष्यति** =मेरा यह धन है, फिर भी यह हो जायगा। **असौ शत्रुः मया हत· अपरान् अपि अहं हनिष्ये**=यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, दूसरे शत्रुओ को भी मैं मारूँगा, **अहं ईश्वरः च भोगी**=मैं ईश्वर हूँ और ऐश्वर्य-भोग करनेवाला हूँ, **अहं सिद्धः**=मैं सिद्ध अथवा सफल हूँ, **बलवान् सुखी**=बलवाला और सुख-साधन सम्पन्न हूँ। **आढ्यः अभिजनवानस्मि**=मैं बडा धनवान् और कुलीन ( बडे कुटुम्बवाला ) हूँ, **मया सदृशः अन्य कः अस्ति**=मेरे सदृश और कौन है, **यक्ष्ये, दास्यामि मोदिष्ये** =यज्ञ करूँगा, दान करूँगा और मौज करूँगा, **इति अज्ञानविमोहिताः**=इस प्रकार अज्ञान से मोहित होते हैं। **अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः कामभोगेषु प्रसक्ताः**=अनेक प्रकार से भ्रमित चित्तवाले, मोहरूप जाल मे फँसे हुए तथा काम-भोगो ( विषय-भोगो ) मे अत्यन्त आसक्त हुए, **अशुचौ नरके पतन्ति**=अपवित्र नरक में गिरते हैं।

**वचनामृत :** आसुरी वृत्तिवाला मनुष्य सोचता है—"मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथ को प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है तथा फिर भी यह हो जायगा। यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और अन्य शत्रुओ को भी मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्य को भोगनेवाला हूँ। मैं सब सिद्धियो से युक्त हूँ ( मैं एक सफल मनुष्य हूँ ) और बलशाली तथा सुख-साधन-सम्पन्न हूँ। मैं बडा धनी हूँ और कुलीन ( बड़े कुटुम्बवाला ) हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ, दान आदि भी करूँगा और खूब मौज करूँगा।" इस प्रकार अज्ञान से मोहित और अनेक प्रकार से भ्रमित चित्तवाले और मोह-जाल मे फँसे हुए तथा सासारिक सुख-भोगो मे अत्यन्त आसक्त आसुरी वृत्तिवाले लोग घोर नरक मे गिरते हैं।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण आसुरी वृत्ति का वर्णन करते हैं।

**रसामृत :** आसुरी वृत्तिवाले लोग भोगवादी होते हैं तथा सासारिक सुखभोग की सामग्री के सग्रह मे रत रहते हैं। भोग्य पदार्थों के सञ्चय की लालसा से वे दिन-रात धन कमाने मे जुटे रहते हैं तथा धन के लोभ से आवृत होकर धर्म-अधर्म, सत्य असत्य और न्याय-अन्याय का विवेक छोड़ बैठते हैं। आसुरी वृत्ति के कारण उनकी लोभ-वृत्ति बढती रहती है तथा धन-सम्पत्ति बढाने की चिन्ता उन्हे दिन-रात सताती है। उत्तरोत्तर लोभ-वृत्ति इतनी उग्र एवं भीषण हो जाती है कि भोग-शक्ति के क्षीण होने पर भी उन्हे धन-सम्पत्ति को देखकर

---

१. लोभः पापस्य कारणम्—लोभ पाप का कारण है।

जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई—जैसे जैसे लाभ बढता है, वैसे-वैसे लोभ भी बढता है।

२. विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपात शतमुखः।
—भर्तृहरि
—विवेकभ्रष्ट लोगो का पतन सौ प्रकार से होता है।

ही गर्व का अनुभव होता है। आज मेरे पास इतना धन है, उस उस प्रकल्प के द्वारा मेरी धन-सम्पत्ति और भी अधिक हो जायगी तथा मैं बहुत बडा आदमी हो जाऊँगा, ऐसा लोभी मनुष्य का चिन्तन होता है।[1] लोभ-वृत्ति मनुष्य के विवेक का हरण कर लेती है और मानसिक शान्ति को ध्वस्त कर देती है। आसुरी वृत्तिवाला मनुष्य धन की वृद्धि को ही अपने जीवन की उन्नति और सफलता मानता है।

आसुरी वृत्तिवाला मनुष्य कभी यह सोचता है, "मैंने उस शत्रु का नाश कर दिया है और अब मैं अपने बल और युक्ति से अन्य विरोधियो को भी धूल मे मिला दूँगा। मैं शत्रुओ को नष्ट करके ही चैन से बैठूँगा। जो भी मेरा विरोध करेगा और मेरी बात नही मानेगा, उसे मैं धरती से मिटा दूँगा।" कभी वह अहङ्कारवश कहता है, "मैं ही ईश्वर हूँ और सर्वसमर्थ हूँ, मैं जैसा चाहूँगा वैसा करूँगा।" कभी वह अपनी भोग-शक्ति और भोगैश्वर्य का अभिमान करता है और कहता है, "मैं बलवान् हूँ। मैंने जीवन मे जो भी काम किया, उसीमे सफलता प्राप्त की। मेरा जीवन सफल है और मैं सुख-साधनो से सम्पन्न हूँ।" आसुरी वृत्ति के लोग अपनी प्रशसा के गीत स्वय गाते रहते हैं। वास्तव मे वे सुखी नही होते, किन्तु सुखी होने का दिखावा करते हैं। यद्यपि वे अहङ्कारपूर्वक अनेक गर्वोक्तियाँ करते हैं, उनमे आत्मविश्वास एव दृढता का अभाव होता है। आसुरी वृत्ति के लोग केवल सत्ता के लिए लालायित रहते हैं तथा सेवा-भाव से प्रेरित नही होते।

आसुरी अहङ्कार विविध रूपो मे प्रकट होता है। आसुरी प्रकृति का मनुष्य अनेक प्रकार से अभिमान करता है तथा अपने-आपको सर्वसमर्थ मानता है। कभी वह गर्व से कहता है, "मैं धन-सम्पन्न हूँ, मैं कुलीन हूँ, मेरा कुटुम्ब बहुत बडा है, मेरे समान अन्य कोई नही है।" कभी वह कहता है, 'मैं यज्ञ, दान करके समाज मे प्रतिष्ठित हो जाऊँगा और बहुत मौज करूँगा।" वास्तव मे यज्ञ, दान आदि उत्तम कार्यो के मूल मे उदार एव त्याग-पूर्ण भावना होने पर ही वे कल्याणकारी होते हैं।

आसुरी वृत्ति मनुष्य को विमूढ बना देती है तथा विचार-शक्ति का हरण कर लेती है। आसुरी स्वभाव का मनुष्य सासारिक विषयो की आसक्ति मे निमग्न रहता है तथा स्वार्थपरायणता के जाल से नही छूटता। उसका चित्त अनेक कामनाओ और चिन्ताओ के कारण भ्रमित रहता है तथा वह कभी शान्ति का अनुभव नही करता। उनकी विषयासक्ति अर्थात् इन्द्रियो के सुखभोग की आसक्ति उन्हे नरक मे धकेल देती है। वे ससार मे सब कुछ पाकर भी न सुयश प्राप्त करते हैं और न मानसिक शान्ति ही। उनका जीवन वास्तव मे नारकीय होता है। आसुरी वृत्ति मनुष्य मे पशु-वृत्ति को उग्र करके उसे क्लेश और अशान्ति ही देती है। वास्तव मे मनुष्य का पाप-कर्म ही उसका घोर शत्रु एव विनाशक होता है तथा पुण्य-कर्म ही उसका परम मित्र एव रक्षक होता है, किन्तु मदान्ध मनुष्य इस सत्य की अव-हेलना कर देते हैं। यह प्रकृति का अटल नियम है कि दुर्गुणो से दुर्गति तथा सद्गुणो से सद्गति प्राप्त होती है तथा जो जैसा करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है।

आत्मसभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विता.।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहङ्कार बल दर्प काम क्रोध च सश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका. ॥१८॥
तानहं द्विषत क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

---

१ सन्त तुलसीदास ने कलियुग के वर्णन द्वारा भौतिकवादी समाज का चित्रण किया है। लोभहि ओढ़न लोभई डासन।

**शब्दार्थ :** ते **आत्मसंभाविता. स्तब्धा धनमान-मदान्विता** =वे अपने को श्रेष्ठ माननेवाले अभिमानी जन, धन और मान के मद से युक्त हुए, **नामयज्ञैः दम्भेन अविधिपूर्वकं यजन्ते**=विधिरहित नाममात्र के यज्ञों द्वारा दम्भ से यजन करते हैं। **अहङ्कार बलं दर्पं काम च क्रोधं संश्रिता.**=अहङ्कार, बल, दर्प ( घमण्ड ), काम और क्रोध के सश्रित ( तत्पर, परायण ) हुए, **अभ्यसूयकाः**=परनिन्दा-निपुण लोग, **आत्मपरदेहेषु मा प्रद्विषन्तः**=अपने और दूसरो के देहो मे विराजमान मुझे ( अन्तर्यामी को ) द्वेष करनेवाले होते हैं। **तान् द्विषतः अशुभान् क्रूरान् नराधमान्**=उन द्वेष करनेवाले अशुभ ( पापाचारी ), क्रूरकर्मी नराधमो को, **अह**=मैं, **ससारेषु अजस्रं आसुरीषु योनिषु एव क्षिपामि**=ससार मे निरन्तर ( बार-बार ) आसुरी योनियो मे ही फेंकता हूँ। **कौन्तेय**=हे अर्जुन, **मूढाः मा अप्राप्य जन्मनि जन्मनि आसुरीं योनिं आपन्ना** =ये मूढ़ जन मुझे प्राप्त न होकर जन्म-जन्म में आसुरी योनियो को प्राप्त होते हैं, **ततः अधमां गतिं एव यान्ति**=फिर उससे भी नीचगति को ही प्राप्त होते हैं।

**वचनामृत :** आसुरी वृत्तिवाले अपने को श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी मनुष्य धन तथा मान के मद से युक्त हुए केवल नाममात्र के यज्ञो द्वारा दम्भ से उचित विधि छोड़कर यजन करते हैं। वे अहङ्कार, बल, दर्प, कामना और क्रोध से ग्रस्त हुए, दूसरो की निन्दा करने मे रत मनुष्य, अपने तथा दूसरो के शरीर मे विराजमान मुझे ( अन्तर्यामी ) द्वेष करनेवाले होते हैं। मैं उन द्वेष करनेवाले पापाचारी तथा क्रूरकर्मी नराधमो को ससार मे पुन पुन आसुरी योनियो में ही प्रक्षिप्त करता हूँ। हे अर्जुन, वे मूढजन मुझे प्राप्त न होकर जन्म-जन्म मे आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यो की दुर्गति का वर्णन करते है।

**रसामृत** आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यो का एक प्रमुख लक्षण यह है कि वे अपने रूप, कुल, धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, चतुराई और गुणो की सराहना स्वय करते है तथा अपने दोषो पर ध्यान नही देते और अपनी अपेक्षा दूसरो को तुच्छ समझते हैं। विवेकवान् पुरुष आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने गुण और दोष दोनो का तटस्थ एव समुचित आकलन करता है तथा गुणो के विकास एवं दोषो के निराकरण के लिए प्रयत्नशील होता है। अपने गुणो तथा दोषो को जानना दोष नही है, किन्तु गुणो का अभिमान करना तथा दोषो को न देखना अविवेक है। श्रेष्ठ पुरुष अपने गुणो को भगवान् का प्रसाद मानकर उन पर ध्यान नही देते, वे दूसरे के गुणो की ही सराहना करते हैं। आसुरी स्वभाववाले अपने को सर्वगुणसम्पन्न समझते हैं तथा परछिद्रान्वेषण एव परदोषनिरूपण ( दूसरे के दोषों को खोजना और दूसरे के दोषो को प्रकट करना ) मे तत्पर रहते है। वे केवल इतने से ही सन्तुष्ट नही होते, बल्कि सम्मान पानेवाले अन्य लोगो पर मिथ्या गम्भीर आरोप लगाकर समाज मे उनकी छवि को धूमिल करने के लिए निराधार एव अनर्गल प्रचार करते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज मे सर्वत्र अपना ही सम्मान चाहते हैं तथा समस्त सम्मानप्रद पदो पर स्वय आसीन होकर सत्ता एवं प्रतिष्ठा पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि मनुष्य दूसरो को मान देने से माननीय होता है तथा त्यागभाव द्वारा ही जनमानस में ऊँचा उठता है।

स्तब्ध ( गर्विष्ठ एव अभिमानी ) मनुष्य जाति, कुल, रूप, बल, धन, सत्ता, विद्या और तप, यज्ञ, दान आदि उत्तम कार्यों का गर्व करते हैं। अत्यधिक अभिमान आसुरी प्रकृति का लक्षण है। अविवेकी मनुष्य विशेषत धन और मान से मदान्ध होते हैं। मद का अर्थ है अतिशय अभिमान के कारण अपने को सबसे बढकर मानना और दूसरो को तुच्छ एव नगण्य सिद्ध करना। ऐसे लोग यज्ञ, दान आदि उत्तम कार्य भी प्रतिष्ठा आदि के स्वार्थ से प्रेरित होकर करते हैं। आसुरी प्रकृति के मनुष्यो में श्रद्धा

नही होती तथा उनकी दुर्भावना उत्तम कार्यों को भी दूषित कर देती है।

आसुरी प्रकृति के लोगो मे अहङ्कार, वल-प्रदर्शन, दर्प ( अभिमान का अतिशय रूप ) काम, ( भौतिक पदार्थों के भोग की प्रबल इच्छा ) और क्रोध विशेष रूप से प्रकट होते हैं। अहङ्कार से वल-प्रदर्शन, दर्प ( अतिशय अभिमान ), काम और क्रोध उग्र हो जाते हैं तथा अहङ्कार ही इनके मूल मे सस्थित होता है। अहङ्कार का अर्थ है देह एव देह से सम्वद्ध भौतिक पदार्थों को ही सव कुछ समझना और उनके आधार पर स्वय को महान् मानना तथा चैतन्यस्वरूप आत्मा एव परमात्मा से पराङ्मुख होना। मनुष्य ज्यो-ज्यो जड वस्तुओ ( देह तथा अन्य पदार्थ ) के प्रभाव एव आकर्षण से मुक्त होता है, त्यो-त्यो वह अहङ्कार से विमुक्त हो जाता है। अहङ्कार के कारण मनुष्य जाति, कुल, रूप, वल, धन, सत्ता, विद्या, त्याग आदि का अभिमान करता है तथा उनका दुरुपयोग करता है।[1] भगवान् कृष्ण ने गीता के उपदेश मे प्रारम्भ से अन्त तक काम और क्रोध से मुक्त होने पर विशेष वल दिया है। काम और क्रोध मनुष्य के घोर शत्रु हैं तथा उन पर विजय पाकर ही मनुष्य सम, सन्तुलित, शान्त और सुखी हो सकता है।

आसुरी वृत्ति के अहङ्कारी लोग दूसरो के प्रति ईर्ष्या-द्वेष करते हुए वास्तव मे अपने तथा दूसरो के भीतर विराजमान भगवान् के प्रति ही शत्रुता करते हैं। परमात्मा सभी प्राणियो मे समान रूप से अन्तर्यामी रूप मे विराजमान है। अपने तथा दूसरो मे विद्यमान परमात्मा को देखनेवाला उत्तम पुरुष न किसीके प्रति ईर्ष्या-द्वेष करता है और न किसीकी निन्दा अथवा चुगली[1] ही। आसुरी वृत्ति के लोग न किसीके गुणो की प्रशसा करते हैं और न किसीकी प्रशसा सुनना सह सकते हैं। दूसरो मे दोष निकालने की वृत्ति ( असूया वृत्ति ) नीच होती है। आसुरी वृत्ति के लोग स्वार्थपरता एव द्वेष के कारण क्रूर होकर दूसरो को पीडा पहुँचाते हैं तथा समाज का घोर अहित करते हैं। उनके परिवार मे सदा कलह और क्लेश तथा उनके मन मे अशान्ति और आत्मग्लानि ही रहती है। वे प्रकृति के विधान के अन्तर्गत अपने कुकर्मों एव दुर्भावनाओ के कारण ही अपने जीवन-काल मे धन, सम्पदा, पद और सत्ता प्राप्त करके भी घोर मानसिक अशान्ति और क्लेश ही पाते हैं तथा मरणोपरान्त निकृष्ट योनि मे जन्म लेते हैं। भगवान् न्यायवान् है तथा वह दण्ड भी सुधार के लिए देता है। भगवान् वास्तव मे दयामय है। भगवान् द्वारा प्रदत्त दण्ड भी करुणामय होता है। ईश्वरीय दण्ड विकास-प्रक्रिया मे सहायक होता है। यद्यपि कर्म का फल मनुष्य का पीछा नही छोडता, तथापि भगवान् की शरण मे जाकर मनुष्य का उद्धार अवश्य सम्भव होता है। मनुष्य-योनि भोग ( पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार प्रारब्ध-भोग ) की योनि होने के अतिरिक्त कर्म-योनि भी है। पशु-योनि केवल भोग-योनि है, किन्तु मनुष्य उत्तम कर्म द्वारा अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकता है। भगवान् की शरण मे जाकर मनुष्य भगवान् के सहारे से कठिन प्रारब्ध-भोगो मे ऐसे ही सरलतापूर्वक गुजर जाता है, जैसे कोई बालक पिता की अगुलि पकडकर अथवा पिता को अपना हाथ पकडाकर कांटो के रास्ते मे भी सुरक्षित गुजर जाता है। मनुष्य-योनि मे जन्म लेकर प्रत्येक व्यक्ति को आत्मसुधार एव भगवत्प्राप्ति का पूर्ण अधिकार है। सच्चे मन से पुकारने पर वह सदैव कृपा करता है।

---

१ रामायण के अनुसार रावण उत्तम जाति और कुल में उत्पन्न हुआ था तथा रूपवान्, बलवान्, धनवान्, सत्तावान् और विद्यावान् था। उसने यज्ञ, तप, दान आदि उत्तम कार्य भी किये, किन्तु अहकारवश उसने ऋषि मुनिगण को सताया और वह अपनी आसुरी वृत्ति के कारण भौतिक सुखभोग मे फँसा रहकर विनष्ट हो गया।

१ पैशुन्यात् भिद्यते स्नेह —चुगली से स्नेह को विनष्ट किया जाता है।

**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।**
**कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥**
**एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।**
**आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥**

**शब्दार्थ :** काम क्रोधः तथा लोभ इदं त्रिविध नरकस्य आत्मन. नाशनं द्वारं=काम, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकार का नरक का आत्मनाशक द्वार है, तस्मात् एतद् त्रयं त्यजेत्=अत इस त्रय को छोड देना चाहिए। कौन्तेय=हे अर्जुन, एतै. त्रिभि तमोद्वारैः विमुक्त नर. आत्मन श्रेयः आचरति=इन तीनो तम के द्वारो से विमुक्त मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है, तत परां गति याति=इससे वह परमगति को प्राप्त होता है।

**वचनामृत :** काम, क्रोध और लोभ—ये तीनो नरक के आत्मनाशक द्वार हैं, अतएव इन तीनो का त्याग कर देना चाहिए। हे अर्जुन, इन तीनो तम-द्वारो से विमुक्त मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है, इससे वह परमगति को प्राप्त कर लेता है।

**सन्दर्भ** काम, क्रोध और लोभ ही मनुष्य की दुर्गति के कारण हैं। ये श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा इन्हें कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण दैवी सम्पद् तथा आसुरी सम्पद् की विस्तृत विवेचना करके यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सद्गुणो की वृद्धि से मनुष्य का सर्वतोमुखी विकास होता है तथा उत्तरोत्तर चित्त शुद्धि द्वारा भगवान् को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है और दुर्गुणो का अनुसरण करके वह अपना विनाश कर लेता है तथा उत्तरोत्तर पतन द्वारा अपनी दुर्गति कर लेता है। मनुष्य जैसा करता है वैसा फल भोगता है। सद्गुणो का विकास करते हुए मनुष्य कभी दुर्गति को प्राप्त नही हो सकता और दुर्गुणो का आश्रय लेकर कभी सद्-गति को प्राप्त नही कर सकता। स्वर्ग सुख और शान्ति का तथा नरक दुःख और अशान्ति का प्रतीक है। नरक के प्रमुख द्वार अर्थात् प्रमुख दुर्गुण काम, क्रोध तथा लोभ हैं। अतएव साधक को इन तीनो पर ही विजय पाने के लिए निरन्तर प्रयत्न-शील रहना चाहिए। काम का अर्थ है ससार के भोग्य पदार्थों की ओर आकृष्ट होकर उनकी इच्छा करना। काम एक मनोभाव अथवा भावावस्था है तथा कामना उसका स्फुरण है। काम और कामना समानार्थक हैं। कामना के साथ क्रोध सलग्न है। कामना-पूर्ति मे बाधा, निराशा अथवा विफलता होने पर क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो जाती है। क्रोध मन और देह मे अनेक विकार उत्पन्न कर देता है। काम और क्रोध मनुष्य के परम शत्रु हैं। लोभ कामना का ही एक रूप है। गृद्ध की दृष्टि से लालायित होकर भोग्यवस्तुओ को देखना और उन्हे प्राप्त करने का प्रयत्न करना लोभ है। लोभी के लोभ की तृप्ति कभी नही होती। भगवान् श्रीकृष्ण आश्वासन देते हैं कि काम, क्रोध और लोभ के आत्मविनाशक मार्ग को त्यागकर आत्म-कल्याण के मार्ग पर आरूढ होने से जीवन कृतार्थ होता है। मनुष्य अपने जीवन मे जब भी जाग जाय तभी उसका सवेरा हो जाता है। श्रीकृष्ण ने आसुरी सम्पदा और उनसे प्राप्त होनेवाले दुर्गति-रूप नरक का वर्णन करके चेतावनी दी है कि इससे बचने के लिए काम, क्रोध, लोभरूप इसके प्रमुख द्वारो मे प्रवेश कदापि नही करना चाहिए। भग-वान् श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश मे यह चेतावनी अनेक स्थलो पर अनेक प्रकार से दी है।

**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।**
**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥**
**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।**
**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥**

**शब्दार्थ** यः शास्त्रविधि उत्सृज्य कामकारत वर्तते=जो शास्त्रविधि को छोडकर अपनी इच्छा से व्यवहार करता है, स न सिद्धि अवाप्नोति न परां गतिं न सुखं=वह न सिद्धि प्राप्त करता है, न परमगति, न सुख। तस्मात् अतः, ते इह कार्याकार्यव्यवस्थितौ शास्त्रं प्रमाणं=तेरे लिए इस लोक में (मनुष्य लोक मे) कार्य और अकार्य

( कर्तव्य और अकर्तव्य ) की व्यवस्था में शास्त्र प्रमाण है, ( एवं ) ज्ञात्वा=ऐसा जानकर, शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुं अर्हसि=शास्त्र-विधान से कहे हुए कर्म को करने के लिए योग्य है।

**वचनामृत** जो मनुष्य शास्त्र-विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से आचरण करता है, वह न सफलता प्राप्त करता है, न परमगति और न सुख ही। अतएव, तेरे लिए इस कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था मे शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तू शास्त्र विधान मे नियत कर्म करने के योग्य है।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण शास्त्र व्यवस्था के पालन का उपदेश करते हैं।

**रसामृत :** मनुष्य के लिए विकास एव सुख-शान्ति तथा विनाश एव दुर्गति के पृथक्-पृथक् दो मार्गों का विस्तृत वर्णन करने के उपरान्त भगवान् कहते हैं कि मनुष्य को आत्मकल्याण के लिए सत्कर्म करना चाहिए। निष्काम सत्कर्म ही सुख-शान्ति एव भगवत्प्राप्ति का साधन है। मनुष्य को स्वेच्छाचारी होकर स्वच्छन्द आचरण कदापि नही करना चाहिए। भगवान् ने मनुष्य को विवेक-शक्ति दी है, जिसके द्वारा वह सत्कार्य और कुकार्य का समुचित भेद कर सकता है। सयमरहित होकर मनमाने अधर्मरूप कुकर्म करने से मनुष्य को घोर दुर्गति प्राप्त होती है, यद्यपि कुकर्म मे सुख का मिथ्या आभास होता है। उचित और अनुचित कार्य, सत्कार्य और अकार्य अथवा कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद सिखाने के लिए धर्म-ग्रन्थो ( वेद, शास्त्र, स्मृति इत्यादि ) मे विधि ( क्या करना चाहिए ) और निषेध ( क्या नही करना चाहिए ) का वर्णन है। वेद का आदेश है कि उत्तम कर्म करने चाहिए, निकृष्ट कर्म नही।[1] गीता-शास्त्र भी एक श्रेष्ठ शास्त्र है। महापुरुषो का आचरण तथा गुरु-वाणी भी मनुष्य को कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध करा देती है। सदेह एव शका होने पर अन्त करण की ध्वनि को परमात्मा की वाणी मानकर उसका पालन करना चाहिए। पवित्र अन्त -करण की स्फूर्ति दैवी वाणी होती है। भगवद्भक्त भगवान् से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करके अन्त -करण मे उसकी वाणी सुनकर उसीके अनुसार ही आचरण करते हैं।

ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः।

दैवासुरसपद् विभागयोगनामक सोलहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

## सार-संचय

### षोडश अध्याय : दैवासुरसंपद्विभागयोग

भगवान् ने अपनी माया-शक्ति से ससार की रचना जड पदार्थों और चैतन्य-तत्त्व के सम्मिश्रण द्वारा की और मनुष्य को अत्यन्त रहस्यमय एव अद्भुत देहयन्त्र तथा मस्तिष्क से युक्त करके सृष्टि का सिरमौर बना दिया। भगवान् ने मनुष्य को चिन्तन-शक्ति तथा इच्छा-शक्ति देकर कर्म करने के लिए स्वतन्त्रता भी दे दी। मनुष्य स्वय ही अपने भाग्य का निर्माता है। यदि मनुष्य प्रकृति का दास तथा भाग्य एव परिस्थितियो का मात्र खिलौना ही है तो गीता आदि के विधिनिषेधात्मक उपदेश ( यह करो तथा यह न करो, ऐसा उपदेश ) का कोई महत्त्व ही नही है। पूर्वजन्मानुसार प्रारब्ध मनुष्य के सामने विशेष परिस्थितियो के रूप मे आता है, किन्तु किसी न किसी रूप मे मनुष्य प्रत्येक परि-

---

१ यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। —तैत्तिरीय उप०

—जो जो उत्तम कर्म हैं, वे ही किये जाने चाहिए, अन्य नहीं।

स्थिति में अपनी प्रतिक्रिया ( कर्म ) करने मे अवश्य स्वतन्त्र होता है। निश्चय ही, भगवान् ने मन, मस्तिष्क, देह और जीवन देकर मनुष्य को पूर्ण सुखी होने के लिए साधन-सपन्न बनाया है। किन्तु मनुष्य अपनी मूढता के कारण ही दु ख प्राप्त करता है। मनुष्य अपने सुख अथवा दु ख के लिए स्वय ही उत्तरदायी है। परिस्थितियो एवं व्यक्तियो को अपने सुख-दु ख के लिए उत्तरदायी कहना अविवेक है।

भगवान् श्रीकृष्ण दैवासुरसपद्-विभाग के वर्णन द्वारा मानवीय प्रकृति के दो विभाग करते हैं —दैवी अथवा उच्च तथा आसुरी अथवा निम्न। भगवान् मनुष्य की जीवन-यात्रा के दो पृथक् मार्गों का उल्लेख करते है तथा यह स्पष्ट कर देते हैं कि मनुष्य अपना मार्ग चयन करने मे सर्वथा स्वतन्त्र है। भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य को विवेक ( भला और बुरा समझने की विचार-शक्ति ) दी है। उसका कर्तव्य है कि वह कोई भी कर्म करने से पूर्व यह विचार कर ले कि वह उचित है अथवा अनुचित। प्रत्येक मनुष्य मे दैवी तथा आसुरी स्वभाव का सम्मिश्रण होता है। विवेकशील पुरुष दैवी स्वभाव द्वारा आसुरी स्वभाव को पराभूत करके दैवी स्वभाव अथवा उच्च प्रकृति मे स्थित रह सकता है। मनुष्य गुणो का ग्रहण तथा दोषो का त्याग करने मे स्वतन्त्र है। दैवी गुणो का आश्रय लेकर मनुष्य जीवन मे सत्य शिव सुन्दरम् की दिव्यता का अनुभव करके कृतार्थ हो सकता है तथा आसुरी दुर्गुणो के अनुसरण से दुर्गति प्राप्त कर लेता है। निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर, पशुता से दिव्यता की ओर, अशान्ति से शान्ति की ओर, दु ख से आनन्द की ओर, जड से चैतन्य की ओर, असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर बढते रहना ही जीवन की कृतार्थता है।[1]

समस्त धर्म-ग्रन्थो तथा दर्शन-ग्रन्थो का उद्देश्य दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति एव अखड आनन्द की प्राप्ति है। शिक्षा के समस्त सिद्धान्तो का लक्ष्य मानवता का निर्माण अर्थात् मानव को मानव बनाना है। भगवान् उत्तम पुरुष के स्वरूप एव लक्षणो तथा निकृष्ट मनुष्य के पाशविक स्वरूप एव लक्षणो की विस्तारपूर्वक विवेचना करते हैं और मानव-समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण दोनो मार्ग दिखाकर सचेत कर रहे हैं कि एक मार्ग के अन्त मे सुख और शान्ति है तथा दूसरे मार्ग के अन्त मे दु ख और अशान्ति है। अतएव मनुष्य को निरन्तर सजग एव सतर्क रहकर जडता के विच्छेद से चिन्मयता की ओर अथवा पाशविकता से मुक्त होकर दिव्यता की ओर उन्मुख होकर आगे बढते रहना चाहिए। भौतिकवाद के मार्ग मे कोई लक्ष्य अथवा गन्तव्य ही नही है तथा केवल अधकार मे भटकना ही है। दैवी मार्ग में न केवल लक्ष्य अथवा गन्तव्य स्पष्ट है, बल्कि समस्त दैवी मार्ग प्रकाशस्तम्भो से प्रकाशित है। व्यक्ति तथा समाज का कल्याण भौतिकता, जडता, पशुता अथवा निम्नता से ऊपर उठकर दैवी स्तर की प्राप्ति मे सन्निहित है। वास्तव मे जागरण ही जीवन का रहस्य है तथा जब कोई जाग जाय, तभी उसका सबेरा।

भगवान् श्रीकृष्ण दैवी गुणो से सम्पन्न एक स्वस्थ, सन्तुलित, सम, शान्त और आदर्श मानव का चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। दैवी-सम्पद्-सम्पन्न आदर्श मानव का प्रथम गुण अथवा लक्षण अभय है। वास्तव मे अभय समस्त गुणो का आधार है। अभय के बिना किसी भी मानवीय गुण का विकास नही हो सकता। भयमुक्त मनुष्य ही जीवन मे कुछ उपलब्धि कर सकता है। भयभीत मनुष्य मृतक के सदृश है। अभयभाव का उदय होने पर जीवन-वृक्ष पुष्पित एव पल्लवित होकर लहलहाता है तथा भयग्रस्त होने पर वह मुरझा जाता है। मनुष्य कितनी भी विषम परिस्थिति या सकट मे हो, उसे सर्वप्रथम अभय हो जाना चाहिए। अभय

---

१ असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।

होकर ही मनुष्य सकटों को पार करता हुआ जीवन मे सत्य शिव सुन्दरम् का अनुभव कर सकता है। भय मनुष्य को निकृष्ट बनाकर पतन कर देता है। भय के साथ चिन्ता सलग्न होती है। भय तथा चिन्ता मन को तनावग्रस्त एव उत्तेजनशील बना देते हैं तथा अपच, अनिद्रा, रक्तचाप-दोष, हृदयस्पन्द-दोष, व्रण इत्यादि विकार उत्पन्न कर देते हैं। भय ( यह आशका कि कही मान-हानि, धन-हानि, जीवन-हानि न हो जाय ) तथा चिन्ता ( मान, धन, जीवन को सुरक्षित रखने की व्याकुलता ) से कुछ भी हित नही होता, बल्कि विपत्ति मे सीधा खडा होने की उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण का सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपदेश एव आदेश है अभय। भगवान् को सर्वशक्तिमान् तथा सदा और सर्वत्र विद्यमान मानकर उसकी कृपा मे अखण्ड विश्वास रखनेवाला सत्यनिष्ठ पुरुष अभय हो सकता है। मूढजन भय और चिन्ता से मुक्त होने के लिए दुर्व्यसनो का सहारा लेते है तथा भटक जाते हैं, किन्तु विवेकी पुरुष भगवान् की शरण लेकर अपना भय और चिन्ता उन्हे सौंप देते है। भगवान् अत्यत कृपालु है तथा सच्ची प्रार्थना अवश्य सुनते है, यह विश्वास मनुष्य को दृढ बना देता है। भगवान् को सर्वसमर्थ और सच्चा रक्षक माननेवाला सत्यनिष्ठ पुरुष भयमुक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—सर्वप्रथम भय को त्याग दो।

भगवान् श्रीकृष्ण अभय को पुष्ट करनेवाले पचीस अन्य गुणो की गणना करते हुए सर्वप्रथम **सत्त्वसंशुद्धि** ( चित्त शुद्धि ) का उल्लेख करते हैं। जिसका अन्त करण शुद्ध है, उसे भय व्याप्त नही होता। मानसिक विकार ( राग, द्वेष, स्वार्थ, कपट, घृणा, लोभ, मोह इत्यादि ) मन को क्षीण करते हैं। मनुष्य को उसके दोष ही भयभीत और कायर बनाते हैं। मनुष्य को सावधान होकर मन को दोष-मुक्त करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। निर्विकार मन निर्भय होता है।

**ज्ञानयोगव्यवस्थिति** का अर्थ है, परमात्मा के स्वरूप को जानने और उसके लिए उपायभूत साधन करने मे तत्पर रहना। जिस मनुष्य की रुचि आध्यात्मिक है, वह उत्तरोत्तर निर्विकार एव आनन्दमय होता रहता है।

**दान** का अर्थ है, दूसरो के कष्ट-निवारण के लिए श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति अन्न, धन, औषधि, विद्या आदि का वितरण करना। दान का एक अर्थ सम-विभाजन भी है। **दम** का अर्थ है, इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना। **यज्ञ** का विशेष अर्थ है, पवित्र भावना से उत्तम कार्य ( परोपकार, सेवा आदि कार्य ) करना। **स्वाध्याय** का अर्थ है, आत्मोन्नति के लिए सद्ग्रन्थो का अध्ययन करना और उनसे प्रेरित होकर साधनरत होना। **तप** का अर्थ है, शरीर, मन और इन्द्रियो को अनुशासित एव निगृहीत करने के लिए सामर्थ्यानुसार व्रत आदि करना तथा परोपकारहेतु श्रम करना। **आर्जव** का अर्थ है, मन, वचन और कर्म की सरलता अर्थात् निष्कपटता। **अहिंसा** का अर्थ है, किसी प्राणी को पीडा न देना। **सत्य** का अर्थ है, मन, वचन और कर्म मे सत्य का पालन करना। सांच को आँच नही प्रसिद्ध उक्ति है। सत्यनिष्ठ पुरुष की रक्षा भगवान् स्वय करते हैं। मिथ्या दोषारोपण कुछ काल के लिए सत्यनिष्ठ पुरुष की छवि को विकृत कर सकता है, किन्तु अन्त मे वह निखरकर आती है और पहले की अपेक्षा भी अधिक तेजोमय हो जाती है। **अक्रोध** का अर्थ है, प्रतिकूल परिस्थिति में भी मन में उत्तेजना न होने देना, क्षुब्ध न होना। **त्याग** का अर्थ है, भोग्य विषयो के प्रति मन की आसक्ति का त्याग करना। **शान्ति** का अर्थ है, प्रतिकूल और कष्टप्रद परिस्थिति मे भी सम, सन्तुलित और शान्त रहना। मनुष्य को अपने हित मे ही मानसिक शान्ति की सुरक्षा सदैव करनी चाहिए। मत्र, जप, भगवद्भजन और सन्तो का दर्शन तत्काल मानसिक शान्ति प्रदान करते हैं। **अपैशुन**

का अर्थ है, चुगलखोरी न करना, किसीकी अनुपस्थिति मे निन्दा न करना। **भूतदया** का अर्थ है, प्राणियो का दु ख समझकर सहानुभूति दर्शाना तथा उनके कष्ट-हरण का प्रयत्न करना। **अलोलुप्त्व** का अर्थ है ससार की किसी वस्तु की ओर मन को न ललचाना। **मार्दव** का अर्थ है, वाणी और व्यवहार मे मृदु होना, कर्कश न होना। **ह्री** का अर्थ है, अपने गुण-प्रदर्शन आदि मे सकोच करना। **अचापल** का अर्थ है, निरर्थक चेष्टा न करना। **तेज** का अर्थ है, मनुष्य की चारित्रिक उच्चता का प्रभाव। **क्षमा** का अर्थ है, दूसरे के द्वारा कहे हुए दुर्वचन अथवा किये हुए तिरस्कार को भूलकर प्रेमपूर्वक क्षमा करना। क्षमाधर्म महान् है। महापुरुष स्वभाव से क्षमाशील और उदार होते हैं तथा वे कटुता का उत्तर कटुता से कभी नही देते। **धृति** का अर्थ है, कष्ट के अवसर पर अपार धैर्य रखना। भगवान् की कृपा मे अखण्ड विश्वास करने से, भगवान् का भावपूर्ण स्मरण, जप आदि करने से तथा भाव-विभोर होकर भगवान् की प्रार्थना करने से धैर्य-शक्ति प्राप्त होती है। भगवान् के विश्वास से उत्पन्न आन्तरिक दृढता अर्थात् धैर्य ही मनुष्य का सच्चा साथी है।[1] उत्तम पुरुष विपत्ति मे अपार धैर्य दिखाते हैं, विचलित नही होते। **शौच** का अर्थ है, अपने बाहर (निवास-स्थान, वस्त्र, देह इत्यादि मे) तथा भीतर (अन्त करण मे) शुद्ध होना। **अद्रोह** का अर्थ है, किसीके लिए अपने मन मे द्रोह (शत्रुभाव) न रखना, किसीके लिए बुरा न सोचना। मनुष्य दूसरो का अहित-चिन्तन करके उनका कुछ अहित नही कर सकता, किन्तु अपने मानसिक पतन द्वारा अपना ही अहित करता है। दूसरो के लिए सद्भावना करने से मन स्वस्थ और सशक्त बनता है। उत्तम पुरुष शत्रु की दुष्टता से सावधान रहकर भी उसके लिए अहित-चिन्तन नही करते। वे कहते हैं, 'परमात्मा' इसे सद्बुद्धि दे।' **नातिमानिता** का अर्थ है, मान-बड़ाई की इच्छा न करना तथा दूसरो को मान देना। उत्तम पुरुष अपनी सफलता अथवा उपलब्धि के लिए दूसरो को ही श्रेय और धन्यवाद देते हैं तथा उसे भगवान् की कृपा मानकर भाव-विभोर हो जाते हैं, किन्तु कदापि बौराते नही हैं।

आसुरी अथवा निम्न प्रकृति के प्रमुख लक्षण हैं—दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान। **दम्भ** का अर्थ है, अपने को महान्, माननीय और सम्पूज्य मानना। **दर्प** का अर्थ है, धन, जन, सत्ता, पद आदि का अभिमान करना। मनुष्य का दम्भ और दर्प, वाणी एव व्यवहार मे प्रकट हो जाता है तथा दूसरो पर उसका प्रभाव सदैव विपरीत पडता है। महापुरुष सम्पत्ति एव सफलता पाकर फलदार वृक्ष की भाँति नम्रता से झुक जाते हैं तथा दूसरो की सेवा मे सहर्ष तत्पर रहते हैं। आसुरी लोग यज्ञ, दान आदि उत्तम कार्य भी मान-बडाई की लालसा के कारण ही करते है। आसुरी लोगो का स्वभाव क्रोधी होता है तथा वे दुर्वचन कहकर दूसरो का व्यर्थ ही अपमान करते रहते है। **क्रोध** मे कहे हुए दुर्वचन दूसरो के मन मे तीर की भाँति प्रविष्ट होकर गहरे घाव कर देते हैं तथा एक अन्तर उत्पन्न कर देते हैं। क्रोध से किसीका हित नही होता। क्रोध अपने शरीर और मन की शक्ति को उत्तेजनाजन्य ताप से दग्ध एव क्षीण कर देता है तथा दूसरो को शत्रु बना देता है। **पारुष्य** का अर्थ है, वाणी और व्यवहार मे कर्कश एव कठोर होना। आसुरी

---

१. केन स्विद् द्वितीयवान् भवति ? धृत्या द्वितीयवान् भवति।

—यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा था—मनुष्य किसके होने से द्वितीयवान् हो जाता है अर्थात् अकेला नही रहता? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—धैर्य के होने से मनुष्य द्वितीयवान् हो जाता है।

जन दूसरो की भावना का आदर नही करते तथा अकारण ही कठोर व्यवहार करते हैं। **अज्ञान** का अर्थ है कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक न होना। निम्न प्रकृति के लोग मनमाना व्यवहार करते हैं, शालीन नही होते।

आसुरी स्वभाव के लोग अहकारवश यह स्वीकार नही करते कि इस सृष्टि की सचालक सत्ता चैतन्य परमेश्वर है तथा इसे अणु-परमाणुओ के आकस्मिक सयोग का परिणाम कहते हैं। वे काम को सृष्टि-प्रवाह का प्रमुख कारण मानकर कहते हैं कि 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' ही जीवन का प्रयोजन है।[1] भौतिकवादी लोग चैतन्य-तत्त्व को स्वीकार न करने के कारण तथा जड जगत् को ही अन्तिम सत्य मानने के कारण भोगवादी होते हैं। भोगवादी दृष्टिकोण मनुष्य को स्वार्थी, सकीर्ण और स्वच्छन्द बना देता है। भोगवादी आसुरी मनुष्य भोग्यसामग्री के सचय और उपभोग को ही जीवन का उद्देश्य मानता है तथा असख्य कामनाओ एव भौतिक आशाओ से ग्रस्त रहता है। कामना के साथ भय, चिन्ता और तनाव जुडे हुए हैं। कामना की तृप्ति कभी नही होती तथा अतृप्त कामनाएँ कुण्ठाएँ बन जाती हैं। फल के प्रतिकूल होने पर कामना ही क्रोध उत्पन्न कर देती है। आसुरी प्रकृति का भोगवादी मनुष्य सोचता है—"मैंने आज यह प्राप्त कर लिया, भविष्य मे यह और प्राप्त करके विख्यात हो जाऊँगा तथा मैने आज इस विरोधी को नीचा दिखा दिया, भविष्य मे अन्य विरोधियो को भी मिट्टी मे मिला दूँगा। मै बलशाली हूँ तथा सुख के साधनो से सम्पन्न हूँ, ऐश्वर्यवान् तथा वैभवशाली हूँ। मैं स्वय ही ईश्वर हूँ। मै कुलीन हू तथा मेरे समान प्रतापी मनुष्य अन्य कोई नही है। मै समाज मे दान आदि देकर प्रतिष्ठा पा लूँगा।" इस प्रकार कल्पनामय चिन्तन करनेवाला भोगवादी मनुष्य कामभोगो के कुचक्र मे फँसा रहता है तथा जीवन मे कभी वास्तविक सुख-शाति प्राप्त नही करता और अन्त मे नष्ट हो जाता है। धन तथा मान का मद भोगवादी मनुष्य को निर्दय एव पशु जैसा बना देता है, उसका जीवन नारकीय हो जाता है। वह अपनी दुर्गति का कारण स्वय ही होता है। श्रीकृष्ण धन कमाने के पुरुषार्थ की निन्दा नही कर रहे हैं, किन्तु भोगवादी दृष्टिकोण पर प्रहार करते हैं। भोगवादी मनुष्य की दुर्गति के मुख्यतः तीन कारण हैं—अदम्य कामना, क्रोध तथा लोभ अथवा लोलुपता। वास्तव मे लोभ कामना का ही एक स्वरूप है। मनुष्य को काम, क्रोध और लोभ से मुक्त होने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। मनुष्य इन तीन प्रमुख दोषो पर विजय पाकर निम्न प्रकृति को त्याग सकता है तथा दैवी सम्पद् का अधिकारी हो सकता है। क्या कार्य है, और क्या अकार्य है, इस सम्बन्ध में सद्ग्रन्थो तथा महापुरुषो के आचरण से प्रेरणा लेनी चाहिए। भगवद्भक्त अन्त'करण की ध्वनि को भगवान् की वाणी मानकर उसके अनुसार आचरण करते हैं। भगवद्भक्त अपने भीतर विराजमान भगवान् के साथ जप तथा स्मरण द्वारा निरन्तर भावना-पूर्ण सबध रखकर तथा अन्तर्यामी भगवान् को अपना सर्वस्व मानकर उस पर अपार विश्वास करते हैं। सच्चे भगवद्भक्त अपने को कभी अकेला और असहाय नही मानते तथा निरन्तर प्रसन्न रहते हैं। भगवान् अमृतमय है तथा उसकी भक्ति ही अमृतपान है।

---

१ यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋणं कृत्वा घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥

—जब तक जिओ, सुख से जीओ, ऋण करके भी घी पीओ। मृत्यु के बाद देह भस्म होने पर आना कहाँ है? (भारत का चार्वाक ऋण करके भी घृत-पान की कामना करता है, जो 'खाओ, पीओ और मौज उडाओ' से भिन्न है।)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी लोगो का उद्धार अवश्य सम्भव है।[१] घोर आसुरी मनुष्य मे भी दैवी सम्पद् प्रसुप्त रहती है, जिसे किसी सन्त के सस्पर्श से जगाया जा सकता है। मनुष्य ज्यो-ज्यो जड स्तर से ऊपर उठकर दैवी स्तर की ओर अथवा स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढता है, वह जड जगत् के दु खो से मुक्त होकर आनन्द प्राप्त करने लगता है। प्रत्येक मनुष्य विचार-शक्ति द्वारा व्यक्तित्व का रूपान्तरण एव उदात्तीकरण कर सकता है। मनुष्य अपने चेतन-मस्तिष्क मे जिन विचारो की पुन पुन आवृत्ति करता है, वे अवचेतन मस्तिष्क का स्थायी अग होकर विचारधारा का रूप ले लेते है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह पतनकारी हीन विचारो को हटाकर भव्य विचारो पर ध्यान केन्द्रित करे तथा उनकी पुनरावृत्ति करे। मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि वह निम्न प्रकृति से उच्च प्रकृति की ओर बढ रहा है तथा यह विश्वास दृढ करना चाहिए कि उसका जीवन-स्तर भविष्य मे भी उत्तरोत्तर उच्च से उच्चतर अवश्य होता जायगा। धीरे-धीरे साधक को यह विचार पुष्ट करना चाहिए कि वह साहसी और निर्भीक हो रहा है तथा विषम परिस्थिति का डटकर सामना कर सकता है और उसे यह विश्वास भी दृढ करना चाहिए कि अन्तर्यामी भक्तवत्सल भगवान् उसकी सहायता सदैव करेंगे।[१] भौतिकवादी सभ्यता भोगवाद को बढावा देकर व्यक्ति एव समाज के जीवन मे असन्तुलन एव अशान्ति उत्पन्न कर देती है। चारित्रिक उत्थान ही मानवता को ध्वस्त होने से बचा सकता है। भोगवादी समाज मे अधिकारो की प्राप्ति के लिए सघर्ष होते हैं तथा कर्तव्य-पक्ष की उपेक्षा हो जाती है। भौतिकवादी जागरूकता व्यक्ति तथा समाज को अधिकारो के प्रति सजग करती है तथा दैवी जागरण व्यक्ति तथा समाज को कर्तव्य-पालन के प्रति सचेष्ट करता है। आसुरी वृत्ति भोग पर तथा दैवी वृत्ति त्याग पर बल देती है। मानव-समाज दैवी प्रकृतिवाले थोड़े से ऐसे उत्तम पुरुषो की उत्तमता के आधार पर ही टिका हुआ है, जो कभी सत्यनिष्ठा से विचलित नही होते तथा जीवन के उच्चतम सौन्दर्य, माधुर्य का दर्शन एव सस्पर्श करते है।[२] भगवान् श्रीकृष्ण उत्तम आचरण पर बल देते

१. महात्मा गाधी कहते हैं, "निर्विकार बनना शक्य है, इसमे मुझे कोई शक नही। प्रत्येक मनुष्य का ऐसी चेष्टा करना उसका कर्तव्य है, निर्विकार होने का साधन है। साधनो का राजा राम-नाम है। प्रातः उठते ही राम-नाम लेना और राम से कहना, 'मुझे निर्विकार कर' मनुष्य को अवश्य निर्विकार करता है--किसीको आज, किसीको कल। शर्त यह है कि प्रार्थना हार्दिक होनी चाहिए। बात यह है कि प्रतिक्षण हमारे स्मरण मे हमारी आँखो के सामने ईश्वर की अमूर्त मूर्ति खडी रहनी चाहिए। अभ्यास से इस बात का होना सरल है।" भक्तगण भगवान् कृष्ण ( अथवा राम, शिव, दुर्गा इत्यादि ) के नाम तथा रूप का स्मरण करते हैं।

१ जानत जन की पीर प्रभु भजिहि दारुन विपति।

२. विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम.।
यशसि,चाभिरुचिर्व्यसन श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

--महापुरुषो के लिए यह स्वाभाविक हो जाता है कि विपत्ति मे धैर्य और उन्नति होने पर क्षमाभाव हो, सभा मे नीति-वचन कहे जायँ और सघर्ष में दृढता हो, पवित्र सुयश मे रुचि हो तथा शास्त्रो एवं सत्सग के श्रवण का व्यसन हो।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा. यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी. समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथ. प्रविचलन्ति पदं न धीरा.॥

हैं। जब समाज मे मानवीय मूल्यो का ह्रास हो रहा हो, तव महापुरुष अपने दृढ आचरण से जन-समाज को प्रेरणा देते हैं। तब उनका विशेष महत्त्व होता है। दैवी सम्पदा ही व्यक्ति एव समाज का कल्याण कर सकती है। ●

—नीति-कुशल लोग निन्दा करें या प्रशसा करें, धन आये या जाय, आज ही मृत्यु हो जाय या युगान्तर में, धीर पुरुष सन्मार्ग से विचलित नही होते।

इसका पद्यानुवाद यह है

"कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे।
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे॥
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे।
तो भी न्याय-मार्ग से मेरा, कभी न पद डिगने पावे॥"

# अथ सप्तदशोऽध्यायः

## श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन उवाच

**ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।**
**तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥**

**शब्दार्थ : अर्जुन उवाच**=अर्जुन ने कहा, **कृष्ण**=हे कृष्ण[1], **ये शास्त्रविधिं उत्सृज्य श्रद्धया अन्विता यजन्ते** =जो शास्त्रविधि को छोडकर केवल श्रद्धा से ही युक्त हुए यज्ञादि करते हैं, **तेषां निष्ठा तु का सत्त्व आहो रजः तम** =उनकी निष्ठा फिर क्या है, सात्त्विकी अथवा राजसी ( अथवा ) तामसी ?

**वचनामृत** अर्जुन ने कहा : हे श्रीकृष्ण, जो मनुष्य शास्त्र-विधि को छोड़कर केवल श्रद्धायुक्त होकर यजन ( पूजन आदि ) करते हैं, उनकी निष्ठा कौनसी है, सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी ?

**सन्दर्भ** : अर्जुन अपनी शका प्रस्तुत कर रहा है तथा इस अध्याय का सूत्रपात हो रहा है।

**रसामृत** : भगवान् से दैवी तथा आसुरी स्वभाव का विस्तृत विवेचन सुनकर अर्जुन के मन मे यह अत्यन्त स्वाभाविक शका समुत्पन्न हुई कि वे लोग किस श्रेणी के अन्तर्गत है, जो शास्त्र-विधि को ठीक प्रकार से जानने मे असमर्थ है, किन्तु परम्पराक्रम से अपने बड़ो का अनुसरण करते हुए श्रद्धापूर्वक विविध प्रकार के यज्ञादि कर्म करते है। अर्जुन उत्तम जिज्ञासु है तथा मन मे शंका का उदय होते ही उसके समाधान के लिए गीताचार्य श्रीकृष्ण से निवेदन कर देता है। अर्जुन के मन मे शका है कि ऐसे लोगो को स्वेच्छाचारी अर्थात् आसुरी श्रेणी के अन्तर्गत तो नही कहा जाता, जो श्रद्धायुक्त होकर भी शास्त्र-विधि का अनुसरण नही कर पाते। उनकी मानसिक स्थिति कैसी होती है—सात्त्विक, राजसिक अथवा तामसिक ? वे किस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं ?

[1] कृष्ण शब्द के अनेक अर्थ हैं। एक अर्थ है अघ ( पाप ) का कर्षण ( नाश ) करनेवाला। दूसरा अर्थ है चित्त-वृत्ति का अपने प्रति आकर्षण करनेवाला।

श्रीभगवानुवाच

**त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।**
**सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥**
**सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।**
**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥**

**शब्दार्थ : श्रीभगवानुवाच**=श्री भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, **देहिना सा स्वभावजा श्रद्धा**=मनुष्यों की वह स्वाभाविक श्रद्धा, **सात्त्विकी च राजसी च तामसी इति त्रिविधा एव भवति**=सात्त्विकी, राजसी और तामसी—तीन प्रकार की होती है, **ता शृणु**=उसे सुन। **भारत**=हे भरतवंशी अर्जुन, **सर्वस्य**=सबकी, **श्रद्धा सत्त्वानुरूपा भवति**=श्रद्धा उनके अन्त.करण के अनुरूप होती है, **अयं पुरुष श्रद्धामय** =यह पुरुष श्रद्धामय है, **य. यत् श्रद्ध. स एव स**=जो मनुष्य जैसी श्रद्धावाला होता है वह स्वयं भी वही होता है।

**वचनामृत** : भगवान् ने कहा . देहधारी मनुष्यो की वह स्वाभाविक ( केवल स्वभाव से उत्पन्न ) श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीनो प्रकार की होती है, तू उसे सुन। हे अर्जुन, सभी मनुष्यो

की श्रद्धा उनके सत्त्व ( अन्त करण ) के अनुरूप होती है । यह पुरुप श्रद्धावान् है, अतएव जो जैसी श्रद्धावाला होता है, वह स्वय भी वही होता है ।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण स्वाभाविक श्रद्धा की चर्चा करते हैं ।

**रसामृत** मनुष्य की स्वाभाविक श्रद्धा पूर्व-जन्मो के सस्कारो के अनुसार होती है । मनुष्य जैसे कर्म करता है, वैसे ही सस्कार अन्त करण पर पडते हैं और सस्कारो का सचय स्वभाव का रूप ले लेता है । इस प्रकार पूर्व-जन्मो के अर्जित सस्कारो के आधार पर निर्मित स्वभाव जन्मजात होता है । प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव भिन्न होता है । किसीका स्वभाव सात्त्विक, किसीका राजसिक और किसीका तामसिक होता है । प्रत्येक मनुष्य मे स्वभाव से उत्पन्न होनेवाली तथा स्वभाव के अनु-रूप ही श्रद्धा होती है । यह स्वभावज श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है—सात्त्विक, राजस और तामस । सात्त्विकी श्रद्धा दैवी सम्पदा की वृद्धि करती है । राजसी तथा तामसी श्रद्धा आसुरी सम्पदा बढाती है । मनुष्य सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी श्रद्धा से प्रेरित होकर कर्म मे प्रवृत्त होता है । सात्त्विकी श्रद्धा श्रेष्ठ होती है, राजसी मध्यम और तामसी निम्न होती है ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य के सत्त्व अर्थात् अन्त करण मे पूर्व-जन्मो के अर्जित सस्कारो का सचय स्वभाव बन जाता है और उसके अनुरूप ही प्रत्येक व्यक्ति की श्रद्धा होती है तथा यह पुरुष ( जीवात्मा ) जन्म से ही श्रद्धामय होता है । मनुष्य के वर्तमान जन्म के कर्मों के सस्कार भी स्वभाव का निर्माण करते हैं तथा सत्सग अथवा कुसग का अत्यधिक महत्त्व होता है । बाल्यकाल मे माता और पिता सस्कार डालकर स्वभाव-निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं । छोटा बालक माता और पिता को प्रमाण मान लेता है और उनका अनुकरण करके सीखता है तथा अपना स्वभाव बनाता है । अनेक बार पड़ोस के लोगो के संस्कार भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं । विद्यालय मे गुरुजनो के चरित्र के सस्कार छात्रो पर अत्यन्त गहन और प्रभावी होते हैं । किसी-किसी अध्यापक के सस्कार तो छात्र के जीवन की दिशा ही बदल देते हैं । सन्तो के प्रभाव से स्वभाव-परिवर्तन होने के अनेक उदाहरण हैं । मनुष्य की श्रद्धा भले या बुरे जैसे भी व्यक्ति पर जम जाती है, वह वैसा ही बन जाता है । इस प्रकार मनुष्य का जीवन उसकी श्रद्धा के आधार पर चलता रहता है ।[1]

प्रत्येक मनुष्य मे किसी न किसी प्रकार की श्रद्धा होती है तथा जिम मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है, वह स्वय भीतर से वैसा ही होता है । अतएव प्रत्येक मनुष्य को आत्मनिरीक्षण द्वारा अपनी श्रद्धा को पहचानकर उसका शोधन करने का प्रयत्न करना चाहिए । साधक को श्रेष्ठ आच-रण करनेवाले उत्तम पुरुषो के प्रति श्रद्धा का निर्माण करके उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए तथा

---

१ कायक्लेशैश्च बहुभिर्न चैवार्थस्य राशिभिः ।
धर्म संप्राप्यते सुक्ष्म श्रद्धाधर्मोऽद्भुतं तप ॥
—काया को क्लेश देने से और बहुत बडी धनराशियो से सूक्ष्म धर्म की साधना नही होती । श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है ।

श्रद्धया साध्यते धर्मो महद्भिर्नार्थराशिभि ।
निष्किञ्चना हि मुनय श्रद्धावन्तो दिव गता ॥
—धर्म की साधना श्रद्धा से होती है, धन-राशियों से नही । निर्धन मुनियो ने श्रद्धावान् होकर परमपद पाया है ।

एक प्रसिद्ध मन्त्र है—
व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥
—व्रत से दीक्षा प्राप्त करता है, दीक्षा से दक्षिणा तथा दक्षिणा से श्रद्धा प्राप्त करता है और श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है ।

श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात्—उपासना का फल श्रद्धा के अनुरूप होता है ।

आत्म-विकास करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को स्वभाव के उदात्तीकरण द्वारा आगे बढने का न केवल पूर्ण अधिकार है, बल्कि अवसर भी प्राप्त होता है।

**यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।**
**प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥**

**शब्दार्थ :** सात्त्विकाः देवान् यजन्ते=सात्त्विक पुरुष देवताओ को पूजते हैं, राजसाः यक्षरक्षांसि=राजस मनुष्य यक्ष और राक्षसो को, अन्ये तामसाः जनाः प्रेतान् च भूतगणान् यजन्ते=अन्य तामस लोग प्रेतो और भूतगणो को पूजते हैं।

**वचनामृत** सात्त्विक पुरुष देवो को पूजते हैं, राजस लोग यक्ष और राक्षसो को तथा अन्य तामस लोग प्रेतो और भूतगणो को पूजते हैं।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी मनुष्यो की उपासना का भेद बताते हैं।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार ही उपासना-पद्धति अपनाते हैं। सात्त्विक प्रकृति के पुरुष देवी-देवताओ की उपासना करते है। वेदो मे अनेक देवताओ का वर्णन है तथा देवता एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं। देवताओ की उपासना प्राय' कष्ट-हरण के लिए अथवा किसी कामना की पूर्ति के लिए की जाती है। राजस प्रकृति के मनुष्य स्वार्थ-बुद्धि से कुबेर आदि यक्षो और नैर्ऋत, राहु, केतु आदि राक्षसो की भी उपासना करते हैं।

तामस जन श्मशान आदि मे जाकर भूत-प्रेतो को वश मे करने के लिए तामसी साधना करते है। तीनो प्रकार की उपासनाओ के वर्णन द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण सात्त्विकी उपासना की उत्कृष्टता तथा राजसी और तामसी उपासना की निकृष्टता की ओर सकेत कर रहे हैं। जो मनुष्य जैसी उपासना करता है, वह वैसा ही हो जाता है।

**अशास्त्रविहित घोर तप्यन्ते ये तपो जनाः।**
**दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥**

**कर्षयन्त शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।**
**मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।६।**

**शब्दार्थ :** ये जनाः अशास्त्रविहितं घोरं तप. तप्यन्ते=जो मनुष्य शास्त्रविधिरहित घोर तप तपते हैं, दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः=दम्भ-अहकार से युक्त, कामरागबलान्विताः=कामना, राग ( आसक्ति ) और बल के अभिमान से ( अथवा कामना और राग के बल से ) युक्त हैं। शरीरस्थं भूतग्राम च अन्त.शरीरस्थं मा एव कर्षयन्तः=शरीररूप मे स्थित ( शरीरधारी ) भूत-समूह को अथवा शरीर मे स्थित पचभूतो को और अन्त करण मे स्थित मुझे ( अन्तर्यामी परमेश्वर को ) कृश करनेवाले हैं, तान् अचेतसः आसुरनिश्चयान् विद्धि=उन अज्ञानियो को तू आसुरी निश्चयवाले ( आसुरी स्वभाववाले ) जान।[1]

**वचनामृत :** जो मनुष्य शास्त्रविधि-रहित घोर तप तपते हैं और दम्भ तथा अहङ्कार से युक्त एव कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से युक्त हैं, जो शरीर मे स्थित इन्द्रियो आदि के रूप मे भूत-समूह को और अपने भीतर स्थित मुझे ( अन्तर्यामी परमेश्वर को ) भी कृश करनेवाले ( परमेश्वर की आज्ञा न माननेवाले ) हैं, उन अज्ञानियो को तू आसुरी निश्चय ( स्वभाव ) वाले जान।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण आसुरी स्वभाव की व्याख्या करते हैं।

**रसामृत :** भगवान् आसुरी स्वभाव के लोगो के स्वरूप और उनके लक्षण का वर्णन कर रहे हैं। आसुरी स्वभाव के लोग दम्भ, अहङ्कार, काम, राग और अभिमान से युक्त होते हैं तथा स्वार्थ-बुद्धि से कामना-पूर्ति इत्यादि के लिए अनुचित और उग्र कष्टदायी तप आदि करते हैं। दम्भ का अर्थ है अपनी महत्ता एव श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए प्रदर्शन करना। आसुरी स्वभाव के लोगो के

---

१. इस श्लोक का अन्वय अनेक प्रकार से किया गया है तथा शब्दो के अर्थ भी अनेक प्रकार से किये गये हैं।

उत्तम कार्यों मे भी दिखावट और बनावट का प्रयत्न स्पष्ट झलक जाता है। वे तप, दान आदि उत्तम कार्य लोगो को प्रभावित करने के लिए करते हैं। उनके उत्तम कार्यों का लक्ष्य आत्मशुद्धि नही होता। अहङ्कार ( घमण्ड ) का अर्थ है अपने को बहुत बडा मानना और दूसरो को तुच्छ या नगण्य समझना। काम अर्थात् भौतिक सुखभोग की इच्छा और राग अर्थात् भोग्य पदार्थों के साथ आन्तरिक लगाव अथवा गहरा आकर्षण आसुरी मनुष्यो का लक्षण है। वे स्वार्थ से ऊपर उठकर आत्मकल्याण एव लोककल्याण की बात नही सोच पाते। वे अपने भौतिक बल अर्थात् धन-सम्पत्ति, कुल, पद, सत्ता आदि के अभिमान से युक्त होते है, नम्रता एव शालीनता से विहीन होते हैं। आसुरी स्वभाव के लोग कामना और भोगासक्ति से ही कर्म मे प्रवृत्त होते हैं, पुण्य पाप का विचार नही करते। वे अपने भौतिक बल के कारण मदोन्मत्त एव उद्धत रहते हैं।

आसुरी प्रकृति के लोग शास्त्र-विधान का परित्याग करके स्वेच्छानुसार घोर तप करते हैं। उनका उद्देश्य प्राय अपने तप की उग्रता का प्रदर्शन करना अथवा रहस्यमय चमत्कारिक शक्ति प्राप्त करना होता है। कुछ लोग कीलो की शय्या पर लेटकर अपने शरीर को वृथा कष्ट देते हैं। कुछ लोग एक टाँग से महीनो अथवा वर्षों झूले के सहारे खडे रहकर घोर कष्ट उठाते हैं, कुछ लोग तप्तशिला पर आरोहण करके शयन करते हैं, कोई सूर्य की ओर दृष्टि जमाकर नेत्र-ज्योति खो देते हैं। अनेक लोग दीर्घकालिक उपवास करके अपने को क्लेश एव कष्ट देते हैं तथा कुछ मूढजन अपने शरीर का मास काटकर आहुति दे देते हैं। इस तरह शरीर को अनावश्यक कष्ट देकर क्षीण करना अविवेक है। शरीर पचभूतो से निर्मित है तथा उसमे अन्तर्यामी परमेश्वर विराजमान रहता है। घोर तप द्वारा अपने को अथवा किसी अन्य को कष्ट पहुँचाना पाप है। घोर तप से अपना अथवा किसी अन्य का कोई हित नही सधता। कठोर तप द्वारा शरीर, इन्द्रियो तथा मन को यन्त्रणा देकर कृश एव निर्बल करना अपने भीतर विराजमान अन्तर्यामी परमेश्वर की आज्ञा का उल्लघन करना है। असहनीय उपवास आदि से शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है तथा नाडी-दौर्बल्य एव मति-भ्रम इत्यादि विकार उत्पन्न हो जाते हैं।[1] अस्वस्थ शरीर एव मलिन बुद्धि मे आत्म-चैतन्य के स्फुरण की अनुभूति भी क्षीण हो जाती है। यही देह मे व्याप्त परमात्मा को कृश करना अथवा अपमानित करना है। घोर यातनामय तप करनेवाले लोग मानव-रूप मे असुर ही है। वास्तव मे तप का उद्देश्य देह, इन्द्रियो और मन को शुद्ध करना है, उन्हे कृश करना नही। अतएव मनुष्य को अत्यन्त सावधान होकर तपश्चर्या करनी चाहिए तथा अतिशय एव असह्य तप कदापि नही करना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण आसुरी मनुष्यो के स्वरूप एव व्यवहार का वर्णन करके साधको को सचेत करते हैं कि वे असत् मार्ग का अनुसरण कदापि न करें। आत्म शोधन अथवा आत्मानुशासन का अर्थ आत्मयत्रणा नही होता, वह तो दुराग्रह है। विवेक-रहित तप आसुरी होता है।

**आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।**
**यज्ञस्तपस्तथा दान तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥**
**आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।**
**रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारा सात्त्विकप्रिया**
**कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।**
**आहारा राजसस्येष्टा दु खशोकामयप्रदा ॥९॥**

१ गौतम बुद्ध ने घोर तप के कारण शारीरिक एव मानसिक दुर्बलता होने पर सहसा अनुभव किया कि शरीर एव मन के दुर्बल होने पर मनुष्य न स्वस्थ चिन्तन कर सकता है और न आध्यात्मिक साधना ही। एच० जी० वेल्स ने इसका रोचक वर्णन किया है। धर्मसूत्र में चेतावनी दी गयी है कि जड बना देनेवाला कष्टदायक, अनुचित और लाभरहित तप नही करना चाहिए।

**यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।**
**उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥**

**शब्दार्थ : आहार अपि सर्वस्य त्रिविधः प्रियः भवति**=भोजन भी सबका ( अपने-अपने स्वभाव के अनुसार ) तीन प्रकार का प्रिय होता है, **तु तथा यज्ञः तप दान**=और वैसे ही यज्ञ, तप और दान ( तीन प्रकार के हैं ), **तेषा इस भेदं शृणु**=उनके इस भेद को सुन। **आयु सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना** =आयु, सत्त्व ( चित्त की स्थिरता, बुद्धि ), बल, आरोग्य, सुख ( और ) प्रीति ( रुचिकर होने का अनुभव ) को बढ़ानेवाले, **रस्या स्निग्धा स्थिराः हृद्याः आहारा सात्त्विकप्रियाः**=रसयुक्त, चिकने ( और ) स्थिर रहनेवाले, हृद्य ( हृदय को प्रिय ) आहार सात्त्विक पुरुष के प्रिय होते हैं। **कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन.** =कडवे, खट्टे, खारे, अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक, **दु खशोकामयप्रदाः आहारा राजसस्य इष्टा** =दु ख, कष्ट तथा आमय ( रोग ) देनेवाले भोजन राजस मनुष्य के प्रिय होते हैं। **यत् भोजन यातयाम गतरसं च पूति पर्युषित उच्छिष्टं च अमेध्यं अपि**=जो भोजन यातयाम ( अधपका अथवा रखा हुआ ), रसरहित और दुर्गन्धयुक्त ( और ) वासी ( और ) उच्छिष्ट ( शेष बचा हुआ ) है और अपवित्र भी है, ( तत् ) **तामसप्रियं**=( वह ) तामस व्यक्ति को प्रिय होता है।

**वचनामृत :** आहार भी सबको अपने स्वभाव के अनुसार ( तीन प्रकार से ) प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते है। तू उनके इस भेद को सुन। आयु, चित्त की स्थिरता, वल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढाने-वाले, रसयुक्त, स्निग्ध और स्थिर रहनेवाले तथा हृद्य ( प्रिय प्रतीत होनेवाले ) आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं—कड़वे, खट्टे, अधिक लवणयुक्त ( खारे ), बहुत गरम, रूखे, दाहकारक और दु ख, कष्ट और रोगकारक आहार राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं। जो यातयाम ( अधपके अथवा देर तक रखे हुए ), रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, वासी ( पहले दिन के रखे हुए ) और उच्छिष्ट ( जूठा, बचा हुआ ) तथा ( जो ) अपवित्र भी है, वह भोजन तामस मनुष्य को प्रिय होता है।

**सन्दर्भ** ' सात्त्विक, राजस और तामस आहार का वर्णन किया गया है।

**रसामृत :** आहार का स्वास्थ्य तथा स्वभाव के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य जैसा आहार लेता है वैसा ही स्वास्थ्य और स्वभाव बन जाता है। यह भी एक तथ्य है कि मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार ही आहार लेना पसन्द करता है। सात्त्विक पुरुष को सात्त्विक आहार, राजसी मनुष्य को राजसी आहार तथा तामसी मनुष्य को तामसी आहार प्रिय होता है। श्रीकृष्ण तीनो प्रकार के आहारो के विस्तृत वर्णन द्वारा यह सकेत कर रहे हैं कि मनुष्य को सात्त्विक आहार का ग्रहण तथा राजस और तामस का परित्याग करना चाहिए तथा इसी प्रकार सात्त्विक यज्ञ, तप और दान का ग्रहण तथा राजस और तामस यज्ञ, तप और दान का परित्याग करना चाहिए। सात्त्विक भोजन दीर्घ जीवन, चित्त की स्थिरता, शारीरिक बल तथा आरोग्य प्रदान करता है। आरोग्य का अर्थ है रोगरहित होना। सात्त्विक भोजन से मन मे तृप्ति का सुख अनुभव होता है तथा रुचिकर होता है।

सात्त्विक भोजन रसयुक्त होता है। फल रसमय होते हैं तथा सुपाच्य एव पोषक होते हैं। रसमय ( रेशेवाले ) शाक और दाल भी सुपाच्य एव पोषक होती है। स्निग्धता ( चिकनाई ) से भोजन स्वादिष्ट एव पोषक बन जाता है। गो-घृत की स्निग्धता श्रेष्ठ होती है। सात्त्विक भोजन के पोषक तत्त्व शरीर मे बहुत समय तक स्थिर रहते है। सुन्दर और स्वच्छ होने के कारण सात्त्विक भोजन हृद्य ( हृदय को प्रिय ) होता है। भोजन करते समय मन को प्रसन्न रखने से भोजन सुपाच्य एव पोषक हो जाता है। गो-घृत, गो-दुग्ध, शाक, गेहूँ, दाल, नवनीत, मधु, पायस ( खीर ), ताजे फल

चावल, शर्करा इत्यादि सात्त्विक आहार हैं। आहार से अन्त करण की शुद्धि होती है[1] और विचार-शक्ति तीव्र होती है।

राजस मनुष्यो की रुचि राजसी भोजन मे होती है। अति कटु ( बहुत कडवे ), अति अम्ल ( बहुत खट्टे ), अति लवण ( बहुत नमकीन, खारे ), अति उष्ण ( बहुत गर्म ), अति तीक्ष्ण ( बहुत तीखे, चरपरे ), अति रूक्ष ( बहुत रूखे ), अति विदाही ( बहुत जलन उत्पन्न करनेवाले ) तथा दु.ख, अशान्ति और आमय ( रोग ) उत्पन्न करनेवाले आहार राजस होते हैं। यद्यपि कटु, अम्ल, लवण, उष्ण आदि पदार्थ भोजन मे अल्पमात्रा मे आवश्यक हो सकते हैं, तथापि इनकी अति सर्वदा हानिकर होने के कारण ये वर्जनीय हैं। आवश्यकता होने पर नीम, कच्ची इमली, मिर्च, राई, लहसुन इत्यादि का औषधि के रूप मे तथा सीमित मात्रा मे सेवन उपयोगी हो सकता है, किन्तु इनके रुचि-पूर्वक प्रयोग का नियमित अभ्यास स्वास्थ्य के लिए सदैव क्षतिकर होता है। लोग प्राय आवश्यकता से अधिक नमक दाल, शाक मे डालते हैं, भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए मिर्च इत्यादि के प्रयोग से उसे चटपटा करते हे तथा अति उष्ण पेय-पदार्थ पीते हे, जिससे शरीर मे अत्यन्त हानिकारक उत्तेजना उत्पन्न होती है। राजसी लोग स्वाद के लिए भोजन करते हैं तथा शरीर के पोषण की उपेक्षा कर देते हे।

तमोगुण उत्पन्न करनेवाले पदार्थ निकृष्ट होने के कारण सर्वथा त्याज्य हैं। भोजन के यातयाम होने पर अर्थात् एक प्रहर ( लगभग तीन घटे ) व्यतीत होने पर उसका पोषक तत्त्व घट जाता है। यातयाम भोजन अधपके भोजन एव फलो को भी कहा जाता है। रसहीन ( अर्थात् रूखे, सूखे ) आहार पौष्टिक नही होता तथा आलस्य उत्पन्न करता है। दुर्गन्धयुक्त ( गले-सडे ) तथा पर्युषित ( बासी भोजन, जिसे एक रात्रि व्यतीत हो गयी हो ) भोजन अत्यन्त रोगकारक होता है। किसी-का उच्छिष्ट ( जूठन ) भोजन करना भी वर्जित है। अभक्ष्य मास, मदिरा, भाँग, तम्बाकू, अफीम आदि अमेध्य ( अपवित्र ) होते हे। अधर्मपूर्वक अर्जित धन से प्राप्त आहार भी अपवित्र होता है। भगवान् तीनो प्रकार के आहार के विस्तृत वर्णन द्वारा सात्त्विक आहार के ग्रहण तथा राजसिक एव तामसिक आहार के परित्याग का निर्देश करते है। विवेकशील मनुष्य गाह्य वस्तु का ग्रहण तथा त्याज्य वस्तु का त्याग कर देते हे।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मन. समाधाय स सात्त्विक॥११॥
अभिसंधाय तु फल दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहित यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

**शब्दार्थ :** य यज्ञ. विधिदृष्ट· यष्टव्यं एव इति= जो यज्ञ शास्त्रविधि से दृष्ट ( नियत अथवा शास्त्रसम्मत ) करणीय है ( करना कर्तव्य है ) ऐसे, मन समाधाय= मन का समाधान अर्थात् निश्चय करके, अफलाकाङ्क्षिभि =फल की इच्छा न करनेवाले मनुष्यो द्वारा, इज्यते=किया जाता है, स सात्त्विक =वह सात्त्विक है। तु=और ( अथवा परन्तु ) भरतश्रेष्ठ=हे भरतवश में श्रेष्ठ अर्जुन, यत् दम्भार्थं एव च फल अपि अभिसधाय इज्यते=जो यज्ञ दम के लिए और फल को लक्ष्य करके किया जाता है, त यज्ञ राजस विद्धि=उस यज्ञ को राजस जान। विधिहीन असृष्टान्न मन्त्रहीन अदक्षिणं श्रद्धाविरहितं यज्ञ=शास्त्र-विधि से हीन, अन्नदानरहित, मन्त्रों से हीन, दक्षिणारहित और श्रद्धारहित यज्ञ को, तामसं परिचक्षते=तामस यज्ञ कहते हैं।

---

१ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि सत्त्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृति.।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विमोक्ष.॥
—छान्दोग्य उप०, ७ २६ २
—आहार-शुद्धि से अन्त करण की शुद्धि, उससे निश्चित स्मृति, उससे सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

**वचनामृत :** जो यज्ञ शास्त्र विधि के अनुसार तथा कर्तव्य मानकर फल की इच्छा न करनेवाले मनुष्यों द्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है। किन्तु हे अर्जुन, जो केवल दम्भाचरण के लिए अथवा फल को लक्ष्य करके किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान। जो शास्त्र विधि से विहीन, अन्न-दान से रहित, मन्त्रों से विहीन तथा बिना दक्षिणा और बिना श्रद्धा के किया गया है, उसे तामस कहते हैं।

**सन्दर्भ :** सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञों का वर्णन किया गया है।

**रसामृत** . भगवान् उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार के यज्ञों का भेद कहकर उत्तम यज्ञों की श्रेष्ठता पर बल देते हैं। शास्त्रों मे ऋषियों, मुनियों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ सात्त्विक होते हैं, मनमाने यज्ञ सात्त्विक नही होते। यज्ञ मे शास्त्र-विधि के अनुसार गो-घृत, मधु आदि का उपयोग करना उचित है तथा मनमाने द्रव्यों का उपयोग करना नितान्त अनुचित है। फल की इच्छा का त्याग करके यज्ञ करना सात्त्विक है। प्रश्न होता है कि फल की इच्छा से प्रवृत्त न होकर यज्ञ कैसे करे? भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि मनुष्य को कर्तव्य मानकर भगवान् की प्रसन्नता के लिए (प्रभु-प्रीत्यर्थ) यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। यज्ञ से न केवल बाह्य वातावरण शुद्ध होता है, बल्कि अन्त.करण भी शुद्ध होता है। भगवान् श्रीकृष्ण निष्काम कर्म की श्रेष्ठता पुन पुन. प्रतिपादित करते है। यद्यपि शास्त्रीय विधान के अनुसार फल की इच्छा से किया हुआ सकाम यज्ञ भी शास्त्र-सम्मत और उचित होता है, तथापि निष्कामभाव से तथा कर्तव्य-भावना से किया हुआ यज्ञ पूर्ण सात्त्विक होता है। काम्य यज्ञों अर्थात् फल-विशेष की इच्छा से अथवा कामना-पूर्ति के उद्देश्य से अनुष्ठित यज्ञों की अपेक्षा निष्काम नित्ययज्ञ (अग्नि-होत्र इत्यादि) चित्त-शुद्धि मे अत्यन्त सहायक होते हैं। 'यज्ञ' का व्यापक अर्थ है परोपकार-भावना से त्यागपूर्वक जनकल्याण हेतु सम्पादित होनेवाले कर्म। कामना अथवा स्वार्थ की पूर्ति का प्रयत्न मनुष्य की भोगवृत्ति को विवृद्ध करता है तथा निष्कामभाव मनुष्य को निरहकार एव निर्मल बनाता है।

अनेक मनुष्य कामना-पूर्ति के उद्देश्य से अथवा लोक मे अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन करने की दृष्टि से यज्ञ करते हैं, किन्तु उनका यज्ञ शास्त्रविधि के अनुसार होने पर भी राजस होता है। कामना-पूर्ति के लिए शास्त्रविधि के अनुसार यज्ञ करना उचित एवं शास्त्रसम्मत तो है, किन्तु वह सात्त्विक नही होता, राजस होता है। भगवान् अन्तर्यामी है तथा सबकी कामना एव आवश्यकता को जानते हैं, किन्तु स्वार्थान्ध मनुष्य भगवान् से नाना प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के लिए याचना करता रहता है। अनेक अल्पबुद्धि जन तो भगवान् के साथ भोगलोलुप अधिकारी की भाँति सौदा करते है कि यदि भगवान् उनकी कामना पूर्ण कर दें तो वे देव-प्रतिमा को स्वर्णाभूषण से सुसज्जित करेंगे इत्यादि। भक्तिभाव से प्रेरित होकर देव-प्रतिमा को श्रद्धापूर्वक सुसज्जित करना अथवा वन्दना, अर्चना करना सात्त्विक एव उत्तम है, किन्तु कामना अथवा स्वार्थ-भावना उत्तम कर्म को भी राजस बना देती हैं। अनेक अविवेकी जन भक्तवत्सल भगवान् की कल्पना एक क्रूर अधिकारी के रूप मे करते हैं तथा उनकी मान्यता होती है कि यदि वे वन्दना, अर्चना, द्रव्य-समर्पण इत्यादि न करेंगे तो भगवान् रुष्ट होकर उन्हे दण्ड देंगे। भगवान् की वन्दना, अर्चना इत्यादि उत्तम है, उससे चित्त-शुद्धि होती है, किन्तु भय-प्रेरित वन्दना-पूजा निकृष्ट हो जाती है।

दैवी शक्तियों के विज्ञाता ऋषियों के अनुभव पर आधारित शास्त्र-विधि का उल्लंघन करते हुए मनमाने प्रकार से किया गया यज्ञ तामस होता है। कुछ लोग यज्ञ मे मनमाने द्रव्यों का प्रयोग करते है। राक्षसी वृत्ति के लोग यज्ञों को पशुओं की बलि

से दूषित कर देते हैं। पशु-बलि आलकारिक शब्द है। वास्तव मे पशु-बलि का अर्थ है पशु-वृत्ति का त्याग। श्येनयाग का अर्थ श्येन-वृत्ति का त्याग है। हिंसायुक्त दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम इत्यादि नित्य-कर्म तथा हिंसायुक्त अश्वमेध इत्यादि यज्ञ दूषित हैं। शास्त्र का स्पष्ट आदेश है—**'मा हिंस्यात् सर्व-भूतानि'**—किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। जीव-हत्या कभी धर्म नही हो सकती। जिस यज्ञ मे निर्धन जन के लिए अन्न-दान नही दिया जाता, वह असृष्टान्न एव तामस है।[1] शास्त्रोक्त मन्त्रो के विधिवत् प्रयोग के बिना ही अनुष्ठित यज्ञ मन्त्रहीन एव तामस है। मन्त्रो मे रहस्यमयी शक्ति प्रच्छन्न रहती है। मन्त्रो से दैहिक, मानसिक एव आध्यात्मिक शक्ति को जाग्रत किया जा सकता है तथा दैहिक एव मानसिक व्याधियो का निदान भी किया जा सकता है। मन्त्रो की महिमा अनन्त है। जिस यज्ञ मे पुरोहितो इत्यादि को यथाशक्ति दक्षिणा भेट नही की जाती है, वह अदक्षिण एव तामस है। दक्षिणा आदि देना त्याग-भावना को पुष्ट करता है। यथोचित दक्षिणा प्राप्त करने पर पुरोहितो के मुख से उत्तम आशीर्वचन निकलते हैं।

श्रद्धा के विना यज्ञ-अनुष्ठान निष्प्राण होते हैं। यदि कोई मनुष्य श्रद्धारहित होकर मात्र मान-बडाई के लिए यज्ञ का अनुष्ठान करता है, तो वह श्रद्धाहीन यज्ञ व्यर्थ तामसिक चेष्टा है। श्रद्धा समस्त उत्तम कार्य का प्राण है। श्रद्धा से ही मत्रादि सिद्ध होते हैं। श्रद्धा के साथ विश्वास सलग्न होता है। श्रद्धा और विश्वास होने पर दुर्गम लक्ष्य सुगम हो जाता है।

**देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।**
**ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥**

**अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।**
**स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मय तप उच्यते ॥१५॥**

**मन प्रसाद सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह।**
**भावसशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥**

**शब्दार्थ :** देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजन =देवता, द्विज, गुरु और ज्ञानीजन का पूजन, शौच आर्जव ब्रह्मचर्यं च अहिंसा =शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, शारीरं तपः उच्यते=शरीर का तप कहा जाता है। च यत् अनुद्वेगकर प्रियहित सत्य वाक्य=और जो अनुद्वेगकर (उद्वेग न उत्पन्न करनेवाला) प्रिय और हितकारक सत्यमय भाषण है, च स्वाध्यायाभ्यसनं=और (जो) स्वाध्याय (स्वय अध्ययन) का अभ्यास है, (तत्) एव वाङ्मयं तप उच्यते=(वह) निस्सन्देह ही वाणी का तप कहा जाता है। मन.प्रसाद सौम्यत्वं मौनं आत्मविनिग्रहः भाव सशुद्धि =मन का प्रसाद (निर्मलता एव प्रसन्नता), सौम्यता (शान्तभाव), मौन, आत्मनिग्रह (मन का सयम), भाव की सशुद्धि (अन्त करण की पवित्रता), इति एतत् मानसं तपः उच्यते=ऐसे यह मन का तप कहा जाता है।

**वचनामृत** देव, द्विज, गुरु और ज्ञानीजन का पूजन, शौच (पवित्रता), सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर का तप कहलाता है। जो अनुद्वेगकर (उद्वेग उत्पन्न न करनेवाला), प्रिय और हितकारक एव सत्यभाषण है तथा जो स्वाध्याय का अभ्यास है, वह वाणी का तप कहा जाता है। मन की निर्मलता एव प्रसन्नता, सौम्यत्व (शान्तभाव), मौन, आत्मविनिग्रह (आत्म-सयम), अन्त करण के भावो की शुद्धता, इस प्रकार यह मन का तप कहा जाता है।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण शरीर, वाणी और मन के तप का वर्णन करते हैं। इन तीनो श्लोको को, विशेषत १५ तथा १६ को कण्ठस्थ कर लेना चाहिए।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार यज्ञ तीन प्रकार के (सात्त्विक, राजस और

---

[1] 'अन्न ब्रह्म, अन्नेन जातानि जीवन्ति'—अन्न ब्रह्म है, अन्न से प्राणी जीवन पाते हैं।

तामस ) हैं, उसी प्रकार तप[1] भी तीन प्रकार के ( सात्त्विक, राजस और तामस ) हैं। सात्त्विक तप तीन प्रकार का ( अर्थात् शरीर, वाणी और मन का ) है। शरीर-सम्बन्धी तप के अन्तर्गत देव, द्विज, गुरु और प्राज्ञ का पूजन तथा शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा है। भगवान् के अंशभूत देवो को देव कहा जाता है। एक ही भगवान् के प्रमुख स्वरूपो ( सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, सृष्टिपालक विष्णु और उनके प्रधान अवतार राम तथा कृष्ण, सृष्टि-सहारक शिव तथा भगवत् शक्ति-स्वरूपा दुर्गा ) को भी देव कहा जाता है। 'द्विज के अनेक अर्थ होते है। 'द्विज' का एक सर्वमान्य अर्थ है उत्तम सस्कारवान्, आचारवान्, श्रोत्रिय पुरुष।[2] मनुष्य केवल मनुष्य-योनि मे जन्म लेने से मनुष्य नही कहलाता, बल्कि सस्कारवान् द्विज होने से ही मनष्यत्व प्राप्त करता है। 'गुरु पूजन' का अर्थ माता, पिता और ज्ञानदाता आचार्य की सेवा-शुश्रूषा करना है। माता और पिता का दोष-दर्शन कदापि नही करना चाहिए। उनके साथ विचार-भेद होने पर भी उनकी सेवा शुश्रूषा तथा आदर-सत्कार करना चाहिए। धर्माचरण कदापि त्याज्य नही होता तथा माता, पिता और गुरुजन के धर्मसम्मत आदेश सदैव पालनीय होते हैं।[3] सद्गुरु का स्थान माता और पिता की अपेक्षा अधिक उच्च है, क्योकि वह धर्म और अधर्म ( सत्य और असत्य, उचित और अनुचित ) का भेद स्पष्ट करके धर्माचरण के लिए प्रेरित करता है। धर्म सर्वोपरि है। धर्माचरण एवं सन्मार्गानुसरण की ओर उन्मुख करनेवाले सस्कारवान् एव चारित्रवान्, निस्स्वार्थ एव निश्छल तथा उदार एव त्यागी सतपुरुष का ही सद्गुरु रूप मे वरण करना चाहिए। सद्गुरु की महिमा अनन्त होती है। गुरु के प्रताप एव आशीर्वचन से असभव भी सम्भव हो जाता है।

'प्राज्ञ' का अर्थ है तत्त्वज्ञानी अथवा पण्डित, जो परमात्म-तत्त्व की गूढता को जानता हो। प्राज्ञ पुरुषो का सत्सग एव श्रद्धापूर्वक आदर-सत्कार करने से विवेक का विकास होता है। पूज्यजन की पूजा करने से मनष्य पवित्र एव उदात्त हो जाता है।

शौच का अर्थ है शुद्धता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक स्थलो पर शौच के महत्त्व की चर्चा की है।[1] शारीरिक स्वच्छता रखना भी शारीरिक तप है।

'आर्जव' का अर्थ है सरलता अथवा कुटिलता न होना, सीधा सच्चा होना, निश्छल और निष्कपट होना। शारीरिक तप के सन्दर्भ मे 'आर्जव' का अर्थ है शरीर से निषिद्ध कर्म न करना।

'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है ब्रह्म मे चर्या अथवा भगवत्-चिन्तन मे तत्पर होना तथा शरीर को भोग-प्रवृत्ति से मुक्त रखना।

---

१. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति।

—तैत्तिरीय उप०, ३ ५ १

—तप से ब्रह्म को जानो, तप ही ब्रह्म है। तप का अर्थ है साधना ( ध्यान आदि ) करना।

२. जन्मना जायते शूद्रः सस्काराद् द्विज उच्यते—प्रत्येक मनुष्य जन्म से शूद्र उत्पन्न होता है तथा संस्कार होने से द्विज कहलाता है। संस्कार होने से दूसरा जन्म होने पर 'द्विज' होता है।

३. मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव।

—तैत्तिरीय उप०, १ ११.२

—माता-पिता और गुरु देवरूप मे पूजनीय हैं।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥

—प्रबोधचन्द्रोदय

—अभिमानग्रस्त कर्तव्य-अकर्तव्य को न समझनेवाले कुमार्गगामी पिता का भी परित्याग विहित है। धर्म ही सर्वोपरि है। पिता का आदेश अमान्य होने पर भी पिता अपूज्य नही है।

१. गीता, १३.७, १६.३, ७, १८.४२

'अहिंसा' का अर्थ है जीवन की प्रतिष्ठा को स्वीकार करते हुए किसी प्राणी को पीडा न पहुँचाना । अहिंसा एक महान् जीवन-मूल्य है । जितनी सीमा तक भी इसका पालन सभव हो, उतना ही उपयोगी एव सार्थक है । भगवद्गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक स्थलो पर अहिंसा का महत्त्व कहा है ।[1] पशु-हिंसा को वैदिकी हिंसा कहकर उचित सिद्ध नही किया जा सकता है ।[2]

जिस तप मे शरीर की प्रधानता होती है, उसे शारीरिक तप कहते हैं । सात्त्विक शारीरिक तप का अर्थ शरीर को यातना अथवा निरर्थक पीडा देना नही है, बल्कि शरीर को तपाना अथवा नियत्रित करना है । अन्य दो सात्त्विक तप हैं वाचिक और मानसिक ।

जीवन मे वाणी का महत्त्व अतीव विशेष है । उत्तम वाणी मधुरता का सचार करती है । एक ओर एक दानशील व्यक्ति किसी अवसर पर दान देना उचित समझकर प्रचुर दान देता है, किन्तु कुछ रूखे अथवा कठोर शब्द कह देता है तो उसके विचार और कर्म के उत्तम होने पर भी कटुता उत्पन्न हो जाती है । दूसरी ओर एक अन्य व्यक्ति दान देना निरर्थक समझता है । वह दान न देकर भी कुछ मधुर शब्द कह देता है और कटुता उत्पन्न नही होने देता । जीवन मे वाणी का प्रभाव अवर्णनीय है । वाणी भगवान् की विभूति अथवा अद्भुत देन हैं,[3] इसके प्रयोग मे मनुष्य को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए । वाणी मनुष्य को सकट मे डालती भी है, सकट से उबारती भी है । वाणी मनुष्य को सहज ही दूसरो का शत्रु बना सकती है अथवा उन्हे मित्र बना सकती है ।[1] जिसके पास उत्तम वाणीरूप शस्त्र है, वह जन-समाज मे सुदृढ है ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि उत्तम वाणी का प्रमुख लक्षण है - वाणी का अनुद्वेगकर, प्रिय, हितकारक और सत्य होना । प्रथम और अति महत्त्वपूर्ण आवश्यकता यह है कि कोई बात किसीके मन मे उद्वेग उत्पन्न करने की दृष्टि से न कही जाय । किसीकी दुष्टता से अथवा मूर्खता से मन मे क्षोभ उत्पन्न होने पर भी सँभलकर बोलना वाणी का तप है । उत्तम पुरुष आवश्यकता होने पर दृढतापूर्वक अपनी बात कहते हुए यह स्मरण रखते हैं कि उनकी वाणी सद्भावनापूर्ण हो, दुष्ट या मूर्ख के मन मे सत्य की चेतना जगानेवाली हो तथा मार्गदर्शन एव सुधार की भावना से युक्त हो । उत्तम वाणी मन मे जागृति उत्पन्न करती है, स्वस्थ चिन्तन के लिए प्रवृत्त करती है तथा मानसिक धरातल ऊँचा करती है । उद्वेगकारी वाणी कहने और सुननेवाले के मन मे अशान्ति, भ्रान्ति और ग्लानि उत्पन्न करती है । उत्तम वाणी का उद्देश्य दूसरे के मन मे उद्वेग उत्पन्न करना नही, बल्कि वैचारिक उत्थान करना होता है ।

उत्तम वाणी कर्कश और परुष नही होती तथा प्रेमरस से सिक्त होती है । वास्तव मे ससार मे प्रेम ही स्वर्ग की शीतलता, शान्ति और माधुर्य देनेवाला अमृत तथा घृणा नरक की दुर्गति देनेवाला विष है । उत्तम वाणी प्रिय तथा हितकारक होती है । उत्तम वाणी श्रवण करनेवाले को प्रिय लगती है । उसका अन्तर्मन उत्तम वाणी को अपने लिए हित-

---

१ गीता, १० ५, १३ ७, १६ २

२ कुछ लोग यहकर भ्रान्त करते हैं कि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् वैदिक कर्मकाण्ड मे हिंसा करना हिंसा नही है । हिंसा कभी उचित नहीं हो सकती ।

३. गीता, १० ३४

---

१ कोऽतिभार समर्थानां किं दूर व्यवसायिनाम् ।
को विदेश सविद्यानां क पर प्रियवादिनाम् ॥
—पञ्चतन्त्र

—समर्थ लोगो के लिए अधिक बोझ क्या ? पुरुषार्थी लोगो के लिए दूर क्या ? विद्वानों के लिए विदेश क्या ? प्रियवादी पुरुषों के लिए पराया कौन ?

कारक मानकर स्वीकार करता है। उत्तम वाणी मृदु तथा निकृष्ट वाणी कर्ण-कटु होती है। उत्तम वाणी हृदय मे उल्लास एव उत्साह उत्पन्न करके मनोबल ऊँचा करती है। मन की कटुता एव उत्तेजना का निग्रह करके सयमित, मृदु भाषण करना वाणी का तप है। किसीकी द्वेषपूर्ण निन्दा करना, ताने मारना, तीखे शब्द कहना वाणी से आघात पहुँचाना है। वाणी के क्षत (घाव) अत्यन्त गम्भीर होते हैं तथा मर्मान्तिक वेदना उत्पन्न कर देते है।[1] सरल, शान्त, मधुर और मृदु शब्द कहना वाणी की साधना है, जिसका सावधानतापूर्वक अभ्यास करना चाहिए। दूसरो को प्रसन्न करने के लिए झूठी चापलूसी कदापि नही करनी चाहिए। कर्कश एव परुष वाणी की भाँति चापलूसी भी सर्वथा त्याज्य है। किन्तु किसीकी उचित प्रशसा करना तथा आवश्यकता होने पर प्रोत्साहन के लिए प्रशसात्मक शब्द कहना सर्वथा उचित है। वाणी पर मनुष्य की वृद्धि अथवा विनाश आश्रित होते हैं।[2] भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए कि हमारी वाणी अमृतमय हो।[3]

१. रोहति सायकैर्विद्धं छिन्नं रोहति चासिना।
वचो दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम्॥

—वाणो तथा तलवार के घाव भर जाते हैं, किन्तु वाणी का घाव नही भरता।

२. जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ। —चाणक्य

—वृद्धि और विनाश जिह्वा के अधीन हैं।

अभ्यावहति कल्याण विविधं वाक्सुधा।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते॥
—व्यास

—मधुर वाणी से कही हुई बात विविध कल्याण करती है तथा वही कटु होकर महान् अनर्थ करती है।

३ वाचस्पति. वाचं न स्वदतु। —यजुर्वेद

— वाणी का रक्षक हमारी वाणी को स्वादिष्ट करे।

जिह्वा मे मधुमत्तमा। —तैत्तिरीय उप०

—हमारी वाणी मधुर हो।

उत्तम वाणी सत्यनिष्ठ होती है। सत्य का अभ्यास चित्त-शुद्धि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। उत्तम मनुष्य मे सत्य कहने और सुनने का साहस होता है। सत्य की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखना व्यक्ति और समाज के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। माता, पिता, गुरु, अधिकारीगण इत्यादि के सामने अपनी बात शालीनतापूर्वक अवश्य कहनी चाहिए तथा सभा मे उचित पक्ष का समर्थन करना चाहिए, अन्यथा आत्मग्लानि का अनुभव करना पडता है।[1] यह भी एक तथ्य है कि मनुष्य को आवश्यकता से अधिक बोलकर शक्ति का क्षय नही करना चाहिए। बहुत बोलनेवाले मनुष्य के प्रति श्रद्धा नही हो सकती।[2] घृणात्मक निन्दा और चापलूसी असत्य पर आधारित होने के कारण नैतिक पतन का कारण होती है। उत्तम वाणी दुग्ध और मधु की भाँति सत्य तथा प्रेम का उचित सम्मिश्रण होने पर अमृतमय हो जाती है। सत्य तथा प्रिय वचन उत्तम

१ निर्विशङ्केन वक्तव्यम्।—साहसपूर्वक अपनी बात कहनी चाहिए।

सभा वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बिषी॥
—मनुस्मृति, ८.१३

— या तो सभा में न जाय और यदि जाय तो न्यायपूर्ण बात कहे, क्योकि न बोलना या अनुचित बोलना पाप है।

२ बहुभाषिणो न श्रद्दधाति लोकः।
—बाण

—लोग बहुत बोलनेवाले का विश्वास नहीं करते।

मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता।

—थोडा और सारयुक्त बोलना वाणी की कुशलता है।

महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः।

—महापुरुष स्वभाव से मितभाषी होते हैं।

होता है।[1] उत्तम वाणी पृथ्वी का रत्न होती है।[2]

स्वाध्याय करना भी वाचिक तप है। स्वाध्याय का प्रचलित अर्थ है सस्वर वेदपाठ, स्तोत्र-पाठ आदि करना, सद्ग्रन्थो का मन्थन करना और जप करना। वेद-पाठ आदि वाणी का तप है। सद्-ग्रन्थो का अनुशीलन और आवृत्ति करना चित्त-शुद्धि के लिए आवश्यक है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मन का प्रसाद ( मन को प्रसन्न रखना ), सौम्यता ( प्रशान्त एव मधुर रखना ), मौन ( मननशीलता एव बोलने पर मानसिक सयम ) तथा मन का निग्रह करना मान-सिक तप है। शरीर तथा वाणी की साधना की सफलता के लिए मन की साधना करना आवश्यक है। मन ही मनुष्य है तथा मन का तप जीवन मे चतुर्दिक् अभ्युदय के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मन को साधने से जीवन मे सब कुछ सध जाता है। वास्तव मे मन को निर्मल करना ही मन का तप है। मन की निर्मलता मे ही मन की प्रसन्नता सन्नि-हित है। भगवान् श्रीकृष्ण मन के प्रसाद की आव-श्यकता पर पुन पुन बल देते हैं।[1] मन के प्रसाद का अर्थ है मन को निरन्तर स्वच्छ एव प्रसन्न रखना। प्रसन्नता ही जीवन के विकास एव अभ्यु-दय का मूल सूत्र है। प्रसन्नता अमृत है तथा उद्वि-ग्नता विष। आन्तरिक प्रसन्नता ही जीवन का सच्चा सौन्दर्य है। विवेकशील पुरुष अभ्यास द्वारा मन को निरन्तर प्रसन्न रखकर राग, द्वेष, उद्वि-ग्नता, व्याकुलता, विषाद, चिन्ता, भय, शोक आदि विकारो से मुक्त रहते हैं। वास्तव मे भगवद्भक्ति का आनन्द-स्रोत प्रस्फुटित होने पर ही मन निर्वि-कार एव निरन्तर सुप्रसन्न रह सकता है।

मन की सौम्यता का अर्थ है मन को अभ्यास द्वारा प्रशान्त रखना तथा दूसरो के प्रति सहृदय एव सकरुण होना। मानसिक शान्ति एव सौम्यता मुख पर प्रतिबिम्बित हो जाती है तथा व्यक्तित्व को आकर्षक एवं ओजपूर्ण बना देती है। सौम्य पुरुष समस्त प्राणियो के प्रति सद्भाव से भरा होता है। सौम्य पुरुष किसीका अनिष्ट चिन्तन नही करता तथा कुटिल नही होता। उसका मन सौम-नस्य ( अर्थात् शुभ भाव अथवा सद्भाव ) से परि-पूर्ण होता है।

मौन का अर्थ केवल वाणी का मौन अथवा वाणी का सयम ही नही, मन का भी मौन अथवा मन का सयम होता है। मन का मौन मानसिक तप है। वाणी का सयम मन के सयम पर ही निर्भर होता है। परमात्मा के चिन्तन-मनन मे लीन होने पर मन-सम्बन्धी मौन सुगम एव सम्भव

---

१. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
—सत्य और प्रिय बोलना चाहिए, किन्तु अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए।

हितं मनोहारि च दुर्लभं वच ।
—हितकारी और मनोहारी वाणी दुर्लभ होती है।

सत्यस्य वचनं श्रेय सत्यादपि हित वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्य मत मम॥
—नारदजी शुकदेव से कहते हैं—वचन सत्य होना चाहिए, किन्तु कल्याणकारी होना उससे भी अधिक आव-श्यक है। प्राणियों के लिए हितकारक वचन परमसत्य होता है।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तव ।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥
—प्रिय वचन से सब प्रसन्न होते हैं। अत प्रिय ही बोलना चाहिए। मीठे शब्दों में दरिद्रता क्यो ?

२ पृथिव्या त्रीणि रत्नानि जलमन्न सुभाषितम्।
—पृथ्वी पर तीन रत्न हैं, जल, अन्न और प्रियवचन।

वाण्येका समलङ्करोति पुरुषम्।
—वाणी ही मनुष्य को सुशोभित करती है।

वाग्भूषणं भूषणम्।
—वाणी का भूषण ही सच्चा भूषण है।

---

१ गीता, २ ६४, ६५। प्रसाद का अर्थ है निर्म-लता तथा प्रसन्नता।

हो जाता है। सासारिक विषयो के चिन्तन से निवृत्त होकर परमात्म-चिन्तन मे लीन होना मानसिक मौन है। मौनी पुरुष भगवान् को प्रिय होता है।[1]

मनुष्य मन को निगृहीत एवं सयत करके ही उसे अचंचल, स्थिर और शान्त रख सकता है। मन को निगृहीत एव सयत करना मानसिक तप है। मन के संयत होने पर मनुष्य मितभाषी हो जाता है तथा कुपथ मे पग नही रखता। वास्तव में ध्यान, वैराग्य, स्वाध्याय, सत्सग आदि द्वारा भाव-संशुद्धि (अन्त करण-शुद्धि) होने पर ही मन को निर्मल, प्रसन्न, सौम्य तथा सयत करना संभव है। मन को राग, द्वेष, घृणा, क्रोध, हिंसा इत्यादि विकारो से मुक्त रखने तथा निगृहीत करने का निरन्तर प्रयत्न करना मन-सम्बन्धी महान् तप है। प्रभु-भक्ति एव मानव-प्रेम का उत्कर्ष होने पर मन स्वत पवित्र और संयत हो जाता है।

**श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।**
**अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥**
**सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।**
**क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥**
**मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।**
**परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥**

**शब्दार्थ** अफलाकाङ्क्षिभि. युक्तैः नरैः परया श्रद्धया तप्त=फल की इच्छा न करनेवाले युक्त (निष्काम कर्मयोग से युक्त) मनुष्यो द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए, तत् त्रिविधं तप. सात्त्विकं परिचक्षते=उस त्रिविध तप को सात्त्विक कहते हैं। च यत् तप. सत्कारमानपूजार्थं दम्भेन एव क्रियते=और जो तप सत्कार-मान-पूजा के लिए दभ से किया जाता है, तत् अध्रुवं चलं=वह अनिश्चित, अस्थिर, इह राजसं प्रोक्तं=यहाँ राजस कहा गया है। यत् तपः मूढग्राहेण आत्मनः पीडया वा परस्य उत्सादनार्थं क्रियते=जो तप मूढतायुक्त दुराग्रह से, अपनी पीडा से या दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, तत् तामसं उदाहृतम्=उसे तामस कहा गया है।

**वचनामृत** फल की कामना न करनेवाले योगी पुरुषो द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते है। जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए दभ से किया जाता है, वह अनिश्चित एव अस्थिर (क्षणिक फलवाला) तप यहाँ राजस कहा गया है। जो तप मूढ़तायुक्त हठ से, अपनी पीडासहित या दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह तप तामस कहा जाता है।

**सन्दभ** . सात्त्विक, राजस और तामस तप का वर्णन किया गया है।

**रसामृत**: तप भी तीन प्रकार के हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। तप का अर्थ है उत्तम उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने शरीर, मन और वाणी का कष्ट सहना। जो कर्मयोग की साधना करते हुए समाहितचित्त हो जाते हैं अर्थात् सिद्धि और असिद्धि, सफलता और विफलता तथा जय और पराजय में निर्विकार एव समरस रहते है, वे 'युक्त' कहलाते है। कर्म के फल की इच्छा छोड़कर तथा श्रद्धायुक्त अर्थात् भावपूर्ण होकर जो कायिक, वाचिक और मानसिक तप किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है। फल की वासना मन को दूषित एव दुर्बल कर देती है। फल की कामना छोडने पर मन समाहित, सम, स्वस्थ, स्थिर तथा एकाग्र होता है। परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर तथा घोर सकट के समुपस्थित होने पर भी समस्त संशय छोड़कर समाहितचित्त होकर कर्म करने-वाला निष्काम मनुष्य (निष्काम कर्मयोगी) महान् होता है तथा उसके कायिक, वाचिक और मानसिक तप सात्त्विक होते हैं। सात्त्विक तप मनुष्य के चेतना-धरातल को उच्च एव उदात्त कर देता है। कर्मयोगी अपनी कर्मनिष्ठा के सहारे तथा भग-वत्कृपा के भरोसे से अकेला रहकर भी सकटाकीर्ण

---

१. गीता, १२ १९

जो दान बिना सत्कार किये हुए अथवा तिरस्कारपूर्वक तथा बिना देश, काल आदि का औचित्य सोचे हुए दिया जाता है और जो कुपात्रो को दिया जाता है, वह तामसी है। मूढ लोग दान देते समय दानगृहीता का सत्कार नही करते तथा उसका तिरस्कार करते हैं। अनेक लोग दुष्ट जनो को दुर्व्यसनो के लिए धन देते हैं।

जन-हित के उत्कर्ष के लिए निस्स्वार्थ-भावना से दिया हुआ दान सात्त्विक, स्वार्थ-भावना से दिया हुआ दान राजसिक तथा धूर्तो एव दुष्टो को दिया हुआ दान तामसिक कहा गया है।

**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।**
**ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥**
**तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।**
**प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम ॥२४॥**
**तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।**
**दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङक्षिभिः ॥**
**सदभावे साधभावे च सदित्येतत्प्रयज्यते।**
**प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥**
**यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।**
**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥**

**शब्दार्थ :** **ॐ तत् सत् इति त्रिविध ब्रह्मण. निर्देश स्मृत** =ॐ तत् सत् ऐसे तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश ( नाम ) कहा गया है, **तेन पुरा ब्राह्मणा च वेदा. च यज्ञाः विहिता** =उसीसे पूर्वकाल में ( सृष्टि के आदि में ) ब्राह्मण, वेद और यज्ञ विहित हुए ( बने, रचे गये )। **तस्मात् ब्रह्मवादिना विधानोक्ता यज्ञदानतप क्रियाः** =इसीलिए ब्रह्मवादियो की शास्त्र-विधान में कही हुई यज्ञ-दान-तप क्रियाएँ, **सतत ॐ इति उदाहृत्य प्रवर्तन्ते** =सदा ॐ ऐसा कहकर प्रारम्भ होती हैं। **तत् इति फलं अनभिसंधाय विविधाः यज्ञतपः-क्रिया च दानक्रिया** =तत् ( तत् अर्थात् तत्नामक उस परमात्मा का ही सब कुछ है, ऐसा मानकर अथवा 'तत्' उच्चारण करके ) फल की इच्छा न करके विविध यज्ञ-तपरूप क्रियाएँ और दान-क्रियाएँ **मोक्षकाङ्क्षिभिः क्रियन्ते** =मोक्षाभिलाषी पुरुषों द्वारा की जाती हैं। **सत् इति एतत् सद्भावे च साधुभावे प्रयुज्यते** =सत् ऐसे यह ( परमात्मा का 'सत्' नाम ) सत्य-भाव में और श्रेष्ठ-भाव में प्रयोग किया जाता है, **तथा पार्थ प्रशस्ते कर्मणि सत् शब्द युज्यते** =तथा हे पार्थ, उत्तम कर्म मे सत् शब्द प्रयुक्त होता है। **च यज्ञे तपसि च दाने स्थिति. एव सत्** =तथा यज्ञ, तप और दान मे स्थिति भी सत्, **इति उच्यते** =ऐसे कहलाती है, **च तदर्थीय कर्म एव सत् इति अभिधीयते** =और तदर्थ कर्म भी सत् ऐसे कहा जाता है।

**वचनामृत :** ॐ तत् सत् ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्द ब्रह्म का नाम कहा गया है, उसीसे सृष्टि के प्रारम्भ-काल मे ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञ रचे गये। इसीलिए ब्रह्मवादियो की शास्त्र-विधि से उक्त यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा ॐ ऐसा उच्चारण करके प्रारम्भ होती हैं। तत् अर्थात् परमात्मा ही सब कुछ है ऐसे भाव से अथवा 'तत्' उच्चारण करके, फल की इच्छा न करते हुए यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ मोक्ष के आकाक्षी पुरुषो द्वारा की जाती हैं। सत् इस प्रकार यह परमात्मा का नाम सत्यभाव मे तथा श्रेष्ठभाव मे प्रयोग किया जाता है। हे पार्थ, उत्तम कार्यो मे भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त किया जाता है तथा यज्ञ, दान और तप मे जो स्थिति है वह भी 'सत्' कही जाती है और तदर्थ कर्म भी सत्' कहा जाता है।

**सन्दर्भ :** ॐ तत् सत् के महत्त्व का वर्णन है।

**रसामृत** परमात्मा के अनन्त नाम प्रसिद्ध हैं तथा वे नाम परमात्मा के अनन्त रूपो के वाचक हैं। किन्तु वेद मे 'ॐ तत् सत्' ये तीनो नाम बहु-प्रख्यात एव महत्त्वपूर्ण हैं। उत्तम पुरुष परमात्मा का नाम उच्चारण करके ही समस्त शुभ कर्म प्रारम्भ करते हैं। परमात्मा का स्मरण करने से चित्त शुद्ध होता है तथा अन्त करण मे पवित्र भाव-नाओ का उदय एव उद्रेक होता है। परमात्मा के नाम का स्मरण एव उच्चारण पुण्योदयकारक, मगलकारक तथा परमशुभ है। ॐ तत् सत् का निर्देश दोनो प्रकार से अर्थात् पृथक्-पृथक् तथा सयुक्त होता है। ॐ ब्रह्म का नाम है तथा तत् और

सत् भी ब्रह्म के नाम हैं।[1] प्रत्येक उत्तम प्रयत्न से पूर्व परमात्मा के नाम का स्मरण करना शुभ है। पुरुषार्थ के साथ प्रार्थना, कर्म के साथ धर्म अथवा क्रिया के साथ भाव का समन्वय होने पर सिद्धि प्राप्त होती है।

सृष्टि के प्रारम्भ मे ही ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण और वेद की रचना तथा यज्ञ, तप, दान आदि की व्यवस्था हुई। मानव मे आध्यात्मिक संप्रेरण एव प्रवृत्ति नैसर्गिक है तथा वह कही प्रसुप्त होती है और कही स्फुट एव प्रकट हो जाती है। वास्तव मे मानवता एव नैतिकता के समस्त सिद्धान्तो के मूल मे मानव की जन्मजात आध्यात्मिकता सस्थित होती है।

वैदिक वाङ्मय के पारगत एव वैदिक मन्त्रो का उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष यज्ञ, दान और तपरूप शास्त्रविहित क्रियाओ का प्रारम्भ सदैव ॐ के उच्चारण से करते है। ॐ परमात्मा का नाम है।[2] ॐ कहने से ईश्वरार्पण-बुद्धि का सकेत होता है।[3] ॐ मे समस्त ध्वनि विलीन होती है। ॐ का निरन्तर मानसिक जप करने से न केवल चित्त-शुद्धि होती है, बल्कि मन और शरीर के समस्त रोग दूर हो सकते है और अकल्पनीय शक्तियाँ जाग्रत हो जाती है। ॐ ज्ञान और विज्ञान से भरपूर है। विवेकी जन प्रत्येक शुभ क्रिया का प्रारम्भ ॐ के उच्चारण से करते हैं। ॐ कहने से कर्म मे सात्त्विकता का समावेश हो जाता है तथा विघ्नो का विनाश होता है।[1]

'तत्' कहने से यह निर्देश होता है कि वह परब्रह्म परमात्मा ही सब कुछ है तथा मनुष्य निमित्तमात्र है। इस ससार मे केवल परमात्मा की सत्ता ही अखण्ड और नित्य है। तत् परमात्मा का एक नाम है। परमात्मा को ससार का अधिष्ठाता, सचालक एव पोषक मानकर निष्काम-भाव से यज्ञ, तप, दान आदि श्रेष्ठ कर्म करनेवाला मोक्ष अर्थात् परमपद की प्राप्ति का अधिकारी होता है। 'तत्' ( अर्थात् वह अद्वितीय परमेश्वर ) कहने से निष्काम-भाव एव त्याग-भाव का बोध होता है।

'सत्' कहने से यह निर्देश होता है कि परमात्मा ही विनाशरहित, शाश्वत और नित्य है। ससार असत् अर्थात् विनश्वर है तथा परमात्मा अविनश्वर है। 'सत्' परमात्मा का एक नाम हैं। 'सत्' साधुभाव अर्थात् भलाई और उत्तमता का भी ज्ञापक है। 'सत्' साधु ( उत्तम पुरुष ) की साधुता ( उत्तमता ) का निर्देश करता है। सत् की असत्

---

१ 'ॐ इति ब्रह्म', 'तत् त्वं असि', सत् एव सौम्येदमग्र आसीत्

ॐ तत् सत् मे तीनो शब्द अलग-अलग और मिलकर एक ही परमात्मा का नाम है। प्रश्नोपनिषद् मे ॐ तत् सत् की विवेचना है। तत् ( वह ) का अर्थ है बुद्धि से परे वह ब्रह्म तथा सत् का अर्थ है अस्तित्वमान्, नित्य, शाश्वत तत्त्व। ॐ तत् सत् एक महामन्त्र है तथा आशीर्वचन है। ॐ इति ब्रह्म ( तैत्तिरीय उप० ), तत् त्व असि ( छान्दोग्य उप० ), सदेव सौम्येदमग्र आसीत् ( छान्दोग्य उप० ) इन तीनो का सारभूत ॐ तत् सत् है।

गीता, ८ १३, ९ १७ मे ॐ की चर्चा है।

२ तस्य वाचक. प्रणवः। ( योगदर्शन )
—ॐ परमात्मा का नाम है।

३ ॐ प्रतिष्ठ ( यजुर्वेद, २ १३ ), ॐ क्रतो स्मर ( यजुर्वेद, ४० १५ ), ॐ ख ब्रह्म ( यजुर्वेद, ४०.१७ )

महात्मा गाधी परमात्मा का अखण्ड स्मरण करते थे। वे कहते थे, "जाग्रत काल का ऐसा क्षण नही होता, जब कि ईश्वर मुझमे है और वह सब देख रहा है, इसका भान मुझमे न हो। यह भान बुद्धि को है और अभ्यास से हुआ है।" वे कहते थे, "मैं कुछ भी नही कर रहा हूँ। ईश्वर ही सब करा रहा है।"

१. विघ्नेश्वर गणेश की पूजा वास्तव मे ॐकार की पूजा है। ॐकाररूप श्रीगणेश विघ्नहर्ता तथा मगलदाता हैं।

पर अथवा साधुता की दुष्टता पर विजय होती है। प्रशस्त ( श्रेष्ठ ) कर्मों के सन्दर्भ मे भी 'सत्' का प्रयोग किया जाता है। परमात्मा श्रेष्ठ कर्मों का प्रेरक है। 'सत्' नित्यता तथा श्रेष्ठता का सूचक है। नित्यता अथवा श्रेष्ठता के मूल मे सत्स्वरूप परमात्मा सस्थित है। श्रेष्ठकर्म सत्यनिष्ठा पर आधारित होते है। परमात्मा सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है।

यज्ञ, तप और दान मे सच्ची श्रद्धा होना उनमे स्थिति अर्थात् तत्परता एव निष्ठा है। यज्ञ, तप और दान क्रियाएँ हैं। निष्ठा होने पर ही यज्ञादि कल्याण-कारक होते हैं। समस्त उत्तम क्रियाओ मे सात्त्विक श्रद्धा अथवा निष्ठा का ही महत्त्व है। निष्ठा सात्त्विक कर्म का प्राण है। अतएव सात्त्विक निष्ठा को भी सत् कहा जाता है।

जो कर्म प्रभु प्रेरणा के अनुसार निष्कामभाव से अर्थात् फलासक्ति छोडकर तथा भगवदर्पण-बुद्धि से किया जाता है, वह चित्त-शुद्धि कर देता है तथा भगवत्प्राप्ति का साधन होता है। ऐसा कर्म भी सत् होता है। मगलस्वरूप परमात्मा सर्वत्र और सदा विद्यमान रहता है तथा स्वार्थ से ऊपर उठ कर उसके निमित्त किये हुए कर्म ( तदर्थीय कर्म ) सत् अर्थात् अविनश्वर एव कल्याणकारक होते हैं। स्वार्थ-पूर्ति इत्यादि के लिए किया हुआ कर्म असत् होता है तथा कष्ट का कारण होता है।[1]

**अश्रद्धया हुत दत्त तपस्तप्तं कृतं च यत्।**
**असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥**

**शब्दार्थ** पार्थ=हे अर्जुन, अश्रद्धया हुतं दत्त तप्त तप =अश्रद्धा से हुत ( किया हुआ हवन ), दत्त ( दिया हुआ ) दान, तप्त तप ( तपा हुआ तप ), च यत् कृतं=और जो किया हुआ कर्म है, असत् इति उच्यते=असत् ऐसे कहा जाता है, तत् नो इह च न प्रेत्य=वह न इस लोक मे और न मृत्यु होने पर ( कल्याणकारक है )।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, श्रद्धारहित होकर किया हुआ हवन, दिया हुआ दान और तपा हुआ तप तथा अन्य जो कुछ भी शुभ कर्म किया जाता है, वह समस्त असत् है, ऐसे कहा जाता है। वह न इस लोक मे कल्याणकारी है और न मृत्यु होने पर ही।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण अश्रद्धा का दोष बताकर इस अध्याय का उपसहार करते हैं।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि श्रद्धा ही यज्ञ, दान, तप इत्यादि की पवित्र क्रियाओ का सार-तत्त्व है। यदि किसी शुभ कर्म के पीछे श्रद्धा नही है तो वह वाह्यत शुभ होकर भी असत् अर्थात् अस्तित्वहीन है। श्रद्धायुक्त उत्तम कर्म से चित्त-शुद्धि होती है। श्रद्धा होने पर ही शुभ कर्म से आन्तरिक प्रसन्नता होती है। जो मनुष्य दभ, अहकार, राग इत्यादि के कारण विना श्रद्धा ही यज्ञ, दान, तप इत्यादि पुण्य कर्म करता है, वह कल्याणकारक नही होता।[1] श्रद्धा से ही दान आदि उत्तम कर्म करना चाहिए, अश्रद्धा से नही[2] श्रद्धा ही कल्याण का मूल मत्र है। 'ॐ तत् सत्' का उच्चारण श्रद्धा का सूचक है। वह कर्म को शुद्ध और सात्त्विक बना देता है।

**ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्याय ।**

श्रद्धात्रयविभागयोगनामक सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

---

१ एवं निश्चितमभ्येति शुभमेव शुभात्मनाम्।
एव चातिक्रमो नाम क्लेशाय महतामपि ॥
—कथासरित्सागर

—शुद्ध अन्त करणवाले मनुष्यो का कल्याण अवश्य होता है और इसका अतिक्रमण महापुरुषो के लिए भी कष्ट-कारक होता है।

१ गीता, १७ १३

२ श्रद्धया देयं अश्रद्धयाऽदेयम्। —तैत्तिरीय उप०

## सार-संचय

### सप्तदश अध्याय : श्रद्धात्रयविभागयोग

मानव-जीवन की सार्थकता एव सफलता इसमे है कि अपने भीतर ही स्थित सनातन सत्य के चिरन्तन प्रकाश की ओर अग्रसर होते हुए उसे प्राप्त कर लिया जाय। एक ही अद्वितीय शाश्वत चैतन्य-तत्त्व परमसत्ता के रूप मे सम्पूर्ण सृष्टि का सधारण एव सचालन कर रहा है। वही चित्स्वरूप परमब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामी होकर मानव के भीतर सस्थित है, जीवन का स्रोत एव आधार है। मानव जड देह नही है, दिव्य आत्मस्वरूप ही उसका सच्चा स्वरूप है। भगवान् श्रीकृष्ण श्रद्धात्रयविभागयोग की विवेचना द्वारा यह स्पष्ट कर रहे हैं कि मनुष्य श्रद्धा के बल पर अपने दिव्यत्व का बोध करके जड जगत् के मिथ्या दुख और सुख से ऊपर उठकर निजस्वरूप मे स्थित हो सकता है तथा परमानन्दरूप परमपद प्राप्त कर सकता है। वेदो, उपनिषदो तथा सद्ग्रन्थो मे श्रद्धा की महिमा का गुणगान है।

मनुष्य की श्रद्धा ही मनुष्य का यथार्थ रूप है। भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वय भी वही है।[1] मनुष्य अपने विचारो और कर्मों द्वारा अपने अन्तःकरण पर सस्कार डालता रहता है और सस्कारो का समुच्चय ही मनुष्य का सत्त्व अथवा स्वभाव बन जाता है। मनुष्य के स्वभाव के अनुसार श्रद्धा भी सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी हो जाती है। श्रद्धा को सात्त्विक बनाने का प्रयत्न करते रहना तथा राजसी एव तामसी भाव का परित्याग करते रहना ही विकास की प्रक्रिया है। सात्त्विक श्रद्धा आध्यात्मिक जीवन के विकास का रहस्य है। श्रद्धामय जीवन जीने की साधना मनुष्य को कृतकृत्य कर देती है। श्रद्धा जीवन-पथ पर प्रकाशपुज बनकर मार्गदर्शक बन जाती है। श्रद्धा से जीवन का उद्धार होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण श्रद्धा के तीन स्वरूपो के विशद वर्णन द्वारा साधक को सावधान करते है कि उसे निरन्तर सजग रहकर राजसी और तामसी श्रद्धा का परित्याग करते हुए सात्त्विक श्रद्धा का विकास करना चाहिए। सात्त्विक श्रद्धा चेतना-स्तर को ऊँचा उठाती है, राजसी एव तामसी श्रद्धा नीचे गिराती है।

सात्त्विक जन देवताओ तथा पूज्य जनो का पूजन करते है। पूज्य लोगो की पूजा से मन पर उत्तम सस्कार पड़ते हैं तथा चरित्र-निर्माण होता है। माता, पिता, गुरु और सन्तो की पूजा कल्याणकारी होती है। राजस लोग यक्षादि की तथा तामस लोग प्रेतादि की उपासना करते हैं। राजस लोग कामना से प्रेरित होकर तप करते हैं तथा तामस लोग निषिद्ध घोर तप द्वारा व्यर्थ ही देह को कृश करते है। तामसी श्रद्धावाले लोग शास्त्र-विधि का उल्लघन करके मनमाने कष्टदायक तप करते है, तप्त शिला पर आरोहण, कीलों की शय्या पर लेटना, जिह्वा आदि काटकर देवी-देवता को समर्पित करना आदि। ऐसे निकृष्ट तप मन को दूषित तथा देह को दुर्बल करते है।

आहार भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के हैं। दुग्ध, घृत, फल इत्यादि सात्त्विक आहार दीर्घायु, ओज, बल, आरोग्य ( स्वस्थता ) और सुख देते है तथा रसयुक्त, स्निग्ध ( चिकने ), चिरकाल तक शरीर मे रहनेवाले और प्रिय होते हैं। अत्यन्त कटु, अत्यन्त अम्ल ( खट्टे ), अत्यन्त नमकीन, अत्यन्त गरम, तीखे, रूखे और दाह उत्पन्न करनेवाले राजस आहार कष्टप्रद होते हैं। सड़े-गले, जूठे, अपवित्र और दुर्गन्धयुक्त तामस आहार बुद्धि को मलिन और देह को रोगग्रस्त करते हैं।

---

१ 'यो यच्छ्रद्धः स एव स.।' —गीता, १७.३
—जैसी श्रद्धा वैसा ही मनुष्य।

जो यज्ञ शास्त्र-विधि के अनुसार कर्तव्यरूप मे तथा फल-कामना से मुक्त होकर किये जाते हैं, वे सात्त्विक हैं। जो यज्ञ फल की इच्छा से अथवा केवल अपने गौरव का प्रदर्शन करने के लिए किये जाते हैं, वे राजस हैं। जो यज्ञ मनमाने ढग से तथा मन्त्र, अन्न-दान, दक्षिणा-दान इत्यादि के बिना किये जाते हैं, वे तामस हैं।

देवता, ब्रह्मज्ञानी, गुरु, पूज्य जन का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य ( मन को भौतिक सुख-भोग से ऊपर उठाकर ब्रह्म-चिन्तन करना), अहिंसा ( किसीको पीडा न देना ) शरीर का तप है। व्याकुल करनेवाली वाणी न कहना, सत्य कहना, किन्तु प्रिय एव कल्याणकारक वचन कहना अर्थात् व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त होकर सुधार एव कल्याण करने की दृष्टि से वचन कहना वाणी का तप है। मनुष्य वाणी के प्रभाव से अपने चारो ओर मित्र अथवा शत्रु बनाकर अपने लिए सुखद अथवा दु खद वातावरण निर्माण कर लेता है। वाणी का प्रयोजन जन-कल्याण होना चाहिए। अविवेकी लोग वाणी पर सयम न करके कटु, उद्वेग-कारक, अपमानजनक, अप्रिय और अनिष्टकारक शब्द कहकर समस्या को जटिल बना देते हैं तथा दूसरो को उद्विग्न कर देते हैं। विवेकशील पुरुषो की वाणी सत्यमय होती है, किन्तु वे यह स्मरण रखते हैं कि वाणी का उद्देश्य केवल सत्य कथन नही होता, बल्कि जन-कल्याण होता है। विवेकी पुरुष आवश्यक होने पर ही बोलते हैं तथा सयमित एव सीमित, सरल एव स्पष्ट तथा मधुर एव मृदु शब्द कहते हैं। उत्तम पुरुष सबके लिए सद्भावना-पूर्ण होते हैं तथा सबके कल्याण को दृष्टिगत करते हुए सत्य, किन्तु प्रिय एव मधुर वचन बोलते हैं। वाणी का तप करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषो की वाणी दूसरो के मन मे सत्य शिव सुन्दरम् का सचार कर देती है तथा पापी को भी पाप-पक से निकालकर उसके हृदय मे सत्य का प्रकाश प्रतिष्ठित कर देती है। वाणी का तप मनुष्य की वाणी को सिद्धता प्रदान कर देता है। संत की तप पूत वाणी मे सहज माधुर्य होता है। दुष्ट की वाणी की कृत्रिम मिठास विषमय प्रवचना है। वाणी का तप वाणी को अमृतमय बना देता है। उत्तम पुरुष की तप पूत वाणी विवेक के प्रकाश को प्रतिष्ठित कर देती है। उत्तेजित होने का अवसर होते हुए भी वाणी का सयम रखकर कल्याणकारक सत्य का मृदु एव मधुर शब्दो मे कथन करना वाणी का तप है। वेद-पाठ तथा पूजा सम्बन्धी स्तोत्र-पाठ करना भी वाणी का तप है।

मन का प्रसाद ( निर्मलता एव आन्तरिक प्रसन्नता ), सौम्यता ( प्रसन्नमुख रहना ), मौन ( मननशीलता अथवा आत्मचिन्तन के द्वारा मन को शान्त रखना ), आत्मनिग्रह ( इन्द्रिय, मन, बुद्धि को वश मे रखना अथवा चित्त-वृत्ति का निरोध करना ), भाव-सशुद्धि ( मन को कपट, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषो से मुक्त रखना ) मन का तप है। मन का तप वाणी के तप का आधार है। जो मनुष्य वाणी और मन का तप कर लेता है, वह महान् है तथा वह लोक-कल्याण का स्रोत है। वह मनुष्य धन्य है, जो अपने चारो ओर कटु आलोचना, निन्दा, विष-वमन, मिथ्या दोषारोपण और तिरस्कार के होने पर भी उनसे प्रभावित नही होता तथा अपने मन को निर्मल और निरन्तर प्रसन्न रखता है। जिस मनुष्य के भीतर दिव्यता का आनन्द-स्रोत अजस्र प्रवाहित होता है तथा जो विषम परि-स्थिति मे भी हँसता-मुस्कराता रहता है, वह भीषण सकट की चुनौती स्वीकार करके उस पर मानो अट्टहास कर देता है। मन का प्रसाद ससार का सर्वश्रेष्ठ रत्न है। भगवान् श्रीकृष्ण का सच्चा उपासक तथा भगवद्गीता का सच्चा अनु-यायी वही है, जिसका अन्त करण भगवद्भाव के कारण सतत निर्मल और आनन्दमय है। उत्तम पुरुष सौम्यदर्शन होता है। उसके मुखचन्द्र से सौम्य एव शीतल रश्मियाँ प्रस्फुटित होकर दूसरो को शीतल और शान्त कर देती हैं। दुष्टो की

दुष्टता, कुटिलजन के कपट, विषधरो का विष, शत्रुगण की शत्रुता और राक्षसो के षड्यंत्र उसके मन मे द्वेष आदि विकार उत्पन्न नही करते तथा भय का सचार नही करते। भौतिक ऐश्वर्यों के सुखभोग उसके मन को प्रलुब्ध नही करते। किसी प्रकार की क्षुद्र सकीर्णता अथवा स्वार्थ-वृत्ति उसे ग्रस्त नही करती। भगवद्चिन्तन एवं मनन के कारण उसके मन को मौन का अनुभव होता है अर्थात् उसके मन मे भौतिक पदार्थो के मोहमय चिन्तन का अभाव होता है तथा एक अद्भुत शान्ति की अनुभूति होती रहती है। वास्तव मे चुप बैठना मौन नही है, मन को विकारो से मुक्त करके गहन शान्ति की अनुभूति करना मौन है। इन्द्रियो, मन, बुद्धि और वाणी पर उसका पूर्ण निग्रह होता है। उसके आत्म विनिग्रह का रहस्य उसकी भावसशुद्धि अर्थात् मन को निर्विकार रखने मे सन्निहित है। निरन्तर मजग रहकर मन को काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि विकारो से मुक्त रखने का प्रयत्न करना मन-सम्बन्धी तप है। शरीर के तप की अपेक्षा मन का तप अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। विवेकशील पुरुष घर मे रहकर भी पाँचो ज्ञानेन्द्रियो का निग्रहरूप तप करते हैं।[1] फल की इच्छा छोडकर निष्काम कर्म करनेवाले पुरुष श्रद्धायुक्त होकर कायिक, वाचिक और मानसिक पूर्वोक्त तीन प्रकार का सात्त्विक तप करते हैं।

अपने सत्कार, मान और प्रतिष्ठा के लिए अथवा केवल दूसरो को दिखाने के लिए दभ से किया हुआ तप राजस है। अनेक लोगो के तप का प्रयोजन सत्कार पाना अथवा अपने को तपस्वी सिद्ध करना होता है। जो तप मूढतापूर्ण हठ से किया जाता है तथा जिसमें मन और शरीर को अतिशय कष्ट दिया जाता है वह तामस है। दूसरो का अनिष्ट करने के लिए किया हुआ तप भी तामस है। अनेक लोग शत्रु-नाश के लिए तामस तप करते हैं। दूसरो को कष्ट पहुँचाने के प्रयोजन से किया हुआ तप तामसिक अर्थात् नीचतापूर्ण होता है। राजस और तामस तप भी पूर्वोक्त तीन प्रकार के अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक होते हैं। वास्तव मे तप का उद्देश्य शारीरिक, वाचिक और मानसिक शुद्धि है।

यज्ञ और तप की भाँति दान भी सात्त्विक, राजस और तामस होता है। दान देना मानव का कर्तव्य है, ऐसा निश्चय करके प्रत्युपकार (बदले की सेवा) की इच्छा और आशा से विमुक्त होकर तथा देश, काल और पात्र का औचित्य देखकर दिया हुआ दान सात्त्विक होता है। प्रत्युपकार की इच्छा और आशा से अर्थात् फल की इच्छा से दिया हुआ दान उत्तम होकर भी राजस होता है। देश, काल और पात्र का बिना विचार किये तथा तिरस्कार करके दिया हुआ दान तामस होता है।

वास्तव मे दान देना समाज का उपकार करना नही है, बल्कि समाज के प्रति अपना ऋण चुकाना है। दान के पीछे त्याग की भावना दान को उदात्त बना देती है। व्यक्तियो के परस्पर त्याग द्वारा ही समाज का विकास होता है। दान से समाज और सस्कृति की रक्षा होती है तथा व्यक्ति का जीवन कृतार्थ होता है। धन की तीन गतियाँ हैं—उत्तम गति दान, मध्यम गति भोग तथा अधम गति नाश। उत्तम पुरुष दान के लिए धन का अर्जन करते हैं।[1]

---

१. वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणा।
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः॥

—वन में रहकर भी रागी होने पर तपस्वी मे दोष उत्पन्न हो जाते हैं तथा घर में रहकर भी पाँचो इन्द्रियो का निग्रह करना सच्चा तप है।

१. दानाय अर्ज्यते—दान के लिए धन का अर्जन किया जाता है।

अहो किमपि चित्राणि चरित्राणि महात्मनाम्।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते तत्भारेण नमन्त्यपि॥

—महापुरुषो का चरित्र विचित्र होता है। वे लक्ष्मी को

उत्तम पुरुष विनम्र होकर यथासम्भव गुप्त दान देते हैं। गुप्त दान प्रकट दान की अपेक्षा अधिक चित्तशुद्धिकारक एव अनन्त फलप्रद होता है, जैसे धरती मे बोया हुआ बीज गुप्त रहने पर ही अकुरित होता है तथा एक से अनन्त हो जाता है। त्याग-वृत्ति ही धन की शोभा है। श्रेष्ठ धनिकजन औषधालय, अनाथालय, पुस्तकालय, विद्यालय, देवालय इत्यादि के निर्माण द्वारा धन का सदुपयोग करते हैं। मनुष्य को अपनी भोग-वृत्ति पर नियन्त्रण करके उदारतापूर्वक समाज-सेवा द्वारा आत्म-कल्याण करना चाहिए। परिश्रमपूर्वक प्रचुर धन कमाना एक गुण है तथा इसमे कोई दोष नही है, किन्तु धन का दान तथा उचित भोग न होने पर वह नष्ट हो जाता है। प्रकृति मानव को निरन्तर त्यागपूर्वक भोग एव दान का सन्देश देती है।[1] नदी अपना जल स्वय नही पी लेती, वृक्ष अपने फल स्वय नही खा लेते, मेघ अन्न को स्वय नही खा लेते। उत्तम पुरुषो की विभूति परोपकार के लिए होती है।[2] प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति होने पर ही कल्याण होता है।

कहा जाता है कि गधा अधर्म का रूप है, क्योकि उसके पैर मे एक ही पारी होती है तथा गौ धर्म का रूप है, क्योकि उसके पैर मे दो पारियाँ होती हैं। ग्रहण और त्याग का शाश्वत युगल है। मनुष्य की महानता और आन्तरिक बल का परिचय उसकी त्याग भावना से ही मिलता है। धन-सग्रह से मनुष्य को मिथ्या सन्तोष मिल सकता है,

तृण के समान तुच्छ समझते हैं, किंतु लक्ष्मी प्राप्त होने पर विनम्रता से झुक जाते हैं।

१ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा। —ईशावास्य उप०

—त्यागपूर्वक भोग करो।

२ पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भ
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षा।
नादन्ति शस्य खलु वारिवाहा
परोपकाराय सतां विभूतय॥

किन्तु आन्तरिक तृप्ति नही मिलती। त्याग से ही आत्यन्तिक तृप्ति प्राप्त होती है।[1] जलाशयो मे भरा हुआ जल भी सूख जाता है, किन्तु आहुति मे और दान मैं दिया हुआ द्रव्य वैसा ही स्थिर रहता है।[2] "मै-मै" (अथवा मेरा-मेरा) कहनेवाले अभिमानी मनुष्य को कालरूप भेडिया खा जाता है और सब धन यही पडा रह जाता है।[3] जीवनरूपी पुस्तक ही सब पुस्तको मे सर्वोत्तम है तथा जीवन से सत्य और प्रेम का पाठ सीखकर उसका आचरण करना चाहिए। उत्तम पुरुष भोग-वृत्ति के शमन तथा त्याग-वृत्ति के विकास द्वारा जगत् का हित एव आत्म कल्याण करने मे तत्पर रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वेद मे प्रसिद्ध परमात्मा के नाम 'ॐ तत् सत्' के उच्चारण मात्र से कल्याण होता है। 'ॐ तत् सत्' इन तीन नामो को पृथक्-पृथक् तथा सयुक्त रूप से कहा जाता है। इनका उच्चारणमात्र अत्यन्त मगलप्रद है। परमात्मा का नाम लेकर यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कार्य प्रारम्भ करने से मन को शक्ति प्राप्त होती है तथा मनुष्य अपने को अकेला अनुभव नही करता। ॐ नाद-ब्रह्म है, परमात्मा का श्रेष्ठ नाम है, समस्त रहस्यमयी ऊर्जाओ का स्रोत है तथा मनोबल, बुद्धिबल और आत्मबल का प्रदायक है। ॐ सर्वसिद्धिप्रद है। तत् का अर्थ है वह (परमात्मा)। 'तत्' कहने से निष्कामभाव तथा भगवदर्पण-बुद्धि का निर्देश होता है। 'सत्' का अर्थ है नित्य तत्त्व। परमात्मा ही सत् है, शेष सब असत् है। 'सत्'

१ न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य.। —कठ उप०, १ १ २७
—धन से मनुष्य की शान्ति नहीं मिलती।

२ जलं जलस्थानगतं च शुष्यति।
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति॥

३ असनं मे वसनं मे जाया मे बन्धुवर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम्॥
—भोजन मेरा, वस्त्र मेरा, पत्नी मेरी, कुटुम्ब मेरा, ऐसे 'मे मे' (मेरा-मेरा) करनेवाले मनुष्यरूपी अजा (बकरी) को कालवृक् (भेडिया) खा जाता है।

कहने से परमात्मा की सत्ता स्वीकार होती है। 'सत्' साधुता के लिए भी प्रयुक्त होता है और उत्तम कार्य को भी 'सत्' कहते हैं, क्योंकि साधुता ( भलाई ) और उत्तम कर्म कभी नष्ट नही होते। इस अध्याय का उपसहार करते हुए श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि बिना श्रद्धा दी हुई आहुति, दिया हुआ दान और किया हुआ तप असत् एव निष्प्राण होता है तथा उससे न इस जीवन मे लाभ होता है और न मृत्यूपरान्त ही। मनुष्य को सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा का निरन्तर स्मरण करते हुए श्रद्धायुक्त होकर उत्तम कर्म करते रहना चाहिए। सात्त्विक श्रद्धा होने पर शुभ कर्म अनन्त फलप्रद होता है।

सद्ग्रन्थो के अनुशीलन का उद्देश्य आत्म-सस्कार करना है। अविवेकी जन कर्म करने से बचकर यह आशा करते है कि कोई अन्य उनकी सहायता कर दे। वास्तव मे मनुष्य स्वय अनन्त शक्ति का भण्डार है तथा अपने को शक्तिहीन मान-कर कर्म से बच भागना घोर पाप है। मनुष्य अपने भीतर की असीम दैवीशक्ति को पहचानकर प्रतिकूल परिस्थितियो से साहसपूर्वक जूझ सकता है। मनुष्य अपनी भ्रान्त धारणाओ से मुक्त होकर और अन्तर्यामी भगवान् का सहारा लेकर निर्भय और निश्चिन्त हो सकता है तथा कर्तव्य-कर्म करता हुआ परमपद को प्राप्त कर सकता है। ससार को बुरा कहने से काम नही चलता, क्योंकि मनुष्य को ससार मे ही रहना होता है। अतएव संसार को बदलने के स्थान पर अपने को ही बदलना चाहिए। आत्मसुधार अथवा आत्मोद्धार से ही ससार के सुधार का प्रारम्भ होता है। मनुष्य भगवत्कृपा के सहारे और उत्तम कर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा जगाकर निश्चय ही समस्त संकट पार करके अक्षय आनन्द प्राप्त कर सकता है। ●

# अथाष्टादशोऽध्यायः
## मोक्षसंन्यासयोग

अर्जुन उवाच

**संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।**
**त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥**

**शब्दार्थ** अर्जुन उवाच=अर्जुन ने कहा, महाबाहो=हे महान् भुजावाले श्रीकृष्ण, हृषीकेश=हे अन्तर्यामिन्, केशिनिषूदन=हे केशिहन्ता श्रीकृष्ण, सन्यासस्य च त्यागस्य तत्त्वं पृथक् वेदितुं इच्छामि=सन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक् ( पृथक् ) जानना चाहता हूँ ।

**वचनामृत :** अर्जुन ने कहा हे महावाहो, हे अन्तर्यामिन्, हे श्रीकृष्ण, मै संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ।

**सन्दर्भ** अठारहवें अध्याय मे गीताशास्त्र के समस्त ज्ञानोपदेश का सिंहावलोकन किया गया है तथा प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट किया गया है ।[1] यह अध्याय गीता का सक्षेप मे सार है । अजन श्रीकृष्ण से गीता के दो महत्त्वपूर्ण तत्त्वो 'सन्यास' तथा 'त्याग' की स्पष्ट व्याख्या करने की प्रार्थना करता है ।

**रसामृत :** भगवान् के मुखारविन्द से त्याग की महिमा अनेक प्रकार से तथा अनेक स्थलो पर सुनकर अर्जुन ने उसे हृदयगम कर लेना चाहा, किन्तु उसके मन मे प्रश्न उत्पन्न हुआ कि त्याग सन्यास से किस प्रकार भिन्न है । दोनो का अर्थ एक-सा है, उनका अन्तर सरलता से स्पष्ट नही होता । अत्यन्त बुद्धिमान् अर्जुन ने भगवान् की स्तुति मे श्रद्धापूर्ण एव प्रशसात्मक शब्दो का प्रयोग करते हुए कहा, 'हे महावाहो, हे हृषीकेश, हे केशिनिषूदन, मै सन्यास तथा त्याग का तत्त्वार्थ पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ, जिससे मैं उनका यथार्थ भाव सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर सकूँ ।" अर्जुन 'महावाहो' कहकर भगवान् श्रीकृष्ण को अपना समर्थ सरक्षक मानते हुए उनके प्रति नतमस्तक हो रहा है । शिष्य गुरु को समर्थ सरक्षक मानकर ही श्रद्धा नत होता है । भगवान् श्रीकृष्ण को 'हृषीकेश' अर्थात् इन्द्रियो का स्वामी एव आत्मविजयी कहकर, अर्जुन इन्द्रिय-सयम एव आत्म-विजय की प्रेरणा ग्रहण करना चाहता है । वह श्रीकृष्ण को केशि राक्षस का हन्ता कहकर उनके अलौकिक पराक्रम एव शक्ति के प्रति अपनी अखण्ड श्रद्धा प्रकट कर रहा है । श्रीकृष्ण द्वारा केशि पर विजय दैवी शक्ति की आसुरी शक्ति पर विजय की सूचक है ।

अर्जुन को सन्यास तथा त्याग एकार्थबोधक प्रतीत होते हैं, यद्यपि उनके यथार्थ रूप मे अन्तर है । अर्जुन उत्तम जिज्ञासु है तथा प्रत्येक जिज्ञासा का पूर्ण समाधान चाहता है । उत्तम शिष्य गुरु के समक्ष अपनी गभीर शकाएँ निर्भीक होकर, किन्तु शालीनतापूर्वक प्रस्तुत करता है । श्रीकृष्ण उसके प्रश्नो से किंचित् भी रुष्ट नही होते, अपितु विविध प्रकार से तत्त्व-व्याख्या द्वारा उसकी जिज्ञासा का सहर्ष समाधान करते हैं । इसी कारण श्रीकृष्णार्जुन-

१ सन्त ज्ञानेश्वर अठारहवें अध्याय को गीता-देवालय का स्वर्ण कलश कहते हैं । उन्होने इसे केवल एक अध्याय ही नहीं, बल्कि एकाध्यायी गीता ही कह दिया है ।

सवाद अत्यन्त रोचक एवं हृदयग्राही हो गया है। गीता का कठिन उपदेश प्रश्नोत्तर-शैली के कारण रसपूर्ण एव आनन्ददायक हो जाता है।

अर्जुन जानना चाहता है कि क्या सन्यास का अर्थ गार्हस्थ्य त्यागकर तथा गैरिक वस्त्र धारण करके भिक्षाटन करना है ? क्या त्याग का तात्पर्य समस्त कर्म का त्याग करना है ? वह सन्यास-मार्ग का ग्रहण करे अथवा त्याग-मार्ग का आश्रय ले ?

श्रीभगवानुवाच

**काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।**
**सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥**
**त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।**
**यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥**

**शब्दार्थ** श्रीभगवानुवाच=श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, कवयः काम्यानां कर्मणा न्यासं संन्यासं विदुः=पण्डितजन काम्य कर्मों के न्यास ( त्याग ) को सन्यास जानते हैं, विचक्षणा. सर्वकर्मफलत्यागं त्यागं प्राहु.=(अनेक) विचारशील मनुष्य सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। एके मनीषिण.=कई एक मनीषी ( विद्वान् ), इति प्राहुः कर्मं दोषवत् त्याज्यं=ऐसा कहते है ( कि ) कर्म दोषयुक्त होता है ( अतएव ) त्यागने के योग्य है, च अपरे इति यज्ञदानतप कर्म न त्याज्यम्=और अन्य ऐसा ( कहते है कि ) यज्ञ-दान तपरूप कर्म त्यागने के योग्य नही हैं।

**वचनामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, अनेक पण्डितजन काम्य कर्मो के त्याग को सन्यास जानते हैं तथा अन्य विचारशील मनुष्य समस्त कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते है। कुछ विद्वज्जन ऐसा कहते है कि कर्म-मात्र दोषपूर्ण होता है अतएव त्याग देने के योग्य है। अन्य विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नही हैं।

**सन्दर्भ** सन्यास तथा त्याग के सम्बन्ध मे विद्वज्जन के मतो का उल्लेख किया गया है।

**रसामृत :** सांसारिक कामनाओ की सिद्धि के लिए शास्त्रविहित शुभ कर्म काम्य कर्म कहलाते है। अनेक लोग सन्तान-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, पद-प्राप्ति, रोग-निवारण, सकट-निवृत्ति आदि की कामना की पूर्ति के लिए यज्ञ, दान, तप और पूजा के रूप मे काम्य कर्म करते है। वेदो के कर्मकाण्ड-भाग मे सोमयज्ञ, इष्टियज्ञ आदि यज्ञो के विधान का वर्णन है। काम्यकर्म शास्त्रसम्मत तो होते है, किन्तु उनसे चित्त-शुद्धि नही होती। कुछ विद्वज्जन काम्य कर्मों के त्याग को ही सन्यास कहते हैं। कुछ अन्य पण्डित अपने समस्त कर्मो ( यज्ञ, दान, तप, पूजा, सेवा, परोपकार आदि पुण्य कर्म के अतिरिक्त आजीविका-सम्बन्धी एव देह-सम्बन्धी समस्त कर्म ) के फल की कामना के त्याग को त्याग कहते है।

कुछ लोग समस्त कर्म को ही दोपयुक्त कहकर कर्ममात्र को त्याज्य कहते है। उनकी दृष्टि में समस्त क्रिया दोषपूर्ण है। वे सासारिक कर्म छोड़कर सन्यास ले लेते हैं। अन्य कुछ विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप कदापि दोषमय नही होते, उनका त्याग तो कदापि नही करना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीतोपदेश के प्रारम्भ मे ही यह स्पष्ट कर दिया था[1] कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए दो निष्ठाएँ प्रमुख हैं—सांख्यो अर्थात् ज्ञानियो के लिए ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मयोगियो की कर्मनिष्ठा। ज्ञानयोगी ज्ञानयोग के अन्तर्गत कर्म सन्यास अर्थात् समस्त कर्म के त्याग का प्रतिपादन करते हैं। कर्मयोगी कर्मयोग के अन्तर्गत केवल कर्मफल के त्याग का उपदेश करते हैं। अर्जुन सन्यास तथा त्याग के भेद को भलीभाँति स्पष्ट समझना चाहता है तथा भगवान् श्रीकृष्ण ( अठारहवे अध्याय के प्रारम्भ मे ) उसकी विवेचना पुन॰ करते हैं।

---

१ गीता के दूसरे अध्याय मे ग्यारहवें श्लोक से तीसवें श्लोक तक ज्ञानयोग की चर्चा है तथा तीसरे अध्याय से सत्रहवें अध्याय के अन्त तक ज्ञानियो के साख्ययोग ( ज्ञानयोग ) तथा कर्मयोगियो के कर्मयोग की मिश्रित चर्चा की गयी है। कर्मफल-त्याग कर्मयोग के अन्तर्गत है। अठारहवें अध्याय के प्रारम्भ मे श्लोक १३ से १७ तक सन्यास अर्थात् ज्ञानयोग के स्वरूप का वर्णन है।

**निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।**
**त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविध सप्रकीर्तितः ॥४॥**
**यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्य कार्यमेव तत्।**
**यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्। ५॥**
**एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।**
**कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चित मतमुत्तमम् ॥६॥**

**शब्दार्थ :** भरतसत्तम तत्र त्यागे मे निश्चय शृणु= हे भरतवंशश्रेष्ठ अर्जुन, उस त्याग के सम्बन्ध मे मेरा निश्चय सुन, पुरुषव्याघ्र त्याग. त्रिविध हि सप्रकीर्तित.=हे पुरुषसिंह (पुरुषो मे अत्यन्त साहसी वीर पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन) त्याग तीन प्रकार का (सात्त्विक, राजस और तामस) ही कहा गया है। यज्ञदानतप कर्म न त्याज्य=यज्ञ दान और तपरूप कर्म त्याग के योग्य नहीं हैं, तत् एव कार्यम्= वह निस्सन्देह करने के योग्य कर्तव्य है, यज्ञ दान च तप एव मनीषिणा पावनानि=यज्ञ, दान और तप ही बुद्धिमान् पुरुषो को पवित्र करनेवाले हैं पार्थ=हे पार्थ,एतानि तु (अन्यानि) अपि कर्माणि सङ्ग च फलानि त्यक्त्वा कर्तव्यानि=ये (यज्ञ, दान और तप) तथा अन्य भी समस्त कर्तव्य-कर्म आसक्ति और फल (फल की कामना) को त्यागकर करना चाहिए (अथवा इस प्रकार अन्वय कर सकते हैं—तु पार्थ एतानि कर्माणि अपि सङ्गं च फलानि त्यक्त्वा कर्तव्यानि=किन्तु हे पार्थ, इन यज्ञ, दान, तपरूप कर्मों को भी आसक्ति और फल छोडकर करना चाहिए), इति मे निश्चितं उत्तमं मतं=यह मेरा निश्चित उत्तम मत है।

**वचनामृत** हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, (सन्यास और त्याग इन दोनो मे से पहले) तू त्याग के सम्बन्ध मे मेरा निश्चित मत सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ, त्याग (सात्त्विक, राजस और तामस) तीन प्रकार का ही कहा गया है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग के योग्य नही है, वह निस्सन्देह करने के योग्य कर्तव्य हैं, यज्ञ, दान और तप ही बुद्धिमान् पुरुषो को पवित्र करनेवाले हैं। हे पार्थ, इनको (यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को) तथा अन्य भी सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को आसक्ति और फल की कामना का त्याग करके करना चाहिए, (अथवा, किन्तु हे पार्थ, इन यज्ञ, दान, तपरूप कर्मों को भी आसक्ति और फल की कामना का त्याग करके करना चाहिए,) ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।

**सन्दर्भ :** पूर्ववर्ती दो श्लोको (तीन तथा चार) मे त्याग और सन्यास के सम्बन्ध मे प्रचलित मत बताकर श्रीकृष्ण अपना मत स्पष्ट कर रहे हैं। वे पहले त्याग के विषय मे अपना मत प्रकट करते हैं।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण गीता मे प्रारम्भ से अन्त तक विविध प्रकार से आसक्ति तथा फल की कामना को त्यागकर प्रभुप्रीत्यर्थ (भगवान् की प्रसन्नता के लिए) समस्त कर्तव्य कर्म करने का उपदेश देते है। इस सन्दर्भ मे अर्जुन त्याग और सन्यास का सूक्ष्म भेद जानना चाहता है। वास्तव मे त्याग ही प्रकारान्तर से उच्चावस्था मे सन्यास का रूप ले लेता है।

गीता के अनुसार भगवान् की प्राप्ति के लिए दो प्रमुख मार्ग हैं—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग। त्याग मुख्यत कर्मयोग के अन्तर्गत है तथा सन्यास ज्ञानयोग के अन्तर्गत। यद्यपि कर्म का पूर्ण परित्याग सम्भव ही नही है, मनुष्य कर्मयोग की साधना करते हुए, कालान्तर मे कर्म के कर्तृत्व (कर्मों के कर्ता होने का भाव) से मुक्त हो जाता है। आसक्ति तथा कर्म-फल की कामना का त्याग कर्मयोग के अन्तर्गत है तथा कर्मयोग के अभ्यास द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर कालान्तर मे अनायास ही ज्ञानपूर्ण कर्म-सन्यास (कर्म मे सम्यक् न्यास-भावना होना अथवा प्रकारान्तर से कर्म का त्याग करना) की स्थिति भी आ जाती है। वास्तव मे कर्मयोग और ज्ञानयोग पृथक् मार्ग होकर भी परस्पर सम्बद्ध हैं तथा गीतोक्त ज्ञानयोग का सन्यास कर्मयोग के त्याग की ही उच्चावस्था है।[1] गीता मे त्याग अर्थात् आसक्ति

---

१ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण ने योग, ज्ञान, त्याग, सन्यास इत्यादि शब्दों के वेद, शास्त्र और स्मृतियो में तथा लोक मे प्रचलित अर्थों

लिए आसक्ति एव फलाशा का त्याग करना ही सन्यास है।

वास्तव मे त्याग अर्थात् कर्म मे आसक्ति एव फल की कामना के त्याग का अभ्यास करते रहने से कालान्तर मे चित्त शुद्धि होने पर मनुष्य कर्तृत्व के अभिमान ( मैं कर्म करता हूँ, ऐसा भाव ) से मुक्त हो जाता है तथा ज्ञान का पूर्ण उदय होने पर उससे कर्म छूट जाते हैं। भगवद्गीता के अनुसार ऐसा कर्मयोगी मनुष्य अन्त मे सन्यासी हो जाता है तथा उसका कम छोडना अथवा उससे कर्म छूट जाना संन्यास कहलाता है। ऐसा श्रेष्ठ पुरुष भगवान् का यत्र होकर अन्त करण की प्रेरणा के अनुसार कर्म करता रहता है, किन्तु उसमे कर्तृत्व-भाव ( मैं कर्म करता हूँ, यह भाव ) नही जागता। इस प्रकार कर्मयोगी द्वारा आसक्ति एव कर्मफल का त्याग करना अन्ततोगत्वा ज्ञानयोग का सन्यास ही हो जाता है।

**नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।**
**मोहात्तस्य परित्यागस्तामस परिकीर्तित ॥७॥**
**दु.खमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।**
**स कृत्वा राजसं त्याग नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥**
**कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।**
**सङ्ग त्यक्त्वा फल चैव स त्याग सात्त्विको मत ॥९॥**

**शब्दार्थ :** तु=और, किन्तु, **नियतस्य कर्मण सन्यास न उपपद्यते**=नियत कर्म ( शास्त्र-विहित कर्तव्य-कर्म ) का सन्यास ( त्याग ) उचित नही है, **मोहात् तस्य परित्याग तामस परिकीर्तित**=मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहलाता है। **यत् कर्म ( तत् ) दु खं एव इति कायक्लेशभयात् त्यजेत्**=जो कुछ कर्म है ( वह ) दु खरूप ही है, ऐसा मानकर शरीर के क्लेश के भय से ( कर्मों का ) त्याग कर दे, **स राजस त्याग कृत्वा एव त्यागफल न लभेत्**=वह राजस त्याग करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं करता। **अर्जुन**=हे अर्जुन, **कार्यं इति एव यत् नियत कर्मं सङ्ग च फलं त्यक्त्वा क्रियते**=इसे करना कर्तव्य है, ऐसे ही जो नियत कर्म आसक्ति और फल को त्यागकर किया जाता है, **स एव सात्त्विक त्याग. मत**=वह ही सात्त्विक त्याग माना गया है।

**वचनामृत** किन्तु नियत कर्म का त्याग उचित नही है, मोह के कारण उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है। जो कुछ कर्म है वह दु खरूप ही है ऐसा मानकर यदि कोई शारीरिक कष्ट के भय से कर्तव्य-कर्म त्याग कर दे, उस राजस त्याग को करके भी वह त्याग के फल को प्राप्त नही करता। हे अर्जुन, इसे ( कर्तव्य-कर्म को ) करना कर्तव्य है, ऐसे ही जो आसक्ति और फल का त्याग करके नियत ( शास्त्र विहित, उचित ) कर्म किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है।

**सन्दर्भ :** कर्म के तामस, राजस और सात्त्विक त्याग का वर्णन है।

**रसामृत** : त्याग कर्मयोग का मुख्य आधार एव सारभूत तत्त्व है। त्याग का अर्थ है आसक्ति एव फलाशा का त्याग। श्रीकृष्ण अनेक स्थलो पर अनेक प्रकार से स्पष्ट करते हैं कि वास्तव मे कर्म वन्धन-कारक नही होता, वल्कि आसक्ति तथा फलाकाक्षा वन्धनकारक होती है। अतएव मनुष्य को कर्म का स्वरूपत त्याग नही करना चाहिए, आसक्ति एव फल की कामना का त्याग करना चाहिए। निषिद्ध कर्मो ( मदिरापान, हिंसा, चोरी इत्यादि ) का स्वरूपत त्याग करना उचित है। कर्मयोगी यज्ञ, दान, तप इत्यादि काम्य शुभ कर्मो को भी निष्काम भाव से करता है, यद्यपि पुत्र-प्राप्ति, स्वास्थ्य-प्राप्ति, सकट-निवारण इत्यादि के लिए उनका अनुष्ठान करना शास्त्रसम्मत एव उचित है। कर्मयोगी के लिए यज्ञ, दान, तप इत्यादि पुण्यकर्म भी अन्य अपरिहार्य एव आवश्यक नित्यकर्मो ( आजीविका-पालन, धन का अर्जन, व्यापार, पशु-पालन, युद्ध, भोजन इत्यादि ) की भाँति नित्य-कर्म ही हैं।

नित्य कर्मो ( आजीविका इत्यादि ) का मोह अर्थात् आलस्य एव प्रमाद के कारण त्याग कर देना तामसिक त्याग है अर्थात् मूर्खतापूर्ण त्याग है। नित्य कर्म का परित्याग पाप है। त्याग का आशय

न समझते हुए तथा कर्म-त्याग को मोक्ष का हेतु मानकर नित्य कर्म का स्वरूपत. त्याग कर देना तामसिक त्याग है। अनेक लोग ससार को बन्धन-रूप कहकर तथा स्वस्थ वैराग्य एव ज्ञान के बिना ही नित्यकर्म छोड़कर 'सन्यासी' हो जाते हैं। ऐसा तामसिक त्याग मनुष्य की अधोगति का कारण होता है। प्रवाहपतित कर्म अर्थात् परिस्थितियो से उत्पन्न आवश्यक कर्तव्य-कर्म ईश्वरप्रदत्त होता है तथा उसका प्रमादपूर्ण त्याग तामसिक होता है। सम्पूर्ण जगत् और समाज की व्यवस्था अनिवार्य एव आवश्यक कर्म के निरन्तर सम्पादन द्वारा ही सचालित होती है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र इत्यादि निरन्तर अपने सहज धर्मरूप कर्म का पालन करते हैं। मनुष्य को भी मोहवश अथवा प्रमादवश अपने तथा समाज के हित मे नित्य-कर्म का त्याग नही करना चाहिए।[1] नित्यकर्म अथवा आवश्यक कर्म का सम्यक् सम्पादन चित्त-शुद्धि कर देता है तथा विवेकशील मनुष्य ईश्वरप्रदत्त कर्तव्य-कर्म का त्याग कदापि नही करते। विवेक का जागरण ही तो जीवन का जागरण है।

कुछ अविवेकीजन शारीरिक कष्ट के भय अथवा किसी भ्रम के कारण कर्तव्य-कर्म का त्याग कर देते है। ऐसा त्याग राजसी त्याग है, जो पतन-कारक है। अर्जुन भ्रमग्रस्त होकर युद्धरूप स्वधर्म का त्याग कर रहा था, जो नितान्त अनुचित एवं दोष-मय था। काया-कष्ट से बचने के कारण अथवा किसी भ्रम के कारण कर्तव्य-कर्म का त्याग करने-वाले मनुष्य जीवन की दौड मे पिछड जाते है तथा अनेक कष्ट एव अपमान सहते हैं। अनेक लोग ससार को बुरा तथा जीवन को कष्टमय कहकर कर्मक्षेत्र का त्याग करके साधु वेश धारण कर लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे त्याग को अनुचित एव मिथ्या कहकर निन्दा करते है। जीवन के यथार्थ से भयभीत होकर कर्तव्य-कर्म का त्याग करनेवाले लोग कायर होते है तथा जीवन मे कोई उपलब्धि नही कर सकते। राजस त्याग कोई त्याग नही, बल्कि पतनकारक पलायन है।

कर्मयोगी अपने कर्तव्य-कर्मरूप स्वधर्म का पालन कर्म मे आसक्ति एव फलाकाक्षा का त्याग करते हुए करता है। ऐसा त्याग सात्त्विक कहलाता है। तामस और राजस भाव से कर्तव्य-कर्म का त्याग करना वास्तव मे त्याग नही होता, बल्कि निन्दनीय अवहेलना है। मनुष्य को कभी किसी भी परिस्थिति मे अपने कर्तव्य एव दायित्व का त्याग नही करना चाहिए। दूसरो को दोषी कहकर तथा अपनी विवशता सिद्ध करते हुए आलस्य, प्रमाद, भय, आशका, राग द्वेष अथवा भावुकता के कारण उचित कर्तव्य-कर्म का त्याग करना न केवल परिस्थिति को अधिक विषम बना देता है, बल्कि मनुष्य अपनी तथा दूसरो की दृष्टि मे भी गिर जाता है। निष्कामभाव से मृत्युपर्यन्त प्रवाहपतित अर्थात् मार्ग मे आये हुए कर्तव्य कर्म को करते रहना भगवत्प्राप्ति का सर्वोपरि उपाय है। कर्तव्य-निष्ठ पुरुष के योगक्षेम का निर्वाह भगवान् स्वय करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण मनुष्य के चेतना-स्तर एव मनोबल को ऊँचा उठा देता है। यदि मनुष्य किसी कारण किंकर्तव्यविमूढ हो तो उसे अपने अन्त करण की ध्वनि को ही प्रभु

---

१. शङ्कराचार्य ने समोह का अर्थ 'कार्याकार्यविषयः अविवेक.' ( २.६३ की टीका में ) करते हैं। कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय मे विवेकरहित होना मोह है। लोक-मान्य तिलक इस श्लोक की टीका मे स्पष्ट करते हैं कि नियत कर्म और नित्य कर्म मे भेद है। नियतं कुरु कर्म ( ३.८ ) की टीका मे उन्होने कहा है कि कर्म के विभाग ( नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ) मीमासा शास्त्र के अनुसार हैं। किन्तु अनेक विद्वान् टीकाकारो ने इस श्लोक मे नियत कर्म का अर्थ नित्य कर्म ही किया है। आनन्द-गिरि ने इसे 'शास्त्रविहित अवश्य कर्तव्य-कर्म' कहा है। वास्तव मे नियत कर्म का अर्थ नित्य कर्म तथा नैमित्तिक कर्म ( किसी निमित्त किये हुए ) अर्थात् आवश्यक स्वधर्म-रूप कर्तव्य-कर्म है।

की वाणी एव आदेश अथवा ईश्वरीय प्रेरणा मानकर उसका उत्साहपूर्वक अनुसरण करना चाहिए। कर्तव्यनिष्ठ पुरुष कभी आत्मग्लानि से ग्रस्त नही होता तथा उसे दुर्लभ आत्म-सन्तोष की प्राप्ति होती है। निष्काम कर्मानुष्ठान ही कर्मयोग है। कर्मयोगी कर्म का स्वरूपत. त्याग नही करता, वल्कि आसक्ति एव फलाकाक्षा का त्याग करता है। यही सात्त्विक त्याग है।

अहकार-प्रेरित अथवा रागद्वेप-प्रेरित कर्म वन्धनकारक होता है तथा निष्काम सात्त्विक कर्म मोक्ष का मार्ग प्रगस्त करता है। अहकारप्रेरित अथवा राग-द्वेपप्रेरित होने पर उत्तम कर्म भी दोषमय एव वन्धनकारक हो जाता है। निष्काम सात्त्विक कर्म मन को निर्मल करके परमात्मज्ञान की प्राप्ति का साधन हो जाता है। कर्मयोगी अपनी व्यक्तिगत इच्छा, स्वार्थ, सकीर्णता, दुराग्रह, घृणा, क्रोध एव राग द्वेष से प्रेरित नही होता। वह ईश्वरप्रेरित होकर और परिणाम की इच्छा, आशा एव आसक्ति छोडकर, ईश्वर-अर्पण-बुद्धि से प्रभुप्रीत्यर्थ अर्थात् प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर्म करता है। वह सदैव सम, सतुलित और शान्त रहता है। ऐसा कर्म ईश्वरीय होता है तथा उसमे अनन्त शक्ति होती है। निष्काम कर्म से ही व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है। परमेश्वर स्वय ऐसे कर्मयोगी की सुरक्षा करता है, जो अपनी समस्त चिन्ता उस पर छोड़कर कर्तव्य-पथ पर डटा रहता है। निष्काम कर्तव्यनिष्ठा का ग्रहण ही कर्मयोग का सारभूत तत्त्व है।

**न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।**
**त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसशय ॥१०॥**

**शब्दार्थ** अकुशल कर्म न द्वेष्टि कुशले न अनुषज्जते=अकुशल अर्थात् अकल्याणकारी, अशुभ फलप्रद अथवा अप्रिय कम के प्रति द्वेष नही करता, कुशल अर्थात् कल्याणकारी, शुभफलप्रद अथवा प्रिय कर्म के प्रति आसक्ति नही करता, सत्त्वसमाविष्ट. छिन्नसशय मेधावी त्यागी=ऐसा सत्त्वगुणयुक्त, सशयरहित, बुद्धिमान् ( विवेकशील ) पुरुप त्यागी होता है।

**वचनामृत :** जो मनुष्य अकल्याणकारी कर्म से द्वेप नही करता तथा कल्याणकारी कर्म मे आसक्ति नही करता, वह सत्त्वगुणयुक्त, सशयरहित, बुद्धिमान् ( विवेकशील ) पुरुप त्यागी होता है।[1]

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण श्लोक १० तथा ११ मे त्यागी पुरुप का वर्णन करते है।

**रसामृत** मनुष्य सत्त्वगुण मे अवस्थित होकर राग ( आसक्ति ) तथा द्वेप ( घृणा ) से सर्वथा मुक्त हो जाता है। वह किसी कर्म को प्रिय, शुभफलप्रद अथवा हितकर मानकर आसक्त नही होता तथा किसी कर्म को अप्रिय, अशुभफलप्रद अथवा अहितकर मानकर द्वेप नही करता। वह राग-द्वेपरहित होने के कारण काम्य कर्मों ( व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति के लिए किये जानेवाले जप, तप इत्यादि शुभ कर्मों ) तथा निषिद्ध कर्मों ( मदिरापान इत्यादि वर्जित कर्मों ) का त्याग तथा समस्त कर्तव्य-कर्मों का ग्रहण सहजभाव से करता है। सत्त्वगुण मनुष्य के अन्त करण को राग-द्वेपविमुक्त, निर्मल एव प्रकाशित कर देता है तथा समस्त सशयो को छिन्न कर देता है। सत्त्वगुण मे स्थित पुरुप की चेतना ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है तथा वह न कठिनाइयो, कष्टो एव निन्दा से घबराता है और न सुख, सुविधा एव प्रशसा से प्रलुब्ध होता है। कर्मयोगी अपनी निन्दा तथा मिथ्या दोपारोपण से भी विचलित नही होता और कर्तव्य-पालन मे दृढ रहता है। वह किसी भी परिस्थिति मे अपने कर्तव्य-पथ का त्याग नही करता तथा कर्तव्य-कर्म के पालन मे दृढ रहता है। निष्कामभाव से अर्थात् आसक्ति एव फलाशा छोडकर तथा प्रिय एव अप्रिय तथा कल्याणकारक एव अकल्याणकारक भाव से ऊपर उठकर कर्तव्य-कर्म करते रहना तथा भगवत्-

१. इस श्लोक में 'अकुशल' तथा 'कुशल' के अनेक अर्थ किये गये हैं।

प्राप्ति की दिशा मे अग्रसर होना सच्ची मेधाविता ( बुद्धिमत्ता ) है । ससार को बुरा अथवा कष्टमय कहकर तथा अपने दायित्व एव कर्तव्य-मार्ग को कठिन कहकर कर्तव्य से पलायन करना और साधु-वेश ग्रहण कर लेना त्याग नही, वलिक आत्मपतन है । अलिप्त रहकर कर्तव्य-कर्म करते रहना तथा सत्यनिष्ठ रहना त्यागी का प्रमुख लक्षण है । उत्तरोत्तर चित्त-शुद्धि होने पर कर्मयोगी के हृदय मे तत्त्वज्ञान का प्रकाश स्वत हो जाता है और कालान्तर मे त्रिगुणातीत होकर अर्थात् तमोगुण, रजोगुण तथा सत्त्वगुण से ऊपर उठकर वह परमात्मा के स्वरूप मे स्थित हो जाता है ।[1] वास्तव मे, ऐसा पुरुष ही लोककल्याणकारी होता है ।

**न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।**
**यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥**

**शब्दार्थ :** हि देहभृता अशेषत· कर्माणि त्यक्तुं न शक्यं=क्योकि देहभृत् ( देहधारी ) मनुष्य द्वारा पूर्णत समस्त कर्मों को छोड देना सभव नही है, **यः कर्मफलत्यागी**=जो पुरुष कर्मफल का त्यागी है, **स तु त्यागी इति अभिधीयते**=वह ही त्यागी है, ऐसा कहा जाता है ।

**वचनामृत :** क्योकि शरीरधारी किसी भी मनुष्य द्वारा समस्त कर्मों को पूर्णत त्याग देना शक्य नही है ( अत ) जो पुरुष कर्मफल का त्याग करता है, वही त्यागी है, ऐसा कहा गया है ।

**सन्दर्भ :** मनुष्य के लिए कर्म करना अपरिहार्य ( आवश्यक ) है । यह श्लोक कण्ठाग्र करने के योग्य है ।

**रसामृत** यह एक विश्वविदित स्वतःसिद्ध तथ्य है कि कोई भी देहधारी मनुष्य क्षणभर भी बिना कर्म किये नही रह सकता । समस्त कर्मों अथवा क्रियाशीलता का स्वरूपत त्याग सभव नही है । कुछ भी कर्म न करने का अभिमानी मनुष्य भी अवश्य ही कुछ-न-कुछ करता रहता है । पत्येक मनुष्य कुछ खान-पान करता है, उठता, बैठता, चलता और सोता है तथा निरन्तर श्वास लेता है । 'सम्पूर्णत कर्मत्याग शक्य ही नही है ।[1] गतिशीलता जीवन का लक्षण है । कुछ अज्ञ जन हठपूर्वक कर्तव्य-कम का भी त्याग करके त्यागी होने का दम्भ करते हैं, जो सर्वथा निन्दनीय है । वास्तव मे कर्मों का स्वरूपत त्याग कदापि सभव नही है, किन्तु कर्तृत्व का अभिमान ( मैं कर्म करता हूँ, ऐसे कर्ता होने का अभिमान ) तथा कर्मफल मे आसक्ति का त्याग कर देना ही सात्त्विक त्याग है । कर्मफलत्यागी पुरुष ही सच्चा त्यागी है । राग-द्वेषरहित, निरहकारी एव निर्विकार कर्मयोगी स्वाभाविक रूप मे उत्तम कर्म करता है तथा समाज के लिए आदर्श प्रेरक हो जाता है ।

भगवद्गीता मे निष्क्रियता अथवा अकर्मण्यता को आदर्श के रूप मे प्रस्तुत नही किया गया है, वलिक निष्काम कर्म को ही अनेक प्रकार से आदर्श कहा गया है । कर्म के फल की इच्छा का त्याग मानो वर्तमानकाल मे भविष्य की चिन्ता का त्याग है । फल की इच्छा मन को दूषित एव दुर्वल करती है तथा फल का त्याग मन को शुद्ध एव सशक्त करता है ।

यह भी एक सत्य है कि निष्काम कर्मयोग की साधना करते हुए अन्ततोगत्वा चित्त-शुद्धि हो जाती है तथा अनायास ही चित्त मे तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है और कालान्तर मे कर्मयोगी गुणातीत हो जाता है । चेतना की उच्चावस्था मे स्थित गुणातीत पुरुष के लिए कर्तव्य-कर्म शेष नही रहता । यद्यपि वह कर्म नही छोडता, तथापि अहंकार की निवृत्ति होने और पूर्ण वैराग्य जागने के कारण कर्म उससे छूट जाते हैं । अत्यन्त दुर्लभ

---

१ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया. ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥
—परमात्मा का साक्षात्कार होने पर साधक की हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, सशय मिट जाते हैं और कर्म वन्धन से मुक्ति हो जाती है ।

१. यही श्रीकृष्ण ३ ५ मे कह चुके हैं ।

परमोच्च अवस्था को प्राप्त होने पर सर्वकर्म-सन्यासी परमहस पुरुप जीवन्मुक्त हो जाता है तथा कर्म-क्षेत्र से ऊपर उठकर भी वह सहजभाव से लोक-सग्रह के लिए कुछ कर्म करता रहता है अथवा परमशान्त रहकर सहज ही दिव्यता का सचार करता है, जैसे प्रज्वलित दीपक प्रकाश का और खिला हुआ पुप्प सुगन्धि का सहज रूप से सचार एव प्रसार करता है। उस पर कर्म-विधान लागू नही होता तथा उसके लिए यज्ञादि का भी महत्त्व नही होता। कर्मयोगी पहले कर्मफलत्याग करके त्यागी होता है और उत्तरोत्तर वैराग्य एव ज्ञान का परिपाक होने पर उसी प्रकार सर्वकर्म-सन्यासी हो जाता है, जैसे ज्ञानयोगी वैराग्य एव ज्ञान का परिपाक होने पर सर्वकर्मसन्यासी होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण उन मनुष्यो को निन्दनीय कहते हैं, जो मन मे भौतिक कामना अथवा वासना शेप रहने के कारण कर्म के अधिकारी होते हैं, किन्तु कर्तव्य-कर्म को त्यागकर सन्यास ग्रहण कर लेते है। समस्त वासना को क्षीण करने एव चित्त को नितान्त शुद्ध करने के हेतु कर्म करते रहना अत्यन्त आवश्यक है।[1]

---

1 श्रीमद्भागवत में लिखा है
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।

—तव तक कर्म करना चाहिए, जव तक तत्त्वज्ञान उत्पन्न न हो जाय।

देहधारी मनुष्य तव तक देहभृत् ही है, जव तक उसे देहात्मवोध अथवा देहाभिमान ( मैं देह हूँ, ऐसा भान ) रहता है।

हमें यह कदापि भूलना नही चाहिए कि गीता के अनुसार भक्ति स्वतन्त्र होकर भी कर्मयोग के अन्तर्गत है तथा कर्मयोग का अर्थ है ईश्वरार्पण-बुद्धि से निष्काम कर्म करना।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविध कर्मण· फलम्।
भवत्यत्यागिना प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥१२॥

**शब्दार्थ :** अत्यागिनां कर्मण इष्ट अनिष्ट च मिश्र = अत्यागी अर्थात् कर्म-फल का त्याग न करनेवाले सकाम मनुष्यों के कर्म का भला, बुरा और मिला हुआ, त्रिविध फल प्रेत्य भवति = ( इस प्रकार ) तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् होता है, तु = किन्तु, संन्यासिना क्वचित् न = सन्यासी अर्थात् त्यागी पुरुषो के ( कर्मों का फल ) किसी काल मे नही होता।

**वचनामृत** कर्म-फल का त्याग न करनेवाले सकाम मनुष्यो के कर्मों का तो भला, बुरा और मिश्रित ( भला, बुरा और मिला हुआ ), ऐसे तीन प्रकार का फल मृत्यु के पश्चात् ( भी ) होता है, किन्तु कर्म-फल-त्यागी मनुष्यो के कर्मों का फल किसी काल मे नही होता।

**सन्दर्भ** . कर्मफल का त्यागी पुरुप कर्म-वन्धन से मुक्त हो जाता है।

**रसामृत :** मनुष्य अपने कर्मों का भला, बुरा या मिश्रित फल न केवल अपने जीवनकाल मे, वल्कि मृत्यु के उपरान्त भी प्राप्त करता है। मनुष्य को जीवन-काल मे ही उत्तम कर्म करने से उत्तम फल, सुयश और शान्ति प्राप्त होती है, अधम कर्म करने से अधम फल, अपयश और अशान्ति प्राप्त होती है तथा मध्यम कर्म करने से मिश्रित फल प्राप्त होता है। शास्त्रो के अनुसार मनुष्य वर्तमान जीवन मे अधिकत प्रारब्धानुसार अर्थात् पूर्व-जन्मो के कर्मों के अनुसार जन्म, सुख-दु ख, लाभ-हानि और यश-अपयश प्राप्त करता है।

मृत्यु के उपरान्त मनुष्यो को उनके कर्मानुसार उत्कृष्ट, निकृष्ट अथवा साधारण योनि प्राप्त होती है। वर्तमान जीवन मे कर्मफल का त्याग कर देनेवाले त्यागी पुरुषो के कर्म उसी प्रकार फल उत्पन्न नही करते, जैसे भुने गये वीज अकुरित नही होते। निष्काम कर्मयोगी के पूर्व-संचित शुभाशुभ कर्म भी नष्ट हो जाते हैं तथा वह

परमपद प्राप्त कर लेता है ।[1] निष्काम कर्मयोगी चरमावस्था मे ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर लेता है, जो त्रिगुणातीत ज्ञानी पुरुष को प्राप्त होनेवाली ब्रह्म-मयता से अभिन्न है । कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का लक्ष्य एक ही है—परमात्मा के साथ तादात्म्य ।

कर्मयोगी का सोपान-क्रम इस प्रकार है—वह पहले कर्म के फल की इच्छा और आशा का त्याग करता है, फिर कालान्तर मे समस्त कर्मों को ही ईश्वरार्पण कर देता है और अपने को केवल निमित्तमात्र मानता है तथा अन्त मे वह पूर्ण आत्मसमर्पण ( अपना ही पूर्ण समर्पण ) कर देता है । चित्त-शुद्धि द्वारा ज्ञानोदय होने पर वह कहता है कि सब कुछ परमात्मा ही है, उसके अतिरिक्त कही कुछ नही है । उसे अपने भीतर और बाहर सर्वत्र परमात्मा की सत्ता की दिव्यानुभूति होने लगती है तथा वह परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाता है । ज्ञान-मार्ग का लक्ष्य भी परमात्मा के साथ अभिन्न होना है, किन्तु ज्ञान-मार्ग दुर्गम तथा कर्म-मार्ग सुगम है ।

**पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।**
**सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥**

**अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।**
**विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥**

**शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।**
**न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥**

**तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।**
**पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥**

**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।**
**हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥**

**शब्दार्थ :** महाबाहो=हे महान् बाहुवाले वीर अर्जुन, सर्वकर्मणा सिद्धये एतानि पञ्च कारणानि=सब

---

[1] गीता मे त्यागी पुरुष को ५.३ तथा ६.१ मे सन्यासी कहा है तथा २.५१ में त्यागी के परमपद प्राप्त होने की चर्चा है । हमने इस श्लोक मे 'सन्यासी' का अर्थ श्रीधर इत्यादि के अनुसार कर्मफलत्यागी किया है, क्योकि प्रसग वही है । किन्तु अनेक विद्वानो ने इस श्लोक मे 'सन्यासी' का अर्थ 'सर्व-कर्म त्यागी सन्यासी' किया है । वह भी उचित ही है । वास्तव मे सात्त्विक सर्व-कर्म-फल-त्यागी पुरुष अपनी चरमावस्था मे सर्व-कर्म-त्यागी संन्यासी हो जाता है, जैसा कि हम पूर्ववर्ती श्लोक की व्याख्या मे स्पष्ट कर चुके हैं । 'सन्यास' का प्रचलित अर्थ कर्म छोडकर गेरुए वस्त्र धारण करनेवाला है, किन्तु गीता मे 'सन्यास' के अनेक अर्थ हैं । गीता मे समन्वय सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । शास्त्रीय मत के अनुसार ज्ञान-मार्ग से चित्त-शुद्धि होने पर सर्व-कर्म-त्यागरूप सन्यास की अवस्था प्राप्त होती है, जिसे विद्वत्-सन्यास कहते हैं तथा कर्म-मार्ग से चित्त शुद्धि होने पर विविदिषा-सन्यास होता है, जो अचिर ही विद्वत्-सन्यास का रूप ले लेता है । ये दोनो मुख्य सन्यास अथवा परमार्थ-सन्यास कहे गये हैं । तीसरा गौण-सन्यास है, जिसे गीता मे सात्त्विक कर्मफलत्याग कहा गया है । सात्त्विक कर्मफलत्याग तथा गौण-सन्यास के एक होने के कारण गीता मे उसे सन्यास कहा गया है । सात्त्विक कर्मफलत्याग मे प्राय. अहकार ( मैने आसक्ति और फल की इच्छा छोड दी है, ऐसा भाव ) शेष रह सकता है, जो पुनर्जन्म का कारण बन जाता है, किन्तु सात्त्विक कर्मफलत्याग की चरमावस्था प्राप्त होने पर अर्थात् कालान्तर मे कर्तृत्व-अभिमान ( मैने कर्तव्य-कर्म किया है तथा मैने आसक्ति और फलाशा का त्याग किया है ऐसा अभिमान ) के समाप्त होने पर कर्मयोगी भी सन्यासी को प्राप्त होनेवाली परमगति को प्राप्त कर लेता है । देहाभिमान तथा कर्तृत्व के निवृत्त होने पर सात्त्विक कर्मफलत्यागी कर्मयोगी तथा परमार्थ सन्यासी मे अभेद हो जाता है, अतः विभिन्न व्याख्याओ से भ्रमित नही होना चाहिए । ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्ग का गन्तव्य एक है । किन्तु सभी मनुष्य एक-से नहीं होते तथा एक ही मार्ग सबके लिए उपयुक्त नही होता । न हि सर्वहित. कश्चिदाचारः सप्रवतते । अतएव साधक को अपनी क्षमता और स्वभाव के अनुसार अपना मार्ग चुनना चाहिए ।

कर्मों की सिद्धि के लिए ये पाँच हेतु, साख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि=सांख्य सिद्धान्त में (अथवा कर्मों का अन्त बतानेवाले वेदान्त मे) कहे गये हैं, मे निबोध=मुझसे तू जान ले। अत्र अधिष्ठानं च कर्ता च पृथग्विध करण=इस विषय में आधार और कर्ता और पृथक्-पृथक् करण, च विविधा. पृथक् चेष्टाः=और विविध प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टा, तथा एव पञ्चमं दैव=वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव (कहा गया है)। नर· शरीरवाङ्-मनोभि· न्याय्यं वा विपरीतं वा यत् कर्म प्रारभते=मनुष्य शरीर, वाणी और मन से उचित अथवा अनुचित भी जो कुछ कर्म प्रारम्भ करता है तस्य एते पञ्च हेतव =उसके ये पाँच कारण होते हैं। तु एव सति य अकृतबुद्धित्वात् तत्र केवल आत्मानं कर्तार पश्यति=किन्तु (और) ऐसा होने पर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि होने से उस विषय में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता देखता है स दुर्मति न पश्यति=वह दुर्मति यथार्थ नहीं देखता है। यस्य अहकृत. भाव न यस्य बुद्धि· न लिप्यते=जिस मनुष्य के अन्त करण मे 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नही है, जिसकी बुद्धि (सासारिक विषयो में) लिप्त नही होती, स इमान् लोकान् हत्वा अपि=वह इन सब लोको को मारकर भी, न हन्ति न निबध्यते=न मारता है, न बन्धनग्रस्त होता है।

**वचनामृत** हे महाबाहो, वीर अर्जुन, सब कर्मों की पूर्ति के लिए ये पाँच कारण सांख्य-सिद्धान्त मे (अथवा कर्मों का अन्त करने के उपायो को बतानेवाले वेदान्त-शास्त्र मे) कहे गये हैं, उन्हे मुझसे भलीभाँति जान ले। इस विषय मे (सब कर्मों की सिद्धि मे) अधिष्ठान और कर्ता तथा पृथक्-पृथक् करण और अनेक प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव है। मनुष्य मन, वाणी और शरीर से उचित अथवा अनुचित जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पाँचो कारण हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय मे केवल (शुद्ध स्वरूप) आत्मा को कर्ता देखता (मानता) है, वह अविवेकी यथार्थ को नही जानता।

**सन्दर्भ :** श्रीकृष्ण कर्म करने मे पाँच सहायक कारणो का तथा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के अलिप्त होने का वर्णन करते है।

**रसामृत** श्रीकृष्ण अर्जुन को दीर्घबाहु कहकर प्रोत्साहित करते हैं। दीर्घबाहु होना सत्पुरुष एव साहसी वीर का लक्षण है।

किसी कर्म के सम्पन्न होने मे पाँच हेतु अथवा कारण होते है। कर्म का तत्त्व जानने के लिए और कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए उन पाँचो को जान लेना आवश्यक है। भगवान् ने अपने उपदेश मे अनेक बार यह स्पष्ट किया है कि शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा निर्विकार है तथा उसका कर्म से कोई सम्बन्ध नही है। आत्मा सर्वथा अकर्ता है। सूर्य के प्रकाश मे समस्त कर्म सम्पन्न होते हैं, किन्तु सूर्य अलिप्त ही रहता है। कर्म प्रकृति के खेल हैं तथा ज्ञान मे स्थित होने पर ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होता है। कर्म-बन्धन से मुक्त ज्ञानवान् पुरुष अनायास ही पर-मात्मा के स्वरूप मे स्थित हो जाता है। सांख्य का अर्थ है ज्ञान अथवा ज्ञान का शास्त्र। जिस ज्ञान के अनुसरण से कृत (कर्मो) का अन्त (समाप्त) होने की सम्भावना है वह कृतान्त है। इस प्रकार 'कृतान्त सांख्य' का अर्थ है वह ज्ञान-पद्धति, जिसमे कर्म-बन्धन से मुक्त होने के उपायो का वर्णन है।[1]

---

१ इन पाँच श्लोको के अर्थ विद्वानो द्वारा अनेक प्रकार से किये गये हैं। हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि भगवद्गीता मे सांख्य का अर्थ ज्ञान है। यद्यपि महर्षि कपिल के सांख्य-शास्त्र का स्पर्श यत्र तत्र है, तथापि गीता मे उसके अत्यन्त सशोधित स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। गीता स्वय मे एक स्वतन्त्र शास्त्र है, जिसमे विभिन्न मतो का समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है। कुछ विद्वानों ने 'सांख्य' का अर्थ सांख्यशास्त्र किया है, किन्तु अधिकाश विद्वज्जनो (वेदान्तवादी श्रीधर, शकरानन्द, मधुसूदनसर-स्वती इत्यादि) ने 'कृतान्त सांख्य' का अर्थ 'जहाँ कृत (कर्म) का अन्त होता है ऐसे आत्मज्ञान का प्रतिपादक वेदान्त-शास्त्र' किया है। जिससे आत्म तथा अनात्म तत्त्व

वेदान्त शास्त्र का ज्ञेय तत्त्व परमात्मा है।[1]

कर्म संसार का मूल है। कर्म के सम्पादन के लिए पाँच हेतु कहे गये हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव।[2]

मनुष्य कर्म के लिए अपने को ही पूर्णत उत्तरदायी समझता है तथा कर्म का कर्ता होने का अहकार करता है, किन्तु प्रत्येक कर्म का सम्पादन जगत् की अनेक क्रियाओ की सहायता से होता है। उदाहरणार्थ, कृषि-कार्य निष्पन्न करने के लिए भूमि, जल, खाद, बीज, यन्त्र इत्यादि की सहायता ली जाती है। मानवीय प्रयत्नो के अनुकूल अथवा प्रनिकूल अनेक शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं, जिनका मनुष्य को प्राय ज्ञान भी नही होता। मनुष्य का यह अभिमान कि 'मैं ऐसा करूँगा और ऐसा फल मिलेगा', अविवेक ही है। मनुष्यो के देह तो नश्वर हैं तथा मनुष्य जल मे प्रवाह के वेग से मिलने और विछुडनेवाले बालू के कणो की भाँति ही थोड़े समय तक परस्पर मिलकर सदा के लिए विछुड जाते है। काल मनुष्य के अहकार पर निरन्तर अट्टहास करता रहता है।[3]

ख्यात होता है, वह वेदान्त-शास्त्र है। कपिल के साख्य-शास्त्र मे अधिष्ठानादि पाँच कारणो का उल्लेख नही है। तिलकजी यहाँ 'सांख्य' का अर्थ साख्य-शास्त्र करते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने 'साख्य-वेदान्तरूपी मन्दिर' कहकर समाधान किया है। वास्तव मे वेदान्त ही कृतान्त साख्य है। आत्मा को अकर्ता सिद्ध करने के लिए गीता मे कर्म के पाँच हेतुओ का उल्लेख किया गया है।

१ तत् त्वं असि—'तत्' वह अखण्ड अद्वय शुद्ध चैतन्यस्वरूप परब्रह्म, 'त्व' तू अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा, 'असि' है। यह अद्वैत या एकत्व ही वेदान्त का तात्पर्य है।

२ चौदहवाँ श्लोक नारायणीय धर्म मे भी ज्यो का त्यो है।

३ यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतवेगेन बालुका।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिन ॥
—श्रीमद्भागवत

प्रत्येक कर्म के पाँच हेतुओ मे प्रथम हेतु अधिष्ठान है। अधिष्ठान का अर्थ है मनुष्य का देह, जो राग-द्वेष, सुख-दु ख, ज्ञान इत्यादि की अभिव्यक्ति का आश्रय होता है। देह कर्म की आवश्यक भूमि तथा कर्म का प्रथम हेतु है।

कर्म का दूसरा हेतु कर्ता है। प्रत्येक कर्म का कर्ता होना आवश्यक है, किन्तु कर्ता कौन होता है? मनुष्य के भीतर प्रकृतिस्थ जीवात्मा अहंकारवश कर्मो का कर्ता हो जाता है तथा ससार-नाटक का अभिनय करता है।[1]

माया से आवृत होकर जीवात्मा अपने चिदानन्दस्वरूप को भूल जाता है तथा अहकारवश अपने को कर्मो का कर्ता तथा फलो का भोक्ता मानकर दु ख-सुख का अनुभव करता है। राख के ढेर से ढँके हुए अग्निपुज के समान अज्ञान से आवृत होने के कारण जीवात्मा निस्तेज हो जाता है तथा मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियो एव कर्मेन्द्रियोसहित देह मे अधिष्ठित होकर प्रकृति की गुणात्मक क्रियाओ को अपने कार्य मान लेता है और विषय-भोगो मे फँसकर अहकारवश उनमे लिप्त हो जाता है। जड देह चैतन्य जीवात्मा के सान्निध्य से सजीव एव सक्रिय होता है, किन्तु मायावश जीवात्मा को देहरूप भवन के प्रति ममत्व एव मोह हो जाता है, जैसे आकाश मे स्वच्छन्द उड़नेवाले पक्षी को पिंजरे में रहने से कालान्तर मे उसके साथ मोह हो जाता है

—जिस प्रकार स्रोत के वेग से बालू के कण परस्पर जुडते और बिछुडते हैं, वैसे ही काल के प्रवाह से देहधारी मिलते और बिछुडते हैं।

१ गीता (१३ २१) मे कर्ता भोक्ता जीवात्मा ही है। वही मिथ्या अहकार करता है (३ २७)। देह एक क्षेत्र है (१३ ६)। वेदान्त-मत के अनुसार कर्म के साधनभूत पाँच कारण आत्मा मे अज्ञान से मिथ्या आरोपित हैं। वास्तव मे आत्मा का उनसे सम्बन्ध नही है। अज्ञान के निवृत्त होते ही जीवात्मा अपने सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थित हो जाता है।

और वह बन्धन का अभ्यस्त हो जाता है। ससार के विषय-सुख मे लिप्त जीवात्मा कर्ता-भोक्ता होकर अपने कर्मजन्य सस्कारो के कारण जन्म-मरण के चक्र मे फँस जाता है। अहकारयुक्त जीवात्मा ही कर्ता बना हुआ है अथवा जीवात्मा का अहकार ही कर्ता होता है। मनुष्य के लिए कर्म का स्वरूपत त्याग करना उचित नही है, क्योकि वह सम्भव नही है। अतएव कर्तृत्व-अभिमान ( मैं कर्मों का करनेवाला हूँ, ऐसा भाव ) को त्याग देना ज्ञान का प्रारम्भ है। अहकार चेतन और जड की ग्रन्थि है अर्थात् चेतन आत्मा और जड देह का सम्पर्क होने से अहकार उत्पन्न होता है। जीवात्मा मायावश अथवा अज्ञानवश देह के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। अर्थात् 'मैं देह हूँ', ऐसा अनुभव करने लगता है। जीवात्मा को खण्डित ( परिच्छिन्न ) आत्मा भी कहते हैं, क्योकि वह आत्मा का शुद्ध स्वरूप नही है। अहकार की चिद् ( चेतन ) जड ( अचेतन ) ग्रन्थि खुलना ही अर्थात् 'मैं देह नही हूँ. शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ ऐसा बोध होना मोक्ष है तथा अहकार का विलीनीकरण अथवा उदात्तीकरण होने पर मनुष्य जीवनकाल मे ही मुक्त ( जीवन्मुक्त ) हो जाता है तथा देहत्याग होने पर ब्रह्मलीन हो जाता है।

जीवन-यात्रा चलाने के लिए शरीररूप रथ और जीवात्मारूप सचालक के अतिरिक्त नाना प्रकार के करणो की भी आवश्यकता होती है। जीवात्मा को विषय-ग्रहण करने के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन और बुद्धि की ( अर्थात् बारह करणो की ) सहायता लेनी पडती है। मन और बुद्धि अन्त ( भीतर स्थित ) करण हैं। मनुष्य मन और बुद्धि की प्रेरणा से ज्ञानेन्द्रियो द्वारा दर्शन, श्रवण, जिघ्रण ( सूँघना ), आस्वादन तथा स्पर्श का अनुभव करता है तथा कर्मेन्द्रियो द्वारा अनेक कार्य करता है।

किन्तु देहरूप यन्त्र के सचालन के लिए श्वास-प्रश्वास आदि अनेक चेष्टाओ की भी आवश्यकता होती है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान, ये पाँच प्रकार की वायु शरीर मे चेष्टा करती रहती है तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय, ये पाँच प्रकार की प्राण-वायु की क्रियाएँ है। योगी के समाधिस्थ होने पर प्राण-वायु की चेष्टा अवरुद्ध हो जाती है तथा देह और इन्द्रियो के विद्यमान होने पर भी दर्शन, श्रवण आदि क्रिया सम्भव नही होती।

मनुष्य के समस्त कर्म का अन्तिम तथा पाँचवाँ कारण दैव है।[१] 'दैव' का पारिभाषिक अर्थ इन्द्रियो के अधिष्ठातारूप अनुग्रह करनेवाले देवता अथवा सहायक विशेष तत्त्व हैं, जैसे नेत्र का अनुग्राहक देवता सूर्य है अर्थात् नेत्र सूर्य के प्रकाश से तेज ग्रहण करके ही सक्रिय होता है तथा देखने का कार्य करता है।

'दैव' का एक अन्य प्रचलित अर्थ पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से निर्मित 'प्रारब्ध' भी है, जिसे 'अदृष्ट' अथवा 'भाग्य' भी कहा जाता है। मनुष्य का अनुभव है कि अनेक बार कार्य बनते-बनते बिगड जाता है और बिगडते-बिगडते बन जाता है।[२]

---

१ ज्ञानेन्द्रियो मे कर्ण का देवता दिक्, त्वचा का वायु, नेत्र का सूर्य, जिह्वा का प्रचेता ( वरुण, जल ), नासिका का अश्विनीकुमार युगल है। कर्मेन्द्रियो में वाणी का देवता अग्नि ( तेज ), हाथो का इन्द्र, पैरों का उपेन्द्र ( विष्णु ), पायु ( मलद्वार ) का यम, उपस्थ ( मूत्रद्वार ) का प्रजापति है तथा समस्त देह का देवता पृथ्वी है। मन का देवता चन्द्रमा और बुद्धि का देवता बृहस्पति है। प्राणवायु का देवता सद्योजात, अपान का वामदेव, समान का अघोर, उदान का तत्पुरुष तथा व्यान का ईशान है। यहाँ देवता का अर्थ है सहायक एव पोषक, जैसे देह का पृथ्वी।

२ पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते—पूर्व जन्म के कर्म दैव ( भाग्य, प्रारब्ध ) कहलाते हैं। यही दैवी विधान अथवा विधि विधान है।

अनेक लोग उसे मात्र सयोग कह देते हैं, किन्तु सयोग भी दैवी विधान के अन्तर्गत हैं। अविवेकी लोग कर्म करने के समय दैव अथवा भाग्य का वहाना लेकर कर्म करने से बच जाते हैं। मनुष्य को दैव का ज्ञान नही होता, अतएव मनुष्य को अन्त तक कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिए। मनुष्य अपरिहार्य घटना (मृत्यु इत्यादि) होने पर उसे भगवान् की इच्छा अथवा दैवी विधान मानकर सन्तोष अवश्य धारण कर सकता है। यह एक सत्य है कि मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है तथा फल उसके हाथ मे नही है।[१]

श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण गीता मे सदैव कर्म करते रहने का उपदेश दिया है। भाग्य को किञ्चित् भी महत्त्व नही दिया है। गीता ने भाग्यवाद पर प्रबल प्रहार करके कर्म की महिमा को प्रतिष्ठित किया है। 'दैव' तो फल-प्राप्ति के समय ईश्वर की सत्ता एव ईश्वरीय विधान के समक्ष नतमस्तक होकर सन्तोष धारण करने के लिए है। धर्म का मर्म कर्तव्य-कर्म को निष्काम भाव से करते रहने मे निहित है। किसी भी परिस्थिति मे कर्तव्य-कर्म का त्याग करना निन्दनीय है।[२]

'हानि लाभ जीवन-मरण जस-अपजस विधि हाथ।'
—रामचरितमानस

१. यत्नैः शुभै पुरुषता भवतीह नृणाम्।
दैवं विधानमनुगच्छति कार्यसिद्धिः॥
—भास

—शुभ प्रयत्नो से ही मनुष्य की मनुष्यता है, मनुष्य की सार्थकता है। कार्य की सफलता तो दैवी विधान का अनुसरण करती है।

२ डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं, "मनुष्य का काम समय के तालाब मे एक ककड छोड देना है और सम्भव है कि हम उससे उठनेवाली लहरों को दूर किनारे तक पहुँचते न देख सकें। हो सकता है कि हम बीज बोयें, किन्तु उस फसल को तैयार होते न देख सकें, जो हमारे अपने हाथो की अपेक्षा उच्चतर हाथो में रखी हुई है। दैव या मानवोत्तर भाग्य एक सामान्य ब्रह्माण्डीय आवश्यकता है, जो उस सबका परिणाम है, जो कि अतीत मे हो चुका है और जो अलक्षित रहकर शासन करती है। यह अपने अगणित उद्देश्यो के लिए व्यक्ति के अन्दर कार्य करती रहती है। दैव या भाग्य निष्क्रियता के लिए बहाना नहीं बनना चाहिए। मनुष्य एक संक्रमण की एक दशा है। उसे अपनी पाशविक आनुवंशिकता से ऊपर उठकर दैवी आदर्श तक पहुँचने के अपने उद्देश्य का ज्ञान है। प्रकृति, आनुवंशिकता और परिवेश के दबाव को मनुष्य के संकल्प द्वारा जीता जा सकता है।"

**'कादर मन कर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा।'**
—रामचरितमानस

मनुष्य अपने मन, वचन, वाणी अथवा देह से जो कुछ भी शुभ, अशुभ, उचित, अनुचित अथवा निरर्थक कर्म करता है, ये पाँचो उसके कारण होते हैं। प्राय सभी कर्म तीन श्रेणियो मानसिक, वाचिक तथा कायिक—के अन्तर्गत हैं। यद्यपि मनुष्य को दैवी विधान के अनुसार अथवा प्रारब्ध (पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप ईश्वरीय विधान) के अनुसार विशेष परिस्थितियाँ मिलती हैं और अनेक बार मनुष्य को कर्म करने का अवसर भी नही होता, तथापि मनुष्य किसी सीमा तक मन, वचन अथवा देह से कर्म करने मे सदैव स्वतन्त्र होता है। मनुष्य जैसा मन से सोचता है, वैसा कहता है तथा जैसा कहता है, वैसा कर्म करता है।[१] अनेक बार मनुष्य दैहिक कर्म करने मे असहाय होकर मन से चिन्तन करते हुए मन को उन्नत अथवा पतित, पवित्र अथवा दूषित और सुखी अथवा दुखी कर लेता है। कर्म के क्षेत्र मे मानसिक चिन्तन, अर्थात् मनुष्य के दृष्टिकोण, विचार एव भावना का अत्यधिक महत्त्व होता है।

१ **यद् हि मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।** मनुष्य जैसा मन में ध्यान करता है, वैसा वाणी से बोलता है, वैसा उसे कर्म से (इन्द्रियो, देह से) करता है।

भावना का स्थान कर्म से ऊपर है। भावना दूषित होने पर कर्म उत्तम होकर भी सदोष हो जाता है। भावना शुद्ध होने पर कर्म सदोष होकर भी उत्तम होता है। मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है, न कि कर्म। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मन को राजसिक और तामसिक प्रभाव से मुक्त करके सात्विक कर ले तथा उत्तरोत्तर सात्विक भाव से भी ऊपर उठकर त्रिगुणातीत हो जाय।

वास्तव मे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा निर्विकार एव निर्लेप है तथा वह कर्ता नही होता। मनुष्य तीन गुणो से ग्रस्त होकर उनके प्रभाव से भला और बुरा अथवा पुण्य और पाप करता है, किन्तु ज्ञान का उदय होने पर वह भला बुरा अथवा पुण्य पाप से ऊपर उठकर सहज रूप मे कर्म करते हुए भी निर्लिप्त रहता है। आत्मा का कर्म से कोई सम्बन्ध नही होता तथा वह सूर्य के प्रकाश की भाँति निर्लेप है। जिस प्रकार सूर्य जल मे प्रतिबिम्बित होकर भी उससे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार सगरहित अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा देह मे स्थित होकर भी मनुष्य के कर्मों मे अलिप्त होता है। आत्मा को कर्मो का कर्ता मानना मात्र अज्ञान है। अज्ञानवश आत्मा पर कर्तृत्व (कर्ता होना) का अहकार आरोपित कर दिया जाता है। माया के वशीभूत होकर स्वतन्त्र आत्मा ही परतन्त्र जीवात्मा हो जाता है। ज्ञानी पुरुष आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर अर्थात् आत्मा को नितान्त असग, नित्य, निर्विकार, अखण्ड, अद्वय, शुद्ध चैतन्यस्वरूप जानकर तथा आत्मज्ञान मे स्थित होकर समस्त कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धन से मुक्त रह सकता है। यदि मनुष्य के मन और बुद्धि कर्म मे लिपायमान नही हैं तथा वह आसक्ति एव अहकार से मुक्त है, तो वह पुरुष मुक्त है। जो मनुष्य राग-द्वेषरहित तथा निर्विकार है, वह सहज ही उत्तम कर्म करता है तथा परमेश्वर का उपकरण बन जाता है। मनुष्य का अहकारयुक्त एव स्वार्थप्रेरित कर्म दोषमय एव बन्धनकारक होता है तथा अहकाररहित एव ईश्वरप्रेरित कर्म निर्दोष एवं बन्धनरहित होता है। कर्म के पीछे मनुष्य की भावना कर्म को दोषमय अथवा दोषरहित बनाती है। विश्व-चेतना के साथ सयुक्त होकर अथवा परमात्मा के साथ ऐक्य होने पर मनुष्य लोक-मङ्गलकारी कर्म ही करता है। जो मनुष्य नितान्त निष्काम, निरहकार एवं निर्विकार है तथा पाप-पुण्य से ऊपर उठकर अन्त.करण-प्रेरित अर्थात् प्रभुप्रेरित कर्म करता है, वह परमात्मा के साथ युक्त होकर भौतिक धरातल से ऊपर उठ जाता है तथा सहजभाव से लोकोपकारक कर्म करता है।[1]

**ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।**
**करणं कर्म कर्तेति त्रिविध. कर्मसंग्रह॥१८॥**

शब्दार्थ : परिज्ञाता ज्ञान ज्ञेयं त्रिविधा कर्मचोदना =ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय (जानने योग्य तत्त्व) ये तीन प्रकार की कर्म प्रेरणाएँ हैं, कर्ता करणं कर्म इति त्रिविध कर्मसग्रह =कर्ता, करण और कर्म, यह तीन प्रकार के कर्म-सग्रह हैं (इन तीन से कर्म बनता है)।

वचनामृत . ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, यह तीन प्रकार की कर्मप्रेरणाएँ हैं और कर्ता, करण और कर्म (क्रिया), यह तीन प्रकार का कर्म-सग्रह है।

सन्दर्भ : कर्म का वर्णन किया गया है।

रसामृत · भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानयोग के वर्णन मे आत्मा को कर्मो का अकर्ता अथवा कर्मों से अछूता कहते हुए तथा कर्म की व्याख्या करते हुए

---

१ शङ्कराचार्य कहते हैं कि यद्यपि वह लौकिक दृष्टि से मारता है, तथापि वह वास्तव में नहीं मारता।
—गीता २ १९, ५ १०

वास्तव मे पाप तथा पुण्य एव हिंसा और अहिंसा का आधार मनुष्य की भावना होती है। कर्म का निर्णय भावना के आधार पर किया जाता है।

कर्मप्रेरणा और कर्मसग्रह को स्पष्ट करते है। कर्म-प्रेरणा तीन प्रकार की है—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। ज्ञाता का अर्थ है किसी तत्त्व का निश्चय करनेवाला, ज्ञान का अर्थ है किसी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध और ज्ञेय का अर्थ है वह पदार्थ अथवा तत्त्व, जिसके यथार्थ स्वरूप का निश्चय किया जाता है। इन तीन का परस्पर सयोग होने पर मनुष्य कर्म मे प्रवृत्त होता है। कर्ता, करण और कर्म, इन तीन के सयोग से कर्म सग्रह होता है। अर्थात् कर्म करना सम्भव होता है। मनुष्य का जीवात्मा ( प्रकृति मे स्थित पुरुष अथवा मायावृत जीवात्मा ) कर्ता होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ और अन्त करण ( अर्थात् मन और बुद्धि ) ये करण होते है, जिनसे कर्म करना सभव होता है। देखना, सुनना, सूँघना, चखना, शीत और उष्ण का अनुभव करना, बोलना, खाना, पीना, चलना, बैठना इत्यादि समस्त क्रियाएँ कर्म के अन्तर्गत हैं।

ज्ञाता ( जाननेवाला ), ज्ञेय ( जिस बात को जाना जाय ) और ज्ञान ( किसी बात की जानकारी ), यह त्रिपुटी ( ये तीन ) किसी कर्म करने से पूर्व कर्म की प्रेरणा के लिए मानसिक स्तर पर आवश्यक है तथा कर्ता ( करनेवाला ), करण ( इन्द्रियाँ तथा बुद्धि और मन ) और क्रिया, इन तीनो का सयोग होना कर्म के लिए आवश्यक है। किसी कार्य के मानसिक प्रकल्प के पश्चात् बहिर्प्रक्षेपण के रूप मे उसका क्रियान्वयन होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कर्म के दो पक्षो की चर्चा की है—मानसिक पक्ष तथा क्रियात्मक पक्ष।

**ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदत ।**
**प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥**

**शब्दार्थ :** ज्ञानं च कर्म च कर्ता एव गुणभेदतः गुणसख्याने त्रिधा प्रोच्यते=ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणो के भेद से तीन-तीन प्रकार के कहे गये हैं, तानि अपि यथावत् श्रृणु=उनको भी भली प्रकार से सुन।

**वचनामृत** गुणो की सख्या करनेवाले साख्य-शास्त्र मे ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणो के भेद से तीन-तीन प्रकार के है, उन्हे भी तू मुझसे भली प्रकार सुन ले।

**सन्दर्भ** ज्ञान, कर्म और कर्ता के भेदवर्णन की भूमिका है।

**रसामृत :** कर्म के प्रेरक अथवा प्रवर्तक ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तथा कर्म के अग कर्ता, करण और क्रिया, इन छह मे ज्ञान, कर्म तथा कर्ता मुख्य हैं तथा आगामी नौ श्लोको मे इन तीन के तीन-तीन प्रकार के भेद महर्षि कपिल के साख्यशास्त्र के आधार पर कहे गये है।[1] सत्त्व, रज और तम की दृष्टि से ज्ञान, कर्म और कर्ता के भेद जानकर ही मनुष्य उनके राजसिक तथा तामसिक स्वरूप का त्याग करके सात्त्विक स्वरूपो मे स्थित हो सकता है। मनुष्य अन्धकार तथा प्रकाश के मार्गों का स्वरूप जानकर ही प्रकाश-मार्ग का आश्रय ले सकता है। किसी तथ्य के दोनो पक्षो का ज्ञान उपयोगी होता है।

**सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।**
**अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।२०।**
**पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।**
**वेत्ति सर्वेषु भतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।२१।**
**यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।**
**अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमदाहृतम् ।२२।**

---

१. इन छह में ज्ञाता तथा कर्ता एक ही हैं, अत. आगामी नौ श्लोको मे ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त केवल कर्ता के भेद कहे गये हैं। कदाचित् उनसे आगे कहे जानेवाले बुद्धि तथा धृति के भेद अन्त करण के भेद हैं तथा सुख के भेद ज्ञेय के भेद हैं। कपिल मुनि ने सांख्यशास्त्र मे पुरुष, प्रकृति तथा प्रकृति के तेईस विकार अर्थात् कुल पचीस तत्त्वो की व्याख्या की है। वेदान्त मे पुरुष को आत्मा कहा गया है तथा त्रिगुणात्मिका ( सत्त्व, रज और तम गुणवाली ) प्रकृति को माया कहा गया है।

**शब्दार्थ :** येन विभक्तेषु सर्वभूतेषु एक अव्ययं भावं अविभक्त ईक्षते=जिस ( ज्ञान ) से विभक्त सब भूतो मे ( पृथक् पृथक् सब प्राणियो तथा पदार्थों मे ) एक अव्यय ( अविनाशी ) भाव को ( इस प्रकार लक्षणवाले भाव को अर्थात् परमात्मभाव को, परमात्मा को ) अविभक्त ( विभागरहित, सम ) देखता है, तत् ज्ञान सात्त्विकं विद्धि=उस ज्ञान को सात्त्विक जान । तु यत् ज्ञान सर्वेषु भूतेषु पृथग्विधान् नानाभावान् पृथक्त्वेन वेत्ति=और जो ज्ञान सब भूतो ( प्राणियो ) मे भिन्न भिन्न प्रकार के भावो को पृथक्-पृथक् करके जानता है ( अर्थात् जिस ज्ञान से मनुष्य सब प्राणियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भावो को पृथक्-पृथक् देखता है ), तत् ज्ञानं राजसं विद्धि=उस ज्ञान को राजस जानो । तु यत् एकस्मिन् कार्ये कृत्स्नवत् सक्तं च अहेतुक अतत्त्वार्थवत्=और ( किन्तु ) जो ज्ञान एक कार्य ( कार्यरूप देह मे ) सम्पूर्णता के सदृश आसक्त है ( अर्थात् जिस त्रुटिपूर्ण एव विपरीत ज्ञान से मनुष्य शरीर को ही आत्मा मान लेता है तथा उसमें आसक्त हो जाता है ) तथा जो अहेतुक ( विना हेतु अथवा युक्तिवाला ) तत्त्वार्थ ( तत्त्व का उचित अर्थ ) से रहित है, अल्पं=( वह ) निकृष्ट अथवा तुच्छ है, तत् तामसं उदाहृतम्=उसे तामस कहा गया है ।

**वचनामृत** जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतो मे एक अविनाशी परमात्मा को विभाग-रहित तथा सम देखता है उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान और जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सब भूतो में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावो को पृथक्-पृथक् देखता है, उसे तू राजस जान और जिस ज्ञान से मनुष्य कार्यरूप शरीर को ही सम्पूर्ण की भाँति मानकर उसमें ही आसक्त हो जाता है, वह तामस कहा गया है ।

**सन्दर्भ** ज्ञान के सात्त्विक, राजस और तामस स्वरूप की विवेचना की गयी है ।

**रसामृत** · सात्त्विक, राजस और तामस मनुष्यो की ये तीन श्रेणियाँ गुणो के अनुसार हैं । सात्त्विक का अर्थ है उत्तम अथवा उत्कृष्ट, राजस का अर्थ है मध्यम अथवा साधारण तथा तामस का अर्थ है अधम अथवा निकृष्ट । विवेकशील पुरुष जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे तामस और राजस प्रभाव से मुक्त होकर सात्त्विक होने का प्रयत्न करते हैं ।

ज्ञान सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का है । एक ही अद्वय, अविनाशी, निर्विकार परमात्मा को विभागरहित अर्थात् अखण्ड एव समभाव मे व्याप्त देखना सात्त्विक ज्ञान है । लोक-दृष्टि से प्राणियो मे विभक्त एव विभिन्न प्रतीत होनेवाला परमात्मा वास्तव मे एक ही है तथा उनमे समान रूप से अवस्थित है । सभी देशो, सभी जातियो एव सभी वर्गों के मनुष्यो ( स्त्री, पुरुषो और बच्चो ) मे एव पशु पक्षियो मे एक ही चैतन्य परमात्मा अभिन्न रूप से अनुस्यूत है । यद्यपि विभिन्न मत एव सम्प्रदाय परमात्मा का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं, तथापि परमात्मा एक ही है तथा गरीव-अमीर, पापी-पुण्यात्मा, छोटे-बड़े और स्त्री-पुरुष मे तथा जड पदार्थो मे समान रूप से विराजमान है । परमात्मा परिवर्तनशील नही है । ससार के पदार्थ परिवर्तन-शील तथा नश्वर हैं, किन्तु सम्पूर्ण सृष्टि का सचालक एक शाश्वत, नित्य, चैतन्यस्वरूप परमात्मा है । दृश्यमान जगत् के पदार्थ ( प्राणियो के शरीर तथा सम्पूर्ण पदार्थ ) नश्वर हैं । समस्त सृष्टि ईश्वर का आवास है तथा नाम और रूप की वाह्यभिन्नता होने पर भी सब प्राणियो में एक ही अभिन्न परमात्मा इस प्रकार से व्याप्त है, जिस प्रकार विभिन्न नाम और रूप की भिन्नता होने पर भी सर्वत्र एक ही अविभक्त आकाश समान रूप से अवस्थित है । जैसे भिन्न-भिन्न पात्रो मे स्थित होने पर भी आकाश विभक्त नही हो जाता, वैसे ही भिन्न भिन्न प्राणियो मे स्थित होकर भी प्रकाशरूप परमात्मा विभक्त नही हो जाता । ऐसा सात्त्विक ज्ञान होने पर मनुष्य के चित्त मे राग-द्वेष उत्पन्न नही होते तथा वह किसीसे घृणा नही करता । वह आवश्यकतानुसार यथोचित व्यवहार

करते हुए भी अपने मन में ऊँच-नीच, बडा-छोटा, धनी-निर्धन, धर्मात्मा-पापी का भेद नही करता। अद्वैत एव अखण्ड परमात्मा का सबमे समान रूप से दर्शन करनेवाला मनुष्य सबका समुचित आदर-सत्कार करता है तथा वह न किसीको भयभीत करता है और न किसीसे भयभीत होता है। वह न किसीकी अनावश्यक स्तुति करता है और न अनर्गल निन्दा ही। सात्त्विक ज्ञान मनुष्य को राग-द्वेषविमुक्त करके परमात्मा के समीप स्थित कर देता है।[१] सात्त्विक ज्ञान से आनन्दैकरस तथा सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा का सम्यक् दर्शन होता है। सात्त्विक ज्ञानयुक्त पुरुष को उत्तरोत्तर यह अनुभूति हो जाती है कि मैं तथा सारा जगत् परमब्रह्म परमात्मा का ही स्वरूप है। जिस ज्ञान से मनुष्य क्षुद्र 'मैं' और 'मेरा' से उन्मुक्त होकर समस्त प्राणियो एव पदार्थों मे एक ही अद्वय, अखण्ड, चैतन्यस्वरूप परमात्मा का दर्शन करता है, वह सात्त्विक अर्थात् पवित्र ज्ञान है।[२]

प्रत्येक प्राणी मे अर्थात् कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मनुष्य ( नर, नारी, बाल ) तथा वनस्पति मे पृथक्-पृथक् तथा अनेक आत्माएँ देखना राजसी ज्ञान है। एकता और अभिन्नता का दर्शन करना सात्त्विक ज्ञान तथा अनेकता और भिन्नता का दर्शन करना अर्थात् एक ही परमात्मा को अनेक तथा विषम मानना राजस ज्ञान है। पृथक् मानने से राग द्वेष, आसक्ति और घृणा उत्पन्न होती है। बाह्य प्रतीति को यथार्थ मानना मिथ्या एव भ्रमात्मक है। प्राणियो मे ( पशु-पक्षी-मानव-वनस्पति आदि मे ) अनुस्यूत एक ही तथा समान व्याप्त परमात्मा को न देखकर सबको भिन्न और पृथक् देखना राजस ज्ञान है।[१]

प्रकृति के कार्य ( प्रकृति द्वारा निर्मित ) शरीर को अपना स्वरूप मान लेना तामसिक ज्ञान है। जड देह चैतन्य आत्मा से भिन्न है। देह को आत्मा मानना त्रुटिपूर्ण एव विपरीत ज्ञान अथवा अज्ञान है। क्षणभगुर देह को सर्वस्व मानकर देह मे आसक्त होना अनेक दुखो का कारण है। तामस ज्ञान अर्थात् जड देह को चैतन्य

---

१ उमा जे राम चरन रत,
विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत,
केहि सन करें विरोध॥

२ गीता मे ७ १९, ९ २९, १३ १६, २७, २८, २९, ३० इत्यादि मे समत्व-दर्शन की चर्चा है।

---

१ अनेक धर्म-सिद्धान्तो के अनुसार सब प्राणियो में पृथक् पृथक् आत्मा है। साख्य-मत भी आत्माओ ( पुरुषो अथवा जीवात्माओ ) को परस्पर भिन्न एव अनेक मानता है। वेदान्त-दर्शन आत्माओ की अनेकता तथा भिन्नता स्वीकार नही करता। एक ही परमात्मा सब प्राणियो मे अवस्थित है तथा सभी आत्मा उसका अभिन्न अश है, जैसे एक ही सर्वव्यापक आकाश समस्त घटो के भीतर अवस्थित है तथा घटाकाश महाकाश का अभिन्न अश है। मुकुट, कुण्डल, हार आदि स्वर्णाभूषणो मे एक ही स्वर्ण विद्यमान है। असख्य विद्युत् बल्बो मे एक ही अपरिच्छिन्न विद्युत् ( बिजली ) का प्रवाह है। भिन्नता की प्रतीति के मूल मे एक ही अभिन्न तत्त्व है। भिन्नता मे द्वैत है, अभिन्नता मे अद्वैत है। कुछ विद्वानो का मत है कि पुरातन वैदिक साख्य वेदान्त का सहायक एव पोषक है तथा कपिलरचित प्रचलित साख्य, जिसमें पुरुषबहुत्व का प्रतिपादन किया गया है तथा पुरुषो और प्रकृति को पृथक्-पृथक् अनादि कहा गया है, वास्तव मे अपेक्षाकृत नया ही है तथा अमान्य है। श्रीमद्भागवत के २४वें अध्याय के कुछ श्लोको में उद्धव-प्रसग के अन्तर्गत वैदिक साख्य का उपदेश है। शङ्कराचार्य ने वेदान्त की ही प्रस्थापना की है। सन्त ज्ञानेश्वर भी वेदान्ती थे। आधुनिक काल मे विवेकानन्द, तिलक, राधाकृष्णन आदि ने भी वेदान्त को प्रतिष्ठित किया है। वास्तव मे वेदान्त ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। वेदान्त तथा भक्ति का समन्वय गीता मे स्पष्ट है।

आत्मा समझना युक्तियुक्त नही है तथा विवेक-विरोधी होने के कारण सर्वथा त्याज्य है। चिन्तनशील पुरुष तामस ज्ञान को तुच्छ अथवा विपर्यय-ज्ञान ( उलटा ज्ञान, अर्थात् अज्ञान ) कहते हैं। आत्मा सत् है, देह असत् है। आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म, दिव्य एव इन्द्रियातीत है तथा उसकी अनुभूति चेतना के सूक्ष्म स्तर पर होती है। तत्त्वार्थ-निर्णय एव सूक्ष्मानुभूति सात्त्विक ज्ञान को ही प्रतिष्ठित करते हैं तथा देह को सब कुछ मानकर भोग-मन्दिर बना लेना तामसिक ज्ञान अथवा अज्ञान है।

**नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।**
**अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥**
**यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।**
**क्रियते बहुलायास तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥**
**अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।**
**मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥**

**शब्दार्थ :** यत् कर्म नियत सङ्गरहित[1] अफलप्रेप्सुना अरागद्वेषत कृत=जो कर्म नियत ( शास्त्रविहित, उचित ) आसक्तिरहित फल-कामना न करनेवाले पुरुष द्वारा राग-द्वेषरहित होकर किया जाता है, तत् सात्त्विक उच्यते=उसे सात्त्विक कहा जाता है। तु=और ( किन्तु ), यत् कर्म बहुलायासं पुन कामेप्सुना वा साहङ्कारेण क्रियते=जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल-कामनावाले और ( अथवा ) अहकारवान् मनुष्य द्वारा किया जाता है, तत् राजसं उदाहृत=उसे राजस कहा गया है। यत् कर्म अनुबन्धं क्षयं हिंसा च पौरुषं अनवेक्ष्य मोहात् आरभ्यते=जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न देखकर मोह से आरम्भ किया जाता है, तत् तामस उच्यते=उसे तामस कहा जाता है।

**वचनामृत :** जो कर्म शास्त्रविहित ( शास्त्रानुसार, उचित ) है तथा आसक्तिरहित है तथा फलकामना न करनेवाले पुरुष द्वारा रागद्वेषरहित होकर किया गया है, वह सात्त्विक कहा जाता है। और जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगो की कामना करनेवाले मनुष्य द्वारा अथवा अहङ्कारयुक्त मनुष्य द्वारा किया जाता है, उसे राजस कहा गया है। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य पर विचार न करके केवल मोह के कारण आरम्भ किया जाता है, उसे तामस कहा जाता है।

**सन्दर्भ :** सात्त्विक, राजस और तामस कर्म का वर्णन है।

**रसामृत :** मनुष्य-योनि कर्म-योनि है तथा मानव-जीवन मे कर्म की प्रधानता है। कर्म द्वारा जगत् का समस्त व्यवहार सचालित है। मनुष्य की उन्नति-अवनति तथा सुख-दु ख कर्म पर आधारित है। वास्तव मे कर्म का मर्म उसकी प्रेरक भावना अथवा गुण मे सन्निहित है। गुणो के अनुसार कर्म की तीन श्रेणियाँ हैं—सात्त्विक, राजस और तामस अथवा उत्तम, मध्यम और अधम अथवा उत्कृष्ट, साधारण और निकृष्ट। मनुष्य इन तीनो कर्मों के स्वरूप को जानकर ही राजस और तामस कर्म को त्यागकर सात्त्विक कर्म का अनुसरण एव अभ्यास कर सकता है। कर्म गुणानुसार होता है तथा जैसा गुण होता है, वैसा कर्म होता है।

कर्म मे सात्त्विक भावना होने पर कर्म सात्त्विक होता है। यदि मनुष्य कर्म के फल की कामना से मुक्त है, उसमे कर्म एव कर्मफल के प्रति आसक्ति नही है तथा मन राग-द्वेष से शून्य है और कर्म शास्त्रविहित एव उचित ( अर्थात् कर्तव्य-कर्म ) है तो वह कर्म सात्त्विक है। भगवान् ने गीता मे प्रारम्भ से अन्त तक अनेक स्थलो पर तथा अनेक प्रकार से निष्काम कर्म अर्थात् कर्मफल की कामना का त्याग तथा कर्म एव कर्म-फल मे अनासक्ति का उपदेश किया है। कर्म करते हुए कर्मफल की

---

[1] शङ्करानन्द 'सङ्गरहित' का अर्थ 'कर्तृत्व अभिमान-रहित' करते हैं।

इच्छा को प्रधानता देने से तथा कर्म एवं कर्मफल की आसक्ति होने से मन सदोष, चचल एव अस्थिर हो जाता है। कर्तव्य-कर्म अर्थात् उचित कर्म-प्रवाह पतित अथवा प्रभुप्रदत्त एव प्रभुप्रेरित होता है तथा उसे प्रभु-प्रीत्यर्थ (भगवान् की प्रसन्नता के लिए) ही करना चाहिए। ऐसी भावना कर्म को सात्त्विक बना देती है, किन्तु जब मनुष्य उसमे सकीर्ण ममत्व के कारण आसक्त हो जाता है अथवा उसमे किसी प्रकार का स्वार्थ जुड जाता है तो मनुष्य स्थिर एव दृढ नही रह सकता। कर्म शास्त्र-विहित अर्थात् उचित होने पर भी मनुष्य की अनासक्ति ही कर्म को पवित्र बनाती है। कर्म करते रहना मनुष्य को व्यस्त रखता है तथा व्यस्त रहना मानसिक एव शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होता है, किन्तु अनासक्त होकर कर्म करते रहना मनुष्य के अहकार को क्षीण करके चित्त-शुद्धि कर देता है। चित्त-शुद्धि होने पर चेतना उन्मुक्त एव ऊर्ध्वगामी होकर परमात्मा का साक्षात्कार करा देती है। कर्म तो अवश्य करना ही है, तो फिर उचित कर्म ही क्यो न करें तथा अनासक्त होकर क्यो न करे? अनासक्त होकर कर्म करना मनुष्य को पवित्र एव प्रभावी बना देता है। कामना, आसक्ति और राग-द्वेष मन को दोषयुक्त एव दुर्बल बना देते हैं तथा इनसे मुक्त होने पर मन मे अनन्त शक्ति जागृत हो जाती है। अनासक्त होकर कर्तव्य करनेवाला मनुष्य परमेश्वर का उपकरण (यन्त्र) बन जाता है तथा कृतार्थ हो जाता है।

वास्तव मे राग वृत्ति से आसक्ति (व्यक्ति अथवा वस्तु के प्रति ममत्व का लगाव) और कामना (मन के अनुकूल फल की इच्छा) उत्पन्न होती है। राग का विपर्यय (उल्टा) द्वेष है। राग चित्त की एक वृत्ति है और उसका प्रभाव अथवा परिणाम आसक्ति है तथा राग की प्रतिक्रिया द्वेष है। मैं सम्मान, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, पद इत्यादि प्राप्त करूँ, यह राग-वृत्ति का लक्षण है तथा मैं शत्रुओ को पराजित एव अपमानित करूँ, यह प्रतिक्रियात्मक द्वेष-वृत्ति है। राग राजस तत्त्व अथवा रजोगुण है। राग मे ममत्व, स्वार्थ और सकीर्णता तथा दम्भ छिपा रहता है, जिससे मन चचल, अशान्त एव अस्थिर हो जाता है। राग-प्रेरित अथवा रजोगुणप्रेरित कर्म के इच्छानुकूल फल प्राप्त होने से निम्नकोटि का क्षणिक सासारिक सुख मिलता है, जो मनुष्य को भौतिकता एव भोगलिप्सा मे निमग्न कर देता है, किन्तु सात्त्विक कर्म का सुख शान्तिदायक होता है तथा मनुष्य को परमेश्वर के उन्मुख कर देता है।

जो कर्म सासारिक सुख-भोग की कामना से प्रेरित होकर अथवा मिथ्या अहकार से युक्त होने पर तथा बहुत भाग-दौड करते हुए किया जाता है, वह कर्म उत्तम होकर भी राजस होता है। मनुष्य को सात्त्विक कर्म करते हुए प्रसन्नता का अनुभव होता है, किन्तु राजस कर्म करने मे मनुष्य कष्ट, क्लेश, चिन्ता और भय से ग्रस्त हो जाता है। राजस कर्म मे अहङ्कार, ममत्व और स्वार्थ छिपा रहता है तथा मन को अस्थिर एव अशान्त कर देता है। राजस कर्म उत्तम होने पर भी तथा अनुकूल फल देने पर भी मनुष्य को गहन सुख एव शान्ति नही देता। राजस कर्म चित्त की चचलता के कारण प्रारम्भ से अन्त तक मनुष्य को शान्ति प्रदान नही करता। राजस कर्म से मनुष्य के मिथ्या अहङ्कार (मैंने ऐसा बड़ा दान दिया, ऐसा बडा काम किया अथवा ऐसी बडी प्रतिष्ठा प्राप्त की) की सतुष्टि हो सकती है, किन्तु गहन शाति अहङ्कार क्षीण होने पर ही प्राप्त होती है। राजस कर्म करनेवाला मनुष्य इच्छानुकूल कर्म-फल प्राप्त होने पर अपने अहङ्कार को पुष्ट करके उत्तरोत्तर भ्रमित और भ्रष्ट हो जाता है तथा समाज का शोषक बन जाता है। इच्छा के प्रतिकूल फल होने पर वह निराश, दु खी और व्याकुल हो जाता है।

जो कर्म अनुबन्ध (परिणाम), हानि और हिंसा तथा अपनी सामर्थ्य पर बिना विचार किये हुए ही, मोहपूर्वक किया जाता है वह तामस अर्थात् अधम, निकृष्ट एव निन्दनीय होता है। मूढ अर्थात् अविवेकी एव विचारहीन लोग स्वच्छन्द होकर तथा समाज की मर्यादा का उल्लघन करते हुए ऐसे कर्म करते हैं, जिनका फल हिंसा और विनाश होता है। वे न तो नैतिक सिद्धान्तो का सम्मान करते हैं और न अपनी सामर्थ्य का ही विचार करते हैं तथा मूढतावश बुद्धिहीन पशुओ की भाँति सहसा मारधाड इत्यादि घृणित कर्म कर बैठते हैं। उनमे पशुओ जैसा उतावलापन होता है, जो उनके तथा समाज के लिए भयङ्कर सिद्ध होता है। ऐसे दुराग्रही लोग धीरे-धीरे अपराध-वृत्तिवाले होकर घोर दु ख उठाते हैं तथा परिवार एव समाज के लिए अभिशाप बन जाते हैं। अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य पर विचार करनेवाले मनुष्य कभी मूढतावश कर्म नही करते।

सात्त्विक कर्म निष्काम भाव से तथा राजस कर्म राग-द्वेष से प्रेरित होकर किये जाते हैं, किन्तु तामस कर्म मूढता (विवेकहीनता, विचार-शून्यता, पशुता, काम-क्रोध का क्षणिक वेग, उत्तेजना, उतावलापना) से किये जाते हैं।

**मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वित.।**
**सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकार· कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥**
**रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचि ।**
**हर्षशोकान्वित कर्ता राजसः परिकीर्तित ॥२७॥**
**अयुक्त· प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलस.।**
**विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥**

**शब्दार्थ :** **मुक्तसङ्ग: अनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वित. सिद्ध्यसिद्ध्यो· निर्विकार.**=आसक्तिरहित, अहकार-रहित, धृति (धैर्य) और उत्साह से युक्त, सिद्धि और असिद्धि (सफलता और विफलता) में विकारों (हर्ष, शोक इत्यादि) से रहित, **कर्ता सात्त्विक उच्यते**=कर्ता सात्त्विक कहा जाता है। **रागी कर्मफलप्रेप्सु लुब्धः हिंसात्मक. अशुचिः हर्षशोकान्वित:**=रागयुक्त (आसक्ति-युक्त), कर्मफल की कामना करनेवाला लोभी, हिंसामय, अशुद्ध आचरण करनेवाला और हर्ष-शोक से युक्त, **कर्ता राजस परिकीर्तित·**=कर्ता राजस कहा जाता है। **अयुक्त· प्राकृत· स्तब्ध शठ नैष्कृतिक विषादी अलस च दीर्घसूत्री**=अयुक्त (ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग से रहित, स्वच्छन्द, असावधान अथवा असयमी), प्राकृत (सस्कारहीन, मूढ), स्तब्ध (घमण्डी), शठ (दुष्ट, धूर्त), नैष्कृतिक (दूसरो की आजीविका को नष्ट करने-वाला), विषादी (दु खी रहने के स्वभाववाला), आलसी और दीर्घसूत्री (काम करने मे व्यर्थ देर लगानेवाला), **कर्ता तामस. उच्यते**=(ऐसा) कर्ता तामस कहा जाता है।

**वचनामृत :** जो कर्ता (कर्म करनेवाला पुरुष) आसक्तिरहित एव अहकाररहित है, धैर्य एव उत्साह से युक्त है, सफलता एव विफलता मे हर्ष-शोकादि विकारो से मुक्त रहता है, वह सात्त्विक कर्ता कहा जाता है। जो कर्ता रागयुक्त (आसक्ति-युक्त) है और कर्म-फल की इच्छा से युक्त है, लोभी तथा दूसरो को कष्ट देने के स्वभाववाला है, अशुद्ध आचरण करता है तथा हर्ष-शोक से ग्रस्त रहता है वह राजस कहा गया है। जो कर्ता अयुक्त (स्वच्छन्द तथा असयमी), उत्तम सस्कारो से विहीन, घमण्डी, धूर्त और दूसरो की आजी-विका का हनन करनेवाला, सदा दु खी रहने के स्वभाववाला तथा आलसी और दीर्घसूत्री (काम करने मे ढीला) है, वह तामस कहा जाता है।

**सन्दर्भ** सात्त्विक, राजस और तामस कर्ता की विवेचना की गयी है।

**रसामृत :** मनुष्य का आकलन प्राय कर्मों के कर्ता के रूप मे किया जाता है, किन्तु वास्तव में, मात्र कर्म के बाह्य रूप के आधार पर ही आकलन करना अधूरा ही नही होता, बल्कि प्राय त्रुटिपूर्ण अनुमान ही होता है। कर्ता के स्वरूप का निर्णय

करने के लिए कर्म के पीछे स्थित कर्ता की भावना पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। मानवीय भावना गुणो पर आधारित है। गुणो के अनुसार कर्ता तीन प्रकार के है – सात्त्विक, राजस और तामस अथवा उत्तम, मध्यम और अधम।

सात्त्विक कर्ता श्रेष्ठ होता है तथा वह जन-समाज के कल्याण का अग्रदूत होता है। थोडे से ही सात्त्विक कर्ता जनसमाज के आदर्श प्रेरक होकर जन-कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर देते है तथा जन-वन्दनीय होते हैं। सात्त्विक कर्ता का प्रथम और प्रमुख लक्षण सगरहित है। सग का अर्थ है सासारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियो के प्रति आसक्तिपूर्ण, मोहपूर्ण अथवा संकीर्ण ममत्वपूर्ण लगाव। मनुष्य परिवार इत्यादि के मोह के कारण तथा धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि की आसक्ति के कारण भ्रष्टाचार मे प्रवृत्त होते है। परिवार इत्यादि के प्रति सात्त्विक प्रेम होना तथा अपने दायित्व का निर्वाह करना कर्तव्य है। सचाई और परिश्रम से धन-सम्पत्ति का अर्जन एव आवश्यक सग्रह करना सर्वथा उचित है, किन्तु भौतिक पदार्थो के प्रति ममत्वपूर्ण आसक्ति मनुष्य को सकीर्ण एव सदोष वना देती है तथा उसे पाप-कर्म के लिए प्रवृत्त कर देती है। आसक्तिरहित सात्त्विक कर्ता निष्काम होकर कर्तव्य-कर्म कर सकता है। वह कर्म फल की इच्छा त्यागकर मन को चिन्ता, भय और तनाव से मुक्त रख सकता है तथा विषम परिस्थिति मे भी स्थिर, सम और शान्त रह सकता है।

सात्त्विक कर्ता अहकाररहित एवं विनम्र होता है। वह 'मैंने यह बडा काम करके दिखाया', 'मैंने कैसी वडी सफलता प्राप्त की', 'मैं कैसा बुद्धिमान् हूँ', 'मैं कैसा वलवान् हूँ', 'मेरी कैसी प्रतिष्ठा है', 'मेरा भवन कैसा वैभवपूर्ण है' इत्यादि प्रकार का अभिमान नही करता। मिथ्या अभि-मान मनुष्य को असन्तुलित करके निर्दयता, शोषण इत्यादि दोषो मे प्रवृत्त कर देता है। सयोग से मनुष्य को जव तक सफलता मिलती रहती है तथा वह सासारिक दृष्टि से उन्नति करता रहता है, तव तक वह भौतिक चकाचौंध से चुंधिया-कर सर्वत्र अहकार करता रहता है तथा सच्चे हृदय से न किसीका सत्कार करता है और न ईश्वर का ही स्मरण करता है, किन्तु प्रारब्धवश जव अकस्मात् कोई वड़ी दुर्घटना, हानि, पराजय अथवा विफलता हो जाती है (और उसकी हेकड़ी तथा ऐंठ प्रभावहीन हो जाती है), तव वह निराशा, क्लेश और शोक के घोर अधकार मे डूबकर कभी समाज को कोसता है और कभी ईश्वर को। 'घमण्डी का सिर नीचा', यह प्रकृति का विधान है। अहकारी मनुष्य को किसीका सच्चा प्रेम और आशीर्वाद नही मिलता। वह घृणास्पद होकर धीरे-धीरे समाज की मुख्य धारा से कटकर अकेला पड़ जाता है और कभी मानसिक शान्ति नही प्राप्त करता। सात्त्विक मनुष्य अपनी सफलता का यश माता-पिता, गुरुजन, मित्रगण इत्यादि को देता है तथा उसे प्रभु का प्रसाद मानता है। सात्त्विक कर्ता विचार, वचन और व्यवहार मे विनम्र होता है।

सात्त्विक कर्ता धैर्य और उत्साह से परिपूर्ण होता है। उसकी शक्ति, साहस और दृढता का अक्षय स्रोत उसके भीतर ही होता है तथा वह भौतिक पदार्थों और बलशाली पुरुषो से सहयोग लेकर भी उन पर निर्भर नही होता। सात्त्विक कर्ता विघ्न-बाधाओ से विचलित नही होता तथा पर्वत की भाँति अडिग रहकर भीषण परिस्थितियो मे भी प्रसन्न रहता है। वह लाभ-हानि, जय परा-जय, सफलता-विफलता, मान-अपमान इत्यादि द्वन्द्वो मे सम, स्थिर और शान्त रहता है।[1] धैर्य

---

१. उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः॥

और उत्साह से परिपूर्ण होकर वह अबाध गति से अपने कर्तव्य-पथ पर आगे बढता रहता है। विषम परिस्थितियाँ और भीषण सकट उसके असीम धैर्य और अदम्य उत्साह के सामने घुटने टेक देते हैं तथा अन्ततोगत्वा सफलता उसका चरण-चुम्बन करती है।[1] सात्त्विक कर्ता का मनोबल अनन्त होता है। धीर और गम्भीर सात्त्विक कर्ता मान-अपमान से ऊपर उठकर भी सम्मान और सुयश प्राप्त करता है तथा सदा सुप्रसन्न रहता है। समाज का वास्तविक अभ्युदय सात्त्विक पुरुषो के उत्कर्ष मे सन्निहित होता है।

राजस अथवा रजोगुणप्रधान कर्ता अनेक व्यक्तियो तथा वस्तुओ मे ममत्व होने के कारण आसक्त होते हैं तथा वे समस्त कर्म सकाम होकर करते हैं। वे उत्तम कार्य भी सकाम होकर अर्थात् स्वार्थ-बुद्धि से ही करते हैं। उनकी बुद्धि और मन कामनाग्रस्त अर्थात् स्वार्थरत होने के कारण दूषित और दुर्बल तथा अस्थिर और असन्तुलित रहते हैं। वे प्रचुर धन-सम्पदा और पद-प्रतिष्ठा पाकर भी महान् नही होते तथा जीवन मे कभी शान्ति प्राप्त नही करते।

लोभ कामना का ही एक रूप है। लोभ मनुष्य को झूठा और बेईमान बना देता है तथा सदैव व्याकुल रखता है। लोभ अदम्य होता है तथा प्रचुर धन होने पर भी शमित नही होता। लोभ धन-वृद्धि होने पर शमित होने के बजाय विवर्धित ही होता है।[1] लोभ मनुष्य को निर्दय एव हिंसक बना देता है तथा लोभी मनुष्य दूसरो को पीडा देने मे अथवा शोषण करने मे सकोच नही करता। लोभी मनुष्य कपटी हो जाता है तथा मिथ्या आचरण उसका स्वभाव बन जाता है। राजस कर्ता लोभ के कारण सदैव अशान्त रहता है।

राजस (रागी) कर्ता भौतिक सुखभोग को जीवन का लक्ष्य मानकर सासारिक कामनाओ एव स्वार्थों की पूर्ति के लिए सदैव भटकता रहता है तथा कभी अनुकूल फल-प्राप्ति से हर्षित होता है और कभी प्रतिकूल फल-प्राप्ति से व्याकुल होता है। राग-द्वेष के कारण वह कभी सन्तुलित, स्थिर, सम तथा शान्त नही रहता तथा सासारिक भोगो की मृग-मरीचिका के पीछे दौडते हुए ही जीवन को खो देता है।

सात्त्विक पुरुष के जीवन को परमात्मा की कृपा प्रकाशित कर देती है। कपटी एव कुटिल मनुष्य उससे वचित रह जाता है। परमात्मा निर्मल हृदय मे प्रकट होता है, राग-द्वेष से दूषित हृदय मे कदापि नही।[2] राग सात्त्विक एव उदात्त होकर व्यापक प्रेम का रूप धारण कर लेता है तथा व्यक्ति एव समाज के लिए कल्याणकारी हो जाता है।

तामस कर्ता अत्यन्त असावधान और असयमी होता है तथा उत्तम सस्कारो से विहीन (प्राकृत) होता है। वह हिंसक पशुओ की भाँति उद्धत एव उद्दण्ड होता है तथा शठ (धूर्त) एव दुष्ट होता है। उसे दूसरे की आजीविका का हनन करने मे ग्लानि नही होती। वह आलसी होता है तथा काम करने

---

—अर्थात् उत्साही, अदीर्घसूत्री, कार्यनिपुण, व्यसनो से मुक्त, साहसी, कृतज्ञ, मित्रता में दृढ़ पुरुष को विजय-लक्ष्मी प्राप्त होती है।

१ भगवद्गीता मे मुक्तसङ्ग (अनासक्त) होने तथा सिद्धि और असिद्धि मे सम रहने की प्रशसा अनेक स्थलो पर (२ १८ इत्यादि) की गयी है। द्वन्द्वातीत पुरुष महात्मा होता है। गीता में धृति (धैर्य) की चर्चा अनेक स्थलों पर की गयी है। (१० ३४, ११ २४, १३.६, १६ ३)

१ जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।

२ रामकृष्ण परमहस कहते थे कि बीज कोमल मिट्टी मे अकुरित होता है, न कि ककड-पत्थर से भरी भूमि में। परमात्मा प्रेमपूर्ण हृदय मे प्रकट होता है, कपट-पूर्ण हृदय मे नहीं।

में ढीला होता है। वह स्वभाव से सदा दुखी और अशान्त रहता है।

वास्तव मे मानव-जीवन मे सस्कारों का महत्त्व अवर्णनीय है। मनुष्य धर्म, माता-पिता गुरुजन, सन्तजन इत्यादि के उत्तम सस्कारो से सस्कारित होकर ही सभ्य, सुशील, सौम्य और सदाचारी बनता है। सस्कारविहीन मनुष्य उत्तम कुल मे जन्म लेकर भी पशु के तुल्य ही उद्धत एवं उद्दण्ड होता है।[1] धर्म मनुष्य के व्यक्तित्व को परिष्कृत करता है। धर्म मनुष्य को भौतिक प्रलोभनो से मुक्त कर आत्मसयमी, परोपकारी, त्यागी, ईमानदार, सच्चा, उदार और जीवमात्र का हितैषी होने की प्रेरणा देता है, भले ही कुछ स्वार्थी लोग धर्म के विकृत रूप को प्रस्तुत करके धर्म के बहाने सकीर्णता और साम्प्रदायिकता का विष फैलाते हैं। धर्म त्याज्य नही है, बल्कि सुग्राह्य है। धर्म के पाखडी प्रस्तोता ही त्याज्य होते हैं। प्रत्येक मनुष्य जन्म से शूद्र उत्पन्न होता है तथा उत्तम सस्कार ही उसे द्विज बनाते हैं अर्थात् उत्तम मनुष्य के रूप मे दूसरा जन्म देते हैं।[2] माता-पिता, शिक्षक और धर्मगुरु मात्र उपदेशो से कदापि प्रेरक नही होते, बल्कि अपने श्रेष्ठ आचरण के उदाहरण द्वारा ही उत्तम सस्कार डालते हैं। त्यागी पुरुष ही त्याग का सस्कार डाल सकते है। भोग-सामग्री के पीछे दौडनेवाले और भोग-सामग्री के सचय को ही जीवन का लक्ष्य समझनेवाले मनुष्य जीवन-मूल्यो अथवा नैतिक मूल्यो के सस्कार नही डालते। भोगसामग्री के सग्रह की दौड मनुष्यो को न केवल भटका रही है, बल्कि समाज मे भ्रष्टाचार द्वारा अव्यवस्था एव उच्छृङ्खलता को बढावा दे रही है।

१. आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः
धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना॥

२. जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।

जो शिक्षा उत्तम सस्कार नही देती तथा मानवता का निर्माण नही करती तथा मात्र पाठ्य-सामग्री के सग्रह पर बल देती है, वह अधूरी है तथा जो शिक्षक चरित्र की प्रेरणा नही देते तथा पाठ्य-सामग्री को ही सब-कुछ समझते हैं, वे सजीव छात्रों को मानो निर्जीव सग्रहालय ही बनाते हैं, सवेदनशील एव सुसस्कृत मनुष्य नही बनाते।

मनुष्य कर्म, भक्ति अथवा ज्ञान द्वारा भगवान् के साथ युक्त होकर उत्तम तथा उनसे अयुक्त होकर अधम अथवा तामस हो जाता है। अयुक्त मनुष्य चचल, स्वच्छन्द, असावधान तथा असयमी होता है। अविवेकी मनुष्य पशु के सदृश सयमहीन होता है। सयमहीन तामसी मनुष्य स्तब्ध अर्थात् उद्दण्ड होता है तथा किसी आदरणीय पुरुष का भी आदर नही करता। तामसी मनुष्य विनम्र नही होता तथा सूखे पेड की भाँति कभी नही झुकता।[1] तामसी पुरुष शठ अर्थात् धूर्त, ठग एव दुष्ट होता है। वह सज्जनता और मधुरता के बदले मे भी शठता ही करता है। सात्त्विक पुरुष कृतज्ञ, शठ कृतघ्न होता है। शठ उपकार करने पर भी अपकार और अपमान ही करता है।

तामसी मनुष्य निर्दय होता है तथा उसे किसी-की आजीविका का उच्छेद करने मे ग्लानि नही होती।[2] उत्तम पुरुष अपने व्यापार आदि मे किसी-

१. नमन्ति फलिनो वृक्षाः नमन्ति गुणिनो जनाः।
शुष्ककाष्ठानि मूर्खाश्च न नमन्ति कदाचन॥

२. उद्योग तो देश की उन्नति के लिए आवश्यक होते हैं, किन्तु भोगवादी सस्कृति के अन्तर्गत उद्योगवाद का रूप भयंकर है तथा बडे उद्योग लघु उद्योगो को सरलता से निगल जाते हैं। देश की अर्थनीति ऐसी होनी चाहिए कि बड़े और छोटे उद्योग परस्पर सहयोग दें, जिससे उद्योगवाद एव उन्नति के नाम पर शोषण का ताण्डव न हो सके। समाज एक शरीर के सदृश है, उसका एकांगी विकास विनाशक होता है। समाज के सभी अंगों का विकास समाज को सुखी एवं सम्पन्न बना सकता है।

का प्रतिद्वन्द्वी नही बनता, बल्कि सहयोगी बनता है। परस्पर प्रतिद्वन्द्विता का कोई अन्त नही है तथा उससे समाज की सामूहिक उन्नति नही होती, बल्कि असन्तोष, विप्लव, वैमनस्य और विरोध फैलते हैं, जो विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। तामसी मनुष्य धीरे-धीरे आलसी और दीर्घसूत्री (काम करने में ढीला) हो जाता है तथा वह दूसरो से ही सारा काम करा लेने मे अपनी कुशलता समझता है। आलस्य मनुष्य के शरीर मे स्थित महान् रिपु है।[१]

तामसी मनुष्य स्वभाव से बात-बात मे उत्तेजित होनेवाला और क्लेश करनेवाला हो जाता है। अल्पकालिक विषाद तो प्रत्येक मनुष्य को ग्रस्त करता है तथा उत्तम पुरुष के लिए विचार-प्रेरक योग (विषादयोग) बन जाता है, किन्तु तामसी मनुष्य विषादी हो जाता है तथा सदा दुखी रहता है। जिस प्रकार सात्त्विक पुरुष स्वभाव से निरन्तर सुप्रसन्न रहता है, उसी प्रकार तामसी मनुष्य निरन्तर दुखी ही रहता है। दुखी रहना और हानि, रोग तथा दुख की ही बातें करना उसका स्वभाव हो जाता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह राजस और तामस-वृत्ति का त्याग करके सात्त्विक कर्ता होकर कर्म करता रहे तथा उत्तरोत्तर शुचि एव निर्मल होकर परमोच्च पद को प्राप्त कर ले। जो भवबाधा से मुक्त होने का सकल्प एव प्रयत्न करता है, वह अवश्य भवबाधामुक्त हो जाता है।[२]

**बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।**
**प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥**

शब्दार्थ : धनञ्जय=हे अर्जुन, बुद्धे च धृते एव गुणत: त्रिविध भेदं=बुद्धि का और धृति (धारणा-शक्ति, धैर्य) का भी गुणो के कारण तीन प्रकार का भेद, अशेषेण पृथक्त्वेन प्रोच्यमान शृणु=पूर्णत विभागपूर्वक (मेरे द्वारा) कहा हुआ सुन।

वचनामृत हे अर्जुन, तू बुद्धि का और धृति का भी गुणो के अनुसार तीन प्रकार का भेद पूर्णत तथा पृथक्-पृथक् मेरे द्वारा कहा हुआ सुन।

सन्दर्भ : बुद्धि और धृति के त्रिविध भेदो के वर्णन की प्रस्तावना है।

रसामृत : मनुष्य की उन्नति और अवनति, सद्गति और दुर्गति तथा सुख तथा दुख, उसके विचार एव कर्म पर ही निर्भर होते हैं। वाणी कर्म के अन्तर्गत ही है। मनुष्य का कर्म विचार के अधीन है। वस्तुत विचार एव भावना कर्म से भी ऊँची होती है। विचार और भावना का सम्बन्ध बुद्धि और मन से है। वास्तव मे मन (सकल्प-विकल्प इत्यादि) भी बुद्धि की एक शक्ति अथवा वृत्ति है। मानव जीवन मे बुद्धि ही सर्वोपरि एव प्रधान है। बुद्धि मे विचार करने की शक्ति सन्निहित होती है। बुद्धि से ही स्थूल तथा सूक्ष्म ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति होती है। बुद्धि का सदुपयोग तथा दुरुपयोग शस्त्र की भाँति हो सकता है। बुद्धि *आत्म-कल्याण एव जन-कल्याण का अथवा आत्म-*विनाश एव जन-विनाश का साधन हो सकती है। बुद्धि का सदुपयोग होने पर मनुष्य विवेकशील एव उत्तम तथा दुरुपयोग होने पर विवेकहीन एव अधम कहलाता है। उचित और अनुचित का भेद करनेवाली बौद्धिक शक्ति को विवेक कहा जाता है।

धृति का अर्थ है धारणा-शक्ति, दृढता एव धैर्य। वास्तव मे धृति भी बुद्धि की ही एक वृत्ति है, किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण इसका वर्णन पृथक् कहा गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण बुद्धि तथा धृति के सात्त्विक, राजस और तामस स्वरूप का पृथक्-पृथक् वर्णन

---

१ आलस्य हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपु.।

२ स्वामी रामकृष्ण परमहस एक दृष्टान्त कहते थे। एक मछियारे के जाल में अनेक मछलियाँ फँस गयी। कुछ उसमे आलस्य से पडी रही, कुछ वही भटकने लगी और कुछ कूदकर उससे बाहर हो गयी। यही ससार में तामस, राजस और सात्त्विक लोगो की दशा है।

करते है और अर्जुन को सावधान तथा एकाग्रचित्त होकर श्रवण करने का आदेश देते है।

**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।**
**बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।**
**यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।**
**अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥**
**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।**
**सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ३२**

**शब्दार्थ :** **पार्थ**=हे अर्जुन, **प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये बन्धं च मोक्ष**=प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय को, बन्धन तथा मोक्ष को, **या वेत्ति सा बुद्धि सात्त्विकी**=जो जानती है वह बुद्धि सात्त्विकी है। **पार्थ**=हे अर्जुन, **यया धर्मं च अधर्मं च कार्यं च अकार्यं एव अयथावत् प्रजानाति**=जिससे ( मनुष्य ) धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता है, **सा बुद्धिः राजसी**=वह बुद्धि राजसी है। **पार्थ**=हे अर्जुन, **या तमसा आवृता अधर्मं धर्मं इति मन्यते च सर्वार्थान् विपरीतान् ( मन्यते )**=जो तमोगुण से आवृत होकर अधर्म को धर्म ऐसा मानती है और सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत ही मानती है, **सा बुद्धिः तामसी**=वह बुद्धि तामसी है।

**वचनामृत :** हे पार्थ, जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को यथार्थ जानती है, वह सात्त्विकी है। हे पार्थ, मनुष्य जिस बुद्धि से धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नही जानता है, वह बुद्धि राजसी है। हे पार्थ, जो बुद्धि तमोगुण से आवृत होकर अधर्म को धर्म मानती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थों को भी विपरीत मान लेती है, वह तामसी है।

**सन्दर्भ :** सात्त्विक, राजस और तामस बुद्धि का वर्णन किया गया है।

**रसामृत :** पशुओ की अपेक्षा बुद्धि की विशेषता होने के कारण ही मनुष्य सृष्टि का सिरमौर है। अनेक पशुओ और पक्षियो मे मनुष्य की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियो एव कर्मेन्द्रियो की शक्तियाँ अधिक हैं, किन्तु मनुष्य बुद्धिबल के कारण बर्बर पशुओ और विलक्षण पक्षियो को अपने अधीन करके उन पर शासन करता है। मनुष्य ने बुद्धि-बल के आधार पर ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, कला आदि का निर्माण किया तथा वह गगनचारी हो गया, उच्च पर्वतो को लाँघ गया और महासागरो को पार कर गया, किन्तु मनुष्य की महानता बुद्धि की सात्त्विकता मे निहित है। सात्त्विक बुद्धि ही व्यक्ति तथा समाज के लिए कल्याणकारी होती है। मनुष्य की सात्त्विक बुद्धि ने न्याय और नैतिकता की परिकल्पना की तथा सत्य शिव सुन्दरम् को जीवन मे समाविष्ट किया। मनुष्य सात्त्विक बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति, उचित और अनुचित, भय और अभय तथा बन्धन और मोक्ष को जान सकता है।

गृहस्थ-आश्रम में रहकर तथा धनोपार्जन इत्यादि समस्त सासारिक व्यवहार करते हुए भी निष्काम कर्म करना कर्मयोग के अन्तर्गत प्रवृत्ति-मार्ग है। ज्ञानमार्ग का आश्रय लेकर तथा ज्ञान की परिपक्वता होने पर अन्त मे कर्म का सन्यास ( त्याग ) करना निवृत्ति-मार्ग है।[1] प्रवृत्ति-मार्ग मे कर्म के महत्त्व पर तथा निवृत्ति-मार्ग मे वैराग्य एव ज्ञान के महत्व पर बल दिया जाता है। कर्मयोगी भी निष्काम कर्म की साधना द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर अन्त मे कर्म-निवृत्ति अर्थात् कर्म-सन्यास कर सकते हैं। साधक को अपने स्वभाव एव सामर्थ्य के अनुसार ही प्रवृत्ति-मार्ग अथवा निवृत्ति-मार्ग का आश्रय लेना चाहिए।

---

१ श्रीधर कहते हैं कि धर्म मे प्रवृत्त होना प्रवृत्ति है तथा अधर्म से निवृत्त होना निवृत्ति है। मरणपर्यन्त कर्म करते रहना नारायणीय अथवा भागवत-धर्म है।

सात्त्विक बुद्धि पवित्र होती है तथा उसे सहज ही कर्तव्य और अकर्तव्य अथवा उचित कर्म और अनुचित कर्म के भेद का ज्ञान हो जाता है। उसे अनुचित एव निषिद्ध कर्म के करने मे भय अर्थात् सकोच का तथा उचित कर्तव्य कर्म करने मे अभय एवं उत्साह का अनुभव होता है। जीवन मे अभय का महत्त्व अवर्णनीय है। जो स्वय अभय है, वही दूसरो को अभय कर सकता है। सात्त्विक बुद्धि भयमुक्त होती है तथा उसमे भले और बुरे अथवा ग्राह्य एव त्याज्य का भेद करने की अपार शक्ति होती है। सात्त्विक बुद्धि निर्मल होती है तथा उसमे सत्त्वगुण का प्रकाश होता है। सात्त्विक बुद्धि मे वन्धन और मोक्ष का विवेक होता है। सात्त्विक बुद्धियुक्त पुरुष निष्काम एव अनासक्त होकर कर्तव्य-कर्म करता है तथा कर्म करते हुए कर्म-वन्धन से मुक्त हो जाता है।

मनुष्य जिस बुद्धि से धर्म और अधर्म तथा कर्तव्य और अकर्तव्य के यथार्थ को नही जानता है तथा भोगवृत्ति की तृप्ति के लिए स्वार्थ-प्रेरित होकर कर्म करता है, वह राजसी बुद्धि है। धर्म के मुख्य अर्थ हैं स्वभाव एव कर्तव्य। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव दाहक होना तथा प्रकाश देना है, उसी प्रकार मनुष्य का सहज स्वभाव भौतिकता अर्थात् सासारिक वैभव विलास एव भोग-वृत्ति से ऊपर उठकर दिव्य चेतना की ओर, सकीर्णता एव स्वार्थ से ऊपर उठकर उदारता एव परमार्थ की ओर तथा घृणा एव द्वेष से ऊपर उठकर प्रेम एव परोपकार की ओर उन्मुख होना है। यह मानव-मात्र का सनातन धर्म है। मानव का सहज स्वभाव ही उसका सहज कर्तव्य है। मनुष्य का कर्तव्य केवल मनुष्य-समाज की रक्षा ही नही, वल्कि प्राणि-मात्र की रक्षा करना है। अहिंसा धर्म है, हिंसा अधर्म है। दूसरो को समृद्ध वनाने मे सहयोग देना धर्म अथवा पुण्य है, दूसरो का शोषण करना अधर्म अथवा पाप है। प्रेम धर्म है, घृणा अधर्म है। सत्य का आचरण धर्म है, मिथ्या आचरण अधर्म है। माता-पिता और गुरुजन का आदर करना धर्म है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर वही एक परमेश्वर विराजमान है तथा वह सदैव सत्य और प्रेम का अनुमोदन करता है। अन्त करण निर्मल होने पर परमेश्वर की वाणी प्रत्येक मानव को सुनाई देती है।

मनुष्य के कल्याण के लिए चार पुरुषार्थों की परिकल्पना की गयी है—धर्म, अर्थ ( धन ), काम और मोक्ष।[1] अर्थ और काम अपरिहार्य हैं। धर्म से नियन्त्रित होकर अर्थ या वल और काम की ऊर्जा मानव के विकास मे सहायक होकर कम-नीय हो जाती है तथा मोक्ष की ओर ले जाती है। धर्म से व्यक्ति एव समाज के जीवन मे अनुशासन और नैतिक व्यवस्था आती है तथा सुख और शान्ति प्राप्त होती है। धर्म माता-पिता, गुरुजन का आदर-सत्कार करना, दीन दु खी जन की सेवा-सहायता करना और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अभ्युदय करने का उपदेश एव आदेश देता है। धर्मरूप वृषभ के चतुष्पाद हैं—सत्य दया, शान्ति

---

१ ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येव न च कश्चित् शृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म कि न सेव्यते॥
—व्यास

—मैं हाथ उठाकर घोषणा करता हूँ, किन्तु कोई मेरी वात नही सुनता। धर्म से ही अर्थ और काम सफल होते हैं, फिर धर्म का पालन क्यो नहीं करते ? धर्म की आड में कुटिल लोग साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता इत्यादि के रूप मे सङ्कीर्णता, घृणा एव हिंसा का प्रचार करते हैं तथा अपनी स्वार्थ सिद्धि करते हैं। किन्तु धर्म तो सदा उदात्त जीवन की प्रेरणा देता है तथा आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करता है। धर्म-रक्षा की आड़ लेकर क्षुद्र स्वार्थ-पूर्ति के लिए षड्यन्त्र रचनेवाले तथा हिंसा का प्रचार करनेवाले अन्त में स्वय षड्यन्त्र एव हिंसा के शिकार वन जाते हैं। यह प्रकृति का न्याय है।

तर्क वितर्क द्वारा चिन्तन एव निश्चय करना है। मन वुद्धि का ही एक पक्ष अथवा शक्ति है, जिसका एक ओर इन्द्रियो के साथ सम्बन्ध है और वह कामना आदि को उत्पन्न करता है तथा दूसरी ओर उसका जीवात्मा के साथ सम्बन्ध है और वह अन्तर्मन होकर उसकी पवित्र वाणी सुनता है। वुद्धि यह निश्चय करती है कि भोग-वृत्ति का त्याग कल्याण के उदय का मूलमन्त्र है, किन्तु मन भोग-वृत्ति मे तल्लीन रहता है और उसका त्याग नही करता। अनेक वार मनुष्य की वुद्धि और मन किसी पूर्वकृत भूल के कारण अज्ञात अपराध-भावना से ग्रस्त होकर निरर्थक ही सकट आने की मिथ्या कल्पना करते है और मनुष्य भयवश उसे अन्तर्मन की ध्वनि समझ वैठता है। वह वार-वार मनोकल्पित सकट के मिथ्या सिद्ध होने पर भी उस स्वभाव को सहसा नही छोड पाता। अनेक वार मनुष्य की वुद्धि और मन पूर्ववर्ती जीवन के किसी घोर सकट मे गुजरने के कटु अनुभव के कारण भी भविष्य मे सकट की कल्पना करके भयभीत एव निराश हो जाते हैं। मनुष्य दृढ निश्चय, प्रार्थना और ध्यान के अभ्यास द्वारा चेतना को ऊँचे धरातल पर उठाकर वुद्धि और मन को तिमिर से अवश्य मुक्त कर सकता है।

दृढ निश्चय करना वुद्धि की एक वृत्ति अथवा एक कार्य है। मनुष्य वुद्धि के दृढ निश्चय द्वारा मन को दवाकर उसे वुद्धि का अनुगामी वना सकता है। वुद्धि और मन दोनो के सात्त्विक दिशा मे ही प्रवृत्त होने पर मनुष्य वलवान् होकर जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि कर सकता है। मनुष्य की सफलता एव श्रेष्ठता का मूल मन्त्र सात्त्विक धृति अर्थात् धारणा अथवा दृढ निश्चय है।

धृति का अर्थ है वुद्धि ( मनसहित वुद्धि ) की धारणा-शक्ति अथवा विवेक ( गम्भीर विचार ) के निर्णय को धारण करने की शक्ति अथवा निश्चय की दृढता, स्थिरता एव धैर्य।[1]

श्रीकृष्ण ने जीवन में धृति का असाधारण महत्त्व होने के कारण उसके श्रेष्ठ, साधारण और निकृष्ट रूप का वर्णन किया है। धृति का सात्त्विक स्वरूप उसका श्रेष्ठ स्वरूप है। जव धृति परमेश्वर की ओर उन्मुख होकर परमेश्वर मे स्थिर होती है तथा सासारिक विपयभोगो मे नही भटकती, तव उसे शुद्ध अथवा अव्यभिचारिणी कहते हैं। उत्तम पुरुप सासारिक कर्म करते हुए भी अपनी चेतना को ऊर्ध्वमुखी करके धृति को अनासक्त रखता है। धृति को अनासक्त रखकर ही उसका सदुपयोग किया जा सकता है। वास्तव मे विवेक का प्रकाश तथा धृति की शक्ति ही जीवन को उच्चतम स्तर पर स्थिर कर सकती है। परमेश्वर के साथ निष्काम कर्मयोग, समत्वयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि के द्वारा युक्त होने पर धृति सात्त्विक एव वलवती हो जाती है। सात्त्विक धृति ध्यान आदि द्वारा मन, प्राण तथा इन्द्रियो की क्रियाओ को धारण करके, उत्तम आचरण का कारण होकर, मनुष्य को मोक्षगामी वना देती है।

राजसी धृति के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और काम को आसक्तिपूर्वक धारण करता है। राजसी धृति की विशेपता आसक्ति है। ऐसा मनुष्य उत्तम आचरण भी आसक्त होकर करता है। कर्म-फल का आकाक्षी मनुष्य अर्थात् सकाम मनुष्य वास्तव मे सासारिक सुख-भोग मे आसक्त रहता है।[1] सकाम मनुष्य की धृति धर्म, अर्थ और काम के पालन एव आचरण मे राजस अथवा स्वार्थपूर्ण एव आसक्तिपूर्ण होती है। मनुष्य सात्त्विक धृति द्वारा धर्म, अर्थ और काम के

१ शङ्कराचार्य ने ( गीता, १६ ३ ) 'धृति' का अर्थ किया है देह और इन्द्रियो के थकने अथवा दुर्वल हो जाने पर उत्साह उत्पन्न करने की वृत्ति। यह अपने को ऊपर उठाने का निश्चय करने की वृत्ति ही है।

१ श्लोक ३४ में 'प्रसग' के विभिन्न अर्थ किये गये हैं। यह अर्थ भी किया गया है—धर्म, अर्थ और काम के प्रसङ्ग में मनुष्य की राजसी धृति सकाम होती है।

सात्त्विक आचरण द्वारा परमानन्दस्वरूप मोक्ष-पद प्राप्त कर लेता है, किन्तु राजस धृति मोक्ष के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। मनुष्य जिस धृति के कारण फल-कामना से अर्थात् सुख-भोग की कामना से धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के आचरण में प्रवृत्त होता है, वह राजसी है। राजसी धृति मनुष्य को भोगवादी बनाती है।

दुष्ट-बुद्धि मनुष्य जिस धृति अर्थात् धारणा-शक्ति एव दृढता से स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद ( उन्मत्तता ) को पकड़े रहता है, वह तामस धृति है। तामसी धृति दुष्ट-बुद्धि का अग है।

'स्वप्न' का अर्थ प्राय निद्राकाल का स्वप्न है, किन्तु तामसिक धृति के सम्बन्ध मे 'स्वप्न' का अर्थ दोषरूप स्वप्नशीलता, आलस्य और प्रमाद है। प्राय स्वप्न अतृप्त कामनाओ एव दमित भावनाओ के द्योतक होते हैं। मनुष्य न केवल निद्राकाल मे स्वप्न देखता है, बल्कि जाग्रतावस्था मे भी अनेक स्वप्न ( दिवास्वप्न ) देखता है, जो कल्पना पर आधारित होते है। तामसी धृति उत्तम गुणो को तो धारण ही नही करती तथा स्वप्नशीलता, आलस्य, प्रमाद, नाना प्रकार के भय, शोक, विषाद ( खिन्नता ) और मदमत्तता आदि दोषो को पकडे रहती है।[1] कल्पना-शक्ति एक महत्त्वपूर्ण मन शक्ति है, किन्तु तामसी धृति के अन्तर्गत वह कुपथगामिनी होकर दोषपूर्ण हो जाती है।

तामसिक धृति का एक लक्षण भय है। भय मन को दूषित एव दुर्बल बना देता है, जीवन को

---

[1] मनुष्य के लिए स्वप्न देखना न केवल स्वाभाविक है, बल्कि भोजनादि की भाँति एक अपरिहार्य आवश्यकता भी है। स्वप्न देखना स्वास्थ्य के लिए हितकर प्रक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति निद्राकाल मे स्वप्न अवश्य देखता है। स्वप्नरहित निद्रा सम्भव ही नही है। प्रत्येक व्यक्ति गहन निद्रा के बीस से पचास प्रतिशत तक काल में स्वप्न भी देखता है। रात्रि में निद्रा के प्रारम्भ मे लगभग डेढ घण्टा प्रगाढ निद्रा आती है, तत्पश्चात् स्वप्न-प्रक्रिया का एक लघु अन्तराल होता है, पुन एक-डेढ़ घण्टा प्रगाढ निद्रा आती है और तदुपरान्त कभी निद्रा आती है और कभी स्वप्न की प्रक्रिया चलती है। कुछ स्वप्न एक घण्टे तक चलते हैं। मनुष्य आठ घण्टे की निद्रा मे चार-पाँच बार स्वप्न देखता है। स्वप्नकाल मे नेत्रो की पुतलियाँ चलती रहती हैं। केवल मनुष्य ही नही, बल्कि पशु भी स्वप्न देखते हैं। वास्तव मे स्वप्नो के द्वारा अवचेतन मन विचारो को व्यवस्थित करता है। भग्न आशाएँ तथा अतृप्त कामनाएँ स्वप्न के समय कल्पना-लोक मे पूर्ण एव तृप्त होकर शान्त होती हैं। स्वप्न मनुष्य के मानसिक घावो को स्वस्थ करके मन को सशक्त एव क्रियाशील बनाते हैं तथा प्रसुप्त ऊर्जा को जाग्रत करते हैं। स्वप्न मनुष्य की वर्तमान मानसिक अवस्था के बोधक होते हैं तथा कभी-कभी दूर-बोध से किसी दूरस्थ वर्तमान घटना का भी बोध करा देते हैं, किन्तु वे कदापि भविष्य-सूचक नही होते। यद्यपि मात्र सयोग से भविष्य मे उनकी साकारता हो सकती है। मनुष्य को भयानक स्वप्नो से भयभीत नही होना चाहिए, क्योकि वे भी मानसिक आघातो एवं क्षतो को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। मनुष्य के प्रच्छन्न भय और दुश्चिन्ता इत्यादि विकार भी स्वप्नो में अनेक रूपो मे उभरकर आते हैं तथा उभरकर ही शान्त होते हैं। स्वप्नो से शकुन-विचार करना मात्र अन्धविश्वास है। दिवास्वप्न भी एक सीमा तक अतृप्त कामनाओ की पूर्ति एव तृप्ति की कल्पना द्वारा मन को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं, किन्तु दिवास्वप्नो मे अतिशय तल्लीन मनुष्य यथार्थ से दूर हटकर निष्क्रिय एव निकृष्ट हो जाता है। दिवास्वप्न कल्पना-शक्ति को दिशा देते हैं। मनुष्य सजग एव सावधान होकर तथा दिवास्वप्नो की गतिविधि देखकर उन्हे प्रेरणात्मक तथा स्वस्थ दिशा दे सकता है। अधिकांश स्वप्न तर्कहीन और असम्बद्ध होते हैं। मनोवैज्ञानिको के अनुसार जाग्रत अवस्था मे स्वप्नो के स्मरण को प्रोत्साहित नही करना चाहिए।

दु खद भार बना देता है। धन-सम्पत्ति की हानि, मृत्यु, पराजय तथा सुख-नाश की आशका मन को व्याकुल कर देती है। किसी प्रकार की क्षति की आशका होना ही भय है। भौतिक पदार्थों अर्थात् ससार तथा अपने देह के साथ ममत्व ( यह मेरा है ) आसक्ति उत्पन्न करता है। आसक्ति ही भय का मुख्य कारण है। कोई क्षति, विनाश अथवा पराजय होने पर शोक आविर्भूत होकर मन को दु खी कर देता है। शोक मोह ( जो आसक्ति का ही एक रूप है ) से उत्पन्न होता है, जो मन को अन्धकार मे भटका देता है। किसी हानि की आशका अथवा सम्भावना होने पर एक निराशा-पूर्ण खिन्नता उत्पन्न हो जाती है, जिसे विषाद कहते हैं। विगत हानि पर विचार करने से शोक तथा भविष्य मे निराशा की सम्भावना से विषाद उत्पन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे अल्पकालीन विषाद अथवा सन्ताप अवश्य आता है, किन्तु विषादी स्वभाव होना एक दोष है। विषाद तामसी धृति का एक स्थायी अग हो जाता है।

मूढ मनुष्य धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब, भौतिक बल, सत्ता, पद और प्रतिष्ठा के कारण उन्मत्त ( मत-वाला ) होकर दूसरो का अपमान एव शोषण करने लगता है। मदमत्तता तामसी धृति का लक्षण है। अनेक बार मनुष्य मदिरा आदि दुर्व्यसन के कारण भी मदमत्त हो जाता है। विद्वत्ता का मद तथा दुराग्रह ( जिद ) होना भी तामसी धृति का लक्षण है। विद्वत्ता सात्त्विक पुरुष को विनम्र तथा तामसी मनुष्य को उद्धत एव उद्दण्ड बनाती है। तामसी धृति व्यक्ति एव समाज का अनिष्ट करती है तथा पतनकारक होती है। सात्त्विक धृति व्यक्ति एव समाज का हित करती है, कल्याण-कारी होती है। तामसी धृति सर्वथा त्याज्य है, सात्त्विक धृति ग्राह्य है।

**सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।**
**अभ्यासाद्रमते यत्र दु खान्तं च निगच्छति ॥३६॥**
**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।**
**तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥**

**शब्दार्थ** भरतर्षभ इदानीं सुखं तु त्रिविधं मे शृणु =हे भरतश्रेष्ठ, अब सुख को भी तीन प्रकार का मुझसे सुन, यत्र अभ्यासात् रमते =जिस सुख में ( साधक पुरुष ) अभ्यास से रमण करता है, च दु खान्तं निगच्छति =और दु ख के अन्त को प्राप्त होता है। यत् सुख तत् अग्रे विषं इव जो सुख पहले विष के समान, परिणामे अमृतोपमं =परि-णाम मे अमृततुल्य ( है ), ( यत् सुख ) आत्मबुद्धिप्रसादज =( तथा जो सुख ) आत्मबुद्धि ( आध्यात्मिक बुद्धि ) के प्रसाद ( निर्मलता, प्रसन्नता ) से उत्पन्न है, तत् सात्त्विक प्रोक्तं =उसे सात्त्विक कहा गया है।[1]

**वचनामृत** . हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, अब सुख को भी तीन प्रकार का मुझसे सुन। जिस सुख मे साधक पुरुष अभ्यास से रमण करता है और दु ख के अन्त को प्राप्त होता है, जो सुख पहले विष के समान प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम मे अमृत के तुल्य है, जो आत्मबुद्धि ( परमात्मा मे सलग्न बुद्धि अथवा आध्यात्मिक वृत्तिवाली बुद्धि ) के प्रसाद ( निर्मलता, प्रसन्नता ) से उत्पन्न होनेवाला सुख है, वह सात्त्विक कहा गया है।

**सन्दर्भ** : तीन प्रकार के सुखो के वणन मे सर्व-प्रथम सात्त्विक सुख का वर्णन किया गया है। **'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'** को कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत** प्रत्येक जीवधारी सुख चाहता है, दु ख से बचने का प्रयत्न करता है। मनुष्य ने सुख-प्राप्ति एव दु ख-निवृत्ति के लिए अनेक उपायो का

---

१ इन दो श्लोको का अन्वय और अथ अनेक प्रकार से किया गया है। ३७वें श्लोक की प्रथम पक्ति में तीन प्रकार के सुख-वर्णन की प्रस्तावना है तथा तीन पक्तियो मे सात्त्विक सुख का वर्णन है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने *ज्ञानप्राप्ति तथा आध्यात्मिक साधना* की चर्चा करते हुए सत्यार्थप्रकाश की भूमिका मे 'यत्तदग्रे विषमिव परि-णामेऽमृतोपमम्' का उद्धरण दिया है।

निरूपण किया है। यद्यपि सुख-तत्त्व एक ही है, तथापि गहनता एव स्थिरता के भेद के कारण उसका अनुभव विभिन्न चेतना-स्तरो पर विभिन्न प्रकार से होता है। मानवीय चेतना के तीन प्रमुख स्तर हैं--इन्द्रियो के स्तर पर पाशविक, बुद्धि के स्तर पर बौद्धिक तथा आत्मा के स्तर पर आध्यात्मिक। इन्द्रियो के स्तर पर चेतना के स्थित होने से (भोग्य पदार्थो, मधुर भोजन इत्यादि के ग्रहण द्वारा) साधारण सुख उत्पन्न होता है। चेतना के बौद्धिक स्तर पर स्थित होने से ( काव्य-रसास्वादन द्वारा, वैज्ञानिक सिद्धान्त इत्यादि किसी बौद्धिक तत्त्व के ग्रहण द्वारा ) बौद्धिक सुख उत्पन्न होता है, जो इन्द्रिय-सुख की अपेक्षा अधिक गहव एव स्थायी होता है। नैतिक स्तर पर ( दीन दु:खी जनो की सेवा इत्यादि द्वारा ) उत्पन्न होने-वाला नैतिक सुख इन दोनो की अपेक्षा अधिक गहन एव स्थायी होता है। नैतिकता अध्यात्म का आधार अथवा पूर्वरूप है। आध्यात्मिक स्तर पर ( तत्त्वज्ञान अथवा भक्ति द्वारा दिव्य, भगवत् तत्त्व के ग्रहण से ) आध्यात्मिक सुख ( जिसे आनन्द कहा जाता है ) का उदय होता है, जो परम गहन एव स्थायी होता है तथा जो मानव का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। आध्यात्मिक आनन्द अनिर्वचनीय है।

सात्त्विक सुख का अर्थ है चेतना के ऊर्ध्वगामी होने पर तथा तामस एव राजस स्तर से ऊपर उठकर सत्त्वगुण मे स्थित होने पर अन्तरात्मा मे उत्पन्न एव अनुभूत सुख।[1] सात्त्विक सुख उच्चावस्था ( गुणातीत अवस्था ) को प्राप्त होकर अनायास ही नित्य एव परम आनन्द मे परिणत हो जाता है। सात्विक सुख का अनुभव मनुष्य को सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति कराता है। वास्तव मे चेतना के सत्त्वगुण मे स्थित होने पर तथा अन्त करण मे सात्त्विक सुख उत्पन्न होने पर अनायास ही तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है और मनुष्य को परमात्मा के साथ ऐक्य द्वारा परमोच्च दिव्यानुभूति प्राप्त हो जाती है। अतएव सात्त्विक सुख का वर्णन प्राय आध्यात्मिक आनन्द की भाँति कर दिया जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण तीनो प्रकार के सुखो के वर्णन द्वारा अर्जुन को राजस और तामस सुख के त्याग तथा सात्त्विक सुख के ग्रहण का उपदेश कर रहे हैं। सात्त्विक सुख श्रेष्ठ है, किन्तु वह सुगम एव सुलभ नही है, कठिन अभ्यास से प्राप्त होता है। सासारिक विषयभोग मनुष्य को तत्काल सुख देते है, किन्तु दैहिक सुख गहन एवं स्थायी नही होता। अभ्यास द्वारा सात्त्विक सुख का बार बार परिचय होने पर विवेकी मनुष्य को विषय-सुख तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं तथा वह सात्त्विक-सुख मे रमण करने लगता है।

सात्त्विक सुख प्राप्त होने पर सासारिक दु खो का अन्त हो जाता है। विषयभोगरत मनुष्य के लिए यह ससार अन्त मे निराशाप्रद एव दु.खरूप सिद्ध होता है, किन्तु सात्त्विक सुख मे रमण करने-वाले उत्तम पुरुष के लिए यह ससार एव जीवन मगलमय हो जाता है। विवेकी पुरुष को संसार का विषयभोगप्रधानस्वरूप दु खमय[1] तथा उसका प्रभुमयस्वरूप मंगलदायक प्रतीत होता है। संसार को बुरा कहते रहने से और लोगों को कोसते रहने

१. गीता ५.२१, २४ तथा ६ २८, सात्त्विक सुख मे मैं सत्त्वगुण मे स्थिर होकर परम प्रसन्न 'हूँ' ऐसा भाव बना रहता है, किन्तु साधक सत्त्वगुण का भी अतिक्रमण करके त्रिगुणातीतावस्था को प्राप्त कर लेता है तथा सर्वथा अहकार-विमुक्त हो जाता है, वह परमानन्द-स्वरूप परमब्रह्म के साथ ऐक्य स्थापित करके ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, जैसे अग्नि मे जाकर काष्ठ अग्नि हो जाता है।

१. **परिणामतापसस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन:।**

—पातञ्जल योगदर्शन, २.१५

—विवेकी के लिए भोगप्रधान संसार दु.खरूप है।

से अपना ही जीवन दूषित एव दुःखमय हो जाता है। ज्ञान, भक्ति, सेवा, परोपकार आदि के अभ्यास द्वारा जीवन मगलमय हो जाता है तथा मनुष्य सात्त्विक सुख मे रमण करने लगता है। सात्विक सुख से भौतिक दु खो की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् वह समस्त दु खो से ऊपर उठ जाता है।

सात्त्विक सुख का अभ्यास दुष्कर होता है। ध्यान, वैराग्य, विवेकपूर्ण विचार, अनुशासन, संयम एव मनोनिग्रह को साधना कठिन है तथा विषय-सुख के प्रलोभन पर विजय प्राप्त करना और चेतना को ऊँचे स्तर तक उठाना कठिन होता है। सात्त्विक सुख यत्नसाध्य है। साधारण मनुष्य को सासारिक सुख-भोग अमृतमय तथा आध्यात्मिक साधना विषमय प्रतीत होती है। किन्तु कठिन होने के कारण जो पहले विष प्रतीत होता है, वही अन्त मे अमृत अर्थात् कल्याणकारी सिद्ध होता है। छात्रो को चित्रपट आदि के प्रलोभन से मुक्त होना तथा आलस्य और प्रमाद (लापरवाही) छोडकर पुस्तकाध्ययन करना विषमय अर्थात् क्लेशप्रद प्रतीत होता है, किन्तु अन्त मे वही उनके लिए जीवन की सफलता एव उल्लास का कारण हो जाता है। दृढ सकल्प एव निरन्तर अभ्यास द्वारा साधना-काल की कठिनाई को पार करके विजय पानेवाला मनुष्य ही जीवन मे सफलता प्राप्त करता है।[1]

जब मनुष्य की बुद्धि सत्त्वगुण मे स्थित हो जाती है, राग-द्वेष से विमुक्त होकर निर्मल एव प्रशान्त हो जाती है अर्थात् सासारिक-आसक्ति, कामना, लोभ, क्रोध, मोह, मद, चिन्ता, भय आदि से विमुक्त हो जाती है। उसमे सात्त्विक प्रकाश एव प्रसाद (स्वच्छता एव सहज प्रसन्नता) का उदय हो जाता है।[1] सात्त्विक सुख उत्तम सुख है तथा इससे दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति (सदैव के लिए निवृत्ति) हो जाती है। मूढजन सासारिक सताप से दु खी होकर मानसिक शान्ति के लिए तामस और राजस सुख की ओर दौडते हैं, किन्तु उससे उनका सन्ताप उग्र एव तीक्ष्ण ही होता है। वास्तव मे राग द्वेष से मुक्त होने एव निर्विकार होने पर ही चित्त प्रशान्त होता है तथा क्षणिक राजस और तामस सुखो के पीछे दौडनेवाला मनुष्य कभी स्थायी सुख प्राप्त नही करता।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुख राजस स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुख मोहनमात्मन. ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थ तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

**शब्दार्थ :** यत् सुखं विषयेन्द्रियसयोगात् (भवति) तत् अग्रे अमृतोपमं परिणामे विषं इव = जो सुख विषय और इन्द्रियो के सयोग से (होता है) वह पहले अमृत के तुल्य (प्रतीत होता है) परिणाम मे विष के सदृश (होता है) तत् राजस स्मृत = वह राजस कहलाता है। यत् सुख अग्रे च अनुबन्धे च आत्मन मोहन = जो सुख पहले और परिणाम मे भी आत्मा को विमोहित करनेवाला है, तत् निद्रालस्यप्रमादोत्थं तामसं उदाहृत = वह निद्रा, आलस्य, प्रमाद से उत्पन्न तामस कहा गया है।

**वचनामृत :** जो सुख विषयो तथा इन्द्रियो के सयोग से होता है, वह पहले अमृत जैसा प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम मे विष जैसा होता है, वह राजसी है। जो सुख पहले

---

१ गीता में अभ्यास की महिमा का कथन अनेक स्थलो पर किया गया है। पतञ्जलि कहते हैं : योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: (चित्त-वृत्ति का निरोध योग है) तथा अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध (अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध होता है)।

१ 'आत्मबुद्धिप्रसादजं' के अनेक अर्थ किये गये हैं— अपनी बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न, आत्मा एव परमात्मा का विचार करनेवाली बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न इत्यादि।

तथा परिणाम मे भी आत्मा को विमोहित करता है, वह निद्रा, आलस, प्रमाद से उत्पन्न तामसी सुख है।

सन्दर्भ : राजस और तामस सुख का वर्णन किया गया है।

**रसामृत :** भगवान् ने मनुष्य को ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय ससार के जानने और जीवन-यात्रा चलाने के लिए दी है तथा जीवन-यात्रा का विधान एवं लक्ष्य निर्धारित किया है। इन्द्रियो तथा विषयो ( भोग्य पदार्थों ) के सयोग से अनित्य एव क्षणिक भौतिक सुख प्राप्त होता है।[1] पशु योनि केवल भोग-योनि है। पशु अखण्ड आनन्द की अवस्था नही जानते, किन्तु भगवान् ने सृष्टि के शिरोमणि मनुष्य को बुद्धि प्रदान की है, जिसके द्वारा वह बौद्धिक सुख एव आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त कर सकता है। मनुष्य-योनि केवल भोग-योनि ही नही, कर्म-योनि भी है। जो मनुष्य पशुओ की भाँति इन्द्रियो तथा विषयो ( भोग्य पदार्थों ) के सयोग से प्राप्त भौतिक अथवा दैहिक सुख की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हैं, वे पशुतुल्य होते हैं। विषय सुख भोगकाल मे अमृततुल्य अर्थात् अत्यन्त प्रिय प्रतीत होता है, किन्तु उसमे संलग्न रहना विष-मय अर्थात् घोर हानिप्रद एव दु.खप्रद सिद्ध होता है। मन तथा इन्द्रियो द्वारा विषय-सेवन मे रति और रुचि संसार के भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति उत्पन्न कर देती है। आसक्ति से कामना, लोभ, क्रोध, चिन्ता और भय आदि विकार उत्पन्न होकर मन को दूषित एव दुर्बल कर देते है। भौतिक आसक्ति मनुष्य को पाप-कर्म मे प्रवृत्त कर देती है। विचित्र विडम्बना है कि मनुष्य की सम्पूर्ण शक्ति ही क्षणिक विषयो मे क्षीण हो जाती है, किन्तु ससार के भोग क्षीण नही होते। भोगवादी मनुष्य भोगो में भटकता हुआ विनष्ट हो जाता है तथा वह जीवन मे न कोई उपलब्धि कर पाता है और न सुख शान्ति ही प्राप्त करता है। वास्तव मे, भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य को पाषाणखण्ड की भाँति सवेदनशून्य होने का उपदेश नही करते, बल्कि विषयासक्ति के कारण भोगो के पीछे दौडने तथा जीवन के लक्ष्य की उपेक्षा कर देने पर प्रहार करते है। विवेकशील पुरुष चेतना को पाशविक अर्थात् दैहिक स्तर से ऊपर उठाकर बौद्धिक एव आध्यात्मिक स्तर तक उन्नयन करता है। भोग-परायणता रोग तथा क्लेश का कारण है। उत्तम पुरुष बहिर्जगत् के क्षणिक एव तुच्छ राजस सुखो से ऊपर उठकर अपने भीतर ही आनन्द के अजस्र स्रोत को पा लेते हैं।

तामस सुख निकृष्ट सुख है तथा अत्यन्त पतन-कारक है। जो सुख प्रारम्भ से अन्त तक, भोग-काल तथा परिणाम मे, आत्मा को विमोहित करता है अर्थात् बुद्धि पर मूढता का पर्दा डाल देता है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न तामस सुख अधम होता है। मूढजन निद्रा और आलस्य मे पडे रहकर अपने कर्तव्य-कर्मो एव जीवन के दायित्वो के प्रति जागरूक नही होते हैं और जीवनी शक्ति को अकारण ही विनष्ट कर देते हैं। कर्तव्यपरायण एव कर्मशील पुरुष के लिए परिश्रम के उपरान्त निद्रा आदि के रूप मे विश्राम करना अत्यन्त आवश्यक है। निद्रा भोजन की भाँति महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है, किन्तु कर्तव्य-कर्म के प्रति प्रमादी ( लापरवाह ) होकर निद्रा और आलस्य मे पड़े रहना तथा बिना परिश्रम किये धनादि प्राप्त करने की लालसा करना अपने विनाश को आमन्त्रित करना है। बुद्धि का नितान्त अविवेकी अर्थात् विचारहीन होना तामस सुख की विशेषता है। आलस्य-वृत्ति बुद्धि को मोहित अथवा मूर्च्छित कर देती है और एक पर्दे की भाँति विचार-शक्ति को ढँक देती है।

---

१. नेत्र से सुन्दर रूप, कर्ण से मधुर ध्वनि, नासिका से सुगन्धि, जिह्वा से मिष्ट वस्तु का रस, त्वचा से सुकोमल स्पर्श इत्यादि द्वारा तत्काल उत्पन्न होनेवाला अस्थायी सुख विषय-सुख है।

श्रीकृष्ण सुख के तीनो स्तरो का परिचय देकर अर्जुन को उत्तम सुख अर्थात् अन्तःकरण की निर्मलता का स्थायी सुख प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं।[1] मनुष्य स्वाध्याय, सत्संग, ध्यान आदि के द्वारा चेतना को उच्चतम धरातल पर स्थित करके चैतन्यस्वरूप एव आनन्दस्वरूप सर्वोच्च सत्ता के साथ ऐक्य स्थापित कर सकता है तथा परमोच्च अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

शब्दार्थ : पृथिव्यां वा दिवि वा पुनः देवेषु तत् सत्त्व न अस्ति=पृथ्वी मे अथवा स्वर्ग मे अथवा फिर देवताओ में वह (वैसा) प्राणी नही है, यत् एभिः प्रकृतिजैः त्रिभिः गुणैः मुक्तं स्यात्=जो इन प्रकृति से उत्पन्न हुए तीन गुणो से रहित हो।[1]

वचनामृत : पृथ्वी मे अथवा स्वर्ग में अथवा पुनः देवो मे ही ऐसा (कोई भी) सत्त्व (प्राणी) नही है, जो इन प्रकृति से उत्पन्न तीन गुणो से रहित हो।

सन्दर्भ : सारा जगत् त्रिगुणमय है।

रसामृत : पृथ्वी के समस्त प्राणी तथा पदार्थ त्रिगुणात्मक है। स्वर्ग के प्राणियो तथा देवताओ मे भी प्रत्येक सत्त्व त्रिगुणात्मक है। वास्तव मे सारा जगत् ही त्रिगुणमयी माया का विकार अर्थात् माया से उत्पन्न होने के कारण त्रिगुणात्मक (सात्त्विक, राजस और तामस गुण से युक्त) है। दृश्यमान जगत् का प्रत्येक सत्त्व (प्राणी तथा पदार्थ) त्रिगुणमय है। भगवान् कहते है कि केवल ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख ही त्रिगुणात्मक नही हैं, बल्कि सम्पूर्ण जगत् का प्रत्येक प्राणी और पदार्थ त्रिगुणमय अर्थात् तीनो गुणो के प्रभाव से युक्त है। उत्कृष्ट ज्ञानी तत्त्वज्ञान द्वारा त्रिगुणात्मक प्रभाव का अतिक्रमण कर लेता है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

शब्दार्थ : परंतप=हे अर्जुन, ब्राह्मणक्षत्रियविशां च शूद्राणां कर्माणि=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यो तथा शूद्रो के कर्म, स्वभावप्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि=स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणो से विभक्त किये गये हैं। शमः दमः शौचं तपः

---

[1] सत्त्वगुण की प्रधानता अथवा उसका उत्कर्ष होने पर मनुष्य में शान्तभाव, क्षमाभाव, वैराग्यभाव तथा ज्ञान प्राप्ति की प्रवृत्ति अथवा ज्ञान की ओर उन्मुखता उत्पन्न होती है। सत्त्वगुण आनन्द का अभिव्यंजक है तथा उसका उत्कर्ष होने पर शान्त मनोभाव मे आनन्दांश स्फुट एव अभिव्यक्त होता है। गुण जड होते हैं। सत्त्वगुण दर्पण की भाँति आनन्द का अभिव्यंजक होता है। सत्त्वगुण प्रकाशक तथा आह्लादक है। सत्त्वगुण के उत्कर्ष मे चिदंश अथवा आनन्दांश की अभिव्यक्ति तो होती है, किन्तु पूर्णानन्द सत्त्व से ऊपर उठने पर ही होता है। रजोगुण मे आसक्ति है तथा तमोगुण मे मूढवृत्ति होती है। आसक्ति की शृंखला प्रबल होती है तथा जीर्ण नही होती। विषयानन्द क्षणिक होता है तथा आनन्द का सूचक मात्र अथवा आभासमात्र है। आभास अपने मूल का अनुमापक एव सूचक होता है। क्षणिक विषयानन्द की दासता अखण्ड आनन्द की प्रतिष्ठा मे बाधक होती है। रजोगुण तथा तमोगुण मे चिदंश अथवा आनन्दांश अधिक स्फुट नहीं होते। विषयो का आलम्बन लेकर आनन्दांश अथवा आनन्दाभास परमानन्द का ही संकेत करता है। यह वेदान्त है। गीता मे सांख्य का पर्यवसान वेदान्त में है।

[1] इस श्लोक का अन्वय तथा अर्थ अनेक प्रकार से किया गया है।

**क्षान्ति आर्जवं आस्तिक्यं**=शम ( अन्त करण, मन आदि का निग्रह ), दम ( इन्द्रियों का दमन ), शौच ( शुचिता, शुद्धि ), तप, क्षान्ति ( क्षमाभाव ), आर्जव ( ऋजुता, सरलता ), आस्तिक्य ( आस्तिक बुद्धि ), **ज्ञानं च विज्ञानं एव**=ज्ञान ( शास्त्रज्ञान ) और विज्ञान ( परमात्मतत्त्व का अनुभव ) भी, **ब्रह्मकर्म स्वभावज**= ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। **शौर्यं तेज. धृतिः दाक्ष्यं च युद्धे अपि अपलायनं**=शूरता, तेज, धैर्य, दक्षता और युद्ध मे भी अपलायन ( न भागना, दृढता ), **दानं च ईश्वरभावः क्षात्रं स्वभावजं कर्म**=दान और ईश्वरभाव ( स्वामीभाव, शासकभाव अथवा प्रजापालन ) क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म ( हैं )। **कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजं**=कृषि, गोपालन और वाणिज्य ( क्रयविक्रयरूप व्यापार ) वैश्य के स्वाभाविक कर्म ( हैं ), **परिचर्यात्मकं शूद्रस्य अपि स्वभावजं कर्म**= परिचर्या ( सेवा ) शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म ( है )।

**वचनामृत :** हे परतप, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यो और शूद्रो के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणो द्वारा विभक्त किये गये हैं। शम ( अन्त करण अर्थात् मन इत्यादि का निग्रह ), इन्द्रिय-दमन, तप, शुचिता, क्षमाभाव, सरलता, ज्ञान, विज्ञान—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। शूरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध मे अपलायन ( दृढता ), दान, स्वामीभाव ( शासकभाव )—ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि, गोपालन, व्यापार—ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

**सन्दर्भ :** ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्वाभाविक कर्मों ( कर्तव्यो ) का वर्णन है।

**रसामृत :** जनसमाज मानव-देह की भाँति अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गो के परस्पर सहयोग के आधार पर प्रगति करता है। मानव-देह मे बुद्धि, बाहु, उदर और चरण समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं तथा सभी के परस्पर सहयोग से न केवल सम्पूर्ण देह का, बल्कि स्वय उनका भी पोषण होता है। इसी प्रकार समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार प्रमुख अङ्ग हैं, जिनके परस्पर सक्रिय सहयोग से न केवल सम्पूर्ण जनसमाज का, बल्कि स्वय उनका भी विकास होता है। समाज की समृद्धि एव शाति ब्राह्मण-वर्ग, क्षत्रिय-वर्ग, वैश्य-वर्ग तथा शूद्र-वर्ग के अर्थात् ज्ञानबल, बाहुबल, धनबल तथा श्रमबल के परस्पर समन्वय एव सहयोग पर ही आधारित है। समाज के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग समान है तथा कोई ऊँचा अथवा नीचा नही है। जिस समाज मे ब्राह्मण-वर्ग के ज्ञान, वैराग्य और त्याग की, क्षत्रिय-वर्ग के शौर्य और पराक्रम की, वैश्य-वर्ग के धनोपार्जन और दान की तथा शूद्र-वर्ग के श्रम की प्रतिष्ठा होती है, उस समाज का अभ्युदय अवश्य होता है। जिस समाज मे परस्पर घृणा, विद्वेष तथा स्वार्थ के कारण शोषण एव सघर्ष होता है, वह नष्टभ्रष्ट हो जाता है।

ब्राह्मण आदि वर्णों के जन्मजात स्वभाव के अनुसार ही उनके गुण होते हैं तथा गुणो के आधार पर ही उनके कर्म विभक्त किये जाते हैं। मनुष्य का स्वभाव पूर्व-जन्म के सस्कारो से ही बनता है तथा स्वभाव के अनुसार मनुष्य के गुण ( सत्त्व, रज, तम ) निश्चित होते हैं। सत्त्वगुण की प्रधानता से मनुष्य ब्राह्मण होता है तथा शम, दम, तप, त्याग, क्षमा इत्यादि उसके स्वाभाविक कर्म होते हैं। सत्त्वमिश्रित रजोगुण की प्रधानता से मनुष्य क्षत्रिय होता है तथा शौर्य और तेज उसके स्वाभाविक कर्म होते हैं। तमोमिश्रित रजोगुण की प्रधानता होने पर मनुष्य वैश्य होता है तथा उत्पादन, धनोपार्जन, व्यापार और दान उसके स्वाभाविक कर्म होते हैं। रजोमिश्रित तमोगुण की प्रधानता होने पर मनुष्य शूद्र होता है तथा शारीरिक श्रम करना उसका स्वाभाविक कर्म होता है।[1] आत्मज्ञान को प्राप्त होनेवाला पुरुष ब्राह्मणपदवाच्य होता है। तत्त्वज्ञान एव भगवत्प्राप्ति मे सबका समान अधिकार है, क्योकि एक

---

१ गीता में ४ १३ में चारो वर्णों की चर्चा है।

ही चैतन्यस्वरूप आत्मा सबमे विराजमान है। भेद-बुद्धि के लुप्त होने पर प्रत्येक मनुष्य ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है।[1] प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वभाव-विहित कर्म करना सुकर होता है। प्रत्येक मनुष्य स्वभावानुसार अपने कर्म अथवा स्वधर्म का पालन करके समान रूप से परमेश्वर को प्राप्त करने का अधिकारी है।

सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मण के कर्मों की विवेचना करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और अस्तिक्य का पालन करनेवाला पुरुष ब्राह्मणपदवाच्य होता है। शम का अर्थ है अन्त करण अथवा मन और बुद्धि का विषयो से उपरत होना। मनुष्य विवेक ( उत्तम विचार ) द्वारा मन और बुद्धि का शमन कर सकता है। दम का अर्थ है बाह्य करण ( नेत्र, नासिका इत्यादि ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो ) का निग्रह। शम अर्थात् मन और बुद्धि का संयम होने पर ही दम अर्थात् इन्द्रियो का निग्रह होता है।

तप का अर्थ है अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियो तथा देह को अनुशासित एव सयमित करने के लिए कष्टपूर्ण साधना करना। तप के निमित्त अपनी क्षमता से अधिक अथवा मनमाना कष्ट उठाना तामसिक अर्थात् मूढतापूर्ण है। उपवास, मौन-धारण इत्यादि तप के अन्तर्गत हैं। स्वधर्म का दृढ पालन भी तप है।[2]

क्षान्ति का अर्थ है क्षमाभाव अर्थात् सबके प्रति प्रेम, सद्भावना और करुणाभाव रखना, अत्यन्त सहनशील होना तथा किसीके प्रति द्वेष, वैर, अथवा प्रतिशोध ( बदला लेने की भावना ) न होना। आशीर्वाद देना ब्राह्मण का स्वभाव है, शाप देना अत्यन्त अशोभनीय है। वास्तव मे आन्तरिक शौच होने पर अनायास ही क्षमा उदित हो जाती है। उत्तम पुरुष दण्ड देते हुए भी न्याय करते हैं तथा मन मे घृणा एव विद्वेष को उत्पन्न नही होने देते।[1] चरित्र की महानता क्षमाभाव से आकलित होती है।

आर्जव का अर्थ है ऋजुता अर्थात् सरलता, सीधा, सच्चा, अकुटिल और निष्कपट रहना। आर्जव भी आन्तरिक शौच के अन्तर्गत है, किन्तु इन गुणो पर बल देने के लिए पृथक्-पृथक् गणना की गयी है। उत्तम पुरुष कुटिल एव दुष्टजनो की कुटिलता तथा दुष्टता के प्रति सजग और सावधान रहकर अपनी सुरक्षा करते हैं, किन्तु वे कदापि अपनी उत्तमता का त्याग नही करते, न प्रतिशोधात्मक व्यवहार करते हैं।

ज्ञान का अर्थ है अध्ययन, श्रवण इत्यादि से जीवनोपयोगी तथा कल्याणकारी ज्ञान अर्जित करना।

विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान तथा ज्ञान का अनुभवात्मक पक्ष। अनुभव होने पर ही ज्ञान का सत्य प्रमाणित होता है। आस्तिक्य का अर्थ है परमेश्वर मे विश्वास तथा माता-पिता और गुरु-जन के प्रति श्रद्धाभाव। वास्तव मे मनुष्य का नैतिक ( भला, अच्छा ) होना ही पर्याप्त नही है, उसे चेतना के ऊर्ध्वीकरण अथवा परमात्मोन्मुखी करने से परिपूणता एव अखण्ड आनन्द की प्राप्ति का प्रयत्न भी करना चाहिए। इसके अतिरिक्त केवल नैतिकता पर ही बल देनेवाले मनुष्य मे अनेक बार अहङ्कार एव यश की प्रबल कामना का उदय हो जाता है और वह अनेक बार न केवल अहकार एव यश-कामना की तृप्ति के लिए अनुचित कर्म कर लेता है, बल्कि गहन एव स्थायी

१ महाभारत, शान्तिपर्व में ऐसा कहा गया है।

२. स्वधर्मवर्तित्वं तप.।—व्यास

१ बाह्यो चाध्यात्मिके चैव
दु खे चोत्पादिते क्वचित्।
न कुप्यति न वाहन्ति
सा क्षमा परिकीर्तिता ॥—बृहस्पति

—क्रोध का कारण होने पर भी मन में विकार न होना क्षमा है।

शान्ति भी प्राप्त नही करता । केवल परमात्मा की ओर उन्मुख होने पर ही अखण्ड आनन्द एव परम शान्ति प्राप्त हो सकती है ।

शम इत्यादि वर्णित नौ गुण सत्त्वगुण से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मणपदवाच्य पुरुष अथवा सात्त्विक पुरुष के लिए स्वाभाविक हैं । इन्हे धारण करने का प्रयत्न करनेवाला पुरुष ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी है ।[1]

सम्पूर्ण राष्ट्र के समक्ष अपने उत्तम विचार, वचन और व्यवहार का आदर्श प्रस्तुत करनेवाले 'ब्राह्मण' हैं, किन्तु राष्ट्र के प्रहरी क्षत्रियपदवाच्य वे शूर-वीर होते हैं, जो अपने माता-पिता, पत्नी, भाई, सन्तान तथा धन-सम्पत्ति और अपने जीवन का मोह त्यागकर तथा सहर्ष प्राणो की बाजी लगाकर राष्ट्र की रक्षा करते है । अत्याचारी एव बर्बर आक्रान्ताओ को परास्त करके राष्ट्र के गौरव की सुरक्षा एवं वृद्धि करनेवाले वीर पुरुष धन्य है । वे केवल मातृभूमि और देशवासियो की ही रक्षा नही करते, बल्कि राष्ट्र के धर्म, संस्कृति, दर्शन और

१ ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं न कामार्थाय जायते ।
इह क्लेशाय तपसे प्रेत्य त्वनुपमं सुखम् ॥
—महाभारत, शान्तिपर्व

—ब्राह्मण का यह देह काम के लिए उत्पन्न नही होता । यह पृथ्वी पर तप के लिए तथा उसके पश्चात् अनुपम सुख के लिए होता है । गीता मे इन गुणो की अन्यत्र ( अध्याय १२, १३, १६ ) चर्चा की गयी है । अन्य ग्रन्थो मे भगवान् विष्णु, वृहस्पति, गौतम, मनु, देवल, याज्ञवल्क्य इन गुणो का वर्णन अन्य प्रकार से करते हैं ।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा :
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥
—मनुस्मृति, १० ७५

—अध्यापन, अध्ययन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना ये छह कर्म ब्राह्मणो के हैं ।

श्रेष्ठ परम्पराओ की भी रक्षा करते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि युद्ध करना क्षत्रिय का स्वधर्म है और युद्ध से पलायन करना उसके लिए महापाप है । राष्ट्र की रक्षा के लिए हिंसात्मक युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है । कर्तव्यरूप स्वधर्म-पालन परम धर्म है तथा कर्तव्य-पालन के अन्तर्गत न केवल अहिंसा परमधर्म है, बल्कि हिंसा भी परमधर्म है । राष्ट्र की सुरक्षा के लिए युद्ध करते हुए प्राणोत्सर्ग करनेवाले वीरो के लिए स्वर्ग-द्वार खुले रहते हैं और देवगण उनका स्वागत एव अभिनन्दन करते हैं ।[1] वीरमाता प्रसन्न होकर अपने पुत्र को तथा वीर-पत्नी अपने पति को मस्तक पर तिलक अंकित करके युद्ध क्षेत्र मे भेजती हैं और उनके शरीरपात होने को वीरगति की सज्ञा देती है । वीरो के रक्त से सिंचित भूमि तीर्थ हो जाती है और लोक उनके सुयश की गाथा गाने मे गौरव का अनुभव करता है । वीरो के पराक्रम एव शौर्य का उल्लेख स्वर्णाक्षरो मे किया जाता है । वीर क्षत्रिय आततायी एव आक्रामक शत्रु को ललकारकर पूरी शक्ति से उसके साथ जूझते है और मरकर भी अमर हो जाते हैं ।

उत्तम क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध मे पलायन न करना, दान तथा ईश्वरभाव ।[2]

१ गीता, २.३१ से ३८ तक ।

२. क्षत्रियाणा बल तेजो ब्राह्मणाना क्षमा बलम् ।
क्षमा मा भजते यस्मात् गम्यतां यदि रोचते ॥
—महाभारत, आदिपर्व

—वशिष्ठ ने नन्दिनी गौ से कहा था—क्षत्रियो का बल तेज है, ब्राह्मणो का बल क्षमा है । मैं क्षमा धारण करता हूँ, तुम्हे जाना प्रिय हो तो जाओ ।

रामायण, महाभारत तथा अनेक संस्कृत काव्य वीर-गाथाओ से पूर्ण हैं । शिवि, हरिश्चन्द्र, रघु, कर्ण आदि वीर दान-वीर भी थे ।

शौर्य का अर्थ है साहसपूर्वक पराक्रम, भयरहित होकर आततायी शत्रु पर प्रहार करना।

तेज का अर्थ है त्यागपूर्ण वीरपुरुष का चारित्रिक प्रभाव एव प्रताप। सूर्य की पूजा उसके तेज के कारण होती है। वीर का आदर वीरता के कारण होता है। तेजस्वी वीर के तेज का रहस्य उसकी धृति अर्थात् दृढता मे निहित होता है। वीर सकटग्रस्त होने पर भी निर्भीक एव दृढ होता है। वह युद्ध-कला मे कुशल होता है। युद्ध-क्षेत्र वीर के लिए धर्मक्षेत्र होता है तथा वह कायरतापूर्वक पलायन नही करता।

वीरपुरुष कभी लोभी नही होता तथा उचित अवसर पर सामर्थ्यानुसार सहर्ष दान करने से पीछे नही हटता। इतिहास साक्षी है कि असख्य क्षत्रिय शासको ने प्रजा के कल्याण के लिए आवश्यकता होने पर सर्वस्व दान कर दिया। वास्तव मे प्रजाहित मे सहर्ष दान देना क्षत्रिय वीरो के ईश्वरभाव (शासक-धर्म) की शोभा है। उत्तम शासक त्याग के आधार पर शासन करते हैं तथा निकृष्ट शासक शोषण द्वारा वैभवपूर्ण होकर विलास-निमग्न हो जाते है। क्षत्रिय वीर साहसपूर्वक दुष्टो का दमन एव सन्तो का सरक्षण करते हैं तथा निकृष्ट शासक दुष्टो का सहारा लेकर शासन चलाते हैं और सत्पुरुषो पर कुठाराघात करते हैं। उत्तम शासक धर्म की प्रस्थापना तथा अधर्म का उच्छेद करते हैं। जहाँ धर्म होता है, वही विजय होती है। सत्य की सदैव जय होती है, असत्य की जय कदापि नही होती।[1] क्षत्रिय न्याय के पक्षधर एव परिपालक होते हैं तथा सत्ता पाकर मदमत्त नही होते, बल्कि प्रजापालन के दायित्व का निर्वाह करते हैं।

समाज के भरण-पोषण और समाज की समृद्धि का दायित्व वैश्य-वर्ग पर है। वैश्य का धर्म है उत्पादन करना, धनोपार्जन करना, धन-सग्रह करना और दान एव सहायता द्वारा समाज का पोषण करना। वैश्य-वर्ग समाज का मेरुदण्ड है तथा अर्थ-सम्पन्नता द्वारा समाज की उन्नति एव प्रगति का दृढ आधार है। वास्तव मे, धर्म रक्षा का मुख्य दायित्व वैश्य-वर्ग का ही है। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एव उद्योग करना वैश्यो के स्वाभाविक कर्म हैं। वैश्यपदवाच्य मनुष्यो के लिए परिश्रम और ईमानदारी से प्रचुर धनोपार्जन करना तथा अधिकतम दान द्वारा विद्यालय, चिकित्सालय, अनाथालय, देवमन्दिर, गोशाला इत्यादि का निर्माण करना स्वाभाविक कर्म हैं।[2]

---

प्रजाना रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासत ॥
—मनुस्मृति, १ ८९

—प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, विषयो मे आसक्त न होना, ये सक्षेप में क्षत्रिय के कर्म हैं।

क्षताद् त्रायते क्षत्रिय. अर्थात् क्षत (कष्ट) से बचानेवाला क्षत्रिय होता है।

---

१ यत कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जय।

—भीष्म ने दुर्योधन को समझाया था कि जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ धर्म है, जहाँ धर्म है वहाँ जय है।

गीता के अन्त मे भी ऐसा ही कहा गया है।

सत्यमेव जयते नानृतम्—सत्य की जय होती है, असत्य की नहीं।

प्रजा के हित को गौण मानकर निकृष्ट नीतियों एव युक्तियों द्वारा स्वय को स्थिर बनाने का प्रयत्न करनेवाले शासक, प्रशासक, मन्त्री एव अधिकारी पाप के भागी होते हैं।

२. देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम्॥
—श्रीमद्भागवत

—देवता, गुरु, भगवान् के प्रति भक्ति, तीन पुरुषार्थो (धर्म, अर्थ और काम) की रक्षा करना, आस्तिकता, उद्योग और व्यवहार में निपुणता—ये वैश्य के लक्षण हैं।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
—मनुस्मृति, १ ९०

व्यापार में निर्धन-वर्ग का शोषण तथा विक्रय-सामग्री मे मिलावट करना पाप है। वैश्य प्रजा-पोषक होता है, प्रजा शोषक नही। वैश्य दीनबन्धु होता है, दीन-दु खी जन का त्राता होता है।

समाज की समस्त प्रगति का आधार श्रम है। शूद्रपदवाच्य मनुष्य श्रम द्वारा समाज-सेवा करते हैं तथा कृषि, उद्योग, वाणिज्य इत्यादि मे श्रम द्वारा उत्पादन और समृद्धि मे सहयोग देते हैं।[1]

यह महत्त्वपूर्ण नही है कि कौन व्यक्ति ज्ञान दे रहा है और कौन श्रम कर रहा है, किन्तु यह अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि कौन व्यक्ति अपने कर्म को भली प्रकार कर रहा है। समाज एक व्यवस्था है, जिसके सुगठन के लिए सभी अगो को अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिए। समाज का चतुर्विध सगठन समाज के समस्त अग-प्रत्यगो के हित मे किया जाता है तथा उसमे कही ऊँच-नीच नही होती। परस्पर सहयोग ही समाज के अभ्युदय, उन्नति, समृद्धि एव सुख-शान्ति का आधार है।

**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नर.।**
**स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥**
**यतः प्रवृभूर्तानां येन सर्वत्तिमदं ततम्।**
**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः ॥४६॥**

**शब्दार्थ** . **स्वे स्वे कमणि अभिरत नर. ससिद्धि लभते**=अपने-अपने स्वाभाविक कम मे लगा हुआ मनुष्य ससिद्धि ( सफलता, परमात्मा की प्राप्तिरूप परमसिद्धि ) को प्राप्त करता है, **यथा स्वकर्मनिरत सिद्धि विन्दति तद् शृणु**=जिस प्रकार अपने ( स्वाभाविक ) कर्म मे लगा हुआ ( परम ) सिद्धि को प्राप्त करता है, वह सुन। **यत भूताना प्रवृत्ति**=जिस ( परमेश्वर ) से समस्त भूतो ( प्राणियो और पदार्थों ) की उत्पत्ति हुई है, **येन इदं सर्वं ततं**=जिससे यह सारा ( जगत् ) व्याप्त है, **तं स्वकर्मणा अभ्यर्च्य**=उस परमेश्वर को अपने ( स्वाभाविक ) कर्म से अर्चित कर, **मानवः सिद्धि विन्दति**=मनुष्य परमसिद्धि ( भगवत्प्राप्ति ) को प्राप्त कर लेता है।[1]

**वचनामृत :** अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों मे अभिरत हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप ससिद्धि को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार अपने ( स्वाभाविक ) कर्म में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है, तू वह सुन। जिस परमेश्वर से समस्त प्राणियो की उत्पत्ति हुई है तथा जिससे यह सम्पूर्ण सृष्टि व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा अभ्यर्चना ( पूजा ) करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

**सन्दर्भ** भगवान् को प्राप्त करने का सरल मार्ग अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा उसकी पूजा करना है। श्लोक ४६ कण्ठस्थ कर लेना चाहिए।

**रसामृत** परमेश्वर को प्राप्त करना मनुष्य-मात्र का अधिकार है। परमेश्वर की दृष्टि मे कोई ऊँच-नीच अथवा योग्य-अयोग्य नही है। परमेश्वर को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं, किन्तु कर्म-मार्ग अत्यन्त सरल और सुगम है। अपने स्वाभाविक कर्म मे अभिरत होकर प्रत्येक मनुष्य परमसिद्धि प्राप्त कर सकता है। शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ब्राह्मण-पदवाच्य पुरुष के स्वाभाविक कर्म हैं। शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध मे अपलायन, दान, शासकभाव

---

—मनु के अनुसार पशुपालन, दान, यज्ञ, अध्ययन, उचित व्याज लेकर दूसरो को सहायता के लिए ऋण देना, ये वैश्य के स्वाभाविक धर्म हैं।

१ एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयया ॥
—मनुस्मृति, १ ९१

—प्रभु ने शूद्र के लिए सारे समाज की श्रम द्वारा सेवा करना कर्म कहा है। जो भी मनुष्य अधिक बुद्धि-शाली नही हैं तथा केवल शारीरिक श्रम ही कर सकते हैं, उन्हे श्रम द्वारा सहयोग देना चाहिए।

१ ससिद्धि एव सिद्धि के अनेक अर्थ किये गये हैं—नैष्कर्म्य-सिद्धि, परमपद-प्राप्ति आदि। वास्तव मे परमगति, परमपद, परमानन्द की प्राप्ति तथा निर्वाण, ब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के पर्याय हैं।

क्षत्रियपदवाच्य पुरुष के स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, उद्योग और दान देना वैश्यपदवाच्य पुरुष के स्वाभाविक कर्म हैं तथा शारीरिक श्रम द्वारा सेवा करना शूद्रपदवाच्य पुरुष का स्वाभाविक कर्म है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करना भगवत्प्राप्ति का साधन है। कोई कर्म ऊँचा अथवा नीचा नही है। मनुष्य के लिए अपना स्वाभाविक कर्म ही श्रेष्ठ होता है। अपने स्वाभाविक कर्म को किसी अन्य मनुष्य के स्वाभाविक कर्म की अपेक्षा तुच्छ अथवा महान् समझना अविवेक है। शूद्र का श्रम करना ब्राह्मण के तप और वेदपाठ की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नही है। वास्तव मे यह महत्त्वपूर्ण नही है कि मनुष्य कौनसा कर्म कर रहा है, बल्कि यह महत्त्वपूर्ण है कि वह उसे कैसे कर रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को यह सकेत कर रहे हैं कि वह क्षत्रिय है और उसका स्वाभाविक कर्म युद्ध करना है। वैराग्य लेकर वन मे तप करना उसका स्वाभाविक कर्म नही है।

कर्म द्वारा ससिद्धि अथवा परमपद प्राप्त करने की विधि का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य स्वाभाविक कर्म के आचरण द्वारा भगवान् की पूजा करके परमसिद्धि प्राप्त कर लेता है। भगवान् की प्रसन्नता के लिए स्वाभाविक कर्म का आचरण करना ही कर्म द्वारा भगवान् की पूजा करना है। सृष्टि मे व्याप्त भगवान् का सर्वत्र अनुभव करते हुए और भगवान् से युक्त होकर अपना कर्तव्य-कर्म करना तथा कर्म का समर्पण करना भगवान् की पूजा ही है।[1] सर्वशक्तिमान् भगवान् ही समस्त चराचर जगत् के सर्जक, पालक और सहारक हैं तथा समस्त चराचर जगत् उन्हीसे व्याप्त है। जगत् उसका ही स्वरूप है।[1] भगवान् सर्वान्तर्यामी है तथा प्राणिमात्र की चेतना का स्रोत एव परमप्रेरक है। कर्मयोगी समस्त प्राणियो के प्रति सद्भावना रखते हुए सबको सुख देने का प्रयत्न करता है। सभी प्राणी भगवान् के रूप हैं, समस्त सृष्टि भगवत्स्वरूपा है। मनुष्य को किसीसे घृणा करने का तथा ससार को कोसने का अधिकार नही है, बल्कि सबके प्रति प्रेमपूर्ण एव सद्भावनापूर्ण होकर अपना कर्तव्य करना चाहिए। मनुष्य अन्य मनुष्य को केवल मनुष्य मानकर घृणा एव शोषण करता है, किन्तु मनुष्य को भगवान् का आवास्य मानने पर किसी मनुष्य के प्रति घृणा एव शोषण का भाव नही रह सकता। कर्म को भगवान् की पूजा के पुष्प माननेवाला मनुष्य कर्म के सम्पादन मे रुचि लेता है, तथा उत्तम कर्म ही करता है। वह कर्म को भगवत्पूजा का साधन मानता है तथा कर्म को बोझ नही मानता। वह दूसरो के कर्म से अपने कर्म की तुलना नही करता तथा अपने कर्म को दूसरो के कर्म की अपेक्षा तुच्छ अथवा अधिक कष्टदायक नही मानता। कर्तव्य-कर्म करते रहने से मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर लेता है। कर्तव्य-कर्म करना भगवान् की पूजा है तथा परमपद-प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है।

**श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात।**
**स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥**
**सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।**
**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥४८॥**

**शब्दार्थ :** स्वनुष्ठितात् परधर्मात् विगुण. स्वधम श्रेयान्—सुअनुष्ठित अर्थात् उत्तम प्रकार अनुष्ठित (किये

---

1 योगस्थः कुरु कर्माणि—गीता, २ ४८

यद्यद् कर्म करोमि तत्तदखिल शम्भो तवाराधनम्।

—शङ्कराचार्य

—मैं जो कुछ कर्म करता हूँ वह, हे शिव, तेरी पूजा है।

1 गीता, २ १७, ८ २२, ९ ४, ११ ३८

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।

—तैत्तिरीय उप०, ३ १

—जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं तथा जीवन पाते हैं, वह ब्रह्म है।

हुए ) परधर्म ( दूसरे के कर्तव्य-कर्म ) से गुणरहित ( भी ) स्वधर्म ( अपना कर्तव्य-कर्म ) श्रेष्ठ है, **स्वभावनियत कर्म कुर्वन् किल्बिष न आप्नोति**=स्वभाव से नियत किये हुए ( स्वधर्मरूप ) कर्म को करते हुए ( मनुष्य ) पाप को नही प्राप्त होता। **कौन्तेय**=हे अर्जुन, **सदोषं अपि सहजं कर्म न त्यजेत्**=सदोष भी अपने कर्म को नही छोडना चाहिए, **हि धूमेन अग्निः इव सर्वारम्भा दोषेण आवृताः**=क्योकि धूम से अग्नि के समान सब आरम्भ ( कर्म ) दोष से आवृत हैं।

**वचनामृत :** उसम प्रकार अनुष्ठित दूमरे के कर्तव्य-कर्म की अपेक्षा अपना गुणरहित भी कर्तव्य-कर्म श्रेष्ठ है, क्योकि मनुष्य स्वभाव से नियत ( स्वाभाविक ) स्वधर्म ( अपना कर्तव्य-कर्म ) करते हुए पाप को प्राप्त नही होता। हे अर्जुन, दोषयुक्त भी अपने सहज कर्म को नही छोडना चाहिए, क्योकि धूम से अग्नि की भाँति सभी कर्म किसी न किसी दोष से युक्त होते हैं।

**सन्दर्भ :** स्वधर्म-पालन ही श्रेष्ठ है। इन दो श्लोकों को कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत** भगवान् श्रीकृष्ण घोषित करते हैं कि स्वधर्म अर्थात् अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म को हेय अथवा तुच्छ कहकर उसका त्याग कदापि नही करना चाहिए। मनुष्य को अपने स्वाभाविक कर्म की तुलना किसी अन्य के स्वाभाविक कर्म से नही करनी चाहिए। सभी स्वाभाविक कर्म समान रूप से महत्त्वपूर्ण एव कल्याणप्रद होते है। अपना स्वाभाविक अथवा सहज कर्तव्य-कर्म स्वधर्म कहलाता है तथा दूसरे का स्वाभाविक अथवा सहज कर्तव्य कर्म परधर्म है। मनुष्य अपने ही सहज कर्म को सम्पन्न करके विशिष्टता प्राप्त कर सकता है, किसी अन्य के सहज कर्म द्वारा कदापि विशिष्टता प्राप्त नही कर सकना है। ब्राह्मणपदवाच्य पुरुष के लिए अहिंसा का पालन सहज धर्म है, किन्तु क्षत्रिय के लिए धर्म युद्ध मे हिंसा करना सहज धर्म है। मनुष्य को अपना सहज धर्म सदोष होने पर भी नही छोडना चाहिए।[1] हिंसा सदोष प्रतीत होने पर भी स्वधर्म के रूप मे पाप नही होती, कल्याणकारी होती है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को यह सकेत कर रहे है कि उसे युद्ध मे सहजधर्म के पालन मे हिंसा करने से किल्विप अर्थात् पाप नही लगेगा।

किसी न किसी अश मे सभी कर्म सदोष होते हैं, जैसे अग्नि धूम्र से सदैव ओत-प्रोत होती है। प्रायः सभी लोग अपने कर्म को कठिन और दूसरे के कर्म को सरल ( आसान और हल्का ) कहते है तथा अल्प कर्म करके अधिक लाभ लेना चाहते हैं। अविवेकी मनुष्य अपने कतव्य-कर्म के पालन मे विघ्न-बाधाओ की चर्चा करते हुए अन्य मनुष्यो तथा परिस्थितियो को दोष देते है तथा कर्तव्य-कर्म त्याग देते हैं। अपना स्वाभाविक कर्म करते रहने से ही व्यक्तित्व का विकास होता है तथा मनुष्य पूर्णता की ओर अग्रसर होता है।

भगवान् ने मनुष्य को आयु ( जीवन की अवधि ) तथा शक्ति ( कर्म करने की क्षमता ) प्रदान की है। समय तथा शक्ति का सदुपयोग करना ही जीवन की कृतार्थता है। धर्म, सद्ग्रन्थो एव सद्गुरु से प्रेरणा लेकर विचार एव कर्म द्वारा व्यक्तित्व के विकास मे सचेष्ट रहना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है।[2]

---

१. स्वधर्म, स्वकर्म, नियतधर्म, स्वाभाविक कर्म, सहज कर्म पर्यायवाची हैं तथा कर्मयोग के अन्तर्गत हैं।

२. धर्म का उद्देश्य है मनुष्य को नियन्त्रित रखना तथा भौतिकवाद से ऊपर उठाकर सात्विकता एवं आध्यात्मिक सत्य की ओर प्रेरित करना। शासक भी धर्म द्वारा नियन्त्रित होता है। स्वेच्छाचार सर्वथा वर्जित है। राजसूय-यज्ञ मे राजा कहता है—'अदण्ड्योऽस्मि' ( मैं दण्ड से परे हूँ ), किन्तु राजपुरोहित तीन बार उसके सिर पर पलाश-दण्ड से प्रहार करके कहता है, 'धर्मदण्ड्योऽसि' ( तू धर्म द्वारा दण्डनीय है )।

जिन्हे अपना लेने पर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होकर पूर्णत्व प्राप्त कर लेता है। ये सभी साधन परस्पर सबद्ध एव परस्पर आश्रित हैं। ज्ञानयोग मे राग-द्वेष-मुक्ति, एकान्त, वैराग्य, ध्यान आदि पर बल दिया जाता है, और कर्मयोग मे कर्तव्य-कर्म पर।

ज्ञानयोग का प्रमुख साधन बुद्धि की विशुद्धता है। मनुष्य की सफलता और विफलता, उत्कृष्टता और निकृष्टता तथा सुख और दु ख बुद्धि पर ही निर्भर हैं। यदि बुद्धि सबल होती है तो मनुष्य मन और इन्द्रियो पर विजय पाकर लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। बुद्धि शुद्ध होने पर सबल और अशुद्ध होने पर निर्बल हो जाती है। श्रेष्ठ वैदिक मन्त्रो के द्वारा बुद्धि की शुद्धता एव सबलता के लिए प्रार्थना की जाती है।[1] मनुष्य भगवान् से प्रार्थना करते हुए चेतना को ऊर्ध्वमुखी कर सकता है तथा तामस और राजस स्तर से ऊपर उठकर सत्त्व के प्रकाश एव प्रशान्त भाव मे स्थित हो सकता है। बुद्धि की विशुद्धता का अर्थ है भौतिक प्रलोभन, राग-द्वेष, स्वार्थ, कपट आदि दोषो से मुक्त होकर सात्त्विकता मे स्थिर होना। मनुष्य की बुद्धि भगवान् की ओर उन्मुख होकर ही प्रकाशित एव पवित्र हो सकती है। विशुद्ध बुद्धि सशयरहित और निश्चयात्मिका होती है। व्यक्ति और समाज का कल्याण मनुष्य की बुद्धि की कुशाग्रता तथा भौतिक ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नता से कदापि नही होता, बल्कि बुद्धि की शुचिता ( निष्कपटता, सात्त्विकता ) से होता है।

ज्ञान-मार्ग का आश्रय लेनेवाला मनुष्य सात्त्विक धृति ( धैर्य, दृढता, धारणा शक्ति ) से अपने-आपको अर्थात् अपने अन्त करण ( मन, बुद्धि इत्यादि ), दस इन्द्रियो तथा शरीर को वश मे रखता है। वह विशुद्ध एव निश्चयात्मिका बुद्धि से विवेकपूर्ण निश्चय करता है, दृढ रहता है, विचलित नही होता। वह मन, इन्द्रियो तथा शरीर को कुमार्गगामी नही होने देता।

ज्ञानयोग के साधक इन्द्रियो ( कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका ) के विषयो ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ) का प्रलोभन छोड देता है। वह शरीर की स्थितिमात्र के लिए आवश्यक एव उपयुक्त विषयो का मर्यादित सेवन करता है तथा तदतिरिक्त इन्द्रियो के विषय सुखभोग के प्रलोभन से ग्रस्त नही होता। यह ससार एक विषय-सागर है। विवेकी पुरुष इसे तैरकर पार कर लेता है तथा मूढ व्यक्ति इसमे डूबकर नष्ट हो जाता है।

ज्ञान का साधक राग और द्वेष से सर्वथा विमुक्त होता है। वह आवश्यक और उपयुक्त विषय-सामग्री के सेवन से अतिरिक्त विषयो ( सुख-भोग-सामग्री ) के प्रति राग ( आसक्ति ) नही करता तथा उनके न मिलने पर द्वेष नही करता। वह किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति राग और द्वेष नही रखता। राग और द्वेष ही मनुष्य के मन और बुद्धि को दूषित और दुर्बल करते हैं और दु ख के कारण हैं। राग-द्वेष से मुक्त होकर ही मनुष्य स्वतन्त्र, सम, शान्त और सुखी रह सकता है।

ज्ञान-मार्ग के साधक को आत्मचिन्तन के लिए यदा-तदा एकान्त सेवन करना चाहिए तथा व्यर्थ ही जनसमुदाय के मध्य मे रहने के मोह का भी त्याग कर देना चाहिए। मनुष्य मे अकेले खडे रहने का साहस होना चाहिए। एकान्त-सेवन का तात्पर्य समाज की मुख्य धारा से कटकर पृथक्

---

१ प्रख्यात गायत्री मन्त्र के अतिरिक्त अनेक वैदिक मन्त्रो में सुमेधा ( पवित्र बुद्धि ) के लिए प्रार्थना की गयी है।

**यां मेधां देवगणा पितरश्चोपासते।**
**तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।**

—यजुर्वेद, ३२ १४

—जिस मेधा ( श्रेष्ठ बुद्धि ) की उपासना देवता और पितर करते हैं, हे अग्निदेव, उस बुद्धि से मुझे बुद्धिमान् बना दो।

**'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।'**

—ईशावास्य उप०, १६

होना नहीं है, बल्कि अपने भीतर अकेले खडा रहने की शक्ति तथा मानसिक दृढता का विकास करना है। कभी-कभी किसी एकान्त पवित्र स्थान पर आत्म कल्याण की दिशा मे चिन्तन करना अत्यन्त लाभप्रद होता है। एकान्त-सेवन से चित्त की निर्मलता एव एकाग्रता के अभ्यास मे महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है। श्रीकृष्ण एकान्त निवास को महत्त्वपूर्ण नही कह रहे हैं, बल्कि यदा-तदा एकान्त-सेवन की महिमा बताते हैं।

ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करनेवाला मनुष्य भोजन के विषय मे सावधान रहता है। जिह्वा पर नियन्त्रण न रखनेवाले मनुष्य स्वादिष्ट सामग्री के प्रति लालायित होकर अत्यधिक भोजन करके अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचा देते हैं तथा स्फूर्ति खो देते हैं। स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन तथा ध्यान आदि के लिए लघ्वाशी ( लघु अशन करनेवाला, मिताहारी ) होना आवश्यक है। अति भोजन मनुष्य को आलसी बना देता है।

ज्ञान-निष्ठा का साधक मन, वाणी और शरीर को सयत रखता है। मन, वाणी और शरीर समस्त प्रगति के उपकरण हैं तथा मनुष्य उन्हे अपने वश मे रखकर ही कुछ उपलब्धि कर सकता है।

ज्ञान के साधक के लिए ध्यान का अभ्यास अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। ध्यान द्वारा चेतना का उन्नयन होने पर ही मनुष्य ब्रह्मसस्पर्श कर सकता है। शरीर और मन का विश्राम तथा तनाव का शिथिलन आदि ध्यान-प्रक्रिया के आनुषगिक साधारण लाभ हैं, किन्तु उन्हे ध्यान-योग का उद्देश्य कहना अविवेक है। अपने भीतर और बाहर सर्वत्र ब्रह्मानन्द मे अवगाहन करनेवाली चित्त-वृत्ति का ब्रह्मभाव मे स्थिर होकर, तैलधारा के समान अविच्छिन्न ( निरन्तर ) रूप मे प्रवाहित होना ध्यान है तथा उत्तरोत्तर वृत्तिशून्य होने पर चित्त आत्म-ज्योति से प्रकाशित होकर दिव्य एव अलौकिक आनन्दावस्था को प्राप्त हो जाता है।

वैराग्य का अर्थ है आत्मचिन्तन द्वारा सासारिक आकर्षण से ऊपर उठकर भौतिक सुख-भोग मे आसक्त न होना। कुछ लोग ससार मे कामनाओ की पूर्ति न होने पर तथा कोई दैवी सकट आने पर अपने कर्तव्य-कर्म एव दायित्व का त्याग कर देते हैं। यह मात्र पलायन है। विवेकपूर्वक सासारिक सुख-भोग के प्रलोभन से मुक्त होना वैराग्य है। वैराग्य का अर्थ ससार का त्याग नही है, बल्कि सासारिकता का त्याग है। वस्तु का नही, वासना का त्याग करना है।

अहंकार, बल एव दर्प, काम एव क्रोध तथा परिग्रह ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग मे विघ्न है। साधक इनसे मुक्त होकर ही ज्ञान-निष्ठा मे स्थित हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इनके त्याग का उपदेश अनेक स्थलो पर तथा अनेक प्रकार से किया है।[1] अहकार का अर्थ है देहात्मबोध ( अपने को देह मानना ) तथा सासारिक वस्तुओ से ममत्व का नाता मानकर अभिमान करना। अहकार ही राग-द्वेष का मूल कारण है तथा आत्मा और परमात्मा के ऐक्य का सबसे अधिक बाधक है।

बल का अर्थ है जन-बल, धन बल, बाहु-बल, बुद्धि-बल, तपोबल आदि का अभिमान। दर्प का अर्थ है बल का मिथ्या प्रदर्शन करना, सर्वत्र अपने सत्कार की इच्छा और आशा रखना तथा दूसरो के मान-सम्मान को सहन न करना।

काम राग अथवा आसक्ति से उत्पन्न होता है। काम एक ऊर्जा है, जो विषयाभिमुख होकर दुःख एव विनाश का तथा परमात्माभिमुख होकर सुख एव विकास का साधन होता है। विवेकी पुरुष काम-शक्ति का दमन अथवा ध्वस नही करता, बल्कि उसे दिशा प्रदान करता है। कामना की पूर्ति न होने पर उसका विस्फोट क्रोध के रूप मे होता है। सासारिक कामनाओ से ग्रस्त मनुष्य को कभी शान्ति प्राप्त नही होती।

---

१ अध्याय २, ३, १६ इत्यादि।

मनुष्य सासारिक वस्तुओ की आसक्ति से ग्रस्त होकर उनका अनावश्यक सग्रह ( परिग्रह ) करने लगता है। मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति होना सभव होता है, किन्तु उसकी इच्छाओ की पूर्ति कदापि नही हो सकती। सन्तोष मनुष्य की आवश्यकताओ और इच्छाओ के मध्य मे सेतु होता है। ज्ञानी उनके मिथ्यात्व को जानकर उनका सदुपयोग करता है, किन्तु उनका अनावश्यक परिग्रह नही करता।

ज्ञानी सासारिक वस्तुओ के प्रति ममत्व ( ये मेरी हैं ) का नाता नही जोडता। वह आत्मतत्त्व को सत् और भौतिक पदार्थों को असत् मानकर ममत्व का त्याग कर देता है। मृत्यु होने पर मनुष्य सब कुछ यही छोड जाता है। मृत्यु मनुष्य के ममत्व को मिथ्या एव मूढतापूर्ण सिद्ध कर देती है।

ज्ञानी पुरुष शान्ति मे वाधक विकारो से मुक्त होकर तथा आत्मचिन्तन एव ध्यान आदि के निरन्तर अभ्यास मे रत रहकर परम शान्त हो जाता है तथा परब्रह्म के साक्षात्कार एव ऐक्य अथवा ब्रह्मरूपता के योग्य हो जाता है। उसे सारे प्राणियो मे तथा अपने मे एक ही परब्रह्म परमात्मा का दर्शन होता है। यही जीवन की परमोच्च अवस्था है।

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।**
**समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ॥५४॥**
**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत।**
**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥**

**शब्दार्थ :** ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति=ब्रह्मभूत अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म मे एकीभाव से स्थित हुआ प्रसन्न अन्त करणवाला पुरुष न शोक ( अथवा चिन्ता ) करता है, न कामना करता है, सर्वेषु भूतेषु सम परां मद्भक्ति लभते=सब भूतो ( प्राणियो ) मे सम ( समभावयुक्त ) होकर श्रेष्ठ मेरी भक्ति को प्राप्त कर लेता है। भक्त्या मां तत्त्वतः अभिजानाति=( परा ) भक्ति से मुझे तत्त्वसहित भली प्रकार जान लेता है, य च यावान् अस्मि=( मैं ) जो और जिस प्रभाववाला हूँ, तत. मा तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तर विशते=उस ( भक्ति ) से मुझे तत्त्वसहित जानकर तत्काल ( मुझमें ) प्रवेश कर लेता है।

**वचनामृत** ब्रह्म मे एकीभाव से स्थित हुआ तथा प्रसन्न अन्त करणवाला ज्ञानयोगी न शोक करता है और न कोई आकाक्षा करता है। सब प्राणियो मे समभाव रखनेवाला ज्ञानयोगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है। उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा को तत्त्वसहित जान लेता है—परमात्मा जो कुछ भी है और जितना है, तथा उस ( भक्ति ) से मुझे तत्त्वसहित जानकर तत्काल मुझमे प्रवेश कर लेता है।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण ज्ञान-मार्ग की साधना से ब्रह्मभाव को प्राप्त होनेवाले ज्ञानयोगी का वर्णन करते हैं तथा पराभक्ति का फल कहते हैं। ये दोनो श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा इन्हे कण्ठस्थ कर लेना चाहिए।

**रसामृत** श्रीकृष्ण ज्ञानयोगी की परमोच्च अवस्था का वर्णन करते हुए कहते है कि ज्ञानी की चेतना निरन्तर चिन्तन, मनन, वैराग्य, ध्यान आदि के अभ्यास द्वारा भौतिक स्तर से ऊपर उठकर विश्व-चेतना मे निमग्न हो जाती है तथा वह ब्रह्मभाव मे स्थित हो जाता है अर्थात् वह ब्रह्म के साथ अभिन्न होकर ब्रह्म मे ही स्थित हो जाता है, ब्रह्मस्वरूप हो जाना है। ऐसे ज्ञाननिष्ठ पुरुष को जीवन्मुक्त ( जीवित रहते हुए ही मुक्त ) कहा जाता है। उसे ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की सत्ता का अनुभव नही होता तथा वह ब्रह्मानन्द की दिव्यानुभूति मे अविचल रूप से स्थित हो जाता है। यही ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की 'अह ब्रह्मास्मि' ( मैं ब्रह्म हूँ ) एव 'सोऽहमस्मि' ( वह ब्रह्म मैं हूँ ) की अनुभूति है, जो चेतना के परम शुद्ध एव परमोच्च होने से प्राप्त होती है।[1] अहकारशून्य

---

१ गीता में ब्रह्मभूत का वर्णन ५ २४ तथा ६.२७ में भी है।

होने पर अर्थात् अहंकार के उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण होने पर मनुष्य परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाता है। यह ज्ञानयोग की पराकाष्ठा अथवा चरमावस्था है।

ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर ज्ञानयोगी अखण्ड आनन्द मे स्थित हो जाता है। उसके पूर्णकाम होने के कारण किसी अप्राप्त वस्तु की कामना अथवा प्राप्त वस्तु की हानि का शोक उसे स्पर्श नही करता। वह वस्तुओ एव व्यक्तियो के सयोग वियोग से प्रभावित नही होता। वह हर्ष, शोक चिन्ता और भय से सर्वथा मुक्त होता है।[1]

समस्त प्राणियो के साथ एकात्म होने के कारण तथा सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन होने के कारण, ब्रह्मभूत ज्ञाननिष्ठ पुरुष सम्पूर्ण प्राणियो के प्रति सम होता है।[2] परमात्म-दृष्टि होने पर ज्ञानी को सर्वत्र परमात्म-दर्शन एव समदर्शन होता है।

ज्ञाननिष्ठ पुरुष पराभक्ति ( ज्ञान-लक्षणा भक्ति ) को प्राप्त कर लेता है।[3] पराभक्ति अर्थात् समीपता के द्वारा ज्ञानी परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है। परमात्मा निर्गुण-निराकार होकर भी सगुण-निराकार एव सगुण-साकार है। वही मायोपाधिमुक्त परमात्मा तथा मायोपाधियुक्त ईश्वर ( परमेश्वर ) है अथवा निर्विशेष तथा सविशेष है। पराभक्ति से पूर्ण ज्ञान एव यथार्थ अनुभव प्राप्त हो जाता है। परमात्मा अखण्ड, अद्वितीय, चैतन्यैकरस है।

परमात्मा का तत्त्वज्ञान अर्थात् परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मनिष्ठ पुरुष परमात्मा मे प्रवेश कर लेता है अर्थात् परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाता है, जैसे प्रज्वलित अग्नि मे प्रक्षिप्त ईंधन अग्नि ही हो जाता है।[1]

भगवान् ने गीता मे यह अनेक स्थलो पर तथा अनेक प्रकार से स्पष्ट किया है कि यद्यपि भगवान् को प्राप्त होने के अनेक मार्ग हैं, तथापि भगवत्प्राप्ति का स्वरूप एक ही है। दिव्यानुभूति के मार्ग तथा उसके वर्णन मे भिन्नता हो सकती है, किन्तु दिव्यानुभूति का स्वरूप एक ही है। ज्ञानयोगी की ज्ञानलक्षणा भक्ति तथा कर्मयोगी की भावलक्षणा भक्ति का गन्तव्य एक ही है, यद्यपि मार्ग का भेद है।

**सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।**
**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥**
**चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।**
**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥**
**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।**
**अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥**

**शब्दार्थ : मद्व्यपाश्रय. सर्वकर्माणि सदा कुर्वाणः अपि**=मेरे आश्रित ( कर्मयोगी ) सब कर्मों को सदा करता हुआ भी, **मत्प्रसादात्**=मेरे प्रसाद ( कृपा ) से, **शाश्वतं**

---

१ **'द्वितीयाद्वै भयम्'**—भय तो दूसरे से होता है, अभेद होने पर भय नही होता।

**'किमिच्छन् कस्य कामाय'**—ज्ञानी को क्या इच्छा, किसकी इच्छा ?

**'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति'**—ज्ञान होने पर हर्ष और शोक को छोड देता है।

**'तत्र को मोह क. शोक एकत्वमनुपश्यत.'**—एकत्व-दर्शन होने पर क्या मोह, क्या शोक ?

२. गीता मे ( ६ २९, ७ १९ इत्यादि ) इसे सम-दर्शन कहा गया है। गीता मे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी दोनो ही समबुद्धि है। ज्ञानयोगी के समबुद्धि होने की चर्चा ५ १८, १९, २०, ६ ७, ८, ९, १२ ४, १३.९, १४ २४ मे भी है।

३ ज्ञानयोगी की अद्वैतात्मक ज्ञानलक्षणा पराभक्ति कर्मयोगी की द्वैतात्मक भक्ति से पृथक् है, यद्यपि कर्मयोगी का द्वैत ( भगवान् और मैं दो हैं, भगवान् स्वामी हैं और मैं दास हूँ ) भी अन्ततोगत्वा अद्वैत ( भगवान् और भक्त का अभेद अथवा एक हो जाना ) ही हो जाता है। ज्ञानलक्षणा भक्ति चतुर्थ भक्ति कही गयी है। ( गीता ७ १६ ) **'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'**—ज्ञान होने पर द्वैत नही रहता।

१ **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।**

—मुण्डक उप०, ३ २ ९

—ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान होने पर ब्रह्म ही हो जाता है।

अव्ययं पदं अवाप्नोति = शाश्वत अविनाशी पद ( परम-पद ) को प्राप्त करता है। सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य मत्परः = सब कर्मों को मन से मुझे समर्पित करके ( तथा ) मेरे परायण हुआ, बुद्धियोग उपाश्रित्य = बुद्धि-योग ( समत्व-बुद्धि ) का अवलम्बन करके, सतत मच्चित्त भव = निरन्तर मेरे मे चित्तवाला हो। त्वं मच्चित्त मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि = तू मेरे मे चित्तवाला हुआ मेरे प्रसाद से सारे दुर्गों ( सकटो ) को पार कर लेगा, अथ चेत् अहकारात् न श्रोष्यसि ( तर्हि ) विनङ्क्ष्यसि = और यदि अहकारवश नही सुनेगा ( तो ) विनष्ट हो जायगा।

**वचनामृत** मेरे परायण हुआ कर्मयोगी सब कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरे प्रसाद से शाश्वत अविनाशी पद ( परमपद ) को प्राप्त करता है। सब कर्मों को मन से मुझे समर्पित करके तथा मेरे परायण होकर, बुद्धियोग का अवलम्बन करके, निरन्तर मुझमे चित्तवाला हो जा। मुझमे चित्त-वाला होकर तू मेरे प्रसाद से सब सकटो को पार कर लेगा और यदि तू अहकारवश नही सुनेगा तो विनष्ट हो जायगा।

**सन्दर्भ** . भगवान् श्रीकृष्ण भक्तिप्रधान कर्मयोग का उपदेश करते हैं। श्लोक ५८ मे **'मच्चित्तः सर्व-दुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'** ( अर्थात् तू मुझे मन मे प्रतिष्ठित करके ससार के समस्त सकटो को पार कर जायगा ) एक मत्र है।

**रसामृत** भगवान् श्रीकृष्ण ने पूर्ववर्ती श्लोको मे अर्जुन से कहा कि ज्ञानयोगी ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन करके परमपद प्राप्त कर लेता है।[1] किन्तु अर्जुन कर्मयोग का अधिकारी है तथा शूर-वीरता, पराक्रम एव युद्ध मे अपलायन इत्यादि उसका स्वभावगत कर्म अथवा स्वधर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को यह स्पष्ट कर रहे हैं कि कर्म-योगी कर्मयोग का पालन करके भी परमपद को प्राप्त कर लेता है। मनुष्य अपने स्वभाव एव क्षमता के अनुसार ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग का अनुसरण करके भगवत्प्राप्ति कर सकता है।

सामान्यत. कर्मयोग का अर्थ निष्कामभाव से कर्तव्य-कर्म करना तथा फल की इच्छा एवं आशा का परित्याग करना है। किन्तु कर्मयोगी भक्ति-प्रधान कर्मयोग के अवलम्बन द्वारा भगवान् का अनन्य आश्रय लेकर कर्म करते हुए भगवान् की कृपा से परमपद प्राप्त कर लेता है। भगवान् की शरण मे रहनेवाला पुरुष कभी निषिद्ध कर्म ( पाप-कर्म ) करता ही नही है। भगवान् को ही अपना परम हितैषी, परम आधार, परम रक्षक और सर्वस्व मानकर सदा प्रसन्न रहना ही भगवान् का अनन्य आश्रय लेना है। भक्तिपूर्ण कर्मयोगी सबका यथोचित आदर करते हुए तथा किसीका तिरस्कार न करते हुए समाज मे सहर्ष सहयोग एव सहायता का आदान-प्रदान करता है, किन्तु किसीके समक्ष दीनता एव हीनता का अनुभव नही करता। कर्म-योगी भक्त कर्म करते हुए कर्ता होने का अहकार नही करता. अपने को निमित्तमात्र मानता है। कर्मयोगी के लिए कोई कर्म बडा अथवा छोटा, ऊँचा अथवा नीचा नही होता। वह समस्त कर्तव्य-कर्म को प्रभु-प्रेरित मानकर पूर्ण रुचि एव कुशलता से अनुष्ठित करता है।

भगवान् का आश्रय अथवा शरण ग्रहण करने का अर्थ अकर्मण्यता अथवा कर्म का त्याग कर देना कदापि नही है, बल्कि पूर्ण रुचि, दक्षता, शक्ति और शान्ति से कर्म करना है। भगवान् की आड़ मे कर्म छोड बैठना पलायन है तथा भगवान् का आश्रय लेकर निष्कामभाव से कर्म करना भक्तिप्रधान कर्मयोग है। मनुष्य कर्म के सम्पादन से प्रभु का प्रसाद ( कृपा ) प्राप्त करता है, कर्म-त्याग से नही। कर्म करने से विचार, चिन्तन तथा भावोद्वेग का परिष्कार होता है तथा कर्म द्वारा ही

---

१ इससे पूर्ववर्ती सात श्लोक ( ५० से ५६ तक ) ज्ञानयोग-सम्बन्धी हैं।

चेतना का शुद्धीकरण, उदात्तीकरण एव ऊर्ध्वीकरण होता है।

भगवान् की कृपा का सहारा लेकर कर्म करनेवाला कर्मयोगी कर्म-सम्पादन द्वारा भगवान् की कृपा का अनुभव पग-पग पर करता है। सर्वान्तर्यामी एव सर्वप्रेरक परमेश्वर कर्मयोगी भक्त की सहायता अदृश्य एव रहस्यमय प्रकार से करता है। भगवद्भक्त कभी निराश, चिन्तित और भयभीत नही होता तथा आशा, उत्साह और उल्लास से कर्म द्वारा भगवान् की ओर उन्मुख होता रहता है।

वास्तव मे जीवन का उद्देश्य कर्म करना नही है, बल्कि कर्म के माध्यम से भगवान् को प्राप्त करना है।[1] कर्मयोगी भक्त भगवान् को ही अपना सर्वस्व, प्रियतम और प्राप्य मानकर तथा बुद्धियोग[2] (समत्वबुद्धि) का आश्रय लेकर कर्म करते हुए समस्त कर्मों को भगवदर्पण कर देता है।[3] वह निरन्तर भगवान् का स्मरण करता रहता है। कर्मयोगी भक्त के लिए कर्म भगवत्प्राप्ति का सरल एवं सुगम माध्यम है।

बुद्धियोग (समत्व-बुद्धियोग) कर्मयोग के अन्तर्गत उसका प्रमुख अग है। बुद्धियोग अर्थात् समत्वभाव द्वारा मन की स्थिरता प्राप्त होती है। 'भगवान् समस्त सृष्टि का सचालन कर रहे है तथा मैं निमित्तमात्र हूँ', ऐसी भावना से भगवत्प्रेरणानुसार निष्काम होकर कर्म करते हुए लाभ-हानि, जय-पराजय एव सुख-दुख मे सम अर्थात् सन्तुष्ट एव स्थिर रहना समत्व-बुद्धि है। कर्मयोगी व्यक्तिगत कामना तथा हठ अथवा दुराग्रह नही करता। वह चित्त को निरन्तर भगवान् मे समाहित करने का प्रयत्न करता रहता है।

भगवान् घोषणा करते हैं कि जो मनुष्य भगवान् को परमाधार, परमाश्रय एव परमप्राप्य मानता है तथा भगवान् को निरन्तर चित्त मे धारण करके कर्तव्य-कर्म करता रहता है, वह भगवान् की कृपा से भवसागर के समस्त सकटो को सुखपूर्वक पार कर जाता है। सत्कर्म करनेवाला मनुष्य भगवत्कृपा का अधिकारी हो जाता है। भगवत्कृपा होने पर सकट कष्टप्रद नही रहते तथा भक्त साहसपूर्वक विषम परिस्थितियो को पार कर लेता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को चेतावनी देकर सावधान करते हैं कि यदि वह अहकारवश सदुपदेश की अवहेलना कर देगा तो पथ-भ्रष्ट होकर विनष्ट हो जायगा।

वास्तव मे मनुष्य का अहकार ही उसकी उन्नति एव कल्याण के मार्ग मे सर्वाधिक बाधक दुर्ग है। मनुष्य अहकार के कारण पूज्यो का अपमान एव अवहेलना कर देता है तथा अनेक कष्ट झेलता है। भगवान् की महिमा एव शक्ति का भक्तिपूर्वक स्मरण मनुष्य के अहकार को क्षीण कर देता है तथा उसे भगवत्कृपा का पात्र बना देता है।[1]

**यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।**
**मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।५९।**

---

१. श्री रामकृष्ण परमहस कहते थे—'कर्म मे रत रहना जीवन का लक्ष्य नही है। कर्म परमेश्वर प्राप्ति का साधन है। निष्काम कर्म मनुष्य को ईश्वर की ओर ले जाता है। साधन को साध्य नही समझना चाहिए। नगर की ओर ले जानेवाला मार्ग नगर नही होता।"

२ गीता के प्रारम्भ मे (अध्याय २.४९, ५०, ५१) बुद्धियोग की चर्चा है।

३ गीता मे अनेक स्थलों पर कर्म-समर्पण एव आत्मसमर्पण का उपदेश है (गीता ९ २७, २८, ३४ इत्यादि)। मच्चित्तः (१० ९)।

१ श्री रामकृष्ण परमहस कहते थे—"कोई कितना भी प्रयत्न कर ले, बिना भगवत्कृपा कुछ भी प्राप्त नहीं होता। भगवत्कृपा सरलता से प्राप्त नही होती। उसके लिए अहकार का त्याग आवश्यक है। मैं कर्त्ता हूँ, यह अहंकार मनुष्य को परमेश्वर से दूर कर देता है। परमेश्वर हृदय मे रहकर भी अहकार के कारण नहीं दीखता।"

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।६०।

**शब्दार्थ :** यत् अहकार आश्रित्य इति मन्यसे न योत्स्ये=जो ( तू ) अहकार का अवलम्बन करके ऐसा मानता है ( कि ) नही युद्ध करूँगा, एष ते व्यवसाय मिथ्या=यह तेरा निश्चय मिथ्या है, प्रकृति. त्वां नियोक्ष्यति=( क्योकि ) प्रकृति तुझे ( युद्ध मे ) प्रवृत्त कर देगी। कौन्तेय=हे अर्जुन, यत् मोहात् न कर्तुं इच्छसि =जिसे ( तू ) मोह से नही करना चाहता है, तत् अपि स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्ध अवश· करिष्यसि=उसे भी अपने स्वाभाविक कर्म से निबद्ध हुआ अवश ( परवश, जबरदस्ती ) करेगा ।

**वचनामृत** जो तू अहकारवश ऐसा मानता है कि 'मैं युद्ध नही करूँगा', यह तेरा निश्चय मिथ्या है, क्योकि प्रकृति तुझे युद्ध मे प्रवृत्त कर देगी। हे अर्जुन, जिस कर्म को तू मोहवश नही करना चाहता है, उसे भी अपने स्वाभाविक कर्म से निबद्ध हुआ परवश होकर करेगा ।

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण अर्जुन को उसके क्षात्र स्वभाव का स्मरण करा रहे है ।

**रसामृत :** श्रीकृष्ण गीतोपदेश का उपसहार करते हुए अर्जुन को उसके युद्ध न करने के निश्चय का मिथ्यापन समझा रहे है ।[१] मनुष्य आचरण मे स्वभाव के अधीन होता है। अपने को स्वतन्त्र समझते हुए भी स्वभाव के अनुसार आचरण करता है। मनुष्य के स्वभाव का निर्माण पूर्वकृत कर्मों ( वर्तमान तथा उससे पूर्ववर्ती जन्मो के कर्मों ) के सस्कारो के आधार पर होता है । वास्तव मे मनुष्य का स्वाभाविक धर्म, सहजधर्म अथवा स्वधर्म भी उसके स्वभाव के ( अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के सस्कारो के ) आधार पर ही निश्चित होता है ।

अर्जुन एक क्षत्रिय वीर था तथा वह अनेक युद्धो मे अपने स्वाभाविक क्षात्र धर्म का निर्वाह कर चुका था। क्षात्र धर्म उसका सहज धर्म अथवा स्वधर्म था, किन्तु मोह एव भावुकता के वशीभूत होकर वह उसका त्याग कर रहा था। भगवान् श्रीकृष्ण ने यह स्पष्ट कर दिया कि युद्ध न करने का निश्चय अर्जुन के रजोगुणी स्वभाव के विपरीत तथा क्षणिक आवेश के कारण था। उसका युद्ध-त्याग का निश्चय न केवल दुराग्रहपूर्ण था, वल्कि स्वधर्म के भी विपरीत था। उसने सदैव अन्याय के प्रतीकार मे शस्त्र उठाकर धर्म-युद्ध किया था। यदि वह क्षणिक आवेश के कारण स्वधर्मरूप युद्ध का त्याग कर देता और परधर्मरूप तप इत्यादि को धारण कर लेता तो वह निश्चय ही अपने कौटुम्बिक जनो के व्यग्यपूर्ण वचनो से तथा शत्रु-वर्ग की ललकार से उत्तेजित होकर क्षात्र-स्वभाव के कारण पुन शस्त्र उठाता और रणक्षेत्र से पलायन करने पर पश्चात्ताप करता। वह अन्याय के विरुद्ध धर्म-युद्ध मे पराक्रम प्रदर्शन द्वारा ही सन्तुष्ट हो सकता था। वास्तव मे अर्जुन अपनी विचार-शक्ति पर नियन्त्रण खो वैठा था तथा भ्रमित हो गया था। मनुष्य का स्वभाव वेगवती नदी के प्रवाह की भाँति प्रवल होता है तथा उसका उल्लघन अत्यन्त दुस्तर होता है। भगवान् श्रीकृष्ण उसके रजोगुणी स्वभाव को जानते थे तथा उन्होंने उसे अपने स्वभाव के अनुरूप क्षात्र-धर्म के पालन का उपदेश दिया।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

**शब्दार्थ :** अर्जुन यन्त्रारूढानि सर्वभूतानि ईश्वर· मायया भ्रामयन्=हे अर्जुन, देहरूप यन्त्र मे आरूढ हुए सब प्राणियो को ईश्वर ( अन्तर्यामी परमेश्वर ) माया से ( उनके कर्मानुसार ) घुमाता हुआ, सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति=सब भूतप्राणियो के हृदय मे स्थित है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, देहरूप यन्त्र मे आरूढ सब प्राणियो को अन्तर्यामी ( घट-घटवासी )

१ 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्ष्णीं बभूव ह' ( गीता २.९ ) अर्थात् मैं युद्ध नहीं करूँगा ऐसा गोविन्द से कहकर चुप हो गया ।

परमेश्वर माया से (उनके कर्मानुसार) घुमाता हुआ सब प्राणियो के हृदय मे स्थित है।

**सन्दर्भ :** परमेश्वर के विधान की महिमा का वर्णन है। ६१ से ६६ तक छह श्लोकों मे गीतोपदेश का सार कहा गया है।

**रसामृत :** समस्त प्राणियो के शरीर यन्त्र के समान हैं, जिनका सचालन उनके भीतर स्थित दैवी यान्त्रिक करता है। शरीर जड है तथा वह चेतन जीवात्मा के सान्निध्य से ही गतिशील है।[1] जीवात्मा के पृथक् हो जाने पर देह जड एव गतिहीन हो जाता है।

परमेश्वर ही अन्तर्यामी एव विश्वनियामक के रूप मे हृदय-क्षेत्र मे (हृदयाकाश अथवा चिदाकाश अथवा बुद्धि-गुहा में) विराजमान है तथा माया-शक्ति द्वारा प्राणियो को उनके कर्मानुसार घुमाता अथवा नचाता रहता है, जैसे सूत्रधार कठपुतलियो को नचाता है।[1] सारा विश्व एक महायन्त्र है तथा सम्पूर्ण प्राणियो के देह विश्व-यन्त्र के अङ्ग है।

विवेकी साधक समस्त भौतिक प्रलोभन, कामना, स्वार्थ और अहङ्कार को त्यागकर तथा परमेश्वर को अपने जीवन-रथ की बागडोर सौंपकर, परमेश्वर का एक सचेत उपकरण हो जाता है। लघु-यन्त्र महायन्त्र के साथ सम्यक् प्रकार से सलग्न होकर (जुडकर) सुखपूर्वक सचालित होता है। अहङ्कार-विमुक्त मानवीय चेतना परमेश्वरीय चेतना से प्रेरित होकर उदात्त हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य स्वभाव के वशीभूत

१ शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही माया से आवृत होकर (अथवा प्रकृति के प्रभाव मे रहकर) जीवात्मा कहलाता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का ही अंश है। मायोपाधिमुक्त (माया शक्तिरहित) परमात्मा को ही मायोपाधियुक्त (माया-शक्तिसहित) होने पर परमेश्वर (अथवा ईश्वर), सर्वशक्तिमान् तथा सर्वान्तर्यामी कहा जाता है। परमेश्वर की सन्निधि मे जड प्रकृति ऐसे ही गतिशील होती है, जैसे चुम्बक की सन्निधि मे लोहखण्ड गतिशील होता है। जैसे जल मिट्टी से मिलकर शुद्ध नहीं रहता तथा उसे छानने आदि से पुन. सहज निर्मल रूप मे देखा जा सकता है अथवा जैसे मणि मिट्टी से ढकी होने से कान्ति-हीन होती है तथा स्वच्छ होने पर पुनः सहज कान्तियुक्त हो जाती है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा माया से आच्छन्न होकर जीवात्मा के रूप में सदोष हो जाता है तथा माया अथवा अज्ञान से विच्छिन्न होकर अपनी सहज चैतन्यावस्था को प्राप्त हो जाता है। मनुष्य कर्मयोग अथवा ज्ञानयोग के अवलम्बन द्वारा जीवात्मा के मायामुक्त अथवा अज्ञानमुक्त होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है एवं कृतार्थ हो जाता है। परमात्मा (तथा उनका अंशभूत आत्मा) सत्-चित् आनन्दस्वरूप है। जीवात्मा स्वरूपतः शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा ही है।

१ 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयतीति।'

—जो सब प्राणियो मे स्थित, सब प्राणियों के भीतर, जिसे सब प्राणी नहीं जानते, जिसके सब प्राणी शरीर हैं, जो सब प्राणियो के भीतर उनका नियमन करता है।

बिन्दु की परिभाषा है कि उसका स्थान अर्थात् अस्तित्व तो होता है, किन्तु उसका परिमाण एवं आकार नहीं होते। निराकार बिन्दु ही गतिशील होकर विस्तार धारण करके रेखा बन जाता है तथा गतिशील रेखा ही एक सुन्दर चित्र बन जाता है। परमात्मा का अस्तित्व है, किन्तु वह निराकार है। सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति—परमात्मा मे एक से अनेक होने का दैवी संकल्प हुआ और विस्फोट द्वारा विस्तार होने पर सृष्टि की भव्य रचना हो गयी। उस कवि का वैसा काव्य है, जो नित्य-नूतन रहता है—न जीर्यति। बिन्दु ही सिन्धु बन जाता है और फिर सिमटकर बिन्दु ही हो जाता है। निर्गुण-निराकार ही सगुण-साकार बन जाता है, यही उसकी अद्भुत लीला है। ज्ञानी 'सोऽहम्' की अनुभूति द्वारा उनके साथ ऐक्य स्थापित कर लेते हैं तथा भक्त का 'दासोऽहम्' भी धीरे-धीरे 'सोऽहम्' ही हो जाता है।

यजन ( पूजन ) करनेवाला हो, मा नमस्कुरु=मुझे नमस्कार कर, मा एव एष्यसि=मुझे ही प्राप्त होगा, ते सत्य प्रतिजाने=( मैं ) तेरे लिए सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, मे प्रियः असि=( तू ) मेरा प्रिय है। सर्वधर्मान् परित्यज्य एक मा शरण व्रज=सब धर्मों का त्याग करके केवल एक मेरी शरण में जा, अह त्वा सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि=मैं तुझे सारे पापो से मुक्त कर दूंगा, मा शुचः=शोक ( तथा चिन्ता ) मत कर।

**वचनामृत :** सब गुह्य तत्त्वो मे सर्वाधिक गुह्य मेरे परम ( उत्कृष्ट एव सर्वोच्च ) वचन को पुन सुन। तू मेरा परमप्रिय है, अतएव मैं हितकारी वचन तेरे लिए कहूँगा। तू मुझमे मन निमग्न रखनेवाला हो जा, मेरा भक्त हो जा, मेरा ही यजन ( यज्ञ, पूजन ) करनेवाला हो और मुझे ही प्रणाम कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त हो जायगा, यह ( मैं ) तुझसे सत्यप्रतिज्ञा करता हूँ, क्योकि तू मेरा प्रिय है। सब धर्मों ( सब आश्रयो, विभिन्न मत-मतान्तरो तथा सब तर्क-वितर्कों ) को त्यागकर तू केवल एक मेरी शरण मे आ जा। मैं तुझे सब पापो ( बन्धनो एव दोषो ) से मुक्त कर दूँगा। तू शोक एव चिन्ता मत कर।

**सन्दर्भ** श्लोक ६५, ६६ मे गीता के प्रतिपाद्य अनन्य शरणागति तत्त्व का उपदेश है।

**रसामृत :** भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश सुनाने के उपरान्त उससे कहा कि गीता ज्ञान गुह्य से भी अधिक गुह्य अर्थात् परम महत्त्वपूर्ण एव दुर्लभ है तथा अपना मार्ग चुनने का निर्णय वह विचारपूर्वक स्वय कर ले।[1] किन्तु उपदेश का उपसहार करने पर भी भगवान् ने कहा, 'हे अर्जुन, तू मेरा परमप्रिय है तथा अपनी सरलता के कारण परम गुह्य उपदेश का अधिकारी है। मैं तेरे कल्याण के लिए समस्त गीतोपदेश का सारभूत तत्त्व पुन कह रहा हूँ।" श्रीकृष्ण अर्जुन को पुन पुन अपना इष्ट एव प्रिय

१ गीता, १८ ६३

कहकर उसे आत्मीयता एव अत्यत समीपता का आभास कराते हैं। उत्तम गुरु शिष्य के साथ अभिन्न होकर अपनी शिक्षण-कुशलता का परिचय देते हैं।[1]

भगवान् श्रीकृष्ण अध्यात्म-मार्ग के गुह्यतम रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि मनुष्य मन-मन्दिर मे भगवान् को विराजमान करके भगवान् की भक्ति, यजन और नमस्कार द्वारा भग वान् को प्राप्त कर लेता है।[2] भगवान् को जीवन-रथ की बागडोर सौंपने पर भगवान् स्वय उसके योग-क्षेम का वहन करते हैं तथा मनुष्य को कुछ भी चिन्ता नही करनी पडती।[3] भगवान् ही दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति करके अखण्ड आनन्द प्रदान करने मे समर्थ हैं। भगवान् की अनन्य-भक्ति भगवत्प्राप्ति का प्रधान साधन है।

सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ तथा सर्वान्तर्यामी भगवान् को अपना परम उपास्य, आश्रय, सरक्षक, माता पिता, स्वामी तथा सर्वस्व मानकर अपने मन मन्दिर मे प्रतिष्ठित करना, भगवान् के प्रति पूर्णत. समर्पित होना, भगवान् से प्रेरित होकर भगवान् के लिए समस्त कर्म करना और कर्म एवं फल भी भगवान् को ही समर्पित कर देना अनन्य-भक्ति का स्वरूप है, जिसे आत्म-समर्पण अथवा शरणागति की संज्ञा दी जाती है।

संसार एक विषय-सागर है, जिसमे से प्रत्येक को गुजरना पड़ता है। विषयो मे आसक्त होने पर मन मे उनकी कामना तथा उनके कारण सुख-दु:ख,

१ भक्तोऽसि मे सखा चेति ( गीता, ४ ३, १८ ६४, ६५ इत्यादि )

२ मय्येव मन आधत्स्व ( गीता, १२.८ ) तथा ( गीता, १२ ६, ७ इत्यादि )। अध्याय ९ के आरम्भ मे भक्ति-योग को गुह्यतम तथा राजगुह्य कहा गया है तथा श्लोक १८ ६५ ९ ३४ की पुनरावृत्ति ही है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी प्रकार ९.३१ में प्रतिज्ञा की है।

३ गीता, ९ २२

चिन्ता, भय इत्यादि उत्पन्न होकर मनुष्य को अधीर एव अशान्त कर देते है। विषय-सागर मे जीवन नौका का प्रवेश होने पर जीवन-नौका उसमे डूब जाती है, किन्तु पूर्ण आत्मसमर्पण अथवा शरणागति होने पर भगवान् सुरक्षा का भार अपने ऊपर लेकर उसे स्वय पार कर देते हैं। यह गूढतम रहस्य है, जिसका उद्‌घाटन एव निरूपण भगवान् श्रीकृष्ण अनेक स्थलो पर अनेक प्रकार से करते है।

अनन्य भक्ति का प्रथम और प्रमुख लक्षण अथवा साधन मन मे भगवान् को प्रिय मानकर विराजमान करना है।[१] मन मे राम के विराजमान होने पर मनुष्य सुख-पूर्वक ससार-सागर को पार कर लेता है तथा मन मे काम के प्रबल होने पर वह विनष्ट हो जाता है। पशु योनि केवल भोग-योनि है, किन्तु मनुष्य-योनि कर्म-योनि भी है। मानव-देह भोग-यत्र नही होता, योग का साधन होता है। मन मे भगवान् को विराजमान करके ही मनुष्य भगवान् की भक्ति तथा सच्चा भगवद्-भजन कर सकता है। अनेक लोग दिन-रात पूजा-पाठ करने का दम्भ करते हैं तथा उनके मन मे काम ( सासारिक पदार्थों की आसक्ति ) भरा रहता है। भौतिक सुख-भोग के प्रपच मे फँसने पर मनुष्य की चेतना सदोष एव विकृत हो जाती है। उसके ऊर्ध्वगामिनी होने पर ही जीवन मे सत्य शिव सुन्दरम् का समावेश सम्भव है। भगवद्भक्ति मनुष्य को निष्क्रिय नही बनाती, बल्कि कर्मरूप पुष्पो का समर्पण करने की प्रेरणा देती है। अनन्यभक्त अपने कर्मों को प्रभु की पूजा की ही विधि मानता है। वह समस्त कर्म प्रभु-प्रीत्यर्थ ( भगवान् की प्रसन्नता के लिए ) करता है। वह स्वाथ अथवा भय से प्रेरित होकर मनुष्यो के समक्ष दीन भाव से नमन नही करता, बल्कि सबमे भगवान् का दर्शन करके सबको नमस्कार

१ मन्मना को गीता मे अन्य स्थलो पर मच्चित्त भी कहा गया है।

करता है।[१] भक्तिप्रधान कर्मयोग द्वारा मन के अहकार-विमुक्त एव विशुद्ध होने पर तत्त्वज्ञान का उदय अनायास ही हो जाता है।

कर्मयोग-निष्ठा का रहस्य सर्वात्मना ( पूर्णत ) भगवान् की शरणागति है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-'हे अर्जुन तू सब धर्मों को त्यागकर केवल एक मेरी शरण मे आ जा और मै तुझे सब पापो से मुक्त कर दूँगा—तू शोक और चिन्ता मत कर।' भगवद्‌गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवत्प्राप्ति के अनेक उपायो अथवा धर्मों की चर्चा की है तथा उन्हे मोक्ष-प्राप्ति का साधन कहा है-अहिंसा-धर्म, सत्य-धर्म, सेवा-धर्म यज्ञतपदान-धर्म, अष्टागयोग-धर्म, ज्ञानयोग-धर्म इत्यादि।[२] श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि वह समस्त धर्मों अथवा कर्तव्यो के विवाद एव तर्क-वितर्क त्यागकर केवल शरणागति ग्रहण कर ले। शरणागति का अर्थ है भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करना, भगवान् को जीवन की बागडोर पूर्णत सौंप देना। एक शरणागति से ही सब धर्मों अथवा कर्तव्यो का सम्यक् निर्वाह स्वतः हो जाता है।[३] 'एकहि साधे सब सधै, सब

१. भगवान् के श्री विग्रह ( मूर्ति ) की वन्दना पूजा का अग है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्॥

—भगवान् के गुणो का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवा, अर्चना, वन्दना, दास्य, सखाभाव और आत्म-निवेदन ( प्रार्थना ), नौ प्रकार की भक्ति कही गयी है। वन्दना ( नमस्कार ) को श्रीमद्भागवत मे भगवत्प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन भी कहा गया है। सब प्राणियो मे भगवद्-दर्शन करते हुए नमस्कार करना एक प्रकार की पूजा है।

२ महाभारत मे अनुगीता मे विविध धर्मों की चर्चा है।

३. ज्ञान के अधिकारी के लिए इसका अर्थ कर्मयोग द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर शरीर, इन्द्रिय और अन्त करण के धर्मों को त्यागकर निराकार परब्रह्म परमात्मा के साथ

साधे सब जाय', प्रसिद्ध उक्ति है। वास्तव में विश्वनियन्ता, सर्वान्तिर्यामी, सर्वसमर्थ भगवान् के सामने अहकारशून्य होकर आत्मसमर्पण करने से बढकर भगवत्प्राप्ति का अन्य कोई साधन नही हो सकता। भगवान् ही मनुष्य को शोक, सताप, पाप, चिन्ता और भय आदि से मुक्त करने तथा अखण्ड आनन्द प्रदान करने मे समर्थ है। भगवान् के समक्ष अनन्यभाव से आत्मसमर्पण करना लोकप्रचलित निकृष्ट आत्मसमर्पण के सदृश नही है, वल्कि पुत्र द्वारा पिता के समक्ष सात्त्विक आत्मसमर्पण अथवा नदी द्वारा समुद्र के प्रति आत्मसमर्पण की भाँति अभिन्न ( एक ) हो जाना है। विश्वास से परिपूर्ण होकर, निश्छल भाव मे भगवान् के अभिमुख स्थित होने पर, भगवान् भक्त का केवल मार्गदर्शन ही नही करता, वल्कि उसे सँभालकर ऊपर भी उठा लेता है। वास्तव मे अनन्यभाव से भगवान् की शरण मे जाने पर मनुष्य समस्त धर्मों ( कर्तव्यो ) की सीमा का अतिक्रमण कर लेता है तथा वह समस्त कर्मवन्धन से मुक्त होकर पुण्य-पाप अथवा धर्म-अधर्म से भी ऊपर उठ जाता है। मानवीय चेतना शुद्ध होकर अपने मूल स्रोत के साथ एकात्म होकर प्रखर एव प्रबल हो जाती है। काष्ठ प्रज्वलित अग्नि को पूर्णत समर्पित होकर अग्नि के साथ अभिन्न हो जाता है। अग्नि और काष्ठ मूलत एक ही हैं तथा परमात्मा और आत्मा तत्त्वत एक ही हैं। मानव आत्मसमर्पण द्वारा परमेश्वर के साथ एक होकर कृतार्थ हो जाता है। शरणागति अथवा आत्मसमर्पण होने पर मनुष्य अपनी भौतिक कामनाओ तथा राग-द्वेष से ऊपर उठकर प्रभु-प्रेरणा के अनुसार प्रवाहपतित कर्म करते हुए प्रभुमय हो जाता है।

परमेश्वर का द्वार सबके लिए समान रूप से खुला रहता है। शरणागति पापी और अपराधी को भी निर्मल, निर्भय और निश्चिन्त कर देती है। शरणागति मनुष्य का सर्वतोमुखी उद्धार करके जीवन को उदात्त बना देती है। शरणागत पुरुष सदैव समचित्त रहता है तथा प्रत्येक परिस्थिति मे सुप्रसन्न रहता है। वह सकट मे पग-पग पर भगवत्कृपा का अनुभव करता है तथा सकट को वरदानरूप मे स्वीकार कर लेता है। उसे भगवान् और भगवत्कृपा पर अखण्ड विश्वास होता है तथा वह सदैव समभावयुक्त और शान्त रहता है। भक्तिप्रधान कर्मयोग की चरम परिणति शरणागति ही है। शरणागति भगवत्प्राप्ति का सुगम एव श्रेष्ठ साधन है।

**इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।**
**न चाशुश्रूषवे वाच्य न च मा योऽभ्यसूयति ॥६७॥**

**शब्दार्थ** ते इदं कदाचन न अतपस्काय वाच्य च न अभक्ताय=तेरे ( तेरे कल्याण के लिए कहे हुए ) इस ( गीतोपदेश को ) कभी न अतपस्क ( तपरहित ) मनुष्य के प्रति कहना चाहिए और न भक्तिरहित के प्रति, च न अशुश्रूषवे=और न सुनने की इच्छा से रहित मनुष्य के प्रति ( अथवा न सेवाभावरहित मनुष्य के प्रति ) य मां अभ्यसूयति=( तस्मै अपि ) न=जो मुझमे दोष दृष्टि रखता है ( उसके प्रति भी ) नही।

**वचनामृत** यह रहस्यमय गीतोपदेश कभी न तो तपरहित मनुष्य के प्रति, न भक्तिरहित मनुष्य

---

एकात्म होना है। श्लोक ६६ के अनेक अर्थ किये गये हैं। 'तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत.' ( ईशावास्य उप० ) परमात्मा के साथ एकत्व होने पर मोह, शोक नही रहता। सर्वपापै. प्रमुच्यते ( गीता, १० ३ ) 'तरति शोकं आत्मवित्'—आत्मज्ञानी शोक को पार कर लेता है। ज्ञानवादी विद्वानो के अनुसार गीता का उपक्रम और उपसहार ज्ञाननिष्ठा में ही होता है। अशोच्यानन्वशोचस्त्वं ( गीता, २ ११ ) उपक्रम है तथा मा शुचः ( गीता, १८ ६६ ) उपसहार है। किन्तु भक्तिवादियों के अनुसार गीता का उपक्रम और उपसहार शरणागति में होता है। कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः ( गीता, २ ७ ) उपक्रम है तथा सर्वधर्मान् परित्यज्य ( गीता, १८ ६६ ) उपसहार है।

के प्रति और न सुनने की इच्छा से रहित मनुष्य के प्रति कहना चाहिए (अथवा सेवा शुश्रूषाभाव से रहित मनुष्य के प्रति भी नही कहना चाहिए) तथा जो मुझमे दोष-दर्शन ही करता है, उसके प्रति भी कभी नही कहना चाहिए।

**सन्दर्भ** अनधिकारी को महान् उपदेश नही देना चाहिए।

**रसामृत** भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता-शास्त्र का उपदेश उपक्रम से उपसहार[1] तक सरस एव सवाद-शैली मे अत्यन्त रोचक रूप से किया है। यह समस्त वेदो तथा शास्त्रो का सार है तथा अत्यन्त गूढ है। श्रीकृष्ण कहते है कि जो मनुष्य इसका अधिकारी नही है, वह न इसका महत्त्व जान सकता है, न इससे लाभ प्राप्त कर सकता है। ऐसे गोपनीय शास्त्र की चर्चा उन पुरुषो से कदापि नही करनी चाहिए, जिनके जीवन मे सत्य के लिए तप (अनुशासन तथा साधना) न हो, जिनके मन मे माता, पिता, गुरुजन, ज्ञानीजन तथा परमेश्वर के लिए भक्तिभाव अथवा प्रेमभाव न हो, जो जिज्ञासु न हो (मन मे जिज्ञासा, जानने की इच्छा न हो), जो अशुश्रूषु हो (जो सुनना भी न चाहते हो अथवा जिनमे सेवाभाव न हो) तथा जो घोर नास्तिक, पूर्वाग्रहग्रस्त, द्वेषी और कुतर्कवादी (मताग्रही) हो।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भक्त, द्वेषरहित, अनघ तथा भरतर्षभ इत्यादि कहकर प्रशसित किया[2] तथा उसे गीतोपदेश का अधिकारी घोषित किया। अर्जुन उत्तम जिज्ञासु और श्रद्धावान् था, यद्यपि वह भ्रान्त होकर प्रज्ञावाद मे फँसा हुआ था।

जो मनुष्य अहकारी है तथा अपने को महाज्ञानी मानकर कुछ सीखना ही नही चाहता, वह उपदेश का तिरस्कार करता है। जिसमे दोषदृष्टि (सबमे दोष देखने की वृत्ति) होती है, वह उत्तम ज्ञान का दुरुपयोग ही करता है। गो-तृण खाकर भी दुग्ध देती है तथा सर्प दुग्ध पीकर भी विष-वमन करता है।[1] पवित्र श्रद्धा ही मनुष्य को नम्र तथा उत्तम ज्ञान के प्रति ग्रहणशील बनाती है।[2] श्रेष्ठ गुरु सुपात्र को ही ज्ञानोपदेश देता है, कुपात्र को श्रद्धाभाव उत्पन्न होने पर अर्थात् उसके सुपात्र एव अधिकारी होने पर ही उपदेश देता है।

**य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।**
**भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥**
**न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तम.।**
**भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥**
**अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।**
**ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्ट. स्यामिति मे मतिः ॥७०॥**
**श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।**
**सोऽपि मुक्त. शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ७१**

**शब्दार्थ :** यः मयि परा भक्ति कृत्वा इम परमं गुह्य मद्भक्तेषु अभिधास्यति = जो मुझमे पराभक्ति करके इस परम गुह्य (रहस्य, गोपनीय तत्त्व) को मेरे भक्तो मे कहेगा, (स.) असंशय मा एव एष्यति = (वह)

---

१ उपक्रम २ ११ तथा उपसहार १८ ६६

२. भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।
—गीता, ४ ३

इद तु ते गुह्यतम प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।—गीता, ९ १

---

१ पात्रापात्रविवेको अस्ति धेनुपन्नगयोरिव।
तृणात्संजायते क्षीरं क्षीरात्संजायते विषम्॥
—व्यास

—पात्र और अपात्र मे गौ तथा सर्प जैसा अन्तर है। गौ को खिलाये हुए तृणो से दूध बनता है और सर्प को पिलाये हुए दूध से विष बनता है।

२ स्वामी रामकृष्ण परमहस कहते थे कि जैसे उच्च शिखर पर जल नही ठहरता तथा नीचे स्थल मे ही जल जमा होता है, वैसे ही अभिमानी मनुष्य मे ग्रहणशीलता नही होती, विनम्र पुरुष मे ही ग्रहणशीलता होती है। महात्मा ईसा ने पर्वत-शिखर के श्रेष्ठ उपदेश के अन्त मे कहा कि शूकरो के सामने मोती नहीं डालना चाहिए, कही ऐसा न हो कि वे उन्हें कुचलकर मोती देनेवाले पर ही आक्रमण कर दें।

निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। **च न तस्मात् मे प्रियकृत्तम मनुष्येषु कश्चित्**=और न उससे (अधिक) मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्यो मे कोई (है), **च न तस्मात् मे प्रियतरः भुवि अन्य भविता**=और न उससे (अधिक) मेरा अधिक प्रिय पृथ्वी पर दूसरा होगा। **च यः आवयो. इमं धर्म्यं सवाद अध्येष्यते**=और जो हमारे इस धर्म-मय सवाद का अध्ययन करेगा (नित्य पढेगा), **तेन अह ज्ञानयज्ञेन इष्ट॰ स्याम्**=उससे मैं ज्ञान-यज्ञ से अर्चित हो जाऊँगा, **इति मे मति**=ऐसा मेरा मत है। **य॰ नर श्रद्धावान् च अनसूय॰ शृणुयात् अपि**=जो श्रद्धावान् और दोषदृष्टिरहित मनुष्य (इसे) सुनेगा ही, **स अपि मुक्त पुण्यकर्मणा शुभान् लोकान् प्राप्नुयात्**=वह भी पापमुक्त हुआ पुण्यकर्म करनेवाले पुरुषो के शुभ लोको को प्राप्त होगा।

**वचनामृत** जो मनुष्य मुझमे पराभक्ति करके इस परम गुह्य (रहस्यपूर्ण एव गोपनीय तत्त्व) को मेरे भक्तो मे कहेगा, वह निस्सदेह मुझे ही प्राप्त होगा। और न उससे अधिक मेरा प्रिय कार्य करने-वाला मनुष्यो मे कोई है और न उससे अधिक मेरा प्रिय पृथ्वी पर कोई अन्य होगा। और जो हमारे इस धर्ममय सवाद का अध्ययन करेगा, उससे भी मैं ज्ञान-यज्ञ से अर्चित हो जाऊँगा, ऐसा मेरा मत है। जो श्रद्धावान् और दोषदृष्टिरहित मनुष्य इसे सुनेगा, वह भी पापमुक्त होकर पुण्यकर्म करने-वाले पुरुषो के शुभ लोको को प्राप्त कर लेगा।

**सन्दर्भ :** भगवान् श्रीकृष्ण गीता का माहात्म्य कहते हैं। गीता-रसामृत का प्रचार और प्रसार भी भगवत्प्राप्ति का साधन है।

**रसामृत :** उत्तम वस्तु एव व्यक्ति के गुणो का ज्ञापन, प्रचार तथा प्रसार करना समाज की उत्तम सेवा है। सद्ग्रन्थो एव श्रेष्ठ पुरुषो की अभ्यर्चना करना सद्गुणो की प्रस्थापना मे विशेष सहायक होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत श्रीकृष्णार्जुन-सवाद मानव-मात्र के लिए उपयोगी एव कल्याणकारक है। ऐसे दुर्लभ दुष्प्राप्य जीवन-दर्शन का प्रचार करना न केवल अन्यजन के लिए, बल्कि स्वय प्रचारक के लिए भी अभ्युदयकारक एव उन्नतिदायक है। अन्धकार मे भटकते हुए तथा अपार कष्ट एव क्लेश सहन करते हुए लोगो का मार्गदर्शन करना अत्यन्त पुण्यप्रद है। पापपकपतित लोगो का उद्धार करके उन्हे निर्मल बनाना तथा सन्मार्ग पर आरूढ करना महान् धर्म है। जब समाज मे अज्ञान, दुराचार एव पापाचार प्रबल हो जाते हैं तथा उद्धार का मार्ग विलुप्त हो जाता है, तब कोई महापुरुष अपने महान् चारित्रिक आदर्शो एव सदुपदेश के प्रकाश द्वारा समस्त समाज को आलोक प्रदान करता है तथा उद्धारकर्ता हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण का जीवन तथा उनका उपदेश सम्पूर्ण मानवता के लिए अमूल्य निधि है। भगवान् श्रीकृष्ण ने वेदो के सार-सग्रह को गीतो-पदेश के रूप मे सखा एव शिष्य अर्जुन के माध्यम से समस्त मानवता के हितार्थ प्रस्तुत किया।

श्रीकृष्ण गीतामृत के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य इस परम रहस्यमय एव गूढ उपदेश का जिज्ञासुजन के समक्ष विवेचन करेगा एव उसकी प्रस्थापना करेगा तथा गीता-प्रचार को भी भगवद्भक्ति ही समझेगा, वह गीता के तत्त्व का सूक्ष्म निरूपण करता हुआ भगवान् को प्राप्त कर लेगा। गीता का ज्ञान सरल होकर भी सूक्ष्म तथा गहन है। गीता के उपदेश का लाभ उसका श्रवण करनेवाले की अपेक्षा उसके विविध प्रकार से निरूपण करनेवाले को अधिक होता है। शिक्षण करने से मनुष्य स्वय भी सीखता है तथा अपने मार्ग को सुगम बना लेता है। शिक्षक को विनम्र होना चाहिए तथा उसे शिक्षण एव उपदेश करने का अवसर प्राप्त होने को भगवत्कृपा मानना चाहिए।[1] उत्तम पुरुष अन्धकार को पार करके दूसरो को भी पार करा देता है।[2] समार का

---

१ गीता (१० ९) में परस्पर चर्चा का महत्त्व कहा गया है।

२ असस्कृतास्तु सस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसस्कृतं। —जिनका उद्धार हो चुका है, उन्हें दूसरो का उद्धार

प्रत्येक मनुष्य गीता के अध्ययन एव प्रचार तथा भगवत्प्राप्ति का अधिकारी है।

जो मनुष्य गीतोपदेश का प्रचार करते है, वे भगवान् का ही कार्य करते हैं तथा भगवान् की कृपा प्राप्त कर लेते हैं एव भगवान् के प्रिय हो जाते हैं। गीतोपदेशक को शिक्षक होने का अहकार नही करना चाहिए तथा स्वय को दैवी उपकरण मानकर गीतोपदेश-कार्य द्वारा कृतार्थता का अनुभव करना चाहिए। वास्तव मे गीतोपदेश के शिक्षक को न केवल गीता के तत्त्वार्थ का स्पष्ट ज्ञान ही होना चाहिए, बल्कि उसे स्वय भी एक उत्तम साधक होना चाहिए। उत्तम पुरुष भगवद्भाव मे निमग्न होकर गीतोपदेश के गूढ तत्त्वों की व्याख्या करते हैं तथा गीताशास्त्र की परम्परा को आगे ले जाते हैं। मनुष्यो को कर्म, भक्ति और ज्ञान की ओर प्रवृत्त करना भगवत्सेवा ही है।

भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुन का मनोहारी, क्लेशहारी तथा आनन्ददायक सवाद धर्म के गूढार्थ का निरूपण करता है। अतएव इसका अध्ययन एक प्रकार का ज्ञान-यज्ञ ही है अर्थात् भगवत्प्राप्ति का उत्तम साधन है।[1] गीता का पठन ( मूल श्लोको का पढना ), अध्ययन ( अर्थ समझकर अभ्यास करना ) और पाठन ( पढाना ) भगवत्पूजा है तथा अन्त करण की शुद्धि द्वारा भगवत्प्राप्ति का सरल उपाय है।

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त होकर तथा दोष-दृष्टि त्यागकर गीता-शास्त्र का केवल श्रवण ही करेगा, वह भी पाप मुक्त होकर निर्मलचित्त हो जायगा तथा उत्तम गति प्राप्त कर लेगा। जिस मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है।[1] श्रद्धा होने पर अर्थबोध भी हो जाता है। अहकारवश दोषदर्शन करनेवाले श्रद्धाविहीन मनुष्य कभी जिज्ञासु तथा ग्रहणशील नही हो सकते।

श्रद्धा का समावेश होने पर ही शिक्षा कल्याणकारी होती है। जब शिक्षक का उद्देश्यमात्र धनार्जन होता है, तब वह शिक्षा नही देता, बल्कि एक सौदा बेचता है तथा जब शिक्षार्थी के मन मे शिक्षक तथा शिक्षा के प्रति श्रद्धा नही होती और वह धन को विद्या खरीदने का साधन तथा विद्या को धन अर्जन करने का साधन समझता है, तब वह भी केवल एक सौदा ही खरीदता है। शिक्षा का उद्देश्य उत्तम गुणो के विकास के लिए प्रेरणा देना अथवा चारित्रिक निर्माण करना है। उत्तम शिक्षक शिक्षण-कार्य को भगवत्कृपा मानकर आत्मकल्याण का सुअवसर मानता है तथा वह शिष्य को ज्ञान का प्रकाश देकर कृताथ हो जाता है। उत्तम शिष्य ज्ञान एव ज्ञानदाता के प्रति अत्यन्त श्रद्धायुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करता है तथा मार्गदर्शन पाकर सुधन्य हो जाता है। उत्तम शिक्षा ही जीवन-निर्माण कर सकती है। ज्ञान के आदान-प्रदान मे पवित्रता की आवश्यकता होती है।

**कच्चिदेतच्छ्रुत पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।**
**कच्चिदज्ञानसमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥**

**शब्दार्थ :** पार्थ कच्चित् एतत् त्वया एकाग्रेण चेतसा श्रुतम्=हे अर्जुन, क्या यह ( मेरा उपदेश ) तेरे द्वारा एकाग्रचित्त से श्रवण किया गया, धनञ्जय=हे अर्जुन, कच्चित् ते अज्ञानसमोह. प्रनष्टः=क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न समोह नष्ट हुआ ?

---

करना चाहिए। स्वयं तीर्त्वा परान्तारयति।—स्वय पार होकर दूसरो को पार करता है।

१ यज्ञ चार प्रकार के हैं—विधि-यज्ञ, जप-यज्ञ, उपाशु-यज्ञ और मानस-यज्ञ। ज्ञान-यज्ञ मानस-यज्ञ है तथा सर्वोत्तम है।

१ श्रद्धा का महत्त्व गीता मे अनेक स्थलो पर वर्णित है। ( ९ ३, १७.२, ३ )

रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं कि श्रद्धा-विश्वास वह पक्षी है, जो दिन का प्रकाश होने से पूर्व ही प्रकाश का सूक्ष्म दर्शन करके गाने लगता है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, क्या तूने मेरे इस उपदेश को एकाग्रचित्त से सुना है ? हे धनञ्जय, क्या तेरा अज्ञानजनित समोह नष्ट हो गया ?

**सन्दर्भ** श्रीकृष्ण उपदेश के प्रभाव के विषय मे अर्जुन से प्रश्न करते हैं।

**रसामृत** आचार्य का कर्तव्य शिष्य को केवल शाब्दिक तत्त्वार्थबोध कराना ही नही है, बल्कि उससे यह ज्ञात करना भी है कि उसने कितना ग्रहण किया है। केवल उपदेश देकर ही शिक्षक के कर्तव्य की इतिश्री नही हो जाती। श्रीकृष्ण ने नवचेतना के स्फुरण द्वारा अर्जुन को भयावह विषाद की अवस्था से ऊपर उठाया था तथा उसकी मानसिक अस्वस्थता का आध्यात्मिक उपचार किया था। अज्ञानजनित समोह ने अधकार की भाँति अर्जुन की बुद्धि को आच्छादित कर दिया था, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रकाश ने विदीर्ण करके अर्जुन का मार्गदर्शन किया।[1] उपदेश के अन्त मे गुरु ने शिष्य से सीधा प्रश्न किया—"हे अर्जुन, क्या तूने मेरा उपदेश सावधान होकर एकाग्रता से सुना है ? क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न समोह नष्ट हो गया ?" कुशल गुरु शिष्य से यह स्पष्ट निर्णय कराते हैं कि उपदेश का समापन एव उपसहार किया जाय अथवा पुन समझाने का प्रयत्न किया जाय।

यदि शिष्य के लिए शोक, मोह, भय, चिन्ता, क्रोध, भ्रान्ति आदि के कारण एकाग्रचित्त होना सभव न हो तो गुरु का कर्तव्य है कि सर्वप्रथम वह आत्मीयता की अभिव्यक्ति द्वारा उसे स्नेहसिक्त एव आश्वस्त कर दे तथा सरल एव रोचक शैली के द्वारा उसे आकृष्ट करके शनै शनै उपदेशामृत द्वारा उसकी चेतना का अभ्युत्थान करे। श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता मे शिक्षण-कला का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया है। ज्ञान से परिपूर्ण तथा चरित्र मे उत्कृष्ट गुरु सपूज्य होता है।

१ शङ्कराचार्यजी ( २ १८ ) अपने भाष्य मे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश का उद्देश्य अर्जुन को युद्ध मे प्रवृत्त करना नहीं था, वल्कि अज्ञान का आवरण हटा देना था।

अर्जुन उवाच

**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।**
**स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥**

**शब्दार्थ** **अर्जुन उवाच**=अर्जुन ने कहा, **अच्युत**=हे श्रीकृष्ण, **त्वत्प्रसादात्**=आपकी कृपा से, **मोहः नष्ट**=मेरा मोह नष्ट हुआ है, **मया स्मृति लब्धा**=मेरे द्वारा स्मृति प्राप्त हुई है, **गतसन्देह स्थित अस्मि**=सशयरहित हुआ, स्थित हूँ, **तव वचन करिष्ये**=आपके वचन का पालन करूँगा।

**वचनामृत** . अर्जुन ने कहा—हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे ( आत्मस्वरूप की ) स्मृति प्राप्त हो गयी है। मै सशयरहित होकर स्थित हूँ तथा आपके आदेश का पालन करूँगा।[1]

**सन्दर्भ** अर्जुन अपनी कृतज्ञता एव कृतार्थता का प्रकाशन करता है।

**रसामृत** अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण का सम्बोधन 'अच्युत' कहकर करता है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वरूप से कभी च्युत ( पतित ) नही होते। अच्युत श्रीकृष्ण के प्रसाद से अर्जुन भी पुनः स्थिर हो गया है। भगवान् का प्रसाद ( भगवत्कृपा ) प्राप्त करना सबसे बडा सौभाग्य है। भगवान् को हृदय मे धारण करनेवाला भक्त भगवान् के प्रसाद से समस्त सकटो को सहज ही पार कर लेता है।[2]

१ इस श्लोक के अर्थ अनेक प्रकार से किये गये हैं।

२. मच्चित्त. सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
—गीता, १८ ५८

भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधत।
सुखं बन्धविमुक्ति. स्यादिति गीतार्थसग्रहः॥
—श्रीधरस्वामी

—भगवद्भक्तियुक्त पुरुष को भगवान् के प्रसाद से आत्मज्ञान होने पर सुखपूर्वक समस्त बन्धन से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, यह गीता का सार है।

भगवान् के प्रसाद से संकट वरदान बन जाते है और मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। भगवद्भक्त कहता है, 'हे प्रभो, मैं सामर्थ्यहीन हूँ, किन्तु आपके प्रसाद से दुर्गम संकट सुगम हो जाते हैं।' पग-पग पर भगवत्कृपा का अनुभव करनेवाला भक्त उत्साह और आनन्द से परिपूर्ण रहता है। अर्जुन गीता-रसामृतरूप प्रसाद प्राप्त करके कृतार्थ हो गया है तथा कृतज्ञता का ज्ञापन कर रहा है।

वास्तव मे गीतोपदेश का उद्देश्य अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित करना नही था, बल्कि उसे भ्रमित करनेवाले मोहरूप अन्धकार से मुक्त करना था। अज्ञानजनित मोह के कारण उसका मन धर्म अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय मे भ्रान्त था। वह कुछ भी निर्णय एवं निश्चय करने मे अक्षम था, उसका मन अस्थिर था। मानसिक दीनता से अभिभूत होकर वह काँप रहा था तथा उसके देह मे प्रकम्प उत्पन्न हो रहा था। श्रीकृष्ण के उपदेशामृत से उसे अपने कर्तव्य का बोध हो गया तथा आत्म एवं अनात्म, नित्य एव अनित्य अथवा सत् एव असत् तत्त्व का भेद स्पष्ट हो गया। अज्ञानजनित मोह नष्ट होने से आत्म-स्वरूप की स्मृति भी उसे पुनः प्राप्त हो गयी।[१] उसका खोया हुआ मानसिक सन्तुलन लौट आया। वह संशयमुक्त होकर स्थित हो गया तथा स्थिर, सम और शान्त हो गया। उसके हृदय मे विषाद का स्थान प्रसाद ( निर्मलता एव सहज प्रसन्नता ) ने ले लिया और वह समचित्त एव सुप्रसन्न, सोत्साह एव सोल्लास होकर कर्तव्य पालन के लिए उठ खड़ा हुआ। प्रफुल्ल होकर शिष्य ने अपने गुरु से कहा—"हे गुरो, हे स्वामिन्, आपके प्रसाद से मेरा समोह नष्ट हुआ, स्मृति ( आत्मस्थिति ) प्राप्त हुई, मैं अब समचित्त एवं सुदृढ हूँ तथा आपके आदेशानुसार आचरण करूँगा।[१] यही गीतोपदेश का अभीष्ट उद्देश्य है। विषादग्रस्त मनुष्यो के लिए गीता-रसामृत परमौषधि है।[२]

सञ्जय उवाच

**इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।**
**संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥**
**व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।**
**योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥**
**राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।**
**केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥**
**तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।**
**विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥**

**शब्दार्थ :** इति अहं वासुदेवस्य च महात्मनः पार्थस्य =इस प्रकार मैंने वासुदेव ( श्रीकृष्ण ) के तथा महात्मा[3] अर्जुन के, इमं अद्भुतं रोमहर्षणं संवादं अश्रौषम्= इस अद्भुत रोमाचकारी सवाद को सुना। व्यासप्रसादात् अहं एतत् परं गुह्यं योगं=व्यास की कृपा से मैंने इस परम गुह्ययोग को, साक्षात् कथयतः स्वयं योगेश्वरात् कृष्णात् श्रुतवान्=साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर कृष्ण से सुना। राजन्=हे राजन्, केशवार्जुनयोः=केशव और अर्जुन के, इमं पुण्यं च अद्भुतं संवादं=इस पुण्यकारक ( कल्याणकारी ) और अद्भुत संवाद को, संस्मृत्य संस्मृत्य=पुन. पुन. स्मरण करके, मुहुर्मुहुः हृष्यामि=बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। राजन् =हे राजन्, हरेः=हरि के, तत् अति अद्भुतं रूपं च

---

१. स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विमोक्षः।
छान्दोग्य उप०, ७ २६.२
—ज्ञान के प्रभाव से अज्ञानजनित हृदय-ग्रन्थि ( बुद्धि में गाँठ ) छिन्न हो जाती है।

१. भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के प्रारम्भ मे २.६२, ६३, ६४, ६५ ) समोह, स्मृति, प्रसाद की चर्चा की है।

२ अर्जुन द्वारा 'अच्युत' कहकर सम्बोधन करना भी साभिप्राय है।

अच्युतानन्त गोविन्द नामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकलाः रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥
—अच्युत, अनन्त, गोविन्द नाम लेना औषधि है, जिससे सकल रोग नष्ट हो जाते हैं।

३. कुछ टीकाकारो ने श्रीकृष्ण को महात्मा कहा है।

संस्मृत्य संस्मृत्य—उस अति अद्‌भुत रूप को भी पुनः पुनः स्मरण करके, मे महान् विस्मयः—मेरा महान् विस्मय ( है ), च पुनः पुनः हृष्यामि—तथा पुन. पुनः हर्पित हो रहा हूँ।

**वचनामृत :** संजय ने कहा—इस प्रकार मैंने वासुदेव तथा महात्मा अर्जुन के इस अद्‌भुत रोमाञ्चकारी सवाद को सुना। व्यासजी की कृपा से मैंने इस परम गुह्ययोग को साक्षात् कहते हुए स्वय योगेश्वर श्रीकृष्ण से सुना। हे राजन्, श्री केशव और अर्जुन के इस कल्याणकारक और अद्‌भुत सवाद को पुन पुनः स्मरण करके मैं वार-वार हर्पित हो रहा हूँ। हे राजन्, श्री हरि के उस अद्‌भुत रूप को पुन पुन स्मरण करके मेरे मन मे महान् आश्चर्य हो रहा है और मैं पुन पुन हर्पित हो रहा हूँ।

**सन्दर्भ :** सजय अपनी कृतार्थता का प्रकाशन करता है।

**रसामृत :** उत्तम पुरुपो का क्षणमात्र का भी सत्सग और उनका मात्र दर्शन मानस-पटल पर अमिट सस्कार उत्पन्न कर देता है तथा उनका स्मरण प्रेरणा का अखड स्रोत बनकर महानिधि हो जाता है। यह सजय का सौभाग्य था कि महर्पि व्यास ने उसे दिव्य दृष्टि द्वारा महाभारत का युद्ध देखने तथा उसके प्रारम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के आह्लादकारी सवाद का साक्षात् श्रवण करने की क्षमता दे दी। महर्पि व्यास ने सजय के जीवन की पवित्रता देखकर तथा उसे सत्पात्र मानकर ही उसे दिव्य-दृष्टि प्रदान की थी। सजय ने महर्षि व्यास के प्रसाद अथवा प्रसन्नतापूर्ण कृपा के लिए हार्दिक कृतज्ञता का ज्ञापन किया। सन्तो एव सद्‌गुरु की कृपा से भगवत्कृपा सुलभ होती है। सन्त एव सद्‌गुरु पृथ्वी पर भगवान् के प्रतीक, प्रतिनिधि अथवा दूत होते हैं। नितान्त निस्स्वार्थ, निर्मल और निरहकार तथा प्रेमपूर्ण एवं त्यागपूर्ण पुरुष ही सन्त अथवा सद्‌गुरु हो सकते हैं। ऐसे श्रेष्ठ पुरुपो को भगवान् की सत्ता और दिव्यता की सूक्ष्म अनुभूति प्राप्त होती है तथा वे ही धर्म-प्रचार के सच्चे अधिकारी हैं।

महर्पि व्यास की असाधारण कृपा से सजय ने भगवान् श्रीकृष्ण तथा महात्मा अर्जुन के विलक्षण तथा रोमाचकारी सवाद को सुना। उसने योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुखारविंद से कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग और उनके अन्तर्गत ध्यानयोग, अष्टागयोग इत्यादि अनेक योगों की रहस्यपूर्ण गूढ़ता के उद्‌घाटन तथा उनके सुगम एव सरस निरूपण का श्रवण किया।

यह सवाद न केवल कल्याणकारक था, वल्कि ऐसा विलक्षण था कि उसका स्मरण सजय को अनायास ही पुन पुन हो रहा था। उसके मन पर उसका प्रगाढ सस्कार अकित हो चुका था तथा वह उसके स्मरण मे निमग्न होकर पुन पुन हर्पित हो रहा था। वह आश्चर्यचकित था कि जिस अर्जुन ने कुछ समय पूर्व कांपते हुए कहा था, 'मै युद्ध नही करूँगा', वह दृढ होकर कह रहा था, 'मै आपके आदेश का पालन करूँगा। किन्तु जो घटना अविस्मरणीय होकर उसे पुन पुन हर्षातिरेक के कारण रोमाचित कर रही थी, वह हरि अर्थात् पाप-हरण करनेवाले श्रीकृष्ण का विश्वरूप अथवा विराट् रूप था। वह जितना उसका स्मरण करता था, उतना ही आश्चर्यचकित एव आनन्दमग्न हो जाता था। उसके लिए उस दिव्य दर्शन का विस्मरण होना कठिन हो रहा था।[1]

---

१ डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं कि 'कृष्णार्जुन-सवाद तथा परमात्मा की वास्तविकता दार्शनिक प्रस्थापनाएँ नहीं हैं, आध्यात्मिक तथ्य हैं। हम उनको केवल सुनकर उनके अर्थ को नहीं समझ सकते, वल्कि प्रार्थना और ध्यान द्वारा उन पर मनन करके समझ सकते हैं।'

वो खुशबू से सवको महका गये,
और अपनी खुशबू से अपना पता दे गये।

**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।**
**तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥**

**शब्दार्थ :** यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र धनुर्धरः पार्थं =जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण ( तथा ) जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है, तत्र श्रीः विजय भूति ध्रुवा नीतिः=वहाँ श्री ( शोभा ), विजय, भूति ( विभूति, ऐश्वर्य, उन्नति ), अचल नीति अर्थात् न्याय एव धर्म ( है ), **मम मतिः**= मेरी निष्ठा ( ऐसी ) है।

**वचनामृत** · जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन है, वही श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।

**सन्दर्भ :** सजय सत्य की महिमा को प्रतिष्ठित करता है। यह श्लोक कण्ठाग्र कर लेना चाहिए।

**रसामृत :** पुण्यात्मा सजय न केवल महाभारत-युद्ध के सभावित परिणाम के सबध मे अपना मत प्रकट कर रहा है, बल्कि जीवन के एक महान् तथ्य का निरूपण कर रहा है। जीवन की पूर्णता उसके समग्र विकास एव अभ्युदय मे निहित है। जहाँ अध्यात्म का सूर्य देदीप्यमान होता है तथा जहाँ पुरुषार्थ एव प्रयत्न है, वहाँ श्री अर्थात् शोभा एव सुयश है, विजय अर्थात् सफलता है, भूति अर्थात् समृद्धि, सम्पन्नता एव ऐश्वर्य है तथा ध्रुव नीति अर्थात् अचल न्याय एवं व्यवहार है। जहाँ योग-शक्तियो के अधिष्ठाता एव स्रोत श्रीकृष्ण है, वहाँ धर्म है तथा वहाँ विजय है।[१] जहाँ भगवद्-भक्ति है तथा पुरुषार्थ का बल है, वहाँ सद्गुणो का उत्कर्ष है तथा उन्नति, सुख और शाति है। जहाँ ज्ञानपूर्ण एव त्यागपूर्ण श्रेष्ठ गुरु है तथा श्रद्धालु एव निश्छल शिष्य है, वहाँ विद्या कल्याण-कारी है। जब मनुष्य ज्ञानोपदेश का श्रवण करके भी कामान्धता ( कामना एव लोभ की अन्धता ) मे स्थित होकर, भौतिक सत्ता को दृढता से पकड़े रहता है, वह अन्धे धृतराष्ट्र की भाँति अपने तथा अपने कुटुम्ब के विनाश का कारण होता है।

भगवद्गीता का प्रथम श्लोक प्रस्तावना के रूप मे समस्त गीतोपदेश को एक झलक मे प्रदर्शित कर देता है तथा अन्तिम श्लोक उपसहार के रूप मे उसके सार-तत्त्व को प्रस्तुत कर देता है।

भगवद्गीता के प्रथम श्लोक का प्रथम शब्द है—'धर्म' तथा अन्तिम श्लोक का अन्तिम शब्द है—'मम'। 'धर्म मम' अर्थात् स्वधर्म-पालन गीता का महान् सन्देश है। मनुष्य स्वधर्म का सम्यक् पालन करने पर ही अपना तथा समाज का कल्याण कर सकता है।[१]

जीवन के सभी क्षेत्रो मे स्वधर्म-पालन भग-वत्प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है।

**ॐ तत्सदिति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्-गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-सवादे मोक्षसन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः।**

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद्, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुन सवाद मे मोक्षसन्यास-योगनामक अठारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

**गीतारसामृतप्रभवः परितोषः समागतः।**
**त्वत्प्रसादाच्च श्रीकृष्ण तुभ्यमेव समर्पये ॥**

---

१. भीष्म ने अर्जुन से कहा था—**यतः कृष्णस्ततो धर्मः यतो धर्मस्ततो जय**।—जहाँ कृष्ण हैं वहाँ धर्म है, जहाँ धर्म है वहाँ जय है।

**सत्यमेव जयते**—सत्य की ही जय होती है।

१ मधुसूदन सरस्वती ने अपने गीता-भाष्य 'गूढार्थ-दीपिका' के अन्त मे पाँच श्लोक लिखे हैं, जिनमे प्रथम है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमह न जाने ॥

—जिनके हाथ वशी से विभूषित हैं और देह की कान्ति नव नीरद ( नये मेघ ) जैसी है, जो पीताम्बर धारण करते हैं, जिनके ओष्ठ अरुण बिम्बफल के समान हैं, मुख चन्द्रमा जैसा सुन्दर है, नेत्र कमल के सदृश हैं, उन श्रीकृष्ण से परे ( बढकर ) मैं अन्य किसी तत्त्व को नही जानता।

## सार-संचय

### अष्टादश अध्याय : मोक्षसंन्यासयोग

श्रीमद्भगवद्गीता केवल मानव के व्यक्तिगत जीवन को सोद्देश्य एव उल्लासमय वनाने तथा भग्न जीवन का पुनर्नवीनीकरण करने के उपायो का ही निरूपण नही करती है, वल्कि समग्र मानवता के लिए उन्नति, आशा और आनन्द का सन्देश भी देती है। गीता मे मानव-मात्र के अभ्युदय के मूल सिद्धान्तो का मर्मस्पर्शी वर्णन है तथा उसका उपदेश देश, धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि की मर्यादाओ का अतिक्रमण करता है। यद्यपि ज्ञान विज्ञान की प्रगति के प्रभाव से सस्कृति और सभ्यता मे परिवर्तन होते रहते हैं, मानवीय समस्याओ का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहता है, तथापि मानव की मूलभूत समस्याएँ मानवीय ही होती हैं तथा उनका उपाय भी मूलत मानवीय ही होता है। भगवद्गीता व्यक्ति तथा समाज की, राष्ट्र तथा विश्व की समस्त समस्याओ के मानवीय समाधान के लिए श्रेष्ठ मार्ग-निर्देशन करती है। वही धर्म, दर्शन और साहित्य उत्तम होता है, जो जीवन मे आशा का सचार करता है, सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है। भगवद्गीता एक स्वतत्र, सर्वांगसुन्दर ग्रन्थ है, जिसे उपनिषद् का पद दिया जाता है। गीता श्रेष्ठ ज्ञान का मन्दिर है तथा अठारहवाँ अध्याय उसके कलश के सदृश है। इस अध्याय मे गीता के प्रतिपाद्य तत्त्वो का कुशलतापूर्वक सिंहावलोकन किया गया है।

भगवद्गीता मे आध्यात्मिक क्षेत्र के अनेक पारिभाषिक शब्दो के प्रचलित परस्पर-विरोधी अर्थो का समन्वय है। सन्यास तथा त्याग के ऐसे अनेक अर्थ किये गये हैं, जिनसे भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, किन्तु भगवद्गीता मे उन्हे एक स्तर पर ला दिया गया है। मीमासको ने कर्म पर तथा वेदान्तवादियो ने सन्यास ( कर्मत्याग ) पर बल दिया, किन्तु स्मृतिवादियो ने ब्रह्मचर्य एव गृहस्थ आश्रम मे कर्म पर तथा शेष दो आश्रमो मे संन्यास ( कर्म-त्याग ) पर वल दिया। भगवद्गीता मे समन्वयात्मक दृष्टि के कारण आसक्ति-त्याग एव फलाशा-त्याग पर वल दिया है तथा उसे ही कर्मयोगी का सन्यास कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भी अत्यन्त कुशलतापूर्वक भक्तिप्रधान निष्काम कर्मयोग की प्रस्थापना की है। वास्तव मे समन्वय न केवल व्यावहारिक होता है, वल्कि आध्यात्मिक विकास के लिए भी आवश्यक होता है।

अठारहवे अध्याय के प्रारम्भ मे ही अर्जुन प्रश्न करता है कि सन्यास तथा त्याग का स्पष्ट अर्थ क्या है। श्रीकृष्ण इस सवध मे विभिन्न मतो की चर्चा करते हुए त्याग को तीन प्रकार का कहते हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। नियत कर्म ( अर्थात् कर्तव्य-कर्म ) को सहज भाव से अवश्य करना चाहिए, किन्तु आसक्ति एव फल को त्यागकर करना चाहिए - यह सात्त्विक त्याग है। कर्तव्य-कर्म को कष्टकारक मानकर त्याग देना राजस त्याग तथा प्रमादवश त्याग देना तामस त्याग है। वास्तव मे कर्म का राजस तथा तामस त्याग निरर्थक और निन्दनीय है। सात्त्विक त्यागी राग-द्वेष से ऊपर उठकर तथा आसक्ति त्यागकर कर्म करता है। श्रीकृष्ण एक महान् तथ्य का कथन करते हैं कि देहधारी मनुष्य के लिए कर्म का पूर्ण त्याग तो सभव ही नही है तथा जीवन-धारण के लिए प्रत्येक मनुष्य को कुछ कर्म तो अवश्य ही करना होता है, अतएव कर्मफल का त्याग ही त्याग है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि समस्त कर्मो के पाँच कारण अथवा हेतु होते हैं - अधिष्ठान ( आधार अर्थात् देह ), कर्ता ( कर्म करनेवाला, जीवात्मा अथवा जीवात्मा का अहकार ), करण ( दस इन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि ), अनेक प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ ( प्राण इत्यादि की

चेष्टाएँ ) तथा पाँचवाँ दैव ( पूर्वकाल मे कृत-कर्मों के संस्कारो का फल, जो प्रारब्ध भी कहलाता है अथवा ईश्वर का दैवी विधान, जिसका ज्ञान मनुष्य को नही होता अथवा इन्द्रियो के अधिष्ठाता आदित्य आदि देवता अर्थात् दैवी शक्तियाँ )। मनुष्य जो भी भला या बुरा कर्म करता है, उसमे ये पाँचो हेतु होते हैं। किन्तु ज्ञानी पुरुष मे कर्तृत्व का अहकार नही रहता ( मैं कर्म का कर्ता हूँ, ऐसा भाव नही रहता )। चैतन्यस्वरूप आत्मा प्रकृति अथवा माया से उत्पन्न होनेवाले पाँचो कारणो से पृथक् होता है, वह कदापि कर्ता नही होता, यद्यपि प्रतिबिम्बित सूर्य जल मे चचल एव सक्रिय प्रतीत होता है, किन्तु बिम्ब चचल नही होता। जिसकी बुद्धि ( फलादि की कामना द्वारा ) कर्म मे लिप्त अथवा आसक्त नही होती, वह कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होता है। वह हिंसा और अहिंसा की सीमा से ऊपर उठ जाता है। कर्म बन्धनकारक नही होता, वल्कि कर्तृत्व का अभिमान ( मै कर्म करता हूँ, ऐसा भाव ) ही बन्धन का कारण होता है। ज्ञानी चिन्तन, मनन, वैराग्य आदि के अभ्यास द्वारा ( मैं आत्मा हूँ, देह नही हूँ तथा आत्मा प्रकृति से सर्वथा पृथक् होने के कारण कर्म का कर्ता नही होता इत्यादि अभ्यास द्वारा ) आत्मसस्थित होकर कर्म करते हुए भी कर्म के कर्तृत्व से मुक्त हो जाता है। ज्ञानी चित्त-शुद्धि के लिए कर्तव्य-कर्म करता है तथा आसक्त नही होता।

भक्ति-प्रधान कर्मयोगी कर्म-समर्पण तथा आत्मसमर्पण द्वारा तथा आसक्ति-त्याग द्वारा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है अर्थात् वह कर्म के सस्कार ( मन पर प्रभाव ) तथा उसके फल से मुक्त हो जाता है। यद्यपि दोनों—ज्ञानयोग तथा कर्मयोग—का लक्ष्य एक ही है, तथापि कर्मयोग सहज और सुगम है। ज्ञानयोगी चित्त-शुद्धि के लिए, किन्तु कर्मयोगी, भक्ति द्वारा भगवान् के साथ एकात्म होकर, भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करता है तथा भगवान् को कर्म का समर्पण करके कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है।[1] साधारण मनुष्य अहकार तथा अहकार से उत्पन्न कामना से कर्म मे प्रवृत्त होता है तथा अहकार-सतुष्टि एव कामना की पूर्ति ( अथवा तृप्ति ) के लिए कर्म

[1] वेदान्तवादी कहते हैं कि इस अध्याय के प्रारम्भ मे 'संन्यास' शब्द द्वारा अर्जुन का अभिप्राय गौण-सन्यास है तथा श्रीकृष्ण भी उसे यही समझकर उत्तर देते हैं। यह गौण-सन्यास और कर्मफल-त्याग एक ही हैं तथा कर्मफल त्याग को गौरवान्वित करने के लिए उसे सन्यास कहा गया है। अनाश्रित कर्मफल कार्यं कर्म करोति य। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय ॥ ( गीता, ६.१ ) संन्यास दो प्रकार का कहा गया है—मुख्य सन्यास तथा गौण सन्यास। मुख्य संन्यास के भी दो भेद हैं—विद्वत् संन्यास तथा विविदिषा-सन्यास। विद्वत् सन्यास का अर्थ है ज्ञान ( ब्रह्म ही सत् है, यह सब ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ इत्यादि के चिन्तन, मनन और अभ्यास द्वारा प्रस्थापना ) के परिपक्व होने पर सर्वकर्मसन्यास ( अर्थात् कुछ भी कर्तव्य कर्म शेष न रहना तथा चिन्तन-मनन मे संलग्न रहना ) तथा विविदिषा-सन्यास का अर्थ है चित्त-शुद्धि के लिए कर्म करते हुए चित्त शुद्धि होने पर केवल आत्म-चिन्तन के लिए सर्वकर्मत्याग अथवा सर्वकर्मसन्यास ( कुछ कर्तव्य कर्म शेष न रहना तथा चिन्तन मनन मे सलग्न रहना )। गौण-सन्यास साधारण कर्मफल-त्याग का ही दूसरा नाम है। मुख्य सन्यासी त्रिगुणातीत होकर परब्रह्म परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर लेता है तथा ब्रह्म ही हो जाता है। ज्ञानयोग की दृष्टि से मनुष्य चित्त-शुद्धि होने तक कर्म का अधिकारी रहता है तथा उसे कर्म करते रहना चाहिए। जाबाल उपनिषद् में इसकी चर्चा है। वेदान्तवादियों की दृष्टि मे निष्काम कर्मयोग ज्ञानयोग का साधन है तथा कर्म से चित्त-शुद्धि होने पर विविदिषा-सन्यास ( सर्वकर्म-परित्याग ) द्वारा तत्त्वज्ञान का उदय अनायास ही हो जाता है। मुख्य संन्यास के दोनो प्रकारो में कोई विशेष भेद नहीं है तथा सर्वफलत्याग एवं आसक्तित्याग भी कर्मयोगी का सन्यास ही है।

करता है, कर्मयोगी भक्त अन्तर्प्रेरणा अथवा प्रभु-प्रेरणा से कर्म मे प्रवृत्त होता है और प्रभु-प्रीत्यर्थ (भगवान् की प्रसन्नता के लिए) कर्तव्य-कर्म करता है। ज्ञानयोगी चित्त-शुद्धि के लिए चित्त-शुद्धि होने तक कर्म करता है। भक्ति न केवल कर्मयोग का आधार है, वल्कि उसका लक्ष्य भी है। ज्ञानयोग तथा भक्तियोग की अन्तिम अवस्था एक ही है। ज्ञानी सृष्टि को ब्रह्ममय देखता है तथा भक्त राममय तथा कृष्णमय। दोनो भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं तथा दोनो कर्तव्य-कर्म से ऊपर उठ जाते हैं और अन्त मे कर्म उनसे स्वत छूट जाता है। किन्तु ऐसी जीवन्मुक्त अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। जीवन्मुक्त पुरुष को सकल्प-सिद्धि प्राप्त हो जाती है, उसके लिए कर्तव्य-कर्म शेष नही रहता। वह लोकसग्रह के लिए कर्म कर सकता है।

ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय कर्म के प्रवर्तक हैं अर्थात् इनके सयोग से कर्म मे प्रवृत्ति होती है। ज्ञान, कर्म और कर्ता सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के वर्णित हैं। पृथक्-पृथक् प्रतीत होनेवाले सव प्राणियो मे एक ही अविनाशी परमब्रह्म परमात्मा का अविभक्त रूप से दर्शन करना अर्थात् विषमता मे समता, भिन्नता मे अभिन्नता तथा अनेकता मे एकता का दर्शन (जैसे कगन, कुण्डल आदि मे एक स्वर्ण का ही दर्शन) करना ज्ञान है। सम्पूर्ण प्राणियो को पृथक्-पृथक् जानना राजस ज्ञान है तथा तत्त्वार्थरहित, युक्तिरहित तथा मनमाना तुच्छ ज्ञान तामस होता है। जो कर्तव्य-कर्म आसक्ति-रहित होकर, फलकामना त्यागकर तथा राग-द्वेष से मुक्त होकर किया जाता है, वही सात्त्विक है। जो कर्म मिथ्याभिमान की सतुष्टि के लिए तथा फल की कामना से किया जाता है, वह राजस है तथा जो कर्म परिणाम, हिंसा, हानि आदि का बिना विचार किये हुए और सामर्थ्य से भी बढकर केवल मोह एव अज्ञान से किया जाता है, वह तामस है।

जो पुरुष आसक्तिरहित और अहकाररहित होता है तथा धृति (धैर्य) और उत्साह से युक्त होता है तथा सफलता-विफलता, जय-पराजय, हर्ष-शोक आदि मे सम रहता है, वह सात्त्विक कर्ता है। सात्त्विक कर्ता प्रवाहपतित (अपने मार्ग मे आये हुए) कर्म को ईश्वरप्रदत्त एव ईश्वर-प्रेरित मानकर करता है। आसक्तिरहित सात्त्विक पुरुष के शिवसकल्प बलवान् होते हैं। जो मनुष्य आसक्ति से युक्त होकर कर्मों के फल की इच्छा और लोभ से कर्म मे प्रवृत्त होता है तथा दूसरो को कष्ट पहुँचाने मे सकोच नही करता, स्वार्थ-पूर्ति के लिए भ्रष्ट आचरण करता है और दु ख-सुख मे झूलता रहता है, वह राजस कर्ता है। जो मनुष्य उत्तम सस्कारो से विहीन होता है, घमण्डी, शठ (दुष्ट अथवा शैतान) और दूसरो की आजीविका का हनन करनेवाला होता है, आलसी और दीर्घ-सूत्री (काम करने मे ढीला) होता है, वह तामस कर्ता है। ऐसा नर-पशु बडो का अकारण अपमान करने मे, उद्दण्डता दिखाने मे, प्रतिशोध (वदला लेने) मे और दूसरो को सताने मे सुख मानता है। तामस कर्ता अविवेकी अर्थात् विना सोच-विचार किये जल्दबाजी तथा उतावली मे काम करनेवाला होता है। क्षणिक उत्तेजना से कर्म मे प्रवृत्त होनेवाले तामस कर्ता को घोर कष्ट उठाना पडता है।

बुद्धि और धृति (धारणा-शक्ति, दृढता और धैर्य) भी तीन प्रकार की होती है। सात्त्विक बुद्धि होने पर मनुष्य कर्म में प्रवृत्ति तथा कर्म से निवृत्ति, कर्तव्य तथा अकर्तव्य, भय तथा अभय और कर्म-बन्धन तथा मोक्ष के मर्म को जान लेता है। मनुष्य राजस बुद्धि होने पर स्वार्थ के कारण धर्म तथा अधर्म, कर्तव्य तथा अकर्तव्य, उचित तथा अनुचित, भले और बुरे का भेद नही करता तथा तामस बुद्धि होने पर अधर्म को धर्म, अनुचित को उचित और बुरे को भला समझता है, मनमाना आचरण करता है।

मनुष्य जिस धृति ( बुद्धि की धारणा-शक्ति, दृढता और धैर्य ) से मन, प्राण और इन्द्रियो की क्रियाओ को धारण करता है, वह सात्त्विक धृति है। मनुष्य कर्मफल की इच्छा से प्रेरित होकर तथा प्रगाढ आसक्ति होने पर जिस धृति से धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है अर्थात् इनमे स्वार्थ-पूर्ति के लिए प्रवृत्त होता है, वह राजस धृति है। दुष्ट-बुद्धि मनुष्य जिस धृति से निद्रा, आलस्य, भय, चिन्ता, शोक, मदमत्तता को पकड़े रहता है, वह तामस धृति है।

सुख भी तीन प्रकार के है —सात्त्विक, राजस और तामस। जो सुख प्रारभ मे विष के तुल्य कष्टकारक प्रतीत होता है तथा परिणाम मे अमृत के सदृश कल्याणकारक सिद्ध होता है तथा जो भगवत्‌विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है अर्थात् तुच्छ भौतिक सुख-भोग से ऊपर उठकर भगवान् की ओर उन्मुख होने से स्वत प्राप्त होता है, वह सात्त्विक सुख है। सचाई, ईमानदारी और परिश्रम से धन कमानेवाले तथा अपने तुच्छ स्वार्थ छोडकर दीन-दु.खी जनो की निस्स्वार्थ सेवा करनेवाले, उत्तम ग्रन्थो का स्वाध्याय करके ससार मे अज्ञान का अधकार दूर करनेवाले, स्वय कष्ट सहकर दूसरो के कष्ट को दूर करनेवाले तथा भगवद्-भजन करनेवाले सत्पुरुष सात्त्विक सुख प्राप्त करते हैं। जो क्षणिक सुख इन्द्रियो तथा उनके विषयो ( रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श ) के सयोग से प्राप्त होता है तथा उस समय अमृत के सदृश प्रतीत होता है, किन्तु अन्त मे धन, शक्ति आदि के क्षय के कारण विषमय सिद्ध होता है, वह राजस सुख है। जो सुख प्रारभ मे तथा अन्त मे आत्मा को विमोहित करता है अर्थात् मनुष्य को मूढता और अज्ञान की ओर प्रवृत्त करता है तथा विवेक का हरण कर लेता है, तथा जिसमे निद्रा, आलस्य और प्रमाद की प्रधानता होती है, वह सुख तामस है। भोगवादी सस्कृति प्रगति की आड़ मे मनुष्यो को राजस और तामस सुख की ओर आकृष्ट करके व्यक्ति तथा समाज के जीवन मे विप अर्थात् सकट और क्लेश उत्पन्न कर रही है।

प्रत्येक समाज के चार प्रमुख अग होते हैं—बुद्धिजीवी ब्राह्मणपदवाच्य मनुष्य, शौर्यप्रधान क्षत्रियपदवाच्य मनुष्य, अर्थप्रधान वैश्यपदवाच्य मनुष्य और श्रमप्रधान शूद्रपदवाच्य मनुष्य।[1] ब्राह्मणपदवाच्य पुरुषो के लिए शम अर्थात् अन्तःकरण ( मन, बुद्धि ) का शमन अथवा निग्रह, दम अर्थात् इन्द्रियो का सयम, शौच अर्थात् भीतर और बाहर शुद्धता, तप अर्थात् धर्म ( कर्तव्य ) पालन इत्यादि मे कष्टसहन, क्षान्ति अर्थात् क्षमाभाव,

---

१ महान् चिन्तक एव निर्बल लोगो के प्रबल पक्षधर मार्क्स ने समाज को केवल दो ही वर्गों मे विभाजित किया—धनिक तथा श्रमिक, किन्तु वास्तव मे समाज के चार अंग ही स्वाभाविक हैं। भारतीय मनीषा ने परस्पर घृणा पर आधारित प्रतिद्वन्द्विता, हिंसा और वर्गसघर्ष को प्रोत्साहित नही किया तथा परस्पर प्रेम पर आधारित प्रतिस्पर्धा, अहिंसा एव मानवीय मूल्यो की प्रस्थापना द्वारा सामूहिक समृद्धि एव शांति को महत्त्वपूर्ण समझा। गीता ( ४ १३ ) मे चारो वर्णों की चर्चा है। वर्ण-व्यवस्था गुण, स्वभाव और कर्म के आधार पर बनायी गयी तथा समानान्तर जातियाँ रूढ़ हो गयीं। यद्यपि आनुवंशिकी का प्रभाव तथा महत्त्व विलक्षण ही है, तथापि पर्यावरण का प्रभाव भी अपरिमित होता है। मनुष्य सकल्प तथा साधना द्वारा स्वभाव मे सुधार करके उसे उदात्त बना सकता है।

वह्निः समुद्भवति निर्मथनेन काष्ठा-
दम्भो ददाति वसुधा च निखन्यमाना।
गच्छन् प्रयास्यति शनैरपि चाध्वनोन्त-
मारब्धकार्यं इह किं न नर. करोति॥

—काष्ठ को मथने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, खोदने पर पृथ्वी जल दे देती है, चलते रहने से धीरे-धीरे मनुष्य मार्ग के अन्त तक पहुँच जाता है तथा कार्य को प्रारभ करनेवाला पुरुप क्या नही कर सकता ?

आर्जव अर्थात् निष्कपटता, सरलता, आस्तिक्य अर्थात् ईश्वर एव नैतिक सिद्धान्तो मे विश्वास, ज्ञान अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान तथा विद्या और विज्ञान अर्थात् परमात्मविषयक अनुभव, ये नौ गुण अथवा कर्म स्वाभाविक कर्म हैं। यद्यपि किसी भी गुण की पूर्णता तो असभव होती है, तथापि इन गुणो को धारण एव विकसित करने का सच्चा प्रयत्न ही मनुष्य को ब्राह्मणत्व का अधिकारी एव सपूज्य बनाता है। क्षत्रियपदवाच्य पुरुषो के लिए शूरवीरता अर्थात् अन्याय के प्रतिरोध मे साहस, तेज अर्थात् चारित्रिक महानता के कारण प्रताप एव प्रभाव, धृति अर्थात् धैर्य, दृढता एव धारणा-शक्ति, दक्षता अर्थात् कार्य-कुशलता, युद्ध मे अपलायन अर्थात् रण मे शत्रु को पीठ न दिखाना, दान अर्थात् सामर्थ्य के अनुसार सहायता देना, ईश्वर-भाव अर्थात् स्वामीभाव अथवा प्रजा-पालन, ये क्षत्रियो के स्वाभाविक गुण एव कर्म हैं। कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य ( व्यापार एव उद्योग ) वैश्य-पदवाच्य मनुष्यो के स्वाभाविक गुण एव कर्म हैं। दानशीलता धनार्जन के अन्तर्गत है। वैश्यवर्ग अर्थ-प्रधान होने के कारण समाज का मेरुदण्ड है तथा क्षत्रिय ( मत्री, प्रशासक एव अधिकारी-वर्ग ) द्वारा विशेष रक्षणीय होता है। अर्थ-व्यवस्था का दृढ होना तथा न्याय पर आधारित होना समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है। शूद्रपदवाच्य मनुष्यो के लिए सेवाभाव से शारीरिक श्रम करना स्वाभाविक गुण एव कर्म है। समाज एक शरीर की भाँति है तथा उसके सब अगो का महत्त्व समान है। समाज की उन्नति सभी अगो के समान विकास तथा परस्पर सहयोग पर आधारित है। भगवान् की दृष्टि मे कोई कर्म छोटा अथवा बडा नही है तथा प्रत्येक मनुष्य अपने ही कर्म मे अभिरत रहकर तथा कर्म द्वारा भगवान् की पूजा करके विकास-क्रम मे जीवन की पूर्णता को ही नही, बल्कि भगवान् को भी प्राप्त कर सकता है। कर्मयोग के अन्तर्गत स्वधर्म-पालन करना अर्थात् अपना स्वाभाविक कर्म करना भगवान् की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। किसी अन्य मनुष्य के स्वधर्म को अपने स्वधर्म की अपेक्षा अधिक उत्तम अथवा अधम, भला अथवा बुरा कहना अविवेक है।

मनुष्य को अपना सहज कर्म ( स्वाभाविक कर्म ) सदोष ( युद्ध मे हिंसा इत्यादि दोष के सहित ) प्रतीत होते हुए भी नही छोडना चाहिए, क्योकि पूर्णतः निर्दोष कर्म तो कोई भी नही होता, जैसे बिना धुएँ के अग्नि नही होती। मनुष्य को अपने कर्तव्य-कर्म का निर्णय अपने स्वभाव और सामर्थ्य पर विचार करके ही करना चाहिए। किन्तु वह निर्णय अन्त करणसम्मत होना चाहिए तथा किसी-का अन्धानुकरण नही। वास्तव मे विभिन्न मनुष्यो का कर्तव्य-कर्म अथवा एक ही मनुष्य का विभिन्न अवसरो पर कर्तव्य-कर्म, चेतना के विकास अथवा चेतना-स्तर के अनुसार विभिन्न हो सकता है। स्वधर्म का निर्णय अपनी चेतना के विकास के अनुरूप ही होना चाहिए। अपने-अपने कर्मो मे निष्ठा रखना ससिद्धि अर्थात् पूर्णता-प्राप्ति का साधन है। अनासक्त होकर तथा जितेन्द्रिय होकर कर्म करते हुए मनुष्य नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसके समस्त कर्म अकर्म हो जाते हैं तथा उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। व्यक्तिगत सुखभोग एव स्वार्थ से मुक्त होकर कामना दोषमय नही रहती तथा परिष्कृत ( दोषमुक्त ) एव उदात्त यज्ञ-भावना बन जाती है और उत्तम कर्म की प्रेरक हो जाती है, जैसे सुगृहिणी उदात्त भावना से प्रेरित होकर सम्पूर्ण परिवार की प्रसन्नता के लिए रसोई बनाती है।

ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन लेनेवाले मनुष्य द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होने की प्रक्रिया की चर्चा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानमार्गी विशुद्ध ( राग-द्वेषरहित ) बुद्धि से युक्त, एकान्त और शुद्ध स्थान का सेवन करनेवाला, मिताहारी ( भोजन मे सयमी ), मन, वाणी और देह को वश मे रखनेवाला, वैराग्ययुक्त, ध्यानयोग मे कुशल, अन्तःकरण ( मन, बुद्धि ) को वश रखनेवाला,

भौतिक विषयो (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि) के प्रलोभन से मुक्त तथा राग-द्वेष से मुक्त होकर तथा अहकार, बल-प्रदर्शन, दर्प (घमण्ड), काम, क्रोध एव परिग्रह को त्यागकर और ममत्व-रहित एवं शान्त होकर परमब्रह्म परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने के योग्य हो जाता है।

वास्तव मे बुद्धि की विशुद्धता अर्थात् राग-द्वेष, अहकार आदि से मुक्त होना, समाज मे रहते हुए भी यदाकदा एकान्त स्थल का सेवन करना, चिन्तन-मनन करना, परिमित आहार करना, आत्म-सयम करना, ध्यान का अभ्यास करना इत्यादि ब्रह्मभूय होने के लिए (परमात्मा के साथ ऐक्य के लिए) आवश्यक साधन हैं।[1] सच्चिदानन्दघन ब्रह्म मे एकीभाव से स्थित होने पर ज्ञानयोगी प्रसन्नचित्त हो जाता है। वह न शोक और चिन्ता करता है और न कोई कामना करता है। वह सब प्राणियो के प्रति समभावयुक्त हो जाता है तथा पराभक्ति अर्थात् पूर्ण ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त कर लेता है। पराभक्ति से युक्त होकर ज्ञानयोगी परमात्मा का पूर्ण अनुभव कर लेता है तथा परमात्मा मे विलीन हो जाता है, ब्रह्म ही हो जाता है।

जिस परमोच्च अवस्था को ज्ञानी कठिन ज्ञान-मार्ग से प्राप्त करता है, कर्मयोगी भक्त उसे

---

१. ध्यानयोग न केवल ज्ञानयोग की साधना के लिए, बल्कि भक्तियोग के लिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ध्यान का वास्तविक उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है, यद्यपि ध्यान का अभ्यास समस्त मानवीय मनोरोगो की महौषधि है, तनाव, चिन्ता, घबराहट आदि को दूर करने का सरल उपाय है। ध्यान की चरमावस्था समाधि है। ध्यान के अनेक प्रकार हैं। नेत्र मूँदकर भृकुटी के मध्य मे चेतना को केन्द्रित करने (५.२७) तथा नेत्र खोलकर और पलक झुकाकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाते हुए चित्त को एकाग्र करने (६.१३) की चर्चा की जा चुकी है। ध्यान का अभ्यास प्रतिदिन प्रात. और सायं (भोजन से पूर्व) यथासंभव एकान्त एवं नीरव स्थल मे पन्द्रह या बीस मिनट तक करना चाहिए। ध्यान का अभ्यास साधक को पूर्ण मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है तथा सिद्ध ध्यानयोगी मात्र स्पर्श एवं सान्निध्य से दूसरो के मनोरोगो को दूर करने मे भी समर्थ हो जाता है। सुगम एवं सहज ध्यान की अनेक विधियाँ हैं। कुछ लोग नेत्र मूँदकर सहज मुद्रा मे बैठकर प्रकाश का दर्शन करके मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं, कुछ लोग नेत्र मूँदकर अपने इष्ट-देवता के स्वरूप पर मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं। कुछ साधक नेत्र मूँदकर, सहज मुद्रा मे बैठकर, मन मे धीरे-धीरे 'राम', 'कृष्ण' अथवा 'ॐ' इत्यादि लघुमंत्रो का निरन्तर उच्चारण करके मन में ही उसे सावधानी से सुनते हैं; किसी स्वरूप का ध्यान नही करते। मन के इधर-उधर जाने पर पुनः 'राम-राम' इत्यादि कहते और सुनते हैं। धीरे-धीरे श्वास धीमा हो जाता है और बीच-बीच मे सहसा दीर्घ श्वास आता है। वास्तव मे शरीर चेतना के साथ समायोजन करता रहता है और मन स्वत शान्ति की ओर प्रवृत्त होता है। चेतना क्रिया क्षेत्र से निष्क्रियता एवं शांति की ओर स्वत प्रवृत्त होती है तथा तनाव विचारो के रूप मे निकलकर कम होता रहता है। पन्द्रह-बीस मिनट तक नेत्र मूँदकर मन मे ही 'राम-राम' इत्यादि कहते और सुनते हुए कुछ सेकंड भी मन का विचार-शून्य होना भी पर्याप्त उपलब्धि है। ध्यानकाल में चेतना-स्तर पर बार-बार विचारों के उभरकर आने से मानसिक तनाव कम होता है। यह कोई दोष नही है। चेतना उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तर तक उठते हुए मुक्त एव शांत होने लगती है। ध्यान-प्रक्रिया मे क्रियाशील एवं चंचल चेतना क्रियामुक्त (निष्क्रिय) एवं शांत (स्थिर) होने लगती है। समुद्र मे चंचल तरग की सीमा होती है, किन्तु वह शान्त होकर असीम समुद्र हो जाती है, सीमातीत अथवा भावातीत हो जाती है। चेतना के स्तर हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा। चेतना उन्मुक्त एव ऊर्ध्वगामी होकर सशक्त हो जाती है और उसका चुम्बकीय प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। सूक्ष्म स्तर पर शांति के स्रोत के साथ सम्पर्क होने पर चेतना अनन्त शक्तिमय हो जाती है तथा तुरीयातीत हो जाती

भगवान् की शरण लेकर तथा सब कर्म करते हुए भगवत्कृपा से प्राप्त कर लेता है। भगवान् को परम आश्रय मानकर समग्र रूप से आत्मसमर्पण कर देना शरणागति है। भक्त अपने मन-मन्दिर में विराजमान भगवान् की प्रसन्नता के लिए तथा भगवान् की प्रेरणा के अनुसार आचरण करता है और समस्त कर्म और फल भगवान् को अर्पण कर देता है। शरणागत भक्त व्यक्तिगत कामना, लोभ, मोह, क्रोध, निराशा, शोक, चिन्ता, भय आदि से मुक्त होकर निरन्तर आनन्दमग्न रहता है। वह प्राणिमात्र में अपने प्रियतम प्रभु का दर्शन करता है तथा प्रेम, सेवा, त्याग, सहनशीलता और क्षमा उसका स्वभाव हो जाता है। शरणागति-परायण पुरुष पग-पग पर भगवान् की उपस्थिति एवं भगवान् की कृपा का अनुभव करता है। वह अपने भीतर विराजमान भगवान् के साथ अटूट संबंध रखता है तथा भगवान् के साथ निरंतर आलाप (बातचीत) करते रहने के कारण कभी अकेला, असुरक्षित, असहाय तथा उद्विग्न नहीं होता। अपने जीवन-रथ की बागडोर भगवान् को सौंपकर भक्त निश्चिन्त एवं परमसुखी हो जाता है तथा विषम परिस्थिति उसे

है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से परे तुरीय और तुरीयातीत अवस्था आती है। जैसे सूर्य का घनीभूत प्रकाश आकाश मण्डल को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही ध्यानयोगी की घनीभूत चेतना का प्रभाव-क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। प्रबुद्ध चेतनावाले मनुष्य की संकल्प-शक्ति असीम हो जाती है। जहाँ विशुद्ध चेतनावाले थोड़े से भी ध्यानयोगी निवास करते हैं, वहाँ वातावरण सात्त्विक हो जाता है, जैसे थोड़े से ही प्रकाशदीप किसी क्षेत्र को प्रकाशित कर देते हैं। सिद्ध ध्यानयोगी के प्रभाव से क्षेत्र में विषैले और हिंसक पशु भी सात्त्विक हो जाते हैं। ध्यान का साधारण अभ्यास करनेवाले मनुष्य के स्वास्थ्य, स्वभाव, चिन्तन और व्यवहार में सुधार होने लगता है। वह विषम परिस्थिति में भी सम, स्थिर एवं शान्त रहता है। ध्यानयोगी मनस्वी, तेजस्वी और ओजस्वी हो जाता है। ध्यान के अभ्यास से व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास हो जाता है, देहात्मबोध (मैं शरीर हूँ ऐसा भाव) दूर हो जाता है और साधक ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया भिन्न है। मानव-देह विद्युत्-तरंगों का सम्भान अथवा एक बिजलीघर अथवा पावर हाउस के तुल्य है, जिसका उपयोग सावधानीपूर्वक होना चाहिए। *कुण्डलिनी-जागरण* के लक्षण प्रकम्प, स्वेद, अश्रुपात, हृदय की धड़कन, क्षुधा एवं निद्रा में न्यूनता इत्यादि हैं। *कुण्डलिनी* शक्ति चींटी, सर्प, मेंढक तथा पक्षी की भाँति चार प्रकार से सुषुम्ना में ऊर्ध्वगामी होती है। कुण्डलिनी चिन्मयी शक्ति का नाम है और इसे आलंकारिक रूप में साढ़े तीन कुण्डलवाली सर्पिणी कहा जाता है। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के तीन पूरे तथा परा का आधा कुण्डल अथवा इच्छा, ज्ञान और क्रिया के तीन पूरे तथा चिद्रूप का आधा कुण्डल कहा जाता है। कुण्डलिनी जागरण से सामान्यतया प्रसुप्त अथवा निष्क्रिय छह शक्ति-चक्रों के उद्घाटन द्वारा चेतना के स्तर को उठा दिया जाता है, जिससे मनुष्य के व्यक्तित्व में परिवर्तन हो जाता है और वह उदात्त भाव से भर जाता है। मेरुदण्ड में अवस्थित सुषुम्ना में छह प्रमुख चक्र सूक्ष्म हैं; स्थूल नहीं हैं। ये अपरिमित शक्ति के केन्द्र अथवा भण्डार हैं। ध्यान की उच्च स्थिति में मन और बुद्धि का अतिक्रमण होने पर दिव्य चेतना का उदय हो जाता है। मूलाधार चक्र कुण्डलिनी का स्थान है तथा वह मल-मूत्र के छिद्रों के मध्य गह्वर में है और इसका तत्त्व पृथ्वी है। स्वाधिष्ठान चक्र जननेन्द्रिय से ऊपर की सीध में पीछे है और इसका तत्त्व जल है। मणिपूर चक्र नाभि की सीध में पीछे है और इसका तत्त्व अग्नि है। अनाहत चक्र हृदय के पीछे अवस्थित है और इसका तत्त्व वायु है। विशुद्धि चक्र कण्ठ के पीछे है और इसका तत्त्व आकाश है। आज्ञाचक्र कहीं पिनियल अथवा पिट्यूटरी ग्रंथि के समीप अवस्थित है तथा इस गुरुचक्र में सब तत्त्वों का समन्वय है। सहस्रार चक्र मस्तिष्क के मध्य में है और समस्त चक्रों का नियन्त्रक है।

विचलित नही कर पाती। भगवान् की कृपा का अनुभव भक्त के सकट को वरदान बना देता है। वह सकट मे भगवान् के वरद एव सुरक्षाप्रद हस्त का सदर्शन करके सन्तुष्ट, सम और शान्त रहता है। शरणागति भगवान् की प्राप्ति का श्रेष्ठ और सरलतम उपाय है।[१] मन्मना अथवा मच्चित्त होना अथवा अनन्यभक्ति शरणागति के पर्याय-वाची हैं।[२]

श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमेश्वर समस्त प्राणियो को उनके कर्मानुसार मायाशक्ति से भ्रमाता हुआ हृदय मे स्थित रहता है, किन्तु शरणागति द्वारा अहंकारविमुक्त होकर ( अथवा अहकार का उदात्तीकरण एव दिव्यीकरण होने पर ) मनुष्य परमेश्वर का उपकरण बन जाता है। शरणागति द्वारा परमेश्वर के साथ ऐक्य स्थापित करके मनुष्य परम शाति एव परमपद को प्राप्त कर लेता है। भगवत्प्राप्ति के रहस्य का उद्घाटन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "हे अर्जुन, तू समस्त कर्तव्यो के विवाद एव तर्क-वितर्क को त्यागकर एक मेरी शरण मे आ जा, मैं तुझे पाप-विमुक्त कर दूँगा, तू समस्त शोक, चिन्ता, भय और भ्रम छोड़ दे।" शरणागति भगवान् की असीम शक्ति और उसकी असीम दयामयता मे अखण्ड विश्वास होने पर ही सार्थक होती है।[१] भक्त का केवल एक ही परम पुरुषार्थ है कि वह पूर्ण विश्वास-सहित अपने जीवन की बागडोर सर्वसमर्थ एव परम दयामय भगवान् को दे दे, आत्मसमर्पण कर दे तथा भगवान् का यत्र बनकर कर्तव्य-कर्म करता ही रहे। शरणागति निकृष्ट दासता नही, बल्कि पुत्र का अपने सरक्षक पिता से अथवा अश का अपने अशी से एकात्म होना है। भगवान् के समक्ष दीनताभाव भी निकृष्टहीनता नही होती, बल्कि वह अहकारविमुक्त होकर भगवान् के साथ ऐक्य स्थापित करना है। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति

---

१ श्री अरविन्द कहते हैं—"सब-कुछ प्रभु-कृपा से सभव हो सकता है, मन और स्वभाव पवित्र और अन्तश्चेतना जागृत हो सकती है, यदि कोई भरोसा तथा विश्वास करके प्रभु के प्रति अपने को समर्पित कर दे। और, यदि कोई सहसा ऐसा नही कर सकता तो भी जितना कोई ऐसा करता है, उतनी ही आन्तरिक सहायता और मार्गदर्शन पा जाता है और प्रभु की दैवी अनुभूति विकसित हो जाती है। यदि यह सदेह करनेवाला मन कम सक्रिय हो जाय और विनम्रभाव तथा शरणागति-भाव विकसित हो जाय तो यह नितान्त सम्भव है। तब अन्य किसी बल और तपस्या की आवश्यकता नहीं होती, केवल यही ( शरणागति ) पर्याप्त है।"

२. गीता ९ १४, २२, २७, ३४ तथा १२.२, ६, ७, ८ इत्यादि।

---

१ सन्त तुलसीदास ने शरणागति तथा विश्वास के सम्बन्ध मे अनेक स्थलो पर विशद वर्णन किया है। हम मत्र के रूप मे इस छन्द को कण्ठाग्र कर सकते हैं—

कानन भूधर वारि बयारि<br>
महाविष व्याधि दवा अरि घेरे।<br>
संकट कोटि जहाँ तुलसी सुत<br>
मात पिता हितु बंधु न नेरे॥<br>
राखिहैं राम कृपालु तहाँ<br>
हनुमान से सेवक हैं जेहि फेरे।<br>
नाक रसातल भूतल में<br>
रघुनायक एक सहायक मेरे॥

—तुलसीदास कहते है कि वन, पर्वत, जल, आधी, महाविष, रोग, अग्नि, शत्रु, से घिरने पर तथा जहाँ कोटि सकट हो और पुत्र, माता, पिता, हितैषी, बन्धु निकट न हों, वहाँ कृपालु राम रक्षा करेंगे, जिनके हनुमान् जैसे समर्थ सेवक हैं, स्वर्ग, पाताल और पृथ्वी पर श्रीराम मेरे एक सहायक हैं।

'निज अनुभव अब कहेउ खगेसा, बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।' अर्थात् बिना भगवद्-भक्ति मनुष्य क्लेश-मुक्त नहीं हो सकता। 'सुख कि लहिय हरि भगति बिनु' अर्थात् बिना भगवद्भक्ति के स्थायी सुख प्राप्त नही होता।

सरल और सुगम है।[1] मनुष्य अपने जीवन मे जितना भगवान् की ओर बढता है, उतना ही पवित्र और प्रसन्न, सुरक्षित और सुखी तथा सम और शात होता जाता है। मनुष्य को बीते हुए कल के पाप और दुख तथा आनेवाले कल के भय और चिन्ता परमपिता को सौंपकर शान्तभाव से कर्म करते रहना चाहिए। ज्ञान तथा भक्ति के प्रगाढ़ होने पर मनुष्य कृतकृत्य होकर भगवान् के साथ एकात्म हो जाता है तथा सिद्धावस्था प्राप्त होने पर कर्तव्य-कर्म भी उससे अपने-आप छूट जाता है अर्थात् वह धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कर्तव्य-अकर्तव्य, भला-बुरा आदि की सीमा का अतिक्रमण कर देता है। वह प्रभुप्रेरित होकर उदात्त भाव से लोक-सग्रहार्थ कर्म कर सकता है।[2] परमहस-अवस्था मे स्थित महापुरुष निष्क्रिय प्रतीत होता हुआ भी अपने सात्त्विक प्रभाव द्वारा, अपने विद्युत् चुम्बकीय विकिरण एव प्रसारण द्वारा, चारो ओर सात्त्विकता की अभिवृद्धि करता रहता है। त्रिगुणातीत एव ब्रह्ममय तथा निर्बन्ध एव निर्बाध परमहस के लिए कर्म का स्वरूप ही बदल जाता है तथा वह खिले हुए पुष्प की भाँति सहजभाव से चारो ओर सुगन्धरूप सद्भावना को अनायास ही प्रसारित करता रहता है। सुन्दर पुष्प फल की भाँति किसी-का पेट नही भरता और वह अविवेकी मनुष्य को निरर्थक प्रतीत होता है। ज्ञान तथा भक्ति के परमोच्च शिखर को प्राप्त सत महापुरुष लौकिक कर्म एव विधि से अतीत हो जाता है। वह व्यक्तिगत कामना, स्पृहा, तृष्णा, लोभ, मोह, क्रोध आदि से

१ राम भगति चिंतामनि सुन्दर,
बसइ गरुड जाके उर अन्तर।
परम प्रकास रूप दिन राती,
नहि कछु चाहिअ दिआ घृत बाती।
—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड

२ माला जपों न कर जपों जिभ्या कहौं न राम।
सुमिरन मेरा हरि करैं मैं पायो बिसराम॥
—संत मलूकदास

सर्वथा विमुक्त होता है तथा उसका सकल्प दैवी सकल्प बनकर स्वत पूर्ण हो जाता है। अनेक लोग हरिप्रेरित होकर उसके दिव्य सकल्प को पूर्ण करने के लिए जुट जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि गीता का उपदेश अधिकारी पुरुष को ही देना चाहिए।[1] श्रद्धारहित मनुष्य ज्ञान का अपमान कर देता है। भगवद्गीता के माहात्म्य का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि गीतोपदेश का अध्ययन करना ज्ञान यज्ञ ही है तथा इसका मात्र पाठ और श्रवण भी मनुष्य को क्लेशमुक्त कर देता है। स्वय मुक्त होकर[2] उत्तम

१. यह न कहिअ सठहि हठसीलहि,
जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि।
केवल जिज्ञासु ज्ञान के अधिकारी होते हैं।
राम-कथा के तेई अधिकारी,
जिन्हके सत-सगति अति प्यारी।
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई,
द्विज सेवक अधिकारी तेई।
ता कहँ यह बिसेष सुखदाई,
जाहि प्रानप्रिय श्री रघुराई॥

अधिकारी पुरुष के लिए गूढ़ तत्त्व का निरूपण किया जाता है।

गूढउ तत्त्व न साधु दुरावहि,
आरत अधिकारी जहँ पावहि॥

पय पान भुजङ्गाना केवल विषवर्द्धनम्।
उपदेशस्तु मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये॥

—सर्पों को दूध पिलाना उनका विष बढ़ाना है तथा मूर्खों को उपदेश प्रकोप उत्पन्न करता है, शान्ति नहीं।

२. दुर्जन सज्जनो भूयात्
सज्जन शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो
मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्॥
—महाभारत

—दुर्जन सज्जन हो जाय, सज्जन शाति प्राप्त कर ले, शात पुरुष बन्धनमुक्त हो जाय और मुक्त पुरुष दूसरो को मुक्त कर दे।

पुरुष अन्य जनों को भी मुक्त कर देते है। गीता-रसामृत का प्रचार और प्रसार सौभाग्य और समृद्धिप्रदायक है। गीतोपदेश के अन्त मे भगवान् श्रीकृष्ण शिष्य अर्जुन से सीधा प्रश्न करते हैं कि क्या उसका अज्ञानजनित समोह नष्ट हुआ ? अर्जुन कृतज्ञतापूर्वक कहता है, "हे श्रीकृष्ण, आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हुआ। आत्मस्वरूप की स्मृति, यथास्थिति एव स्वस्थता प्राप्त हुई और मैं संशय-रहित हो गया हूँ तथा आपके आदेश का पालन करूँगा।"[1] मोह समस्त क्लेश, भय और चिन्ता आदि विकारो का कारण है।[2] श्रीकृष्ण के उपदेश-बाण ने मर्मभेद कर दिया। अर्जुन ने मोहग्रस्त होकर स्वय ही विषाद की काली चादर ओढ ली थी। मोहान्धकार दूर होने पर विषाद का निराकरण हो गया तथा अर्जुन पुन स्वस्थ हो गया। उसका खोया हुआ आत्मविश्वास उसे पुन प्राप्त हो गया। ज्ञान के आलोक से उसके मन को आच्छादित करनेवाले भ्रम और निराशा के मेघ विच्छिन्न हो गये और उसमे वीरोचित उत्साह एव साहस का उदय हो गया। आशा की स्वर्णिम किरण ने उसके मुखमण्डल को जगमगा दिया। उसने गुरु के प्रसाद से स्वधर्म को पहचाना तथा कृतनिश्चय होकर उसके पालन के लिए उठ खड़ा हुआ।

व्यास की कृपा से सजय यह दृश्य देखकर आत्मविभोर हो गया और उसने प्रफुल्ल अर्जुन और दिव्येश कृष्ण की महिमा को जान लिया। उसने मोहान्ध धृतराष्ट्र से कहा—"जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण मार्गदर्शक गुरु हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन श्रद्धावान् शिष्य है, वहाँ श्री (शोभा), विजय, विभूति (सब प्रकार की समृद्धि) और अचलनीति है।" जहाँ भगवान् कृष्ण की भक्ति है, वहाँ धर्म है तथा जहाँ धर्म है, वहाँ जय है। पुण्यात्मा सजय को यह स्पष्ट था कि श्रीकृष्ण और अर्जुन की उपस्थितिमात्र विजय की सूचक है।

भगवद्गीता का प्रारम्भ विषादयोग से होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि गीता के शेष समस्त सत्रह योग विषादयोग से उद्भूत हुए हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेरणा से अर्जुन का विषाद जिज्ञासा मे परिवर्तित हो गया और उसके मन मे जीवन के महाप्रश्न कौंधने लगे। श्रीकृष्ण ने उसकी ग्रहणशीलता एव श्रद्धा देखते हुए सवादशैली मे उसे उपदेश देकर ज्ञान की विवेचना द्वारा अज्ञान एव विषाद का निराकरण तथा ज्ञान एव आनन्द की प्रस्थापना अत्यन्त कुशलतापूर्वक की। कदाचित् विषाद ही ग्रहणशीलता की अभिवृद्धि करने के कारण ज्ञानोपदेश की उचित भूमिका होता है। आर्द्र होने पर ही भूमि बीजवपन के योग्य होती है। भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश के लिए ऐसे उपयुक्त अवसर की ही प्रतीक्षा मे थे[1] महापुरुषो का विषाद (भ्रान्ति से उत्पन्न उत्साह-भग) किसी सत्पुरुष अथवा सद्ग्रन्थ के प्रभाव से विचार-भूमि के उच्च स्तर को छूकर मनोयोग बन जाता है। अर्जुन अत्यन्त बुद्धिमान् था, किन्तु निश्छल था। विषाद मे उत्तम पुरुष की प्रतिक्रिया निकृष्ट मनुष्य

---

१ तव प्रसाद मम मोह नसाना,
राम रहस्य अनुपम जाना।
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
—गीता, १५ १५

२ मोह सकल व्याधिन्हकर मूला,
जिन्ह ते उपजहि बहुसूला।
—मोह मानसिक कष्टो का मूल है तथा उससे अनेक क्लेश उत्पन्न होते हैं।

---

१. अकाले विज्ञप्तं उषरे कृष्टमिव।
—असमय मे बात कहना ऊपर में बीज डालने के सदृश है।
वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥
—व्यास
—जो वृक्ष से अपक्व (कच्चे) फलो को तोडता है, वह उनसे रस तो पाता ही नही है, उस वृक्ष का बीज भी विनष्ट हो जाता है।

की प्रतिक्रिया से भिन्न होती है।[1] निकृष्ट मनुष्य दुर्व्यसनो ( मदिरापान आदि ) से अपने भय, चिन्ता और शोक को विस्मृत करने का प्रयत्न करके आत्मपतन कर लेता है। सस्कारविहीन एव श्रद्धा-विहीन मोहान्ध धृतराष्ट्र, जिसने पाण्डवो को पाण्डव और कौरवो को मेरे अपने' कहकर सकीर्णता का परिचय दिया था, उत्तम उपदेश से भी प्रभावित न हुआ। किन्तु पुण्यात्मा अर्जुन ने सद्गुरु की शरण लेकर न केवल गीता-रसामृत का पान किया, बल्कि वह भगवान् का कृपापात्र भी बन गया।

वास्तव मे भगवद्गीता का उपदेश शुष्क एव नीरस ज्ञान नही है, बल्कि अत्यन्त व्यावहारिक है तथा मानवीय चेतना का उन्नायक है। उत्तम पुरुष विनम्रभाव से सदैव कुछ सीखने और ग्रहण करने के द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास करने मे प्रयत्नशील रहते हैं तथा मूढ व्यक्ति अपने को ज्ञानी और पूर्ण मानकर अपने विकास को अवरुद्ध कर लेते हैं। विवेकी पुरुष स्वाध्याय, चिन्तन और अनुभव द्वारा अपनी विचार-शक्ति को सदैव तीव्र करते रहते हैं तथा ससार और भाग्य को दोष न देकर विचार एव कर्म द्वारा अपने भाग्य का निर्माण करते हैं। वे प्रकाश के अभिमुख होकर कर्मपथ पर अग्रसर होते रहते हैं, पीछे मुडकर परछाई नही देखते। विवेकीजन आन्तरिक परा-धीनता से स्वाधीनता, भोग से त्याग तथा जडता से चिन्मयता की ओर उन्मुख होकर आगे बढते ही रहते हैं। उनके लिए सुख और दुख, अनुकूलता और प्रतिकूलता तथा सफलता और विफलता जीवनोपयोगी साधन-सामग्री होती है। वे जीवन के समस्त स्तरो पर जीते हुए अथवा समग्र जीवन जीते हुए भी अपनी चेतना को ऊर्ध्वमुखी करते हुए उत्तरोत्तर उसे उन्मुक्त एव उदात्त बनाने मे सचेष्ट रहते हैं। प्रगतिशील पुरुष का कर्मक्षेत्र विस्तृत होता रहता है तथा उसके कर्तव्य-कर्म अथवा स्वधर्म का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। ध्यान एव प्रार्थना से अन्त करण को निर्मल करते हुए, स्वधर्म का सदैव पालन करते हुए तथा प्रत्येक परिस्थिति मे सम, स्थिर एव शान्त रहकर, विवेकी जन जीवन का विस्तार करते रहते हैं। प्राणिमात्र मे भगवान् का दर्शन करनेवाला समदर्शी, जो प्राणिमात्र के कल्याण मे रत रहता है, गीता का आदर्श पुरुष है।[1] विनाशकारी भोगवाद की ओर प्रवृत्त करनेवाले पाशविक जीवन स्तर से ऊपर उठकर, आध्यात्मिक अभ्युदय की ओर उन्मुख एव प्रवृत्त होना मानव-जीवन की मौलिक माँग है, जिसकी पूर्ति करना व्यक्ति एव समाज के कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विकास के क्रम मे मनुष्य भौतिक जडवाद से उन्मुक्त होकर ही पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकता है। विश्वात्मा के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण द्वारा उसके साथ एकात्म होना मानव-जीवन की कृतकृत्यता है।[2] मानवीय

---

१ नारि मुई गृहसम्पति नासी,
मूड मुँडाय भये संन्यासी।

---

१ सम सर्वेषु भूतेषु —गीता १८ ५४
—सब प्राणियों के प्रति समदृष्टिवाला।

सर्वभूतहिते रताः —गीता, ५ २५, १२ ४

२. परमेश्वर का अश ( सन ऑफ गॉड कहलाने-वाला ) मनुष्य बुद्धि द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन एव प्रकृति की शक्तियो का उपयोग करने में समर्थ एव स्वतत्र है, किन्तु मानव जीवन की पूर्णता प्रकृति से परे परमचैतन्य सत्ता के साथ एकात्म होने में सन्निहित है। जूलियन हक्सले कहता है—"आध्यात्मिक उन्नति हमारा अन्तिम लक्ष्य है।" ( जीव वैज्ञानिक के निबन्ध ) मनुष्य प्रकृति के सहयोग से ही प्रकृति का अतिक्रमण कर सकता है, किन्तु दमपूर्वक प्रकृति के साथ छेडछाड़ द्वारा वह विनाश को आमत्रित करता है। प्रकृति से परे दिव्य सत्ता का साक्षात्कार करना मानव जीवन की परम उप-लब्धि है।

चेतना विशुद्ध होकर मन और बुद्धि की सीमाओ का अतिक्रमण कर देती है तथा परम चैतन्य सत्ता के प्रकाश से स्फुरित होकर पूर्णता प्राप्त कर लेती है। श्रीमद्भगवद्गीता के रूप मे प्रस्फुटित भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्यवाणी मानवमात्र के लिए कल्याणकारी अमृत है।

अखिलं शास्त्रसारं हि
रचितमात्मसिद्धये ।
मधुरामृतमिदं पीत्वा
पुनर्जन्म न विद्यते ॥
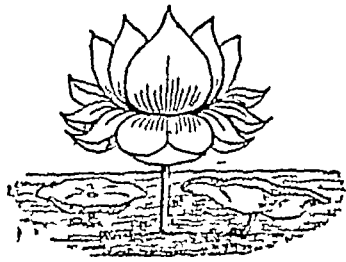
# शुद्धाशुद्धि-पत्र

| पृष्ठ | कालम | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|---|
| ६ | १ | ६ | है। | है, |
| ८ | ,, | ३४ | उसे | उन्हें |
| ,, | २ | १४ | शरा | शूरा |
| १३ | ,, | २५ | योद्धव्यमस्मिन्रणसमद्यमे | योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे |
| १४ | १ | २८ | 'अच्युत | 'अच्युत' |
| १९ | २ | २५ | कृस्न | कृत्स्न |
| २० | ,, | ३७ | हन्त स्वजनमद्यता | हन्तु स्वजनमुद्यता |
| २२ | ,, | २९ | गये। | गये।[1] |
| ३१ | १ | ५ | मुझे | तुझे |
| ३३ | ,, | ३२ | सयोग | सयोग |
| ३७ | ,, | २७ | स्वयंवेद | स्वयं वेद |
| ३९ | ,, | २८ | एनजमव्ययम् | एनमजमव्ययम् |
| ४० | ,, | १६ | तीनो शरीर | तीनो पुराने शरीर |
| ,, | ,, | १७ | कारणशरीर ) भी त्याग दिये | कारणशरीर ) त्याग दिये अर्थात् बदल दिये |
| ४३ | ,, | ७ | है। | है, |
| ५१ | ,, | २८ | वद्धया | बुद्धया |
| ५३ | ,, | ७ | बद्धयोऽव्यवसायिनाम् | बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् |
| ५८ | ,, | २८ | आत्मानो | आत्मनो |
| ५९ | २ | १८ | दरेण | दूरेण |
| ,, | ,, | १९ | बद्धौ | बुद्धौ |
| ७५ | ,, | ३६ | ह्याश | ह्याशु |
| ,, | ,, | ,, | बद्धिः | बुद्धिः |
| ७८ | १ | २४ | कर्मयोग निष्ठारहित | कर्मयोगनिष्ठारहित |
| ९१ | ,, | २ | कर शिष्य | कर तथा शिष्य |
| ९९ | ,, | १ | शब्दाय | शब्दार्थ |
| १०१ | २ | ११ | होता है। | होते हैं। |
| १०२ | १ | ५ | कहने तात्पर्य | कहने का तात्पर्य |

| पृष्ठ | कालम | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|---|
| १०३ | १ | ११ | सर्वभतेषु | सर्वभूतेषु |
| १०६ | २ | ३३ | कर्मत्याग करने | कर्मत्याग न करने |
| १०९ | ,, | १६ | त्रिप | त्रिपु |
| ,, | ,, | २९ | में वरतूं | में न वरतूं |
| ११३ | १ | ६ | हुए तथा | हुए प्रतीत होते हैं तथा |
| ११८ | ,, | ३७ | अच्ची | अच्छी |
| १२२ | २ | ७ | भगवदाकार | भगवदाकारा |
| १२४ | १ | १५ | वद्धे | वुद्धे |
| १२९ | ,, | १० | शब्दाथ | शब्दार्थ |
| १३३ | २ | ३० | ल्सीदास | तुलसीदास |
| १३४ | १ | १७ | यूर्णामृता | पूर्णामृता |
| १३५ | २ | ३१ | अन्यभाव | अनन्यभाव |
| १४२ | १ | २९ | पण्डितजन | पण्डित |
| १४६ | ,, | १५ | असफलता | विफलता |
| १४७ | ,, | ३२ | नाहि | नहि |
| १५१ | २ | ३० | निर्जीव | निर्वीज |
| १५५ | १ | १८ | हैं । | हैं, |
| ,, | २ | २९ | गति को | गति का |
| १६५ | ,, | ३३ | परि । | परि |
| १८१ | १ | १३ | सक्ेत | सकेत |
| ,, | ,, | १८ | त्यक्त्वात्मृशद्धये | त्यक्त्वात्मशुद्धये |
| ,, | २ | २८ | अयक्त | अयुक्त |
| १८५ | ,, | ३२ | यमेभ्योलोकभ्य | यमेभ्योलोकेभ्यः |
| १८६ | १ | १२ | साथ एकत्व-अभिन्नत्व | साथ अभिन्नत्व |
| १८८ | ,, | १६ | "अधिक से-अधिक विनय | "अधिक अध्ययन से अधिक विनय |
| ,, | ,, | २६ | है कि पर- | है कि हम पर- |
| १८९ | २ | २२ | जिनकी | जिनका |
| १९३ | ,, | १० | में सुख | मे गहन सुख |
| १९५ | ,, | ३३ | मक्त | मुक्त |
| २०५ | १ | २३ | ( ज्ञानी ) | ( सिद्ध ज्ञानी अथवा पूर्ण ज्ञानी ) |
| ,, | ,, | २४ | ( कम | ( कर्म |
| ,, | २ | २३ | सन्यास | सन्यास |
| २०७ | ,, | २१ | वर्तेताव मैव | वर्तेतात्मैव |
| ,, | ,, | २३ | आत्मना. | आत्मना |

| पृष्ठ | कालम | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|---|
| २०८ | २ | १३ | ( विचारो ) चिन्तन | विचारो ( चिन्तन ) |
| २०९ | ,, | ३० | मित्र वैरी | मित्र, वैरी, |
| ,, | ,, | ३१ | निष्पक्ष ) | निष्पक्ष ), |
| ,, | ,, | ३२ | हितचिन्तक ) | हितचिन्तक ), |
| २११ | ,, | ५ | नियन्त्रित एवं ( स्वाधीन ) | ( नियन्त्रित एवं स्वस्थ ) |
| २१३ | ,, | १२ | विशेषत ज्ञानयोगी के लिए ही है। | ज्ञानयोगी के लिए विशेष उपयोगी है। |
| २१४ | १ | ४ | अथवा खोलकर | ( अथवा खोलकर ) |
| ,, | ,, | १० | हुए स्थूल | हुए कुछ समय के लिए स्थूल |
| २१६ | ,, | ३० | किया। दो | किया। साधक के लिए दो |
| २१८ | ,, | २६ | यत्तचित्त | यतचित्त |
| ,, | २ | २६ | ( योग ) | 'योग' |
| २२२ | १ | ३० | सर्वभतस्थित | सर्वभूतस्थित |
| २२४ | ,, | २४ | आत्मन्नेवानुपश्यति | आत्मन्येवानुपश्यति |
| २२५ | ,, | ३१ | सुमेरुन्मूलनादपि | सुमेरून्मूलनादपि |
| ,, | ,, | ३२ | वह्न्यवक्षनात् | वह्नयशनात् |
| २२७ | ,, | १८ | विमढो | विमूढो |
| ,, | ,, | १९ | छेत्तमर्हस्यशेषत' | छेत्तुमर्हस्यशेषतः |
| २२९ | २ | २१ | भू। | भूय. |
| ,, | ,, | ३४ | पौवदेहिक | पौर्वदेहिकं |
| २३९ | ,, | ३३ | विष्ण, | विष्णु, |
| २४० | १ | ३६ | ऊर्ध्वारोहण प्रारम्भ हो जाता है। 'जब वाग्देवी | ऊर्ध्वारोहण प्रारम्भ हो जाता है। जब वाग्देवी |
| २४४ | २ | १ | विज्ञान | विज्ञान[१] |
| ,, | ,, | ४ | है।[१] | है। |
| २४५ | ,, | १ | अन्तकरण | अन्त.करण |
| २४६ | १ | १३ | शद्ध | शुद्ध |
| २५० | ,, | २० | सकता। चिदानन्दैकरस परमात्माको जान ही नही सकता। चिदानन्दैकरस परमात्मा विलक्षण | सकता। चिदानन्दैकरस परमात्मा विलक्षण |
| २५२ | २ | ८ | भक्तिभाव | ज्ञान |
| २६१ | ,, | २ | अजन | अर्जुन |
| २६२ | १ | ,, | होते | होता |
| ,, | ,, | ३ | हैं | है |

| पृष्ठ | कालम | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|---|
| २६२ | १ | ५ | मायामुक्त | मायायुक्त |
| ,, | २ | २५ | शत्र | शत्रु |
| २६३ | १ | २० | लिए | हेतु |
| २६५ | ,, | ३१ | उद्दश्य | उद्देश्य |
| २६६ | ,, | ,, | देवधारी | देहधारी |
| ,, | ,, | ३४ | सन्दभ | सन्दर्भ |
| २६७ | ,, | ३ | जाऊँ ।[२] | जाऊँ |
| २६८ | ,, | २९ | यच्य | युच्य |
| २७३ | २ | १९ | परदेव एकीभूत | परदेव में एकीभूत |
| २७४ | १ | ३२ | ह्रस्वमदार्घम् | ह्रस्वमदीर्घम् |
| ,, | २ | ११ | ऊर्ध्वरता | ऊर्ध्वरेता |
| २८३ | १ | ५ | प्रीकात्मक | प्रतीकात्मक |
| २८५ | ,, | ९ | उपति | उपैति |
| २९१ | २ | १९ | भतभृन्न | भूतभृन्न |
| ,, | ,, | ,, | भतभावन' | भूतभावन। |
| ,, | ,, | २१ | भवानि | भूतानि |
| २९५ | १ | २ | चव | चैव |
| ,, | ,, | ३ | प्रकृतिमाश्रिता | प्रकृतिमाश्रिता। |
| ,, | ,, | ३५ | सन्दभ | सन्दर्भ |
| २९७ | ,, | १० | गमन | नमन |
| २९८ | २ | ५ | सकते हैं | सकता है |
| २९९ | १ | २२ | सुहृत | सुहृद् |
| ,, | ,, | २५ | सदसच्चाहमर्जन | सदसच्चाहमर्जुन |
| ३०१ | २ | २२ | भक्त्वा | भुक्त्वा |
| ३०७ | १ | ३० | रसखाम | रसखान |
| ३१७ | ,, | १३ | विलप्त | विलुप्त |
| ३२१ | २ | १४ | भततनां | भूतानां |
| ३२३ | १ | १९ | हैं । जब | हैं, जब |
| ३२५ | ,, | २८ | सदैव | सदेव |
| ३२८ | ,, | १ | अवतार में की थी । | अवतार के रूप में की थी ।[१] |
| ,, | ,, | २२ | असित, | १ असित, |
| ,, | २ | ११ | अजुन | अर्जुन |
| ३३० | ,, | ८ | है, | है । |
| ३३२ | १ | ,, | भतानामन्त | भूतानामन्त |
| ,, | २ | १४ | शिखरिणामहम | शिखरिणामहम् |

| पृष्ठ | कालम | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|---|
| ३३२ | २ | २३ | धेनूामस्मि कामधक् | धेनूनामस्मि कामधुक् |
| ३३८ | ,, | ९ | चारित्रवान् | चरित्रवान् |
| ३३९ | १ | २४ | श नोभवत्यर्यमा ( ऋटवेद, १ ९०.९ ), शं नो भवत्यर्यमा ऋग्वेद, ( १.९०.९ ), श नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु | श नो भवत्यर्यमा ( ऋग्वेद, १ ९० ९ ), श नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु |
| ,, | २ | २६ | श्रीर्वाकच | श्रीर्वाक्च |
| ३४० | १ | ३२ | गिश्चय | निश्चय |
| ,, | २ | ६ | ( अस्मि ) | ( अस्मि ) |
| ,, | ,, | १९ | गायन की | गायन के |
| ३४१ | १ | २० | शीतल | शीतक |
| ,, | २ | २९ | शहावा | शहाब |
| ,, | ,, | ३१ | बर्गला | बर्मला |
| ३४२ | ,, | २ | ब्रह्म-भक्तो | ब्रह्म भक्तो |
| ,, | ,, | ९ | जड | जड |
| ,, | ,, | ३० | जड | जढ |
| ३४३ | ,, | १७ | हैं ।[3] | हैं । |
| ३४४ | ,, | २ | है । | है, |
| ३४७ | १ | २६ | भत | भूत |
| ३५१ | ,, | १६ | अजुन | अर्जन |
| ३५२ | २ | २३ | अर्जुन | अर्जुन |
| ,, | ,, | २५ | ईश्वरी-रूप | ईश्वरीय रूप |
| ३५३ | ,, | ४ | पश्चादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ | पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ |
| ३५५ | १ | ६ | दिव्यामाल्याम्वरधर | दिव्यमाल्याम्वरधर |
| ,, | २ | २२ | अद्‌भत | अद्‌भुत |
| ,, | ,, | ३० | पाण्डपुत्र | पाण्डुपुत्र |
| ३५६ | ,, | ३२ | गया ।[२] | गया ।[१] |
| ३५७ | १ | १२ | भतविशेषसङ्घान् | भूतविशेषसङ्घान् |
| ,, | ,, | १४ | सर्वानिरगाश्च | सर्वानुरगांश्च |
| ,, | २ | २ | कठिनई | कठिनाई |
| ,, | ,, | ३० | है ।[१] | है,[१] |
| ३६० | १ | ३४ | सम्र्णपूजीव | सम्पूर्ण जीव |
| ३६२ | २ | ११ | अवनि | अवनि- |
| ३६७ | ,, | १६ | प्रतिकार | प्रतीकार |
| ३७१ | ,, | ३३ | का यथार्थ | के यथार्थ |

| पृष्ठ | कालम | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|---|
| ३७२ | १ | ११ | भयोऽपि | भूयोऽपि |
| ३७३ | २ | ८ | अतुलनीय व | अतुलनीय, |
| ३७५ | १ | २६ | हैं। | हैं, |
| ३७७ | २ | ८ | दृष्ट्वमा | दृष्ट्वा |
| ३७८ | ,, | २२ | अर्जुन | अर्जुन |
| ,, | ,, | २५ | सौम्यमूर्ति | ने सौम्यमूर्ति |
| ,, | ,, | ,, | = ने इस | = इस |
| ,, | ,, | २६ | अर्जुन | अर्जुन |
| ३७९ | १ | २४ | मानप | मानुष |
| ३८० | ,, | ३४ | द्विभज | द्विभुज |
| ,, | २ | ६ | उसने | उसे |
| ३८९ | १ | १० | जगदम्वा, दुर्गा | जगदम्वा दुर्गा |
| ,, | २ | २९ | रखकर )। | रखकर ) |
| ३९२ | ,, | ३२ | निगुण | निर्गुण |
| ३९३ | ,, | ३५ | अभिन्न | अभिन्न |
| ३९७ | ,, | ७ | धर्य | धैर्य |
| ४०४ | ,, | १ | उद्विन्न | उद्विग्न |
| ४०६ | १ | १४ | सहज | सजग |
| ४१७ | ,, | २५ | रूप को | रूप मे |
| ,, | २ | ३४ | इन्द्रियो के | इन्द्रियो का |
| ४२३ | १ | १० | याद्यक्च | याहक्च |
| ,, | ,, | ३४ | क्षेत्र कैसा | क्षेत्रज्ञ कैसा |
| ,, | २ | २१ | ६ १९, | १३ १९, |
| ,, | ,, | ,, | ६ २२, | १३ २२, |
| ,, | ,, | २२ | ६ ३१, | १३.३१, |
| ४२४ | ,, | १३ | चेतना, धृति ( काले टाइप मे है ) | चेतना, धृति ( सादे टाइप में चाहिए ) |
| ,, | ,, | २३ | मूलप्रकृतिरविकृतिर्महादाधा | मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाधा. |
| ४२५ | १ | ३२ | धृतिर्धीहृधीभी | धृतिर्धीर्ह्रीभी |
| ४३० | २ | ९ | सत्य का | सत्य के |
| ४४० | १ | ३२ | है। तथा | है तथा |
| ,, | ,, | ,, | प्रकट | प्रकट है। |
| ४४१ | ,, | २ | ओर | और |
| ४४३ | २ | ९ | श्रद्धालजन | श्रद्धालुजन |
| ,, | ,, | २७ | को तथा | को क्षेत्र तथा |
| ४४४ | १ | ९ | हि स्त्यात्मनात्मान | हिनस्त्यात्मनात्मान |

| पृष्ठ | कालम | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|---|
| ४४५ | २ | २३ | चम्बक | चुम्बक |
| ४४६ | ,, | २७ | निर्गण | निर्गुण |
| ४५३ | १ | २५ | मुक्त | न्मुक्त |
| ,, | ,, | ३३ | अनुभूतिपूर्ण ज्ञान | अनुभूति पूर्णज्ञान |
| ४५६ | ,, | २१ | चारित्रवान् | चरित्रवान् |
| ४५९ | २ | १ | छोटी-सी झोपडी | छोटी-सी प्रकाशमय झोपडी |
| ,, | ,, | ३१ | अवस्था होती है। | अवस्था उत्तम होती है। |
| ४६२ | ,, | ६ | जघन्यगणवृत्तिस्था | जघन्यगुणवृत्तिस्था |
| ४६३ | ,, | २७ | मद्‌भाव | मद्‌भाव |
| ४६५ | ,, | ३० | काय | कार्य |
| ४७१ | ,, | १६ | वराग्यभाव | वैराग्यभाव |
| ४७५ | १ | २८ | पाषण- | पाषाण- |
| ४८१ | ,, | २१ | हो यह | हो' यह |
| ४८३ | २ | ९ | घट | घट, |
| ४८६ | ,, | २५ | पाषाख | पाषाण |
| ४८७ | ,, | ३१ | गभे | भर्ग |
| ४८९ | ,, | ३० | अयमग्निवैश्वानरो | अयमग्निर्वैश्वानरो |
| ४९० | ,, | ३२ | 'सत्य ज्ञानमनन्त', ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म', 'निष्कल निष्क्रिय शान्त 'नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्य सूक्ष्म परिपूर्णमद्वयं सदानन्द-चिन्मात्र शान्तं', 'चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय ।' | 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म', 'निष्कल निष्क्रिय शान्त', 'नित्यं शुद्धं मुक्त सत्यं सूक्ष्म परिपूर्णमद्वय सदानन्द-चिन्मात्र शान्त चतुर्थं मन्यते स आत्मा विज्ञेयः ।' |
| ४९२ | ,, | १५ | गह्यतम | गुह्यतम |
| ,, | ,, | ,, | शास्त्रमिदमक्त | शास्त्रमिदमुक्त |
| ,, | ,, | १६ | बद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च | बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च |
| ४९६ | १ | ,, | अपशुन | अपैशुन |
| ४९७ | ,, | ३३ | यतो-यत | यतोयत' |
| ,, | २ | १६ | है। | है तथा |
| ५०३ | ,, | २७ | व | एवं |
| ५०७ | ,, | १६ | दुर्गणो | दुर्गुणो |
| ५०९ | ,, | २० | असुरीजन | आसुरीजन |
| ,, | ,, | ३३ | निष्टतक्षुः | निष्ठक्षु |
| ,, | ,, | ३५ | यदच्यतिष्ठद्‌भुवनानि | यदव्यतिष्ठद्‌भुवनानि |

| पृष्ठ | कालम | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|---|
| ५१० | २ | ५ | कूर | क्रूर |
| ,, | ,, | १४ | शत्र | शत्रु |
| ५१५ | १ | ८ | आत्मपरदहेषु | आत्मपरदेहेषु |
| ५१९ | ,, | १७ | दी | दिया |
| ५२५ | २ | १३ | स्मृण | स्मृणु |
| ,, | ,, | १४ | सत्त्वानरूपा | सत्त्वानुरूपा |
| ५३२ | १ | ६ | सर्व- | सर्वा- |
| ५३५ | २ | २२ | अबुवन्विम्रुवन्वाऽपि | अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि |
| ५३६ | १ | २० | हित | हित |
| ५३७ | ,, | २४ | तत्तामसमुदाहृस्तम् | तत्तामसमुदाहृतम् |
| ५४० | ,, | १८ | सदित्येतत्प्रयज्यते | सदित्येतत्प्रयुज्यते |
| ५४२ | ,, | २७ | असदित्यच्यते | असदित्युच्यते |
| ,, | २ | ,, | गीतासूउपनिषत्सु | गीतासूपनिषत्सु |
| ५४८ | १ | १७ | अजन | अर्जुन |
| ५५२ | २ | ५ | दुखरूप | दु खरूप |
| ,, | ,, | ६ | है ऐसा | है, ऐसा |
| ५५७ | ,, | २६ | पश्यत्यकृतवद्धित्वान्न | पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न |
| ५६१ | १ | २२ | 'हानि-लाभ | १ 'हानि-लाभ |
| ,, | ,, | २४ | १ यत्नै | यत्नै |
| ५७३ | ,, | ७ | अधम | अधर्म |
| ५८२ | २ | २१ | शद्राणा | शूद्राणा |
| ,, | ,, | २४ | विज्ञानमास्तिक्य | विज्ञानमास्तिक्य |
| ५८७ | १ | २१ | प्रवृर्भूताना येन सर्वत्तिमद | प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिद |
| ५८८ | २ | २७ | धमेनाग्निरिवावृता | धूमेनाग्निरिवावृता |
| ५९० | ,, | ३४ | कर्मपूर्वक, | क्रमपूर्वक, |
| ५९२ | ,, | ११ | के | का |
| ६०१ | ,, | २० | वृणुते | वृणते |
| ६०४ | ,, | २५ | चाशुश्रपवे | चाशुश्रूषवे |
| ६०५ | ,, | १८ | शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम | शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् |
| ६०७ | ,, | २३ | कच्चिदेतच्छ्रूत | कच्चिदेतच्छ्रुत |

| पृष्ठ | कालम | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|---|
| ५१० | २ | ५ | कूर | क्रूर |
| ,, | ,, | १४ | शत्र | शत्रु |
| ५१५ | १ | ८ | आत्मपरदहेषु | आत्मपरदेहेषु |
| ५१९ | ,, | १७ | दी | दिया |
| ५२५ | २ | १३ | श्रृण | श्रृणु |
| ,, | ,, | १४ | सत्त्वानरूपा | सत्त्वानुरूपा |
| ५३२ | १ | ६ | सर्व- | सर्वा- |
| ५३५ | २ | २२ | अबुवन्विब्रुवन्वाऽपि | अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि |
| ५३६ | १ | २० | हित | हित |
| ५३७ | ,, | २४ | तत्तामसमुदाहृस्तम् | तत्तामसमुदाहृतम् |
| ५४० | ,, | १८ | सदित्येतत्प्रयज्यते | सदित्येतत्प्रयुज्यते |
| ५४२ | ,, | २७ | असदित्यच्यते | असदित्युच्यते |
| ,, | २ | ,, | गीतासूउपनिषत्सु | गीतासूपनिषत्सु |
| ५४८ | १ | १७ | अजन | अर्जुन |
| ५५२ | २ | ५ | दुखरूप | दु खरूप |
| ,, | ,, | ६ | है ऐसा | है, ऐसा |
| ५५७ | ,, | २६ | पश्यत्यकृतबद्धित्वान्न | पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न |
| ५६१ | १ | २२ | 'हानि-लाभ | १ 'हानि-लाभ |
| ,, | ,, | २४ | १ यत्नै | यत्नै |
| ५७३ | ,, | ७ | अधम | अधर्म |
| ५८२ | २ | २१ | शद्राणा | शूद्राणा |
| ,, | ,, | २४ | विज्ञानमास्तिक्य | विज्ञानमास्तिक्य |
| ५८७ | १ | २१ | प्रवृर्भूताना येन सर्वत्तिमद | प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिद |
| ५८८ | २ | २७ | धमेनाग्निरिवावृता | धूमेनाग्निरिवावृता |
| ५९० | ,, | ३४ | कर्मपूर्वक, | क्रमपूर्वक, |
| ५९२ | ,, | ११ | के | का |
| ६०१ | ,, | २० | वृणुते | वृणते |
| ६०४ | ,, | २५ | चाशुश्रषवे | चाशुश्रूषवे |
| ६०५ | ,, | १८ | शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम | शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् |
| ६०७ | ,, | २३ | कच्चिदेतच्छ्रुत | कच्चिदेतच्छ्रुत |

●

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

शब्दार्थ : सर्वत्र असक्तबुद्धिः विगतस्पृहः जितात्मा =सर्वत्र अनासक्त बुद्धिवाला, स्पृहारहित, मन और इन्द्रियों को जीतनेवाला पुरुष, संन्यासेन परमां नैष्कर्म्यसिद्धिं अधिगच्छति=संन्यास ( ज्ञानयोग ) से परम नैष्कर्म्यसिद्धि ( निष्कर्मता ) प्राप्त कर लेता है ।

वचनामृत . सर्वत्र अनासक्त बुद्धिवाला, स्पृहा-रहित तथा आत्मविजयी पुरुष सन्यास ( ज्ञानयोग ) से परम नैष्कर्म्य-सिद्धि ( निष्कामता ) प्राप्त कर लेता है ।

सन्दर्भ : इस श्लोक मे साख्य ( ज्ञान ) के प्रकरण की भूमिका है । पूर्ववर्ती आठ श्लोकों मे ( ४१ से ४८ तक ) कर्मयोग के त्याग की चर्चा है तथा प्रस्तुत श्लोक मे ज्ञानयोग के सन्यास की भूमिका कहकर आगे छह श्लोकों मे ( ५० से ५५ तक ) उसका विस्तार है ।

रसामृत श्रीकृष्ण ने गीतोपदेश मे प्रारम्भ से अन्त तक अनेक स्थलो पर तथा अनेक प्रकार से जीवन मे अनासक्ति निष्कामता और आत्मविजय अथवा आत्मसयम की आवश्यकता पर बल दिया है । अनासक्ति अथवा आसक्तित्याग होने पर मनुष्य न केवल विगतस्पृह ( निष्काम ) हो जाता है, बल्कि जितात्मा अथवा आत्मविजयी ( मन, बुद्धि और इन्द्रियो पर नियन्त्रण करनेवाला ) भी हो जाता है । जो मनुष्य विवेक द्वारा ससार के मिथ्या आकर्षण और आसक्ति से मुक्त हो जाता है तथा सासारिक भोगो के पीछे नही दौडता, वह भोगो की कामना, चिन्ता और उनके भय से भी मुक्त हो जाता है तथा सरलता से अपने मन, बुद्धि, और इन्द्रियो पर नियन्त्रण कर लेता है । सासारिक सुख-भोग क्षणिक होते है तथा स्थायी सुख एव शान्ति नही देते । उनसे ग्रस्त होने पर मनुष्य कोई उपलब्धि नही कर सकता । मनुष्य अपनी चेतना को ऊर्ध्वमुखी करके ही भौतिक स्तर से ऊपर उठ सकता है । शरीर के रोगी होने पर अथवा वृद्ध होने पर इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं तथा विषय ( भोग्य-पदार्थ ) की वासना अथवा स्पृहा मन और बुद्धि को व्याकुल कर देती है, किन्तु अनासक्त, निष्काम एव जितेन्द्रिय पुरुष सदैव सम, शान्त और सुखी रहता है ।

कर्म-मार्ग मे निरन्तर कर्म करते रहने पर तथा ज्ञान-मार्ग मे वैराग्य एव आत्म-चिन्तन पर बल दिया जाता है, यद्यपि दोनो मार्गों का लक्ष्य एक ही है । प्राय. सभी मनुष्य कर्म-मार्ग के अधिकारी है, केवल अत्यन्त वैराग्यपूर्ण एव चिन्तनशील पुरुष ज्ञान मार्ग के अधिकारी है । परमात्मा के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने पर मनुष्य को नैष्कर्म्य-सिद्धि ( निष्कर्मता की अवस्था ) प्राप्त हो जाती है । कर्मयोगी जिस नैष्कर्म्य ( कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धन से पूर्ण मुक्ति ) को अनासक्ति एवं ईश्वरार्पण बुद्धि ( समस्त कर्म ईश्वरार्पण करना ) द्वारा प्राप्त करता है । ज्ञानी ज्ञानपूर्वक चिन्तन, मनन आदि द्वारा परमावस्था प्राप्त करता है ।[1] ज्ञानी यथार्थ ज्ञान द्वारा अहकार की भावना, आसक्ति एव कामना से सर्वथा मुक्त होकर आध्या-त्मिक पूर्णता प्राप्त कर लेता है । जडता से ग्रस्त रहना ही अज्ञान है । ज्ञान द्वारा शुद्ध दिव्य चेतना मे स्थित होना सभव हो जाता है । मनुष्य आत्म-ज्ञान मे स्थित होकर ज्ञाननिष्ठा अथवा नैष्कर्म्य-रूप सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हो जाता है ।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ५१

---

१ नैष्कर्म्य-सिद्धि के अनेक अर्थ किये गये है । श्रीधर कहते हैं कि ज्ञानपूर्वक सर्वकर्मनिवृत्ति नैष्कर्म्य है । वास्तव मे नैष्कर्म्य का अर्थ है कर्म से ऊपर उठ जाना । इसे कर्म-योगी कर्मपूर्वक, कर्म-मार्ग से तथा ज्ञानयोगी ज्ञान मार्ग से प्राप्त करते हैं ।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

**शब्दार्थ :** **कौन्तेय सिद्धि प्राप्त यथा ब्रह्म आप्नोति** =हे अर्जुन, ( नैष्कर्म्य ) सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जैसे ( ज्ञानयोग के द्वारा ) सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है, **या ज्ञानस्य परा निष्ठा**=जो तत्त्वज्ञान की परा-निष्ठा ( ज्ञान-निष्ठा ) है, **तथा मे समासेन एव निबोध**=उस प्रकार वह तू मुझसे ही जान ले, **विशुद्ध्या बुद्धया युक्त** = विशुद्ध बुद्धि से युक्त, **आत्मान धृत्या नियम्य च शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा**=धृति से अपने-आपको ( अन्त-करण को ) नियन्त्रित करके और शब्दादि विषयो को त्यागकर, **रागद्वेषौ व्युदस्य च**=और राग-द्वेष को निकालकर, **विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस** =एकान्त और शुद्ध स्थल का सेवन करनेवाला मिताहारी वाक् कायमानस ( मन ) को जीतनेवाला, **नित्य ध्यानयोग-पर वैराग्यं समुपाश्रित.**=सदा ध्यानयोग मे तत्पर हुआ वैराग्य का आश्रय लेनेवाला, **अहकारं बलं दर्पं काम क्रोध परिग्रहं विमुच्य**=अहकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह का त्यागकर, **निर्मम. शान्त ब्रह्मभूयाय कल्पते**= ममत्वरहित, शान्त ( पुरुष ) ब्रह्मसाक्षात्कार ( ब्रह्मभूय ) के लिए ( ब्रह्म मे ऐक्य अथवा एकीभाव के लिए ) योग्य होता है।

**वचनामृत :** हे अर्जुन, सिद्धि को प्राप्त हुआ मनुष्य जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो ज्ञानयोग की परा-निष्ठा है, तू उसे सक्षेप मे जान ले। विशुद्ध बुद्धि से युक्त, धृति से अपने अन्त करण को नियत्रित करके और शब्दादि विषयो को त्यागकर, राग-द्वेष का परिहार कर ( निकालकर ), एकान्तसेवी, मिताहारी, शरीर, वाणी और मन का सयमी, सर्वदा ध्यानयोग मे तत्पर, वैराग्य-युक्त होकर, अहकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को त्यागकर, ममत्वरहित और शान्तपुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात्कार ( सच्चिदानन्द ब्रह्म मे ऐक्य अथवा एकीभाव, अभिन्नभाव मे स्थित होना ) के योग्य होता है।[1]

**सन्दर्भ** परमात्मा के साथ एकीभाव से युक्त होना ज्ञानयोग की परानिष्ठा है।[2] पचास से पचपन तक श्लोको मे ज्ञानयोग की पराकाष्ठा वर्णित है।

**रसामृत :** ज्ञानयोगी ज्ञान द्वारा नैष्कर्म्य-सिद्धि ( निष्कर्मता ) को प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह पुण्य-पाप से ऊपर उठ जाता है, कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है। निष्कर्मता की अवस्था को प्राप्त होकर ज्ञानी सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म के साथ ऐक्य ( एकता, अभेद ) स्थापित कर लेता है तथा वही ज्ञान की परानिष्ठा, पराकाष्ठा, परिसमाप्ति अथवा चरमसीमा है।

कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का लक्ष्य एक ही है— भगवत्प्राप्ति। निष्काम कर्म के अभ्यास से अन्त-करण शुद्धि होने पर कर्मयोगी के अन्त करण मे अनायास ही तत्त्वज्ञान के प्रकाश का उदय हो जाता है, जो ज्ञानयोगी को वैराग्य, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञान द्वारा नैष्कर्म्य-सिद्धि ( ज्ञान के अभ्यास द्वारा कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होना अर्थात् कर्म के प्रभाव एव सस्कार से मुक्त होना अथवा उससे ऊपर उठना तथा ज्ञान के सारभूत तत्त्व को प्राप्त करना ) प्राप्त होती है तथा नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त होने पर मनुष्य ज्ञान की पराकाष्ठा ( चरमसीमा ) अथवा पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

भगवान् सक्षेप से ज्ञानयोग का अङ्ग-प्रत्यङ्गो सहित वर्णन करते हैं। वे ज्ञानयोग के उन साधनो का वर्णन करते हैं, जिनसे सम्पन्न होने पर अथवा

१. इन श्लोको का अनेक प्रकार से अन्वय और अर्थ किया गया है, किन्तु श्लोको मे वर्णित साधनो का यही क्रम उचित प्रतीत होता है।

२ सा निष्ठा सा परा गति- अर्थात् ब्रह्म-निष्ठा ही परमगति है। निष्ठा का अर्थ है अविचलता।

जिन्हे अपना लेने पर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होकर पूर्णत्व प्राप्त कर लेता है। ये सभी साधन परस्पर सबद्ध एव परस्पर आश्रित है। ज्ञानयोग मे राग-द्वेष-मुक्ति, एकान्त, वैराग्य, ध्यान आदि पर बल दिया जाता है, और कर्मयोग मे कर्तव्य-कर्म पर।

ज्ञानयोग का प्रमुख साधन बुद्धि की विशुद्धता है। मनुष्य की सफलता और विफलता, उत्कृष्टता और निकृष्टता तथा सुख और दु ख बुद्धि पर ही निर्भर हैं। यदि बुद्धि सबल होती है तो मनुष्य मन और इन्द्रियों पर विजय पाकर लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। बुद्धि शुद्ध होने पर सबल और अशुद्ध होने पर निर्बल हो जाती है। श्रेष्ठ वैदिक मन्त्रो के द्वारा बुद्धि की शुद्धता एव सबलता के लिए प्रार्थना की जाती है।[1] मनुष्य भगवान् से प्रार्थना करते हुए चेतना को ऊर्ध्वमुखी कर सकता है तथा तामस और राजस स्तर से ऊपर उठकर सत्त्व के प्रकाश एव प्रशान्त भाव मे स्थित हो सकता है। बुद्धि की विशुद्धता का अर्थ है भौतिक प्रलोभन, राग-द्वेष, स्वार्थ, कपट आदि दोषो से मुक्त होकर सात्त्विकता मे स्थिर होना। मनुष्य की बुद्धि भगवान् की ओर उन्मुख होकर ही प्रकाशित एव पवित्र हो सकती है। विशुद्ध बुद्धि सशयरहित और निश्चयात्मिका होती है। व्यक्ति और समाज का कल्याण मनुष्य की बुद्धि की कुशाग्रता तथा भौतिक ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नता से कदापि नही होता, बल्कि बुद्धि की शुचिता ( निष्कपटता, सात्त्विकता ) से होता है।

ज्ञान-मार्ग का आश्रय लेनेवाला मनुष्य सात्त्विक धृति ( धैर्य, दृढता, धारणा शक्ति ) से अपने-आपको अर्थात् अपने अन्त करण ( मन, बुद्धि इत्यादि ), दस इन्द्रियो तथा शरीर को वश मे रखता है। वह विशुद्ध एव निश्चयात्मिका बुद्धि से विवेकपूर्ण निश्चय करता है, दृढ रहता है, विचलित नही होता। वह मन, इन्द्रियो तथा शरीर को कुमार्गगामी नही होने देता।

ज्ञानयोग के साधक इन्द्रियो ( कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका ) के विषयो ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ) का प्रलोभन छोड देता है। वह शरीर की स्थितिमात्र के लिए आवश्यक एव उपयुक्त विषयो का मर्यादित सेवन करता है तथा तदतिरिक्त इन्द्रियो के विषय सुखभोग के प्रलोभन से ग्रस्त नही होता। यह ससार एक विषय-सागर है। विवेकी पुरुष इसे तैरकर पार कर लेता है तथा मूढ व्यक्ति इसमे डूबकर नष्ट हो जाता है।

ज्ञान का साधक राग और द्वेष से सर्वथा विमुक्त होता है। वह आवश्यक और उपयुक्त विषय-सामग्री के सेवन से अतिरिक्त विषयो ( सुख-भोग-सामग्री ) के प्रति राग ( आसक्ति ) नही करता तथा उनके न मिलने पर द्वेष नही करता। वह किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति राग और द्वेष नही रखता। राग और द्वेष ही मनुष्य के मन और बुद्धि को दूषित और दुर्बल करते हैं और दु ख के कारण हैं। राग-द्वेष से मुक्त होकर ही मनुष्य स्वतन्त्र, सम, शान्त और सुखी रह सकता है।

ज्ञान-मार्ग के साधक को आत्मचिन्तन के लिए यदा-तदा एकान्त सेवन करना चाहिए तथा व्यर्थ ही जनसमुदाय के मध्य मे रहने के मोह का भी त्याग कर देना चाहिए। मनुष्य में अकेले खड़े रहने का साहस होना चाहिए। एकान्त-सेवन का तात्पर्य समाज की मुख्य धारा से कटकर पृथक्

---

[1] प्रख्यात गायत्री मन्त्र के अतिरिक्त अनेक वैदिक मन्त्रो में सुमेधा ( पवित्र बुद्धि ) के लिए प्रार्थना की गयी है।

**या मेधा देवगणाः पितरश्चोपासते।**
**तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।**

—यजुर्वेद, ३२ १४

—जिस मेधा ( श्रेष्ठ बुद्धि ) की उपासना देवता और पितर करते हैं, हे अग्निदेव, उस बुद्धि से मुझे बुद्धिमान् बना दो।

**'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।'**

—ईशावास्य उप०, १६

होना नही है, बल्कि अपने भीतर अकेले खडा रहने की शक्ति तथा मानसिक दृढता का विकास करना है। कभी-कभी किसी एकान्त पवित्र स्थान पर आत्म कल्याण की दिशा मे चिन्तन करना अत्यन्त लाभप्रद होता है। एकान्त-सेवन से चित्त की निर्मलता एव एकाग्रता के अभ्यास मे महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है। श्रीकृष्ण एकान्त निवास को महत्त्वपूर्ण नही कह रहे हैं, वल्कि यदा-तदा एकान्त-सेवन की महिमा बताते हैं।

ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करनेवाला मनुष्य भोजन के विषय मे सावधान रहता है। जिह्वा पर नियन्त्रण न रखनेवाले मनुष्य स्वादिष्ट सामग्री के प्रति लालायित होकर अत्यधिक भोजन करके अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचा देते हैं तथा स्फूर्ति खो देते हैं। स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन तथा ध्यान आदि के लिए लघ्वाशी ( लघु अशन करनेवाला, मिताहारी ) होना आवश्यक है। अति भोजन मनुष्य को आलसी बना देता है।

ज्ञान-निष्ठा का साधक मन, वाणी और शरीर को सयत रखता है। मन, वाणी और शरीर समस्त प्रगति के उपकरण है तथा मनुष्य उन्हे अपने वश मे रखकर ही कुछ उपलब्धि कर सकता है।

ज्ञान के साधक के लिए ध्यान का अभ्यास अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। ध्यान द्वारा चेतना का उन्नयन होने पर ही मनुष्य ब्रह्मसस्पर्श कर सकता है। शरीर और मन का विश्राम तथा तनाव का शिथिलन आदि ध्यान-प्रक्रिया के आनुषगिक साधारण लाभ हैं, किन्तु उन्हे ध्यान-योग का उद्देश्य कहना अविवेक है। अपने भीतर और बाहर सर्वत्र ब्रह्मानन्द मे अवगाहन करनेवाली चित्त-वृत्ति का ब्रह्मभाव मे स्थिर होकर, तैलधारा के समान अविच्छिन्न ( निरन्तर ) रूप मे प्रवाहित होना ध्यान है तथा उत्तरोत्तर वृत्तिशून्य होने पर चित्त आत्म-ज्योति से प्रकाशित होकर दिव्य एव अलौकिक आनन्दावस्था को प्राप्त हो जाता है।

वैराग्य का अर्थ है आत्मचिन्तन द्वारा सासारिक आकर्षण से ऊपर उठकर भौतिक सुख-भोग मे आसक्त न होना। कुछ लोग ससार मे कामनाओ की पूर्ति न होने पर तथा कोई दैवी सकट आने पर अपने कर्तव्य-कर्म एव दायित्व का त्याग कर देते हैं। यह मात्र पलायन है। विवेकपूर्वक सासारिक सुख-भोग के प्रलोभन से मुक्त होना वैराग्य है। वैराग्य का अर्थ ससार का त्याग नही है, बल्कि सासारिकता का त्याग है। वस्तु का नही, वासना का त्याग करना है।

अहंकार, बल एव दर्प, काम एव क्रोध तथा परिग्रह ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग मे विघ्न हैं। साधक इनसे मुक्त होकर ही ज्ञान-निष्ठा मे स्थित हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इनके त्याग का उपदेश अनेक स्थलो पर तथा अनेक प्रकार से किया है।[1] अहकार का अर्थ है देहात्मबोध ( अपने को देह मानना ) तथा सासारिक वस्तुओ से ममत्व का नाता मानकर अभिमान करना। अहकार ही राग-द्वेष का मूल कारण है तथा आत्मा और परमात्मा के ऐक्य का सबसे अधिक बाधक है।

बल का अर्थ है जन-बल, धन बल, बाहु-बल, बुद्धि-बल, तपोवल आदि का अभिमान। दर्प का अर्थ है वल का मिथ्या प्रदर्शन करना, सर्वत्र अपने सत्कार की इच्छा और आशा रखना तथा दूसरो के मान-सम्मान को सहन न करना।

काम राग अथवा आसक्ति से उत्पन्न होता है। काम एक ऊर्जा है, जो विषयाभिमुख होकर दु ख एव विनाश का तथा परमात्माभिमुख होकर सुख एव विकास का साधन होता है। विवेकी पुरुष काम-शक्ति का दमन अथवा ध्वस नही करता, बल्कि उसे दिशा प्रदान करता है। कामना की पूर्ति न होने पर उसका विस्फोट क्रोध के रूप मे होता है। सासारिक कामनाओ से ग्रस्त मनुष्य को कभी शान्ति प्राप्त नही होती।

---

१ अध्याय २, ३, १६ इत्यादि।